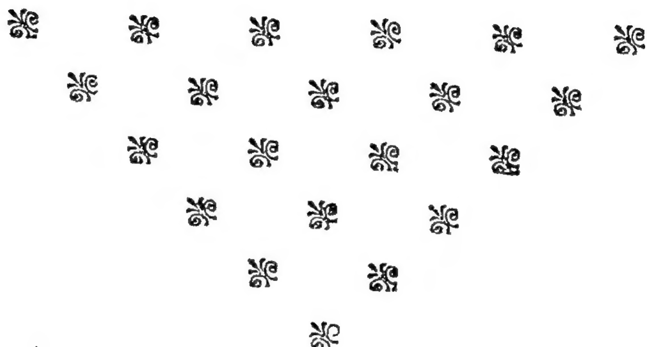
प्रकाशकः—
आकलुज निवासी नाथारंगजी गांधी
के कुटुम्ब द्वारा स्थापित 'दि०
जैनोन्नति फंड' की सहायतासे
शेठ खुशालचंद पानाचंद
गांधीके द्वारा सोलापूर
में प्रकाशित.



मुद्रकः—
वंशीधर उदयराज पंडित,
"श्रीधर" प्रेस भवानीपठ,
सोलापूर.

अध्यायसूची.



गांधीनाथारंगजी-जैनग्रंथमालाद्वारा प्रकाशित ग्रंथसूची ।



प्रस्तावना ।

तेरहवीं शताब्दिके विद्वानोंमें महापण्डित आशाधरजी अद्वितीय विद्वान् होगये हैं। उनकी कृति और कीर्तिको देखते हुए यह निश्चय होता है कि उस समयमें इनके समान उद्भट और सार्वविषयक विद्वान् दूसरा कोई न था। यद्यपि ये गृहस्थ थे फिर भी इनके धर्मोद्योतन स्थितीकरण अगाधज्ञान और उसके अपूर्व प्रभावको अनेक राजाओंके हृदयमें अंकित करने तथा उनके द्वारा महनीयता प्राप्त करने आदि कार्योंको देखकर उन्हें आचार्यकल्प कहनेमें बिलकुल संकोच नहीं होता। महावीर भगवान्के इस शासन कालमें दूसरा कोई गृहस्थ जैन समाजमें आजतक भी इनके समान धर्मका प्रचार और इतना साहित्य निर्माण करनेवाला हुआ हो ऐसा हमको स्मरण नहीं होता। इन्होंने अपने जीवनकालमें अपने ज्ञानातिशयके द्वारा सैकडोंको सन्मार्गमें लगाया था और स्वयं उत्कृष्ट सदाचारका पालन कर अपनी आत्माके समान विन्ध्यवर्मा अर्जुनवर्मा आदि अनेक नरेशोंकी राजनीतिको भी धार्मिकतासे उद्दीपित कर दिया था। विन्ध्यवर्माके सांधिविग्रहिक मंत्री महाकवि विल्हण आशाधरजीकी विद्वत्तापर कितने मुग्ध थे और उनको अपने भाई के समान समझते थे यह उनके उल्लेखसे ही स्पष्ट होता है। कुछ शिलालेख आदिके वाक्योंमें ऐसा भी अनुमान होता है कि महापंडित आशाधरजीके पिता–सल्लक्षणकी भी राज्यमान्यता कुछ कम न थी। उन्हें राजाका पद प्राप्त था। इसी प्रकार आशाधरजीके पुत्र छाहडके ऊपर भी महाराज अर्जुन वर्मा अत्यंत प्रसन्न थे। यह बात इस अनगारधर्मामृतके अंतमें दी हुई प्रशस्तिमें ही स्पष्ट उल्लिखित

है । इससे ऐसा निश्चय होता है कि आशाधरजीके वंशमें केवल आशाधरजीकी ही नहीं किंतु उनकी भूत भविष्यत् को मिलाकर कई पीढियोंमें राजमान्यता निरवच्छिन्नरूपसे चलीगई थी ।

तत्तज्जातिके अग्रणी सेठ महीचंद्र और सेठ हरदेव आदिने इनसे प्रार्थना की है, अनेक जैन अजैन विद्वानोंने इनकी भूरि २ प्रशंसा की है, यतिपति मदन कीर्ति सरीखोंने इनको प्रज्ञापुंज पदकी भेट अर्पण की है, बिल्हण सरीखे महाकवि इनकी तुलनासे अपनेको धन्य समझते हैं, बालसरस्वती मदन और वादीन्द्र विशाल कीर्ति आदि बडे २ पदवीधर इनके शिष्य थे, भट्टारक देवभद्र और विनयभद्रादिक इनके कृतज्ञ थे, और सरस्वतीपुत्र यह जिनका सर्वमान्य पद था, उन प. आशाधरजीकी प्रशस्त समाजमान्यता कितनी अधिक थी यह सहज ही लक्ष्यमें आ सकता है । राजमान्यताके साथ २ ही समाजमान्यता भी प्राप्त करना अत्यंत कठिन है । सोमदेव सूरीने एक जगहपर कहा है कि—

प्रजाविलोपो नृपतीच्छयाचेत्, प्रजेच्छया चाचरिते स्वनाश ।
न मन्त्रिणा वेधविधायिनीवत् सुख सदैवोभयत समस्ति ।

अर्थात्—राजनीतिके ग्रंथ वांचनेसे ही कोई राजनीतिका कार्य मत्री आदिके पदको धारणकर नहीं कर सकता । यह कार्य अत्यंत दुःसाध्य है; क्योंकि वह राजा और प्रजा दोनोंके मध्यमें रहा करता है । यदि वह राजाकी इच्छानुसार कार्य करे तो प्रजाका लोप होता है, और प्रजाकी इच्छानुसार करता है तो राजाके द्वारा उसका ही घात हो सकता है । अत एव चक्कीके पाटोंके बीचमें लगी हुई उस कीलीके समान उस व्यक्ति की अवस्था समझनी चाहिये कि जो जरा भारी होनेपर ऊपरसे और जरा भी हलकी होनेपर नीचेसे ठुका करती है । अस्तु । यह बात सिद्ध है कि महापण्डित आशाधरजी केवल ग्रंथोंका प्रवचन करनेवाले सर्वोत्कृष्ट अध्येता और अध्यापक ही न थे लोकदक्ष भी उतने ही ऊचे दर्जेके थे । राजगुरुके भी गुरुका पद प्राप्त होना साधारण योग्यताका कार्य नहीं है ।

महापण्डित आशाधरजी की विद्वत्ताको अनेक गुणोंकी तरह सदाचार और संयमने भी विभूषित कर रक्खा था । सदाचारकी रक्षाका उन्हे कितना अधिक ध्यान था यह बात उन्हीके उल्लेखसे विदित होती है. उन्होंने स्वय इस बातको लिखा है कि हम तुर्कराज—यवनसम्राट् गजनीके सहाबुद्दीन गौरीने जब हमारी जन्मभूमिपर आक्रमण कर लिया तब

सदाचारके नष्ट होनेके भयसे ही उसको—जन्मभूमि-मण्डलगढको छोडकर मालवाकी धारा नगरीमें आकर रहे. जिसकोलिये लोक कहा करते हैं कि " जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी " उस स्वर्गोपम अथवा माताके समान प्रिय जन्मभूमिका केवल सदाचारकेलिये परित्याग करदेना एकमात्र दृढ धार्मिक निष्ठाकाही कार्य है. आगममें लिखा है कि यदि चारित्रमें क्षति पडनेका प्रसङ्ग आवे—धार्मिक आचरण नष्ट होता हुआ दिखाई दे तो मनुष्यको चाहिये कि समाधिपूर्वक मरणको प्राप्त होजाय परन्तु चारित्रको भग्न न होने दे । क्योंकि

नावश्यनाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः ।
देहो नष्टः पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभः ॥

किंतु यह आज्ञा निरुपाय अवस्थाकेलिये है, जैसा कि अभी हालहीमें केशरियानाथजी—धुलेवमें श्वेताम्बरों और उनके पक्षके कुछ राजकर्मचारियोंद्वारा मारे जानेपर कुछ दिगम्बरोंने कर दिखाया है । परन्तु जहातक हो उसका उपाय करना चाहिये । जब कोई भी उपाय सफल होता हुआ दिखाई न दे तो सल्लेखना ही करना उचित है । तात्पर्य यह कि जिससे धर्माचरण सुरक्षित रह कर जीवन बच सके ऐसा ही उपाय करना चाहिये । यदि धर्माचरण नष्ट होकर प्राण बचते हों तो वह उपाय धार्मिकोंको मान्य नहीं है । अत एव जब चारित्रमें क्षति पडती हुई दिखाई दी तो पं. आशाधरजीने जन्मभूमिमें रहना इस नीतिवाक्यके अनुसार धर्म और आत्मिक उन्नति तथा महत्ता प्राप्त करनेमें बाधक ही समझा कि—

आलस्य स्त्रीसेवा सरोगता जन्मभूमिवात्सल्य ।
सतोषो भीरुत्व षड् व्याघाता महत्त्वस्य ॥

धारा नगरीको छोडकर महापंडित आशाधरजी अंतिम अवस्थामें नलकच्छपुरमें आकार रहे थे । इसका हेतु जिन धर्मका उदय करना लिखा है । यद्यपि जिन धर्मके उदयका अर्थ उसकी प्रभावना तथा अन्य धर्मात्माओंके हृदयमें उसकी दृढता तथा दीप्ति आदि करदेना भी हो सकता है परन्तु उनकी अवस्था और अनेक वाक्य बतलाते हैं कि जिस समयमें उन्होंने इस टीका आदिकी रचना की है उस समयमें वे अवश्य ही गृहनिवृत्त होंगे, और केवल धर्म सेवन करनेकेलिये ही वे नलकच्छपुरमें आकर रहे होंगे । क्योंकि जिस समय वे नलकच्छ में जाकर रहे उस समय उनकी अवस्था वृद्ध थी । इस टीकाकी रचनाके समय उनकी अवस्था ७० वर्ष से कम न होगी । क्योंकि

इनका जन्म विक्रम सं. १२३० के करीब हुआ था और इस टीकाकी समाप्ति वि. सं १३०० में हुई है. फिर इन्होंने धारामें आनेके बाद मालवाके राज्यकी पांच पीढियां देखली थीं। इसके सिवाय निम्नलिखित वाक्योंसे उनके वैराग्यपूर्ण परिणाम भी प्रकट होते हैं।—

प्रभो भवाङ्गभोगेषु निर्विण्णोदुःखभीरुकः ।
एष विज्ञापयामि त्वां शरण्यं करुणार्णवम् ॥
सुखलालसया मोहात् भ्राम्यन्बहिरितस्ततः ।
सुखैकहेतोर्नामापि स्तव न ज्ञातवान् पुरा ॥
अद्य मोहग्रहावेशशैथिल्यात्किंचिदुन्मुखः ।
अनन्तगुणमाप्तेभ्यस्त्वां श्रुत्वा स्तोतुमुद्यतः ॥

अत एव अनुमान होता है कि इस टीकाकी रचनासे पूर्व ही वे गृहस्थाश्रमसे निवृत्त हो चुके होंगे।

इस प्रकार महापण्डित आशाधरजीकी राजमान्यता समाजमान्यता कीर्ति सदाचार और विरक्ति आदि गुणोंकी अविरुद्ध प्रवृत्तिको देखकर आजकलके लोगोंको अनेक प्रकारकी शिक्षाएं लेनी चाहिये। खासकर उन लोगोंको कि जो राजमान्यता कीर्ति या आजीविका आदिके लिये सदाचारके क्षयकी अपेक्षा नहीं रखते

प. आशाधरजीकी जाति मातापिता पुत्रकलत्र आदिका नाम, जन्मभूमि, अधिकतर निवासस्थान और उनकी उपाधि आदिका ज्ञान उन्हींकी प्रशस्ति तथा कृतिको देखनेसे हो सकता है, अत एव इस विषयमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

आशाधरजीकी विद्वत्ताका परिचय उनके ग्रंथही दे रहे हैं। "नहि कस्तूरिकामोदः शपथेन प्रतीयते।" अतएव न्याय साहित्य कोष वैद्यक आचार अध्यात्म पुराण और कर्मकाण्ड आदि प्रत्येक विषयके उनके बनाये हुए शब्दतः प्रौढ और अर्थतः गम्भीर अद्वितीय ग्रन्थोंके देखनेसे ही मालुम हो सकता है कि वे वास्तवमें सरस्वतीपुत्र प्रज्ञापुंज और कलिकालदास थे। इसके सिवाय उन्होंने अपने ज्ञान और कवित्वको बेलगाम नहीं बना दिया था। उन्होंने प्रत्येक विषयके लिखते समय गुरु और आगमकी आम्नायका ध्यान रक्खा है। इस ग्रंथमें भी उन्होंने पद पदपर पूर्व विद्वानों और ऋषियोंके वाक्य उद्धृत किये हैं जिससे यह बात स्पष्ट होती है कि उनकी आत्मा आगम

के विरुद्ध एक अक्षर लिखनेंसे भी कांपती थी और वे इस भयंकर पापसे अत्यत भीत थे। इस ग्रंथके अंतमें जो उन्होने श्री शान्तिनाथ भगवान्से प्रार्थनाकी है कि " कविजन समीचीन विद्याके रसको प्रकट करने वाली ही कविता किया करें " उसका उन्होंने अक्षरशः पालन किया है और उसके द्वारा उन्होने आजकलके निरर्गल लेखनीके स्वामी तथा अपनी विद्यावानरीका घर घर नर्तन कराने वालोंके लिये आदर्श उपस्थित किया है।

यदि आशाधरजी विद्वानोंकेलिये भी दुर्बोध अपने ग्रन्थोंकी टीका स्वयं न बनाते तो सचमुचमें इस कालरात्रिके अन्दर उनके अर्थका भान होना असंभव नहीं तो दुःसाध्य अवश्य होजाता। अत एव जिस प्रकार अपनी अजरामर कृतिकीर्तिके रूपमें आज भी हमारे सामने उपस्थित महापण्डित आशाधरजीकी हमको पूजा करनी चाहिये उसी प्रकार जिन भव्यात्माओंने प्रार्थना करके इन ग्रंथोंको सनिबंध कराया है उन सेठ महीचन्द्र और सेठ हरदेव प्रभृतिके प्रति भी कृतज्ञतावश भक्तिपुष्पांजलि अर्पण करनी चाहिये।

पण्डित आशाधरजीने जितने ग्रथ बनाये हैं उनमेंसे अनेक ग्रंथ अभी अनुपलब्ध हैं। उपलब्ध ग्रंथोंमेंसे यह अनगार धर्मामृतकी टीका उनका अंतिम ग्रथ मालुम होता है। इसके बाद उन्होने कोई ग्रथ बनाया या नहीं सो निश्चित जाननेका कोई साधन नहीं है। अस्तु। इस ग्रथकी महत्ता पाठकों को बाचनेपर स्वयं मालुम होगी। परन्तु इतना अवश्य कहेंगे कि इसका जैसा नाम है यह ठीक वैसा ही है. आगम समुद्रका मथन करके पंडित आशाधरजीने इस ग्रंथके रूपमें मुनिधर्मरूपी अमृतकी ही सृष्टि की है।

यद्यपि इस ग्रंथमें मुनिधर्मकी प्रधानतासे उसीका वर्णन किया है परन्तु अन्तका कुछ भाग ऐसा भी है कि जिसमें गौणरूपसे षडावश्यक आदि श्रावकोंकी चर्याका भी वर्णन किया है। तथा आदिका कुछ भाग जिसमें कि धर्मका फल बताया है और उसके बाद जहां पुण्यफलकी भी तुच्छता या निंदा प्रकट की है वह भी श्रावकोंकेलिये उपयोगी है। इसके सिवाय मुनिधर्मका स्वरूप भी श्रावकोंको जानना आवश्यक है। अत एव इससे केवल निर्वाणसाधुओंको ही नहीं श्रावकोंको भी लाभ होगा ऐसा समझकर हमने इसको हिंदी भाषामें अनुवादित किया है।

अमृतचन्द्र आचार्यने कहा है कि—

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः ।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥

इसीके अनुसार पंडित आशाधरजीने धर्मामृत ग्रंथकी रचना की है । परन्तु उसकी टीका रचनाका काल उससे विपरीत है । अर्थात् सागारधर्मामृत जो कि इस ग्रंथका उत्तरार्ध है उसकी टीका इस अनगार धर्मामृत—पूर्वार्धकी टीकासे ४ वर्ष पहले बनचुकी है । दैवयोगसे उसके हिन्दी अनुवादमें भी यही घटना बनी है । सागारधर्मामृतका अनुवाद प. लालारामजीके द्वारा पहले हो चुका है और कई वर्ष हुए वह प्रकाशमें भी आ चुका है । उसके बाद आज अनगार धर्मामृत मुझ अल्प बुद्धिके द्वारा अनूदित होकर पाठकोंके करकमलोंमें अर्पित होता है; आशा है कि सहृदय मुमुक्षु विद्वान् इससे लाभ उठावेंगे ।

यद्यपि इसके अनुवादका विचार और प्रारम्भ कई वर्ष हुए तभी हमने किया था परन्तु अनेक विघ्नोंके वश पूर्ण नहीं किया जा सका था । अस्तु । आज इसको पूर्ण करते हुए हम श्रीजिनेन्द्र भगवान्‌के चरणोंमें भक्तिपुष्पांजलिका अर्पण करते हैं । और यह अनुवाद सोलापुरनिवासी द्वितीयप्रतिमाधारी श्रीमान् सेठ रावजी सखाराम दोशीकी प्रेरणा और श्रीयुत सेठ खुशालचंदजी गांधी (नाथारंगजीवाले) द्वारा श्री नाथारंगजी जैनोन्नतिफंडकी सहायतासे प्रकाशित होता है अत एव उक्त दोनों ही महात्माओंके प्रति पुनः २ कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं । अंतमें पाठकोंकी सेवामें भी निवेदन है कि अल्पज्ञताके कारण यदि हमसे कहीं अर्थविपर्यास या लिखनेमें स्खलन होगया हो तो क्षमा करें और उसका संशोधन करनेकी कृपा करें ।

सोलापुर
ता. १–६–२७

प्रार्थी—
खूबचंद.



महापण्डित श्री आशाधर कृत

अनगारधर्मामृत

की

हिंदी टीका.

(प्रथम अध्याय)

शास्त्रके प्रारम्भमें आप्तकी स्तुति करना आवश्यक है; क्योंकि—

नास्तिकत्वपरीहारः शिष्टाचारप्रपालनम् ।
पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादावाप्तसंस्तवात् ॥

शास्त्रकी आदिमें आप्तकी स्तुति करनेसे नास्तिकताका परिहार, शिष्टाचारका पालन, पुण्यकी प्राप्ति और विघ्नोंका अभाव अथवा निर्विघ्नतया पुण्यकी प्राप्ति होती है; अतएव श्रीमान् महापण्डित आशाधरजी परम आराध्य सिद्धभगवान्, अर्हत परमेष्ठी, परम आगम और उसके कर्त्ता व्याख्याता तथा देशना–उपदेश, इनका अपनी इष्टसिद्धिकेलिये क्रमसे और विनयसे स्मरण तथा स्तवन करते हैं:—

हेतुद्वैतबलादुदीर्णसुदृशः सर्वंसहाः सर्वश,—
स्त्यक्त्वा सङ्गमजस्रसुश्रुतपराः संयम्य साक्षं मनः।
ध्यात्वा स्वे शमिनः स्वयं स्वममलं निर्मूल्य कर्माखिलं,
ये शर्मप्रगुणैश्चकासति गुणैस्ते भान्तु सिद्धा मयि ॥ १ ॥

दोनो हेतुओंके बलसे उद्भूत है सम्यग्दर्शन जिनका, और जो समस्त परीषहों व उपसर्गोंको जीतकर तथा परिग्रहका सर्वथा त्याग कर निरंतर समीचीन श्रुतके अभ्यासमें तत्पर रह इन्द्रियों व मनका निरोध कर तृष्णा-रहित हो अपनी आत्मामें अपने निर्मल आत्मस्वरूपका ही ध्यान कर जो जीव समस्त कर्मोंका मूलोच्छेदन कर, सुख ही है प्रधान स्वरूप जिनका ऐसे सिद्ध पदको, प्राप्त करलेते हैं; और अपने उन गुणोंके द्वारा नित्य ही प्रकाशमान रहते हैं वे मेरी आत्मामें प्रकाशित हों।

भावार्थ—'हिनोति इति हेतुः' इस निरुक्तिके अनुसार जो कार्यको कारकपनेसे और ज्ञाप्यको ज्ञापकपने-से व्याप्त करता है उसको हेतु कहते हैं। इसीलिये हेतु दो प्रकारका होता है; एक कारकहेतु दूसरा ज्ञापक हेतु। किंतु यहांपर केवल कारकहेतुको ही ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि सम्यग्दर्शनादिके साथ जो उदीर्ण आदि पद दिया है उससे उनके कार्यरूप बतानेका ही प्रयोजन [अभिप्राय] है।

कारक हेतु भी दो प्रकारका होता है; एक अंतरंग दूसरा बाह्य। इन दोनों हेतुओंकी सामर्थ्यसे जिन जीवोंके सम्यग्दर्शन प्रगट होगया है; और उसके बाद क्रमसे जिन्होंने परिग्रहका त्याग कर निरंतर समीचीन श्रुतका अभ्यास किया है; और उसके बाद इंद्रिय व मनका निरोध कर जिन्होंने शुद्धात्माका ध्यान किया है वे जीव अंतमें समस्त कर्मोंको निर्मूल कर सुखमय सिद्ध अवस्था प्राप्त करलेते हैं। इन्हीको

पूर्ण परमात्मा कहते है। और ये ही सब जीवोंके लिये ध्येय है। अत एव ग्रंथकार उनकी स्तुति करते हुए भावना प्रकट करते है कि वे सिद्ध भगवान् मेरी आत्मामें प्रकाशित हों—मुझे भी वह परमात्म अवस्था प्राप्त हो।

यद्यपि यहांपर अंतरङ्ग और बाह्य कारणोंकी सामर्थ्यका सम्बन्ध सम्यग्दर्शनकी प्रकटताके साथ ही दिखाया है; फिर भी उसके अनंतर निर्दिष्ट और उसके उत्पन्न होजानेपर ही उत्पन्न होनेवाले परिग्रहत्यागादि कार्योंके साथ भी उसका सम्बन्ध लगालेना चाहिये। क्योंकि वह शब्द आदिदीपक है. और इसके सिवाय एक बात यह भी है कि, सभी कार्योंकी उत्पत्ति अंतरंग और बाह्य दोनो कारणोंके ऊपर ही निर्भर है। इन दोनो कारणोंके विना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। सम्यक्त्वके अंतरंग कारण—निकटभव्यता आदि और बाह्य कारण उपदेश आदिक है। जैसा कि आगममें भी कहा है। यथाः—

आसन्नभव्यताकर्महानिसंज्ञित्वशुद्धपरिणामा।
सम्यक्त्वहेतुरान्तर्बाह्योऽप्युपदेशकादिश्च॥

निकटभव्यता, कर्महानि, संज्ञित्व और शुद्ध परिणाम ये सम्यग्दर्शनके अंतरंग कारण है। और बाह्य कारण उपदेशादिक है। यहांपर सम्यग्दर्शनके ही अंतरंग और बाह्य कारण बताये है। किंतु इसी तरह परिग्रहत्यागादिकके भी दोनो कारण होते है; जो कि आगमके अनुसार दूसरे ग्रंथोंसे समझ लेने चाहिये। सम्यग्दर्शनमें जो दर्शन-शब्द है वह यद्यपि दृश् धातुसे बना है जिसका कि अर्थ देखना होता है। फिर भी यहांपर उसको अर्थ श्रद्धान ही करना चाहिये। क्योंकि, प्रकरणके अनुसार धातुओंके अनेक अर्थ हुआ करते है। यथाः—

निपाताश्चोपसर्गाश्च धातवश्चेति ते त्रय।
अनेकार्थाः स्मृताः सद्भिः पाठस्तेषां निदर्शनम्॥

निपात उपसर्ग और धातु इन तीनोंके अनेक अर्थ होते है। किंतु कहांपर किसका क्या अर्थ होना चाहिये?

इसके लिये आम्नाय ही प्रमाण है। अतः प्रकरणके अनुसार ही उनका अर्थ हुआ करता है। पाठोंमें जो इनके अर्थ लिखे हैं वे केवल दिग्दर्शन करानेकेलिये अथवा उदाहरण मात्र समझने चाहिये।

पदार्थोंके स्वरूपसे विपरीत स्वरूपका अभिनिवेश—आग्रह न करना किंतु पर या अपर सभी वस्तुओंका, जिस स्वरूपमें वे अवस्थित हों उसी स्वरूपके अनुसार उनका, श्रद्धान करना इसको दर्शन कहते हैं। इसके साथ जो सु-शब्द दिया है उसके दो अर्थ होते हैं। एक प्रशंसा; दूसरा पूर्णता। क्योंकि यह दर्शन अपनेसे नीचेके स्थानोंकी अपेक्षा शंकादि दोषोंसे रहित होनेके कारण प्रशस्त, और अपनेसे ऊपरके स्थानोंकी अपेक्षा अधिक निश्चल क्षायिकरूप होनेके कारण संपूर्ण कहा जाता है। सूत्रकार—उमास्वामी महाराजने भी सम्यग्दर्शनका ऐसा ही लक्षण कहा है। यथा—"तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" इसका भी यही अर्थ है कि—आत्माके, ऐसी आत्माके कि जिसके दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम क्षय या क्षयोपशम होजानेसे वह कारणभूत शक्तिविशेष प्रकट होगई है, तत्त्वार्थके श्रद्धानरूप उस परिणामको सम्यग्दर्शन कहते हैं, जो कि ज्ञानको समीचीन ज्ञान कहानेकेलिये कारण है।

अपने अपने निमित्तके पाते ही आ उपस्थित होनेवाले उन परीषहों व उपसर्गोंसे जो आविर्भूत नहीं होते—जीते नहीं जासकते; जिनको कि सहनेकेलिये आगममें उपदेश दिया गया है, किंतु धृति आदि भावनाके बलसे अथवा महान् पराक्रम और वज्रतुल्य शरीरसे युक्त रहनेके कारण जो उन्हें सहते हैं उनको सर्वसह कहते हैं। इस प्रकारके सर्वसह और उक्त सम्यग्दर्शनके धारण करनेवाले ही भव्यात्मा सिद्ध अवस्थाको प्राप्त करनेकेलिये सङ्ग-परिग्रहके सर्वशः त्यागादि करनेमें प्रवृत्त हो सकते हैं।

संग—परिग्रह बाह्य और आभ्यंतरके भेदसे दो प्रकारका है। इसका सामान्य और विशेष लक्षण आगे कहेंगे। फिर भी निरुक्तिके अनुसार यहांपर इतना अर्थ अवश्य समझलेना चाहिये कि यह जीव अपनी चेष्टा या उपयोगरूप प्रवृत्तिके द्वारा "मेरा" और "मैं" इस तरहके ममकार और अहंकारसे जिन वि-

एको मे सासदो आदा णाणदसणलक्खणो ।
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे सजोगलक्खणा ॥१०२ नि॰॥
सजोगमूल जीवेण पत्ता दु'खपरपरा ।
तम्हा सजोगसवध सव्व तिविहेण वोस्सरे ॥

" मेरा यह एक शास्वत आत्मा ही ज्ञानदर्शनलक्षणवाला या ज्ञानदर्शनस्वरूप है और वाकीके जितने ये वाह्य भाव-पदार्थ है उन सवसे मेरा केवल संयोग ही है। आज तक इस जीवने जो दुःखपरपरा प्राप्त की है उसका मूल यही सयोग है। अत एव मै मन वचन और काय इन तीनोही के द्वारा इस समस्त संयोगको ही छोडता हूं ॥ "

इन शब्दोका ज्ञान होजानेपर जो विशेष उहापोहरूप तर्कणा होती है उसीको श्रुतज्ञान कहते है।

श्रुत शब्दके साथ जो पर-शब्दका प्रयोग किया है वह प्रधान अर्थमे है; जैसा कि ऊपर भी दिखाया गया है। इस प्रधानार्थक पर-शब्दके प्रयोगसे यह वात भी समझलेनी चाहिये कि जो स्वार्थ-ज्ञानात्मक श्रुतज्ञानकी भावनामे सदा लीन रहते है वे भी कदाचित् अनादिकालीन वासनाके वशसे परार्थ शब्दात्मक श्रुतज्ञानमे तत्पर होजाया करते हैं। परार्थ श्रुतज्ञानकी अपेक्षा श्रुत शब्दका अर्थ, " श्रूयते-श्रुतम् " इस निरुक्तिके अनुसार जो सुना जाय उसको श्रुत कहते है, ऐसा होता है। इससे श्रुत-शब्द शब्दप्रधान होजाता है। यहांपर इस अपेक्षामें श्रुत-शब्दके साथ जो " सु " शब्द लगा है उसका प्रयोजन शब्दात्मक श्रुतज्ञानकी प्रशसा दिखानेका है। शब्द वे ही प्रशसनीय है कि जिनके द्वारा शुद्ध और चिदानन्दस्वरूप आत्माका प्रतिपादन किया जाय, या उसके विषयमें प्रश्नादि किये जांय। क्योकि मोक्षकी इच्छा रखनेवालोको ऐसा ही श्रुत अभिमत हो सकता है। और इसीका नाम " सुश्रुत है। कहा भी है कि—

तद् ब्रूयात्तत्परान् पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत् ।
येनाविद्यात्मक रूप त्यक्त्वा विद्यामय व्रजेत् ॥ इति ।

इसके लिये आम्नाय ही प्रमाण है। अतः प्रकरणके अनुसार ही उनका अर्थ हुआ करता है। पाठोंमे जो इनके अर्थ लिखे है वे केवल दिग्दर्शन करानेकेलिये अथवा उदाहरण मात्र समझने चाहिये।

पदार्थोंके स्वरूपसे विपरीत स्वरूपका आभिनिवेश—आग्रह न करना किंतु पर या अपर सभी वस्तुओंका, जिस स्वरूपमे वे अवस्थित हो उसी स्वरूपके अनुसार उनका, श्रद्धान करना इसको दर्शन कहते है। इसके साथ जो सु-शब्द दिया है उसके दो अर्थ होते है। एक प्रशसा; दूसरा पूर्णता। क्योंकि यह दर्शन अपनेसे नीचेके स्थानोंकी अपेक्षा शकादि दोषोंसे रहित होनेके कारण प्रशस्त, और अपनेसे ऊपरके स्थानोंकी अपेक्षा अधिक निश्चल क्षायिकरूप होनेके कारण सपूर्ण कहा जाता है। सूत्रकार—उमास्वामी महाराजने भी सम्यग्दर्शनका ऐसा ही लक्षण कहा है। यथा—" तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् " इसका भी यही अर्थ है कि—आत्माके, ऐसी आत्माके कि जिसके दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम क्षय या क्षयोपशम होजानेसे वह कारणभूत शक्तिविशेष प्रकट होगई है, तत्त्वार्थके श्रद्धानरूप उस परिणामको सम्यग्दर्शन कहते है, जो कि ज्ञानको समीचीन ज्ञान कहानेकेलिये कारण है।

अपने अपने निमित्तके पाते ही आ उपस्थित होनेवाले उन परीपहो व उपसर्गोसे जो आविर्भूत नही होते—जीते नही जासकते; जिनको कि सहनेकेलिये आगममे उपदेश दिया गया है, किंतु धृति आदि भावनाके बल-से अथवा महान् पराक्रम और वज्रतुल्य शरीरसे युक्त रहनेके कारण जो उन्हे सहते है उनको सर्वसह कहते है। इस प्रकारके सर्वसह और उक्त सम्यग्दर्शनके धारण करनेवाले ही भव्यात्मा सिद्ध अवस्थाको प्राप्त करनेकेलिये सङ्ग-परिग्रहके सर्वशः त्यागादि करनेमे प्रवृत्त हो सकते है।

संग—परिग्रह बाह्य और आभ्यंतरके भेदसे दो प्रकारका है। इसका सामान्य और विशेष लक्षण आगे कहेगे। फिर भी निरुक्तिके अनुसार यहांपर इतना अर्थ अवश्य समझलेना चाहिये कि यह जीव अपनी चेष्टा या उपयोगरूप प्रवृत्तिके द्वारा " मेरा " और " मैं " इस तरहके ममकार और अहंकारसे जिन वि-

अविद्याभिदुर ज्योति पर ज्ञानमय महत् ।
तत्प्रष्टव्य तदेष्टव्य तद् द्रष्टव्य मुमुक्षुभि ॥ इति च ।

शुद्ध चिदानन्दस्वरूप आत्माका ही वर्णन करना चाहिये, और इस विषयके प्राप्त करनेवालों अथवा अभिज्ञोसे उसे पूछना चाहिये, और इसीकी इच्छा करनी चाहिये, तथा वैसा ही होना भी चाहिये। जिसमे कि तू अज्ञानमय अवस्थाको छोडकर ज्ञानमय अवस्थाको प्राप्त हो।

महान् ज्ञानमय ज्योति ही एक ऐसी चीज है जो कि अविद्यारूपी अंधकारका भेदन करनेमे अतिदक्ष है। अतएव मुमुक्षुओको वही देखनी चाहिये। इसीको ज्ञानाराधना कहते है। क्योंकि निरंतर समीचीन श्रुत में तत्पर रहनेका ही नाम ज्ञानाराधना है।

इस प्रकार ज्ञानका आराधन करनेवाला पहले संयमको धारण करता है, पीछे दूसरा काम करता है। स्पर्शनादिक इन्द्रियो व उनके साथ प्रवर्त्तमान मनको अपने अपने विषयसे रोकनेको संयम कहते है। अपने अपने आवरण [जैसे स्पर्शनेन्द्रियावरण रसनेन्द्रियावरण इत्यादि] कर्मका और वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम होनेपर आत्मा अपनी अपनी योग्यताके अनुसार स्पर्शादि विषयोको जिनके द्वारा जानता है उनको अक्ष अर्थात् इन्द्रिय कहते है। इसके पाच भेद है— स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र। इनमे प्रत्येकके दो भेद है— एक द्रव्येन्द्रिय, दूसरा भावेन्द्रिय। द्रव्येन्द्रियके दो भेद है— निर्वृत्ति और उपकरण। इन्द्रियाकार रचनाको निर्वृत्ति और उसके काममें सहायता करनेवालेको उपकरण कहते है। भावेन्द्रियके दो भेद है— लब्धि और उपयोग। अपने अपने आवरण कर्मके क्षयोपशमकी प्राप्तिको लब्धि तथा अपने अपने विषयकी तरफ प्रवृत्ति करनेको उपयोग कहते है। इसी प्रकार नोइन्द्रियावरण तथा वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम होनेपर आत्मा जिसके द्वारा द्रव्यमनकी सहायता से मूर्त या अमूर्त वस्तुको जानता है और उनके गुणदोषोके विचार या स्मरणादिरूप उपयोगसे ऊहापोह करता है उसको मन कहते है। यह लक्षण भावमनकी अपेक्षासे है। क्योकि गुणदोषोका विचार या स्मरणादिरूप उपयोग भावमनका ही कार्य है। इस विषयमें कहा भी है—

गुणदोषविचारस्मरणादिप्रणिधानमात्मनो भावमन ।
तदभिमुखस्यास्यैवानुग्राही पुद्गलोच्चयो द्रव्यमन ॥

अर्थात्—गुणदोषोंके विचार या स्मरणादिरूप आत्माके उपयोगको भावमन, तथा उसकेलिये अभिमुख हुए उसी आत्माको सहायता करनेवाले पुद्गलपिंडको द्रव्यमन कहते है। इन उपर्युक्त इन्द्रियो व मनके रोकनेको ही सयम कहते है और इसीका नाम तप आराधना है। क्योकि इन्द्रिय तथा मनके निरोधको ही तप कहते है। तथा यही व्यवहारसे मोक्षमार्ग भी है।

इस प्रकार व्यवहारसे मोक्षमार्गका साधन कर सिद्धपदका अभिलाषी ध्यानमे प्रवृत्त होता है। सब विषयोंसे हटाकर एक ही विषयकी तरफ उपयोगके लगानेको ध्यान कहते है। उक्त प्रकारका तपस्वी अपनो निर्मल आत्माको ही इस ध्यानका विषय बनाता है। जिससे कि वह अपनी उस निर्मल आत्माके विषयमे भी राग द्वेश और मोहसे रहित होजाता है। तथा सान्द्र—अत्यंत निविड आनन्दस्वरूप शुद्ध निजात्माका अनुभव होजानेमे वह अत्यंत तृप्त और परम प्रशम तथा तृष्णाराहित्यको प्राप्त होजाता है। यहातक कि स्वयं ध्येयके विषयमे भी वह तृष्णारहित होजाता है। ऐसा ही कहा भी है—

किमत्र बहुनोक्तेन ज्ञात्वा श्रद्धाय तत्त्वत ।
ध्येय समस्तमप्येतन्माध्यस्थ्य तत्र बिभ्रता ॥ इति ।

अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन? तत्वतः पदार्थोको जान कर तथा श्रद्धान कर उनके विषयमे माध्यस्थ्य—राग द्वेश और मोहसे रहित अवस्थाको धारण करनेवालेकेलिये ये सभी ध्येय है। इस प्रकारसे ध्यान करनेवाला द्रव्यकर्म और भावकर्मसे रहित, तथा स्व और पर पदार्थोंकी ज्ञप्तिरूप, पदार्थोके यथावस्थित स्वरूपसे विपरीत स्वरूपके अभिनिवेश—आग्रह तथा सशय विपर्यय अनध्यवसायसे रहित, परम औदासीन्यस्वरूप, सारांश यह कि अनंत शुद्धज्ञानानंदस्वरूप अपनी आत्माका स्वय संवेदनरूपसे ध्यान करता है। इस प्रकारके ध्यान करनेको ही निश्चय मोक्षमार्ग कहते है। कहा भी है—

पयोंमे आसक्त होता है उन विषयोंको और उस आसक्तिको सग कहते है । सर्वशः इस शब्दमें सर्व-शब्दसे जो शस्प्रत्यय की गई है वह प्रशंसार्थक है । इससे परिग्रहके त्यागकी प्रशस्तता प्रगट की गई है। क्योंकि जितने भी मोक्षके माननेवाले है वे सभी समस्त परिग्रहके त्यागको मोक्षका कारण अवश्य मानते है। क्योंकि इसके विना उसकी सिद्धि नहीं हो सकती। इस कथनमे संक्षेपरुचिवाले शिष्योंकी अपेक्षामें यहांपर सम्यक्त्वाराधना तथा चारित्राराधनाका भी वर्णन करदिया गया; ऐसा भी समझलेना चाहिये । क्योंकि दर्शनका ज्ञानके साथ और चारित्रका तपके साथ अविनाभाव है। और इसीलिये समस्त परिग्रहके त्यागमें उक्त दोनो आराधनाओंका अंतर्भाव होजाता है।

इस प्रकार उक्त सम्यग्दर्शनका लाभ करनेवाला भव्यात्मा परिग्रहका सर्वशः त्याग करनेपर सिद्धावस्था प्राप्त करनेकी इच्छासे समीचीन श्रुतका अभ्यास करनेमे निरंतर तत्पर रहता है। सामान्यसे अस्पष्ट तर्कण—ऊहापोहरूप ज्ञानविशेषको श्रुत कहते है। जो श्रुत अपनी आत्माके स्वरूपकी तरफ उन्मुख रहा करता है वही प्रशस्त समझा जाता है । इसी प्रशस्त श्रुतके अभ्यासमें उक्त सम्यग्दृष्टी तथा परिग्रहका त्यागी निरंतर रत रहा करता है । श्रुत शब्द श्रु धातुसे बना है। जिसका कि अर्थ सुनना होता है। फिर भी जिस प्रकार सम्यग्दर्शनमे दृश् धातुका श्रद्धान अर्थ किया था उसी प्रकार यहां भी श्रुधातुका ज्ञानविशेष ही अर्थ करना चाहिये। जिसमे श्रुतज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे ऊहापोह करनेकी शक्ति प्रकट होगई है और जिसमे साक्षात् अथवा परपरासे लगे हुए मतिज्ञान विशेषणने अतिशय उत्पन्न कर दिया है उस आत्माके अस्पष्टतया नाना पदार्थोंके प्ररूपण करसकनेवाले ज्ञानरूप परिणामविशेषको श्रुत कहते है । कहा भी है कि—

"मतिपूर्वं शब्दयोजनसहितमूहनं श्रुतमिति तच्छ्रुतम् ।"

शब्दके सम्बंधसे होनेवाले मतिपूर्वक तर्कण—विचारको श्रुत कहते है । यथा—

एको मे सासदो आदा णाणदसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे सजोगलक्खणा ॥ १०२ ॥
सजोगमूल जीवेण पत्ता दु खपरपरा ।
तम्हा सजोगसबध सव्व तिविहेण वोस्सरे ॥

" मेरा यह एक शास्वत आत्मा ही ज्ञानदर्शनलक्षणवाला या ज्ञानदर्शनस्वरूप है और बाकीके जितने ये बाह्य भाव-पदार्थ है उन सबसे मेरा केवल संयोग ही है। आज तक इस जीवने जो दुःखपरपरा प्राप्त की है उसका मूल यही सयोग है। अत एव मै मन वचन और काय इन तीनोही के द्वारा इस समस्त संयोगको ही छोडता हूं ॥ "

इन शब्दोका ज्ञान होजानेपर जो विशेष ऊहापोहरूप तर्कणा होती है उसीको श्रुतज्ञान कहते है।

श्रुत शब्दके साथ जो पर-शब्दका प्रयोग किया है वह प्रधान अर्थमे है; जैसा कि ऊपर भी दिखाया गया है। इस प्रधानार्थक पर-शब्दके प्रयोगसे यह बात भी समझलेनी चाहिये कि जो स्वार्थ-ज्ञानात्मक श्रुतज्ञानकी भावनामे सदा लीन रहते है वे भी कदाचित् अनादिकालीन वासनाके वशसे परार्थ शब्दात्मक श्रुतज्ञानमे तत्पर होजाया करते हैं। परार्थ श्रुतज्ञानकी अपेक्षा श्रुत शब्दका अर्थ, " श्रूयते-श्रुतम् " इस निरुक्तिके अनुसार जो सुना जाय उसको श्रुत कहते है, ऐसा होता है। इससे श्रुत-शब्द शब्दप्रधान होजाता है। यहांपर इस अपेक्षामें श्रुत-शब्दके साथ जो " सु " शब्द लगा है उसका प्रयोजन शब्दात्मक श्रुतज्ञानकी प्रशसा दिखानेका है। शब्द वे ही प्रशसनीय है कि जिनके द्वारा शुद्ध और चिदानन्दस्वरूप आत्माका प्रतिपादन किया जाय, या उसके विषयमे प्रश्नादि किये जांय। क्योकि मोक्षकी इच्छा रखनेवालोको ऐसा ही श्रुत अभिमत हो सकता है। और इसीका नाम " सुश्रुत है। कहा भी है कि—

तद् ब्रूयात्तत्परान् पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत् ।
येनाविद्यात्मक रूप त्यक्त्वा विद्यामय व्रजेत् ॥ इति ।

रयणत्तय ण वट्टइ अप्पाण मुयइ अण्णदवियम्हि ।
तम्हा तत्तियमइओ होदि हु मोक्खस्स कारण आदा ॥ इति ।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र, आत्माको छोड कर किसी अन्य द्रव्यमे नहीं रहते अतएव रत्नत्रयात्मक आत्मा ही मोक्षका कारण है ।

इस निश्चय मोक्षमार्गरूप ध्यानके बलसे उक्त भव्य समस्त कर्मोको निर्मूल करदेता है । मिथ्यादर्शनादिसे परतन्त्र हुआ आत्मा अपने साथ जिस चीजको बांधता है उसको अथवा परतन्त्रताके निमित्त और आत्मप्रदेशोंके परिस्पंदरूप ज्ञानावरणादिकको भी कर्म कहते है। इसके दो भेद है —द्रव्यकर्म और भावकर्म । आत्माके साथ बंधनेवाले ज्ञानावरणादिरूप पुद्गलपिडको द्रव्यकर्म और उससे होनेवाले आत्मिक भावोको भावकर्म कहते है । घाति अघाति अथवा बादर सूक्ष्म इस तरह भी कर्मके दो दो भेद होते है। आत्माके अनुजीवी गुणोके घातनेवालोंको घाति और प्रतिजीवी गुणोके घातनेवालोको अघाति कर्म कहते है । तथा जो अनुभवमे आसके उनको बादर और जो अनुभवमे न आसके उन्हे सूक्ष्म कहते है। इन कर्मोको निर्मूल कर वह भव्य सुखप्रधान गुणोंसे सदा प्रकाशमान रहता है। सब गुणोंमे सुखको प्रकृष्ट कहनेका प्रयोजन यह है कि वही सब जीवोंको सबसे अधिक अभीष्ट है। और दूसरे अनंत गुण इस परम आनंदस्वरूप अमृतसे सिक्त रहते है। इस प्रकार समस्त कर्मोके क्षयसे सिद्धावस्था प्राप्त होजानेपर यद्यपि सुखादिक अनंत स्वाभाविक गुण प्रकट हो-जाते है, फिर भी आठ कर्मोके अभावकी अपेक्षासे प्रधानतया आठ गुणोंसे वे सदा प्रकाशमान रहते है। जिनमे कि—मोहनीयकर्मके क्षयसे परमसम्यक्त्व अथवा सुख, ज्ञानावरणके क्षयसे अनंतज्ञान, दर्शनावरणके क्षयसे 'अनंत-दर्शन, और अन्तरायकर्मके क्षयसे अनंतवीर्य प्रकट होता है। वेदनीयकर्मके क्षयमे अव्याबाध अथवा इंद्रियजनित सुखोंका अभाव, आयुःकर्मके क्षयसे परमसूक्ष्मता अथवा जन्ममरणका विनाश, नामकर्मके क्षयसे परम अवगाहन अथवा अमूर्तत्व, और गोत्रकर्मके क्षयसे अगुरुलघुत्व अथवा दोनो कुलका अभाव होता है । इन गुणोंसे सदा प्रकाशमान रहनेवाले तथा सिद्धि—स्वात्मोपलब्धिको प्राप्त करनेवाले वे सिद्ध परमात्मा मुझ ग्रंथकर्त्ताकी तथा

इस ग्रंथके अध्ययन करनेवालोंकी आत्मामें व्यक्त स्वसंवेदनके विषय हों *।

इस प्रकार सिद्ध भगवान्‌की स्तुतिका, पदोंकी अपेक्षासे, अर्थ किया गया है। क्योंकि अवयवोंके अर्थका परिज्ञान हुए विना समुदायका अर्थ समझमें नहीं आसकता। अत एव उक्त सब कथनका तात्पर्य समुदायरूपसे भी यहां बता देते हैं। वह इस प्रकार है कि—जो भव्य, चाहे वे अनादिमिथ्यादृष्टि हों चाहे सादिमिथ्यादृष्टि, किंतु, अंतरंग और बाह्य कारणोंके बलसे सम्यग्दर्शनका लाभ करनेपर समस्त परीषहों व उपसर्गोंके जीतनेकी क्षमता प्राप्त होनेसे सर्व परिग्रहका त्याग कर निरतर समीचीन श्रुतके अभ्यासमें रत रहते हुए समस्त इन्द्रियों तथा मनका अपने विषयोंसे निरोध कर और उस प्रकारका अभ्यास करलेनेपर स्वयं अपनी शुद्धात्मामें शुद्ध निजात्मस्वरूपका ध्यान कर; यहांतक कि उसमें भी तृष्णारहित हो, समस्त घातिकर्मोंको नष्ट कर स्वाभाविक और निश्चल चैतन्यसे युक्त—सकल परमात्म-अवस्थाको प्राप्त होजाते हैं; और फिर क्रमसे अघातिकर्मोंको भी दूर कर लोकके अंतमें स्थित हो केवलसम्यक्त्व केवलज्ञान केवलदर्शन और सिद्धत्वसे सदा प्रकाशमान रहते हैं—विकल परमात्म अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं—वे भगवान् सिद्धपरमेष्ठी मुझमें नोआगमभावरूपसे मेरी आत्माको ही प्रकाशित करें।

देखा जाता है कि अर्हतादिकके गुणोंमें अनुराग रखनेवाले तथा विचारपूर्वक कार्य करनेवाले सभी पूर्वाचार्योंने अपनेलिये ज्ञानदानके अंतरायको और श्रोताओंकेलिये ज्ञानलाभके अंतरायको दूर करनेकी इच्छासे शुभ परिणामोंके द्वारा अशुभ कर्मप्रकृतियोंके रसके प्रकर्षको निर्मूल नष्ट कर अभीष्ट अर्थकी सिद्धिकेलिये अपने अपने शास्त्रकी आदिमें इच्छानुसार अर्हतादिक समस्त उपास्योंकी ही स्तुति की है। अत एव इस ग्रंथकी आदि

* इस पद्यमें ग्रथकर्त्ताने केवल सिद्ध भगवान्‌के गुणोंकी स्तुति ही नहीं की है किंतु अपने द्वारा प्राणिमात्रके अंतिम साध्य और उसकी सिद्धिके द्वारा तथा उपायके क्रमका भी वर्णन करदिया है। तथा बतादिया है कि जिस क्रमके अनुसार और जिस उपायसे वह साध्य सिद्ध हो सकता है उसीका इस ग्रंथमें हम वर्णन करेंगे।

मे ग्रंथकारने भी अपने तथा पर—श्रोताओंके विघ्नोंको दूर करनेकेलिये पहले सिद्धोंका और पीछे अर्हंतोंका नांदी-मंगलरूपसे विनयकर्म किया है। क्योंकि जो जिस गुणका अभिलाषी होता है वह उस गुणवालेकी उपासना करता है। अत एव सिद्धत्वगुणके अभिलाषी ग्रंथकारने सबसे पहले सिद्धोंकी ही उपासना की है। इसके बाद अर्हंतोंकी भी उपासना की है। क्योंकि सिद्धत्वकी प्राप्तिकेलिये जिस उपायकी आवश्यकता है उसके सर्वप्रधान उपदेशक अर्हंत ही है। कहा भी है कि—

अभिमतफलसिद्धेरभ्युपाय सुबोध ,
प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् ।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादप्रबुद्धै,—
र्न हि कृतमुपकार साधवो विस्मरन्ति ॥ इति ।

अर्थात्‌:—भव्योंके अभीष्ट फलकी सिद्धिका उपाय सम्यग्ज्ञान है, जो कि उस शास्त्रसे उत्पन्न होता है कि जिसकी उत्पत्ति आप्तसे होती है। अत एव उसके प्रसादसे प्रबुद्ध होनेवालोंकेलिये वह आप्त अवश्य ही पूज्य है। क्योंकि साधुपुरुष किसीके भी किये हुए उपकारको भूलते नहीं है।

इसी प्रकार एक दूसरी बात यह भी है कि मोक्षकी अत्यत इच्छा रखनेवालोंको परमार्थसे सबसे पहले सिद्ध परमात्माओंकी ही उपासना करनी चाहिये। इसी बातको दिखानेकेलिये ग्रंथकारने पहले सिद्धोंकी आराधना की है। कहा भी है कि—

सपयत्थ तित्थयर अधिगतवुद्धिस्स सुत्तरोयस्स ।
दूरतर णिव्वाण सजमतवसपद्द तस्स ॥
तम्हा णिव्वुदिकामो णिस्सगो णिम्ममो य भविय पुणो ।
सिद्धेसु कुणदि भती णिव्वाणो तेण पप्पोदी ॥ इति ।

जो जीव अपनी आत्माका अन्तिम साध्य अर्थ तीर्थंकर पदको ही मानता है वह चाहे सूत्रोंमे रुचि रखने-

वाला ही क्यो न हो; निर्वाण-मोक्ष और उसके साधन संयम तथा तपःसंपत्तिसे बिलकुल दूर है. अत एव निर्वृतिकी इच्छा रखनेवालोंको निःसग और निर्मम होकर सिद्धोमे भक्ति करनी चाहिये—अपना अन्तिम साध्य अर्थ सिद्ध पदको ही समझना चाहिये, जिससे कि वस्तुतः निर्वृतिकी प्राप्ति हो सके ।

इस प्रकार अनंत ज्ञानादिगुणोंके समूहको प्राप्त करनेकी इच्छासे ग्रन्थकार पहले सिद्धोंकी आराधना करके अब उसके उपाय बतानेवालोंमे सबसे श्रेष्ठ, तीन जगत्के ज्येष्ठ-गुरु, और समस्त संसारके अद्वितीय शरण्य भगवान् अर्हद्भट्टारककी शरण प्राप्त करना मनमें रखकर उनकी स्तुति करते है—

श्रेयोमार्गानभिज्ञानिह भवगहने जाज्वद्दुःखदाव-
स्कन्धे चङ्क्रम्यमाणानतिचकितमिमानुद्धरेयं वराकान् ।
इत्यारोहत्परानुग्रहरसविलसद्भावनोपात्तपुण्य,
प्रक्रान्तैरेव वाक्यैः शिवपथमुचितान् शास्ति योऽर्हन् स नोऽव्यात् ॥ २ ॥

इस संसाररूपी वनमे जिसमे कि दुःखोके दावानलका स्कन्ध वार वार और अच्छी तरह जलरहा है। इधर उधर भ्रमण करनेवाले किंतु कल्याणके मार्गसे अनभिज्ञ प्राणियोंके विषयमे अत्यत चकित होकर उत्पन्न हुई, और बढ रहा है परोपकारके रसका विलास जिसमे ऐसी—विविध प्रकारके दुःखोंसे अत्यंत त्रस्त हुई, 'तीन जगत्के जीवोंका मे एकसाथ ही कब उद्धार करदूं' इस भावना—तीर्थकरत्वभावनाके बलसे संचित हुए पुण्य—तीर्थकर प्रकृतिके निमित्तसे ही उत्पन्न हुए वाक्योंके द्वारा जो अर्हत देव, सभामें आये हुए भव्योंको कल्याणके मार्गका उपदेश देते है वे मेरी रक्षा करो ।

भावार्थ—जहांपर नरक तिर्यंच मनुष्य और देव इन चारो गतियोंमे ये जीव जन्ममरणको धारण करते हुए सदासे रहरहे है उसको भव या ससार कहते है। यह संसार एक प्रकारका वन है। क्योकि जिस प्रकार

वन अनेक दुःखोंका निमित्त होता है उसी तरह इसमें भी जीव विविध प्रकारके दुःखोंका भोग करते हुए ही रहरहे है। यद्यपि ये सांसारिक दुःख जिनको कि यह संसारी जीव निरंतर भोगता रहता है, अनेक प्रकारके हैं फिर भी वे चार भागोंमे विभक्त है—सहज, शारीर, मानस और आगन्तुक। सरदी गरमी क्षुधा तृषा वर्षा आदि ऋतुओंके निमित्तसे अथवा भूख प्यास आदिसे होनेवाले परितापको साहजिक, शरीरमें होनेवाली बीमारी आदिके निमित्तसे उत्पन्न हुए क्लेशको शारीरिक, चिंता शोक संज्ञा रति आदिके द्वारा हुए संतापको मानासिक, और किसी मनुष्य देव या तिर्यचादिके निमित्तसे आ उपस्थित होनेवाली बाधाओंको आगन्तुक दुःख कहते है। जब कि संसार एक प्रकारका वन है तो उसमे होनेवाले ये दुःख दावानल है। क्योंकि जिस प्रकार दावानलसे वहांपर रहनेवालोंको विनाशांत विविध प्रकारकी शारीरिक और मानसिक आपत्तियां प्राप्त होती है उसी प्रकार इन दुःखोंसे भी अपनेसे सम्बद्ध अथवा संसारमें रहनेवाले प्राणियोंको जबतक उनसे सम्बन्ध न छूट जाय तबतक अथवा मरण पर्यंत अनेक प्रकारकी आपत्तियां प्राप्त होती है। सारांश यह कि प्राणियोंको आपत्ति पहुंचानेमे निमित्त होना ही इस दुःखरूप दावानलके स्कन्धका कार्य है और इसीलिये यह उत्पन्न होता है। इस प्रकारका यह दुःखरूप दावानलका स्कन्ध जिसमे निरंकुशतया बार बार और खूब जोरसे धधक रहा है ऐसे उक्त संसाररूपी वनमें ये प्राणी इस प्रकारसे इतस्ततः भ्रमण कर रहे है कि उससे छुटकारेकी या कल्याणकी इच्छा रखते हुए भी उल्टे उन्हींकी तरफ जा उपस्थित होते है। इसका कारण यह है कि वे मोक्षके मार्गसे अनभिज्ञ है। संसारका अभाव होजानेपर जीवको जो निज स्वरूपका लाभ होता है उसको मोक्ष कहते है। इसकी प्राप्तिके उपायका नाम मार्ग है। व्यवहारनयसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको तथा निश्चयनयसे इस रत्नत्रयस्वरूप निजात्माको ही मोक्षमार्ग कहते हैं। इसके स्वरूपका इन संसारी जीवोंको संशयादिरहित पूर्ण रूपसे अथवा व्यवहार या निश्चय नयके द्वारा ज्ञान नहीं है; इसीलिये उन दुःखोसे व्याप्त संसारवनसे वे मुक्ति प्राप्त नहीं करसकते। अर्थात् मुक्तिके समीचीन उपायसे मूढ रहनेके कारण ही ये प्राणी उक्त

१ वहांपर रहनेवाले या दवानल दोनोंमेंसे किसी एकका जबतक विनाश न हो जाय तबतक

प्रकारके दुःखोंसे पूर्ण भी. संसाररूपी वनमें भ्रमण कर रहे हैं और दुःख भोग रहे हैं। " इस प्रकार विचित्र दुःखोंसे त्रस्त हुए इन [अपने हृदयंगत] दीन, तीन जगत्‌के जन्तुओंका मैं एकसाथ उद्धार करदूं—इस दुःखपूर्ण संसाररूपी वनमें छूटनेके उपायका उपदेश देकर इनका उपकार करूं ? " इस भावनाको तीर्थकृत्त्वभावना कहते हैं। यह मुख्यतया अपायाविचय नामके एक धर्मध्यानके ही भेद है। यही बात गर्भान्वयक्रियाका वर्णन करते हुए आगममें भी कही है[1]—

मौनाध्ययनवृत्तत्व तीर्थकृत्त्वस्य भावना।
गुरुस्थानाभ्युपगमो गणोपग्रहण तथा ॥ इति।

एक साथ ही तीन जगत्‌का अनुग्रह करनेकेलिये समर्थ होनेकी इस भावनामें उक्त दयाके पात्र प्राणियोंके अभ्युद्धारकी बुद्धि इस प्रकारसे उत्पन्न होती है कि जिसके साथ ही साथ उनके दुःसह दुःखरूप दावानलकी ज्वालाओंके भभूकोंको देखकर हृदयमें उत्पन्न हुआ क्लेद आंखोंसे निकली हुई अश्रुधारासे अभिव्यक्त हो जाता है। और इसीलिये इस बुद्धिसे बार बार आत्मामें उन्हींका विचार उत्पन्न होता है। आत्मस्वरूप और परम करुणासे अनुरक्त अन्तश्चैतन्य परिणामोंसे प्रतिक्षण बढनेवाले परोपकारके रस अथवा उससे उत्पन्न हुए हर्षके कारण ये भावनायें अपना विशेषरूपसे प्रकाश करती हैं। इस प्रकारकी भावनायें दूसरे साधारण व्यक्तियोंके नहीं पाई जा सकती; क्योंकि अनगारकेवलित्वके योग्य भावना करनेवालोंके इन भावनाओंका उत्पन्न होना असंभव है। इनके दर्शनविशुद्धि आदिक सोलह भेद हैं। ये एक प्रकारके मनोगत संस्कार हैं जो कि परम पुण्य तीर्थकर नामकर्मके बन्धकेलिये कारण हैं। इन भावनाओंके बलसे संचित, किंतु केवलज्ञानके साहचर्यको पाकर उदयको प्राप्त होनेवाले तीर्थकरनामक पुण्यकर्मविशेषसे ही उत्पन्न हुए वाक्यों-दिव्यध्वनिके द्वारा जो मोक्षमार्गकी जिज्ञासासे सभामें आये हुए भव्योंको उक्त मोक्षमार्गका उपदेश देते हैं वे भगवान् अर्हन् हम त्राणार्थियोंकी रक्षा करें-अभ्युदय और निःश्रेयससे भ्रष्ट करनेवाले उपायरूप अपायोंसे हमको दूर रक्खें।

१ श्री जिनसेन स्वामिकृत महापुराणमें कहा है।

अर्हन्तदेवके वाक्योंको तीर्थंकरनामक पुण्यकर्मविशेषसे ही उत्पन्न हुए कहनेका प्रयोजन यह है कि उनके वाक्य विवक्षा आदिकसे उत्पन्न नहीं होते; क्योंकि वीतराग भगवान्‌के विवक्षाका होना बन नहीं सकता । यही बात कही भी है—

यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पन्दितोष्ठद्वयं,
नो वाञ्छाकलितं न दोषमलिनं न श्वासरुद्धक्रमम् ।
शान्तामर्षविषैः समं पशुगणैराकर्णितं कर्णिभि—
स्तन्नः सर्वविदः प्रणष्टविपदः पायादपूर्वं वचः ॥ इति ।

समस्त विपत्तियोंको नष्ट करदेनेवाले सर्वज्ञदेवके वे वचन हमारी रक्षा करें जो कि, शान्त होगया है कषाय-विष—पारस्परिक वैरविरोध जिनका ऐसे पशुगणोंके साथ साथ, सभी श्रोत्रेन्द्रियके धारकोंके द्वारा सुने जाते तथा समस्त प्राणियोंकेलिये हितकर है, एवं जो न होठोंसे मलिन है और न वर्णों—अक्षरोंसे सहित है । तथा जिसका क्रम श्वाससे रुद्ध नहीं होता, और जिसके उत्पन्न होनेमें न तो दोनो ओष्ठोंका स्पन्दन—हलन चलन ही होता है और न अंतरंगमें वाञ्छा—विवक्षा ही होती है । इससे स्पष्ट है कि भगवान् के वाक्य विवक्षाजनित नहीं है । किंतु वे केवलज्ञानका साहचर्य पाकर उदयको प्राप्त हुई तीर्थंकर प्रकृतिके निमित्तसे ही उत्पन्न होते है । इन वाक्योंको ही दिव्यध्वनि कहते हैं । इस दिव्यध्वनिके विषयमें कहा गया है कि—

पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे मज्झिमाये रत्तीये ।
छच्छग्घडिया णिग्गय दिव्वझुणी कहइ सुत्तत्थे ॥ इति ।

अर्थात्—भगवान्‌की दिव्यध्वनि पूर्वाण्ह मध्यान्ह और अपराण्ह तथा अर्धरात्रि इन चार समयोंमें छह छह घडी तक होती है और वह सूत्रके अर्थोंका अथवा सूत्ररूप अर्थका निरूपण करती है । इसी दिव्यध्वनिके द्वारा भगवान् अर्हन् भव्योंको मोक्षमार्गका निरूपण करते है । तथा—

दृग्विशुद्धयाद्युत्थतीर्थकृत्त्वपुण्योदयात् स हि ।
शास्त्यायुष्मान् सतोऽर्तिघ्न जिज्ञासूस्तीर्थमिष्टदम् ॥

उक्त दर्शनविशुद्धयादि भावनाओंके द्वारा संचित तीर्थंकर प्रकृतिरूप पुण्य कर्मके उदयसे वे आयुष्मान् भगवान् मोक्षमार्गके जिज्ञासु भव्योंको, संसारकी पीडाको दूर करनेवाले और इष्ट—मोक्ष फलके देनेवाले तीर्थ—संसारसे निस्तरणके उपायका उपदेश देते हैं।

इस प्रकार सिद्धोंके अनतरं मोक्षमार्गके सर्वप्रधान उपदेशक भगवान् अर्हन्तदेवकी स्तुति की गई। अर्हन् शब्दका निरुक्तिकी अपेक्षा अर्थ होता है कि जो पूजाके योग्य हो। अतएव मोहनीय ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय इन चार घातिकर्मोंके दूर कर देनेसे जिनको अनन्त चतुष्टय [अनंत- सुख ज्ञान दर्शन वीर्य] स्वरूप प्राप्त होगया है उनको अर्हन् कहते हैं।

इस स्तुतिमें अर्हन्तदेवके स्वरूपका ही निरूपण नहीं किया है किंतु उस स्वरूपकी प्राप्तिके उपाय और क्रमका भी वर्णन कर दिया है। यह बात उक्त और आगेके कथनसे स्पष्ट ही समझमें आ सकती है; क्योंकि अर्हतके स्वरूप और उसके कारण तीर्थंकर प्रकृति तथा उसके भी कारण दर्शनविशुद्ध्यादि भावनाओंके स्वरूप तथा उनके भी विषयके वर्णन करनेका प्रयोजन यही है। उक्त कथनका सारांश यही है कि तीनों लोकके सभी प्राणी श्रेयो—मार्गका यथावत् ज्ञान न रखनेके कारण दुःखोंसे भीत रहते हुए भी उल्टे ही चलते हैं। चाहते हैं कि हमारा दुःखोंसे छुटकारा हो किंतु सेवन उनका करते ही है, जो कि दुःखोंके ही उपाय है। अतएव जिनके हृदयमें यह बात देखकर उनके अभ्युद्धारकी वह अनुकम्पापूर्ण बलवती भावना उत्पन्न होती है जो कि तीर्थकर प्रकृतिके बंधकेलिये कारण है, और जो घातिकर्मोंका घात कर उस अनंतचतुष्टय स्वरूपको प्राप्त करते है जिसके कि साहचर्यसे उक्त भावनाके द्वारा संचित तीर्थकर प्रकृतिका उदय होता है; और अंतमें जो इस तीर्थकर पुण्यकर्मके उदयके निमित्तसे ही उत्पन्न हुई दिव्यध्वनिके द्वारा श्रेयोमार्गका ज्ञान करा कर उन प्राणियोंका अभ्युद्धार कर देते है; वे अर्हन्त देव मेरा भी अभ्युद्धार करें। क्योंकि लोकमें भी यह बात देखी

जाती है कि किसी ऐसे दुस्तर और घोर जंगलमे जिसमे कि जलती हुई दावानलकी ज्वालाओंसे उसके वृक्ष और जानवर जल रहे हों, दुर्दैवसे फसजानेवाले किंतु उससे निकलनेके मार्गको न जाननेवाले पथिकोंको उससे निकलनेकी इच्छासे उल्टे दावानलकी ही तरफ वेगसे जाते हुए देखकर भी ऐसा कौन दयार्द्रहृदय और परोपकारपर सज्जन होगा जो कि उनको उस वनसे निकलजानेके समीचीन मार्गका उपदेश देना न चाहे; और जहातक उससे वने उनके अभ्युद्धारका प्रयत्न न करे ॥

इस प्रकार मोक्षमार्गके उपदेश देनेवालोंमें सर्वश्रेष्ठ अर्हत देवकी स्तुति की । अव उनके उपदिष्ट अर्थरूप समय--सिद्धांतकी ग्रंथरूपमें रचना करनेवाले और इसीलिये समस्त जगत्के उपकारी गणधर देवादिकोंका ग्रंथकार हृदयमे ध्यान करते हैं। —

सूत्रग्रथो गणधरानभिन्नदशपूर्विणः ।
प्रत्येकबुद्धानध्येमि श्रुतकेवलिनस्तथा ॥ २ ॥

अर्हद्भाषित अर्थरूप समय--सिद्धांतको अंग या पूर्वरूपसे ग्रंथरचना करनेवाले गणधर, अभिन्नदशपूर्वी, प्रत्येकबुद्ध तथा श्रुतकेवलियोंका मै अपने हृदयकमलमे ध्यान--हर्षित हुआ एकाग्रताके साथ वार वार चिंतवन-करता हू ।

भगवान्के समवसरणमे वैठनेवाले मुनिआदि वारहविध सभ्योंको जो धारण करते है—मिथ्यादर्शनादिसे हटाकर सम्यग्दर्शनादिकमें स्थापित करते है उनको गणधर कहते हैं । इनका दूसरा नाम धर्माचार्य भी है ।

विद्यानुवादका अध्ययन करते समय स्वयं आई हुई वारहसौ विद्याएं जिनको चारित्रसे च्युत नही कर सकती और जो उत्पादपूर्वसे लेकर विद्यानुवाद तक दश पूर्वका ज्ञान रखते हैं उनको अभिन्नदशपूर्वी कहते है । क्योंकि ये चारित्रसे च्युत न होनेके कारण अभिन्न और दशपूर्वका ज्ञान रखनेके कारण दशपूर्वी है ।

जिनको एक श्रुतज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमविशेषसे ही, न कि परोपदेशादिककी अपेक्षासे, सातिशय ज्ञान प्राप्त होजाता है उनको प्रत्येकबुद्ध कहते है।

श्रुतका स्वरूप पहले लिखा जाचुका है। समस्त श्रुतके ज्ञानियोंको श्रुतकेवली कहते है। ये श्रुतकेवली भी सर्वज्ञदेवके ही सदृश होते है।

अर्हतदेवने मोक्षमार्ग तथा उसके विषयभूत समस्त पदार्थोंके विषयमें जो निरूपण किया है उसके ग्रंथरूप करनेका कार्य और उसके कर्ता गणधरादिक, दोनो ही, ग्रंथकारको यहांपर इष्ट है। जब कि दोनो इष्ट है तो 'जो जिसके गुणोंको चाहता है वह उसकी स्तुति भक्ति करता है' इस नीतिके अनुसार उन गणधरादिकोंकी स्तुति करना भी निश्चित है। अत,एव इस निश्चयके अनुसार ही ग्रंथकारने गणधरादिक और उनके विशिष्ट कार्य दोनोंकी यहांपर स्तुति की है।

इस प्रकार परमागम और उसके रचयिताओंकी स्तुति की। अब ग्रंथकार जिनागमका व्याख्यान करने वाले आरातीय आचार्योंकी स्तुति करते है।—

ग्रन्थार्थतो गुरुपरम्परया यथाव-,
च्छ्रुत्वावधार्य भवभीरुतया विनेयान् ।
ये ग्राहयन्त्युभयनीतिबलेन सूत्रं,
रत्नत्रयप्रणायिनो गणिनः स्तुमस्तान् ॥ ४॥

"जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तत्तद्रत्नमिहोच्यते"—जो जिस जातिमे उत्कृष्ट होता है उसको उसका रत्न कहते है। इस वचनके अनुसार जीवोंके परिणामोंमे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन ही प्र-

धान है इसलिये इनको रत्नत्रय कहते है। क्योकि जीवको अभ्युदय और निःश्रेयसका सम्पादन ये ही करा सकते है। यह रत्नत्रयरूप परिणाम जिनकी आत्मामे प्रकट होगया है, और जो संसारसे भीरुता—संवेगके कारण सूत्रसत्य और युक्तियुक्त प्रवचनको ग्रथ अर्थ या उभयरूपसे गुरुपरम्परा—तीर्थंकर या गणधरदेवादिकके शिष्य प्रतिशिष्योसे ज्योका त्यो सुनकर और उसके अशेष विशेषोंको इस प्रकारसे धारण करके कि जिससे कालातरमे भी उनका विस्मरण न होसके विनेयोको-ऐसे शिष्योको कि जिन्होको शास्त्रका इस प्रकारसे अभ्यास कराया जाता है-शिक्षा दी जाती है कि जिससे वे उस विषयमे संशयादिरहित और व्युत्पन्न होजांय—दोनो नयोंके बलसे निश्चय करादेते हैं उन श्री कुदकुंदाचार्य प्रभृति धर्माचार्योंको हमारा नमस्कार है।

सूत्र प्रकरण या आन्हिकादिरूपसे रचे गये ऐसे वचनसदर्भको ग्रथ कहते है जिससे कि विवक्षित पदार्थका प्रतिपादन हो सके। ग्रंथोमे जिन विषयोका प्रतिपादन किया जाता है उनको अर्थ कहते है। सूत्र-शब्दका अर्थ यद्यपि ऐसा होता है कि जो पदार्थोको सूचित करे अथवा जिस वाक्यमे संक्षेपसे बहुतसे पदार्थोंका संकलन करदिया जाय। अर्थात् सत्य और युक्तियुक्त प्रवचनको ही सूत्र कहते है। फिर भी यहांपर सूत्र शब्दसे अङ्गप्रविष्ट और अंगबाह्य इन दो भेदरूप श्रुतके कहनेका ही प्रयोजन है। इनमेंसे पहले भेदकी गणधरादिकने और कालिक उत्कालिकरूप आदि दूसरे भेदकी रचना दूसरे आचार्योंने की है। उक्त आचार्य भगवद्भाषित किंतु गणधरादिरचित सूत्र—श्रुतका भवभीरुताके कारण कभी ग्रंथोंका कभी अर्थका और कभी दोनोका आश्रय लेकर गुरुमुखसे ज्योंका त्यों श्रवण और अवधारण करते है। यहांपर भवभीरुता, श्रवण और अवधारण इन दोनो क्रियाओंका करण है। अत एव जिस प्रकार सडासीकी दोनो फली एक साथ ही बटलोईसे सम्बद्ध होती है उसी प्रकार यह (भवभीरुता) भी दोनो क्रियाओंके साथ युगपत् ही अन्वित होती है।

इस प्रकार उक्त आचार्य गुरुपरम्परासे चले आये सूत्रप्रवचनको स्वयं सुनते और अवधारण करते है; यही नहीं [illegible] दोनो नयोंके बलसे अपने शिष्योंको भी उसका दृढ ज्ञान करादेते है। श्रुतज्ञानीके जो पदार्थके एकदेशका [illegible] है उसीको नय कहते हैं। इसके दो भेद है, जिनको कि आगमकी भाषामें द्रव्यार्थिक नय और पर्याया-

थिंक नय, किंतु अध्यात्मकी भाषामे व्यवहार नय और निश्चय नय कहते है। इन दोनो नयोंमे यह सामर्थ्य है कि सर्वथा एकांतवादके माननेवाले, उक्त प्रवचनमे, इनके रहनेसे, किसी तरहकी भी बाधा उपस्थित नहीं कर-सकते। अत एव उक्त आचार्य इन नयोंकी सामर्थ्यसे अपने शिष्योंको भी उक्त प्रवचनका इस तरह दृढ ज्ञान करादेते हैं जिससे कि वे उस विषयमे बिलकुल संशयादिरहित और अच्छी तरह व्युत्पन्न हो जाते हैं।

इस प्रकार सिद्ध भगवान्के स्वरूपका तथा उसकी प्राप्तिके उपायका निरूपण कर सकनेवाले परमागमके उपदेष्टा और उसके ग्रंथरूपमे रचयिता तथा व्याख्याता और जिनका गुरुपद सबसे प्रधान और महान् मानागया है ऐसे श्री अर्हद्भट्टारक और उक्त गणधरादिक चार तथा आरातीय- ऐदयुगीन प्रधान धर्माचार्योंकी क्रमसे स्तुति की। अब उन्होंने जो धर्मोपदेश दिया था, जो कि वक्ता और श्रोता दोनोंके कल्याणका करनेवाला है, उसकी स्तुति करनेकेलिये ग्रंथकार कहते हैं—

धर्मं केऽपि विदन्ति तत्र धुनते संदेहमन्येऽपरे,
तद्भ्रान्तेरपयाति सुष्ठु तमुशन्त्यन्येऽनुतिष्ठन्ति वा ।
श्रोतारो यदनुग्रहादहरहर्वक्ता तु रुन्धन्नघं,
विश्वाग्निर्जरयंश्च नन्दति शुभैः सा नन्दताद्देशना ॥ ५ ॥

जिसके निमित्तसे जीव नरकादिक गतियोंसे निवृत्त होकर उत्तम गतियोंमे जा उपस्थित होते है अथवा जो अपनेको उत्तम गतियोंमे ही अवस्थित रखता है उसको धर्म कहते है। यह धर्म मोह और क्षोभसे रहित आत्मपरिणामरूप है; अथवा वस्तुके याथात्म्यस्वभावरूप; यद्वा उत्तमक्षमादि दशलक्षणरूप है। दूसरोंके हितार्थ इस धर्मके प्रतिपादन करनेको धर्मोपदेश कहते है।

कितने ही जीवोंके, जिनके कि ज्ञानावरण कर्मका तीव्र उदय हो रहा है, इस धर्मके विषयमे अनध्यव

साथ लगा हुआ है। ऐसे जीव धर्मके नाम तथा स्वरूपसे बिलकुल ही अनभिज्ञ हैं। वे यह नहीं जानते कि धर्म क्या वस्तु है और उसका क्या स्वरूप है। इसी प्रकार कितने ही जीवोंके, जिनके कि ज्ञानावरण कर्मका उदय मंद है, धर्म और उसके स्वरूपके विषयमें इस तरहका चलितप्रतीतिरूप संदेह लगा हुआ है कि 'धर्म यही है या दूसरा है, अथवा धर्मका यही स्वरूप है या दूसरा स्वरूप है'। तथा कितने ही जीवोंके, जिनके कि ज्ञानावरण कर्मका उदय मध्यम दर्जेका है, इसके विषयमें भ्रम-विपर्यास लगा हुआ है। ऐसे जीव यथार्थ स्वरूपसे विपरीत ही धर्मके स्वरूपका निश्चय किये हुए हैं। किंतु उक्त धर्मोपदेशके प्रतिदिन सुननेवाले जीवोंका उसके अनुग्रहसे वह वह अज्ञान संशय अथवा विपर्यास दूर हो जाता है। जो अज्ञानी हैं उनका उक्त अज्ञान धर्मोपदेशके प्रतिदिन सुनते सुनते दूर होजाता है और यथार्थ स्वरूप तथा आकारविशेषकी अपेक्षा ऐसा निश्चय होजाता है कि "धर्म यही है और ऐसा ही है"। इसी प्रकार इस धर्मोपदेशके अनुग्रहसे ही संदिग्धोंके उक्त संदेहका विनाश और विपर्यस्तोंके उक्त विपर्यासका भी निरास होजाता है और धर्मके स्वरूप तथा आकारका उक्त प्रकारसे निश्चय होजाता है। इन तीनों कार्योंको, धर्मोपदेशके अनुग्रहसे, ऐसा कहनेका प्रयोजन यह है कि जीवोंको क्षयोपशमके अनुसार अतिशयप्राप्तिमें यह निमित्त कारण पडता है।

यहांपर यह बात भी समझलेनी चाहिये कि धर्मोपदेशका यह फल तीन प्रकारके अव्युत्पन्न सम्यग्दृष्टि अथवा भद्रपरिणामी मिथ्यादृष्टियोंकी अपेक्षासे ही दिखाया गया है। क्योंकि जो क्रूरपरिणामी मिथ्यादृष्टि हैं वे उपदेशके अधिकारी नहीं हो सकते।

जो सम्यग्दृष्टि श्रोता हैं उनको प्रतिदिन इस धर्मोपदेश सुननेका यह फल प्राप्त होता है कि उक्त धर्मके विषयमें 'धर्म यही है, इसी प्रकारसे है, अन्य नहीं है, और न अन्य प्रकारसे है' इस तरह अनुबोधरूपसे उनका श्रद्धान दृढ हो जाता है। इसी प्रकार जो दृढश्रद्धानी श्रोता हैं उनको अथवा दूसरे सम्यग्दृष्टियोंको भी उसके प्रतिदिन सुननेसे यह फल प्राप्त होता है कि वे उसके अनुग्रहसे वैसा (उपदेशके अनुसार) आचरण भी करने लगते हैं। इसी प्रकार जो सम्यग्दृष्टि पहलेसे आचरण भी करते हैं उनको यह फल प्राप्त होता है कि वे इसके

प्रसादसे और भी अच्छी तरह आचरण करने लगते हैं।

धर्मोपदेशका यह फल श्रोताओंकी अपेक्षासे कहा गया है किंतु वह केवल श्रोताओंको ही नहीं, वक्ताको भी प्राप्त होता है। वह वक्ता भी इसके अनुग्रहसे सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्ररूप कर्मोंका संचय करता, तथा पूर्वसंचित पुण्य कर्मके फलरूप अभ्युदयोंसे प्रतिदिन समृद्धियोंको प्राप्त होता है। क्योंकि पुण्यका संचय और फल शुभ परिणामोंसे प्राप्त होता है और धर्मोपदेश देनेसे शुभ परिणाम होते हैं। इसी प्रकार आगामी कालमें मन वचन और काय इन तीन योगोंके द्वारा आनेवाले तथा ज्ञानावरणादि पापकर्मरूप परिणमन करने योग्य पुद्गलोंका वह निराकरण–संवर करता, तथा पूर्वसंचित पापकर्मोंका क्रमसे क्षपण–निर्जरा भी करता है। सारांश यह कि धर्मोपदेश स्वाध्याय नामका तपोविशेष है। इसलिये उसके प्रसादसे धर्मोपदेष्टा–वक्ताके अशुभ कर्मोंका संवर और उसके साथ साथ निर्जरा होती है। किंतु इस उपदेशमें प्रशस्त राग भी पाया जाता है। इसलिये उसके निमित्तसे पुण्यपुञ्जका आस्रव तथा पूर्वबद्ध पुण्य कर्मका प्रचुरतया विपाक भी होता है, जिससे कि नवीन नवीन विविध अभ्युदयोंकी सिद्धि होती है।

भावार्थ—जिसके अनुग्रहसे अनेक श्रोताओंको मुख्यतया धर्मके स्वरूपका ज्ञान या उस विषयके संशयका विनाश अथवा विपर्यासका निरास, यद्वा श्रद्धानका पुष्टीकरण और चारित्रकी सिद्धिरूप विशेष विशेष फल प्राप्त होते हैं, एवं व्याख्याताको अशुभ कर्मोंका संवर और निर्जरारूप तथा पुण्यपुञ्जका आस्रव और उसके उदयसे विविध अभ्युदयोंकी प्राप्तिरूप फल होते हैं। वह धर्मकी देशना सदा समृद्धिको प्राप्त हो। इस प्रकार आशीर्वादात्मक नमस्कारके द्वारा ग्रंथकारने यहांपर धर्मोपदेशकी स्तुति की है।

पूर्वोक्त प्रकारसे भगवान् सिद्धपरमेष्ठी प्रभृतिके गुणगणका पुनः पुनः स्मरणरूप मुख्य मंगल करके अब ग्रंथकार वक्ष्यमाण ग्रंथकी आदिमें उसके प्रमाण और उसमें जिस विषयका वर्णन करेंगे उसके नामसे ही ग्रंथके भी नामको प्रकाशित करते हुए ग्रंथरचना करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं।—

अथ धर्मामृतं पद्यद्विसहस्र्या दिशाम्यहम्।
निर्दुःखं सुखमिच्छन्तो भव्याः शृणुत धीधनाः ॥ ६ ॥

इस पद्यकी आदिमें जो अथ—शब्द आया है वह मंगलवाचक है। क्योंकि— " सिद्धिर्बुद्धिर्जयो वृद्धी राज्यपुष्टिस्तथैव च । ओंकारश्चाथशब्दश्च नांदीमंगलवाचिनः ॥ " सिद्धि, बुद्धि, जय, वृद्धि, राज्यपुष्टि, तथा ओंकार और अथशब्द नांदीमंगलवाची है। अथवा अथ-शब्द अधिकारवाचक होसकता है; क्योंकि यहांसे शास्त्रका अधिकार चलता है। यद्वा अनन्तर अर्थ करना चाहिये; क्योंकि ' मुख्य मंगलको करनेके अनंतर अत्र ' ऐसा अर्थ भी यहां होता है।

परिमित अक्षर तथा मात्राओंके समूहका नाम पद है। इन पदोंके द्वारा श्लोक आर्या गीति उपगीति आदि छंदरूपमें की गई वाग्रचनाको पद्य कहते हैं। ऐसे दो हजार पद्योंके द्वारा मैं धर्मामृत ग्रंथका प्रतिपादन करता हूं। सुननेकी इच्छा तथा श्रवण ग्रहण धारण आदि आठ गुणोंसे युक्त बुद्धिरूप धनके धारण करनेवाले हे भव्यो! दुःखोंसे सर्वथा अतिक्रांत मोक्षसुखकी इच्छा रखते हुए आप इसको सुनें। क्योंकि सुख-का वास्तविक लक्षण निराकुलता है, जो कि मोक्षमें ही प्राप्त हो सकता है। संसारमें जो सुख है वह दुःखोंसे मिश्रित अथवा दुःखरूप ही है। कहा है कि—

सपरं बाधासहियं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥ इति ।

जो सुख इन्द्रियोंसे प्राप्त होता है वह सुख नहीं; वास्तवमें दुःख ही है। क्योंकि वह परवश—कर्मोंके अधीन, बाधासहित—दुःखोंसे मिश्रित, विच्छिन्न, सांत—नष्ट होनेवाला, कर्मबंधका कारण, और विसम—कुटिल अथवा भयंकर है।

किसी किसी वाक्यमें चशब्दका लुप्तनिर्देश भी रहा करता है। यथा—'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि' यहांपर वायुशब्दके साथ चशब्दके न रहनेपर भी ऐसा अर्थ होता है कि 'पृथिवी जल अग्नि और वायु ये तत्त्व हैं'। इसी प्रकार यहांपर भी सुख-शब्दके साथमें चशब्दका लुप्तनिर्देश समझना चाहिये। जिससे उपर्युक्त वाक्यका दूसरा अर्थ ऐसा भी होसकता है कि 'दुःखोंके अभाव और सुखकी इच्छा रखनेवाले आप इस ग्रंथको सुने।' क्योंकि दुःखोंका अभाव और सुख ये दो बातें हैं और दोनो ही की प्राणियोंको इच्छा है।

ऊपर भव्योंके जो दो विशेषण दिये हे उनसे यह बात भी समझलेनी चाहिये कि जो दुःखरहित सुखकी इच्छा और उक्त प्रकारके बुद्धिरूप धनके धारण करनेवाले भव्य है वे ही इस ग्रंथके सुननेके अधिकारी है। क्योंकि इस ग्रंथमें जिस विषयका प्रतिपादन किया जायगा उसकी या उसके फलकी जो इच्छा ही नहीं रखते अथवा जो इस ग्रथके समझनेकी योग्यता ही नहीं रखते वे इसके सुननेके अधिकारी किस तरह हो सकते है?

धर्मका लक्षण ऊपर लिखा जाचुका है। वह धर्म अमृतके समान है; क्योंकि उसका उपयोग प्राणियोंको अजर और अमर बनानेकेलिये कारणरूप है। इसी धर्मरूपी अमृतके स्वरूपका इस ग्रंथमें प्रतिपादन करेंगे। अतएव इस ग्रंथका नाम भी धर्मामृत है। क्योंकि विषयके नामसे भी ग्रंथका नाम रक्खा जाता है। देखते है कि प्राचीन कवियोंने भी अभिधेयके नामसे तत्त्वार्थवृत्ति यशोधरचरित आदि शास्त्रोंके नाम रक्खे है। इसीं प्रकार रुद्रट भट्टने भी कहा है कि "काव्यालंकारोयं ग्रंथः क्रियते यथायुक्ति—मैं युक्तिपूर्वक इस काव्यालंकार ग्रंथकी रचना करता हूं।"

इस प्रकार ग्रंथकारने प्रमाण और नामका निर्देश करते हुए ग्रथ रचनेकी प्रतिज्ञा की, किंतु ग्रंथकी आदिमे छह बातें दिखाये विना उसकी रचना नहीं होती यह बात प्रसिद्ध है। यथा—

"मङ्गलनिमित्तहेतुप्रमाणनामानि शास्त्रकर्तृंश्च ।
व्याकृत्य षडपि पश्चाद्व्याचष्टां शास्त्रमाचार्यः ॥"

मङ्गल, निमित्त, हेतु, प्रमाण, नाम, और शास्त्रकर्त्ता, इन छह बातोंको पहले दिखाकर पीछे आचार्य ग्रथकी रचना करते हे। अत एव इन छह बातोंको ही पहले यहापर दिखाते हे।

मंगल—जो म—मल— पापको गलादे अथवा मङ्ग—पुण्यको दे उसको मङ्गल कहते हे। यह, आरब्ध कार्य निर्विघ्नतया सिद्ध होनेकेलिये किया जाता है। मंगल दो प्रकारका होता है; १ मुख्य, २ गौण। मुख्यमगल भी दो तरहका होता है; एक अर्थकी अपेक्षा, दूसरा शब्दकी अपेक्षा। जिनमेसे अर्थकी अपेक्षा मुख्य मंगल भगवान् सिद्धप-रमेष्ठी आदिके गुणोकी स्मृति और स्तुति रूपसे पहले ही किया जाचुका है। एवं शब्दकी अपेक्षा भी मुख्य मंगल इसी श्लोककी आदिमे अथशब्दका उच्चारण करके करलिया गया है। क्योकि अथशब्द भी मंगल-वाचक है। जैसा कि कहा भी है:—

त्रैलोक्येशनमस्कारलक्षण मङ्गल मतम्।
विशिष्टभूतशब्दाना शास्त्रादावथवा स्मृति ॥ इति।

शास्त्रकी आदिमे तीन लोकके स्वामी सर्वज्ञ वीतराग भगवान्को नमस्कार करना मगल माना गया है, अथवा खास खास शब्दोंके स्मरण या उच्चारणको भी मंगल कहते है।

संपूर्ण कलश दधि अक्षत और सफेद फूल इत्यादिके उपहारको गौण मंगल कहते है; क्योकि वह मुख्य मंगलकी प्राप्तिका उपाय है। सो भी शास्त्रकी आदिमे ग्रथकारने करलिया है; जैसा कि ग्रंथकी निर्विघ्नतया सिद्धि के देखनेसे मालुम होता है।

निमित्त—जिसके उद्देशसे शास्त्रकी रचना होती है उसको निमित्त कहते है। सो यह भी 'भव्याः' इस शब्दसे बतादिया गया है। अर्थात् भव्योंके उद्देशसे ही इस शास्त्रकी रचना की गई है, और किसी दूसरे उद्देशसे नहीं।

हेतु–हेतुशब्दका अर्थ प्रयोजन या फल होता है। इसके दो भेद हैं; एक मुख्य, दूसरा गौण–आनुषंगिक। समीचीन धर्मके स्वरूपका ज्ञान हो जाना ही इस ग्रंथका मुख्य प्रयोजन है। सो 'दिशामि' और 'शृणुत' इन दो पदोंके द्वारा सूचित करदिया गया है। क्योंकि किसी भी काममें जिसलिये प्रवृत्ति की जाय उसको प्रयोजन कहते है। शास्त्रका मुख्य प्रयोजन भी ज्ञान ही है। क्योंकि अमुक शास्त्रके सुननेसे मुझे अमुक विषयका ज्ञान हो जायगा ऐसा जानकर–उस विषयके ज्ञानके प्रयोजनसे ही कोई भी जीव उस शास्त्रके सुनने आदिकमें प्रवृत्ति किया करता हैं, अन्यथा नही। इसलिये प्रतिपादित विषयका ज्ञान होना ही शास्त्रका मुख्य प्रयोजन है। एवं इस शास्त्रका भी मुख्य प्रयोजन समीचीन धर्मके स्वरूपका ज्ञान हो जाना ही है। दूसरा गौण फल धर्मकी सामग्री आदिका ज्ञान होजाना है। क्योकि उसके ज्ञानसे जीव समीचीन धर्मके आचरण करनेमें प्रवृत्ति करता है और इस तरहकी प्रवृत्ति करनेवाला अनंतज्ञान दर्शन वीर्य और निराकुलतारूप अविनश्वर एवं अतीन्द्रिय सुखको तथा परम अव्याबाधताको प्राप्त होता है। इस प्रकार ये दोनो ही इस शास्त्रके साक्षात् प्रयोजन है। किंतु देखा जाय तो परम्परासे सुखकी प्राप्ति अथवा दुःखकी निवृत्ति होजाना ही इस शास्त्रका वस्तुतः प्रयोजन है; क्योंकि प्राणियोंको यही बात अभीष्ट है। सो यह बात भी 'दुःख रहित सुखकी इच्छा रखनेवाल' इन पदोंसे स्पष्ट करदी है।

प्रमाण, नाम, और ग्रंथकर्त्ता ये बाते स्पष्ट ही है। अत एव इनके विषयमें विशेष कहनेकी आवश्यकता नही है। रही ग्रंथके नामके साथ प्रतिपादित विषयके सम्बन्धकी बात; सो ग्रंथके अन्वर्थ नामसे ही प्रकट होजाती ह कि, समाचीन धर्मके स्वरूप और इस शास्त्रके साथ वाच्यवाचक सम्बन्ध है। इसीलिये इसको समीचीन धर्माचरण और अनंतसुखादिककी प्राप्तिका कारण समझना चाहिये।

उपर्युक्त कथनसे यह बात अच्छी तरह समझमे आसकती है कि इस ग्रंथमें सम्बन्ध अभिधेय और प्रयोजनके न होनेकी यदि कोई शंका करे तो वह नही हो सकती। अत एव इस ग्रंथके विषयम दुर्जनोके अपवादकी शकाका परिहार करनेकेलिये ग्रंथकार कहते है—

परानुग्रहबुद्धीनां महिमा कोप्यहो महान् ।
येन दुर्जनवाग्वज्रः पतन्नेव विहन्यते ॥ ७ ॥

अहो जिनकी बुद्धि दूसरे अनुग्राह्य प्राणियोंके अनुग्रह –आपत्तिके निवारण करनेमें ही लगी रहती है ऐसे महापुरुषोंकी महिमा ही कोई—अनिर्वचनीय और महान् है, जिससे कि स्वभावसे ही दूसरोंके अपकारके करनेवाले दुर्जनोंका वचनरूपी वज्र पडते ही नष्ट हो जाता है । वज्र इसलिये कि वह सहसा दारुण विनिपातका कारण और दुर्निवार है, एवं सज्जनोंकी महिमाकी महत्ताका कारण भी यह है कि उससे सभी प्राणियोंके अभीष्ट कार्यकी सर्वत्र और सर्वदा जो निष्पत्ति होती है उसमें प्रत्युपकारकी अपेक्षा नहीं रहती ।

भावार्थ––दुर्जन लोग यद्यपि इस ग्रंथका अनेक रूपसे अपवाद करेंगे; क्योंकि उनका स्वभाव ही निंदा करनेका है । फिर भी महापुरुषोंके प्रभावसे वह निंदा अवश्य ही नष्ट हो जायगी । क्योंकि सज्जनोंका स्वभावसे ही ऐसा माहात्म्य है ।

अब यहांपर ग्रंथकार समासोक्ति अलंकारके द्वारा यह बताते है कि इस कलिकालमें मिथ्या उपदेशक बहुत ही सुलभतासे मिल सकते है; किंतु समीचीन उपदेशकोंका मिलना बहुत ही कठिन है । समासोक्ति अलंकारका लक्षण रुद्रट भट्टने इस प्रकार कहा है । –

सकलसमानविशेषणमेकं यत्राभिधीयमानं सत् ।
उपमानमेव गमयेदुपमेयं सा समासोक्तिः ॥

उपमेयके समान सब विशेषण देकर केवल उपमानका ही जहांपर इस तरहसे वर्णन किया जाय कि जिससे उपमेयका स्वयं बोध हो जाय, वहांपर समासोक्ति अलंकार कहा जाता है । जैसे —

फलमविकलमलघीयो लघुपरिणति जायतेऽस्य सुस्वादु ।
प्रीणितसकलप्रणयिप्रणतस्य समुन्नते सुतरो ॥

समस्त—प्रणयी लोगोंको तृप्त करनेवाले किंतु नम्र रहनेवाले इस समीचीन वृक्षको श्रेष्ठ उन्नतिका फल शीघ्र ही पकनेवाला महान् पूर्ण और सुस्वादु होता है। इस कथनसे समृद्धिको पाकर भी नम्र रहनेवाले किंतु उसका परोपकारादिकमें उपयोग करनेवाले सत्पुरुषको जो कुछ, और जैसा फल प्राप्त होता है वह बताया गया है।

इसी प्रकार ग्रंथकार आगेके पद्यमें पूर्वार्धके द्वारा, इस कलिकालमें मिथ्या उपदेशकोंकी सुलभता और उत्तरार्धके द्वारा, सदुपदेशकोंकी दुर्लभता बताते है। क्योंकि पूर्वार्धमें जो जो बातें कही है वे सब मिथ्या उपदेशकोंकी तरफ और उत्तरार्धमें जो कही है वे सब सदुपदेशकोंकी तरफ घटित होती है।

सुप्रापाः स्तनयित्नवः शरदि ते साटोपमुत्थाय ये,
प्रत्याशं प्रसृताश्चलप्रकृतयो गर्जन्त्यमन्दं मुधा ।
ये प्रागब्दचितान् फलर्द्धिमुदकैर्व्रीहीन्नयन्तो नवान्,
सत्क्षेत्राणि पणन्त्यलं जनयितुं ते दुर्लभास्तद्धनाः ॥ ८ ॥

शरद ऋतुमें चंचल प्रकृतिके धारक और बडे आटोप–आडम्बरके साथ उठकर समस्त दिशाओंमें फैलजानेवाले तथा व्यर्थ किंतु खूब जोरसे गर्जनेवाले मेघोंका मिलना कुछ कठिन नहीं है। ऐसे मेघ बहुत ही सुलभतासे मिल सकते है। किंतु ऐसे मेघोंका मिलना बहुत दुर्लभ है जो कि वर्षाकालीन मेघोंसे पुष्ट हुए नवीन धान्योंसे समीचीन क्षेत्रोंको, पर्याप्त फलसपत्ति उत्पन्न करनेकेलिये अपने जलके द्वारा अच्छी तरहसे आप्लुत कर देते है।

भावार्थ—इस कलिकालमें ऐसे मिथ्या उपदेशक बहुत मिल सकते है जो कि खूब ही आडम्बर करने-

वाले हैं और स्वभावसे ही चंचल होते हुए भी अपना प्रयोजन सिद्ध करनेकेलिये दूर दूर तक फैले हुए हैं। तथा व्याख्यानादिके समय गर्जते भी खूब हैं पर वर्षते बिलकुल भी नहीं हैं। श्रोताओंको-भव्योंको अभ्युदय या मोक्षके मार्गका ज्ञान बिलकुल भी नहीं करा सकते। हां, ऐसे उपदेशक अवश्य ही दुष्प्राप्य हैं, जो कि विनीत किंतु पूर्वाचार्योंसे व्युत्पादित सदाचारके प्रकर्षको प्राप्त हुए विनेयोंको अपने उपदेशरूपी जलसे इस तरह आप्लुत करदेते हैं कि जिससे वर्षाकालके समान पूर्वाचार्योंके प्रतापसे उत्पन्न हुआ उनका शास्त्रके रहस्यविशेषका ज्ञानरूपी नवीन धान्य अपूर्व व्युत्पत्तिसे विशिष्ट और समृद्ध हो जाता है।

यह बात पहले कहचुके हैं कि "मंगल निमित्त आदि छह बातोंको बताकर आचार्योंको शास्त्रका व्याख्यान करना चाहिये।" यहांपर आचार्यका नाम मात्र बताया गया है; किंतु यह नहीं बताया गया कि शास्त्रका वह व्याख्याता आचार्य कैसा होना चाहिये। अतएव ग्रंथकार यहांपर व्यवहारप्रधान उपदेशके कर्त्ता आचार्यका लक्षण करते हैं।—

प्रोद्यन्निर्वेदपुष्यद्व्रतचरणरसः सम्यगाम्नायधर्ता,
धीरो लोकस्थितिज्ञः स्वपरमतविदां वाग्मिनां चोपजीव्यः।
सन्मूर्तिस्तीर्थतत्त्वप्रणयननिपुणः प्राणदाज्ञोभिगम्यो,
निर्ग्रन्थाचार्यवर्यः परहितनिरतः सत्पथं शास्तु भव्यान् ॥ ९ ॥

संसारको बढानेवाले मिथ्यात्वादिक भावोंको ग्रंथ-परिग्रह कहते हैं। यह परिग्रह जिन्होंने सर्वथा छोडदिया है उन यतियोंको निर्ग्रन्थ कहते हैं। तथा जो पांच प्रकारके आचारका स्वयं पालन करते और शिष्योंसे कराते हैं उनको आचार्य कहते हैं। तथा—

१ आचारके पाच भेद ये हैं १ दर्शनाचार २ ज्ञानाचार ३ चारित्राचार ४ तपआचार ५ वीर्याचार।

पञ्चाचाररताचारा शिष्याचारप्रवर्तिन:।
सर्वशास्त्रविदो धीराश्चाचार्याः प्रकीर्तिताः ॥ इति ।

जो धीर और सब शास्त्रोंके ज्ञाता होकर स्वयं पांच प्रकारके आचारका पालन करते और शिष्योंसे कराते हैं उनको आचार्य कहते हैं।

जो इस प्रकारके निर्ग्रंथ आचार्योंमें श्रेष्ठ और आगे जिनका वर्णन किया गया है उन दश विशेष गुणोंसे विशिष्ट तथा परोपकार करनेमें ही निरत रहनेवाला है उसीको व्यवहार निश्चयस्वरूप और प्रशस्त मोक्षमार्गका प्रतिपादन करना चाहिये। प्रशस्त इसलिये कहा गया है कि वह सम्पूर्ण जीवोंका सदा सेव्य है और किसी भी प्रमाणसे उसमें बाधा नहीं आ सकती है।

अब उन दश विशेष गुणोंको बताते हैं जिनका कि धर्मके प्रतिपादक आचार्यमें होना आवश्यक है:—

१—वीर रसमें आविष्ट व्रताचरण गुप्ति[1] और समितिके[2] साथ साथ उन व्रतोंके, जिनका कि आगे चलकर वर्णन करेंगे, पालन करनेको व्रताचरण कहते हैं। इस व्रताचरणमें भी एक प्रकारका रस या हर्ष-आनंद है जिसकी कि पुष्टि निर्वेद— संसार शरीर और भोगोंके विषयमें उत्पन्न हुए वैराग्य परिणामोंसे होती है। जिसका निर्वेद शान्तरसकी प्राप्तिकी तरफ अभिमुख होकर आत्मा और शरीरके भेदज्ञानकी भावनाके बलसे बढता हुआ चला जाता है उसका व्रताचरण भी प्रकर्षताको प्राप्त करता चला जाता है। अत एव सबसे पहली बात यह होनी चाहिये कि वह धर्मके विषयमें वीर रसमें आविष्ट हो—उसके व्रताचरणका रस बढते हुए निर्वेदसे प्रतिक्षण प्रकर्षताको प्राप्त करता हुआ चला जाय।

---

1 योगनिरोधको गुप्ति कहते हैं। अत एव इसके तीन भेद हैं—१ मनोगुप्ति २ वचनगुप्ति ३ कायगुप्ति।
2 समीचीन प्रवृत्तिको समिति कहते हैं। इसके पांच भेद हैं—१ ईर्या २ भाषा ३ एषणा ४ आदाननिक्षेपण ५ आलोकित पानभोजन।

२—समीचीन आम्नायका धारण-प्रथमानुयोग करणानुयोग चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार अनुयोगोंसे युक्त पूर्ण आगमको आम्नाय कहते हैं। अथवा पिता व गुरुके चले आये संतानक्रमको भी आम्नाय कहते हैं। इन दोनों ही समीचीन आम्नायोंको इस तरहसे धारण करनेवाला होना चाहिये कि जिसमे किसी भी तरहसे विच्छेद न पडा हो। तात्पर्य यह कि उक्त आचार्यमें दूसरा विशेष गुण यह भी होना चाहिये कि वह परम्परासे चले आये हुए उपदेश और संतानक्रमसे आये हुए तत्त्वज्ञान तथा सदाचारके पालन करनेमें प्रवीण हो।

३— तीसरा गुण धीरता है। क्योंकि क्षुधा पिपासा आदि परीषहों तथा देव मनुष्य आदिके किये हुए उपसर्गोंके आ उपस्थित होनेपर भी जिसका हृदय सर्वथा अविकृत रहता है वही गणी धर्मकी देशनाका अधिकारी हो सकता है।

४— चौथा गुण लोकस्थितिका ज्ञान है। क्योंकि इस चराचर जगत्की स्थितिका जिसको ज्ञान नहीं है वह धर्मका उपदेश कैसे दे सकता है। अथवा चार वर्ण और चार आश्रमोंको भी लोक कहते हैं। इनकी स्थिति—प्रवृत्ति नियम व्यवहारादिकका जो ज्ञान रखता है वही धर्मका उपदेश दे सकता है।

५-पांचवां गुण स्वमत और परमतका अद्वितीय ज्ञान है। क्योंकि ऐसा ज्ञान रखनेवाला व्यक्ति ही विद्वानोंके समक्ष धर्मके स्वरूपका अच्छी तरह प्रतिपादन कर सकता है; उसको सिद्ध करके बता सकता है और उसका प्रभाव प्रकट कर अवस्थान रख सकता है।

६-छठा गुण अद्वितीय वाग्मिता है। क्योंकि जिसकी वाणी प्रशस्त तथा अतिशययुक्त नहीं है वह धर्मके स्वरूपका हृदयग्राही प्रतिपादन कैसे कर सकता है? किंतु इसके विरुद्ध जिसके वचन प्रशस्त तथा सातिशय हैं वही व्यक्ति धर्मके वास्तविक स्वरूपको श्रोताओंके हृदयंगम करा सकता है।

७-सातवां गुण समीचीन मूर्तिका होना है। वक्ताका शरीर भी प्रशस्त-सामुद्रिक शास्त्रमें बताये

हुए लक्षणोसे युक्त और लोभ स्थूलता, दीर्घता तथा इनसे उलटे तीन दोषोंसे रहित होना चाहिये। क्यौ-कि आर्ष आगममे भी यह कहा है कि—

रूपाम्नायगुणैराढ्यो यतीना मान्य एव च।
तपोज्येष्ठो गुरुश्रेष्ठो विज्ञेयो गणनायक ॥ इति।

जो रूप आम्नाय तथा इतर गुणोसे पूर्ण है, तप करनेमें ज्येष्ठ प्रधान और गुरुओ—मुनियोंमे श्रेष्ठ एवं यतियोको अवश्य ही मान्य है वही गण-मुनिगणका नायक-धर्मदेशनाका अधिकारी आचार्य हो सकता है।

८-आठवां गुण तीर्थ और तत्त्वके प्रणयन-प्रतिपादनमे प्रवीणताका होना है। "सभी वस्तु अनेकान्तात्मक है" इस मतको तीर्थ कहते है। क्योकि इसके द्वारा भव्य पुरुष संसारसमुद्रको तरकर पार होते है। इसके विरुद्ध संसारमे सर्वथा एकान्तरूप जितने प्रवाद प्रचलित है उन सबके तिरस्कार-खण्डनसे चमक उठनेवाले और व्यवहार निश्चयनयकी प्रयोगपद्धतिसे विचित्र है आकार जिसका ऐसी चक्रात्मक वस्तुके प्रकाशित करनेवाले प्रति-पादनको उसका [तीर्थका] प्रणयन कहते है। इसी प्रकार अध्यात्म शास्त्रके रहस्यको तत्त्व कहते है। और उसके इस तरहके प्रतिपादनको उसका प्रणयन कहते है, जिसमे कि भूतार्थ तथा अभूतार्थ निश्चय और व्यवहार इन दोनो नयोके द्वारा दया दम त्याग और समाधिकी प्रवृत्तिके साथ सम्बन्ध रखनेवाले परमानंद पदकी व्यवस्था करके बता दी गई हो। इन दोनो प्रतिपादनोमे-तीर्थप्रतिपादन और तत्त्वप्रतिपादनमे प्रवीणताका अभिप्राय यही है कि वह धर्मदेशनाका अधिकारी आचार्य यह अच्छी तरह समझता हो कि इनमेसे कहांपर किस प्रतिपादनको मुख्य और किसको गौण करना चाहिये। ऐसा होनेसे ही वह अपने और दूसरेको ठीक प्रत्यय करा सकता है। क्योंकि इन-मेसे यदि एक ही को माना जायगा तो वह विषय तो सिद्ध नही ही होगा; परतु दूसरे विषयका भी लोप हो जायगा। जैसा कि कहा भी है:—

जइ जिणमय पवजह ता मा ववहारणिच्छए मुअह ।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थ अण्णेण पुण तच्च ॥
चरणकरणप्पहाणा ससमयपरमत्थमुक्कवावारा ।
चरणकरण ससार णिच्छयसुद्ध ण जाणन्ति ॥
णिच्छयमालवता णिच्छयदो णिच्छय अजाणता ।
णासिति चरणकरण बाहिरकरणालसा केई ॥ इति ।

यदि तुम जिनमतको चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इनमेंसे किसी भी नयको मत छोडो। क्योंकि इनमेंसे एक व्यवहार नयके विना तीर्थका और दूसरे निश्चयनयके विना तत्त्वका लोप हो जाता है। ऐसा न समझ कर जो व्यक्ति केवल चरणक्रिया—बाह्य चारित्रको ही प्रधान मानता है वह अवश्य ही परमार्थसे आत्मकल्याणके व्यापारसे रहित है। क्योंकि ऐसा व्यक्ति चरणक्रियाको ही आत्मसिद्धिका सार समझ बैठता है। वह निश्चयसे आत्माके शुद्ध सारको- सारभूत तत्त्वको नहीं जानता। इसी प्रकार जो केवल निश्चय नयका ही अवलम्बन लेनेवाला है, यह निश्चय है, कि वह निश्चय नयको भी नहीं समझता। ऐसा व्यक्ति स्वयं बाह्य चारित्रमें आलसी हो जाता है और चारित्र-धर्मको नष्ट कर डालता ह।

९—नौवां गुण यह होना चाहिये कि उसके शासनका पर्यवसान छह कायके जीवोंका पालन करना ही, हो। और इसीलिये जिसकी आज्ञा—जिसके शासन या नियोगको स्व और पर सभी आदरके साथ माननेवाले हों।

१० — दशवां गुण प्रधानता है । सभी लोक आकर जिसका सुखपूर्वक आश्रय लेते हों। इस गुणके कहनेसे, प्रिय हित वचनका बोलना, प्रायः प्रश्नोंको सह सकना इत्यादि गुणोंको भी समझ लेना चाहिये.

इस प्रकार दश विशेषणोंसे युक्त परहितमें ही निरत रहनेवाले निर्ग्रंथाचार्यवरको धर्मका उपदेश देना चाहिये।

इस पद्यमें ग्रंथकारने आशीः–अर्थमें लोट लकारका प्रयोग किया है। जिससे यह अभिप्राय प्रकट होता है कि " हम [ग्रंथकार] आशा करते है कि देशनाका अधिकारी इन गुणोंसे युक्त हो " अथवा स्वरूपज्ञान कराने–अर्थमें भी इस लकारका प्रयोग होसकता है; जिससे यह अर्थ प्रकट होता है कि " इन गुणोंसे युक्त गणीको सत्कारपूर्वक धर्मोपदेशमे प्रवृत्त होना चाहिये। "

अब ग्रंथकार यह बताते है कि जो मोक्षकी इच्छा रखनेवाले हैं उनको अध्यात्म शास्त्रका रहस्य जाननेवाले गुरुओकी सेवा करनी चाहिये.।

विधिवद्धर्मसर्वस्वं यो बुद्ध्वा शक्तितश्चरन् ॥
प्रवक्ति कृपयान्येषां श्रेयः श्रेयोर्थिनां हि सः ॥ १० ॥

व्यवहार और निश्चय नयके द्वारा रत्नत्रयात्मक धर्मके पूर्ण और असाधारण स्वरूपको परमागम सद्गुरुओकी सम्प्रदाय–आम्नाय और अपने ज्ञानके अनुसार समझकर और यथाशक्ति उसका पालन करता हुआ जो व्यक्ति दूसरोंको भी, किसी प्रकारकी ख्याति लाभ या पूजा आदिकी अपेक्षासे नहीं, किंतु, केवल अनुकम्पाके वश होकर–परोपकार करने ही की अभिलाषासे उस धर्मसर्वस्वकी विधेयताका इस तरहसे ज्ञान करा देता है कि जिससे उन श्रोताओंका उस विषयका अज्ञान समूल नष्ट हो जाय; वही गुरु कल्याण–मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाले भव्योंको सेव्य है। मुमुक्षुओको ऐसे ही गुरुकी सेवा करनी चाहिये।

उक्त देशनाके अधिकारी आचार्य और अध्यात्म रहस्यके उपदेष्टा इन दोनो ही का लोकमे प्रभाव प्रकट हो ऐसी आशा–भावना प्रकट करते हैः—

स्वार्थैकमतयो भान्तु मा भान्तु घटदीपवत्।
परार्थे स्वार्थमतयो ब्रह्मवद्भान्त्वहर्दिवम् ॥ ११ ॥

यहांपर पहले यह बता देना उचित है कि मुमुक्षु तीन प्रकारके होते हैं। एक तो परोपकारको प्रधान रखकर स्वोपकार करनेवाले, दूसरे स्वोपकारको प्रधान रखकर परोपकार करनेवाले, तीसरे केवल स्वोपकार करनेवाले। इनमेंसे पहले प्रकारके मुमुक्षके विषयमें आर्ष आगममें ऐसा कहा है।—

स्वदुःखनिर्घृणारम्भाः परदुःखेषु दुःखिताः ।
निर्व्यपेक्षं परार्थेषु बद्धकक्षा मुमुक्षवः ॥ इति ।

मुमुक्षु पुरुष अपने दुःखोंको दूर करनेकेलिये अधिक प्रयत्न नहीं करते किंतु दूसरोंके दुःखोंको देखकर अधिक दुःखी होते हैं। और इसीलिये वे किसी भी प्रकारकी अपेक्षा न रखकर परोपकार करनेमें दृढताके साथ सदा तत्पर रहते हैं।

दूसरे भेदके विषयमें ऐसा कहा है—

आदहिदं कादव्वं जइ सक्कइ परहिदं च कादव्वं ।
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं ॥ इति ।

अपना हित सिद्ध करना चाहिये। फिर यदि हो सके तो परहित भी सिद्ध करना चाहिये। किंतु आत्महित और परहित इन दोनोंमें आत्महितको अच्छी तरह सिद्ध करना चाहिये।

तीसरे भेदके विषयमें ऐसा कहा है:—

परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव ।
उपकुर्वन् परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत् ॥ इति ।

परोपकारको छोडकर अपनी आत्माका उपकार कर। क्योंकि अदृश्यमान परके उपकार करनेवालेको साधारण लोगोंकी तरह अज्ञ ही समझना चाहिये।

इन तीन प्रकारके मुमुक्षुओंमेंसे अंतिमके प्रति ग्रंथकारने अपनी तटस्थता प्रकट की है। क्योंकि केवल स्वोपकार—आत्मकल्याणका ही करनेवाला घटमें रक्खे हुए दीपकके समान है। जिस प्रकार घटमें रक्खा हुआ दीपक जलता हुआ हो या बुझा हुआ; उससे लोकमें किसीको भी हर्ष या अमर्ष नही होता। इसी प्रकार परोपकारसे रहित केवल आत्मकल्याण करनेवाला व्यक्ति दूसरोंकेलिये हेय या उपादेय अर्थका प्रकाशक नही होता। अत एव वह उनकेलिये उपेक्षाका ही विषय है। वह जगत्में प्रकाशित हो या न हो, उसमे दूसरोंका कोई प्रयोजन नही। किंतु ऐसे व्यक्ति सर्वज्ञके समान जगत्में दिन रात प्रकाश करें जो कि दूसरोंके प्रयोजनको अपने प्रयोजन सरीखा ही मानते है।

भावार्थ—जगत्में जिस वक्ताका प्रभाव प्रकट नही होता उसपर लोगोंका अधिक विश्वास नही होता। किंतु इसके विरुद्ध, जो उपदेष्टा जगत्में प्रभावशाली प्रकट है उसपर लोग अधिक विश्वास करते है और उसके वचनानुसार पारलौकिक कार्य करनेमें निःसंदेह होकर प्रवृत्ति करते है।

यहांपर यह शंका हो सकती है कि देशना—धर्मोपदेशका फल निकट भव्योंमें ही हो सकता है। और ऐसे भव्योंका आजकल मिलना बहुत कठिन है। अत एव वह व्यर्थ और अनावश्यक क्यों नही है? पर यह शंका ठीक नही है; क्योंकि यद्यपि आजकल निकट भव्य अत्यंत दुर्लभ है, फिर भी देशना व्यर्थ नही है। इसी बातका ग्रंथकार समर्थन कर वक्ताको उपदेशकेलिये उत्साहित करते है।—

पश्यन् संसृतिनाटकं स्फुटरसप्राग्भारकिर्मीरितं,
स्वस्थश्चर्वति निर्वृतः सुखसुधामात्यान्तिकीमित्यरम्।
ये सन्तः प्रतियन्ति तेऽद्य विरला देश्यं तथापि क्वचित्,
काले कोपि हितं श्रयेदिति सदोत्पाद्यापि शुश्रूषताम् ॥ १२ ॥

"जो आत्मा संसारसे रहित होकर मुक्त होगये है और कर्मसे सर्वथा रहित अपने आत्मस्वरूपमें ही ठहरे हुए हैं वे विभावादि भावोंसे व्यक्त होनेवाले रसोंके समूहसे नानारूपको धारण करनेवाले संसाररूपी नाट-

कको देखते हुए-उसका निर्विकल्पतया अनुभव करते हुए आतङ्क और दूसरे समस्त व्यापारोंसे रहित होकर सुखरूपी सुधाका अनंतकालतक पान करते रहते है-उत्तरोत्तर उसीका स्वाद लेते रहते है।" इस तरहका झटिति-उपदेशके अनंतर ही श्रद्धान करलेनेवाले भव्य आजकल-इस पंचम कालमें विरल हैं-बहुत कम मिलते है। फिर भी दूसरोंकेलिये हितका उपदेश देना ही जिनका एक कार्य है ऐसे आचार्योंको हमेशह श्रोताओंको सुननेकी इच्छा उत्पन्न करा कर भी धर्मका उपदेश अवश्य देना चाहिये। क्योंकि सभव है कि कभी कोई श्रोता उससे अपने हितकी तरफ लग जाय।

यहांपर ग्रंथकारने संसारको नाटककी उपमा दी है। क्योंकि जिस तरह नाटकको देखकर दर्शकोंको आनंद होता है उसी तरह इस संसारको निर्विकल्प होकर देखनेवाले मुक्तात्माओंको भी अत्यंत आनंद होता है। तथा नाटकके समान ही यह संसार विभावादि भावोंसे व्यक्त होनेवाले नव रसोंसे नानास्वरूप धारण करनेवाला है। जिसके अनुसार अभिनय करके बताया जा सके ऐसे काव्यको नाटक कहते है। विभाव अनुभाव और व्यभिचारी इन भावोंके द्वारा व्यक्त किये जानेवाले भावोंको स्थायी भाव कहते है। इनके रति आदि नव भेद है जिनका कि आगे चलकर उल्लेख करेंगे। विभावादिके सयोगसे पुष्ट होजानेपर इन्हीं व्यक्त भावोंको रस कहते है। जिन भावोंका मनके द्वारा आनंद आता है उन्हींको रस कहते है। इसका सामान्य लक्षण इस प्रकार बताया है:—

> कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
> रत्यादे स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययो ॥
> विभावा अनुभावास्तत्कथ्यन्ते व्यभिचारिण ।
> व्यक्त स तैर्विभावाद्यै स्थायी भावो रस स्मृत ॥

रस आदिकके कारणरूप कार्यरूप और सहकारीरूप जितने भाव है उनको लोकमें स्थायी भाव कहते है। यदि इनका नाटक या काव्यमें वर्णन किया जाय तो इन्हींको विभाव अनुभाव और व्यभिचारी नामसे कहते

है। इन विभावादिके द्वारा व्यक्त होनेवाले स्थायी भावको रस कहते हैं।

अथवा ऐसा भी कहा है—

विभावैरनुभावैश्च सात्विकैर्व्यभिचारिभिः ।
आनीयमानः साध्यत्वं स्थायिभावो रसः स्मृतः ॥

विभाव अनुभाव सात्त्विक और व्यभिचारी इन चारोंके द्वारा सिद्ध किये जानेवाले स्थायी भावको रस कहते हैं ।

ललनाओंके उद्यानप्रवेश आदि आलम्बन और उद्दीपनके कारणोंको विभाव कहते हैं । कटाक्ष और भुजाक्षेपादिकको अनुभाव कहते हैं जिनसे कि मनमें हुए विकार-भावका बोध होता है । स्थायी भावके साथ रहनेवालोंको व्यभिचारी भाव कहते हैं । इस व्यभिचारी भावके तेतीस भेद हैं; जिनके कि नाम इस प्रकार हैं ।—

निर्वेदोऽथ तथा ग्लानिः शङ्कासूयामदश्रमाः ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहो धृतिः स्मृतिः ॥
वेगश्चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्रापस्मार एव च ॥
सुप्तिर्विबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थस्तथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदिमे भावाः समाख्यातास्तु नामतः ॥

निर्वेद ग्लानि शङ्का असूया मद श्रम आलस्य दैन्य चिंता मोह धैर्य स्मरण वेग चपलता हर्ष आवेग जडता गर्व विषाद उत्सुकता निद्रा अपस्मार सुप्ति [स्वाप] विबोध अमर्ष अवहित्थ उग्रता मति व्याधि उन्माद मरण त्रास और वितर्क ।

सात्त्विक भावके आठ भेद हैं; जिनके नाम ये हैं:—

स्तम्भ स्वेदोथ रोमाञ्च' स्वरभेदोथ वेपथु. ।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृता ॥

स्तम्भ स्वेद रोमाञ्च स्वरभग कम्प विवर्णता अश्रु और प्रलय ।

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भय तथा ।
जुगुप्साविस्मयशमा स्थायिभावा रसाश्रया' ॥

उपर्युक्त विभावादिके द्वारा व्यक्त होनेवाले स्थायी भावके नव भेद हैं; जिनके नाम ये हैं:— रति हास शोक क्रोध उत्साह भय जुगुप्सा, विस्मय और शम । इन्हींके आधारपर उसकी उत्पत्ति होती है । ये भाव भी नव हैं और इनसे उत्पन्न होनेवाले रस भी नव ही हैं; जिनके कि नाम ये हैं:—

'शृङ्गारहास्यकरुणारौद्रवीरभयानका ।
वीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्यरसा स्मृता ॥

शृंगार हास्य करुणा रौद्र वीर भयानक वीभत्स अद्‌भुत और शान्त । अत एव इनमेंसे एक एक रस क्रमसे एक एक स्थायिभावसे उत्पन्न होता है । यथा रतिसे शृंगार, हाससे हास्य, शोकसे करुणा, क्रोधसे रौद्र, उत्साहमे वीर; इत्यादि ।

यहांपर एक बात और भी समझनेकी है । वह यह कि ऊपर जो व्यभिचारी भावके निर्वेदादिक भेद गिनाये हैं वे जिसके हृदयमे वार वार उत्पन्न होकर पुष्टि प्राप्त करलेते हैं उसकेलिये वे ही रस होजाते हैं । जैसे कि रति यद्यपि भाव है; फिर भी पुष्ट होनेपर वह रस ही होजाता है । हां, जिसके हृदयमें ये भाव पुष्टिको प्राप्त नही करसकते उसकेलिये वे भाव ही हैं, रस नहीं ।

इन्ही भावों और रसोंसे नाटक पूर्ण रहता है। अत एव इस कथनसे यह बात सहज ही समझमें आ सकती है कि यह संसार भी एक नाटकके ही समान है, जो कि नव रस और उसके जनक तथा अभिव्यञ्जक भावोंसे भरा हुआ है और अपने दर्शकोको आनन्दका जनक है। जो आत्मा संसारसे रहित होकर इस नवरससे पूर्ण ससाररूपी नाटकका निर्विकल्प होकर दर्शन–अनुभव करते रहते हैं वे अनंतकाल तक सुखसुधाका पान करते रहते है। इस तरहका शीघ्र ही श्रद्धान करलेने वाले सरलपरिणामी श्रोता आजकल बहुत ही विरल है। अतएव यदि उनको स्वयं सुननेकी इच्छा न हो तो भी परोपकार करनेवालोको उन्हे सुननेकी इच्छा उत्पन्न कराकर चाहिये धर्मका उपदेश देना क्योकि उपदेश व्यर्थ नहीं जा सकता। उससे कभी न कभी कोई न कोई अपने हितमें लग सकता है।

बहुशोप्युपदेशः स्यान्न मन्दस्यार्थसंविदे।
भवति ह्यन्धपाषाणः केनोपायेन काञ्चनम् ॥ १३ ॥

जो मंद है—मिथ्यात्वादिकसे मदा इस तरह ग्रस्त रहता है कि उसको सम्यग्दर्शनादिककी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती, उसको यदि बार बार भी उपदेश दिया जाय आप्तके स्वरूपका ज्ञान कराया जाय तो भी उसके हृदयमें हेय और उपादेय तत्त्वका समीचीन ज्ञान व श्रद्धान नही हो सकता। अन्ध पाषाण–जिसमें कि सुवर्ण पृथक् है ही नहीं ऐसा पत्थर–क्या किसी भी उपायसे सुवर्ण हो सकता है?

भव्योंमे भी किस तरहका भव्य उपदेशका पात्र हो सकता है सो बताते हैं।

श्रोतुं वाञ्छति यः सदा प्रवचनं प्रोक्तं शृणोत्यादराद्,
गृह्णाति प्रयतस्तदर्थमचलं तं धारयत्यात्मवत्।
तद्विद्यैः सह संविदत्यपि ततोन्यांश्चोहतेऽपोहते,
तत्तत्त्वाभिनिवेशमावहति च ज्ञाप्यः स धर्मं सुधीः ॥ १४ ॥

सम्यक्त्वसे युक्त ज्ञानधनके धारण करनेवाले श्रोतामें इन आठ बातोंको, धर्मका उपदेश देनेकेलिये देखना उचित है। १- जो दृष्ट और इष्ट किसी भी प्रमाणसे विरुद्ध न रहनेवाले अनेकान्तात्मक सिद्धान्त--जिनागमको सदा सुननेकी इच्छा रखता हो।२ केवल सुननेकी इच्छा रखता हो इतना ही नहीं, बल्कि गुरुओंका अपलाप न करनेवाले-गुरुसम्प्रदायके अनुसार कहनेवाले तथा कल्याणके अभिलाषी वक्ताओंके द्वारा कहेजाने पर—प्रवचनका व्याख्यान होनेपर उसको आदर—भक्तिके साथ सुनता भी हो। ३-व्याख्यान या प्रवचनमें जो विषय कहा गया है —जो बातें बताई गई हों उनका प्रयत्न करके निश्चय करनेवाला हो। ४-निश्चित विषयको आत्मस्वरूपकी तरह अचल बनाकर धारण करनेवाला हो —कभी भूलनेवाला न हो। यह धारणा इतनी अचल हो कि जिससे उसके विषयका संस्कार जन्मान्तरमें भी चला जाय। आत्मरूपकी तरह इसलिये कि उसका वियोग कभी न होना चाहिये। ५-उस गृहीत तथा धारित विषयका प्रवचनके जानकारोंके साथ मिलकर संशय विपर्यय अनध्यवसायरहित श्रद्धान करनेवाला हो। क्योंकि ऐसे मनुष्योंसे मिलकर विचार करना, उस विषयमें विशेष ज्ञान प्राप्त करनेका प्रधान कारण है। ६--इन जाने हुए विषयोंमें व्याप्तिके द्वारा विशेष तर्क करनेवाला हो। " जो इस प्रकारका स्थिर सिद्धान्त है वह सर्वत्र सर्वदा इसी प्रकारका रहेगा " इस व्याप्तिके अनुसार जाने हुए विषयोंके आधारपर अज्ञात-प्रवचनोपदेशमें न सुने हुए विषयोंका भी श्रद्धान करनेवाला हो। ७-प्रमाणबाधित —आगम और युक्तिसे विरुद्ध पदार्थोंको अश्रद्धेय समझकर प्रत्यवायकी संभावनासे छोड देनेवाला हो। ८-अंतमें जिन जिनका स्वरूप जिस जिस प्रकारसे-हेयरूपसे या उपादेय रूपसे अथवा उपेक्ष्य रूपसे जैसा व्यवस्थित हो चुका है उन उन तत्त्वोंका उसी उसी प्रकारसे अभिनिवेश--आग्रह रखनेवाला हो।

भावार्थ—इस पद्यमें क्रमसे श्रोताके १ शुश्रूषा २ श्रवण ३ ग्रहण ४ धारण ५ विज्ञान ६ ऊह ७ अपोह ८ और तत्त्वाभिनिवेश इन आठ बुद्धिसम्बन्धी गुणोंको बताया है, और दिखाया है कि इन गुणोंसे युक्त बुद्धिमान् श्रोता ही पूर्णतया धर्मोपदेशका पात्र है।

इन आठ गुणोंसे युक्त बुद्धिके धारण करनेवाले श्रोताकी भी प्रज्ञा, विना धर्मोपदेशके धर्ममें प्रवृत्त नही हो सकती। यही बात बताते हैं--

महामोहतमश्छन्नं श्रेयोमार्गं न पश्यति ।
विपुलापि दृगालोकादिव श्रुत्या विना मतिः ॥ १५ ॥

जिस प्रकार प्रशस्त भी दृष्टि प्रदीपादिकके प्रकाशके विना अंधकार–निबिड अंधकारमें छिपे हुए मार्गको देख नहीं सकती, उसी प्रकार प्रशस्त भी मति धर्मोपदेशके सुने विना मोहके निबिड अंधकारसे छिपे हुए कल्याण-—मोक्षके मार्गको देख नहीं सकती। क्योंकि ऐसा विधान भी है कि— " श्रुत्वा धर्म विजानन्ति, " सुनकर ही धर्मको जान सकता या धारण कर सकता है।

शासनके संस्कारसे बुद्धिमें जो अतिशय प्राप्त होता है उसकी प्रशंसा करते हैं।

दृष्टमात्रपरिच्छेत्री मतिः शास्त्रेण संस्कृता ।
व्यनक्त्यदृष्टमप्यर्थं दर्पणेनेव दृङ्मुखम् ॥ १६ ॥

आंखे दीख सकनेवाले पदार्थको ही देखनेवाली है, मुखको नहीं देख सकती। किंतु दर्पणके निमित्तसे उसको भी देख सकती है। इसी तरह मति-इन्द्रिय और अनिन्द्रियके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाला अवग्रहादिक ज्ञान, यद्यपि केवल दृष्ट–इन्द्रिय और मनसे दीख सकनेवाले पदार्थोंको ही जाननेवाला है; तो भी शास्त्र–आप्त भगवान्‌के वचनसे उत्पन्न हुए दृष्टादृष्टपदार्थविषयक ज्ञानसे अतिशयको प्राप्त कर अदृष्ट–उक्त दोनों साधनों–इन्द्रिय और मनके अविषय पदार्थोंको भी प्रकाशित कर सकता है।

श्रोताओंके चार भेद हैं—अव्युत्पन्न संदिग्ध व्युत्पन्न विपर्यस्त। इनमें आदिके दो प्रकारके श्रोता ही प्रतिपाद्य–उपदेशके पात्र हो सकते हैं। इसी बातको दृढ करते हैं।—

अव्युत्पन्नमनुप्रविश्य तदभिप्रायं प्रलोभ्याप्यलं,

कारुण्यात्प्रतिपादयन्ति सुधियो धर्मं सदा शर्मदम् ।
संदिग्धं पुनरन्तमेत्य विनयात्पृच्छन्तमिच्छावशा–,
न्न व्युत्पन्नविपर्ययाकुलमती व्युत्पत्त्यनर्थित्वतः ॥ १७ ॥

जो श्रोता अव्युत्पन्न है–धर्मके स्वरूपका जानकार नहीं है उसके अभिप्रायके स्वरूपको समझकर धर्मोपदेष्टा आचार्य कृपा करके उसके अभिप्रायके अनुसार धर्मसे मिलनेवाले लाभ पूजा आदि फलोंको दिखाकर धर्मके विषयमे उसका लोभ–रुचि उत्पन्न कराकर भी सुख व कल्याणके देनेवाले धर्मका उपदेश दिया करते है। इसी प्रकार जो संदिग्ध है—जो यह निश्चय नहीं कर सका है कि धर्मका स्वरूप यही है अथवा अन्य; वह यदि उसको जाननेकी इच्छासे विनयके साथ–उद्धतताको छोडकर पासमें आकर पूछता है कि धर्मका स्वरूप इसी तरह है या अन्य प्रकारका; तो उसको उस धर्मका उपदेश विशेष रूपसे देते हैं। किंतु जो व्यक्ति धर्मके विषयमें व्युत्पन्न है अथवा विपरीत ज्ञानके कारण दुष्ट बुद्धि रखनेवाला है—ऐसी दुष्ट बुद्धि कि जिसके कारण समीचीन धर्मके अनुसार कहे हुए पदार्थोंसे विपरीत ही समर्थन करनेका दुराग्रह करने लगता है–उसको धर्मका उपदेश नही देते। क्योंकि जो व्युत्पन्न है वह तो स्वय जानकार है इसलिये उपदेशका पात्र नही। और जो विपरीत –दुष्ट बुद्धि रखनेवाला है वह धर्मकी व्युत्पत्तिको चाहता ही नहीं—उससे मत्सर करनेवाला है; इसलिये उसका पात्र नहीं।

भावार्थ—चार प्रकारके श्रोताओंमेंसे अव्युत्पन्न और संदिग्ध दो ही उपदेशके पात्र है; व्युत्पन्न और विपर्यस्त नहीं।

यहापर यह प्रश्न हो सकता है कि जिसकी बुद्धि दृष्ट फलकी अभिलाषासे दूषित हो रही है–संसारके विषयभोगोसे जिसकी रुचि घटी नहीं है और इसीलिये जो लाभ पूजा अभ्युदय आदिको प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखता है—उसको धर्मका उपदेश किस तरह दिया जा सकता है ? दृष्टातद्वारा इस शंकाका निराकरण करते है।—

य: शृणोति यथा धर्ममनुवृत्त्यस्तथैव स: ।
भजन् पथ्यमपथ्येन बाल: किं नानुमोद्यते ॥ १८ ॥

जो धर्मके माहात्म्यसे अनभिज्ञ है वह जिस तरहसे सुन सकता हो उसको उसी तरहसे सुनाना चाहिये । श्रोता यदि लाभ पूजादिको चाहता है तो धर्मका वह फल भी बताकर उस श्रोताको धर्मका उपदेश देना चाहिये । अपथ्य-मुनक्का चाशनी आदिके साथ, पथ्य -रोगको दूर करनेवाली कडवी कसैली औषधके सेवन करनेवाले बालककी क्या उसके माता पिता अनुमोदना नहीं करते हैं? " तू बहुत अच्छा कर रहा है, वाह " ऐसा कह कर क्या अपथ्यके साथ भी पथ्य सेवनकेलिये उसको उत्साहित नहीं करते हैं ? करते ही है ।

विनयका फल दिखाते हैं ।—

वृद्धेष्वनुद्धताचारो नामहिम्नानुबध्यते ।
कुलशैलाननुत्क्रामन् सरिद्भि: पूर्यतेर्णव: ॥ १९ ॥

उस पुरुषमें लोकोत्तर महिमाएं आकर नित्य ही निवास करने लगती है, जो कि वृद्धोंके साथ-तप और ज्ञानादिककी अपेक्षा ज्येष्ठ तथा श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ उद्धतताको छोडकर विनीतताका व्यवहार करता है । समुद्र कुलपर्वतों—सौ, दो सौ, और चार चार सौ योजन ऊंचे हिमवदादिकोंका उल्लंघन नहीं करता—उनके साथ औद्धत्यपूर्ण व्यवहार नहीं करता । यही कारण है कि उन पर्वतोंसे उत्पन्न हुई गङ्गादिक नदियां आकर उसको पूर्ण करतीं हैं ।

जो व्युत्पन्न है वह उपदेशका पात्र नहीं है, यह बात ऊपर बता चुके है । अब उसी बातका दृष्टांत देकर समर्थन करते है । —

यो यद्विजानाति स तत्र शिष्यो यो वा न यद्वष्टि स तत्र लभ्यः।
को दीपयेद्धामनिधिं हि दीपैः कः पूरयेद्वाम्बुनिधिं पयोभिः ॥

जो जिस विषयको जानता है-और अच्छी तरहसे जानता है वह उस विषयमें प्रतिपाद्य नहीं हो सकता—उसको उस विषयकी शिक्षा नहीं दी जा सकती। इसी तरह जो जिस चीजको चाहता ही नहीं उसको वह चीज देनी नहीं चाहिये। भला, ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो सूर्यको दीपकसे प्रकाशित करना चाहे। अथवा क्या कोई ऐसा भी आदमी है जो समुद्रको जलसे भरना चाहे। भावार्थ—व्युत्पन्न पुरुष स्वयं उस विषयका जानकार है और उस विषयको जानना चाहता भी नहीं। अत एव उसको उपदेश नहीं देना चाहिये। उसको उपदेश देना व्यर्थ है।

विपर्यस्तबुद्धिको उपदेश देनेमें दोष दिखाते हैं।

यत्र मुष्णाति वा शुद्धिच्छायां पुष्णाति वा तमः।
गुरूक्तिज्योतिरुन्मीलत् कस्तत्रोन्मीलयेद्गिरम् ॥ २१ ॥

ऐसा कौन विचारशील होगा जो ऐसे पुरुषको उपदेश देनेका प्रयत्न करे कि जिसके हृदयमें नाम मात्रको रहनेवाली शुद्धि गुरूपदेशकी ज्योतिके प्रकाशित होते ही नष्ट होजाती है और अंधकार पुष्ट हो जाता है।

भावार्थ—जहांपर उपदेशका फल उल्टा हो वहां उपदेश देना व्यर्थ है। वचनका प्रयोग वहां करना चाहिये जहां उसका ठीक फल निकलता हो।[1]

१— वचस्तत्र प्रयोक्तव्य यत्रोक्तं लभते फलम्।

जिस प्रकार वक्ता और श्रोता धर्मोपदेशके अङ्ग है उसी प्रकार उसकी प्रवृत्तिका एक अङ्ग धर्मका फल भी है। अत एव वक्ता और श्रोताके स्वरूपका निरूपण करके अब धर्मके फलका वर्णन करते है।

सुखं दु:खनिवृत्तिश्च पुषार्थावुभौ स्मृतौ ।
धर्मस्तत्कारणं सम्यक् सर्वेषामविगानतः ॥ २२ ॥

प्राचीन आचार्योंने पुरुषार्थ दो बताये है; एक सुख, दूसरा दुःखकी निवृत्ति। क्योंकि इन दो बातोंको छोडकर पुरुषकेलिये और कोई भी अभिलाषाका विषय बाकी नही रहता। समस्त प्राणियोंकेलिये चाहे वे आज्ञाप्रधानी हो, चाहे परीक्षाप्रधानी; धारण किया हुआ समीचीन धम ही इन दोनो पुरुषार्थोंकी सिद्धिका कारण है। समीचीन इसलिये कि उसमें किसीको किसी भी तरहका विवाद नहीं है।

उक्त अर्थको ही स्पष्टतया बतानेकेलिये मुख्य फलके देनेमे समर्थ धर्मके समस्त आनुषगिक फलकी प्रशंसा करते है।

येन मुक्तिश्रिये पुंसि वास्यमाने जगच्छ्रियः ।
स्वयं रज्यन्त्ययं धर्मः केन वर्ण्योनुभावतः ॥ २३ ॥

मुक्तिलक्ष्मी – अनंतज्ञानादि संपत्तिको प्राप्त करनेकेलिये जिस धर्मके धारण करनेपर मनुष्यको तीनो लोककी विभूतियां स्वयं आकर प्राप्त होजाती है उस धर्मके माहात्म्य – प्रभाव–फलका वर्णन कौन कर सकता है ? ब्रह्मा भी नही कर सकता। भावार्थ धर्मके प्रसादसे जब मुक्तितक प्राप्त हो सकती है तब दूसरे लौकिक प्रयोजनो–अभ्युदयोंका प्राप्त होना कुछ कठिन नहीं है।

यहा पर यह प्रश्न हो सकता है कि संसारके अभ्युदयोंकी प्राप्ति पुण्यबन्धका फल है और मोक्ष समस्त कर्मोंके अभावसे प्राप्त होती है। पुण्यफल और मोक्ष दोनो कार्य परस्परमे विरुद्ध है। अतएव विरुद्ध दो कार्यो

का कारण एक ही धर्म किस तरह हो सकता है? इसका उत्तर देनेकेलिये विरोधका परिहार करते है।

निरुन्धति नवं पापमुपात्तं क्षपयत्यपि।
धर्मेनुरागाद्यत्कर्म स धर्मोभ्युदयप्रदः॥ २४॥

सम्यग्दर्शनादिकके एक साथ प्रवृत्त होनेवाले आत्माके एकाग्रतारूप शुद्ध परिणामोको धर्म कहते हैं। इस धर्मके विषयमे जो एक विशिष्ट प्रीति होती है उसको भी उपचारसे धर्म कहते हैं। यह अनुरागरूप धर्म साता वेदनीय शुभ आयु शुभ नाम और शुभ गोत्ररूप उस पुण्य कर्मके बन्धका कारण हो सकता है जिससे कि स्वर्गादिककी संपत्ति भले प्रकार प्राप्त हो सकती है। अत एव इस धर्मके प्रसादसे अभ्युदयोंकी सिद्धि अच्छी तरह हो सकती है और पूर्वबद्ध पापकर्मका क्षय तथा नवीन पापका निरोध-संवर भी हो सकता है।

निमित्त और प्रयोजनके विना उपचारकी प्रवृत्ति नहीं हुआ करती। अतएव मुख्य धर्मके अनुराग विशेषसे प्राप्त होनेवाले पुण्यको उपचारसे धर्म कहनेमें भी निमित्त तथा प्रयोजनकी आवश्यकता है। इसीलिये यहांपर इन दोनो वातोंको स्पष्ट कर देते है। निमित्त—जिस विषयसे मुख्य धर्म सम्बन्ध रखता है उसी विषयसे उपचरित धर्म भी सम्बन्ध रखनेवाला है। मुख्य धर्म आत्मसिद्धिसे साक्षात् और उपचरित धर्म परम्परा सम्बन्ध रखता है; किंतु दोनोंका सम्बन्ध एक ही विषयसे है। अत एव यहांपर उपचारकी प्रवृत्ति हो सकती है। प्रयोजन—इस उपचारके होनेसे लोकव्यवहार और शास्त्रव्यवहार दोनो ही सिद्ध हो सकते है। क्यों कि लोकमे पुण्य और धर्म पर्यायवाचक शब्द प्रसिद्ध है। जैसा कि कोशमें भी धर्म पुण्य सुकृत श्रेय और वृष इनको पर्यायवाचक शब्द ही कहा है। इसी तरह शास्त्रमे भी पुण्यके अर्थमे धर्मशब्दका व्यवहार किया

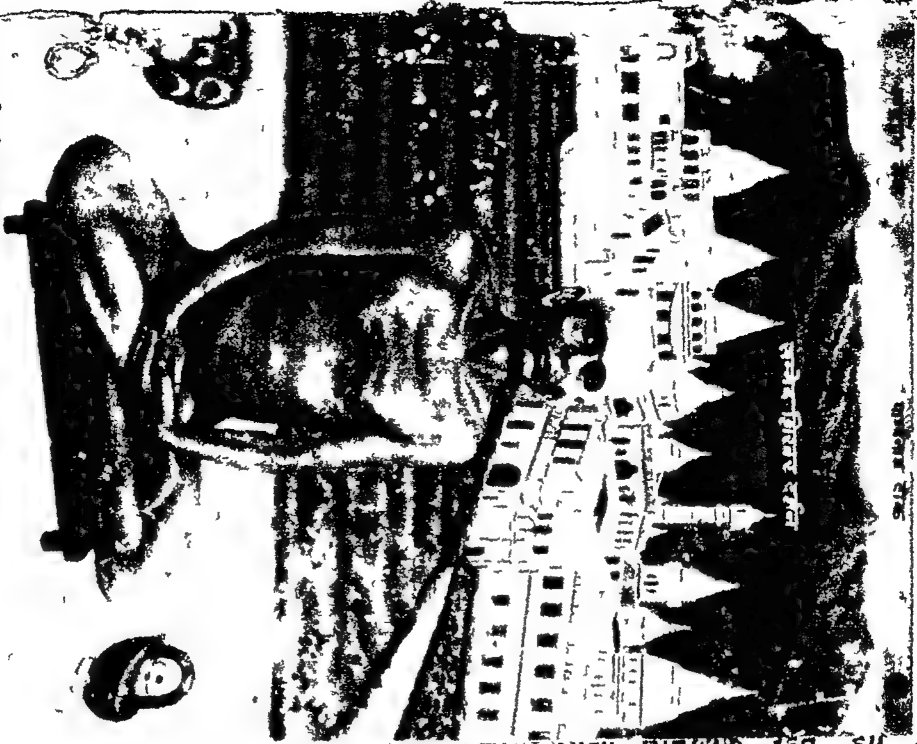
जाता है। जैसे कि "धर्मके प्रसादसे ही वैभव प्राप्त हुआ है; अतएव धर्मकी रक्षा करके ही-धर्मको सुरक्षित रखते हुए ही भोगोंको भोगना चाहिये।" अथवा "धर्म वही है कि जिससे अभ्युदय और मोक्ष दोनोंकी सिद्धि हुआ करती है।" इन दोनो व्यवहारोंकी सिद्धि उपचारसे पुण्यको धर्म माने विना नहीं हो सकती। अत एव उपचारकी आवश्यकता भी है। इन दोनो निमित्त और प्रयोजनको ध्यानमें रखकर ऊपर उपचारसे पुण्यको धर्म कहा है।

अब यह वात बताते है कि धर्म-पुण्य पहले आनुषंगिक फलको देता है और फिर मुख्य फलको भी पूर्णतया देता है।

धर्माद् दृक्फलमभ्युदेति करणैरुद्दीर्यमाणोनिशं,
यत्प्रीणाति मनो वहन् भवरसो यत्पुंस्यवस्थान्तरम्।
स्याज्जन्मज्वरसंज्वरव्युपरमोपक्रम्यनिस्सीम तत्,
तादृक् शर्म सुधाम्बुधिप्लवमयं सेवाफलं त्वस्य तत॥ २५॥

धर्मके प्रसादसे दो प्रकारके फल प्राप्त होते है—१ दृष्ट फल, २ सेवाफल। चक्षुरादिक इंद्रियोंके द्वारा प्रकाशित होनेवाले-साक्षात् आंखोंसे दीख सकनेवाले और दिनरात उसी तरह प्रवृत्त होनेवाले संसारके सारभूत इन्द्रादिक पदों अथवा ग्राम नगर सुवर्ण वस्त्र वाहन आदि वैभवोको दृष्ट फल कहते है, जिनके कि प्राप्त होनेसे मनको तृप्ति प्राप्त होती है। तथा सांसारिक अवस्थासे विपरीत दूसरी ऐसी अवस्थाके प्राप्त होनेको सेवाफल कहते है जो कि जन्ममरण और मोहजनित संतापरूपी वडे भारी ज्वरके निःशेष

१—" धर्मादवाप्तविभवो धर्म प्रतिपाल्य भोगमनुभवतु।"
२—" यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि स धर्म।"



सामर्थ्यके रहते हुए भी उनके सहन—क्षमा करनेकी ऐसी शक्ति कि जिसके सामने बडे बडे तपस्वियोंकी भी आंखे लज्जासे नीची जाती है। आप्त भगवान्के वचन आदिके निमित्तसे उत्पन्न हुआ अर्थ—पदार्थोंका ऐसा ज्ञान कि जो तपके वलसे बुद्धयादिक ऋद्धियोंको प्राप्त करनेवाले ऋषियोंके ज्ञानातिशयके साथ भी स्पर्धा करता हो—टक्कर लेता

क्षीण हो जानेपर प्राप्त—उत्पन्न होनेवाला और निरवधि-अनत है, तथा आप्तोपदेशसे सिद्ध किंतु अनिर्वचनीय सुखरूपी अमृतके समुद्रमें स्वच्छन्दतया अवगाहनके समान है।

भावार्थ—धर्मके प्रसादसे जीवको मोक्षफलकी प्राप्ति होती है। यही धर्मका मुख्य फल है। किंतु जबतक मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती तबतक सांसारिक अभ्युदयोंकी प्राप्ति होती है। इन अभ्युदयोंका प्राप्त होना धर्मसेवनका आनुषंगिक फल है।

अब तेईस पद्योंमें धर्मके अभ्युदयरूप फलका वर्णन करेंगे। जिसमेंसे यहांपर चौदह श्लोकोंमें उसका सामान्यसे स्पष्टीकरण करते हैं।

वंशे विश्वमहिम्नि जन्म महिमा काम्यः समेषां शमो
मन्दाक्षं सुतपोजुषां श्रुतमृषिब्रह्मर्द्धिसंघर्षकृत्।
त्यागः श्रीदद्दुराधिदाननिरनुक्रोशः प्रतापो रिपु,—
स्त्रीशृङ्गारगरस्तरङ्गितजगद्धर्माद्यशश्चाङ्गिनाम् ॥ २६ ॥

धर्मके प्रसादसे प्राणियोंको सभी अभ्युय प्राप्त होते हैं। यथा—

ऐसे वंशमें जन्म कि जिसके माहात्म्यसे जगत्की सभी महिमाएं-सर्वोत्कृष्ट पद प्राप्त हो सकते हैं। प्राणिमात्रके लिये स्पृहणीय तीर्थकरत्वादिक पद। अपने अपराधियोंको दंड देनेकी सामर्थ्यके रहते हुए भी उनके अपराधोंको सहन—क्षमा करनेकी ऐसी शक्ति कि जिसके सामने बडे बडे तपस्वियोंकी भी आंखे लज्जासे नीची पड जाती है। आप्त भगवान्के वचन आदिके निमित्तसे उत्पन्न हुआ अर्थ—पदार्थोंका ऐसा ज्ञान कि जो तपके बलसे बुद्ध्यादिक ऋद्धियोंको प्राप्त करनेवाले ऋषियोंके ज्ञानातिशयके साथ भी स्पर्धा करता हो—टक्कर लेता

हो। कुबेरके भी दुराधि—अनुचित रूपसे प्रवृत्त हुए मानसिक दुःख—के उत्पन्न करनेमे निर्दय किंतु अमोघ शक्तिका रखनेवाला दान। शत्रुस्त्रियोंके शृंगारकेलिये विषके समान प्रताप—कोप और दंडसे उत्पन्न हुआ तेज। समस्त जगत्को कम कर देनेवाला—तीनो लोकोंको व्याप्त कर उनके ऊपर प्रकाशित होनेवाला यश।

बुद्ध्यादिक सामग्री भी फल देनेमें पुण्यका ही मुख देखा करती है। यही बात बताते हैं—

धीस्तीक्ष्णानुगुणः कालो व्यवसायः सुसाहसः।
धैर्यमुद्यत्तथोत्साहः सर्वं पुण्यादृते वृथा ॥ २७ ॥

तीक्ष्ण–कुशाग्रीय–पदार्थको थोडामा स्पर्श करते ही उसके अंततकको विषय करलेनेवाली बुद्धि, कार्यकी सिद्धिमें मदत पहुंचानेवाला समय, कर्मके प्रति साहसपूर्ण उद्यम, बढता हुआ धैर्य–विघ्नोंपर विजय प्राप्त करनेकी शक्ति–और उत्साह–कार्यकारिणी शक्ति। ये सब-बुद्ध्यादिक पांचो ही पदार्थ पुण्यके विना व्यर्थ हैं।

यदि इष्ट पदार्थोंके सिद्ध होनेमें पुण्य कर्म स्वतंत्र है तो वह उस विषयमें अपने कर्ताकी क्रियाकी भी अपेक्षा क्यों रखता है? इस प्रश्नका उत्तर उत्प्रेक्षा अलंकारके द्वारा देते हैं। —

मनस्विनामीप्सितवस्तुलाभाद्रम्योऽभिमानः सुतरामितीव।
पुण्यं सुहृत्पौरुषदुर्मदानां क्रियाः करोतीष्टफलाप्तिदृप्ताः ॥२८॥

अभिमानी पुरुषोंको ईप्सित वस्तुओंका लाभ हो जानेपर अत्यंत मनोहर अभिमान हुआ करता है। मालुम पडता है, मानों इसीलिये पुण्य कर्म, पौरुषका खोटा मद करनेवालोंकी, अभिमत पदार्थोंके सिद्ध होजानेसे आभिमानिक रससे युक्त क्रियाओंको, सिद्ध करनेमें निष्कपट उपकार करता है।

उक्त प्रश्नका उत्तर देकर अब यह बताते है कि विशिष्ट आयु आदिकी भी प्राप्ति पुण्योदयके निमित्तसे ही होती है।

आयुः श्रेयोनुबन्धि प्रचुरमुरुगुणं वज्रसारः शरीरं,
श्रीस्त्यागप्रायभोगा सततमुदयनी धीः परार्घ्या श्रुताढ्या।
गीरादेया सदस्या व्यवहृतिरपथोन्माथिनी सद्भिरर्थ्या,
स्वाम्यं प्रत्यर्थिकाम्यं प्रणयिपरवशं प्राणिनां पुण्यपाकात् ॥ २९ ॥

प्राणियोंको पुण्यके उदयसे ये सब बाते प्राप्त होती हैं। यथा—

अविच्छिन्न कल्याणोंसे युक्त और उत्कृष्ट-लम्बी आयु, सौन्दर्य कोमलता आदि अनेक महान् गुणोंसे युक्त वज्रके सारकी तरह अभेद्य और दृढ शरीर, जीवन पर्यंत दिनपर दिन बढती जानेवाली और प्रायः दान व भोगोंमे ही जिसका उपयोग होता हो ऐसी लक्ष्मी, उत्कृष्ट-शुश्रूषा आदि गुणोंसे युक्त और श्रुतज्ञानकी समृद्धिसे पूर्ण बुद्धि, सभाके योग्य और आदेय-जिसका कोई उल्लंघन न करसके ऐसी वाणी, हितमे प्रवृत्ति और अहितसे निवृत्तिरूप ऐसा व्यवहार-सदाचार कि जिसको साधु भी प्राप्त करना चाहे और जिसको देखकर दूसरे अमार्गमे प्रवृत्ति करनेवाले भी अपनी उस अयुक्त प्रवृत्तिको छोड दें। अपने बन्धु मित्र आदिक स्नेही व्यक्तियोंके अधीन और जिसको शत्रु भी प्राप्त करना चाहे- जिसे देखकर शत्रुओंको भी मनमें यह भाव उत्पन्न हो जाय कि "हम भी ऐसे ही जांय" ऐसी प्रभुता।

पुण्यके प्रतापसे बहुतसे फल-अभ्युदय एकदम आकर प्राप्त होते है। यही बात दिखाते है।—

चिद्भूम्युत्थः प्रकृतिशिखरिश्रेणिरापूरिताशा —,

चक्रः सञ्जीकृतरसभरः स्वच्छभावाम्बुपूरैः ।
नानाशक्तिप्रसवविसरः साधुपान्थौघसेव्यः,
पुण्यारामः फलति सुकृतां प्रार्थितांल्लुम्बिशोऽर्थान् ॥ ३० ॥

पुण्यात्माओंके पुण्यरूपी उपवनमें अभिलषित पदार्थ प्रचुरतासे फलते हैं। यह उपवन चेतनारूपी भूमिपर उत्पन्न होनेवाला और सातावेदनीय आदि कर्मप्रकृतिरूपी वृक्षोंकी श्रेणीसे युक्त है। जिस प्रकार उपवन आशाओं-दिशाओंको घेरलेता है-चारो तरफसे बहुतसी जगहमें फैला हुआ रहता है उसी प्रकार यह भी आशाओं-भविष्यत्केलिये पदार्थोंकी अभिलाषाओंसे पूर्ण रहता है। इस उपवनमें निर्मल परिणामरूपी जलके पूरसे उपभोगके योग्य रसका भार तयार होता है। यह अनेक प्रकारकी शक्तिरूपी फूलोंके समूहसे युक्त है और इसका पथिकोंकी तरह साधुगण—त्रिवर्गके लोग आश्रय लेते है।

यहांपर शक्तिओंको फूलोंकी उपमा देनेका यह प्रयोजन है कि उन्हीसे फलकी उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार त्रैवर्गिकोंको पथिकोंकी उपमा इसलिये दी है कि वे नित्य ही मार्गमें-मोक्षमार्गमें गमन करते रहते है।

पुण्यसे बहुतसे सहभावी वाञ्छित पदार्थ फलरूपमें प्राप्त होते हैं। यही बात दिखाते हैं:—

पित्र्यैर्वैनयिकैश्च विक्रमकलासौन्दर्यचर्यादिभि,—
र्गोष्ठीनिष्ठरसैर्नृणां पृथगपि प्रार्थ्यैः प्रतीतो गुणैः ।
सम्यक्स्निग्धविदग्धमित्रसरसालापोल्लसन्मानसो,
धन्यः सौधतलेऽखिलर्तुमधुरे कान्तेक्षणैः पीयते ॥ ३१ ॥

१– खट्टा मीठा आदि इन्द्रियग्राह्य अथवा कर्मके विपाकरूप।

गुण दो प्रकारके हुआ करते है–१ साहजिक, २ आहार्य। माता पिताकी वंशपरम्परासे आये हुओं-को साहाजिक, तथा गुरु आदिकी शिक्षासे उत्पन्न हुओंको आहार्य कहते हैं। पराक्रम, सौन्दर्य, प्रियंवदत्त्व आदिक साहजिक गुण हे और कला आचरण मैत्री आदिक आहार्य गुण हैं। पुण्यवान् पुरुष मातापितासे आये हुए और शिक्षासे उत्पन्न हुए अर्थात् उक्त दोनो प्रकारके विक्रम कला सौंदर्य चर्या प्रियंवदत्त्व आदिक तथा जिनका रस, गोष्टी—प्रीतिपूर्वक पारस्परिक भाषणके समय नियत रूपसे स्थिर रहता है—जो सदा उदित रहनेवाले हैं और जिनमेंसे एक एकको भी दूसरे लोग प्राप्त करनेकी स्पृहा करते हैं—सबकी तो बात ही क्या ऐसे अनेक गुणोंसे जगत्में प्रतीतिको प्राप्त करलेता है। ऐसा पुण्याधिकारी पुरुष जिस समय हेमन्त शिशिर वसंत ग्रीष्म वर्षा और शरद् इन सभी ऋतुओंमें जहां बैठनेसे मन और इन्द्रियोंको तृप्ति प्राप्त होती है ऐसे-समस्त ऋतुओंके उच्च राजमहलमें निष्कपट प्रेमी विद्वान् और रसिक मित्रोंके सरस वचनालापोंसे अपने मनको आनन्दोन्मुख करता हुआ बैठता है उस समय उसको कान्ताएं सतृष्ण दृष्टिसे देखा करती है।

मुग्धा मध्या और प्रगल्भा इन तीनों ही अवस्थाकी ऐसी स्वकीया नायिकाको कान्ता कहते हैं कि जिसका आचार पवित्र और नागारिक हो तथा जो चरित्रको ही अपना भरण मानती हो; एवंच निरभिमानता और क्षमासे युक्त हो।

इस प्रकार पुण्यवान्की स्वगत—खुदको प्राप्त होनेवाली गुणसंपत्तिका वर्णन करके अब स्त्रीसम्बन्धी सुखका दो श्लोकोंमें वर्णन करते है। —

साध्वीस्त्रिवर्गविधिसाधनसावधानाः,
कोपोपदंशमधुरप्रणयानुभावाः।
लावण्यवारितरगात्रलताः समान —,
सौख्यासुखाः सुकृतिनः सुदृशो लभन्ते॥ ३२॥

धर्म अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थोंको विधिपूर्वक–आगममें बताई हुई विधिके अनुसार सिद्ध करनेमें सदा सावधान–प्रमाद छोडकर वर्तांव करनेवाली, जिनके प्रेमसे उत्पन्न हुए भावों–कटाक्षपात, ईषद्हास, सनर्म भाषण, वक्रोक्ति आदिकोंमे कृत्रिम बाह्य रोषके कारण एक ऐसा विलक्षण स्वाद भरा रहता है जैसे कि दाल शाक आदि व्यंजनोंमे मसालेके कारण चटपटापन, जिनकी प्रशस्त और कृश शरीररूपी लताएं लावण्य–अतिशयित कांतिके जलमें मानो तैरती रहती हैं, जो पतिके सुखमें सुखी और दुःखमें दुःखी रहा करती है, ऐसी सुलोचना सुतारा सीता द्रौपदी आदिके सदृश पतिव्रता युवतियां भाग्यशालियोंको प्राप्त हुआ करती हैं।

यहांपर दुःख—शब्दसे प्रणयभंगादिके द्वारा उत्पन्न हुआ ही दुःख लेना चाहिये; न कि व्याधि आदिसे उत्पन्न हुआ। क्योंकि ऐसा दुःख पुण्यशालियोंके सम्भव नहीं। अथवा, कदाचित् व्याधिजन्य भी लिया जासकता है। क्योंकि सुख और दुःख संसारमें स्वभावतः सांतर ही हुआ करते हैं। यथाः—

सुखस्यानन्तर दुःख दुःखस्यानन्तर सुखम्।
सुख दुःख च मर्त्यांना चक्रवत्परिवर्तते ॥ इति।

सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख इस तरह मनुष्योंके सुख और दुःख ये दोनो ही गाढीके पहियेकी तरहसे सदा घूमा ही करते हैं।

अवस्थाकी अपेक्षा स्त्रियां दो प्रकारकी हुआ करती हैं- १ युवती, २ पुरंध्री। जबतक कोई बाल बच्चा नहीं होता तबतक युवती और कुटुम्बिनी हो जानेपर पुरंध्री संज्ञा होती है। इनमेंसे युवतिसम्बन्धी गुणसम्पत्ति—सुख सामग्रीका वर्णन करके अब पुरंध्रीविषयक सुखको दिखाते हैं:—

व्यालोलनेत्रमधुपाः सुमनोभिरामाः,
पाणिप्रवालरुचिराः सरसाः कुलीनाः।

आनृण्यकारणसुपुत्रफलाः पुरन्ध्यो,
धन्यं व्रतत्य इव शाखिनमास्वजन्ते ॥ ३३ ॥

जिनके नेत्र भ्रमरकी तरह चंचल रहा करते है, जिनके मनोहर हाथ पल्लवों––नवीन पत्तोंकी तरह लाल और कोमल है, जिनके ऐसा श्रेष्ठ पुत्ररूपी फल उत्पन्न हो चुका है जो कि पितादिकके ऋणको दूर करनेका कारण है, जो सुमनस्–मनमें सदा प्रसन्न रहनेवाली और कुलीन–श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न होनेवालीं है; ऐसी मनोहर तथा सरस—सानुराग पुरंध्री स्त्रिया, जिनके गोत्रका विस्तार बहुत बढ गया है या बढनेवाला है ऐसे भाग्यशालियोंसे अभिलाषाके साथ इस तरहसे आलिंगन करती है जिस तरहसे कि वेलें किसी पुण्यशाली वृक्षसे किया करती है। यहापर पुरस्त्रियोंके जितने विशेषण है वे सब वेलोंकी तरफ भी घटित होते है। यथा—चंचल नेत्रोंके भ्रमरोंसे युक्त, पुष्पोंसे मनको हरण करनेवाली, हाथके समान पल्लवोंसे रुचिर, सरस–आर्द्रतासे पूर्ण, कुलीन–पृथ्वीमें उत्पन्न होनेवाली, जिनसे इस प्रकारके फल उत्पन्न होते है जो कि श्रेष्ठ पुत्रकी तरहसे अपने स्वामीके ऋणके दूर करनेमें कारण है।

पुण्यवानोंको बाल और सुपुत्रोंकी लीला देखनेसे जो सुख प्राप्त होता है उसको दिखाते है:–

क्रीत्वा वक्षोरजोभिः कृतरभसमुरश्चन्दनं चाटुकारैः,
किंचित्सतर्प्य कर्णौ द्रुतचरणरणद्घुर्घुरं दूरमेत्वा।

१ इसका कारण यह बताया है कि पुत्ररहित पुरुष परलोकमें पितादिकका ऋणी समझा जाता है। इसका अभिप्राय यह हो सकता है कि जिस कुलकी स्थिति रखनेकेलिये पिताने उसको उत्पन्न किया और अन्वयदान किया था उसका उसने घात करदिया। अत एव वह अपने कर्तव्यके विषयमें उत्तरदायी है।

क्रीडन् डिम्भैः प्रसादप्रतिघघनरसं सस्मयस्मेरकान्ता,—
द्दक्संबाधं जिहीते नयनसरसिजान्यौरसः पुण्यभाजाम् ॥ ३४ ॥

खेलते समय जो अपनी छातीमें धूलि लग गई थी उसके बदलेमें पिताकी छातीमें पूजादिकके समय लगे हुए चदनको उत्सुकताके साथ खरीद कर–छुडा लेकर–बडी उत्सुकतासे लिपटकर अपनी छातीपरकी धूल पिताकी छातीमें लगादी और पिताकी छातीके चंदनको छुडाकर अपनी छातीमें लगा लिया; ऐसी ऐसी क्रियाओके करनेसे, तथा प्रिय वाक्योंके द्वारा कानोंको अच्छी तरह तृप्त करके और चलते समय जिसमें घुंघुरुओंका झुनुन् झुनुन् शब्द होरहा है इस तरहसे शीघ्रताके साथ पैर रखते हुए कुछ दूरतक चलकर एवं क्षणमें संतोष और क्षणमें कोप करनेके कारण जिसमें अत्यंत रस भरा हुआ है इस तरहसे अपनी समान नयवाले बालकोंके साथ खेलता हुआ और सपुत्र पुण्यशालियोंको इस तरहसे नयनकमलोंका विषय–दृष्टिगोचर–देखनेको प्राप्त होता है कि जिसमें सस्मय–ऐसा पुत्र होनेसे आत्मोत्कर्षकी धारणावश उत्पन्न हुए गर्वसे युक्त तथा स्मेर–ईषद्हासस्वभाव–हसमुख कान्ताओंकी दृष्टियोंने अत्यंत बाधा डाल रक्खी है। भावार्थ–भाग्यशालियोंको अत्यंत मनोहर पुत्र और स्त्री एक साथ दोनोंका सुख प्राप्त होता है।

पुण्यशालियोंके पुत्रकी कौमार और यौवन अवस्थामेंके योग्य गुणसंपत्तिकी प्रशंसा करते हैं —

सद्विद्याविभवैः स्फुरन्धुरि गुरूपास्त्यर्जितैस्तज्जुषां,
दोःपाशेन बलात्सितोपि रमया बध्नन् रणे वैरिणः।
आज्ञैश्वर्यमुपागतस्त्रिजगतीजाग्रद्यशश्चन्द्रमा,
देहेनैव पृथक् सुतः पृथुवृषस्यैकोपि लक्षायते ॥ ३५ ॥

गुरुओंकी सेवा करके सचित किये हुए समीचीन आन्वीक्षिकी आदि विद्याओंके वैभवोंसे उन उन विद्याओंके धारण करनेवाले विद्वानोंके ऊपर प्रकाशमान, शत्रुओंकी लक्ष्मीसे स्वयं बंधा हुआ होनेपर भी अपने बाहुपाशसे बलपूर्वक रणमें वैरियोंको बांधनेवाला, आज्ञा और ऐश्वर्य–अनुल्लंघ्य शासनको प्राप्त करनेवाला और जिसका यशरूपी चंद्रमा तीनो लोकमें सदा प्रकाशमान रहता है, ऐसा पुत्र बडे भारी भाग्यसे प्राप्त हुआ करता है। जो कि देह मात्रसे ही पृथक्—भिन्न माना जाता और एक होनेपर भी लाखोंकी बराबर समझा जाता है।

गुणकृत सौन्दर्य धारण करनेवाली कन्याएं भी पुण्यसे ही प्राप्त होती हैं। यह बात दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैः–

कन्यारत्नसृजा पुरोऽभवदिह द्रोणस्य धात्रीपतेः,
पुण्यं येन जगत्प्रतीतमहिमा सृष्टा विशल्यात्मजा।
क्रूरं राक्षसचक्रिणा प्रणिहितां द्राग्लक्ष्मणस्योरसः,
शक्तिं प्रास्य यया स विश्वशरणं रामो विशल्यीकृतः ॥२६॥

संसारमें प्रभावशाली कन्यारत्नके उत्पन्न करनेवालोंमें सबसे अधिक पुण्य द्रोण महाराजका समझना चाहिये कि जिनके विशल्या नामकी वह कन्या उत्पन्न हुई कि जिसका माहात्म्य समस्त संसारमें प्रसिद्ध है। और जिसने राक्षसोंके चक्रवर्त्ती रावणके द्वारा अत्यंत निर्दयताके साथ मारी गई शक्तिको लक्ष्मणके हृदयमेंसे जरासी देरमें–दर्शनमात्रसे ही दूर कर विश्वमात्रके शरणभूत रामचंद्रको शल्यरहित कर दिया। जिसने लक्ष्मणके हृदयमेंसे शक्तिको ही नहीं निकाला किंतु रामचंद्रजीके हृदयमेंसे उस शल्यको भी निकाल बाहर किया जो कि अपने अत्यंत प्रिय छोटे भाई लक्ष्मणके मरणके विषयमें लगी हुई थी।

भावार्थ — रामचंद्र सरीखोंको शल्यरहित करनेवाली कन्याएं भी अद्भुत रत्न है जो कि पुण्यशालियोंके यहां ही उत्पन्न हो सकती हैं।

जिनके पुण्य कर्मका उदय है उनको कामकेलिये परिश्रम करनेका निषेध करते हैं:—

विश्राम्यत स्फुरत्पुण्या गुडखण्डासितामृतैः ।
स्पर्द्धमानाः फलिष्यन्ते भावाः स्वयमितस्ततः ॥ ३७ ॥

हे स्फुरायमान पुण्यके धारण करनेवालो ! जरा विश्राम लो ! तुमको स्वार्थ सिद्धिकेलिये क्लेश कर परिश्रम करनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि गुड खांड मिश्री और अमृतके साथ स्पर्धा रखनेवाले पदार्थ तुमको स्वयं—विना किसी परिश्रमके ही इधर उधरसे आकर प्राप्त हो जांयगे।

भावार्थ—अनुभागबंधके तारतम्यकी अपेक्षासे पुण्यकर्म चार प्रकारका है। एक तो ऐसा कि जीव जिस समय उसको बांधता है उस समय परिणामविशेषके द्वारा उसमें गुडके समान रस पडता है। दूसरा वह कि जिसमें खांडके समान रस पडता है। तीसरा वह कि जिसमे मिश्रीके समान रस पडता है। इसी प्रकार चौथा वह कि जिसमें अमृतके समान रस पडता है। इन कर्मोंका यथासमय उदय होनेपर तत्तत्पदार्थोंके ही समान स्वादु और रमणीय फलरूप पदार्थ स्वयं प्राप्त हुआ करते है। अत एव उनकी प्राप्तिकेलिये परिश्रम करनेकी आवश्यकता नही है।

कल्पवृक्षादिककी भी प्राप्ति धर्म—पुण्यके ही आधीन है; यही बात दिखाते हैं:—

धर्मः क नालंकर्मीणो यस्य भृत्याः सुरद्रुमाः ।
चिन्तामणिः कर्मकरः कामधेनुश्च किङ्करी ॥ ३८ ॥

पृथ्वीके बने हुए वृक्षविशेषोंको कल्पवृक्ष कहते है। जैसा कि आगममें भी कहा है:—

न वनस्पतयोप्येते नैव दिव्यैरधिष्ठिता ।
केवलं पृथिवीसारास्तन्मयत्वमुपागता॰ ॥

कल्पवृक्ष न वनस्पतिरूप है और न दिव्य-देवोपनीत शक्तिसे ही युक्त है। केवल पृथिवीके बने हुए परिणामविशेष है जो कि वृक्षस्वरूपको प्राप्त करलेते है।

जो जिस जातिका कल्पवृक्ष है उससे उसीके अनुसार मद्य तूर्य वस्त्र आदि भोगोपभोगके साधनभूत पदार्थ वचनसे याचना करनेपर प्राप्त हुआ करते है। इस प्रकारके कल्पवृक्ष जिसके नौकरके समान हैं; और चिंतामणि रत्न जिसके कर्मकर-गुलामके सदृश हैं; एवं कामधेनु गो जिसकी दासी है, वह धर्म, ऐसा कौनसा कार्य है कि जिसको सिद्ध करनेमें पूर्णतया समर्थ न हो। अर्थात् धर्मके प्रसादसे मोक्ष तथा संसारके अभ्युदय सभी कार्य सिद्ध हो सकते है।

उदयमें आया हुआ पूर्वकृत पुण्य अपने प्रयोक्ता-पुण्यशालीका किसी न किसी तरहसे उपकार करता ही है यही बात दिखाते हैः—

प्रियान् दूरेप्यर्थाञ्जनयति पुरो वा जनिजुषः,
करोति स्वाधीनान् सखिवदथ तत्रैव दयते।
ततस्तान्वानीय स्वयमपि तदुद्देशमथवा,
नरं नीत्वा कामं रमयति पुरापुण्यमुदितम् ॥ २९ ॥

उदयमें आया हुआ पूर्वकृत पुण्य अपने प्रयोक्ता-पुण्यशालीका किसी न किसी तरहसे उपकार करता ही है। यही बात दिखाते हैः—

१— चिंतित पदार्थोंको देनेवाला और रोहणाद्रिमें उत्पन्न होनेवाला रत्नविशेष।

पूर्वकृत पुण्य उदयमे आकर इन्द्रियोंके योग्य और मनोज्ञ तथा भोग्य विषयोंको भोक्ताके निकट या दूर कहीं भी उत्पन्न करादिया करता है। अथवा यदि भोक्ताके उत्पन्न होनेसे पहले ही वे पदार्थ उत्पन्न हो चुके हों तो उनको उसके अधीन करदेता है-प्राप्त करता है। यद्वा जहांपर वे पदार्थ है वहींपर उनकी मित्रकी तरहसे रक्षा किया करता है, एवं जहांपर वे स्थित है वहांसे उनको लाकर अथवा स्वयं उस भोक्ता मनुष्यको ही उनके स्थानपर ले जाकर यथेष्ट रूपसे उन पदार्थोंका भोग कराता है।

इस प्रकार नाना प्रकारके शुभ परिणामोंसे संचित किये हुए पुण्यविशेषका अतिशयित तथा विचित्र फलका सामान्यसे निरूपण कर अब विशेष रूपसे उसका पारलौकिक विचित्र फल बताते है। जिसमे यहांपर सबसे पहले स्वर्गलोकसम्बन्धी सुखका निरूपण करते हैः—

याद्दिव्यं वपुराप्य मङ्क्षु हृषितः पश्यन् पुरा सत्कृतं,
द्राग्बुद्ध्वावधिना यथास्वममरानादृत्य सेवादृतान्।
सुप्रीतो जिनयज्वना धुरि परिस्फूर्जन्नुदारश्रियां,
स्वाराज्यं भजते चिराय विलसन् धर्मस्य सोनुग्रहः ॥ ४० ॥

जो उपपादशिलापर उत्पन्न होकर अन्तर्मुहूर्तमे ही पूर्ण होजाता है ऐसे वैक्रियिक शरीरको प्राप्त कर जो देव अपने चारो तरफ खडे हुए देवियों देवों तथा अप्सराओंको देखकर विस्मयको प्राप्त होजाता किंतु उसी समय उत्पन्न हुए अतीन्द्रिय अवधिज्ञानके द्वारा शुभ परिणामोंसे संचित तथा स्वर्गफलको देनेवाले पूर्वकृत पुण्यको जानकर, सेवा करनेकेलिये तयार खडे हुए प्रतीन्द्र सामानिक आदि देवोंमेसे जो जिस योग्य है उसको उसी कामपर नियुक्त कर और अत्यंत प्रसन्न होकर अर्हत भगवान्की पूजा करनेवालोंमे जो उदार— महान् ऋद्धिके धारण करनेवाले देवोंके मनमें भी चमत्कार पैदा करदे ऐसी श्री—अणिमा आदिक अष्टगुण

सम्बन्धी ऐश्वर्य-संपत्तिके धारक हैं उनमें भी प्रधानताको प्रकाशित करता हुआ अर्थात् महर्द्धिकताके साथ जिन भगवान्‌की पूजन करता हुआ तथा इन्द्राणी आदि देवियोंके साथ विलास करता हुआ चिरकाल तक जो स्वर्गीय राज्यको भोगता है वह सब धर्मका ही उपकार है।

इन्द्रपदके बाद चक्रवर्तिपद भी पुण्यविशेषसे ही प्राप्त होता है। यह बात दिखाते हैं—

उच्चैर्गोत्रमभिप्रकाश्य शुभकृद्दिक्चक्रवालं करै—,
राक्रामन् कमलाभिनान्दिभिरनुग्रथ्नन् रथाङ्गोत्सवम् ।
दूरोत्सारितराजमण्डलरुचिः सेव्यो मरुत्खेचरै ,—
रासिन्धोस्तनुते प्रतापमतुलं पुण्यानुगुण्यादिनः ॥ ४१ ॥

जिस प्रकार सूर्य उच्च गोत्र-निषध नामके कुलाचलको प्रकाशित करके कमलाभिनंदी—कमलोंको आनंदित करनेवाले अपने कर-किरणोंके द्वारा प्रतिपक्षियोंसे पूर्ण दिङ्मंडलको आक्रान्त-अभिभूत-व्याप्त करलेता है, अथवा दिशाओंको व्याप्त करता तथा प्रजाको शुभ-कल्याण उत्पन्न करता है। उसी प्रकार स्वामी—चक्रवर्ती भी उच्च गोत्र-इक्ष्वाकु आदि वंशको प्रकाशित कर प्रतिपक्षियोंसे भरे हुए दिङ्मंडलको कमलाभिनंदी—लक्ष्मीको आनंदित करनेवाले या बढानेवाले करों-हाथोंसे आक्रान्त कर अथवा दिशाओंको अभिभूत कर प्रजाकेलिये कल्याणोंको उत्पन्न करता है। जिस प्रकार सूर्य रथांगोत्सव—चकवा चकवीकी प्रीतिको बढाता है उसी प्रकार चक्रवर्त्ती भी रथांगोत्सव-चक्ररत्नके बढे हुए तेजको सर्वत्र फैला देता है। जिस प्रकार सूर्य राजमण्डल—चंद्रमण्डलकी कांतिको दबा देता है उसी प्रकार चक्रवर्त्ती भी राजमंडल—राजाओंके प्रताप या इच्छाओंको दूर करदेता—नष्ट करदेता है। जिस प्रकार सूर्यकी ज्योतिषी देव सेवा करते हैं उसी प्रकार चक्रवर्त्तीकी देव व विद्याधर सेवा करते हैं। इस प्रकार पूर्वकृत पुण्यके प्रतापसे, चक्रवर्त्ती सूर्यके समान अपने अनुपम प्रतापको सिंधुपर्यंत प्रसारित करदेता

है। यहांपर सिन्धु—शब्दका अर्थ समुद्रके सिवाय हिमवन कुलाचल भी समझना चाहिये। क्योंकि सिन्धुनदी जिसमेंसे उत्पन्न होती है वह पद्महृद हिमवन् पर्वतपर ही है। और चक्रवर्तीके राज्यकी सीमामें भी तीन तरफ समुद्र और एक तरफ हिमवन् ही है।

अर्धचक्रवर्त्तिपदकी भी प्राप्ति निदानके साथ किये गये धर्मके ही माहात्म्यसे होती है। यही बात उदाहरणके साथ दिखाते हैं—

छित्त्वा रणे शत्रुशिरस्तदस्तचक्रेण दृप्यन् धरणीं त्रिखण्डाम् ।
बलानुगो भोगवशो भुनक्ति कृष्णो वृषस्यैव विजृम्भितेन ॥४२॥

कृष्णने बल-पराक्रम अथवा बलभद्रका अनुगमन और दर्प—गर्वको प्राप्त कर प्रतिवासुदेवके शिरको उसीके द्वारा चलाये हुए चक्रके द्वारा रणमें काटकर जो तीनखण्ड पृथिवीको—भरतक्षेत्रके विजयार्ध पर्वत तकके उस आधे भागको कि, जिसके गंगा और सिधु नदीके द्वारा छह खंड होगये हैं, प्राप्त किया एवं पुष्पमाला वनिता नागशय्या आदिको जो भोगा सो सब किसके प्रतापसे ? एक निदानसहित किये गये तपके द्वारा संचित पूर्व पुण्यके प्रतापसे ही न !

यहांपर नारायणके उम भोगका कारण धर्मके विजृम्भितको बताया है। विजृम्भित शब्दका अभिप्राय यहांपर निरातिशय पुण्य लेना चाहिये। निरतिशय पुण्य उसको कहते हैं कि जिसके उदयसे ऐसा सुख प्राप्त हो कि जिसका अंत दुःखरूप हो। नारायणका पुण्य भी ऐसा ही होता है। क्योंकि भोगोंके अंतमें उसको नियमसे नरक प्राप्त होता है।

अब यह बताते हैं कि कामदेव पर्याय प्राप्त करना भी धर्मविशेषका ही फल है—

यासां भ्रभङ्गमात्रप्रसरदुरभरप्रक्षरत्सत्वसारा,
वीराः कुर्वन्ति तेपि त्रिभुवनजयिनश्चाटुकारान् प्रसत्त्यै ।
तासामप्यङ्गनानां हृदि नयनपथेनैव संक्रम्य तन्वन्,
याञ्चाभङ्गेन दैन्यं जयति सुचरितः कोपि धर्मेण विश्वम् ॥४३॥

समस्त ससारमे प्रसिद्ध तथा तीनों लोकोंको भी जीतनेकी शक्ति रखनेवाले वीर पुरुष भी जिनका कि सत्त्व और सार-विवेक और बल जिन अङ्गनाओंके केवल कटाक्षपातरूपी बाणके लगते ही उत्पन्न हुए त्रासके बाद्रेकसे समूल नष्ट होजाते है; अत एव उनको प्रसन्न करनेकेलिये चाटुकार-अनुकूल करनेवाले अर्थके द्योतक सराग दीन वचन कहा करते है उन्ही अङ्गनाओंके हृदयमें कोई विरल पुरुष ही ऐसे होते है अथवा काम देव ही ऐसे होते है जो कि केवल दृष्टिमार्गसे ही प्रविष्ट हो जानेपर भी अखण्ड ब्रह्मचर्यके पालन करनेवाले होनेके-कारण उनकी याञ्चाका भंग कर रागके स्थानमे दीनता-उतरे हुए चहरे आदिके द्वारा प्रकट होनेवाले मनस्ताप को बढाते है और पुण्यके प्रतापसे समस्त संसारपर विजय प्राप्त करलेते है ।

भावार्थ—कामदेवोंको पुण्यके प्रतापसे इतना सुंदर रूप प्राप्त होता है कि जिसको देखते ही वे कमनीय कामिनियां भी उनपर मुग्ध हो जाती है कि जिनको तीन लोकके जीतनेकी शक्ति रखनेवाले भी वीर पुरुष वश नही कर सकते। किंतु वे कामदेव उन कामिनियोंकी याञ्चाका इस तरहसे भंग करदेते हैं कि जिससे उनके मुखपर दीनता व्यक्त होने लगती है ।

विद्याधरपना भी धर्मविशेषसे ही प्राप्त होता है, यह बात दिखाते है ।

विद्येशीभूय धर्माद्धरविभवभरभ्राजमानैर्विमानै,—

व्योम्नि स्वैरं चरन्तः प्रिययुवतिपरिस्पन्दसान्द्रप्रमोदाः ।
दीव्यन्तो दिव्यदेशेष्वविहतमणिमाद्यद्भुतोत्सृप्तिदृप्ता,
निष्कान्ताविभ्रमं धिग्भ्रमणमिति सुरान् गत्यहंयून् क्षिपन्ति ॥ ४४ ॥

धर्मके प्रतापसे जीव विद्याओंके स्वामित्व—विद्याधरपनेको प्राप्त कर प्रिय तरुणियोंकी शृंगाररचनाका अत्यंत आनंद लेते हुए ध्वजाओं मालाओं घंटरियांओ घंटाओं आदिके शब्दों तथा झरोखों खिडकियों और मनोहर सुगन्धि आदि श्रेष्ठ विभवसे अत्यंत शोभायमान विमानोंके द्वारा आकाशमें इच्छानुसार विहार करते, और अणिमा महिमा लघिमा गरिमा ईशित्व वशित्व प्राकाम्य कामरूपित्व इन आठ गुणोंके अद्भुत—विस्मय करादेनेवाले उद्गमसे गर्वको प्राप्त कर अस्खलित रूपसे दिव्य देशों-नन्दन वन कुलपर्वत गङ्गादि नदियों तथा समुद्रादिकोंपर क्रीडा करते और मानुषोत्तर पर्वतके बाहर भी जा सकनेके कारण अपने गमनका गर्व रखनेवाले देवोंका भी "जिसमें भ्रू-विकारादिका विभ्रम—विलास नहीं पाया जाता उस भ्रमणको धिक्कार है" इस तरह तिरस्कार कर देते है।

आहारक शरीरकी संपत्ति भी पुण्योदयसे ही प्राप्त होती है, यह दिखाते है—

प्राप्याहारकदेहेन सर्वज्ञं निश्चितश्रुताः ।
योगिनो धर्ममाहात्म्यान्नन्दन्त्यानन्दमेदुराः ॥ ४५ ॥

चारित्रविशेषके द्वारा पूर्वमें संचित किये हुए आहारक शरीरनामा नामकर्मरूपी पुण्यविशेषके माहात्म्यसे

१ क्योंकि देवियोंके नेत्र निर्निमेष होते है। विद्याधरियोंकी तरह उनके नेत्रोंकी टिमकार नहीं लगती।

प्राप्त हुए आहारक शरीरके द्वारा सर्वज्ञदेवके निकट विनयपूर्वक प्राप्त होकर और उससे परमागमके अर्थका निर्णय हो जानेपर प्रमोदसे प्रफुल्लित हुए योगिगण ज्ञान तथा संयमकी समृद्धिमें युक्त हो जाया करते हैं।

भावार्थ—भरत और ऐरावत क्षेत्रमें स्थित संयमियोंको केवलियोंके न रहनेपर जब किसी श्रुतके विषयमें संशय उत्पन्न होता है तब वे तत्त्वका निर्णय करनेकेलिये महाविदेह क्षेत्रमें केवलियोंके निकट औदारिक शरीरके द्वारा जानेसे होनेवाला असंयम न हो इसलिये आहारक शरीरको उत्पन्न करते है। यह शरीर शुद्ध स्फटिकके समान स्वच्छ एक हाथकी बराबर ऊंचा, उत्तमांग—शिरसे निकलता है। यह न किसीसे रुकता और न किसीको रोकता है। केवल अन्तर्मुहूर्तमें ही संशयको दूर करदेता और फिर आकर उसी शरीरमें प्रविष्ट हो जाता है। क्योंकि इस शरीरका केवलि भगवान्‌से साक्षात् होते ही संशय नष्ट होजाया करता है। इस तरहकी अपूर्व ऋद्धिका प्राप्त होना भी पुण्यविशेषका ही माहात्म्य है।

धर्मके प्रतापसे जिनको स्व और परका—आत्मा और शरीरका भेदज्ञान होगया है ऐसे मुनीन्द्र अतीन्द्रिय सुखका संवेदन होजानेके कारण अहमिन्द्र पदका भी परित्याग कर देते हैं, यह बात दिखाते हैं।

कथयतु महिमानं को नु धर्मस्य येन,
स्फुटघटितविवेकज्योतिषः शान्तमोहाः।
समरससुखसंविल्लक्षितात्यक्षसौख्या,
स्तदपि पदमपोहन्त्याहमिन्द्रं मुनीन्द्राः॥ ४६ ॥

जिस धर्मके माहात्म्यसे विवेक-शरीर और आत्माके भेदज्ञानकी ज्योति जिनकी आत्मामें स्पष्टतया प्रकाशित हो चुकी है और शांत होगया है मोह जिनका; तथा यथाख्यात चारित्ररूपी अथवा उससे उत्पन्न होनेवाले

सुखके संवेदनसे जिन्होंने अतीन्द्रिय आत्मिक सुखको प्राप्त करलिया है ऐसे मुनिवर नव ग्रैवेयकसे लेकर सर्वार्थ सिद्धितकके कल्पातीत देवसम्बन्धि लोकोत्तर आहमिन्द्र पदको भी छोड देते है, उस धर्मकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है ? कोई नहीं कर सकता।

भावार्थ —चरम शरीरपदकी प्राप्ति होसके ऐसे पुण्यविशेषका बंध करनेके उन्मुख हो जानेपर भी पुनः शुद्धोपयोगके निमित्तसे उसका बंध न करके उपशमश्रेणिसे उतर कर क्षपकश्रेणिका आरोहण कर जीवन्मुक्त होकर परमोत्कृष्ट मुक्तावस्थाको प्राप्त करते है। इस प्रकार वे महामुनि जो अहमिन्द्र पदका भी परित्याग कर देते है सो सब उस धर्मका ही माहात्म्य है।

अहमिन्द्रोंका स्वरूप आगममें इस प्रकार कहा है—

अहमिन्द्रोस्मि नेन्द्रोन्यो मत्तोस्तीत्यात्तकत्थनाः ।
अहमिन्द्राख्यया ख्याति गतास्ते हि सुरोत्तमाः ॥

मेरे सिवाय और इन्द्र कौन है ? मै ही तो इन्द्र हू। इस प्रकार अपनेको इन्द्र उद्घोषित करनेवाले देव— —कल्पातीत देव अहमिन्द्र नामसे प्रख्यात है। इनमे—

नासूया परनिन्दा वा नात्मश्लाघा न मत्सरः ।
केवल सुखसाद्भूता दीव्यन्त्येते दिवौकसः ॥

न तो असूया[1] है और न मत्सरता ही है, एवं न ये परकी निन्दा करते और न अपनी प्रशंसा ही करते है। केवल परम विभूतिके साथ सुखका अनुभव करते रहते है।

१— गुणोमे दोष प्रकट करना।

गर्भावतारादिक कल्याणोकी आश्चर्यकर विभूति भी सम्यक्त्वके सहचारी पुण्यविशेषसे ही प्राप्त होती है। यही बात दिखाते है।

घोरेष्यन्विश्वपूज्यौ जनयति जनकौ गर्भगोऽतीव जीवो,
जातो भोगान् प्रभुङ्क्ते हरिभिरुपहृतान्मन्दिरान्निष्क्रमिष्यन् ।
ईर्ते देवर्षिकीर्त्तिं सुरखचरनृपैः प्रव्रजत्याहितेज्यः,
प्राप्याहॅन्त्यं प्रशास्ति त्रिजगदाभिनुतो याति मुक्तिं च धर्मात् ॥ ४७ ॥

धर्मके प्रतापसे---सम्यक्त्वसहचारी पुण्यकी सामर्थ्यसे यह जीव स्वर्गसे उतरकर माताके गर्भमें आनेसे पहले ही माता और पिता दोनोंको समस्त संसारसे पूज्य बनादेता है। बल्कि गर्भमें आनेपर तो अत्यत ही पूज्य बनादेता है। क्योंकि तीर्थकरके उत्पन्न होनेसे छह महीना पहले ही उनके पुण्यके माहात्म्यसे माता और पिता जगत्पूज्य हो जाया करते है—देव और देवियां भी उनकी पूजा किया करती है। इसी प्रकार यह जीव उत्पन्न होनेपर उस धर्मके माहात्म्यसे सौधर्मादि स्वर्गके इन्द्रोंके द्वारा लाये हुए भोगोपभोगके इष्ट विषयोंको भोगता है। तथा द्रव्य और भावरूप महलसे निकल कर जानेकी इच्छा करनेपर–तप करनेकी भावना करते ही इस जीवकी देवर्षी—नियोगी लौकांतिक देव स्तुति करते है। और देव विद्याधर तथा राजा महाराजाओंके द्वारा पूजित होनेपर दीक्षा ग्रहण करता। एवं आर्हन्त्य–केवलज्ञानको प्राप्त कर यह जीव उसी धर्मके माहात्म्यसे तीनो लोकोंको-समस्त संसारके हितका उपदेश देता है जिससे कि उसकी ऋषि-गणधर देवादिक भी स्तुति करते है। अंतमें यह जीव उसी धर्मके प्रतापसे परमपद–मोक्षस्थानको प्राप्त करलेता है। क्योंकि पहले मुख्य धर्मका जो स्वरूप बताया गया है उसमे ऐसी सामर्थ्य है कि जिससे समस्त कर्मोका नाश होकर निर्वृति पदकी प्राप्ति हो सके।

जिस प्रकार धर्म-पुण्यके उदय होनेपर संपत्तियोंका उपभोग और अनुदय होनेपर अनुपभोग हुआ

करता है उसी प्रकार अधर्मका उदय होनेपर विपत्तियोंका उपभोग और अनुदय होनेपर उनका अनुपभोग हुआ करता है। यही बात दिखाते हैं: —

धर्म एव सता पोष्यो यत्र जाग्रति जाग्रति ।
भक्तं मीलति मीलन्ति संपदो विपदोऽन्यथा ॥ ४८ ॥

विचारपूर्वक कार्य करनेवाले सत्पुरुषोंको चाहिये कि वे उस धर्मको ही सदा पुष्ट करे कि जिसके जाग्रत होते ही अपने स्वामीकी सेवा करनेकेलिये समस्त संपत्तियां जाग्रत हो उठतीं और जिसके विराम लेते ही वे भी विराम लेलेती है। उस अधर्मको कभी पुष्ट न करना चाहिये कि जिसके जाग्रत होनेपर समस्त विपत्तियां जाग्रत होतीं और संपत्तियां नष्ट होजाती है। जिस प्रकार राजाओंकी सेवा करनेकेलिये वाराङ्गनाएं परिकरके सावधान रहनेपर सावधान और असावधान रहनेपर असावधान रहा करती है, उसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये।

इस प्रकार धर्म सुखका उत्पन्न करनेवाला है यह बात बताकर अब यह बताते है कि उससे दुःखकी निवृत्ति भी होती है। इस बातको चौदह श्लोकोंमें स्पष्ट करेंगे, जिनमेंसे निम्नलिखित पद्यमें यह दिखाते है कि दुर्गम देशोंमें धर्म जीवका किस प्रकार उपकार करता है: —

कान्तारे पुरुपाकसत्त्वविगलत्सत्त्वेम्बुधौ बम्भ्रमत, —
ताम्यन्नक्रपयस्युदर्चिषि मरुच्चक्रोच्चरच्छोचिषि ।
संग्रामे निरवग्रहद्विषदुपस्कारे गिरौ दुर्गम, —
ग्रावग्रन्थिलदिङ्मखेप्यशरणं धर्मो नरं रक्षति ॥ ४९ ॥

प्रचुरतया पाये जानेवाले क्रूर सिंह व्याघ्र आदिक जीवोंके द्वारा जहांपर दूसरे प्राणी अथवा उनके प्राण नष्ट करदिये जाते हैं ऐसे दुर्गम अरण्यमें, तथा जिसके जलमें कुटिलता और बहुलतासे दूसरोंको खिन्न करनेवाले नक्रादिक भयंकर जीव इधर उधर घूम रहे हैं ऐसे समुद्रमें, एवं वायुके वेगके निमित्तसे जिसकी ज्वालाएं खूब ऊपरको उठ रही हैं ऐसी अग्निमें, और शत्रुओंका प्रतियत्न जिसमें निरंकुशतासे फैला हुआ है ऐसे संग्राममें, तथा कष्टके साथ जिनको लांघा जा सके ऐसी शिलाओंके द्वारा जिनका चारों तरफका भाग ग्रन्थिल–निम्नोन्नत हो रहा है ऐसे पर्वतपर, इत्यादि और भी अनेक दुर्गम स्थानोंमें जहांपर कि इस जीवका कोई भी शरण नहीं हो सकता; यह धर्म ही उसकी रक्षा करता है।

यह धर्म नाना प्रकारकी दुरवस्थाओंसे ग्रस्त जीवका उद्धार करता है; यह बात दिखाते हैं:—

क्षुत्क्षामं तर्षतप्तं पवनपरिधुतं वर्षशीतातपार्तं, ।
रोगाघ्रातं विषार्तं ग्रहरुगुपहतं मर्मशल्योपतप्तम् ।
दूराध्वानप्रभग्नं प्रियविरहबृहद्धानुदूनं सपत्न,—
व्यापन्नं वा पुमांसं नयति सुविहितः प्रीतिमुद्धृत्य धर्मः ॥ ५० ॥

क्षुधा–बुभुक्षासे क्षीण हुए, तृषा–पिपासासे संतप्त हुए, वायुमंडलमें पडजानेके कारण चारों तरफको उडते हुए, वर्षा शीत या आतप–धूपसे आतुर हुए, जरा आदि व्याधियोंने ग्रस्त हुए, विष अफीम आदि जहरीले पदार्थोंसे पीडित हुए, ब्रह्मराक्षसादिक अथवा शनैश्चरादिक ग्रहोंकी पीडासे उपहत हुए, मर्मों तक पीडा उपस्थित करनेवाली शल्यसे अत्यंत व्यथित हुए, सुदूर मार्गमें चलनेके कारण अत्यंत श्रांत हुए, अपने प्रिय पुत्र मित्र कलत्र बन्धु बान्धवादिकोंके विरहरूपी अग्निसे झुलसते हुए, शत्रुओंके द्वारा विविध प्रकारकी

आपत्तियोंमे फंसाये हुए, किं बहुना और भी अनेक प्रकारकी दुरवस्थाओंमें घिरे हुए इस मनुष्यका उद्धार कर— उसे उन क्षुदादि दुःखोंसे निकाल कर, भले प्रकार पाला गया धर्म ही, प्रमोदको प्राप्त कराता है।

उक्त धर्मका समर्थन करनेकेलिये तीन श्लोकोंमे क्रमसे सगर मेघवाहन और रामचंद्रको दृष्टांतरूपमें उपस्थित करते हैं।

सगरस्तुरगेणैकः किल दूरं हृतोऽटवीम्।
खेटैः पुण्यात्प्रभूकृत्य तिलकेशीं व्यवाह्यत ॥ ५१ ॥

आगमके द्वारा यह बात माऌम होती है कि एकाकी द्वितीय चक्रवर्त्ती सगरको जब घोडा सुदूरवर्ती अटवीमें हरकर लेगया तब वहापर पूर्व पूण्यके प्रतापसे सगरने सहस्रनयन आदि विद्याधरोंके द्वारा अपनेको सेवक और सगरको स्वामी मानकर दीगई तिलकेशी नामकी विद्याधरकन्या-स्त्रीरत्नके साथ विवाह किया।

दूसरा मेघवाहनका उदाहरण—

कीर्णे पूर्णघने सहस्रनयनेनान्वीथमाणोऽजित,
सर्वज्ञं शरणं गतः सह महाविद्या श्रिया राक्षसीम्।
दत्त्वा प्राग्भवपुत्रवत्सलतया भीमेन रक्षोन्वय,-
प्राज्योऽरच्यत मेघवाहनखगः पुण्यं क्व जागर्ति न ॥ ५२ ॥

१ इनकी और आगेके मेघवाहन तथा रामचंद्रजीकी कथा पद्मपुराणमें देखनी चाहिये

जब सुलोचनके पुत्र सहस्रनयनके द्वारा सुलोचनको मारनेवाला अपना पिता पूर्णघन मारा गया तब उसकी सेनाके द्वारा भगाया गया मेघवाहन समवसरणमें स्थित द्वितीय तीर्थंकर श्री अजितनाथ भगवान् सर्वज्ञ देवकी शरणमें जाकर उपस्थित हुआ। वहांपर पूर्णघनके चरभीम नामके राक्षसेन्द्रने पूर्वजन्मके पुत्रकी प्रीतिके वश होकर उसको नवग्रह नामका हार लङ्का और लङ्कोदर नामके दो नगर एवं कामग नामक विमान प्रभृति विभूतिके साथ २ राक्षसी नामकी महाविद्या देकर राक्षस वंशका आदिपुरुष बना दिया। इसलिये कहना पडता है कि सुखसंपादन या दुःखोच्छेदनरूप ऐसा कोनसा कार्य है कि जिसमें धर्म व्यापृत न होता हो। अर्थात् सुख-प्राप्ति या दुःखविनाश सभी कार्य ऐसे हैं कि जो धर्मकी सहायतासे ही सिद्ध हुआ करते हैं। कोई भी कार्य धर्मकी सहायताके विना सिद्ध नहीं हो सकता।

तीसरा उदाहरण रामचंद्रजीका देते हैं—

राज्यश्रीविमुखीकृतोऽनुजहृतैः काल हरंस्त्वक्फलैः,
संयोगं प्रियया दशास्यहृतया स्वप्नेप्यसंभावयन्
क्लिष्टः शोकविषार्चिषा हनुमता तद्वार्तयोज्जीवितो,
रामः कीशबलेन यत्तमवधीत् तत्पुण्यविस्फूर्जितम् ॥ ५२ ॥

रामचंद्रजीको जब उनके पिता दशरथ महाराजने राज्यलक्ष्मीसे विमुख कर दिया उस समय वे अपने छोटे भाई लक्ष्मणके द्वारा लाये हुए जंगली वल्कलों और फलोंसे अपना काल यापन करने लगे किंतु ऐसे समयमें जब उनकी प्रिया सीताको दशमुख रावण ही हर लेगया तब तो वे अपनी उस प्रियासे पुनः स्वप्नमें भी संयोग होगा इस बातको असंभव समझने लगे। और इसीलिये शोकरूपी विषकी ज्वालाओंसे संतप्त होगये। किंतु यह उनके पुण्यका ही माहात्म्य था जो कि उसी समय हनूमान आकर प्राप्त हुए—मिले. और उ-

न्होने सीताका समाचार सुनाकर उस शोकविषकी मूर्च्छासे उन्हें उज्जीवित-सचेत किया। तथा इस तरह सावधान होकर उन्होंने वानरोंकी सैन्यकी सहायतासे उस रावणका वध किया।

यह धर्म नरकमें भी घोर उपसर्गोंको दूर करता है यह बताते हैं:—

श्लाघे कियद्वा धर्माय येन जन्तुरुपस्कृतः।
तत्त्वादृगुपसर्गेभ्यः सुरैः श्वभ्रेऽपि मोच्यते॥ ५४॥

धर्मके माहात्म्यका वर्णन हो नहीं सकता। इसीलिये कहते है कि हम उसकी कहांतक प्रशंसा—स्तुति करे कि जिसके द्वारा अथवा, नारकियों और संक्लिष्ट सुरोंके द्वारा उदीरित घोर दुःखोंसे देवों—कल्पवासी देवोंके द्वारा नरकमें भी मुक्त करदिया जाता है। क्योंकि छह महीना आयु बाकी रहनेवाले नारकियोंके उपसर्गोंको देवगण दूर करदिया करते है। जैसा कि आगममें भी कहा है—

तित्थयरसत्तकम्मे उवसग्गणिवारणं कुणति सुरा।
छम्माससेस णरये सग्गे अमिलाणमालाओ॥

नरकमें ऐसे नारकियोंके उपसर्गोंको कि जिसके तीर्थंकर नामकर्म सत्तामें बैठा हुआ है और उनकी आयु छह महीना मात्र शेष रही है, कल्पवासी देव दूर कर देते है। इसी प्रकार स्वर्गमें भी उन देवोंकी जिनके कि तीर्थंकर नामकर्म सत्तामें बैठा हुआ है और आयुका छह महीना मात्र काल शेष रहा है, दूसरे देवोंकी तरह मंदारमालाएं म्लान नहीं हुआ करतीं।

धर्मका आचरण करते हुवे भी यदि विपत्तियां आकर संतप्त करें तो उनकी निवृत्तिकेलिये धर्मको ही पुनः सबल बनानेका उपदेश देते है।

व्यभिचरति विपक्षक्षेपदक्षः कदाचिद्-
बलपतिरिव धर्मो निर्मलो न स्वमीशम् ।
तदभिचरति काचित्तत्प्रयोगे विपच्चे-
त्तत्तु पुनरभियुक्तैस्तद्धुपाज क्रियेत ॥ ५५ ॥

जिस प्रकार प्रतिपक्षी शत्रुओंका निवारण करनेमें अत्यंत दक्ष और निर्दोप सेनापति रत्न अपने स्वामी चक्रवर्त्तीसे कभी विरुद्ध नहीं होता उसी प्रकार विपक्षी अधर्म और उसके कार्योंका निवारण करनेमें समर्थ एवं निर्मल-अतीचाररहित पालन किया गया धर्म भी अपने स्वामी प्रयोक्ता-धर्मात्मामें कभी विरुद्ध नहीं होता। अतएव विपक्षी और उसके कार्या-विपत्तियोंको दूर करनेकेलिये सेनापतिकी तरह धर्मको ही प्रयुक्त करना चाहिये। किंतु ऐसा करनेपर भी यदि कोई देवकृत मनुष्यकृत तिर्यचकृत या अचेतनकृत विपत्तियां आकर प्राप्त हो तो जिस प्रकार उद्युक्त सत्पुरुषोंके द्वारा उस सेनापतिको ही फिरसे सबल बनाया जाता है उसी प्रकार उद्युक्त समीचीन उपायोंके द्वारा उस धर्मको ही फिरसे सबल बनाना चाहिये। क्योंकि धर्म और अधर्म इनमें जो सबल होगा वही जीतेगा।

जिसका निवारण न किया जा सके ऐसे दुष्कृत-पापको अपना फल देनेमें प्रवृत्त होनेपर धर्म पुरुषका उपकार ही करता है ऐसा उपदेश देते हैं।—

यज्जीवेन कषायकर्मठतया कर्मार्जितं तद् ध्रुवं,
नाभुक्तं क्षयमृच्छतीति घटयत्युच्चैः कट्टनुद्धटम् ।
भावान् कर्मणि दारुणेपि न तदेवाप्नोति नोपेक्षते ,

न्होंने सीताका समाचार सुनाकर उस शोकविषकी मूर्च्छासे उन्हें उज्जीवित-सचेत किया। तथा उस तरह सावधान होकर उन्होंने वानरोंकी सैन्यकी सहायतासे उस रावणका वध किया।

यह धर्म नरकमें भी घोर उपसर्गोंको दूर करता है यह बताते हैं:—

श्लाघे कियद्वा धर्माय येन जन्तुरुपस्कृतः।
तत्तादृगुपसर्गेभ्यः सुरैः श्वभ्रेपि मोच्यते ॥ ५४ ॥

धर्मके माहात्म्यका वर्णन हो नहीं सकता। इसीलिये कहते हैं कि हम उसकी कहांतक प्रशंसा—स्तुति करें कि जिसके द्वारा अथवा, नारकियों और संक्लिष्ट सुरोंके द्वारा उदीरित घोर दुःखोंसे देवों—कल्पवासी देवोंके द्वारा नरकमें भी मुक्त करदिया जाता है। क्योंकि छह महीना आयु वाकी रहनेवाले नारकियोंके उपसर्गोंको देवगण दूर करदिया करते हैं। जैसा कि आगममें भी कहा है—

तित्थयरसत्तकम्मे उवसग्गणिवारणं कुणंति सुरा।
छम्माससेस णरये सग्गे अमिलाणमालाओ ॥

नरकमें ऐसे नारकियोंके उपसर्गोंको कि जिसके तीर्थंकर नामकर्म सत्तामें बैठा हुआ है और उनकी आयु छह महीना मात्र शेष रही है, कल्पवासी देव दूर कर देते हैं। इसी प्रकार स्वर्गमें भी उन देवोंकी जिनके कि तीर्थंकर नामकर्म सत्तामें बैठा हुआ है और आयुका छह महीना मात्र काल शेष रहा है, दूसरे देवोंकी तरह मंदारमालाएं म्लान नहीं हुआ करतीं।

धर्मका आचरण करते हुवे भी यदि विपत्तियां आकर संतप्त करें तो उनकी निवृत्तिकेलिये धर्मको ही पुनः सबल बनानेका उपदेश देते हैं।

व्यभिचरति विपक्षक्षेपदक्षः कदाचिद्-
बलपतिरिव धर्मो निर्मलो न स्वमीशम् ।
तदभिचरति काचित्तत्प्रयोगे विपच्चे-
त्स तु पुनरभियुक्तैस्तद्धुपाज क्रियेत ॥ ५५ ॥

जिस प्रकार प्रतिपक्षी शत्रुओंका निवारण करनेमें अत्यत दक्ष ओर निर्दोप सेनापति रत्न अपने स्वामी चक्रवर्त्तीसे कभी विरुद्ध नहीं होता उमी प्रकार विपक्षी अधर्म और उसके कार्योंका निवारण करनेमें समर्थ एवं निर्मल-अतीचाररहित पालन किया गया धर्म भी अपने स्वामी प्रयोक्ता-धर्मात्माने कभी विरुद्ध नही होता । अतएव विपक्षी ओर उसके कार्यों-विपत्तियोंको दूर करनेकेलिये सेनापतिकी तरह धर्मको ही प्रयुक्त करना चाहिये । किंतु ऐसा करनेपर भी यदि कोई दैवकृत मनुष्यकृत तिर्यंचकृत या अचेतनकृत विपत्तिया आकर प्राप्त हों तो जिस प्रकार उद्युक्त सत्पुरुषोंके द्वारा उस सेनापतिको ही फिरसे सबल बनाया जाता है उसी प्रकार उद्युक्त समीचीन उपायोंके द्वारा उस धर्मको ही फिरसे सबल बनाना चाहिये । क्योंकि धर्म और अधर्म इनमें जो सबल होगा वही जीतेगा ।

जिसका निवारण न किया जा सके ऐसे दुष्कृत-पापको अपना फल देनेमें प्रवृत्त होनेपर धर्म पुरुषका उपकार ही करता है ऐसा उपदेश देते है ।—

यत्तीव्रेन कपायकर्मठतया कर्मार्जितं तद् ध्रुवं,
नाभुक्तं क्षयमृच्छतीति घटयत्युच्चैः कटूनुद्भटम् ।
भावान् कर्मणि दारुणेपि न तदेवान्वोति नोपेक्षते ,

धर्मः किंतु ततस्त्रसन्निव सुधां स्नौति स्वधाम्न्यस्फुटम् ॥ ५६ ॥

जिस समय यह दारुण-सुशक्य या दुःशक्य है प्रतीकार जिसका ऐसा कर्म अत्यंत घटाटोपके साथ अतिशय कटु-हालाहल विषके समान सर्प विष कण्टक आदि अपने फलभूत अनिष्ट पदार्थोंको उत्पन्न करता है उस समय यह धर्म न तो उसका अनुवर्तन- साहाय्य ही करता है और न उस कर्मसे पीडित होते हुए अपने स्वामी धर्मात्माकी उपेक्षा ही करता है।

यहांपर प्रश्न हो सकता है कि जब धर्मसरीखा निष्कपट बंधु उपस्थित है फिर भी यह अधमशत्रु अपना विलास इस तरहसे क्यों दिखाता है? इसका उत्तर यह है कि क्रोध मान माया आदि कषायों और उससे अनुरंजित मन वचन कायकी प्रवृत्तियोंमें कर्मपर होकर इस जीवने पूर्व कालमें जिन कर्मोंका संचय किया है वे ध्रुव हैं-उनका तबतक विनाश नहीं हो सकता जबतक कि उनका फल न भोगलिया जाय.

यहांपर पुनः प्रश्न हो सकता है कि यदि यही बात है तो विपक्षी अधर्मका साहाय्य न कर तथा अपने स्वामीकी उपेक्षा न करके भी धर्म क्या करता है? इसका उत्तर यह है कि धर्म अस्फुट अप्रकट रूपसे-बाह्य लोकोंकी दृष्टिमें न आसके इस तरहसे अपने आश्रयभूत धर्मात्मा पुरुषकी आत्मामें सुधा-अमृत-सर्वाङ्गीण आनंदका सिंचन करता है। प्रकटतया क्यों नहीं करता? तो मालुम होता है कि वह भी उस अधर्मसे भय खाता है—डरता है।

---

१ लतादार्वस्थिपाषाणशक्तिभेदाच्चतुर्विधः ।
स्याद् घातिकर्मणा पाकोन्येषा निम्बगुडादिवत् ॥

घातिकर्मोंका उदय शक्तिभेदकी अपेक्षा लता दारू-लकडी अस्थि और पाषाण इस तरह चार प्रकारका होता है। और अघातिकर्मोंमें पापकर्मका रस निंब काजीर विष हालाहल इस तरह चार प्रकारका और पुण्य कर्मका रस गुड खाड शक्कर और अमृत इस तरह चार प्रकारका होता है।

२ यह बात उत्प्रेक्षा अलंकारके द्वारा कही गई है।

भावार्थ--साधारण लोग दुर्वार पापकर्मके उदयसे तरा-ऊपर उत्पन्न हुए उपसर्गों-दुःखोंको ही देख सकते है किंतु धर्मके प्रतापसे मनुष्यके सत्त्व और उत्साह गुणमें जो बल उत्पन्न होता है जिससे कि वह उन दुःखोंसे अभिभूत नहीं होता उसको वे नहीं देख सकते।

दो पद्योंमें पापके अपकार और पुण्यके उपकारको दृष्टांतद्वारा दृढ करते है-

तत्तादृक्कमठोपसर्गलहरीसर्गप्रगल्भोष्मणः,
किं पार्श्वे तमुदग्रमुग्रमुदयं निर्वच्मि दुष्कर्मणः।
किंवा तादृशदुर्दशाविलसितप्रध्वंसदीप्रौजसो,
धर्मस्योरु विसारि सख्यमिह वा सीमा न साधीयसाम् ॥ ५७ ॥

हम तेईसवे तीर्थकर श्री पार्श्वनाथ भगवान्‌के दुष्कर्मके उस-आगमप्रसिद्ध और उदग्र--उच्छ्रित एवं उग्र--दुःसह उदयका कहांतक वर्णन कर सकते है कि जिसका अनुभाग--सामर्थ्य पूर्व वैर के कारण नाना भवोंमे भ्रमण कर महासुरत्वको प्राप्त करनेवाले कमठके द्वारा वज्रपात, अद्भुत पञ्चवर्ण मेघ, अत्यंत उग्र वायु, आयुधोंके द्वारा घात, अप्सराओंके द्वारा उपचार, अग्निके द्वारा जलना, समुद्रका तूफान, अजगरोंका उपनिपात, भूतोंका नृत्य, प्रचण्ड बिजलीकी वर्षा, वृक्षोंका उखडकर गिरना, घोर मेघपटलोंका उठना इत्यादि और भी अनेक किये गये उन प्रसिद्ध और अनुपम उपसर्गोंकी लहरी-परम्पराके उत्पन्न करनेमे समर्थ है। इसी प्रकार हम उस धर्मकी महान् एवं सर्वत्र और सर्वदा अपना कार्य करनेवाली मैत्रीका भी कहांतक वर्णन कर सकते हैं कि जिसका ओज-तेज इन्द्रके द्वारा नियुक्त हुए यक्ष धरणेन्द्र और पद्मावतीके द्वारा भी निवारण न किया जाकर, ऐसी पार्श्वप्रभुकी उस दुरवस्थाके विलास-स्वतंत्रतया दुःख देनेकी सामर्थ्यके अत्यंत ध्वस्त करनेमे प्रदीप्त-अधिकाधिक रूपमें ही प्रकाशित होता गया। अथवा ठीक ही है-इस संसारमे अतिशय शालियोंकी सीमा नहीं है।

दूसरा उदाहरणः—

प्रद्युम्नः षडहोद्भवोऽसुरभिदः सौभागिनेयः क्रुधा,
हृत्वा प्राग्विगुणोऽसुरेण शिलयाऽऽक्रान्तो वने रुन्द्रया ।
तत्कालीनविपाकपेशलतमैः पुण्यैः खगेन्द्रात्मजी,—
कृत्याऽलभ्यत तेन तेन जयिना विद्याविभूत्यादिना ॥ ५८ ॥

प्रद्युम्न यद्यपि असुरोंका विनाश करनेवाले वासुदेवकी अत्यंत वल्लभा रुक्मिणीका पुत्र था; फिर भी जिस समय वह केवल छह दिनका था उसी समय उसको असुर–ज्वलितधूमशिख नामका दैत्य क्रोधके वश होकर महाखदिरा नामकी अटवीमें हर कर लेगया; क्योंकि पूर्व भवमे–मधुराजाकी पर्यायमें प्रद्युम्नके जीवने उसकी वल्लभाका हठपूर्वक हरण कर अपकार किया था। उस अटवीमे एक बडी भारी शिलाके नीचे प्रद्युम्नको दाबकर ऊपरसे पीडित किया। किंतु तत्काल ही उदयमे आये हुए और इसीलिये अत्यंत मधुर पुण्यकर्मके प्रतापसे विद्याधरोंके निःसंतान स्वामी–कालसंवरने उसको अपना पुत्र बनालिया। और अंतमे वह कालसंवरके भी सौ पुत्रोंको पराजित कर प्राप्त की गई विजयके साथ साथ प्रज्ञप्ती आदि विद्याओं तथा विद्याधरत्वके प्राप्त करानेमे समर्थ विभूतियों—सोलह अद्भुत लाभोंसे युक्त हुआ। तथा उसके ऊपर आई हुई और भी अनेक प्रकारकी आपत्तियां शांत हुई जिनका कि विशद वर्णन उनके चरित्रमे पाया जाता है।

मंत्रादिकके प्रयोगका भी विपत्तियोंका निवारण करनेकेलिये शिष्ट पुरुष व्यवहार किया करते है; फिर आप यह किस तरह प्रकाशित करते है कि उन विपत्तियोंको दूर करनेमें पुण्य ही समर्थ है? आपका कथन विरुद्ध क्यो नहीं है? इसका उत्तर देते हैः–

यश्चानुश्रूयते हर्तुमापदः पापपाक्त्रिमाः ।

उपाय: पुण्यसद्बन्धुं सोप्युत्थापयितुं परम् ॥ ५९ ॥

आप्ताभासोंके बताये हुए उपायकी तो बात क्या! उसका तो शिष्ट पुरुष व्यवहार ही क्या करेंगे! किंतु पापकर्मके उदयसे प्राप्त हुई आपत्तियोंके दूर करनेके जो उपाय— सिद्धमंत्रादिकके प्रयोग आप्त भगवान्की उपदेशपरम्पराके अनुसार सुननेमें आते हैं वे भी केवल उस विना कारणके समीचीन बन्धु पुण्यकर्मको ही जाग्रत करनेकेलिये — अपने कार्यमें प्रवृत्त करनेकेलिये है।

पुण्यकर्म यदि उदयके संमुख हो तो और यदि उससे विमुख हो तो दोनों ही अवस्थाओंमें सुखके साधन व्यर्थ हैं। इसी बातको दिखाते हैं:-

पुण्यं हि संमुखीनं चेत्सुखोपायशतेन किम्।
न पुण्यं संमुखीनं चेत्सुखोपायशतेन किम् ॥ ६० ॥

पुण्य यदि उदयके समुख है- अपना फल देनेमें प्रवृत्त है तो दूसरे सैकडों सुखके उपायोंमें भी क्या प्रयोजन? क्योंकि उसके उदयसे स्वयं ही सुख प्राप्त होगा। इसी प्रकार यदि पुण्यकर्म उदयमें नहीं आरहा है तो भी उस सुखके बहुतसे उपायोंकी भी क्याआवश्यकता है? क्योंकि विना पुण्यके वे अपना फल ही नहीं दे सकते।

पुण्य और पापमें बलाबलका विचार करते हैं:—

शीतोष्णवत्परस्परविरुद्धयोरिह हि सुकृतदुष्कृतयोः।
सुखदुःखफलोद्भवयोर्दुर्बलमभिभूयते बलिना ॥ ६१ ॥

सुकृत और दुष्कृत—पुण्य और पाप इन दोनोंका फल क्रमसे सुख और दुःख है। सुकृतका फल सुख और

दुष्कृतका फल दुःख है। अत एव इन दोनोंकी प्रवृत्ति शीत उष्णकी तरहसे परस्परमें विरुद्ध है। ये दोनो ही परस्परमें एक दूसरेकी शक्तिके घातने वाले हे। जिस प्रकार यदि शीत बलवान् हो तो वह उष्ण स्पर्शकी शक्तिको दूर करदेता है। और उष्ण स्पर्श बलवान् हो तो शीत स्पर्शकी शक्तिको नष्ट कर देता है। इसी तरह इन दोनोंमें भी जो बलवान् होता है वह दूसरे दुर्बलको दबा देता है।

शुरू ही किया हुआ धर्म भी पापके उदयको दबादेता है यह बात दिखाते हैं:—

धर्मोनुष्ठीयमानोपि शुभभावप्रकर्षतः।
भङ्क्त्वा पापरसोत्कर्षं नरमुन्मोचयत्यरम् ॥ ६२ ॥

पूर्वार्जित धर्मकी तो बात ही क्याः किंतु उस धर्मका हालमें ही आचरण शुरू किया हो तो भी वह धर्म पापके रसको नष्ट करदेता है और उस आचरण करनेवाले मनुष्यका आपत्तियोंसे छुटकारा करा देता है। इसका कारण शुभ भावोंका प्रकर्ष है।

इस प्रकार धर्मके माहात्म्यका जो कुछ वर्णन किया जा चुका है उसका उपसंहार करते हुए उसे आराधन करनेकेलिये भव्य श्रोताओंको प्रोत्साहित करते हैं:—

तत्सेव्यतामभ्युदयानुषङ्गफलोऽखिलक्लेशविनाशनिष्ठः ॥
अनन्तशर्मामृतदः सदार्यैर्विचार्य सारो नृभवस्य धर्मः ॥ ६३ ॥

क्योंकि इस धर्मका प्रभाव नित्य एव अचिन्त्य है जैसा कि पहले बताया जा चुका है, इसलिये इसको मनुष्यजन्मका सार समझ कर आर्यों–विचारपूर्वक कार्य करनेवालोंको इसका अच्छी तरह विचार कर–प्रत्यक्ष अनुमान और आगमके द्वारा व्यवस्थित–प्रमाणित करके नित्य ही सेवन करना चाहिये। क्योंकि यह धर्म अनंत–जिसकी

कोई सीमा नहीं ऐसे शर्म–आत्मिक सुखरूपी अमृतको देनेवाला, अथवा वहुत कालतक जिसका अनुभव किया जा सके ऐसे सांसारिक सुखरूपी अमृतका देनेवाला है। संसारके समस्त क्लेशों–संतापोंको दूर करनेमें यह तत्पर है। और इसके निमित्तसे ही उत्कृष्ट देवपद अथवा मनुष्योंमें चक्रवर्त्ती या तीर्थकर आदि पद अथवा और अनेक प्रकारके अभ्युदय फल प्राप्त होते है। किंतु ये सब इसके गौण फल हैं। अथवा जिस पुण्यके उदयसे ये अभ्युदय प्राप्त होते है उस पुण्यकी प्राप्ति भी इस धर्मका ही एक गौण फल है।

यह सब होते हुए भी समस्त अभ्युदयोंमे उत्कृष्ट यह मानव जीवन भी निःसार ही है, इसी बातपर बाईस पद्योंमे विचार करते हैं। जिसमें सबसे पहले यहांपर शरीरके ग्रहण करनेमें जो दुःख होते हैं उनको बताते हैः–

प्राङ्मृत्युक्लेशितात्मा द्रुतगतिरुदरावस्करेऽह्नाय नार्याः,
संचार्याहार्य शुक्रार्तवमशुचितरं तन्निगीर्णान्नपानम्।
गृद्ध्याऽश्नन् क्षुत्तृषार्तः प्रतिभयभवनाद्भित्रसन्पिण्डितो ना,
दोपाद्यात्माऽतिशातं चिरमिह विधिना ग्राह्यतेऽङ्गं वराकः ॥ ६४ ॥

पूर्व भवमें मृत्युने जब इस जीवको अत्यंत क्लेशित–नाना प्रकारके दुःखोंसे पीडित किया तब यह वहांसे शीघ्र निकलकर भागा। किंतु प्राक्तन कर्मने इसको फिर भी शीघ्र ही–एक दो या तीन ही समयमें स्त्रीके उदररूपी संडासमे प्रविष्ट कर दिया और वहांपर इसको अत्यंत अशुचि पिताके शुक्र और माताके रजके समूहको ग्रहण कराया। अत्यंत इसलिये कि मलमूत्रादिकमें जब भिन्न भिन्न एक एक चीज भी अशुचि है तब सबका समूह तो अवश्य ही अत्यंत अशुचि होगा। किंतु जब यह जीव उस जगह भी क्षुधा और तृषाके कारण अत्यंत पीडित हुआ तब उसने गृद्धि–भोजनकी तीव्र लालसासे उस स्त्रीके–माताके ही खाये हुए अन्नपानको वहांपर ग्रहण किया। जिस समय माता निम्नोन्नतादि स्थानोंमें गमन करती उस समय उससे उत्पन्न हुए क्षोभके कारण विविध प्रकारसे डरकर गर्भमें अपने प्रदेशोंको संकुचित करके रहने लगा। इस प्रकार नाना दुःखोंसे परतंत्र रहनेके

कारण अनुकम्प्य और मनुष्यगति नाम कर्मका जिसके उदय हो आया है ऐसे इस जीवको इस मनुष्य पर्यायमें नित्य ही दुःखोंसे पीडित और साक्षात् दोषादिकका पिण्ड—वात पित्त कफ इन तीन दोषों, और रस रुधिर मांस मेदा अस्थि मज्जा और शुक्र इन सप्त धातुओं, तथा विष्टा मूत्र पसीना नाक कीचड थूक आदि मलोंकी मूर्ति ऐसा शरीर प्राक्तन कर्मने चिरकाल तक या चिरकालमें-नव या दश महीनामें ग्रहण कराया। जैसी कि गर्भकी यह अवस्था निम्नलिखित दो पद्योंमें भी कही है—

कललकलुषस्थिरत्वं पृथग्दशाहेन बुद्बुदोथ घन ।
तदनु तत पलपेश्यथ क्रमेण मासेन पञ्चपुलकमत ॥
चर्मनखरोमसिद्धि स्यादङ्गोपाङ्गसिद्धिरथ गर्भे ।
स्पन्दनमष्टममासे नवमे दशमेथ नि सरणम् ॥

माता पिताके रजवीर्यका मिला हुआ भाग गर्भमें दश दिनमें स्थिर होता है। इसके बाद दश दिनमें उसका बुद्बुद बनता और उसके बाद दश दिनमें वह सघन होता है। इसके बाद मांसपेशी आदि बनती और एक एक महीनेके क्रमसे चर्म नख रोमकी सिद्धि तथा अंगोपांगकी सिद्धि होती है। आठवें महीनेमें यह जीव गर्भमें हिलने चलने लगता है और नौवें या दशवें महीनेमें बाहर निकलता है।

गर्भके अनंतर प्रसव होनेमें जो क्लेश होते हैं उनको बताते हैं।

गर्भक्लेशानुद्रुतेर्विद्रुतो वा निन्द्यद्वारेणैव कृच्छ्राद्विवृत्त्य ।
निर्यस्तत्तद्दुःखदत्त्याऽकृतार्थो नूनं दत्ते मातुरुग्रामनस्यम् ॥ ६५ ॥

पूर्वोक्त प्रकारसे जब गर्भके क्लेश इस जीवके पीछे पडे तब उनसे मानो त्रस्त होकर और दूसरा कोई मार्ग न पाकर यह नीचेको मुख करके बडे कष्टके साथ निन्द्य द्वारसे ही बाहर निकल पडा। मालुम पडता है, मानो

गर्भमें आनेके समयसे माताको जो जो इसने कष्ट दिये उनसे इसका मनोरथ पूर्ण न हो सका इसीलिये अब उसको अपने प्रसवसे उत्पन्न भयानक दुःख देनेकेलिये पुनः प्रवृत्त हुआ है।

जन्म लेनेके बाद जो जो क्लेश होते है उनका विचार करते हैं:—

जातः कथंचन वपुर्वहनश्रमोत्थ,—
दुःखप्रदोच्छ्वसनदर्शनसुस्थितस्य ।
जन्मोत्सवं सृजति बन्धुजनस्य यावद्,
यास्तास्तमाशु विपदोनुपतन्ति तावत ॥६६ ॥

नवीन शरीरके धारण करनेमें जो परिश्रम हुआ उससे उत्पन्न हुए तथा और भी अनेक प्रकारके दुःखोंको देनेवाले श्वासोच्छ्वासको देखकर अत्यंत आश्वासनको प्राप्त हुए बन्धुजनों—माता पिता बहिन भाई आदि बन्धुओं तथा अन्य इष्ट जनोंको पूर्वोक्त महान् कष्टोंके साथ साथ उत्पन्न हुआ यह जीव इधर अपने जन्मका आनन्द देता ही है कि उधरसे—उत्पन्न होते ही फुल्लिका अन्त्रेगोदिका आदि प्रसिद्ध विपत्तियां आकर इसको शीघ्र ही घेर लेती है।

भावार्थ—उत्पन्न हुए बालकके श्वासोच्छ्वासको देखकर—उसे जीवित समझकर बंधुजन जन्मका उत्सव

---

१ एक प्रकारके सफेद सफेद फोडे जो कि उत्पन्न होते ही किसी किसी बालकके हुआ करते है।
२ एक प्रकारका पेटमें होनेवाला दर्द जो कि उत्पन्न होते ही माका दूध न पचनेसे या किसी अंतरङ्ग कारणसे किसी किसी बालकके हुआ करता है।

मनाते है किंतु यह नहीं जानते कि उस गर्भोत्पत्तिसे तथा शरीरग्रहण करनेमें उत्पन्न हुए परिश्रमसे और जन्म ग्रहण करते ही उत्पन्न हुई फुल्लिका आदि बीमारियोंसे उस बालकको अनेक प्रकारके दुःख होरहे है।

बाल्य कालके प्रति ग्लानि प्रकट करते हैः—

यत्र क्वापि विगतत्रपो मलमरुन्मूत्राणि मुञ्चन्मुहु—
र्यत्किंचिद्वदनेर्पयन् प्रतिभयं यस्मात्कुतश्चित्पतन् ।
लिम्पन्स्वाङ्गमपि स्वयं स्वशकृता लालाविलास्योऽहिते,
व्याषिद्धो हतवद्रुदन् कथमपि—च्छिद्येत बाल्यग्रहात् ॥ ६७ ॥

धिक्कार है कि बाल्य कालमें यह जीव निर्लज्ज होकर जहां कहीं भी—सोनेके उठने बैठनेके या भोजन करनेके स्थानमें, ओढने पहरने बिछाने आदिके वस्त्रोंमें या जिस किसी भी उचित या अनुचित स्थानमें बार-म्बार मल वायु—अधोवायु और मूत्रको छोड देता है, तथा जिस किसी भी चीजको चाहे वह भक्ष्य हो चाहे अभक्ष्य मुखमें रखलेता है, एवं चाहे जिस किसी भी चीजसे-गिरे हुए वर्तनके शब्द आदि किसी भी पदार्थसे अतर्क्यतया उपस्थित हुआ भय खाकर गिर पडता है. और स्वयं अपने ही विष्टासे, दूसरी चीजोंकी तो बात ही क्या, अपने शरीरको भी लेपलेता है। मुखको सदा लारसे भरे रहता और जिस समय अहितमें—मट्टी खाने आदिमें प्रवृत्त होता है तब माता पिता आदिके द्वारा रोके जानेपर ऐसा रोता है मानो किसीने पीटा हो। इस प्रकार यह बाल्यकाल एक प्रकारका ग्रह है कि जिससे यह जीव बडे ही कष्टोंसे छूटा करता है।

बाल्यावस्थाके बाद प्राप्त होनेवाले कुमार कालका भी तिरस्कार करते है—

धूलीधूसरगात्रो धावन्नवटाश्मकण्टकादिरुजः ।

प्राप्तो हसत्सहेलकवर्गममर्षन् कुमारः स्यात् ॥ ६८ ॥

बाल्य और यौवनके मध्यवर्त्ती वयमें रहनेवाला यह जीव कभी तो अपने शरीरको गली कूंचा या सडककी धूलिसे धूसरित बनाकर भागता फिरता है। कभी गड्ढा पाषाणों व तीक्ष्ण कण्टकों तथा अनेक प्रकारके कंकरीले स्थानोंकी पीडाको प्राप्त करता है। एवं कभी साथके खेलनेवाले लडकोंसे जब कि वे इसकी हंसी करते हैं, ईर्ष्या करने लगता है।

यौवनकी निन्दा करते हैं:-

पित्रोः प्राप्य मृषामनोरथशतैस्तारुण्यमुन्मार्गगो,
दुर्वारव्यसनातिशङ्किमनसोर्दुःखार्चिषः स्फारयन्।
तात्किंचित्प्रखरस्मरः प्रकुरुते येनोद्भ्रमः पितॄन्,
क्लिश्नन् भूरिविडम्बनाकलुषितो धिग्दुर्गतौ मज्जति ॥ ६९ ॥

माता पिताके ही व्यर्थके सैकडों मनोरथोंसे यौवन अवस्थाको प्राप्त कर यह मनुष्य उन्मार्गगामी होजाता है-त्रिवर्गके विरुद्ध आचरण करने लगता है और तीव्र कामदेवके वेगसे संतप्त होकर कुछ ऐसे निन्द्य कर्म करने लगता है कि

---

१ इस श्लोकका दूसरा अभिप्राय ऐसा भी हो सकता है कि जब इसको साथके खेलनेवाले चिडाते हैं तब उनसे ईर्ष्या करता और कष्टकर गडढे आदि स्थानोंको प्राप्त कर गलियोंकी धूलिसे धूसरित हो भागता फिरता है।

२ अब इसका यह होगा और उससे फिर ऐसा होगा, अथवा इससे मेरा अमुक २ कार्य सिद्ध होगा इत्यादि अनेक प्रकारसे, प्राप्त न हो सकनेवाले पदार्थोंकी प्राप्तिकेलिये जो मनमें संकल्प हुआ करते हैं उन्हींको मनोरथ कहते हैं।

जिनके कारण विविध प्रकारकी-गधेपर चढने आदिकी विडम्बनाओंमे संक्लिष्टचित्त होकर उन माता पिताओंको दुःखकी ज्वालाएं बढाकर तयार करदेता है, कि जिनके मनमे पहलेसे ही इस बातकी शंका लगी हुई थी कि यौवनमें आकर इसको कहीं, जिनका वारण नहीं किया जा सकता ऐसे, व्यसनोंकी प्राप्ति न हो जाय। इसी तरह उस दुराचरणसे माता पिताके साथ साथ विपुल तेजके धारण करनेवाले अथवा प्रशस्त स्थानपर पहुंचे हुए पितामहादिकोंको भी बाधा पहुंचाता हुआ, धिक्कार है कि अंतमे जाकर यह दुर्गति—दारिद्र्य अथवा नरक मे जाकर डूब जाता है।

यौवनमें आकर भी जो मनुष्य निर्विकार रहते है उनकी प्रशंसा करते हैः—

धन्यास्ते स्मरवाडवानलशिखादीप्रः प्रवल्गद्बल,—
क्षाराम्बुर्निरवग्रहेन्द्रियमहाग्राहोभिमानोर्मिकः ।
यैर्दोषाकरसंप्रयोगनियतस्फीतिः स्वसाच्चक्रिभि,—
स्तीर्णो धर्मयशःसुखानि वसुवत्तारुण्यवोराणवः ॥ ७० ॥

जो कि जलके समान शरीर सुखा देनेवाले कामदेवरूपी वडवानलकी ज्वालाओंमे अत्यत प्रकाशमान है, जिसमे अहृद्य—अमनोज्ञ होनेके कारण क्षार जलके समान बल-वीर्य अत्यंत दर्पके साथ वलगना कर रहा है-उमड रहा है, महान्-बडे भारी ग्रहो--जलचरोंके समान इंद्रिया जिसमे निरंकुशतासे इधर उधर भ्रमण कर रही है, जिसमें अभिमान ऊर्मियों--लहरोंकी तरह काम कर रहा है; क्योंकि लहरके समान अभिमानका भी उत्थान नियत नहीं है कि कब और कितने प्रमाणमें यह उठेगा. एवं जिसकी वृद्धि दोषाकर —दुर्जन अथवा चन्द्रमाकी संगतिको पाकर अवश्य ही हुआ करती है, ऐसा यह यौवन एक प्रकारका बडा भारी भयानक समुद्र है। इसको धनकी तरह धर्म यश और शर्म--सुख अर्थात् इन चारो हीं पदार्थोंको आत्माधीन करनेवाले—अविरोधेन सेवन करनेवाले जो जन —युवा पुरुष तरकर पार होगये हैं वे ही धन्य हैं।

यौवनके अनंतर प्राप्त होनेवाली मध्य अवस्थाकी ग्यारह श्लोकोंमें निंदा करते हैं। जिसमेंसे पहले संतानका पालन पोषण करनेकेलिये जिसके मनमें आकुलता लगी रहती है उसको धनकी आशासे किये गये कृषि आदि आजीविकाके उपायोंके करनेमें जो क्लेश प्राप्त होते हैं उनको बताते हैं—

यत्कन्दर्पवशंगतो विलसति स्वैरं स्वदारेष्वपि,
प्रायोऽहंयुरितस्ततः कटु ततस्तुग्घाटको धावति ।
अप्यन्यायशतं विधाय नियमाद्भर्तुं यामिच्छाग्रहो,
वार्धिष्ण्वा द्रविणाशया गतवयाः कृष्यादिभिः प्लुष्यते ॥ ७१ ॥

जो तुग्घाटक—अपत्यवर्ग युवा अवस्थामें आकर कामदेवके वशीभूत हो स्वदारमें भी-सभोगपत्नियों की तरह धर्मपत्नियोंमें भी स्वच्छन्द होकर विलास—क्रीडा करता है और इसीलिये जो अहंकारमें आविष्ट होकर

---

१ ऐसा ही एक जगह नीतिमें भी कहा है:—

प्रथमे वयसि य शात स शात इति मे मति ।
धातुषु क्षीयमाणेषु शम कस्य न जायते ॥
(सम्पादक)

सकल्परमणीयस्य प्रीतिसभोगशोभिन ।
रुचिरस्याभिलापस्य नाम काम इति स्मृतम् ॥

जो संकल्पमात्रसे ही रमणीय मालुम पडती और प्रीतिपूर्वक अच्छी तरह भोगनेमें ही जो शोभन मालुम पडती है ऐसी रुचिर-मनोज अभिलाषाका ही नाम काम है।

प्रायः जिस किसी भी स्वार्थमें शीघ्र ही अनिष्ट प्रवृत्ति करने लगता है उसी अपत्यवर्गका नियमतः पालन करनेकेलिये जिसका आग्रह प्रदीप्त हो उठा है ऐसे इस गतवयस्क—यौवन पारकर मध्य वयको प्राप्त हुए मनुष्यको वढती जाने वाली धनकी लिप्सासे न्यायकी तो वात ही क्या, स्वामिद्रोह मित्रद्रोह विश्वासघात चोरी आदि सैकडो अन्यायोंको भी करके किये गये कृषि पशुपालन आदि आजीविकाके उपाय दग्ध कर देते हैं।

कृषि पशुपालन और वाणिज्य इनसे दोनो भवोंकी भ्रष्टता होती है; यह दिखाते हैः—

यत्संभूय कृषीवलैः सह पशुप्रायैः खरं खिद्यते,
यद्व्यापत्तिमयान् पशूनवति तद्देहं विशन् योगिवत् ।
यन्मुष्णाति वसून्यसूनिव ठक्करो गुरूणामपि,
भ्रान्तस्तेन पशूयते विधुरितो लोकद्वयश्रेयसः ॥ ७२ ॥

क्योंकि कृपिकर्म करनेमें यह गतवयस्क पुरुष उन किसानोंके साथ मिलकर तीव्र खेद—परिश्रमको प्राप्त होता है जो विलकुल पशुके समान है। क्योंकि उनकी आहारादि संज्ञाए पशुओंके ही सदृश हुआ करती हैं. इसी प्रकार पशुपालन करते समय जिस प्रकार आरब्धयोगवाला कोई योगी परपुरुष प्रवेश किया करता है उसी तरह यह भी विविध प्रकारकी आपत्तियोंसे पूर्ण पशुओंकी, उनके शरीरमें घुस कर, रक्षा किया करता है ! एव वाणिज्यमें प्रवृत्त होकर ठगोंके समान क्रूरता धारण कर, औरोंकी तो वात क्या, गुरुओं—दीक्षा—चार्य माता पिता आदिके- भी, प्राणोंके समान धनका अपहरण करलेता है ! अत एव कृषि पशुपालन और वाणिज्य ये तीनो ही कर्म, विपर्यस्त है बुद्धि जिसकी ऐसे इस गतवयस्क पुरुषको इस लोक और परलोक दोनो ही भवके कल्याणोंसे वियुक्त कर देते हैं और वह पशुके समान आचरण करने लगता है।

जो पुरुष धनमें लुब्ध होकर देशान्तरोंमें जाकर वाणिज्य करते हैं उनकी निन्दा करते हैः —

यत्र तत्र गृहिण्यादीन्मुक्त्वापि स्वान्यनिर्दयः।
न लङ्घयति दुर्गाणि कानि कानि धनाशया ॥ ७३ ॥

माता पुत्र कलत्र आदिकोको साथमे लेकर अथवा जहा कही भी परीक्षित या अपरीक्षित स्थानोमे उन्हे रखकर खुदकेलिये और दूसरे सहाय करनेवाले परिजन तथा पशु आदिकेलिये निर्दय बनकर— उनको व स्वयको क्षुधा पिपासा शीत उष्ण आदिके द्वारा पीडित कर धनकी आशासे नदी पर्वत जङ्गल समुद्र आदि कौनसे दुर्गम स्थान है कि जिनको यह गतवयस्क पुरुष नही लांघता फिरता! अर्थात् सभी दुर्गम स्थानोमे यह जीव धनकी आशासे भटकता फिरता है।

वृद्धि-व्याज आदिके द्वारा आजीविका करनेवालेके प्रति ग्लानि प्रकट करते हैः—

वृद्धिलुब्ध्याधमर्णेषु प्रयुज्यार्थान् सहासुभिः।
तदापच्छङ्कितो नित्य चित्रं वार्धुषिकश्चरेत ॥ ७४ ॥

यह बडा आश्चर्य है कि वार्द्धुपिक—व्याज खाऊ आदमी भी जो कि वृद्धि-व्याजके लोभमे - कालांतरमे चलकर इस धनमे कुछ वृद्धि होजायगी इस आशासे अधमर्णों—आसामियोंमे अपने प्राणोंके साथ साथ धनको रखकर उसपर आनेवाली आपत्तियोमे सदा शकित बना रहकर ही प्रवृत्ति करता है। क्योंकि जो अपने प्राणोको दूसरी जगह पहुंचा देता है वह जीव स्वयं प्रवृत्ति नही कर सकता; यही आश्चर्यका कारण है।

सेवाकर्मकी निन्दा करते हैः—

स्वे सद्वृत्तकुलश्रुते च निरनुक्रोशीकृतरतृष्णया,

स्वं विक्रीय धनेश्वरे रहितवीचारस्तदाज्ञावशात ।
वर्षादिष्वपि दारुणेषु निबिडध्वान्तासु रात्रिष्वपि,
व्यालोग्रारवटवीष्वपि प्रचरति प्रत्यन्तकं यात्यपि ॥ ७५ ॥

सेवक पुरुष स्वामीके आदेशके वश योग्य और अयोग्यका विचार छोडकर अत्यंत भयानक वर्षा शीत और ग्रीष्म ऋतुमे, अथवा सघन अन्धकारसे पूर्ण रात्रियोंमे, यद्वा सर्प हस्ती आदि भयानक हिंस्र जन्तुओसे भरे हुए अतएव अत्यंत रौद्र ऐसे जंगलोंमे घूमता फिरता है। केवल इनमे घूमता है इतना ही नहीं; बल्कि यमराजके संमुख भी जा उपस्थित होता है। ऐसा क्यो करता है ? तो इसका उत्तर यही है कि उसने तृष्णा—लोभके वश होकर धनके स्वामी—सेठ साहूकार या राजा महाराजाको अपनी आत्मा बेचकर समीचीन आचार विचार कुल शास्त्राभ्यास तथा और अधिक क्या, स्वयं अपने विषयमे भी निर्दयता धारण करली है।

शिल्पकर्म करनेवालोकी भी निन्दा करते हैं -

चित्रैः कर्मकलाधर्मैः परासूयापरो मनः ।
हर्तुं तदर्थिनां श्राम्यत्यार्तपोष्येक्षितायनः ॥ ७६ ॥

शिल्पी मनुष्य जिनको शिल्पकी आकांक्षा है ऐसे मनुष्योंका मन हरण करनेकेलिये दूसरे शिल्पियोंसे असूया करना—उनके गुणोंमें भी दोष प्रकट करना और नाना प्रकारके कर्म कला और धर्मके करनेसे खिन्न हुआ करता है।

मट्टी धातु काष्ठ पत्थर आदिकी कारीगरीको कर्म कहते हैं। गाना बजाना नाचना तैरना आदि दक्षताको कला कहते हैं। मूल्य लेकर पुस्तक वाचना आदि धर्म है। इन कर्मादिकोंमें प्रवृत्त हुए शिल्पीके क्षु-

धादिकमे पीडित हुए पोष्यजन—स्त्रीपुत्रादिक उसके आनेका मार्ग देखा करते हैं कि, कब वह कमाकर लावे और कब हमारी क्षुधादिकी पीडा दूर हो।

शिल्पियोंकी दुरवस्थाका कथन करते है—

आशावान् गृहजनमुत्तमर्णमन्या-
नप्याशैरिव सरसो धनैर्धिनोति।
छिन्नाशो विलपति भालमाहते स्वं
द्वेष्टीष्टानपि परदेशमप्युपैति॥ ७७॥

'आज कलमे कर्मादि करनेसे मूल्य प्राप्त हो ही जायगा, मजदूरी मिल ही जायगी' ऐसी भविष्यत्मे प्राप्त होनेवाले अर्थ—धनकी आशा रखकर यह गतवयस्क शिल्पी हृष्टचित्त होकर मानो वह धन हस्तगत ही होगया हो इस तरहसे अपने गृहजन-स्त्री आदि और उत्तमर्ण-साहूकार-वोहरे तथा दूसरे भी अपने संबंधी मित्रादिकोंको अच्छी तरह तृप्त करता है। किन्तु जब उसकी वह आशा टूट जाती है-सिद्ध नहीं होती तब रोने लगता है और अपना माथा कूटने लगता है। अपने प्रिय पुत्र कलत्रादिकोंसे द्वेष करने लगता है। अथवा परदेशको भी चला जाता है।

देशान्तरमे भी धनकी आशासे यह खिन्न ही होता है। यही बताते हैं:—

आशया जीवति नरो न ग्रन्थावपि बद्धया।
पञ्चाशतेत्युपायज्ञस्ताम्यत्यर्थाशया पुनः॥ ७८॥

' गांठमें भी बंधे हुए पचाससे नहीं; आशासे मनुष्य जिया करता है। ' ऐसी लोकमें कहावत है। बस इसी कहावतके अनुसार कर्म आदि जीविकाके उपायोंको जाननेवाला कारुक-शिल्पी फिर भी-परदेशमें भी जाकर धनकी आशासे खिन्न ही हुआ करता है।

यदि इष्ट धनादिकका लाभ भी हो जाय फिर भी तृष्णा तो शांत नहीं होती, यही बात दिखाते हैं:—

कथं कथमपि प्राप्य किंचिदिष्टं विधेर्वशात् ।
पश्यन् दीनं जगद्विश्वमप्यधीशितुमिच्छति ॥ ७९ ॥

पूर्वक्त शुभ कर्मकी सामर्थ्यसे यदि किसी न किसी तरह-अत्यंत कष्टोंके द्वारा कुछ इष्ट-वाञ्छित पदार्थ प्राप्त भी हो जाय तो यह जीव समस्त जगत्को दीन-अपनेसे हीन समझने लगता है और उसको अपने अधीन करना चाहता है। तृष्णावश होकर जगत्का स्वामी बनना चाहता है।

जिनको धन प्राप्त होगया है उनको जो दूसरी दूसरी विपत्तियां प्राप्त होती है उन्हें दिखाते हैं:—

दायादाद्यैः क्रूरमावर्त्यमानः,
पुत्राद्यैर्वा मृत्युना छिद्यमानः ।
रोगाद्यैर्वा बाध्यमानो हताशो,
दुर्दैवस्य स्कन्धकं धिग्बिभर्ति ॥ ८० ॥

सधन पुरुषको भाई भानजे आदि दायादप्रभृति बारम्बार लङ्घनादिके द्वारा क्रूरतासे कदर्थित करते है। मृत्यु-यमराज आकर पुत्रादिकोंसे वियुक्त कर देता है। अनेक प्रकारके रोग और कारागृह आदि पीडित किया

करते है । नष्ट होगई है आशा व प्रत्याशा जिसकी ऐसा यह मध्यम वयवाला सधन मनुष्य, धिक्कार है कि, दुर्दैव के उस ऋणको लिये फिरता है कि जो उसे नियमित कालमें ही अदा करना है ।

मध्यम वयवाले पुरुषको विपत्तियोंसे जो अरति और जीवनसे उपराम मिलता है उसका निरूपण करते है । —

पिपीलिकाभिः कृष्णाहिरिवापद्भिर्दुराशयः ।
दंदश्यमानः क रतिं यातु जीवतु वा कियत् ॥ ८१ ॥

जिस प्रकार कृष्णसर्पको चीटियां खा डालती है उसी तरह जब दुराशय-जिसका चित्त विविध प्रकारके क्लेशोंसे पीडित हो रहा है ऐसे इस मध्यम वयवाले मनुष्यको विपत्तिया बुरी तरहसे खाने लगती है तब स्थान आसन आदिमेंसे किसमें तो यह रति-प्रेम करे और कबतक जीता रहे । अर्थात् विपत्तियोंमे घिर कर यह जीव हर विषयमें अरति करने लगता है और शीघ्र ही मृत्युको प्राप्त हो जाता है ।

बुढापेसे उत्पन्न हुए दुःखोंको प्रकट करते हैं: —

जराभुजङ्गीनिर्मोकं पलितं वीक्ष्य वल्लभाः ।
यान्तीरुद्वेगमुत्पश्यन्नप्यपैत्योजसोन्वहम् ॥ ८२ ॥

जरा-वृद्धावस्था भुजङ्गी-सर्पिणीके समान है; क्योंकि मनुष्य उससे सदा भय खाते रहते है । इसके निर्मोक-केचरीके समान पलित-श्वेत केशोंको देखकर उद्वेग-विरक्तिको प्राप्त हुई वल्लभाओं-प्रियतमा स्त्रियोंका शोकके साथ स्मरण करनेवाला यह वृद्ध-वृद्धावस्थाके संमुख हुआ पुरुष दिनपर दिन ओज-बलसे भी रिक्त होजाया करता है । क्योंकि प्रियाके विरागकी संभावनासे बल क्षीण होजाया करता है । जैसा कि कहा भी है—"ओजः क्षीये-

त कोपक्षुद्ध्यानशोकश्रमादिभिः " ॥ कोप क्षुधा ध्यान शोक परिश्रम इत्यादि कारणोंसे बल नष्ट हो जाया करता है।

वृद्धावस्थाके फलका विचार करते हैः—

विस्रसोदेहिकादेहवनं नृणां यथा यथा ।
चरन्ति कामदा भावा विशीर्यन्ते तथा तथा ॥ ८३ ॥

यह शरीर वन–उपवनके समान है, क्योंकि उपवनकी तरह इसका भी पालन पोषण आदि बडे प्रयत्नसे किया जाता है। ऐसे इस शरीररूपी उपवनको ज्यों ज्यों बुढापारूपी दीमक–क्षुद्रजन्तु भक्षण करता जाता है त्यों त्यों मनोरथोंको पूर्ण करनेवाले उसके पल्लव पुष्प फल आदिकी तरह कामदेवका उद्दीपन करनेवाले सौंदर्य बल बुद्धि प्रभृति भाव भी स्वयं ही विनष्ट होते जाते है।

जब कि वृद्धावस्था अतिशय रूपसे आकर घेर लेती है उस अवस्थाका विचार करते है।—

प्रक्षीणान्तःकरणकरणो व्याधिभिः सुष्ठुबाधि—,
स्पर्द्धादग्धः परिभवपदं याप्यकम्प्राऽक्रियाङ्गः ।
तृष्णेर्ष्याद्यैर्विगलितगृहः प्रस्खलद्वृद्धित्रदन्तो,
ग्रस्येताद्धा विरस इव न श्राद्धदेवेन वृद्धः ॥ ८४ ॥

जिसका अन्तःकरण–मन और करण–इन्द्रियां विनाशोन्मुख है, जिसको आधि–मानासिक व्यथासे मानो स्पर्धा करके

ही व्याधियों-शारीरिक काम श्वास आदि दुःखोंने अत्यत दग्ध करदिया है-निःसार बनादिया है, जो अनेक प्रकारसे तिरस्कारका स्थान बन रहा है, जिसके हस्त पाद आदि अवयव कुत्सित कंपनेवाले और अकर्मण्य बनगये हैं, जिसने अपनी तृष्णा-आतिलोभ तथा ईर्ष्या अक्षमा दुर्वचनादिके द्वारा घरके स्त्री पुत्रादिकोंको भी उकता दिया है, और जिसके बाकीके रहे दो या तीन दांत भी बिल्कुल हिल रहे है, ऐसे इस वृद्ध पुरुषको, जिसको कि जराने अत्यंत व्याप्त कर रक्खा है, श्राद्धदेव—यमराज मानो रस समझ कर-यह ख्याल करके कि इसमें स्वाद अच्छा नहीं है, शीघ्र ही भक्षण नहीं करते। जिस तरहसे कि श्राद्धदेव-श्राद्धमें भोजन करनेवाले ब्राह्मण विरस आहारको शीघ्र ही नहीं खाया करते।

इस प्रकार यह शरीर यद्यपि अनेक दोषोंसे युक्त है; फिर भी इसको परम सुख-मोक्षफलको देनेवाले धर्मका अङ्ग-कारण बनाकर सबसे उत्कृष्ट बनाना चाहिये; ऐसी शिक्षा देते हैं:—

बीजक्षेत्राहरणजननद्वाररूपाशुचीदृग्,
दुःखाकीर्णं दुरसविविधप्रत्ययातर्क्यमृत्यु ।
अल्पाग्रायुः कथमपि चिराल्लब्धमीदृग् नरत्वं,
सर्वोत्कृष्टं विमलसुखकृद्धर्मसिद्ध्यैव कुर्यात् ॥ ८५ ॥

इस शरीरका बीज माताका रज और पिताका वीर्य है। क्षेत्र माताका गर्भस्थान और आहार माताका निगला हुआ अन्नपान है। शुक्र आर्तव मल मूत्रके वहनेका जो मार्ग है वही इसके उत्पन्न होनेका द्वार है। वात पित्त कफ धातु उपधातु तथा सदा आतुरता ही इसका स्वरूप है। इस तरह बीज क्षेत्र आहार उत्पत्तिद्वार और स्वरूपकी अपेक्षा यह अत्यंत अशुचि अपवित्र है। गर्भसे लेकर वृद्धावस्थातकके दुःखोसे प्रचुरतया व्याप्त है। जिसका निवारण नहीं किया जासकता ऐसी नाना प्रकारके व्याधि शस्त्र वज्रपात आदि कारणोंसे होनेवाली इसकी मृत्यु

अतर्क्य है। यह नहीं कहा जासकता कि इसकी मृत्यु कब कहां और किस तरहसे होगी। इसकी आयु अधिक हो तो भी अल्प है। क्योंकि ऐसा कहा है कि आजकल मनुष्योंकी आयु एकसौ बीस वर्षसे अधिक नहीं होती।

इस प्रकारका यद्यपि यह शरीर मनुष्य पर्याय अनेक दोषोंसे दुष्ट है; फिर भी चिरकालमे और महान् कष्टोंसे प्राप्त किये हुए इसको जो कि समीचीन धर्मके धारण करनेके कारणभूत जातिकुलसे युक्त है, सबसे–देवादि पर्यायोंसे भी उत्कृष्ट बनाना चाहिये। परतु यह बात विपरीत धर्म अर्थ काम पुरुषार्थके सेवन करनेसे प्राप्त नहीं, किंतु दुःखोंके करनेवाले पापकर्मके सम्बन्धसे रहित सुख कल्याणके करनेवाले धर्मके साधन करनेसे ही प्राप्त हो सकती है।

जीवको प्राप्त होनेवाली त्रसादि पर्यायोंकी उत्तरोत्तर दुर्लभताका विचार करते हैं:–

जगत्यनन्तैकहृपीकसंकुले त्रसत्वसंज्ञित्वमनुष्यतार्यताः।
सुगोत्रसद्गात्रविभूतिवार्ततासुधीसुधर्माश्च यथाग्रदुर्लभाः॥८६॥

एक स्पर्शन इन्द्रियके ही धारण करनेवाले पृथ्वी जल अग्नी वायु और वनस्पती इन पांच अनंतानंत स्थावरोंसे ठसाठस भरे हुए समस्त संसारमें त्रस आदि पर्यायोंको प्राप्त करना उत्तरोत्तर दुर्लभ है।

द्वीन्द्रियादि अवस्थाको त्रसपर्याय कहते हैं। इसका संसारमे प्राप्त होना अत्यंत कठिन है। क्योंकि निगोदमे यह जीव अनादि व अनंत कालसे पुनः पुनः एकेन्द्रिय ही हो रहा है। जिस प्रकार भी ऊपर भुंजते हुए चनोंमेंसे कोई कोई चना कदाचित् बाहर निकल पडता है; उसी तरह निगोदराशिमेंसे काललब्धिको पाकर पूर्वसंचित कर्मके उदयसे कोई कोई जीव कचित् कदाचित् बाहर त्रसपर्यायमें आपडता है। किंतु यहांसे पुनः निगोदराशिमे चला जाता है। यहांसे पुनः त्रसपर्यायका प्राप्त करना इस तरह कठिन है कि जिस तरह समुद्रमें खोई हुई एक वालुकाकी कणिकाका फिर मिल-जाना। इसी तरह द्वीन्द्रियसे त्रीन्द्रिय और त्रीन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय तथा चतुरिन्द्रियसे पंचेन्द्रिय और पंचेन्द्रियोंमें भी

समनस्क होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। समनस्क नारकी और तिर्यंच भी होते हैं अतएव समनस्कता प्राप्त करके भी मनुष्यपर्यायका प्राप्त होना और भी दुर्लभ है। मनुष्य होकर भी यदि नीचगोत्री या म्लेच्छ हुए तो उससे क्या प्रयोजन! अतएव मनुष्यताके साथ साथ आर्यताका प्राप्त होना गुणोंमें कृतज्ञताके समान दुष्प्राप्य है। आर्य होनेपर भी उच्च गोत्र, और उच्च गोत्रके भी बाद समीचीन शरीर, तथा ऐसे शरीरके भी मिल जानेपर विभूति और विभूतिके भी मिल जानेपर आरोग्यकी प्राप्ति होना अत्यंत कठिन है। इसी तरह उक्त सब बातोंके मिल जानेपर भी मनुष्योंकी बुद्धि प्रायः करके धर्मविरुद्ध क्रियाओंके करने और व्यसनादिकोंके सेवनमें ही प्रवृत्त होजाया करती है। अतएव उक्त बातोंके अनंतर ऐसी सद्बुद्धिका प्राप्त होना और भी कठिन है कि जिसके द्वारा धर्ममें प्रवृत्ति हो सके। सद्बुद्धिके द्वारा प्राप्त करने योग्य फलरूप समीचीन धर्मका प्राप्त होना तो सर्वोपरि कठिन है। इस तरह इस जीवको त्रसता समनस्कता मनुष्यता आर्यता सद्गोत्र सद्गात्र विभूति वातता आरोग्य सद्बुद्धि और समीचीन धर्म इन दश चीजोंका प्राप्त होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है।

जो कि सबसे अधिक दुर्लभ है उस धर्मका आचरण करनेमें नित्य ही उद्योग करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं:—

स ना स कुल्यः स प्राज्ञः स बलश्रीसहायवान्।
स सुखी चेह चामुत्र यो नित्यं धर्ममाचरेत्॥ ८७॥

जो जीव नित्य ही धर्मका आचरण किया करता है वह परभवमें पुरुष हुआ करता है और उत्तम कुलको प्राप्त करता है। इसी तरह वह अतिशयित बुद्धि तथा बल और लक्ष्मी एवं अपने कार्योंमें अनेक प्रकारके सहायकोंको प्राप्त करता तथा इस लोक और परलोकमें सुखी होता है। इसके विरुद्ध जो जीव धर्मका आचरण नहीं करता या अधर्मका सेवन करता है वह मर कर स्त्री या नपुंसक होता तथा बुद्धिशून्य मूर्ख नि-

वल दरिद्र और असहाय हुआ करता है तथा इस लोक और परलोक दोनों ही भवोंमें दुःख भोगता है।

जो पुरुष धर्मका संचय नहीं करता उसके शेष गुणोंकी भी निरर्थकता प्रकट करते हैंः—

धर्मं श्रुतिस्मृतिस्तुतिसमर्थनाचरणचारणानुमतैः।
यो नार्जयति कथंचन किं तस्य गुणेन केनापि ॥ ८८ ॥

जो पुरुष श्रुति स्मृति स्तुति और समर्थना इनमेंसे किसी भी उपायके द्वारा किसी भी तरहसे स्वयं आचरण करके या दूसरोंसे कराके अथवा आचरण करनेवालोंकी अनुमोदना करके धर्मका संचय नहीं करता उस पुरुषके पुरुषत्व कुलीनता आदि एक या अनेक गुणोंसे भी क्या फायदा!

आचार्य उपाध्याय गुरु बहुश्रुत या विशेषज्ञोंके मुखसे धर्मके स्वरूपका जो सुनना उसको श्रवण कहते है। सुने हुए या जाने हुए धर्मके स्वरूपका वारवार विचार करना उसको स्मरण कहते है। धर्मके फलका गुणका या माहात्म्यका जो अच्छी तरह यशोगान करना उसको स्तुति कहते हैं। युक्ति अनुभव और आगम इनकी सामर्थ्यमे धर्मके स्वरूपका सिद्ध करना अथवा उसपर होनेवाले आक्षेपोंका निरसन करना उसको समर्थना कहते है। इन उपायोंमेंसे एक या अनेक अथवा समस्तके द्वारा धर्मके स्वयं सेवन करनेको चरण, दूसरोंसे सेवन करानेको चारण तथा सेवन करनेवालोंकी प्रशंसा करनेको अनुमत-अनुमोदना कहते है। इनमेंसे किसी भी तरहसे धर्मका संचय करनेवालोंके ही दूसरे गुण प्रशस्त कहे जासकते है। अन्यथा नहीं।

धर्म—शब्दका जो कुछ अर्थ है वह लोकप्रसिद्धिके अनुसार ही समझकर धारण किया न कराया जा सकता है। अत एव उसका प्रतिपादन करनेकेलिये शास्त्ररचनाका प्रयत्न क्यों करना—इससे क्या फायदा? इस प्रश्नका उत्तर देते है।

लोके विषामृतप्रख्यभावार्थः क्षीरशब्दवत् ।
वर्तते धर्मशब्दोपि तत्तदर्थोनुशिष्यते ॥ ८९ ॥

पूर्व आकारको छोड कर उससे सम्बन्ध रखते हुए उत्तर आकारके ग्रहणको वस्तु या भाव कहते है । ये भाव विप और अमृत दोनोंके समान हुआ करते है । इसी आधारपर लोकमें क्षीर शब्द विप और अमृत दोनो प्रकारके पदार्थोंका वाचक है । क्योंकि आकके रसको भी क्षीर कहते है जो कि विपके तुल्य है, और गोरसको भी क्षीर कहते है जो कि अमृतके समान है। इसी तरह लोकमें धर्मशब्दका भी अर्थ दोनो ही तरहका होता है—विपरूप भी होता है और अमृतरूप भी होता है। क्योंकि लोकमें बहुतसे लोक हिंसाको भी धर्म कहते है जो कि दुर्गतियोंके दुःखोका देनेवाला और इसीलिये विपके तुल्य है। और कोई कोई अहिंसाको धर्म कहते है जो कि सुखोंका देनेवाला और इसीलिये अमृतके समान है । अत एव उनका पृथक्करण करनेकेलिये सर्वज्ञ और इतर आचार्योंकी उपदेशपरम्परासे धर्मशब्दका जो कुछ अर्थ चला आता है उसको बताया जाता है।

धर्म शब्दका जो कुछ अर्थ है उसको स्पष्ट करते हैं:—

धर्मः पुंसो विशुद्धिः सुदृगवगमचारित्ररूपा स च स्वां,
सामग्रीं प्राप्य मिथ्यारुचिमतिचरणाकारसंक्लेशरूपम् ।
मूलं बन्धस्य दुःखप्रभवभवफलस्यावधुन्वन्नधर्मं,
संजातो जन्मदुःखाद्धरति शिवसुखे जीवमित्युच्यतेऽर्थात् ॥९० ॥

मूढता आदि दोपोसे रहित होनेपर दर्शन–श्रद्धान, और संशयादि दोपोंसे रहित होनेपर ज्ञान, एवं मायाचार

आदि दोषोंसे रहित होनेपर चारित्र प्रशस्त माना जाता है। इन प्रशस्त दर्शन ज्ञान और चारित्ररूप आत्माकी विशुद्ध परिणतिको ही धर्म कहते हैं। इसके विरुद्ध मिथ्या-विपरीत या असत्य दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनरूप संक्लेश परिणामोंको अधर्म कहते हैं। यह अधर्म उस बंध-कर्मबन्धका आदिकारण[1] है जिसका कि फल अनेक प्रकारके दुःखोंको देनेवाला संसार है। किंतु उक्त धर्म अपनी सामग्री-बाह्य और अभ्यंतर कारणकलापको अथवा श्रेष्ठ ध्यानको[2] प्राप्त कर इस अधर्मको निरवशेष करदेता है और चौदहवें अयोग गुणस्थानके अंत्य समयमें पूर्ण होकर इस जीवको जन्ममरण आदि सांसारिक दुःखोंसे दूर कर शिवसुख-मोक्षमें ले जाकर धर देता है। अतएव वाच्यार्थ अथवा परमार्थकी अपेक्षासे ही इसका नाम "धर्म" ऐसा रक्खा है। क्योंकि व्याकरणके अनुसार धर्मशब्दका ऐसा ही अर्थ होता है कि "धरतीति-धर्मः" अर्थात् जो जीवको दुःखोंसे छुडाकर सुखस्थानमें ले जाकर धरदे उसको धर्म कहते हैं।

निश्चय नयकी अपेक्षासे रत्नत्रयके लक्षणका निर्देश—आख्यान करते हुए मोक्षके और संवर तथा निर्जराके एवं बंधके कारणको बताते हैं।

१-जैसा कि तत्वार्थसूत्रमें भी कहा है कि "मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बंधहेतव ।"

२-इसके विषयमें आगममें भी कहा है—

स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोपि ।
तस्मादभ्यस्यन्तु ध्यानं सुधिय सदाप्यपास्यालस्यम् ॥ इति ।

ध्यानमें समृद्ध होनेपर ही धर्म मोक्षका कारण हो सकता है। अतएव भव्योंको अप्रमत्त होकर इस ध्यानका ही सदा अभ्यास करना चाहिये।

मिथ्यार्थाभिनिवेशशून्यमभवत्संदेहमोहभ्रमं,
वान्ताशेषकषायकर्मभिदुदासीनं च रूपं चितः ।
तत्त्वं सद्दृगवाप्यवृत्तमयनं पूर्णं शिवस्यैव तद्,
रुन्धे निर्जरयत्यपीतरदघं बन्धस्तु तद्व्यत्ययात् ॥ ९१ ॥

मिथ्या–विपरीत–प्रमाणबाधित अथवा सर्वथा या एकान्त रूपसे मानी हुई पर या अपर वस्तुओंका जिसमें आग्रह नहीं पाया जाता ऐसे आत्मरूपको अथवा इस तरहका अभिनिवेश जिस अन्तरंग कारणके वशसे हुआ करता है उस दर्शन मोहनीय कर्मसे शून्य आत्मस्वरूपको निश्चयसे सम्यग्दर्शन समझना चाहिये।

यह स्थाणु है अथवा पुरुष, इस तरहकी चलायमान प्रतीतिको संशय; जिसमें अपने विषयका कोई भी निश्चय न हो उसको अनध्यवसाय; और, विरुद्ध पदार्थके ग्रहणको भ्रम या विपर्यय कहते हैं। ये ज्ञान के तीन दोष है। जिसमें ये तीनो ही दोष नहीं पाये जाते, निश्चयसे आत्माके उस स्वरूपको ही सम्यग्ज्ञान कहते है।

स्वतः क्रोधादि कषायोंको तथा हास्यादि कषायोंको दूर करदेनेवाले और, ज्ञानावरणादि कर्मोंको अथवा मन वचन कायके द्वारा होनेवाले व्यापाररूप कर्मको नष्ट करदेनेवाले तथा उदासीन–उपेक्षारूप आत्मस्वरूपको ही निश्चयसे सम्यक् चारित्र कहते है।

---

१ " मिथ्याभिमाननिर्मुक्तिर्ज्ञानस्येष्टं हि दर्शनम् ।
ज्ञानत्वं चार्थविज्ञप्तिश्चर्यात्वं कर्महन्तृता ॥ " इति ॥

ज्ञानमेंसे मिथ्या अभिमानके दूर होजानेको दर्शन, अर्थके जान लेनेको ज्ञान और कर्मोंकी घातकताको चारित्र कहते है।

यह उपर्युक्त सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप आत्माकी अवस्था ही परमार्थभूत है। जिस समय यह पूर्णताको प्राप्त करलेती है उस समय यह मोक्षका ही कारण होती है; न कि संवर निर्जरा अथवा किसी सांसारिक अभ्युदयका। यद्वा रत्नत्रयात्मक आत्माको ही मोक्षमार्ग कहते है। उक्त संवर आदि कार्योंका सिद्ध करनेवाला वही अपूर्ण अथवा दूसरा व्यावहारिक सम्यग्दर्शन है। यह आनेवाले कर्मोंको रोकता और पहले संचित अशुभ अथवा शुभ और अशुभ दोनो ही प्रकारके कर्मोके एक देशको निर्जीर्ण करता है। इस प्रकार मोक्ष संवर और निर्जरा रत्नत्रयमे सिद्ध होते है। किंतु इसके विरुद्ध बंध, मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे हुआ करता है।

---

१ णिच्छयणएण भणिओ तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण गहदि किंचि वि अण्ण ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति ॥

निश्चय नयसे रत्नत्रयसे युक्त आत्मा ही मोक्षका मार्ग है। वह न किसीसे बद्ध होता और न किसीसे मुक्त होता है।

२–जैसा कि कहा भी है कि—

"स्युर्मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि समासत ।
बन्धस्य हेतवोन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तर ॥" इति।

सक्षेपमे बधके कारण मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है। उसके और और जो कारण बताये गये है वे सब इन्हींके विस्तार है—विशेष भेद है जो कि इन्हींमें अतर्भूत होते है।

तथा और भी कहा है कि—

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।
आस्रवति यत्तु पुण्य शुभोपयोगस्य सोयमपराध ॥

निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति किससे होती है सो बताते हैं:—

उद्द्योतोद्यवनिर्वाहसिद्धिनिस्तरणैर्भजन् ।
भव्यो मुक्तिपथं भाक्तं साधयत्येव वास्तवम् ॥ ९२ ॥

उद्योत उद्यव निर्वाह सिद्धि और निस्तरण इन उपायोंके द्वारा भेदरूप व्यावहारिक सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्गका आराधन करनेवाला भव्य पुरुष वास्तविक—पारमार्थिक मोक्षमार्गको नियमसे प्राप्त किया करता है।

व्यावहारिक रत्नत्रयका लक्षण बताते हैं:—

श्रद्धानं पुरुषादितत्त्वविषयं सद्दर्शनं बोधनं,

असमग्र भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो य ।
स विपक्षकृतोवश्य मोक्षोपायो न बन्धनोपाय' ॥

आगममे रत्नत्रयको मोक्षका ही कारण माना है और किसीका भी नहीं । पुण्यकर्मका जो आस्रव हुआ करता है यह शुभोपयोगका अपराध है । अपूर्ण रत्नत्रयका आराधन करनेवालेके जो कर्म–पुण्यकर्मका बध हुआ करता है वह अवश्य ही मोक्षका उपाय हैं, न कि बधनका । क्योंकि उसका बध करनेवाला ससारके कारणोंसे विरुद्ध भावोंको रखता है । अतएव उसका सचित पुण्यकर्म अथवा उसका फल ऐसा होता है जिससे किं मोक्षकी सिद्धिमें सहायता प्राप्त हो । वह पुण्य ससार या उसके कारण कर्मबधका कारण नहीं होता ।

१—उद्द्योतादिकका लक्षण आगे चलकर बतावेंगे ।

सज्ज्ञानं कृतकारितानुमतिभिर्योगैरवद्योज्झनम् ।
तत्पूर्वं व्यवहारतः सुचरितं तान्येव रत्नत्रयं,
तस्याविर्भवनार्थमेव च भवेदिच्छानिरोधस्तपः ॥ ९३ ॥

जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंका अथवा पुण्य और पापके साथ नव पदार्थोंका यथावत् रूपसे यद्वा इनके याथात्म्य—जिसका जैसा स्वरूप है उसके वैसे ही-स्वरूपका श्रद्धान करना इसको व्यवहारसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। और उनके जान लेनेको सम्यग्ज्ञान कहते है। इसी तरह मन वचन और कायके द्वारा किये गये कृत कारित एवं अनुमोदनके द्वारा अवद्य—हिंसा झूठ चोरी कुशील व परिग्रह इन पांच पापोंके सम्यग्ज्ञानपूर्वक छोडदेनेको व्यवहारसे सम्यक्चारित्र कहते है। मनसे अवद्य कर्मका छोडना—कृत, दूसरेसे छुडाना—कारित, और उसको अच्छा मानना अनुमोदन कहाता है। इसी तरह वचन व कायके द्वारा भी तीन तीन भंग होते है। मिला कर नव भंगोसे अवद्यकर्मका त्याग किया जाता है। किंतु यह त्याग सम्यग्ज्ञानपूर्वक होना चाहिये; तभी उसको सम्यक्चारित्र कहते है।

इन तीनो ही को-सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रको रत्नत्रय कहते हैं। इस रत्नत्रयको प्रकट करनेकेलिये ही तप किया जाता है। इच्छा-इन्द्रिय और अनिन्द्रियके द्वारा प्रवृत्त होनेवाली विषयाभिलाषाके निरोध—संयत करनेको तप कहते है। यद्यपि इसका चारित्रमें ही अन्तर्भाव हो जाता है; फिर भी चार आराधनाओंमें इसका पृथक् ही उल्लेख पाया जाता है। अतएव यहांपर भी उसको रत्नत्रयसे भिन्न रूपमें ही दिखाया है।

जिस प्रकार श्रद्धा ज्ञान और चारित्र इन तीनोंके विषय होनेपर ही रसायन औषधसे अभीष्ट फल सिद्ध हो सकता है; अन्यथा नहीं। उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादिकमेंसे भी एक या दोके नहीं, किंतु तीनों ही के-तीनोंके समु-

दायका विषय होनेपर ही हेय व उपादेय तत्व अभीष्ट प्रयोजनको सिद्ध कर सकता है; अन्यथा नहीं। इसी बातको प्रकाशित करते हैं:—

श्रद्धानबोधानुष्ठानैस्तत्त्वमिष्टार्थसिद्धिकृत ।
समस्तैरेव न व्यस्तै—रसायनमिवौषधम् ॥ ९४ ॥

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनमेंसे एक या दोका नहीं किन्तु सबका—तीनो ही का विषयभूत तत्त्व-वस्तुका यथार्थ स्वरूप इष्ट अर्थ अभ्युदय अथवा निःश्रेयसको सिद्ध कर सकता है। जैसे कि श्रद्धा ज्ञान और चारित्र इन तीनोंके होनेपर ही रसायन औषध अभीष्ट फल—दीर्घ आयुष्य आदिको सिद्ध कर सकता है; अन्यथा नहीं। स्वास्थ्यके बढानेवाले और रोगोंको नष्ट करनेवाले पदार्थको रसायन कहते हैं।

व्यवहारमार्गपर आरूढ होनेवालेको सधाधिरूप निश्चयमार्गके द्वारा कर्मशत्रुओके निराकरण करनेका उपदेश देते हैं:—

---

१ दीर्घमायु स्मृतिर्मेधा व्यारोग्य तरुण वय ।
प्रभावर्णस्वरौदार्य देहेन्द्रियबलोदयम् ॥
वाक्सिद्धि वृषता कान्तिमवाप्नोति रसायनात ।
लाभोपायो हि शस्ताना रसादीना रसायनम् ॥ इति ॥

जिससे प्रशस्त रसरक्तादिककी प्राप्ति हो उसीको रसायन कहते है। अतएव उसके सेवन करनेसे दीर्घ आयु स्मरणशक्ति बुद्धिकी प्रखरता विशिष्ट आरोग्य और वयमें तरुणता प्राप्त होती है, प्रभा वर्ण और स्वरमें उदारता आती है, शरीर और इन्द्रियोंमें बलका उदय हुआ करता है, वचनमें सिद्धि पुष्टि और कांतिकी प्राप्ति हुआ करती है।

श्रद्धानगन्धसिन्धुरमदुष्टमुद्यदवगममहामात्रम् ।
धीरो व्रतबलपरिवृतमारूढोरीन् जयेत्प्रणिधिहेत्या ॥ ९५ ॥

श्रद्धानको गन्धहस्तीके समान समझना चाहिये; क्योंकि जिस प्रकार हस्ती अपने पक्षमें बल उत्पन्न करता और परपक्षका उपमर्दन करता है। इसी तरह ज्ञानको नियन्ता समझना चाहिये; क्योंकि पीलवानकी तरह वह भी, जिससे अभीष्टकी सिद्धि हो सके ऐसे उपाय—मार्गका दिखानेवाला है। चारित्रको सेनाके समान समझना चाहिये; क्योंकि वह भी विरुद्ध पक्षके बलको रोकता व नष्ट करता है। इस प्रकार जिसका ज्ञानरूपी नियन्ता—पीलवान उल्लासको प्राप्त हो रहा है और जिसको चारित्ररूपी सैन्यने चारो तरफसे घेर रक्खा है, ऐसे निर्दोष सम्यग्दर्शनरूपी गन्धहस्तीपर आरूढ हुए धीर-कातरतारहित पुरुषको समाधि—ध्यानरूपी शस्त्रके द्वारा प्रतिपक्षी कर्मोंका निग्रह करना चाहिये—उनपर विजय प्राप्त करनी चाहिये।

उक्त उद्योतादिकका लक्षण बताते हैं:—

दृष्ट्यादीनां मलनिरसनं द्योतनं तेषु शश्वद्,—
वृत्तिः स्वस्योद्यवनमुदितं धारणं निस्पृहस्य ।
निर्वाहः स्याद्भवभयभृतः पूर्णता सिद्धिरेषां,
निस्तीर्णिस्तु स्थिरमपि तटप्रापणं कृच्छ्रपाते ॥ ९६ ॥

दर्शन ज्ञान चारित्र और तप इन चारो आराधनाओंमें लगनेवाले मलोंके दूर करनेको उद्योत कहते है। इन्हीमें इनके आराधकके नित्य एकतान होकर रहनेको उद्यव कहते है। तथा लाभ पूजा ख्याति आदिकी

अपेक्षा न करके निराकुलतया इनके धारण करनेको निर्वाह कहते हैं। इसी प्रकार संसारसे भीत रहनेवाले आराधकके इनके पूर्ण होजानेको सिद्धि कहते हैं। और परीषह तथा उपसर्गोंके उपस्थित रहनेपर भी उनसे चलायमान न होकर इनके अंततक पहुंचा देनेको —क्षोभरहित होकर मरणान्त पहुंचा देनेको निस्तीर्णि कहते हैं।

सम्यक्त्वादिकमें लगनेवाले अतीचारोंको बताते हैं—

शङ्कादयो मला दृष्टेर्व्यत्यासानिश्चयौ मतेः ।
वृत्तस्य भावनात्यागस्तपसः स्यादसंयमः ॥ ९७ ॥

शङ्का आदिक (शंका कांक्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टिप्रशंसा अन्यदृष्टिसंस्तव) सम्यग्दर्शनके अतीचार हैं। संशय विपर्यय अनध्यवसाय ये तीन सम्यग्ज्ञानके दोष हैं। एक एक व्रतकी जो पांच पांच भावनाएं बताई हैं जिनका कि आगे चलकर वर्णन करेंगे उनका छोडदेना सम्यक् चारित्रके अतीचार हैं। इसी प्रकार प्राणी और इन्द्रियोंमें संयम धारण न करना तपका अतीचार है।

" उद्द्योतादिकके द्वारा मोक्षमार्गका जो आराधन करना है" ऐसा पहले कहा गया है। अत एव आराधनाका लक्षण यहां बताते हैं—

वृत्तिर्जातसुदृष्ट्यादेस्तद्गतातिशयेषु या ।
उद्द्योतादिषु सा तेषां भक्तिराराधनोच्यते ॥ ९८ ॥

जिसके सम्यग्दर्शनादिक परिणाम उत्पन्न हो चुके हैं ऐसे पुरुषकी उन सम्यग्दर्शनादिकमें रहनेवाले अतिशयों अथवा उद्योतादिक विशेषोंमें जो वृत्ति उसीको दर्शनादिककी भक्ति कहते हैं। और इस भक्तिका ही नाम आराधना है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनादिक और उनके विशिष्ट स्वरूपके धारण करनेको ही उनकी भक्ति कहते हैं; तथा उस भक्तिका ही नाम आराधना है।

केवल व्यवहार नय असद्विषयक है। अतएव जो मनुष्य निश्चय नयको छोडकर केवल व्यवहार नयका स्वार्थसिद्धिकेलिये उपयोग करते है उनका वह स्वार्थ भी भ्रष्ट होजाता है—सिद्ध नहीं होता। इसी बातको दृष्टांतद्वारा स्पष्ट करते हैः—

व्यवहारमभूतार्थं प्रायो भूतार्थविमुखजनमोहात्।
केवलमुपयुञ्जानो व्यञ्जनवद्भ्रश्यति स्वार्थात्॥ ९९॥

निश्चय नयसे विमुख बहिर्दृष्टि लोगोंके अज्ञानके कारण निश्चय नयकी अपेक्षा न करनेवाला और जिसमें इष्ट विषय नही पाया जाता ऐसे प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप व्यवहारका ही प्रायः करके उपयोग करनेवाला मनुष्य स्वार्थ—मोक्षसुखसे इस तरहसे वंचित-भ्रष्ट होजाता है जैसे कि—केवल-स्वररहित और इसीलिये विषयके प्रतिपादन करनेमें असमर्थ ककारादि व्यंजन—अक्षरोंका ही उपयोग करनेवाला अज्ञानी मनुष्य स्वार्थ—वाच्य अभिधेयसे भ्रष्ट होजाया करता है। अथवा केवल—घी चावल आदिसे रहित अतएव इष्ट रसादि विषयसे शून्य दाल आदि व्यंजन पदार्थका ही उपयोग करनेवाला मनुष्य स्वार्थ—स्वास्थ्य आदिसे भ्रष्ट होजाया करता है।

भावार्थ—आगममे ऐसा कहा है कि—

१ वेज्जावच्चणिमित्त गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाण।
लोगिगजणसभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुया॥

ग्लान गुरु बाल या वृद्ध मुनियोंकी वैयावृत्यकेलिये यदि लौकिक जनोंके साथ संभापण करना पडे अथवा लौकिक जनोंकी भाषाका व्यवहार करना पडे तो वह शुभ परिणामोंसे उपयुक्त होनेके कारण निन्दित नहीं है। किंतु इन वचनोंका ऐसा अभिप्राय भी समझना चाहिये कि यदि उनकी वैयावृत्यके अधीन होकर लौकिक संभापणमें नितान्त आसक्त होजाय-केवल व्यवहारका ही उपयोग करने लगे तो वह साधु प्रमत्त होकर ध्यानादिकसे च्युत होजाता और स्वार्थ-उक्त मोक्षसुखसे भी भ्रष्ट होजाता है। अत एव निश्चयको न छोडकर ही व्यवहारका उपयोग करना श्रेयस्कर है।

जिस प्रकार निश्चयके विना व्यवहार नय व्यर्थ है उसी प्रकार व्यवहारके विना निश्चयनय भी कार्यकारी नही है; इस बातको व्यतिरेक मुखसे बताते हैं:—

व्यवहारपराचीनो निश्चयं यश्चिकीर्षति ।
बीजादिना विना मूढः स सस्यानि सिसृक्षति ॥ १०० ॥

वह मूढ बीजादिक—बीज खेत खात जल ऋतु आदिके विना ही सस्य-धान्यको उत्पन्न करना चाहता है जो कि व्यवहारपराङ्मुख-व्यवहार नयसे रहित केवल निश्चय नयसे ही कार्य सिद्ध करना चाहता है।

भावार्थ—विना व्यवहारके केवल निश्चयसे भी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती।

व्यवहार नयका कब अवलम्बन लेना चाहिये और कब उसको छोडना चाहिये; सो बताते हैं:—

भूतार्थं रज्जुवत्स्वैरं विहर्तुं वंशवन्मुहुः ।

१—रोगादिकसे सक्लिष्टको ग्लान कहते है।

श्रेयो धीरैरभूतार्थो हेयस्तद्विहतीश्वरैः ॥ १०१ ॥

जिस प्रकार मनुष्य चलनेमे लकडीका तवतक सहारा लेते है जवतक कि विना सहारेके ही चलनेकी शक्ति प्राप्त नहीं होती। किंतु शक्ति प्राप्त होजानेपर उसका सहारा लेना छोड देते हैं। इसी प्रकार धीर-कातर-तारहित मुमुक्षुओंको भी व्यवहार नयका तवतक अवलम्बन लेना चाहिये जवतक कि उनको किरणोंकी तरहसे स्वच्छन्द निरालम्बनतया निश्चय नयमे संचार करनेकी शक्ति प्राप्त नहीं होती। किंतु उसके प्राप्त होजानेपर उसका अवलम्बन लेना छोड देना चाहिये।

व्यवहार और निश्चय नयका लक्षण क्या है सो वताते है:—

कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये।
साध्यन्ते व्यवहारोसौ निश्चयस्तदभेददृक् ॥ १०२ ॥

निश्चय नयको सिद्ध करनेकेलिये जीवादिक पदार्थोंसे कर्त्ता कर्म करण आदि कारकोंको जो भिन्न रूपसे वतानेवाला है उसको व्यवहार नय कहते है। और जो उनमे परस्पर अभेदका प्रदर्शक है उसको निश्चय नय कहते है।

निश्चय नय दो प्रकारका है एक शुद्ध दूसरा अशुद्ध। इन दोनोका उल्लेख किस प्रकारसे होता है सो वताते है।—

सर्वेपि शुद्धबुद्धैकस्वभावाश्चेतना इति।
शुद्धोऽशुद्धश्च रागाद्या एवात्मेत्यस्ति निश्चयः ॥ १०३ ॥

जितने भी जीव है, संसारी हों और चाहे मुक्त; सभी शुद्ध-रागादि विभावोंसे रहित और

जाता। इस प्रकार ये छह नय है–शुद्ध निश्चय, अशुद्ध निश्चय, शुद्ध सद्भूत, अशुद्ध सद्भूत, अनुपचरितासद्भूत, उपचरितासद्भूत। जो अध्यात्मशास्त्रका रहस्य जाननेवाले है उन्होंने इनको नयचक्र–समस्त नयोंका मूलभूत बताया है।

श्रुतज्ञानके अंशविशेषको अथवा श्रुतज्ञानियोंके अभिप्रायको नय कहते है। अतएव नयके अनेक भेद है। फिर भी यहांपर हमने उसके अध्यात्मभाषाके द्वारा संक्षेपमे मूल छह भेद बताये है। दूसरे ग्रंथोंमें आगमभाषा के द्वारा इन्ही नयोंके नैगमादिक सात मूल भेद गिनाये हैं।

नय समीचीन नहीं, मिथ्या है, इस शंकाका दो श्लोकोंमें निरसन करते है।

अनेकान्तात्मकादर्थादपोद्धृत्याञ्जसान्नयः।
तत्प्राप्त्युपायमेकान्तं तदंशं व्यावहारिकम् ॥ १०८ ॥
प्रकाशयन्न मिथ्या स्याच्छब्दाच्छास्त्रवत् स हि।
मिथ्याऽनपेक्षोऽनेकान्तक्षेपान्नान्यस्तदत्ययात् ॥ १०९ ॥

श्रुतज्ञान व्यवसायरूप–निश्चयात्मक है। उसका अपने विषयके एक देशमे जो अभिप्राय है उसीको नय कहते है। अत एव वह भी सत्य है—वह मिथ्या नही हो सकता। क्योंकि जिस प्रकार शब्दसे उसके अंश-शब्दके अवयव प्रकृति प्रत्यय आदिमेसे किसी भी एक की भिन्न रूपमें विवक्षा करके बतानेवाला व्याकरण शास्त्र मिथ्या नहीं हो सकता उसी प्रकार श्रुतज्ञानके विषयभूत पदार्थके अंशोंमेसे किसी भी एककी भिन्न रूपसे कल्पना कर प्रकाशित करनेवाला नय भी मिथ्या नही हो सकता। जिस प्रकार " देवदत्त रसोई बना रहा है " इत्यादि शब्द अनेकांतात्मक होते है–उनमें प्रकृति प्रत्यय आदि अनेक धर्म पाये जाते है, और यथार्थमे समीचीन है; उसी प्रकार श्रुतज्ञानका विषयभूत पदार्थ भी अस्तित्व नास्तित्व नित्यत्व अनित्यत्व सामान्य सामानाधिकरण्य विशेषण विशेष्य प्रभृति अनेक

धर्मात्मक और परमार्थतः सत्–समीचीन है–काल्पनिक नहीं है। जिस प्रकार शब्दका कोई भी एक अंश शब्दरूपको प्रकाशित करनेमे कारण और व्यवहारका साधक है उसी प्रकार उस वस्तुका भी एक एक अंश अनेकान्तात्मक वस्तुको प्रकाशित करनेका उपाय और प्रवृत्ति निवृत्तिरूप व्यवहारका साधक है। जब कि वह स्वयं सत्य और सत्य व्यवहारके साधक वस्त्वंशको विषय करनेवाला है तब वह मिथ्या नहीं हो सकता । जो अपने ही विषयभूत धर्मकी अपेक्षा करता है और शेष धर्मोंकी अपेक्षा नहीं करता वह मिथ्या माना जाता है, क्योंकि वह दूसरे अनेक धर्मोंका अपलाप करता है। किंतु जो ऐसा नहीं है–जो पर्यायार्थिक द्रव्यार्थिककी और द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिककी भी गौणतया अपेक्षा रखता है वह नय सत्य है; क्योंकि वह अपने विषयोंको दूसरे धर्मोंको अपलाप न करके सिद्ध करता है। वह स्याद्वाद—अनेकांतधर्मका अनुयायी है।

आत्माको कुछ अंशमें विशुद्धि कुछमें संक्लेश होनेपर जो फल प्राप्त होता है उसको बताते हैं।—

येनांशेन विशुद्धिः स्याज्जन्तोस्तेन न बन्धनम् ।
येनांशेन तु रागः स्यात्तेन स्यादेव बन्धनम् ॥ ११० ॥

आत्माके जिन अंशोंमें विशुद्धि–रागद्वेष और मोहका उपशम पाया जाता है उन अंशोंकी अपेक्षासे जीवके कर्मबन्ध नहीं हुआ करता। किन्तु जिन अंशोंमें रागादिकका आवेश पाया जाता है उनकी अपेक्षासे अवश्य ही बंध हुआ करता है।

भावार्थ––यहांपर संवरके विषयमें नयविभाग बताया गया है; जो कि इस प्रकार है:—

मिथ्यादृष्टि प्रथम गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय बारहवें गुणस्थानतक उत्तरोत्तर मंद मन्दतर और मन्दतम रूपसे अशुद्ध निश्चय नय प्रवृत्त हुआ करता है। इनमें तीन प्रकारका उपयोग होता है, अशुभ शुभ

शुद्ध-ज्ञानरूप परिणत तथा एक स्वभाववाले हैं। इसको शुद्ध निश्चय नय कहते है। और रागद्वेषादि परिणामस्वरूप ही आत्मा है, इसको अशुद्ध निश्चय नय कहते है।

व्यवहार नयके दो भेद हैं; एक सद्भूत, दूसरा असद्भूत। इन दोनों ही का उद्देशपूर्वक लक्षण बताते हैं:—

सद्भूतेतरभेदाद्व्यवहारः स्याद् द्विधा भिदुपचारः।
गुणगुणिनोरभिदायामपि सद्भूता विपर्ययादितरः ॥ १०४ ॥

सद्भूत और असद्भूत इस तरह व्यवहार नयके दो भेद है। गुण और गुणीमें अभेद रहते हुए भी भेदकी कल्पना करना इसको सद्भूत व्यवहार नय कहते है। और इसके विरुद्ध—भिन्न वस्तुओंमें अभेदकी कल्पना करनेको सद्भूतव्यवहार नय कहते है।

सद्भूत व्यवहार नयके भी दो भेद है—शुद्ध और अशुद्ध। इन दोनोंका उद्देश बताते हुए, शुद्ध सद्भूत के उल्लेख—आकार और पर्यायवाचक शब्दोंको बताते है।—

सद्भूतः शुद्धेतरभेदाद् द्वेधा तु चेतनस्य गुणाः।
केवलबोधादय इति शुद्धोऽनुपचरितसंज्ञोसौ ॥ १०५ ॥

सद्भूत व्यवहार नय भी दो प्रकारका है, एक शुद्ध दूसरा अशुद्ध। ' केवलज्ञानादिक-असहाय ज्ञानदर्शन प्रभृति गुण चेतन-जीवके है " इसको शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय कहते है। इसका दूसरा नाम अनुप्रचरित भी है।

आगेके पद्यके पूर्वार्धमें अशुद्ध सद्भूत व्यवहार नयका आकार और नाम बताते है। तथा उत्तरार्धमे अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयका आकार दिखाते हैः—

मत्यादिविभावगुणाश्रित इत्युपचरितकः स चाशुद्धः ।
देहो मदीय इत्यनुपचरितसंज्ञस्त्वसद्भूतः ॥ १०६ ॥

विभाव नाम बहिरंग निमित्तका है। उससे उत्पन्न होनेवाले धर्मोंको विभावगुण कहते हैं। ज्ञानके मति श्रुत आदि जो भेद हैं वे सब ऐसे ही है। क्योंकि वे अपने प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम विशेष की अपेक्षासे उत्पन्न होते है। फिर भी उनके विषयमें " मतिज्ञानादिक जीवके है " ऐसा व्यवहार करना इसको अशुद्ध सद्भूत कहते है। इसका दूसरा नाम उपचरित भी है।

ऊपर व्यवहार नयका असद्भूत जो भेद गिनाया है उसके भी दो भेद है। अनुपचरित और उपचरित। " शरीर मेरा है " इस व्यवहारको अनुपचरित असद्भूत कहते हैं। क्योंकि यद्यपि शरीर और आत्मा भिन्न भिन्न है किंतु उनमें परस्पर संश्लेप होरहा है। उसकी अपेक्षासे अभेदकी कल्पना करके ही ऐसा व्हहार किया गया है। इसी प्रकार जिन दो भिन्न पदार्थोंमें ऐसा सम्बन्ध पाया जाय उनमें ऐसी अवस्थामें इस नयका प्रयोग हुआ करता है।

व्यवहार नयके दूसरे भेद उपचरित असद्भूतका आकार बताते हुए प्रकृत विषयका–नयोंके प्रकरणका उपसंहार करते हैं :—

देशो मदीय इत्युपचरितसमाह्वः स एव चेत्युक्तम् ।
नयचक्रमूलभूतं नयषट्कं प्रवचनपटिष्ठैः ॥ १०७ ॥

" यह देश मेरा है " इस तरहके व्यवहारको उपचरितासद्भूत व्यवहार नय कहते है। क्योंकि इन दोनो पदार्थोंमें भेद रहते हुए भी अभेदकी कल्पना की गई है। और उनमें किसी भी प्रकारका संश्लेष भी नहीं पाया

और शुद्ध। मिथ्यादृष्टि सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानोंमें अशुभोपयाग होता है; किंतु वह क्रमसे मन्द मन्दतर और मन्दतम होता है। इसके बाद असंयत देशसंयत और प्रमत्त इन गुणस्थानोंमें शुभोपयोग होता है; किंतु वह क्रमसे शुभ शुभतर और शुभतम होता है। तथा परम्परासे शुद्धोपयोगका साधक होता है। इसके अनन्तर अप्रमत्त सातवें गुणस्थानसे लेकर क्षीणकपाय गुणस्थानतक शुद्धोपयोग होता है। यह शुद्धनयरूप है। और इसमें यह विशेपता है कि इन गुणस्थानोंकी किसी भी विवक्षित एक देशमें जघन्य मध्यम उत्कृष्ट तीन भेदोमेसे किसी भी रूपमें यह हो सकता है।

इनमेंसे मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें संवर नहीं होता। सासादनादिक गुणस्थानोंमें क्रमसे नीचे लिखे अनुसार संवर हुआ करता है। बन्धव्युच्छित्तिके विपयमें जो त्रिभंगी बताई गई है उसके क्रमके अनुसार उत्तरोत्तर गुणस्थानोंमें यह संवर प्रकर्पतया हुआ करता है। किस किस गुणस्थानमें किन किन प्रकृतियोंका संवर होता है सो इस प्रकार है—

प्रथम, गुणस्थानमें मिथ्यात्त्व परिणामोंसे जिन प्रकृतियोंका बंध होता है उनकी व्युच्छित्ति होजानेपर सासादनादि गुणस्थानोंमें उनका संवर होजाया करता है। ये प्रकृति १६ है।— मिथ्यात्त्व १ नपुंसक वेद

१ " सोलसपणवीसणभ दस चउ छक्केक बधवोच्छिण्णा।
दुगतीस चदुरपुव्वे पण सोलस जोगिणो एक्को ॥ " इति। ९४ गो क

जिस गुणस्थानमें जिन प्रकृतियोंकी बंधव्युच्छित्ति बताई है उस गुणस्थानतक उनका बध हुआ करता है; आगेके गुणस्थानोंमें उनका बध नहीं होता। अतएव वहापर उनका संवर माना जाता है। प्रथमादि गुणस्थानोंमेंसे किसमें कितनी प्रकृतियोंकी बधव्युच्छित्ति होती है सो इस प्रकार है—१-१६, २-२५, ३-०, ४-१०, ५-४, ६-६, ७—१, ८-३६, ९-५, १०-१६, ११-१२, १३-१।

२ नरक आयु ३ नरक गति ४ एकेन्द्रिय ५ द्वीन्द्रिय ६ त्रीन्द्रिय ७ चतुरिन्द्रिय जाति ८ हुण्डकसंस्थान ९ असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन १० नरकगत्यानुपूर्व्य ११ आतप १२ स्थावर १३ सूक्ष्म १४ अपर्याप्त १५ साधारण १६। जिनका कि अनंतानुबन्धि कषायके निमित्तसे उत्पन्न हुए असंयमसे एकेन्द्रियसे लेकर सासादन गुणस्थान तकके जीवोंके बंध हुआ करता है उन पच्चीस प्रकृतियोंका आगे चलकर--तृतीयादि गुणस्थानोंमे संवर हो-जाता है। उनके नाम ये है—निद्रानिद्रा १ प्रचलाप्रचला २ स्त्यानगृद्धि ३ अनतानुबंधि क्रोध ४ मान ५ माया ६ लोभ ७ स्त्रीवेद ८ तिर्यगायु ९ तिर्यग्गति १० चार संस्थान ११–१४ (न्यग्रोध परिमंडल १ स्वाति १ कुब्जक ३ वामन ४) चार संहनन १५–१८ [वज्रनाराच १ नाराच २ अर्धनाराच ३ कीलक ४] तिर्यग्गत्यानुपूर्व्य १९ उद्योत २० अप्रशस्त विहायोगति २१ दुर्भग २२ दुःस्वर २३ अनादेय २४ नीचगोत्र २५। तीसर गुणस्थानमे किसी भी प्रकृतिकी बंधव्युच्छित्ति नही होती अत एव इस अपेक्षासे चतुर्थ गुणस्थान मे किसी भी प्रकृतिका संवर भी नही होता। तीसरे गुणस्थानमे आयुकर्मका बंध नहीं हुआ करता। तो भी इसको संवर नही कह सकते; क्योंकि आगे चलकर उसका बंध होता है। पांचवे गुणस्थानमे उन १० प्रकृतियोंका संवर हुआ करता है जिनका कि एकेन्द्रियसे लेकर चतुर्थ गुणस्थानतकके जीव अप्रत्याख्यान कषायके निमित्तसे उत्पन्न हुए असंयमके द्वारा बंध किया करते है। वे दश प्रकृति ये है—अप्रत्याख्यान क्रोध १ मान २ माया ३ लोभ ४ मनुष्य आयु ५ मनुष्यगति ६ औदारिकशरीर ७ औदारिक अङ्गोपाङ्ग ८ वज्रर्षभनाराच-संहनन ९ मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्व्य १०। जिनका कि प्रत्याख्यान कषायके उदयसे उत्पन्न हुए असंयमके द्वारा एकेन्द्रियसे लेकर संयतासंयत गुणस्थानतकके जीवोंके बंध हुआ करता है ऐसी चार प्रकृति है; प्रत्याख्यान क्रोध मान माया लोभ। इनका छठे आदि गुणस्थानोंमे संवर हुआ करता है। प्रमादके निमित्तसे असातावेदनीय अरति शोक अस्थिर अशुभ और अयशस्कीर्ति इन छह प्रकृतियोंका आस्रव होता है। अतएव छठे गुणस्थानतक इनका बंध होता है और सातवेंसे संवर होजाता है। देवायुके बंधका प्रारम्भ प्रमत्तके ही होता है; किन्तु उससे निकटवर्ती अप्रमत्त गुणस्थानमें भी उसका बंध हुआ करता है। अतएव उसके आगे आठवेंसे उसका संवर होता है। सज्वलन कषायके निमित्तसे जिन प्रकृतियोंका आस्रव होता है उनका

उसके अभावमे संवर हो जाया करता है। सामान्यसे संज्वलन कपायके तीन भाग हैं-तीव्र मध्यम जघन्य। ये तीन प्रकारके कपाय क्रमसे आठवें नौवे और दशवें गुणस्थानमें होते है। तीव्र संज्वलनमे बंधनेवाली ३६ प्रकृतियोंका बध आठवें तक होता है। उसके आगे उस कपायके न रहनेपर उनका संवर होजाता है। किंतु आठवें गुणस्थानमें भी इन ३६ प्रकृतियोंमेंसे पहले भागतक निद्रा और प्रचला इन दोका, तथा दूसरे भागतक देवगति १ पञ्चेन्द्रिय जाति २ वैक्रियिक ३ आहारक ४ तैजस ५ कार्माण शरीर ६ समचतुरस्र संस्थान ७ वैक्रियिक अङ्गोपाङ्ग, ८ आहारक अङ्गोपाङ्ग ९ वर्ण १० गंध ११ रस १२ स्पर्श १३ देवगतिप्रायोग्या-नुपुर्व्य १४ अगुरुलघु १५ उपघात, १६ परघात १७ उच्छ्वास १८ प्रशस्त विहायोगति १९ त्रस २० बादर २१ पर्याप्त २२ प्रत्येक शरीर २३ स्थिर २४ शुभ २५ सुभग २६ सुस्वर २७ निर्माण २९ तीर्थंकर ३० इन तीस प्रकृतियोंका; और तीसरे भागतक हास्य १ रति २ भय ३ जुगुप्सा ४ इन चार प्रकृतियोंका बंध हुआ करता है। आगे आगेके स्थानोंमें उनका संवर होजाया करता है। मध्यम कपाय नवम गुणस्थानमें होता है। उसके निमित्तसे अनिवृत्तिबादरके आदिके संख्यात भागोतक पुरुषवेद और संज्वलन क्रोधका मध्यके संख्यात भागोतक संज्वलन मान और मायाका, तथा अंतके भागतक लोभका बंध हुआ करता है। उसके आगे इस कपायके न रहनेसे इन पांचो प्रकृतियोंका संवर होजाता है। मन्द संज्वलन कपायके उदयसे पांच ज्ञानावरण चार अन्तराय यशस्कीर्ति उच्चगोत्र इन सोलह प्रकृतियोंका बंध दशवे गुणस्थान-सूक्ष्मसापरायतक हुआ करता है। इसके आगे इनका संवर होजाता है। ग्यारहवें उपशांतकपाय गुणस्थान और बारहवे क्षीणकपाय तथा तेरहवें सयोगकेवलमे योगके निमित्तसे एक सातावेदनीय कर्मका ही बंध होता है। उसके आगे चौदहवे अयोगकेवलमे उसका भी संवर हो जाता है।

यहांपर शुद्ध निश्चय नयकी प्रवृत्ति है अत एव शुद्ध बुद्ध और एक स्वभाव निजात्मा ही यहांपर ध्येय है। यहापर शुद्धोपयोग घटित होता है, क्योंकि यहा ध्येय शुद्ध, अवलम्बन शुद्ध और आत्मस्वरूप साधक भी शुद्ध ही है। इसीको भावसंवर कहते है। यह न तो संसारके कारणभूत मिथ्यात्व या रागादिरूप अशुद्ध

पर्यायोकी तरह अशुद्ध ही है, और न फलभूत केवलज्ञानरूप शुद्ध पर्यायके समान शुद्ध ही है। किंतु अशुद्ध और शुद्ध दोनोंसे विलक्षण एक तीसरी ही अवस्था है। जो कि शुद्धात्माके अनुभवरूप निश्चय रत्नत्रयात्मक और मोक्षका कारण तथा एक देश व्यक्त और एक देश ही निरावरण है।

नित्य और अत्यंत निर्मल तथा स्व और पर पदार्थोंके प्रकाशन करनेमें समर्थ चिदानन्दात्मक परमात्माकी भावनासे उद्भूत शुद्ध निजात्माके अनुभवरूप निश्चय रत्नत्रय धर्मको अमृतके समुद्रके समान समझना चाहिये। उसमे अवगाहन करनेवालोंके यदि उसके रसका लेशमात्र भी उदय या उदीर्णाको प्राप्त हो जाता है तो वही अपनी उपासना करनेवालोंका अनुग्रह-कल्याण कर देता है। यही बताते हैः—

कथमपि भवकक्षं जाज्वलद्दुःखदाव,-
ज्वलनमशरणो ना बम्भ्रमन् प्राप्य तीरम्।
श्रितबहुविधसत्त्वं धर्मपीयूषसिन्धो,—
रसलवमपि मज्जत्कीर्णमृध्नोति विन्दन् ॥ १११ ॥

जिसमे दुःखरूपी दावानल वारम्बार और तीव्र रूपसे जल रहा है ऐसे संसाररूपी अरण्यमें अत्यन्त भ्रमण करते हुए जो शरणरहित पुरुष किसी भी तरह—बडे कष्टोंसे धर्मरूपी अमृतके समुद्रके उस तीरको कि जिसका निकटभव्य प्रभृति अनेक जीवोंने आश्रय लेरक्खा है, प्राप्त करलेते और उसमे अवगाहन करनेवाले अत्यंत धन्य मुमुक्षुजनों-घटमान योगियोंके द्वारा उदीर्ण-प्रकाशित रसके लेशमात्रको भी पालेते हः वे ज्ञान संयम आदिके द्वारा तथा हर्ष बल ओज और वीर्य आदिके द्वारा समृद्ध हो जाते है।

धर्माचार्यके द्वारा जिसकी बुद्धिमे व्युत्पन्नता-रहस्यज्ञता प्राप्त हो गई है ऐसा निकटभव्य पुरुष परिग्रहत्यागादिकके द्वारा उसी भवमे या कुछ ही भवोंमें अपनी आत्माको संसाररहित बना देता है, यह बताते हैः—

त्यक्त्वा सङ्गं सुधीः साम्यसमभ्यासवशाद् ध्रुवम् ।
समाधिं मरणे लब्ध्वा हन्त्यल्पयाति वा भवम् ॥ ११२ ॥

प्रमाण नय निक्षेप और अनुयोगोके द्वारा जिसकी बुद्धिमें व्युत्पन्नता प्राप्त हो गई है ऐसा भव्य पुरुष यदि चरमशरीरी हो तो उसी भवमें संसारको नष्ट कर देता है मुक्तावस्थाको प्राप्त करलेता है। यदि चरमशरीरी न हो तो वह समतारूप या सामायिकरूप परिणामोका भले प्रकार अभ्यास करके उसकी निरंतर की गई भावनासे परिग्रहका त्याग कर और मरणसमयमे समाधि–रत्नत्रयकी एकाग्रताको धारण कर संसारकी मर्यादा–भवोंके प्रमाणको बिलकुल कम कर देता है–कुछ ही भवोंमें मुक्त हो जाता है।

अभेद समाधिके माहात्म्यकी प्रशंसा करते हैः—

अयमात्मात्मनात्मानमात्मन्यात्मन आत्मने ।
समादधानो हि परां विशुद्धिं प्रतिपद्यते ॥ ११३ ॥

जिसको स्वसंवेदनके द्वारा भले प्रकार साक्षात्कार हो चुका है ऐसा जीव इन्द्रिय और मनसे उत्पन्न हुए –क्षायोपशमिक ज्ञानमय निजात्मस्वरूपसे हटकर शुद्ध चिदानन्दस्वरूप निजात्माकी सिद्धिकेलिये निर्विकल्प निजात्मामे स्वसंवेदनरूप निजात्मा ही के द्वारा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप निजात्माका ही भले प्रकार ध्यान करके घातिकर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुई अथवा समस्त कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न हुई विशुद्धिको प्राप्त कर लेता है।

ध्यानकी सामग्रीका क्रम और उससे प्राप्त होनेवाले साक्षात् तथा परम्परा फलको बताते है—

इष्टानिष्टार्थमोहादिच्छेदाच्चेतः स्थिरं ततः ।

ध्यानं रत्नत्रयं तस्मात् तस्मान्मोक्षस्ततः सुखम् ॥ ११४ ॥

जिससे कि इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान नहीं हो पाता किंतु इष्टमें प्रीति-राग होता और अनिष्टमें अप्रीति द्वेष होता है उस मोहके और तत्सदृश दूसरे भी भावोंके नष्ट हो जानेसे चित्तमें स्थिरता-निश्चलता प्राप्त होती है। मनके स्थिर हो जानेसे ध्यान होता और ध्यानसे रत्नत्रयकी पूर्णता होती है। रत्नत्रयके पूर्ण होजानेसे मोक्षकी सिद्धि और मोक्षसे अनंत सुखकी प्राप्ति होती है।

शिव-कल्याणरूप है बुद्धि जिनकी और जिन्होंने सुमना—देवों तथा विद्वानोंको तृप्त करनेकेलिये जिनेन्द्र भगवान्के आगमरूपी क्षीरसमुद्रको भले प्रकार मथकर धर्मामृतको निकाल प्रकाशित किया है ऐसे श्रीमान् आशाधर सदा जयवंते रहो। तथा हरदेव नामक प्रसिद्ध वे भव्यात्मा इस ग्रंथको समृद्ध करें कि जिनके उपयोगकेलिये उन्हीं आशाधरने इस ग्रंथकी टीकारूपी शुक्तिकी सुखपूर्वक रचना की है।

॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

भद्रम्



॥ दूसरा अध्याय ॥

किन २ उपायोंसे व्यवहार मोक्षमार्गका आराधन करनेवाला निश्चय मोक्षमार्गको सिद्ध करलेता है ? तो इसके उत्तरमें पहले यह कहा गया है कि "उद्योत उद्यव निर्वाह सिद्धि और निस्तरण इन उपायोंसे उसके आराधन करनेवालेको निश्चय मोक्षमार्गकी सिद्धि होती ही है।" किंतु यहांपर चार आराधनाओंमेंसे पहली सम्यग्दर्शन आराधनाका प्रकरण है; अत एव उस विषयमें यह समझलेना आवश्यक है कि अपनी कारणसामग्रीके मिलजानेपर मुमुक्षु भव्योंके यद्यपि सम्यग्दर्शन उद्भूत होजाता है; फिर भी वह निकट भव्योंके भी सिद्धि–पूर्णताका संपादन करनेकेलिये उस चारित्रकी अपेक्षा रखता है—विना उस चारित्रकी सहायताके सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता कि जिसकी प्रकर्षता, उत्तरोत्तर बढती चली जा रही हो। इसी बातको यहांपर कहते हैः—

आसंसारविसारिणोऽन्धतमसान्मिथ्याभिमानान्वया-
च्च्युत्वा कालबलान्निमीलितभवानन्त्यं पुनरतद्बलात् ।
मीलित्वा पुनरुद्गतेन तदपक्षेपादविद्याच्छिदा,
सिद्ध्यै कस्यचिदुच्छ्रयत् स्वमहसा वृत्तं सुहृन्मृग्यते ॥ १ ॥

यह अनादि मिथ्यादृष्टि जीव, समस्त संसारमें फैले हुए–अपने कार्यसे सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करनेवाले विपरीताभिनिवेशरूप भावमिथ्यात्वसे अथवा दुराग्रहको निमित्तभूत युक्तियोंके द्वारा उत्पन्न हुआ अहंकार जिसका अनुगमन करता है ऐसे अंधतम–द्रव्यमिथ्यात्वसे यद्वा दुर्नयोंके विलाससे अनंत संसारका निर्मीलन –संवरण करता हुआ–तिरस्कार करता हुआ किसी प्रकार–कालादि लब्धिके निमित्तसे अथवा कार्यसिद्धिकेलिये अनुकूल समयकी सामर्थ्यसे दूर हुआ। किंतु फिर भी वह उसी मिथ्यात्वकी सामर्थ्यसे उसके प्रभावमें तिरोहित

होगया। क्योंकि अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य कालादि लब्धिके निमित्तसे अन्तर्मुहूर्तकेलिये औपशमिक सम्यग्दर्शनको प्राप्त करलेता है। परन्तु शीघ्र ही उससे च्युत होकर फिर मिथ्यात्वपरिणामोंसे ही नियमसे आक्रांत होजाता है। जैसा कि कहा भी है—

" निशीथ वासरस्येव निर्मलस्य मलीमसम्।
पश्चादायाति मिथ्यात्व सम्यक्त्वस्यास्य निश्चितम्" ॥ इति।

जिस प्रकार निर्मल दिनके बाद मलीमस रात्रिका आगमन अवश्य ही होता है। उसी प्रकार इस—अनादि मिथ्यादृष्टि जीवके प्रथम ही उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शनके बाद मिथ्यात्वपरिणाम भी नियमसे होते हैं।

ऐसा होनेपर भी उस अंधतम—द्रव्यमिथ्यात्वका प्रध्वंस होजानेसे अविद्या—अज्ञान—कुमति कुश्रुत और विभङ्ग अथवा संशय विपर्यय और अनध्यवसाय इन तीन अज्ञानोंका छेदन करनेवाला वह सम्यग्दर्शनरूप आत्मीय अथवा निज तेज फिरसे उद्भूत होता है। किन्तु वह मित्र शुद्धात्मस्वरूपकी प्राप्तिकेलिये अथवा अपना उत्कर्ष और परका अपकर्ष सिद्ध करनेकेलिये किसी कियाके ही निकटभव्यके ही अथवा विजिगीपुके ही मित्रके समान बढते हुए चारित्रके साहाय्यकी अपेक्षा करता है। क्योंकि जिस प्रकार मित्रकी सहायताके विना विजय प्राप्त नहीं हो सकती उसी प्रकार चारित्रकी सहायताके विना सम्यग्दर्शन भी सिद्धिलाभ—मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

मुमुक्षुओंको मिथ्यात्वके बढानेवाली या उपकृत करनेवाली सामग्रीको दूर करनेका उपदेश देते हैं:—

द्रवयन्तु सदा सन्तस्ता द्रव्यादिचतुष्टयीम्।
पुंसा दुर्गतिसर्गे या मोहारेः कुलदेवता ॥ २ ॥

जिस प्रकार विजिगीपुओंको प्रतिपक्षियोंकी दुर्गति करनेमें कुलदेवी साहाय्य किया करती है उसी प्रकार मनुष्योंको मिथ्याज्ञान या नरकादि दुर्गतियोंको प्राप्त करानेमें द्रव्यादिककी चौकडी मिथ्यात्वकी सहायता

किया करती है। परसमयके अनुसार मानी हुई कुदेवादिककी मूर्तिप्रभृतिको मिथ्यात्वका द्रव्य, उसको बढानेवाले तीर्थ आदि अनायतनोंको उसका क्षेत्र, संक्रांति ग्रहण प्रभृति मिथ्यादर्शनके बढानेवाले समयको उसका काल, और शंका कांक्षा आदि परिणामोंको मिथ्यात्वका भाव कहते हैं। यह द्रव्यादिकी चौकडी मिथ्यात्वको तयार करती और मनुष्योंकेलिये कुज्ञान तथा नरकादि दुर्गतियोंको उत्पन्न करती है। अत एव सत्पुरुषोंको उचित है कि वे सदा उसको दूर करनेका ही प्रयत्न करें।

मिथ्यात्वका कारण और लक्षण बताते हैं:—

मिथ्यात्वकर्मपाकेन जीवो मिथ्यात्वमृच्छति ।
स्वादुं पित्तज्वरेणेव येन धर्मं न रोचते ॥ ३ ॥

मोहनीय कर्मकी मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे जीवोंके जो भाव होते हैं उनको मिथ्यात्व कहते हैं; जिनसे कि उस जीवको धर्मकी तरफ रुचि नहीं होती। क्योंकि दर्शनमोहनीय कर्म मद्यके समान माना है। अत एव इसके उदयसे जीव वस्तुतत्त्वमें अनेक प्रकारसे मोहित-मूर्च्छित हुआ करता और विपरीत अभिनिवेशसे आक्रांत-ग्रस्त होजाया करता है। इसीलिये वह वस्तुके वास्तविक स्वरूपका श्रद्धान नहीं कर सकता। और धर्मके विषयमें उसकी रुचि भी नही होती। जिस तरहसे कि पित्तज्वरवाले मनुष्यको स्वादु-मधुर रस भी रुचिकर नहीं होता उसी प्रकार मिथ्यादृष्टिको भी वास्तविक धर्म रुचिकर नहीं होता।

मिथ्यात्वके भेदोंको उसके प्रणेताओंकी अपेक्षासे बताते हैं:—

बौद्धशैवद्विजश्वेतपटमस्कारिपूर्वकाः ।
एकान्तविनयभ्रान्तिसंशयज्ञानदुर्दृशः ॥ ४ ॥

मिथ्यात्वके पांच भेद है—एकान्त विनय विपर्यय संशय और अज्ञान। किसी एक धर्मको– अंशको देखकर समस्त वस्तुको सर्वथा वैसा ही मानना इसको एकान्त मिथ्यात्व कहते है। और वैसा मानने या प्रणयन करनेवाले वौद्धादिकोंको एकान्त मिथ्यादृष्टि कहते है। समीचीन और मिथ्या दोनो ही प्रकारके देव-गुरु शास्त्रको समान समझ कर वैसी ही दोनोकी एकसी भक्ति आदि करना, इसको विनय मिथ्यात्व कहते है। और इसके प्रणेता शैवादिकोको वैनयिक कहते है। वस्तुतत्वके विपरीत श्रद्धानको विपर्यय मिथ्यात्व और उसके प्रणेता याज्ञिक ब्राह्मणादिकोंको विपरीत मिथ्यादृष्टि कहते है। "केवली कवलाहारी ही होते है अथवा उसके विपरीत" यद्वा "स्त्रीको उसी भवसे मोक्ष होती है या नही" इस तरहकी जिसमें चलायमान प्रतीति पाई जाय उस मिथ्या श्रद्धानको संशयमिथ्यात्व और उसके प्रणेता श्वेताम्बरादिकको संशयमिथ्यादृष्टि कहते है। सर्वज्ञादिके विपयमें किसी भी प्रकारका विश्वास न करनेको या "अज्ञानसे ही मोक्ष होती है" इस श्रद्धानको अज्ञान मिथ्यात्व कहते है। और उसके प्रणेता मस्करी आदिको अज्ञान मिथ्यादृष्टि कहते है।

पार्श्वनाथ भगवान्‌के तीर्थमें और महावीर स्वामीके समयमें मस्करी पूरण नामका एक ऋषि होगया है। वह ग्यारह अंगका पाठी था। वह चाहता था कि मै केवल ज्ञान उत्पन्न होते ही वीर भगवान्‌की दिव्यध्वनि सुनूं—मेरे निमित्तसे ही उनकी दिव्यध्वनि खिरना सुरू हो और मै उनका गणधर बनूं। इसलिये वह केवल ज्ञान होते ही महावीरस्वामीके समवसरणमें गया। किंतु उसके निमित्तसे भगवान्‌की दिव्यध्वनि न निकली और गौतमके निमित्तसे निकली। इसलिये उसको यह मत्सरता उत्पन्न हुई कि इन्होने ग्यारह अंगके धारक मेरे निमित्तसे अपनी दिव्यध्वनिका निर्गम न किया किंतु अपने शिष्य गौतमके निमित्तसे किया। इस मत्सरताके कारण वह विरुद्ध होकर और ये सर्वज्ञ ही नही ऐसा मानकर समवसरणके बाहर आया और आकर उसने अपना यह मत प्रकाशित किया "अज्ञानसे ही मोक्ष होती है"। अतएव अज्ञान मिथ्यात्वका प्रणेता मस्करी माना जाता है।

पांचो प्रकारके मिथ्यात्वोमें दोष दिखानेके अभिप्रायसे क्रमानुसार पहले एकान्त मिथ्यात्वके दोप बताते हैं–

अभिसरति यतोङ्गी सर्वथैकान्तसंवित,—
परयुवतिमनेकान्तात्मसंवित्प्रियोपि ।
मुहुरुपहितनानाबन्धदुःखानुबन्धं,
तमनुषजति विद्वान् को नु मिथ्यात्वशत्रुम् ॥ ५ ॥

जिसके निमित्तसे यह प्राणी अपनी अनेकांतसंवित्तिरूप प्रिया—वल्लभाके रहते हुए भी परकान्ताके समान सर्वथैकान्ता संवित्तिसे अभिसरण करने लगता है, और इसीलिये जो विविध प्रकारसे बन्धों—प्रकृति आदि कर्मबन्धों अथवा रस्सी आदिके द्वारा होनेवाले बन्धोंसे उत्पन्न हुए दुःखोंकी परम्पराओंको उन प्राणियोंकेलिये पुनः पुनः उपस्थित करता है, ऐसे मिथ्यात्वशत्रुसे, भला ऐसा कौन विद्वान् होगा जो कि सम्बन्ध रखना चाहे ? कोई भी नहीं। भावार्थ—जिस प्रकार लोकमें विचारशील पुरुष व्यसनोंमें फंसाकर दुःख भुगानेवालेको अपना शत्रु समझकर छोडदेते हैं या उससे सम्बध नहीं करते। उसी प्रकार मुमुक्षु ज्ञानी भव्योंको आत्मस्वरूपसे हटाकर पर स्वरूपमें मोहित करदेनेवाले और विविध प्रकारके दुःखोंको देनेवाले तथा उनके कारणोंको संचित करनेवाले मिथ्यात्वको शत्रु समझकर छोडदेना चाहिये और उससे सम्बन्ध नही रखना चाहिये।

विनयमिथ्यात्वकी निन्दा करते हैं—

शिवपूजादिमात्रेण मुक्तिमभ्युपगच्छताम् ।
निःशङ्कं भूतघातोयं नियोगः कोपि दुर्विधेः ॥ ६ ॥

शिवपूजा या गुरुपूजा आदिके करनेमात्रसे ही मुक्ति प्राप्त होजाती है, जो ऐसा माननेवाले हैं उनका दुर्दैव निःशंक होकर प्राणिवधमें प्रवृत्त हो सकता है। अथवा उनका दुरागम-दूषित सिद्धांत प्राणिवध करनेकेलिये मनु-

ण्योंको नियमसे और अच्छी तरहसे प्रवृत्त करदेता है। भावार्थ—इसका कारण यह हो सकता है कि महादेवको उनके सिद्धांतमें भूतोंका सहार करनेवाला माना है। इसालिये उनका सिद्धांत आदर्शको पूज्य बताकर पूजकोको आदर्शके अनुसार चलनेका—भूतघात—प्राणिवध करनेका अवश्य ही उपदेश देता है। अत एव उसकी पूजामात्रसे मुक्ति माननेवाले वैनयिक भी निःशंक होकर उस कर्ममें प्रवृत्त हो सकते हैं।

विपरीत मिथ्यात्वको छोडनेकेलिये प्रेरणा करते हैं:—

येन प्रमाणतः क्षिप्तां श्रद्दधानाः श्रुतिं रसात्।
चरन्ति श्रेयसे हिंसां स हिंस्या मोहराक्षसः॥ ७ ॥

अपना हित चाहनेवालोंको उस विपरीताभिनिवेशके उत्पन्न करनेवाले मोहकर्मरूपी राक्षस–निशाचरका ही वध करना उचित है, जिसके कि वशमें पडकर ये प्राणी – विपरीतमिथ्यादृष्टि लोक प्रमाणसे–"वेद आप्तप्रणीत नही है; क्योंकि वह पशुवधका उपदेश देता है" इत्यादि युक्तियोंके द्वारा खण्डित किये जानेपर भी उस श्रुति–वेदवाक्यका ही श्रद्वान करते और कल्याणकेलिये–जिससे कि स्वर्गादिककी प्राप्ति हो सके, उस पुण्यकेलिये हिंसाका आचरण किया करते है।

संशय मिथ्यात्वकी निन्दा करनेके अभिप्रायसे कलिकालमे संशय मिथ्यादृष्टियोंके साहाय्यको प्रकाशित करते हैः—

अन्तःस्खलच्छल्यमिव प्रविष्टं रूपं स्वमेव स्ववधाय येषाम्।
तेषां हि भाग्यैः कलिरेष नूनं तपत्यलं लोकविवेकमश्नन्॥ ८ ॥

जिनका कि निजका वह स्वरूप जिसमें कि पूर्वोक्त "केवली कवलाहारी है या अन्य प्रकारके, स्त्री उसी

भवसे मुक्त होती या नहीं, " इस तरहकी चलायमान प्रतीति शल्य-कांटेकी तरहसे घुसी हुई है, और इसीलिये जो अपना ही वध करनेवाला है; क्योंकि संशय मिथ्यादर्शन भी आत्मस्वरूपसे विपरीत ही है; और इसीलिये वह भी आत्माका घातक ही है। मालुम पडता है कि ऐसे पुरुषोंके भाग्यसे ही यह कलिकाल नियमसे लोकोंके —व्यवहर्त्ता पुरुषोंके विवेक-युक्तायुक्तकी विचारशक्तिका संहार करता हुआ अच्छी तरहसे अपने प्रतापको प्रकट कर रहा है। यहांपर कलिके विषयमें ऐसा कहकर, श्वेताम्बर मत कलिकालमें ही प्रकट हुआ है, इसका स्मरण दिलाया है। क्योंकि पांच प्रकारके मिथ्यात्वमेंसे संशय मिथ्यात्वको पुष्ट करनेवाला श्वेताम्बर मत कलिकालमें ही उद्भूत हुआ है। शेष चार प्रकारके द्रव्य मिथ्यात्वके प्रणेता कलिके पहले ही उत्पन्न हो चुके थे।

अज्ञान मिथ्यादृष्टियोंके दुर्विलासोंपर खेद प्रकट करते हैं:—

युक्तावनाश्वस्य निरस्य चाप्तं भूतार्थमज्ञानतमोनिमग्नाः।
जनानुपायैरतिसंदधानाः पुष्णन्ति ही स्वव्यसनानि धूर्ताः॥ ९॥

जिस प्रकार सुख पदार्थ अवश्य है क्योंकि उसका कोई बाधक प्रमाण संभव नहीं है। इसी प्रकार कोई न कोई सर्वज्ञ अवश्य ही है; क्योंकि उसका भी बाधक-उसके विरुद्ध-" सर्वज्ञ कोई नहीं है " इस बातको सिद्ध करनेवाला कोई प्रमाण सम्भव नहीं है। यह बात निश्चित है। इत्यादि सर्वज्ञकी साधक युक्तियोंपर विश्वास न करके; वल्कि परमार्थतः सत्-प्रमाणसे सिद्ध होनेपर भी उस आप्त परमेष्ठीका निरसन करके, बडे दुःखकी बात है कि, अज्ञानके अंधकारमें बिलकुल डूबे हुए कुछ धूर्त लोक संसारके लोगोंको अनेक प्रकारके उपायोंसे ठगते फिरते

१—यहांपर मिथ्यात्वसे द्रव्य मिथ्यात्व ही समझना चाहिये। क्योंकि भावरूप मिथ्यात्व सदा ही रहा करता है। किंतु द्रव्य मिथ्यात्वकी—जिससे कि भाव मिथ्यात्वकी पुष्टि होती है और तदनुरूप देवगुरुशास्त्रकी तथा उनकी मूर्ति आदिकी कल्पना और रचना हुडावसर्पिणी कालमें ही हुआ करती है।

सप्तार्चिकी उपमा दी है। इससे किसी किसीने जो मिथ्यात्वके सात भेद माने हैं सो भी इसीमे अन्तर्भूत हो जाते है; यह बात सूचित की है। सात भेदोंके नाम इस प्रकार है—

"ऐकान्तिकं सांशयिक च मूढ स्वाभाविक वैनयिक तथैव।
व्युद्ग्राहिक तद्विपरीतसञ्ज्ञ मिथ्यात्वभेदानववोध सप्त॥"

ऐकान्तिक, सांशयिक, मूढ, स्वाभायिक, वैनयिक, व्युद्ग्राहिक, अव्युद्ग्राहिक, इस तरह मिथ्यात्वके सात भेद है। अथवा तीन दर्शन मोहनीय और चार अनंतानुबंधी कषाय ये सातो ही प्रकृति सम्यक्त्वका घात करती है, अत एव इस अपेक्षासे भी मिथ्यात्वके सात भेद होते हैं।

मिथ्यात्व और सम्यक्त्वकी भले प्रकार पहचान हो सके इसलिये संक्षेपमें दोनोंका लक्षण बताते हैं—

ग्रासाद्यादीनवे देवे वस्त्रादिग्रन्थिले गुरौ।
धर्मे हिंसामयं तद्धीमिथ्यात्वमितरेतरत्॥ १२॥

जिनमें क्षुधा राग द्वेष मोह आदि ऐसे दोष पाये जाते है जिनका कि ग्रासादिके द्वारा-होनेवाले भोजन कवलाहारको देखकर तथा स्त्री शस्त्र अक्षसूत्रका धारण इत्यादि कार्योंको देखकर अनुमान किया जा सकता है उनको कुदेव कहते है। वस्त्र दण्ड पात्र आदि परिग्रहके धारण करनेवालोंको कुगुरु कहते है। जिसमें कि प्राणि-योंके वधको कर्तव्यतया बताया गया है उस आगमको कुधर्म कहते है। इस प्रकार दूषित देवमे परिग्रही गुरुमे और हिंसामय धर्ममें समीचीन देव गुरु धर्मकी बुद्धि रखना इसको मिथ्यात्व कहते है। और इससे विपरीत समी-चीन देव गुरु धर्ममें-निर्दोष देव निर्ग्रंथ गुरु और अहिंसामय धर्ममे देव गुरु धर्मकी श्रद्धा रखनेको सम्यक्त्व कहते है।

सम्यक्त्वकी सामग्रीकी प्रशंसा करते है —

> तद् द्रव्यमव्यथमुदेतु शुभैः स देशः,
> संतन्यतां प्रतपतु प्रततं स कालः ।
> भावः स नन्दतु सदा यदनुग्रहेण,
> प्रस्नौति तत्त्वरुचिमाप्तगवी नरस्य ॥ १३ ॥

जिन भगवान्‌के शरीरकी प्रतिमा आदि द्रव्य अबाधरूपसे उदित हों —अपना कार्य करनेके लिये शक्तियोंको उद्‌भूत करें। समवसरण या चैत्यालय प्रभृति देश—स्थान शुभ कृत्यों व गर्भादि कल्याणकोंके महोत्सवोंसे भले प्रकार पूर्ण रहें। तीर्थंकरोंके समय अथवा सम्यग्दर्शन उत्पन्न होनेके योग्य अर्धपुद्‌गल परिवर्तन कालकी शक्ति सदा अव्याहत बनी रहे। इसी प्रकार सम्यक्त्वके उत्पन्न होनेमें कारणभूत अधःप्रवृत्तकरण आदि आत्माके भाव सदा समृद्धिको प्राप्त हों; जिनके कि अनुग्रहसे आप्तागम—परापर गुरुओंकी वाणी जीवको तत्त्वोंमें रुचि उत्पन्न करादेती है। भावार्थ जिस प्रकार लोकमें गौ खल वगैरह योग्य द्रव्यको पाकर अतिशयको प्राप्त कर लोगोंको दूध दिया करती है उसी प्रकार परापर गुरुओंकी देशना—वाणी भी उक्त द्रव्यादिकी सहायतासे सातिशय होकर जीवोंको सम्यग्दर्शन उत्पन्न कराती है। अत एव देशनामें अतिशय उत्पन्न करनेवाले द्रव्यादि कारणोंकी शक्तियां सदा उद्‌भूत रहें।

यहांपर तत्त्वरुचि—शब्दका अर्थ 'तत्त्वोंकी इच्छा' ऐसा नहीं है। क्योंकि इच्छाके कारणभूत मोह-कर्मका जहांपर उदय नही पाया जाता ऐसे उपशांतकषाय प्रभृति गुणस्थानोंमें अथवा मुक्तात्माओंमें वह-इच्छा नहीं पाई जाती. अत एव तत्त्वरुचि आत्माके उस स्वरूपको कहते हैं जो कि विपरीत अभिनिवेशसे शून्य और पर तथा अपर वस्तुओंके यथार्थ स्वरूपके श्रद्धानरूप है।

परम आप्तका लक्षण बताते हैं—

मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्युक्तः सार्वज्ञसंपदा ।
शास्ति मुक्तिपथं भव्यान् योसावाप्तो जगत्पतिः ॥ १४ ॥

क्षुधा तृषा भय द्वेष राग मोह चिंता जरा रोग मृत्यु स्वेद खेद मद रति विस्मय जन्म निद्रा और विषाद ये अठारह दोष हैं। ये सर्वसाधारण रूपसे तीनों लोकोंके जीवोंमें पाये जाते हैं। अत एव जिनमें ये पाये जांय उनको संसारी और जिनमें न पाये जांय उनको आप्त समझना चाहिये। जो इन अठारह दोषोंसे रहित है, अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त सुख और अनन्त वीर्य इस अनन्त चतुष्टयरूप जीवन्मुक्ति पर्यायके उत्पन्न हो जानेसे समवसरण और अष्ट महाप्रातिहार्यादि विभूतिसे युक्त है, भव्य जीवोंको मोक्षमार्गका स्वरूप बतानें वाला है, उस तीन लोकके स्वामीको आप्त कहते हैं।

भावार्थ— इस श्लोकमें देवके अपायापगम ज्ञान पूजा और वचन इन अतिशयोंको तथा तीन लोकके स्वामित्व—ईश्वरपनेको बताया है। जिसमें ये बातें पाई जांय उसको ही आप्त कहते हैं। अठारह दोष रहित होनेको अपायापगम, अनन्त चतुष्टयके धारणको ज्ञानातिशय, समवसरणादि विभूतिको पूजातिशय और दिव्यध्वनीको वचनातिशय कहते हैं।

---

[१] क्षुधा तृषा भय द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम् ।
जरा रुजा च मृत्युश्च स्वेद खेदो मदो रतिः ॥ १ ॥
विस्मयो जनन निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवा ।
त्रिजगत्सर्वभूताना दोषा साधारणा इमे ॥ २ ॥
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्त सोयमाप्तो निरजन ।
विद्यते येषु ते नित्य तेत्र संसारिण. स्मृता. ॥ ३ ॥

मुमुक्षु भव्योंको परम आप्तकी सेवा करनेकेलिये प्रवृत्ति करनेका उपदेश देते है—

यो जन्मान्तरतत्त्वभावनभुवा बोधेन बुद्ध्वा स्वयं,
श्रेयोमार्गमपास्य घातिदुरित साक्षादशेषं विदन् ।
सद्यस्तीर्थकरत्वपक्त्रिमगिरा कामं निरीहो जगत,
तत्त्वं शास्ति शिवार्थिभिः स भगवानाप्तोत्तमः सेव्यताम् ॥ १५ ॥

किसी पूर्व जन्ममें किये गये तत्त्वाभ्यासकी सामर्थ्यसे उत्पन्न हुए ज्ञानके द्वारा स्वयं ही मोक्षमार्गको जानकर और मोहनीय ज्ञानावरण दर्शनावरण अन्तराय इन चार घाति कर्मोंको नष्ट कर समस्त वस्तुओंको और उनकी त्रिकालवर्त्ती समस्त पर्यायोंको प्रत्यक्ष जानते हुए जो केवलज्ञानके उत्पन्न होते ही तीर्थंकर नामक पुण्य-कर्मके उदयसे उत्पन्न हुई वाणी–दिव्य ध्वनिके द्वारा, वीतराग होनेसे अपने उपदेशसे किसी भी प्रकारके फलकी वाञ्छा न करके, यथेष्ट रूपमें तीन जगत्के जीवोंको जीवादि तत्त्वोंका और मोक्षमार्गका उपदेश देता है उस आप्तोत्तमकी ही, जो कि इन्द्रादिकोंके द्वारा भी पूज्य है, मोक्षके अभिलाषियोंको आराधना करनी चाहिये।

इस तरहके आप्तका निर्णय आजकलके लोगोंको किस तरह हो सकता है? इसका उत्तर देते हैः—

शिष्टानुशिष्टात् सोत्यक्षोप्यागमाद्युक्तिसंगमात ।
पूर्वापराविरुद्धाच्च वेद्यतेद्यतनैरपि ॥ १६ ॥

सर्वज्ञके समयके लोक उसको देखकर जान सकते थे। किन्तु आज कलके लोक उसको नहीं देख सकते; क्योंकि वह अतीन्द्रिय है—चक्षुरादि इन्द्रियोके अगोचर है। फिर भी उस आगमके द्वारा वह जाना जा सकता है, जो कि

शिष्टों–जिन्होंने कि आप्तोपदेशके अनुसार शिक्षाविशेषका संपादन किया है ऐसे—स्वामी समन्तभद्र प्रभृति आचार्योंके द्वारा उपदिष्ट है, "आप्तका आगम प्रमाण है, क्योंकि वह यथावत् वस्तुका उपदेश देता है" इत्यादि युक्तियोंके द्वारा जो भले प्रकार संगत है, एवं जिमके भीतर किसी भी प्रकारसे पूर्वापर विरोध नहीं पाया जाता। क्योंकि वचनको देखकर ही उसके वक्ताके विषयमें प्रामाण्याप्रामाण्यका निश्चय किया जा सकता है। जिन वचनोंमें पूर्वापर विरोध है–एक जगह कहा जाता है कि "न हिंस्यात्सर्वभूतानि" अर्थात् किसी भी जीवकी हिंसा नहीं करनी चाहिये–और दूसरी जगह कहा जाता है कि "यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा" अर्थात् स्वयभूने इन पशुओंकी रचना यज्ञकेलिये ही की है उनको और जो युक्ति––प्रमाणसे संगत नहीं हैं ऐसे वचनोंको प्रमाण नहीं माना जासकता। किंतु जिनमें इस तरहका पूर्वापर विरोध नहीं है और युक्तिसंगत है वे ही वचन शिष्टों द्वारा उपदिष्ट माने जाते और प्रमाण समझे जाते हैं। क्योंकि वचनोंका सदोष और निर्दोष होना सदोष निर्दोष आशयके वक्ता व्यक्तियोंके ऊपर निर्भर है। शुभाशय व्यक्तियोंके सम्वन्धसे वचन प्रशस्त और दुष्टाशयोंके सम्बन्धसे दुष्ट हो जाया करता है।

इसी बातको आगेके पद्यमें दृष्टांतद्वारा स्पष्ट करते हैं:––

विशिष्टमपि दुष्टं स्याद्वचो दुष्टाशयाश्रयम्।
घनाम्बुवत्तदेवोच्चैर्वन्द्यं स्यात्तीर्थगं पुनः॥ १७॥

जिस प्रकार गंगोदक वर्षानेवाले मेघका जल पथ्य होनेपर भी दूषित स्थानपर पडकर अपथ्य होजाता है; उसी प्रकार विशिष्ट–आप्तोपदिष्ट भी वचन दुष्टाशय–जिनके हृदयको दर्शनमोहनीय कर्मके उदयने

१––यथा–आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना भावितव्य नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्॥
[रत्नकरंड––स्वामी समन्तभद्र]

आक्रान्त कर रक्खा है ऐसे रागी द्वेषी उपदेष्टाओंको पाकर दुष्ट- अश्रद्धेय और इसीलिये विपरीत अर्थका करनेवाला होजाया करता है। किन्तु वही जल पवित्र स्थानपर पडता है तो जिस तरह अत्यंत पूज्य होजाता है उसी प्रकार वीतरागी अत एव पवित्र हृदयवाले पुरुष-समन्तभद्रादि आचार्योंको पाकर अतिशय पूज्य एवं श्रद्धेय और इसीलिये समीचीन अर्थको सिद्ध करनेवाला हो जाता है।

आगममें जो वाक्य जिस विषयमें जिस अपेक्षासे कहा गया है उसको उसी विषयमें उसी तरहसे प्रमाणित करनेका उपदेश देते हैं—

दृष्टेर्थेध्यक्षतो वाक्यमनुमेयेनुमानतः।
पूर्वापराविरोधेन परोक्षे च प्रमाण्यताम् ॥ १८ ॥

आगममें तीन प्रकारके पदार्थ बताये हैं-दृष्ट, अनुमेय, और परोक्ष। जो प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा जाने जा सकते हैं ऐसे पौद्गालिक विकारोंको दृष्ट और जो अनुमानके द्वारा जाने जा सकते है ऐसे जीव परमाणु धर्म अधर्म कालाणु आकाश लोक परलोक शुभाशुभ कर्म प्रभृति पदार्थोंको अनुमेय, तथा इन दोनों ही के जो अविषय है ऐसे कर्म स्थिति स्वर्ग नरकके पटलोंकी संख्या द्वीप सागर पर्वत हृदादिका प्रमाण अकृत्रिम चैत्यालय जम्बूवृक्षादिकी रचना आदिको परोक्ष कहते है। इनमेंसे जिस तरहके पदार्थको वतानेकेलिये आगममें जो वाक्य आया हो उसको उसी तरहसे-यदि दृष्ट विषयमें आया हो तो प्रत्यक्षसे और अनुमेय विषयमें आया हो तो अनुमानसे तथा परोक्ष विषयमें आया हो तो पूर्वापरका अविरोध देखकर प्रमाणित करना चाहिये।

आप्तोक्त और अनाप्तोक्त वाक्यकी पहचान वताते है—

यैकवाक्यतया विष्वग्वर्तने सार्हती श्रुतिः।
कचिद्धि केनचिद्धूर्ता वर्तन्ते वाक्क्रियादिना ॥ १९ ॥

जिसकी कि सर्वत्र–न्याय व्याकरण साहित्य वा सिद्धांत सभी विषयोंमें एकवाक्यता पाई जाती है उसी देशनाको आप्तोक्त समझना चाहिये। क्योंकि जो धूर्त है–जो दूसरोको प्रतारित करनेमें तत्पर रहा करते है वे किसी नियत विषयमें अपने किसी नियत ही वचन क्रिया चेष्टा और वेष आदिके द्वारा प्रवृत्त हुआ करते हैं। अर्थात् पूर्वापर अविरुद्ध वचनोको आप्तोक्त और विरुद्ध वचनोंको अनाप्तोक्त समझना चाहिये। क्यों कि धूर्तोंके वचन चेष्टा वेषादिक प्रायः करके कही कुछ और कही कुछ रहा करते है।

आप्तोक्त वचनमे भी हेतुसे वाधा आ सकती है, इस शंकाका परिहार करते है—

जिनोक्ते वा कुतो हेतुबाधगन्धोपि शङ्क्यते।
रागादिना विना को हि करोति वितथं वचः॥ २०॥

राग द्वेष आदि कषायोंपर विजय प्राप्त करनेवाले जिन भगवान्के वचनोंमे युक्तियोंके द्वारा पूर्ण रूपसे वाधा आनेकी तो वात क्या; लेशमात्र भी वाधाकी शंका किस तरह की जा सकती है? क्योकि जहांपर कषाय पाया जाता है वहीं पर वचनमें असत्यताकी सम्भावना होसकती है। इसी वातको ग्रथकार व्यतिरेक रूपसे यहा-पर कहते है; कि ऐसा कौन पुरुष होगा जो कि रागद्वेषमोहके विना वितथ–मिथ्या वचन वोले। अत एव वीत-रागके वचनोंमें अंशमात्र भी वाधाकी संभावना किस तरह हो सकती है?

जो रागादि कषायोंसे आक्रान्त है उनकी आप्तताका निराकरण करते हैः—

ये रागादिजिताः किंचिज्जानन्ति जनयन्त्यपि।
संसारवासनान्तेपि यद्याप्ताः किं ठकैः कृतम्॥ २१॥

जिनको रागादिने जीतलिया है–जो राग द्वेष मोहसे अभिभूत हैं, और कुछ अल्प ज्ञानके धारण कर-

नेवाले है, एवं संसारकी वासनाको–गृह गृहिणी आदि पदार्थोंकी अभिलाषाओंके संसारको संसारमें उत्पन्न कर रहे है, ऐसे पुरुषोंमे भी यदि लोक आप्त–यथार्थ वक्ता सर्वज्ञकी कल्पना करते हैं तो फिर ठगोंने ही क्या विगाडा है ? भावार्थ––जब कि दोनो ही संसारकी जनताको ठगनेवाले है तो ठगोंकी निन्दा क्यों की जाती है–उनको भी आप्त क्यों नही मानलिया जाता ? अत एव जो सकषाय और अल्पज्ञ हैं उनको आप्त नही माना जा सकता।

जो आप्ताभास है उनसे उपेक्षा करनेका उपदेश देते हैः—

योऽर्धाङ्गे शूलपाणिः कलयति दयितां मातृहा योत्ति मांसं,
पुंस्ख्यातीक्षाबलाद्यो भजति भवरसं ब्रह्मवित्तत्परो यः।
यश्च स्वर्गादिकामः स्यति पशुमकृपो भ्रातृजायादिभाजः,
कानीनाद्याश्च सिद्धा य इह तदवधिप्रेक्षया ते ह्युपेक्ष्याः ॥ २२ ॥

महादेव अपने शरीरके आधे भागमे दयिता–पार्वतीको और हाथमे शूल–त्रिशूलको धारण करता है, बुद्ध-ने अपनी माताका घात कर–उत्पन्न होते ही माको मारकर मांसका भक्षण किया। सांख्य पुरुष और प्रकृति इन दोनो ही के ज्ञानके बलसे विषयसुखका सेवन करता है। वेदान्ती ज्ञान ही है एक रूप जिसका ऐसे ब्रह्मतत्वका जाननेवाला होकर भी उसी संसारके रसका अनुभव करनेवाला है। याज्ञिक ब्राह्मण भी स्वर्ग पुत्र धन धान्यादिकी इच्छाको पूरा करनेकेलिये निर्दय होकर बकरी आदि पशुओंके वध करनेमे प्रवृत्त होता है। इनके सिवाय और भी जो कानीन––व्यास वासिष्ठ प्रभृति अनेक पुरुष प्रसिद्धि प्राप्त करगये है; जिन्होंने कि भाईकी स्त्री या चाण्डालकन्या आदिका सेवन किया था; उन सबका स्वरूप ग्रंथोंमें लिखा हुआ है। अत एव उन शास्त्रोंपर भले प्रकार विमर्ष—विचार

१–व्यास कन्यासे उत्पन्न हुए थे इसलिये उन्हें कानीन कहते है।

कर अपने हितकी इच्छा रखनेवाले विचारशील मुमुक्षुओंको इन शिव सुगत सांख्य प्रभृति आप्ताभासोंसे उपेक्षा करना ही उचित है—इनसे न राग करना चाहिये और न द्वेष।

युक्तियोंसे भले प्रकार सिद्ध परमागमके द्वारा जि ने पदार्थोंका अर्थ समझलिया है और उसके अनुसार जो व्यवहार करता है ऐसा पुरुष ही मिथ्यात्वपर विजय प्राप्त कर सकता है। इसी बातको प्रकट करते हैः—

यो युक्त्यानुगृहीतयाप्तवचनज्ञप्त्यात्मनि स्फारिते,—
ष्वर्थेषु प्रतिपक्षलक्षितसदाद्यानन्त्यधर्मात्मसु ।
नीत्या क्षिप्तविपक्षया तदविनाभूतान्यधर्मोत्थया,
धर्मं कस्यचिदर्पितं व्यवहरत्याहन्ति सोऽन्तस्तमः ॥ २३ ॥

आप्तवचनोंके द्वारा उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको आगम कहते है। यहांपर वचनशब्द उपलक्षण है। अत एव आप्तके हाथ वगैरहके संकेतसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानको भी आगम कहते हैं। " सभी पदार्थ अनेकान्तात्मक—अनन्तधर्मात्मक है; क्योंकि वे सत् है। जो जो सत् होते हैं वे वे अनंतधर्मात्मक होते है। अथवा आप्तके वाक्य प्रमाण हैं; क्योंकि वे प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे अविरुद्ध है। जो जो इनसे अविरुद्ध होते हैं वे सब प्रमाण होते है।" इत्यादि अनेक युक्तियोंके द्वारा इस आगमकी प्रामाणिकता भले प्रकार सिद्ध है। इस युक्तिसिद्ध आगमके द्वारा अन्तस्तत्वमें प्रकाशित हुए—स्फुरायमान हुए नास्तित्व अनित्यत्त्व अनेकत्व प्रभृति अनेक

१ जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो हू कत्ता।
भोत्ता य देहमेत्तो ण हु मुत्तो कम्मसंजुत्तो॥ इत्यादि।

प्रतिपक्षी धर्मोंके साथ साथ अस्तित्व नित्यत्व एकत्वादि अनंत धर्मोंके धारण करनेवाले—अनन्तधर्मात्मक जीव पुद्गल धर्म अधर्म काल आकाश इन छहो द्रव्योंमेंसे किसी भी एक वस्तुके एक अंशमें नयकी प्रवृत्ति हुआ करती है। क्योंकि नय उसीको कहते हैं जो कि प्रमाणके द्वारा गृहीत पदार्थके एकदेशको विषय करता है। यह नयपरिपाटी जिस अंशमें प्रवृत्त होती है उसके विरुद्ध धर्मका निराकरण नहीं करती; उसकी अपेक्षा रखती है, और अपने विवक्षित धर्मके अविनाभावी दूसरे धर्मोंसे उत्पन्न होती है। क्योंकि द्रव्यार्थिक नय पर्यायार्थिककी और पर्यायार्थिक द्रव्यार्थिककी अपेक्षा रखनेपर ही समीचीन नय माना जाता है; अन्यथा नहीं। यही बात सदसदादिक दूसरे धर्मोंके विषयमें भी है। इसी तरहसे जिस प्रकार अविनाभावी हेतु धर्मरूप धूमके द्वारा पर्वतमें अग्निका ज्ञान प्राप्त करके लोग उसका प्रवृत्ति निवृत्तिरूप व्यवहार करते हैं उसी प्रकार उक्त युक्ति-सिद्ध आगमके द्वारा जाने हुए पदार्थोंमेंसे किसी एकके विवक्षित-अर्पित धर्मके विषयमें व्यवहर्त्ता नयपरिपाटीके द्वारा प्रवृत्ति निवृत्तिरूप व्यवहार किया करते हैं। जो इस प्रकारसे व्यवहार करनेवाले हैं वे ही अन्तरङ्गमें लगे हुए अन्धकार-मिथ्यात्व या अज्ञानको दूर किया करते हैं। अपने या परके मिथ्यात्वका नाश कर सकते हैं तथा करते हैं।

जीवादिक छह द्रव्योंमेंसे प्रत्येकको युक्तिद्वारा सिद्ध करते हैं:—

सर्वेषां युगपद्गतिस्थितिपरीणामावगाहान्यथा —
योगाद्धर्मतदन्यकालगगनान्यात्मा त्वहंप्रत्ययात् ।
सिध्येत् स्वस्य परस्य वाक्प्रमुखतो मूर्तत्वतः पुद्गल-
स्ते द्रव्याणि षडेव पर्ययगुणात्मानः कथंचिद् ध्रुवाः ॥ २४ ॥

जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल द्रव्य, इस तरह कुल द्रव्य छह ही हैं। जो गुण-पर्यायात्मक है

–जिसके गुण और पर्याय ये दो स्वभाव है उसको द्रव्य कहते है। ये छहो द्रव्य कथंचित् अनित्य हैं। इनमें जो जीव द्रव्य है वह दो प्रकारका है; एक अपने शरीरमें स्थित, दूसरा परके शरीरमें स्थित। पहले प्रकारका जीव अहंप्रत्ययसे सिद्ध होता है–"मै सुखी हूं," इत्यादि अनुभवके द्वारा अपने शरीरमे स्थित आत्माका स्वयं संवेदन होता है। अत एव वह सिद्ध है। परशरीरमें स्थित आत्मा भी वचन प्रभृति हेतुओंसे सिद्ध होता है। क्योंकि किसी प्रश्नका उत्तर देना या कुछ कहना तब तक नही बन सकता जब तक कि उस शरीरमें आत्मा न हो। इसी तरह शरीर या इन्द्रियोकी कुछ श्वासोच्छ्वासादिक क्रियाएं या चेष्टाएं भी ऐसी है जो कि विना आत्माके नहीं हो सकती। अत एव उनसे भी परशरीरमें स्थित आत्माका अस्तित्व सिद्ध होता है। पुद्गलद्रव्यका अस्तित्व मूर्तत्व हेतुसे सिद्ध होता है। रूप रस गंध स्पर्श इन चार गुणोके समूहका नाम मूर्ति है। मूर्ति–ये चारो गुण जिसमें पाये जांय उसको मूर्त कहते है। प्रत्येक पुद्गलमें ये चारो गुण पाये जाते है। परंतु कहीं तो ये चारो ही उद्भूत होते है और कहीं कोई उद्भूत, कोई अनुद्भूत। अत एव इनमेंसे जहां एक भी दीखता है वहां चारो ही माने जाते है। और उससे पुद्गल द्रव्यका अस्तित्व माना जाता है–सिद्ध होता है। इस प्रकार ये दोनो ही द्रव्य प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणके द्वारा सिद्ध है।

शेषके चार द्रव्य––धर्म अधर्म काल और आकाश भी हेतु प्रमाणसे सिद्ध हैं। क्योंकि इन चार द्रव्योंके विना गति स्थिति परिणमन और अवगाहन ये चारो ही एक कालमें सबमें नहीं बन सकते। जिस समय जीव या पुद्गल गमन करते है या ठहरते है उसी समयमें उनका परिणमन और अवगाहन भी हो रहा है। एक समयमें सब पर्यायोंका बाह्य सहायक एक ही द्रव्य नही हो सकता। एक द्रव्य एक समयमें एक ही कार्यका साधक हो सकता है। अत एव एक समयमें होनेवाले इन चार कार्योंके भी बाह्य सहायक चार ही द्रव्य होने चाहिये। जो गतिका सहायक है उसको धर्मद्रव्य, जो स्थितीका सहायक है उसको अधर्मद्रव्य, जो परिणमनका सहायक है उसको कालद्रव्य और जो अवगाहनका सहायक है उसको आकाशद्रव्य कहते है। इस प्रकार छहो द्रव्योंका अस्तित्व प्रमाणसे सिद्ध है।

भावार्थ—जो गुणपर्यायस्वभाव है—जिसके गुण और पर्याय दोनों ही स्वभाव हैं उसको द्रव्य कहते है। सहभावी स्वभावको गुण और क्रमभावी स्वभावको पर्याय कहते हैं। परिणमन सदा स्थिर नहीं रहता; क्योंकि वह उत्पत्तिविनाशात्मक है। पदार्थ स्वभावसे ही सदा एक रूपमें नहीं रहता—वह प्रतिपक्ष एक रूपसे दूसरे रूपमें बदला करता है। इस बदलते रहनेवाले—क्रमभावी स्वभावको ही पर्याय कहते हैं। इस प्रकार पर्यायात्मक रहते हुए भी पदार्थमें प्रतिसमय नित्यताका भी प्रत्यय हुआ करता है। जैसे कि यह वही वस्तु है जिसको पहले देखा था। अथवा "जलसे पृथ्वी और पृथ्वीसे पुनः जलके होजानेपर भी, एवं वायुसे जल और जलसे पुनः वायु आदिके होजानेपर भी उसमें सदा पुद्गलपनेका अनुभव होता है" जिस जिस स्वभावके कारण ऐसा प्रत्यय होता है वह वह पदार्थमें सदा रहा करता है। अत एव इस सदा रहनेवाले—सहभावी स्वभावको गुण कहते है। जैसे कि पुद्गलद्रव्य रूपगुणरूप स्वभाव है। उसी प्रकार रूपगुणका बदलते रहना—हरेसे पीली, पीलेसे काला इत्यादि आकारांतरोंका होते रहना भी इस पुद्गलद्रव्यका ही स्वभाव है। जिस प्रकार पुद्गलमें यह एक रूप गुण है उसी प्रकार और भी अनन्त गुण है। पुद्गलके समान जीवादिकमें भी अनंत गुण हैं। किन्तु जो गुण पुद्गलमें हैं वे ही जीवादिकमें नहीं हैं। द्रव्योंमें गुण सामान्य विशेषरूपमे रहते हैं—कुछ सामन्य गुण रहा करते है कुछ विशेष। इस प्रकार पदार्थके दो स्वभाव हैं; एक गुण दूसरा परिणमन। पदार्थका कोई भी स्वभाव किसी भी क्षणमें उससे पृथक् नहीं हुआ करता। अत एव प्रत्येक पदार्थ प्रतिक्षणमें गुणस्वभाव की अपेक्षा ध्रुव और परिणमनस्वभावकी अपेक्षा उत्पत्तिविनाशात्मक है। इसीलिये उसको कथंचित् अनित्य माना है। तथा इसीसे उसमें भेदाभेदादिकी भी सिद्धि होती है।

ऊपर जो धर्म अधर्म आदि द्रव्योंको सिद्ध करनेकेलिये गति स्थिति आदि सबकी युगपत् सहायता करनेका उल्लेख किया गया है उस विषयमें यह स्पष्ट कर देनेकी आवश्यकता है कि गति और स्थिति सब द्रव्योंमें नहीं पाये जाते। ये जीव और पुद्गलमें ही होते है। किंतु परिणमन और अवगाहन सभी द्रव्योंमें रहा करता है। क्योंकि पर्याय दो प्रकारकी होती हैं— १ अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय। सूक्ष्म परिणमनको अर्थपर्याय और स्थू-

लपरिणमनको व्यंजनपर्याय कहते है। धर्म अधर्म आकाश और काल इनमें अर्थपर्याय भी होती है[1], तथा जीव और पुद्गलमें दोनो तरहकी पर्याय होती है।

पर्यायोंकी तरह गुणोंके भी दो भेद है—मूर्त और अमूर्त। मूर्त द्रव्यमें रहनेवाले गुणोंको मूर्त और अमूर्त द्रव्योंमे रहनेवाले गुणोंको अमूर्त कहते है। पुद्गल द्रव्य मूर्त और शेष द्रव्य अमूर्त है; जैसा कि ऊपरके कथनसे स्पष्ट होता है। संसारी आत्माको भी उपचारसे मूर्त कहते हैं; जैसा कि अगे चलकर बतावेंगे।

इस प्रकारके गुण और पर्याय जिसके स्वभाव है उसको द्रव्य कहते है। इस कहनेका यह अभिप्राय नही समझना चाहिये कि ये स्वभाव भिन्न है। किंतु इन दो स्वभावोंके समूहका ही नाम द्रव्य है। अत एव जैसा कि स्वभाव और स्वभाववान्मे अन्तर होना चाहिये वैसा ही इनमें भेद भी है। इस प्रकार अपने स्वभावसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न द्रव्य उक्त प्रकारका है—जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश और काल। इन द्रव्योंकी सत्ता ऊपर हेतुपूर्वक सिद्ध की जा चुकी है। अत एव उसके यहा दुहरानेकी आवश्यकता नही है। किंतु यह अवश्य समझना चाहिये कि द्रव्य छह ही है और ये ही छह द्रव्य हैं; न कम न ज्यादे, और न अन्य। जैसा कि नैयायिकोने पृथिवी जल अग्नि वायु आकाश काल दिशा आत्मा और मन, ये नव द्रव्य है, ऐसा कहा है। यह इसलिये ठीक नही है कि इनमेंसे आदिके चार द्रव्य—पृथिवी जल अग्नि और वायु, एक पुद्गल द्रव्यमें ही अन्तर्भूत होजाते है। क्योकि इन सभीमे पुद्गलका लक्षण मूर्त्तिमत्ता पाया जाता है। यह जो कहा जाता है कि पृथिवीमें रूप रस गंध स्पर्श चारो ही गुण पाये जाते हैं; किंतु जलमें गंधके सिवाय तीन, और अग्निमे गंध रसको छोडकर

---

१ धर्माधर्मनभ काला अर्थपर्यायगोचरा ।
व्यञ्जनार्थेन सबद्धौ द्वावन्यो जीवपुद्गलो ॥ १ ॥
स्थूलो व्यञ्जनपर्यायो वाग्गम्यो नश्वर स्थिर ।
सूक्ष्म प्रतिक्षणध्वसी पर्यायश्चार्थसंज्ञक ॥ २ ॥ इति ।

दो; एवं वायुमें एक रूप ही पाया जता है, सो ठीक नही है। क्योंकि यह पहले बता चुके हैं कि इनमेंसे कहीं तो चारो ही गुण उद्भूत होते हैं और कहीं कोई उद्भूत हुआ करता है और कोई अनुद्भूत। किंतु प्रत्येक पुद्गलमें सत्ता चारो हीकी रहा करती है। क्योंकि यदि ऐसा न माना जायगा तो जलसे वायु और वायुसे जलका स्वरूप बदल जानेपर उसमें नवीन गुण किस तरह उत्पन्न हो सकते है? क्योंकि जो गुण मूलमें नहीं हो वह उसकी पर्यायमें भी नही हो सकता। अत एव चारो ही मे चारो गुण और चारोंको पुद्गल द्रव्य ही मानना चाहिये। इसी प्रकार दिशापदार्थ भी भिन्न नहीं है। उसका आकाशमें अन्तर्भाव होजाता है। क्योंकि आकाशप्रदेशोंकी पंक्तिमें ही, इधरको पूर्व और इधरको पश्चिम, ऐसा व्यवहार होता है। दिशापदार्थ स्वतंत्र है; इस बातका साधक कोई हेतु या कारण नहीं है। मन दो प्रकारका होता है; एक द्रव्यमन दूसरा भावमन। संज्ञी जीवोंके हृदयस्थानमें जो अष्टदल कमलके आकारका पौद्गलिक स्कन्धविशेष होता है, जिसकी कि सहायतासे जीव विचारादि किया करता है, उसको द्रव्यमन कहते हैं। इसका पुद्गलमें अन्तर्भाव होजाता है। और जो भावमन है वह ज्ञानरूप है। अत एव उसका आत्मामें अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिये मन नामका भी कोई स्वतन्त्र द्रव्य सिद्ध नहीं होता। इसी तरह और भी जो अनेक प्रकारसे लोगोंने द्रव्यकी कल्पनाएं कर रक्खी है सो ठीक नही है। किन्तु उपर्युक्त छह द्रव्य ही प्रमाणसे सिद्ध है जो कि अपने गुणपर्याय स्वभावके कारण कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य, कथंचित् भिन्न कथंचित् अभिन्न, कथंचित् एक कथंचित् अनेक, इत्यादि अनेक अपेक्षाओंसे अनेकरूप है। द्रव्यरूपकी अपेक्षा जीवादिक समस्त वस्तु नित्य है; क्योंकि, उनमे यह वही है, ऐसा ज्ञान होता है। जो देवदत्त बाल्यावस्थामें था वही अब युवावस्थामें भी है इस प्रकारका प्रत्यभिज्ञानके द्वारा निर्बाध व्यवहार सभी लोग करते हैं। इसका कारण द्रव्यका नित्य स्वभाव ही है। इसी तरह पर्यायदृष्टिसे सभी वस्तु अनित्य है। क्योंकि बाल्यावस्थासे युवावस्था भिन्न है ऐसा सभी लोग मानते है। और यह ज्ञान भी प्रमाणसे सत्य सिद्ध है। किंतु बाल्यावस्थाके विनाश और युवावस्थाके उत्पादके विना यह व्यवहार नहीं हो सकता, जो कि द्रव्यको अनित्य माने विना नही बन सकता। अत एव द्रव्यके उक्त युक्तिसिद्ध स्वरूप और भेदोंको वैसा ही जानकर तथाभूत श्रद्धान करना चाहिये।

धर्मादिक द्रव्योंकी तहरसे आस्रवादिक तत्त्वोंको भी भले प्रकार जानकर उनका श्रद्धान करनेका उपदेश देते हैं।—

धर्मादीनधिगम्य सच्छ्रुतनयन्यासानुयोगैः सुधीः,
श्रद्दध्याविदाज्ञयैव सुतरां जीवांस्तु सिद्धेतरान् ।
स्यान्मनन्दात्मरुचेः शिवाप्तिभवहान्यर्थो ह्यपार्थः श्रमो,
मन्येताप्तगिरास्रवाद्यपि तथैवाराधयिष्यन् दृशम् ॥ २५ ॥

जो मुमुक्षु विशिष्ट ज्ञानके धारक हैं उनको समीचीन प्रमाण नय निक्षेप और अनुयोगोंके द्वारा धर्मादिक द्रव्योंको जानकर उनका श्रद्धान करना चाहिये। किंतु जो मन्दज्ञानी है-जो इन उपायोंके द्वारा द्रव्यस्वरूपका विमर्ष करने और ज्ञान प्राप्त करनेकी शक्ति नहीं रखते उनको केवल आज्ञाके अनुसार ही उनका ज्ञान व श्रद्धान करना चाहिये। तथा विशेषज्ञानी और मदज्ञानी दोनो ही प्रकारके जीवोंको ससारी और मुक्त दो प्रकारके जीवतत्त्वका ज्ञान व श्रद्धान विशेष रूपसे प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि जिनकी आत्मतत्त्वके विषयमें रुचि-श्रद्धा मंद है उनका, मोक्षकी प्राप्ति और संसारका निरास ही जिसका प्रयोजन है ऐसा, कोई भी किया गया परिश्रम सफल नहीं होता-व्यर्थ जाता है। अत एव सम्यग्दर्शनका आराधन करनेवाले—उक्त उद्योतादिकके द्वारा उसको उद्दीप्त व दृढ करनेकी इच्छा रखनेवालोंको धर्मादिक द्रव्यों व विशेष कर आत्माके स्वरूप और भेदों तथा आस्रवादिक तत्त्वों-आस्रव बंध पुण्य पाप संवर निर्जरा मोक्षका आप्त भगवान्के उपदेशानुसार ज्ञान व श्रद्धान करना चाहिये।

भावार्थ—द्रव्यादिकोंके जाननेके उपाय चार तरहके है-प्रमाण नय निक्षेप और अनुयोग। प्रमाण और नयका स्वरूप बताया जा चुका है कि समस्त वस्तुको विषय करनेवाले समीचीन ज्ञानको प्रमाण और

वस्तुके किसी एक अंशके विषय करनेवालेको नय कहते हैं। प्रमाण और नय दोनो ही अर्थरूप शब्दरूप और ज्ञानरूप इस तरह तीन तीन प्रकारके होते हैं। इनमें भी स्यादस्ति आदि सप्तभंगीकी प्रवृत्ति हुआ करती है; जिसका कि विशेष स्वरूप ग्रंथान्तरोंमें बताया गया है।

पदार्थोंके व्यवहार करनेके उपायको निक्षेप कहते है। इसके चार भेद है—नाम स्थापना द्रव्य भाव। गुणकी अपेक्षा न करके केवल व्यवहार प्रयोजनकी सिद्धिकेलिये जो किसीकी कुछ भी संज्ञा रखदी जाती है उसको नाम कहते है। जैसे कि हीरालाल। साकार या निराकार किसी भी वस्तुमें किसी अन्य वस्तुकी, यह वही है ऐसी, कल्पनाको स्थापना कहते है; जिससे कि उस वस्तुका-जिसमें कल्पना की गई है उस वस्तुके समान, जिसकी कि कल्पना की गई है, व्यवहार हो या किया जा सके। जैसे कि देव-ऋषभादिकी मूर्ति या सतरंजके मुहरे। जो वस्तु वर्तमानमें जिसरूप नहीं है, किंतु भूत कालमें वह उस प्रकारकी थी अथवा भविष्यत्‌में उस प्रकारकी होगी उसका वर्तमानमें भी उसी रूपसे व्यवहार करना उसको द्रव्यनिक्षेप कहते है। जैसे कि भूत राजा या भविष्यत राजा—युवराजको वर्तमानमें राजा कहना। जो पदार्थ वर्तमानमें जिसरूप है उसका उसी रूपसे व्यवहार करना इसको भावनिक्षेप कहते है। जैसे कि पूजा करते हुए मनुष्यको पुजारी कहना। इस प्रकार ये चार निक्षेप हैं जिनके द्वारा जीवादिक द्रव्यों व आस्रवादिक तत्त्वों व पदार्थों तथा सम्यग्दर्शनादिक मोक्षके मार्गका यथार्थ व्यवहार किया जाता है। इनका विशेष स्वरूप श्लोकवार्तिक प्रभृति ग्रंथोमे देखना चाहिये। यहांपर केवल मूल अर्थमात्र कहदिया गया है।

इन निक्षेपोंके सिवाय जो पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान प्राप्त करनेकेलिये उपाय बताये गये हैं उनको अनुयोग कहते है। अनुयोगके छह भेद है—निर्देश स्वामित्व साधन अधिकरण स्थिति और विधान। अथवा आठ भेद है—सत् संख्या क्षेत्र स्पर्शन काल अन्तर भाव और अल्पबहुत्व। इसका भी विशेष स्वरूप ग्रंथान्तरोंमें ही देखना चाहिये। आस्रवादिक तत्त्वोंका स्वरूप आगे चलकर लिखेंगे। अत एव यहां उसके दुहरानेकी आवश्यकता नही है। जो विशेषज्ञानी हैं उनको इन प्रमाणादिके द्वारा जीवादिकके द्रव्यों व

आस्रवादिक तत्वोंका स्वरूप भले प्रकार समझकर श्रद्धान करना चाहिये। जो मंदज्ञानी हैं उनको आज्ञानुसार—तत्त्वोंके स्वरूपके विषयमें जो भगवान्ने कहा है वह सब सत्य है; क्योंकि वह श्री जिनेन्द्रदेवका कहा हुआ है; जो कि सर्वज्ञ वीतराग होनेके कारण अन्यथाभाषी नहीं हैं–समस्त द्रव्यों व तत्त्वोंका श्रद्धान करना चाहिये। किंतु आत्मरुचिको बढाने और दृढ करनेका प्रयत्न दोनोंको ही विशेष रूपसे करना चाहिये; क्योंकि इसके विना आत्मकल्याणके सभी कार्य व्यर्थ है।

जीव पदार्थके स्वरूपका विशेष रूपसे ज्ञान कराते हैं:—

जीवे नित्यर्थसिद्धिः क्षणिक इव भवेन्न क्रमादक्रमाद्वा,
नामूर्ते कर्मबन्धो गगनवदणुद् व्यापकेऽध्यक्षबाधा।
नैकस्मिन्नुद्भवादिप्रतिनियमगतिः क्ष्मादिकार्ये न चित्त्वं,
यत्तान्नित्येतरादिप्रचुरगुणमयः स प्रमेयः प्रमाभिः ॥ २६ ॥

जिस प्रकार जीवके सर्वथा क्षणिक माननेसे, जैसी कि बौद्धादिकोंकी कल्पना है, अर्थसिद्धि–कार्यकी निष्पत्ति नहीं हो सकती; उसी प्रकार सर्वथा नित्य माननेसे भी, जैसी कि यौगादिकोंकी कल्पना है, अर्थ–क्रियाकी सिद्धि नहीं हो सकती। जिसमे कि पूर्वाकारका विनाश, उत्तराकारका उत्पाद और सामान्य आकारका अवस्थान पाया जाता है ऐसे परिणमनके द्वारा ही कार्यकी सिद्धि हो सकती है। अत एव यदि यह माना जाय कि जीव सर्वथा क्षणिक है–एक क्षणके बाद ही निरन्वय नष्ट हो जाता है तो, अथवा यह माना जाय कि वह सर्वथा

१— यद्यपि यहांपर प्रसंगवश जीवका ही नाम लिया है; किंतु सभी द्रव्योंके विषयमें ऐसा ही समझना चाहिये।

नित्य है-सदा और सर्वत्र एक रूपमें ही रहता है-उसमें किसी भी प्रकारका परिणमन नहीं होता, तो देशक्रमसे या कालक्रमसे अथवा अक्रमसे-युगपत् अर्थात् किसी भी प्रकारसे कार्यकी निष्पत्ति नहीं हो सकती।

इसी प्रकार यदि जीवको आकाशके समान सर्वथा अमूर्त माना जाय तो उसके साथ कर्मका बंध नहीं हो सकता। क्योंकि मूर्तका ही मूर्तके साथ बंध हो सकता है। अतएव यदि संसारी आत्माको मूर्ति-रूप रस गंध स्पर्श तथा स्निग्धरूक्षत्वसे रहित आकाशके समान माना जाय, जैसा कि नैयायिकोंने माना है तो, उसके साथ पुण्यपापरूप कर्मोका, जो कि मूर्त पौद्गलिक है, बंध नहीं हो सकता। इसी तरह आत्माका व्यापक स्वरूप भी उसी तरह प्रत्यक्षविरुद्ध है; जिस तरहसे कि उसका अणुरूप। कोई कोई आत्माको अणुके समान और कोई कोई सर्वत्र व्यापक मानते है। किंतु ये दोनो कल्पनाएं प्रत्यक्षविरुद्ध है; जैसा कि आगे चलकर बताया जायगा। यदि आत्माको एक—अद्वैत और विभु माना जाय, जैसा कि ब्रह्माद्वैतवादियोंने माना है तो, जन्म मरण जरा प्रभृति कार्योंके विशिष्ट नियमकी, जैसा कि देखनेमें आता है, सिद्धि नहीं हो सकती। यदि ऐसा माना जाय कि आत्मा पृथिवी आदि भूतोंसे ही उत्पन्न होता है-उन्हीका कार्य है जैसा कि चार्वाकादिकोंने माना हे तो उसमें चैतन्य—ज्ञानदर्शनका प्रत्यय नहीं हो सकता। क्योंकि जड पदार्थ अपनी जडताका परित्याग नहीं कर सकते। अत एव आत्माका स्वरूप जैसा कि श्री अरहंतदेवने कहा है कि, वह कथंचित् नित्य है कथंचित् अनित्य, कथंचित् मूर्त है कथंचित् अमूर्त, कथंचित् एक है कथंचित् अनेक, इत्यादि अनेकधर्मात्मक है, उसी प्रकार उसका स्वसंवेदनप्रत्यय अनुमान प्रमाण या आगम प्रमाणके द्वारा निश्चय करना चाहिये और श्रद्धान करना चाहिये।

यह बात पहले बताई जा चुकी है कि जीवादिक वस्तुओंको सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा क्षणिक माना जायगा तो अर्थक्रिया-कारिताकी सिद्धि नहीं होसकती। किंतु इसपर प्रश्न हो सकता है कि यदि अर्थक्रियाकारिता न मानी जाय तो क्या हानि है? इसका उत्तर देते हैं और बताते हैं कि विना अर्थक्रियाकारिताके वस्तुका वस्तुत्व ही नहीं रह सकता। :—

नित्यं चेत्स्वयमर्थकृत्तदखिलार्थोत्पादनात् प्राक् क्षणे,
नो किंचित् परतः करोति परिणाम्येवान्यकाङ्क्षं भवेत् ।
तन्नैतत् क्रमतोर्थकृन्न युगपत् सर्वोद्भवाप्तेः सकृत्,—
नातश्च क्षणिकं सहार्थकृदिहाव्यापिन्यहो कः क्रमः ॥ २७ ॥

वस्तुको यदि सर्वथा नित्य माना जाय तो यह प्रश्न होता है कि वह कूटस्थ नित्य है या परिणामी नित्य ? प्रथम पक्ष प्रत्यक्षविरुद्ध है। अत एव यदि दूसरा पक्ष माना जाय तो यह प्रश्न होता है कि उसका परिणमन किस प्रकारसे होता है? क्योंकि परिणमन दो प्रकारसे हो सकता है। एक तो बाह्य सहकारी कारणोंकी अपेक्षा न रखकर स्वयं अपनी ही सामर्थ्यसे। दूसरा, सहकारी कारणोंकी अपेक्षा रखकर। इनमेंसे यदि पहला पक्ष माना जाय तो वह वस्तु जिस जिस कार्यरूप परिणमन करनेकी योग्यता रखती है उन सभी कार्योंकी उत्पत्ति एक ही क्षणमें हो जा सकती है। क्योंकि उन कार्योंको अपने उत्पन्न होनेकेलिये वस्तुकी उपादान शक्तिके सिवाय किसी बाह्य कारणकी अपेक्षा नहीं है। ऐसा होजानेपर एक ही क्षणमें समस्तकार्यरूप परिणत होजानेसे कारणवस्तु द्वितीयादि क्षणोंमें कुछ भी परिणमन नहीं कर सकती। अत एव पहला पक्ष ठीक नहीं ठहरता—नित्य होकर भी वस्तु स्वयं अर्थकृत् सिद्ध नहीं होती। इसकेलिये यदि दूसरा पक्ष माना जाय तो उसका अर्थ यही होगा कि वस्तु परिणामी ही है।—प्रतिक्षण उसमें उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता लक्षण रहता है - वस्तु कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य है। अत एव यही कहना चाहिये कि वस्तु नित्य माननेपर दोनों ही अवस्थाओंमें अर्थकृत् सिद्ध नहीं हो सकती। न तो क्रमसे ही कार्यकारी सिद्ध हो सकती है और न युगपत् ही। क्योंकि एक ही क्षणमें सब कार्योंके उत्पन्न होनेका दोष उपस्थित हो सकता है; जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। यहांपर बौद्धादिक जो कि क्षणिकवादी है, कह सकते है कि यदि नित्य वस्तु कार्यकारी सिद्ध नहीं होती तो ठीक है। किन्तु क्षणिक वस्तु तो अर्थकृत् सिद्ध हो सकती है। किन्तु उनका भी कहना सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि

उसमें भी एक क्षणमें समस्त कार्योंके उत्पन्न होनेका पूर्वोक्त दोष उपस्थित होगा। इसपर कहा जा सकता है कि यह दोष तब आ सकता है जब कि उसको युगपत् अर्थकृत् माना जाय। किंतु हम उसको क्रमसे अर्थकृत् मानते है। पर यह कहना भी ठीक नहीं हो सकता; क्योंकि क्षणिकमें भी क्रम! यह कैसे हो सकता है कि वस्तु क्षणिक भी हो और क्रमसे कार्यकारी भी हो? इस प्रकार विरुद्ध निरूपण करना एक आश्चर्यकी बात है। क्योंकि यह बात उन्होंने मानी है कि वस्तु देश या कालका अनुवर्तन नहीं करती। जैसा कि—

"यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव स।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते॥"

अर्थात् - पदार्थ देश और कालको व्याप्त करके नहीं रहते। किंतु जो जहां है वह वहीं रहता और जो जिस कालमें है वह उसी कालमें रहता है।

जीव कथंचित् मूर्त है इस बातको बताते हुए उसके साथ होनेवाले कर्मबन्धका समर्थन करते हैं:—

स्वतोऽमूर्तोऽपि मूर्तेन यद्गतः कर्मणैकताम्।
पुमाननादिसंतत्या स्यान्मूर्तो बन्धमेत्यतः॥ २८॥

यद्यपि जीव स्वतः स्वभावसे अमूर्त है—रूप रस गंध स्पर्शसे रहित है; फिर भी मूर्त कर्मोंके साथ इस तरह एकताको प्राप्त होगया है जिस तरहसे कि क्षीरमें नीर मिल जाता है। कर्मोंकी यह संतान अनादि काल-से चली आती है। जिस तरह बीजसे वृक्ष और वृक्षसे बीज होनेका प्रवाह अनादि है, उसी तरह कर्मोंसे जीवकी मूर्तता और उससे पुनः कर्मोंके संचय होनेका प्रवाह अनादि है। इसी प्रवाहके कारण जीव व्यवहारसे मूर्त माना जाता है। क्योंकि दोनोंके प्रदेश परस्परमें इस तहरसे प्रवेश कर जाते हैं—एकके प्रदेश दूसरे द्रव्यके

१—दि जैन सिद्धान्तको माननेवाले।

प्रदेशोंमें इस तरहसे मिल जाते है कि वे मिलकर एक ही पर्यायरूप होजाते है। अत एव स्वतः स्वभावसे जीवके अमूर्त रहते हुए भी व्यवहारसे उसमें मूर्तता मानी जाती है। और इसीलिये वह कर्मबन्धको प्राप्त हो जाता है। क्योंकि मूर्तके साथ बंध होनेमे कोई बाधा नहीं आ सकती।

इस तरह आगमके अनुसार आत्माकी मूर्तता सिद्ध है; किंतु इस विषयमें युक्ति भी दिखाते है:—

विद्युदाद्यैः प्रतिभयहेतुभिः प्रतिहन्यते।
यच्चाभिभूयते मद्यप्रायैर्मूर्तस्तदङ्गभाक् ॥ २९ ॥

अतर्क्यतया उपस्थित होनेवाले विजलीकी गर्जना, मेघका शब्द या वज्रपात प्रभृति विविध प्रकारके त्रासके कारणोंसे यह जीव प्रतिहत-स्तब्ध हो जाता है— इसकी गति रुक जाती है। इसी तरह मदिरा भङ्ग कोदो विष धतूरा अफीम आदि पदार्थोंसे इसकी सामर्थ्य नष्ट हो जाती है। इससे सिद्ध होता है कि अङ्ग-शरीरको अपने अङ्गकी तरहसे धारण करनेवाला यह जीव मूर्त है। क्योंकि यदि यह शरीरी-संसारी जीव, क्योंकि जितने संसारी जीव हैं वे सब मूर्त हैं ऐसा पहले कहा गया है, मूर्त न हो तो उसकी उक्त अवस्थाए नहीं हो सकती है।

इस प्रकार आगम और युक्तिसे सिद्ध होनेपर भी जिसके कर्मकी मूर्तता भले प्रकार अनुभवमें आजाय ऐसा प्रमाण बताते है :—

यदाखुविषवन्मूर्तसंबन्धेनानुभूयते।
यथास्वं कर्मणः पुंसा फलं तत्कर्म मूर्तिमत् ॥ ३० ॥

कर्म दो प्रकारके हैं। एक तो वे जिनका कि फल सुखके कारणभूत इन्द्रियोंके विषय हैं। दूसरे वे

कि जिनका फल दुःखके कारणभूत इन्द्रियोंके विषय है। इनमेंसे जो कर्म जिस तरहका है वह उसी तरहका फल उत्पन्न करता है। जिस तरहसे कि चूहेके विषसे शरीरमें चूहे सरीखे ही जीव पडजाते है। इसी तरहसे पुण्यकर्मके उदयसे सुखरूप और पाप कर्मके उदयसे दुःखरूप फल उत्पन्न होते है। ये फल मूर्त हैं और मूर्त पदार्थके संबंधसे ही जीव उनको भोगता है। इससे अनुभवमें आता है कि वह कर्म भी मूर्तिमान् ही होना चाहिये। क्योंकि यह नियम है कि जिसका अनुभव मूर्त पदार्थके संबंधसे होगा वह स्वयं भी अवश्य मूर्त ही होगा।

अपने प्राप्त शरीरकी बराबर जीवका परिणाम होता है; इस बातको सिद्ध करते हैं।—

स्वाङ्ग एव स्वसंवित्त्या स्वात्मा ज्ञानसुखादिमान्।
यतः संवेद्यते सर्वैः स्वदेहप्रमितिस्ततः॥ ३१॥

ज्ञान दर्शन सुख प्रभृति गुणों व पर्यायोंसे युक्त अपनी आत्माका अपने अनुभवसे अपने शरीरके भीतर ही सब जीवोंको संवेदन होता है। इससे माळूम होता है कि जीवका परिमाण अपने शरीरके बराबर ही है।

भावार्थ—निज आत्माका स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा बाहर नहीं किंतु अपने शरीरमे ही अनुभव होता है। और शरीरमें कहीं कहीं नहीं किंतु उसके सभी प्रदेशोंमें होता है। इससे माळुम पडता है कि जीवका परिमाण अपने गृहीत शरीरके बराबर ही रहता है; न छोटा न बडा। क्योंकि जिस प्रकार दीपक जिस कमरे आदिकमें और उसके जितने प्रदेशोंमे प्रकाश करता हुआ उपलब्ध होता है वह उसी जगह और उतने ही प्रदेशोंमें है; ऐसा माना जाता है। उस पदार्थके अस्तित्वकी उपलब्धि उसके असाधारण गुणोंसे होती है। जिस तरह दीपके अस्तित्वका प्रत्यय उसके भासुरता आदि गुणोंसे होता है उसी प्रकार जीवके अस्तित्वका प्रत्यय

उसके ज्ञानदर्शन सुख वीर्य प्रभृति असाधारण गुणोंसे होता है। इन गुणोंका अनुभव शरीरके भीतर ही होता है और उसके समस्त प्रदेशोंमे होता है। इससे सिद्ध है कि आत्माका परिमाण शरीरके बराबर ही है।

प्रत्येक शरीरमें जीव भिन्न भिन्न है, यह बात दिखाते है —

यदैवैकोऽश्नुते जन्म जरां मृत्युं सुखादि वा।
तदैवान्योऽन्यदित्यङ्ग्या भिन्नाः प्रत्यङ्गमङ्गिनः ॥ ३२ ॥

जिस समयमे एक जीव जन्म धारण करता है उसी समयमें दूमरा वृद्ध हो जाता है। या एक बुड्ढा होता है तो उसी समयमें दूसरा जन्म ग्रहण करता है। जब कि एक सुख और ऐश्वर्यका भोग करता है तो दूसरा उसी समयमें दुःख और दुर्गतियोंको भोगता है। यह जगत्की विचित्रता है, जो कि प्रायः सभीके निर्बाध और वास्तविक ज्ञानमे प्रतिभासित होती है। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक शरीरमें शरीरका धारण करनेवाला आत्मा भिन्न भिन्न ही है।

" जीव पृथिवी आदि भूतोंका ही कार्य है " इस बातका, चार्वाकको लक्ष्य करके खण्डन करते हैं —

चितश्चेत् क्ष्माद्युपादानं सहकारि किमिष्यते।
तच्चेत् तत्त्वान्तरं तत्त्वचतुष्कनियमः क सः ॥ ३३ ॥

" जीव पृथिवी आदि भूतोंका कार्य है, " चार्वाककी इस कल्पनापर सहज ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि वह भूतचतुष्टयका कार्य है तो भूतचतुष्टय उसका उपादान कारण है या सहकारी कारण ? यदि

१, २—जो कार्यरूप परिणत होजाय उसको उपादान कारण कहते हैं, और जो कार्यके उत्पन्न होनेमें बाह्य सहायक हो, उसको सहकारी या निमित्त कारण कहते हैं।

उपादान कारण है तो उसका निमित्त कारण कौन माना जायगा ? क्योंकि विना निमित्त कारणके कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। यह कार्यमात्रकेलिये नियम है कि अन्तरङ्ग और बाह्य दोनो कारणोंके मिले विना वह उत्पन्न नहीं हो सकता। अत एव चेतना-कार्यकेलिये भी भूतचतुष्टयको अन्तरंग-उपादान कारण मानलेनेपर भी सहकारी कारणकी अपेक्षा होगी। यदि दूसरे पक्षके अनुसार भूतचतुष्टयको उसका निमित्त कारण माना जाय तो जीवतत्त्व भूतचतुष्टयसे भिन्न ही है ऐसा सिद्ध होता है। और ऐसा होनेपर "पृथिवी जल अग्नि और वायु ये चार ही तत्त्व है" ऐसा चार्वाकोंका नियम किस तरह स्थिर रह सकता है ? इससे सिद्ध होता है कि जीवतत्त्व भूतचतुष्टयका कार्य नहीं है।

चेतना किसको कहते है सो बताते हैः—

अन्वितमहमिकया प्रतिनियतार्थावभासिबोधेषु ।
प्रतिभासमानमखिलैर्यद्रूपं वेद्यते सदा सा चित् ॥ ३४ ॥

यथायोग्य इन्द्रियोंके ग्रहण करने योग्य घटपटादिक पदार्थोंको प्रकाशित करनेवाले ज्ञानोंमें अन्वित और अहमहमिका—जिस मैंने पहले घटको देखा और जाना था वही मैं अब वस्त्रको देख जान रहा हूं. इस तरहके पूर्वाकार और उत्तराकारको विषय करनेवाले संवेदनके द्वारा अपने स्वरूपको प्रकाशित करनेवाले जिस रूपका सभी सदा स्वयं अनुभव करते हैं उसीको चेतना कहते हैं। इस चेतनाके तीन भेद हैं; कर्मफल चेतना, कर्मचेतना और ज्ञानचेतना।

जब कि चेतनाके तीन भेद है तो यह बताइये कि कौनसा जीव प्रधानतया किस चेतनाका अनुभव करता है ? इसका उत्तर देते है—

सर्वे कर्मफलं मुख्यभावेन, स्थावरास्त्रसाः ।

सकार्यं चेतयन्तेऽस्तप्राणित्वा ज्ञानमेव च ॥ ३५ ॥

स्थावर—पृथिवीकायिकसे लेकर वनस्पति पर्यंत पांचो ही प्रकारके सभी एकेन्द्रिय जीव, मुख्यतया कर्मफलका अनुभव करते है। जो द्वीन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रियतक त्रस जीव है वे सभी कर्मके साथ साथ कर्मफलका भी अनुभव करते है। जिनकी प्राणिता अस्त हो चुकी है—जिनके द्रव्यप्राण और उसके कारण नष्ट हो चुके हैं ऐसे जीव ज्ञानका ही अनुभव करते है।

सुखदुःखरूप कर्मफलके अनुभवको कर्मफलचेतना, प्रवृत्तिकी कारणभूत क्रियाओंकी प्रधानता उत्पन्न हुए सुखदुःखरूप परिणामोंके अनुभवको कर्मचेतना, स्वतः आत्मासे अभिन्न अत एव स्वाभाविक सुखके अनुभवनको ज्ञानचेतना कहते हैं इनमेंसे कर्मफलचेतना मुख्यतया स्थावरजीवोंके, मुख्यतया कर्मचेतना और गौणतया कर्मफलचेतना त्रसजीवोंके तथा मुख्यतया ज्ञानचेतना और गौणतया कर्मफलचेतना तथा कर्मचेतना द्रव्यप्राणरहित जीवोंके होती है। व्यावहारिक तथा पारमार्थिक दृष्टिसे प्राणरहित जीव क्रमसे दो प्रकारके है—एक जीवन्मुक्त, दूसरे परममुक्त। जो परममुक्त हैं उनके कर्म और कर्मफल सर्वथा निर्जीर्ण होचुके है और वे अत्यंत कृतकृत्य है; अत एव वे उक्त प्रकारके ज्ञानका ही अनुभव करते है। किंतु जो जीवन्मुक्त है वे मुख्यतया ज्ञानका और गौणतया उक्त दोनों चेतनाओंका अनुभव करते है; जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। कर्मफलचेतना और कर्मचेतना दोनोंको अज्ञानचेतना कहते है। क्योंकि दोनोंमें ज्ञानसे भिन्नताका प्रत्यय होता है कर्मचेतनामे "ज्ञानसे भिन्न इसका मै कर्त्ता हूं" ऐसा, और कर्मफल चेतनामें, "ज्ञानमे भिन्न इसको मै भोगरहा हूं" ऐसा अनुभव होता है। ये दोनो ही जीवन्मुक्तके इसलिये गौण होजाते हैं कि उनके बुद्धिपूर्वक कर्मोंके कर्तृत्व और उनके फलके भोक्तृत्वका विनाश होजाता है।

अब क्रमप्राप्त आस्रवतत्त्वका स्वरूप बताते है:—

ज्ञानावृत्त्यादियोग्याः सदृगाधिकरणा येन भावेन पुंसः,

शस्ताशस्तेन कर्मप्रकृतिपरिणतिं पुद्गला ह्यास्रवन्ति ।
आगच्छन्त्यास्रवोसावकथि पृथगसद्दृग्मुखस्तत्प्रदोष,—
प्रष्ठो वा विस्तरेणास्रवणमुत मतः कर्मतास्तिः स तेषाम् ॥ ३१

योगके द्वारा कर्मप्रकृतिरूप परिणमनको—पुद्गलत्वकी अपेक्षा ध्रौव्य एव परिणमनकी अपेक्षा पूर्वाकारके परिहार तथा उत्तराकारकी प्राप्तिको धारण करते हुए और ज्ञानावरणादि कर्मरूप होनेके योग्य तथा जीवके समानस्थानवाले कर्मवर्गणारूप पुद्गल जीवके जिन प्रशस्त या अप्रशस्त—शुभ या अशुभ भावोंसे आते हैं उनको आस्रव कहते हैं । इसीके विस्तारदृष्टिसे मिथ्यादर्शन[1] प्रभृति तथा तत्प्रदोपादिक[2] विशेष भेद गिनाये हैं । अथवा योगोंके द्वारा ज्ञानावरणादिके योग्य पुद्गलोंके आनेको भी आस्रव कहते है । यहांपर आनेका अर्थ उनका ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणमन होना है । आस्रवके इन दो लक्षणोंमेंसे पहला भावास्रवका और दूसरा द्रव्यास्रवका लक्षण समझना चाहिये । क्योंकि जीवके भावोंसे कर्म आते है, उनको भावास्रव और कर्मयोग्य पुद्गलोंके आनेको द्रव्यास्रव कहते है । यथा—

आसवदि जेग कम्म परिणामेणप्पणो स विण्णेओ ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवण परो होदि ॥

जीवके जिन परिणामोंसे कर्म आते हैं उनको भावास्रव और कर्मोंके आनेको द्रव्यास्रव कहते हैं ।

---

१ ' मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बधहेतव " । इस सूत्रमें बताये हुए ।
२ " तत्प्रदोषनिन्हवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयो. " इत्यादि सूत्रोंके द्वारा उक्त ।

ऊपर कर्मवर्गणाओंके विषयमें जो जीवके समानस्थानवाले ऐसा विशेषण दिया है उसका अभिप्राय यह है कि कर्मका सम्बंध जीवके जितने प्रदेश है उन सबके साथ होता है। न तो जीवके बाहर संबंध होता है और न जीवके किसी प्रदेशको छोडकर ही होता है। अत एव आस्रव भी जीवके समस्त ही प्रदेशोंमें होता है। क्योंकि जीवके जिन परिणामोंसे कर्म आते है वे समस्त प्रदेशोंमें ही हो सकते है। क्योंकि जीव अखण्ड द्रव्य है। उसमें किसी भी गुणका कोई भी परिणमन समस्त द्रव्यमें ही हो सकता है।

जीवके परिणामोंसे जो पुद्गल आते है वे आत्माको प्राप्त होकर परस्परमें अत्यंत अवगाढताको धारण करलेते है — एक दूसरेके प्रदेशोंमें प्रवेश कर अवस्थित होजाते है और कर्मरूप परिणमन करलेते है। यथाः—

अत्ता कुणदि सहाव तत्थगदा पुग्गला सहावेहिं।
गच्छति कम्मभाव अण्णोण्णा गाढमवगाढा॥

भावास्रवके भेद गिनाते हैं:—

मिथ्यादर्शनमुक्तलक्षणमसुभ्रंशादिकोऽसंयमः,
शुद्धावष्टविधो दशात्मनि वृषे मान्द्यं प्रमादस्तथा।
क्रोधादिः किल पञ्चविंशतितयो योगस्त्रिधा चास्रवाः,
पञ्चैते यदुपाधयः कलियुजस्ते तत्प्रदोषादयः॥ ३७॥

भावास्रवके पांच भेद है, मिथ्यादर्शन १ असंयम २ प्रमाद ३ कषाय ४ और योग। इन्हीके विशेष भेद तत्प्रदोषादिक है; जैसा कि पहले कहा जा चुका है और जिनसे कि कर्मोंका बंध होता है।

मिथ्यादर्शन—इसका लक्षण पहले "मिथ्यात्वकर्मपाकेन" इत्यादि श्लोककी व्याख्याद्वारा बताया-

जा चुका है। वहींपर उसके भेद भी गिनादिये गये है। अत एव यहां फिर उसके दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है।

असंयम--प्राणघात-हिसा आदि भावोंको असंयम कहते है। इसके बारह भेद है। जिसमेंसे ६ प्राणासयम और ६ इंद्रियासंयमके है। पांच स्थावर (पृथिवी जल अग्नि, वायु वनस्पति) और त्रस इन छह कायके जीवोंकी हिंसादि करना प्राणासयम है। पांच इंद्रिय और एक मन इन छहोंको अपने अपने विपयसे न रोकना इन्द्रियासंयम है। इस प्रकार असयमके कुल बारह भेद होते है।

प्रमाद—किसी भी काममे सावधानता न रखनेको प्रमाद कहते है। यहां अनगार धर्मका प्रकरण है, अत एव आठ प्रकारकी शुद्धि, दश प्रकारका धर्म, तथा और भी धर्माचरणोंमें मन्दता करनेको-उसके सेवन करनेमे उत्साह न रखनेको प्रमाद समझना चाहिये। जसा कि आगममे भी बताया है—

सञ्ज्वलननोकपायाणा य स्यात्तीव्रोदयो यते ।
प्रमाद सोऽस्त्यनुत्साहो धर्म्ये शुद्ध्यष्टके तथा ॥

यतियोंके सञ्ज्वलन और नोकपायका उदय जो तीव्र होता है उससे आठ प्रकारकी शुद्धि और धार्मिक आचरणमे उत्साह नही होता; इसीको प्रमाद कहते है। यह प्रमाद पद्रह प्रकारका है। यथा—

विकहा तहा कसाया इदिय णिद्दा य तह य पणओ य ।
चदु चदु पण एगेग होंति पमादा हु पण्णरसा ॥

१—भिक्षा ईर्या शयनासन विनय व्युत्सर्ग वचन मन और शरीर। २—उत्तम क्षमा मार्दव आर्जव आदि।

चार विकथा (स्त्री कथा भक्तकथा राष्ट्रकथा राजकथा), चार प्रकारका कषाय (क्रोध मान माया लोभ,) पांच इन्द्रिय. [स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और श्रोत्र], एक निद्रा और एक प्रणय—स्नेह[१]।

आत्माके क्रोधादिरूप विकृत भावोंको कषाय कहते है। इसके ५२ भेद है। क्रोध मान माया लोभ इन चार कषायोंमेंसे प्रत्येकके चार चार भेद हैं अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। इसके सिवाय हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्री पुरुष नपुसक नव भेद ये। कुल मिलाकर कषायके २५ भेद होते है। यद्यपि हास्यादिकको नोकषाय कहते है, न कि कषाय। फिर भी नोकषाय शब्दका अर्थ ईषत् कषाय होता है; और थोडेमे भेदकी विवक्षा नही भी की जा सकती है। अत एव कषायशब्दसे ही यहां सबका उल्लेख किया है। और आगममें भी कषाय २५ गिनाये है. इसालिये यहां किसी तरहकी शंकाका स्थान नही रह सकता।

योग—मन वचन और कायके द्वारा जो आत्मप्रदेशोंमें परिस्पन्दरूप व्यापार होता है उसको योग कहते है। अत-एव आलम्बनकी अपेक्षासे इसके तीन भेद हैं; मनोयोग वचनयोग, काययोग।

इस प्रकार ये भावास्रवके भेद हैं। इन्हीके उत्तर भेद मोक्षशास्त्रादिकमें " तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तराया " आदि सूत्रोंके द्वारा बताये गये है। ये मिथ्यादर्शनादिक और उनके तत्प्रदोषादिक उत्तर भेद समस्त और व्यस्त दोनो ही तरहसे बंधके कारण हुआ करते है। तथा जहां जो निमित्त हो वहां उस निमित्तके अनुसार स्थिति और अनुभागकी अपेक्षासे ज्ञानावरणादि कर्मोंका, जैसा कि सूत्रमें बताया गया है, बंध होता है और प्रकृति प्रदेशकी अपेक्षासे सभी कर्मोंका बंध हुआ करता है।

पहले और तीसरे गुणस्थानमे ये पांचो ही. भेद पाये जाते हैं। सासादन और असंयतसम्यग्दृष्टिमें मिथ्यात्वको छोडकर बाकी चार, संयतासयत और प्रमत्तसंयतमें मिथ्यात्व तथा अविरतिके सिवाय तीन, अप्रम-

१-प्रमादके विशेष भेद और भङ्गपद्धति आदि गोम्मटसारकी टीकामें देखने चाहिये।

नसे लेकर सूक्ष्मसांपराय तक कपाय और योग, एवं उपशांत कषायादिकमें एक योग ही पाया जाता है। चौद-हवां गुणस्थान अयोगी है; और इसीलिये वह अबंधक है।

बंधके कारणको आस्रव कहते हैं। इसके उक्त भेदोंमेंसे योगको छोडकर बाकी चार स्थिति और अनुभाग-बंधको कारण हैं; तथा योग प्रकृति और प्रदेशबंधको कारण है:—

बंधका स्वरूप बताते हैं—

स बन्धो बध्यन्ते परिणतिविशेषेण विवशी,—
क्रियन्ते कर्माणि प्रकृतिविदुषो येन यदि वा।
स तत्कर्माम्नातो नयति पुरुषं यत्सुवशतां,
प्रदेशानां यो वा स भवति मिथः श्लेष उभयोः ॥ ३८ ॥

पूर्वबद्ध कर्मोंके फलका अनुभव करनेवाले—फलको भोगनेवाले जीवके जिन परिणामोंसे कर्म बन्धते हैं—परतन्त्र होजाते हैं उसको बंध कहते हैं। अथवा उस कर्मको ही बंध कहते हैं जो कि जीवको अपने अधीन करलेता है। इसी तरह जीव और कर्म इन दोनोंके ही प्रदेशोंके परस्परमें प्रवेश होजानेको भी बंध कहते हैं।

भावार्थ— यहांपर बंधके जो तीन लक्षण किये गये हैं सो तीन अपेक्षाओंसे हैं। पहला लक्षण करण साधनकी अपेक्षासे, और दूसरा कर्तृसाधनकी अपेक्षासे तथा तीसरा लक्षण भावसाधनकी अपेक्षासे है।

पहला लक्षण बंधके बाह्य और अंतरंग दोनो कारणोंकी प्रधानतासे किया गया है। बाह्य कारण योग

माने गये हैं। यथाः—और अन्तरङ्ग कारण मोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए विकारभाव है। योगका लक्षण ऊपर लिखा जा चुका है कि मनो-वाक्-काय वर्गणाओंके अवलम्बनसे जो आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द होता है उसको योग कहते हैं। यह भी जीवका ही एक विकार-परिणामविशेष है कि जिसके द्वारा बंधनेवाले कर्म आया करते हैं। आते हुए कर्मोंको या पुण्यपापरूपसे परिणत होकर प्रविष्ट हुओंको विलक्षण रूपमें परिणमाकर उनको भोग्य बना कर जीवके साथ सम्बद्ध करदेना अंतरङ्ग कारणका कार्य है। क्योंकि पूर्वसंचित कर्मोंके उदयसे प्राप्त हुए फलको भोगनेवाले जीवके जो रागद्वेष या मोहरूप स्निग्ध परिणाम होते हैं वे ही कर्मपुद्गलोंको विशिष्ट-शक्तियुक्त परिणमनको प्राप्त कर अवस्थित करनेमें निमित्त है किंतु योग जीवप्रदेश और कर्मस्कन्ध दोनोंके परस्परमें अनुप्रवेशका कारण है। अत एव वह बाहिरङ्ग माना जाता है। इस प्रकार ये दोनो ही जीवके परिणाम-विशेषरूप कारण कर्मोंका फल देनेकेलिये विवश कर देते हैं। आगममें भी ये दो ही बंधके कारण प्रधानतया माने गये हैं। यथाः—

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरायदोसमोहजुदो॥

इस प्रकार करण-साधनकी अपेक्षासे यह बंधका लक्षण हुआ। क्योंकि यहांपर बंधके कारणोंका ही प्रधानतया निर्देश किया गया है और असाधारण कारणोंको ही करण कहते हैं। किंतु कर्तृसाधनकी अपेक्षासे कर्मको प्राधान्य दिया जाता है। ऊपर बंधका दूसरा जो लक्षण दिखाया गया है उसमें कर्मकी स्वतंत्रताकी अपेक्षा है। इस अपेक्षासे जो जीवको अपने अधीन बनालेता है और भोक्तृतया आत्माके साथ सम्बद्ध होता है उस कर्मको बंध कहते हैं। इसी तरह तीसरे भावसाधनकी अपेक्षासे जीव और कर्मके परस्परमें प्रदेशानुप्रवेश होनेको बंध कहते हैं। यहांपर योगके द्वारा अनुप्रविष्ट हुए जीवप्रदेशवर्त्ती कर्मस्कन्धोंका कषायादिकके निमित्तसे उत्पन्न हुए विशिष्टशक्तियुक्त परिणमनको धारण कर अवस्थित होना बंध समझना चाहिये। आगममें भी ऐसा ही कहा है, यथाः—

परस्परप्रदेशाना प्रवेशो जीवकर्मणो ।
एकत्वकारको बन्धो रुक्मकाञ्चनयोरिव ॥

जिस प्रकार अनेक तरहसे रस और शक्तिवाले फल फूलोंको पात्रविशेषमें रखनेपर उनका मदिरा आदि परिणमन होजाता है उसी प्रकार योग और कषायके निमित्तसे आत्माके साथ सम्बन्ध करनेवाले पुद्गलोंका भी कर्मरूप परिणमन होजाता है। यह परिणमन कारणकी मंदता तीव्रता आदिके अनुसार मंद तीव्र आदि हुआ करता है। किंतु सामान्यसे बंधके दो भेद हैं-एक भावबंध दूसरा द्रव्यबंध। राग द्वेष या मोहरूप जो जीवके शुभ या अशुभ स्निग्ध परिणाम होते हैं उसको भावबंध कहते है। और उसके निमित्तसे शुभ या अशुभरूप परिणत पुद्गलोंका जीवके साथ परस्परमें संबंध होजानेको द्रव्यबंध कहते हैं; जैसा कि आगममें भी कहा है:—

बज्झदि कम्म जेण दु चेदणभावेण भावबंधो सो ।
कम्मादपदेसाण अण्णोण्णपवेसण इदरो ॥
पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदा दु चदुविधो बंधो ।
जोगा पयडिपदेसा ठिदिअणुभागा कसायदो होंति ॥

प्रश्न—आस्रव और बंध दोनों ही में मिथ्यात्व अविरति आदि कारण समान बताये हैं; फिर उनमें क्या विशेषता है?

उत्तर—प्रथम क्षणमें जो कर्मस्कन्धोंका आगमन होता है उसको आस्रव कहते हैं। आगमके अनंतर द्वितीयादि क्षणमें जो उनका जीवप्रदेशोंमें अवस्थान होता है उसका बंध कहते हैं। यह भेद है। तथा आस्रवमे योगकी मुख्यता है और बंधमें कषायादिककी। जिस प्रकार राजसभामें अनुग्राह्य या निग्राह्य पुरुषके प्रवेश करनेमें राजाके आदिष्ट पुरुषकी मुख्यता होती है और उसके साथ अनुग्रह या निग्रह करनेमे राजाके आदेशकी प्रधानता रहती है। उसी प्रकार आस्रव और बंधके कारणोंमें भी कथंचित् भेद समझना चाहिये।

ऊपर बंधके चार भेद बताये हैं—प्रकृति स्थिति अनुभाग और प्रदेश। अब इन चारोंका स्वरूप बताते हैं—

ज्ञानावरणाद्यात्मा प्रकृतिस्तद्विधिराविच्युतिस्तस्मात।
स्थितिरनुभवो रसः स्यादणुगणना कर्मणां प्रवेशश्च ॥ ३९ ॥

प्रकृति—यह द्रव्यबंधका एक भेद है। प्रकृति शब्दका अर्थ स्वभाव है। जिस प्रकार निम्बका स्वभाव तिक्तता और गुडका स्वभाव मधुरता होता है उसी प्रकार कर्मस्कन्धोंका भी स्वभाव हुआ करता है। योग्यतानुसार कर्मस्कन्धोंमें आत्माकी ज्ञानादिक शक्तियोंको आवृत—आच्छादित कर सकनेवाली शक्तियों अथवा उन उन कार्योंके कर-सकनेवाले स्वभावोंका आविर्भाव हुआ करता है। इसीको प्रकृतिबंध कहते हैं। इसके स्वभावभेदकी अपेक्षासे आठ भेद हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र, अंतराय। इनके स्वभावको आगममें दृष्टान्त देकर बताया गया है। उसकी गाथा इस प्रकार है—

पडपडिहारसिमज्जाहलिचित्तकुलालभडयारीण।
जह एदेसि भावा तह कम्माण वियाणाहि ॥

वस्त्र, प्रतीहारी [ड्योढीवान्], अक्ष [तलवार], मद्य, खोडा, चित्रकार, कुम्भार, और भण्डारी ये उक्त आठ कर्मोंके आठ उदाहरण हैं। जिस प्रकार वस्त्रसे आच्छादित होनेपर वस्तुका ज्ञान नहीं हो सकता उसी प्रकार ज्ञानावरणका यह स्वभाव होता है कि उसके उदयसे आत्माको ज्ञान नहीं हो सकता। जिस प्रकार प्रतीहारीके बीचमें आजानेपर राजा आदिके दर्शन नहीं हो सकते उसी प्रकार दर्शनावरण के उदय होनेपर पदार्थ दीख नहीं सकते। जिस प्रकार मधुलिप्त छुरीके निमित्तसे सुखदुःखका अनुभव हुआ करता है उसी प्रकार वेदनीय कर्मके उदयसे जीवको सुखदुःखका वेदन—अनुभव हुआ करता है। जिस प्रकार मद्य पीनेसे मनुष्य मो-

हित होजाता है उसी तरह मोहनीय कर्मके उदयसे जीव विषयोंमें मूर्च्छित रहा करता है। जिस प्रकार काठमें पैर पड जानेसे मनुष्य इधर उधर नहीं जा सकता उसी प्रकार आयु कर्मके उदयसे जीवको भव धारण करना ही पडता है और उस भवमें रहना ही पडता है। वह स्वतन्त्रतासे चाहे जहां गमन नहीं कर सकता। जिस प्रकार चित्रकार अनेक प्रकारके चित्र बनाता है उसी तरह नाम कर्मके उदयसे नारक आदि अनेक अवस्थाएं जीवकी बनती हैं। जिस तरह कुम्भार छोटे बडे वर्तन बनाता है उसी तरह गोत्र कर्मके उदयसे जीवका उच्चनीच व्यपदेश होता है। जिस तरह भण्डारी द्रव्य देनेमें विघ्न डाला करता है उसी तरह अन्तराय कर्मके उदयसे जीवके दानादिक कार्योंमें विघ्न उपस्थित हुआ करता है। इस प्रकार जो कर्मस्कन्ध आत्मासे सम्बद्ध होते हैं वे प्रकृति–स्वभावभेदकी अपेक्षासे आठ प्रकारके है। इस स्वभावभेदकी अपेक्षासे ही अर्थके अनुसार कर्मोंके उपर्युक्त आठ नाम रक्खे गये है।

बंधका दूसरा भेद स्थिति है। उपर्युक्त स्वभावसे उन कर्मस्कन्धोंके न छूटनेको—जबतक वे कर्मस्कन्ध अपने उक्त स्वभावसे च्युत न होजांय तबतककी कालमर्यादाको स्थिति कहते हैं। जिस प्रकार बकरी गौ भैंस आदिके दूधमें स्थिति कालमर्यादा रहा करती है कि उनका माधुर्य-स्वभाव इतने कालतक तदवस्थ रहेगा। इसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मोंमें भी स्वभावकी कालमर्यादा पडा करती है कि उनका वह स्वभाव इतने कालतक तदवस्थ रहेगा और उस स्वभाववाले कर्मस्कन्ध आत्मासे इतने कालतक सम्बद्ध रहेंगे। इसीको स्थितिबंध कहते हैं। यह स्थिति कमसे कम अन्तर्मुहूर्त और अधिकसे अधिक सत्तर कोडाकोडी सागर तककी होती है। किंतु एकेक समयकी हीनाधिकतासे अनेक प्रकारकी है जो कि ग्रंथान्तरोंमें बताई गई है।

बंधका तीसरा भेद अनुभव है। कर्मस्कन्धोंके रस—सामर्थ्यविशेषको अनुभव कहते हैं। जिस प्रकार बकरी गौ या भैंस आदिके दूधमें जो पुष्टि आदि अपना कार्य करनेवाली शक्ति है उसमें तीव्र मंद आदिरूप अनेक प्रकारकी विशेषता रहा करती है। उसी प्रकार कर्मपुद्गलोंमें भी अपना अपना कार्य करनेमें सामर्थ्यकी विशेषता रहा

करती है। इसीको अनुभवबंध कहते है। अनुभवबंधके अनुसार इस प्रकारकी सामर्थ्यविशेषसे युक्त परमाणुओंका आत्मासे सम्बन्ध होता है। किंतु प्रकृतिबंधमे आस्रवके द्वारा आये हुए अष्टकर्मयोग्य पुद्गल आत्मासे बंधते है। यही प्रकृतिबंध और अनुभव बंधमें अन्तर है। जहांपर जीवके शुभ परिणाम प्रकर्पतया पाये जाते हैं वहांपर शुभ कर्मोका अनुभव प्रकृष्ट और अशुभ कर्मोंका निकृष्ट हुआ करता है। और जहां अशुभ परिणाम प्रकर्पतया हुआ करते है वहांपर अशुभ कर्मोंका अनुभव तीव्र तथा शुभ कर्मोंका अनुभव मद हुआ करता है। घाति और अघाति भेदकी अपेक्षासे घातिकर्मोंकी शक्ति लता दारु अस्थि और पाषाण इस तरह चार प्रकारकी होती है। अघाति कर्मोंमें अशुभ कर्मोंकी शक्ति निम्ब काञ्जीर विष और हालाहल इस तरह चार प्रकारकी और शुभ कर्मोंकी गुड खांड शकर और अमृत इस तरह चार प्रकारकी हुआ करती है। इन उदाहरणोंके अनुसार ही कर्मोंके सामर्थ्यमे भी विशेषता हुआ करती है। उसीको अनुभव कहते है। इस तरहके सामर्थ्ययुक्त परमाणुओंके, आत्माके साथ, बंधनेको अनुभवबंध कहते है।

बंधका चौथा भेद प्रदेशबंध है। बंधनेवाली कर्मपरमाणुओंकी संख्याके विषयमें निश्चित इयत्ताको प्रदेशबंध कहते है। क्योंकि जो कर्मस्कन्ध ज्ञानावरणादि कर्मरूप परिणत होकर आत्माके साथ बंधते है उनमे परमाणुओंकी संख्या भी निश्चित रहती है। क्योंकि ऐसा होनेपर ही उनका वह स्वभाव स्थिर रह सकता है; और स्वभावके अनुसार फल भी हो सकता है। क्योंकि पुद्गलस्कन्धमे परमाणुओंकी संख्यामें परिवर्तन होनेपर स्वभावादिकमे भी परिवर्तन हो जाना न्यायप्राप्त है।

इस प्रकार बंधके ये चार भेद है जिनका कि लक्षण ऊपर लिखा गया है। ऐसा ही आगममे भी कहा है। यथा—

स्वभाव प्रकृति प्रोक्ता स्थिति कालावधारणम्।
अनुभागो विपाकस्तु प्रदेशोंशविकल्पनम्॥

बंधकी यह विचित्रता उसके कारणभूत कपायादिकोंकी विचित्रतापर निर्भर है; क्योंकि कारणके अनुसार

कार्य हुआ करता है। अथवा जिस प्रकार खाये हुए अन्नादिकका स्कंध एक ही है; फिर भी उसमें अनेक विकाररूप परिणत होनेकी सामर्थ्य रहती है और कारणके अनुसार वह वात पित्त कफ खल रस आदि अनेक परिणमनको प्राप्त करलेता है। उसी प्रकार यद्यपि जो कर्मस्कन्ध आता है वह एक ही है; फिर भी कारणभेदके अनुसार वह नारकादि नानारूप परिणमन करलेता है। जिस प्रकार कर्मसामान्यकेलिये यह कहा गया है उसी प्रकार कर्मविशेषके-लिये भी समझना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार आकाशसे वर्पनेवाला जल यद्यपि एक ही रहता है, फिर भी वह पात्रादिक सामग्रीकी विशेपताके अनुसार अनेक रसरूप परिणत हो जाता है। उसी प्रकार एक ही ज्ञानावरणादिक स्कन्ध कपायादि सामग्रीकी तरतमताके अनुसार मत्यावरणादि अनेकरूप परिणत हो जाता है। इसी तरह दूसरे भी विशेष कर्मोंके विपयमें समझना चाहिये।

इस कर्मके सामान्यसे एक, विशेपतया पुण्यपापकी अपेक्षा दो, उपर्युक्त प्रकृति आदिकी अपेक्षा चार, और ज्ञानावरणादिककी अपेक्षा आठ भेद होते है। तथा इसी तरह अपेक्षाभेदके अनुसार संख्यात असंख्यात और अनंत भेद भी होते है।

ऊपर जो अघातिकर्मके पुण्य और पाप इस तरह दो भेद बताये है उनका स्वरूप और भेद बताते हैं:—

पुण्यं यः कर्मात्मा शुभपरिणामैकहेतुको बन्धः।
सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राभित्ततोऽपरं पापम् ॥ ४० ॥

उस कर्मात्मक बंधको कि जिसके प्रधान हेतु जीवके शुभ परिणाम हैं, पुण्य कहते है और जिसके प्रधान हेतु जीवके अशुभ परिणाम है उसको पाप कहते है। इस पुण्य और पापके दो भेद है। द्रव्यपुण्य और भावपुण्य तथा द्रव्यपाप और भावपाप। जीवके शुभ परिणामोंके निमित्तसे कर्त्ता पुद्गलका जो विशिष्ट प्रकृतिरूप परि-णमन निश्चयसे कर्मरूपको प्राप्त होजाता है उसको द्रव्यपुण्य कहते है। और कर्त्ता जीवके ये कर्मरूपको प्राप्त

होनेवाले शुभ परिणाम जो कि उस द्रव्यपुण्यका निमित्त है उन्हे आस्रवक्षणके अनंतर भावपुण्य कहते हैं। इसी तरह द्रव्यपाप और भावपापका भी स्वरूप समझना चाहिये। अंतर इतना ही है कि इसमे जीवके अशुभ परिणाम ग्रहण करने चाहिये, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

पुण्यकर्मके सामान्यसे चार भेद है-साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र। किंतु उत्तर भेद ब्यालीस हैं। यथा- साता वेदनीय १ तिर्यगायु २ मनुष्यायु ३ देव आयु ४ मनुष्य गति ५ देवगति ६ पंचेन्द्रियजाति ७ औदारिक शरीर ८ वैक्रियिक शरीर ९ आहारक शरीर १० तेजसशरीर ११ कार्माणशरीर १२ औदारिक आङ्गोपाङ्ग १३ वैक्रियिक आङ्गोपाङ्ग १४ आहारक आङ्गोपाङ्ग १५ समचतुरस्र संस्थान १६ वज्रर्षभ नाराच सहनन १७ प्रशस्त वर्ण १८ प्रशस्तगंध १९ प्रशस्त रस २० प्रशस्त स्पर्श २१ मनुष्यगत्यानुपूर्व्य २२ देवगत्यानुपूर्व्य २३ अगुरुलघु २४ परघात २५ उच्छ्वास २६ आतप २७ उद्योत २८ प्रशस्त विहायोगति २९ त्रस ३० वादर ३१ पर्याप्त ३२ प्रत्येकशरीर ३३ स्थिर ३४ शुभ ३५ सुभग ३६ सुस्वर ३७ आदेय ३८ यशःकीर्ति ३९ निर्माण ४० तीर्थकर ४१ उच्चगोत्र ४२।

इसी तरह जिस कर्मरूप बंधके प्रधान हेतु जीवके अशुभ परिणाम है उसको ही पाप कहते है। इसके आठ भेद है जिनके नाम ऊपर लिखे जा चुके है। किंतु उत्तर भेद ब्यासी हैं, यथा—ज्ञानावरणकी पांच (मतिज्ञानावरण आदि), दर्शनावरणकी नव (चक्षुर्दर्शनावरण आदि), असाता वेदनीय एक, मोहनीयकी छब्बीस (एक मिथ्यात्व और २५ कषाय), आयु एक (नारक), नामकर्मकी ३४ (उपर्युक्त पुण्य प्रकृतियोंके सिवाय नरक गति आदि), गोत्र एक [नीच], अन्तरायकी पांच [दानान्तराय आदि]।

इस प्रकार बंधतत्त्वके स्वरूप और भेद बताये गये। अब उसके बाद संवरतत्त्व क्रमप्राप्त है। अत एव उसका स्वरूप और भेद बताते हैः—

स संवरः संव्रियते निरुध्यते कर्मास्रवो येन सुदर्शनादिना।

गुप्त्यात्मना वात्मगुणेन संवृतिस्तद्योगतद्भावनिराकृतिः स वा ॥ ४१ ॥

आत्माके जिन सम्यग्दर्शनादिक अथवा गुप्त्यादिक गुणोंसे पूर्वोक्त कर्मोंका आस्रव संवृत होता है–रूकता है उसको संवर कहते है। अथवा कर्मयोग्य पुद्गलोंके कर्मरूप होनेसे रुकनेको भी संवर कहते हैं।

भावार्थ—संवरतत्त्व आस्रवतत्त्वका बिलकुल प्रतिपक्षी है। अत एव जिस प्रकार आत्माके जिन परिणामोंसे कर्म आते उनको भावास्रव और कर्मोंके आनेको द्रव्यास्रव कहते है; उसी प्रकार आत्माके जिन भावोंसे कर्मोंका आना रुकता है उनको भावसंवर और कर्मोंके आनेसे रुकनेको द्रव्यसंवर कहते हैं। जिस प्रकार भावास्रवके भेद मिथ्यादर्शनादिक हैं उसी प्रकार भावसंवरके भेद सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान संयम और गुप्ति आदिक हैं। जैसा कि आगममें भी बताया है। यथाः—

वदसमिदीगुत्तीओ धम्माणुपिहापरीसहजओ य।
चारित्त बहुभेया णायव्वा भावसवरविसेसा ॥

व्रत समिति गुप्ति धर्म अनुप्रेक्षा परीषहजय और चारित्र तथा इनके उत्तर भेद भावसंवरके ही विशेष भेद हैं।

क्रमप्राप्त निर्जरातत्वका स्वरूप और भेद बताते हैं—

निर्जीर्यते कर्म निरस्यते यया पुंसः प्रदेशस्थितमेकदेशतः।
सा निर्जरा पर्ययवृत्तिरंशतस्तत्संक्षयो निर्जरणं मताथ सा ॥ ४२ ॥

जीवकी पर्ययवृत्ति—संक्लेशनिवृत्तिरूप परिणामोंको निर्जरा–भावनिर्जरा कहते है कि जिसके द्वारा जीवके प्रदेशों–अंशोंमें स्थित कर्म एकदेश रूपसे निर्जीर्ण होजाते हैं–आत्मासे सम्बन्ध छोडकर पृथक् होजाते है। अथवा जीवके प्रदेशोंमें स्थित कर्मोंके एक देश रूपसे पृथक् होनेको भी निर्जरा—द्रव्यनिर्जरा कहते है।

प्रश्न—संक्लेशनिवृत्तिको पर्ययवृत्ति किस तरह कहा जा सकता है; क्योंकि जो निवृत्तिरूप है वह प्रवृत्तिरूप नहीं हो सकता। फिर ऊपर जो पर्यायशब्दका अर्थ निवृत्तिरूप किया है सो किस तरह घटित होता है ?

उत्तर—परिशुद्ध बोधको ही पर्यय कहते है। और इस पर्ययकी वृत्ति संक्लेशसे रहित ही हो सकती है। तभी उसको शुद्ध कह सकते है। यह शुद्धोपयोग ही बहिरंग तथा अंतरंग तपके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होकर कर्मोंकी शक्तिको क्षीण करनेमे समर्थ हो सकता है। अतएव इस शुद्धोपयोगको ही भावनिर्जरा कहते है। और इसके द्वारा अनुभाव—फल देकर अथवा बिना फल दिये ही पूर्वसंचित कर्मोंका एकदेशरूपसे क्षय होना द्रव्य-निर्जरा कहाती है।

द्रव्य निर्जराके भेद और उनका स्वरूप बताते है—

द्विधाऽकामा सकामा च निर्जरा कर्मणामपि।
फलानामिव यत्पाकः कालेनोपक्रमेण च ॥ ४३ ॥

द्रव्यनिर्जरा दो प्रकारकी है—अकाम और सकाम। यथासमय उदयमे आये हुए कर्मोंके फल देकर निर्जीर्ण होनेको अकाम निर्जरा कहते है। इसीको विपाकजा (सविपाक) और अनौपक्रमिकी भी कहते हैं। उपक्रमसे अथवा विना फल दिये ही कर्मोंके निर्जीर्ण होनेको सकाम निर्जरा कहते है। इसको अविपाकजा (अविपाक) और औपक्रमिकी भी कहते है।

भावार्थ—यथासमय और, न केवल यथासमय ही किंतु, उपक्रमसे भी फलोंकी तरह कर्मोंके भी फल देनेको पाक कहते है। जिस तरह आम्र प्रभृति फलोंका पाक जिसमें कि रस आदिका परिणमन होजाता है, दो प्रकार का होता है। एक तो वह कि जो अपने कालके अनुसार स्वयं हो। दूसरा वह कि जो प्रयोक्ता पुरुषके उपाय—पाल आदिमे देनेसे हो। इसी तरह ज्ञानावरण आदि कर्मोंका पाक भी दो प्रकारसे होता है। अतएव

निर्जराके भी दो भेद है। जो कर्म स्थितिके अनुसार जिस समयमें फल देनेकी अपेक्षासे पूर्वमें संचित हुआ था उसका उसी समयमे फल देकर निर्जीर्ण होना इसको सविपाक निर्जरा कहते है। जो पालके आमकी तरहसे प्रयोगपूर्वक उदयावलीमें लाकर भोगाजाय और निर्जीर्ण होजाय उस निर्जीर्ण होनेको अविपाक निर्जरा कहते है।

जिसमें बुद्धिपूर्वक प्रयोग किया जाय ऐसे अपने परिणामको उपक्रम कहते है। मुमुक्षुओंके शुभ या अशुभ परिणामोंके निरोधरूप संवरसे और शुद्धोपयोगसे युक्त उपक्रमको ही तप कहते है। दूसरे साधारण लोगोंकी अपेक्षा अपने या परके सुख या दुःखके साधनोंका बुद्धिपूर्वक प्रयोग भी उपक्रम समझना चाहिये। क्योंकि उपर्युक्त श्लोकमे पर्ययवृत्ति इस शब्दसे सामान्यतः परिणाममात्रका ग्रहण किया है। जैसा आगममे भी कहा है। यथाः—

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवत।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात्॥

जहांपर इष्ट या अनिष्ट कार्य अबुद्धिपूर्वक होते है वहांपर अपने दैवकी प्रधानता समझनी चाहिये और जहांपर ऐसे कार्य बुद्धिपूर्वक होते है वहां अपने पौरुषकी प्रधानता समझनी चाहिये।

क्रमप्राप्त मोक्षतत्त्वका स्वरूप बताते हैः—

येन कृत्स्नानि कर्माणि मोक्ष्यन्तेऽस्यन्त आत्मनः।
रत्नत्रयेण मोक्षोसौ मोक्षणं तत्क्षयः स वा॥ ४४॥

जिसके द्वारा समस्त कर्म— पहले मोहनीय प्रभृति घातिकर्म, पीछे आयु आदिक अघाति कर्म छूट जाते है— परम संवरके द्वारा अपूर्व कर्म आनेसे रुक जाते और परम निर्जराके द्वारा पूर्वसंचित कर्म आत्मासे पृथक् हो जाते है उस रत्नत्रयको— निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रको अथवा इस रत्नत्रयरूप परिणत आ-

त्माको मोक्ष– भावमोक्ष कहते है। अथवा वेदनीय आयु नाम गोत्ररूप कर्मपुद्गलोंके जीवसे सर्वथा विश्लेष हो जानेको मोक्ष— द्रव्यमोक्ष कहते है। आगममे भी मोक्षके विषयमे ऐसा कहा है कि—

"आत्यन्तिक स्वहेतोर्यो विश्लेषो जीवकर्मणो ।
स मोक्ष फलमेतस्य ज्ञानाद्या क्षायिका गुणा ॥"

अपने ही कारणसे जो जीव और कर्मका सर्वथा विश्लेष हो उसको मोक्ष कहते है। इसका फल आत्माके ज्ञानादिक क्षायिक गुण हैं । तथा– " वन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः। "
द्रव्यसंग्रहमें भी कहा है कि—

"सव्वस्स कम्मणो जो खयहेदू अप्पणो हु परिणामो ।
णेयो स भावमोक्खो दव्वविमोक्खो य कम्मपुहभावो ॥"

आत्माके वे परिणाम कि जो समस्त कर्मोंके क्षयके कारण है भावमोक्ष समझने चाहिये और कर्मोंके पृथक् होजानेको द्रव्यमोक्ष कहते है।

तत्वार्थवार्तिकमे भी कहा है कि—

ततो मोहक्षयोपेत पुमानुद्भूतकेवल ।
विशिष्टकरण साक्षादशरीरत्वहेतुना ॥
रत्नत्रितयरूपेणायोगिकेवलिनोन्तिमे ।
क्षणे विवर्तते ह्येतद्वाध्य निश्चयान्नयात् ॥
व्यवहारनयाश्रित्या त्वेतत्प्रागेव कारणम् ।
मोक्षस्येति विवादेन पर्याप्त न्यायदर्शिन ॥

निश्चय नयकी अपेक्षासे तो मोहनीय कर्मका क्षय होजानेपर और केवलज्ञानके उद्भूत होजानेपर विशिष्ट करणसे युक्त जीव अयोगकेवल गुणस्थानके अंतिम समयमें अशरीरताके कारणभूत रत्नत्रयके द्वारा अबाध्य पद—मोक्षरूप परिणत हो जाता है; क्योंकि साक्षात् कारण वही है। किंतु व्यवहार नयसे अयोगकेवल गुणस्थानके अंतिम समयसे पहलेके समयवर्ती रत्नत्रयको भी मोक्षका कारण कहा जा सकता है।

मुक्तात्माओंके स्वरूपका निरूपण करते हैं:—

प्रक्षीणे मणिवन्मले स्वमहसि स्वार्थप्रकाशात्मके,
मज्जन्तो निरुपाख्यमोघचिदचिन्मोक्षार्थितीर्थक्षिपः।
कृत्वानाद्यपि जन्म सान्तममृतं साद्यप्यनन्तं श्रिताः,
सद्दृग्धीनयवृत्तसंयमतपःसिद्धाः सदानन्दिनः॥ ४५॥

समीचीन दर्शन ज्ञान नय चारित्र संयम और तप इन छह उपायोंके द्वारा सिद्ध—आत्मस्वभावको सिद्ध करनेवाले मुक्तात्मा द्रव्य और भावरूप कर्ममलके सर्वथा क्षीण हो जानेपर मणिके समान अपने और समस्त पर पदार्थोंके प्रकाशक निज तेजमें निमग्न होते हुए निरुपाख्य मोघचित् और अचित् इस तरह भिन्न भिन्न मोक्षका स्वरूप माननेवालोंके तीर्थ—आगमका परित्याग कर अनादि भी संसारको नष्ट कर सादि किंतु अनन्त अमृत—मोक्ष-पदको प्राप्त करलेते हैं और वे सदा आनन्द—आत्मिक सुखका अनुभव करते रहते हैं।

भावार्थ— ऊपर सिद्धिके जो छह उपाय बताये हैं वे आरम्भ अवस्थाकी अपेक्षासे हैं। क्योंकि कोई तो सम्यग्दर्शनकी प्रधानतासे रत्नत्रयको पूर्ण कर समस्त कर्ममल—कलंकको नष्ट कर निज स्वरूपकी प्राप्तिरूप सिद्धिको प्राप्त करते हैं और कोई सम्यग्ज्ञानकी प्रधानतासे तथा कोई नय आदिकी प्रधान-

तासे प्राप्त करते हैं । जिस प्रकार लगे हुए मलके दूर होजानेपर मणियां अपने और परके स्वरूपको प्रकाशित करनेवाले निज तेजमें निमग्न रहती है–उत्पाद व्यय ध्रौव्यस्वरूपमें अवस्थित रहती है उसी प्रकार उक्त मुक्त जीव भी द्रव्यभावरूप कर्ममलके निःशेष हो जानेपर निज स्वरूप और समस्त त्रैकालिक पदार्थोंके प्रकाशात्मक–युगपत् ज्ञानदर्शन परिणमनरूपी निज तेजमें निमग्न रहते हैं–उत्पाद व्यय ध्रौव्यस्वरूपमें अवस्थित रहते हैं ।

उक्त उपायोंके द्वारा सिद्धि प्राप्त करनेवाले मुक्तात्मा अनादि संसारको सर्वथा नष्ट करके जिस अमृत–मोक्षपदको प्राप्त होते हैं वह यद्यपि पर्यायदृष्टिसे सादि है फिर भी स्वरूपतः अनंत है; क्योंकि फिर वहांसे भव धारण नहीं करना पडता । इस प्रकारके मुक्तात्मा जीवन्मुक्ति अवस्थामें मोक्षके निरुपाख्य प्रभृति स्वरूप माननेवालेके आगमका निराकरण या प्रतिक्षेप करदेते हैं; क्योंकि वे उनमे विलक्षण मोक्षकी व्यवस्था करते हैं । और परममुक्ति अवस्थामें उसी तरहकी मोक्षमें अवस्थित रहते हैं ।

कुछ लोगोंने मोक्षका स्वरूप निरुपाख्य माना है । उनका कहना है कि जिस प्रकार दीपकका बुझजानेपर कुछ स्वरूप नहीं रहता उसी प्रकार आत्माका भी निर्वृति प्राप्त करनेपर कुछ स्वरूप नहीं रहता । अत एव मोक्षका स्वरूप निःस्वभाव है । इसी तरह कुछ लोगोंका कहना है कि मोक्ष मोघचित् है । क्योंकि जीवका जो चैतन्य स्वरूप माना गया है वह ज्ञेयाकार परिच्छेद–प्रतिभाससे रहित है । इसी प्रकार कोई कोई कहते हैं कि मोक्ष अचित् है । क्योंकि उस अवस्थामें आत्माके बुद्धि आदिक नव विशेष गुणोंका उच्छेद होजाता है । इसी तरह और भी मोक्षके स्वरूपके विषयमें अनेक कल्पनाएं है जो कि समीचीन न होनेसे उपेक्षणीय ही है । इस उपेक्षणीयताको जीवन्मुक्ति अवस्थामें भगवान्‌ने अपने उपदेशसे युक्तिपूर्वक सिद्ध करके बतादिया है । अत एव मुक्तात्मा उक्त मोक्षके विपरीत स्वरूपका निराकरण करनेवाले हैं । इस तरहके मुक्तात्मा सदा–अनंत कालतक आत्मिक सुखमें लीन रहते है ।

इस प्रकार जीवसे लेकर मोक्षतक सात तत्त्वोंका स्वरूप ऊपर बताया । इन्ही तत्त्वार्थोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते है । इस सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेमें जिस सामग्रीकी अपेक्षा है उसको दो श्लोकोंमें बताते हैः—

दृष्टिघ्नसप्तकस्यान्तर्हेतावुपशमे क्षये ।

क्षयोपशम आहोस्विद्भव्यः कालादिलब्धिभाक् ॥ ४६ ॥

पूर्णः संज्ञी निसर्गेण गृह्णात्यधिगमेन वा ।

त्र्यज्ञानशुद्धिदं तत्त्वश्रद्धानात्म सुदर्शनम् ॥ ४७ ॥ युग्मम् ।

पर्याप्त संज्ञी और कालादि लब्धियोंको प्राप्त करनेवाला भव्य जीव निसर्गसे अथवा अधिगमके द्वारा सम्यग्दर्शनके घातनेवाली सात प्रकृतियोंके उपशम क्षय अथवा क्षयोपशमरूप अन्तरंग करणके मिलनेपर तत्त्व श्रद्धानरूप और तीनो अज्ञानोंमें शुद्धि उत्पन्न करनेवाले सम्यग्दर्शनको प्राप्त करता है।

भावार्थ—शक्तिविशेषकी पूर्णताको पर्याप्ति कहते हैं। उसके छह भेद हैं—आहार शरीर इंद्रिय श्वासोच्छ्वास भाषा और मन। ये पर्याप्ति जिसके पूर्ण होगई है उसको पर्याप्त कहते है। इसी तरह शिक्षा आलाप उपदेश आदिको ग्रहण करनेवाले शक्ति—मनको संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा जिनके पाई जाय उन जीवोंको संज्ञी कहते है। इस तरहके पर्याप्तक और संज्ञी जीवके उपर्युक्त अन्तरङ्ग कारणके तथा कालादि लब्धियों–सम्यक्त्वके उत्पन्न होनेमें अपेक्षित योग्यताओंके मिलनेपर निसर्ग या अधिगमके द्वारा सम्यग्दर्शन उद्भूत होता है।

इस द्वारकी अपेक्षासे ही सम्यग्दर्शनके दो भेद है–१ निसर्गज, २ अधिगमज। जहां उत्पन्न होनेमें देशना साक्षात् निमित्त न हो वहां निसर्गज सम्यग्दर्शन समझना चाहिये। और जहांपर उत्पन्न होनेमें देशना–परोपदेश साक्षात् निमित्त हो उसको अधिगमज समझना चाहिये। किंतु अन्तरङ्ग कारण दोनोका ही समान है। सम्यक्त्वके घातनेवाली तीन दर्शनमोहनीय और चार अनन्तानुबंधी कषाय इस तरह सात प्रकृतियोंका उपशम या क्षय अथवा क्षयोपशम सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें अन्तरङ्ग कारण है। फल देनेवाली शक्तिके उद्भूत न होनेको

उपशम और उन कर्मोंके सर्वथा नष्ट होनेको क्षय कहते हैं। सर्वघाति स्पर्धकोंमेंसे सदवस्थावालोका उपशम और उदयमें आनेवालोंकी विना फल दिये निर्जरा, तथा देशघाति स्पर्धकोंका उदय होनेपर कर्मकी जो अवस्था होती है उसको क्षयोपशम कहते है। इनमेंसे किसी भी एक अंतरङ्ग कारणके तथा उक्त कारणोंके मिलनेपर जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है वह उक्त निसर्ग और अधिगमकी अपेक्षासे यद्यपि दो प्रकारका है फिर भी सामान्यसे सभी सम्यग्दर्शन तत्त्वश्रद्धानरूप होते है, न कि रुचिरूप। क्योंकि क्षीणमोह जीवोंके रुचि नहीं हो सकती। विना रुचिके सम्यक्त्वकी और उसके विना ज्ञानचारित्रकी तथा इनके विना मुक्तिकी सिद्धि नहीं हो सकती। रुचिको जो सम्यग्दर्शन पहले कहा है वह उपचारसे कहा है। इस सम्यग्दर्शनके माहात्म्यसे तीनो अज्ञानों —कुमति कुश्रुत और विभंगमे विपरीतता दूर होकर शुद्धि —समीचीनता उत्पन्न हो जाती है।

काललब्धि आदिक जो कारण बताये जाते है वे अनेक हैं। कर्माविष्ट भव्य अर्धपुद्गलपरिवर्तनप्रमाण काल शेप रहनेपर प्रथम सम्यक्त्वको उत्पन्न करनेके योग्य होता है; न कि अधिक काल शेप रहनेपर। इसीको काल-

१ — कर्मस्पर्धकोंका अपहनन–घात करनेवालोने स्पर्धकका लक्षण इस प्रकार कहा है कि कर्मपरमाणुके शक्तिसमूहको वर्ग, वर्गरूप अणुओंके समूहको वर्गणा, और वर्गणाओंके समूहको स्पर्धक कहते है। यथा —

" वर्ग शक्तिसमूहोऽणोरणूना वर्गणोदिता।
वर्गणाना समूहस्तु स्पर्धक स्पर्धकापहै। "

२—सम्यक्त्वोत्पत्तिके कारण आगममें भी अनेक प्रकारके बताये है। यथा —

" चदुगदि भव्वो सण्णी पज्जत्तो सुद्धगो य सागारो।
जागारो सलेस्सो सलद्धिगो सम्ममुवगमइ ॥ "

लब्धि कहते है। आदिशब्दसे वेदना आभिभव जातिस्मरण जिनपूजादर्शन प्रभृति आगममें अनेक बताये है। यथाः—

धर्मश्रुतिजातिस्मृतिसुरार्द्धिजिनमहिमदर्शन महताम्।
बाह्य प्रथमदृशोङ्ग विना सुरर्द्धीक्षयानतादिसुवाम्॥
ग्रैवेयकिणा पूर्वे द्वे सजिनार्चेक्षणे नरतिरश्चाम्
सरुगभिभवे त्रिषु प्राक् श्वभ्रेष्वन्येषु स द्वितीयोसौ॥
क्षायोपशमिकी लब्धि शौद्धीं देशनिकी भवी।
प्रायोगिकी समासाद्य कुरुते करणत्रयम्॥

इस प्रकार धर्मश्रवण और जातिस्मरण आदि गतिभेदकी अपेक्षासे प्रथमोपशम सम्यक्त्वके भिन्न भिन्न बाह्य कारण बताये है। किंतु अंतरंगकी क्षायोपशमिकी आदि ५ लब्धियां सामान्य कारण है। इनमें भी आदिकी चार सामान्य और अंतकी करणलब्धि विशेष कारण है। क्योंकि आदिकी चार लब्धियोंके होजानेपर भी करण-लब्धिके विना सम्यक्त्व उत्पन्न नहीं हो सकता। जैसा कि कहा भी हैः—

खयउवसमिय विसोही देसण पाउग्ग करण लद्धीए।
चत्तारिवि सामण्णा करण पुण होदि सम्मत्ते॥

पूर्वसंचित कर्मपटलके अनुभागस्पर्धकोंकी, परिणामोंकी विशुद्धिके संबंधसे प्रतिसमय अनंत अनन्तगुणी हीन उदीरणा होनेको क्षायोपशमिकी लब्धि कहते हैं। क्षयोपशमसे युक्त उदीरणाको प्राप्त अनुभागस्पर्धकोंसे होने-वाले उन परिणामोंको शौद्धी लब्धि कहते है जो कि सावद्य असातावेदनीय प्रभृति कर्मबंधके विरुद्ध और साता-वेदनीय आदि कर्मबंधको निमित्त हैं। यथार्थ तत्त्वके उपदेश या उस उपदेशके देनेवाले आचार्यादिकी प्राप्तिको अथवा उपदिष्ट अर्थके ग्रहण धारण और विचार करनेकी शक्तिको देशनिकी लब्धि कहते है।

अन्तःकोटीकोटी सागरकी स्थितिवाले कर्मोंके बंधको प्राप्त होनेपर विशुद्ध परिणामोंके संबंधसे सत्कर्मोंको संख्यात हजार सागर कम अन्तःकोटीकोटी सागरकी स्थितिसे युक्त करनेपर ही आद्य सम्यक्त्वको ग्रहण कर सकता है। इसी योग्यताको प्रायोगिकी लब्धि कहते हैं। आत्माके परिणामविशेषों की प्राप्तिको करणलब्धि कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—अथप्रवृत्त या अधःप्रवृत्त करण, अपूर्व करण, अनिवृत्ति करण। इन तीनों करणोंके क्रमसे करलेनेपर भव्य जीव सम्यक्त्वको प्राप्त होजाता है। यथाः—

अथप्रवृत्तकापूर्वानिवृत्तिकरणत्रयम्।
विधाय क्रमतो भव्य सम्यक्त्व प्रतिपद्यते॥

अनादि मिथ्यादृष्टि जिसके कि मोहनीय कर्मकी छब्वीस प्रकृति सत्तामें रहा करती है अथवा सादि मिथ्यादृष्टि, जिसके कि मोहनीय कर्मकी छब्वीस या सत्ताईस अथवा अट्ठाईस प्रकृतियां सत्तामें रहा करती है, जब प्रथम सम्यक्त्वको प्राप्त करनेको उन्मुख होता है तब ऐसे शुभ परिणामोंके अभिमुख होता है कि जिनकी विशुद्धि अन्तर्मुहूर्ततक अनन्तगुणी अनन्तगुणी वृद्धिके द्वारा बढती ही जाती है। एवं जो चार मनोयोगोंमेंसे किसी एक मनोयोगसे और चार वचनयोगोंमेंसे किसी एक वचनयोगसे तथा औदारिक वैक्रियिक काययोगोंमेंसे एक काययोगसे, तीन वेदोंमेंसे एक वेदसे युक्त और संक्लेश परिणामोंसे रहित होता है। जिसकी कषाय नष्ट होती चली जाती है। जो साकार उपयोगको धारण करनेवाला और बढते हुए शुभ परिणामोंके निमित्तसे समस्त कर्मप्रकृतियोंकी स्थितिका ह्रास करता हुआ अशुभ प्रकृतियोंके अनुभाग बंधको दूर करता और शुभ प्रकृतियोंके अनुभागबंधको बढाता है। ऐसा ही भव्य जीव उक्त तीन करणोंके करनेका प्रारम्भ करता है जिनका कि प्रत्येकका काल अन्तर्मुहूर्त है। कर्मोंकी स्थिति अन्तःकोटीकोटी होजानेपर अधःकरणादिकमें क्रमसे प्रवेश करता है। सभी करणोंके प्रथम समयमें जीवकी शुद्धि बहुत कम रहा करती है। किंतु प्रतिसमय वह अन्तर्मुहूर्ततक अनन्तगुणी अनन्तगुणी बढती जाती है। तीनों ही करण अन्वर्थ हैं। जो करण-परिणाम अथ-नवीन ही प्रवृत्त हों उनको अथप्रवृत्त करण कहते हैं। क्योंकि इस तरहके परिणाम पहले कभी नहीं हुए। अथवा इस

करणका नाम अधःप्रवृत्त करण भी है। क्योंकि यहांपर उपरितन समयवर्त्ती परिणामोंकी समानता अधः-नीचेके समयमें प्रवृत्त करणोंके साथ पाई जाती है। जहांपर अपूर्व अपूर्व-समय समयमें भिन्न भिन्न किंतु शुद्धतर परिणाम पाये जांय उसको अपूर्वकरण कहते हैं। जहांपर एक समयवर्त्ती परिणामोंमें निवृत्ति-भिन्नता नहीं पाई जाती उस को अनिवृत्ति करण कहते है। सभी करणोंमें नाना जीवोंकी अपेक्षा असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम हुआ करते हैं इनमेंसे अधःप्रवृत्त करणमें स्थितिखण्डन और गुणश्रेणिसंक्रमण नहीं होते। किंतु अनन्तगुणी वृद्धिसे युक्त विशुद्धिके द्वारा अशुभ प्रकृतियोंको अनन्तगुणे अनुभागसे हीन और शुभ प्रकृतियोंको अनन्त गुणे अनुभाग रससे युक्त बांधता है। एवं स्थितिको पल्यके असंख्यातवें भाग कम करदेता है। अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणमें स्थितिखण्डनादिक होते है। क्रमसे अशुभ प्रकृतियोंके अनुभागकी अनन्तगुणी हानि और शुभ प्रकृतियोंके अनुभागकी अनन्तगुणी वृद्धि होती है। इनमेंसे अनिवृत्तिकरणके असंख्यात भाग बीत जानेपर उक्त भव्यजीव अन्तर करणको करता है जिससे कि दर्शनमोहनीयका घात कर अंतसमयमें उसके शुद्ध अशुद्ध और मिश्र इस तरह तीन भाग करदेता है। जिनको कि क्रमसे सम्यक्त्व मिथ्यात्व और मिश्र कहते है। ये ही दर्शनमोहकी तीन प्रकृति है। इनका और अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभका उपशम क्षय अथवा क्षयोपशम होनेपर ही सम्यक्त्वकी उद्भूतता होती है। जैसा कि आगममें भी कहा है, यथाः—

प्रशमय्य ततो भव्य सहानन्तानुबन्धिभि।
ता मोहप्रकृतीरित्तसो याति सम्यक्त्वमादिमम्॥
संवेगप्रशमास्तिक्यदयादिव्यक्तलक्षणम्।
तत्सवेंदु खविध्वसि त्यक्तशङ्कादिदूषणम्॥

तथा—

क्षीणप्रशान्तमिश्रासु मोहप्रकृतिषु क्रमात्।
पश्चाद् द्रव्यादिसामग्र्या पुसा सद्दर्शन त्रिधा।

पहले यह बात कही जाचुकी है कि सम्यग्दर्शन निसर्ग या अधिगमके द्वारा उत्पन्न होता है। अत एव इन दोनोका—निसर्ग और अधिगमका स्वरूप बताते है:—

विना परोपदेशेन सम्यक्त्वग्रहणक्षणे ।
तत्त्वबोधो निसर्गः स्यात्तत्कृतोधिगमश्च सः ॥ ४८ ॥

सम्यक्त्व ग्रहण करनेके समय गुरु आदिकोंके उपदेशके विना ही तत्त्वबोधके होनेको निसर्ग और उपदेशके निमित्तसे तत्त्वज्ञान होनेको अधिगम कहते है।

भावार्थ —दोनोंमें परोपदेशकी निरपेक्षता और सापेक्षताका ही अंतर है।

इसी बातको पुष्ट करते है:—

केनापि हेतुना मोहवैधुर्यात्कोपि रोचते ।
तत्त्वं हि चर्चानायस्तः कोपि च क्षोदखिन्नधीः ॥ ४९ ॥

जिनका मोह वेदना अभिभवादिकमेंसे किसी भी निमित्तको पाकर दूर होगया है—सम्यग्दर्शनको घातनेवाली सात प्रकृतियोंका बाह्य निमित्तवश जिनके उपशम क्षय या क्षयोपशम हो चुका है उनमेंसे कोई जीव तो ऐसे होते है कि जिनको विना किसी चर्चाके विशेष प्रयासके ही तत्त्वमे रुचि उत्पन्न हो जाती है। और कोई ऐसे होते है कि जो कुछ अधिक प्रयास करनेपर ही बाह्य निमित्तके अनुसार मोहके दूर हो जानेपर तत्त्वरुचिको प्राप्त हो सकते है। वह यह अल्प और अधिक प्रयासका ही निसर्ग एवं अधिगममें अन्तर है। जैसा कि आगममें भी कहा है। यथा—

निसर्गोऽधिगमो वापि तदाप्तौ कारणद्वयम् ।
सम्यक्त्वभाक् पुमान्यस्मादल्पानल्पप्रयासतः ॥

निसर्ग और अधिगम इन दोकी प्राप्तिमें दो कारण हैं। क्योंकि इनके द्वारा सम्यक्त्वको प्राप्त करने वाले जीवोंमेंसे कोई तो अल्प प्रयाससे और कोई अनल्प-महान् परिश्रमसे सम्यक्त्वको प्राप्त हुआ करते हैं।

और भी—

यथा शूद्रस्य वेदार्थे शास्त्रान्तरसमीक्षणात् ।
स्वयमुत्पद्यते ज्ञानं तत्त्वार्थे कस्यचित्तथा ॥

जिस प्रकार शूद्र वेदके अर्थका साक्षात् ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता; क्योंकि उसको उसके पढनेका अधिकार नहीं है। किंतु ग्रंथान्तरोंको पढकर उसके ज्ञानको स्वयं प्राप्त कर सकता है। किसी किसी जीवके तत्त्वार्थका भी ज्ञान इसी तरहसे होता है। ऐसे जीवोंके गुरूपदेशादिके द्वारा साक्षात् तत्त्वबोध नहीं होता किंतु उनके ग्रंथोंके अध्ययन आदिके द्वारा स्वयं तत्त्वबोध और तत्त्वरुचि उत्पन्न हो जाती है।

सम्यक्त्वके भेद बताते है —

तत्सरागं विरागं च द्विधौपशमिकं तथा ।
क्षायिकं वेदकं त्रेधा दशधाज्ञादिभेदतः ॥ ५० ॥

सम्यग्दर्शनके दो भेद है—सराग और वीतराग। अथवा तीन भेद हैं-औपशमिक क्षायिक वेदक। यद्वा दशभेद हैं-आज्ञा मार्ग उपदेश आदि। इन दशोंके नाम आगे चलकर लिखेंगे।

सराग और वीतराग सम्यक्त्वका अधिकरण लक्षण और उपलक्षण बताते हैः—

ज्ञे सरागे सरागं स्याच्छमादिव्यक्तिलक्षणम् ।
विरागे दर्शनं तत्वात्मशुद्धिमात्रं विरागकम् ॥ ५१ ॥

जिसके साथमे चारित्रमोहका उदय पाया जाता है उसको सराग सम्यक्त्व कहते है । अत एव यह सराग तत्त्वज्ञानियोंमे—असंयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती जीवतकमें रहता है । इसके उपलक्षण शमादिक है, जिनका कि स्वरूप आगे कहेंगे । इस शमादिकके द्वारा ही वह व्यक्त हो सकता है--जाना जा सकता है। दर्शनमोहनीय कर्मके उपशमादिकके द्वारा उत्पन्न हुई जीवकी विशुद्धिको ही वीतराग सम्यग्दर्शन कहते है। यह वीतराग—ग्यारहवे और बारहवे गुणस्थानवर्ती जीवोंमे ही रहता है । प्रशमादिकको वीतराग सम्यग्दर्शन नहीं कहते; क्योंकि सहकारी चारित्रमोहनीयका अपाय होजानेसे वहांपर प्रशमादिककी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती । केवल स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा ही उसका अनुभव होता है ।

प्रशमादिकका लक्षण बताते हैः--

प्रशमो रागादीनां विगमोऽनन्तानुबन्धिनां संवेगः ।
भवभयमनुकम्पाखिलसत्त्वकृपास्तिक्यमखिलतत्त्वमतिः ॥ ५२ ॥

अनन्त--संसारका अनुबधन करनेवाले-बीज और अंकुरकी तरहसे प्रवृत्त करनेवाले रागादिक-क्रोध मान माया लोभरूप कषायों तथा उसके साहचर्यसे मिथ्यात्व तथा सम्यङ्मिथ्यात्वके भी अनुद्रेकको प्रशम कहते है। संसारकी भीरुताको संवेग कहते है । जिससे कि संसारके बढानेवाले कामोंके करनेकी रुचि उत्पन्न नहीं होती अथवा नष्ट होजाती है। त्रस अथवा स्थावरकी अवस्थामें यद्वा नारकादि गतियोंमे भ्रमण कर दुःखका उपार्जन करनेवाले समस्त जीवोंपर कृपा—दयाभाव होनेको अनुकम्पा कहते है; जिससे कि " ये

सब जीव किस प्रकार दुःखसे मुक्त हों " इस तरहके परिणामविशेष उत्पन्न हुआ करते है । समस्त पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपकी प्रतिपत्तिको आस्तिक्य कहते है । जिसके होनेमे जो हेय परद्रव्य है उनका और जो उपादेय निज शुद्धात्मस्वरूप है उसका अर्थात्, सभी स्वपर द्रव्योंका उसी तरहसे, जैसा कि उनका स्वरूप है, निश्चय होजाता है ।

स्वगत और परगत सम्यक्त्वके सद्भावका निश्चय किससे होता है सो बताते हैं:--

तैः स्वसंविदितैः सूक्ष्मलोभान्ताः स्वां दृशं विदुः ।
प्रमत्तान्तान्यगां तज्जवाक्चेष्टानुमितैः पुनः ॥ ५२ ॥

स्वयंके संवेदनके द्वारा भले प्रकार निर्णीत उपर्युक्त प्रशमादिकोंके द्वारा असंयत सम्यग्दृष्टिसे लेकर सूक्ष्मसांपराय दशम गुणस्थान पर्यंत सात गुणस्थानवाले जीव स्वगत सम्यग्दर्शनके सद्भावको जान सकते है । और प्रशमादिकोंके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले वचन तथा चेष्टा— काय-व्यापारको देखकर जिनका अनुमान करलिया जाता है ऐसे प्रशम संवेग अनुकंपा और आस्तिक्यके द्वारा छठे गुणस्थान तकके परजीवोंके सम्यग्दर्शनको भी जान सकते है ।

भावार्थ—स्वगत सम्यग्दर्शनके निमित्तसे जिन प्रशमादि भावोंकी उत्पत्ति होती है उनका निर्णय स्वयं होजाता है । और इसीलिये उन स्वयं निर्णीत प्रशम संवेग अनुकंपा और आस्तिक्यके द्वारा उस सम्यग्दर्शनका भी ज्ञान हो सकता है । इसी तरह अपने प्रशमादिकसे अविनाभावी उत्पन्न होनेवाले वचन एवं कायव्यापारका भी निर्णय होजाता है । उसी तरहका वचन तथा कायव्यापार आदि दूसरोंका देखकर उनके अविनाभावी प्रशमादिकका अनुमान करलिया जाता है; और उन अनुमित प्रशमादिकोंके द्वारा परके सम्यग्दर्शनका भी ज्ञान हो सकता है । किंतु इस तरहसे चोथे पांचवें और छठे गुणस्थान तकके ही परगत सम्यग्दर्शनका ज्ञान हो सकता है ।

औपशमिक सम्यग्दर्शनके अन्तरङ्ग कारणको बताते हैः—

शमान्मिथ्यात्वसम्यक्त्वमिश्रानन्तानुबन्धिनाम् ।
शुद्धेम्भसीव पङ्कस्य पुंस्यौपशमिकं भवेत् ॥ ५४ ॥

जिस प्रकार निर्मलीके फल आदिको डाल देनेसे कीचडके नीचे बैठ जानेपर जलमें शुद्धि आजाती है और वह स्वच्छ होजाता है उसी प्रकार मिथ्यात्व सम्यक्त्व और मिश्र एवं अनन्तानुबंधी कपायोंके–क्रोध मान माया लोभके शांत होनेसे जीवकी कश्मलता दूर होजाती है–दब जाती है और वह शुद्ध होजाता है। ऐसे जीवके इस उपशमके निमित्तसे जो तत्त्वश्रद्धानरूप परिणाम होते हैं उसको औपशमिक सम्यग्दर्शन कहते है ।

जिसके उदयसे जीव सर्वज्ञोक्त मार्गके श्रद्धानसे विमुख होकर मिथ्यादृष्टि होजाता है उसको मिथ्यात्व कहते हैं । इसी मिथ्यात्वको, जब कि वह शुभ परिणामोके निमित्तसे अपने अनुभागके क्षीण होजानेपर औदासीन्य रूपमें स्थित होजाता है, सम्यक्त्व कहते हैं; जिसका कि उदय होनेसे सर्वज्ञोक्त मार्गका श्रद्धान करलेनेपर जीव सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। क्योंकि यह प्रकृति सम्यक्त्व की प्रतिबंधक नहीं है। इसी तरह जिस मिथ्यात्वकी अनुभागशक्ति आधी शुद्ध हो चुकी है उसको मिश्र अथवा सम्यङ्मिथ्यात्व कहते है। जिस प्रकार भांग वगैरह किसी नसेली चीजको कुछ धोडालनेसे उसका आधा नसा कम होजाता है और उसके पीनेपर कुछ नसा और कुछ होश—सावधानता रहा करती है इसी तरह मिश्र प्रकृतिके उदय होनेपर मिश्र–मिथ्यात्व और सम्यक्त्वके मिले हुए परिणाम हुआ करते है । अनंतानुबंधीका अर्थ पहले लिखा जा चुका है । बस, इन सात प्रकृतियोका उपशम ही औपशमिक सम्यग्दर्शनका अंतरङ्ग कारण है ।

क्षायिक सम्यग्दर्शनका अंतरंग कारण बताते हैः—

तत्कर्मसप्तके क्षिप्ते पङ्कवत्स्फटिकेम्बुवत ।
शुद्धेऽतिशुद्धक्षेत्रज्ञे भाति क्षायिकमक्षयम् ॥ ५५ ॥

जिस प्रकार पङ्किल जलमेंसे पङ्कके भागका सर्वथा नाश होजानेपर बाकीका स्वच्छ जल किसी स्फटिकके वर्तनमें यदि रखदिया जाय तो वह अत्यंत शुद्ध और शोभायमान होता है और फिर उसमे अशुद्ध होनेका कोई कारण नहीं रहता । इसी प्रकारसे उपर्युक्त सात कर्मोके–तीन दर्शनमोहनीय और चार अनन्तानुबंधी कषायके सर्वथा नष्ट होजानेपर–सामग्रीविशेषके द्वारा दूर होजानेपर उद्भूत होनेवाले सम्यग्दर्शनको क्षायिक सम्यग्दर्शन कहते है । वह अत्यंत शुद्ध और अक्षय होता है । क्योंकि उसमे शङ्कादिक दूषण नहीं होते और वह शुद्ध–औपशमिक सम्यग्दर्शनसे भी अत्यंत शुद्ध होता है; क्योकि इसके प्रतिबंधक कारण सर्वथा नष्ट होजाते है । और यह उत्पन्न होनेके बाद कभी नष्ट नहीं होता इसलिये अविनाशी है । इस प्रकार यह सम्यग्दर्शन अत्यंत निर्मल आत्मामें सदा कालतक प्रकाशमान रहा करता है । क्योंकि यह कभी भी किसी भी निमित्तसे क्षुब्ध नहीं हो सकता । जैसा कि आगममें भी कहा है, यथाः—

रूपैर्भयकरैर्वाक्यैर्हेतुदृष्टान्तदर्शिभिः ।
जातु क्षायिकसम्यक्त्वो न क्षुभ्यति विनिश्चल ॥

क्षायिक सम्यग्दृष्टिके परिणाम इतने निश्चल होते हैं कि वह भयंकर स्वरूपको देखकर अथवा वैसे वाक्योंको सुनकर यद्वा हेतु और दृष्टान्तको प्रकाशित करनेवाले—हेत्वाभास तथा दृष्टान्ताभाससे भरे हुए वाक्योंको भी सुनकर कभी क्षुब्ध नहीं होता ।

भावार्थ—उपर्युक्त सात प्रकृतियोंका सामग्रीविशेषके द्वारा सर्वथा अभाव होजाना ही क्षायिक सम्यग्दर्शनका अन्तरङ्ग कारण है ।

वेदक सम्यक्त्वके अन्तरङ्ग कारणको बताते हैं:—

पाकाद्देशघ्नसम्यक्त्वप्रकृतेरुदयक्षये ।
शमे च वेदकं षण्णामगाढं मलिनं चलम् ॥ ५६ ॥

सम्यक्त्वकी घातक उक्त सात प्रकृतियोंमेसे सम्यक्त्वको छोडकर बाकी छह प्रकृतियोमेसे उदयमें आनेवालोकी निवृत्ति होजानेपर—विना फल दिये ही निर्जरा होजानेपर और उदयमें न आनेवालियोका उपशम होजानेपर तथा अंशतः सम्यक्त्वका घात करनेवाली उक्त सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होनेपर जो श्रद्धानरूप परिणाम होते है उसको वेदक सम्यक्त्व कहते हैं। अत एव यह क्षयोपशम ही वेदक सम्यक्त्वका अन्तरंग कारण है। यह सम्यक्त्व अगाढ मालिन और चल होता है ।

वेदककी अगाढताको दृष्टांतद्वारा स्पष्ट करते हैं:—

वृद्धयष्टिरिवात्यक्तस्थाना करतले स्थिता ।
स्थान एव स्थिते कम्प्रमगाढं वेदकं यथा ॥ ५७ ॥

जिस प्रकार वृद्ध पुरुषकी यष्टि-लकडी हातमें ही बनी रहती है-उससे पृथक् नहीं होती और अपने स्थानको नहीं छोडती; फिर भी कुछ कंपती रहती है—निश्चल नहीं रहती। उसी प्रकार जो क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन अपने विषय-देव गुरु शास्त्र और तत्त्वादिकमे ही स्थित रहते हुए भी सकम्प होता है—स्थिर नहीं रहता उसको अगाढ वेदक सम्यग्दर्शन कहते है।

इस अगाढताका उल्लेख-आकार बताते है:—

स्वकारितेर्हच्चैत्यादौ देवोयं मेऽन्यकारिते ।
अन्यस्यासाविति भ्राम्यन्मोहाच्छ्राद्धोपि चेष्टते ॥ ५८ ॥

मिथ्यादृष्टिकी तो बात ही क्या, जो सम्यग्दृष्टि-श्रद्धावान् है वे भी मोह-सम्यक्त्व प्रकृति-मिथ्यात्वके उदयसे भ्रम-सशयको प्राप्त होकर अपने बनाये हुए जिनबिम्ब जिनमन्दिर या किसी अन्य सम्यक्त्वक्रियाके साधनमे "ये मेरे देव है," या "यह मेरा मन्दिर है," इस तरहका और दूसरेके बनाये हुए जिनबिम्ब या जिनमन्दिरादिकमे "ये उसके देव है," या "यह उसका मन्दिर है," ऐसा व्यवहार करने लगते है ।

मलिनताका स्वरूप बताते है:—

तदप्यलब्धमाहात्म्यं पाकात्सम्यक्त्वकर्मणः ।
मलिनं मलसङ्गेन शुद्धं स्वर्णमिवोद्भवेत् ॥ ५९ ॥

जिस प्रकार सुवर्ण पहले अपने कारणोंसे चाहे शुद्ध ही उत्पन्न हुआ हो किंतु वह माहात्म्यरहित होनेपर चांदी वगैरह परपदार्थरूपी मलके ससर्गसे मलिन होजाता है । इसी प्रकार क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन चाहे पहले शुद्ध ही क्यों न उत्पन्न हुआ हो, किंतु सम्यक्त्व प्रकृति-मिथ्यात्वके उदयसे उत्पन्न होनेवाले शङ्कादिक दोपरूपी मलके संसर्गसे मलिन होजाता है; क्योंकि कर्मक्षपणके द्वारा प्राप्त होनेवाले अतिशयसे वह सर्वथा रहित होता है ।

चलपनेको बताते है—

लसत्कल्लोलमालासु जलमेकमिव स्थितम् ।

नानात्मीयविशेषेषु चलतीति चलं यथा ॥ ६० ॥

जिस प्रकार उद्दीप्त होनेवाली कल्लोलमालाओ—तरंगपंक्तियोंमें जल एक ही स्थित रहता है—तरंगोंकी चंचलताके कारण जलमे किसी प्रकारका भेद नहीं होता। उसी प्रकार अपने नाना विशेषोंमे—देव गुरु शास्त्र द्रव्य तत्त्व प्रभृतिमें चलायमान होनेवाले क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनको चल कहते है।

इसी चल सम्यग्दर्शनका उल्लेख —आकार बताते है:—

समेप्यनन्तशक्तित्वे सर्वेषामर्हतामयम्।
देवोस्मै प्रभुरेषोस्मा इत्यास्था सुदृशामपि ॥ ६१ ॥

सभी अर्हत समानरूपसे अनन्तशक्तिके धारक हैं; फिर भी उनके विषयमे सम्यग्दृष्टियोकी भी इस तरहकी आस्था—प्रतीति होने लगती है कि "ये देव-पार्श्वनाथ भगवान् इस कार्यकेलिये-उपसर्ग दूर करनेकेलिये समर्थ है, और शांतिनाथ भगवान् अमुक कार्यकेलिये—शान्ति स्थापनकेलिये समर्थ है"।

इस प्रकार क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शनमे सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे जो अगाढता आदि दोष उत्पन्न होते है उनका स्वरूप बताया। किन्तु इस विषयमे और भी कहा है जो कि इस प्रकार है:—

कियन्तमपि यत्काल स्थित्वा चलति तच्चलम्।
वेदक मलिन जातु शङ्काद्यैर्यत्कलङ्कयते ॥
'यच्चल मलिन चास्मादगाढमनवस्थितम्।
नित्यं चान्तर्मुहूर्तादिपट्षष्ट्यब्ध्यन्तवर्त्ति यत् ॥

जो, कुछ कालतक स्थिर रहकर चलायमान होजाता है उसको चल कहते हैं। जो शंकादिक दूषणोंसे कलंकित होता है उसको मलिन कहते हैं। इस प्रकार जो क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन चल मलिन अगाढ और अनवस्थित है वह कथंचित् नित्य भी है— दीर्घकालस्थायी है। क्योंकि उसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्तसे लेकर छयासठ सागर तककी है।

पहले आज्ञा मार्ग आदिकी अपेक्षासे सम्यक्त्वके दश भेद गिनाये हैं; अब उन्हीके नाम बताते हैं:—

आज्ञामार्गोपदेशार्थबीजसंक्षेपसूत्रजाः।
विस्तारजावगाढासौ परमा दशधेति दृक् ॥ ६२ ॥

आज्ञा मार्ग उपदेश अर्थ बीज संक्षेप सूत्र और विस्तार इनसे उत्पन्न होनेवाला तथा अवगाढ और परमावगाढ; इस तरह सम्यक्त्वके दश भेद है।

शास्त्राध्ययनके विना केवल वीतराग देवकी आज्ञाके अनुसार जो तत्त्वोंमें रुचि उत्पन्न होती है उसको आज्ञासम्यक्त्व कहते है। मोहनीय कर्मका उपशम होजानेपर शास्त्राभ्यासके विना, बाह्य और अभ्यंतर परिग्रहसे सर्वथा रहित और कल्याणकारी मोक्षमार्गमें रुचि होनेको मार्गसम्यक्त्व कहते हैं। तीर्थंकर प्रभृति उत्तम पुरुषोंके चरित्रको सुनकर जो तत्त्वोंमें रुचि उत्पन्न हो उसको अथवा हृदयमें उन चरित्रोंके सुनने का भाव उत्पन्न हो उसको उपदेश सम्यक्त्व कहते हैं। किसी पदार्थको देखकर या उसका अनुभव कर अथवा दृष्टान्तादिका अनुभव कर जो प्रवचनके विषयमें रुचि उत्पन्न होती है उसको अर्थ सम्यक्त्व कहते है। गणित ज्ञानकेलिये जो नियम बताये हैं उन पूर्ण या अपूर्ण बीजोंको जानकर और मोहनीय कर्मका अतिशय उपशम होजानेपर करणानुयोगके गहन भी पदार्थोंके जाननेसे जो सम्यक्त्व उद्भूत होता है उसको बीजसम्यग्दर्शन कहते

है। पदार्थोंको संक्षेपसे ही जानकर जो तत्त्वोंमें रुचि होती है उसको संक्षेपसम्यग्दर्शन कहते हैं। मुनियोंकी चारित्रविधिका वर्णन करनेवाले आचारसूत्रको सुनकर जो श्रद्धा उत्पन्न हो उसको सूत्रसम्यग्दर्शन कहते है। जो समस्त द्वादशाङ्गको सुनकर रुचि उत्पन्न होती है उसको विस्तार सम्यग्दर्शन कहते है। अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य इस तरह समस्त श्रुतका पूर्ण अनुभव होजानेपर–श्रुतकेवल अवस्था प्राप्त होजानेपर जो तत्त्वोंमें श्रद्धा उत्पन्न होती है उसको अवगाढ सम्यग्दर्शन कहते हैं। साक्षात् केवलज्ञानके होजानेपर जो पदार्थोंमे अत्यंत दृढ श्रद्धा उत्पन्न होती है उसको परमावगाढ सम्यग्दर्शन कहते है।

आज्ञासम्यक्त्वको प्राप्त करनेका उपाय बताते है:--

देवोर्हन्नेव तस्यैव वचस्तथ्यं शिवप्रदः।
धर्मस्तदुक्त एवेति निर्बन्धः साधयेद् दृशम् ॥ ६३ ॥

क्लेश—रागद्वेष और कर्मोदय तथा उससे होनेवाले क्षुधातृषादिक दोषो एवं सांसारिक विषयवासनाओ और अज्ञानादिकसे जो सर्वथा रहित है उस पुरुषविशेषको ही देव कहते है। ऐसा देव अर्हन्त ही हो सकता है। अतएव उसीके वचन सत्य हो सकते है, क्योंकि वह सर्वज्ञ एवं वीतराग है। और इसीलिये धर्म भी उस अर्हतका ही कहा हुआ सत्य तथा अभ्युदय और निःश्रेयस—मोक्षका साधक हो सकता है। इस प्रकारका निर्बन्ध-अभिनिवेश ही सम्यग्दर्शन—आज्ञासम्यक्त्वको सिद्ध कर सकता है।

अब पांच पद्योमे सम्यग्दर्शनके माहात्म्यका वर्णन करते है। जिसमेंसे पहले यहांपर जिससे विनेयों—शिष्यो व श्रोताओको सुखपूर्वक उसकी स्मृति हो सके इसलिये सम्यग्दर्शनकी सामग्री और स्वरूप बताकर संक्षेपसे उसकी अनन्यसंभवी महिमाको प्रकट करते है:--

प्राच्येनाथ तदातनेन गुरुवाग्बोधेन कालारुण,—

स्थामक्षामतमश्छिदे दिनकृतेवोदेष्यताविष्कृतम् ।
तत्त्वं हेयमुपेयवत्प्रतियता संवित्तिकान्ताश्रिता
सम्यक्त्वप्रभुणा प्रणीतमहिमा धन्यो जगज्जेष्यति ॥ ६४ ॥

वह पुरुष धन्य है और वही जगत्—निश्चयसे अपने आत्मस्वरूप और व्यवहारसे जीवादिक छहो द्रव्योंके समूहरूप लोकको–जीत सकता है, जिसका कि माहात्म्य उस सम्यक्त्वप्रभुके द्वारा प्रवृत्त होता है, जो कि कालादिलब्धिरूप अरुण सूर्यके सारथीकी शक्तिके द्वारा कृश किये गये अंधकारका छेदन करनेकेलिये सूर्यके समान उदयको प्राप्त होनेवाले प्राच्य अथवा तदातन–अपने (सम्यग्दर्शनके) उत्पन्न होनेसे पूर्वसमयवर्त्ती अथवा समसमयवर्ती महान् वाग्बोधके द्वारा प्रगट किये गये हेय और उपादेय तत्त्वको प्रगट करता है तथा संवित्ति सम्यग्ज्ञप्ति—समीचीन ज्ञानरूपी कांताको प्राप्त होता है।

भावार्थ—यहांपर वाग्बोधसे अभिप्राय आगमज्ञानका है, अत एव वचनशब्दको उपलक्षण ही समझना चाहिये । और इसके अनुसार हाथ वगैरहके इशारेसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान भी आगम ही समझना चाहिये तथा उसका भी यहां ग्रहण करना चाहिये । यह आगमज्ञान दो प्रकारका हो सकता है; एक सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेसे पूर्वसमयवर्त्ती, दूसरा समसमयवर्ती । वाग्बोधशब्दके साथ जो गुरुशब्द है उसके भी दो अभिप्राय है। एक तो यह कि वाग्बोध–आगमज्ञान गुरु–महान् है; क्योंकि वह परोपदेशकी अपेक्षा नहीं रखता । यह बात निसर्गकी अपेक्षासे समझनी चाहिये । दूसरा यह कि वह गुरु—धर्मोपदेशकके वचनोसे उत्पन्न होता है । यह अर्थ अधिगमकी अपेक्षासे समझना चाहिये । प्राच्य और तदातन शब्दके द्वारा सम्यग्दर्शनकी सामग्री बताई है । क्योंकि वहिरंग कारणकी अपेक्षासे सम्यग्दर्शन निसर्गज और अधिगमज इस तरह दो प्रकारका है, यह बात पहले बता चुके है । जिस प्रकार उदयको प्राप्त होनेवाला सूर्य सारथीकी शक्तिसे अंधकारको छिन्न करदेता है उसी प्रकार सम्यग्ज्ञान सम्यक्त्वोत्पत्तिके योग्य काल क्षेत्र द्रव्य भाव रूप सारथिकी शक्तिसे निर्बल हुए मिथ्यात्वरूपी तिमिरको दूर कर देता है। और सम्यक्त्वके साथ ही उदित होता है। साथमें उदित होना समीचीन

भावकी अपेक्षासे है, क्योंकि ज्ञानमें समीचीनता सम्यग्दर्शनके निमित्तसे ही होती है। और इसलिये उसको सम्यग्दर्शनका कार्य माना है। यहां प्रश्न हो सकता है कि जब दोनो साथ ही उत्पन्न होते हैं तब उनमें कार्यकारणभाव किस तरह बन सकता है? किन्तु समान समयमें उत्पन्न होनेवालोंमें भी कार्यकारण भाव हो सकता है, यह बात प्रदीप और प्रकाशमें देखनेसे भले प्रकार घट सकती है। जैसा कि आगममें भी कहा है—

कारणकार्यविधान समकाल जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयो सुघटम्।

इसीलिये आगे चलकर सम्यग्दर्शन आराधनाके उपदेशके अनंतर ज्ञान आराधनाका उपदेश देंगे, जैसा कि आगममें भी कहा है—

सम्यग्ज्ञान कार्यं सम्यक्त्व कारण वदन्ति जिना।
ज्ञानाराधनमिष्ट सम्यक्त्वानन्तर तस्मात्॥

अत एव श्वेताम्बराचार्योंका यह वचन ठीक नहीं है कि:—

चतुर्वर्गाग्रणीर्मोक्षो योगस्तस्य च कारणम्।
ज्ञानश्रद्धानचारित्ररूप रत्नत्रय च स॥

यहांपर यह प्रश्न हो सकता है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनो ही आत्माके अभिन्न भाव हैं अत एव भिन्न भिन्न दो आराधनाएं नहीं हो सकती-दोनोंका पृथक् पृथक् आराधन नहीं किया जा सकता? किंतु यह नही है। क्योंकि यद्यपि दोनो एक ही आत्माके भाव है इसलिये इनमें कथंचित् अभेद है। फिर भी दोनोंका लक्षण भिन्न भिन्न है, इसलिये कथंचित् अभेद भी है। अत एव दोनोंका भिन्न भिन्न रूपमें भी आराधन हो सकता है। जैसा कि आगममे भी कहा है:—

पृथगाराधनमिष्ट दर्शनसहभाविनोपि बोधस्य।
लक्षणभेदेन यतो नानात्व सभवज्ञनयो॥

सम्यक्त्व सचमुचमें प्रभु है, और इसीलिये वह परम आराध्य है; क्योंकि उसीके प्रसादसे सिद्धि सिद्ध हो सकती

है। और उसीके निमित्तसे मनुष्योंमें वह माहात्म्य प्राप्त होता है कि जिसके द्वारा जीव जगत्पर विजय प्राप्त करलेता है—सर्वज्ञ होकर समस्त जगत्का भोक्ता होजाता है। सम्यक्त्वका ऐसा ही माहात्म्य है कि उससे समस्त सुखोंकी उपलब्धि होसकती है। जैसा कि कहा भी है—

कि पलविएणं वहुणा सिद्धा जे णरवरा गए काले।
सिज्झिहहि जे वि भविया त जाणह सम्ममाहप्प॥
तत्त्वपरीक्षाऽतत्त्वव्यवच्छिदा तत्त्वनिश्चय जनयेत।
स च दृग्मोहशमादो तत्त्वरुचिं सा च सर्वसुखम्॥
शुभपरिणामनिरुद्धस्वरस प्रशमादिकैरभिव्यक्तम्।
स्यात्सम्यक्त्वमनन्तानुवन्धिमिथ्यात्वमिश्रशमे॥

वहुत कहनेसे क्या प्रयोजन, भूत कालमें जितने नरपुंगव सिद्ध हुए है और भविष्यत्में सिद्ध होंगे वह सब सम्यक्त्वका ही माहात्म्य है।

तत्त्वके परीक्षण—समर्थन और अतत्त्वके निराकरणसे तत्त्वका निश्चय हुआ करता है। किंतु यह निश्चय दर्शनमोहके उपशमादिक होनेपर होता है। तत्त्वका निश्चय होनेपर तत्त्वमें रुचि उत्पन्न होती है और उससे समस्त सुखोंकी सिद्धि होती है।

अनन्तानुवंधी कषाय मिथ्यात्व और मिश्र प्रकृतिका उपशम होनेपर सम्यक्त्वकी उद्भूतता होती है जो कि प्रशमादिकोंके द्वारा अभिव्यक्त होता और शुभ परिणामोंके द्वारा अपने रसको निरुद्ध करदेता है।

जिसका सम्यग्दर्शन निर्मल गुणोंसे अलंकृत है ऐसा भव्य जीव निरतिशय माहात्म्यके कारण जिस सर्वोत्कर्षको प्राप्त करलेता है उसकी प्रशंसा करते हैं:—

भाव्यं भव्यमिहांगिनां मृगयते यज्जातु तद्भ्रूकुटिं,
सयग्दर्शनवेधसो यदि पदच्छायामुपाच्छंन्ति ते ॥ ६६ ॥

पुण्यके प्रसादसे कटीले भी वृक्ष—बबूर वगैरह कल्पवृक्ष हो जाते है। साधारण पाषाण चिन्तामणि रत्न होजाता है। और गौ—साधारण गौ कामधेनु होजाती है। अथवा उसकी अद्भुत शक्तिका वर्णन कहांतक किया जा सकता है। क्योंकि प्राणियोंका जगत्मे ऐसा कोई भी कल्याण न तो है, न हुआ, न होगा कि जो कदाचित् भी उस पुण्यकी भ्रकुटिकी अपेक्षा करे। क्योंकि जो सम्यग्दर्शनका आराधन करनेवाले है उनके उस पुण्यकी उपलब्धि होती है कि जिससे तीन काल और तीनो लोकोंमें तीर्थंकरत्व सरीखे पदों या अभ्युदयोंकी प्राप्ति हुआ करती है। भ्रकुटि शब्दके कहनेका अभिप्राय यही है कि जो महाप्रभु होता है वह अपनी आज्ञाका उल्लंघन करनेवालेके प्रति क्रोधसे भ्रकुटि चढाता है। किंतु सम्यग्दर्शनका सहचारी ऐसा कोई भी पुण्य नहीं है कि जिसका कोई भी अभ्युदय उल्लंघन कर सके–जिसके अनुसार कोई भी कल्याण सिद्ध न हो सके। क्योंकि जितने भी अभ्युदय है वे सब सम्यग्दर्शनके सहचारी पुण्यका उदय होते ही सम्पन्न होजाते हैं। अत एव वे उसकी भ्रुकुटिकी कदाचित् भी अपेक्षा नहीं करते। किंतु यह बात तभी हो सकती है जब कि वे पुण्यका सम्पादन करनेवाले सम्यग्दर्शनरूपी वेधा ब्रह्माके चरणोंका आश्रय ले। क्योंकि सम्यग्दर्शनकी सहचारिताके विना उस तरहका पुण्य सम्पन्न नहीं हो सकता। सम्यग्दर्शनको ब्रह्मा कहनेका अभिप्राय यह है कि वह समस्त पुरुषार्थोंके उत्पन्न करनेमें स्वतंत्र है।

जो मनुष्य भले प्रकार सम्यग्दर्शनको सिद्ध कर चुके है उनकी विपत् भी संपत् ही होजाती है। इतना ही नहीं, किंतु उसका केवल नाम लेनेवाले भी सहज ही विपत्तियोंसे मुक्त हो जाते है। यही बात दिखाते है:—

सिंहः फेरुरिभः स्तभोग्निरुदकं भीष्मः फणी भूलता,
पाथोधिः स्थलमन्दुको मणिसरश्चौरश्च दासोऽक्षमा ।
तस्य स्याद् ग्रहशाकिनीगदरिपुप्रायाः पराश्चापद,——
स्तन्नाम्नापि वियन्ति यस्य वदते सद्दृष्टिदेवी हृदि ॥ ६७ ॥

जिस मनुष्यके हृदयमें सम्यग्दर्शनरूपी देवता सिद्ध होकर बोलने लगती है उसके लिये अत्यत भयंकर —प्राणान्त करनेवाले उपसर्गोंके उत्पन्न करनेमें उद्यत हुए भी सिंह शार्दूल प्रभृति जीव परमार्थसे शृगालादिकके समान होजाते है-उसके हुंकारमात्रसे दूर भाग जाते है। इसी तरह अत्यंत क्रूर भी गजराज बकरीके समान बन जाता है। जिस तरह कान पकड कर बकरीको वशमें किया जा सकता है उसी तरह भयंकर भी हस्ती वशमें हो-जाता और उसपर आरोहण किया जा सकता है। तथा भयंकर अग्नि जलके समान होजाती है। भीष्म सु-र्पराज केंचुआके सदृश बनजाता है। समुद्र स्थल होजाता है और लोहेकी मजबूत भी शृंखला——सांकल मणियों —मोतियोंकी माला बनजाती है। चोर दास होजाता है——खरीदे हुए गुलामकी तरह काम करने लगता है । विपत्तियां नष्ट होजाती है। अधिक क्या कहा जाय उस देवताका नाम मात्र लेनेसे प्राणियोंके अत्यंत प्रकृष्ट भी ग्रह शाकिनी ज्वरादिक व्याधियां और शत्रुप्रभृति तथा और भी आपत्तिया सब दूर होजाती हैं।

मुमुक्षुओंको सम्यग्दर्शनका आराधन करनेमें प्रोत्साहित करते हुए दृढ करनेकेलिये यह बताते है कि वह सम्यग्दर्शन दुर्गतिओंका प्रतिबंध करनेवाला और परम अभ्युदयके साधनका अंग तथा साक्षात् मोक्षका कारण है:—

परमपुरुषस्याद्या शक्तिः सुदृग् वरिवस्यतां,
नरि शिवरमासाचीक्षां या प्रसीदति तन्वती ।

कृतपरपुरभ्रंशं क्लसप्रभाभ्युदयं यया
सृजति नियतिः फलाभोक्त्री कृतात्रिजगत्पतिः ॥ ६८ ॥

हे मोक्षकी इच्छा रखनेवाले भव्यो ! परमपुरुष परमात्माकी आद्य—प्रधानभूत शक्ति सम्यग्दर्शनका तुम आराधन करो । जो कि शिवरमणीके साची—तिर्यक् ईक्षा—कटाक्षको विस्तृत करती हुई मनुष्यपर अपनी प्रसन्नता प्रगट करती है । एवं जिसके प्रसादसे अतिशयित प्रभावको प्राप्त हुई नियति पर—मिथ्यात्त्व अथवा वैरिओंके नगरका भ्रंश—विनाश करती हुई और तीनो लोकोंके स्वामियोंको उच्छिष्टभोजी बनाती हुई अभ्युदयको निष्पन्न करती है ।

भावार्थ—जिस प्रकार सांसारिक मनुष्य परमपुरुष—महादेवकी आद्य शक्ति पार्वतीको मानते हैं और कहते हैं कि उसीके प्रसादसे प्रभावयुक्त संचितपुण्य वैरिओंके नगरका नाश करता है । उसी प्रकार वस्तुतः ऐसा समझना चाहिये कि सम्यग्दर्शन परम आत्माओंकी प्रधान शक्ति है । उसके प्रसादके पुण्यमें वह अतिशयित प्रभाव उत्पन्न होता है कि जिसके वश होकर वह पुण्य मिथ्यात्वके द्वारा सम्पन्न हुए एकेन्द्रियादिकोंके शरीररूपी नगरोंको भस्मसात् करता हुआ अभ्युदयोंको उत्पन्न करता है । क्योंकि सम्यक्त्वका आराधन करनेवाला जीव यदि उसने सम्यक्त्व ग्रहणके पूर्व आयुकर्मका बंध न किया हो तो नरकादिक दुर्गतियोंको प्राप्त नही होता । और यदि उसने वैसी आयुका बंध करलिया हो तो द्वितीयादि नरक प्रभृति अवस्थाओंको प्राप्त नही होता । जैसा कि आगममें भी कहा हैः -

---

१—सम्यग्दर्शनके पक्षमें निर्मलता—शंकादिक मलरूपी कलककी विकलता और दूसरे पक्षमें परम पद देनेके सम्मुख परिणाम ।
२—भाग्य । ३—दूसरे पक्षमें ।

छसु हेट्ठिमासु पुढविसु जोइसिवणभवणसव्वइत्थीसु ।
बारसमिच्छुववाए सम्माइट्ठी ण उववण्णा ॥

नीचेकी छह पृथिवी नरक ज्योतिषी व्यंतर भवनवासी समस्त स्त्री और बारह मिथ्योपपाद इतने स्थानोंमें सम्यग्दृष्टि उत्पन्न नहीं होता । इससे यौगोंके इस मतका खण्डन होजाता है कि—

नाभुक्त क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्य कृत कर्म शुभाशुभम ॥

सैकडों कल्पकोटि कालके बीत जानेपर भी कोई भी कर्म विना भोगे नहीं छूट सकता । कैसा भी कर्म क्यों न हो -चाहे शुभ हो चाहे अशुभ, जो बांधा है वह अवश्य ही भोगना पडता है ।

इस प्रकार सम्यग्दर्शनके प्रतापसे दुर्गतियोंका ध्वंस होता है और अभ्युदयोंकी सिद्धि होती है । तथा इसके प्रसादसे ही सुरेन्द्रादिककी विभूतियोंको भोगकर और पुनः उनको छोडकर जीव परम आर्हन्त्य पदको प्राप्त होजाता है । इस तरहसे यह सम्यग्दर्शन ऊर्ध्व मध्य और अधोलोकके सभी स्वामिओं—विभूतिभोगियोंको उच्छिष्टभोजी बना देता है । इस प्रकार अनेक माहिमाओंसे युक्त सम्यग्दर्शनके निमित्तसे ही जीव उसी भवमें शिवरमणीके कटाक्षपातसे प्रकट हुए अपूर्व— लोकोत्तर सुखका भोक्ता होजाता है । जैसा कि आगममें भी कहा है—

यथा,—

देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमान,
राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोर्चनीयम् ।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोक,
लब्ध्वा शिव च जिनभक्तिरुपैति भव्य ॥

जिनेन्द्रदेवकी भक्ति करनेवाला सम्यग्दृष्टि भव्य देवेन्द्रों-स्वर्गके देव इन्द्र अहमिन्द्र तथा सर्वार्थसिद्धि तकके उत्कृष्ट देवोंकी अप्रमाण महिमाओं-विभूतियोंको अथवा महाराजोंके शिरोद्वारा अर्चनीय-जिसको बडे बडे महाराज शिर झुकाकर नमस्कार करते है ऐसे राजेन्द्रचक्र— चक्रवर्तीतकके उत्कृष्ट मानवीपदो या विभूतियोंको तथा समस्त लोकको नीचा करदेनेवाले-तीन लोकमे उत्कृष्ट तीर्थंकर जैसे पदका भोग कर अंतमें मोक्षको प्राप्त करता है।

जब कि सम्यक्त्वरूपी परम प्रभुकी महिमा इतनी असाधारण है तब कहिये कि उसका आराधन किस तरह किया जाता है? इसका उत्तर देते है—

मिथ्यादृग् यो न तत्त्वं श्रयति तदुदितं मन्यतेऽतत्त्वमुक्तं,
नोक्तं वा तादृगात्मा भवभयममृतेतीदमेवागमार्थः।
निर्ग्रन्थं विश्वसारं सुविमलमिदमेवामृताध्वेति तत्त्व,—
श्रद्धामाधाय दोषोज्झनगुणविनयापादनाभ्यां प्रपुष्येत् ॥ ६९ ॥

तत्त्वोंका स्वरूप पहले बताया जा चुका है। उसके अनुसार जो उसका श्रद्धान नहीं करता किंतु किसीके भी— मिथ्यादृष्टि, गुरु आदिके कहे हुए अथवा विना कहे हुए ही विपरीत तत्वका श्रद्धान करलेता है उसको मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये. यह आत्मा अनादि कालसे वैसा—मिथ्यादृष्टि रह कर ही मरणको प्राप्त हुआ है। इसलिये जो मुमुक्षु है उनको अपने अतःकरणमें ऐसा श्रद्धान रखकर कि "समस्त संसारमें सारभूत वस्तु यदि कुछ है तो वह निर्ग्रंथ अवस्था ही है, अत्यंत निर्मल यह अवस्था ही मोक्षका मार्ग है और यही समस्त आगम-प्रवचनका अर्थ-अभिप्राय है।" उस तत्त्वश्रद्धाकी, दोषोंके त्याग और गुणो तथा विनयके द्वारा प्रकृष्ट रूपमें, पुष्टि करना उचित है।

भावार्थ—समस्त संसारी जीव और उनमें मे भी अनादि कालसे इस संसारमें मिथ्यादृष्टि होकर-मिथ्यात्वके प्रतापसे ही जन्म मरण धारण करते रहे है और दुःख भोगते रहे है। मिथ्यादृष्टि उसको कहते हैं जो कि किसीके उपदेशसे या विना उपदेशके ही पदार्थके विपरीत स्वरूपका तो श्रद्धान करता; किंतु उनके समीचीन स्वरूपका, जो कि आगमोक्त है, श्रद्धान नहीं करता है। जैसा कि आगममें भी कहा है—

मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं अणुवइट्ठं वा॥

मिथ्यादृष्टि जीव उपदिष्ट प्रवचनका श्रद्धान नहीं करता किंतु उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भाव-अतत्त्वका श्रद्धान करलेता है।

जब कि मिथ्यात्वके निमित्तसे संसारमें भ्रमण करना पडता है तब मोक्षकेलिये इसके विरुद्ध तत्त्वश्रद्धान ही अन्तःकरणमें धारण करना उचित है। तत्त्वश्रद्धाका आकार ऊपर बता चुके हैं।

संसारके बढानेवाले भावोंको ग्रंथ कहते है। अत एव मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्र ये ग्रंथ है। ये तीनो ही हेय है इसलिये इनकी हेयताका और इसके विरुद्ध रत्नत्रय जो कि समस्त जगत्में उत्कृष्ट और आगमके सम्पूर्ण कथनका सार है तथा अत्यंत निर्मल रूपको धारण कर जीवन्मुक्ति या परममुक्तिकी प्राप्तिका उपाय होजाता है, उपादेय है। इसलिये उसकी उपादेयताका श्रद्धान ही तत्त्वश्रद्धान है। ऐसा ही आगममें भी कहा है, यथाः—

णिग्गंथं पावयणं इणमेव अणुत्तरं सुपरिसुद्धं।
इणमेव मोक्खमग्गोत्ति मदी कायव्विया तह्मा॥

नैर्ग्रन्थ्य ही उपादेय वस्तु है; क्योंकि यही लोकोत्तर अत्यंत विशुद्ध और मोक्षका मार्ग है। इसलिये

उसीका और वैसा ही श्रद्धान करना चाहिये। इसीको तत्त्वश्रद्धा कहते है। इसकी पुष्टि दोषोंके त्याग गुणों की प्राप्ति और विनयके द्वारा करनी चाहिये । अपनी कार्यकारिताकी हानि अथवा स्वरूपके कम होनेको दोष और इससे विपरीत भावको गुण कहते है। विनय शब्दका अर्थ नम्रता है। इन्हींके द्वारा पुष्ट किये जानेपर सम्यग्दर्शनका आराधन हो सकता है।

पहले सम्यक्त्वके विषयमें उद्योतादिकका वर्णन कर चुके है। उनकी आराधना करनेकी इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुओंको उनके अतीचारोंका त्याग करनेका उपदेश देते है—

दुःखप्रायभवोपायच्छेदोद्युक्तापकृष्यते ।
दृग्लेश्यते वा येनासौ त्याज्यः शङ्कादिरत्ययः ॥ ७० ॥

जिसमें प्रायः दुःख ही पाये जाते है ऐसे ससारके कारणभूत कर्मबन्ध अथवा मिथ्यात्वादिक भावोंका उच्छेद–विनाश करनेमें उद्युक्त सम्यग्दर्शनकी कार्यकारिणी शक्तिका जो अपकर्ष करते है और स्वरूपको कम करते हैं उन शंकादिक अतीचारोंको अवश्य ही छोडना चाहिये।

अन्तर्वृत्ति या बहिर्वृत्तिके द्वारा इस तरहसे अंशतः सम्यग्दर्शनके खण्डित होनेको, कि जिसमें उसका समूल नाश न हो, अतीचार कहते हैं इस तरहके अतीचार अनेक हैं। उनसे युक्त सम्यग्दर्शन कार्यकारी नहीं हो सकता। निरतीचार ही सम्यग्दर्शन दुःखप्राय संसार और उसके कारणों का उच्छेद कर सकता है। जैसा कि आगममें भी कहा है, यथाः—

नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसंततिम् ।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विषवेदनाम् ॥

शङ्का नामके अतीचारका स्वरूप बताते हैं:—

विश्वं विश्वविदाज्ञयाभ्युपयतः शङ्कास्तमोहोदयाज्,
ज्ञानावृत्त्युदयान्मतिः प्रवचने दोलायिता संशयः।
दृष्टिं निश्चयमाश्रितां मलिनयेत्सा नाहिरज्ज्वादिगा,
या मोहोदयसंशयात्तदरुचिः स्यात्सा तु संशीतिदृक् ॥ ७१ ॥

शुभ परिणामोंके द्वारा जिसकी अनुभाग शक्तिका निरोध हो चुका है ऐसे मोहोदय सम्यक्त्वनामकी दर्शनमोहनीय प्रकृतिके उदयका अस्त होजानेसे सर्वज्ञदेवकी आज्ञा शासनके अनुसार समस्त वस्तुओंके विस्तारका यथावत् विश्वास करनेवाले जीवको ज्ञानावरण कर्मके उदयसे प्रवचन— सर्वज्ञोक्त तत्त्वोंके विषयमें होनेवाली दोलायमान-वस्तुके सत्यांश और असत्यांश दोनो ही तरफको समानरूपसे झुकती हुई प्रतीतिको संशय कहते है। इस संशयको ही शंका नामका अतीचार कहते हैं क्योंकि इस तरहकी ही शंका-प्रवचनोक्त तत्त्वोंके विषयमें जो शंका है वही निश्चय—वस्तुतत्वके यथार्थ प्रत्ययसे सम्बन्ध रखनेवाले सम्यग्दर्शनको मलिन करती है। सर्प रज्जु आदिके विषयमें जो शंका होती है वह उसको मलिन नहीं करती। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि शंका नामके अतीचार और संशयमिथ्यात्व इनमें क्या अन्तर है? इसका उत्तर यह है कि जिस शंकासे सम्यग्दर्शन मलिन हो—अंशतः खण्डित हो उसको शंका अतीचार कहते हैं और जो शंका मोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न हो और जिससे प्रवचनोक्त तत्त्वोंमें अश्रद्धा हो जाय उसको संशयमिथ्यात्व कहते है।

भावार्थ- प्रवचनोक्त तत्त्वोंके विषयमें सत्यता और असत्यताके संशयको शंका कहते हैं जो कि सम्यग्दर्शनका एक अतीचार है।

इस शंकाके निराकरण करनेकी प्रेरणा करते है —

प्रोक्तं जिनैर्न परथेत्युपयन्निदं स्यात,
किं वान्यदित्थमथवाऽपरथेति शङ्काम् ।
स्वस्योपदेष्टुरुत कुण्ठतयानुषक्तां,
सद्युक्तितीर्थमचिरादवगाह्य मृज्यात ॥ ७२ ॥

जो जिनेन्द्रदेव वीतराग सर्वज्ञदेवने कहा है कि "समस्त वस्तु अनेकान्तात्मक हैं," सो सत्य है। "उसका यह मत मिथ्या नही होसकता।" इस प्रकारसे श्रद्धान करनेवाले सम्यग्दृष्टि मुमुक्षु भव्यको शीघ्र ही सद्युक्तितीर्थ--समीचीन युक्तियोसे सिद्ध आगममे कुशल उपाध्यायके अथवा उस समीचीन युक्तिसिद्ध आगमके हृदयमे प्रवेश कर अपनी मन्द बुद्धिके कारण अथवा उपदेष्टा गुरुओकी कुण्ठताके कारण हृदयमे उत्पन्न हुई इस तरहकी शंकाका मार्जन— शोधन करडालना चाहिये कि 'जो जिनेन्द्र देवने कहा है कि धर्मादिक द्रव्य इतने है, सो वह ठीक है, अथवा दूसरे वैशेपिकोंके कहे हुए द्रव्यादिक, यद्वा सांख्यके कहे हुए प्रधान पुरुपादिक अथवा बौद्धोंके कहे हुए दुःखसमुदायादिक स्वरूप ठीक है।' इसी तरह ऐसी शंकाका भी मार्जन करना चाहिये कि "जिनेन्द्र देवने जो तत्त्वोका स्वरूप कहा है कि वह सामान्यविशेपात्मक है सो वह ठीक है अथवा, कोई दूसरा ही भेदैकान्तादिक ठीक है"?

ऊपर उपाध्याय और आगमको तीर्थ बताया है सो ठीक ही है। क्योकि तीर्थ शब्दका अर्थ नदी आदिका घाट होता है। जिस प्रकार सद्युक्तितीर्थ--जिसकी भले प्रकार योजना कीगई है ऐसे घाटको पाकर सांसारिक मनुष्य प्रमादसे लगे हुए मल या कीचड आदिको धोकर साफ करदेते है उसी प्रकार जैनागम और

उसके आधारभूत उपाध्यायको पाकर—इन दोनोंकी सेवा करके भव्यगण सांसारिक तथा उसकी कारण मलिनताको दूर करदेते हैं-संसारसमुद्रसे तर जाते हैं। जैसा कि कहा भी है: —

जैनश्रुततदाधारौ तीर्थं द्वावेव तत्त्वत ।
संसारस्तीर्यते ताभ्यां तत्सेवी तीर्थसेवक ॥

इस तीर्थको सयुक्ति कहनेका अभिप्राय यह है कि वह पूर्वापर अथवा प्रत्यक्षादिक प्रमाणके द्वारा बाधित नहीं है।

शंका नामके अतीचारमें क्या अपाय होता है सो बताते हैं: —

सुरुचिः कृतनिश्चयोऽपि हन्तुं द्विषतः प्रत्ययमाश्रितः स्पृशन्तम्।
उभयीं जिनवाचि कोटिमाजौ तुरगं वीर इव प्रतीर्यते तैः ॥ ७३ ॥

जिस प्रकार अत्यंत तेजस्वी और जिसने वैरिओंके वध करनेका दृढ निश्चय कर लिया है ऐसा भी वीर पुरुष, यदि युद्धभूमिमें ऐसे घोडेपर चढा हो जो कि कभी पूरब और कभी पश्चिम इस तरह बडे वेगसे भागता फिरता हो तो. वह वैरिओंके द्वारा मारा जाता है। इसी प्रकार जिसने मोहादिक वैरिओंके घात करनेका निश्चय कर लिया है ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव यदि जिनवचनके विषयमें दोनो ही कोटियों — वस्त्वंशोंका स्पर्श करनेवाले ज्ञान-" ऐसा ही है अथवा अन्यथा है " इस तरहके संशयज्ञानपर आरूढ हो तो वह उन वैरिओंके द्वारा प्रतिहत हो जाता है।

भावार्थ— संशयी जीव अपना कल्याण नहीं कर सकता; क्योंकि संशयके कारण ही वह निश्चित समीचीन हितमार्गपर नहीं चल सकता।

भय और संशयरूप अथवा इन दोनोंके विषयमें उत्पन्न हुई शंकाका निरास करनेकेलिये प्रयत्न करनेका उपदेश देते हैं —

भक्तिः परात्मनि परं शरणं नुरस्मिन्,
देवः स एव च शिवाय तदुक्त एव।
धर्मश्च नान्य इति भाव्यमशङ्कितेन,
सन्मार्गनिश्चलरुचेः स्मरताऽञ्जनस्य ॥ ७४ ॥

भय और संशय इन दो बातोंके निमित्तसे शंका हुआ करती है। अत एव उसके दो भेद हैं। अपने लिये किसीको शरण न समझकर भय शंका और कार्यसिद्धि अथवा उसके कारणोंमें संदेह उपस्थित होने पर संशय-शंका उत्पन्न होती है। जो मोक्षकी इच्छा रखनेवाले भव्य हैं उनको सन्मार्ग—मुक्ति प्राप्तिके उपाय में निश्चल निष्कम्प—अत्यंत दृढ रुचि-श्रद्धा रखनेवाले अंजन चोरका स्मरण कर इन दोनों ही शंकाओंसे रहित होना चाहिये। क्योंकि इस संसारमें जीवकेलिये केवल परमात्माकी भक्ति ही शरण है। एवं जो सर्वज्ञ और वीतराग हैं वे ही देव हैं और वे ही मोक्षकेलिये आराध्य हो सकते हैं, और नहीं। इसी तरह उन सर्वज्ञ देवका उपदिष्ट धर्म ही निर्वृतिका कारण हो सकता, औरका नहीं।

भावार्थ—अत्यत विशुद्ध भावोंसे हृदयमें जो परमात्मा और उसके गुणोंके प्रति पवित्र अनुराग होता है

१– "संशयात्मा विनश्यति"।

उसीको भक्ति कहते हैं। यह भक्ति ही संसारमें जीवके अपायकी रक्षाका उपाय हो सकती है। अत एव उसीको शरण मानकर और मोक्षकेलिये सर्वज्ञ वीतराग देवकी आराध्यता तथा उनके उपादिष्ट धर्मकी कारणतामें निःसन्देह होकर मुमुक्षुओंको उक्त दोनों ही शंकाओंसे रहित होना चाहिये; जैसा कि अजन चोर हुआ।

शंका अतीचारके बाद कांक्षा नामके अतीचारका स्वरूप बताते हैं।

या रागात्मनि भङ्गुरे परवशे सन्तापतृष्णारसे,
दुःखे दुःखदबंधकारणतया संसारसौख्ये स्पृहा।
स्याज्ज्ञानावरणोदयैकजनितभ्रान्तेरिदं दृक्तपो,—
माहात्म्यादुदियान्ममेत्यतिचरत्येषैव कांक्षा दृशाम् ॥ ७५ ॥

इष्ट वस्तुओंके विषयमें जो प्रीतिरूप अनुराग होता है उसको सांसारिक सुख कहते हैं। यह सुख स्वभावसे ही नश्वर और परवश—पुण्यकर्मके उदयके अधीन है। संताप और तृष्णा ये दो उसके रस—अनुभवमें आनेवाले फल हैं। दुःखके कारणभूत अशुभ कर्मके बंधका यह कारण है, अथवा स्वयं भी दुःखरूप है; क्योंकि उसके साथमें अनेक दुःखोंका मिश्रण रहता है। इस तरहके इस सांसारिक सुखमें उस जीवकी, जिसकी कि बुद्धि प्रधानतया या एक ज्ञानावरण कर्मके उदयसे भ्रांत होगई है, जो स्पृहा होती है उसको कांक्षा कहते हैं। इस भ्रांत बुद्धिके कारण उक्त सांसारिक सुखमें, जो कि वस्तुतः दुःखरूप है, सुखका आभास होता है

१—अर्थात् दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे रहित। क्योंकि जो सम्यग्दृष्टि हैं उनके मिथ्यात्वके उदयसे होनेवाली भ्रांति नहीं हो सकती, अन्यथा उनके ज्ञानको मिथ्याज्ञान कहना पडेगा। जैसा कि आगममें भी कहा है, यथा—

उदये यद्विपर्यस्तं ज्ञानावरणकर्मणः।
तदस्थास्तुतया नोक्तं मिथ्याज्ञानं सुदृष्टिषु ॥

और इस तरहके भाव होते है कि " सम्यग्दर्शन और तपके माहात्म्यसे मेरे संसारके सुख अहमिन्द्रादिक पद अथवा अनेक प्रकारके अभ्युदयों और विभूतियोंकी उद्भूति किस प्रकारसे हो "। ये भाव ही आकाक्षा है, अगर इन्हीसे अंशतः सम्यक्त्वका खण्डन होता है।

इस प्रकारकी आकाङ्क्षा करनेवाले जीवोंके जो सम्यक्त्वरूपी फलकी हानि होती है उसको बताते हैं।:--

यल्लीलाचललोचनाञ्चलरसं पातुं पुनर्लोलसाः,
स्वश्रीणां बहु रामणीयकमदं मृद्नन्त्यपीन्द्रादयः।
ता मुक्तिश्रियमुत्कयद्विदधते सम्यक्त्वरत्न भव,-
श्रीदासीरतिमूल्यमाकुलधियो धन्यो ह्यविद्यातिगः॥ ७६॥

अनित्य अशुचि दुःख और अनात्मरूप सासारिक विषयोंमें विपरीत भान—नित्य शुचि सुख और आत्मरूपताके प्रत्ययको अविद्या कहते है। इस अविद्यासे जो मर्वथा दूर है वे ही पुरुप धन्य है। अत एव जिसकी लीला - यदृच्छासे चञ्चल हुए नेत्राञ्चलके रसका पान करनेकेलिये लालसा-अत्यंत लम्पटता रखनेवाले इन्द्रादिक भी अपनी अपनी लक्ष्मियों—देवियोंके रतिकारिताके-संभोगप्रवृत्तिके विपुल मदको चूर्णित करदेते है उस मुक्तिलक्ष्मीको उत्कण्ठित करनेवाले मम्यक्त्व--रत्नको, वे पुरुप, जिनकी कि अन्तःकरणप्रवृत्ति विपय सेवन करनेकेलिये उत्सुक रहा करती है, संमारलक्ष्मीरूपी दासीकी रतिका मूल्य बनादेते है।

भावार्थ—जिस प्रकार संसारमें कामवासनासे संतप्त हुए पुरुप किसी दासी आदिको उसके साथ कीगई रतिका मूल्य दिया करते है, उसी प्रकार संसारकी भोगोपभोगसामग्रीसे रति—प्रेम करनेवाले लोक उसको उस प्रेमके बदलेमें अपने उस सम्यक्त्वरत्नको दे डालते है, जो कि उस मुक्तिलक्ष्मीको उत्कण्ठित करनेवाला है और जिसके रसका पान करनेकेलिये अत्यंत उत्कण्ठित हुए स्वर्गके देव और इन्द्रादिक

भी अपनी अपनी अंगनाओंके साथ रमणकी इच्छाको छोडदेते है। क्योंकि यह समझकर कि जो अविद्यासे दूर रहनेवाला है वही संसारमें धन्य है। और जिस प्रशम सुखका तपस्वी अनुभव करते हे उसी आत्मिक सुखका अनुभव करनेकेलिये देव और इन्द्रादिक भी स्वर्गीय विभूतियोंके सुखसे विरक्त होकर यह इच्छा किया करते हैं कि " मोक्षलक्ष्मीका सुख जिसके द्वारा प्राप्त हो सकता है उस तपस्याका आचरण करनेकेलिये मे इस देव इन्द्रपर्यायको छोडकर कब मनुष्य पर्यायमें अवतीर्ण होऊं। "

सम्यक्त्वादिकके निमित्तसे जिनके पुण्यकर्मका संचय हो ही जाता है ऐसे जीवोंको ससारसुखकी आकाङ्क्षा करना व्यर्थ है। क्योंकि उस पुण्यके निमित्तसे उनको उस सुखकी प्राप्ति स्वयं होजाती है; फिर उसके लिये आकाङ्क्षा करनेसे क्या प्रयोजन? कुछ भी नहीं। यही बात दिखाते हैः—

तत्त्वश्रद्धानबोधोपहितयमतपःपात्रदानादिपुण्यं,
यद्गीर्वाणाग्रणीभिः प्रगुणयति गुणैरर्हणामर्हणीयैः।
तत्प्राध्वंकृत्य बुद्धिं विधुरयति मुधा कापि संसारसारे,
तत्र स्वैरं हि तत् तामनुचरति पुनर्जन्मनेऽजन्मने वा॥ ७७॥

उपर्युक्त जीवादिक सात तत्त्वोंके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त संयम तप पात्रदान और परोपकार प्रभृति साधनोंके द्वारा उत्पन्न हुआ पुण्य इतना महान् होता है कि वह देवों इन्द्रों तथा अहमिंद्रोंके द्वारा भी पूजनीय तीर्थकरत्वादि गुणोंसे अपने स्वामीकी पूजा करवादेता है; क्योंकि इस पुण्यके प्रसादसे लोकोत्तर फल देनेवाले तीर्थकरत्वादिक ऐसे ऐसे गुण प्राप्त होते है कि जिनके निमित्तसे इंद्रादिक भी आकर उस मनुष्यकी पूजा किया करते है। अत एव हे भव्य! यह पुण्यकर्म संसारके सारभूत विषयोंमें और पुनर्भव तथा अपुनर्भवकेलिये जैसी कि तेरी कल्पना-इच्छा है वैसा स्वय ही-विना तेरी आकाङ्क्षाके ही तेरी इच्छानुसार ही अनुगमन करता है। -इस महान् पुण्यके निमित्तसे विना किसी तरहकी इच्छा किये ही—स्वयं ही संसारके अभ्युदय और उत्तम

देव मनुष्य भवकी प्राप्ति, तथा जहांसे फिर जन्म ग्रहण नहीं करना पडता ऐसे मोक्षपदकी सिद्धि हो ही जाती है। फिर भी तू जो इस पुण्य कर्मका बंध करके इन संसारके विषयोंमे बुद्धि लगाता है-- इस " पुण्यसे मुझको अमुक अभ्युदय या अतिशय प्राप्त हो " ऐसी कल्पना करता फिरता है सो व्यर्थ है।

आकाङ्क्षाका निरोध करनेकेलिये अत्यंत प्रयत्न करनेका उपदेश देते हैं:--

पुण्योदयैकनियतोभ्युदयोत्र जन्तोः,
प्रेत्याप्यतश्च सुखमप्यभिमानमात्रम् ।
तन्नात्र पौरुषतृषे परवाशुपेक्षा,—
पक्षो ह्यनन्तमतिवन्मतिमानुपेयात् ॥ ७८ ॥

मनुष्योंका इस लोकमे या परलोकमें सर्वत्र अभ्युदयोंका प्राप्त होना एक पुण्यकर्मके उदयके ही अधीन है; क्योंकि यदि पुण्यकर्मका उदय न हो तो चाहे जितना भी पुरुषार्थ किया जाय, उससे अभ्युदयोंकी सिद्धि नहीं हो सकती। और पुण्यका उदय होनेपर वह पुरुषार्थ सफल हो सकता है और अभ्युदयोंकी भी प्राप्ति हो सकती है। अत एव जीवोंके इस लोक और परलोकके अभ्युदय पुण्योदयके ही अधीन है। अर्थात् संसारी जीवोंके सभी अभ्युदय पराधीन है। एवं इन अभ्युदयोंसे जो सुख प्राप्त होता है वह भी अभिमानमात्र ही है—मै सुखी हू इस तरहकी एक अनुरक्त कल्पनामात्र ही है। अत एव विचारशील पुरुषोंको चाहिये कि वे अभ्युदय और तज्जनित सुखके विषयमें क्रमसे पौरुष और तृष्णाको छोड दे। अनन्तमति नामकी सेठकी पुत्रीके समान परवचन - सर्वथा एकान्तवादियोंके अभिमतमे उपेक्षायुक्त—रागद्वेषरहित पक्ष रखकर सांसारिक अभ्युदयके सिद्ध करनेमे परिश्रम और तज्जनित सुखकेलिये आकाङ्क्षा न करना चाहिये।

विचिकित्सा नामके अतीचारका स्वरूप बताते हैं:—

कोपादितो जुगुप्सा धर्माङ्गे याऽशुचौ स्वतोऽङ्गादौ ।
विचिकित्सा रत्नत्रयमाहात्म्यारुचितया दृशि मलः सा ॥ ७९ ॥

शरीरादिक द्रव्य और क्षुधा तृषा आदिक भाव स्वभावसे ही अपवित्र और असुन्दर हैं। किंतु वे धर्मके भी अङ्ग—साधन है। क्योंकि शरीरादिके द्वारा ही अनशनादिक कायक्लेशान्त बाह्य तप और प्रायश्चित्तसे लेकर ध्यानतक अन्तरङ्ग तप करके परम निःश्रेयसकी सिद्धि हो सकती है। इस तरहके धर्मके साधनभूत द्रव्य और भावमें क्रोधादिक कषायके वश होकर रत्नत्रयके माहात्म्यमें—सम्यग्दर्शनादिकके निमित्तसे उत्पन्न हुए प्रभावमें अरुचि रखकर ग्लानि करना इसको विचिकित्सा कहते हैं। यही विचिकित्सा सम्यग्दर्शनका-मल अतीचार है।

भावार्थ – एक मुनिका शरीर स्वभावसे ही अपवित्र या असुन्दर है किन्तु वह रत्नत्रयके माहात्म्यसे भूषित है। उसमें कषायवश अरुचि धारण कर ग्लानि करना रत्नत्रयसे ही ग्लानि करना है। अत एव यह सम्यग्दर्शनका विचिकित्सा नामका अतीचार है। क्योंकि इससे सम्यग्दर्शनका जो स्वरूप बताया है कि देव गुरु शास्त्रमें रुचि रखना, उसमें हानि पहुंचती है।

महापुरुषोंको अपने शरीरमें विचिकित्साराहित्यके कारण जो माहात्म्य प्राप्त होता है उसको बताते हैं:-

यद्दोषधातुमलमूलमपायमूल—
मङ्गं निरङ्गमहिमस्पृहया वसन्तः ।
सन्तो न जातु विचिकित्सितमारभन्ते,
संविद्रते हतमले तदिमे खलु स्वे ॥ ८० ॥

जो सत्पुरुष शरीररहित मुक्तात्माओंकी महिमा—अनन्तज्ञानादि—गुणसम्पत्तिमें स्पृहा-अभिलाषा

रखते हैं; किंतु दोष—वात पित्त कफ धातु—रस रुधिर मांस मेदा अस्थि मज्जा और शुक्र, मल—नाक थूक पसीना आदिकी खानि और अपाय—दुःखोंके मूल कारण शरीरमें रहते हैं वे कभी भी कर्ममलरहित आत्मामें ग्लानि नहीं करते। यही कारण है कि वे आत्मसंपत्तिको प्राप्त करलेते हैं।

भावार्थ—स्वभावतः अशुचि शरीरमें रहते हुए भी जिनका अभीष्ट, अशरीरावस्थाकी महिमा प्राप्त करना है, वे महापुरुष शरीरके संबंधसे आत्मामें क्यों कर ग्लानि कर सकते हैं? यही कारण है कि सत्पुरुष इस निर्विचिकित्साके अभीष्टसिद्धि और आत्मसंवित्तिके माहात्म्यको प्राप्त करलेते हैं।

जो महात्मा हैं उनके जुगुप्साका निमित्त मिलनेपर भी जुगुप्सा नहीं होती; यह बात दिखाते हैं —

किंचित्कारणमाप्य लिङ्गमुदयन्निर्वेदमासेदुषो,
धर्माय स्थितिमात्रविध्यनुगमेऽप्युच्चैरवद्याद्भिया।
स्नानादिप्रतिकर्मदूरमनसः प्रव्यक्तकुत्स्याकृतिं,
कायं वीक्ष्य निमज्जतो मुदि जिनं स्मर्तुः क शूकोद्गमः ॥ ८१ ॥

इष्टवियोग वज्रपात मेघदर्शन आदि विविध कारणोंमेंसे किसी भी कारणको पाकर विरक्त हो आचेलक्य और केशलोचसे व्यक्त होनेवाले उस निर्ग्रंथ लिङ्गको, जिसमें कि वैराग्य बढता चला जाता है, धारण करने वाले तपस्वी धर्मकेलिये शरीरकी स्थितिमात्र प्रयोजन रखकर आहारादि विधिका आचरण करते हैं। क्योंकि आहारके विना शरीर स्थिर नहीं रह सकता। और उसकी स्थिरताके विना धर्मकी सिद्धि नहीं हो सकती। और तपस्वी धर्मको सिद्ध करना चाहते हैं। अत एव चाकचिक्यादिकेलिये नहीं, किंतु शरीरकी स्थितिमात्रकेलिये—जिससे कि शरीर टिका रहे उस तरहसे, आहारमें प्रवृत्ति करते हैं। और पापसे भयभीत होकर स्नान अभ्यङ्ग प्रभृति प्रसाधनोंसे वे अपनी मनोवृत्तिको सर्वथा और अतिशयित रूपसे अत्यंत दूर रखते हैं। इस तरहके

एकान्तसे धर्मका ही साधन करनेवाले तपस्वियोके शरीरको, जिसकी आकृतिको देखते ही अत्यत ग्लानि उत्पन्न होजाय, देख करके भी जो सम्यग्दृष्टि जिन भगवान् अर्हद्भट्टारकका स्मरण कर आनन्दमें निमग्न होजाता है; क्या उसके कभी भी जुगुप्साकी उद्भूति हो सकती है ?

भावार्थ-जो आत्मा और उसके धर्मको देखनेवाला है वह शरीरको अशुचि देखकर उससे कभी भी ग्लानि नहीं कर सकता।

विचिकित्साके त्याग करनेमें प्रयत्न करनेका उपदेश देते हैं:--

द्रव्यं विडादि करणैर्न मयैति पृक्तिं,
भावः क्षुदादिरपि वैकृत एव मेऽयम् ।
तत्किं मयात्र विचिकित्स्यामिति स्वमृच्छे,—
दुद्दायनं मुनिरुगुद्धरणे स्मरेच्च ॥ ८२ ॥

यदि किसी कारणवश कदाचित् विचिकित्साका उद्गम भी होजाय तो सम्यग्दृष्टिको उचित है कि वह अपनी आत्माको इस प्रकार समझावे—ऐसा विचार करे कि —वमन मूत्र पुरीप आदि जो द्रव्य है उनका मुझसे स्पर्श नहीं होरहा है, जो कि शुद्ध चिद्रूप-ज्ञानदर्शनात्मक हू; किंतु इन्द्रियों व शरीरादिकके साथ उनका स्पर्श हो रहा है, जो कि जडरूप है। क्योंकि ये द्रव्य मूर्त हैं और इन्द्रियां व शरीर भी मूर्त है; किंतु मै अमूर्त हू। अत एव मेरे साथ नहीं किंतु इन्द्रियादिकके साथ ही इन पुरीपादिका सम्बन्ध है। क्योंकि मूर्त पदार्थका मूर्त पदार्थके साथ ही सम्बन्ध हो सकता है। इसी प्रकार मेरे-मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले जो ये क्षुधा तृषा आदिक भाव है वे भी ऐसे समझे जाते है कि वे मेरे है। किंतु वास्तवमें वे मेरे नहीं, वैकृत ही है—कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए विकारजनित ही

है। अत एव इन दोनोमे-द्रव्य और भावमें कौनसी चीजसे मुझे विचिकित्सा-जुगुप्सा करनी चाहिये? कोई भी चीज तो मेरे लिये जुगुप्स्य नहीं है। ये अशुद्ध द्रव्य और भाव यदि मेरे होते तो कदाचित् उनसे ग्लानि करना भी उचित होता। पर ये मेरे नहीं है। अत एव इनसे ग्लानि करना भी ठीक नहीं है।

इसी प्रकार किसी मुनिके रोगका इलाज करते समय-यदि किसी मुनिको वमन आदि हो जाय तो उसका इलाज या सफाई आदि करनेमे कदाचित् जुगुप्सा उत्पन्न हो जानेपर सम्यग्दृष्टिको चाहिये कि वह निर्जुगुप्सा अगमे प्रसिद्ध हुए उद्दायन राजाका स्मरण करे।

ऐसी भावना करनेवाला और स्मरण करनेवाला ही सम्यग्दृष्टि शुद्ध चिद्रूपको प्राप्त कर सकता है।

अन्यदृष्टिप्रशंसा नामके सम्यक्त्वके अतीचारको छोडनेका उपदेश देते है:—

एकान्तध्वान्तविध्वस्तवस्तुयाथात्म्यसंविदाम् ।
न कुर्यात्परदृष्टीनां प्रशंसां दृक्कलङ्किनीम् ॥ ८३ ॥

" वस्तु सर्वथा क्षणिक है " अथवा " सर्वथा नित्य है " इस तरहके एकांतवाद अनेक प्रकारके है, जैसा कि पहले दिग्दर्शन कराया जाचुका है। इस एकांतके अभिनिवेश-आग्रहरूपी अन्धकारसे जिन लोगोने वस्तुके याथात्म्य – यथार्थ स्वरूपके ज्ञान व श्रद्धानको आच्छादित कर रक्खा है या ढकदिया है ऐसे मिथ्यादृष्टियोंकी प्रशसा न करनी चाहिये। क्योकि ऐसा करनेसे उनके जैसे मिथ्या श्रद्धानकी तरफ आत्मा झुकता है; अथवा सम्यक्त्वमें निर्मलता होना रुक जाता है। अत एव सम्यग्दर्शनमें कलंक लगता है।

अनायतनसेवा नामके अतीचारका भी त्याग करनेकेलिये उपदेश देते है:—

मिथ्यादृग्ज्ञानवृत्तानि त्रीणि त्रींस्तद्वतस्तथा ।
षडनायतनान्याहुस्तत्सेवां दृञ्मल त्यजेत ॥ ८४ ॥

मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान मिथ्याचारित्र ये तीन भाव और तीन ही इन भावोंके, धारण करनेवाले अर्थात् मिथ्यादृष्टि मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री इन छहोंको आचार्य अनायतन कहते है। क्योंकि ये मिथ्या श्रद्धानके आयतन-स्थान है, न कि समीचीन श्रद्धानके। यही कारण है कि इनकी उपासना करनेसे सम्यग्दर्शनमें मल-दोष उत्पन्न होता है। अत एव सम्यग्दृष्टिओको चाहिये कि वे इस अनायतनसेवाका परित्याग ही करे।

आराधनाशास्त्रमे सम्यक्त्वके पांच अतीचार बताये हे-शंका कांक्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टिप्रशंसा और अनायतनसेवा। यथा—

"सम्मत्तादीचारा संका कंखा तहेव विदिगिछा।
परदिट्ठीण पससा अणायदणसेवणा चेव॥"

इन्ही पांच अतीचारोंका यहांपर भी सम्यग्दर्शनाराधनाके प्रकरणमें संक्षेपसे स्वरूप बताया है। अब मिथ्यात्व नामके अनायतनके निषेध करनेका प्रयत्न करते है—जो अपना कल्याण चाहते है उन्हे इस मिथ्यात्वरूप अनायतनका त्याग ही करना चाहिये; ऐसा उपदेश देते हैः—

सम्यक्त्वगन्धकलभः प्रबलप्रतिपक्षकरटिसंघट्टम् ।
कुर्वन्नेव निवार्यः स्वपक्षकल्याणमभिलषता ॥ ८५ ॥

जिस प्रकार अपने यूथकी कुशल चाहनेवाला यूथनायक-सेनापति अपने यूथके मदोन्मत्त हाथीके

बच्चेको प्रतिपक्षियोके प्रबल हाथीसे प्रतिजिघांसाका भाव रखकर भिडते ही बचा लेता है—भिडने नही देता; क्योंकि वह इस समय बच्चा है, किंतु भविष्यमे इतना पुष्ट होनेवाला है कि सहज ही मे उस प्रबल हाथीका घात कर देगा। इसी प्रकार जो भव्य स्वयं धारण किये हुए व्रतादिका कल्याण चाहता है, उनकी रक्षा करना चाहता और सम्यक्त्वकी आराधना करनेमे उद्यत है उसको चाहिये कि वह अपने सम्यक्त्वरूपी मदोन्मत्त हस्तिपोतको प्रातिजिघांसासे दुर्निवार मिथ्यात्वरूपी प्रतिपक्षकरटीसे भिडते ही बचाले—भिडने न दे। क्योंकि वह भविष्यमें इतना पुष्ट होनेवाला है कि सहज ही में उस प्रतिपक्षीका दलन कर ज्ञानचारित्ररूपी सम्पत्तिको पुष्ट करदेगा।

प्रौढ सम्यग्दर्शनके धारण करनेवालोंके मद—ज्ञान पूजा कुल जाति आदि अभिमानरूपी मिथ्यात्वके आवेशकी शंका हो सकती है; अत एव उसका निरसन करते है। :—

मा भैषीर्दृष्टिसिंहेन राजन्वति मनोवने।
न मदान्धोऽपि मिथ्यात्वगन्धहस्ती चरिष्यति॥ ८६॥

जहांपर दुष्टोंका निग्रह और शिष्टोका पालन करनेवाला राजा मौजूद है वहांपर दूसरे किसी प्रकार भी आकर पराभव नही कर सकते और न कोई भी मदान्ध वहां विप्लव ही कर सकता है। अत एव वहांके जीवोको किसी भी प्रकारका त्रास या भय नही हो सकता। सिंहके मौजूद रहते हुए क्या गन्ध और मदोन्मत्त भी हस्ती वनको विप्लावित कर सकता है? कभी नही। इसी प्रकार हे अत्यंत दृढ सम्यग्दर्शनके धारण करनेवाले भव्य! जिस तेरे इच्छानुसार फल देने वाले मनरूपी वनमे सम्यग्दर्शनरूपी केसरी विराजमान है और इसीलिये जिसका कोई दूसरा पराभव नही कर सकता; क्या उसको यह मदान्ध—जाति आदिके मद-अभिमानसे मनुष्योंको अन्धा—युक्त क्या है और अयुक्त क्या है इसके देखनेमें असमर्थ, बनादेनेवाला मिथ्यात्व-

यह हतविधि — विधाता जिसकी जगत्में कोई उपमा नहीं है; ऐसे सौन्दर्यको उत्पन्न करके उसके मदसे तेरे सम्यक्त्वको दूषित न करदेता।

लक्ष्मीके मदका त्याग करनेकेलिये वक्रोक्तिसे वर्णन करते हैः—

या दैवैकनिबन्धना सहभुवा यापद्भियामामिषं,
या विस्रम्भमजस्रमस्यति यथासन्नं सुभक्तेष्वपि।
या दोषेष्वपि तन्वती गुणधियं युङ्क्तेनुरक्त्या जनान्,
स्वभ्यस्वान्न तया श्रियाशु ह्रियसे यान्त्यान्यमान्ध्यान्न चेत ॥ ९० ॥

जिस लक्ष्मीकी प्राप्तिका कारण एक दैव ही है–पौरुषकी अपेक्षासे रहित पूर्वसंचित शुभ कर्मके निमित्तसे ही जो प्राप्त हुआ करती है, जिससे अनेक प्रकारकी आपत्तिया और उससे उत्पन्न होनेवाले नाना प्रकारके भयएक साथ उत्पन्न होने लगते हैं। जैसा कि कहा भी है—

वहपायमिद राज्य त्याज्यमेव मनस्विनाम्।
यत्र पुत्रा ससोदर्या वेरायन्ते निरन्तरम् ॥

जहापर पुत्र और सहोदर भाईतक हमेशह वैर किया करते हैः जिसमें अनेक अपाय – बुरे काम करने पडते है, अथवा अत्यंत दुष्कर्म–पापका संचय होता है; ऐमा यह राज्य मनस्वियोंकेलिये त्याज्य ही है। जो लक्ष्मी अत्यत भाक्ति करनेवाले—मित्र पुत्र कलत्र भ्राता आदिमेंसे भी यथासन्न जो जो निकटवर्ती है उन सबमे-से भी नित्य ही विश्वासको नष्ट करदेती है-जिस लक्ष्मीके प्रसादसे अत्यंत भक्त पुत्रादिकमे भी धनापहारकी

रूपी गंधहस्ती विप्लावित कर सकता है ? कभी नहीं। अत एव तू किसी प्रकारका भय मत करे और निर्भय होकर सम्यग्दर्शनका आराधन कर।

जो मनुष्य जाति आदिके मदसे अपनेमे उत्कर्षकी संभावना करता है वह सधर्माओंका अभिभव—पराभव करता है। इसीलिये कहना चाहिये कि वह सम्यत्क्वके माहात्म्यमे हानि पहुंचाता है। यही बात दिखाते हैः—

संभावयन् जातिकुलाभिरूप्यविभूतिधीशक्तितपोर्चनाभिः।
स्वोत्कर्षमन्यस्य सधर्मणो वा कुर्वन् प्रधर्षं प्रदुनोति दृष्टिम् ॥ ८७ ॥

जाति–मातृपक्ष, कुल–पितृपक्ष, आभिरूप्य–सौरूप्य, विभूति–ग्राम नगर सुवर्णादि समृद्धि, धी–शिल्पकलादिका ज्ञान, शक्ति–पराक्रम, तप -अनशनादिक अनुष्ठान, अर्चना–पूजा, इन सब कारणोंसे अथवा इनमेंसे किसी एक दोके द्वारा " मैं इससे उत्कृष्ट हूं " ऐसी उत्प्रेक्षा करनेवाला मनुष्य अपनेमे केवल उत्कर्षकी संभावना ही करता है; इतना ही नहीं किंतु, इनके द्वारा वह दूसरे साधर्मियोंका तिरस्कार भी करता है। यही कारण है कि वह सम्यक्त्वको अपने माहात्म्य-महत्वमे गिरा देता है–कम करदेता है- समल बना देता है- कलंकित कर देता है।

जातिमद और कुलमदके त्याग करनेका उपदेश देते हैः —

पुंसोऽपि क्षतसत्त्वमाकुलयति प्रायः कलङ्कैः कलौ,
सद्दृग्वृत्तवदान्यतावसुकलासौरूप्यशौर्यादिभिः।
स्त्रीपुंसैः प्रथितैः स्फुरत्यभिजने जातोऽसि चेद्दैवत,—

शंका होने लगती है। जो लक्ष्मी दोषोंमें भी गुणकी कल्पना कराती हुई मनुष्योंको अनुरक्त बनालेती है-यदि कोई ब्रह्महत्या जैसा दोष करनेवाला भी धनी है तो धनके लोभसे बडे बडे वृद्ध ज्ञानी और तपस्वी उसकी प्रशंसा करते और आश्रय लेते हैं। कहा भी है—

वयोवृद्धास्तपोवृद्धा ये च वृद्धा बहुश्रुता ।
सर्वे ते धनवृद्धस्य द्वारि तिष्ठन्ति किङ्करा ॥

जो वयोवृद्ध और अनेक शास्त्रोंके ज्ञानसे वृद्ध है वे सब धनवृद्ध पुरुषके दरवाजेपर किङ्कर बनकर खडे रहते है।

हे भाई! इस तरहकी अनेक विशेषणोंसे विशिष्ट लक्ष्मीके द्वारा—लक्ष्मीको पाकर तू अच्छी तरह अपनेको उत्कृष्ट समझ, जब तक कि क्षणिक स्वभावके कारण शीघ्र ही यह तुझको अन्ध युक्तायुक्तके विवेकसे विकल न बना दे। क्योंकि यदि न इसने अंध—विवेकहीन तुझे करदिया तो " मेरी यह लक्ष्मी दूसरेके पास जा रही है " यह देखकर तुझको अवश्य ही दुःसह दुःख प्राप्त होगा। अत एव वह तुझको पहलेसे ही विवेक-शून्य-अंधा बनादेती है।

देखा गया है कि प्रायः सभी मनुष्य लक्ष्मीका समागम होते ही देखते हुए भी अंधे होजाते है और उसके जाते ही अच्छी तरह आंखें खुल जाती है। जैसा कि कहा भी है:—

सपयपडलहिं लोयणइ वभजेच्छायज्जति ।
ते दालिद्दसलाइयइ अजिय णिम्मल हुति ॥

मनुष्योंके नेत्र संपत्तिपटलसे आच्छन्न होजाया करते है-उनकी दर्शनशक्ति नष्ट होजाती है। किंतु दारिद्र्यकी सलाई आंजते ही वे निर्मल होजाते है। उन्हें सब कुछ सूझने लगता है।

शिल्प आदि कलाओंके ज्ञानियोंके मदावेशपर दुःख प्रकट करते है—विद्यामदकी हेयता बताते हैं:—

शिल्पं वै मदुपक्रमं जडधियोप्याशु प्रसादेन मे,
विश्वं शासति लोकवेदमसयाचारेष्वहं दृङ् नृणाम् ।
राज्ञां कोहमिवात्रधानकुतुकामोदैः सदस्यां मनः,
कर्षत्येवमहो महोपि भवति प्रायोद्य पुंसां तमः ॥ ६१ ॥

यद्यपि कुछ लोग ऐसे है जो कि ज्ञानविशिष्ट होनेपर भी उसका गर्व--मद नहीं करते । किंतु आह! बडे कष्टके साथ कहना पडता है कि प्रायः करके आज कलिकालमें मनुष्योंका ज्ञान-शिल्प प्रभृति कलाओंका ज्ञानाख्य तेज भी अन्धकार बन रहा है। क्योंकि मत्त होनेके कारण वह स्वपरिणाम और परपारिणामके विषयमें अविवेकका कारण होगया है। यही बात दिखाते हैं। :—

यह शिल्प- अमुक प्रकारका पत्रच्छेदादि करकौशल या नकामी वगैरहका काम जो देखनेमें आता है वह निश्चयसे मेरा ही तो उपक्रम है- इसका आविष्कर्ता मैं ही हू। मेरे ही इस आविष्कारको देखकर दूसरे लोग भी वैसा बनाने लगे है। मेरे प्रसादसे शीघ्र ही--मेरा अनुग्रह होते ही बडे बडे जडबुद्धि भी इस चराचर जगत्के स्वरूपका दूसरोंको उपदेश देने लगते है—लोकस्थितिकी व्युत्पत्ति–भौगोलिक ज्ञान कराने में म ही गुरु हूं। लोक वेद और समय इन नाना लिंगियोंके मतोंके आचार भी विभिन्न है। इनमेंसे जिन जिनके अनुसार जो जो आचरण विहित है उन सबके बतानेमें मैं ही लोगोंकी दृष्टि हूं—मेरे ही द्वारा वे उन आचरणोंको देख व सुन सकते हैं—लोकादिके आचारोंको स्पष्ट रूपसे दिखानेमें भी मै प्रवीण हू। एवं मेरे

समान और ऐसा कौन है जो कि सभामें अवधानोंके कौतुकरूप आमोदसे राजाओंके मन इस तरहसे अपनी तरफ खींचले-अपने अधीन बनाले।

कुलीन पुरुष बलका मद नहीं करता—वह उसकी तरफ दुर्लक्ष्य रखता है, इसी बातको बताते हैं:—

शाकिन्या हरिमाययाभिचरितान् पार्थः किलास्थद्द्विषो,
वीरोदाहरणं वरं स न पुना रामः स्वयं कूटकृत्।
इत्यास्थानकथाप्रसंगलहरीहेलाभिरुत्प्लावितो
हृत्क्रोडाल्लयमेति दोःपरिमलः कस्यापि जिह्वांचले ॥ ९२ ॥

शास्त्रोंमें इतिवृत्तके देखनेसे यह बात अच्छी तरह मालुम होजाती है कि वीर पुरुषोंका उत्तम उदाहरण अर्जुन ही है, न कि रामचन्द्र; क्योंकि रामचन्द्रने बालिवधके प्रसंगमें स्वयं कूट कपट किया था। किंतु अर्जुनने ऐसा नहीं किया। उसने अपने शत्रुओंका तिरस्कार या पराजय करनेमें स्वयं छल कपट कभी नहीं किया।

१—पाठ गीत नृत्य हिसाव घटाकी आवाज प्रश्न आदि अनेक बातोंको युगपत् धारण करसकनेको अवधान कहते हैं। यथा —

व्यावृत्त प्रकृतं वियद्धि लिखित पृष्ठार्पित व्याकृत,
मात्राशेषममात्रमकशवल तत्सर्वतोभद्रवत्।
य शक्तो युगपद् ग्रहीतुमखिल काव्ये च संचारयन्
वाच सूक्तिसहस्रभंगसुभगा गृह्णतु पत्र सभे ॥

उसने अपने जिन शत्रुओंका—कौरवोंका पराभव किया था उनकी शक्तिको शाकिनी – चुडेलके समान कृष्णकी मायाने नष्ट किया था। अत एव जगत्के इन वीरोंको अर्जुनके समान ही होना चाहिये। इस तरहसे सभाओंमें वीररसकी बातें कथाओंके प्रसङ्गरूपी महान् ऊर्मियों-लहरोंकी अनियत प्रवृत्तिके द्वारा जो अपने हृदयके भीतर उत्प्लावित किया गया है-आत्मबलकी प्रशंसा करनेकेलिये ऊपरको उकसाया गया है, ऐसा भी कुलीन-उत्तम कुलमें उत्पन्न होनेवाला, अपने बाहुपरिमल-प्रशस्त शरीरसामर्थ्यको जिव्हाञ्चलका लक्ष्य नहीं बनाता। निमित्त मिलनेपर भी वह अपने मुखसे अपने बलकी कभी प्रशंसा नहीं करता। वह उधर लक्ष्य भी नहीं देता।

तपका मद दुर्जय है; इस बातको स्पष्ट करते हैः—

कर्मारिक्षयकारण तप इति ज्ञात्वा तपस्तप्यते,
कोप्येतर्हि यदीह तर्हि विषयाकांक्षा पुरो धावति।
अप्येकं दिनमीदृशस्य तपसो जानीत यस्तत्पद,—
द्वंद्वं मूर्ध्नि वहेयमित्यपि दृशं मथ्नाति मोहासुरः ॥ ९२ ॥

जैसा निरीहतया तप मैं करता हू वैसे तपके एक दिनको भी जाननेवाला—एक दिन भी उस तरहका तपश्चरण करनेवाला यदि कोई हो तो मैं उसके चरणयुगलको अपने शिरपर रक्खूं। तप करना सहज नहीं है। यह मोहप्रभृति कर्मशत्रुओंके क्षयका कारण है। ऐसा समझकर यदि कोई आजकल तपका संचय भी करता है-मोक्षके लक्ष्यसे-आत्मकल्याणकेलिये यदि कोई तप करे भी तो विषयोंकी आकाङ्क्षा उसके आगे आगे दौडती है। उनका वह तप ऋद्धि समृद्धिके लाभ इच्छा, स्वर्गीय सुखके भोगकी लिप्सा और सांसारिक अभ्युदयोंकी आकाङ्क्षाओंसे शीघ्र ही दूषित होजाता है। इस प्रकार मोह—तपोमदरूपी असुर केवल उनके तप या चारित्रको ही भ्रष्ट-नष्ट-दूषित नहीं करता किंतु सम्यक्त्वको भी कदर्थित करदेता है।

भावार्थ--तपोमदसे चारित्र और सम्यक्त्व दोनो ही दूषित होते है ।

पूजामद करनेवालेके दोष दिखाते है :—

स्वे वर्गे सकले प्रमाणमहमित्येतत्कियद्यावता,
पौरा जानपदाश्च संत्यपि मम श्वासेन सर्वे सदा ।
यत्र काप्युत यामि तत्र सपुरस्कारा लभे सत्क्रिया,—
मित्यर्चामदमूर्णनाभवदधस्तंतुं वितन्वन् पतेत ॥ ९४ ॥

जब कि सभी नगरनिवासी और देशवासी लोग सदा मेरे श्वासके साथ ही श्वास लेते है, सबका मै ही प्राण हूं । और एक मेरे ही आधीन सब ठहरे हुए है। एवं मेरे ही नेतृत्वमें सब चलरहे है। अथवा जहां कही भी मै जाता हूं वही मेरा सपुरस्कार सत्कार होता है-- सभी जगह उत्तम कर्मोंमे मुझको अगुआ बनाकर मेरी पूजा की जाती है । तब अपने ही इस समस्त वर्गमें--सजातीय समूहमे सदा और सर्वत्र मै ही प्रमाण माना जाऊं–मै ही अविसंवादी माने जानेकी प्रतिष्ठा प्राप्त करू तो यह कोई बडी बात नही है। इस प्रकार अपने पूजामद–पूज्यताके अहङ्कारको बढानेवाला मनुष्य इस तरहसे भ्रष्ट होकर हीन पदमें जाकर पडजाता है। जिस तरहसे तंतुओंको विस्तृत करता हुआ ऊर्णनाभ— मकडा ।

भावार्थ—जिस प्रकार अपनी लारको तंतु बनानेवाला मकडा नीचेकी तरफ गिरजाता है उसी प्रकार अपने ही अहंकार— पूजामदके कारण मनुष्य भ्रष्ट होकर पूज्यतामे गिरजाता है ।

इस प्रकार प्रसङ्गोपात्त जाति आदि आठ मदोंके साथ साथ मिथ्यात्व नामक अनायतनकी त्याज्यता साधर्मियोंको बताकर सात प्रकारके तद्वान्–मिथ्यादृष्टियोंकी त्याज्यता बताते है :—

सम्यक्त्वादिषु सिद्धिसाधनतया त्रिष्वेव सिद्धेषु ये,
रोचन्ते न तथैकशस्त्रय इम ये च द्विशस्ते त्रयः ।
यश्च त्रीण्यपि सोप्यमी शुभदृशा सप्तापि मिथ्यादृश,—
स्त्याज्याः खण्डयितुं प्रचण्डमतयः सद्दृष्टिसम्राट्पदम् ॥ ९५ ॥

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र ये तीन ही सिद्धि-मुक्तिके साधन—कारणत्वेन सिद्ध है। यह बात ग्रंथान्तरोमे अच्छी तरह सिद्ध करके बताई गई है कि मोक्षका साक्षात् कारण इस रत्नत्रयकी पूर्णता ही है। किंतु फिर भी कितने ही जीवोंको इसका श्रद्धान नहीं होता। ऐसे ही जीवोंको मिथ्यादृष्टि कहते हैं। इनके सात भेद हैं जो कि इस प्रकार हैः— तीन तो वे जो कि इन तीनोंमेसे एक एक को ही केवल सम्यग्दर्शन या केवल सम्यग्ज्ञान अथवा केवल सम्यकचारित्रको ही मोक्षका कारण मानते हैं। इसी प्रकार तीन वे जो कि इनमेंसे दो दोको सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानको अथवा सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रको यद्वा सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको मोक्षका कारण मानते है। इसी प्रकार सातवां वह जो कि सम्यग्दर्शनादिक तीनों ही को मोक्षका कारण नहीं मानता। इन सातो ही प्रकारके मिथ्यादृष्टियोंकी बुद्धि सम्यक्त्वरूपी साम्राज्यको स्वरूपसे तथा प्रभावसे विकल बनानेमें अच्छी दक्षता रखती है। इनका विपरीत ज्ञान सहज ही मे सम्यक्त्वको नष्ट करदेता है। अतएव सम्यग्दृष्टि भव्योंको इन सातोका दूर ही से परित्याग करदेना चाहिये।

भावार्थ, रत्नत्रयमेंसे एक तो तीनोंको न माननेवाला, तीन एक एकको न मानने वाले, और तीन दो दोके न माननेवाले; इस तरहसे मिथ्यादृष्टियोंके सात भेद हैं[1], जिनके कि ज्ञान व उपदेशसे सम्यक्त्वका घात होता है। अत एव सम्यग्दृष्टिको उनका त्याग करना ही उचित है।

१ — प्रकारान्तरसे भी मिथ्यात्वके सात भेद होते है जैसा कि पहले बता चुके है।

दूसरे और भी जो अनेक प्रकारके मिथ्यादृष्टि हैं उनके साथ भी संसर्ग न करनेका उपदेश दते है ।-

मुद्रा साव्यवहारिकीं त्रिजगतीवन्द्यामपोह्यार्हतीं,
वामां केचिदहंयवो व्यवहरन्त्यन्ये बहिस्तां श्रिताः ।
लोकं भूतवदाविशन्त्यवशिनस्तच्छायया चापरे,
म्लेच्छन्तीह तकैस्त्रिधा परिचयं पुंदेहमोहैस्त्यज ॥ ९६ ॥

आर्हती-जैनी आचेलक्यादि चिन्होंके द्वारा व्यक्त होनेवाली वीतराग मुद्रा ही सांव्यवहारिकी-समीचीन है, क्योंकि उसीसे वृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहार भले प्रकार सिद्ध होसकता है। अत एव वही तीनो लोकोंकेलिये वन्द्य-नमस्कारके योग्य है। किंतु ऐसा होते हुए भी-निर्ग्रंथ लिङ्गके ही समस्त इष्ट प्रयोजनोंके साधन रहते हुए भी कोई कोई अहंयु-मै भी कोई चीज हू ऐसा अहंकार-गर्व रखनेवाले तापस लोक प्रभृति उसका अपवाद निषेध करके जटा रखना भस्म लगाना दण्ड त्रिदण्ड आदिका धारण करना इत्यादि नाना प्रकारकी विपरीत मुद्राओं-व्रतचिन्होंको धारण किया करते है। जिस तरहसे कि लोकमें कोई पुरुष सचे सिक्काको छोडकर नकली सिक्का धारण करे। इनके सिवाय कितने ही ऐसे भी हैं जो कि द्रव्यसे जिनलिङ्गके ही धारण करनेवाले है जो कि अपनेको मुनि ही मानते है। किंतु वास्तवमे वे वशी—जितेन्द्रिय नहीं है। यही कारण है कि उन्होने युक्त आर्हती मुद्राको बाहरसे—शरीरसे ही धारण कर रक्खा है; न कि मन—भावसे। ये लोक धर्मकी कामना रखनेवाले जीवोंमें भूत या ग्रहकी तरहसे प्रवेश करजाया करते है और उनसे ऐसी ऐसी चेष्टायें कराते है जैसाकि कोई भूताविष्ट पुरुष किया करता है। इनके सिवाय तीसरी तरहके ऐसे भी लोग है जो कि द्रव्य जिनलिंगके धारक होकर भी मठोंके स्वामी है। ये जिनलिंगकी नकल बनाकर म्लेच्छके समान आचरण-करते है-लोक और शास्त्र दोनों ही से विरुद्ध क्रिया करते है। जैसा कि कहा भी है:--

पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्वठरैश्च तपोधनै ।
शासन जिनचन्द्रस्य निर्मल मलिनीकृतम् ॥

चारित्रसे भ्रष्ट हुए पंडित और मठपति तपोधन इन्होंने जिनचन्द्रके निर्मल शासनको मलिन करदिया। अत एव हे सम्यक्त्वके आराधना करनेवाले भव्य! तू इन तीनो या इनके समान और भी अनेक कुत्सित व्यक्तियोसे जो कि मनुष्यशरीरके आकारमें साक्षात् मोह है, संसर्ग करना बिलकुल—तीनो ही प्रकारसे-मन वचन और कायसे छोडदे। मनसे इनका अनुमोदन वचनसे स्तुति और कायसे संगति करना छोडदे।

क्रमप्राप्त मिथ्याज्ञान नामके अनायतनका त्याग कराते है—

विद्वानविद्याशाकिन्याः क्रूरं रुन्ध्युसुपप्लवम् ।
निरुन्ध्यादपराध्यन्ती प्रज्ञां सर्वत्र सर्वदा ॥ ९७ ॥

प्रज्ञा—भूत भविष्यत् और वर्तमान इन तीनो कालवर्ती विषयोंके अर्थका परिच्छेदन करनेवाली बुद्धिका काम है कि वह अविद्यारूपी शाकिनी-चुडेलके कर्कश-अत्यत क्रूर उपसर्गको सदा और सर्वत्र रोके; किंतु यदि वह वैसा करनेमें अपराध करे-विभ्रमको प्राप्त होजाय तो विद्वान्—विचारशील व्यक्तिको चाहिये कि वह उसको वैसा अपराध करनेसे रोके।[1]

१—जैसा कि कहा भी है—

कापथे पथि दुःखाना कापथस्थेऽप्यसमतिः ।
असपृक्तिरनुत्कीर्तिर मूढा दृष्टिरुच्यते ॥

दुःखोंके कारणभूत खोटे मार्गकी या उस मार्गपर चलनेवालोके प्रति अपनी समति प्रकट न करना, उनसे सम्बन्ध न रखना और उनकी प्रशसादि भी न करना इसको सम्यग्दर्शनका अमूढदृष्टि अग कहते है।

मिथ्याज्ञानियोंसे संपर्क करनेका निषेध करते हैं:—

कुहेतुनयदृष्टान्तगरलोद्गारदारुणैः।
आचार्यव्यञ्जनैः सङ्गं भुजङ्गैर्जातु न व्रजेत ॥ ९८ ॥

मोह मूर्च्छादिका कारण होनेसे गरल-तीव्र विषके समान विपरीत उदाहरणों खोटे पक्षों और कुत्सित हेतुओं-प्रमाणबाधित युक्तियोंके उद्गार-उत्सर्गसे दारुण-अत्यंत भयंकर इन आचार्योंको भुजङ्ग—विट-धूर्त या काला नाग समझना चाहिये; क्योंकि सच्चरित्रका आचरण करनेवाले आचार्योंके वेषमें ये अपने असली स्वरूपको छिपानेवाले है। अत एव सम्यग्दृष्टिको चाहिये कि वह इन भुजङ्गोंकी संगति कदाचित् भी न करे।

इसी बातको फिर भी प्रकारान्तरसे कहते हैं:—

भारयित्वा पटीयांसमप्यज्ञानविषेण ये।
विचेष्टयन्ति संचक्ष्यास्ते क्षुद्राः क्षुद्रमंत्रिवत ॥ ९९ ॥

सर्पविष आदिकके झाडनेवालोंमेंसे जिम प्रकार क्षुद्र पुरुष जिनको कि उस विषयका सच्चा ज्ञान नहीं है और जो दुष्ट है वे कोई दृष्टपूर्व हो या अदृष्टपूर्व, विद्वान् हो या मूर्ख; कैसा भी कोई क्यों न हो, चाहे स्वयंको भी इस बातका संदेह ही क्यो न हो कि इसको सर्पने काटा है, तो भी किसी जहरीले पदार्थसे उसको विह्वल करके अनेक प्रकार उससे विपरीत प्रवृत्ति कराते है। उसी प्रकार ये क्षुद्र मिथ्यादृष्टि मिथ्योपदेष्टा सभी लोगोंको—मूर्खोंकी तो बात ही क्या, बडे बडे चतुर विद्वानोंको भी अपने मिथ्याज्ञानरूपी जहरीले पदार्थसे मोहित कर उनसे विपरीत वर्तन कराते हैं। अत एव सम्यक्त्वका आराधन करनेवालोंको इनका त्याग ही करना चाहिये।

मिथ्याचारित्रनामक अनायतनका निषेध करते हैं:—

रागाद्यैर्वा विषाद्यैर्वा न हन्यादात्मवत्परम् ।
ध्रुवं हि प्राग्वधेऽनन्तं दुःखं भाज्यमुदग्वधे ॥ १०० ॥

जो मिथ्याचारित्रनामक अनायतनका त्याग करना चाहता है ऐसे सम्यग्दृष्टिको चाहिये कि वह अपनी तरह दूसरेका भी—अपना और पराया किसीका भी रागद्वेषादिकके द्वारा—दृष्ट श्रुत अथवा अनुभूत भोगोंकी आकाङ्क्षारूप निदानबन्ध प्रभृति समस्त दोषोंसे, जो कि मोहनीय कर्मके उदयजनित विकार है, अथवा इन भावोंसे ही नहीं किन्तु विष शस्त्र जल अग्नि आदि द्रव्योंसे भी वध न करे। क्योंकि इन दोनों ही का फल अनंत दुःख अवश्यम्भावी है। हां, एक बात अवश्य है, वह यह कि दूसरे पक्षमें कदाचित् वह दुःखरूप फल प्राप्त न भी हो; क्योंकि यदि कोई विष शस्त्रादिके द्वारा मारा गया जीव पञ्चनमस्कारमंत्रके स्मरण आदिमें दत्त-चित्त रहा तो उसे वह अनन्त दुःख नही भोगना पडेगा; अन्यथा वह भोगेगा ही। अत एव स्वपरके द्रव्यवधमें कदाचित् विकल्प भी हो सकता है। किंतु स्व और परके भाववधका फल अनन्त दुःख तो भोगना ही होगा।

भावार्थ—स्व और परका वधरूप मिथ्याचारित्र नामका अनायतन दो प्रकारका है; भाव दूसरा द्रव्य। रागद्वेषादिके द्वारा होनेवाले स्वपरघातको भाव और विष शस्त्र आदिके द्वारा होनेवाले स्वपरघातको द्रव्य कहते हैं। रागादि परिणामोसे अपने और पराये विशुद्ध परिणामरूप समताभावोंका घात होता है अत एव इस मिथ्या चारित्ररूप अनायतनसेवासे सम्यक्त्व मलिन हो जाता है। यही बात द्रव्यमिथ्याचारित्रसेवाके विषयमें भी समझनी चाहिये। क्योंकि द्रव्य और भाव दोनो ही परस्परमें सम्बद्ध है। जैसा कि परस्परके समुच्चय अर्थमें आये हुए दोनो वाशब्दोंसे प्रकट किया गया है।

हिंसा और अहिंसा दोनोंका माहात्म्य बताते है —

हीनोपि निष्ठया निष्ठागरिष्ठः स्यादहिंसया ।
हिंसया श्रेष्ठनिष्ठोपि श्वपचादपि हीयते ॥ १०१ ॥

धनबल शरीरबल अथवा अन्य किसी शक्तिसे हीन-रिक्त भी पुरुष इस अहिंसाके कारण द्रव्यहिंसा और भावहिंसाकी निवृत्तिके द्वारा व्रतादिकका अनुष्ठान कर अपने विषयमें-व्रतानुष्ठानादिकमें अत्यंत महान्-उत्कृष्ट -या पूज्य हो जाता है। किंतु इसके विरुद्ध हिंसाप्रवृत्तिसे श्रेष्ठ आचरण-व्रतानुष्ठानादि करनेवाला भी पुरुष अत्यंत हीन-चाण्डालमे भी निकृष्ट हो जाता है।

मिथ्या चारित्रका आचरण करनेवालोंके साथ संगति करनेका निषेध करते हैं:—

केचित्सुखं दुःखनिवृत्तिमन्ये प्रकर्तुकामाः करणीगुरूणाम् ।
कृत्वा प्रमाणं गिरमाचरन्तो हिंसामहिंसारासिकैरपास्याः ॥ १०२ ॥

कोई तो इसलिये कि हमको और हमारे इष्ट मित्र बन्धुओंको सुख प्राप्त हो—हमारे और उनके यहां खूब आनद रहे; और कोई इसलिये कि हमारे तथा हमारे मित्रोंके ऊपर जो दुःख क्लेश या विपत्ति आई हुई है वे सब दूर हो जांय। मतलब यह कि सुखकी प्राप्ति और दुःखकी निवृत्ति करनेकी इच्छासे बहुतसे लोग करणी-उपाधि-परिग्रहसे युक्त गुरुओं-मिथ्या आचार्योंके वचनोंको प्रमाण मानकर—यह विश्वास करके कि इनके उपदेशानुसार आचरण करनेसे हमें अवश्य ही सुखकी प्राप्ति होगी या हमारे दुःख दूर हो जांयगे; हिंसामय आचरण करते है। ऐसे लोगोंकी संगति, जो अहिंसामय आचरणके रसमें आसक्ति रखलेवाले है, उन्हें छोडदेनी ही चाहिये।

भावार्थ—हिंसामय आचरणके उपदेष्टा और कर्त्ता दोनोंकी संगतिसे सम्यग्दर्शन मलिन होता है।

तीन मूढताओंका परित्याग होना सम्यग्दृष्टिका भूषण है, ऐसा उपदेश देते हैं:—

यो देवलिङ्गिसमयेषु तमोमयेषु,
लोके गतानुगतिकेऽप्यपथैकपान्थे।
न द्वेष्टि रज्यति न च प्रचरद्विचारः,
सोऽमूढदृष्टिरिह राजति रेवतीवत् ॥ १०३ ॥

जिनमें बहुलतया अज्ञान पाया जाता है अथवा जो निविड अन्धकारके समान साक्षात् अज्ञानरूप हैं ऐसे देवों लिङ्गियों और समयोंमें-कुदेव कुगुरु और कुशास्त्रोंमें, तथा न केवल इन्हींमें किंतु जगत्के उन सर्व साधारण व्यवहर्त्ता पुरुषोंमें भी, जो कि गतानुगतिक—विना किसी प्रकारका विचार किये ही किसीके भी उपदेशको सुनकर अथवा आचरणको देखकर उसीका अनुगमन या अनुवर्तन करने लगते हैं, तथा जो प्रायः करके नित्य उन्मार्गमें ही गमन करते हैं; विचारशील व्यक्तियोंको राग तथा द्वेष न करना चाहिये। ऐसा करनेसे ही वे रेवती रानीकी तरहम अमूढदृष्टि अंगको धारण कर इस लोकमें उदीप्त हो सकते हैं-सम्यक्त्वके आराधन करनेवालोंमें प्रकाशमान हो सकते हैं।

भावार्थ—प्रत्यक्ष अनुमान और आगम इनके द्वारा यथावस्थित वस्तुको व्यवस्थित करनेके कारणभूत क्षोदको विचार कहते हैं। प्रकर्षतया देश काल और समस्त पुरुषोंकी अपेक्षासे जिसमें किसी भी प्रकारसे बाधा न आवे इस तरहसे विचारकी प्रवृत्ति करनेवालोंको उचित है कि वे कुदेव कुगुरु और कुशास्त्र तथा गतानुगतिक और सदा उन्मार्गगामी सर्वसाधारण लोगोंमें रागद्वेषको छोड-उपेक्षाभाव धारण करें तथा अमूढदृष्टिका पालन कर सम्यक्त्वका आराधन करें।

प्रश्न—यहांपर मूढदृष्टिके विषय चार बताये गये —कुदेव कुगुरु कुशास्त्र और लोक । सो यह किस तरहसे ? क्योंकि आगममें मूढताके भेद तीन ही सुननेमें आते है, जैसा कि स्वामी समंतभद्र आचार्यने भी कहा है:—

आपगासागरस्नानमुच्चय सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोग्निपातश्च लोकमूढ निगद्यते ॥
वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेपमलीमसा ।
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥
सग्रन्थारम्भहिसाना ससारावर्तवर्तिनाम् ।
पापण्डिना पुरस्कारो ज्ञेय पापण्डिमोहनम् ।

नदी और समुद्रमें स्नान करना, वालु या पत्थरोंका ढेर लगाना, पर्वतसे गिरना या अग्निमे जलना इत्यादि सब लोकमूढता है ।

आशा रखकर वरको प्राप्त करनेकी इच्छासे जो राग द्वेपसे मलिन देवताओंकी उपासना करना इसको देवमूढता कहते है ।

परिग्रह आरम्भ और हिंसामें प्रवृत्त तथा संसारसमुद्रके भमरमें पडे हुए पाखण्डियोंकी उपासनाको पाखण्डिमूढता कहते है ।

उत्तर—यह प्रश्न ठीक नही है; क्योंकि कुदेव या कुगुरुमे कदागमका अन्तर्भाव हो जाता है । अन्यथा स्वयं समन्तभद्र स्वामी ही ऐसा क्यों कहते कि,

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम् ।
प्रणाम विनय चैव न कुर्यु शुद्धदृष्टय ॥

शुद्ध सम्यग्दर्शनके धारण करनेवालोको भय आशा स्नेह लोभ किसी भी तरहसे कुदेव कदागम और कुलिङ्गियोंको प्रणाम और उनका विनय न करना चाहिये। इसी बातको लेकर ठाकुरने भी कहा है कि:—

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥

सम्यग्दृष्टियोंको लोक कुशास्त्र कदागम और कुदेवमें नित्य ही अमूढ दृष्टि रखनी चाहिये।

छह अनायतनोंके त्याग करदेनेसे जिनकी दृष्टि—श्रद्धा अभिभूत नहीं होती उनको और उस श्रद्धाको भी अमूढ दृष्टि कहते है। इससे दृष्टिकी अमूढताका सम्बन्ध अनायतनत्यागसे है। अत एव इस प्रकरणमे जो छह अनायतनोंके त्यागका उपदेश दिया गया है उससे स्मृतियोंमें प्रसिद्ध सम्यक्त्वके पांचवे अमूढदृष्टित्व गुणका भी यहांपर संग्रह करलेना चाहिये। क्योंकि वैसे उसकी विशुद्धिवृद्धिकेलिये सिद्धांतमे चार ही गुण बताये हैं, जैसा कि आराधनाशास्त्रमे कहा है:—

उवगूहणठिदिकरण वच्छल्लपहावणा गुणा भणिया।
सम्मत्तविसुद्धीए उवगूहणगारया चउरो ॥

सम्यक्त्वकी विशुद्धिकेलिये ये चार गुण बताये है—उपगूहन स्थितीकरण वात्सल्य और प्रभावना। इन उपगूहनादिकसे जो विपरीत भाव है वे ही चार सम्यग्दर्शनके दोष होजाते हैं। अत एव सम्यक्त्वके जो पचीस दोष दिखाये है वे विस्ताररुचि रखनेवाले शिष्योंकी अपेक्षासे है। यथा:—

१—श्री अमृतचन्द्र सूरिके ग्रन्थका उल्लेख करते हुए उन्हे ग्रथकर्ताने कई जगह ठकुर या ठाकुर लिखा है हिन्दी भाषामें ऊंचे अधिकारवाले और उत्तम वशोंके या राजघरानोंके क्षत्रियोको अब भी ठाकुर कहते है.

मूढत्रय मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्।
अष्टौ शङ्कादयश्चेति दृग्दोषाः पञ्चविंशति ॥

३ मूढता, ८ मद, ६ अनायतन, ८ शङ्कादिक ये सम्यग्दर्शनके २५ दोप है।

जो इन उपगूहन आदि गुणोंके धारण करनेवाले नहीं है वे सम्यक्त्वके वैरी हैं ऐसा बताते हैः—

यो दोषमुद्भावयति स्वयूथ्ये यः प्रत्यवस्थापयतीममित्थे।
न योनुगृह्णाति न दीनमेनं मार्गं च यः प्लोषति दृग्द्विषस्ते ॥ १०४ ॥

चार प्रकारके मनुष्य सम्यग्दर्शनके वैरी है–विराधक है। वे कौन कौनसे है सो बताते हैं। एक तो वे जो कि साधर्मियोंमें सत् या असत्–मौजूद या गैरमौजूद दोपको–सम्यक्त्व प्रभृतिके अतीचारको प्रकाशित करते हैं—जो उपगूहन गुणको धारण नहीं करते। दूसरे वे जो कि सम्यग्दर्शनादिकसे च्युत होते हुए साधर्मीको पुनः पूर्ववत् उसी मोक्षमार्गमें स्थापित नहीं करते—जो स्थितीकरणको नहीं पालते। तीसरे वे जो कि धर्मादि पुरुषार्थोंके साधनकी सामर्थ्य जिनकी नष्ट होगई है ऐसे दीन साधर्मीको अनुग्रह कर उसके योग्य–समर्थ नहीं बनादेते। चौथे वे जो कि सासारिक अभ्युदयों तथा परमनिःश्रेयस—मोक्षकी प्राप्तिके उपायभूत रत्नत्रयको दग्ध करते है–माहात्म्यसे भ्रष्ट कर लोकमें निष्प्रभावतया प्रकाशित करते हैं।

इस प्रकार सम्यक्त्वके दोपोंका वर्णन कर उनके त्यागका उपदेश दिया। अब यहासे उसके गुणोंका वर्णन करते है। जिनमेंसे सबसे पहले उपगूहन गुणकी अवश्यकर्तव्यताका उपदेश देते है, जो कि अन्तर्वृत्ति और बहिर्वृत्तिकी अपेक्षासे दो प्रकारका है।ः—

धर्मं स्वबन्धुमभिभूष्णुकषायरक्षः,

क्षेप्तुं क्षमादिपरमास्त्रपरः सदा स्यात् ।
धर्मोपबृंहणधियाऽबलवालिशात्म,—
यूथ्यात्यय स्थगयितुं च जिनेंद्रभक्तः ॥ १०५ ॥

जो मोक्षकी इच्छा रखनेवाले भव्य हैं उनको चाहिये कि वे अपने साधर्मी भाइयोंमें जो अशक्त या अज्ञानी हैं उनके उस अशक्ति अथवा अज्ञानके कारण उत्पन्न हुए अत्ययों-दोषोंको धर्मोपबृंहणकी बुद्धिसे-मैं इनके इन अज्ञानजनित या अशक्तिजनित दोषोंको दूर कर उनकी जगह धर्मकी वृद्धि करदूं—इस धर्मवृद्धिकी बुद्धिसे आच्छादित करनेकेलिये जिनेन्द्रभक्त बनें। जिनेन्द्रभक्त सेठके समान आचरण करें अथवा जिनेन्द्रदेवकी भक्ति करें। तथा अपने बन्धुकी तरहसे उपकार करनेवाले सम्यक्त्व या रत्नत्रयको अभिभूत—व्याहतशक्ति करदेनेवाले कषायका, जो कि अत्यंत दुर्निवार होनेके कारण बिलकुल राक्षसके समान है, निग्रह करनेकेलिये उत्तम क्षमा उत्तम मार्दव उत्तम आर्जव प्रभृति दिव्य और प्रधान अस्त्रोंको सदा धारण करे।

भावार्थ—मुमुक्षुओंको उपगूहनके पालन करनेमें दो काम करने चाहिये। एक तो सम्यक्त्व या रत्नत्रयके विरोधी कषायका दलन, दूसरा साधर्मियोंके दोषोंका धर्मबुद्धिसे आच्छादन।

स्व और परके स्थितीकरणका आचरण करनेका उपदेश देते हैं:—

दैवप्रमादवशतः सुपथश्चलन्तं,
स्वं धारयेल्लघु विवेकसुहृद्बलेन ।
तत्प्रच्युतं परमपि द्रढयन् बहुस्वं,
स्याद्वारिषेणवदलं महतां महार्हः ॥ १०६ ॥

दैव और प्रमाद — पूर्वजन्मका संचित ऐसा कोई कर्म कि जिसके उदयसे समीचीन मार्गमें प्रतिबन्ध आजाय तथा असावधानता इन दोनों ही के वशसे समीचीन मार्ग-मोक्षमार्ग — सम्यग्दर्शनादिक तीनों ही अथवा इनमेसे एक दोसे भी चलायमान होनेपर—च्युत होनेकेलिये उन्मुख होते ही विवेकरूपी सुहृद्के बलसे-युक्तायुक्तके विचाररूपी मित्रकी सहायतासे शीघ्र ही मुमुक्षुओंको अपनेको फिर उसी सन्मार्गमें स्थिर कर देना चाहिये। इसी प्रकार—सन्मार्गसे च्युत होनेके लिये उन्मुख हुए दूसरे भी साधर्मियोंका जो वारिषेणकी तरह पुनः मोक्षमार्गमें दृढ करता है वह इन्द्रादिकके द्वारा अच्छी तरह पूज्य हो जाता है।

भावार्थ — जिस प्रकार श्रेणिक महाराजके पुत्र वारिषेणने पुष्पडालको धर्ममें स्थिर करके पूज्यता और प्रसिद्धि प्राप्त की उसी प्रकार जो कोई भी स्थितीकरण अङ्गका पालन करेगा वह भी सिद्धि और प्रसिद्धिको तथा पूज्यताको पर्याप्त रूपमे प्राप्त करेगा। धर्मसे च्युत होते हुए स्व या परको सन्मार्गमें ही स्थिर करनेका नाम स्थितीकरण है।

अन्तरङ्ग और बाह्य दोनो ही प्रकारके वात्सल्य अंगका पालन करनेकेलिये प्रेरणा करते हैः—

धेनुः स्ववत्स इव रागरसादभीक्ष्णं,
दृष्टिं क्षिपेन्न मनसापि सहेत्क्षतिं च।
धर्मे सधर्मसु सुधीः कुशलाय बद्ध,—
प्रेमानुबन्धमथ विष्णुवदुत्सहेत ॥ १०७ ॥

जिस प्रकार धेनु-तत्काल व्याही हुई गौ अपने बचेपर निरंतर रागपूर्ण दृष्टि रखती है-उसको हमेशह स्नेहभरी दृष्टिसे देखा करती है — और उसकी क्षति-हानिको मनसे भी नही सह सकती, वचन और कायकी तो वात ही क्या। अथच, प्रेमके साथ उसके कल्याणकेलिये ही प्रयत्न किया करती है। उसी प्रकार विवेकी

मुमुक्षुको भी अपने धर्म-रत्नत्रय और सधर्मा भाइयोंपर निरंतर राग रस-प्रीतिके अतिरेकसे पूर्ण दृष्टि-अन्तर्वृत्ति रखनी चाहिये—उनसे मनसा प्रेम करना चाहिये, और वचन तथा कृतिकी तो बात ही क्या, मनसे भी उनपर आये हुए उपद्रवोंको न सहना चाहिये-उनकी क्षतिपर क्षमा न करनी चाहिये। अथच, विष्णुकुमार मुनिकी तरह प्रेमबन्धका अनुवर्तन करते हुए उनकी कुशलता-कल्याण-रक्षाकेलिये ही सदा उत्साह—उद्योग करना चाहिये।

भावार्थ—वात्सल्य दो प्रकारका है—अन्तरंग और बाह्य। धर्म और धर्मात्माओंपर हृदयसे स्नेह करना अन्तरङ्ग वात्सल्य और तदनुसार उनकी रक्षादिकेलिये प्रयत्न करना बहिरंग वात्सल्य है। मुमुक्षुओंको इन दोनो ही वात्सल्योंका पालन करना चाहिये।

अन्तरंग और बाह्य दोनो प्रकारकी प्रभावनाओंका स्वरूप बताते हैं:—

रत्नत्रयं परमधाम सदानुबध्नन्,
स्वस्य प्रभावमभितोऽद्भुतमारभेत ।
विद्यातपोयजनदानमुखावदानै,—
र्वज्रादिवज्जिनमतश्रियमुद्धरेच्च ॥ १०८ ॥

मुमुक्षुको उचित है कि वह सर्वत्र और सर्वदा प्रकृष्ट तेजोरूप अथवा उसके कारण रत्नत्रयका अनुवर्तन करता हुआ हर तरहसे अपने-अपनी आत्माके अद्भुत-आश्चर्यकारी प्रभाव-आचिन्त्य शक्तिविशेषको बढानेका प्रयत्न करे। तथा वज्रकुमार प्रभृति जो जो प्रसिद्ध पुरुष हुए हैं उनके समान विद्या तप यजन दान इत्यादि अनेक अवदान-अद्भुत कर्म करके जिनमतकी श्रीका उद्धार करे, जिनशासनके माहात्म्यको जगत्में प्रकाशित करे।

स्याद्वादका ज्ञान, पठितसिद्ध मंत्र और जिसके द्वारा आकाशमें गमन आदि किया जा सकता है ऐसी साधितासिद्धको विद्या कहते है। इच्छाके निरोधको तप कहते हे। नित्यमह आष्टान्हिक मह इत्यादि जिनयज्ञोंको यजन कहते हैं। और अपने तथा दूसरेके कल्याणकेलिये जो कुछ भी देना उसको दान कहते हैं। इन विद्यादिकोंके सिवाय सिद्धमंत्र दिव्यास्त्र सिद्धौषधियोंके प्रयोग इत्यादि और भी अनेक अद्भुत कर्म हैं कि जिनके निमित्तसे पूर्वज महापुरुषोंने जिनधर्मके तेजसे लोगोंको प्रभावित करदिया था उन कर्मोंमें प्रसिद्ध हुए पुरुषोंके उदाहरण आगमके अनुसार मालुम होसकते हैं। मुमुक्षुओंको भी उसी तरहसे प्रभावनाके द्वारा सम्यग्दर्शनको उद्दीप्त करना चाहिये।

इस प्रकार प्रभावना दो प्रकारकी है-अन्तरङ्ग और बाह्य। रत्नत्रयके द्वारा आत्माको प्रभावित करनेको नाम अन्तरङ्ग प्रभावना है। और अद्भुत कार्योंके द्वारा उस धर्म तथा धर्मवालोंका जो जगत्में माहात्म्य विस्तृत करना इसको बाह्य प्रभावना कहते हैं।

मुमुक्षुओंको प्रकारान्तरसे भी गुणोंके ग्रहण करनेका उपदेश देते हैं :—

देवादिष्वनुरागिता भववपुर्भोगेषु नीरागता,
दुर्वृत्तेनुशयः स्वदुष्कृतकथा सूरेः क्रुधाद्यस्थितिः।
पूजार्हत्प्रभृतेः सधर्मविपदुच्छेदः क्षुधार्द्यर्दिते,—
ष्वङ्गिष्वार्द्रनमस्कृताष्ट चिनुयुः संवेगपूर्वा दृशम् ॥ १०९ ॥

संवेग निर्वेद प्रभृति आठ गुणोंके निमित्तसे मुमुक्षुओंकी शंकादि अतीचारोंसे रहित सम्यग्दर्शन वृद्धिको प्राप्त हो—पुष्ट हो। भावार्थ-सम्यग्दर्शनकी पुष्टिकेलिये मुमुक्षुओंको इन आठ गुणोंका संग्रह करना चाहिये जिनका कि स्वरूप इस प्रकार है:—

१—संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरूहा य उवसमो भत्ती।
वच्छल्लं अणुकंपा गुणा हु सम्मत्तजुत्तस्स ॥
संवेग निर्वेद निंदा गर्हा उपशम भक्ति वात्सल्य और अनुकंपा ये सम्यग्दृष्टिके आठ गुण हैं।

वीतराग देव निर्ग्रथ गुरु चार प्रकारका संघ और दयामय धर्म उसका फल मोक्ष आदि इनमें ख्याति यश लाभ पूजा आदिकी अपेक्षा न रखकर अनुराग रखनेको संवेग कहते है । संसार शरीर भोगोपभोगके विषयोंमें वीतरागता—रागद्वेषके परित्यागको निर्वेद कहते हैं। अपनेसे किसी प्रकारके दुर्वृत्त—अपराध होजानेपर आचार्यके सामने, उसके पश्चात्ताप करनेको निंदा और उसके कथन करनेको-अपने किये गये उस अपराधको आचार्यके सामने ज्योंका त्यो कहदेनेको गर्हा कहते है । अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि कषायोंके अनुद्रेक—अस्थिरताको उपशम कहते है। अर्हत सिद्ध आचार्य आदि पंच परमेष्ठी तथा और भी जो पूज्य वर्ग है उनकी पूजा स्तुति विनय आदि करनेको भक्ति कहते है। अपने साधर्मी भाइयोंपर आई हुई विपत्तियों व क्लेशोंका निरसन करनेको वात्सल्य कहते है। भूख प्यास आदि बाधाओंसे पीडित प्राणियोंको देखकर मनमे दयासे भीगजानेको अनुकंपा कहते है।

भावार्थ—ये ही संवेगादिक आठ गुण हैं जो कि सम्यग्दर्शनको बढाते और पुष्ट करते है। अत एव मुमुक्षुको इनका भी संग्रह करना चाहिये ।

विनय गुणको प्राप्त करनेका उपदेश देते है —

धर्मार्हदादितच्चैत्यश्रुतभक्त्यादिकं भ जेत ।
दृग्विशुद्धिविवृद्ध्यर्थं गुणवद्विनय दृश: ॥ ११० ॥

जिस प्रकार सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिवृद्धिकेलिये उपगूहन आदि गुणोंको धारण किया जाता है उसी प्रकार-सम्यग्दर्शनमें शंकादि मलोंका निरास होजानेमे जो निर्मलतारूप विशुद्धि उत्पन्न होती है उसकी

१—ग्रन्थान्तरोंमें ससारसे भीरुताको सवेग कहा है।

विवृद्धि—उसको विशेप रूपमें बढानेके अभिप्रायसे मुमुक्षुको उचित है कि वह सम्यग्दर्शनके उस विनय गुणका भी सेवन करे जो कि धर्मादिक विपयोंमे की गई भक्ति आदिके द्वारा अभिव्यक्त होता और उसमें माहात्म्य उत्पन्न करनेका अद्वितीय उपाय है ।

भावार्थ—विनय गुण भी अन्य उपगूहनादि गुणोंकी तरह सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि-वृद्धिका कारण है । अत एव इसको सम्पन्न करनेकेलिये मुमुक्षुओंको धर्मादिक नव देवोंका भक्ति पूजा आदि पांच प्रकारसे अनुष्ठान करना चाहिये । धर्म रत्नत्रयरूप है जैसा कि पहले कहा जा चुका है । अर्हतादिक-अर्हत सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु ये पंच परमेष्ठी भी प्रसिद्ध है। चैत्य शब्दका अर्थ अर्हतादिककी मूर्ति है । किंतु यहांपर चैत्य शब्द उपलक्षण है, इसलिये उससे चैत्यालय—मन्दिरका भी ग्रहण करलेना चाहिये । श्रुत शब्दका अर्थ जिनागम या जिनवचन है । अस्पष्ट तर्कणाको श्रुत कहते है । इसके दो भेद है—द्रव्यश्रुत और भावश्रुत । पहला अक्षरात्मक-लिपिरूप है और दूसरा शब्दात्मक है, जिसके कि दो भेद है, एक अंगप्रविष्ट दूसरा अंगबाह्य । इस प्रकार इन नव देवोंकी-पंच परमेष्ठी चैत्य चैत्यालय धर्म और श्रुतकी भक्ति आदि पांच प्रकारसे उपासना करनी चाहिये ।

परिणामोंके विशुद्धियुक्त अनुरागको भक्ति कहते हैं। पूजा दो प्रकारकी है; एक द्रव्य दूसरी भाव। अर्हतादिकको उद्देश कर गंधाक्षतादि समर्पण करनेका नाम द्रव्यपूजा है। भावपूजा तीन प्रकारसे होती है-मन वचन और काय। मनसे अर्हतादिके गुणोंका स्मरण करना, वचनसे स्तुति करना और कायसे उनकी विनयकेलिये खडे होना प्रदक्षिणा देना प्रणाम करना इत्यादि भावपूजा है । उपासनाका तीसरा उपाय वर्णोत्पत्ति है—लोकमें अथवा विद्वानोंकी सभा आदिमें इन नव देवोंके यशोजनन —गुणकीर्तनको वर्णोत्पत्ति कहते है। चौथा उपाय अवर्णवादका नाश है,—इसके अनुसार, मिथ्यादृष्टि या अज्ञ लोकोंके द्वारा इन देवोंके विपयमे किये गये असद्भूत दोषोंके उद्भावनका निराकरण करना चाहिये। पांचवां उपाय आसादनाका परिहार है । जो कोई इन देवोंकी अवज्ञा या तिरस्कार अथवा अविनय करे उसका परिहार करना चाहिये ।

ये ही नव देवोकी उपासनाके पांच उपाय है जो कि सम्यग्दर्शनके विनयरूप हैं और उसकी विशुद्धि वृद्धिकेलिये मुमुक्षुओको अन्य गुणोकी तरह उपास्य है। आगममें भी ऐसा ही कहा है:--

अरहतसिद्धचेदियसुदे य धम्मे य साहुवग्गे य।
आयरियउवज्झायसु पव्वयणे दमणे चावि॥
भत्ती पूया वण्णजणण च णासणमवण्णवादस्स।
आसादणपरिहारो दसणविणओ समासेण॥

अर्हत सिद्ध चैत्य श्रुत धर्म साधुवर्ग आचार्य उपाध्याय प्रवचन और सम्यग्दर्शनकी भी भक्ति पूजा वर्णोत्पत्ति अवर्णवादका नाश तथा आसदनाका परिहार करना चाहिये। संक्षेपसे यही सम्यग्दर्शनकी विनय समझनी चाहिये। इनका विस्तृत व्याख्यान देखना हो तो अपराजित आचार्यकृत मूलाराधनाकी टीका अथवा हमारे (महापण्डित आशाधरकृत) मूलाराधनादर्पण नामके निबन्धमें देखना चाहिये।

प्रकारान्तरसे दर्शनविनयको बताते हैं:—

धन्योस्मीयमवापि येन जिनवागप्राप्तपूर्वा मया,
भो विष्वग्जगदेकसारमियमेवास्यै नखच्छोटिकाम्।
यच्छाम्युत्सुकमुत्सहाम्यहमिहैवाद्येति कृत्स्नं युवन्,
श्रद्धाप्रत्ययरोचनैः प्रवचनं स्पृष्ट्या च दृष्टिं भजेत्॥ १११॥

मुमुक्षुओंको श्रद्धा प्रत्यय रोचन और स्पर्शन–अनुष्ठान इन चार वातोंसे प्रवचनको युक्त करते हुए सम्यग्दर्शनका आराधन करना चाहिये।

भावार्थ—जो कि अबतक संसारमे प्राप्त नहीं हो सका ऐसा जिनवचन—अनेकान्तात्मकताका सिद्धान्त जिसको प्राप्त होगया ऐसा मै अवश्य ही धन्य हूं–सुकृती हूं। क्योंकि यह बात निश्चित है कि इस मतके बाधक प्रमाण कोई भी सभव नही है। इस प्रकार अपनी श्रद्धाके द्वारा और; अहो, ये निर्बाध जिनवचन ही उत्तम है सत्य है तथा मुमुक्षुओंके लिये हर तरहसे इस ससारमे अद्वितीय सारभूत उपादेय वस्तु है; इस प्रकार प्रत्यय—ज्ञानके द्वारा और मै इसकी नखच्छोटिका–अंगुष्ठ तथा तर्जनीके नखोंके घटन विघटन शब्दके द्वारा पूजा करता हूं इस तरह रुचिके द्वारा एवं जिसको कि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भान होगया है ऐसा मै बडी उत्कण्ठाके साथ उत्साहपूर्वक आज इसी जिनवाणीका आराधन करता हूं। इस प्रकार अनुष्ठानके द्वारा प्रवचनको युक्त करनेवाले मुमुक्षुके सम्यग्दर्शनका आराधन है और यही सम्यक्त्वका विनय है। अत एव सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिवृद्धिकेलिये उसको इसका पालन करना चाहिये। इन चार कार्योंके द्वारा मनुष्य सम्यक्त्वका आराधक हो सकता है। यह बात आगममे भी कही है। यथा—

सद्दहया पत्तियआ रोचयफासंतया पवयणस्य।
सयलस्स जे णरा ते सम्मत्ताराहया हंति॥

इस समस्त प्रवचन– निर्बाध जिनवचनकी जो श्रद्धा प्रतीति रुचि और स्पर्शन– अनुष्ठान प्रकट करनेवाले है वे मनुष्य सम्यग्दर्शनके आराधक समझे जाते है।

इस प्रकार सम्यग्दृष्टियोंके विनय गुणग्रहणका वर्णन कर अब दृष्टान्तद्वारा यह बात स्पष्टतया बताते है कि आठो अङ्गोंसे पुष्ट और संवेगादि गुणोंसे विशिष्ट सम्यग्दर्शन क्या क्या फल देता है: —

पुष्टं निःशङ्कितत्वाद्यैरङ्गैरष्टाभिरुत्कटम्।
संवेगादिगुणैः कामान् सम्यक्त्वं दोग्धि राज्यवत्॥ ११२॥

जिस प्रकार स्वामी अमात्य सुहृत् कोष राष्ट्र दुर्ग और बल–सेना इन सात अंगोंसे पुष्ट तथा संधि विग्रह यान आसन द्वैधीभाव[11] और संश्रय[12] इन छह गुणोंसे उत्कट राज्य अभीष्ट फलका देनेवाला होता है उसी प्रकार निःशङ्कितत्त्व निःकाङ्क्षितत्त्व निर्विचिकित्सत्व अमूढदृष्टित्व उपगूहन स्थितीकरण वात्सल्य और प्रभावना इन आठ अङ्गोंसे माहात्म्यको सिद्ध करनेवाले उपायोंसे पुष्ट तथा संवेग निर्वेद निन्दा गर्हा उपशम भक्ति वात्सल्य और अनुकम्पा इन आठ गुणोसे उत्कट अचिन्त्य प्रभावका धारण करनेवाला सम्यक्त्व मुमुक्षुओंके अभीष्ट मनोरथोको पूर्ण करदेता है।

भावार्थ–यद्यपि यहांपर राज्यके समान सम्यक्त्वको मनोरथ सिद्ध करनेवाला बताया है। फिर भी ऐसा ही नहीं है। किंतु सम्यक्त्वके समान राज्यको कामित पदार्थ सिद्ध करनेवाला कहना चाहिये। क्योंकि राज्यकी अपेक्षा सम्यक्त्व ही अधिक उत्कृष्ट है। राज्यसे केवल लौकिक प्रयोजन सिद्ध होते है किन्तु सम्यक्त्वसे लोकोत्तर माहात्म्य प्रगट होता है। यह बात काकू-अलंकारके द्वारा यहां स्पष्ट होजाती है।

पहले सम्यग्दर्शनकी आराधनाके पांच उपाय बताये है—उद्योतन उद्यवन निर्वहण सिद्धि और निस्तरण। इनमेंसे चार उपायोंका किस प्रकार प्रयोग करना चाहिये सो यहांपर बताया। अब इन उपायोके प्रयोक्ताको फल क्या प्राप्त होता है, यह बताते हुए पाचवे उपाय निस्तरणका स्वरूप बताते है:—

इत्युद्योत्त्य स्वेन सुष्ठ्वेकलोलीकृत्याक्षोभं बिभ्रता पूर्यते दृक्।
येनाभीक्ष्णं संस्क्रियोद्येव बीजं तं जीवं सान्वेति जन्मान्तरेपि ॥ ११३ ॥

---

१ राजा, २ प्राइवेट सेक्रेटरी, ३ मंत्री ४ खजाना, ५ देश, ६ किला, ७ सुलह, ८ चढ कर आये हुए शत्रुके साथ अपनी या शरणागतकी रक्षाकेलिये युद्ध करना, ९ किसी शत्रुपर चढाई करना, १० कुछ कालकेलिये ठहरना–क्षणिक सन्धि, ११ दो या अनेक शक्तियोंमें परस्पर विरोध करादेना, १२ अपनेसे बलवान् शक्तिका आश्रय लेना।

सिद्ध्यौपशमिक्येति दृष्ट्या वैदिकयापि च ।

क्षायिकीं साधयेद् दृष्टिमिष्टदूतीं शिवश्रियः ॥ ११४ ॥

इस प्रकार उद्योत उद्यवन आदि जो उपाय बताये है उनके द्वारा निष्पन्न हुई औपशमिक दृष्टि—श्रद्धा अथवा क्षायोपशमिक श्रद्धाके द्वारा मुमुक्षुओंको क्षायिकी श्रद्धा सिद्ध करनी चाहिये। जो कि मोक्षलक्ष्मीकी, मानो, इष्ट दूती है।

भावार्थ—औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन दोनो ही साधन हे और क्षायिक सम्यग्दर्शन साध्य है। अत एव पहले दोनो ही सम्यग्दर्शनोंका आराधन करके मुमुक्षुको क्षायिक सम्यक्त्व सिद्ध करना चाहिये। तीन दर्शनमोहनीय—मिथ्यात्त्व मिश्र और सम्यक्त्व तथा चार अनन्तानुबंधी कषाय—क्रोध मान माया लोभ इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे उत्पन्न होनेवाले तत्त्वश्रद्धानरूप आत्मपरिणामोंको औपशमिक सम्यग्दर्शन और सम्यक्त्वप्रकृतिकी अनुभागशक्तिका शुभ परिणामोंके द्वारा निरोध होजानेपर तथा शेष छह प्रकृतियोंका उपशम होजानेपर होनेवाले तत्वार्थश्रद्धारूप परिणामको क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते है। इन सातो प्रकृतियोंका सर्वथा विनाश होजानेपर जो तत्वार्थश्रद्धान हो उसको क्षायिक सम्यग्दर्शन कहते है। इसीका नाम क्षायिकी दृष्टि अथवा क्षायिकी श्रद्धा है।

जो वचनोंका उल्लंघन नहीं कर सकती अथवा जिसके वचनोंका कोई उल्लघन नहीं कर सकता ऐसी इष्ट दूती अवश्य ही नायिकाका नायिकके साथ संयोग करा देती है। उसी प्रकार यह क्षायिक श्रद्धा भी केवलज्ञान आदि अनन्तचतुष्टयरूप जीवन्मुक्ति अथवा परममुक्तिका जीवके साथ सम्बन्ध करा देती है। क्योंकि अत्यत मान्य होनेसे यह भी अभिमत तथा अनुल्लंघ्यवचना है। अत एव मुमुक्षुओंको औपशमिक अथवा क्षायोपशमिक श्रद्धाके द्वारा क्षायिक श्रद्धा सिद्ध करनी चाहिये। जैसा कि श्री भट्टाकलंकदेवने भी कहा है:—

श्रुतादर्थमनेकान्तमधिगम्याभिसन्धिभिः ।
परीक्ष्य तांस्तान्तद्धर्माननेकान् व्यावहारिकान् ॥
नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने ।
विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान् ॥
अनुयुज्यानुयोगैश्च निर्देशादिभिदां गतैः ।
द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा विवृद्धाभिनिवेशनः ॥
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित् ।
तपोनिर्जीर्णकर्मायं विमुक्तः सुखमृच्छति ॥ इति ।

श्रुतके द्वारा अनेकान्तात्मक पदार्थका ज्ञान प्राप्त करके-प्रमाणके द्वारा पदार्थको ग्रहण करके और अपेक्षाविशेषों नयोंके द्वारा उनके उन उन अनेक व्यावहारिक धर्मोंकी परीक्षा करके तथा भेदज्ञानके उपायभूत और उन नयोंका अनुगमन करनेवाले निक्षेपोंके द्वारा उन श्रुतार्पित भेदोंमें अर्थ वचन और प्रत्ययरूप भेदोंकी रचना करके तथा निर्देश स्वामित्व साधन अधिकरण आदि अनेक भेदरूप अनुयोगोंके द्वारा उन भेदों तथा जीवादिक द्रव्योंकी योजना करके आत्माकी अभिवृद्धिके अभिप्रायसे जीवस्थान (जीवसमास) गुणस्थान और मार्गणास्थानके तत्त्वको अथवा उन तीनो स्थानों और तत्त्वोंको जाननेवाला तथा तपके द्वारा समस्त कर्मोंको निर्जीर्ण करदेनेवाला ही यह जीव मुक्त होकर सुखको प्राप्त होता है।

इस प्रकार निरंतर चिन्तवन करनेवाले मुमुक्षुको जिस तरह बने उस तरहसे सम्यग्दर्शनका आराधन करनेको प्रवृत्त होना चाहिये ।

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

॥ इति भद्रम् ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ।



" बीजके विना वृक्षकी तरह सम्यक्त्वके विना विद्या और वृत्त--सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी भी संभूति-उत्पत्ति स्थिति और वृद्धि तथा फलप्राप्ति नहीं हो सकती । " अत एव पहले सम्यग्दर्शनाराधन का वर्णन करके अब सम्यग्ज्ञानाराधनाका प्रारम्भ करते हैं । उसमें भी सबसे पहले मुमुक्षुओंको श्रुतका आराधन करनेकेलिये प्रेरित करते हैं । क्योंकि परम-सर्वोत्कृष्ट केवलज्ञानकी प्राप्तिका उपाय श्रुत ही है --

सद्दर्शनब्राह्ममुहूर्तदृप्यन्मनःप्रसादास्तमसा लवित्रम् ।
भक्तुं परं ब्रह्म भजन्तु शब्दब्रह्माञ्जसं नित्यमथात्मनीनाः ॥ १ ॥

सम्यग्दर्शनका आराधन करनेके बाद उन भव्योंको जो कि आत्माका मोक्षरूप हित चाहते हैं और जिनका मनःप्रसाद-मनोगत नैर्मल्य सम्यग्दर्शनरूपी ब्राह्म मुहूर्तके द्वारा उत्कटता-उद्बोधको प्राप्त हो रहा है, घातिकर्म-मोहनीय ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तरायके द्वारा उत्पन्न हुए अज्ञानरूप अंधकारका छेद न करनेवाले शुद्ध चिन्मय निज आत्मस्वरूपका आराधन करनेकेलिये पारमार्थिक-निजात्माकी तरफ उन्मुख हुई संवित्तिरूप शब्दब्रह्म-श्रुतज्ञानका निरन्तर आराधन करना चाहिये ।

भावार्थ—पंद्रह मुहूर्तकी रात्रि हुआ करती है । उसमें दो घडीके चौदहवें मुहूर्तको ब्राह्ममुहूर्त कहते हैं । यह इतना अच्छा समय है कि इसमें चित्तकी कलुपता बिलकुल दूर होजाती है । अत एव इस समयमें बुद्धि-

१—" विद्यावृत्तस्य सभूतिस्थितिवृद्धिफलोदया ।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥ " (भगवान् समन्तभद्र)

मे संदेहादिक न रहनेसे यथार्थ पदार्थ प्रतिभासित हुआ करते हैं। नीतिमें भी कहा है कि "ब्राह्म मुहूर्तमें उठकर कर्तव्यमें दत्तचित्त होना चाहिये: क्योंकि सुखपूर्वक ली गई निद्राके द्वारा प्रसन्न हुए मनमें ज्योंके त्यों पदार्थको विषय करनेवाली बुद्धियां प्रतिबिम्बित हुआ करती हैं। सम्यग्दर्शन भी इस ब्राह्ममुहूर्तके समान ही है। क्योंकि वह भी शुद्ध चित्तवृत्तिकी प्रवृत्तिका कारण है। इस सम्यग्दर्शनके उद्भूत होजानेपर ही जीवोंको शुद्ध निजात्मस्वरूपका संवेदन हो सकता है: अन्यथा नहीं। किंतु उस संवेदनको प्राप्त करनेकेलिये भी पहले श्रुतज्ञानका आराधन करना चाहिये: क्योंकि सम्यग्दर्शनका आराधन होजानेपर भी श्रुतज्ञानका आराधन किये विना वह संवेदन प्राप्त नहीं हो सकता। आगममें भी कहा है कि:—

> गहिय तं सुअणाणा पच्छा संवेयणेण भाविज्जो।
> जो ण हु सुअमवलंबइ सो मुज्झइ अप्पसब्भावे॥
> लक्खणदो णियलक्खं अणुहवमाणस्स जं हवे सुक्खं।
> सा संविती भणिया सयलवियप्पाण णिद्दहणा॥
> लक्खस्स भणियमाणं सेयं सब्भावसगो जो हि।
> णेयण तह उवलद्धी लक्खणाण य लक्खस्स तहा॥

जो सम्यग्दृष्टि श्रुतका अवलम्बन लेकर सम्यग्ज्ञानका आराधन करते हैं वे आत्मसद्भावमें मोहित होजाते हैं-धोका खाते हैं। अत एव पहले श्रुतज्ञानका आराधन करके फिर सम्यग्ज्ञानका आराधन करना चाहिये। लक्षण-श्रुत-श्रुतज्ञानके द्वारा निज आत्मस्वरूप लक्ष्यका अनुभव करनेवालेको जो सुखकी प्राप्ति होती है उसको संवित्ति कहते हैं। यह संवित्ति समस्त विकल्पोंका निर्दहन करदेनेवाली है। गुणपर्यायोंसे युक्त ध्येय आत्माको लक्ष्य और संवेदन उपलब्धि दर्शन तथा ज्ञानको उसका लक्षण समझना चाहिये। इस कथनसे स्पष्ट है कि शब्दब्रह्मकी भावनाके निमित्तसे ही-श्रुतज्ञानका आराधन होजानेपर ही शुद्ध चिद्रूपका दर्शन हो सकता है: अन्यथा नहीं। जैसा कि आगममें भी कहा है:—

> स्यात्कारश्रीवासवश्यैर्नयौघै: पश्यन्तीत्थं चेत्प्रमाणेन चापि।

पश्यन्त्येव प्रस्फुटानन्तधर्मं स्वात्मद्रव्य शुद्धचिन्मात्रमन्त ॥

स्यात्कार-स्याद्वादरूपी श्रीवाम-लक्ष्मीके निवासके अधीन नयोंके द्वारा आत्मद्रव्यको जिस प्रकारसे देखते हैं उसी प्रकारके वे प्रमाणके द्वारा भी अन्तरङ्गमें उस निज आत्मद्रव्यको वैसा ही-अच्छी तरह स्फुट अनन्तधर्मात्मक और शुद्ध चिन्मात्र देखते हैं। अर्थात् प्रमाणके द्वारा शुद्ध निज चिन्मात्रका दर्शन होना भी स्याद्वादसे सम्बद्ध नयोंके अधीन है, जो कि श्रुतज्ञानात्मक है। अत एव मुमुक्षुओंको पहले पारमार्थिक शब्दब्रह्म —श्रुतज्ञानका ही आराधन करना चाहिये।

श्रुतका आराधन परंपरासे केवलज्ञानकी उत्पत्तिका कारण है, यह बताते हुए उसका आराधन करनेलिये मुमुक्षुओंको फिरसे अच्छी तरह उत्साहित करते हैं:—

केवल्यमेव मुक्त्यङ्गं स्वानुभूत्यैव तद्भवेत् ।
सा च श्रुतैकसंस्कारमनसातः श्रुतं भजेत ॥ २ ॥

मुक्तिका उपाय केवल्य है। असहाय ज्ञान-केवलज्ञान ही मोक्षका साक्षात् कारण है। और कैवल्य शुद्ध निजात्मस्वरूपकी अनुभूतिसे ही हो सकता है। तथा स्वानुभूति उस अन्तःकरणके द्वारा ही हो सकती है कि जिसमें श्रुत-श्रुतज्ञानका उत्कृष्ट खास संस्कार किया गया हो। अत एव मुमुक्षुओंको श्रुतका आराधन करना चाहिये।

भावार्थ-श्रुत परंपरासे मोक्षका कारण है अत एव मोक्षके अभिलाषियोंकेलिये वह सबसे पहले आराध्य है[1]।

१—शब्दात् पदप्रसिद्धि पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति ।

मनमें श्रुतका संस्कार होजानेपर ही स्वसंवेदनरूप उपयोगके द्वारा शुद्ध चिद्रूपताका परिणमन हो सकता है। यह बात दृष्टांतद्वारा स्पष्ट करते हैं:—

श्रुतसंस्कृतं स्वमहसा स्वतत्त्वमाप्नोति मानसं क्रमशः।
विहितोषपरिष्वङ्गं शुद्ध्यति पयसा न किं वसनम् ॥ ३ ॥

श्रुतके द्वारा संस्कृत हुआ मन क्रमसे स्वसंवेदनके द्वारा शुद्ध निजात्मस्वरूपको इस तरह प्राप्त हो जाता है जिस तरहसे कि उप-एक विशेष खारी मट्टी (खार) के द्वारा संश्लिष्ट-मोंदाया हुआ वस्त्र जलमें शुद्ध—स्वच्छ हो जाया करता है। कहा भी है कि:—

* विगाभ्यासससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेवतिष्ठते ॥

अज्ञानाभ्यासके संस्कारोंसे संस्कृत हुआ मन वशमें नहीं रहता। अत एव वह इधर उधर भटकता फिरता है। किंतु ज्ञानके संस्कारोंसे संस्कृत होकर वही मन स्वयं ही आत्मस्वरूपमें अवस्थित होजाता है।

भावार्थ—मुमुक्षुओंको सबसे पहले श्रुतज्ञानका अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि क्रमसे इसका पहले संस्कार होजानेपर ही स्वसंवेदनकी प्राप्ति होती है। और उसके बाद आत्माको उस स्वसंवेदनके द्वारा शुद्ध चिद्रूपकी प्राप्ति होती है। अत एव मुमुक्षुओंको श्रुतका अभ्यास पहले करना चाहिये।

आत्मकल्याणकी सिद्धिके लिये मुमुक्षुओंको मति, अवधि और मनःपर्यय ज्ञानका भी उपयोग करना चाहिये। यथाप्राप्त इन ज्ञानोंके द्वारा भी आत्मकल्याणमें प्रवृत्त होना चाहिये: ऐसा उपदेश देते हैं:—

मत्यवधिमनःपर्ययबोधानपि वस्तुतत्त्वनियतत्वात ।
उपयुञ्जते यथास्वं मुमुक्षवः स्वार्थसंसिद्ध्यै ॥ ४ ॥

मुमुक्षुओंको केवल श्रुतज्ञानसे ही नही किंतु यथाप्राप्त अथवा यथायोग्य मति अवधि और मनःपर्यय ज्ञानसे भी काम लेना चाहिये। आत्मकल्याणकी सिद्धिकेलिये अनन्त सुखकी प्राप्ति अथवा दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्तिकेलिये इन ज्ञानोंका भी उपयोग करना चाहिये। क्योंकि ये ज्ञान भी वस्तुतत्त्वमें नियत है। वस्तुओंके याथात्म्य—सामान्यविशेषात्मक स्वरूपके ग्रहण करनेमें मतिज्ञानादिक भी नियत है। मतिज्ञान इन्द्रिय और मन दोनोंसे ही उत्पन्न होता है। इसमें जो इन्द्रियजन्य मतिज्ञान है वह यद्यपि कतिपय पर्यायविशिष्ट और मूर्त पदार्थको ही, तथा मनोजन्य मतिज्ञान मूर्त अमूर्त दोनोंको, किंतु वैसे ही—कतिपय पर्यायविशिष्ट ही पदार्थोंको विषय करता है; फिर भी वह, ग्रहण, पदार्थके यथावत् स्वरूपका ही करता है। इसी प्रकार अवधिज्ञान भी कतिपय पर्याय-युक्त ही पुद्गल अथवा पुद्गलसम्बद्ध जीवोंको जानता है, किंतु यथावत् जानता है। मनःपर्ययज्ञान भी सर्वावधिके अनन्तवे भागको जानता है, किंतु यथावत् जानता है। अत एव आत्मकल्याणकेलिये इन ज्ञानोंको भी अपने अपने विषयमें मुमुक्षुओंको व्यापृत करना चाहिये। यथा-कानोंको शास्त्रश्रवणादिकमें, आंखोंको जिनप्रतिमादर्शन और भक्तपान तथा मार्गादिके निरीक्षणमें, मनको गुणदोषादिके विचार स्मरण आदिकमें, अवधिज्ञानको श्रुतके अर्थमें संदेह उपस्थित होजानेपर उसका निर्णय करनेमें अथवा अपनी या पराई आयुके परिमाणादिक निश्चय करनेमें, तथा मनःपर्ययको चिन्तित अर्धचिंतित पदार्थोंके जाननेमे लगाना चाहिये।

भावार्थ—आत्मकल्याणकेलिये मतिज्ञानादिकसे भी मुमुक्षुओंको यथायोग्य काम लेना चाहिये। मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होजानेपर इन्द्रिय और-मनकी सहायतासे पदार्थके जाननेको या उपयुक्त आत्मा जिसके द्वारा पदार्थोंको जानता है उसको मति कहते है। इसके मति स्मृति संज्ञा चिंता अभिनिबोध प्रतिभा बुद्धि मेधा प्रज्ञा आदि

अनेक भेद हैं। बाह्य और अंतरङ्गमें स्फुटतया अवग्रहादिरूप जो स्वसंवेदन या इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है उसको मति अथवा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते है। इसका दूसरा नाम अनुभव भी है। स्वयं अनुभूत अतीत पदार्थके ग्रहण करनेवाली "वह" इस तरहकी प्रतीतिको स्मृति कहते हैं। अनुभव और स्मृति दोनोंके जोडरूप "यह वही है, यह उसके सदृश है, यह उससे विलक्षण है" ऐसे ज्ञानोंको संज्ञा कहते हैं। इसका दूसरा नाम प्रत्यभिज्ञान भी है। जहां जहां धूम होता है वहां वहां अग्नि जरूर होती है। बिना अग्निके कहीं भी कभी भी धूम नहीं होता। अथवा जहा जहां शरीरमें व्यापार वचनादिक होते है वहां वहां आत्मा जरूर होता है—विना आत्माके शरीरमें वचनादि व्यापार नहीं होसकता। इस तरहकी तर्कको चिंता या ऊह कहते है। धूमादिक साधनको देखकर अग्नि आदि साध्यका ज्ञानरूप जो अनुमान होता है उसको अभिनिबोध कहते है। रातमें या दिनमें अकस्मात्—विना किसी बाह्य कारणके, जो "कल मेरा भाई आवेगा" इस तरहका ज्ञान होता है उसको प्रतिभा[1] कहते है। पदार्थके ग्रहण करनेकी शक्तिका नाम बुद्धि, और पाठग्रहण करनेकी शक्तिका नाम मेधा है। इसी तरह ऊहापोहरूप योग्यताका नाम प्रज्ञा है। इस प्रकार इन्द्रिय और मनकी अपेक्षासे उत्पन्न होनेवाले एक ही मतिज्ञानके अनेक भेद है।

अवधिज्ञानावरणका क्षयोपशम होजानेपर अधिकतया अधोगत द्रव्यको किंतु नियत रूपी द्रव्यको ही जो विषय करता है उसको अवधि कहते है। इसके तीन भेद है—देशावधि परमावधि और सर्वावधि। देशावधिके छह भेद है—अवस्थित अनवस्थित अनुगामी अननुगामी वर्धमान हीयमान[2]। इनमेंसे परमावधिमें अनवस्थित और हीयमानको छोडकर बाकी चार भेद हैं। सर्वावधिमें अवस्थित अनुगामी और अननुगामी ये तीन ही भेद है। जैसा कि आगममें भी कहा है, यथाः—

देशावधि सानवस्थाहानि स परमावधि, ।

१—नवनवोन्मेपशालिनी बुद्धि प्रतिभा इति ग्रन्थान्तरम्। २—इन छहोंका स्वरूप गोमट्टसारमें देखना।

वर्धिष्णु सर्वावधिस्तु सावस्थानुगमेतर ॥

देशावधि वर्धमान और हीयमान दोनो तरहका होता है। अत एव उसमें अनवस्थित और हीयमान ये दोनो भेद भी होते है। किंतु परमावधि वर्धिष्णु ही होता है। अत एव उसमें ये दो भेद नहीं होते, बाकी चार भेद होते है। तथा सर्वावधि अवस्थित अनुगामी इस तरह तीन ही प्रकारका होता है।

समन्तभद्र स्वामीने भी अपने शास्त्रमें अवधिज्ञानके चिन्ह और भेद इस प्रकार बताये हैं:—

अवधीयते इत्युक्तोऽवधि सीमा सजन्मभू ।
पर्याप्तश्वाभ्रदेवेषु सर्वाङ्गोत्थो जिनेषु च ॥
गुणकारणको मर्त्यतिर्यक्ष्वब्जादिचिन्हज ।
सोवस्थितोनुगामी स्याद्वर्धमानश्च सेतर ॥

नियत विषयके जाननेवाले ज्ञानविशेषको अवधि कहते है। अत एव इसका दूसरा नाम सीमाज्ञान भी है। क्योंकि अवधि शब्दका अर्थ सीमा होता है। यह ज्ञान दो प्रकारका है—एक भवप्रत्यय दूसरा गुणप्रत्यय। भवप्रत्यय अवधिज्ञान पर्याप्त देव नारक और जिन भगवान्के हुआ करता है, जो समस्त अंगसे उत्पन्न होता है। एव गुणप्रत्यय अवधिज्ञान मनुष्य और तिर्यंचोंके होता है जो कि कमल शंख स्वास्तिक आदि चिन्हयुक्त स्थानोंसे ही उत्पन्न हुआ करता है। और जो अवस्थित अनुगामी तथा वर्धमान एवं इनसे उल्टा अनवस्थित अननुगामी तथा हीयमान इस तरह छह प्रकारका है।

भावार्थ-भवप्रत्यय अवधिज्ञान शरीरके किसी चिन्हयुक्त स्थानविशेषसे नहीं किंतु समस्त अंगसे उत्पन्न होता है। किंतु गुणप्रत्यय अवधिज्ञान चिन्हित स्थानोंसे ही उत्पन्न होता है। अवधिज्ञान जहांसे उत्पन्न होता है वे शंख कमल आदि चिन्ह नाभिके ऊपर हुआ करते है। विभंगज्ञानके सरट मर्कट आदि चिन्ह नाभिके नीचे हुआ करते हैं।

मनोगत पदार्थको उपचारसे मन कहते है। इस मनको जो अच्छी तरह स्पष्टतया जाननेवाला है उस ज्ञानको मनःपर्यय कहते है। यथाः—

स्वमन' परीत्य यत्परमनोनुमधाय वा परमनोर्थम्।
विशदमनोवृत्तिरात्मा वेत्ति मन पर्यय स मत ॥

विशद मनोवृत्ति-मनःपर्ययज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न विशुद्धिको धारण करनेवाला जीव पर पुरुपके उस मनोगत पदार्थको जो कि अपने अथवा दूसरेके मनके सम्बन्धसे विचार प्राप्त हुआ हो, जानता है, उस ज्ञानको मनःपर्यय कहते है। अवधिज्ञानकी तरह यह भी मुख्य देशप्रत्यक्ष ही है। इसका विशेप स्वरूप शास्त्रमें इस प्रकार कहा है किः—

चिन्तिताचिन्तितार्द्धादिचिन्तिताद्यर्थवेदकम्।
स्यान्मन पर्ययज्ञान चिन्तकश्च नृलोकग. ॥
द्विधा हृत्पर्ययज्ञानमृज्व्या विपुलया धिया।
अवक्रवाद्मन कायवर्त्यर्थर्जुमतिस्त्रिधा ॥
स्यान्मतिर्विपुला पोढा वक्रावक्राङ्गवाग्घृदि।
तिष्टता व्यञ्जनार्थाना पड्भिदा ग्रहण यत ॥
पूर्वास्त्रिकालरूप्यर्थान्वर्तमाने विचिन्तके।
वेत्त्यस्मिन् विपुला धीस्तु भूते भाविनि सत्यपि ॥
विनिद्राष्टदलाम्भोजसन्निभ हृदये स्थितम्।
प्रोक्त द्रव्यमनस्तज्ज्ञमन पर्ययकारणम् ॥

चिन्तित अचिन्तित या अर्द्धचिन्तित आदि पदार्थोंके जाननेको मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं। किंतु 25
मनःपर्ययज्ञानके विपयभूत पदार्थका चिन्तवन करनेवाला नृलोक-अढाई द्वीपके भीतर ही रहनेवाला होना चाहिये।

यह मनःपर्यय ज्ञान दो प्रकारका है; एक ऋजुमति दूसरा विपुलमति। ऋजुमति अकुटिल–सरल मन वचन कायवर्ती पदार्थोंको विषय करता है अत एव उसके तीन भेद हैं। विपुलमति छह प्रकारका है, क्योंकि वह कुटिल और अकुटिल दोनो ही प्रकारके मन वचन कायवर्ती छह तरहके व्यंजन पदार्थोंका ग्रहण करता है। ऋजुमति मनःपर्यय त्रिकालवर्त्ती रूपी पदार्थोंको तभी विषय करता है जब कि उनका चिन्तवन करनेवाला वर्तमान हो। किन्तु विपुलमति, चिन्तवन करनेवाला भूत भविष्यत् या वर्तमान कैसा भी हो, त्रिकालवर्ती रूपी पदार्थोंको विषय करता है। खिले हुए अष्टदल कमलके समान हृदयमें जो द्रव्यमन विराजमान है वह इस मनःपर्यय ज्ञानका कारण है।

इस प्रकार इन मति अवधि और मनःपर्यय ज्ञानसे भी मुमुक्षुओंको यथायोग्य विषयमें श्रुतकी तरह उपयोग लेना चाहिये।

श्रुतकी सामग्री और स्वरूप इन दोनोंका निरूपण करते है —

स्वावृत्त्यपायेऽविस्पष्टं यन्नानार्थप्ररूपणम्।
ज्ञानं साक्षादसाक्षाच्च मतेर्जायेत तच्छ्रुतम्॥ ५॥

श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होजानेपर नाना पदार्थोंके—उत्पादव्ययध्रौव्यरूप अथवा अनेकांतात्मक वस्तुओंके समीचीन स्वरूपका निश्चय करसकनेवाले अस्पष्ट ज्ञानको श्रुत कहते है। यह श्रुत मतिज्ञानपूर्वक हुआ करता है; किन्तु श्रुतके पूर्वमे मति कहीं साक्षात्—अव्यवहित और कहीं असाक्षात् व्यवहित हुआ करती है।

भावार्थ—श्रुतज्ञान दो प्रकारका है; एक शब्दजन्य दूसरा लिंगजन्य। घट शब्दके सुननेरूप मतिज्ञानके

बाद जो घटपदार्थका ज्ञान होता है उसको शब्दजन्य श्रुत और चक्षुरादिके द्वारा यह धूम है ऐसा मतिज्ञान होजानेपर जो अग्नि आदिका ज्ञान होता है उसको लिङ्गजन्य श्रुत कहते है । इसके अनंतर घटज्ञानके बाद जो जलधारणादिकका और, अग्निज्ञानके बाद जो उसके पाकादिकका ज्ञान होता है उसको भी श्रुत कहते है । किंतु पहले श्रुतके मतिज्ञान साक्षात् पूर्वमें है और दूसरे श्रुतके असाक्षात् पूर्वमें । फिर भी दोनो ही श्रुतज्ञानोंको मतिपूर्वक ही कहा है, क्योंकि आगममें मतिपूर्वक होनेवाले श्रुतज्ञानको भी उपचारसे मति कहा है । यथाः--

मतिपूर्वं श्रुत दक्षैरुपचारान्मतिर्मता ।
मतिपूर्वं तत सर्वं श्रुत ज्ञेय विचक्षणै ॥

आचार्योंने मतिज्ञानपूर्वक होनेवाले श्रुतज्ञानको भी उपचारसे मति ही माना है। अत एव विद्वानोंको सभी श्रुतज्ञान मतिपूर्वक ही समझने चाहिये । और भी कहा है कि-- .

अर्थादर्थान्तरज्ञान मतिपूर्वं श्रुत भवेत् ।
शब्द तल्लिङ्गज चात्र द्व्यनेकद्विषड्भेदगम् ।

मतिज्ञानपूर्वक जो अर्थसे अर्थान्तरका ज्ञान होता है उसको श्रुत कहते है । वह दो प्रकारका है; शब्दजन्य और लिंगजन्य । तथा अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट इस तरहसे भी श्रुतके दो भेद हैं । अंगबाह्यके अनेक भेद और अंगप्रविष्टके बारह भेद है ।

निरुक्तिकी अपेक्षा, जो सुना जाय उसको श्रुत कहते है । किंतु उसका अर्थ ज्ञानविशेष ही है, जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। यह श्रुत दो प्रकारका होता है; एक ज्ञानरूप दूसरा शब्दरूप। ज्ञानरूपको भावश्रुत और शब्दरूपको द्रव्यश्रुत कहते है । जिस ज्ञानके होनेपर वक्ता शब्दोंका उच्चारण करता है या कर सकता है उसको अथवा श्रोताके शब्द सुननेके बाद जो ज्ञान होता है उसको भावश्रुत कहते है । इसीका नाम स्वार्थ भी है, क्योंकि

वह विकल्पके निरूपणरूप है, और स्वयं [श्रुतज्ञानी] को जो उसके विषयमें अज्ञान या विप्रतिपत्ति हो उसका निराकरण ही इसका फल है। भावश्रुतकेलिये निमित्तभूत जो वचन उसको द्रव्यश्रुत कहते है। इसको परार्थ भी कहते है। क्योंकि वह शब्दप्रयोगरूप है, और अपने विषयमें दूसरोंको जो अज्ञान या विप्रतिपत्ति है उसका निराकरण ही इसका फल वे।

इस प्रकार भाव और द्रव्यकी अपेक्षा श्रुतके दो भेद बताये; किंतु उसके भी उत्तर भेद होते है या नहीं? इसके उत्तरमें दोनोंके उत्तर भेदोंका निरूपण करते है:—

तद्भावतो विंशतिधा पर्यायादिविकल्पतः ।
द्रव्यतोऽङ्गप्रविष्टाङ्गबाह्यभेदाद् द्विधा मतम् ॥ ६ ॥

भाव--अन्तस्तत्वकी अपेक्षा जो श्रुतका भेद बताया है वह—भावश्रुत, पर्याय पर्यायसमास अक्षर अक्षरसमास इत्यादि वीस प्रकारका है। और द्रव्य वहिस्तत्वकी अपेक्षा जो भेद है वह--द्रव्यश्रुत मूलमें दो प्रकारका है; अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य।

भावार्थ—भावश्रुतके पर्यायादिक वीस भेद और द्रव्यश्रुतके मूलमें उक्त दो भेद है; जिनमेंसे अंगप्रविष्टके आचाराङ्ग सूत्रकृताङ्ग आदि बारह भेद और अङ्गबाह्यके सामायिक आदि चौदह भेद है। इनका विशेष स्वरूप आगमके अनुसार समझना चाहिये।

लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्म निगोदिया जीवके, उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें जो ज्ञान होता है उसको पर्याय कहते है। इसका दूसरा नाम लब्ध्यक्षर भी है। जैसा कि आगममें भी कहा है:—

सूक्ष्मापूर्णनिगोदस्य जातस्याद्यक्षणेप्यद ।

श्रुत स्पर्शमतेर्जात ज्ञानं लब्ध्यक्षराभिधम् ॥

सूक्ष्म अपर्याप्त निगोद जीवके उत्पन्न होनेके प्रथम क्षणमें स्पर्शजन्य मतिज्ञानके द्वारा जो श्रुतज्ञान होता है उसको लब्ध्यक्षर कहते हैं।

इसका परिमाण अक्षरश्रुतके अनन्तवें भागमात्र है। अत एव यह सब ज्ञानोंसे जघन्य किंतु निरावरण है। इतना ज्ञान नित्य ही प्रकाशमान रहता है। इससे कम ज्ञान कभी भी और किसी भी जीवके नहीं हो सकता। यदि इसमें भी कम होने लगे तो ज्ञानका ही अभाव होजाय; क्योंकि यह ज्ञानकी सबसे छोटी पर्याय है। एवं, ज्ञानका अभाव होनेसे आत्माका भी अभाव होजायगा, क्योंकि ज्ञानरूप उपयोग ही आत्माका लक्षण है। अत एव पर्यायज्ञान नित्य प्रकाशमान है।

जैसा कि (गोमटसारमें) कहा भी है:—

सुहुमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि ।
हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घाडं णिरावरणं ॥

सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तकके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें जो सर्वजघन्य ज्ञान होता है वह नित्योद्घाटी और निरावरण है। यह ज्ञान सूक्ष्म निगोदजीवके सर्वजघन्य क्षयोपशमकी अपेक्षासे निरावरण है, न कि सर्वथा। वस्तुतः ऊपरके क्षायोपशमिक ज्ञानोंकी अपेक्षा और केवलज्ञानकी अपेक्षा सावरण ही है तथा क्षायोपशमिक भी है; क्योंकि संसारी जीवोंके क्षायिक ज्ञान हो ही नहीं सकता।

पर्यायज्ञानके ऊपर और अक्षरश्रुत ज्ञानके पहले अनन्तभागवृद्धि असंख्यातभागवृद्धि संख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि असंख्यातगुणवृद्धि एवं अनतगुणवृद्धिके द्वारा जो असंख्येयलोकपरिमाण ज्ञान बढता जाता है उसको प-

र्यायसमास ज्ञान कहते है। इसके बाद एकअकार आदि अक्षरोंके अभिधेयके अवगमरूप जो ज्ञान है उसको अक्षरश्रुत कहते है। यह समस्त श्रुतके संख्यातवे भागमात्र है। क्योंकि पूर्ण श्रुतज्ञानके संख्यात ही अक्षर है। इसके ऊपर और पदज्ञानके पहले अक्षरवृद्धिके क्रमसे जो दो तीन चार आदि अक्षरोंके ज्ञानस्वभाव श्रुत बढता जाता है उसको अक्षरसमास कहते है। इसी तरह पद पदसमास आदि पूर्वसमासपर्यन्त भावश्रुतके बीसो भेदोका स्वरूप आगमके अनुसार समझलेना चाहिये।

श्रुतोपयोगकी विधि बताते है:—

तीर्थादाम्नाय निध्याय युक्त्याऽन्तः प्रणिधाय च।
श्रुतं व्यवस्येत सद्विश्वमनेकान्तात्मकं सुधीः ॥ ७ ॥

बुद्धिधनके धारण करनेवाले भव्योंको तीर्थ—उपाध्यायसे आगमको ग्रहण करके और हेतुपूर्वक समझ करके तथा अन्तरङ्गमे भले प्रकार निश्चलतया धारण करके सद्—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त और अनेकान्तात्मक-द्रव्यपर्यायस्वभाव विश्व—जीवादिक समस्त पदार्थोंका अच्छी तरह निश्चय करना चाहिये।

भावार्थ—गुरूपदेशद्वारा आगमसे तथा "पदार्थ अनेकातात्मक है; क्योंकि वे सत् है। जो सत् नही होता वह अनेकातात्मक भी नही होता, जैसे कि आकाशपुष्प" इत्यादि युक्तियोंसे जीवादि पदार्थोंका निश्चय करना चाहिये। इसीसे श्रुतोपयोगकी सिद्धि हो सकती है। और समस्त पदार्थोंका ज्ञान हो सकता है। क्योंकि श्रुतज्ञान परोक्षतया समस्त पदार्थोंको प्रकाशित करता है। जैसा कि कहा भी है:—

श्रुत केवलबोधश्च विश्वबोधात्सम द्वयम्।
स्यात्परोक्ष श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष केवल स्फुटम् ॥

समस्त पदार्थोंके ज्ञानकी अपेक्षा श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनो समान हैं। अंतर इतना ही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है ओर केवलज्ञान प्रत्यक्ष है।

तीर्थ और आम्नायपूर्वक श्रुतका अभ्यास करना चाहिये, ऐसा उपदेश देते हैं:—

वृष्टं श्रुताब्धेरुद्धृत्य सन्मेघैर्भव्यचातकाः ।
प्रथमाद्यनुयोगाम्बु पिबन्तु प्रीतये मुहुः ॥ ८ ॥

समस्त विश्वका उपकार करनेवाले मेघोंके समान सत्पुरुषों–शिष्टों–भगवज्जिनसेन प्रभृति आचार्योंके द्वारा श्रुत—परमागम – द्वादशाङ्गरूपी समुद्रसे उद्धृत कर—निकाल कर वर्षाये हुए—उपदिष्ट प्रथमादि अनुयोग पुराणादि अर्थके प्रश्नोत्तररूपी जलका भव्यरूपी चातकोंको जिनको कि चिरकालसे सदुपदेशरूपी जल पान करनेकेलिये प्राप्त नहीं हुआ है; पुनः पुनः एवं प्रीतिपूर्वक पान करना चाहिये। क्योंकि वह जल उनकी तृष्णाके विच्छेद करनेका प्रधान कारण है।

भावार्थ—भगवज्जिनसेन प्रभृति आचार्योंने प्रथमानुयोगादिकमें जो कुछ कहा है वह भगवद्भाषित और गणधरग्राथित परमागममें कहे हुए पदार्थोंको ही कहा है। अत एव वह तीर्थ और आम्नायपूर्वक ही है। इसीलिये मुमुक्षु भव्योंको रुचि–समीचीन श्रद्धापूर्वक उस प्रथमानुयोगादि श्रुतका बारम्बार अभ्यास करना चाहिये।

अनुयोग चार है— प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। इनमेंसे पहले प्रथमानुयोगके अभ्यास करनेमें भव्योंको नियुक्त होनेका विधान करते है। : —

पुराणं चरितं चार्थाख्यानं बोधिसमाधिदम् ।
तत्त्वप्रथार्थी प्रथमानुयोगं प्रथयेत्तराम् ॥ ९ ॥

हेय और उपादेयरूप समीचीन तत्त्वके प्रकाशको निरंतर चाहनेवाले भव्यको उस पुराण और चरित्ररूप प्रथमानुयोगका अच्छी तरह प्रकाश करना चाहिये--दूसरे—करणानुयोगादिकी अपेक्षा अतिशय रूपसे अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि दूसरे अनुयोगोंमें जिन जिन विषयोंका वर्णन किया गया है उन सबके प्रयोग दृष्टान्त आदिका अधिकरण यह प्रथमानुयोग ही है; जिसमें कि कल्पित विषयोंका नहीं किंतु अर्थ—परमार्थतः सद्भूत विषयोंका प्रतिपादन किया जाता है; और जो कि बोधि-रत्नत्रय और समाधि--ध्यानका देनेवाला है। क्योंकि इसके सुननेमे जिनको रत्नत्रय प्राप्त नहीं हुआ है, उनको प्राप्त होता है और जिनको प्राप्त है उनका भले प्रकार निर्वहण होता है। इसी प्रकार उसके सुननेसे धर्मध्यान और शुक्लध्यानकी भी सिद्धि होती है। जो पहले होगया उसको--बीती हुई बातको पुराण कहते ह। जिसमें ये बातें लिखी जांय उस ग्रंथको भी पुराण कहते हैं। अत एव त्रेसठ शलाकापुरुषोंकी कथाएं जिसमें लिखी गई हों उस महापुराण हरिवंशपुराण पद्मपुराण आदि शास्त्रोंका नाम पुराण है। पुराणमें आठ बातोंका वर्णन होता है, जैसा कि आगममें भी कहा है —

लोको देश पुर राज्य तीर्थं दान तपोद्वयम् ।
पुराणस्याष्टधाख्येय गतय फलमित्यपि ॥

लोक देश नगर राज्य तीर्थ दान और दो प्रकारका तप इन आठ विषयोंका पुराणमें निरूपण किया जाता है। इसके सिवाय गतियों तथा पुण्यपापके फलका भी वर्णन होता है।

लोकमें भी कहा है कि—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वशो मन्वन्तराणि च ।
वशानुचरित चेति पुराण पञ्चलक्षणम् ॥

सर्ग और प्रतिसर्ग तथा वंश और मन्वन्तर—कुलकरोंका मध्यकाल एवं वंशोंमें क्रमसे चला आया हुआ चरित्र, ये पुराणके पांच लक्षण है—ये पांच बातें पुराणमें होनी चाहिये।

इस प्रकार जिसमें ये सब बातें पाई जांय उस प्रथमानुयोगको पुराण और जिसमें एक पुरुषके आश्रयसे कथा लिखी जाय—जिसमें एक पुरुषके चरित्रका वर्णन हो, जैसे चंद्रप्रभचरित्र प्रद्युम्नचरित्र यशोधरचरित्र इत्यादि; उसको चारितरूप प्रथमानुयोग कहते हैं।

करणानुयोगके अभ्यास करनेकी तरफ भव्योंको प्रयुक्त करते हैं:—

चतुर्गतियुगावर्तलोकालोकविभागवित् ।
हृदि प्रणेयः करणानुयोगः करणातिगैः ॥ १० ॥

करण-इन्द्रियोंका अतिक्रमण करके रहनेवाले जितेंद्रिय भव्योंको करणानुयोग अवश्य ही हृदयमें धारण करना चाहिये।

गतिनामकर्मके उदयसे होनेवाली जीवकी पर्यायविशेषको गति कहते हैं। उसके चार भेद हैं- नारक तैर्यग मानुष और देव। उत्सर्पिणीरूप कालके सुषमसुषमा आदि युगोंके आवर्त-परिवर्तनको युगावर्त कहते हैं। उसके बाहर जितना अनन्त आकाशमात्र है उसको अलोक कहते हैं। इन चारों गतियों तथा युगावर्त और लोकालोकके विभागको जो जाननेवाला है उस ज्ञानपरिणत आत्माको करणानुयोग कहते हैं।

भावार्थ—यहापर भावश्रुतकी अपेक्षासे ज्ञानरूप ही करणानुयोगका लक्षण बताया है; किन्तु द्रव्य श्रुत-

की अपेक्षा इन गति आदिकोंका जिसमें वर्णन लिखा जाय उस शास्त्रको भी करणानुयोग कहते है । यह करणानुयोग मुमुक्षुओंको अवश्य ही हृदयंगत करना चाहिये ।

चरणानुयोगकी चर्चा करनेकेलिये भी भव्योंको प्रेरित करते हे ।

सकलेतरचारित्रजन्मरक्षाविवृद्धिकृत ।
विचारणीयश्चरणानुयोगश्चरणादृतैः ॥ ११ ॥

चारित्रके प्रातिबंधक मोहनीय कर्मका क्षयोपशम होजानेपर चरणानुयोगके द्वारा पूर्ण और अपूर्ण चारित्रका जन्म रक्षा एव वृद्धि होती है; अत एव चारित्रका पालन करनेकेलिये जो उद्यत है उन भव्योंको अवश्य ही इस चरणानुयोगका चित्तमे विचार करना चाहिये । आचारांग उपासकाध्ययन या दूसरे भी चारित्रसम्बन्धी शास्त्रोका अध्ययन या स्वाध्याय करना चाहिये ।

भावार्थः—चरण-चारित्रके जाननेवाले ज्ञानको अथवा उसके प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रको चरणानुयोग कहते है । हिंसादिक पापोंसे निवृत्तिका नाम चारित्र है । यह दो प्रकारका है-एक पूर्ण दूसरा अपूर्ण अप्रादुर्भूत इन दोनोंकी प्रादुर्भूतिका नाम जन्म, प्रादुर्भूत होनेपर उनमेंसे अतीचारके दूर होनेका नाम रक्षा, और रक्षितोंमे उत्कर्षताके प्राप्त होनेका नाम वृद्धि है । इस प्रकार इन दोनो चारित्रोके जन्म रक्षा और वृद्धिकी सिद्धि चारित्रमोहनीयका क्षयोपशम होनेपर चरणानुयोगके द्वारा ही होती है । अत एव चारित्रकी इच्छा करनेवाले मुमुक्षु भव्योंको चरणानुयोगका अवश्य ही अभ्यास करना चाहिये ।

द्रव्यानुयोगकी भावनाकेलिये भव्योंको व्यापृत करते हैः —

जीवाजीवौ बन्धमोक्षौ पुण्यपापे च वेदितुम् ।

द्रव्यानुयोगसमयं समयन्तु महाधियः ॥ १२ ॥

कुशाग्रीय बुद्धिके धारक भव्योंको जीव और अजीवका तथा बंध और मोक्षका एव पुण्य और पापका ज्ञान प्राप्त करनेकेलिये या भले प्रकार निश्चय करनेकेलिये द्रव्यानुयोग समय का--सिद्धांतसूत्र मोक्षशास्त्र या पंचास्तिकाय प्रभृति ग्रंथोंका अच्छी तरह अभ्यास करना चाहिये।

भावार्थ—मुमुक्षुओंकी अभिलाषा जिस मार्गसे पूर्ण हो सकती है उसकी सिद्धि तत्त्वज्ञानपर निर्भर है। और तत्त्वज्ञान, जिनमें जीवादिक तत्त्वों तथा पदार्थोंका वर्णन किया गया है ऐसे द्रव्यानुयोग शास्त्रोंके अभ्यास पर निर्भर है। अत एव मुमुक्षु एवं तीक्ष्ण बुद्धिके धारक भव्योंको द्रव्यानुयोग शास्त्रोंका अभ्यास अच्छी तरह करना चाहिये। इसके विना मोक्ष क्या है और वह किसकी होती है तथा उसका विरोधी कौन है और उसके विरुद्ध पर्यायके कारण क्या क्या है एवं निर्वृतिके कारण क्या क्या है यह मालुम नहीं हो सकता। और इसके विना निर्वृति नहीं हो सकती।

इस प्रकार जिसमें चारो अनुयोगोंका संग्रह किया गया है ऐसे जिन भगवान्‌के उपदिष्ट आगमकी सदा समीचीनतया उपासना करनेवाले भव्योंको जो फल प्राप्त होते है उन्हे बताते हैः—

सकलपदार्थबोधनहिताहितबोधनभावसंवरा,
नवसंवेगमोक्षमार्गस्थिति तपसि चात्र भावनान्यदिक्।
सप्त गुणाः स्युरेवममलं विपुलं निपुणं निकाचितं
मार्वमनुत्तरं वृजिनहृज्जिनवाक्यमुपासितुः सदा ॥ १३ ॥

जिसमें पूर्वापरका विरोध या अन्य किसी प्रकारका दोष नहीं पाया जाता। जिसमें लोकालोकके

सब विषय व्याप्त है। पदार्थमात्रका जिसमें वर्णन पाया जाता है। जिसमें सूक्ष्म पदार्थोंका भी स्वरूप भले प्रकार दिखाया गया है। और जो निकाचित-अर्थतः अवगाढ-ठोस है। जो सबकेलिये हितकर और परमोत्तम है- संसारमें जिसकी बराबर कोई भी उत्कृष्ट पदार्थ नहीं है। एवं जो समस्त पापोंको दूर करनेवाला है। ऐसे जिनवाक्यकी—अर्हंत भगवान्के उपदिष्ट प्रथमानुयोगादिक प्रवचनकी पूर्वोक्त रीतिसे जो सदा समीचीनतया उपासना करते है उन साधुओंको निम्नलिखित सात गुण प्राप्त होते हैं:—

१—सकलपदार्थबोधन। त्रिकालवर्ती समस्त अनन्त पदार्थों और उनकी पर्यायोंके स्वरूपका ज्ञान।

२-हिताहितबोधन। हित-सुख और उसके कारणोंकी प्राप्ति तथा अहित-दुःख और उसके कारणोंके परिहारका ज्ञान।

३-भावसंवर। मिथ्यात्वादिक परिणामोंका, जिनसे कि कर्मोंका आस्रव होता है, निरोध—शुद्ध निजात्म स्वरूपके अनुभवरूप परिणामोंका होना।

४-नवसंवेग। प्रतिक्षण नई नई तरहकी संसारसे भीरुता।

५-मोक्षमार्गस्थिति। व्यवहार एवं निश्चयरूप रत्नत्रयमें अविचलतया स्थिर रहना।

६-तपोभावना। रागादि कषायोंके निग्रह करनेके उपायका अभ्यास करना।

७ अन्यदिक्। दूसरोंको, उपदेश देना।

ज्ञानाराधनकेलिये आठ प्रकारके विनयका अभ्यास करना चाहिये ऐसा उपदेश देते है—

ग्रन्थार्थतद्द्वयैः पूर्णं सोपधानमनिह्नवम्।
विनयं बहुमानं च तन्वन् काले श्रुतं श्रयेत् ॥ १४ ॥

ग्रंथ-संदर्भ और अर्थ-वाच्य पदार्थ तथा उभय-ग्रंथ अर्थ दोनो इनसे पूर्ण और आगममे कहे हुए नियमविशेषोसे युक्त तथा गुरु आदिके निन्हवसे रहित श्रुत—जिनागमका विनय-माहात्म्यका उद्भव-प्रकाश करनेकेलिये किये गये प्रयत्नविशेषको और बहुमान—बडे भारी आदर सत्कारको बढाते हुए मुमुक्षुओंको योग्य कालमे—आगममें कहे गये सध्या ग्रहण आदिसे रहित समयमें अभ्यास करना चाहिये।

भावार्थ—जिसके द्वारा श्रुतकी भले प्रकार प्राप्ति हो सके उस उपायविशेषको विनय कहते है। उसके आठ भेद है—१ ग्रंथपूर्णता २-अर्थपूर्णता, ३-उभयपूर्णता, ४—सोपधानता, ५—आनिन्हव, ६-विनय, ७-बहुमान, ८-और योग्य काल।

इस प्रकार ज्ञानाराधनाका वर्णन किया। किंतु सम्यक्त्वाराधनाके अनंतर उसके वर्णन करनेका क्या हेतु है सो बताते है:—

आराध्य दर्शनं ज्ञानमाराध्यं तत्फलत्वत: ।
सहभावेऽपि ते हेतुफले दीपप्रकाशवत ॥ १५ ॥

मुमुक्षुओंको सम्यग्दर्शनका आराधन करके ही ज्ञान—श्रुतज्ञानका आराधन करना चाहिये। क्योंकि ज्ञान सम्यग्दर्शनका फल है। ज्ञानकी समीचीनता सम्यग्दर्शनके ही अधीन है; अत एव वह उसका कार्य है। आगममे भी सम्यग्दर्शनकी प्रशसा करते हुए कहा है कि ' णाण सम्मं खु होदि सदि जह्मि " अर्थात् जिसके होनेपर ज्ञान समीचीन होजाता है। अत एव सम्यक्त्वका आराधन करके ही ज्ञानका आराधन करना चाहिये।

यहा प्रश्न हो सकता है कि गौके बांये और दांये दोनो सींगोंकी तरहसे एक ही कालमें उत्पन्न होनेवाले ज्ञान और सम्यक्त्वमें कार्यकारणभाव कैसा ? इसका उत्तर देते है कि:—

यद्यपि ये दोनो सहभावी हैं--युगपत् उत्पन्न होनेवाले है फिर भी दीपक और प्रकाशकी तरहमें उनमें कार्यकारण भाव है। जिस प्रकार प्रदीप और प्रकाश साथ ही उत्पन्न होते है। फिर भी प्रदीपका प्रकाश कार्य होता है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन और ज्ञानकी समीचीनता अथवा ज्ञान इनको परस्परमें क्रमसे कारण और कार्य समझना चाहिये। जैसा कि आगममें भी कहा है:—

कारणकार्यविधान समकाल जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयो सुघटम्॥

सम्यक्त्व और ज्ञान यद्यपि एक ही कालमें उत्पन्न होनेवाले है; फिर भी उनमें दीपक और प्रकाशकी तरहसे कारणता और कार्यता अच्छी तरह घटती है।

ज्ञानके विना तप भी समीहित पदार्थोंको सिद्ध नही करसकता, यह दिखाते हैं:—

विभावमरुता विपद्वति चरद् भवाब्धौ सुरुक्,
प्रभुं नयति किं तपः प्रवहण पदं प्रेप्सितम्।
हिताहितविवेचनादवहितः प्रबोधोन्वहं,
प्रवृत्तिविनिवृत्तिकृद्यदि न कर्णधारायते॥ १६॥

तप एक बडे भारी जहाजके समान है; क्योंकि वह अथाह संसारसमुद्रसे पार पहुंचानेमें कारण है। फिर भी रागद्वेषात्मक विभावभावोंके आवेशरूपी वायुके द्वारा अनेक आपत्तियोंसे घिरे हुए संसाररूपी समुद्रमें जब अत्यंत क्लेशको देते हुए इधर उधर चक्कर खाने लगता है—डगमगाने लगता है तब तरण कलामें अत्यत कुशल नाविकके समान यदि सम्यग्ज्ञान पास न हो तो क्या यह कहा जा सकता है कि, वह अपने स्वामी-मु-

मुक्षु तपस्वीको; दूसरे पक्षमें यात्रीको, यथेष्ट स्थानपर या पदपर पहुंचा सकता है ? कभी नहीं । क्योंकि कर्णधार के समान यह सम्यग्ज्ञान ही निरंतर अप्रमत्त–सावधान रहता और अपने हिताहितके विवेकसे प्रवृत्ति निवृत्ति कराता है । यह हित है ऐसा जता कर हितमें प्रवृत्ति करानेवाला और, यह अहित है ऐसा प्रकाशित कर उस अहितसे निवृत्ति करानेवाला यह सम्यग्ज्ञान ही है ।

भावार्थ–सम्यग्ज्ञानके द्वारा सुप्रयुक्त ही तप अभीष्ट स्थान या अर्थको सिद्ध कर सकता है; अन्यथा नहीं ।

सम्यग्दर्शनकी तरह ज्ञानकी भी उद्योतादिक पांच आराधनाए हैं । उनमेंसे आदिकी उद्योतन उद्यवन और निर्वहण इन तीन आराधनाओंका स्वरूप बताते हैः—

ज्ञानावृत्त्युदयाभिमात्युपहितैः संदेहमोहभ्रमैः,
स्वार्थभ्रंशपरैर्वियोज्य परया प्रीत्या श्रुतश्रीप्रियाम् ।
प्राप्य स्वात्मनि यो लयं समयमप्यास्ते विकल्पातिगः,
सद्यः सोऽस्तमलोच्चयश्चिरतपोमात्रश्रमैः काम्यते ॥ १७ ॥

जिस प्रकार कोई राजा अपनी प्रियाको शत्रुओंके भ्रष्ट करनेवाले साधनोंसे बचाकर और परम आनन्दके साथ आलिंगनको प्राप्त कराकर कुछ कालकेलिये अनिर्वचनीय आनन्दको प्राप्त हो जाता है तो उसकी संसारमें लोग प्रशंसा करते है । उसी प्रकार उद्योत आदि रूपसे ज्ञानका आराधन करनेवाला जो मुमुक्षु साधु, आगममें बताई हुई " एको मे सासदो आदा " एक मेरा आत्मा ही शास्वत है, इस तरहकी श्रुतज्ञानकी भाव-

१ अभिमाति–शत्रु ।

नारूपी वल्लभाको, जो कि अपने स्वामीको अत्यंत आनन्दका कारण है, ज्ञानावरण कर्मके उदयसे, जो कि एक अपकारके ही करनेमें उद्युक्त रहनेके कारण शत्रुके समान है, प्राप्त हुए संदेह मोह और भ्रम—सशय अनध्यवसाय और विपर्यासमसे, जो कि जीवोंके पुरुषार्थोंका ध्वंस करनेमें ही तत्पर रहा करते हैं, बचाकर और परमोत्कृष्ट हर्षके साथ अपने चित्स्वरूपमें एकत्व परिणतिरूप आश्लेषको प्राप्त कराकर कुछ कालकेलिये निर्विकल्प वासनाओंसे रहित होकर—यह क्या है, किससे सिद्ध होता है, कहां रहता है, कब होता है, इत्यादि अन्तर्जल्पसे सम्बन्ध रखनेवाली अनेक उत्प्रेक्षाओंके जालसे च्युत होकर परम आनन्दका भोग कर लेता है; उसकी दूसरे लोग, जो कि केवल नयका ही अभ्यास करनेवाले हैं-ज्ञानाराधनासे रहित केवल कायक्लेशादिके अनुष्ठान करनेमें ही जो चिरकाल तक परिश्रम करनेवाले हैं, प्रशसा किया करते हे। यह बडा अच्छा तप करनेवाला है ऐसा कहकर उसकी अनुमोदना किया करते है, और वैसा ही स्वय होना चाहते हे। क्योंकि इस तरह ज्ञानाराधन करनेवाला तपस्वी तत्क्षण-बहुत ही जल्दी अशुभ कर्मोंके संघातको निर्जीर्ण करदेता है। जैसा कि आगममें भी कहा है कि: —

ज अण्णाणी कम्म खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं ।
त णाणी तिहि गुत्तो खवेइ णिमिसद्धमित्तेण ॥

जिन कर्मोंको अज्ञानी सैकडों हजारों अथवा करोडों भवमें यद्वा लाखो कोटि भवमें भी नहीं खपा सकता, उन्ही कर्मोंको ज्ञानी आधे निमेषमात्रमें-बहुत ही थोडे कालमें तीनो गुप्तियोंको धारण कर खपा देता है।

भावार्थ—ज्ञानका आराधन किये विना तप भी सफल नही हो सकता। अत एव तपस्वियोंको उसका भी आराधन करना ही चाहिये। सम्यग्दर्शनकी तरह सम्यग्ज्ञानकी भी उद्योतादिक पांच आराधनाएं है। उनमेंसे आदिकी तीन आराधनाओंका स्वरूप यहांपर बताया है। ज्ञानावरण कर्मके उदयजनित संदेहादिकसे श्रुतभावनाके बचानेको उद्योत, परम प्रमोदके साथ चित्स्वरूपमें उस भावनाके एकत्वपरिणतिको प्राप्त करादेनेको उद्यवन, और कुछ कालतक निर्विकल्प होकर उस भावनाके द्वारा परमानंदरूपसे ठहरनेको निर्वहण कहेत हैं।

अब यहां क्रमानुसार अंतकी दोनों आराधनाओंका—साधन और निस्तरणका स्वरूप बताना चाहिये किंतु उसके पहले ज्ञानरूप प्रकाशकी दुर्लभता प्रकट करते हैं। :—

दोषोच्छेदविजृम्भितः कृततमश्छेदः शिवश्रीपथः,
सत्त्वोद्बोधकरः प्रक्लृप्तकमलोल्लासः स्फुरद्वैभवः।
लोकालोकततप्रकाशविभवः कीर्तिं जगत्पावनीं,
तन्वन् क्वापि चकास्ति बोधतपनः पुण्यात्मनि व्योमनि ॥ १८ ॥ /

बोध—सम्यग्ज्ञानको बिलकुल सूर्यके समान समझना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार सूर्य अपने कार्य दोषा-रात्रिके क्षयके करनेमें निरंकुशतया प्रवृत्त हुआ करता है, उसी प्रकार ज्ञान भी संदेहादिक दोषोंके उच्छेदरूप अपने कार्यके करनेमें स्वतंत्रतया प्रवृत्त हुआ करता है। जिस प्रकार सूर्य अंधकारका नाश करता है उसी प्रकार ज्ञान भी अपने घातिधक कर्मकी संततिका ध्वंस करता है। जिस प्रकार सूर्य शिवों—मुक्तात्माओंका श्रीपथ—प्रधानमार्ग है उसी प्रकार ज्ञान भी शिवश्री मोक्षलक्ष्मीका मार्ग-प्राप्तिका उपाय है। जिस प्रकार सूर्य प्राणियोंकी निद्राको दूर करके उद्बोध जागृतता उत्पन्न करनेवाला है उसी प्रकार ज्ञान भी सत्त्व—सात्त्विकता गुणका उद्बोध करनेवाला है—उसको अभिव्यक्त-प्रकाशित करनेवाला है। जिस प्रकार सूर्य कमलोंके उल्लास—विकाशको प्रकाशित करनेवाला है उसी प्रकार ज्ञान भी कमला-लक्ष्मीकी उद्गति-उद्भूतिका करनेवाला है। अथवा क—आत्माके मल-रागद्वेषादि विभावोंके उद्भवको अच्छी तरह क्षीण नष्ट करनेवाला है। जिस प्रकार सूर्य लोकालोक-निषधाचलपर अपनी आलोकसंपत्तिको विस्तृत करता है उसी प्रकार ज्ञान भी लोक

१—इसका समर्थन अध्याय २ श्लोक ६५ में किया जा चुका है।

और अलोक दोनोंके ऊपर, जिनका कि स्वरूप पहले बताया जाचुका है, अपना प्रकाश डालता है—उनको अच्छी तरहसे विषय करता है—जानता है। जिस प्रकार सूर्य अपने वैभवके द्वारा जगत्जनोंके मनमें अपूर्व चमत्कार उत्पन्न करता है उसी प्रकार ज्ञान भी करता है। इसी तरह जिस प्रकार सूर्य जगत्को पवित्र करनेवाली कीर्ति भक्त पुरुषोंके द्वारा कीगई स्तुतिको विस्तृत करता है उसी प्रकार ज्ञान भी लोकोंके मलको दूर करनेवाली धर्मदेशनारूप वाणीको फैलाता है। इस तरह बिलकुल समानताको धारण करनेवाला यह ज्ञानरूपी सूर्य आकाशके समान किसी ही पवित्रात्मामें प्रकाशित-उदित हुआ करता है।

भावार्थ- दोषोच्छेदकत्वादि विविध गुणोंसे युक्त सम्यग्ज्ञानका उत्पन्न होना बहुत ही कठिन है। वह एक अपूर्व प्रकाशके समान है। अत एव जिस प्रकार सूर्य किसी मलरहित विशेष नभोदेशमें ही उदयको प्राप्त हुआ करता है, उसी प्रकार उक्त अनेक गुणोंसे युक्त सम्यग्ज्ञान भी किसी ही पवित्रात्मा—सम्यग्दृष्टिके उत्पन्न हुआ करता है। इस तरहसे ज्ञानरूपी प्रकाशसे ही मुमुक्षुओंकी अभीष्टसिद्धि हो सकती है। अत एव उनको इसकी आराधना करनी चाहिये।

ज्ञानकी साधन और निस्तरण नामकी आराधनाका भी स्वरूप बताते हैं:—

निर्मथ्यागमदुग्धाब्धिमुद्धृत्यातो महोद्यमाः।
तत्त्वज्ञानामृतं सन्तु पीत्वा सुमनसोऽमराः॥ १९॥

मन्दराचलसे क्षीरसमुद्रकी तरह शब्दतः और अर्थत किये गये आक्षेप और समाधानके द्वारा आगम—द्वादशांग श्रुतका भले प्रकार आलोडन करके उससे तत्त्वज्ञान—परमौदासीन्य ज्ञानरूपी अमृतको निकाल कर

१—तीन जगत्के आधिपत्य अथवा प्रभावविशेषको वैभव कहते हैं।

और उसका पान करके बढते हुए महान् उत्साहके धारक सुमना–मैत्री आदि भावनाओंसे प्रसन्नचित्त रहनेवाले भव्य पुरुष अथवा देवगण अमरपदको प्राप्त हों।

भावार्थ— इस तरहसे निर्मथित आगमरूपी क्षीरसमुद्रसे निकाल कर तत्त्वज्ञानरूप अमृतका पान करनेवाले मुमुक्षु जन्ममरण और अपमृत्युसे रहित हो जाते हैं।

यहांपर आगमका अवगाहन कर तत्त्वज्ञानके निकालनेको ज्ञानकी साधनाराधना समझना चाहिये। द्रव्यागमके अवगाहनमे उत्पन्न हुए भावागमका पूर्ण होना ही ज्ञानका उद्धार है. और ज्ञान—रेणातिके अनन्तर अमरपदका प्राप्त होना ही निस्तरण है।

ं मका धारण करना अत्यंत कठिन है। फिर भी उसका पालन मनके निग्रहसे उत्पन्न हुए स्वा-च्छी तरहसे हो सकता है। इस बातको मनकी चंचलताका निरूपण करते हुए तीन श्लोकों

लातुं वीलनमत्स्यवद्भ्रमयितुं मार्गे त्रिदुष्टाश्ववत्,—
न्निम्नाद्रोद्धुमगापगौघ इव यन्नो वाञ्छिताच्छक्यते।
दूरं यात्यनिवारणं यदणुवद् द्राग्वायुवच्चाभितो,
नश्यत्याशु यदभ्रवद्बहुविधैर्भूत्वा विकल्पैर्जगत् ॥ २० ॥

नो मूकवद्वदति नान्धवदीक्षते य,—
द्रागातुरं बधिरवन्न शृणोति तत्त्वम्।

चो वपुषोपि वृत्तं,
ं तितवोरिवाम्भः ॥ २१ ॥

व्यावर्त्याशुभवृत्तितोसुनयवन्नीत्वा निगृह्य त्रपां,
वश्यं स्वस्य विधाय तन्नूतकवत्प्रापय्य भावं शुभम्।
स्वाध्याये विदधाति यः प्रणिहितं चित्त भृशं दुर्धरं,
चक्रेशैरपि दुर्वहं स वहते चारित्रमुच्चैः सुखम् ॥ २२ ॥

जो मन पतले चिकने चमकीले और चपल शरीरके धारण करनेवाले मत्स्यकी तरह सहसा पकडनेमें नहीं आसकता। जिसका दुष्टस्वभानवाले घोडेकी तरह इष्ट और शिष्ट मार्गपर चलाना अत्यंत कठिन है। जो पर्वतसे गिरनेवाली नदियोंके समूहकी तरह वांछित किंतु निम्न-नीच स्थान-विषयकी तरफ गिरनेसे रोका नहीं जा सकता। जो परमाणुकी तरह वेरोक होकर अत्यंत दूरवर्ती देशोंमें भी जाकर प्राप्त हो जाता है। जो वायुकी तरह शीघ्र ही चारो तरफ फैल जाता और मेघोंकी तरह नाना प्रकारके विकल्पों-चिन्ताओंके जालसे समस्त जगतको व्याप्त कर शीघ्र ही नष्ट होजाता। जो रागसे आतुर-इष्ट विषयोंकी रतिसे आक्रांत होकर वस्तुओंके यथार्थ स्वरूपको वचनशून्य-गूंगे मनुष्यकी तरह कह नहीं सकता, और अंधेकी तरह देख नहीं सकता, तथा बधिर

१—ससारी जीवोंका मन प्रायः ऊंचे—अच्छे कामोंकी तरफसे गिरकर-हटकर नीच विषयोंकी तरफ ही जाया करता है। और सहसा उसकी वह उन्मुखता छूट नहीं सकती। २—जिस प्रकार मेघ अनेक तरहके आकार रग और परिमाण आदिके द्वारा आकाशको व्याप्त करता और शीघ्र ही नष्ट होजाता है उसी प्रकार मन भी कल्पनाराजाके द्वारा समस्त जगत्को व्याप्त करता-आशाओं और चिन्ताओंका विषय बनाता और फिर शीघ्र ही विलीन होजाता है।

मनुष्यकी तरह उसको सुन भी नहीं सकता। जिसका कि नियन्त्रण न करनेपर वचन और कायका नियन्त्रण करनेवालेका भी वृत्त-व्रत समिति और गुप्तिरूप समीचीन भी चारित्र इस तरहसे निकल जाता है—नष्ट हो जाता है जैसे कि चलनीमेंसे जल निकल जाया करता है। और जिसका कि वश करना साधारण प्राणियोंकेलिये बहुत ही कठिन है। ऐसे भी मनको जो मुमुक्षु प्रमादचर्या कलुषता तथा विषयोंकी लोलुपता आदि व्यापारोंसे हटाकर और दुर्व्यवहार या दुर्जन पुरुषकी तरहसे उसका ज्ञानसंस्काररूपी दण्डके बलसे दमन करके तथा उसको लज्जाको प्राप्त कराकर, एव खरीदे हुए दास गुलामकी तरह वशमें करके प्रशस्त रागादिरूप भावोंसे युक्त कर और एकाग्र-अकम्प या निश्चल बनाकर स्वाध्यायमें-वाचना पृच्छना आदिरूप तपमें लगा देता है वही पुरुष उत्कृष्ट चारित्रका-जिसका कि साधारण लोगोकी तो बात ही क्या पूर्ण चक्रवर्ती भी पालन नही कर सकते, उस व्रत समिति और गुप्तिरूप तथा अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्तिरूप सयमका अच्छी तरह पालन कर सकता है।

भावार्थ —मन यद्यपि अत्यंत चंचल है फिर भी उसका निग्रह करके यदि उसको स्वाध्यायरूप उपयोगमें लगाया जाय तो उससे अत्यंत दुर्धर भी संयमकी सिद्धि हो सकती है और सुखसंवित्तिकी प्राप्ति हो सकती है।

ध्यानको छोडकर बाकी जितने भी तप है उन सबमें स्वाध्याय ही एक ऐसा है जो कि आत्माकी उत्कृष्ट शुद्धिका कारण है। अत एव समाधिमरणकी शुद्धिकेलिये उसको नित्य ही करना चाहिये। ऐसा उपदेश देते है—

१—तितओरिव पानीय चारित्र चलचेतस ।
वचसा वपुषा सम्यक्कुवतोऽपि पलायते ।

वचन और शरीरके द्वारा भले प्रकार चारित्रका पालन करते हुए भी चचलचित्तवाले मनुष्यसे वह इस तरह पलायमान हो जाता है, जैसे कि चलनीसे जल।

नाभून्नास्ति न वा भविष्यति तपःस्कन्धे तपो यत्समं,
कर्मान्यो भवकोटिभिः क्षिपति यद्योन्तर्मुहूर्तेन तत् ।
शुद्धिं वानशनादितोऽमितगुणा येनाश्नुतेश्नन्नपि,
स्वाध्यायः सततं क्रियेत स मृतावाराधनासिद्धये ॥ २३ ॥

अशनादिक तप करके जो विशुद्ध परिणाम प्राप्त होसकते है उनसे भी अनन्तगुणी विशुद्धिको स्वाध्यायके द्वारा यह जीव प्रतिदिन भोजन करता हुआ भी प्राप्त करलेता है। यथाशक्ति उपवासादि करते हुए यदि स्वाध्याय किया जाय तब तो बात ही क्या है। इसी तरह जिन कर्मोको दूसरे तपोनिधि करोडो भवमें निर्जीर्ण कर सकते है उन्ही कर्मोको यह स्वाध्याय केवल अन्तर्मुहूर्तमें–कुछ कम दो घडी मात्र कालमें खिपा देता है। तथा यह स्वाध्याय एक अपूर्व ही तप है; जो कि अनेक अतिशयोंसे युक्त है। जैसा कि पहले बताया भी जा चुका है। अनशनादिक छह प्रकारके बाह्य तप और प्रायश्चित्तादिक पांच प्रकारके अन्तरङ्ग तप इन सबमें इस स्वाध्यायके समान न तो कोई तप हुआ, न है, न होगा। अत एव मरणसमयमें आराधनाकी सिद्धिकेलिये–सम्यग्दर्शनादि परिणामोंमें सातिशय वृत्तिकी प्राप्तिकेलिये मुमुक्षुओंको नित्य ही स्वाध्याय करना चाहिये ।

भावार्थ—ज्ञानाराधनाके अनेक फलोंमें एक बडा भारी फल समाधिमरणकी सिद्धि भी है। किंतु यह तभी सिद्ध हो सकता है जब कि प्रतिदिन उसका आराधन किया जाय। अत एव मुमुक्षुओंको नित्य ही स्वाध्याय–ज्ञानका आराधन करना चाहिये ।

श्रुतज्ञानकी आराधना परम्परासे मोक्षका कारण है ऐसा बताते हे —

श्रुतभावनया हि स्यात् पृथक्त्वैकत्वलक्षणम् ।

शुक्लं ततश्च कैवल्यं ततश्चान्ते पराऽच्युतिः ॥ २४ ॥

श्रुतभावना—व्यग्रतारहित ज्ञानकी अपेक्षा स्वाध्यायसे और एकाग्र ज्ञानकी अपेक्षा धर्मध्यानमे पृथक्त्ववितर्कवीचार और एकत्ववितर्कवीचार नामके दोनो शुक्लध्यान संपन्न हुआ करते है । और इन दोनोका कैवल्यके साथ हेतुहेतुमद्भाव है । अत एव दोनो शुक्लध्यानोसे कैवल्य-असहाय ज्ञानदर्शनरूप पर्यायकी निष्पत्ति हुआ करती है । और इस पर्यायके प्राप्त होजानेपर अंतमे—संसारका अभाव होजानपर परम मुक्तिपदकी प्राप्ति हुआ करती है । अथवा अंत शब्दका अर्थ मरण भी होता है । सो भी यहां घटित हो सकता है; क्योकि पंडित-पंडित मरणके द्वारा ही निर्वृतिकी प्राप्ति हुआ करती है ।

भावार्थ – स्वाध्यायसे धर्मध्यान और उससे पृथक्त्ववितर्कवीचार नामका शुक्लध्यान और उससे एकत्ववितर्कवीचार नामका दूसरा शुक्लध्यान निष्पन्न हुआ करता है । क्योकि हेतुहेतुमद्भाव ऐसा ही है । द्वितीय शुक्लध्यान होनेपर अनन्तज्ञानादिचतुष्टयरूप जीवन्मुक्ति और उसके बाद क्रमसे सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामके दोनो सातिशय शुक्लध्यान प्रवृत्त हुआ करते है । इसके भी बाद—सबके अंतमे समस्त कर्मोका क्षय होजानेपर अनन्तसम्यक्त्व प्रभृति अष्टगुणविशिष्ट अवस्थाविशेषरूप परममुक्तिकी सिद्धि हुआ करती है । इस प्रकार श्रुतभावनाका परम्परा फल मोक्ष है ।

॥ इति ज्ञानाराधनाधिगमो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥

॥ इति भद्रम् ॥

चौथा अध्याय ।



[चारित्राराधना]



अब चारित्राराधना क्रमसे प्राप्त है । अत एव उसीके प्रति मुमुक्षुओंको उत्साहित करते हैं । :—

सम्यग्दृष्टिसुभूमिवैभवलसद्विद्याम्बुमाद्यद्दया,—
मूलः सद्व्रतसुप्रकाण्ड उदयद्गुप्त्यग्रशाखाभरः ।
शीलोद्यद्विटपः समित्युपलतासंपद्गुणोद्धोद्गम,—
श्छेत्तुं जन्मपथक्लमं सुचरितच्छायातरुः श्रीयताम् ॥ १ ॥

दर्शनविशुद्धिरूपी प्रशस्त भूमिके वैभवसे स्फुरायमानताको प्राप्त होते हुए समीचीन श्रुतज्ञानरूपी जलमे जिसका दयारूपी मूल अपना कार्य करनेकेलिये उदृप्त रहा करता है समीचीन व्रतोंका समूह ही जिसका सुंदर प्रकाण्ड—स्कन्ध है, और जिसकी गुप्तिरूपी अग्रशाखाओंका भार उदयको प्राप्त—उच्छ्रित रहा करता है, एवं शीलव्रतोंका रक्षण ही जिसका विटप—विस्तार है, तथा समितिरूपी उपलताएं—छोटी छोटी शाखाए ही

१—उस प्रभाव अथवा अचिन्त्य शक्तिविशेषको यहापर वैभव समझना चाहिये जो कि अपना कार्य करनेमे समर्थ है ।

२—दुःखोंसे पीडित हुए प्राणियोंके त्राणकी अभिलाषाको दया कहते है ।

जिसकी संपत्ति है और अनेक प्रकारके उत्पन्न होनेवाले गुण ही जिसके प्रशस्त पुष्प है; ऐसे सम्यक्चारित्ररूपी छायावृक्षका, सम्यक्त्व और ज्ञानका आराधन करनेवाले मुमुक्षुओंको जन्म —जन्ममरण—ससाररूपी मार्गमे चलनेके कारण उत्पन्न हुए श्रम—ग्लानिको दूर करनेकेलिये अवश्य ही सेवन करना चाहिये।

भावार्थ—" मै समस्त सावद्ययोगसे विरत हूं " इस तरहके सामायिक भावको ही सम्यक्चारित्र समझना चाहिये। आजकलके ऋषियो वा व्रतियोकी अपेक्षासे इस विषयमे और जो कुछ कहा गया है वह सब छेदोपस्थापना रूपसे इसीका विस्तार है। यह सम्यक्चारित्र छायावृक्षके समान है। क्योंकि संसारमार्गके संचरणसे उत्पन्न हुए श्रम और ग्लानिकी निःशेष शांति इसीसे होसकती है। सूर्यके फिर जानेपर भी जिसकी छाया नही फिरती ऐसे तरुको छायावृक्ष कहते है। जिस प्रकार वृक्षके पल्लवित होनेमे उत्तम भूमि और जल ये दो प्रधान कारण है उसी प्रकार सम्यक्चारित्रके भी समृद्ध होनेमे सम्यक्त्व और ज्ञानकी आराधनाएं—दर्शनविशुद्धि और श्रुताभ्यास ये दो मुख्य कारण है। इसके होनेपर ही चारित्रकी मूल दयासे अनेक अहिंसादि सद्व्रतोंका स्कन्ध प्रादुर्भूत हो सकता है और उसमेसे फिर गुप्तिरूपी[2] गुद्दे—बडी बडी शाखाएं निकल सकती है, जिनमेसे कि सुरक्षित रहनेपर समितिरूपी[3] अनेक छोटी छोटी शाखाएं-टहनियां निकलकर उस वृक्षकी सपत्तिको बढाती है। और अंतमें उस वृक्षपर अनेक गुणरूपी सुंदर फूल फूलते है। जो मुमुक्षु उक्त सांसारिक क्लेदको दूर करना चाहते है उन्हे चाहिये कि वे इस सुंदर शीतल सघन सुगन्धित तरुकी अवश्य ही सेवा करें।

सम्यक्त्व और ज्ञानके पूर्ण हो जानेपर भी जब तक चारित्र पूर्ण नही होता तबतक उस जीवको परममुक्ति प्राप्त नही हो सकती। इसी बातको बताते है:—

१—अत्यत सघन। २—समीचीन योगनिग्रहका नाम गुप्ति है। ३—आगममे बताये हुए क्रमके अनुसार की गई प्रवृत्तिको समिति कहते है।

परमावगाढसुदृशा परमज्ञानोपचारसंभृतया ।
रक्तापि नाप्रयोगे सुचरितापितुरीशमेति मुक्तिश्रीः ॥ २ ॥

परमज्ञान-केवलज्ञानरूपी उपचार-सत्कारके द्वारा सभृत-सत्कृत-अच्छी तरह पुष्ट परमावगाढ सम्यग्दर्शन-अचल क्षायिक सम्यक्त्व वृत्तिरूप अतिचतुर दूतीके द्वारा अनुकूल की गई भी मुक्तिश्री-परममुक्ति-शरीररहित अनंतसम्यक्त्वादि गुणसंपत्तिको जबतक समस्त मोहनीय कर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेके कारण निरंतर निर्मल स्वरूपके धारण करनेवाला आत्यंतिक समीचीन क्षायिक चारित्ररूपी पिता दान नहीं करदेता तब तक वह (गुणसंपत्ति) जीवन्मुक्तके पास गमन नहीं करती ।

भावार्थ-जिस प्रकार अनेक सत्कारोपचारके द्वारा जिसका मनोरथ अच्छी तरह पूर्ण करादिया गया है ऐसी अतिचतुर दूतीके द्वारा संभोगकेलिये आकुलित भी कुलकन्या तबतक अपने उस अभीष्ट नायिकसे अभिगमन नहीं करती जबतक कि उसका पिता उसको दान नहीं कर देता । इसी प्रकार केवलज्ञानने जिसमें अत्यंत अतिशय उत्पन्न करदिया है ऐसे परमावगाढ सम्यग्दर्शनने यद्यपि उस परममुक्तिको अवश्यप्राप्य बना दिया है; फिर भी जबतक अघाति कर्मोंकी निर्जराके कारणभूत समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति नामका परम शुक्लध्यान होकर क्षायिक चारित्र संपूर्ण नहीं होजाता तबतक अपने उस जीवन्मुक्तरूपी शान्तोदात्त नायिकका वह आलिगन नहीं करती । इस कथनसे यह बात स्पष्ट होजाती है कि परममुक्तिका साक्षात् कारण परम चारित्रका आराधन ही है ।

ऊपर पहले श्लोकमें सम्यग्दर्शनके द्वारा स्फुरायमान होनेवाले श्रुतज्ञानके विषयमें जो कुछ कहा है उसका यहां विशेष समर्थन करते हैं:—

ज्ञानमज्ञानमेव स्याद्विना सद्दर्शनं यथा ।

चारित्रमप्यचारित्रं सम्यग्ज्ञानं विना तथा ॥ ३ ॥

जिस प्रकार सम्यग्दर्शनके विना ज्ञान ज्ञान नहीं, अज्ञान ही रहता है; उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानके विना चारित्र भी अचारित्र ही माना जाता है।

भावार्थ—सम्यक्चारित्रकी समृद्धिमें सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान ये दो प्रधान कारण हैं; यह बात पहले लिखी जाचुकी है। इसीका समर्थन करनेकेलिये यहां कहते हैं कि इन दोनोंके विना चारित्रमें समीचीनता भी उत्पन्न नहीं हो सकती। क्योंकि चारित्रमें समीचीनता उत्पन्न कर उसको सफल बनानेके प्रति सम्यग्ज्ञानमें जो कार्यकारिणी शक्ति है वह सम्यग्दर्शनके विना स्फुरायमान नहीं हो सकती।

इसी बातका फिर भी समर्थन करते हैं:—

हितं हि स्वस्य विज्ञाय श्रयत्यहितमुज्झति।
तद्विज्ञानं पुरश्चारि चारित्रस्याद्यसाम्नतः ॥ ४ ॥

मुमुक्षु जीव आत्माके हित—सम्यग्दर्शनादिको अच्छी तरह समझ करके ही उसके सेवन करनेमें और अहित—मिथ्यादर्शनादिकको जानकर उसके छोडनेमें प्रवृत्त हुआ करता है,—अन्यथा नहीं। यह प्रवृत्ति ही सम्यक्चारित्र है जो कि समस्त कर्मोंको निर्मूल करनेवाली है। अत एव यह बात स्वयं सिद्ध होजाती है कि हित और अहितके ज्ञानपूर्वक ही परमार्थतः चारित्र हुआ करता है। और ऐसा होनेपर ही वह अपना कार्य—कर्मक्षय सम्पन्न कर सकता है। अत एव सम्यग्दर्शन और ज्ञानका आराधन करके ही चारित्रके आराधन करनेमें प्रवृत्त होना चाहिये।

सम्यग्ज्ञानपूर्वक चारित्रका पालन करनेमें प्रयत करनेवाला समस्त जगत्पर विजय प्राप्त करलेता है, ऐसा निरूपण करते हैं :—

देहेष्वात्ममतिर्दुःखमात्मन्यात्ममतिः सुखम् ।
इति नित्यं विनिश्चिन्वन् यतमानो जगज्जयेत् ॥ ५ ॥

जो मुमुक्षु सदा इस बातका निश्चय रखता है कि शरीरमें आत्मबुद्धि दुःख या दुःखका कारण है और आत्मामें आत्मबुद्धि रखना सुख अथवा सुखका कारण है, वही अपने उस निश्चयके अनुसार परद्रव्य से निवृत्ति और शुद्ध निज आत्मस्वरूपमें प्रवृत्तिरूप प्रयत्न कर समस्त जगत्पर विजय—सर्वज्ञता प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—शरीर औदारिकादिक पांच प्रकारके हैं । इनमेंसे किसीके औदारिक तैजस कार्माण अथवा वैक्रियिक तैजस कार्माण ये तीन होते हैं और किसीके औदारिक आहारक तैजस कार्मण इस तरह चार होते हैं । इनमेंसे स्व या पर जहा जिसके जैसे सम्भव हों उनमें आत्मप्रत्ययका होना- ये ही मैं हूं और मैं ही ये है-इस तरहकी कल्पना ही दुःख—संसार अथवा उसका कारण है । और उसके विरुद्ध आत्मा में आत्मप्रत्ययका होना-मैं मैं ही हूं और पर पर ही है-इस तरहकी कल्पना सुख तथा सुखका कारण है । ऐसा निश्चय होना ही सम्यग्ज्ञान है । जो मुमुक्षु अपने इस भेदविज्ञानके अनुसार चारित्रका आराधन करता है वही चारित्रको सफल बना सकता और सर्वज्ञता प्राप्त कर सकता है ।

सम्यक्चारित्ररूपी छायावृक्षका मूल दया है ऐसा पहले बता चुके हैं । इसी बातका विशेष रूपसे समर्थन करते हैं और बताते हैं कि विना दयाके सच्चारित्र हो ही नहीं सकताः—

यस्य जीवदया नास्ति तस्य सच्चरितं कुतः ।
न हि भूतद्रुहां कापि क्रिया श्रेयस्करी भवेत् ॥ ६ ॥

जिन मनुष्योंके हृदयमे मुख्य अथवा आरोपित प्राणियोंके त्राणरूप करुणापरिणाम नहीं है उनके समीचीन चारित्र किस तरह हो सकता है ! क्योंकि इस चारित्ररूप धर्मका मूल दया है। जो व्यक्ति जन्तुओंसे द्रोह करता है—उनको कष्ट देता अथवा उनका वध करना चाहता है उसका कोई भी काम कल्याणकर नहि हो सकता।

भावार्थ—दयाशून्य व्यक्तिके स्नान देवार्चन और दानाध्ययनादिक सभी कार्य धर्म या कल्याणके कारण नहीं हो सकते। मूलके विना फल किस तरह प्राप्त हो सकता है ? नहीं हो सकता।

सदय और निर्दय व्यक्तिमे कितना अन्तर है सो बताते है—

दयालोरव्रतस्यापि स्वर्गतिः स्याददुर्गतिः ।
व्रतिनोपि दयोनस्य दुर्गतिः स्याददुर्गतिः ॥ ७ ॥

दयालु पुरुष यदि व्रताचरण नहीं भी करता तो भी उसकेलिये स्वर्गति अदुर्गति-सहज है। व्रतरहित भी सदय व्यक्तिको देवपर्याय अथवा वैसी ही और कोई भी अन्य उत्कृष्ट अभ्युदयकी प्राप्ति कष्टसाध्य नहीं-सुलभ है। एवं इसके विरुद्ध जो व्रतोंका तो पालन करता है-देवार्चन या उपवासादिक तो खूब करता है किंतु दयासे शून्य है— जिसका हृदय सदय नहीं है तो, उसकेलिये दुर्गति— नरकादिक पर्याय अदुर्गति—सुलभ है।

भावार्थ—सदय और निर्दयमे यही अंतर है कि पहलेको तो विना साधन किये भी उत्तम फल प्राप्त हो सकता है और दूसरेको साधन करनेपर भी उत्तम फल प्राप्त नहीं हो सकते; किंतु उल्टा फल प्राप्त होजाता है।

निर्दय व्यक्तिके तपश्चरणादिक व्यर्थ है, और दयालुको पालन न करनेपर भी उनका फल प्राप्त होता है, यही बात दिखाते है:—

तपस्यतु चिरं तीव्रं व्रतयत्वतियच्छतु ।
निर्दयस्तत्फलैर्दीनः पीनश्चैका दयां चरन् ॥ ८ ॥

निर्दय व्यक्ति चिरकालतक तपश्चरण करे-सैकडों वर्षतक अनशन अवमौदर्य या वृत्तिपरिसंख्यानादिक करता रहे, तथा व्रतोंका भी वह चाहे जितना-घोर अनुष्ठान करे, एव दान भी वह चाहे जितना ही क्यों न दे; फिर भी वह उन कार्यों-तपश्चरण व्रत दानादिकाके फलसे दीन-रिक्त-कोरा ही रहता है। किंतु इसके विरुद्ध तपश्चरणादिरहित परंतु एक दयाका पालन-सेवन करनेवाला उन (दानादि) के फलोंसे पीन-पुष्ट होजाता है।

जिसका हृदय सदा दयासे आर्द्र रहा करता है और जो नृशंस-क्रूर व्यक्ति है उन दोनो ही का सिद्धिकेलिये क्लेश उठाना व्यर्थ है। यही बात बताते हैं:-

मनो दयानुविद्धं चेन्मुधा क्लिश्नासि सिद्धये।
मनोऽदयानुविद्धं चेन्मुधा क्लिश्नासि सिद्धये ॥ ९ ॥

हे मुमुक्षो! भव्य! यदि तेरा मन दयासे अनुविद्ध है, यदि उसमे करुणापरिणामोंकी भावना दी गई है तो सिद्धिकेलिये जो तू इतना क्लेश उठाता है सो व्यर्थ है; क्योंकि सिद्धिका सिद्ध होना एक दयाभाव-पर ही निर्भर है। इसी प्रकार तेरा यदि वह मन दयासे रहित है तो भी सिद्धिकेलिये तेरा क्लेश उठाना व्यर्थ ही है। क्योंकि निर्दय व्यक्तिके केवल कायक्लेशादिकसे वह सिद्धि सिद्ध नहीं हो सकती।

विश्वास और त्रासका मूल क्रमसे सदय और निर्दय परिणाम है ऐसा सूचित करते है —

विश्वसन्ति रिपवोपि दयालोर्वित्रसन्ति सुहृदोप्यदयाच्च।
प्राणसंशयपदं हि विहाय स्वार्थमीप्सति ननु स्तनपोपि ॥ १० ॥

दयापर प्राणीका रिपुगण—अपकार करनेवाले भी विश्वास करते है। किंतु जो निर्दय है उससे मि-

त्रगण —उपकार करनेवाले भी डरते है । क्योंकि वे सोचते है कि कहीं हमारे उपकारका बदला उल्टा ही न निकले। ठीक ही है—जो बालक है वह भी—सांसारिक व्यवहारको न जाननेवाला छोटासा बच्चा भी "अभीष्ट-सिद्धिकेलिये अमुक कार्यमे मै जो प्रवृत्ति कर रहा हू उसमें मेरे प्राण रहेंगे या जांयगे" इस तरहके संदेहको छोडकर अपना इष्ट विषय ही प्राप्त करना चाहता है।

भावार्थ--दयालुके पास जानेमे प्राणोंका संदेह नहीं है और सिद्धिकी आशा है। किंतु निर्दयके पास यह बात नहीं है। उसका स्वभाव दयालुसे उल्टा ही है। अत एव उससे सब डरते है।

दयार्द्र मनुष्यपर यदि कोई किसी प्रकारके दोषका आरोप लगाता है तो उससे उसका कुछ अपकार नहीं होता किंतु उल्टे उससे अनेक प्रकारके उपकार होते है, यही बात दिखाते है —

क्षिप्तोपि केनचिद्दोषो दयार्द्रे न प्ररोहति ।
तक्रार्द्रे तृणवत्किंतु गुणग्रामाय कल्पते ॥ [1] ११ ॥

जिस प्रकार छाछसे भीगी हुई जमीनपर तृणका अंकुर ऊग नहीं सकता उसी प्रकार दयार्द्र- जिसका हृदय सदा करुणापरिणामोंसे मृदु रहा करता है उसपर यदि कोई असहिष्णु व्यक्ति प्राणिवध झूठ चोरी या पिशुनता आदि अपवादोंमेंसे किसी भी प्रकारका आरोप लगावे तो वह ऊग नहीं सकता—ठहर नहीं सकता——

१—न विरोहति गुदजा पुनस्तक्रसमाहता । निषिक्तं तद्धि दहति भूमावपि तृणोपलम् ॥

कोई भी रोग छाछका सेवन करनेपर अकुरित-उत्पन्न नहीं होसकते। यदि भूमिपर उसको सींचा जाय तो वह वहाकी घासको भी जलादेती है।

संसारमें अपकीर्ति दुर्गति आदि फल नहीं देसकता किंतु उसमें उसके अनेक प्रकारके गुण-उपकार प्रगट हुआ करते है । उससे उसके अशुभ कर्मोंकी निर्जरा होती अथवा सत्पुरुषोंकी सभामें उसकी साधुता प्रसिद्ध होती, यद्वा जनतामें प्रमाणता प्रख्यात होती है । एवं उस क्षेत्रके अधिष्ठाता देव उसका पक्षपात कर साहाय्य भी किया करते है ।

भावार्थ-दयालु पुरुषपर किसी प्रकारका अपराध नहीं लग सकता । किंतु जो निर्दय है उसके सिरपर दूसरेपर लगाया हुआ अपराध भी आपडता है, ऐसा आश्चर्यके साथ दृष्टांतपूर्वक बताते हैः—

अन्येनापि कृतो दोषो निस्त्रिंशमुपतिष्ठते ।
तटस्थमप्यरिष्टेन राहुमर्कोपरागवत् ॥ १२ ॥

दूसरेके द्वारा किया गया दोष-अपराध, तटस्थ भी निर्दय व्यक्तिके सिर आपडता है । जिस तरहसे कि अरिष्ट विमानके द्वारा होनेवाला अर्कोपराग-सूर्यग्रहण राहुके सिर पडता है ।

भावार्थ-सूर्यग्रहण राहुके द्वारा होता है, यह बात जगत्में प्रसिद्ध है। किंतु वह होता है वस्तुतः राहुके तटस्थ समान मंडलवाले अरिष्ट विमानके आच्छादनसे । यथाः

१ - यहापर ग्रंथकारने राहुको अरिष्टका तटस्थ जो बताया है सो दोनोका समान मंडल है इसलिये बताया है न कि एक क्षेत्रकी अपेक्षा.। क्योंकि दोनोंके क्षेत्रमें बहुत अंतर है। आगमप्रमाणमें भी जो चंद्रमा और सूर्यके नीचे राहु और अरिष्टका विमान बताया है उसका भी अर्थ चद्रमाके नीचे राहु और सूर्यके नीचे अरिष्ट विमान है । क्योंकि ग्रंथान्तरोंमें सूर्यसे अस्सी योजन ऊपर चद्रमाका विमान बताया है। यथा—

णवदुत्तरसत्तसया दससीदीचदुदुगतियचउक्क
तारा रवि ससि रिक्खा बुह भागव अंगिरारसणी

राहुस्स अरिट्ठस्स य किंचूण जोयण अधोगता ।
छम्मासे पव्वते चदरवि छादयन्ति कमा ॥

चद्रमा और सूर्यके कुछ कम एक योजन नीचे राहु और अरिष्टका विमान है जो कि क्रमसे छह महीने बाद पर्वके अंतमें चद्रमा और सूर्यका आच्छादन करते है। और भी कहा है कि:—

राहुअरिट्ठविमाणद्धयादुवरि पमाणअंगुलचउक्क ।
गतूण ससिविमाणा सूरविमाणा कमे होंति ॥

राहु और अरिष्टके विमानस्थानसे चार प्रमाणांगुल ऊपर क्रमसे चंद्रमाका विमान और सूर्यका विमान है। इस आगमकथनसे सिद्ध है कि अरिष्टका दोष तटस्थ राहुको लगता है। इसी प्रकार निर्दय पुरुष चाहे वह तटस्थ—निकटवर्ती अथवा उदासीन ही क्यों न हो, उसको दूसरेका भी दोष लगजाता है।

जिस जीवका एक वार कोई अपकार करे तो वह अपने उस अपकर्त्ताका अनेक वार अपकार करता है यह बात दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते है:—

विराधकं हन्त्यसकृद्विराद्धः सकृदप्यलम् ।
क्रोधसंस्कारतः पार्श्वकमठोदाहृतिः स्फुटम् ॥ १३ ॥

एक वार भी यदि किसी जीवका अपकार किया जाय तो अनंतानुबंधी क्रोधके संस्कार—वासनाके वश होकर वह जीव अपने उस अपकर्त्ताका अनेक वार अपकार करता है। इसकेलिये उदाहरण ढूंढनेकी आवश्यकता नहीं, पार्श्व और कमठका उदाहरण स्पष्ट है।

१—" नामी चोर मारा जाय "।

भावार्थ–जिसका अपकार किया जाता है उसके मनमें बहुधा ऐसा कषायका सस्कार जम जाता है जो कि अनंत भवमें भी नहीं छूटता। और जब मौका पाता है तभी उस कषायके वश होकर वह जीव उससे बदला लेना चाहता है। पार्श्वनाथ भगवान् तेईसवें तीर्थकरके जीवने मरुभूतिके भवमें अपने बड़े भाई कमठका अपकार भी नहीं किया था। फिर भी अपकार समझ कर उसके मनमें जो कषायवासना जमगई और उसके अनुसार समय समयपर जो उसने अपराध किये सो सब पुराणोंमें स्पष्ट है। अत एव किसी भी जीवका कभी भी एक बार भी अपकार नहीं करना चाहिये।

जो व्यक्ति सदा दयाकी भावना— अनुस्मरण करनेवाली है उसको परम प्रमोदरूप फल प्राप्त होता है ऐसा उपदेश देते हैं:—

तत्त्वज्ञानच्छिन्नरम्येतरार्थप्रीतिद्वेषः प्राणिरक्षामृगाक्षीम्।
आलिङ्ग्यालं भावयन्निरतरङ्गस्वान्तः सान्द्रानन्दमङ्गत्यसङ्गः॥ १४॥

मनोज्ञ और अमनोज्ञ पदार्थोंमें क्रमसे होनेवाले राग और द्वेषको जो व्यक्ति—परिग्रहरहित यति तत्त्वज्ञानके द्वारा नष्ट करके और मनको निर्विकल्प बनाकर प्राणिरक्षा—दयारूपी मृगाक्षी-मृगनयनीका उसके गुणोंका पुनः पुनः स्मरण करता हुआ आलिङ्गन करता है वह अत्यत निविड आनंदको प्राप्त होता है।

भावार्थ—दयाके द्वारा आनन्द फल प्राप्त करनेवालेको असङ्ग शब्दसे जो कहा है उसका अभिप्राय अचेतन परिग्रहोंमेंसे जितनेका त्याग किया जासके उतनेका त्यागी किंतु जिनका वह त्याग न कर सके उनके विषयमें ममत्वका त्याग करनेवाला है। इसी प्रकार दयाको मृगनयनी-कामिनी कहनेका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कामिनीका प्रत्येक अंग आनन्दोत्पादक होता है उसी प्रकार दयाका भी प्रत्येक अंश सुखावह होता है।

इस उक्त दयाधर्मकी रक्षाकेलिये विपयत्याग करनेका उपदेश देते हैं:—

सद्वृत्तकन्दलीं काम्यामुद्भेदयितुमुद्यतः।
यैश्छिद्यते दयाकन्दस्तेऽपोह्या विषयाखवः ॥ १५ ॥

मुमुक्षुओंको वे विपयरूपी मूसे दूर ही से विडारदेने चाहिये, जो कि उन भव्योंको स्पृहणीय सम्यक्चारित्ररूपी कन्दलीको आविर्भूत करनेकेलिये उद्यत हुए दयारूपी कन्दको छिन्न भिन्न करडालते है।

भावार्थ—मुमुक्षुओंको इसकेलिये सदा सावधान होकर प्रयत्न करना चाहिये कि अभीष्ट चारित्रकी मूल दयाको कहीं ये विपयरूपी मूसे न कुतर जाय।

इन्द्रियोंमे जो विवेकको नष्ट करनेकी सामर्थ्य है उसको बताते हैं:—

स्वार्थरसिकेन ठकवद्विकृष्यतेऽक्षेण येन तेनापि।
न विचारसंपदः परमनुकम्पाजीवितादपि प्रज्ञा ॥ १६ ॥

स्वार्थलम्पट ठगोंके समान, अपने विपयोंमें लोलुपता रखनेवाली जो इन्द्रियां प्रज्ञा—यथावत् अर्थके ग्रहण करनेकी शक्तिको धारण करनेवाली विशिष्ट बुद्धिको उसकी विचार संपत्तिसे दूर करदेती है। वे अपने निमित्तके वश बल पाकर, इतना ही नहीं—उस प्रज्ञाकी विवेकश्रीका अपहरण ही नहीं करतीं किंतु अनुकम्पा—दयासे भी उसको रहित करदेतीं हैं; जो कि उसका जीवन है।

भावार्थ—जिस प्रकार कोई ठग अपना काम—स्वार्थ सिद्ध करनेकेलिये किसी अतिविदग्ध भी स्त्रीकी संपत्ति भूपणादिका अपहरण करलेता और अंतमें उसको जीवनरहित बना देता है। उसी प्रकार विपयलो-

लुप इन्द्रियां विशिष्ट भी बुद्धिकी संपत्ति— युक्तायुक्तकी विवेकशक्तिको अपहरण करलेती और अंतमें उसको करुणा–परिणामसे भी प्रच्युत कर मिथ्यात्वदशाको प्राप्त करा देती है। अत एव मुमुक्षुओंको सदा इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनेके ही लिये प्रयत्न करना चाहिये।

विषयी पुरुषकी दुर्गति दिखाते हैः

विषयाभिलाषलाम्पट्यात्तन्वन्नृजु नृशंसताम् ।

लालामिवोर्णनाभोऽधः पतत्यहह दुर्मतिः ॥ १७ ॥

इष्ट विषयविशेष आमिष– मांसकी लम्पटता–लोलुपतासे जो दुर्मति–विषयाभिलाषासे दूषित हो गई है धिषणा–बुद्धि जिसकी ऐसा पुरुष सामने ही नृशंसताको बढाता है, आह! कितने कष्टकी बात है कि वह अपनी लाला-लारको बढानेवाले ऊर्णनाभ कीडे–मकडीकी तरह अधोगति—नरकादिकमें ही जा पडता है।

भावार्थ —जिस प्रकार मकडी प्राणिभक्षणके अभिप्रायसे अपने मुखसे ही लार निकाल कर जाला पूरती है किंतु स्वयं उसमें फस जाती और लटक रहती है। उसी प्रकार मांसका लोलुपी मनुष्य नृशंसता करनेके कारण स्वयं ही अधोगतिको प्राप्त हो जाता है।

जो विषयोंमें निस्पृह रहता है उसके इष्टकी सिद्धि होती है ऐसा बताते हैः—

यथाकथंचिदेकैव विषयाशापिशाचिका ।

क्षिप्यते चेत्सलप्यालं सिध्यतीष्टमविघ्नतः ॥ १८ ॥

अधिक कहनेसे क्या प्रयोजन ? क्योंकि और अधिक बोलना प्रलाप ही समझा जायगा। अत एव इतना कहदेना ही पर्याप्त है कि मोक्षार्थी भव्य एक विषयाशा इन्द्रियोंके अभीष्ट विषयोंकी लिप्सारूपी पिशाची–चुडेलका ही यदि किसी तरहसे ज्ञानाराधनासे वैराग्य भावनासे अथवा अन्य किसी उपायसे निराकण करदे–उसको दूर करदे तो उनका अभीष्ट–प्रकृतमें सम्यक् चारित्रका मूलभूत दयाधर्म निर्विघ्नतया--अच्छी तरह सिद्ध हो जाय। क्योंकि उसकी सिद्धिका एकमात्र निबंधन विषयनिस्पृहता ही है।

इस अध्याय और प्रकरणके प्रारम्भमें सुचारित्ररूपी छायावृक्षका मूल दया और स्कन्ध समीचीन व्रत हैं; सो बता चुके है। उसमेंसे दयामूलका समर्थन किया। अब समीचीन व्रत क्रमप्राप्त है। अत एव व्रतोंका स्वरूप बताते है:—

हिंसाऽनृतचुराऽब्रह्मग्रन्थेभ्यो विरतिर्व्रतम्।
तत्सत्सज्ज्ञानपूर्वत्वात् सद्दृशश्चोपबृंहणात् ॥ १९ ॥

हिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रह इन पांच पापोंसे उपरति होनेको–मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनाके द्वारा इन पापोंके छोडनेको व्रत कहते है। ये व्रत सम्यग्ज्ञानपूर्वक होते है, इनके उत्पन्न होने मे सम्यग्ज्ञान कारण है। तथा इनके द्वारा सम्यग्दर्शनकी वृद्धि होती है। अत एव ये समीचीन या प्रशस्त कहे जाते है।

हिंसादि पापोंका विशेष लक्षण आगे चलकर लिखेगे। फिर भी सामान्यसे इतना अवश्य समझलेना चाहिये कि प्रमादके संबंध प्राणोंके व्यपरोपणको हिंसा, असमीचीन वचनोंको झूठ, विना दी हुई वस्तुके ग्रहण करनेको चोरी, मैथुनकर्मको कुशील और मूर्च्छापरिणामोंको परिग्रह अथवा ग्रंथ कहते है।

१–ये पाचो ही व्रत दो प्रकारके है–महाव्रत और अणुव्रत। किंतु अणुव्रतोंमे एक छट्ठा व्रत रात्रिभोजन त्याग और भी बताया है।

इन व्रतोंमेंमें पहला अहिंसा व्रत समस्त जीवोंके विषयमें हुआ करता है। और अचौर्य तथा परिग्रहत्याग समस्त द्रव्यके विषयमें हुआ करता है। एवं सत्यव्रत और मैथुनत्याग द्रव्यके एकदेशमें हुआ करते है। जैसा कि आगममें भी कहा है;—

पढमम्हि सव्वजीवा विदिये चरिमे य सव्वदव्वाणि ।
सेसा महव्वदा खलु तदेकदेसम्हि दव्वाण ॥

समस्त जीव पहले व्रतके विषय है, तीसरा और आन्तिम व्रत समस्त द्रव्योंके विषयमें हुआ करता है और बाकी व्रत द्रव्योंके एकदेश विषयमें होते है ।

इन व्रतोंके विषयमें विशेष वर्णन करनेके पहले उनके माहात्म्यका वर्णन करते है:—

अहो व्रतस्य माहात्म्यं यन्मुखं प्रेक्षतेतराम् ।
उद्द्योतेतिशयाधाने फलसंसाधने च दृक् ॥ २० ॥

उद्योत-शकादिक मलोंका दूर करना, आतिशयाधान-कर्मोंका क्षपण करनेवाली शक्तिमें उत्कर्षताका संपादन, और फलसंसाधन—इन्द्रादि पदसे लेकर निर्वाणपर्यंत अथवा अनेक प्रकारके अपायनिवारणरूप फलका साक्षात् उत्पन्न करना; अपने इन कार्योंके करनेमें सम्यग्दर्शनको जिसका मुख अच्छी तरह देखना पडता है— जिसकी प्रधान सामर्थ्यकी अतिशयरूपसे अपेक्षा रखनी पडती है उस व्रतके माहात्म्यका, अहो, कौन वर्णन कर सकता है ?

भावार्थ—जब कि अचिन्त्य शक्तिके धारक सम्यक्त्वको भी व्रतोंकी अपेक्षा है तब इनका अचिन्त्य मा-

हात्म्य स्वयं सिद्ध है। यद्यपि यहांपर संक्षेपसे एक सम्यक्त्व ही अथवा सम्यक्त्व और चारित्र दो ही आराध्य बताये हैं; किंतु प्रेक्षततरां इस शब्दके साथ जो तरां यह प्रत्यय लगा हुआ है-अपेक्षा रखनेमें अतिशयरूपसे ऐसा जो कहा है— उसमें ज्ञानकी ही अपेक्षा है। क्योंकि उद्द्योतादिक साध्योंके विषयमें सम्यक्त्वको ज्ञानमुखकी भी अपेक्षा रखनी पडती है।

व्रत दो प्रकारके हुआ करते हैं, एक महाव्रत दूसरे अणुव्रत। इन दोनो व्रतोंके स्वामियोंको बताते हैं:—

स्फुरद्बोधो गलद्वृत्तमोहो विषयनिःस्पृहः।
हिंसादेर्विरतः कात्स्न्र्याद्यतिः स्याच्छ्रावकोंशतः॥ २१॥

स्फुरायमान ज्ञान, चारित्रमोहनीयका अभाव, और विषयोंमें निस्पृहता इन तीन गुणोंसे युक्त जो जीव हिंसादिक पापोंका सर्वथा त्याग करता है उसको यति और जो अंशतः--एकदेश त्याग करता है उसको श्रावक कहते हैं।

भावार्थ--महाव्रतोंका स्वामी यति और अणुव्रतोंका स्वामी श्रावक होता है। किंतु दोनों हीमे तीन गुणोंकी आवश्यकता है। प्रथम तो यह कि उस जीवका ज्ञान जीवादिक तत्त्वोंमें जो हेय उपादेय और उपेक्षणीय हैं उनमें उसी प्रकारसे प्रकाशमान--जाग्रत् होना चाहिये। दूसरा यह कि उसका चारित्रमोहनीय कर्म क्षयोपशमरूपसे हीन होता जाना चाहिये। महाव्रतके स्वामियोंके अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान मा-

१—प्रत्याख्यानावरणके क्षयोपशमतक ही कहनेका प्रयोजन यह है कि आजकल यहाके जीवोके सामायिक छेदोपस्थापना और संयमासंयम ही संभव है।

या लोभका क्षयोपशम होना चाहिये। तीसरा यह कि उसको विषयोंमें निस्पृहता हो। दृष्ट श्रुत और अनुभूत भोगोपभोगोंमें उसकी अभिलाषा न हो।

इन व्रतोंका विशेष व्याख्यान करनेकी इच्छासे क्रमानुसार पहले चोदह श्लोकोंमें अहिंसा व्रतकी व्याख्या करते हैं। किंतु अहिंसाका स्वरूप समझनेकेलिये पहले हिंसाके स्वरूपका ज्ञान होना चाहिये। अत एव यहांपर पहले हिंसाका ही लक्षण बताते हैं:--

सा हिंसा व्यपरोप्यन्ते यत त्रसस्थावराङ्गिनाम्।
प्रमत्तयोगतः प्राणा द्रव्यभावस्वभावकाः॥ २२॥

प्रमत्त योगसे त्रस और स्थावर जीवोंके यथासंभव द्रव्य और भाव प्राणका जो व्यपरोपण होता है उसको हिंसा कहते हैं।

भावार्थ—इन्द्रियप्रचारको न रोककर जो प्रवृत्ति करता है उसको अथवा तीव्र कषायके उदयसे युक्त होकर जो हिंसादिके कारणोंमे तो प्रवृत्ति करता किंतु अहिंसामे शठतासे प्रयत्न करता है उसको, यद्वा राजा चोर भोजन और स्त्री उनकी कथाओं पंच इन्द्रियों और निद्रा तथा स्नेहमें जो प्रवृत्त होता है उसको प्रमत्त कहते हे। प्रमत्त पुरुषके मन वचन और कायके द्वारा होनेवाले कर्मको-कार्यको प्रमत्तयोग कहते हैं। अथवा प्रमाद शब्दका अर्थ सकषायता भी होता है। अत एव रागद्वेषादिके वश होकर जो मनवचनादिकी प्रवृत्ति होती है उसको भी प्रमत्तयोग कहते हैं। इस प्रमत्तयोगसे जिन प्राणोंका व्यपरोपण होता है वे प्राण दश प्रकारके हैं। यथाः—

१—जिनका सयोग रहनेतक "जीव जीता है" और वियोग होनेपर "मरगया" ऐसा व्यवहार होता है उनको प्राण कहते हैं।

पचवि इंदियपाणा मणवचिकायेसु तिण्णि बलपाणा ।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण हुंति दह पाणा ॥

पाच इन्द्रिय—स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु श्रोत्र, तीन बल मन वचन काय, एक श्वासोच्छ्वास और एक आयु, ये दश प्राण है। ये दो प्रकारके हुआ करते हैं—एक द्रव्यप्राण दूसरे भावप्राण। चित्सामान्यके सम्बन्धसे उसके अनुसार प्रवृत्ति करनेवाले पुद्गलपरिणामको द्रव्यप्राण, और पुद्गलसामान्यके सम्बन्धसे अनुप्रवृत्ति करनेवाले चित्परिणामको भावप्राण कहते है। ससारी जीव यथायोग्य इन दोनो ही प्राणोंके धारक होते है। इन्ही संसारी जीवोंके दो भेद है—एक त्रस दूसरे स्थावर। उक्त पांच इन्द्रियोंमेंसे आदिकी दो आदि इन्द्रियोंके धारकको त्रस और, एक पहली ही इन्द्रियके धारकको स्थावर कहते है। जो कि इन्द्रियां अपने अपने स्पर्शादिक विषयको पृथक् पृथक् विषय किया करती है—जानती है। अत एव त्रस चार प्रकारके है—द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। इनके भी उत्तर भेद अनेक है। यथाः—

जलूकाशुक्तिशम्बूकगण्डूपदकपर्दिका. ।
जठरकृमिशङ्खाद्या द्वींद्रिया देहिनो मता ॥
कुन्थु पिपीलिका कुम्भी यूकामत्कुणवृश्चिका ।
कर्कोटकेन्द्रगोपाद्यास्त्रींद्रिया मति देहिन ॥
पतङ्गा मशका दशा मक्षिकाकीटगर्मुत ।
पुत्रिकाचञ्चरीकाद्याश्चतुरक्षा शरीरिण ॥
नारका मानवा देवास्तिर्यञ्चश्च चतुर्विधा ।
सामान्येन विशेषेण पञ्चाक्षा बहुधा स्थिता ॥

जोंक शीप शम्बूक गिडोले कौडी, पेटमें पडजानेवाले कीडे और शंख प्रभृति जीव द्वीन्द्रिय हैं। कुन्थु चेंटी कुम्भी जूं खटमल विच्छू कर्कोटक इन्द्रगोप—वर्षातमें होनेवाले मखमली कीडे आदि त्रीन्द्रिय जीव हैं। पतंग मच्छड

डांस मक्खी कीट गर्मुत पुत्रिका भ्रमर इत्यादि चतुरिन्द्रिय जीव है। नारक मनुष्य देव और चार प्रकारके तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीव है। ये सामान्यसे भेद गिनाये है। विशेपतामे वहुत भेद होते है।

उक्त इन्द्रियां दो प्रकारकी होती है–एक भाव दूसरी द्रव्य। भावेन्द्रिय लब्धि और उपयोगरूप है। द्रव्येन्द्रियोंका आकार वताते हैः—

यवनालमसूरातिमुक्तकेन्द्वर्धसन्निभा।
श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वा स्यु स्पर्शनोऽनेकधाकृति॥

कर्ण स्पर्शन जौकी नलीके समान, चक्षु मसूरके समान, घ्राण तिलके फ़लसमान, और जिव्हा अर्ध चन्द्रमाके समान है। किंतु स्पर्शनेन्द्रियके आकार अनेक है।

उक्त द्वीन्द्रियादिक त्रस जीव जहापर पाये जाते हैं उस क्षेत्रको बताते हैंः—

उववादमारणंतियजिणकवाडादिरहिय सेस तसा।
तसनाडिबाहिरह्मि य णत्थित्ति जिणेहि णिद्दिट्ठ॥

उपपादजन्मवाले मारणान्तिक समुद्घातकके और केवल समुद्घातवाले जीवोंको छोडकर बाकीके त्रस जीव त्रसनाडीके बाहर नहीं पाये जाते।

एकेन्द्रिय जीवोंका स्वरूप ऊपर लिख चुके है कि एक स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा ही जिनको ज्ञान होता है। इनके पांच भेद है; पृथिवी जल अग्नि वायु और वनस्पति। यद्यपि इनका कोई बुद्धिपूर्वक व्यापार देखनेमे नहीं आता, फिर भी जिस प्रकार अंडेमें त्रस जीव सिद्ध है उसी प्रकार ये भी जीव हैं; यह बात निश्चित है। कहा भी है कि,

अंडेसु पवट्ठता गब्भट्ठा माणुसा य मुच्छगया।
जारिसया तारिसया जीवा एगिंदिया णेया ॥

जिस तरह अंडोंमें जीव रहा करते है या गर्भमें जीव होते है अथवा मूर्छित मनुष्य हुआ करते हैं उसी प्रकारके एकेंद्रिय जीव भी होते हैं।

इन्हीं एकेन्द्रिय जीवोंको पांच स्थावर कहते हैं। ये दो प्रकारके होते हैं—एक सूक्ष्म दूसरे बादर—स्थूल। सूक्ष्म स्थावर सर्वत्र लोकमें भरे हुए हैं। बादर स्थावरोंमेंसे पृथिवी आदिके भेद क्रमसे इस प्रकार हैं—

मृत्तिका वालुका चैव शर्करा चोपल शिला।
लवणायस्तथा ताम्रं त्रपु सीसकमेव च ॥
रूप्य सुवर्ण वज्र च हरिताल च हिंगुलम्।
मन शिला तथा तुत्थमञ्जन च प्रवालकम् ॥
झीरोलकाभ्रक चैव मणिभेदाश्च बादरा।
गोमेदो रुजकोऽङ्कश्च स्फटिको लोहितप्रभ।
वरिकश्चन्दनश्चैव वर्वरो वक एव च ॥
मोचो मसारगल्वश्च सर्व एते प्रदर्शिता।
सरक्ष्या पृथिवीजीवा यतिभिर्ज्ञानपूर्वकम् ॥

मट्टी बालू शर्करा उपल शिला लवण लोहा तांबा रांग सीसा चांदी सोना वज्र हडताल हिंगुल मेनशिल तूतिया अंजन प्रवाल झीरोलक अभ्रक गोमेद रुचक अंक स्फटिक लोहितप्रभ वैडूर्य चन्द्रकान्त जलकान्त सूर्यकान्त

१—तिकौनी चौकोर आदि अनेक तरहकी अतिरूक्ष ककडी। २- गोल पत्थरके टुकडे। ३—सुरमा। ४—मूंगा। ५—अभ्रककी बालू—भुडभुड। ६—गोरोचनकेसे रंगकी मणि जिसको कर्केतन भी कहते है। ७—राजावर्त मणि जिसका रंग अलसीके फूलकासा होता है। ८—पुलिक मणि जिसका रंग प्रवालकासा होता है।—९ पद्मराग।

गैरिक चन्दन वर्वर[3] वक मोच और मसारगल्ल । ये सब पृथिवी कायिक जीवोंके भेद हैं जिनकी कि महा अहिंसा व्रत के पालक यतियोंको रक्षा करनी चाहिये । पृथिवीके इन्हीं भेदोंमें आठो पृथिवी[7] मेरु आदि पर्वत द्वीप विमान भवन वेदिका प्रतिमा तोरण स्तूप चैत्यवृक्ष जम्बूवृक्ष शाल्मलिवृक्ष धातकी वृक्ष और रत्नाकर आदि अन्तर्भूत हैं ।

इसी प्रकार जलकायके भी अनेक भेद हैं, यथा—

अवश्यायो हिम चव मिहिका विन्दुशीकरा ।
शुद्ध घनोदक चाम्बुजीवा रक्ष्यास्तथव ते ॥

अवश्याय—ओस, हिम—तुषार, मिहिका—ओद-कुहर, विन्दु, शीकर-सूक्ष्म विन्दुकण, शुद्ध-चन्द्रकान्तादिकका अथवा हालका वर्षा हुआ जल, घनोदक—समुद्र तलाव और घनवातादिकसे उत्पन्न हुआ जल, एवं बावडी झरना ओला आदि जलकायिक जीवोंके अनेक भेद हैं । इनकी भी यतियोंको यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये।

अग्निकायिकके भेद—

ज्वालाङ्गारस्तथार्चिश्च मुर्मुर शुद्ध एव च ।
अनलश्चापि ते तेजोजीवा रक्ष्यास्तथैव च ॥

ज्वाला, अङ्गार, अर्चि-किरण, मुर्मुर—अन्ने कण्डेकी अग्नि, शुद्ध—वज्र विजली सूर्यकान्तादिकसे उत्पन्न

१–रुधिर मणि, इसका रग गेरुकासा होता है । २–मणिविशेष, इसका वर्ण और गध चदनकासा होता है । ३–मरकत मणि—पन्ना । ४–पुखराज । ५—नीलम । ६–मणिविशेष, जिसका रग मूगाकासा होता है । ७—सात नरक-भूमि और एक सिद्धशिला ।

हुई, अनल—सामान्य, इसके सिवाय स्फुलिङ्ग वडवानल नन्दीश्वरधूमकुण्ड, और अग्निकुमारोंकी मुकुटानल आदि अग्निकायिक जीवोंके अनेक भेद है जिनकी कि यतियोंको रक्षा करनी चाहिये।

वायुकायिकके भेद—

वात उद्भ्रमकश्चान्य उत्कलिर्मण्डलिस्तथा।
महान् घनस्तनुर्गुञ्जास्ते पाल्या पवनाङ्गिन ॥

वात उद्भ्रम उत्कालि मण्डालि महान् घन गुञ्जा इत्यादि वायुके अनेक भेद हैं। सामान्य वायुको वात, जो घूमती हुई ऊपरको चली जाती है उसको उद्भ्रम, लहरियोंको उत्कालि, जमीनमे लगी हुई किंतु घूमती हुई जो चलती है उसको मंडालि, जो वृक्षादिकको भी उखार डाले ऐसी आंधीको महान्, सघनको घन, पंखे आदिके द्वारा की गई पतली वायुको तनु, उदरमें रहने वाली पांच प्रकारकी प्राण अपान व्यान संव्यानरूपको गुञ्जा कहते हैं। लोकाच्छादक एवं भवन विमानोंकी आधारभूत जो वायु है वह भी इसीमें अन्तर्भूत हो जाती है। इन वायुकायिक जीवोंकी भी यतियोंको रक्षा करनी चाहिये।

वनस्पातिके भेद गिनाते हैः—

मूलाग्रपर्वकन्दोत्था स्कन्धबीजसमुद्भवा ।
सम्मूर्छिमास्तथानन्तकाया प्रत्येककायिका ॥
त्वग्मूलकन्दपत्राणि प्रवाल प्रसव फलम्।
स्कन्धो गुच्छस्तथा गुल्मस्तृण वल्ली च पर्व च ॥
शैवल पणक किण्व कवक कुहणस्तथा।
बादरा सूक्ष्मकायास्तु जलस्थलनभोगता ॥
गूढसन्धिशिर पर्वसमभङ्गमहीरुकम्।

छिन्नोद्भव च सामान्य प्रत्येकमितरद्द्वपु ॥
वल्लीवृक्षतृणाद्य स्यादेकाक्ष च वनस्पति ।
परिहार्या भवन्त्येते यतिना हरिताङ्गिन ॥

वनस्पति दो प्रकारकी होती है; एक साधारण, दूसरी प्रत्येक । जिसका शरीर साधारण है–जहांपर एक ही शरीरमे मामान्य रूपसे अनन्त निगोद जीव रहते हैं उसकों साधारण या अनन्तकाय कहते है । यथा स्नुही दूधी, गुड्ची इत्यादि । जिस शरीरमें मुख्यतया एक ही जीव रहता है–जिन वनस्पति जीवोका शरीर भिन्न भिन्न होता है उसको प्रत्येक शरीर कहते है; जैसे सुपारी नारियल । इसके दो भेद है, एक सप्रतिष्ठित दूसरा अप्रतिष्ठित । जिसके आश्रयसे दूसरे निगोद जीव भी रहें उसको सप्रतिष्ठित और जिसके आश्रयसे निगोद जीव न रहें उसको अप्रतिष्ठित कहते है । यथाः—

एकमेकस्य यस्याङ्गं प्रत्येकाङ्गं स कथ्यते ।
साधारण त यस्यागमपरैर्बहुभि समम् ॥

जिस एक जीवका एक ही शरीर होता है उसको प्रत्येकशरीर कहते है, और जिस शरीरमें दूसरे भी बहुतसे जीव साथमें रहें उसको साधारण कहते है । साधारण—अनन्तकाय वनस्पतियोंकी त्याज्यताके विषयमें कहा है किः—

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम् ।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम् ॥

साधारणोंमें एकके मरने मारनेपर अनन्त जीवोंकी मृत्यु होती है अत एव उन सबका त्याग अवश्य करदेना चाहिये ।

२९७

उक्त वनस्पति अनेक प्रकारकी होती हैं—कोई तो मूलसे ही उत्पन्न होती हैं; जैसे हल्दी अदरक इत्यादि । कोई अग्रसे उत्पन्न होती हैं; जैसे गुलाब बेला चमेली इत्यादि । कोई पर्वसे उत्पन्न होती हैं; जैसे ईख बेत आदि । कोई कन्दसे उत्पन्न होती हैं; जैसे सकलकन्दी पिण्डालू इत्यादि । कोई स्कन्धसे उत्पन्न होती है; जैसे पलाश आदिक । और कोई बीजसे उत्पन्न होती है जैसे जौ गेहूं मूग मोठ आदि । ये मूलादिकसे उत्पन्न होनेवाली सभी वनस्पती सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित दोनो तरहकी होती है । इसके सिवाय सम्मूर्छन वनस्पती भी होती है जो कि मूलादिक बीजके विना ही अपनी उत्पत्तिके योग्य पुद्गलोंके मिलजानेपर उत्पन्न होजाया करती हैं; जैसे घास आदि । क्योंकि देखा जाता है कि कितने ही जीव विना बीजके भी उत्पन्न होजाया करते है; जैसे कि [1]शृङ्गसे सार और गोवरसे विच्छू । उसी प्रकार सम्मूर्छन वनस्पति भी है । इससे वनस्पति दो प्रकारकी समझनी चाहिये; एक बीजोद्भव दूसरी सम्मूर्छन ।

त्वचा मूल कन्द पत्र प्रवाल प्रसव फल स्कन्ध गुच्छा गुल्म तृण वल्ली पर्व शैवल पणक किण्व कवक और कुहण । ये सब बादर वनस्पतियोंके भेद हैं । इनके सिवाय सूक्ष्म वनस्पति भी है जो कि स्थल और आकाश सर्वत्र व्याप्त है ।

वृक्षकी छालको त्वचा, जडको मूल आर गड्डाको कन्द कहते हैं । पत्ते प्रसिद्ध हैं । जिसपर केवल पत्ते ही आते है, फल फूल नहीं आते उसको पत्र, जिसपर विना फूलके ही फल आजाते है उसको फल, जिसपर केवल फूल ही आते हैं फल नहीं आते उसको पुष्प वनस्पति कहते है । स्कन्धसे पर्वपर्यन्त शब्दोंका अर्थ स्पष्ट है । जलमें जो हरी हरी काई होती है उसको शैवल, गीली ईंट जमीन और दीवालपर जो काई लग जाती है उसको पणक, वर्षाकालमें उत्पन्न होनेवाली छत्राकारादि वनस्पतियोंको किण्व, जटाकार वनस्पतिविशेषको कवक. और आहार कांजी आदिपर जो फफूंदा आजाता है उसको कुहण कहते है ।

१-मूलमे पत्र शब्दसे वृक्षका अवयव पत्ता और प्रवाल शब्दसे पत्र जातिकी वनस्पतिके बतानेका प्रयोजन है ।

उक्त पृथिवी कायिकादिक पांचों ही स्थावर बादर है, पांचों ही सूक्ष्मकाय भी होते हैं; जिनके कि अंगुलासंख्यातवें भाग शरीरनाम कर्मका उदय रहता है।

जिनकी संधि सिरा और पर्व गूढ अदृश्यमान रहता है, जो त्वचारहित और तन्तुवर्जित है, एवं छिन्न होनेपर भी जो उलह आती है उसको सप्रतिष्ठित प्रत्येक और बाकी वल्ली वृक्ष तृण आदिको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं।

प्रत्येक शरीर और साधारण शरीरवाले जीवोंकी यतियोंको रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि ये सब हरित कायके जीव हैं। ये जीव हैं यह बात आगम और युक्ति दोनोंसे सिद्ध है। क्योंकि संपूर्ण त्वचाके उपाट लेनेपर उनका मरण हो जाता है और उनमें आहारादि संज्ञाओंका अस्तित्व भी पाया जाता है। जलसे वनस्पतियां हरी रहती हैं; इससे उनमें आहार संज्ञाका, छूनेसे संकुचित होती हैं; इससे उनमें भयसंज्ञाका, कामिनियोंके कुरला आदिसे हर्ष विकासादिक होता है; इससे उनमें मैथुनसंज्ञाका, और जिधर धन होता है उसी दिशामें जड अधिक जाती है; इससे उनमें परिग्रहसंज्ञाका सद्भाव सिद्ध होता है।

ऊपर निगोद जीवोंका उल्लेख किया है। अत एव उसका स्वरूप भी यहां बता देना उचित है। वह आगममें इस प्रकार बताया है:—

साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं॥
जत्थेक्कु मरदि जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं।
चकमइ जत्थ इक्को चकमणं तत्थऽणंताणं॥
एकणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा।
सिद्धेहिं अणंतगुणा सव्वेण वि तीदकालेण॥

साधारण-निगोद जीवोंका लक्षण साधारण ही है। क्योंकि एक जगहपर जितने अनंतानत निगोद जीव रहते है उन सबका समान आहार और समान ही श्वासोच्छ्वासका ग्रहण होता है। उनमेंसे यदि एक मरता है तो वे अनन्तानन्त भी मरजाते है। और एक यदि उत्पन्न होता है तो अनन्तानन्त उत्पन्न होते है। एक निगोदियाके शरीरमे द्रव्यप्रमाणकी दृष्टिसे सिद्धोंसे और समस्त भूतकालसे अनतगुणे जीव रहते है। निगोद जीव दो प्रकारके होते हैं-नित्यनिगोद आर अनित्यनिगोद। यथाः—

त्रसत्व ये प्रपद्यन्ते कालाना त्रितयेपि नो।
त्रया नित्यनिगोतास्ते भूरिपापवशीकृता ॥
कालत्रयेपि यैर्जीवैस्त्रसता प्रतिपद्यत।
सन्त्यनित्यनिगोतास्ते चतुर्गतिविहारिण ॥

अत्यंत पापके वश हुए जिन जीवाने तीन कालमें भी त्रम पर्याय नही प्राप्त की उनको नित्यनिगोद कहते है। और जिन्होंने तीन कालमे कभी भी त्रस पर्याय प्राप्त कर ली है उनको अनित्यनिगोद कहते है।

पृथिवी आदिक जो पाच स्थावरोके भेद गिनाये है उनमे प्रत्येकके चार चार भेद है—सामान्य, काय, कायिक और जीव। जैसे कि पृथिवी, पृथिवी काय, पृथिवी कायिक, पृथिवी जीव। इनका लक्षण आगममे इस प्रकार बताया है:—

१—गोमट्टसार जीवकाण्डम नित्यनिगोदका स्वरूप इस प्रकार कहा है-

अत्थि अणता जीवा जेहि ण पत्तो तसाण परिणामो,
भावकलकसुपउरा णिगोदवास ण मुचति ॥

जिन्होने अवतक व्यवहार राशि प्राप्त नहीं की है उनको नित्यनिगोद कहते हे।

क्ष्माद्या साधारणा क्ष्मादिकाया जीवोज्झिता श्रिता. ।
जीवैस्तत्कायिका ज्ञेयास्तज्जीवा विग्रहेतिगे ॥

सामान्य पृथिवीको पृथिवी, जिसको जीवने शरीर वनाकर छोंडदिया है उसको पृथिवी काय, जिसको जीव शरीर वनाकर रह रहा है उसको पृथिवी कायिक, विग्रहगतिमें रहने वाले उन जीवोको जिनके कि पृथिवी नाम कर्मका उदय है; पृथिवी जीव कहते है। जिस प्रकार यहां पृथिवीके भेद वताये उसी प्रकार जलादिकके भी समझना । इनमें अन्त्यके जो दो जीव है उनकी सयमियोंको रक्षा करनी चाहिये । इन जीवोंके शरीरका आकार इस प्रकार वताया है:—

समानास्ते मसूराम्भोविन्दुसूचीव्रजध्वज ।
धराम्भोग्निमरुत्काया क्रमाचिन्त्यास्तरुत्रसा ॥

पृथिवीकायका मसूरके समान, जलकायका जलविन्दुके समान, अग्निकायका सुइयोंके समूहके समान और वायुकायका आकार ध्वजाके समान है। किंतु वनस्पति और त्रस जीवोंका आकार एक प्रकारका नहीं; विविध प्रकारका है।

ऊपर जो प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित भेद गिनाये है वे केवल वनस्पतिके ही नहीं; समस्त संसारियोंके है। यथा:—

प्रत्येककायिका देवा श्वाभ्रा केवलिनोद्वयम ।
आहारकधरातोयपावकानिलकायिका ॥
निगोतैर्बादरै सूक्ष्मैरेते सन्त्यप्रतिष्ठिता ॥
पञ्चाक्षा विकला वृक्षजीवा शेषा प्रतिष्ठिता ॥

देव नारकी दोनो प्रकारके केवली पृथिवी जल अग्नि और वायुकायिक जीवोंके शरीर तथा आहारक श-

रीर सूक्ष्म एवं बादर निगोदियाओंसे प्रतिष्ठित नहीं हैं। बाकीके पंचेन्द्रिय विकलेन्द्रिय और वनस्पति जीवोंके शरीर प्रतिष्ठित है।

जिन प्राणोंके व्यपरोपणमें हिंसाका महापाप लगता है वे प्राण दश है ऐसा पहले बताचुके हैं। किंतु किस संसारी जीवके कितने प्राण है यह बात आगमके अनुसार समझलेनी चाहिये। जो कि इस प्रकार है—

सर्वेष्वङ्गेन्द्रियायूंषि पूर्णेष्वान शरीरिषु।
वाग् द्वित्र्यादिहृषीकेषु मनः पूर्णेषु संज्ञिषु॥
ते संज्ञिनि दशैकैको हीनोऽन्यत्वन्त्ययोर्द्वयं।
अपर्याप्तेषु सप्ताद्योरेककोऽन्येषु हीयते॥

कायबल इंद्रिय और आयु ये तीन प्राण सभी जीवोंके होते हैं। श्वासोच्छ्वास पर्याप्तकोंके ही होता है। वचनबल द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय आदि पर्याप्तकोंके और मनोबल प्राण पर्याप्त संज्ञियोंके ही होता है। इस प्रकार पर्याप्तकोंमें संज्ञियोंके दश और, आगे चलकर एक एक प्राण कम होता गया है। किंतु अन्तिम-एकेन्द्रियके दो प्राण कम होते हैं। अपर्याप्तकोंमें संज्ञी असंज्ञी पंचेन्द्रियके मन वचन और श्वासोच्छ्वासको छोडकर सात प्राण होते हैं। और आगे चलकर एक एक इन्द्रियप्राण कम होता गया है। अत एव चतुरिन्द्रियोंके छह, त्रीन्द्रियोंके पांच, द्वीन्द्रियोंके चार और एकेन्द्रियोंके तीन प्राण होते हैं।

१—संज्ञी पंचेंद्रियोंके पांच इंद्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दश, असंज्ञी पंचेंद्रियोंके मनको छोड कर नव, चतुरिन्द्रियोंके श्रोत्रको छोडकर आठ, त्रीन्द्रियोंके चक्षुको छोडकर सात, द्वीन्द्रियोंके घ्राणको छोड कर छह और एकेन्द्रियोंके रसना तथा वचनको छोडकर चार प्राण होते हैं।

ऊपर पर्याप्तक और अपर्याप्तक दो भेद करके प्राणोंकी गणना की है। किंतु यह नहीं बताया कि पर्याप्त किसको कहते है। अत एव इन दोनोंका लक्षण आगमके अनुसार यहां बता देते हैः--

गृहवस्त्रादिक द्रव्य पूर्णापूर्णं यथा भवेत ।
पूर्णेतरास्तथा जीवा पर्याप्तेतरनामत ॥
आहाराङ्गेन्द्रियप्राणवाच पर्याप्तयो मन ।
चतस्र पञ्च षट् चेकद्व्यक्षादि संज्ञिना च ता ॥
पर्याप्ताख्योदयाज्जीव स्वस्वपर्याप्तिनिष्ठित ।
वपुर्यावदपर्याप्त तावन्निर्वृत्त्यपूर्णक ॥
निष्ठापयेन्न पर्याप्तिमपूर्णस्योदये स्वकाम ।
सान्तर्मुहूर्तमृत्यु स्याल्लब्ध्यपर्याप्तक स तु ॥

जिस प्रकार संसारमें मकान वस्त्र वर्तन आदि द्रव्य पूर्ण और अपूर्ण दो प्रकारके हुआ करते है। उसी प्रकार संसारी जीव भी पूर्ण अपूर्ण दो तरहके हुआ करते है। इन्हीको पर्याप्त अपर्याप्त कहते है। आहारादि परिणमन जिससे होते हैं उस शक्तिके कारणोंकी निष्पत्ति-पूर्णताको पर्याप्ति कहते हैं। ये पर्याप्ति छह प्रकारकी है-आहार शरीर इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास भाषा और मन। जिन जीवोंकी पर्याप्तिनाम कर्मके उदयसे अपने अपने योग्य पर्याप्तयां पूर्ण होजाती हैं उनको पर्याप्त और जबतक उनकी शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तबतक उनको निर्वृत्त्यपर्याप्त कहते है। एकेन्द्रियोंके चार द्वीन्द्रियादिकोंके पांच और सज्ञी पंचेन्द्रियोंके छह पर्याप्ति होती है। जो जीव अपर्याप्तिनाम कर्मके उदयसे अपनी पर्याप्तियोको पूर्ण नहीं कर सकते और अन्तर्मुहूर्तमे ही मृत्युको प्राप्त होजाते है उनको लब्ध्यपर्याप्तक कहते है।

१—आहारपरिणामादिशक्तिकारणसिद्धय ।
पर्याप्तय षडाहारदेहाक्षोच्छ्वासवाङ्मन ॥

इन्हीं [सर्व संसारी] जीवोंके चौदह जीवसमास भी गिनाये है। यथाः—

समणा अमणा णेया पचेंदिय णिम्मणा परे सव्वे।
बादरसुहुमेइंदी सव्वे पज्जत्त इदरा य ॥

पंचेन्द्रियोंके दो भेद–समनस्क और अमनस्क; और सभी अमनस्क–चतुरिन्द्रिय त्रीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय, एवं एकेन्द्रियके दो भेद बादर और सूक्ष्म। ये सातो ही प्रकारके जीव पर्याप्त भी होते है और अपर्याप्त भी। अत एव जीवसमासके भेद चौदह है।

गुणस्थान और मार्गणाओंकी अपेक्षासे भी जीवोंके चौदह चौदह भेद होते है। चौदह गुणस्थानोंके नामः—

मिथ्यात्त्वं सासनो मिश्रोऽसंयतोऽणुव्रतस्तत।
सप्रमादेतराऽपूर्वानिवृत्तिकरणास्तथा।
सूक्ष्मलोभोपशान्ताख्यो निर्मोहो योग्ययोगिनौ।

मिथ्यादर्शन सासन मिश्र असंयत अणुव्रत प्रमत्त अप्रमत्त अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण सूक्ष्मलोभ उपशांतमोह क्षीणमोह सयोगी अयोगी। ये संसारी जीवोंके चौदह भेद है। जो मुक्त जीव है वे इन गुणस्थानोंसे रहित है।

चौदह मार्गणाओंके नामः—

गतय करण कायो योगो वेद क्षुधादय।
वेदन सयमो दृष्टिर्लेश्या भव्य सुदर्शनम् ॥
सञ्ज्ञी चाहारक प्रोक्तास्ताश्चतुर्दश मार्गणा।
मिथ्यात्वादयो जीवा मार्गणासु सदादिभि ॥

गति इन्द्रिय काय योग वेद कषाय ज्ञान संयम दर्शन लेश्या भव्य सम्यक्त्व संज्ञा आहारक । ये चौदह मार्गणाएं है । इन गुणस्थानों और मार्गणाओंके द्वारा तथा मार्गणाओंमे सदादि अनुयोगोके द्वारा गुणस्थानोंको लगाकर विस्तारके साथ और आगमके अनुसार जीवोंके भेदप्रभेदोंका और उनके स्वरूपका भले प्रकार निश्चय करके यतियोंको उन जीवोंकी रक्षा करनी चाहिये ।

सारांश —जीवोंके भेदों और उनके स्वरूपको भले प्रकार जाने विना अहिंसा महाव्रत नही पल सकता । अत एव यहांपर जीवतत्वके विषयमें संक्षेपसे वर्णन किया है । आगममें उनका विशेष स्वरूप कहा है; वहांसे उसको देखकर विशेष निश्चय करना चाहिये । और जीवोंकी रक्षा कर यतियोंको पूर्ण अहिंसा व्रत पालना चाहिये ।

प्रमत्तयोगसे होनेवाले प्राणव्यपरोपणको हिंसा कहा है । किंतु वस्तुत प्रमत्तयोग ही हिंसा है, ऐसा उपदेश देते हैं:—

रागाद्यसङ्गतः प्राणव्यपरोपेऽप्यहिंसकः ।
स्यात्तदव्यपरोपेऽपि हिंस्रो रागादिसंश्रितः ॥ २३ ॥

यदि जीव राग द्वेष या मोहरूप परिणामोंमे आविष्ट नहीं है तो प्राणोंका व्यपरोपण होजानेपर भी वह अहिंसक है । और यदि रागद्वेषादि कषायोंसे युक्त है तो प्राणोंका वियोग न होनेपर भी हिंसक है ।

१—गुणस्थान व मार्गणादिकका विशेष स्वरूप जीवकाण्डादिकोंमें देखना चाहिये । यहा संक्षेप कथनके कारण नाममात्र ही उल्लेख किया है ।

२—दया दया सब ही कहें। दया न जाने कोय ।
जीवजाति जाने विना। दया कहांसे होय ॥
अ. ध ३९

भावार्थ—हिंसा और अहिंसा प्रमाद या कपायरूप परिणामोंके होने और न होनेपर निर्भर है। जैसा कि कहा भी है:—

मरदु व जियदु व जीवो अजदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि वधो हिंसामत्तेण समिदस्स ॥

जीव मरे या जिये, यत्नाचार न रखनेवालेके हिंसा निश्चित है। और जो यत्न रखनेवाला तथा समीचीन प्रवृत्ति करनेवाला है उसके हिंसामात्रसे ही बंध नहीं हो जाता।

प्रश्न—यदि परिणामोंपर ही हिंसा निर्भर है तो प्रमत्तयोगको ही हिंसा कहना चाहिये। उसके देना चाहिये। उसके साथ प्राणव्यपरोपणके भी उपदेश देनेसे क्या फायदा?

उत्तर—हिंसा प्राणव्यपरोपणरूप ही है; किंतु उसका कारण प्रमत्तयोग है। और वह समर्थ कारण है। अत एव कारणमें कार्यका उपचार करके उसको हिंसा कहा है। क्योंकि प्रमत्त योगसे प्राणोंका व्यपरोपण होता ही है। यदि बाह्य प्राणोंका घात न होगा तो भाव प्राणोंका होगा, पर होगा अवश्य। इसी बातका समर्थन करते हैं:—

प्रमत्तो हि हिनस्ति स्वं प्रागात्माऽऽतङ्कतायनात्।
परो नु म्रियतां मा वा रागाद्या ह्यरयोऽङ्गिनः ॥२४॥

दुष्कर्मोंका संचय करनेके कारण अथवा व्याकुलतारूप दुःखको उत्पन्न करने वा बढानेके कारण प्रमत्त जीव पहले अपना तो घात कर ही लेता है। फिर दूसरा जीव मरो वा मत मरो। क्योंकि जीवोंके वास्तविक वैरी तो रागादिक कषाय ही हैं; न कि दूसरोंका प्राणवध। क्योंकि दुःखोंकी प्राप्ति और उनके कारणोंका संचय इसीसे होता है। कहा भी है कि:—

न कर्मवहुल जगन्न चलनात्मक कर्म वा ।
न चककरणानि वा न चिदचिद्वधो वन्धकृत् ॥
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः ।
स एव किल केवल भवति वन्धहेतुर्नृणाम् ॥

वंधका कारण न तो जगत् ही है, जिसमें कि अनेक प्रकारके काम हुआ करते है। और न यह चंचल काम ही है। एवं न तो अनेक करण-इन्द्रियां ही वंधका कारण है और न चेतन तथा अचेतन जीवोंका वध ही उसका कारण है। उसका कारण निश्चयसे केवल वह उपयोगस्वरूप आत्मा ही है जो कि रागादिकके साथ एकता प्राप्त करलेता है; क्योंकि विशुद्ध परिणामोंके धारक जीवके उसके शरीरका निमित्त पाकर होजानेवाला परप्राणियोंके प्राणोंका व्यपरोपण ही यदि वधका कारण हो जाय तब तो फिर कोई मुक्त ही नहीं हो सकता। क्योंकि योगियोंके भी वायुकायिकादि जीवोंका वध होता है। उस निमित्तके रहते हुए वे मुक्त किस तरह हो सकते है। यथाः—

जइ सुद्धस्स य वधो होदि हि वहिरंगवत्थुजोएण ।
णत्थि दु अहिंसगो णाम वाउकायादिवधहेदू ॥

यदि केवल वहिरंग वस्तुके सम्बन्धसे शुद्ध जीवके भी वंध होने लगे तब तो कोई अहिंसक ही नहीं रह सकता। क्योंकि वायुकायिकादि जीव वधके कारण सर्वत्र मौजूद है। इसी अर्थको ग्रंथकार स्पष्ट करते है:—

तत्त्वज्ञानबलाद्रागद्वेषमोहानपोहतः ।
समितस्य न बन्धः स्याद् गुप्तस्य तु विशेषतः ॥ २५ ॥

उपर्युक्त तत्त्वज्ञानके वलसे रागद्वेष और मोहरूपी वैभाविक परिणामोंका परित्याग करदेनेवाले जीवके, वह समितियोंमें प्रवृत्ति करे—अपना प्रत्येक गमनागमनादिक कार्य यत्न अथवा सावधानतापूर्वक करे तो,

कर्मका बंध नहीं होता। यदि वह गुप्तियोंमें परिणत हो जाय—मानसिक वाचिक और कायिक क्रियाओंका निरोध ही कर दे तब तो विशेष रूपसे बंध नहीं हो सकता।

भावार्थ—समिति प्रवृत्तिरूप है। अत एव वहांपर योग और कुछ कषायांश दोनो ही पाये जाते है। इसीलिये वहां कुछ शुभ कर्मोंका बंध भी होता है। किंतु गुप्ति योगके निग्रहरूप है। अत एव उसके होनेपर विशेषतया बंध नही हो सकता—पूर्ण योगनिरोध होजानेपर तो बिल्कुल ही बंध नहीं होता। अत एव समितिपरिणतकी अपेक्षा गुप्तिपरिणतके विशेषतया बंधका निषेध किया है।

रागादि कषायोंका उत्पन्न होना ही हिंसा है और उनका उत्पन्न न होना अहिंसा है, जिनागमके इस परमोत्कृष्ट रहस्यका निश्चय कराते है:—

परं जिनागमस्येदं रहस्यमवधार्यताम्।
हिंसा रागाद्युत्पत्तिरहिंसा तदनुद्भवः ॥ २६ ॥

हृदयमें इस बातको अच्छी तरहसे धारण करलो—निश्चित समझो कि सर्वज्ञ भगवान्‌के उपादिष्ट समस्त आगमका यही परमोत्कृष्ट रहस्य—अन्तस्तत्त्व है कि रागद्वेष और मोहरूप परिणामोंका प्रादुर्भूत होना ही हिंसा और इन कषायभावोंका उत्पन्न न होना ही अहिंसा है।

हिंसाके कारण एकसौ आठ है। उनका त्याग करनेपर ही अहिंसक हो सकता है; ऐसी शिक्षा देते है:—

कषायोद्रेकतो योगैः कृतकारितसम्मतान्।
स्यात्संरम्भसमारम्भारम्भानुज्झन्नहिंसकः ॥ २७ ॥

क्रोधादि कषायोंके उद्रेकसे और मन वचन कायके द्वारा किये गये कराये गये और अनुमोदित संरम्भ समारम्भ और आरम्भका छोडनेवाला ही अहिंसक हो सकता है।

भावार्थ—प्राणव्यपरोपण आदिक कार्योंमे प्रमादयुक्त पुरुषके प्रयत्नावेशको संरम्भ कहते है। और इन्द्रिय कषाय अव्रत आदि प्रवृत्तिकी कारणभूत अभिलाषाको अथवा साध्यरूप हिंसादिक क्रियाओंके साधनोंका अभ्यास करनेको समारम्भ कहते है। तथा हिंसादिके संचित उपकरणोंके कार्यमें सबसे पहले प्रवृत्त होनेको आरम्भ कहते है। क्रोधके वश होकर कायके द्वारा इन तीनोंका स्वय करना अथवा दूसरेसे कराना यद्वा कोई दूसरा करे तो उसकी प्रशंसा करना। इसी प्रकार मानादिकके वश होकर करने कराने आदिको गिना जाय तो छत्तीस भंग होते है। क्योंकि सरम्भादिक तीनो भेदोको कृत कारित अनुमोदना इन तीनसे और क्रोध मान माया लोभ इन चारसे गुणा किया जाय तो छत्तीस भेद होते है। ये भेद कायकी अपेक्षासे है। किंतु इसी प्रकार वचन और मनकी अपेक्षासे भी होते है। अत एव उक्त छत्तीस भेदोंका यदि मन वचन काय इन तीनोंसे गुणा किया जाय तो जीवाधिकरणरूप आस्रवके भेदोंके १०८ प्रकार होते है। इनमेसे किसी भी भंगरूप परिणत जीव हिंसक ही है; क्योंकि वह अपने भावप्राणोंका और दूसरोंके द्रव्य तथा भाव दोनो ही प्राणोंका व्यपरोपण करताहै। अत एव इन समस्त भावोंसे रहित ही जीव अहिंसक हो सकता है। जैसा कि कहा भी है:—

रत्तो वा दुट्ठो वा मूढो वा ज पउजए पउग।
हिंसावि तत्थ जायदि तम्हा सो हिंसओ होइ॥

जिस किसी भी कार्यमें जीव रागी द्वेषी अथवा मोही होकर प्रवृत्ति करता है उसीमें हिंसा होती है और ऐसा करनेवाला जीव हिंसक कहाता है।

ऊपर सामान्यसे क्रोधादिककी अपेक्षा एकसौ आठ भेद गिनाये है; किंतु अनंतानुबन्धी आदिकी अपेक्षा विशेष भेद भी होते है। सो आगमके अनुसार पृथक् पृथक् समझलेने चाहिये।

ऊपर भावहिंसाका वर्णन किया है। किंतु उसके भी निमित्तभूत परद्रव्य है। अत एव परिणामोंकी विशुद्धिके लिये—अहिंसाभावकी निर्मलताकी सिद्धिके लिये उस परद्रव्यकी भी निवृत्ति करनेका उपदेश देते हैं:—

हिंसा यद्यपि पुंसः स्यान्न स्वल्पाप्यन्यवस्तुतः।
तथापि हिंसाऽऽयतनाद्विरमेद्भावशुद्धये ॥ २८ ॥

यद्यपि पर वस्तुके सम्बन्धसे—प्रमत्त परिणामोंके विना केवल बाह्य द्रव्यके ही निमित्तसे जीवको जरा भी हिंसाका दोष नहीं लगता, तो भी भावशुद्धिकेलिये-आत्मा और मनमें निर्मलताकी स्थिरता और वृद्धिकेलिये-मोहनीय कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए रागद्वेषरूप कालुष्यका उच्छेद करनेकेलिये भावहिंसाके निमित्तभूत बाह्य पदार्थ-मित्र शत्रु प्रभृतिसे भी मुमुक्षुओंको विरत होना चाहिये।

भावार्थ—हिंसाके उपकरणभूत जीवाधिकरणोंकी तरह अजीवाधिकरणोंका भी त्याग करना चाहिये; जो कि अजीवकी पर्यायरूप और हिंसाके आयतन--भावहिंसाके कारण हैं। इस अजीवाधिकरणके चार भेद हैं- निर्वर्तना निक्षेप संयोग और निसर्ग। किसी वस्तुके इस तरहसे प्रयुक्त करने अथवा बतानेको कि जिससे वह हिंसाका उपकरण-साधन हो सके, निर्वर्तना[1] कहते हैं। यह दो प्रकारकी होती है; एक शरीरनिर्वर्तना, दूसरी उपकरणनिर्वर्तना। शरीरको उस तरहसे दुष्प्रयुक्त करनेका नाम शरीरनिर्वर्तना और सच्छिद्रादिक उपकरणोंके उस तरहसे उपयुक्त करनेका नाम उपकरणनिर्वर्तना है।

किसी भी वस्तुके इस तरहसे रखनेको कि जिससे वह हिंसाका साधन हो सके निक्षेप कहते हैं। यह चार प्रकार का है—सहसा अनाभोग दुःप्रमृष्ट और अप्रत्यवेक्षित। भय आदिके कारण पुस्तकादिक उपकरणों अथवा शरीरके

१-निर्वर्तनादिक शब्दोंका अर्थ कर्मरूप और क्रियारूप दोनों तरहका हो सकता है।

मलादिकोंके शीघ्र ही छोडदेनेको सहसानिक्षेप और शीघ्रता न करके भी यहांपर जीव है या नहीं इस बातका पर्यालोचन किये विना ही उपकरणादिके छोडदेनेको अनाभोगनिक्षेप, एवं बुरी तरहसे पर्यालोचन-प्रमार्जन करके उन वस्तुओंके छोडदेनेको दुःप्रमृष्टनिक्षेप, और प्रमार्जन करके भी उसके बाद फिर ' यहां जीव है या नहीं " यह न देखकर यों ही उपकरणादिके रखदेनेको अप्रत्यवेक्षित निक्षेप कहते है। ये निक्षेप छहो कायके जीवोंकी बाधाके स्थान हो सकते हैं। एक पदार्थका दूसरे पदार्थके साथ होनेवाले संबंधविशेषको संयोग कहते है। इसके दो भेद है-उपकरण संयोग और भक्तपान संयोग। उपकरणोंके परस्परमें ऐसे संयोगको जो कि हिंसाका साधन हो सके उपकरणसंयोग और भोजनपानकी वस्तुओंके ऐसे संयोगको भक्तपान संयोग कहते है, जैसे कि शीत पुस्तकका धूप आदिसे तप्त हुई पीछी आदिके द्वारा झाडना अथवा ढकना इत्यादि उपकरण संयोग है। तथा सम्मूर्छनादिके सम्भव होनेपर किसी एक पेय वस्तुको दूसरी पेय वस्तुके साथ अथवा भोजनके साथ यद्वा किसी एक भोजनको दूसरे भोजनके साथ अथवा किसी पेय वस्तुके साथ मिलानेको भक्तपान-संयोग कहते हैं। जैसे कि उष्ण जलको शीत जलके साथ अथवा शीत भोजनके साथ मिलाना भक्तपान संयोग है। निसर्ग शब्दका अर्थ स्वभाव होता है। मन वचन और कायकी प्रवृत्ति स्वभावसे ही होती है। किंतु इनकी इस तरहसे दुष्ट प्रवृत्ति करना कि जो वह हिंसाका साधन हो सके उसको निसर्ग कहते है। और अत एव मन वचन कायकी अपेक्षा उसके तीन भेद है।

जैसा कि कहा भी है—

सहसानाभोगितदुःप्रमार्जिताप्रेक्षितानि निक्षेपे।
देहश्च दुःप्रयुक्तस्तथोपकरणं च निर्वृत्तिः ॥
संयोजनमुपकरणे पानाशनयोस्तथैव संयोगः।
वचनमनस्तनवस्ता दुष्टा भेदा निसर्गस्य ॥

सहसा, अनाभोगित दुःप्रमार्जित और अप्रत्यवेक्षित ये चार निक्षेपके, और दुःप्रयुक्त शरीर तथा उपकरण

ये दो निर्वर्तनाके, तथा उपकरण संयोग और भक्तपान संयोग ये दो संयोगके, एवं दुष्ट मन वचन काय ये तीन निसर्गके भेद है।

उपर्युक्त कथनका सारांश यही है कि जो मुमुक्षु, प्राणव्यपरोपण अपनी तरहसे दूसरेको भी असह्य दुःखका कारण है ऐसा निश्चित समझता है वह सभी प्राणियोंमें सम्यग्दर्शी होकर समस्त हिंसाके साधनोंका सर्वथा परित्याग करदेता है। इस उपसहृत अर्थको ही आगेके पद्यमें प्रकट करते हैः—

मोहादैक्यमवस्यतः स्ववपुषा तन्नाशमप्यात्मनो,
नाशं संक्लिशितस्य दुःखमतुलं नित्यस्य यद्द्व्यतः।
स्याद्भिन्नस्य ततो भवत्यसुभृतस्तद्घोरदुःखं स्वव,—
जानन् प्राणवधं परस्य समधीः कुर्यादकार्यं कथम् ॥ २९ ॥

जिसके मोहनीय कर्मके उदयसे आत्मा और शरीर दोनोका भेदज्ञान नहीं हुआ है और इसीलिये जो अपने शरीरके साथ अपनी आत्माकी एकताका निश्चय रखता है शरीर ही मैं हूं और मैं ही शरीर है ऐसा जो समझता है और जो शरीरके नाशको ही उस आत्माका भी नाश मानता है; जो कि द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे नित्य अविनाशी और उससे कथंचित् भिन्न है, एवं च जिसका हृदय शरीरके द्वारा प्रवृत्त होनेवाली व्याधि जरा मरणादिकी भीतियोंसे सदा संक्लिष्ट रहा करता है उस प्राणीको अपने उस अज्ञानके कारण अतुल दुःख हुआ करता है। अत एव जो पुरुष शत्रु और मित्र दोनोंमें समान बुद्धि रखता है-राग द्वेपसे रहित

१—तन उपजत अपनी उपज जान, तन नशत आपको नाश मान।

है और जिसके इस बातका निश्चय है कि यह प्राण व्यपरोपण अपनी तरहसे दूसरोंको भी असह्य दुःखका कारण है वह पुरुष प्राणवध जैसे अकार्य-शास्त्रसे निषिद्ध और नीतिविरुद्ध अकृत्यको किस तरह कर सकता है ?

भावार्थ—आत्मा शरीरसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है। क्योंकि शरीर अनित्य और आत्मा नित्य है, तथा संज्ञा संख्या लक्षण और प्रयोजनकी अपेक्षासे भी दोनोंमें कथंचित् भेद है। जिससे दोनोंका सहसा पृथक्करण नहीं हो सकता, ऐसे बंधके कारण कथंचित् अभेद है। किंतु मोहोदयजनित अज्ञानके कारण कितने ही लोग ऐसा नहीं समझते। और दोनोंमें सर्वथा भेद ही मानते हैं। ऐसे लोगोंके मतानुसार धर्म दयाप्रधान ही है यह बात सिद्ध नहीं हो सकती। क्योंकि सर्वथा भेद होनेसे शरीरका नाश होजानेपर भी आत्माका नाश नहीं हो सकता। और इसके विना हिंसाकी उपपत्ति, तथा हिंसाके विना उसकी निवृत्तिरूप दयाकी सिद्धि नहीं हो सकती। जैसा कि कहा भी है

> आत्मशरीरविभेदं वदन्ति ये सर्वथा गतविवेकाः।
> कायवधे हन्त कथं तेषां सञ्जायते हिंसा ॥

जो अविवेकी आत्मा और शरीरमें सर्वथा भेद बताते हैं, आश्चर्य है कि उनके यहांपर शरीरके वधसे हिंसा किस तरह हो सकती है ?

इसी प्रकार कितने ही लोग [illegible] अज्ञानके कारण ही आत्मा और शरीरमें सर्वथा अभेद मानते हैं। किंतु [illegible] सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि उनके यहां शरीरका नाश होनेसे आत्मा- [illegible] तथा उसकेलिये दयाधर्मका अनुष्ठान बन नहीं

जीववपुषोरभेदो येषामैकान्तिको मत शास्त्र।
कायविनाशे तेषा जीवविनाश कथ वार्य ॥

जिनके शास्त्रमें आत्मा और शरीरमें एकान्तसे अभेद माना गया है वे लोग शरीरका नाश होनेसे आत्माका भी नाश हो जायगा, इस आपत्तिका वारण किस तरह कर सकते हैं ?

अत एव शरीरसे आत्मा कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है, ऐसा माननेसे ही अहिंसारूप परम धर्मकी सिद्धि हो सकती है। उक्त अज्ञानके कारण भेदैकान्त और अभेदैकान्तके समान लोगोंमें नित्यत्वैकान्त और अनित्यत्वैकान्त भी है। किंतु उससे भी दयाधर्मकी सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि आत्मा यदि नित्य है तो उसका वध ही नहीं हो सकता। और यदि अनित्य है तो सर्वथा विनाश हो जायगा। फिर परलोकके विना दयाधर्मका अनुष्ठान ही किस तरह बन सकता है ? जैसा कि कहा भी है:—

जीवस्य हिंसा न भवेन्नित्यस्य परिणामिन ।
क्षणिकस्य स्वय नाशात्कथ हिंसोपपद्यताम् ॥

जीव यदि नित्य है तो अपरिणामी भी अवश्य है उसका नाश नहीं हो सकता। और यदि क्षणिक है तो स्वय जीवका ही सर्वथा नाश हो जायगा। फिर हिंसा किस तरह सिद्ध हो सकती है ? नहीं हो सकती। अत एव प्रमाणसिद्ध जीवको कथंचित् द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्य और कथंचित्-पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अनित्य मानना चाहिये। तभी अहिंसाधर्म सिद्ध हो सकता है; क्योंकि नित्यानित्यात्मक जीवमें ही हिंसा संभव हो सकती है। और उसके होनेपर ही उसके त्यागरूप दयाधर्मका पालन बन सकता है।

जिन जीवोंका मोहोदयजनित अज्ञान नष्ट हो गया है उनके उपर्युक्त एकान्त प्रत्यय नहीं हो सकता। वे आत्माके अनेकान्त स्वरूपका ही निश्चय करते हैं। और सम्यग्ज्ञानपूर्वक ही व्रतोंका आचरण हो इसलिये

हिंसा अहिंसाके वास्तविक स्वरूपको भले प्रकार समझकर अहिंसाका पालन कर सकते हैं। रागद्वेषरूप हिंसा
ार उसके साधनोंका त्याग कर समतापरिणामोंको धारण कर सकते तथा अपनी तरह दूसरोंकेलिये भी घोर
ुःखके कारण प्राणवध जैसे अकृत्यका त्याग कर सकते हैं। अत एव ज्ञानी मुमुक्षुओंको हिंसा अहिंसाके स्वरूप
ाधनादिकको समझकर मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनाके द्वारा हिंसाका सर्वथा त्याग कर देना
चाहिये। यथा:—

षड्जीवनिकायवधं यावज्जीवं मनोवचःकायैः।
कृतकारितानुमननैरुपयुक्तः परिहर सदा त्वम्॥

हे भव्य! इन षट्कायिक जीवोंकी हिंसाका तू मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनाके सभी
भंगोंसे यावज्जीव सर्वथा परित्याग कर।

इस हिंसाके निमित्तसे इस लोक और परलोक दोनो ही जगह ऐसे दुःख और क्लेश उपस्थित होते हैं
जो कि अत्यंत ही दुर्निवार हैं। इसी बातको दिखाते हुए मुमुक्षुओंको उससे सर्वथा निवृत्तिका उपदेश देते हैं:—

कुष्टप्रष्ठैः करिष्यन्नपि कथमपि यं कर्तुमारभ्य चाप्त,-
भ्रंशोपि प्रायशोत्राप्यनुपरममुपद्रूयतेऽतीव रौद्रैः।
...कृपाणोथ कुर्वन्विधुरमधरधीरेति यत्तत्कथास्तां,
... सोदरं दुर्गतीनाम्॥ ३०॥

में कोढ जलोदर भगदर आदि नाना प्रकारके अत्यंत रौद्र—उग्र-दुर्निवार महारोगोंसे इस तरहसे पीडित होता है कि जिसमे कुछ कालकेलिये भी उनमे उपराति —उपशांति नहीं मिलती। निरंतर इन रोगोंसे आक्रांत रहकर दुःख भोगा करता है। इस प्रकार हिंसाकी इच्छा करनेवाला ही दुःखी—पीडित नहीं होता किंतु जिसने उस हिंसाके करनेका प्रारम्भ तो करदिया पर उसके कारणोंमें किसी तरह विघ्न आपडनेके कारण उसको कर न सका तो वह भी प्रायः इसी जन्ममें उन रोगजनित दुःखोंसे पीडित हुआ करता है। प्रायः इसलिये कि कदाचित् किसी दैववश वह इस जन्ममें पीडित न भी हो तो भी जन्मान्तरोंमें वह अवश्य ही पीडित होता है। किंतु जो कुबुद्धि इस तरहकी हिंसा करता है या जिसने की है उसको जो क्लेश भोगने पडते है उनका तो वर्णन ही नहीं किया जा सकता। अत एव ऐसा कौन शुभमति—मोक्षार्थी भव्य होगा जो कि इस हिंसाका स्पर्श भी करे—कभी भी किसी भी प्रकारसे हिंसामें प्रवृत्त हो।

भावार्थ—उपर्युक्त समस्त कथनका सारांश यही है कि जो मोक्षार्थी है उनको इस हिंसासे यावज्जीव सर्वथा विरत होना चाहिये।

हिंसाका दुर्गतियोंका दु खका एक फल है, इसी बातको उदाहरणके द्वारा स्पष्ट करते है --

मध्ये मस्करजालि दण्डकवने ससाध्य विद्यां चिरात्,
कृष्टं शम्बुकुमारकेण सहसा तं सूर्यहासं दिवः।

१- चिकित्साशास्त्रम आठ महारोग गिनाये हैं। यथा —

वातव्याध्यश्मरीकुष्टमेहोदरभगन्दरा ।
अर्शांसि ग्रहणीत्यष्टा महारोगा सुदुस्तरा ॥

धृत्वायान्तमसिं बलाद्भसया तां च्छिन्दता तच्छिर,-
श्छिन्नं यत्किल लक्ष्मणेन नरके ही तत्खरं भुज्यते ॥ २१ ॥

यह बात आगममें प्रसिद्ध है कि दण्डकवन-पञ्चवटीमें वांसोंकी जालीके भीतर बैठकर चिरकाल-छह महीनेमें विद्याको अच्छी तरह-विधिपूर्वक सिद्ध कर-खड्गाधिपति देवताको वशमें करके शम्बुकुमार-सूर्पणखाके पुत्रने जिस सूर्यहास खड्गका आकर्षण किया था वह जब आकाशसे आने लगा तो उसको झटसे उछल कर लक्ष्मणने बलपूर्वक अपने हस्तगत करलिया और उसको लेकर शीघ्रतासे-विना विचारे ही उस वंशजालीको काटते हुए शम्बकुमारका शिर भी काट डाला। उसीका फल है कि लक्ष्मण आज नरकमें अत्यत दुःसह फल भोग रहे हैं।

भावार्थ-लक्ष्मणने विना विचारे-प्रमादपूर्वक जो शम्बुकुमारका शिरश्छेदन किया उससे आज तक उसको नरकके दुःख भोगने पड रहे हैं। इससे स्पष्ट है कि हिसाका फल एक दुर्गतियोंका दुःख ही है।

हे भव्य! हिसाका त्याग न करके भी, मैं हिंसा करता नहीं हूं इसलिये मोक्षमार्गपर ही हू, ऐसा मत समझ; क्योंकि हिसासे अनिरति भी हिसापरिणामोंकी तरह हिसा ही है और उससे भी वही फल होता है जो कि हिसापरिणामोंसे होता है। इसी बातका ज्ञानलवदुर्विदग्ध पुरुषको ज्ञान कराते है—

स्थान्न हिंस्या न नो हिंस्यामित्येव स्या सुखीति मा !
अविरामोपि यद्वामो हिंसायाः परिणामवत् ॥ २२ ॥

हे सुखार्थी भव्य! "मै अहिंसाका पालन नहीं करता तो हिसा भी नहीं करता हू अत एव मुझको अवश्य ही सुखोंकी प्राप्ति होगी" ऐसा समझकर तू स्वस्थ मत हो—चारित्राराधनकी तरफसे उपेक्षित मत हो। क्योंकि हिसाके परिणामोंकी तरह उसकी अनुपरति भी विरुद्ध-दुःखकर ही है।

भावार्थ— बहुतसे लोगोंकी ऐसी समझ है कि "दुःखका कारण हिंसा है, सो मैं करता नहीं हूं। अत एव अहिंसा व्रतका पालन न करके भी अतिशयित सुख प्राप्त कर सकता हूं"। इस विषयमें ग्रंथकार कहते हैं कि यह बात नहीं है, क्योंकि हिंसाके अत्यागको अहिंसा नहीं कह सकते; वह हिंसा ही है। अत एव वह सुखका कारण नहीं, दुःखका ही कारण है। जैसा कि कहा भी है कि—

हिंसाया अविरमण वधपरिणामोपि भवति हिंसैव।
तस्मात्प्रमत्तयोगात्प्राणव्यपरोपण हिंसा॥

वधपरिणामोंकी तरह हिंसासे अनुपरति भी हिंसा ही है; क्योंकि प्रमत्तयोगसे होनेवाले प्राणव्यपरोपणको हिंसा कहते हैं। इसीलिये आत्मकल्याणके अभिलाषियोंको अहिंसा व्रतरूपसे ही स्वीकार करनी चाहिये।

हिंसा और अहिंसाके क्रमानुसार विशिष्ट फलको दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हुए आत्महितका साधन करनेके लिये उद्यत हुए भव्योंको नितांत अहिंसापरिणतिकेलिये ही उद्यम करनेकी प्रेरणा करते हैं।

धनाश्रियां विश्रुतदुःखपाका,—
माकर्ण्य हिंसां हितजागरूकाः।
छेत्तुं विपत्तीर्मृगसेनवच्च,
श्रियं वरीतुं व्रतयन्त्वहिंसाम्॥ ३३॥

आत्महित सिद्ध करनेकेलिये सदा जागृत रहनेवाले मुमुक्षुओंको उस हिंसाका स्वरूप कि जिसका फल घोर दुःखोंका अनुभवन प्रसिद्ध है, और जो कि धनश्रीको भोगना पडा था; आप्त पुरुषोंसे सुनकर-समझकर उन विपत्तियोंका नाश करनेकेलिये और लक्ष्मीका वरण करनेकेलिये मृगसेन नामके धीवरकी तरहसे अहिंसाको व्रतरूपसे ही स्वीकार करना चाहिये।

भावार्थ-धनश्री और मृगसेनके उदाहरणसे हिंसा और अहिंसाका फल देखकर और गुरुओंसे उनके स्वरूपको समझकर आत्मकल्याणकेलिये अहिंसाव्रतका ही आराधन करना चाहिये ।

वाग्गुप्ति मनोगुप्ति ईर्यासमिति आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकित पानभोजन इन पांच भावनाओंकी जिसमें भावना दीगई-संस्कार किया गया है ऐसा अहिंसाव्रत स्थिर होकर परमोत्कृष्ट माहात्म्यको प्राप्त कराता है; ऐसा बताते हैं—

निगृह्णतो वाङ्मनसी यथाव,—
न्मार्गं चरिष्णोर्विधिवद्यथार्हम् ।
आदाननिक्षेपकृतोन्नपाने,
दृष्टे च भोक्तुः प्रतपत्यहिंसा ॥ ३४ ॥

जो पुरुष यथार्थ रीतिसे वचन और मनका निरोध करता है, संक्लेशरहित होकर और सत्कार तथा लोकमें ख्याति लाभ पूजा आदिकी अपेक्षा-आकाक्षा न करके जो वाग्गुप्तिका पालन करता है, तथा जो शास्त्रोक्त विधिके अनुसार मार्गमे गमन करता है, शरीरप्रमाण भूमिको शोधता हुआ चलकर ईर्यासमितिका पालन करता है, एवं च जो ज्ञान और संयममें विरोध न आवे इस तरहसे उनके उपकरणोंका आदान तथा निक्षेपण करता है, जो पुस्तकादिक ज्ञानसयमके साधन है उनको असंयमका परिहार करते हुए उठाकर या रखकर आदाननिक्षेपण समितिका पालन करता है, और जो भोजन करते समय अन्न और पानको य योग्य है या नहीं यह अपनी आखोंसे देखकर ग्रहण करता-आलोकित पान भोजन करता है; ऐसे मुमुक्षुकी अहिंसाका प्रभाव अव्याहत होजाता है। उसकी अहिंसा अमोघशक्ति होकर सर्वोत्कृष्ट माहात्म्यको प्रकट कर देती है ।

भावार्थ—अहिंसाव्रतको स्थिर रखनेकेलिये और उसके माहात्म्यको उज्जीवित करनेकेलिये मुमुक्षुओंको उपर्युक्त पांच भावनाओंसे व्रतको संस्कृत करना चाहिये।

इन उक्त भावनाओंके भानेवाले साधुओंका निजानुभवके भारपर निर्भर रहनेवाला अहिंसा महाव्रत अच्छी तरह प्रकाशित होता है; ऐसा बताते हैं—

सम्यक्त्वप्रभुशक्तिसंपदमलज्ञानामृतांशुद्युति—
र्निःशेषव्रतरत्नखानिरखिलक्लेशाहिताक्ष्यांहतिः।
आनन्दामृतसिन्धुरद्भुतगुणामर्त्यागभोगावनी,
श्रीलीलावसतिर्यशःप्रसवभूः प्रोदेत्यहिंसा सताम् ॥ ३५ ॥

यह अहिंसा सम्यक्त्वरूपी प्रभुकी शक्तिसंपत्तिके समान है, जिस प्रकार कोई विजिगीषु राजा अपनी मन्त्रशक्ति प्रभुशक्ति और उत्साहशक्तिके द्वारा वैरिओंको निर्मूल करता है; उसी प्रकार सम्यक्त्व भी इस अहिंसाके द्वारा कर्मोंको निर्मूल कर देता है। अथवा यह अहिंसा मानो निर्मल ज्ञानरूपी चन्द्रमाका उदय है। क्योंकि जिस प्रकार चन्द्रमाके उदयसे जगत्को आल्हाद उत्पन्न होता है उसी प्रकार अहिंसासे भी शुद्ध ज्ञानके द्वारा संसारमें परम प्रमोद प्रकाशित होता है। यद्वा यह अहिंसा समस्त व्रताचरणरूपी रत्नोंकी खानि है। क्योंकि जि

१—मन्त्रशक्तिर्मतिवल कोपदण्डवल प्रभो।
प्रभुशक्तिश्च विक्रान्तिवलमुत्साहशक्तिता॥
बुद्धिबलको मत्रशक्ति, धन और दण्डबलको प्रभुशक्ति, तथा पराक्रम-शारीरिक बलको उत्साहशक्ति कहते हैं।

म प्रकार रत्न खानिमे ही उत्पन्न होते हैं उमी प्रकार ममस्त चारित्र ओर व्रत नियमादिक भी इस अहिसाके रहते हुए ही उत्पन्न हो सकते हे। जैसा कि कहा भी है—

सर्वेषा समयाना हृदय गर्भश्च सर्वशास्त्राणाम्।
व्रतगुणशीलादीना पिण्ड सारोपि चाऽहिसा ॥

यह अहिंसा ममस्त सिद्धातोंका हृदय, ममस्त शास्त्रोंका गर्भ, और व्रत गुण शील आदि गुणोंका पिण्ड हे। इस प्रकार समस्त जगत्में सारभूत पदार्थ एक अहिसा ही है।

यह समस्त क्लेशरूपी सर्पराजोंकेलिय गरुडका आघात है। क्योंकि जिस प्रकार गरुडकी चोंचके आघातसे बडे बडे भी सर्प विलीन होजाते है उमी प्रकार उस अहिसाके माहात्म्यसे विशेप भी क्लेश निःशेप हो जाते हैं। यह आनन्दरूपी अमृतका समुद्र है। क्योंकि जिस प्रकार अमृतको सभी लोग चाहते है किंतु उसके उत्पन्न होनेका स्थान समुद्र ही है; उसी प्रकार आनन्द-प्रमोदको सभी संसारी चाहते हे किंतु उसका उत्पत्ति स्थान अहिसा ही है। यह अद्भुत गुणरूपी कल्पवृक्षोंकी भोगभूमि है। क्योंकि जिस प्रकार कल्पवृक्षोंसे साक्षात् इच्छित पदार्थ प्राप्त हुआ करते हे उसी प्रकार अद्भुत— जगत्मे चमत्कार दिखा देनेवाले तपःसंयमादिक गुणोंसे भी अभीष्ट विपयोका संपादन होता है। किंतु जिस प्रकार कल्पवृक्ष भोगभूमि—देवकुरु उत्तरकुरुमें ही उत्पन्न होते हे उसी प्रकार अद्भुत गुण भी अहिसा—भूमिपर ही उत्पन्न होते हे। इसी प्रकार यह अहिसा लक्ष्मीके क्रीडा करनेका स्थान है। क्योंकि इसीमें वह निरातङ्कतया सुखपूर्वक रह सकती है और क्रीडा कर सकती है। इसी प्रकार यह यशके उत्पन्न होनेका भी स्थान है - कीर्तिकी जन्मभूमि हे। क्योंकि इसके रहते हुए ही कीर्तिलता उत्पन्न हो सकती और प्रकाशित हो सकती है। ऐसी यह आठ विशेपणोंसे विशिष्ट अहिसा साधुओंके ही अनन्य सामान्यतया प्रकाशित हो सकती है।

भावार्थ—अहिसाव्रतका उपसंहार करते हुए ग्रथकार कहते है कि इस अहिंसाका माहात्म्य कहांतक

कहे। समस्त गुणोंकी खानि और सभी इष्टसिद्धियोंका साधन यह अहिंसा ही है। अत एव साधुओंको इसका आराधन करना ही चाहिये। क्योंकि पूर्ण अहिंसाका पालन साधु ही कर सकते हैं, जिसका कि विशेष स्वरूप पहले बताया जाचुका है।

अहिंसा महाव्रतके अनंतर सत्य महाव्रत क्रमप्राप्त है। अत एव बारह पद्योंमें उसीका व्याख्यान करना चाहते हैं। किंतु उसके पहले यह बताते है कि असत्यादि सभी हिंसाकी ही पर्याय है। अत एव उनका त्याग भी अहिंसाव्रतमें ही अन्तर्भूत होता है।

आत्महिंसनहेतुत्वाद्धिंसैवासूनृताद्यपि।
भेदेन तद्विरत्युक्तिः पुनरज्ञानुकम्पया ॥ ३६ ॥

केवल प्राणव्यपरोपण ही हिंसा नही है, अनृत वचनादिक—असत्य भाषण प्रभृति भी हिंसा ही है। क्योंकि वे आत्मघातके हेतु है। उनमे आत्माके शुद्ध परिणामोका उपमर्द ही होता है। क्योंकि प्रमत्तयोगके विना असत्य भाषणादिक भी हो नही सकते। प्रमत्तयोग अथवा हिंसाका समर्थ कारण भी हिंसा ही है।

प्रश्न—असत्य भाषणादिक भी यदि हिंसा ही है तो आगममे दोनोको पृथक् पृथक् क्यो बताया है? आचार्योंने अहिंसा महाव्रतसे भिन्न ही सत्य महाव्रतादिका उपदेश दिया है। और यहा भी पहले ऐसा ही लिखा है। उत्तर—हिंसा और झूठ आदिके त्यागका भेदरूपसे जो उपदेश दिया है उसका कारण केवल यही है कि कहीं अज्ञ— मन्दमति पुरुष मोहित न होजांय—उनकी बुद्धि असत्यादिकी अनुपरतिकी तरफ उन्मुख न हो जाय; इसलिये उनके ऊपर कृपा करके ऐसा उपदेश दिया है। आगममे भी कहा है कि:—

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधार्थम् ॥

जितने असत्य वचनादिक है वे भी सब हिंसा ही है; क्योंकि वे आत्मपरिणामोंके घातके कारण है। हिंसासे भिन्न जो उनको दिखाया है सो केवल शिष्योंको ज्ञान करानेकेलिये-मन्दबुद्धि शिष्योंकी अपेक्षासे।

सत्यव्रतके स्वरूपका निरूपण करते हैः—

अनृताद्विरतिः सत्यव्रतं जगति पूजितम्।
अनृतं त्वभिधानं स्याद्रागाद्यावेशतोऽसतः॥ ३७॥

रागद्वेपरूप परिणामोंके आवेशसे अप्रशस्त वचनोंके बोलनेको अनृत कहते हैं। इस अनृतके त्यागको ही सत्यव्रत कहते है। यह व्रत समस्त जगत्में पूज्य माना गया है। भावार्थ, अप्रशस्त वचन वे ही हो सकते है जो कि कर्मबंधके कारण हो। जिन वचनोंको रागद्वेप या मोहसे आक्रांत होकर मनुष्य बोलता है वे ही वचन कर्मबंधके कारण हो सकते है। अत एव सत्यव्रतमे भी आत्मपरिणामरूप असत्य वचनयोगका त्याग ही मुख्य समझना चाहिये। क्योंकि वही कर्मबंधका कारण है और इसलिये वस्तुतः त्याज्य तो वही है। पौद्गलिक वचन जो कि उक्त वचनयोगके कारण है वे तो व्यवहारसे ही त्याज्य बताते है; न कि वस्तुतः।

असत्य चार प्रकारका है उनका उदाहरणपूर्वक स्वरूप बताकर मन वचन और काय तीनों ही के द्वारा उनके त्याग करनेका दो पद्योंमें विधान करते हैः—

नाकालेऽस्ति नृणां मृतिरिति सत्प्रतिषेधनं शिवेन कृतम्।
क्ष्मादीत्यसदुद्भावनमुक्षा वाजीति विपरीतम्॥ ३८॥
सावद्याप्रियगर्हितभेदात् त्रिविधं च निंद्यमित्यनृतम्।
दोषोरगवल्मीकं त्यजेच्चतुर्धापि तत् त्रेधा॥ ३९॥

जिस प्रकार सर्प वल्मीकमे ही उत्पन्न होते और उसीमे निवास किया करते है; उसी प्रकार वे दोपरूपी सर्प जिनका कि आगे वर्णन करेंगे और जो अनेक प्रकारसे अपायके ही कारण है, असत्यरूपी वल्मीकमें ही उत्पन्न होते और निवास किया करते है। अत एव मुमुक्षुओंको इस दोषोके उत्पत्ति और निवासके स्थान असत्यका मन वचन और कायसे त्याग ही करना चाहिये।

असत्य चार प्रकारका है—सत्यनिषेध, असदुद्भावन, विपरीत और निंद्य। चरमशरीरी मनुष्योंको छोड कर बाकी कर्मभूमिमें उत्पन्न हुए मनुष्योंका अकालमें-आयुकर्मकी स्थिति पूर्ण हुए विना—मरण नही होता इस तरहके वचनोंको सत्यानिषेध कहते है। क्योंकि जीवोका मरण विषवेदनादिक निमित्तोसे अकालमे भी होता है; ऐसा लोक और आगम दोनो ही मे देखनेमें आता है। यथाः—

विसवेयणरत्तक्खयसत्थगहणाइसकिलेसेहि।
आहारोस्सासाण णिरोहओ छिज्जए आऊ॥ ❀

विष वेदना रक्तक्षय शस्त्रग्रहण संक्लेश परिणाम और आहार तथा श्वासोच्छ्वासका निरोध इन कारणोसे आयुकर्म छीज जाता है-कम होजाता है अथवा उदीरणामे आकर पूर्ण हो जाता है।

इसी विषयमें दूसरे तो ऐसा कहते है किः—

मरण प्राणिनां दृष्टमायु पुण्योभयक्षयात्।
तयोरप्यक्षयाद् दृष्ट विषमाऽपरिहारिणाम्॥

❀—" विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसकिलेसेहि।
उस्सामाहाराण णिरोहदो छिज्जदे आऊ "।
ऐसा भी पाठ है। इसमें भयको भी गिना है।

आयु और पुण्य दोनोंके क्षीण होनेसे प्राणियोंका मरण होता है। किंतु विषम आयु और पुण्यके धारण करने वालोंका उन दोनोंके क्षीण हुए विना भी मरण हो जाता है। अर्थात् या तो आयु पुण्यके विपरीत होजाय अथवा पुण्य आयुके विपरीत हो जाय तो भी जीवोंका मरण हो जाता है। क्योंकि जीवनके कारण अनुकूल आयु और पुण्य दोनो है। इस कथनमे तथा विष भक्षणादि करनेवाले तथा शस्त्रसे आहत होनेवाले आदि जीवोंका मरण होता हुआ लोकमें भी देखनेमें आता है। इससे सिद्ध है कि अकालमें भी जीवोंका मरण होता है। अत एव इस प्रकारके सद्भूत पदार्थके निषेध करनेको सत्प्रतिषेध नामका असत्य समझना चाहिये।

जो पदार्थ नहीं है—असत् है उसके निरूपण करनेको असदुद्भावन नामक असत्यका दूसरा भेद समझना चाहिये। जैसे कि यह निरूपण करना कि "इस जगत्को—पृथिवी पर्वत वृक्षादिकोंको महेश्वरने बनाया है।" अथवा "देवताओंका अकालमे भी मरण होता है।" क्योंकि जगत्का महेश्वरके द्वारा बनाया जाना असत् है। क्योंकि वह प्रमाणसे बाधित है—किसी भी प्रमाणसे यह बात सिद्ध नहीं होती कि जगत्का कर्त्ता महेश्वर है। और स्वयं उन्होंने भी कहा है कि "न कदाचिदनीदृशं जगत्।" यह अनुपम जगत् कभी नहीं बना।" अत एव यह बात असत् है। इसी प्रकार अकालमे देवताओंका मरण भी असत् है। ऐसे ही असद्भूत पदार्थोंके निरूपण करनेको असदुद्भावन नामका असत्य कहते है। किसी पदार्थको दूसरा पदार्थ बताना इसको विपरीत नामका असत्य कहते है। जैसे कि गौको घोडा कहना। शास्त्र अथवा लोकसे विरुद्ध वचनको निंद्य नामका असत्य कहते है। इसके तीन भेद है—सावद्य अप्रिय और गर्हित। हिंसोत्पादक वचनको सावद्य, अरुचिकर भाषणको अप्रिय, और धिक्कारके योग्य अथवा अनादरणीय शब्दोंको निन्द्य कहते है।

ऊपर चार प्रकारके असत्यको जिन दोषरूपी सर्पोंकी वामी बताया था उन्हीं दोषोंका निरूपण करते है—

यद्विश्वव्यवहारविप्लवकरं यत्प्राणिघाताद्यव,—

द्वारं यद्विषशस्त्रपावकतिरस्कारोद्धुराहंकृति ।
यन्म्लेच्छेष्वपि गर्हितं तदनृतं जल्पन्न चेद्रौरव–
प्रायाः पश्यति दुर्गतीः किमिति ही जिह्वाच्छिदाद्यान् कुधीः ॥ ४० ॥

सत्प्रतिषेध असदुद्भावन और विपरीत इन तीन प्रकारके असत्योंसे सभी लौकिक और शास्त्रीय व्यवहारों-प्रवृत्ति निवृत्तिकी पद्धतियोंका विप्लव होजाता है। जगत्का समस्त व्यवहार अथवा वर्णाश्रम धर्मका आचार व्यवहार इन असत्योंसे नष्ट अथवा विपरीत होजाता है। सावद्य नामका जो असत्य है वह हिंसा चोरी और कुशील आदिसे उत्पन्न होनेवाले पापोंका द्वार है। क्योंकि "जमीनको खोद डाल, ठंडे पानीसे[1] ही स्नान करले, पूआ तो पकाले, थोडे फूल तोडले, यह चोर है" इत्यादि अनेक प्रकारके वचनोंके मार्गसे ही उन पापोंका आस्रव होता है। अप्रिय नामका जो असत्य है उसका अहंकार तो इतना उत्कट है कि जो विष शस्त्र और अग्निका भी तिरस्कार करता है। क्योंकि विषसे मनुष्य उतने मोहित नहीं हो सकते जितने कि अप्रिय वचनोंसे होते हैं। उसी प्रकार शस्त्रसे आहत होकर मनुष्योंको उतना असह्य दुःख नहीं हो सकता जितना कि अप्रिय वचनोंको सुनकर होता है। एवं च, अग्निसे भी मनुष्य उतन संतप्त नहीं हो सकते जितने कि अप्रिय शब्दोंसे होते हैं।

गर्हित वचनोंको निंद्य कहते हैं। इस विषयमें कहा है किः –

"पैशुन्यहास्यगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च ।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ॥"

चुगली या हास्यपूर्ण वचन अथवा कर्कश अयोग्य, और भी जो उत्सूत्र भाषणादिक हैं वे सभी ग-

१–सचित्त पानीसे।

हित वचन कहे जाते हैं। इस तरहके वचन, आर्य पुरुषोंकी तो बात ही क्या, म्लेच्छोंमें भी निन्द्य समझे जाते है। जो सर्व धर्मोंसे बहिष्कृत है उनको म्लेच्छ कहते है। ऐसे लोग भी जिस वचनका आदर नहीं करते और उसको घृणाकी दृष्टिसे देखते हैं; तो उस वचनको आर्य लोग तो बोल ही किस तरह सकते हे ? इन असत्य वचनोंके बोलनेवाला कुबुद्धि मनुष्य जब रौरव प्रभृति नरकादिक दुर्गतियोंको ही नहीं देख सकता तो हाय, वह जिव्हाछेदादिक अपायोको तो देख ही किस तरह सकता है।

भावार्थ—असत्य भाषण करनेसे संसारमें अनेक अनर्थ तो होते ही है, किंतु जो ऐसे वचनोंके बोलनेवाला है, स्वय उसको भी इस भवमें जिव्हाछेदन स्वजनवियोग मित्रतिरस्कार और सर्वस्वहरण प्रभृति दण्ड मिलते हैं और पर भवसे अनेक नरकादिक दुर्गतिया भोगनी पडती है। अत एव मुमुक्षुओंको उक्त दोषरूपी सर्पोंसे पृथक् रहनेकेलिये चारो ही प्रकारके असत्यका त्याग करना चाहिये।

जिससे लोकमें चमत्कार दिखा देनेवाले फल बहुलतया प्राप्त होते हे उस सत्य और प्रशस्त वचनका ही नित्य सेवन करनेका उपदेश देते है: —

विद्याकामगवीशकृत्करिमरिप्रातीप्यसर्पौपधं,
कीर्तिस्वस्तटिनी हिमाचलतटं शिष्टाब्दपण्डोष्णगुम् ।
वाग्देवीललनाविलासकमलं श्रीसिन्धुवेलाविधुं,
विश्वोद्धारचण गृणन्तु निपुणाः शश्वद्वचः सूनृतम् ॥ ४१ ॥

जो विधिपूर्वक साधन करनेसे सिद्ध होती है उनको विद्या कहते हे। ये विद्याए इच्छित पदार्थोंको दिया करती है इसलिये इनको कामधेनुके समान समझना चाहिये। किंतु जिस प्रकार बचेसे पसुराये विना गौ दूध नहीं

देती; उसी प्रकार सत्य वचनके विना ये विद्याएं भी इच्छित पदार्थ नहीं दे सकती। अत एव विद्यारूपी कामधेनुका बच्चा, यह सत्य वचन ही है। कहा भी है कि:—

> सत्य वदन्ति मुनयो मुनिभिर्विद्या विनिर्मिता सर्वा ।
> म्लेच्छानामपि विद्या सत्यभृता सिद्धिमायान्ति ॥

जितनी विद्याएं हैं वे सब मुनियोंकी बनाई हुई हैं। और मुनिलोग सत्य ही बोलते हैं। अत एव जो सत्य भाषण करनेवाले हैं उन्हींको वे सिद्ध होती हैं। जो म्लेच्छ होनेपर भी सत्यभाषी हैं तो उनको भी वे विद्याएं सिद्ध हो जाती हैं।

शत्रुओंद्वारा किये गये अपकाररूपी अपायके कारणभूत सर्पका यह सत्य वचन प्रतीकार— इलाज है। और अत्यंत निर्मल तथा जगत्को आल्हादित करनेवाली कीर्तिरूपी गङ्गाका मानो यह हिमवान् पर्वत है। क्योंकि जिस प्रकार गङ्गाकी उत्पत्ति हिमवान्से ही होती है उसी प्रकार कीर्तिका जन्म और प्रकार भी इस सत्य वचनसे ही होता है। यह शिष्टपुरुषरूपी कमलवनकेलिये मानो सूर्यके समान है; क्योंकि लोकका उपकार करनेवाले सत्पुरुष जब कि कमलवनके सदृश हैं तो जिस प्रकार सूर्यको देखकर कमलवन खिल जाता है उसी प्रकार सत्य वचनको पाकर सत्पुरुष भी विकसित हो जाते हैं। प्रीतिके उत्पन्न करनेवाली वाग्देवी- सरस्वतीरूपी ललनाका मानो यह विलासकमल—क्रीडाकमल ही है। जिस प्रकार क्रीडाकमल ललनाओंकी रतिका कारण होता है उसी प्रकार सत्य वचन भी सरस्वतीकी प्रीतिका कारण है। लक्ष्मीरूपी समुद्रकी वेलाकेलिये मानो यह चंद्रमाके समान है। क्योंकि जिस प्रकार चंद्रमाको पाकर समुद्रकी वेला बढने लगती है उसी प्रकार सत्य वचनके निमित्तसे लक्ष्मीकी भी वृद्धि होने लगती है। इस प्रकार समस्त जगत्का विपत्तियोंसे उद्धार करदेनेमें समर्थ इस सत्य वचनका ही मुमुक्षुओंको निरंतर भाषण करना चाहिये।

भावार्थ—यह सत्य वचन छह विशेष गुणोंसे युक्त है। १ इसमें विद्याएं सिद्ध होती, २ शत्रुओंका प्रतीकार होता, ३ कीर्ति विस्तृत होती, ४ सत्पुरुष आल्हादित होते, ५ सरस्वती प्रसन्न

समदोष समाग्निश्च समधातुमलक्रिय ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमना स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

जिसके वात पित्त और कफ समान है तथा जिसकी अग्नि समान है और जिसकी धातु तथा मल-की क्रियाएं भी समान एवं जिसके आत्मा इन्द्रिय और मन सदा प्रसन्न रहते है उस मनुष्यको स्वस्थ समझना चाहिये । किंतु प्रकृतमे स्व—अपने स्वरूपमें ही स्थित होने या रहनेवालेको जो परद्रव्यके सम्बन्धसे सर्वथा रहित है उसको-स्वस्थ कहते है; ऐसा अर्थ समझना चाहिये । अत एव जो समस्त परद्रव्योंसे सम्बन्ध छोड-चुका है ऐसे साधुको हास्य कषाय इस तरहसे छोडदेनी चाहिये जिस तरहसे कि लोग कफको छोडदेते है । क्योंकि कफ—श्लेष्माकी तरह हास्य भी जाड्य और मोह—मूर्छा आदिको उत्पन्न करनेवाला है । इसी प्रकार लोभको आमकी तरह अत्यत दुर्जय विकार समझ कर, और भयको वातविकारके समान मनमें विप्लव पैदा करदेनेवाला समझकर तथा क्रोधको पित्तकी तरह अत्यत संताप उत्पन्न करनेवाला समझकर दूर करदेना चाहिये । ऐसा करनेपर ही वह मुमुक्षु पूर्णतया स्वस्थ हो सकता है । कफादिकके उदाहरण देकर हास्यादिके त्याग करनेका जो उपदेश दिया है उसमे यह अभिप्राय भी समझलेना चाहिये कि साधुको इन बाह्य विकारोंसे भी रहित होना चाहिये । क्योंकि व्याधिरहित होकर ही वह आत्मपदका साधन अच्छी तरह कर सकता है ।

---

१ — आमाशयको प्राप्त दूषित रसको आम कहते है । यथा —

ऊष्मणोल्पबलत्वेन धातुमान्द्यमपाचितम् ।
दुष्टमामाशयगत रसमाम प्रचक्षते ॥

कोई कोई अतिदूषित वात पित्त कफके परस्परमे मिलनेसे आमकी उत्पत्ति मानते है । यथा —

अन्ये दोषेभ्य एवातिदुष्टेभ्योन्योन्यमूर्छनात् ।
कोद्रवेभ्यो विषस्येव वदन्त्यामस्य सभवम् ॥

होती, और ६ लक्ष्मी सिद्ध होती है। अत एव जगत्का उद्धार करनेमें समर्थ और अद्भुत चमत्कारोंसे युक्त इस सत्य वचनका ही सूक्ष्म दृष्टि रखनेवाले मुमुक्षुओंको निरंतर भाषण करना चाहिये।

उपर्युक्त सत्य वचनके स्वरूपका निरूपण करते हैं —

सत्यं प्रियं हितं चाहुः सूनृतं सूनृतव्रताः।
तत्सत्यमपि नो सत्यमप्रियं चाहितं च यत् ॥ ४२ ॥

सत्यका व्रत रखनेवाले " मैं सत्य ही बोलूंगा " इस तरहकी दृढ प्रतिज्ञामें निष्णात व्यक्तियोंने सत्यका स्वरूप इस प्रकार कहा है कि - सत्-उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक पदार्थके ऐसे निरूपण करनेको सत्य कहते है जो सत् - प्रशस्त योग्य तथा प्राणियोंके कल्याणका कारण हो; जो सुननेवालोंको आल्हाद उत्पन्न करनेवाला हो; और जिससे जीवोंका उपकार हो। किंतु उस सत्यको भी सत्य न समझना चाहिये जो कि अप्रिय और अहितकर हो। चोरको चोर कहना यद्यपि यथावत् पदार्थका निरूपण करना ही है। फिर भी अप्रिय वचन होनेके कारण उसको असत्य ही कहा है। क्योंकि असत्य भाषणके जो दोष बताये हे वे कर्कशादिक वचन बोलनेवालेको भी लगते है। यथाः--

असत्य वचनके जो लौकिक और पारलौकिक दोष बताये है वे ही सब कर्कश वचनादिकोंके भी समझने चाहिये।

साधुओंको सज्जन पुरुषोंका समीचीन कल्याण करनेकेलिये समयानुसार ही बोलना चाहिये; ऐसी शिक्षा देते हैः—

साधुरत्नाकरः प्रोद्यदयापीयूषनिर्भरः।

सत्य वचन और मृषा भाषणका उदाहरणद्वारा फलविशेष दिखाते हैं:—

सत्यवादीह चामुत्र मोदते धनदेववत् ।
मृषावादी सधिक्कारं यात्यधो वसुराजवत् ॥ ४६ ॥

जो सत्य भाषण करनेवाला है वह पुरुष इस लोकमें और परलोकमें दोनो ही जगह धनदेवकी तरहसे प्रमोदको प्राप्त होता और सुखी होता है। किंतु जो मृषा भाषण करनेवाला है वह वसुराजाकी तरह जगत्मे निन्दित होता और अतमे अधोगति—नरकादिकको जाकर प्राप्त होता है।

सत्य दश प्रकारका है—जनपद–देश, सम्मति, स्थापना, नाम, रूप, प्रतीति, संभावना, भाव, व्यवहार, और उपमान। उदाहरणद्वारा इनका स्वरूप प्रकट करते हैं:—

सत्यं नाम्नि नरीश्वरो, जनपदे चोरोन्धसि, स्थापने
देवोक्षादिषु, दारयेदपि गिरिं शीर्षेण संभावने।
भावे प्रासु, पचौदनं व्यवहृतौ, दीर्घः प्रतीत्येति ना
पल्यं चोपमितौ सितः शशधरो रूपेम्बुजं सम्मतौ ॥ ४७ ॥

ऐश्वर्य न रहनेपर भी व्यवहारमात्र प्रयोजन सिद्ध करनेकेलिये किसी साधारण मनुष्यकी ईश्वर सज्ञा रखदेना इसको नामसत्य कहते है। किसी देश या प्रांतविशेषकी अपेक्षा विषयविशेषमे रूढ शब्दको जनपद सत्य कहते है। जैसे कि भातको किसी किसी देशमे चोर कहते है। यह कहना उस देशकी अपेक्षासे सत्य है। किसी एक पदार्थमें दूसरे पदार्थकासा व्यवहार करनेकेलिये उस दूसरे पदार्थके भावको निक्षिप्त करनेका नाम स्थापना है। और तदनुसार निरूपण करनेको स्थापना सत्य कहते है। किसी द्वीन्द्रिय कायविशेषको अथवा

१—२—इन दोनोंकी कथाए ग्रन्थान्तरोंमे प्रसिद्ध है।

शतरंजके मुहरोंको यद्वा पाषाणादिकको, यह देव है, ऐसा कहना। जो पदार्थ या कार्य जिस रूपमे हो सकता है उस रूपमे कभी न होनेपर भी उस पदार्थ या कार्यकी उस योग्यताके निदर्शनको संभावना सत्य कहते है। जैसे कि यह कहना कि " अपने शिरसे यह पर्वतका भी भेदन कर सकता है।" कोई कोई आचार्य इसकी जगह संयोजना सत्य बताते है। जैसा कि चारित्रसारमे भी कहाहै कि-' धूप चूर्ण वासना लेप चटनी आदिकमे किस पदार्थका कितना भाग रखना उसके विधान करनेवाले वचनको अथवा पद्म मकर हंस सर्वतोभद्र क्रौंच चन्द्र शकट आदिक सेनाके व्यूह-रचनाविशेष प्रभृतिमें चेतन और अचेतन पदार्थके कितने भागको और कहांपर विभक्त करना, इस बातके बतानेवाले शब्दोंको संयोजना सत्य कहते है।" किसी पदार्थकी यथार्थ सूक्ष्म अवस्थाविशेषके प्रकट करनेवाले शब्दोको भावसत्य कहते है। जैसे कि छद्मस्थ ज्ञानी-अल्पज्ञानके धारण करनेवाले संयमी अथवा श्रावकोंसे जो कि द्रव्यके पूर्ण स्वरूपको देख नहीं सकते, उनके संयमादिक गुणोंका पालन करनेकेलिये सचित्त वस्तुको, यह अप्रासुक है, ऐसा कहना तथा अचित्त वस्तुको यह प्रासुक है, ऐसा कहना। जिनसे अहिंसादिक भावोंका पालन हो सकता है उन वचनोंको भी भाव सत्य कहते है, जैसे कि यह कहना कि देख सोध कर अपने आचारमें प्रवृत्त हो और सावधान रह। लोकव्यवहारके अनुरूप वचनको व्यवहार सत्य कहते है। जैसे कि पके हुए भी चावलों-भातके विषयमे यह कहना कि " चावल करलो-पकालो " अथवा, " चावल किये है " इत्यादि। एक पदार्थमे किसी दूसरे पदार्थकी अपेक्षासे कुछ भी वर्णन करनेको प्रतीत्य सत्य कहते है। जैसे कि यह कहना कि " यह आदमी लम्बा है।" यद्यपि उससे भी अधिक लम्बाई पाई जाती है तथा प्रत्येक आदमीमे भी कुछ न कुछ लम्बाई रहती ही है; फिर भी सर्व साधारणकी अपेक्षासे कुछ अधिक लम्बाई बतानेके लिये ही ऐसा कहा है। यही प्रतीति इस शब्दसे होती है। अत एव ऐसे सत्य वचनको प्रतीत्य सत्य कहते है। तुलनात्मकता दिखानेवाले शब्दको उपमिति सत्य कहते है। जैसे कि पल्य-खासकी सदृशताकी अपेक्षासे नाप-विशेषको भी पल्य कहना। अन्य वर्णोंके रहते हुए भी किसी विवक्षित वर्णकी अपेक्षासे उस पदार्थको वैसा ही कहना इसको

१—उपमा मानके आठ भेदोमेसे एक भेदरूप संख्याविशेष। इसका प्रमाण गोमट्टसारादिकमें देखना चाहिये।

रूप सत्य कहते है। जैसे कि चन्द्रमामे काले दागके रहते हुए भी उसकी अपेक्षा न करके उसको सफेद कहना। जिसमे लोकोंका किसी प्रकार विवाद न हो, सभी उसको सत्य समझे ऐसे वचनको संमति सत्य कहते है। जैसे कि कीच आदि कारणोंसे उत्पन्न होनेपर भी कमलको अम्बुज-अम्बु-जलसे उत्पन्न होनेवाला कहना।

आगममें भी इसी प्रकार सत्यके दश भेद गिनाये है। यथाः—

देशेष्टस्थापनानामरूपापेक्षाजनोक्तिषु।
सभावनोपमाभावेष्विति सत्य दशात्मना॥
ओदनोप्युच्यते चोरो राज्ञी देवीति समता।
दृपदप्युच्यते देवो दुर्विधोपीश्वराभिव॥
दृष्टाधरादिरागापि कृष्णकेश्यपि भारती।
प्राचुर्याच्छ्वेतरूपस्य सर्वशुक्लेति सा स्तुता॥
ह्रस्वापेक्षो भवेद्दीर्घ पच्यन्ते किल मण्डका।
अपि मुष्ट्या पिनष्टीन्द्रो गिरीन्द्रमपि शक्तित॥
अतद्रूपापि चन्द्रास्या कामिन्युपमयोच्यते।
चोरे दृष्टेप्यदृष्टोक्तिरित्यादि वदता नृणाम्॥
स्यान्मण्डलाद्यपेक्षाया सत्य दशविध वच.।

सत्य दश प्रकारका है—१ जनपद, २ संमति, ३ स्थापना, ४ नाम, ५ रूप, ६ अपेक्षा, ७ व्यवहार, ८ संभावना, ९ उपमा, १० भाव। इनके उदाहरण क्रमसे इस प्रकार है—१ भातको चोर कहना, २ रानीको देवी कहना, ३ पत्थरको देव कहना, ४ भाग्यहीन अथवा कुरूपको भी ईश्वर कहना, ५ यद्यपि भारतीके अधर रक्त और केश काले होते है फिर भी श्वेत रूप प्रचुरतासे पाया जाता है, इसलिये उसको सर्वशुक्ला कहना, ६ किसी वस्तुको उससे भी छोटी वस्तुकी अपेक्षा दीर्घ कहना, ७ बनी हुई रोटीके विषयमें यह कहना कि रोटी पक रही है, ८ इन्द्र

यदि शक्तिसे काम ले तो वह अपनी मुष्टिमें सुमेरुका भी चूर्ण कर सकता है, ९ चन्द्रमाके सदृश रूप न रहते हुए भी किसी कामिनीको चन्द्रमुखी कहना ८ देखे हुए भी चोरको विना देखा हुआ कहना।

ऊपरके श्लोकमें उपमासत्यके उदाहरणका उल्लेख करते हुए पल्य शब्दके साथ जो चशब्दका प्रयोग किया है सो वह अनुक्तविषयके भी समुच्चय दिखानेकेलिये है। अत एव उसमें यह अर्थ भी संगृहीत होजाता है। नौ प्रकारके असत्यमृषारूप अनुभय वचनको भी यदि साधु आगमसे अविरुद्ध बोले तो उससे उसके सत्यव्रतकी हानि नहीं होती। क्योंकि ऐसे इन वचनोंसे सत्यका अतिवर्तन नहीं होता। यथाः—

सत्यमसत्यालीकव्यलीकदोषादिवर्ज्यमनवद्यम्।
सूत्रानुसारि वदतो भाषासमितिर्भवेच्छुद्धा॥

असत्य अलीक व्यलीक आदि दोषोंसे रहित अनवद्य और सूत्रके अविरुद्ध बोलनेवाले साधुकी भाषासमिति शुद्ध समझी जाती है।

ऊपर जिनका उल्लेख किया है उन नौ प्रकारके अनुभय वचनोंको गिनाते और स्पष्ट करते हैः—

याचनी ज्ञापनी पृच्छानयनी संशयिन्यपि।
आह्वानीच्छानुकूला वाक् प्रत्याख्यान्यप्यनक्षरा॥
असत्यमोषभाषेति नवधा बोधिता जिनैः।
व्यक्ताव्यक्तमतिज्ञानं वक्तुः श्रोतुश्च यद्भवेत्॥

१ याचनी २ ज्ञापनी ३ पृच्छा ४ आनयनी ५ संशयिनी ६ आह्वानी ७ इच्छानुकूला ८ प्रत्याख्यानी ९ और अनक्षरा। इस प्रकार असत्यमृषाभाषाके जिनेन्द्रदेवने ९ भेद गिनाये हैं। इन ९ प्रकारके वचनोंको असत्यमृषा इसलिये कहते हैं कि इनके वक्ता और श्रोता दोनोंको इनके वाच्यविषयका जो मतिज्ञान होता है वह कुछ व्यक्त और कुछ अव्यक्त होता है।

इन नौ भेदोंका विवरण करते है—

त्वामह याचयिष्यामि ज्ञापयिष्यामि किंचन ।
प्रष्टुमिच्छामि किंचित्त्वामानेष्यामि च किंचन ॥
बाल किमेष वक्तीति ब्रूत संदेग्धि मे मन ।
आव्हयाम्येहि भो भिक्षो करोम्याज्ञा तव प्रभो ॥
किंचित्त्वा त्याजयिष्यामि हु करोत्यत्र गो कुत ।
याचन्यादिषु दृष्टान्ता इत्थमेते प्रदर्शिता ॥

१ मै तुमसे याचना करवाऊंगा, २ मै कुछ पूछना चाहता हू, ४ मै कुछ लाऊंगा, ५ यह बालक क्या कह रहा है ? बताओ तो मेरा मन संदेहमे पडगया है, ६ हे साधो ! मे तुमको बुला रहा हूं, यहां आओ ७ जो आपकी आज्ञा होगी वही करूंगा, ८ म तुमसे कुछ छुडवा दूगा, ९ यहांपर गौ हुं हुं क्यों कर रही है। ये क्रमसे याचनी आदि भाषाके उदाहरण है। इसी तरह और भी समझलेने चाहिये।

इस प्रकार सत्यका स्वरूप और भेद प्रभेद समझकर साधुओंको सत्य महाव्रतका पालन करना चाहिये। मै कुछ अयोग्य वचन नही बोलता; एतावता मेरे सत्यव्रतका पालन होगया; ऐसा मुमुक्षुओंको समझकर संतोप धारण न करलेना चाहिये। उन्हे असत्य वचनोंका सुनना भी छोडना चाहिये; क्योंकि उनको सुनकर अशुभ परिणामोंका होना संभव है और उनमे फिर महान् कर्मबन्ध हो सकता है। अतएव साधुओंको यतके साथ उन वचनोंका सुनना छोडदेना चाहिये कि जिनसे अशुभ परिणामोंका होना संभव हो। जैसा कि आगममें भी कहा है कि:—

तव्विवरीद सच्च कज्जे काले मिद सविसए य ।
भत्तादिकहारहिद भणाहि त चेव य सुणाहि ॥

साधुओंको योग्य कार्य योग्य काल और अपने विषयमें मित और भक्तादि कथाओंसे रहित सत्य वचन बोलना चाहिये और ऐसे ही वचन उन्हे सुनने भी चाहिये।

इस सत्य महाव्रतका व्याख्यान पूरा करके क्रमप्राप्त अचौर्य महाव्रतका ग्यारह पद्योंमें व्याख्यान करनेकी इच्छासे पहले चोरीके दोष दिखाते हुए उससे त्याग करनेका उपदेश देते हैः—

दौर्गत्याद्यग्रदुःखाग्रकारणं परदारणम्।
हेयं स्तेयं त्रिधा राद्धुमहिंसामिष्टदेवताम् ॥ ४८ ॥

इच्छित पदार्थोंको देनेवाली तथा अभिमत देवताके समान अहिंसाका आराधन करनेकेलिये मुमुक्षुओंको उस स्तेय—चौरकर्मका सर्वथा त्याग करदेना चाहिये; जो कि दुर्गति—नरकादिकोंके उग्र—महान् दुःखका प्रधान कारण, और दूसरोंका अच्छी तरह विनाश करनेवाला है। क्योंकि चोरीमें प्रवृत्ति करनेवालेको परलोकमें नरकादिककी जो प्राप्ति होती है वह और उसके सिवाय इस लोकमें दारिद्र्य वध बंधन आदि शारीरिक तथा मानसिक जो संतापरूप फल प्राप्त होते है वे सब स्पष्ट है। यथाः—

"वधबन्धयातनाश्च छायाघात च परिभव शोकम्।
स्वयमपि लभते चौरो मरण सर्वस्वहरण च ॥"

चोरी करनेवाला मनुष्य वधबंधनकी यातनाओं अथवा और भी अनेक प्रकारकी यातनाओं—दुःखोंको, तथा छायाघात—अपनी या पराई छायाके देखनेसे ही आहत हो जाना, परिभव—तिरस्कार, और शोकको स्वयं ही प्राप्त होता है। किंतु इनके सिवाय मरण और सर्वस्वहरण जैसे फल भी उसको प्राप्त होते है।

इसी प्रकार चोरीके निमित्तसे जो दूसरोंका घात होता है सो भी स्पष्ट है। क्योंकिः—

अर्थेपहृते पुरुष प्रोन्मत्तो विगतचेतनो भवति ।
म्रियते कृतहाकारो रिक्त खलु जीवित जन्तो ॥

धनका हरण हो जानेपर मनुष्य अत्यंत उन्मत्त और चेतनाशून्य होजाता है तथा हाय हाय करता हुआ मर जाता है ।

और भी कहा है किः —

जीवति सुख धने सति बहुपुत्रकलत्रमित्रसयुक्त ।
धनमपहरता तेषां जीवितमप्यपहृत भवति ॥

धनके रहते हुए ही मनुष्य अपने बहुतसे पुत्र कलत्र मित्र प्रभृति बंधु बान्धवोंके साथ सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकता है । अत एव जो मनुष्य उसके धनका अपहरण करता है वह क्या उसके जीवनका ही अपकरण नही करता? अवश्य करता है । इससे सिद्ध है कि चोरी करनेवाला मनुष्य परघात जैसे अकृत्यको भी करता ही है ।

धनका अपहार करना मानो उन प्राणियोंके प्राणोका अपहरण करना है, यह बात दिखाते है—

त्रैलोक्येनाप्यविक्रेयानऽनुप्राणयतोऽङ्गिनाम् ।
प्राणान् रायोऽणकः प्रायो हरन् हरति निर्घृणः ॥ ४९ ॥

जिन प्राणोंको प्राणी त्रिलोकीके मूल्यमे भी बेचना नही चाहते उन प्राणोका अनुवर्तन करनेवाले धनका जो निकृष्ट पापी निर्घृण—करुणारहित होकर हरण करता है वह प्रायः उन मनुष्योंके प्राणोंका ही हरण करता है । क्योंकि यदि किसीसे यह कहा जाय कि " हम तुमको तीन लोककी संपत्ति देंगे, उसके बदलेमें तुम-

हमको अपने प्राण दे दो " तो कोई भी इस बातपर राजी न होगा। इससे मालुम होता है कि मनुष्योंको अपने प्राण सबसे अधिक प्रिय है। और साथ ही प्रत्येक मनुष्य धनको भी अपने प्राणोंमे अधिक ही समझता है। क्योंकि प्राण जाते भी वह धनको जाने देना नहीं चाहता। इससे यह बात भी मालुम होती है कि मनुष्योंका धन उनके श्वासोच्छ्वासके साथ ही श्वासोच्छ्वास लेता है-जीवित रहता है। जिस प्रकार मनुष्य स्वयं अपने प्राणोंका अनुगमन करता है उसी प्रकार अपने धनको वह प्राणोंका अनुगमन कराता है-प्राणोंके साथ ही धनको रखता है। अतएव जो मनुष्य किसीके धनका हरण करता है वह उसके प्राणोंका हरण करता है और वह निकृष्ट पापी तथा निर्दय व्यक्ति है ऐसा ही समझना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि—

पापास्रवणद्वारं परधनहरणं वदन्ति परमेव।
चौरः पापतरोऽसौ शौकनिकव्याधजारेभ्यः ॥

चोरी करनेवाला मनुष्य अहेरिया व्याध और जार पुरुषसे कहीं अधिक पापी है। क्योंकि आगममें दूसरोंके धनके हरणको अत्यंत उत्कृष्ट ही पापास्रवका द्वार बताया है।

चोरी करनेवालेके माता पिता प्रभृति भी यही चाहते हैं कि यह हमसे सदा और सर्वत्र दूर ही रहे। यही बात दिखाते हैं—

दोषान्तरजुषं जातु मातापित्रादयो नरम्।
संगृह्णन्ति न तु स्तेयमषीकृष्णमुखं कचित् ॥ ५० ॥

यदि कोई मनुष्य चोरीके सिवाय और कुछ अपराध करे तो कदाचित् उसके माता बहिन भाई आदि बान्धव उसको आश्रय दे सकते हैं। —छिपा सकते हैं। किंतु जिसका मुख चौरकर्मरूपी कज्जलसे काला होगया है उसको वे कभी आश्रय नहीं दे सकते।

भावार्थ—चोरी करनेवालेको संसारमें कोई भी शरण नहीं दे सकता। जब माता पिता ही नहीं दे सकते तब और कौन दे सकता है। कहा भी है किः—

अन्यापराधबाधामनुभवतो भवति कोपि पक्षेपि।
…र्यपराधभाजो भवति न पक्षे निजोपि जनः॥
अन्यस्मिन्नपराधे ददति जना वासमात्मनो गेहे।
मातापि निजे सदने यच्छति वासं न चौरस्य॥

दूसरे अपराधोंसे पीडित होनेवालेके पक्षमें कदाचित् कोई आदमी हो भी जाय पर चोरीका अपराध करनेवालेके पक्षमें निजका—कुटुम्बका भी आदमी नहीं हो सकता।

दूसरे अपराधोंके होनेपर मनुष्य उस अपराधीको अपने घरमें जगह—आश्रय देदिया करते हैं। किंतु चोरीका अपराध करनेवालेको मा भी अपने घरमें जगह नहीं दिया करती।

चोरी करनेवालेके अत्यंत दुःसह दुःखोंके कारणभूत कर्मोंका जो बंध होता है उसको बताते हैं—

भोगस्वाददुराशयाऽर्थलहरीलुब्धोऽसमीक्ष्यैहिकीः,
स्वस्य स्वैः सममापदः कटुतराः स्वस्यैव चामुष्मिकीः।
आरुह्यासमसाहसं परधनं मुष्णन्नघं तस्करः,—
स्तात्किंचिच्चिनुते वधान्ताविपदो यस्य प्रसूनश्रियः॥ ५१॥

चोरी करनेवाला मनुष्य उस अनिर्वचनीय पापकर्मका संचय करता है कि जिसकी वध—प्राणदण्ड पर्यन्त होनेवालीं विपत्तियां ही पुष्पसंपत्ति है क्योंकि अपने कुटुम्बियों—बन्धु बान्धवोंके साथमें जो स्वयं

... होता है उन इहलोकसम्बन्धी उक्त प्राणदण्डान्त विपत्तियोंको तथा उनसे भी अधिक कष्ट और जो केवल अपनेको ही भोगनी पडती है ऐसी परलोकमे प्राप्त होनेवाली आपत्तियोंको न देखकर—उनपर किसी प्रकारका विचार न करके और असाधारण साहसपर आरूढ होकर जो वह पर धनका हरण करता है सो केवल विषयभोगोंका स्वाद लेनेकी दुष्ट आशासे और एक साथ ही प्रचुर धनके आनेमे लुब्ध होकर—गृद्धि रखकर ही करता है।

भावार्थ—चोरी करनेवालेको जिन कर्मोंके उदयसे ऐहिक तथा पारलौकिक असह्य यातनाओंका सहन करना पडता है उनके बंधके कारण वे दुर्भाव है जो कि विषयभोगोंकी लोलुपताको तृप्त करनेकेलिये युगपत् प्रचुर-धन प्राप्त करनेकी इच्छासे दूसरोंके धनापहारकी गृद्धिरूप होते है। इन अभिकांक्षारूप परिणामोसे तीव्र कर्मोंका संचय होता और फिर उनके उदयसे असह्य दुःख प्राप्त होते है। अत एव यह स्पष्ट है कि चोरी करनेवालेके जो दुर्भाव होते है उनके अनुसार दोनो भवोमे प्राप्त होनेवाले दुःसह दुःखोके कारणभूत घोर पापकर्मका बंध हुआ करता है।

चोरी और उसका परित्याग दोनोका दृष्टांतपूर्वक फल बताते हैं:—

श्रुत्वा विपत्तीः श्रीभूतेस्तद्भवेन्यभवेष्वपि ।
स्तेयात्तद्व्रतयेन्माढिमारोढु वारिषेणवत् ॥ ५२ ॥

श्रीभूतिकी तरह इस चोरीके निमित्तसे इस भवमे तथा भवान्तरोमे भी जो विपत्तियां प्राप्त होती है उनको सुनकर मुमुक्षुओंको पूज्यतापर आरूढ होनेकेलिये वारिषेणकी तरहसे चौरकर्मका त्याग ही करना चाहिये।

भावार्थ—चोरीके निमित्तसे दोनो ही भवमें जीवको श्रीभूतिकी तरह विपत्तियां प्राप्त होती और उसके त्यागसे वारिषेणकी तरह पूज्यता प्राप्त होती है। अत एव अचौर्यव्रत धारण करना उचित है।

और भी चोरीके दोषोको प्रकाशित करते हुए उसका त्याग करनेकेलिये दृढ करते हैं:—

गुणविद्यायशःशर्मधर्ममर्माविधः सुधीः ।
अदत्तादानतो दूरे चरेत्सर्वत्र सर्वथा ॥ ५३

गुण विद्या यश शर्म-कल्याण और धर्म इन सबके मर्मका छेदन करनेवाले अदत्तादानसे सम्यग्ज्ञानियोंको सर्वत्र-समस्त देश और समस्त कालमे तथा सर्वथा-सभी भगोंसे दूर ही रहना चाहिये ।

भावार्थ—दूसरेकी विना दी हुई किसी भी धनादिक वस्तुके ग्रहण करलेनेको चोरी कहते है । जिस प्रकार प्राणियोंके मर्मपर आघात होते ही उनका मरण हो जाता है उसी प्रकार चौर कर्ममें प्रवृत्ति होते ही मनुष्योंके कुलीनता नम्रता धीरता आदि गुण तथा अनेक प्रकारकी विद्याए और सुख तथा धर्म सब नष्ट होजाते है ।

ज्ञान और संयमादिकके साधनोंको यदि कोई विधिपूर्वक दे तो उनको ग्रहण करना चाहिये ऐसी शिक्षा देते हैः—

वसतिविकृतिबर्हवृसीपुस्तककुण्डीपुरःसरं श्रमणैः ।
श्रामण्यसाधनमवग्रहविनाग्राह्यामिन्द्रादेः ॥ ५४ ॥

आगममे मुनियोंको कोई भी पदार्थ ग्रहण करनेका जो विधान बताया है उसी विधिके अनुमार यदि कोई देवेन्द्र या नृपति प्रभृति श्रामण्यके साधन—अध्ययन, कायशुद्धि, तथा संयमादिककी सिद्धिके कारणभूत वसति-प्रतिश्रय, विकृति-भष्म, बर्ह-पिच्छ, वृसी- व्रतियोंका आसन, पुस्तक कमण्डलु आदि पदार्थ दे तो तपस्वियोंको वे ग्रहण करने चाहिय ।

भावार्थ—साधुओंको रंचमात्र भी अदत्त वस्तु ग्रहण न करनी चाहिये। यदि कोई दे भी तो आगमोक्त विधिके अनुसार दी हुई और ज्ञान तथा संयमका जो साधन हो ऐसी ही वस्तु ग्रहण करनी चाहिये।

विधिपूर्वक दिये हुए संयमादिके साधनोंको ग्रहण करके जो साधु यथोक्त संयमका पालन करता है उसीका अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध हो सकता है, ऐसा उपदेश देते हैः—

शचीशधात्रीशगृहेशदेवतासधर्मणां धर्मकृतेरस्ति वस्तु यत् ।
ततस्तदादाय यथागमं चरन्नऽचौर्यचंचुः श्रियमेति शाश्वतीम् ॥ ५५ ॥

शचीश—इंद्र-प्रकृतमें पूर्व पश्चिम और दक्षिण दिशाका स्वामी सौधर्मेन्द्र तथा उत्तर दिशाका अधिपति ऐशानेन्द्र और भूपति-राजा, एवं वसतिकाका स्वामी गृहेश, तथा क्षेत्रका अधिष्ठाता देव, और अपने सगके साधु, इनकी ऐसी वस्तु जो धर्मका साधन हो उसको उसके स्वामीकी आज्ञासे ग्रहण करके आगमानुसार संयमका अनुष्ठान करनेवाला साधु अचौर्यव्रतमें दृढ रह सकता और शाश्वत—अविनश्वर लक्ष्मी—मुक्तिश्रीको प्राप्त कर सकता है।

भावार्थ—साधुको कोई भी अदत्त वस्तु ग्रहण न करनी चाहिये। यदि इंद्र राजा गृहेश देवता और साथी साधु इनमेंसे किसीकी ऐसी कोई वस्तु हो कि जिसके निमित्तसे अपने ज्ञान संयमका साधन हो सकता हो तो वह भी उस वस्तुके स्वामीकी आज्ञासे लेकर ही अपने उस ज्ञानसंयम साधनके काममें लेनी चाहिये। ऐसा करनेपर ही उसका अचौर्यव्रत स्थिर रह सकता है।

अचौर्यव्रतको स्थिर रखनेकेलिये और उसके माहात्म्यको उद्दीप्त करनेकेलिये साधुओंको १ शून्यागार

२ विमोचितावास ३ परोपरोधाकरण ४ भैक्ष्यशुद्धि ५ और सधर्माविसंवाद, इन पांच भावनाओंके भानेका उपदेश देते हैं:—

शून्य पदं विमोचितमुतावमेद्भैक्षशुद्धिमनुयस्येत ।
न विसवदेत्सधर्मभिरुपरुन्ध्यान्न परमप्यचौर्यपर: ॥ ५६ ॥

तृतीय अचौर्य व्रतका पालन करनेवाले साधुको शून्य-निर्जन गुहा गृह प्रभृति तथा विमोचित-परचक्रादिक जिसको खाली करके चले गये है ऐसे स्थानमे निवास करना चाहिये। और भैक्ष्य-भिक्षाओंमें अथवा भिक्षामे प्राप्त अन्नमे शुद्धिका विचार करके—पिण्डशुद्धिके प्रकरणमें जो भिक्षाके दोष बताये है उनका परिहार करके प्रवृत्ति करनी चाहिये। तथा यह तेरा है यह मेरा है यह समझकर अथवा ऐसा प्रकरण उपस्थित करके साधर्मी साधुओं अथवा श्रावकादिकसे विसंवाद-झगडा उपस्थित न करना चाहिये। एवंच दूसरोंको रोकना भी न चाहिये—अभ्यर्थनादिकके द्वारा किसीका संकोच न करना चाहिये। यदि कोई श्रावकादिक अन्य पुरुष भी उस स्थानादिपर आवें तो उनके प्रतिबंधका प्रयत्न न करना चाहिये। इन पांच भावनाओंके निमित्तसे साधुओंका अचौर्यव्रत स्थिर रहता और उद्दीप्त होता है।

अचौर्यव्रतकी भावनाओंको प्रकारान्तरसे बताते हैं:—

योग्यं गृह्णन् स्वाम्यनुज्ञातमस्यन्,
सर्कित तत्र प्रत्तमप्यर्थवत्तत् ।
गृह्णन् भोज्येप्यस्तगर्धोपसङ्ग:,
स्वाङ्गालोची स्यान्निरीह: परस्वे ॥ ५७ ॥

स्वामीके द्वारा अनुज्ञात और योग्य-सयम अथवा ज्ञानकी साधक वस्तुका ही ग्रहण करते हुए, तथा उसके ग्रहण करनेमें भी आसक्तिका त्याग करते हुए, एवंच दी हुई वस्तुको भी प्रयोजन मात्र ग्रहण करते हुए साधुओंको पर वस्तुमें सर्वथा निरीह होना चाहिये । इसी प्रकार भोज्य वस्तुके ग्रहणमें तथा शरीरमें गृद्धिका परित्याग कर और परिग्रहसे रहित हो तथा अपने शरीरका आलोचन करते हुए अथवा आत्मा और शरीरमें भेदावलोकन करते हुए मुमुक्षुओंको पर वस्तुओंमें आकांक्षा न करनी चाहिये ।

भावार्थ—यहांपर दो प्रकारसे पांच पांच भावनाएं बताई है। एक आचार शास्त्रके अनुसार, दूसरी प्रतिक्रमण शास्त्रके अनुसार । आचार शास्त्रमें कहा है कि—

उपादान मतस्यैव मते चासक्तबुद्धिता ।
ग्राह्यस्यार्थकृतो ह्यानमितरस्य तु वर्जनम् ॥
अप्रवेशोऽमतेऽगारे गृहिभिर्गोचरादिषु ।
तृतीये भावना योग्ययाञ्चा सूत्रानुसारत ॥

तृतीय—अचौर्यव्रतमें ये पांच भावनाएं भानी चाहिये । १ अनुमत—स्वामीके द्वारा अनुज्ञात और योग्य ही वस्तुका ग्रहण करना, २ और अनुमत वस्तुमें भी आसक्त बुद्धि न रखना, ३ तथा जितनेसे अपना प्रयोजन सिद्ध हो उतना ही उसको ग्रहण करना बाकीको छोड देना, ४ गोचरादिक करते समय जिस गृहमे प्रवेश करनेकी उसके स्वामीकी अनुमति नही है उसमें प्रवेश न करना, ५ और सूत्रके अनुसार योग्य विषय की ही याचना करना ।

इन्ही पांच भावनाओंका ग्रंथकारने पूर्वार्धमें निदर्शन किया है । स्वामीके द्वारा अनुज्ञात इस विशेषणसे तीन भावनाओंका संग्रह होता है। १ आचारशास्त्रमें कही हुई विधिके अनुसार योग्य वस्तुका याचन २ और योग्य ग्रहण, ३ तथा जिस गृहमें उसके स्वामीकी प्रवेशाज्ञा नहीं है उसमें प्रवेश न करना । क्योंकि

ये तीनो ही विपय स्वामीकी अनुज्ञासे सम्बन्ध रखते हैं। इसी प्रकार योग्य और अनुज्ञात वस्तुके भी ग्रहण करनेमे आसक्ति न रखनेरूप चतुर्थ भावना तथा प्रयोजनमात्र ही उस वस्तुके ग्रहण करनेरूप पाचवी भावना स्पष्ट ह। ये भावनाए आचारशास्त्रके अनुसार हे।

उत्तरार्धमें प्रतिक्रमण शास्त्रके अनुसार पांच भावनाओंका स्वरूप बताया है। प्रतिक्रमण शास्त्रमें कहा है कि:—

देहण भावण चावि उग्गह च परिग्गहे।
संतुट्ठो भत्तपाणेपु तदिय वदमस्सिदो ॥

तृतीय-अचौर्य व्रतको आश्रित-प्राप्त साधुकेलिये आगममे ये पांच भावनाए बताई है। १ देहन-शरीर की अशुचिता या अनित्यता आदिका विचार २ भावन-आत्मा और शरीरको भिन्न भिन्न समझना और निरंतर पुनः पुनः ऐसा विचार करना कि ये शरीरादिक मानों आत्माके एक प्रकारके खोल है। कर्मके उदयसे आत्मापर इनका व्यर्थ ही बोझ लदा हुआ है जिनसे कि उसका कुछ भी उपकार नही होता, इत्यादि। ३ परिग्रहका निग्रह–त्याग, जितने भी चेतन या अचेतनरूप पर पदार्थ है उनके सम्पर्कसे अथवा उनमे ममत्व रखनेसे आत्मा अपने हितमे मूर्च्छित होजाता है-अपने वास्तविक कल्याणकी सिद्धि नही कर सकता। अत एव इनका परिहार करना ही उचित है; ऐसा विचार करना। ४ भक्तसंतोप-विधिपूर्वक जैसा भी भोजन प्राप्त होजाय; चाहे खीर हो चाहे शाक हो उसीमे संतोप धारण करना और ऐसा समझना कि यह तो केवल शरीरकी स्थिरताका उपाय मात्र है। यदि न लिया जाय तो शरीर स्थिर नहीं रह सकता। और उसके विना तपश्चरणद्वारा कर्मोका निर्जरण नहीं किया जा सकता। अत एव उसकी स्थिरताकेलिये निरन्तराय और विधिपूर्वक जो योग्य शुद्ध भोजन मिल गया वही ठीक है। अथवा भोजन न मिलनेपर ऐसा विचार करना कि अच्छा हुआ, अन्तराय कर्म उदयमें आकर निर्जीर्ण होगया। अतः मुझको भोजन नहीं मिला। इसलिये मेरी कुछ हानि नहीं हुई, इत्यादि। ५ पानसंतोप-भोज्य वस्तुकी तरह पेय वस्तुके लाभालाभमें भी संतोष धारण करना और उसकी प्राप्तिकेलिये गृद्धि–लोलुपता न रखना।

इन्हीं पांच भावनाओंको ग्रंथकारने इस पद्यके उत्तरार्धमें बताया है। जिनमेंसे भोज्यमें गृद्धिका त्याग बताकर भक्तसंतोप और पानसंतोप इन दो भावनाओंको, और अपिशब्दसे देहमें अशुचित्वादिकी भावनाको, तथा अपसङ्ग-शब्दसे परिग्रहत्यागकी चौथी भावनाको, और स्वाङ्गालोची शब्दसे आत्मा और शरीरके भेदविज्ञानरूपी पांचवीं भावनाको दिखाया है। इन भावनाओंके निमित्तसे ही अस्तेय व्रत स्थिर रह सकता है। अत एव साधुओंको आचार शास्त्रके अनुसार योग्य याचन योग्य ग्रहण अननुप्रवेश अनासक्ति और अर्थवद्ग्रहण इन पांच भावनाओंको तथा प्रतिक्रमण शास्त्रके अनुसार भक्तसंतोप पानसंतोप देहन अपसङ्ग और स्वाङ्गालोचन इन पांच भावनाओंको भाना चाहिये। और इनका भावन करते हुए परवस्तुके विषयमें सर्वथा निरीह होना चाहिये। ऐसा करनेपर ही अस्तेयव्रत स्थिर रह सकता और उसका माहात्म्य उद्दीप्त हो सकता है।

जिस प्रकार अस्तेय व्रतकी भावनाओंको प्रकारान्तरसे यहां बताया है उसी प्रकार दूसरे व्रतोंकी भी भावनाएं प्रकारान्तरसे ग्रन्थान्तरोंमें और भी बताई है। उनको आगम और प्रकरणके अनुसार समझलेना चाहिये।

अस्तेय व्रतकी अत्यंत दृढतापर अच्छी तरह आरूढ हुए और प्रौढ महिमाके धारण करनेवाले साधु-ओंको जो परम पदकी प्राप्ति होती है उसकी प्रशंसा करते हैं:—

ते संतोषरसायनव्यसनिनो जीवन्तु यैः शुद्धचि,—
न्मात्रोन्मेषपराङ्मुखाऽखिलजगद्दौर्जन्यगर्जद्भुजम् ।
जित्वा लोभमनल्पकिल्बिषाविषस्रोतः परस्वं शकृन्,
मन्वानैः स्वमहत्त्वलुप्तखमदं दासीक्रियन्ते श्रियः ॥ ५८ ॥

शुद्धचिन्मात्र—समस्त विकल्पोंसे रहित निश्चल चैतन्यके उन्मेष—साक्षात् अनुभवोपयोगसे पराङ्मुख

भावार्थ— समस्त वैभाविक भावों और उनके कारणोंसे रहित होकर शुद्ध बुद्ध आत्मस्वरूपमें रमण करने को ब्रह्मचर्य कहते हैं। जैसा कि कहा भी है किः

निरस्तान्याङ्गरागस्य स्वदेहेपि विरागिण ।
जीवे ब्रह्मणि या चर्या ब्रह्मचर्यं तदीर्यते ॥

अपने और दूसरेके भी शरीरमें रागरहित पुरुषको जो आत्मस्वरूप ब्रह्ममें चर्या होती है, उसको ब्रह्मचर्य कहते हैं। यह सब व्रतोंमें प्रधान है। अत एव इसके निरतीचार पालनेसे ही अविनश्वर अनन्त आत्मिक सुख प्राप्त हो सकता है।

दश प्रकारके ब्रह्मचर्यकी सिद्धिकेलिये दश प्रकारके अब्रह्मका त्याग करनेकी प्रेरणा करते हैं:—

मा रूपादिरसं पिपास सुदृशां मा बस्तिमोक्षं कृथा,
वृष्यं स्त्रीशयनादिकं च भज मा मा दा वराङ्गे दृशम् ।
मा स्त्रीं सत्कुरु मा च संस्कुरु रतं वृत्तं स्मरस्मार्य मा,
वर्त्स्यन्मेच्छ जुषस्व मेष्टविषयान् द्विःपञ्चधा ब्रह्मणे ॥ ६१ ॥

हे आर्य ! दश प्रकारके ब्रह्मचर्यका पालन करनेकेलिये—देव गुरु और सधर्माओंकी साक्षीसे ग्रहण किये हुए मैथुनविरतिरूप व्रतकी सिद्धिकेलिये इन दश कामोंको तू मत कर—एक तो सुदरियोंके रूपादिक रस[1]का पान करनेकी अभिलाषा मत कर। उनके मुख प्रभृति अंगोंके सौंदर्यका चक्षुओंके द्वारा, बिम्बाफलके समान ओष्ठोंके रसका जिह्वा इंद्रियके द्वारा, निःश्वासितादिककी सुंदर गंधका घ्राणेंद्रियके द्वारा, पीन—घन और उन्नत

१—इन्द्रियग्राह्य पदार्थोंके स्वादको रस कहते हैं।

इन्ही पांच भावनाओंको ग्रंथकारने इस पद्यके उत्तरार्धमे बताया है। जिनमेसे भोज्यमें गृद्धिका त्याग बताकर भक्तसंतोष और पानसंतोष इन दो भावनाओंको, और अपिशब्दसे देहमें अशुचित्वादिकी भावनाको, तथा अपसङ्ग- शब्दसे परिग्रहत्यागकी चौथी भावनाको, और स्वाज्ञालोची शब्दसे आत्मा और शरीरके भेदविज्ञानरूपी पांचवी भावनाको दिखाया है। इन भावनाओंके निमित्तसे ही अस्तेय व्रत स्थिर रह सकता है। अत एव साधुओंको आचार शास्त्रके अनुसार योग्य याचन योग्य ग्रहण अननुप्रवेश अनासक्ति और अर्थवद्ग्रहण इन पांच भावनाओंको तथा प्रतिक्रमण शास्त्रके अनुसार भक्तसंतोष पानसंतोष देहन अपसङ्ग और स्वाज्ञालोचन इन पांच भावनाओंको भाना चाहिये। और इनका भावन करते हुए परवस्तुके विषयमें सर्वथा निरीह होना चाहिये। ऐसा करनेपर ही अस्तेयव्रत स्थिर रह सकता और उसका माहात्म्य उद्दीप्त हो सकता है।

जिस प्रकार अस्तेय व्रतकी भावनाओंको प्रकारान्तरसे यहां बताया है उसी प्रकार दूसरे व्रतोंकी भी भावनाएं प्रकारान्तरसे ग्रन्थान्तरोंमें और भी बताई है। उनको आगम और प्रकरणके अनुसार समझलेना चाहिये।

अस्तेय व्रतकी अत्यंत दृढतापर अच्छी तरह आरूढ हुए और प्रौढ महिमाके धारण करनेवाले साधु- ओंको जो परम पदकी प्राप्ति होती है उसकी प्रशंसा करते हैः—

ते संतोषरसायनव्यसनिनो जीवन्तु यैः शुद्धचि,—
न्मात्रोन्मेषपराङ्मुखाऽखिलजगद्दौर्जन्यगर्जद्भुजम्।
जित्वा लोभमनल्पकिल्बिषाविषस्रोतः परस्वं शकृन्,
मन्वानैः स्वमहत्त्वलुप्तखमदं दासीक्रियन्ते श्रियः॥ ५८॥

शुद्धचिन्मात्र—समस्त विकल्पोंसे रहित निश्चल चैतन्यके उन्मेष—साक्षात् अनुभवोपयोगसे पराङ्मुख

अतएव अशुद्ध चिद्विवर्तका ही अनुभवन करनेवाले इस समस्त जगत्में-वहिरात्म प्राणिगणोंमे जिसकी भुजाएं अपने दौर्जन्य-अपकारकर्तृत्त्वकी गर्जना कर रही है-इस संसारमें हम ही प्राणियोका सबसे अधिक अपकार करनेमे समर्थ है ऐसा उद्घोषण करनेवाले- तीन जगत्के विजेता लोभ कषायको-गृद्धिरूप परिणामको जीत कर जो तपस्वी दूसरोंके धनको शकृत्— विष्टाके समान अथवा ऐसा समझते है मानो यह वडे भारी पापरूपी विपका स्रोत-नदीका पूर है। और इसीलिये जो अपने महत्त्वसे आकाशके भी महत्वका लोप करते हुए लक्ष्मियों-संपदाओंको दासी—किंकरी बनालेते है। ऐसे संतोपरूपी रसायनका ही सेवन करनेमे निरन्तर तत्पर रहनेवाले साधुगण सदा जीवित रहे-दया दम त्याग समाधिरूप प्राणोंको निरंतर धारण करें।

भावार्थ—यद्यपि लोभकपाय जगद्विजयी है और उसने इस जगत्को-शुद्धात्मस्वरूपके अनुभवनसे दूर कर रक्खा हैं फिर भी वह संतोपके द्वारा जीता जा सकता है। यथाप्राप्त योग्य वस्तुके उपयोगमे ही अपना समीचीन हित समझनेको संतोप कहते है। यह संतोप रसायनके समान है; क्योंकि इसका सेवन दीर्घायुरादिक गुणोंकी प्राप्तिका कारण है। इसीके निमित्तसे साधु पुरुप दूसरोंके धनमें निरीह होकर-अस्तेय व्रतका दृढताके साथ पालन करके आकाशसे भी अधिक महत्ता प्राप्त करलेते है। क्योंकि जो दूसरोंके धनमे स्पृहा नही रखता उससे भी अधिक महान् और कौन हो सकता है। ऐसे पुरुपकी समस्त संपत्तियां दासी बनजाती है और वह दया दम त्यागादिकरूप प्राणोंको धारण कर चिरजीवी हो, परम पदको प्राप्त करलेता है।

इस प्रकार अचौर्य महाव्रतका व्याख्यान पूर्ण करके अब क्रमप्राप्त ब्रह्मचर्य महाव्रतका पैंतालीस पद्योंमे व्याख्यान करना चाहते है। किंतु मुमुक्षुओंको उसका पालन करनेकेलिये विशेप रुचि उत्पन्न हो इसलिये पहले उसके माहात्म्यका वर्णन करके नित्य ही उसका पालन करनेमे उद्यम करनेकी प्रेरणा करते है—

प्रादुःषन्ति यतः फलन्निजगुणाः सर्वेप्यखर्वौजसो
यत्प्रह्वीकुरुते चकास्ति च यतस्तद्ब्राह्ममुच्चैर्महः।

त्यक्त्वा स्त्रीविषयस्पृहादि दशधा ऽब्रह्मामलं पालय,
स्त्रीवैराग्यनिमित्तपञ्चकपरस्तद् ब्रह्मचर्यं सदा ॥ ५९ ॥

जिसके निमित्तसे अथवा जिसके होनेपर आत्माके अहिंसादिक भाव बृहत् होते-बढते है उस शुद्ध निजात्माकी अनुभूतिरूप परिणतिको ब्रह्म, और उससे भिन्न मैथुनभावको अब्रह्म कहते है। जिस प्रकार ब्रह्मके निमित्तसे अहिंसादिक भाव बढते उसी प्रकार अब्रह्मके होनेपर हिंसादिक भाव बढते हैं। क्योंकि मैथुन सेवनमें उद्यत हुवा मनुष्य स्थावर और त्रस दोनो ही प्रकारके प्राणियोंकी हिंसा करता; मृषा भाषण करता; अदत्त वस्तुका ग्रहण करता; और चेतन तथा अचेतन परिग्रहका संग्रह भी करता है। इस तरह स्वभावसे ही दूषित इस अब्रह्मके, स्त्रीसम्बन्धी रूप रस गन्ध स्पर्श शब्द प्रभृति विषयोंमे स्पृहा-अभिलाषासे लेकर वस्तिमोक्षादिक दश भेद है जिनका कि आगे चलकर वर्णन करेंगे। इस दशो प्रकारके अब्रह्मको हे मोक्षार्थी भव्य तू देव गुरु और सधर्माओंकी साक्षीसे छोड कर मानुषी तिरश्ची दैवी और उनकी प्रतिमा इस तरह चारो ही प्रकारकी स्त्रियोंमे वैराग्य—रिरसा—रमण करनेकी इच्छाका निग्रह करनेकेलिये जो कामके दोषोंका पुनः पुनः विचार प्रभृति पांच निमित्त कारण बताये है जिनका कि स्वरूप आगे चल कर लिखेंगे उनमे प्रधानतया तत्पर रहकर उस ग्रहण किये हुए निर्मल - निरतीचार ब्रह्मचर्यका सदा—यावज्जीवन पालन कर—उसको अच्छी तरह उद्दीप्त कर। क्योंकि इस ब्रह्मचर्यके ही निमित्तसे व्रत शील प्रभृति गुण - संयमके भेद प्रादुर्भूत होते और फलते है—आत्माके प्रयोजनको सिद्ध करनेमें समर्थ होते है। तथा जितने भी अखर्व तेजके धारण करनेवाले है वे सब इसके सामने नम्र होते है। और इसीके निमित्तसे शब्द अथवा केवलज्ञानरूपी ब्रह्मका वह श्रुतकेवलित्व अथवा केवलित्व पर्यंत उत्कृष्टताको प्राप्त हुआ और स्वपरप्रकाशक तेज प्रकाशित होता है जो कि प्रसिद्ध है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्यके होनेपर ही संयम उत्पन्न और सफल हो सकता तथा सांसारिक प्रभुता भी जा-

गृत हो सकती है। क्योंकि इसके तेजके सामने नारायण प्रतिनारायण चक्रवर्ती और प्रतीन्द्रादिककी तो बात ही क्या, अखर्व—बढते हुए और उन्नत तेज तथा उत्साहके धारण करनेवाले इद्र अथवा अहमिन्द्रादिक भी खडे नहीं रह सकते, नत हो जाते है। और इसीके निमित्तसे आत्माका वास्तविक ज्ञानस्वरूप आविर्भूत होता है। अतएव हे मुमुक्षो! इस तरहके ब्रह्मचर्यका तुझको देव गुरु और सधर्माकी साक्षीसे ग्रहण कर यावज्जीवन पालन करना चाहिये। और उसके विरोधी स्त्रीविषयाभिलाषा प्रभृति अब्रह्म भावोंका सर्वथा त्याग करना चाहिये।

ब्रह्मचर्यके स्वरूपका निरूपण कर उसका पालन करनेवालोंको जो परमानन्द प्राप्त होता है उसको बताते हैं—

या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धे चर्या परद्रव्यमुचः प्रवृत्तिः।
तद्ब्रह्मचर्यं व्रतसार्वभौमं ये पान्ति ते यान्ति परं प्रमोदम् ॥६०॥

दृष्ट श्रुत और अनुभूत इन तीनो ही प्रकारके भोगोंकी आकाक्षारूप निदान तथा और भी जो रागादि रूप वैभाविक मल—दोष है उन सबसे रहित होनेके कारण यह आत्मा शुद्ध और समस्त पदार्थोंका युगपत् साक्षात्कार-प्रत्यक्ष अवलोकन करनेमें समर्थ है इसलिये बुद्ध है। ऐसे शुद्ध और बुद्ध निजात्मा-अपने चित्स्वरूप ब्रह्ममें पर द्रव्योंका त्याग करनेवाले-अपने और परके शरीरसे भी ममत्वरहित व्यक्तिकी जो प्रवृत्ति-अप्रतिहत परिणतिरूप चर्या होती है उसीको ब्रह्मचर्य कहते है। क्योंकि "ब्रह्ममें चर्या सो ब्रह्मचर्य" ऐसा ही निरुक्तिपूर्व अर्थ वैयाकरण भी करते है। यह व्रत समस्त व्रतोंमे सार्वभौमके समान है। क्योंकि समस्त भूमिके अधिपति चक्रवर्तीको सार्वभौम कहते है। जिस प्रकार पृथ्वीके सभी राजा मुकुटबद्धतक भी चक्रवर्तीके ही अधीन रहा करते है उसी प्रकार शेष सभी व्रतोंकी वृत्ति-प्रवृत्ति ब्रह्मचर्यके ही अधीन हो सकती है। इसके विना कोई व्रत पल नहीं सकता। अत एव जो मुमुक्षु इस ब्रह्मचर्यका पालन-रक्षण करते है-उसको अतीचारोंसे दूपित नहीं होने देते वे ही पुरुष परम प्रमोद-सर्वोत्कृष्ट आनन्द-मोक्षसुखको प्राप्त किया करते है।

भावार्थ— सरत वैभाविक भावों और उनके कारणोंसे रहित होकर शुद्ध बुद्ध आत्मस्वरूपमें रमण करने को ब्रह्मचर्य कहते है । जैसा कि कहा भी है कि: -

निरस्तान्याङ्गरागस्य स्वदेहेपि विरागिण ।
जीवे ब्रह्मणि या चर्या ब्रह्मचर्य तदीर्यते ॥

अपने और दूसरेके भी शरीरमें रागरहित पुरुषको जो आत्मस्वरूप ब्रह्मग चर्या होती है, उसको ब्रह्मचर्य कहते है । यह सब व्रतोंमें प्रधान है । अत एव इसके निरतीचार पालनेसे ही अविनश्वर अनन्त आत्मिक सुख प्राप्त हो सकता है ।

दश प्रकारके ब्रह्मचर्यकी सिद्धिकेलिये दश प्रकारके अब्रह्मका त्याग करनेकी प्रेरणा करते है:—

मा रूपादिरसं पिपास सुदृशां मा वस्तिमोक्षं कृथा,
वृष्यं स्त्रीशयनादिकं च भज मा मा दा वराङ्गे दृशम् ।
मा स्त्रीं सत्कुरु मा च संस्कुरु रतं वृत्त स्मरस्मार्य मा,
वर्त्स्यन्मेच्छ जुषस्व मेष्टविषयान् द्विःपञ्चधा ब्रह्मणे ॥ ६१ ॥

हे आर्य ! दश प्रकारके ब्रह्मचर्यका पालन करनेकेलिये—देव गुरु और सधर्माओंकी साक्षीसे ग्रहण किये हुए मैथुनविरतिरूप व्रतकी सिद्धिकेलिये इन दश कामोंको तू मत कर—एक तो सुंदरियोंके रूपादिक रसका पान करनेकी अभिलाषा मत कर। उनके मुख प्रभृति अंगोंके सौंदर्यका चक्षुओंके द्वारा, बिम्बाफलके समान ओष्ठोंके रसका जिह्वा इंद्रियके द्वारा, निःश्वासितादिककी सुंदर गंधका घ्राणेंद्रियके द्वारा, पीन—घन और उन्नत

१—इन्द्रियग्राह्य पदार्थोंके स्वादको रस कहते है ।

स्तनादिकोंके स्पर्शका स्पर्शनेन्द्रियके द्वारा, गीतादिकके मनोहर शब्दोंका श्रोत्रेन्द्रियके द्वारा परिभोग करनेकी इच्छा मत कर। दूसरे, वस्तिमोक्ष–लिङ्गकी विकारक्रियाको तू मत कर। क्योंकि लिङ्गकी विकारक्रियाके त्याग करनेको ही तो ब्रह्मचर्य कहते हैं। अत एव ब्रह्मचर्यका पालन करनेकेलिये तू इस क्रियाको मत कर। तीसरे, वृष्य पदार्थोंका सेवन मत कर। दूध वगैरह अथवा अन्नमें उर्द वगैरह जो ऐसे पदार्थ हैं कि शुक्रकी वृद्धि करनेवाले हैं उनका सेवन मत कर। चौथे, वृष्य पदार्थका ही नहीं किंतु स्त्रीशयनासनादिकका भी सेवन मत कर। क्योंकि जिस प्रकार कामिनियोंके अङ्गके स्पर्शसे प्रीतिकी उत्पत्ति होती है उसी प्रकार उनके शयनासनादिक भी प्रीतिकी उत्पत्तिके निमित्त हैं। जैसा कि कामियोंको होता हुआ देखते हैं। अत एव स्त्रीसम्बंधी शयन और आसनका भी सेवन न करना चाहिये–उनपर बैठना न चाहिये। पांचवें, तू अपनी दृष्टी को उनके वराङ्ग–योनिस्थानकी तरफ मत लगा। दृष्टिसे मतलब केवल द्रव्यचक्षुको ही नहीं किंतु भावचक्षुको भी मत लगा। क्योंकि उसका विचार भी रागोद्रेक तथा अब्रह्मका बडा भारी कारण है। अत एव उनके कामाङ्गको तू निगाहमें भी मत ला। छठे, तू उनका सत्कार–सम्मान मत- कर। सातवें, वस्त्र माला आदि शृङ्गारसामग्रीसे उनका संस्कार–भूषण–शृङ्गार मत कर। आठवें तू अपने पूर्वानुभूत मैथुनका स्मरण मत कर। मैंने पहले अपनी कमनीय कामिनियोंके साथ इस तरह और ऐसा रमण किया था ऐसा स्मरण मत कर। नौवें, आगामी–भविष्यत्के लिये रमणकी इच्छा मत कर। मैं स्वर्गीय अङ्गनाओंके साथ इस इस तरहसे रमण करूंगा ऐसी कल्पना या आकांक्षा मत कर। दशवें, इन्द्रियोंको अभिलषित और मनोहर विषयोंका सेवन मत कर।

भावार्थ— इन-दश प्रकारके अब्रह्मभावोंका परित्याग करनेपर ही ब्रह्मचर्यकी सिद्धि हो सकती है। अत एव मुमुक्षु तपस्वियोंको इनका त्याग ही करना चाहिये।

१—यहांपर शयन और आसन शब्दसे अभिप्राय जिसपर स्त्रियां सोती या उठती बैठती हों उस पदार्थसे है। खट्वा— चारपाई अथवा मांसढ आसनका ही अभिप्राय नहीं है।

संसारके विषय दुर्निवार है, उनका परित्याग करना सहज नहीं है। वे मुनियोंके भी मनमें विकार उत्पन्न कर देते हैं। अत एव उनका परिहार करने के लिये जो समर्थ नहीं हैं ऐसे विनेयोंको उस परिहारके विषयमें सावधान—उद्युक्त करते हैं:—

यद्वद्वज्रं घुणवद्वज्रमीष्टे न विषयव्रजः।
मुनीनामपि दुष्प्रापं तन्मनस्तत्त्वमुत्सृज ॥ ६२ ॥

जिस प्रकार घुण वज्रको नहीं वेध सकता उसी प्रकार जिस मनको ये इन्द्रियोंके विषय रूपादिक नहीं वेध सकते—विकृत नहीं कर सकते वह मन मुनियों—तपस्वियोंको भी दुर्लभ है। अत एव हे मुमुक्षो! तू इन दुर्निवार विषयोंको छोड।

भावार्थ — जिस मनको वेधनेकेलिये ये संसारके दुर्निवार भी विषय सर्वथा असमर्थ और दुर्बल समझे जा सकें ऐसे सुदृढ मनको प्राप्त करना ही मुनियोंका कर्तव्य है। इसलिये हे मुमुक्षो! तू इन विषयोंको ऐसा छोड कि जिससे ये तेरे मनको रंचमात्र भी विकृत न करसकें। और तेरे सुदृढ मनके सामने ये दुर्निवार होनेपर भी ऐसे समझे जा सकें जैसे कि वज्रके सामने घुण। घुण वज्रको वेधनेकेलिये बिलकुल असमर्थ और दुर्बल है; क्योंकि वह काष्ठको वेध सकता है; वज्रको नहीं। उसी प्रकार ये विषय भी चाहे दुर्बल हृदयके संसारी प्राणियोंको विकृत करा कर सकें पर तेरे मनको बिलकुल भी नहीं। तभी ब्रह्मचर्य व्रत पल सकता और आत्महित सिद्ध हो सकता है।

स्त्रियोंमें वैराग्यका होना ब्रह्मचर्यका मूल है। अत एव पांच भावनाओंके द्वारा उस वैराग्यको प्राप्त कर ब्रह्मचर्यको बढानेकी शिक्षा देते हैं:—

नित्यं कामाङ्गनासङ्गदोषाशौचानि भावयन्।
कृतार्यसङ्गतिः स्त्रीषु विरक्तो ब्रह्म बृंहय ॥ ६३ ॥

१ — इस श्लोकके प्रथम चरणका पाठ " कामाङ्गनाङ्गमासङ्ग — " ऐसा भी है। किंतु अभिप्राय एक ही है।

काम अङ्गना और सङ्ग—स्त्रीसंसर्ग इन तीनोंके दोषों व अशौचका निरंतर विचार और आर्यसङ्गति तथा स्त्रीविरक्ति इन पांच भावनाओंके द्वारा हे मुमुक्षो ! तू अपने ब्रह्मचर्य व्रतकी वृद्धि कर।

भावार्थ—ब्रह्मचर्यकी वृद्धि स्त्रीवैराग्यसे होती और इस वैराग्यकी उत्पत्ति व वृद्धि इन भावनाओंमे होती है; अत एव तपस्वियोंको इनका निरंतर ही अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि कामविकार और स्त्रियों तथा उनके संसर्गमें जो दोष-आत्माका अपकार करनेवाले धर्म-स्वभाव हैं उनका और उनकी अपवित्रताका विचार ही ब्रह्मचर्यको निर्मल बना सकता है। इसी प्रकार ज्ञान और तप आदिकी अपेक्षा जो वृद्ध हैं उनकी संगतिमें रहना और सदा स्त्रियोंमें विरक्त भाव रखना भी ब्रह्मचर्यव्रतकी वृद्धिका कारण है। अत एव इस महाव्रतको सुरक्षित रखने व बढानेकेलिये साधुओंको स्त्रीमात्र और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले सभी भावोंसे विरक्त रहना चाहिये। जैसा कि कहा भी है —

मातृस्वसृसुतातुल्य दृष्ट्वा स्त्रीत्रिकरूपकम्।
स्त्रीकथादिनिवृत्तिर्या ब्रह्म स्यात्तन्मतं सताम् ॥

अपनेसे बडी अपनी बराबरकी और अपनेसे छोटी इन तीनो प्रकारकी स्त्रियोंको देखकर उनको क्रमसे माता बहिन और लडकीके समान समझना और स्त्रीकथादिकसे भी निवृत्त होना इसको ही सत्पुरुषोंने ब्रह्मचर्यव्रत माना है।

यहांसे आठ पद्योंमें कामके दोषोंको निरूपण करना चाहते है। किंतु इससे पहले योनि आदिकमें रमण करनेकी इच्छा तीव्र दुःखको उत्पन्न करनेवाली है, इसी बातको उसमें प्रवृत्तिके निमित्तोंका कथन करते हुए प्रकाशित करते हैं:—

वृष्यभोगोपयोगाभ्यां कुशीलोपासनादपि ।
पुंवेदोदीरणात्स्वस्थः कः स्यान्मैथुनसंज्ञया ॥ ६४ ॥

वृष्य पदार्थोके भोग और उपयोगसे तथा कुशील पुरुषोंके सेवनसे और अतरङ्गमें उदयको प्राप्त हुए पुंवेद कषायके निमित्तसे होनेवाली मैथुन संज्ञासे, क्या कोई भी पुरुष स्वस्थ-सुखी हो सकता है ? कभी नहीं।

— चारित्रमोहनीय कर्मकी उस नोकषाय प्रकृतिको पुंवेद कहते हैं कि जिसके उदय या उदीरणा होनेपर जीवको योनि आदिकमें रमण करनेकी इच्छा या तीव्र मोह उत्पन्न होता है। प्रकृतमें पुरुषको ही विनेय—पात्र श्रोता समझकर मैथुनसंज्ञाकी उत्पादिका अन्तरङ्ग कारण पुंवेदकी उदीरणा बताया है। किंतु सामान्य मैथुन संज्ञाका अंतरङ्ग कारण सामान्यसे वेद नोकषाय ही है। अत एव यथास्थान स्त्रीवेद या नपुंसकवेदका ग्रहण करना चाहिये। कोमलता, अस्फुटता, कामदेवका तीव्र आवेग, नेत्रविभ्रम और सुखपूर्वक पुरुषके साथ रमण करने की कामना ये सब स्त्रीवेदके भाव हैं। इसके उल्टे पुरुषवेदके भाव हुआ करते हैं। और दोनोंके मिश्ररूप नपुंसकवेदके हुआ करते हैं।

प्रकृतमें पुंवेदकी उदीरणा होनेके बाह्य कारण तीन बताये हैं—वृष्य पदार्थोका भोग और उपयोग तथा कुशीलसेवा। जो पदार्थ कामके बढानेवाले तथा उद्दीप्त करनेवाले हैं ऐसे दूध बतासे आदिके भोजन पानसे तथा रमणीय उद्यानादिकका सेवन करनेसे और स्त्रीलम्पट तथा व्यसनी पुरुषोंकी सेवा उपासना करने अथवा उनके अधीन होकर रहनेसे पुंवेदकी उदीरणा होती है। यहांपर अपि शब्द भिन्न क्रमका बोधक है। अत एव इन तीनों अथवा इनमेंसे एक दो निमित्तसे भी पुंवेदकी उदीरणा होती है ऐसा समझना चाहिये. अथवा इन कारणोंसे और पुंवेदकी उदीरणासे मैथुन संज्ञा उद्भूत होती है ऐसा समझना चाहिये। जैसा कि आगममें चार कारणोंसे मैथुन संज्ञाका उत्पन्न होना बताया है। यथाः —

ओंके देखने सुनने आदिसे जो उसके प्रति उत्कंठागर्भित मानसिक व्यापार होते हैं उनको संकल्प कहते हैं। नखकी त्वचाके समान कठिनताको प्राप्त होजानेवाले शुक्र और शोणित-पिताके वीर्य और माताके रजका जो चारो तरफ गोल परिवरण विशेष होजाता है उसको अण्डा कहते हैं। कामदेवरूपी सर्पकी उत्पत्ति इस संकल्परूपी अंडेसे ही होती है। इसी तरह राग और द्वेष ये दोनों ही इस कामदेवरूपी सर्पकी दो जिह्वाएं हैं। चिन्ताएं ही इसका रोष है। जिस प्रकार किसी व्यक्तिको काटनेके विषयमें अथवा साधारणः भी सर्पमें रोष—कोपविशेष हुआ करता अथवा रहा करता हैं उसी प्रकार कामदेवमें चिंताएं रहा करती हैं। अभिलषित अंगनाओंके गुणोंका समर्थन और दोषोंका परिहार करनेकेलिये जो विचार होता है उसीको चिंता कहते हैं। सर्पमें रोषकी तरह कामी पुरुषमें यह चिन्ता प्रतिक्षण जाग्रत् रहा करती है। जिस प्रकार सर्पके विषय-रहनेके या प्रवेश करनेके स्थान वल्मीकादिके रन्ध्र छिद्र हुआ करते हैं उसी प्रकार कामदेवके विषय रूपादिक है। छिद्रको पाकर वल्मीकमें सर्पकी तरह रूपादिकको पाकर कामदेव अपने अभिलषित विषयमें प्रवेश कर जाया करता है। जिस प्रकार सर्पके तालुस्थानमें एक डाढ-एक महान दात हुआ करता है जिससे कि वह जीवोंको काटा करता है उसी प्रकार इस कामदेवरूपी सर्पके भी महान दर्प-वीर्योद्रेक रहा करता है जिससे कि जीवोंकी कुकृत्यमें प्रवृत्ति हुआ करती है। रति मनका प्रीतिपूर्वक अवस्थान ही इस कामदेवरूपी सर्पका मुख है और ह्री- लज्जा ही इसकी केंचुली है। जिस प्रकार सर्प केंचुलीको छोडदिया करता है उसी प्रकार कामदेव या कामी पुरुष लज्जाको छोडदिया करता है। प्रतिक्षण बढते हुए शोकप्रभृतिदश वेग ही इसका जहर है। ऐसा यह अपूर्व कामदेवरूपी सर्प कितने दुःखकी बात है कि देदीप्यमान विवेकरूपी गरुडकी क्रोड- दोनों भुजाओंके अन्तराल--मोदसे बहिर्भूत इस जगत्को--सारे संसारको बडी बुरी तरहसे काट रहा है।

भावार्थ— विवेकशून्य मनुष्य ही इस कामदेवके वश हुआ करते और उससे दुर्निवार दुःखोंका अनुभव किया करते है। अत एव उन दुःखोंका अनुभव न करना पडे इसलिये मुमुक्षुओंको विवेकपूर्वक उस कामका परित्याग ही करदेना चाहिये—उससे बिलकुल दूर ही रहना चाहिये जो कि अपूर्व सर्पके समान

वृष्यभोगोपयोगाभ्यां कुशीलोपासनादपि ।
पुंवेदोदीरणात्स्वस्थः कः स्यान्मैथुनसंज्ञया ॥ ६४ ॥

वृष्य पदार्थोंके भोग और उपयोगसे तथा कुशील पुरुषोंके सेवनसे और अंतरङ्गमें उदयको प्राप्त हुए पुंवेद कषायके निमित्तसे होनेवाली मैथुन संज्ञासे, क्या कोई भी पुरुष स्वस्थ-सुखी हो सकता है ? कभी नहीं ।

— चारित्रमोहनीय कर्मकी उस नोकषाय प्रकृतिको पुंवेद कहते हैं कि जिसके उदय या उदीरणा होनेपर जीवको योनि आदिकमें रमण करनेकी इच्छा या तीव्र मोह उत्पन्न होता है । प्रकृतमें पुरुषको ही विनेय—पात्र श्रोता समझकर मैथुनसंज्ञाकी उत्पादिका अन्तरङ्ग कारण पुंवेदकी उदीरणा बताया है । किंतु सामान्य मैथुन संज्ञाका अंतरङ्ग कारण सामान्यसे वेद नोकषाय ही है । अत एव यथास्थान स्त्रीवेद या नपुंसकवेदका ग्रहण करना चाहिये । कोमलता, अस्फुटता, कामदेवका तीव्र आवेश, नेत्रविभ्रम और सुखपूर्वक पुरुषके साथ रमण करने की कामना ये सब स्त्रीवेदके भाव हैं । इसके उल्टे पुरुषवेदके भाव हुआ करते हैं । और दोनोंके मिश्ररूप नपुंसकवेदके हुआ करते हैं ।

प्रकृतमें पुंवेदकी उदीरणा होनेके बाह्य कारण तीन बताये हैं—वृष्य पदार्थोका भोग और उपयोग तथा कुशीलसेवा । जो पदार्थ कामके बढानेवाले तथा उद्दीप्त करनेवाले हैं ऐसे दूध बतासे आदिके भोजन पानसे तथा रमणीय उद्यानादिकका सेवन करनेसे और स्त्रीलम्पट तथा व्यसनी पुरुषोंकी सेवा उपासना करने अथवा उनके अधीन होकर रहनेमे पुंवेदकी उदीरणा होती है । यहांपर अपि शब्द भिन्न क्रमका बोधक है । अत एव इन तीनों अथवा इनमेंसे एक दो निमित्तसे भी पुंवेदकी उदीरणा होती है ऐसा समझना चाहिये अथवा इन कारणोंसे और पुंवेदकी उदीरणासे मैथुन संज्ञा उद्भूत होती है ऐसा समझना चाहिये । जैसा कि आगममें चार कारणोंसे मैथुन संज्ञाका उत्पन्न होना बताया है । यथाः —

पणिदरसभोयणाए तस्सुवओगा कुसीलसेवाए ।
वेदस्सुदीरणाए मेहुणसण्णा हवे चउहिं ॥

पुष्ट गरिष्ठ और सरस पदार्थोंका भोजन करनेसे, तथा ऐसे ही जो कि कामके उद्दीपक या वर्धक हों उसका—सेवन करनेसे, एवं कुशील पुरुषोंकी सेवा करनेसे, और वेद–नोकषायकी उदीरणा होनेसे, अर्थात् इन चार कारणोंसे मैथुन संज्ञा उत्पन्न होती है।

निरुक्तिकी अपेक्षा भी मैथुन संज्ञा शब्दका अर्थ ऐसा ही होता है । मिथुन—दम्पति–स्त्री और पुरुष इन दोनोंके कर्मको मैथुन कहते है। किंतु रूढिवश उनका विशेष कर्म जो कि रतिसुखका अनुभव करनेके लिये चेष्टा की जाती है उसीको मैथुन कहते हैं। संज्ञा शब्दका अर्थ वांछा होता है। अत एव मैथुनकी इच्छाको ही मैथुनसंज्ञा कहते है। अर्थात् चारित्रमोहनीय कर्मके उदयसे रागविशेषसे आक्रांत हुए स्त्री और पुरुषकी जो परस्परमें स्पर्श करनेकी अभिलाषाविशेष होती है उसीको मैथुन संज्ञा कहते हैं। किंतु यहां एक बात और भी है वह यह कि ऐसे रागयुक्त चाहे स्त्री और पुरुष ये दो हों अथवा दो पुरुष ही हों, यद्वा दो स्त्रियां ही हों, जो कि परस्परमें एक पुरुषके अथवा स्त्रीके स्तनादिक अवयवोंका मैथुनके अभिप्रायसे संघट्टन करें तो ऐसा सभी कर्म जो कि मैथुनकेलिये किया जाता है, उपचारसे मैथुन ही कहा जायगा। इसको लोकमें संभोग शृंगार कहते हैं। यथा —

अन्योन्यस्य सचित्तावनुभवतो नायकौ यदिद्धमुदौ ।
आलोकनवचनादि स सर्व संभोगशृङ्गारः ॥

बढे हुए हर्ष या प्रीतिसे युक्त दोनो सहृदय व्यक्ति जब परस्परमें अनुभव करते हुए आपसमें प्रेक्षण संभाषण आदि करते है उस समय उनका वह समस्त कर्म संभोगशृंगार कहा जाता है।

आहारादिक संज्ञाओंकी तरह यह मैथुन संज्ञा भी तीव्र दुःखका कारण है; यह बात आगम और अनुभव दोनो ही से सिद्ध है । यथाः—

इह जाहिं वाहिया वि य जीवा पावति दारुण दुक्ख ।
सेवतावि य उभये ताओ चात्तरि सण्णाओ ॥

आगममें कहा है कि—जिनसे वाधित होकर अथवा जिनका सेवन करनेवाले मनुष्य दारुण दुःख को प्राप्त होते है वे संज्ञाएं चार हैं।

और भी कहा है कि—

परितप्यते विपीदति शोचति विलपति च खिद्यते कामी ।
नक्तदिव न निद्रा लभते ध्यायति च विमनस्क ॥

कामी पुरुप विमनस्क होकर, क्योंकि उसका मन विक्षिप्त होजाता है अत एव सतप्त होता विपण्ण होता शोच करता विलाप करता और खिन्न होता है। अधिक क्या निद्रा भी नही लेता और दिन रात उसीका ध्यान करता रहता है।

लोकमें भी प्रसिद्ध है कि:—

उत्कण्ठा परितापो रणरणक जागरस्तनोस्तनुता ।
फलमिदमहो मयाप्त सुखाय मृगलोचना दृष्टा ॥

सुखका अनुभव करनेकेलिये मैंने मृगनयनीको देखा तो अहो उसके फलरूपमे मुझको ये वस्तुए प्राप्त हुई-उत्कण्ठा परिताप रणरणक-उद्वेग जागरण और शरीरकी कृपता।

१ — आहार भय मैथुन और परिग्रह।

और भी कहा है कि:—

असण चयति दीह ससति विरहाणलेण उज्झति ।
सिविणेवि मुणिंदसुह ण लहति णियविणीमूढा ॥

भोजन छोड देता, दीर्घ निःश्वास लेने लगता, और विरहानलसे तप्त भी होता फिर भी नितम्बिनियोंमें मोहित हुआ यह पुरुष मुनीन्द्रोंके सुखको स्वप्नमें भी नहीं पा सकता। अर्थात् वह मुनियोंकीसी क्रिया करके भी मैथुनसंज्ञाके वश हर तरहसे दुःखी ही है।

इन्ही उपर्युक्त सब बातोंको ध्यानमें रखकर ग्रंथकार कहते है कि—ऐसा कौन मनुष्य हे जो कि वृष्य पदार्थोंका भोग और उपयोग तथा कुशीलसेवा इन तीन बहिरङ्ग कारणोंसे और पुरुषवेदके उदयरूप अन्तरङ्ग कारणसे उद्भूत हुई मैथुन सज्ञामे स्वस्थ-सुखी हुआ हो या हो सकता हो? अर्थात् सभी मनुष्योंको इसके कारण दुःखका ही अनुभव करना पडता है।

बहिरात्मा—शरीरमे ही आत्मबुद्धि रखनेवाले प्राणिगण जो कि कामके दुःखोसे ऐसे अभिभूत होजाते है कि जिनका निवारण नहीं किया जासकता, उनके उस दुर्निवार अभिभवपर दुःखके साथ शोक प्रकट करते हैः—

संकल्पाण्डकजो द्विदोषरसनाश्चिन्तारुषो गोचर,-
च्छिद्रो दर्पबृहद्रहो रतिमुखो ह्रीकञ्चुकोन्मोचकः ।
कोऽप्युग्रदशवेगदुःखगरलः कन्दर्पसर्पः समं,
ही दन्दष्टि हठाद्विवेकगरुडक्रोडादपेतं जगत ॥ ६५ ॥

यह कामदेव एक अपूर्व सर्पके समान है जो कि संकल्परूपी अण्डेमे उत्पन्न हुआ करता है। इस अङ्गना-

ओंके देखने सुनने आदिसे जो उसके प्रति उत्कंठागर्भित मानसिक व्यापार होते हैं उनको संकल्प कहते हैं। नखकी त्वचाके समान कठिनताको प्राप्त होजानेवाले शुक्र और शोणित–पिताके वीर्य और माताके रजका जो चारो तरफ गोल परिवरण विशेष होजाता है उसको अण्डा कहते हैं। कामदेवरूपी सर्पकी उत्पत्ति इस संकल्परूपी अंडेसे ही होती है। इसी तरह राग और द्वेष ये दोनों ही इस कामदेवरूपी सर्पकी दो जिह्वाएं हैं। चिन्ताएं ही इसका रोष है। जिस प्रकार किसी व्यक्तिको काटनेके विषयमें अथवा साधारणः भी सर्पमें रोष—कोपविशेष हुआ करता अथवा रहा करता हैं उसी प्रकार कामदेवमें चिंताएं रहा करती हैं। अभिलषित अंगनाओंके गुणोंका समर्थन और दोषोंका परिहार करनेकेलिये जो विचार होता है उसीको चिंता कहते हैं। सर्पमें रोषकी तरह कामी पुरुषमें यह चिन्ता प्रतिक्षण जाग्रत् रहा करती है। जिस प्रकार सर्पके विपय–रहनेके या प्रवेश करनेके स्थान वल्मीकादिके रन्ध्र छिद्र हुआ करते हैं उसी प्रकार कामदेवके विषय रूपादिक है। छिद्रको पाकर वल्मीकमें सर्पकी तरह रूपादिकको पाकर कामदेव अपने अभिलषित विषयमें प्रवेश कर जाया करता है। जिस प्रकार सर्पके तालुस्थानमे एक डाढ–एक महान दात हुआ करता है जिससे कि वह जीवोंको काटा करता है उसी प्रकार इस कामदेवरूपी सर्पके भी महान दर्प–वीर्योद्रेक रहा करता है जिससे कि जीवोंकी कुकृत्यमे प्रवृत्ति हुआ करती है। रति मनका प्रीतिपूर्वक अवस्थान ही इस कामदेवरूपी सर्पका मुख है और ह्री- लज्जा ही इसकी केंचुली है। जिस प्रकार सर्प केंचुलीको छोडादिया करता है उसी प्रकार कामदेव या कामी पुरुष लज्जाको छोडदिया करता है। प्रतिक्षण बढते हुए शोकप्रभृतिदश वेग ही इसका जहर है। ऐसा यह अपूर्व कामदेवरूपी सर्प कितने दुःखकी बात है कि देदीप्यमान विवेकरूपी गरुडकी क्रोड–दोनों भुजाओंके अन्तराल–मोदसे बहिर्भूत इस जगत्को–सारे संसारको बडी बुरी तरहसे काट रहा है।

भावार्थ— विवेकशून्य मनुष्य ही इस कामदेवके वश हुआ करते और उससे दुर्निवार दुःखोंका अनुभव किया करते है। अत एव उन दुःखोंका अनुभव न करना पडे इसलिये मुमुक्षुओंको विवेकपूर्वक उस कामका परित्याग ही करदेना चाहिये—उससे बिलकुल दूर ही रहना चाहिये जो कि अपूर्व सर्पके समान

भयंकर है । क्योंकि मर्पकी अपेक्षा कामदेवकी भयंकरता बहुत अधिक है । सर्पके काटनेपर उतना दुःख नहीं होता जितना कि कामदेवके उद्रेकपर हुआ करता है । इसी प्रकार सर्पके जहरका उतना वेग नहीं होता जितना कि कामदेवका हुआ करता है । शास्त्रमें सर्पके विपके सात ही वेग प्रसिद्ध है । यथा.—

" पूर्वे दर्वीकृता वेगे दुष्टं श्यावीभवत्यसृक ।
श्यावता तेन वक्रादौ सपन्तीव च कीटका ॥
द्वितीये ग्रन्थयो वेगे तृतीये मूधगारवम् ।
दुर्गंधो दंशविक्लेदश्चतुर्थ ष्ठीवन वमि ॥
संधिविश्लेषण तन्द्रा पंचमे पर्वभेदनम् ।
दाहो हिध्मा च षष्ठे तु हृत्पीडा गात्रगौरवम ॥
मूर्छा विपाकोऽतीसार प्राप्य शुक्र तु सप्तमे ।
स्कन्धपृष्ठकटीभ सङ्गचेष्टानिवर्तनम ॥ "

सर्पोके पहले वेगमें मनुष्यका रक्त दूपित होकर काला पडता है और वह कालापन क्रमसे मुखादिकमें भी आजाता है । तथा शरीरके भीतर ऐसा मालुम पडने लगता है मानो कीडे चल रहे हैं—रेंग रहे है । दूसरे वेगमे शरीरमे गांठ पडजाती है और तीसरे वेगमें शिर भारी होजाता, दुर्गंध आने लगती और दंशविक्लेद होजाता है । चौथे वेगमें मुखमे फसूकर गिरने लगना, वमन होता और सन्धिस्थानोंका विश्लेषण होने लगता है । पांचवे वेगमें पर्वस्थानोंका भेदन होने लगता, शरीरमे दाह होता और हिचकी आने लगती है । छठे वेगमें हृदयमें पीडा होने लगती, शरीर भारी होजाता और मूर्छा विपाक तथा अतीसार होजाता है । सातवें वेगमे वह शुक्रतक पहुंचकर स्कन्ध पृष्ठ और कटीका भंग कर देता है और समस्त चेष्टाओंको निवृत्ति—मृत्यु होजाती है ।

१ —काटी हुई जगहमें शोणता होना-डाट पड जाना । २ —अलग अलग होजाना—खिल जाना । ३ —ग्रंथियोंका भिन्न २ होजाना ।

इस प्रकार सर्पके विसके सात ही वेग हैं। किंतु कामदेवके दश वेग हैं जिनका कि आगे वर्णन करेंगे। अत एव यह अपूर्व सर्पके समान है। यह समस्त वहिरात्म जगत् को एक साथ ही और बुरी तरहसे काट रहा है। बुरेपनका अभिप्राय यह कि वृद्ध पुरुषोंमें भी यह अपनी अत्यंत तीव्रता दिखाता और उनको अनुचित कामोंमें प्रवृत्त करादेता है। इस प्रकार वहिरात्म प्राणियोंपर इसका एकच्छत्र राज्य हो रहा है। जैसा कि कहा भी है किः—

इच्छि सरासणु कुसुम सरु अगु ण दीसइ जासु।
हलितसु मयणमहाभडहु तिहुवणि कवणु ण दासु॥

स्त्री शरासन-धनुष है और कुसुम-पुष्प वाण है। यद्यपि जिस के ये धनुष्य और वाण हैं उस धानुष्क का शरीर नहीं दीखता; फिर भी लोक उस को मदन महाभट कहते हैं। तीनों लोकमें ऐसा कौनसा मनुष्य है जो उसका दास न हो।

और भी कहा है किः—

अनङ्ग पञ्चभि पेष्पार्वश्च व्यजयतेषुभि.।
इत्यसभाव्यमथेतद्विचित्रा वस्तुशक्तय॥

यह बात असंभव ही है कि अनंगने और पांच ही वाणोंसे सो भी फूलके वाणोंसे और समस्त जगत् को जीत लिया। अथवा ठीक भी है; क्योंकि वस्तुओंकी शक्तियां विचित्र हुआ करती है।

कामके दश वेगोंको हेतुपूर्वक बताते हैः—

४—शरीररहित-कामदेव।

शुग्दिदृक्षायतोच्छ्वासज्वरदाहाशनारुची: ।
संमूर्छोन्मादमोहान्ताः कान्तामाप्नोत्यनाप्य ना ॥ ६६ ॥

कामके वशीभूत हुआ मनुष्य अभिलषित अङ्गनाको न पाकर क्रमसे इन दश अवस्थाओंको प्राप्त होता है। १ शोक, २ दिदृक्षा—अपनी प्रियतमाके देखनेकी अभिलाषा, ३ आयतोच्छ्वास—लम्बे २ श्वास लेना, ४ ज्वर-शारीरिक संतापरूपी व्याधि, ५ दाह समस्त शरीरमें जलन पडना, ६ अशनारुचि—भोजनपानकी अभिलाशाका दूर होजाना, ७ मूर्छा चेष्टाओंका नष्ट होजाना, १० अंत—नाश—मृत्यु। ये ही दश दशा कामी पुरुष की कामिनीके न मिलनेपर हुआ करती है। कहा भी है कि:—

शोचति प्रथमे वेगे द्वितीये तां दिदृक्षते ।
तृतीये निःश्वसित्युच्चैश्चतुर्थे ढौकते ज्वरः ॥
पञ्चमे दह्यते गात्रं षष्ठे भक्तं न रोचते ।
प्रयाति सप्तमे मूर्छामुन्मत्तो जायतेऽष्टमे ॥
न वेत्ति नवमे किंचिन्म्रियते दशमेऽवश ।
संकल्पस्य वशेनैव वेगास्तीव्रास्तथान्यथा ॥

कामी पुरुष कामके पहले वेगमें शोक करता, दूसरे वेगमें अभीष्ट कामिनीको देखना चाहता और तीसरे वेगमें दीर्घ निःश्वास लेने लगता है। चौथे वेगमें उसको ज्वर कामज्वर आजाता, पांचवें वेगमें शरीर जलने लगता और छठे वेगमें उसकी भोजनके ऊपरसे रुचि हट जाती है। तथा सातवें वेगमें मूर्छित होता, आठवेंमें उन्मत्त होता और नौवेंमें ज्ञानशून्य होकर दशवें वेगमें मृत्युको प्राप्त हो जाता है। कामी पुरुषके ये तीव्र मंद या मध्यम वेग केवल संकल्पके ही निमित्तसे हुआ करते है।

आदावभिलाप॰ स्याच्चिन्ता तदनन्तर तत स्मरणम् ।
तदनु च गुणसकीर्तनमुद्वगोथ प्रलापश्च ॥
उन्मादस्तदनु ततो व्याधिर्जडता ततस्ततो मरणम् ।
इत्थमसयुक्ताना रक्ताना दश दशा ज्ञेया॰ ॥

विरही कामुक पुरुषोंकी क्रमसे ये दश दशाएं हुआ करती है । सबसे पहले अभिलाषा, उसके बाद चिन्ता, और उसके अनन्तर स्मरण, उसके पीछे गुणसंकीर्तन, और उसके भी पीछे उद्वेग, और फिर प्रलाप, तथा प्रलापके बाद उन्माद व्याधि जडता और मरण ।

कामसे पीडित हुए मनुष्यके लिये संसारमें ऐसा कोई कृत्य नहीं है कि जिसको वह न करडाले—बुरेसे बुरे काममें भी उसकी प्रवृत्ति होजाती है; यही बात बताते हैः -

अविद्याशाचक्रप्रसृमरमनस्कारमरुता ,
ज्वलत्युच्चैर्भोक्तुं स्मरशिखिनि कृत्स्नामिव शितम् ।
रिरंसुः स्त्रीपङ्के कृमिकुलकलङ्के विधुरितो ,
नरस्तन्नास्त्यासन्नहह सहसा यन्न कुरुते ॥ ६७ ॥

जिस समय अविद्या—अज्ञान निमित्तसे उत्पन्न हुई आशाओं—भविष्य विषयोंके भोगकी आकांक्षाओंके बडे भारी प्रसाररूपी मनस्कार—सकल्प विकल्पकी वायुसे प्रेरित होकर कामदेवरूपी अग्नि मानो समस्त चेतनाका भक्षण करजानकेलिये ही जोरसे जलने लगती है। उस समय व्याकुल यह प्राणी सहसा सूक्ष्म क्रमियोंके कुलके स्थान स्त्रीरूपी कर्दममें संसारका रमण करनेकी इच्छा करना—प्रवेश करना चाहता है । हा, ऐसे समयमें संसारका ऐसा कौनसा अकृत्य है कि जिसको यह नहीं कर डालता ।

भावार्थ—जिस प्रकार अविद्या—जिसका ज्ञान नहीं हो सकता ऐसी अनिर्धारित विशेष आशाओं—दिशाओंसे वहनेवाल वायुमण्डलके द्वारा प्रेरित होकर अग्नि मानो अभी सबका भक्षण करजायगी—सबको भस्मसात् करदेगी इस तरह तीव्र रूपसे जब जलने लगती है तब उसमें अत्यंत घबडाया हुआ आदमी पासमें यदि नितांत कीडोंका घर हो तो उसमें भी वह शीघ्र ही गिरना चाहता है। उस समय वह कृत्य और अकृत्यको कुछ भी नहीं देखता। इसी तरह प्रकृतमें भी समझना चाहिये।

यहांपर स्त्रीको कर्दम—कीचके समान बताया है। क्योंकि जिस तरह कीचमें असंख्यात सूक्ष्म जंतु रहा करते हैं उसी प्रकार स्त्रीके योनिस्थानमें भी जंतु होते हैं जैसा कि कामशास्त्रमें भी कहा है। यथाः—

रक्तजाः कृमयः सूक्ष्मा मृदुमध्याधिशक्तयः ।
जन्मवर्त्मसु कण्डूतिं जनयन्ति तथाविधाम् ॥

स्त्रियोंके अंगविशेषोंमें सूक्ष्म जंतु हुआ करते हैं जो कि रक्तसे ही उत्पन्न होते और जन्मस्थान—योनिमें रिरंसाकी कारणभूत कंडूति—खुजलीको पैदा किया करते हैं।

जिसकी बुद्धि या मन ग्राम्य सुखका अनुभव करनेकेलिये उत्सुक रहा करता है ऐसा मनुष्य उस सुखके कारण धनका उपार्जन करनेके जितने निमित्त है उन सभी कामोंमें दिनरात परिश्रम करता है और उसका मन समस्त स्त्रियोंके विषयमें अनियंत्रित ही रहता है—सभी स्त्रियोंको प्राप्त करनेकेलिये विकृत रहा करता है—यही बात बताते हैः—

आपातमृष्टपरिणामकटौ प्रणुन्नः,
किंपाकवन्निधुवने मदनग्रहेण ।

किं किं न कर्म हतशर्म धनाय कुर्यात,
क क स्त्रियामपि जनो न मनो विकुर्यात ॥ ६८ ॥

जो किंपाकफलकी तरह क्षणमात्रतक ही मधुर मालूम पडता है—जबतक उसका सेवन किया जाय या जिस समयमें सेवन किया जारहा है तभी तक वह सुखावह मालूम पडता है। किन्तु परिणाममें जो अत्यन्त कटु है—अंतमें अथवा रसान्तरका अनुभव करते समय जो दुःखावह ही है। ऐसे निधुवन-मैथुनकर्ममें परतन्त्रताके निमित्त भूतादिकके समान मदन—कामदेवसे प्रेरित हुआ यह प्राणी धनका उपार्जन करनेका ऐसा कौनसा कर्म है कि जिसको यह नहीं करता। तथा ऐसी कौनसी स्त्री है सि जिसमें यह अपने मनको दुरभिप्रायोंके कारण विकृत नहीं बनालेता।

भावार्थ— मदनके अधीन हुआ दीन पुरुप तीन प्रकारकी चेतन मानुपी देवी और तिरश्ची तथा चौथी अचेतन इन चारो ही प्रकारकी स्त्रियोंमें अपने मनको विकृत बना डालता है। जैसा कि कहा भी है कि ' अभिप्रवृद्धकामस्तन्नास्ति यन्न करोति। श्रूयते हि किल कामपरवश प्रजापतिरात्मदुहितरि, हरिर्गोपवधूषु, हरः संतनुकलत्रे, सुरपतिर्गौतमभार्यायां, चन्द्रश्च बृहस्पतिपत्न्यां मनश्चकारेति " कामदेवके उद्दीप्त होनेपर ऐसा कोई काम नहीं है कि जिसको मनुष्य न करडाले। सुनते है कि ब्रह्मा अपनी लडकीके विषयमें, कृष्ण गोपिकाओंमें, महादेव सततुराजाकी स्त्रीमें, इन्द्र गौतमऋषीकी भार्या अहिल्यामें, और चन्द्रमा गुरुपत्नीके विषयमें चंचलचित्त होगया था। इसीलिये तो कहते है कि मुमुक्षुओंको आपातरम्य किंतु परिपाकमें दुःखकर समझ कर कामसुखका परित्याग ही कर देना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

रम्यमापातमात्रेण परिणामेऽतिदारुणम्।
किंपाकफलसकाश तत्क सेवेत मैथुनम् ॥

ऐसा कौन बुद्धिमान् होगा जो कि किंपाक फलके समान सेवनसमयमें ही सुंदर मालुम पडनेवाले किंतु परिणाममें दारुण मैथुनकर्मका सेवन करना चाहे।

ज्येष्ठज्योत्स्नेऽमले व्योम्नि मूले मध्यन्दिने जगत्।
दहन् कथंचिच्तिग्मांशुश्चिकित्स्यो न स्मरानलः॥ ६९

ज्येष्ठमास शुक्लपक्ष और मूल नक्षत्रमें तथा दिनको दो पहरके समयमें[1] एवं जब आकाश निरभ्र मेघशून्य हो ऐसे भी समयमें अपने तीव्र तेजसे जगत्को दग्ध संतप्त करते हुए प्रचण्डरश्मि — सूर्यका किसी प्रकार इलाज किया जा सकता है। शीतल जलका सेक करके या तलघर निकुंज पुष्पवाटिकादिकमें बैठकर अथवा दूसरे शीतोपचार करके उसका आतापजन्य क्लेश दूर किया जा सकता है। किंतु जिस समय यह कामदेवरूपी अग्नि प्रदीप्त होती है उस समय इसका कोई भी प्रतीकार नहीं हो सकता। प्रत्युत ऐसा देखा गया है कि ज्यों ज्यों इस अग्निका शीतोपचार किया जाता है त्यों त्यों वह और भी अधिक प्रदीप्त होती है। जैसा कि कहा भी है कि:—

हारो जलार्द्रवसनं नलिनीदलानि,
प्रालेयशीकरमुचस्तुहिनांशुभासः।
यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि,
निर्वाणमेष्यति कथं स मनोभवाग्निः॥

हार, जलसे भीगा हुआ वस्त्र, कमलिनीके पत्ते, शीतल जलकणोंका सिंचन करनेवाली हिमांशु-चन्द्रमाकी किरणें और सरस चन्दन इत्यादि वस्तुएं जिसके लिये ईंधनका काम करती हैं वह मनोभवाग्नि—कामाग्नि निर्वाणको किस तरह प्राप्त हो सकती है। और भी कहा है कि—

१— यह समय सूर्यके सबसे अधिक प्रखर होनेका है।

चन्द्र पतङ्गति भुजङ्गति हारवल्ली,--
स्रक् चन्दन विषति मुर्मुरतीन्दुरेणु ।
तस्या कुमार भवतो विरहातुराया ,
कि नाम ते कठिनचित्त निवेदयामि ॥

हे कठोरहृदय कुमार ! तेरे विरहसे आतुर हुई —घबडाई हुई उस कामिनीका हाल मै तुझको कहां-तकं बताऊ । आज कल उसको चन्द्रमा चण्डरश्मि सूर्यकी तरह संताप देनेवाला बन रहा है । हारलता भुजङ्गि-नी की तरह पीडित कर रही है । पुष्पमाला और चन्दन जहरका काम कर रहे है । एवं इन्दुरेणु–चन्द्रमाकी धूलि-चांदनी भूसी की आगकी तरह झुलसा रही है ।

कामदेवका उद्रेक समस्त गुणोंके समूहका शीघ्र ही उपमर्दन कर डालता है; ऐसा बताते है:—

कुलशीलतपोविद्याविनयादिगुणोच्चयम् ।
दन्दह्यते स्मरो दीप्तः क्षणात्तृणमिवानलः ॥ ७० ॥

कुल पितादिकके संतानक्रमसे चला आया हुआ आचरण, शील- सदाचार और पवित्रता, तप-इन्द्रिय और अन्त करणके नियमन विषयप्रवृत्तिसे निरोध करनेका अनुष्ठान, विद्या ज्ञान, विनय–तप अथवा ज्ञानादिककी अपेक्षा जो बड है उनके सामने नम्रता रखना, तथा और भी जो प्रतिभा मेधा स्मृति वादित्व वाग्मिता तेजस्विता आरोग्य बल वीर्य लज्जा दाक्षिण्य प्रभृति अनेक लौकिक या पारलौकिक गुण है उन सबके समूहको यह प्रदीप्त हुई कामाग्नि क्षणमात्रमें इस तरहसे भस्म करदेती है जैसे कि साधारण अग्नि घासके ढेरको भी झटसे जलाकर भस्म करदेती है ।

भावार्थः—मनुष्यका इस लोक और परलोक दोनो ही जगह उपकार—कल्याण जिनसे हो ऐसे स्वभा

वोंका गुण कहते हैं। इन गुणोंका कामके साथ विरोध है। हृदयमें इस कामदेवके जागृत होते ही सभी गुण सहसा विलीन होजाते है।

जबसे संसार है तभीसे अर्थात् अनादिकालसे मैथुनसंज्ञा लगी हुई है। इसके निमित्तसे ही उद्भूत हुए समस्त दुःखोका मुझे अनुभव करना पडा! अत एव इसको धिकार है। इस तरह जो मैथुन संज्ञा और उससे होनेवाले दुःखानुभवकी तरफ अतिशय रूपसे धिक्कृत बुद्धि रखनेवाला है वही उसपर विजय प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार मैथुनसंज्ञाकी तरफ धिकारके भाव रखना ही कामभावके निग्रह करनेका उपाय है; ऐसा बताते हैः—

नि:संकल्पात्मसंवित्सुखरसशिखिनानेन नारीरिरंसा,—
संस्कारेणाद्ययावद्धिगहमधिगतः किं किमस्मिन्न दुःखम्।
तत्सद्यस्तत्प्रबोधच्छिदि सहजचिदानन्दनिष्पन्दसान्द्रे,
मज्जाम्यस्मिन्निजात्मन्ययमिति विधयेत्काममुत्पित्सुमेव ॥ ७१ ॥

अन्तर्जल्पसे युक्त उत्प्रेक्षाओंको संकल्प कहते है। इन संकल्प विकल्पोंके जालसे बहिर्भूत-रहित आत्मसंवेदन-शुद्ध निज चित्स्वरूपके अनुभवरूप अथवा उससे उत्पन्न होनेवाले सुखरसकेलिये जो अग्निके समान है, जिसका थोडासा भी स्पर्श होते ही आत्मिक सुखरूपी पारद सहज ही में उडजाता है ऐसे इस नारीरिरंसाके संस्कार-स्त्रियोंमें रमण करनेकी अभिलाषारूप भावनाको ही धिकार है; कि अबतक मैं अधीन रहा हूं। जबसे संसार है तबसे आजतक मैं इसके वशमें रहा हूं। इसलिये मुझको धिकार है। इसके वशीभूत होकर ऐसा कौनसा दुःख है कि जिसको मैने नही पाया। इसके कारण ही मैंने नरक और निगोदतकके भी दुःखोको भोगा है। अत एव अब मैं वारवारके आविर्भावके कारण अत्यंत निबिड और नैसर्गिक-स्वाभाविक ज्ञानानंदरूप अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा अनुभवमें आनेवाले चित्स्वरूपमे जो कि उस मैथुन संज्ञाके संस्कारको शीघ्र ही-प्रकट

होते ही नष्ट करदेनेवाला है; निमग्न होता हूं। इस प्रकार कामके दोषोंका विचार कर साधुओंको जिस समय वह कामदेव उद्भूत होनेके सम्मुख हो तभी उसका निग्रह करदेना चाहिये। क्योंकि उत्पन्न होजानेपर फिर उसकी कोई भी चिकित्सा नहीं हो सकती; जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। और कहा भी है कि "न कामस्यास्ति किंचिच्चिकित्सितम्।" कामदेवका कोई इलाज ही नहीं है। अत एव साधुओंको उत्पन्न होते ही, जैसा कि ऊपर बताया है वैसी भावनाओंके द्वारा, कामवासनाका निग्रह कर डालना चाहिये-उसको दबा देना चाहिये। यही उसपर विजय प्राप्त करनेका उपाय है।

पहले ब्रह्मचर्यकी वृद्धिके लिये स्त्रीवैराग्यकी कारण पांच भावनाओंको निरंतर भानेका उपदेश दिया था। उनमेंसे पहली कामदोषभावनाका यहां व्याख्यान किया। अब स्त्रीदोष भावना प्रकरणप्राप्त है अत एव छह पद्योंमें उसीका व्याख्यान करना चाहते हैं। किंतु पहले जो स्त्रियोंके दोषोंको जानता है वही वस्तुतः पंण्डित है, यह बात मुमुक्षुओंको अभिमुख करके कहते हैं:—

पत्यादीन् व्यसनार्णवे स्मरवशा या पातयत्यञ्जसा,
या रुष्टा न महत्त्वमस्यति परं प्राणानपि प्राणिनाम्।
तुष्टाप्यत्र पिनष्ट्यमुत्र च नरं या चेष्टयन्तीष्टितो,
दोषज्ञो यदि तत्र योषिति सखे दोषज्ञ एवासि तत्॥ ७२॥

जो स्त्री स्मरके वशमें होकर-कामदेवके अधीन होकर पति पुत्र पिता तथा पितृतुल्य गुरु आदिकोंको भी व्यसनके समुद्रमें पटक देती है-उनकी अकल्याणमें प्रवृत्ति करादेती है। और जो रोष और तोष दोनो ही अवस्थाओंमें मनुष्यका अहित ही करनेवाली है। यदि वह वस्तुतः रुष्ट हो जाय, धूर्तता अथवा अनुनयादि करानेके अभिप्रायसे नहीं किंतु यथार्थमें ही वह कुपित होजाय तो वह दूसरे प्राणियोंके महत्त्वका ही नहीं किंतु

प्राणोंका भी अपहरण कर डालती है। और यदि वह तोष संतोष करने लगे—प्रसन्न होजाय तो उस मनुष्यसे इस लोक और परलोक—दोनो ही जगहपर अपनी इच्छानुसार चेष्टाएं कराकर उसको पीस डालती है। उसके समस्त पुरुषार्थोंका उपमर्दन कर चूर्ण कर देती है—उसको बिलकुल भ्रष्ट कर देती है। इस तरहकी इस स्त्रीपर्यायके विषयमें हे मित्र! यदि तू दोषज्ञ है—जिनका कि पहले उल्लेख किया जा चुका है उनको तथा और भी स्त्रीदोषोंको यदि तू जानता है तब तो सचमुचमें ही तू दोषज्ञ-पण्डित है।

भावार्थः—जो वस्तुओंके यथावस्थित दोषोंको जानता है उसको दोषज्ञ कहते हैं। अत एव दोषज्ञ नाम पण्डितका है। और इसी सामान्य अर्थकी अपेक्षासे कोषादिकमें भी पण्डितके पर्यायवाचक शब्दोंके साथ दोषज्ञ शब्दका भी पाठ किया है। यथा "विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञः"। किंतु ग्रंथकार कहते हैं कि मै वस्तुतः दोषज्ञ—पण्डित उसको समझता हूं जो कि स्त्रियोंके दोषोंको जानता है। दूसरे दोषोंको वह जाने या न जाने, यदि स्त्रीदोषोंको जानता है तो वह जरूर पण्डित है। और यदि दूसरे पदार्थोंके दोषोंको जानते हुए भी स्त्रीदोषोंको नहीं जानता तो वह वस्तुतः दोषज्ञ—पण्डित नहीं है। अतएव मुमुक्षु विद्वानोंको सबसे पहले स्त्रीदोषोके जाननेका प्रयत्न करना चाहिये। इसके विना उनके स्त्रीवैराग्यकी सिद्धि ब्रह्मचर्यकी वृद्धि नही हो सकती।

स्त्रियां स्वभावसे ही चंचला—प्रतारणा करनेवाली हैं और इसी लिये वे एक दुःखकी ही कारण हैं; इस बातको दिखाते हुए भी प्रकट करते है कि फिर भी लोक उनपर निरन्तर मुग्ध ही होते हैः—

लोकः किं नु विदग्धः किं विधिदग्धः स्त्रियं सुखाङ्गेषु।
यद्धुरि रेखयति मुहुर्विश्रम्भं कृन्ततीमपि निकृत्या ॥ ७२ ॥

अहा मालूम नहीं ये ससारी प्राणी विदग्ध—व्यवहारकुशल पुरुष हैं अथवा विधिदग्ध है. पूर्वसंचित दुष्कर्मने इतनी बुद्धि भ्रष्ट करदी है? क्योंकि ये लोग सुखके कारणोंकी गणना करते समय सबसे पहले उस स्त्रीकी गणना किया करते है जो कि वंचना—प्रतारणाके द्वारा वारवार विश्वासका घात किया करती है।

भावार्थ—जो पुरुष स्त्रियोंके द्वारा पुनः पुनः प्रतारित होजाता है वह अपनेको चाहे विदग्ध भले ही समझे किंतु उसको विदग्ध नहीं, मुग्ध ही समझना चाहिये। और कहना चाहिये दुष्कर्मने उसकी बुद्धिको भ्रष्ट कर-दिया है। तभी तो अपने अहितकरको भी हितकर और सुखका साधन समझकर पुनः पुनः उसमें राग करने लगता है।

स्त्रियोंका चरित्र इतना दुर्गम और दुरूह है कि सहसा योगियोंके भी लक्ष्यमें वह नहीं आसकता, इसी बातपर लक्ष्य दिलाते हैं:—

परं सूक्ष्ममपि ब्रह्म परं पश्यन्ति योगिनः।
न तु स्त्रीचरितं विश्वमतद्विद्य कुतोन्यथा ॥ ७४ ॥

योगिजन—अष्टांग योगके विषयमें निष्णात मुमुक्षु जन जो मनका भी विषय नहीं हो सकता ऐसे अत्यन्त सूक्ष्म और परमात्मस्वरूप ब्रह्मको स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा भले प्रकार देख सकते और उसका अनुभव भी कर सकते हैं। किंतु स्त्रीचरित्रको वे भी नहीं देख सकते। क्योंकि यदि देख सकते होते तो यह विश्व—समस्त संसार इस विषयकी विद्यासे शून्य किस तरह रह सकता था।

भावार्थ—संसारमें जितनी भी विद्याएं है वे सब महर्षियोंके ज्ञानपूर्वक ही प्रवृत्त हुई हैं। यदि उनको स्त्रीचरित्रका भी ज्ञान होता तो उनके उपदेशके अनुसार इस विषयकी भी कोई विद्या अवश्य प्रवृत्त होती। किंतु ऐसी कोई भी विद्या संसारमें प्रवृत्त नहीं है। इससे मालूम पडता है कि उन योगियोंके भी लक्ष्यमें स्त्रीचरित्र आया नहीं था। अत एव वह अत्यंत दुर्लक्ष्य है यह बात स्पष्ट है। जैसा कि कहा भी है कि: —

मायागेहं ससन्देहं नृशंसं बहुसाहसम्।
कामान्धं स्त्रीमनो लक्ष्यमलक्ष्यं योगिनामपि ॥

रक्ता देवरतिं सरित्यवानिपं रक्ताऽक्षिपत्पङ्गुके,
कान्तं गोपवती द्रवन्तमवधीच्छित्त्वा सपत्नीशिरः
शूलस्थेन मलिम्लुचेन दालितं स्वोष्ठं किलाख्यत्पति,-
च्छिन्नं वीरवतीति चिन्त्यमबलावृत्तं सुवृत्तैः सदा ॥ ७७ ॥

राजा देवरतिकी रानी रक्ताने पंगु पुरुषपर आसक्त होकर अपने पतिको नदीमें पटक दिया था; यह बात प्रसिद्ध है। गोपवतीने अपनी सपत्नी-सौतके शिरको काटकर भागते हुए पतिको भी मारडाला था, इस बातको भी सब लोग जानते ही हैं। और वीरवतीने कुशूलमें छिपकर बैठे हुए मलिम्लुच-अङ्गारक नामके चोरद्वारा अपने ओष्ठके खण्डित किये जानेपर भी अपने पतिद्वारा उसका काटा जाना जाहिर किया था, यह बात भी आगमानुसार प्रायः विदित ही है। ऐसी ही बातोंको देखकर कहना पडता है कि स्त्रियोंके दोष और उनका चरित्र बिलकुल दुर्गम है। अत एव सम्यक् चारित्रका आराधन करनेवाले मुमुक्षुओंको अपने सदाचारको शुद्ध रखनेके लिये और उसकी वृद्धिकेलिये अबलाओंके चरित्र और दोषोंका निरंतर विचार करना चाहिये। जिससे कि स्त्रियोंमें वैराग्यकी सिद्धि और ब्रह्मचर्यकी वृद्धि हो।

इस प्रकार स्त्रीदोष भावनाका वर्णन करके अब क्रमप्राप्त स्त्रीसंसर्गका वर्णन करना चाहते हैं। उसमें यहांपर सबसे पहले, स्त्रियोंको दूर ही से छोडदेना चाहिये-उनकी संगति न करना चाहिये; यह बात उपपत्तिपूर्वक बताते हैः—

सिद्धिः काप्याजितेन्द्रियस्य किल न स्यादित्यनुष्ठीयते,
सुष्ठ्वामुत्रिकसिद्धयेऽक्षविजयो दक्षैः स च स्याद् ध्रुवम् ।

उसके कारण कहते है सो केवल इसीलिये कि वे उसके सूत्रधार है।

स्त्रियोंके रागद्वेषकी उत्कृष्ट कोटी-अन्तिम सीमा बतानेकेलिये उसकी उपपत्ति दिखाते हैः—

व्यक्तं धात्रा भीरुसर्गावशेषौ रागद्वेषौ विश्वसर्गे विभक्तौ।
यद्रक्ता स्वानप्यसून् व्येति पुंसे पुंसोपि स्त्री हन्त्यसून् द्राग्विरक्ता

मालुम पडता है मानो विश्व-जगत्को उत्पन्न करते समय सृष्टिकर्त्ता-ब्रह्माने जब स्त्रीको उत्पन्न किया तब राग और द्वेषके सम्पूर्ण स्कन्धसे ही उसको बनाया और उसके बन चुकनेपर राग और द्वेषका जो भाग अवशेष रहा वह सब उसने अपनी समस्त सृष्टिमें विभक्त करादिया। क्योंकि राग और द्वेषकी अन्तिम सीमा स्त्रीमें ही पाई जाती है। यदि वह राग करने लगे-किसी पुरुषपर आसक्त होजाय तो धनधान्यादिककी तो बात ही क्या वह उस पुरुषको अपने प्राणतक भी दे डालती है। और यदि वह विरक्त हो जाय— द्वेष करने लगे तो शीघ्र ही उस पुरुषके प्राणोंका संहार भी करडाले।

भावार्थ—स्त्रियोंके राग और द्वेष दोनों ही सर्वोत्कृष्ट होकर भी सबसे अधिक भयंकर भी है। जैसा कि कहा भी है किः—

ददाति रागिणी प्राणान् हरति द्वेषिणी पुनः।
रागो वा यदि वा द्वेषः कोपि लोकोत्तरः स्त्रियः॥

स्त्री यदि राग करने लगती है तो अपने प्राणोंको देदेती है और यदि द्वेष करने लगती है तो वह दूसरोंके प्राणोंको लेलेती है। इस प्रकार स्त्रियोंका राग हो यद्वा द्वेष, दोनो ही लोकोत्तर हैं।

सम्यक्चारित्रका आराधन करनेवालोंको सदाचारकी विशुद्धिकेलिये दृष्टांतरूपसे स्त्रीचरित्रकी भावनाका उपदेश देते हैं—

रक्ता देवरतिं सरित्यवानिपं रक्ताऽक्षिपत्पङ्गुके,
कान्तं गोपवती द्रवन्तमवधीच्छित्त्वा सपत्नीशिरः
शूलस्थेन मलिम्लुचेन दलितं स्वोष्ठं किलाख्यत्पति,—
च्छिन्नं वीरवतीति चिन्त्यमबलावृत्तं सुवृत्तैः सदा ॥ ७७ ॥

राजा देवरतिकी रानी रक्ताने पंगु पुरुषपर आसक्त होकर अपने पतिको नदीमें पटक दिया था; यह बात प्रसिद्ध है। गोपवतीने अपनी सपत्नी—सौतके शिरको काटकर भागते हुए पतिको भी मारडाला था, इस बातको भी सब लोग जानते ही हैं। और वीरवतीने कुशूलमें छिपकर बैठे हुए मलिम्लुच—अङ्गारक नामके चोरद्वारा अपने ओष्ठके खण्डित किये जानेपर भी अपने पतिद्वारा उसका काटा जाना जाहिर किया था, यह बात भी आगमानुसार प्रायः विदित ही है। ऐसी ही बातोंको देखकर कहना पडता है कि स्त्रियोंके दोप और उनका चरित्र बिलकुल दुर्गम है। अत एव सम्यक् चारित्रका आराधन करनेवाले मुमुक्षुओंको अपने सदाचारको शुद्ध रखनेके लिये और उसकी वृद्धिकेलिये अबलाओंके चरित्र और दोपोंका निरंतर विचार करना चाहिये। जिमसे कि स्त्रियोंमें वैराग्यकी सिद्धि और ब्रह्मचर्यकी वृद्धि हो।

इस प्रकार स्त्रीदोप भावनाका वर्णन करके अब क्रमप्राप्त स्त्रीसंसर्गका वर्णन करना चाहते हैं। उसमें यहांपर सबसे पहले, स्त्रियोंको दूर ही से छोडदेना चाहिये—उनकी संगति न करना चाहिये; यह बात उपपत्तिपूर्वक बताते हैः—

सिद्धिः काप्यजितेन्द्रियस्य किल न स्यादित्यनुष्ठीयते,
सुष्ठ्वामुत्रिकसिद्धयेऽक्षविजयो दक्षैः स च स्याद् ध्रुवम् ।

चेतःसंयमनात्तपःश्रुतवतोप्येतच्च तावद्भवेद्,
यावत्पश्यति नांगनामुखमिति त्याज्याः स्त्रियो दूरतः ॥ ७८ ॥

जितने इन्द्रियोंको नहीं जीता है—जो उनको अपने वशमें नहीं कर सका है ऐसे मनुष्यके इस लोकसम्बन्धी अथवा परलोकसम्बन्धी कोई भी सिद्धि-अभीष्ट अर्थकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यह बात आगममें कही हुई है। नीतिशास्त्रमें भी ऐसा ही कहा है। यथा "नाजितेन्द्रियस्य क्वापि कार्यसिद्धिरस्ति"—जो इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त नहीं कर सका है उस मनुष्यके किसी भी कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती। अत एव जो दक्ष पुरुष है—जो अपने आत्महित जैसे परलोकसंबंधी कार्यके सिद्ध करनेमें उद्यत है वे अपने उस प्रयोजनको सिद्ध करनेकेलिये इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करनेका अच्छी तरह अनुष्ठान किया करते है—चक्षुरादिक इन्द्रियोंको अच्छी तरह अपने वशमें करनेका प्रयत्न किया करते है। किंतु यह बात निश्चित है कि यह इन्द्रियविजय तब तक नहीं हो सकता जबतक कि चित्तका संयमन न किया जाय। मनका निरोध करनेपर ही इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार उन साधारण पुरुषोंकी तो बात ही क्या, जो कि तप और ज्ञानके अभ्याससे शून्य हैं, किंतु जो तपका और श्रुतका निरंतर आराधन करनेवाले है जो इन विषयोंमें निष्णात है उनके भी मनका निरोध तभी तक हो सकता है जबतक कि वे अङ्गनाओंका मुख नहीं देखते। इससे सिद्ध है कि आत्महित चाहनेवाले भव्योंकेलिये ये स्त्रियां सदा छोडदेनेके ही योग्य हैं।

भावार्थ— जब इन्द्रियोंके अधीन हुए पुरुषका कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता है। तब आत्महित जैसा सर्वोत्कृष्ट कार्य तो सिद्धही किस तरह हो सकता है। वह तो तभी सिद्ध हो सकेगा जब कि स्त्रीसंसर्गका भी परित्याग कर दिया जाय। क्योंकि स्त्रीसंसर्गसे योगियों और ज्ञानियोंका भी मन चचल हो जाता है, उसका वे निरोध नहीं कर सकते, और उनका चित्त संयत नहीं हो सकता। एवंच मनके संयत हुए विना वे मोक्षको भी प्राप्त नहीं कर सकते। अत एव सिद्ध है कि मुमुक्षुओंको अङ्गनाओंका मुख भी न देखना चाहिये और स्त्री मात्रकी संगति भी न करनी चाहिये।

अङ्गना शब्दका अर्थ उत्तम अङ्गवाली-सुन्दरी होता है। अत एव कोई कह सकता है कि यहांपर सुन्दरियोंके ही मुख देखनेका निषेध किया है, जो सुन्दरी नहीं है उनके मुख देखने आदिका इससे निषेध नहीं होता। किन्तु उसे समझना चाहिये कि यहांपर अङ्गना शब्द केवल उपपत्तिकेलिये ही आया है। त्याज्यताके उपदेशमें सामान्यसे स्त्रीशब्दका ही पाठ है। क्योंकि सदाचारमें विप्लव स्त्रीमात्रके संसर्गसे होजाया करता है। अत एव मुमुक्षुओंकेलिये स्त्रीमात्रकी संगति त्याज्य है; ऐसा ही समझना चाहिये। कहा भी है कि:—

द्वयमेव तपःसिद्धौ बुधाः कारणमूचिरे।
यदनालोकनं स्त्रीणां यच्च संग्लापनं तनोः॥

ज्ञानियोंने तपःसिद्धिके दो ही कारण बताये हैं। एक तो स्त्रियोंको न देखना—स्त्रीमात्रकी संगति न करना, और दूसरा शरीरको अच्छी तरहसे क्षीण बनाना—अनशनादि करके अथवा आतापनादि योगके द्वारा उसको कृश करना।

रागी जीव पहले कामिनियोंके कटाक्षपातका निरीक्षण करनेकी तरफ उन्मुख होता और उसके बाद फिर दूसरे भी दुर्भावोंमे प्रवृत्त होता है। इसी क्रमसे अंतमें जाकर वह तत्वरूप परिणत हो जाता है, इस बातको दिखाते हैं।

सुभ्रूविभ्रमसंभ्रमो भ्रमयति स्वान्तं नृणां धूर्तवत्,
तस्माद् व्याधिभरादिवोपरमाने व्रीडा ततः शाम्यति।
शङ्का वन्हिरिवोदकात्तत उदेत्यस्या गुणैः स्वात्मवद्,
विश्वासः प्रणयस्ततो रतिरलं तस्माच्चतस्तल्लयः॥ ७९॥

जिनकी भृकुटियां देखते ही मनको हर लिया करती है– आपात–रमणीय हैं उन वराङ्गनाओंका विभ्रम–सादर या साभिलाप निरीक्षण मनुष्योंके स्वान्त–मनको भ्रान्त बना देता है– व्याकुल करदेता अथवा अयथार्थ भावकी तरफ इस तरहसे झुका देता है, जैसे कि धतूरा पीनेवालेका मन भ्रान्त और व्याकुल हो जाता है, तथा उसको सफेद भी वस्तु पीली दीखने लगती है। इसी प्रकार कामिनी कटाक्षका निरीक्षण कर भ्रांत और व्याकुल हुआ मनुष्य अहितकर भी स्त्रियोंको हितकर समझने लगता है। चित्तके भ्रांत हो जानेपर उससे लज्जा इस तरहसे निवृत्त होजाती है जैसे कि रागके उद्रेकको पाते ही वह दूर होजाया करती है। क्योंकि अत्यंत रागी मनुष्यको किसी प्रकारकी भी लज्जा नहीं रहती। लज्जाके दूर होजानेपर मनमें शंका–भय, जलसे अग्निकी तरह, शांत होजाती –नष्ट होजाती है। उसको लोकनिंदा या गुरु आदिका भय नहीं रहता। इस प्रकार निर्भय होकर वह कामी अपनी अभीष्ट कामिनीपर इस तरहसे विश्वास करने लगता है जैसे कि मुमुक्षु पुरुष गुरुओंसे अध्यात्मतत्वका उपदेश सुनकर निज स्वरूपमें श्रद्धा करने लगता है। विश्वासके उद्भूत होते ही कामिनीमें उसका प्रणय—प्रेमपरिचय भी उसी तरहसे होने लगता है जैसे कि गुरुके निमित्तसे आत्मस्वरूपमें भव्योंके हुआ करता है। इसके अनंतर जैसे कि कोई साधु आत्मस्वरूपमें अच्छी तरह रमण करने लगता और अंतमें उसमें लीन—एकतान होजाता है उसी प्रकार कामी पुरुष भी प्रेमपरिचयके बाद अपनी अभीष्ट नायिकामें पर्याप्त रूपसे रतिकर्म करने लगता और अतमें लीन हो जाता है। क्योंकि जिस प्रकार साधुओंको अपने शुद्धात्म स्वरूपमें समरस हुए विना आत्मिक सुखका अनुभवन नहीं हो सकता उसी प्रकार कामियोंको भी कामिनियोंमें लीन हुए विना सुखानुभव नहीं हो सकता। अत एव वे तल्लीन होजाते हैं–समरसीभावको धारण करने लगते हैं।

कहा भी है कि:—

लब्धायतिप्रगल्भा रतिकर्मणि पण्डिता विभुर्दक्षा।
आक्रान्तनायकमना निर्व्यूढविलासविस्तारा॥
सुरते निराकुलासा द्रवतामिव याति नायकायाङ्गे।
न च तत्र विवेकमुकुल कोय काह किमेतदिति॥

स्नेह अथवा वशित्वको प्राप्त हुई प्रगल्भा नायिका जो कि रतिकर्ममें पण्डित विशु दक्ष और अधिकार प्राप्त करचुकी है, जो विलासका विस्तार करनेमें निर्व्यूढ—पूर्णतया समर्थ है नायिकके मनपर वह सुरतमे निराकुल होकर नायकके अंगमें इस तरहसे प्रविष्ट होजाती है जैसे कि कोई पतला पदार्थ। उस समयमें भिन्नताका भान बिलकुल नहीं होता। यहांतक कि यह कौन है, मैं कौन हू, और यह क्या हो रहा है इसकी तरफ भी उसका लक्ष्य नहीं जाता।

और भी कहा है कि:—

समरमरसरंगु गमिण जिह रइया वज्झंति।
समरसरसरंगुग्गमिण तिह जोइय सिज्झंति ॥

जिस प्रकार रागी पुरुष— नायक और नायिका मिल कर समरसके आनंदका अनुभव कर कर्मबंधको प्राप्त होते है उसी प्रकार योगिजन आत्मस्वरूपमें लीनताके आनन्दका अनुभव कर सिद्धि प्राप्त करते हैं।

कामिनियोंके कटाक्षका निरीक्षण देखनेमात्रमें ही मनोरम किंतु परिणाममें अत्यंत दारुण—भयानक है। यह बात वक्रोक्तिकी उपपत्तिद्वारा बताते हैं:—

चक्षुस्तेजोमयमिति मतेप्यन्य एवाग्निरक्ष्णो,—
रेणाक्षीणां कथमितरथा तत्कटाक्षाः सुधाव्रत।
लीढा दृग्भ्यां भुवमपि चरद्भिस्त्वगप्यर्पणयि:,
स्वान्तं पुंसा पविदहनवद्दग्धुमन्तर्ज्वलन्ति ॥ ८० ॥

वैशेपिकोंका सिद्धान्त है कि दीपकके समान चक्षुरिन्द्रियमें भी रश्मि–किरणें पाई जाती हैं; अत एव वह

तैजस है। तर्कके लिये इस सिद्धांतको मानकर यदि इसपर विचार करें तो मालुम पडता है कि इन मृगनयनी कामिनियोंके नेत्रोंमें यह अग्नि नहीं पाई जाती। भासुररूप और उष्ण स्पर्श गुणसे युक्त बाह्य स्थूल स्थिर और मूर्त द्रव्य जिसका कि दाहकता ही लक्षण है, अग्नि नामसे संसारमें प्रसिद्ध है। यह अग्नि तो इन अङ्गनाओंके नेत्रोंमें नहीं पाई जाती, किंतु इससे विलक्षण ही कोई अग्नि इनमें अवश्य पाई जाती या रहती है। क्योंकि अन्यथा— यदि विलक्षण अग्नि नहीं है तो देखिये कि, उन अङ्गनाओंके जिन कटाक्षोंको लोग अमृतकी तरहसे स्वादु समझ कर पहले अपने नेत्रोंके द्वारा पीजाते हैं—उनका रसास्वादन करलेते हैं: वे ही कटाक्ष उन मनुष्योंके उस मनको जो कि ध्रुव—नित्यरूपकी अपेक्षा सदा अविकृत रहनेवाला और विश्वमात्रमें अलातचक्रकी तरहसे चारो तरफको घूमनेवाला और इसपर भी जो अत्यंत अणु—जो योगियोंके भी सहसा लक्ष्यमें न आसके ऐसा परमाणुसे भी अधिक सूक्ष्म है उसको भी भस्मसात् करनेकेलिये वज्राग्निकी तरहसे आत्माके भीतर प्रज्वलित क्यों हुआ करते हैं?

भावार्थ—यदि साधारण अग्नि ही उसमें पाई जाती या होती जैसी कि वैशेषिकोंने बताई है, तो उसका कार्य प्रकाश या दाह आदि भी होता; सो नहीं होता; बलिक अमृतकी तरह लोग उसका रसास्वादन करने लगते हैं। इससे मालुम पडता है कि चक्षुओंमें जिस तैजसताकी कल्पना वैशेषिकोंने की है वह उसमें नहीं पाई जाती। किंतु यह कहा जा सकता है कि इन मृगनयनियोंके नयनोंमें कोई विलक्षण अग्नि रहती है जो कि ऊपरसे तो अमृतके समान मधुर मालुम पडती है और भीतर जाकर वज्राग्निके समान काम करती है। विवेकको नष्ट कर अन्तरात्माके हितको भस्म करदेती है। इसी लिये तो कहते हैं कि कामिनियोंके कटाक्षका निरीक्षण देखने मात्रमें रमणीय किंतु परिणाममें अत्यंत दारुण है।

कटाक्षनिरीक्षणके द्वारा क्षणमात्रमें ही मनुष्यके हृदयमें जो अपने स्वरूपको अभिव्यक्त करदेनेकी कामिनियोंमें शक्ति है उसको विदग्धोक्तिके द्वारा प्रकट करते हैं:—

हृद्यभिव्यञ्जती सद्यः स्वं पुंसोऽपाङ्गवल्गितैः।

सत्कार्यवादमाहत्य कान्ता सत्यापयत्यहो ॥ ८१ ॥

अपाङ्ग वल्गन—कटाक्षपातके द्वारा दर्शकके हृदयमें तत्क्षण ही अपने स्वरूपको अभिव्यक्त करदेनेवाली कान्ता—प्रमदा, अहो, कितने कष्ट और आश्चर्यकी बात है कि बिना प्रमाणके जबर्दस्ती ही सांख्योंके सत्कार्य-वादको सत्य साबित करदिया करती है।

भावार्थ—सांख्योंका सिद्धान्त है कि:—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥

जितने भी कार्य है वे सभी सत्रूप है- सदा उपस्थित रहनेवाले है। क्योंकि एक तो यह नियम है कि असत्‌की उत्पत्ति नहीं हो सकती—जो पदार्थ नहीं है वह कभी उत्पन्न भी नहीं हो सकता। दूसरे वह कार्य अपने उपादानको ग्रहण करता है। यह नियम है कि उपादानके गुण कार्यमें आया करते हैं। और यह बात तभी हो सकती है जब कि कार्य सत् हो। क्योंकि जो स्वयं असत् होगा वह उपादानके गुणोंको भी ग्रहण किस तरह कर सकेगा। तीसरे, एक पदार्थमे सभी कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होती, यदि कार्य असत्रूप होता तो सभी पदार्थोंसे सब कार्य उत्पन्न हो सकते थे। चौथे, जो पदार्थ जिस कार्यके उद्भूत करनेमे समर्थ है उसीसे वह उत्पन्न—व्यक्त होता है अन्यसे नहीं। यदि कार्य असत् होता तो चाहे जिस पदार्थमे, चाहे जो पदार्थ उत्पन्न हो सकता था। पांचवें, कार्यकारणभाव भी तभी बन सकता है जब कि कार्य सद्रूप हो। यदि कार्य असत् हो तो चाहे जिससे भी वह उत्पन्न हो सकता है। किंतु ऐसा नहीं है। इससे मालुम पडता है कि कार्य सद्रूप ही है। यह सांख्योंका सिद्धान्त यद्यपि असत्य है प्रमाणसिद्ध नहीं है। फिर भी ये प्रमदाएं अपनी चेष्टाके द्वारा जबर्दस्ती उसको सिद्ध करनेका प्रयत्न करती हैं कि उनके कटाक्षका निरीक्षण करते ही मनुष्यके हृदयमें उनका स्वरूप अभिव्यक्त हो जाता है, और फिर वे ही वे दीखने लगती है।

जो मनुष्य इन कामिनियोंके कटाक्षका निरीक्षण करनेमें प्रवृत्त होते है वे अनेक भवतक युक्तायुक्तके विवेकसे शून्य होजाते हैं, यह बात वक्रोक्तिके द्वारा बताते है —

नूनं नृणां हृदि जवान्निपतन्नपाङ्गः,
स्त्रीणां विषं वमति किंचिदचिन्त्यशक्ति ।
नो चेत्कथं गलितसद्गुरुवाक्यमन्त्रा,
जन्मान्तरेष्वपि चकास्ति न चेतनाऽन्तः ॥ ८२ ॥

यह बात निश्चित मालुम होती है कि स्त्रियोंका अपाङ्ग–कटाक्ष मनुष्योंके हृदयपर पडते अपूर्व–लोकोत्तर–और जिसकी शक्ति अचिन्त्य है ऐसे विषको उगलता है । अन्यथा उसके पडते ही आत्मामें चेतनाशक्तिको इतनी गाढ मूर्च्छा क्यों आजाती है जो कि वह सद्गुरुओंके वाक्यरूपी मंत्रके प्रभावको भी भ्रष्ट कर, इसी जन्मकी तो बात क्या, वह चेतना जन्मान्तरमें भी प्रकाशित–प्रबुद्ध नहीं होती ।

भावार्थ—ललनाओंके कटाक्षका असर इतना तीव्र है कि उससे मनुष्योंका विवेक जन्मजन्मान्तरके लिये भी नष्ट हो जाता है । और उसके सामने सद्गुरुका उपदेश भी अपना कुछ प्रभाव नहीं दिखा सकता । अत एव कहना चाहिये कि वह ऐसा अलौकिक–विष है कि जिसकी शक्ति अचिन्त्य है–विचारमें नहीं आसकती । क्यों कि यदि लौकिक विष होता तो उसकी शक्ति मालुम पड सकती थी और मन्त्रद्वारा दूर भी हो सकती थी । विषका अपहरण करनेकी शक्ति रखनेवाले अक्षरसमूहको मंत्र कहते है । लौकिक विष कैसा भी हो, मंत्रद्वारा वह दूर हो सकता है । किंतु गुरूपदेश जैसे मंत्रको भी जो हतप्रभ कर परलोकतक साथ जाता और अपना कार्य–चेतनाशक्ति–विवेकका नाश करता है ऐसा तो कोई अचिन्त्यशक्तिका अलौकिक ही विष हो सकता है ।

संयमका सेवन—साधन करनेवाले साधुओंके भी मनको ये स्त्रियां आलोकन संभाषण आदि किसी भी

प्रकारसे उसके भीतर आकर ऐसा विकृत करदेती है कि जिसका सहसा प्रतीकार नहीं हो सकता। ऐसा भय उत्पन्न करके उनका परिहार करनेकेलिये मुमुक्षुओंको सावधान करते हैं:—

चित्रमेकगुणस्नेहमपि संयमिनां मनः।
यथातथा प्रविश्य स्त्री करोति स्वमयं क्षणात्॥ ८३

संयमियोंका मन यद्यपि एकगुणस्नेह है फिर भी आश्चर्य है कि जिस किसी भी तरहसे स्त्रियां उसमें प्रविष्ट होजाती और क्षणमात्रमें उसको अपने रूप करलेती है।

भावार्थ—जिस पदार्थमें स्निग्धत्व या रूक्षत्व गुणका एक ही गुण अंश—अविभाग प्रतिच्छेद रहता है उसका किसी भी दूसरे पदार्थके साथ बंध नहीं हो सकता। जैसा कि कहा भी है कि "न जघन्यगुणानाम्" जघन्यगुण – एक अविभागप्रतिच्छेदसे युक्त पदार्थका किसीके भी साथ बंध नहीं होता ऐसा नियम है। और यह नियम है कि बंध होनेपर अधिक गुणवाला कम गुणवालेको अपनेरूप परिणत करलेता है। तथाच "बन्धेऽधिकौ परिणामिकौ"। किंतु प्रकृतमें यह बात विरुद्ध नजर आती है कि स्त्रियोंका एकगुणस्नेहवाले भी संयमियोंके मनसे सम्बन्ध होजाता है और वे उसको अपने रूप करलेती है। अत एव इस विरोधाभासका परिहार करनेकेलिये ऐसा अर्थ समझना चाहिये कि—संयमियोंका मन यद्यपि सम्यग्दर्शनादिक गुणोंमें ही उत्कृष्टतया अथवा इन उत्कृष्ट गुणोंमें ही अनुराग रखनेवाला है; यद्वा एकगुण—एकत्वमें ही स्नेह रखनेवाला है, क्योंकि मुमुक्षु साधु समस्त बाह्य उपाधियोंसे रहित एकाकी होना चाहते हैं अथवा शरीर और कर्म नोकर्मके सम्बन्धसे भी रहित होकर शुद्धात्मस्वरूप ही होना चाहते है। फिर भी आलोकन संभाषण आदिके द्वारा उसकी प्रवृत्ति स्त्रियोंकी तरफ झुकजाती है और उससे वह विकृत होजाता है। अत एव साधुओंको अपने ब्रह्मचर्य महाव्रतकी वृद्धिकेलिये और उसके कारणभूत स्त्रीवैराग्यकी सिद्धिकेलिये स्त्रियोंके साथ आलोकन संभाषण भी न करना चाहिये।

थोडासा भी स्त्रीसंपर्क--उनकी संगति या संसर्ग, संयत पुरुषके स्वार्थ-आत्मकल्याणको भ्रष्ट करदेता है, ऐसी शिक्षा देते हैं:—

कणिकामिव कर्कट्या गन्धमात्रमपि स्त्रियाः ।
स्वादुशुद्धां मुनेश्चित्तवृत्तिं व्यर्थीकरोत्यरम् ॥ ८४ ॥

जिस प्रकार कचरीकी गन्धमात्रसे ही स्वादु-मधुर और शुद्ध-स्वच्छ पवित्र भी गोधूमचूर्ण—आटा खराब होजाता है उसी प्रकार स्त्रियोंकी गंधमात्रसे ही मुनियोंकी स्वादुशुद्ध—आनन्द और वीतरागतासे युक्त भी मनोवृत्ति क्षणमात्रमें खराब होजाती है ।

भावार्थ—मुनियोंकी समस्त प्रवृत्तियां कर्मक्षपणकेलिये हुआ करती हैं । अत एव शुद्धात्मस्वरूपके अनुभवसे उत्पन्न हुए आनंद और वीतरागतासे युक्त मनोवृत्तिका भी प्रयोजन कर्मक्षपण ही है । किंतु स्त्रियोंका आलोकन स्पर्शन संभाषण कथोपकथन आदिकी तो बात ही क्या, गंध भी उस मनोवृत्तिको मलिन बनाकर व्यर्थ करदेती है । क्योंकि उससे जो प्रयोजन सिद्ध होना चाहिये सो न होकर विरुद्ध ही अर्थ—प्रयोजन सिद्ध होता है । कर्मोंका क्षय न होकर संचय ही होता है । अत एव साधुओंको स्त्रियोंका संसर्ग ऐसा दूरसे ही छोड देना चाहिये कि जहांसे उनकी गंध भी न आसके । तभी उनका प्रयोजन सिद्ध हो सकता है; अन्यथा नहीं ।

स्त्रीसंगतिके दोषोंको दृष्टांतद्वारा स्पष्ट करके बताते हैं:—

सत्त्वं रेतश्छलात्पुंसां घृतवद् द्रवति द्रुतम् ।
विवेकः सूतवत्क्वापि याति योषाग्नियोगतः ॥ ८५ ॥

स्त्रियां अग्निके समान हैं. अतएव उनके सम्बन्धसे—सगतिसे मनुष्योंका सत्त्व-प्रशस्त मनोगुण रेत-वीर्यके छलसे घीकी तरह उड जाता ह। मालुम भी नहीं पडता कि वह कहा गया।

भावार्थ मनुष्योंके सत्त्व और विवेकको नष्ट करनेकेलिये स्त्रीसंपर्क ऐसा समझना चाहिये जैसे कि घी और पारेकेलिये अग्निका सम्बन्ध।

अभीष्ट कामिनियोंकी विशिष्ट चेष्टाएं बडे भारी मोहके आवेशको उत्पन्न करदेती हैं, यह बात वक्रोक्तिके द्वारा बताते हैं: —

वैदग्धीमयनर्मवक्रिमचमत्कारक्षरत्स्वादिमाः,
सभ्रूलास्यरसाः स्मितद्युतिकिरो दूरे गिरः सुभ्रुवाम् ।
तच्छ्रोणिस्तनभारमन्थरगमोद्दामक्वणन्मेखला,—
मञ्जीराकुलितोपि मङ्क्षु निपतेन्मोहान्धकूपे न कः ॥ ८६ ॥

रसिक चेष्टाएं ही जिनका प्रकृत प्रयोजन है ऐसे नर्म और वक्रिमा—परिहासकेलि और कुटिलताओंके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले चमत्कार—विसयके आवेशसे जिनमें मधुरता—श्रोत्र और हृदयकी आह्लादकताका रस झर रहा है। और जिनके साथ साथ भृकुटियोंके लास्य—नृत्य—स्निग्ध संचालनका भी रम आरहा है। एवं जिनसे स्मित—ईपद् हास और द्युति—कान्ति चारो तरफको फैल रही है। सुन्दरी ललनाओंके वचन तो दूर ही

१—अकर्कश प्रेमोत्पादक।

रहो; क्योंकि वे तो मोक्षमार्गके अत्यंत प्रतिबंधक हैं, अत एव उनके विषयमें तो यहां कुछ कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है। किंतु कहना यह है कि ऐसा कौन मनुष्य है जो कि इन प्रमदाओंके श्रोणि-कटि और स्तनके भारसे-कटि और कुचोंकी गुरुताको न सहनेके कारण गमनके मन्थर—मन्द होजानेसे उद्दाम-उदार गम्भीर मधुर धीमी ध्वनि—रण झण शब्द करते हुए मेखलाके मंजीरोंसे—रशना नूपुरोंके शब्दोंको सुनते झटिति विक्षिप्तचित्त होकर मोहके अन्धकूपमें नहीं गिरपडता।

भावार्थ—कामिनियोंके भृकुटिसंचालनका रसानुभव आदि तो आत्महितका साक्षात् ही विरोधी है। अत एव उसकी त्याज्यताका तो उपदेश ही क्या दें; क्योंकि मुमुक्षुओंको वह तो सबसे पहले ही त्याज्य है। किंतु उन्हें चाहिये कि कामिनियोंका संपर्क करना-संगतिमें रहना भी वे इस तरहसे छोडदें कि जहासे उनकी मेखलादिका शब्द कानोंमें पडकर कहीं उनके मनको विक्षिप्त-मूर्छित न करदे। क्योंकि जब नूपुरोंके शब्दको सुनकर ही मनुष्योंका मन व्याकुल होजाता है तब उसके उस तरहके वचनोंकी तो बात ही क्या है।

स्त्रियोंके साथ संभाषण करनेके दोष बताते हैं:—

सम्यग्योगाग्निना रागरसो भस्मीकृतोप्यहो।
उज्जीवति पुनः साधोः स्त्रीवाक्सिद्धौषधीबलात्॥ ८७॥

समीचीन योग-समाधिरूपी अग्नि प्रयोगवन्हिके द्वारा भस्मरूप-दग्ध किया गया भी साधुओंका रागरूपी रस -मोहरूपी पारद, अहो, आश्चर्यकी बात है कि स्त्रियोंके वचनरूपी सिद्धौषधीके बलसे फिर उज्जीवित होजाता है-प्राण धारण करलेता है।

भावार्थ—जिस कषायको साधुगण बडी मुश्किलसे ध्यान धारणा और समाधी आदि अनेक उपायोंके द्वारा शांत या क्षीण करपाते हैं वही कषाय स्त्रियोंके साथ संभाषण करनेसे क्षणमात्रमें फिर उद्दीप्त होजाता है।

जैसे कि अनेक प्रयोगों—अग्निसंस्कारोंके द्वारा भष्म बनाया गया भी पारा सिद्धौषधीके द्वारा फिर पारा होजाता है ।

नितम्बिनियोंके आलिङ्गनसम्बन्धी फलका विचार कराते हैं:—

पश्चाद्बहिर्वरारोहादो:पाशेन तनीयसा ।
बध्यतेन्तः पुमान् पूर्वं मोहपाशेन भूयसा ॥ ८८ ॥

यह पुरुष इन नितम्बिनियोंके अत्यंत तुच्छ बाहुपाशमें तो बाहिरसे और पीछेमे बंधता है किंतु भीतर—आत्मा या हृदयमें तो उसके पहले ही बडे भारी मोहपाशमें बंध जाता है ।

भावार्थ—बाहिरसे यद्यपि देखनेमें शरीरसे स्त्रियोंका आलिंगन तुच्छ मालुम पडता है किंतु इसके कारणभूत मोहके निमित्तसे आत्माका कर्मके साथ जो बंध होजाता है वह बडा भारी है, जो कि बहिर्दृष्टियोंकी दृष्टिमें नही आसकता, और जो उसके पहिले ही होजाता है । क्योंकि आलिङ्गनके लिये मूर्च्छित परिणामोंके होते ही कर्मबन्ध तो हो ही जाता है; फिर चाहे आलिङ्गन हो या न हो।

स्त्रियोंके अवलोकनादिसे होनेवाले दोषोंका उपसंहार करते हैं:—

दृष्टिविषदृष्टिरिव दृक्कृत्यावत्संकथाग्निवत्सङ्गः ।
स्त्रीणामिति सूत्रं स्मर नामापि ग्रहवदिति च वक्तव्यम् ॥ ८९ ॥

हे साधो ! तुझको स्त्रियोंके विषयमें इन सूत्रोंका सदा स्मरण करना चाहिये—निरंतर अध्ययन और विचार करना चाहिये । क्योंकि इन सूत्रोंसे अनेक अर्थ सिद्ध हो सकते है । नाना अर्थोंके प्ररूपक वाक्योंको ही

सूत्र कहते है। ये सूत्र इस प्रकार है कि—स्त्रियोंकी दृष्टि दृष्टिविष सर्पकी दृष्टिके समान है। जिस प्रकार कितने ही विशिष्ट सर्पोंकी दृष्टिमे ही इतना उग्र विष होता है कि उसके पडते ही मनुष्य मूर्च्छित होजाते है और उनका बल क्षीण होजाता है। उसी प्रकार स्त्रियोंके कटाक्षका भी पात होते ही मनुष्य मोहित हो जाते है और उनके सत्व—पराक्रम या मनोबलका मर्दन होजाता है। इसी प्रकार स्त्रियोंकी कथा—पारस्परिक भाषणको कृत्याके समान समझना चाहिये[2]। जिस प्रकार मारण विद्या मनुष्योंके प्राणोंका सहसा संहार करडालती है, उसी प्रकार यह कथा भी साधुओंके संयमरूपी प्राणोंका तुरंत अपहरण कर लेती है। और उनका संसर्ग अग्निके समान[3] है। जिस प्रकार अग्निमें यदि रत्नको डाल दिया जाय तो वह भस्म हो जाता है, उसी प्रकार स्त्रियोंके शरीरका स्पर्श होते ही संयमरत्न खाकमें मिल जाता है। इस प्रकार ये तीन सूत्र हैं। किंतु इनके ऊपर एक वक्तव्य[4] भी है। उसका भी साधुओंको सदा स्मरण करना चाहिये। वह इस प्रकार है कि—स्त्रियोंका नाममात्र भी ग्रहके तुल्य है। क्योंकि जिस प्रकार भूतादिकमे आविष्ट हुआ पुरुष विक्षिप्तमन हो जाता है उसी प्रकार स्त्रियोंका नाममात्र सुननेसे भी विक्षिप्त हो जाता है।

स्त्रियोंके संसर्गजन्य दोषोंका उपसंहार करते है—

किं बहुना चित्रादिस्थापितरूपापि कथमपि नरस्य।
हृदि शाकिनीव तन्वी तनोति संक्रम्य वैकृतशतानि ॥ ९० ॥

१—पहिला सूत्र।
२—दूसरा सूत्र। ३—तीसरा सूत्र।
४—सूत्रमें जो अभिप्राय न आसके उसको बतानेकेलिये जो सूत्रसे अतिरिक्त वचन कहा जाता है उसको वक्तव्य अथवा वार्तिक कहते है।

मुख्यरूप जो सचेतन स्त्रियां है उनकी तो बात ही क्या किंतु जिनकी केवल आकृति ही देखनेमे आती है ऐसी चित्र पुस्त काष्ठ आदिकमें स्थापित–आरोपित भी ललनाएं किसी तरहसे–प्रज्ञादोषसे अथवा अन्य किसी प्रकारसे मनुष्योंके हृदयमें शाकिनीकी तरहसे संक्रान्त होकर उसमे सैकडों ही विकृत चेष्टाएं करा-देती हैं। और अधिक क्या कहें ?

भावार्थ—अज्ञानी और रागी मनुष्य स्त्रियोंके चित्रको देखकर ही जब विकृतमन होकर अनेक कु-चेष्टाएं करने लगते है जिनमे कि केवल उनकी आकृतिका ही आरोपण किया जाता है; तो साक्षात् स्त्रियोंके संसर्गसे तो, न मालुम, क्या क्या अनर्थ नही हो सकते। शाकिनीके शरीरमें प्रवेश करजानेपर जो जो चेष्टाएं मनुष्य करता है वे सब मन्त्रमहोदधि आदि ग्रथोंमें बताई हुई हैं। तथा स्त्रियोंके संसर्गसे जो चेष्टाएं करता है उनको हम पहले लिख ही चुके हैं।

इस प्रकार स्त्रीसंसर्गके दोषोंका व्याख्यान कर अब क्रमप्राप्त उनकी अशुचिताका वर्णन पांच पद्योंमें करना चाहते है। उसमें पहले सामान्यसे स्त्रियोंके केशपाश मुख और आकृति–शरीरका जो कि आहार्यरम-णीय किंतु झटिति विपर्यासके उत्पन्न करनेवाले हैं, व्याख्यान करते है, जिससे कि मुमुक्षुओंको मुक्तिका उद्योग कर-नेमें सहायता प्राप्त होसके। क्योंकि अशुचिताकी भावना—विचार वैराग्यका कारण हैं—

गोगर्मुद्व्यजनैकवंशिकमुपस्कारोज्ज्वलं कैशिकं,
पादूकृद्गृहगन्धिमास्यमसकृत्ताम्बूलवासोत्कटम्।

१— यथा —

खधो खधो पभणइ लुचइ सीस ण याणए किपि।
गयचेयणो हु विलवइ उड्ढ जोएइ अह ण जोएइ॥

मूर्तिश्चाजिनकृद्दृतिप्रतिकृतिः संस्काररम्या क्षणाद्,
व्यांजिप्यन्न नृणां यदि स्वममृते कस्तर्हुदस्थास्यत ॥ ९१ ॥

स्त्रियों और पुरुषोंके केशपाश मुख और शरीरका वास्तविक स्वरूप देखा जाय तो कुछ और ही है। केशसमूह तो, गौ बैल भैंस आदि पशुओंकी मक्खियोंको उडानेका जो व्यजन अथवा पूंछके बालोंका जो गुच्छा उसी वंशमें, उत्पन्न हुआ है। क्योंकि जो उस व्यजनका गोत्र है वही निन्द्य गोत्र स्त्री और पुरुषोंके बालोंका भी है। इसी प्रकार यदि मुखको देखा जाय तो जैसी चमारोंके घरमें दुर्गन्ध आया करती है वैसी ही इसमें आती है। शरीरको यदि देखा जाय तो उसको भी ठीक वैसा ही समझना चाहिये जैसी कि चमारोंके यहांपर रंगी मशक हुआ करती है। किंतु देखते हैं कि ये तीनों ही अपने इस वास्तविक रूपको लोगोंके सामने प्रकट न कर उन्हें विपर्यास ही उत्पन्न कराते हैं। स्त्रियोंके सामने पुरुषोंके और पुरुषोंके सामने स्त्रियोंके केशसमूह अपनेको संस्कार-अभ्यङ्ग स्नान सुगन्धित धूपनादिके द्वारा उज्ज्वल-सुन्दर सुगन्धित मनोहर और प्रदीप्त प्रकट करते हैं। मुख अपनेको ताम्बूलकी सुगन्धसे सुगन्धित मनोहर और महान् प्रकट करता है। तथा शरीर भी स्नानानुलेपनादिके द्वारा अपनेको रमणीय प्रकाशित करता है। परन्तु क्षणभरकेलिये भी यदि ये ऐसा न करें-संसारके स्त्रियों और पुरुषोंको अपने स्वरूपके विषयमें विपर्यास उत्पन्न करानेका प्रयत्न न करें तो फिर कौन बुद्धिमान् मनुष्य होगा जो कि अमृतपद मोक्षकेलिये तपस्यादि करनेका प्रयत्न करे।

भावार्थः— यद्यपि ये तीनों ही लोगोंको विपर्यास ही उत्पन्न कराते हैं फिर भी मुमुक्षुओंको चाहिये कि वे इनके विपर्यासमें न आकर इनके वास्तविक स्वरूपका ही विचार किया करें; जिससे कि उनके निर्वेदकी सिद्धि होकर अभीष्ट प्रयोजन-मोक्षके साधनमें भी सहायता प्राप्त हो।

जो कामसे अन्धा हुआ पुरुष अपनेमें उत्कर्षकी संभावना करता है, अपनेको महान् समझने लगता है उसके प्रति धिक्कार प्रकट करते हैं:—

कुचौ मासग्रन्थी कनककलशावित्यभिसरन्,—
सुधास्यन्दीत्यङ्गव्रणमुखमुखक्लेदकलुषम् ।
पिबन्नोष्ठं गच्छन्नपि रमणमित्यार्तवपथं,
भग धिक् कामान्धः स्वमनु मनुते स्वःपतिमपि ॥ ९२ ॥

स्त्रियोंके कुचोंको जो कि गदाके आकारमें वन जानेवाली मांसकी ग्रंथी—गाठें है उनको पीनता उन्नतता और कठिनता गुणके कारण सुवर्णका कलश समझ कर जब आलिङ्गन करने लगता है, तथा शरीरके व्रणके समान अत्यंत अशुचिरूप पदार्थके वहने या निकलनेके द्वारके सदृश मुखके क्लेदसे कश्मल हुए ओष्ठको जब अमृतका झरना समझ कर पीने–चूसने लगता है–उनके रसका स्वाद लेने लगता है, और जब रजके वहनेके मार्ग योनिरन्ध्रको अत्यंत रमणीय स्थान समझ कर भोगने लगता है, उस समय कामसे अन्धा हुआ यह पुरुष— जिसको कि मन्मथ–मोहके कारण वस्तुका वास्तविक स्वरूप सूझता ही नहीं है; धिकार है कि दूसरे साधारण मनुष्योंकी तो वात ही क्या, स्वर्गपति—इन्द्रसे भी अपनेको अधिक उत्कृष्ट समझने लगता है। भावार्थ –जो इतना कामसे अन्धा होजाता है कि अत्यंत अशुचि और अस्पृश्य पदार्थोंमें भी रमण करने लगता है तथा उनके सेवन करनेमें भी जो इतना राग करने लगता है कि इन वस्तुओंकी प्राप्तिके सामने उत्तम व्यक्तियोंको भी हीन मानने लगता है उसको अब धिकार देनेके सिवाय और क्या कहें।

जिस समय दृष्टि स्त्रियोंके शरीरमें अनुराग करनेकी तरफ प्रवृत्त हो कि उसी समय— झटिति प्रबुद्ध हुआ उनके स्वरूपका परिज्ञान ही उत्पन्न होनेवाले मोहको दूर कर सकता है, यही वात दिखाते हैं:—

रेतःशोणितसंभवे बृहदणुस्रोतःप्रणालीगल—
द्रहोंद्गारमलोपलक्षितानिजान्तर्भागभाग्योदये ।

तन्वङ्गीवपुधीन्द्रजालवदलंभ्रान्तौ सजन्त्यां दृशि,
द्रागुन्मीलति तत्त्वदृग् यदि गले मोहस्य दत्तं पदम् ॥ ९३ ॥

तन्वङ्गी—ललनाओंके शरीरका यदि वास्तविक स्वरूप देखाजाय तो वह शुक्र और शोणितको उत्पन्न करनेका स्थान अथवा इनको उत्पन्न करनेवाला है । तथा इसमे प्रणालिकाओं—मोरिओंके समान जो बडे और छोटे छिद्र पाये जाते है उनसे अत्यंत ग्लानिके उत्पादक विष्टा मूत्र नाक थूक श्लेष्मा प्रस्वेद प्रभृति बहते हुए मल लोगोंको इस बातका अनुभव या ज्ञान करादेते है कि इनके अन्तर्भागमें—भीतर कितना और कैसा भाग्यका उदय है। फिर भी यह शरीर जैसा कि ऊपर भी कहा जा चुका है लोगोंको भ्रांति—विपर्यास करानेमें पूर्णतया समर्थ है । किंतु इसकी तरफ दृष्टिके अनुरक्त—विपर्यासकी तरफ उन्मुख होते ही, निगाह जाते ही यदि साधुओंका तत्त्वज्ञान झटिति जागृत हो उठता है—शरीरके वास्तविक स्वरूपकी तरफ उनका लक्ष्य चला जाता है, तो कहना चाहिये कि उन्होंने मोहके गलेपर पैर देदिया । लात मारकर चारित्रमोहनीय कर्मका तिरस्कार करदिया और उसपर विजय प्राप्त करली ।

भावार्थ—जो स्त्रियोंके शरीरमें अनुरागका निमित्त पाते ही तत्त्वज्ञानसे काम लेते है और उसमें राग न करके उनके वास्तविक स्वरूप—अशुचिताका विचार करने लगते है वे ही साधु मोहकर्मको जीतकर अपने ब्रह्मचर्यमें वृद्धि और अभीष्ट पदकी सिद्धि प्राप्त कर सकते है ।

स्त्रियोंका शरीर वस्तुतः सुन्दर नही है किंतु रमणीय आहार वस्त्र भूषण अनुलेपनादिकी सजावटसे वैसा मालुम पडने लगता है, इसी बातको प्रौढोक्तिके द्वारा प्रकट करते है:—

वर्चःपाकचरुं जुगुप्स्यवसतिं प्रस्वेदधारागृहं,
बीभत्सैकविभावभावनिवहैर्निर्माय नारीवपुः ।

वेधा वेद्मि सरीसृजीति तदुपस्कारैकसारं जगत,
को वा क्लेशमवैति शर्माण रतः संप्रत्ययप्रत्यये ॥ ९४ ॥

जिसके निमित्तसे हृदय संकुचित होने लगता है ऐसे बीभत्स रसके ही उत्पन्न होनेमे आलम्बन या उद्दीपनरूप दोष धातु मल प्रभृति कारणभूत पदार्थोंके संघातों—स्कन्धोंसे स्त्रियोंके ऐसे शरीरको, जो कि उपभुक्त आहारादिके पकानेकेलिये मानों चरु—बटलोईके समान है और मूत्र पुरीष आर्त प्रभृति ग्लानिके उत्पादक पदार्थोंके ही रहनेका मानों स्थान है, तथा प्रस्वेद—पसीनाके निकलनेके लिये मानों धारागृह—निर्झरस्थानके तुल्य है, बनाकर अब जो विधाता भोगोपभोगके साधनभूत पदार्थोंके ही प्रपञ्चरूप इस जगत्को पुनः पुनः बनाता है उसका सारभूत प्रयोजन एक ही मालुम पडता है। वह यह कि, अब उस शरीरका उपकार करदिया जाय—इन जगत्के समस्त उत्तम पदार्थोंमे उस स्त्रीशरीरको सुगन्धित और रमणीय बना दिया जाय। क्योंकि यह चराचर जगत् कामिनियोंके शरीरमें रमणीयताके संपादनद्वारा ही कामी पुरुषोंके मनमें परम निवृत्ति–उपरतिको उत्पन्न कर सकता है। देखते है भी कि लोकमें उन्होंने रमणियोंके उपभोगको ही परम पुरुषार्थ माना है। जैसा कि भट्ट रुद्रटने भी लिखा है कि;—

राज्ये सार वसुधा वसुन्धराया पुर पुरे सौधम्।
सौधे तल्प तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम् ॥

राज्यमें सारभूत पदार्थ वसुधा पृथ्वी है। वसुधराका भी सार नगर, और नगरका भी सार महल है। एवं महलमें सारभूत पदार्थ पलंग, और पलंगका भी सारभूत रमणीय रमणियोंका रमणसर्वस्व है।

अत एव कहना पडता है कि असुन्दर स्त्रीशरीरको सुंदर बनाने अथवा उसकी जुगुप्स्यता या अशुचिताको छिपानेकेलिये ही मानो ब्रह्मा भोगोपभोगके साधन ही जिसमें एक सार है ऐसे जगत्की वार वार रच-

ना करता है। अथवा ठीक ही है, संप्रत्यय—अतद्गुण वस्तुमें तद्गुणताका अभिनिवेश ही है प्रत्यय-कारण जिसका ऐसे सुखमे आसक्त हुआ ऐसा कौन पुरुष होगा जो कि क्लेश—दुःखका अनुभव करसके; कोई नही।

भावार्थ—जुगुप्स्य भी स्त्रीशरीरको वस्त्रादिकोंके द्वारा सजाकर और उसमें मनोज्ञताका प्रत्यय कर संसारी जन जो सुखका अनुभव करते है उसका कारण केवल मिथ्याभिनिवेश ही है।

जो बहिरात्मा या ऐसे अज्ञानी मनुष्य हैं कि जिनकी बुद्धि निरंतर विषयोंमें ही अच्छी तरहसे मूर्छित रहा करती है और जो स्त्रियोंके अत्यत निन्दनीय उपस्थ स्थानमे ही लालसा रखते है उनके दुःसह दुःखोका उपभोग करानेकी योग्यतासे युक्त असाधारण कारणरूप उद्योगपर खेद प्रकट करते है:—

विष्यन्दिक्लेदविश्रम्भासि युवतिवपुःश्वभ्रभूभागभाजि
क्लेशाग्निक्रान्तजन्तुव्रजयुजि रुधिरोद्गारगर्होद्धुरायाम्।
णाद्यनो योनिनद्या प्रकुपितकरणप्रेतवर्गोपसर्गै,—
मूर्छालः स्वस्यबालः कथमनुगुणयेद्दै तरं वैतरण्यम् ॥ ९५ ॥

तरुणी रमणियोंके शरीररूपी नरकभूमिके एक नियत स्थानमें अवस्थित, एव क्लेद-उबला हुआ—उष्ण—द्रव द्रव्यरूपी दुर्गन्धियुक्त जल निरन्तर बहता रहता है, तथा जो क्लेश-नाना प्रकारके दुःखरूपी अग्निसे संतप्त हुए प्राणिसंघातसे पूर्ण है और जो बाहिर निकलते हुए-बहते हुए रुधिरकी गर्हा-ग्लानिसे उद्रिक्त है, ऐसी योनिरूपी नदीमें जो लम्पट-लालमायुक्त रहता है और जो अत्यंत कुपित हुए इन्द्रियरूपी प्रेतवर्ग-नारकियोंके उपसर्ग—उपद्रवोंसे मूर्छित होजाता है, ऐसा यह अज्ञानी मनुष्य खेद और आश्चर्य है कि वैतरणी नदींमें अपनेको तरने या तरकर पार होने योग्य किस तरह बना सकेगा।

भावार्थ—स्त्रियोंकी योनि बिलकुल वैतरणी नदीके समान है जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। जब कि संसारके साधारण अज्ञानी जन इसको नहीं तर सकते और इंद्रियोंके उपसर्गोंको भी नहीं सह सकते तब यह किस तरह कहा जा सकता है कि वे नरकमें वैतरणीको तरनेमें क्षम हो सकेंगे और नारकियोंके उपद्रवोंको भी सह सकेंगे, कभी नहीं। वे अवश्य ही नारकियोंके द्वारा दिये गये दुःखोंको भोगते हुए वैतरणीमें पडे पडे सडेंगे। इन दुःखोंसे इनके बचनेका उपाय तो यही है कि ये इस योनिनदीको तरकर पार होजांय–उसमें रमण करनेकी इच्छा ही न करें और इन्द्रियोंसे पराजित न होकर उनपर विजय प्राप्त करें। क्योंकि स्त्रियोंके अत्यंत जुगुप्स्य स्थानमें रमण करनेकी लोलुपता रखना और इन्द्रियोंके ही पराधीन रहना नरकमें जानेका ही प्रयत्न करना है।

इस प्रकार अशुचित्व भावनाका निरूपण करके अब क्रमानुसार वृद्ध पुरुषोंकी संगति करनेका पांच पद्योंमें व्याख्यान करना चाहते है। जिसमें पहले निरन्तर ही अपना कुशल–आत्महित चाहनेवाले मुमुक्षुओंको मोक्षमार्ग–रत्नत्रयका निर्वहण[1] करनेमें निष्णात साधुओंकी परिचर्या–वैयावृत्यके अतिशयरूप करनेका उपदेश देते हैं:—

स्वानूकाङ्कुशिताशयाः सुगुरुवाग्वृत्त्यरतचेतःशयाः,
संसारार्तिवृहद्भयाः परहितव्यापारनित्योच्छ्रयाः।
प्रत्यासन्नमहोदयाः समरसीभावानुभावोदयाः,
सेव्याः शश्वदिह त्वयादृतनयाः श्रेयःप्रबन्धेप्सया ॥ ९६ ॥

१—सम्यग्दर्शनादिका उद्योतादि रूपसे आराधन करनेका निरूपण करते हुए निर्वहणका भी स्वरूप पहले लिखा जा चुका है।

हे मुमुक्षो साधो ! इस ब्रह्मचर्यके विषयमें श्रेय कल्याण अथवा सम्यक्चारित्रके प्रबन्ध-अव्युच्छित्तिका प्राप्त करनेकी इच्छासे — यदि तू आत्महित और ब्रह्मचर्य व्रतको पूर्ण करना चाहता है तो तुझको निरंतर सद्गुरुओं-उन वृद्ध आचार्योंकी सेवा — आराधना करनी चाहिये जो कि नीतिका सदा आदर करने वाले हैं उसके जाननेवाले और तदनुकूल सदा व्यवहार करनेवाले हैं। तथा जिनका कुल पिता या गुरुका वंश उनके आशयों मनोवृत्तियोंको सदा उत्पथमें जानेसे अंकुशकी तरहसे रोके रहता है। क्योंकि जो कुलीन पुरुष हैं वे दुरपवादके भयसे — अपकीर्तिके डरसे कभी भी अकृत्यमें प्रवृत्ति नहीं करते — वे सदा दुष्कृत्योंसे ग्लानि ही किया करते हैं। और जिनका मनोभू — कामदेव या उसका संस्कार, सद्गुरुओं — समीचीन उपदेष्टाओंके वचनपर अवस्थान करनेके कारण — उनके उपदेशानुसार चलनेमें सर्वथा अस्त हो चुका है। तथा जिनकी संसारकी पीडाओंसे भीति विपुल होगई — जिनका संवेग प्रतिक्षण बढता ही जाता है। और परोपकार - दूसरोंके हितके सिद्ध करनेमें प्रवृत्ति करनेसे ही जिनका नित्य हर्षका अतिरेक हुआ करता है। जो हर्षके साथ सदा परोपकारमें प्रवृत्ति किया करते हैं। जिनका महान् उदय मोक्ष निकटकालवर्ती होचुका है-जो उसी भवमें या कुछ ही भवमें मोक्षको प्राप्त करेंगे। जिनके शुद्ध चिदानन्दानुभवके अनुभावों — तत्काल उत्पन्न हुए रागादिकोंके प्रक्षय तथा जातिवैर और सकारणवैरके उपशमन और उपसर्गोंके निवारण आदिकोंका उदय — उत्कर्ष सदा बना रहता है, यद्वा जिनको समरसीभावके कार्य बुद्धि तप बल विक्रिया औषधि प्रभृति ऋद्धिरूप अभ्युदयकी प्राप्ति होचुकी है।

भावार्थ-कुलीनताके कारण संयत मनोवृत्ति, और गुरूपदेशानुसार निष्कामताकी सिद्धि, बढता हुआ संवेग, सानन्द परोपकारमें प्रवृत्ति, निकटभव्यता, शुद्ध चिदानन्दानुभवके कार्यकारणकी प्राप्ति, इन छह विशेषणोंसे युक्त वृद्धाचार्योंकी साधुओंको अपने ब्रह्मचर्यकी सिद्धिकेलिये अवश्य ही और निरंतर आराधना करनी चाहिये क्योंकि ऐसा करनेपर ही उनका ब्रह्ममहाव्रत निर्मल रह सकता है। जैसा कि कहा भी है कि'—

य करोति गुरुभाषित मुदा सश्रये वसति वृद्धसकुले ।
मुञ्चते तरुणलोकसगतिं ब्रह्मचयममल स रक्षति ॥

जो व्यक्ति हर्षके साथ गुरूपदेशके अनुसार सदा व्यवहार करता है और तरुण पुरुषोंकी संगति छोडकर वृद्ध पुरुषोंके बीच सदा उनके निकट ही रहता है, कहना चाहिये कि वह व्यक्ति अपने ब्रह्मचर्य व्रतको निर्मल रखता है।

वृद्ध और इतर पुरुषोंकी संगतियोंके फलमें जो अन्तर है उसको बताते हैं: -

कालुष्यं पुंस्युदीर्णं जल इव कतकैः संगमाद्धन्ति वृद्धै-
रश्मक्षेपादिवास्तप्रशममपि लघूदेति तदिङ्गसङ्गात्।
वार्भिर्गन्धो मृदीवोद्भवति च युवभिस्तत्र लीनोपि योगाद्,
रागो द्राग्वृद्धसङ्गात्सरटवदुपलक्षेपतश्चैति शान्तिम् ॥ ९७ ॥

यथायोग्य निमित्तको पाकर मनुष्योंके हृदयमें उद्भूत हुआ कालुष्य-द्वेष शोक भयादिरूप संक्लेश अथवा इनके द्वारा प्रकट होनेवाला कलुषभाव वृद्ध पुरुषोंकी संगतिसे—बढते हुए ज्ञान संयमादि गुणोंसे युक्त पुरुषोंकी संगतिसे इस तरहसे प्रशमको प्राप्त होजाता है जैसे कि निर्मली फलके चूर्णका सम्बन्ध पाकर जलकी पङ्किलता प्रशान्त होजाया करती है। किंतु यह प्रशान्त भी कालुष्य विट पुरुषोंके संसर्गसे शीघ्र ही फिर उद्भूत हो जाता है। जैसे कि उस प्रशान्त जलमें यदि पत्थर डाल दिया जाय तो उसका गदलापन शीघ्र ही फिरसे ऊपर आजाया करता है।

इसी प्रकार दूसरी बात यह भी है कि यदि मनुष्योंके हृदयमें कषायभाव लीन—अनुद्भूत हो—जो अबतक जागृत न हुआ हो तो वह तरुण—विट पुरुषोंकी संगतिसे इस तरहसे उद्भूत—उदित होजाता है जैसे कि जलके सम्बन्धसे मट्टीमें गन्ध प्रकट होजाया करती है। किंतु वह अभिव्यक्त भी कालुष्य वृद्ध पुरुषोंकी संगतिसे शीघ्र ही इस तरहसे प्रशान्त होजाया करता है जैसे कि रंग बदलनेवाले करकेंटाका उद्भूत भी वर्ण [illegible] पत्थरके फेंकदेने पर झटिति दूर होजाता है।

भावार्थ—इस श्लोकके पूर्वार्धमें पहले वृद्ध पुरुषों और पीछे विट पुरुषोंकी संगति करनेसे जो मनुष्योंको फल प्राप्त होता है उसको दृष्टांतद्वारा प्रकट किया है। और उत्तरार्धमे पहले विट पुरुषों और पीछे वृद्ध पुरुषोंकी संगति करनेसे जो फल प्राप्त होता है उसको उदाहरण देकर बताया है। इन दोनों उदाहरणोंसे वृद्ध और इतर पुरुषोंकी संगतिके फलका अन्तर स्पष्ट होजाता है कि मुमुक्षुओंको और अपने ब्रह्मचारी व्रतकी निर्मलता बढानेकी इच्छा रखनेवालोंको सदा वृद्ध पुरुषोंकी ही संगति करनी चाहिये।

यहां एक बात और भी ध्यानमें रखनी चाहिये। वह यह कि, इस प्रकरणमे वयकी प्रधानताके साथ साथ जिसमें ज्ञान संयमादिक गुण भी प्रकर्ष रूपसे पाये जांय उसीको वृद्ध कहा है। जैसा कि पहले भी लिखा जा चुका है।

प्रायः यह बात प्रसिद्ध है कि यौवन अवस्थाके निमित्तसे विकार उत्पन्न हो ही जाते हैं। अत एव जो तरुण पुरुष है वे यदि अतिशयित गुणोंसे युक्त भी हों तो भी उनकी संगतिपर विश्वास न करना चाहिये। इसी बातको ग्रन्थकार प्रकाशित करते हैः—

अप्युद्यद्गुणरत्नराशिरुगपि स्वस्थः कुलीनोपि ना,
नव्येनाम्बुधिरिन्दुनेव वयसा संक्षोभ्यमाणः शनैः।
आशाचक्रविवर्तिगर्जितजलाभोगः प्रवृत्त्यापगाः,
पुण्यात्मा प्रतिलोमयन्विधुरयत्यात्माश्रयान् प्रायशः॥९८॥

जिस प्रकार आशाचक्र—दिङ्मण्डलमें फैले हुए और गर्जना करते हुए जलके विस्तारसे सब तरफको भरा हुआ, और जिसके भीतर रत्नराशि अपनी दीप्तिको प्रकाशित करनेके लिये सदा उद्यत रहा करती है, जो स्वस्थ—अतिशय प्रसन्न तथा कुलीन—पृथ्वीमें संश्लिष्ट है ऐसा समुद्र चन्द्रमाके उदयको पाकर धीरे धीरे अत्यत

क्षोभको प्राप्त होजाता है—विकृत होकर अपनी स्वाभाविक प्रकृतिसे चलायमान होजाता है। और पवित्र गङ्गादिक नदियोंको उन्मार्गगामिनी बनाता हुआ अपना आश्रय लेकर रहनेवाले मत्स्यादिकोंको भी प्रायः करके कुशलतासे भ्रष्ट करदेता है। उसी प्रकार जो मनुष्य स्वस्थ—सदा अच्छी तरह प्रसन्न अथवा निर्मल रहनेवाला है, और कुलीन लोकपूजित कुलमें उत्पन्न भी हुआ है, तथा जिनके ज्ञान संयमादिक गुणोंकी दीप्ति भी अपना प्रकाश करनेकेलिये प्रतिक्षण बधती जाती है वह भी नवीन वय—तारुण्यको पाकर-युवावस्थामें धीरे धीरे क्षुब्ध होजाया करता है। निर्मलता कुलीनता और ज्ञानसंयमप्रभृति गुणोंसे युक्त अपनी सात्त्विक प्रकृतिसे चलायमान होकर अनेक प्रकारके विकृत भावोंसे युक्त होजाया करता है। तथा सोत्सेक गर्जना करनेवाले मूढ लोकोंके आशाचक्र-प्रत्याशा-अभिलापाकी परम्पराओंमें विविध प्रकारसे फंसे हुए, भोगों इष्टविषयके उपयोगोंको अच्छी तरहसे पूर्ण करनेवाला बनकर गङ्गादिक नदियोंके समान पवित्र प्रवृत्तियों-मन वचन कायकी कृतियोंको उन्मार्गगामी बनाता हुआ विषयसेवनमें प्रवृत्त कराता हुआ प्रायः करके अपने आश्रित रहनेवाले शिष्यादिकोंको भी श्रेयोमार्ग-आत्महितसे भ्रष्ट करदेता है।

भावार्थ—यौवन अवस्थामें प्रायः मनुष्य कुलीन अथवा ज्ञान संयमादिके अभ्यासमें निरंतर रहने पर भी विकृत हो ही जाता है और सगर्व गर्जना करनेवाले जड मनुष्योंके आशान्वित भोगोंकी पूर्ति करनेमें उन्मुख हो ही जाता है- सिद्धि या यन्त्र मन्त्रादि बताकर उनकी भोगोपभोगसम्बन्धी अभिलापाओंके सफल बनानेमें सहायक हो ही जाता है। यह इस अवस्थाका ही दोष है कि वह इस प्रकारसे अपनी प्रवृत्तियोंका दुरुपयोग कर डालता है। ऐसे मनुष्यकी संगतिसे अथवा सेवा आदि करनेमें रहनेसे मनुष्य श्रेयोमार्गसे भ्रष्ट ही हो सकता है। अत एव साधुओंको वृद्धोंकी ही संगति करनी चाहिये; क्योंकि युवावस्थाका विश्वास नहीं है। जैसा कि लौकिक पुरुष कहा भी करते हैं कि:—

अवश्य यौवनस्थेन क्लीवेनापि हि जन्तुना।
विकारः खलु कर्तव्यो नाविकाराय यौवनम् ॥

युवावस्थामे तो नपुंसकोंको भी अवश्य ही कुछ न कुछ विकार करलेना चाहिये। क्योंकि यौवन निर्विकार रहनेकेलिये थोडा ही है।

और भी कहा है कि—

यस्मिन्नज प्रसरति स्खलितादिवोच्चै,—
रान्ध्यादिव प्रबलता तमसश्चकास्ति।
सत्त्व तिरोभवति भीकमिवाङ्गजाग्ने,—
स्तद्यौवन विनयसज्जनसङ्गमेन ॥

यौवनको पाकर मनुष्य स्खलित होने लगता है, जिससे मालुम पडता है कि उसमे रजोगुण अच्छी तरहसे अपना प्रसार कर रहा है। इसी प्रकार युक्तायुक्तके विवेकसे रहित होकर उसमे अन्धता भी आजाती है जिसमे मालुम पडता है कि उसमे तमोगुण भी अपनी प्रबलताको प्रकाशित कर रहा है। किंतु उसका सत्वगुण मानो उसके शरीरकी अग्निसे डरकर ही छिपा जाता है। इस प्रकारका यौवन विनयगुण और सत्पुरुषोंकी सङ्गतिसे ही निर्विकार रह सकता है।

जो मनुष्य इस तारुण्यको पाकर भी निर्विकार रहते है उनकी प्रशंसा करते है:—

दुर्गेपि यौवनवने विहरन् विवेक,—
चिन्तामणिं स्फुटमहत्त्वमवाप्य धन्यः।

चिन्तानुरूपगुणसंपदुरुप्रभावो.
वृद्धो भवत्यपलितोपि जगाद्विनीत्या ॥ ९९ ॥

यह यौवनरूपी वन यद्यपि दुर्गम है—दुःखके साथ भी लोग इसको पार नहीं कर सकते और इसका अतिक्रमण नहीं करसकते; फिर भी जो मनुष्य इसमें विहार करते हुए भी, स्फुट है महत्व जिसका ऐसे विवेकरूपी चिन्तामणिको पाकर, चिन्ताके अनुरूप गुणसंपत्तिके महान् प्रभावसे युक्त होजाते है वे धन्य है। और ऐसे पुरुषोंको जरा विकारसे रहित रहनेपर भी जगत्को शिक्षादि देनेकी अपेक्षा वृद्ध ही समझना चाहिये।

भावार्थः—जो युवा होकर भी विवेकसे युक्त रहते है और गुणोंसे प्रभावित होजाते है वे धन्य हैं। योग्य और अयोग्य अथवा हित और अहित विषयमें विचार करनेकी चतुरताको विवेक कहते है। यह विवेक चिन्तामणि रत्नके समान है; क्योंकि इससे अभिलषित पदार्थोंकी प्राप्ति होसकती है। इसकी महिमा और जगत्पूज्यता प्रकट है। क्योंकि मोक्षके कारण संयमका भी इसीके निमित्तसे साधन हो सकता है। अत एव इस विवेकचिन्तामणिके निमित्तसे मनुष्योंको एसी गुणसपत्तियां इच्छानुरूप प्राप्त होजाती है कि जिनका प्रभाव—शक्तिविशेष अचिन्त्य है। जो यौवनमें ही इस विवेकके द्वारा प्राप्त हुए गुणप्रभावसे भूषित होजाते हैं उन्हे युवा न समझकर वृद्ध ही समझना चाहिये। क्योंकि वे भी जगत्को वृद्धोंकी तरहसे ही शिक्षादिक देसकते है। किंतु ऐसे धन्य पुरुष विरल ही हो सकते है।

असाधु और साधु पुरुषोंके साथ संभाषण या संसर्गादि करनेसे जो फल प्राप्त होता है उसको दृष्टांतद्वारा प्रकट करते हैः—

सुशीलोपि कुशीलः स्याद्दुर्गोष्ठ्या चारुदत्तवत्।
कुशीलोपि सुशीलः स्यात् सद्गोष्ठ्या मारिदत्तवत् ॥ १०० ॥

समीचीन और प्रशस्त आचरणवाला भी पुरुष दुष्ट जनोंकी संगतिमें पडकर अथवा उनके साथ संभा-

पणादि करके उस तरहसे कुशील-दुर्वृत्त या दुराचारी होजाता है जैसे कि चारुदत्त सेठ होगया था। तथा दुराचारी भी मनुष्य सत्पुरुषों-सज्जनोंकी संगति पाकर तथा उनके साथ संभाषणमात्र ही करके इस तरहसे सुशील बनजाता है जैसे कि मारिदत्त राजा बनगया था।

इस प्रकार वृद्ध पुरुषोंकी संगति करनेका उपदेश पूर्ण हुआ और उसके साथ साथ पहले जो ब्रह्मचर्यव्रतकी शुद्धिके कारणभूत स्त्रीवैराग्यकी पांच भावनाएं बताई थीं उनका स्वरूप निरूपण भी समाप्त हुआ। किंतु इनके सिवाय पांच भावनाएं और भी बताई हैं। यथा-१ स्त्रीरागकथा श्रवण त्याग, २ तन्मनोहराङ्ग निरीक्षण त्याग, ३ पूर्वरतानुस्मरण त्याग, ४ वृष्येष्टरस त्याग, ५ स्वशरीरसंस्कार त्याग। साधुओंको अपने ब्रह्मचर्य महाव्रतकी स्थिरताके लिये इन भावनाओंका भी पालन करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं:—

रामारागकथाश्रुतौ श्रुतिपरिभ्रष्टोसि चेद्भ्रष्टहृत्,
तद्रम्याङ्गनिरीक्षणे भवसि चत्तत्पूर्वभुक्तासमि।
निःसंज्ञो यदि वृष्यनाल्कितरसास्वादेऽप्यसंज्ञोसि चेत्
संस्कारे स्वतनोः कृतोसि यदि तत्सिद्धोसि तुर्यव्रते ३ १०१ ॥

हे साधो! स्त्रियोंके द्वारा अथवा स्त्रियोंके विषयमें रागपूर्वक किये गये ऐसे किसी भी कथोपकथनके जो कि उन रमणियोंके विषयमें रागरतिको उत्पन्न कर सकता है; सुननेके लिये यदि तू ऐसा बनगया है मानो तेरे कान ही नहीं हैं—अत्यंत बधिर है। और उनके मुख कुच त्रिवली जघा नितम्ब प्रभृति रमणीय—मनोहर अङ्गोंके

१—२—इन दोनो कथाओंको क्रमसे चारुदत्त चरित्र और यशोधर चरित्रमें देखना चाहिये।
३—" नित्य कामाङ्गनासंगदोषाशौचानि भावयन् " इस श्लोकमें।

देखनेके लिये नेत्रहीन- अन्धा सरीखा बनगया है—उनका निरीक्षण करनेके लिये कभी भी अपनी दृष्टिका तू निक्षेप नहीं करता। तथा पहले जो तेने उन रमणीय रमणियोंके साथ रमण किया था उसका अब स्मरण करनेके लिये यदि तू ऐसा बनगया है मानो असंज्ञी-अमनस्क है-कभी उसका स्मरण नहीं करता और वृष्य दुग्धादिक शुक्रके बढानेवाले पदार्थों और अभीष्ट मधुरादिक रसोंका आस्वाद लेनेके लिये अभ्यासतः सेवन करनेके लिये यदि तू अरसज्ञ या ऐसा बन गया है मानों तेरे जिह्वा ही नहीं है। तथा अपने शरीरका संस्कार करनेके लिये उसको मनोहर अतिशयित और कान्तियुक्त बनानेके लिये यदि तू बिल्कुल ही पराङ्मुख होगया है मानों वृक्षसरीखा बनगया है; तो कहना चाहिये कि तू चौथे महाव्रत-ब्रह्मचर्यकी प्रौढ महिमाको प्राप्त कर चुका।

पूर्वरतानुस्मरण और वृष्येष्ट रसका त्याग करनेकेलिये पहले भी लिखा जाचुका है। किंतु यहांपर दूसरी बार फिर वर्णन करनेका प्रयोजन यह है कि ब्रह्मचर्य व्रत अत्यंत दुःसाध्य है अतएव उसका पालन करनेके लिये सावधानी रखकर अधिक प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि समस्त व्रतोंमें ब्रह्मचर्य व्रत ही क्लिष्ट और महान् माना है। जैसा कि कहा भी है कि: —

अक्खाण रसणी कम्माण मोहणी तह वयाण बंभ च।
गुत्तीण य मणगुत्ती चउरो दुक्खेण सिज्झति ॥

इन्द्रियोंमें रसना, कर्मोंमें मोहनीय, व्रतोंमें ब्रह्मचर्य, और गुप्तियोंमें मनोगुप्ति, ये चारो ही भाव बडी ही कठिनतासे सिद्ध हुआ करते हैं।

वृष्य द्रव्यका सेवन करनेसे जो तृती होती है उसका प्रभाव मनुष्यपर कैसा पडता है या उसका फल कैसा मिलता है सो बताते हैं:—

को न वाजीकृता दृप्तः कंतुं कंदलयेद्यतः।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमृषयः पुरुषं विदुः ॥ १०२ ॥

मनुष्योंको घोडेके समान बनादेनेवाले दुग्ध प्रभृति वीर्यवर्धक पदार्थोंको वाजीकरण कहते हैं। इसमें ऐसा कौनसा पदार्थ है जो कि उद्गृत—उत्तेजित होकर कामदेवको उद्भूत नहीं करदेता। सभी सगर्व वाजीकरण पदार्थ ऐसे ही है कि जिनके उपयोगसे अवश्य ही कामदेव जागृत होजाया करता है। क्योंकि ऋषियोंने पुरुषका स्वरूप उर्ध्वमूल और अधःशाख माना है। जिन्हा और कण्ठ प्रभृति अवयव मनुष्यके मूल है और हस्तादिक अवयव शाखाएं है। जिस प्रकार वृक्षके मूलमें किये गये सिञ्चनका परिणाम उसकी शाखओंपर पडता है उसी प्रकार जिन्हादिकके द्वारा उपयुक्त आहारादिकका प्रभाव हस्तादिक शरीरके अंगोंपर पडता है। यदि मनुष्य वाजीकरण पदार्थोंका सेवन करेगा तो अवश्य ही उसके शुक्रकी वृद्धि होकर कामदेव भी उत्तेजित होगा। अत एव साधुओंको ब्रह्मचर्यके साधनमें वृष्य पदार्थोंके सेवनको विघ्नकारक समझकर अवश्य ही छोडदेना चाहिये। और समस्त इन्द्रियोंमें प्रधान रसनाको वशमे करना चाहिये।

पूर्व कालमें ऐसे बहुतसे पुरुष होगये है जो कि मोक्षमार्गका अनुसरण करते थे किंतु ब्रह्मचर्य व्रतमे प्रमाद करनेके कारण संसारमें अत्यंत उपहासके ही पात्र हुए। अत एव इस महाव्रतके साधन करनेमें तत्पर रहनेवाले साधुओंको अच्छी तरह सावधानता रखनेका उपदेश देते हैः—

दुर्धर्षोद्धतमोहशौल्किकतिरस्कारेण सद्माकराद्,
भृत्त्वा सद्गुणपण्यजातमयन मुक्तेः पुरः प्रस्थिताः।
लोलाक्षीप्रतिसारकैर्मदवशैराक्षिप्य तां तां हठा,—
न्नीताः किन्न विडम्बनां यतिवराश्चारित्रपूर्वाः क्षितौ ॥ १०३ ॥

किसी विक्रेय वस्तुके राज्यमें लानेपर अथवा राज्यसे वाहिर लेजानेपर यद्वा खान आदिमेंसे निकलनेवाले

किसी अन्य पदार्थपर जो राज्यका ग्राह्य भाग नियत रहता है—कर लगता है उसको शुल्क और उसके वसूल करनेवाले अधिकारीको शौल्किक कहते है। यदि कोई मनुष्य उस शौल्किकको छलकर-कर न देकर किंतु खानमेंसे रत्नादिकको लेकर मार्गमें जानेका प्रयत्न करे तो वह शौल्किकके नियुक्त मदोन्मत्त सिपाहियो द्वारा पकडा जाता है और जबर्दस्ती वहांसे ढकेलकर पीछेको कर दिया जाता है—लौटा दिया जाता है। वहांसे लौटते ही जिस प्रकार उस मनुष्यकी जगत्में विडम्बना हुआ करती है उसी प्रकार पूर्व कालमें कितने ही शकट कूर्चवार और रुद्रप्रभृति यतिश्रेष्ठोंकी भी जगत्में वह वह विडम्बना हुई है जो कि लोकमे और शास्त्रमें सर्वत्र प्रसिद्ध है। क्योंकि यद्यपि ये यतियोंमे श्रेष्ठ थे। जो केवल शरीरमात्र परिग्रहका धारण कर सम्यग्ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा तृष्णारूप नदीसे पार लगानेवाले योगकेलिये यत्न किया करते है उनको यति कहते है। इस तरहके यतियोंमें यद्यपि ये शकट कूर्चवारादिक प्रधान और श्रेष्ठ थे, तथा मुख्यतया चारित्रका ही पालन करनेवाले थे, किंतु ज्यो ही उन्होंने दुर्धर्ष जिसका पराभव नही किया जा सकता और उद्धत मोहरूपी शौल्किकको छलनेका उपक्रम किया और सम्यग्दर्शन प्रभृति समीचीन गुणरूपी पण्यजात-विक्रेयद्रव्योंको गृहरूपी आकर—खानमेसे लेकर मोक्षके मार्गमें जानेका प्रारम्भ किया कि त्यों ही उस शौल्किकके मदोन्मत्त लोलाक्षी—रमणीरूपी प्रतिसारकों-भटोने उनको जबर्दस्ती उस मार्गसे पीछेको ढकेल दिया—संसारकी तरफ ही लौटा दिया। इस प्रकार लौटाये जानेपर जगत्में उनकी कौन कौनसी विडम्बना नहीं हुई—हर प्रकारसे उनका उपहास ही हुआ।

भावार्थ—शौल्किकके वेतनभोगी भटोंके समान जो यहांपर कामिनियोंको मोहकर्मके सहायक बताया है सो ठीक ही है। क्योंकि जिस प्रकार भट शौल्किकके कार्यमें पूरा योग देते है उसी प्रकार कामिनियां भी मोहकर्मके कार्यमें—संसारी प्राणियोंको विषयभोगोंमें ही मूर्छित करनेमें पूरा योग देती हैं। इन्हीके निमित्तसे मनुष्य अभीष्ट स्थानपर जानेका प्रयत्न करनेपर भी नही जा सकता, प्रत्युत अनिष्ट स्थानकी तरफ ही लौट जाता है।

जिस प्रकार रत्नादिक विक्रेय द्रव्य खानमे उत्पन्न हुआ करते है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादिक गुण भी

घरमें उत्पन्न होजाते हैं। किंतु जिस प्रकार विक्रेय द्रव्य जहां लेजानेसे विशिष्ट अर्थ लाभके कारण हो सकते हैं वहांपर शौल्किकके भट उनको लेजाने नहीं देते, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादिक जिस मोक्षमार्गमें चलनेपर विशिष्ट मोक्षरूप अर्थके लाभके कारण हो सकते हैं उसमें ये कामिनी-भट जाने नहीं देते—चारित्रका आराधन करने नहीं देते। अत एव साधुओंको उचित है कि वे इन भटोंसे सदा सावधान रहकर अपने चारित्र—ब्रह्मचर्य महाव्रतका निरंतर आराधन करनेका प्रयत्न करें।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य महाव्रतका व्याख्यान पूर्ण हुआ। अब क्रमानुसार आकिञ्चन्य महाव्रतका अडतालीस पद्योंमें वर्णन करना चाहते हैं। किंतु उसमें सबसे पहले मुमुक्षुओंको उसका पालन करनेकेलिये अच्छी तरह उत्साहित करनेके अभिप्रायसे उसका लोकोत्तर माहात्म्य प्रकट करते हैं:—

मूर्छा मोहवशान्ममेदमहमस्येत्येवमावेशनं,
ता दुष्टग्रहवन्न मे किमपि नो कस्याप्यहं खल्विति।
आकिंचन्यसुसिद्धमन्त्रसतताभ्यासेन धुन्वंति ये
ते शश्वत्प्रतपन्ति विश्वपतयश्चित्रं हि वृत्तं सताम् ॥ १०४ ॥

मोहनीय कर्मके उदयसे "यह मेरा है" और "मैं इसका हूं" ऐसा जो परिणाम विशेष होता है उसको मूर्छा कहते हैं। जो महापुरुष दुष्ट ग्रहके समान इस मूर्छाका, "न मेरा कोई है" और "न मैं किसीका हूं", तथा "आत्मस्वरूपको छोडकर मैं और कुछ नहीं हूं। और संसारमें भी निजात्मरूपके सिवाय और कुछ भी उपादेय नहीं है" इस प्रकारके आकिञ्चन्य व्रतरूपी सुसिद्ध मंत्रका निरंतर अभ्यास करके, निग्रह करदेते हैं वे ही साधु तीन लोकके स्वामी बनकर अव्याहत तेजके धारक होजाते हैं। क्योंकि साधुओंका चरित्र विचित्र ही हुआ करता है।

भावार्थ—मूर्छाके सर्वथा परित्यागको ही आकिञ्चन्य महाव्रत कहते है। मोहनीय कर्मके उदयसे आत्मा के वास्तविक स्वरूपसे भिन्न समस्त अन्तरङ्ग और बाह्य पदार्थोंमें होनेवाले ममत्व परिणामको मूर्छा कहते है। मूर्च्छाका आकार बतानेके लिये इति और एवं इन दो शब्दोंका प्रयोग किया है. जिनमेंसे इति शब्द स्वरूप अर्थकी अपेक्षासे है। तदनुसार "यह जगत मेरा ही स्वरूप है," अथवा "इस जगत्स्वरूप ही मैं हू," इस तरहके आवेशको मूर्च्छा कहते है। एवं शब्द प्रकार अर्थकी अपेक्षासे है। तदनुसार मै याज्ञिक हूं, मै परिवाड हू, मै राजा हूं, मै पुरुष हूं, मै स्त्री हूं, इत्यादि मिथ्यात्वादिक परिणामरूप अभिनिवेशोंको मूर्छा कहते है। कहा भी है कि—

> या मूर्च्छा नामेय विज्ञातव्य परिग्रहोयमिति।
> मोहोदयादुदीर्णा मूर्छा तु ममत्त्वपरिणाम ॥

मोहके उदयसे होनेवाले ममत्वपरिणामोंको मूर्छा कहते है। और इसीका नाम परिग्रह भी है। यद्यपि यहांपर सामान्य शब्द मोह ही लिखा है किन्तु फिर भी मूर्छाकी उत्पत्तिमें विशेष कर लोभपरिणाम ही कारण है। क्योंकि अन्तरङ्ग और बाह्य पदार्थोंके प्राप्त करनेकी अभिलाषारूप परिग्रहसंज्ञा प्रधानतया लोभके ही निमित्तसे हुआ करती है। जैसा कि आगममें भी कहा है कि—

> उवयरणदंसणेण य तस्सुवओगेण मुच्छिदाए य।
> लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायदे सण्णा ॥

भोगोपभोगके साधनभूत पदार्थोंके देखनेसे अथवा उनका उपयोग करनेमे यद्वा ममत्त्व परिणामोंके होनेपर और अन्तरङ्गमे लोभ कषायका उदय या उदीरणा होनेपर, इन चार कारणोंसे जीवको परिग्रहमें संज्ञा—वाछा हुआ करती है।

१— क्योंकि मिथ्यात्व रागद्वेष तथा हास्यादिक कषायोंको अतरग परिग्रहमें ही गिना है।

जो म० पुरुष इन मूर्छापरिणामोंके विरुद्ध निरंतर इस तरहकी भावनाका अभ्यास किया करते हैं कि "ये बाह्य और अन्तरङ्ग कोई भी पदार्थ मेरे नहीं हैं, और न मैं इनका हूं। मैं किसी अन्य पदार्थरूप भी नहीं हूं और न कोई अन्य पदार्थ ही मुझ स्वरूप है।" वे ही महात्मा दुष्ट ग्रहके समान इस परिग्रहका निग्रह कर सकते हैं, और तीन लोककी स्वामिताको प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि; यह आकिञ्चन्य भाव-कोई न हमारा, हम न किसीके, यह परिणाम सुसिद्ध मंत्रके समान है जो कि गुरूपदेशके अनन्तर ही अपना कार्य कर दिया करता है। यहांपर यह प्रश्न हो सकता है कि जो अकिंचन है वह तीन लोकका स्वामी किस तरह हो सकता है? क्यों कि ये दोनो ही बातें परस्पर विरुद्ध हैं। अतएव उक्त अर्थ न करनेके लिये ग्रंथकार कहते हैं कि साधुओंका चरित्र विचित्र ही हुआ करता है।

परिग्रह दो प्रकारका है - एक अन्तरंग दूसरा बाह्य। इन दोनों ही प्रकारके परिग्रहोंके दोषोंको बताते हुए मुमुक्षुओंको उनके त्याग करनेका उपदेश देते हैं—

> शोध्योऽन्तर्न तुषेण तण्डुल इव ग्रन्थेन रुद्धो यदि,—
> जीवस्तेन बहिर्भुवापि रहितो मूर्छामुपार्छन् विषम।

१— मंत्र तीन प्रकारके होते हैं सिद्ध, साध्य और सुसिद्ध। इनका स्वरूप इस प्रकार है कि—

> सिद्ध सिध्यति कालेन साध्यो होमजपादिना।
> सुसिद्धस्तत्क्षणादेव अरि मन्त्रान्निकृन्तति॥

जिसके सिद्ध होनेमें कालकी अपेक्षा रहती है उसको सिद्ध, और जो होम जप आदि करनेसे सिद्ध हो जाता है उसको साध्य, तथा जो तत्क्षण ही—गुरूपदेशके बाद ही अपना कार्य कर सके उसको सुसिद्ध कहते हैं।

२ "भवति मुनीनामलौकिकी वृत्ति"।

निर्मोकेण फणीव नार्हति गुणं दोषैरपि त्वेधते,
तद्ग्रन्थानबहिश्चतुर्दश बहिश्चोज्झेद्दश श्रेयसे ॥ १०५ ॥

जिस प्रकार बाह्य तुष—मोटे छिलकेसे रुद्र-वेष्टित तण्डुल-धान अन्तरङ्गसे भी शुद्ध नहीं किया जा सकता -पतली भूसी उतार कर शुद्ध चावल नहीं बनाया जा सकता; उसी प्रकार बाह्य ग्रन्थ-अपनेमें ममकारके उत्पन्न करानेवाले चेतन और अचेतनरूप परिग्रहसे युक्त—आच्छादित अथवा आसक्तिको प्राप्त जीव भी अन्तरङ्गमें शुद्ध नहीं हो सकता-कर्मकलङ्कसे रहित निर्मल नहीं बन सकता। कहा भी है किः -

शक्यो यथापनेतु न कोण्डकस्तण्डुलस्य सतुषस्य ।
न तथा शक्य जन्तो कर्ममल सङ्गसक्तस्य ॥

जिस प्रकार तुषसहित तण्डुलके भीतरकी भूसी दूर नहीं की जा सकती उसी प्रकार सग्रन्थ मनुष्यका कर्ममल भी दूर नहीं हो सकता।

इस कथनसे किसी किसीको यह शंका हो सकती है कि अन्तरङ्ग परिग्रह कोई चीज ही नहीं है, किन्तु बाह्य परिग्रह ही सब कुछ है। और आत्मिक विशुद्ध अवस्था प्राप्त करनेकेलिये उसीका त्याग करना चाहिये ? अत एव ग्रंथकार इस शंकाका परिहार करनेकेलिये कहते हैं कि— जिस प्रकार निर्मोक-केंचुलीसे रहित भी विष-सहित सर्प गुणी नहीं हो जाता-केंचुली उतरजानेसे ही वह निर्विष या शुद्ध जीव होगया ऐसा नहीं कहा जा सकता बल्कि विष रहनेसे दोषी ही रहता है या और भी अधिक दोषी हो जाता है। उसी प्रकार बाह्य परिग्रहसे रहित भी जीव यदि अन्तरङ्गमें मूर्च्छायुक्त है तो वह अहिंसादिक गुणोंसे युक्त नहीं हो सकता बल्कि उसमें दोष ही अधिक वृद्धिको प्राप्त हो सकते हैं। ऐसा जीव भी आत्माकी विशुद्ध अवस्थाको प्राप्त नहीं कर सकता। अत एव

साधुओंको अभीष्ट पद—मोक्ष प्राप्त करनेकेलिये अथवा उसके साधन चारित्रका आराधन करनेकेलिये अन्तरङ्ग और बाह्य सभी परिग्रहका त्याग करना चाहिये। अन्तरग परिग्रहके चौदह भेद हैं। यथाः—

मिच्छत्तवेदरागा हस्सादीया य तहय छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया चउदसाब्भतरा गथा॥

मिथ्यात्व, और तीन वेद—स्त्री पुरुष नपुंसक, हास्यादिक छह नोकषाय—हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा, तथा चार कषाय-क्रोध मान माया लोभ, ये चौदह अन्तरङ्ग परिग्रह है। बाह्य परिग्रहके दश भेद हैं। यथाः—

क्षेत्रं धान्यं धन वास्तु कुप्य शयनमासनम्।
द्विपदा. पशवो भाण्ड बाह्या दश परिग्रहा॥

क्षेत्र-खेत, धान्य-गेहू आदि अन्न, धन-सोना चांदी आदि, वास्तु—मकान, कुप्य-वस्त्र, शयन-खाट आदि, आसन सिंहासन प्रभृति बैठनेकी चीजें, द्विपद-दास दासी आदि, पशु—घोडा हाथी ऊट आदि, भाण्ड वर्तन-ये दश प्रकारके बाह्य परिग्रह हैं। ये अन्तरङ्ग परिग्रहके उत्पन्न करनेमें, जो कि कर्मबन्धका साक्षात्कारण है, निमित्त है। अत एव इनका भी त्याग ही करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है किः—

मूर्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्ति परिग्रहत्वस्य।
सग्रन्थो मूर्छावान् विनापि किल शेषसगेभ्य।
यद्येव भवति तदा परिग्रहो न खलु कोपि बहिरङ्ग।

१—सर्वार्थसिद्धिमें धनशब्दसे गा आदिक लिये है। यदि यही अर्थ लिया जाय तो यहापर पशु शब्दका ग्रहण व्यर्थ होजाता है। अत एव भेदविवक्षासे धनशब्दका अर्थ यहापर सोना चादी ही किया है।

भवति नितरां यतोसौ धर्मो मूर्छानिमित्तत्वम् ॥
एवमतिव्याप्तिः स्यात् परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम् ।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्छास्ति ॥

परिग्रहका लक्षण मूर्च्छा किया गया है । अत एव दोनोंमें व्याप्ति अच्छी तरहसे घटित होती है । और इसीलिये बाह्य पदार्थका ग्रहण न करनेपर भी जो मूर्च्छायुक्त है उसको सग्रंथ ही माना है । कहा जा सकता है कि यदि यही बात है तो बाह्य परिग्रह कोई चीज ही नही है । क्योंकि अन्तरङ्गमें मूर्छाके रहनेपर सपरिग्रह और न रहनेपर अपरिग्रह माना जाता है । किंतु यह बात ठीक नहीं है; क्योंकि बाह्य परिग्रह अन्तरङ्ग मूर्छाका निमित्त है । बाह्य परिग्रहके रहनेपर अन्तरङ्गमें भी मूर्छा हो ही जाती है क्योंकि अन्तरङ्ग मूर्च्छाके विना बाह्य परिग्रहका ग्रहण नहीं हो सकता । अत एव बाह्य पदार्थोंके ग्रहण करनेको भी परिग्रह ही कहते हैं । इस कथनमें भी अतिव्याप्ति दोष दिया जा सकता है । क्योंकि इस लक्षणके अनुसार कर्मग्रहणको भी मूर्छा कह सकते हैं । क्योंकि वह भी आत्मस्वरूपसे भिन्न बाह्य पदार्थके ग्रहणरूप ही है । किन्तु यह दोष ठीक नहीं है । क्योंकि अकषाय व्यक्तियोंके कर्मके ग्रहण करनेमें मूर्छा नहीं होती—वह मूर्च्छापूर्वक नहीं होता ।

परिग्रहका त्याग करनेकी विधि बताते हैं: —

परिमुच्य करणगोचरमरीचिकामुज्झिताखिलारम्भः ।
त्याज्यं ग्रन्थमशेषं त्यक्त्वापरनिर्ममः स्वशर्म भजेत् ॥ १०६ ॥

जिस प्रकार प्यासमे बाधित हुए मृगगण जङ्गलकी चटीली भूमिमें जलका भ्रम कर बाधित

२— लक्षणके तीन दोष होते है—अव्याप्ति अतिव्याप्ति असभव । लक्ष्यके एकदेशमें लक्षणके रहनेको अव्याप्ति, और अलक्ष्यमें भी रहनेको अतिव्याप्ति तथा लक्ष्यमात्रमें न रहनेको असभव दोष कहते है ।

हुए शांति की अभिलापासे उसकी तरफ उत्सुकतासे दौडते हैं, उसी प्रकार विषयवासनासे संसारी प्राणी इन्द्रियविषयोंको सुखकर समझकर उनको प्राप्त करनेके लिये चेष्टा किया करते हैं। अत एव ये इन्द्रियोंके विषय मृगतृष्णाके समान हैं, वास्तवमें ये सुख और शांतिके कारण नहीं हैं। अथवा कर्मके क्षयोपशम के अनुसार इन इन्द्रियोंके प्रतिनियत विषयोंमें यदि कुछ प्रकाश भी होता है तो वह बहुत ही थोडा है—आभासमात्र है। इस तरहकी इन्द्रियविषयरूपी मरीचिकाको छोडकर—इन्द्रियविषयोंसे संयत होकर, और समस्त सावद्य क्रियाओंको—आरम्भादिकोंको छोडकर तथा जो छोडे जा सकते हैं ऐसे समस्त गृह गृहिणी प्रभृति बाह्य पदार्थोंको सर्वथा छोडकर; बालके अग्रभागकी बराबर भी त्याज्य परिग्रहसे अपना सम्बन्ध न रखकर, और जो छोडे नहीं जा सकते-जिनका त्याग करना अशक्य है ऐसे शरीरादिक परिग्रहोंके विषयमें निर्मम होकर- "ये मेरे है" इस सकल्पको छोडकर साधुओंको निज आत्मस्वरूपसे उत्पन्न सुखका सेवन करना चाहिये।

भावार्थ—यहांपर निर्मम शब्द उपलक्षण अर्थमें आया है, जिससे साधुओंको "ये मेरे हैं" इस संकल्पकी तरह "ये मै हूं" और "मैं ये है" इस संकल्पसे भी रहित होना चाहिये। जैसा कि कहा भी है किः-

जीवाजीवणिवद्धा परिग्गहा जीवसंभवा चेव।
तेसिं सक्कचाओ इयरह्मि य णिम्ममोऽसगा ॥

परिग्रह दो प्रकारका है, चेतन और अचेतन अथवा अंतरग और बाह्य। इनमेंसे जिनका त्याग किया जा सकता है उनका सर्वथा त्याग करना चाहिये। और बाकीके जो परिग्रह है उनमें निर्मम होना चाहिये। इसीका नाम नैर्ग्रन्थ्य है। क्योंकि जो जीवसे असम्बद्ध उपधि है उसीका सर्वथा त्याग हो सकता है; सम्बद्धका नहीं। अत एव जो जीवसे सम्बद्ध है ऐसे शरीरादिक परिग्रहमें ये मेरे है अथवा ये मै ही हूं इस तरहकी सकल्परूप मूर्छा का ही परित्याग करना चाहिये।

मिथ्याज्ञान जिसका अनुसरण करता है ऐसे मोहकर्मके उदयसे जीवके दो प्रकारके भाव हुआ करते हैं—एक ममकार, दूसरा अहकार। इन दोनोंका लक्षण इस प्रकार है:—

शश्वदनात्मीयेपु स्वतनुप्रमुखेपु कर्मजनितेपु।
आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा देह ॥
ये कर्मकृता भावा परमार्थनयेन चात्मनो भिन्ना ।
तत्रात्माभिनिवेशोहकारोह यथा नृपति ॥

कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए अपने शरीर प्रभृति उन पदार्थोंमें जो कि आत्मासे भिन्न होनेपर भी सदा उससे सम्बद्ध रहते हैं, आत्मीयताके अभिनिवशको ममकार कहते है। जैसे कि ये मेरा शरीर है। तथा कर्मोदयसे प्राप्त हुए उन पदार्थोंमें जो कि परमार्थमे आत्मासे भिन्न है—असम्बद्ध है उनमें आत्मीयताके अभिनिवशको अहकार कहते हैं। जैसे कि मै राजा हू।

आत्मासे भिन्न परद्रव्यका ग्रहण करना ही बधका कारण है और स्वद्रव्यमें संवृत रहना ही मोक्षका कारण है। जैसा कि कहा भी है कि—

परद्रव्यग्रह कुर्वन् बध्येतेवापराधवान्।
वध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये सवृतो यति ॥

परद्रव्यका ग्रहण करनेवाला साधु अपराधी है अत एव वह बंधता है। किंतु जो यति स्वद्रव्यमें ही संवृत रहता है वह अपराधी नहीं है अत एव वह बंधता भी नही है। जिम प्रकार परद्रव्यका अपहरण करनेवाला चोर अपराधी होनेके कारण पकडा जाता है—बंधता है। किंतु जो स्वद्रव्यमें ही संतुष्ट रहनेवाला सज्जन है वह निरपराधी होनेके कारण बॅध नहीं सकता। और भी कहा है कि:—

भेदविज्ञानत सिद्धा सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥

जितने भी सिद्ध—संसारसे रहित है वे सब भेदविज्ञानके निमित्तसे ही सिद्ध हुए है। और जितने संसारी प्राणी है वे सब नियमसे इस भेदज्ञानके न रहनेके कारण ही कर्मोंसे बंधते है।

धनधान्यादिक परिग्रहरूपी ग्रह जिसपर सवार है ऐसे मनुष्यके जो मिथ्यात्व हास्य वेद रति अरति शोक भय जुगुप्सा मान कोप माया लोभके निमित्तसे जिस किसी भी विषयमें परतन्त्रता उत्पन्न होकर प्रवृत्त हुआ करती है उसको क्रमसे छोडनेका उपदेश देते है:—

श्रद्धत्तेनर्थमर्थं हसनमवसरेप्येत्यऽगम्यामपीच्छ,—
त्यास्तेऽरम्येपि रम्येप्यहह न रमते दैष्टिकेप्येति शोकम् ।
यस्मात्तस्माद्बिभेति क्षिपति गुणवतोप्युद्धाति क्रोधदम्भा,—
नऽस्थानेपि प्रयुंक्ते ग्रसितुमपि जगद्वाष्टि सङ्ग्रहार्तः ॥ १०७ ॥

परिग्रहका अभिनिवेश—ममकार अहंकाररूप परिणाम भूतावेशके समान है। इससे पीडित या आक्रान्त हुआ मनुष्य अतत्त्वभूत पदार्थका भी श्रद्धान करने लगता है। प्रमाणसिद्ध हेय और उपादेयरूप तथाभूत वस्तु को अर्थ कहते है। जो छोडने योग्य निश्चित है उसको हेय और जो ग्रहण करने योग्य निश्चित है उसको उपादेय कहते है। परिग्रहरूपी ग्रहसे संक्लिष्ट हुआ पुरुष अर्थको अनर्थ और अनर्थको अर्थ समझकर श्रद्धान करने लगता है। तत्त्वभूत पदार्थमें भी अतत्त्वभूतकी तरह रुचि नही करता और अतत्त्वभूतमें भी तत्त्वभूतकी तरह रुचि करने लगता है। जो धनधान्यादिक आत्माका हित सिद्ध करनेमें बिल्कुल भी उपयोगी नही है उनमे परिग्रहपीडित मनुष्य इतनी रुचि करने लगता है और ऐसा रत होजाता है कि जिससे वह अपने स्वामीका धनलवसे खरीदा हुआ गुलाम जैसा बनजाता है। यदि स्वामी नाचता है तो आप भी नाचता है और यदि स्वामी भागता है तो आप भी उसके साथ परिकर लेकर और पसीनामें सराबोर होकर खूब भागने लगता है। यदि स्वामी किसी निर्दोष गुणी पुरुषकी निन्दा करता है तो आप भी निंदा करता है। स्वामी हसता है तो आप भी ह-

सता है। स्वामी रोता है तो आप भी रोने लगता है और डकराता है तो आप भी डकराने लगता है[2]। मतलब यह कि धनको आत्महित समझकर उसके प्राप्त करनेकी तीव्र लालसासे परिग्रहसंज्ञामें रत हुआ प्राणी धनपतिकी स्वच्छन्दताका भी अनुवर्तन करनेमें रत होजाया करता है।

यह मिथ्यात्वका—अतत्त्वभूत पदार्थमें तत्त्वभूतकी तरह रुचि करनेका एकमात्र निदर्शन है। इसी प्रकार और भी समझने चाहिये, तथा हास्यादिक शेष अन्तरङ्ग परिग्रहोंके भी उदाहरणोंको स्वयं समझलेना चाहिये। अत एव हास्यादिक परिग्रहोंके कार्यमात्रको ही यहांपर दिखाते हैः--

हास्य कषायसे पीडित हुआ मनुष्य अवसरकी तो बात ही क्या, विना अवसरके भी हसने लगता है, पुरुषवेदसे पीडित होकर सर्वथा अगम्य-गुरुपत्नी राजपत्नी मित्रपत्नी आदिकसे भी गमन करने लगता है। यदि तू मेरे साथ संभोग करे तो मै तुझको अमुक वस्तु दू, इस प्रकार लोभ दिये जानेपर उनका अभीष्ट सिद्ध करनेमें भी प्रवृत्त होजाता है। इसी प्रकार स्त्रीवेद और नपुसकवेदके विषयमें भी समझलेना चाहिये। रतिकषायसे पीडित मनुष्य भिल्लपल्ली आदि अमनोज्ञ स्थान या पदार्थमें भी प्रेम करने लगता है। और अरति कषायका उदय होनेपर राजधानी आदि रमणीय स्थान भी मनुष्यको रुचिकर नहीं होते। शोक नोकषायके उदयसे आक्रान्त होनेपर मनुष्य अहा, खेद है कि ऐसे विषयों या पदार्थोंमें भी शोक करने लगता है जिनमें कि केवल दैव ही प्रमाण है-जो केवल कर्मके उदयसे ही होजाया करते है। भयका उदय होनेपर चाहे जिस पदार्थसे मनुष्य डरने लगता है, चाहे वह भयका कारण

१—गला फाडकर चिल्लाना।

२-हसति हसति स्वामिन्युच्चै रुदत्यतिरोदिति,
गुणसमुदित दोषापेत प्रणिन्दति निन्दति।
कृतपरिकर स्वेदोद्गारि प्रधावति, धावति,
धनलवपरिक्रीत यन्त्र प्रनृत्यति नृत्यति॥

हो चाहे न हो। जुगुप्साका उदय होनेपर दोषसहितकी तो बात ही क्या गुणविशिष्ट पुरुषमें भी जीव ग्लानि करने लगता है। इसी प्रकार मान क्रोध और मायाका उदय होनेपर मनुष्य अस्थान-गुरु आदिके विषयमें भी स्तब्धता करता और प्रतारणाका प्रयोग करने लगता है। लोभके उदयकी तो बात ही कहांतक कहें। इसके निमित्तसे तो जीव समस्त जगतको अपने पेटमें ही रखलेना चाहता है।

इस प्रकार ये अन्तरङ्ग भावरूप चौदह परिग्रह हैं जिनका कि साधुओंको त्याग करना चाहिये।

चेतन और अचेतन इस तरह दो प्रकारकी. दुस्त्याज्यताका सामान्यरूपसे निरूपण करते हैं: -

प्राग्देहस्वग्रहात्मीकृतानियातिपरीपाकसंपादितेत,—
देहद्वारेण दारप्रभृतिभिरिमकैश्चामुकैश्चालयाद्यैः।
लोकः केनापि बाह्यैरपि दृढमबहिस्तेन बन्धेन बद्धो
दुःखार्तश्छेत्तुमिच्छन् निबिडयतितरां यं विषादाम्बुवर्षैः ॥ १०८ ॥

शरीरमें आत्मत्व या आत्मीयताका अभिनिवेश या निश्चय करनेसे जो पूर्व जन्ममें नामकर्मका संचय अथवा बंध हुआ था उसके उदयसे वर्तमान भवमें जो शरीर प्राप्त हुआ है उसके द्वारा, आश्चर्य है कि बाह्य-आत्मासे असम्बद्ध भी इन कुत्सित प्रतीयमान स्त्रीप्रभृति और इसी प्रकार-दुःखकर ही अनुभवमें आनेवाले उन गृहादिक परिग्रहोंने इस संसारी बहिरात्मा प्राणीको किसी अलौकिक ऐसे बन्धनसे अन्तरङ्गमें दृढतासे बांध लिया है जिसका कि इन्हीं परिग्रहोंके द्वारा प्राप्त होनेवाले दुःखोंसे पीडित होनेपर छेदन करनेकी इच्छा रखते हुए भी वह प्राणी उसका छेदन नहीं करता बल्कि विषादरूपी जलका सिञ्चन कर उस बंधनको और भी अधिक दृढ बनालेता है।

भावार्थ—जीव जैसा विचार करता है वैसा ही उसको फल भी मिलता है। क्योंकि परिणामोंके अनुरूप ही कर्मोंका संचय और उनका फल हुआ करता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

अविद्वान् पुद्गलद्रव्य योभिनन्दति तस्य तत्।
न जातु जन्तो सामीप्य चतुर्गतिषु मुञ्चति ॥

जो अविवेकी पुद्गलद्रव्यकी प्रशसा करता है और उसको प्राप्त करना चाहता है उस प्राणीका वह चारो गतियोंमे कदाचित् भी साथ नहीं छोडता। क्योंकि जीव जिन पुद्गलोंको आत्मा या आत्मीय समझकर उनमें अभिनिवेश किया करता है वे ही उसके दीर्घ संसारके,कारण हुआ करते है। जैसा कि कहा भी है कि:—

चिरं सुपुप्तास्तमसि मूढात्मान. कुयोनिषु।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥

जिनके हृदयमें आत्मासे असम्बद्ध पदार्थोंमें ममकार और आत्मसम्बद्ध पदार्थोंमें अहंकाररूपी निबिड अंधकार जाग्रत होजाता है या रहता है वे मूढात्मा कुयोनियोंमें चिरकालके लिये अच्छी तरह सोजाते है—निमग्न होजाते है। इसी प्रकार पूर्वभवमें शरीरमें आत्मत्वका अध्यवसाय करके जीवने जिस पुद्गलविपाकी नासकर्मका उपार्जन किया था उसीके उदयसे वर्तमानमें जो शरीर प्राप्त हुआ उसीके द्वारा स्त्रीपुत्रादिक कुटुम्बी जन तथा गृहादिरूपी बाह्य परिग्रहोंने उस बहिर्बुद्धि प्राणीको अति दृढरूपसे किसी अलौकिक बंधनद्वारा बांधलिया है। क्योंकि शरीरके द्वारा अथवा उसके निमित्तसे ही समस्त बन्ध और तज्जनित दुःख हुआ करते है। यह आश्चर्यकी बात है कि आत्मासे अत्यंत भिन्न रहनेपर भी इन परिग्रहोंने भीतरसे आत्माको बांधलिया है। जिसने जीवको अपने साथ गाढरूपसे नियंत्रित कर रक्खा है वह बंधन भी ऐसा अलौकिक है कि जिसको काटनेकी इच्छा रखते हुए भी वह प्राणी उल्टा उसको दृढ बना देता है। जिस प्रकार लोकमे रस्सी आदिक बंधन पानीके निमित्तसे अधिक

हो चाहे न हो। जुगुप्साका उदय होनेपर दोषसहितकी तो बात ही क्या गुणविशिष्ट पुरुषमे भी जीव ग्लानि करने लगता है। इसी प्रकार मान क्रोध और मायाका उदय होनेपर मनुष्य अस्थान-गुरु आदिके विषयमें भी स्तब्धता क्रूरता और प्रतारणाका प्रयोग करने लगता है। लोभके उदयकी तो बात ही कहांतक कहे। इसके निमित्तसे तो जीव समस्त जगतको अपने पेटमे ही रखलेना चाहता है।

इस प्रकार ये अन्तरङ्ग भावरूप चौदह परिग्रह है जिनका कि साधुओंको त्याग करना चाहिये।

चेतन और अचेतन इस तरह दो प्रकारकी. दुस्त्याज्यताका सामान्यरूपसे निरूपण करते हैः -

प्राग्देहस्वग्रहात्मीकृतनियातिपरीपाकसंपादितेत,—
देहद्वारेण दारप्रभृतिभिरिमकैश्चामुकैश्चालयाद्यैः।
लोकः केनापि बाह्यैरपि दृढमबहिस्तेन बन्धेन बद्धो
दुःखार्तश्छेत्तुमिच्छन् निबिडयतितरां यं विषादाम्बुवर्षैः ॥ १०८ ॥

शरीरमें आत्मत्व या आत्मीयताका अभिनिवेश या निश्चय करनेसे जो पूर्व जन्ममें नामकर्मका संचय अथवा बंध हुआ था उसके उदयसे वर्तमान भवमें जो शरीर प्राप्त हुआ है उसके द्वारा, आश्चर्य है कि बाह्य-आत्मासे असम्बद्ध भी इन कुत्सित प्रतीयमान स्त्रीप्रभृति और इसी प्रकार-दुःखकर ही अनुभवमें आनेवाले उन गृहादिक परिग्रहोंने इस संसारी बहिरात्मा प्राणीको किसी अलौकिक ऐसे बन्धनसे अन्तरङ्गमें दृढतासे बांध लिया है जिसका कि इन्हीं परिग्रहोंके द्वारा प्राप्त होनेवाले दुःखोंसे पीडित होनेपर छेदन करनेकी इच्छा रखते हुए भी वह प्राणी उसका छेदन नहीं करता बल्कि विषादरूपी जलका सिञ्चन कर उस बंधनको और भी अधिक दृढ बनालेता है।

भावार्थ—जीव जैसा विचार करता है वैसा ही उसको फल भी मिलता है। क्योंकि परिणामोंके अनुरूप ही कर्मोका संचय और उनका फल हुआ करता है। जैसा कि कहा भी है किः—

अविद्वान् पुद्गलद्रव्य योभिनन्दति तस्य तत्।
न जातु जन्तो सामीप्य चतुर्गतिपु मुञ्चति ॥

जो अविवेकी पुद्गलद्रव्यकी प्रशसा करता है और उसको प्राप्त करना चाहता है उस प्राणीका वह चारो गतियोमें कदाचित् भी साथ नही छोडता। क्योंकि जीव जिन पुद्गलोंको आत्मा या आत्मीय समझकर उनमें अभिनिवेश किया करता है वे ही उसके दीर्घ संसारके कारण हुआ करते है। जैसा कि कहा भी है किः—

चिर सुपुप्तास्तमसि मूढात्मान कुयोनिपु।
अनात्मीयात्मभूतेपु ममाहमिति जाग्रति ॥

जिनके हृदयमें आत्मासे असम्बद्ध पदार्थोंमें ममकार और आत्मसम्बद्ध पदार्थोंमें अहंकाररूपी निबिड अधकार जाग्रत होजाता है या रहता है वे मूढात्मा कुयोनियोंमें चिरकालके लिये अच्छी तरह सोजाते है—निमग्न होजाते है। इसी प्रकार पूर्वभवमें शरीरमे आत्मत्वका अध्यवसाय करके जीवने जिम पुद्गलविपाकी नामकर्मका उपार्जन किया था उसीके उदयसे वर्तमानमें जो शरीर प्राप्त हुआ उसीके द्वारा स्त्रीपुत्रादिक कुटुम्बी जन तथा गृहादिरूपी बाह्य परिग्रहोंने उस बहिर्बुद्धि प्राणीको अति दृढरूपसे किसी अलौकिक बंधनद्वारा बांधलिया है। क्योंकि शरीरके द्वारा अथवा उसके निमित्तसे ही समस्त बन्ध और तज्जनित दुःख हुआ करते है। यह आश्चर्यकी बात है कि आत्मामे अत्यंत भिन्न रहनेपर भी इन परिग्रहोंने भीतरसे आत्माको बांधलिया है। जिसने जीवको अपने साथ गाढरूपसे नियंत्रित कर रक्खा है वह बंधन भी ऐसा अलौकिक है कि जिसको काटनेकी इच्छा रखते हुए भी वह प्राणी उल्टा उसको दृढ बना देता है। जिस प्रकार लोकमें रस्सी आदिक बंधन पानीके निमित्तसे अधिक

मजबूत होजाता है उसी प्रकार विषादरूपी जलका सिञ्चन होजानेसे—छीटा लगजानेसे अलौकिक बंधन भी दृढ होजाता है। क्योंकि देखते है कि अज्ञानी जन जब स्त्री आदिके निमित्तसे उपस्थित होनेवाले दुःखोंसे पीडित होते है तब वे उनको कदाचित् छोडना चाहते हैं किंतु उनके विरहसे उन्हे ऐसा विषाद होता है कि जिसके निमित्तसे वे और भी अधिक तीव्र असाता वेदनीय कर्मका बंध करलेते है जो कि आधिक दुःखका ही कारण होता है। अत एव ममकार या अहंकाररूप परिग्रहका बंधन ही जीवोंके लिये दुःखका मूल है। ऐसा समझकर अन्तरङ्ग परिग्रहोंकी तरह बाह्य परिग्रहोंका भी त्याग ही करना चाहिये।

बाह्य परिग्रह चेतन और अचेतन इस तरह दो प्रकारका जो बताया है उसमें चेतन परिग्रहको पृथक् विभक्त करके सोलह पद्योंमें उसके दोष बताना चाहते हैं। किंतु उसमें भी पहले पांच पद्योंमें स्त्री परिग्रहके दोषोंका वर्णन करते है। क्योंकि अत्यंत गाढ रागका निमित्त स्त्री ही होती है—

वपुस्तादात्म्येक्षामुखरतिसुखोत्कः स्त्रियमरं,
परामप्यारोप्य श्रुतिवचनयुक्त्यात्मनि जडः।
तदुच्छ्वासोच्छ्वासी तदसुखसुखासौख्यसुखभाक्,
कृतघ्नो मात्रादीनथ परिभवत्याः परधिया ॥ १०९ ॥

बहिरात्मबुद्धि मूढ प्राणी शरीरके साथ अपनी आत्माका तादात्म्य समझता है। अतएव वह शरीर और आत्मा दोनोंको एक रूपमें ही देखता है। वह समझता है कि मेरा आत्मा ही शरीर है और शरीर ही आत्मा है, दोनो भिन्न वस्तु नहीं है। इस विपरीताभिनिवेशरूप शरीर और आत्मामें होनेवाले एकत्व प्रत्ययके द्वारा ही यह अज्ञानी जीव रति-मैथुन कर्मसे उत्पन्न होनेवाले सुखमें सदा उत्सुक रहा करता है। यही कारण है कि वह आत्माकी तो बात ही क्या, शरीरसे भी सर्वथा भिन्न—अत्यंत अर्थान्तररूप स्त्रीका श्रुतिवचन-वेदवाक्योंकी

युक्तिसे अपनी आत्मामें आरोपण कर एकताका प्रत्यय करलेता है। क्योंकि ब्राह्मण लोग वैदिक मन्त्रोंके द्वारा विवाहसमयमें स्त्री और पुरुषके एकत्वका समर्थन किया करते हैं। इस योजनाके अनुसार ही मिथ्यादृष्टि लोग अपनेमें ही स्त्रीका संकल्प करके उसमें इतने अत्यंत आसक्त होजाते हैं कि उसके उच्छ्वासके साथ ही उच्छ्वास लेने और उसके दुःखमें दुःख और सुख में सुखका ही अनुभव किया करते हैं। स्त्रीका उच्छ्वास बंद हो जाने-पर—उसके मरजानेपर आप भी मर जाते और उसके ऊपर विपत्तियां संक्लेश उपस्थित होनेपर अपनेको वि-पन्न या संक्लिष्ट समझने लगते तथा सुख और शांतिसे युक्त देखकर अपनेको सुखी मानने लगते हैं। हाय! इस मिथ्या प्रत्ययके कारण यहांतक होता है कि वह मूढ स्त्रीको ही अपना सर्वस्व समझकर दूसरोंकी तो बा-त ही क्या, अपने मातापिता प्रभृति अत्यंत निकटवर्ती बंधुओं तथा गुरुजनोंमें भी परबुद्धि करके-उनको अ-पना विपक्षी समझकर और उनके प्रति कृतघ्न होकर—“ इनने मेरा किया क्या है ? कुछ नहीं, मैं तो स्वयं अपने पुण्यबलसे ऐसा होगया हूं ” यह समझ उनके किये हुए उपकारोंका भी अपलाप करके उनका तिरस्कार करदेता है।

भावार्थ--बाह्य चेतन परिग्रहोंमें एक स्त्री ही ऐसा परिग्रह है कि जिससे आत्मामें इतना तीव्र राग उत्पन्न होजाता है कि जिसके निमित्तसे उसमें कृतघ्नता जैसा महादोष भी आजाता है।

इस प्रकार स्त्रीपरिग्रहमें आसक्ति रखनेवाले पुरुषमें माता पिता आदिके तिरस्कारद्वारा उत्पन्न होनेवाले कृतघ्नता दोषको दिखाकर यह बताते है कि यह जीव उसके मरणका भी अनुगमन कर दुरन्त दुर्गतियोंके दुःखों-का भोग किया करता है। यह बात वचनभङ्गीके द्वारा प्रकट करते हैं: —

चिराय साधारणजन्मदुःखं पश्यन्परं दुःसहमात्मनोग्रे ।
पृथग्जनः कर्तुमिवेह योग्यां मृत्यानुगच्छत्यपि जीवितेशाम् ॥ ११० ॥

स्त्रीमें अत्यंत अनुराग रखनेवाला यह बहिरात्मा प्राणी यह देखकर कि अनन्तर जन्ममें मुझको चिरकाल

तक साधारण - निगोदपर्यायमे जन्मजानित अत्यंत उत्कृष्ट और ऐसे दुःख सहने पडेंगे जो कि दुःसह हैं-सहे नहीं जा सकते। अत एव मानो उनको सहनेका अभ्यास करनेके लिये ही वह अपनी प्राणाधिक प्रिया-वल्लभाके मरणका भी अनुवर्तन करता है- उसके मरनेपर आप भी प्राणपरित्याग करदेता है।

भावार्थ--कितने ही रागी पुरुष स्त्रीके मरते ही उसके वियोगजानित दुःखको सह न सकनेके कारण अपने भी प्राण छोडदेते है। ऐसे जीव मरकर उस निगोद पर्यायको प्राप्त करते हैं जहांपर कि दूसरे साधारण दुःखोंकी तो बात ही क्या, जन्म मरण सम्बन्धी दुःसह दुःख चिरकालतक सहने पडते है।

निगोदिया जीवोंका लक्षण पहले बताया जा चुका है कि इस पर्यायमें भी जीवोंकी सब क्रियाएं साधारण-समान ही होती है। जब एक शरीरमे एक जीव जन्म ग्रहण करता है तब उसी शरीरमे उसी समय अनन्तानन्त जीव और भी जन्म ग्रहण करते है। इसी प्रकार जब उनमेंमे एक जीव आहार ग्रहण करता है तो बाकीके सब जीव आहार ग्रहण करते है और श्वासोच्छ्वास लेता है तो सब श्वासोच्छ्वास लेते तथा एक मरता है तो सब मर-जाते है। इसी साधारण निगोदपर्यायके दुखोंको सहनेका स्त्रीपरिग्रही कामी पुरुष अपनी प्रेयसीके मरणका अनुकरण करके मानों अभ्यास करता है। इस प्रकार उत्प्रेक्षा अलंकारके द्वारा स्त्रीपरिग्रहका फल दुर्गतियोंके दुरन्त दुःखोंका भोग करना ही बताया है।

संभोग और विप्रलम्भ शृङ्गारके द्वारा स्त्रियां मनुष्योंके पुरुषार्थको नष्ट करदेती है। अत एव उनकी इस शक्तिपर उपालम्भ प्रकट करते हैः---

१—" साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहण च।
साहारणजीवाण साहारणलक्खण भणिय ॥
जत्थेक्क मरदि जीवो तत्थ दु मरण हवे अणताण।
चकमइ जत्थ एक्को चक्कमण तत्थणताण ॥ "

प्रक्षोभ्यालोकमात्रादपि रुजति नरं यानुरज्यानुवृत्त्या,
प्राणैः स्वार्थापकर्षं कृशयति बहुशस्तन्वती विप्रलम्भम् ।
क्षेपावज्ञाशुगिच्छाविहतिविलपनाद्युग्रमन्तर्दुनोति,
प्राज्यागन्त्वामिषादामिषमपि कुरुते सापि भार्याऽह हार्या ॥ १११ ॥

स्त्रियां केवल अपने स्वरूपको दिखा करके ही मनुष्योंको क्षुब्ध कर—उनके हृदयको अच्छी तरह चंचल बनाकर संतप्त-पीडित किया करती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पूर्वानुरागके द्वारा स्त्रियां पुरुषोंको प्रचुर दुःखका कारण ही होती है। क्योंकि पूर्वानुरागका स्वरूप ही ऐसा है। कहा है कि:—

स्त्रीपुंसयोर्नवालोकादेवोल्लसितरागयो ।
ज्ञेय पूर्वानुरागोयमपूर्णस्पृहयोर्दृशो ॥

जहांपर स्त्री और पुरुषका परस्परमें नवीन दर्शन होते ही दोनोंके हृदयमें रागका उद्रेक हो जाता है और दोनों ही की परस्परमें देखनेकी स्पृहा पूर्ण नहीं हो पाती—अपूर्ण ही रहजाती है वहांपर पूर्वानुराग समझा जाता है। यह विप्रलम्भ शृङ्गारका ही एक भेद है। यथा—

पूर्वानुरागमानात्मप्रवासकरुणात्मक ।
विप्रलम्भश्चतुर्धा स्यात् पूर्वपूर्वो ह्यय गुरु ॥

विप्रलम्भ शृङ्गार चार प्रकारका है—पूर्वानुराग, मान, प्रवास, और करुणा। इनमें पहला पहला भेद अधिक अधिक तीव्र है। करुणासे प्रवासमें, प्रवाससे मानमें, और मानसे पूर्वानुरागमें रागकी तीव्रता अधिक रहा करती है।

अतएव स्पष्ट है कि पहले तो पूर्वानुरागके द्वारा ही पत्नी पुरुषको क्लेश उपस्थित करती है। और पीछे

पतिकी इच्छानुसार चलकर उसको अपने ऊपर इस तरहसे अनुरक्त करके कि जिससे उसके स्वार्थका अपकर्षण हो जाय-वह धर्मादिक पुरुषार्थोंसे च्युत हो जाय, बल इन्द्रिय आयु तथा उच्छ्वासरूप प्राणोंसे भी उसको कृश बना देती है—उसको सुख नहीं देती, सुखा देती है। इससे यह बात भी मालुम हो जाती है कि संभोग शृङ्गारके द्वारा भी स्त्रियां पुरुषोंके हितमें बाधक ही होती हैं। क्योंकि देखते है कि कामी पुरुषोंसे कामिनियां एकान्तमें उनकी इच्छानुसार व्यवहार कर यथेष्ट चेष्टा कराया करती है। यथा—

यद्यदेव रुरुचे रुचितेभ्य: सुभ्रुवो रहसि तत्तदकुर्वन्।
आनुकूलिकतया हि नराणामाक्षिपन्ति हृदयानि रमण्य ॥

प्रिय पतियोंको जो जो विषय रुचिकर मालुम पडा सुन्दरियोंने वही वही एकान्तमें पूरा किया। क्योंकि अनुकूल व्यवहार करके रमणियां नियमसे पतियोंके हृदयोंपर अधिकार करलिया करती है।

इसी प्रकार जो स्त्रियां धिक्कार अनादर शोक इच्छाविघात विलाप और उत्कण्ठा प्रभृति भावोंसे उग्र—असह्य विप्रलम्भ-प्रणयभङ्ग या ईर्ष्यादिकसे उत्पन्न होनेवाले मान अथवा प्रवासरूप शृङ्गारको बढाकर अच्छी तरहसे मनुष्योंके हृदयको पीडित किया करती है। तथा शत्रुप्रहारादिक प्रचुर आगन्तुक दुःखरूपी मांसभक्षक राक्षसोंका विषय या ग्रास बनादेती है। यह कितने आश्चर्य और खेदकी बात है कि कामी पुरुष फिर भी उन भार्याओंको आर्या कहते हैं अथवा उनको हार्या-अनुरञ्जनीया समझते है। जैसा कि कहा भी है कि—

वाग्मी सामप्रवणश्चाटुभिराराधयेन्नरो नारीम्।
तत्कामिना महीयो यस्माच्छृङ्गारसर्वस्वम् ॥

वचनकुशल और सान्त्वनामें प्रवीण पुरुषको चाटुकार—खुशामदसे भरे हुए शब्दोंके द्वारा स्त्रियोंका आराधन करना चाहिये। क्योंकि कामियोंके लिये शृङ्गारका सर्वस्व यह आराधन ही महनीय या सेव्य विषय है।

भावार्थ—हाय, यह कितने दुःख और आश्चर्यकी बात है कि जो, पूर्वानुराग, सभोग और विप्रलम्भ तीनो ही प्रकारसे मनुष्यको क्रमसे सतप्त कृश और अन्तरङ्गमें पीडित किया करती है उसको मनुष्य उल्टा हार्या और आर्या समझता है। इसके संयोगसे मनुष्य आयु बल इन्द्रिय आदिकसे रिक्त होजाता है और वियोग होनेपर अन्तरङ्गमें पीडित हो विलापादिक करने लगता है; यह बात शास्त्र और लोक दोनो ही में प्रसिद्ध है। यथा—

स्निग्धा' श्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेलद्बलाका घना,
वाता. शीकरिण' पयोदसुहृदामानन्दकेका: कला:
काम सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोस्मि सर्वं सहे,
वैदेही तु कथ भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥

इधर आकाशमें स्निग्ध मेघ छाये हुए हैं जिनमें कि बगुलोंकी पङ्क्ति उडरही है और उनकी शामल कान्तिसे आकाश आच्छन्न हो रहा है, और इधर जिसमें छोटे छोटे जलकण मिले हुए है ऐसी वायु वह रही है और मयूरोंकी आनन्दध्वनि हो रही है। ये सब कलाएं यथेष्ट—अच्छी तरहसे हों–मुझे इनकी कुछ भी परवाह नहीं है। क्योंकि मेरा हृदय अत्यंत कठोर है, मै रामचन्द्र हू, सब कुछ सह सकता हू। किंतु हाय हाय इस समय वैदेही किस तरहसे होगी। हा देवि ! धीर रहना धैर्यसे काम लेना।

और भी कहा है कि:—

हारो नारोपित' कण्ठे स्पर्शविच्छेदभीरुणा।
इदानीमन्तरे जाता पर्वता सरितो द्रुमा ॥

परस्परके आलिङ्गनमें कही जरा भी अन्तर न पडजाय इस लिये मैने गलेमें हार तक नहीं पहराया था पर अब हम दोनोंके बीचमें हाय, कितने पर्वत नदी और वृक्षतक पडे हुए है।

इसी प्रकार आक्षेप अवज्ञा शोक और उत्कण्ठा आदिक भावोंके भी उदाहरण तत्तत् महाकवियोंके ग्रन्थोंमें मिलते है। जिससे यह बात स्पष्ट होती है कि पत्नीका संयोग और वियोग दोनो ही दुःखजनक है। एवं च जो पत्नी हर तरहसे मनुष्यका अहित ही करती है, आश्चर्य है, कि, कामी पुरुष उसको आर्या किस तरह समझते है। क्योकि गुणोंसे पूर्ण रहनेके कारण जिसका आश्रय लिया जाय उसको आर्या कहते है।

शृङ्गारके पूर्वानुरागादिक जो भेद बताये है उनके द्वारा स्त्रियां पुरुषोंको किस प्रकार पीडित किया करती है यह बात दृष्टान्तद्वारा क्रमसे स्पष्ट करते है

स्वासङ्गेन सुलोचना जयमऽघाम्भोधौ तथाऽवर्तयत,
स्वं श्रीमत्यऽनु वज्रजङ्घमऽनयद्भोगालसं दुर्मृतिम् ।
मानासद्ग्रहविप्रयोगसमरानाचारशङ्कादिभिः,
सीता राममतापयत्क न पतिं हा साऽऽपदि द्रौपदि ॥ ११२ ॥

अकम्पन राजाकी पुत्री सुलोचनाने जयकुमार-मेघेश्वरको अपने रूपपर आसक्त करके पाप—दुःखोत्पादक व्यसनरूपी समुद्रके भवरमे ऐसा पटका जिससे कि उसको अर्ककीर्तिके साथ महान् युद्धमें प्रवृत्त होना पडा। यह बात महापुराणमें अच्छी तरह बताई गई है। यह इस बातका उदाहरण है कि स्त्रिया पूर्वानुरागरूपी विप्रलम्भ शृङ्गारके द्वारा किस प्रकार पुरुषोंको दुःखकी उत्पादक हुआ करती है। वज्रदन्त चक्रवर्तीकी पुत्री श्रीमतीने अपने साथ साथ अपने पति वज्रजङ्घको भी भोगोंमें अलस बनाकर-विषयसेवनकी आसक्तिसे अशक्त कर बहुत बुरी मृत्युको पहुचाया। जिस प्रासादमे दोनो ही विषयसेवनमें आसक्त होकर पडे थे उसमे केशोको सुगन्धित करनेवाली धूपका धुआं भरजानेसे दोनोंका ही कण्ठ रुकगया और वे बुरी तरह मृत्युको प्राप्त हुए। यह कथा भी महापुराणमे स्पष्टतया लिखी है। यह इस बातका उदाहरण है कि संभोगसुखके द्वारा भी स्त्रियां

किस प्रकार पुरुषोंको दुःखकी उत्पादक हुआ करती है। सीताने रामचंद्रको भी कुछ कम दुःख नहीं दिया था। पहले तो प्रणयभङ्गजनित मानश्रृंगारके द्वारा और फिर युद्धमें प्रवृत्त लक्ष्मणकी पराजयका निवारण करनेकेलिये जो उसके पास जानेका रामचन्द्रजीसे उसने असद्ग्रह— दुरभिनिवेश किया उससे क्या रामचन्द्रको कुछ कम दुःख हुआ। तथा रावणद्वारा हरण होजानेपर जो वियोगजनित दुःख हुआ और उसकी प्राप्तिकेलिये रावणसे युद्ध करनेमें जो क्लेश उठाना पडा तथा लङ्केश्वरके साथ उपभोगकी संभावनासे जो मानसिक पीडा हुई वह क्या कुछ कम थी। अनाचारकी शंकासे अग्निपरीक्षा करनेपर जब सीताकी दिव्य शुद्धिकी प्रसिद्धि होगई तब जो रामचंद्रजीका अपमान हुआ उससे क्या उन्हे कुछ कम दुःख हुआ। अंतमें जब रामचद्रजी तपस्या कर रहे थे उस समय भी सीताके जीवने आकर उनके ऊपर घोर उपसर्ग किये ही थे। अत एव सीताने भी मान असद्ग्रह विरह संग्राम और अनाचारकी शंका तथा अपमान और उपसर्गादिक करके रामचन्द्रजीको कम संतप्त नहीं किया था। इनकी कथा रामायणमें प्रसिद्ध है। यह उदाहरण मान और प्रवासरूप विप्रलम्भ शृङ्गारके द्वारा स्त्रियां पुरुषोंको किस प्रकार दुःखकी उत्पादक हुआ करती हैं इस बातको प्रकाशित करता है। हाय, पञ्चाल राजाकी पुत्री द्रौपदीने तो अपने प्रिय पति अर्जुनको कौन कौनसी आपत्तिमें नही पटका था। उसे तो स्वयम्वरके समयमें ही हुए युद्धसे लेकर प्रायः सभी विपत्तियोंमें पडना पडा था। जिसकी कि कथा महाभारतमे प्रसिद्ध है। इस दृष्टांतसे पूर्वानुराग और प्रवासरूप विप्रलम्भद्वारा स्त्रियोंकी दुःखोत्पादकता स्पष्ट होती है।

भावार्थ—लौकिक अनुभव और शास्त्रीय उदाहरणोंसे यही बात सिद्ध होती है कि स्त्रीरूप चेतन परिग्रह रागी पुरुषोंको दुःखका ही कारण है।

स्त्रियोंकी रक्षा करना दुःशक्य है, इनके शीलभङ्ग हो जानेपर बडा भारी परिताप प्राप्त हुआ करता है। एवं वे सद्गुरुओंकी संगति करनेमें अन्तरायका कारण और परलोकके लिये उद्योग करनेमें प्रतिबन्धक हुआ

करती हैं। इस बातका निरूपण कर यह बात व्यक्त करते हैं कि इस तरहकी वल्लभाओंका मुमुक्षुओंको पहले से ही परिग्रहण न करना चाहिये।

तैरश्चोपि वधूं प्रदूषयति पुंयोगस्तथेति प्रिया,—
सामीप्याय तुजेप्यऽसूयति सदा तद्विप्लवे दूयते।
तद्विप्रीतिभयान्न जातु सजति ज्यायोभिरिच्छन्नपि,
त्यक्तुं सद्म कुतोपि जीर्यतितरां तत्रैव तद्यान्त्रितः ॥ ११३ ॥

औरोंकी तो बात ही क्या कहें। अपने खास पुत्रसे भी लोक, यदि वह उनकी प्रिया – वल्लभाके निकट रहा करता हो तो असूया करने लगते है। वह चाहे जितना भी गुणी क्यों न हो अपनी प्रेयसीके निकट सहवास करनेके कारण उसमें रुष्ट हो लोक ईर्ष्यासे उसके गुणोंमें भी दोषोंका आरोपण किया करते है। और यह बात ठीक भी है; क्योंकि देखते हैं कि मनुष्योंकी तो बात ही क्या, तिर्यंच पुरुषोंका भी संयोग व-धुओंको अच्छी तरह दूषित कर दिया करता है। जैसा कि प्रभंजन चरितादिक शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। प्रभं-जन चरित्रमें उस रानीकी कथा विदित है जो कि बन्दरपर आसक्त हो गई थी। इसी प्रकार लोकोंके हृद-यमें अपनी प्रियतमाका शीलभंग देखलेनेपर अथवा सुनलेनेपर सदा ही परिताप बना रहा करता है। वे नित्य ही उससे कुढते रहते है। तथा स्त्रीके निमित्तसे ही लोक इस भयमें कि कहीं प्रियाके प्रेमका भंग न हो जाय धर्माचार्यादिक गुरुजनोंकी भी संगतिमें नहीं रह सकता। वह सत्संगतिके फलमें वञ्चित रहता है। और किसी पुत्रवियोगादिक अगाढ कारणको पाकर घरका परित्याग करदेनेकी इच्छा करते हुए भी वह अपनी प्रियारूपी शृंखलामें जकडा रहनेके कारण उसको छोड नहीं सकता और घरमें पडा हुआ ही जरामें जर्जरित हो जाया करता है। इन सब बातोंको देख सुनकर विदग्ध पुरुष स्वयं ही ऐसा तात्पर्य समझ सकते हैं कि मुमुक्षुओंको पहलेसे ही स्त्रीका परिग्रहण न करना चाहिये। जसा कि कहा भी है कि —

प्रागेव शक्तोऽशक्तोऽन्त्ये त्यक्त्वा राज्य विपन्मयम् ।
धीर समाधिना मृत्वा भवाम्भोधे समुद्धरेत ॥

मनुष्य पहली अवस्थामें शक्त और अन्त्यभी अवस्थामें अशक्त रहा करते है। अत एव धीर पुरुषोंको पहली अवस्थामें ही विपत्तियोंसे भरे हुए राज्यको छोड देना चाहिये और अन्तमें समाधिपूर्वक मरण कर संसारसमुद्रसे पार हो जाना चाहिये।

इस प्रकार स्त्री परिग्रहके रागसे अन्धे हुए पुरुषोंके दूषणोंको प्रकट कर अब पुत्रमोहसे अन्धे हुओंके दोष बताते हैः —

यः पत्नीं गर्भभावात्प्रभृति विगुणयन् न्यक्करोति त्रिवर्गं,
प्रायो वपुः प्रताप तरुणिमनि हिनस्त्याददाना धनं यः ।
मूर्खः पापो विपद्वानुपकृतिकृपणो वा भवन् यश्च शल्य,—
त्यात्मा वै पुत्रनामास्ययमिति पशुभिर्युज्यते स्वेन सोपि ॥ १४ ॥

जीव जब पिताके वीर्य और माताके रजको ग्रहण करलेता है तब उसको गर्भ कहते है। यथाः—

शुद्धं शुक्रार्तवे सत्त्व स्वकर्मक्लेशचोदित ।
गर्भ सपद्यते युक्तिवशादग्निरिवारणा ॥

अपने उपार्जित कर्मके उदयसे प्रेरित हुआ जीव जब शुद्ध रजवीर्यके पिंडमें आकर उपस्थित होता है तब उसको गर्भ कहते हैं। जिस प्रकार भस्मसे आच्छन्न अङ्गारमें अग्नि छिपी रहती है। इस स्वरूपके होजाने अथवा प्राप्त होजानेको ही गर्भभाव कहते है। इस गर्भभावसे लेकर जबसे जीव माताके उदरस्थ रजवीर्यके पिण्डको ग्रहण कर

गर्भस्वरूपको प्राप्त करता है तभीसे वह भार्या--पिताकी पत्नी और अपनी जननीके शुभ शुभगता सौन्दर्य सौष्ठव आदि गुणोंका अपहरण करता हुआ पिताके अथवा मातापिता दोनोंके ही त्रिवर्गका-धर्म अर्थ काम इन तीन पुरुषार्थोंका भी न्हास करदेता है। और प्रायः यौवन अवस्था प्राप्त करलेनेपर पिताके ग्राम सुवर्णादिक धनको छीन कर या लेकर प्रतापको भी नष्ट करदेता है--उसे निस्तेज बना देता है। कहा है किः –

जाओ हरइ कलत्त वड्ढतो वड्ढिमा हरइ।
अत्थ हरइ समत्थो पुत्तसमो वेरिओ णत्थि ॥

गर्भमें आते ही स्त्रीका, बढनेपर वृद्धिका और समर्थ होनेपर धनका अपहरण करनेवाले पुत्रकी बराबर वैरी कौन हो सकता है।

इसी प्रकार यदि वह मूर्ख-अज्ञानी हो, अथवा पापी—ब्रह्महत्या परदाराभिगमन सरीखे पातकोंमें प्रवृत्त हो, यद्वा व्याधि काराग्रह आदि विपत्तियोंमें फस गया हो, अथवा मूर्खता या असामर्थ्यके कारण उपकार करनेमें कृपणता करता हो-अनुपकारी हो तो वह शरीरमें कांटेकी तरह हृदयके भीतर चुभा करता है। इस प्रकार जो पुत्र गर्भसे लेकर बडे होनेतक दुःखोंका देनेवाला और नाना प्रकारसे अपकार करनेवाला है उसकी भी मूढ —गृहस्थाश्रमके वास्तविक व्यवहारसे अनभिज्ञ पुरुष अपने साथ योजना—अपनी आत्माके साथ एकत्वकी कल्पना करते है। कहते है कि--यह-मेरे सामने उपस्थित तू, मैं ही हूं-हे पुत्र! तुझमें और मेरी आत्मामें कुछ भेद नहीं है। पुत्र इस नामकी अपेक्षासे ही तू साक्षात् मुझसे भिन्न है, स्वरूपसे नहीं। जातकर्ममें कहा है कि:—

अङ्गादङ्गात्प्रभवसि हृदयादपि जायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि सजीव शरदः शतम् ॥

हे पुत्र! तू मेरे अङ्ग अङ्गसे उत्पन्न हुआ है। तेरे शरीरका प्रत्येक अङ्ग मेरे उसी उसी अङ्गसे बना

है। तू मेरे साक्षात् हृदयसे निकला है। अत एव यह स्पष्ट है कि पुत्र इस नामके सिवाय तुझमें और मेरी आत्मामें कुछ भी अन्तर नही है। अत एव हे हृदयके टुकडे! चिरंजीव! तू सैकडों वर्ष की आयु भोग।

मनुने भी इस विषयमें कहा है कि:—

पतिर्भार्यां सम्प्रविश्य गर्भो भूत्वा जायते।
जायायास्तद्धि जायात्व यदस्या जायते पुन ॥

पति ही भार्यामें प्रवेश कर और फिर गर्भ बनकर उत्पन्न हुआ करता है। जायाका जायापन ही यह है कि उसमें पति प्रवेश कर पुनः उत्पन्न होता है। अत एव पिता और पुत्रकी आत्मामें अन्तर नही है।

भावार्थ—पुत्रके साथ अपनी आत्माके अभेदकी कल्पना वे मूढ पुरुष ही करते है जो कि चेतन परिग्रहोंमें पुत्रके मोहसे अन्धे हो रहे है। उन्हे उसका वास्तविक स्वरूप ही नही दीखता। उनकी इस बातकी तरफ दृष्टि ही नही जाती और वे नहीं जानते कि वह एक ऐसी परिग्रह है जो कि उत्पन्न होनेके समयसे लेकर नित्य ही माता पिताको पीडित करती, क्लेश देती और हितसे पराङ्मुख कर संतप्त ही किया करती है।

पुत्रके विषयमें सांसिद्धिक नैसर्गिक और औपाधिक इस तरह दो प्रकारकी जो भ्रान्ति लगी हुई है उनको दूर कर मुमुक्षुओंको मोक्षके मार्गमें स्थापित करते है—उन्हे वास्तविक पुत्र किसको समझना चाहिये सो बताते हैं:—

यो वामस्य विधेः प्रतिष्कशतयाऽऽस्कन्दन् पितृञ्जीवतो,—
प्युन्मथ्नाति स तर्पयिष्याति मृतान्पिण्डप्रदाद्यैः किल।

इत्येषा जनुषान्धतार्य सहजाहार्याथ हार्या त्वया,
स्फार्यात्मैव ममात्मजः सुविधिनोद्धर्ता सदेत्येव दृक् ॥ ११५ ॥

प्रतिकूल विधि—बाधक दैव अथवा शास्त्रविरुद्ध विधान—आचरणका सहकारी बन कर जो जीवित-विद्यमान पिता पितामहादिकको कदर्थित कर—दुष्कर्मकी उदीरणा और तीव्र मोहकी उत्पत्तिसे पीडित कर शुद्ध चैतन्यरूप प्राणोंसे उन्हे वियुक्त करदेना है वह पुत्र उनके मरजानेपर उनको पिण्डदान जलतर्पण और ऋणशोधादिके द्वारा अच्छी तरह तृप्त करेगा ऐसी समझको अथवा इस आगमवाक्य या लोकोक्तिको भ्रातिके सिवाय और क्या कहना चाहिये । हे आर्य ! साधो ! इस तरहकी नैसर्गिक अथवा आहार्य—दुरुपदेशजन्य जात्यन्धताको तू छोड दे । तुझको तो यह निश्चित श्रद्धान करना चाहिये कि मेरा यह आत्मा ही मेरा वास्तविक पुत्र है । क्यों कि नित्य सम्यक्चारित्रका पालन कराकर यही संसारसमुद्रसे मेरा उद्धार करनेवाला है ।

भावार्थ—बहुतसे लोगोंके नैसर्गिक अथवा अज्ञानको फैलनेमें हस्तावलम्बन देनेवाले कदागमके आधारपर मिले हुए दुरुपदेशके निमित्तसे ऐसी भ्राति बैठी हुई है कि पुत्र मरकर परलोकको गये हुए पितृ पितामहादिकको पिण्डदानादि कर्म करके तृप्त किया करता है । किंतु यह वास्तवमें भ्रांति ही है । क्योंकि जो पुत्र, चाहे वह विनयी हो चाहे अविनयी, जीवित पितादिकको तृप्त करना तो दूर रहा उल्टा क्लेश उपस्थित किया करता है और आत्महितसे दूर ही रखता है वह उनके मरनेपर क्या उन्हे कभी तृप्त कर सकता है ? कभी नहीं । क्योंकि यदि पुत्र कदाचित विनयी हो तब तो वह अपने विषयमें मोहके ग्रहको पितादिकके ऊपर सवार कराकर उनसे परलोकके विरुद्ध आचरण कराता है । और यदि अविनयी हो तब तो वह दुःखों के देनेमें उन्मुख होकर पितादिकके दुष्कर्मोंकी उदीरणाका निमित्त हो ही जाता है । अतएव हे आर्य ! इस परिग्रहको भी तू दुःखकर और आत्माके लिये अहितकर ही समझ और उसके विषयमें उक्त नैसर्गिक अथवा आपाधिक भ्रांतिको छोड । तथा अपनी उस आत्माको ही अपना पुत्र समझनेकी श्रद्धाको दृढ कर जो कि

सम्यक्चारित्रके द्वारा तेरा संसारसमुद्रसे उद्धार करदेनेवाला है।

जो प्राणी पुत्रियोंके मोहसे ग्रस्त रहते हैं उनका भी स्वार्थ नष्ट हो जाता है इस बातको खेदके साथ प्रकट करते हैं—

मात्रादीनामदृष्टद्रुघणहतिरिवाभाति यज्जन्मवार्ता
सौस्थ्यं यत्सप्रदाने क्वचिदपि न भवत्यन्वहं दुर्भगेव।
या दुःशीलाऽनपत्या वा स्खलति हृदि मृते विप्लुते वा धवेऽन्त,—
र्यां दन्दग्धीह मुग्धा दुहितरि सुतवद् घ्नन्ति धिक् स्वार्थमन्धाः ॥११६॥

जिसके जन्मकी वार्ता-यदि कोई आकर कहे कि तुम्हारे लडकी हुई है तो यह समाचार मातापिताको ऐसा मालुम पडता है मानों अदृष्ट मुद्गरका आघात हो-मानो इसने हमारे ऊपर अदृष्ट[1] मुद्गरका प्रहार ही किया है। तथा जन्मके बाद उसका दान यदि वर योग्य न मिले तो माता पिताके चित्तको चैन नहीं लेने देता। समीचीन शास्त्रोक्त विधिके अनुसार और प्रकर्षरूपसे जिसको कन्या दी जाय उसको संप्रदान कहते हैं। अत एव संप्रदान नाम वरयिताका है। इस वरयितामें कुल शील बल विद्या धनादिक जिन जिन गुणोंकी आवश्यकता है वे यदि उचित न मिले या तरतम रूपमें मिले तो उसका दान करते समय माता पिताके हृदयमें "हम योग्य स्थानमें अपनी कन्याको नियुक्त कर रहे हैं" ऐसा संतोष नहीं होता। उन्हें असंतोष या असफलताजनित क्लेश ही प्राप्त होता है जो कि जीवनपर्यन्त बना रहता है। इसके बाद यदि कदाचित् वह कन्या दुःशीला—व्यभिचारिणी अथवा निःसंतान हो तो वह भी दुर्भगा—अनिष्ट कन्याके ही समान मातादिकके हृदयमें दिनरात शल्यकी तरह खटक-

१— पूर्वसंचित दुष्कर्म अथवा दीखनेमें न आ सकनेवाला।

ती रहती है; क्योंकि जिस कन्याको कुरूप या कुलक्षणादिकके कारण यदि कोई ग्रहण करना नहीं चाहता तो वह जिस प्रकार दुःखका ही कारण होती है उसी प्रकार व्यभिचारिणी और निःसंतान भी कन्या मातादिकके हृदयमें व्यथा ही उत्पन्न करनेवाली होती है। उस समय तो कन्या मातादिकको हृदयमें बहुत ही बुरी तरह और पुनः पुनः जलाया करती है जब कि उसका पति मर जाय, अथवा संन्यास लेजाय, यद्वा कहीं दूर देशको निकलकर चला जाय, अथवा ऐसा पति मिले जो कि त्रिवर्ग-धर्म अर्थ काम पुरुषार्थोंका साधन करनेमें असमर्थ हो। इस प्रकार कन्या भी माता पिताको पुत्रके ही समान अनेक प्रकारके दुःखोंके देनेमे मूल कारण है। फिर भी जो पुरुष उस कन्यामें मुग्ध रहते है—उसके ममत्त्वग्रहसे अन्धे हो जाते और तत्त्वस्वरूपको न देख सकनेके कारण अपने अभीष्ट प्रयोजन दुःखोच्छेदन और सुखप्राप्तिको नष्ट कर देते है, उन्हे धिक्कार है।

भावार्थ—पुत्रकी तरह कन्यारूप चेतन परिग्रह भी मनुष्योंको जन्मसे लेकर जबतक जीती है तब तक क्लेश ही देती है। फिर भी लोग उसमे मुग्ध होकर आत्मकल्याणसे पराङ्मुख रहते है। यह उनके अज्ञानका ही माहात्म्य है।

माता पिता आदि जितने बन्धु बान्धव है वे सब आत्माका अपकार ही करनेवाले है। अत एव उनकी वक्रोक्तिके द्वारा निन्दा करते हुए विपक्षियोका अभिनन्दन करते है। क्योंकि उनके निमित्तसे पूर्वसंचित दुष्कर्मकी निर्जरा ही होती है; अत एव वे आत्माके उपकारी ही है:—

बीजं दुःखैकबीजे वपुषि भवति यस्तर्पसंतानतन्त्र,—
स्तस्यैवाधानरक्षाद्युपधिषु यतते तन्वती या च मायाम्।
भद्रं ताभ्यां पितृभ्यां भवतु ममतया मद्यवद् घूर्णयद्भ्य:,
स्वान्तं स्वेभ्यस्तु बद्धोञ्जलिरयमरयः पापदारा वरं मे ॥११७॥

जो तृष्णासंततिके अधीन होकर—निरंतर और बढती हुई गृद्धिके वशमें पडकर जो मेरे इस दुःखोंके एक मात्र—असाधारण कारण शरीरके उत्पन्न होनेमें बीजभूत है उस पिताका कल्याण हो। और इस शरीरके ही धारण - गर्भाधान तथा पालन पोषण और वर्धनादिक उपकरणोंमें ही जो मिथ्या मोह-जालको बढाती हुई निरंतर प्रयत्न किया करती है उस माताका भी भला हो। ऐसे पिता माताको दूर ही से नमस्कार है जो कि दुःखोंके प्रधान हेतुको उत्पन्न करनेवाले और उल्टे उसीके पालन पोषणादिकमें मोहित बनानेवाले हैं। क्योंकि समस्त दुःखोंका मूल य० पिता माताने उत्पन्न हुआ शरीर ही है, यह बात स्पष्ट है। गुणभद्र स्वामीने भी कहा है "सर्वापदां पदमिदं जननं जनानाम्"। मनुष्योंका शरीर ही समस्त आपत्तियोंका स्थान है। जिन्होंने उत्तरोत्तर अधिकाधिक तृष्णासंततिके अधीन हो मेरेलिये यह अनंत दुःखोंकी खान तयार की है और उसीके रक्षणादिकी तरफ मुझे प्रवृत्त कर आत्महितसे पराङ्मुख कर दिया है ऐसे पिता माता मुझे नहीं चाहिये। किंतु [illegible] बन्धुओंको [illegible] जोडकर नमस्कार करता हूं और चाहता हूं कि मद्यके समान मोहित करनेवाले ममकारके द्वारा हिताहितके विचार—विवेकको नष्ट कर हृदयको सक्लिष्ट अथवा विघूर्णित करदेनेवाले ये कोई भी बन्धुजन मुझे प्राप्त न हों। क्योंकि ये ऐसे अत्यंत दुष्ट हैं जो कि मोहित बनाकर आत्माको उसके वास्तविक हितसे वञ्चित रखते हैं। इन दुष्टोंको धिक्कार है। इनसे तो मेरे शत्रु ही भले, जिनके कि अपकारादिक करनेसे मेरा उपकार ही होता है। क्योंकि जब वे किसी प्रकारका अपकार करते या मुझको क्लेश देते हैं तो उनके उस व्यवहारसे मेरे पूर्वसंचित दुष्कर्मोंकी उदीरणा होजाती है और फलतः आत्माका हित ही होता है।

अधर्ममें प्रवृत्त करदेनेवाली दूसरोंके साथ की गई मित्रताकी निन्दा करते हैं:—

अधर्मकर्मण्युपकारिणो ये प्रायो जनानां सुहृदो मतास्ते।
स्वान्तर्बहिःसततिकृष्णकृत्यैर्नरस्त कृष्णे खलु धर्मपुत्रः ॥ ११८

प्राय करके लोगोंके मित्र ऐसे ही हुआ करते हैं जो कि उनको अधर्मकर्म-पाप क्रियाओंमें ही प्रवृत्त करते तथा सहायक हुआ करते हे। देखते हे कि धर्मपुत्र युधिष्ठिरने अपनी अन्तरङ्ग संतती—निजात्माके लिये पापकर्मकी प्राप्तिके उपायभूत और बहिःसंतति—निज कुलके लिये—कृष्णवर्त्मा अग्निके समान=कौरव कुलका संहार करनेवाले कृष्णके साथ प्रीति की थी।

भावार्थ- जब धर्मपुत्रकी विष्णुके साथ की गई मित्रताने अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग अहित ही किया तब दूसरे साधारण लोगोंकी मित्रताका तो कहना ही क्या है। अत एव समस्त पुरुषार्थोंके मूल कारण धर्मका जो पुत्र है उसको इस मित्रतापर कभी विश्वास न करना चाहिये। जो अपने धर्मका अनुवर्तन करना चाहते हे उन्हे उचित है कि अन्तरङ्ग-आत्मा और बाह्य—कुलादिकके लिये कृष्णवर्त्मा—पापमार्ग अथवा अग्निके समान समझकर इस लौकिक मित्रताको दूरहीसे छोडदें। क्योंकि यह हर प्रकारसे कृष्ण—काली ही है।

जो इस लोकमें संचयमें सहायता करनेवाले हैं वे सब मोहके ही उत्पन्न करनेवाले और बढानेवाले है अत एव उनकी त्याज्यता प्रकट करते हुए पारलौकिक कार्योंके साधनमें अवलम्ब देनेवाले मित्रोंका नीचली दशामें-सम्पूर्ण परिग्रहके छोडनेकी पूर्ण सामर्थ्य न होनेतक अनुसरण करनेका उपदेश देते हैं:—

निश्छद्म मेघति विपद्यपि संपदीव,
यः सोपि मित्रमिह मोहयतीति हेयः।
श्रेयः परत्र तु विबोधयतीति ताव-
च्छक्यो न यावदसितुं सकलोपि सङ्गः॥ ११९॥

संपत्तिके समयमें स्नेही मित्र बन्धु बान्धव तथा सहायक बननेवाले तो बहुत है। किंतु उनकी यहांपर चर्चा नहीं है। क्योंकि ऐसोंको संसारमें कोई मित्र भी नहीं कहता। परन्तु जो व्यक्ति संपत्तिकी तरह विपत्तिमें

भी-अनेक प्रकारके कष्ट उपस्थित होनेपर भी निष्कपटरूपसे स्नेह करता और अवलम्ब देता है उसीको लोकमें मित्र कहते है। तत्त्वदृष्टिसे यह भी आत्माको मोह ही उत्पन्न करता है। अत एव मुमुक्षुओंकेलिये वह भी त्याज्य ही है। फिर भी जबतक समस्त परिग्रहके छोडनेकी सामर्थ्य नहीं है तब तक उनको ऐसे सन्मित्रोंका आश्रय लेना चाहिये जो कि परलोकके विषयमें सहायता करनेवाले और आत्मा तथा शरीरके विशिष्ट भेदज्ञानको प्राप्त करानेवाले है।

जैसा कि कहा भी है कि:--

सङ्ग सर्वात्मना त्याज्यो मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभि ।
स चेत् त्यक्तु न शक्येत कार्यस्तर्ह्यात्मदर्शिभि ॥

मुमुक्षु मुनियोंको सङ्ग रखना सर्वथा वर्ज्य है। किन्तु जबतक वे उसको सर्वथा नहीं छोड सकते तबतक उन्हे आत्मदर्शियोंके साथ सङ्ग रखना चाहिये। और भी कहा है कि:--

सङ्ग सर्वात्मना त्याज्य स चेत् त्यक्तु न शक्यते ।
स सद्भि सह कर्तव्य' सन्त सङ्गस्य भेषजम् ॥

वस्तुतः सङ्ग सर्वथा छोडदेनेके ही योग्य है। किंतु जब तक वह छोडा नहीं जा सकता तब तक सत्पुरुषोंके साथ सङ्ग करना या रखना चाहिये। क्योंकि सत्पुरुष सङ्गकी ओषध है। सङ्गतिके निमित्तसे जो दोष उत्पन्न होते है वे सब सत्पुरुषोंके प्रसादसे दूर हो सकते हैं। अत एव वे आत्मकल्याणके सहायक है।

अत्यंत भक्तियुक्त भी भृत्य अकृत्य करानेमें ही अग्रेसर हो जाता है अत एव वह भी उपादेय नहीं है इस बातको दृष्टांतद्वारा बताते है:—

योतिभक्तयात्मेति कार्यिभिः कल्प्यतेङ्गवत् ।
सोप्यकृत्येग्रणीर्भृत्यः स्याद्रामस्यांजनेयवत् ॥ १२० ॥

जिस प्रकार बहिरात्मबुद्धि मनुष्य अत्यंत श्लिष्ट रहनेके कारण शरीरमें मोहवश आत्मकल्पना करने लगता है, उसी प्रकार कार्य—स्वार्थमें तत्पर रहनेवाला मनुष्य अतिभक्ति-अत्यंत अनुराग रखनेके कारण जिसमें अपनी कल्पना करने लगता है—यह और मै दो नहीं है—जो यह है सो ही मैं हू ऐसा समझने लगता है, ऐसा भी भृत्य अपने स्वामीसे, रामचंद्रके हनूमानकी तरहसे हिंसादि अकृत्य करानेमें अग्रणी बनजाता है ।

भावार्थ लोकमें जो स्वामीके प्रति भक्तिवश कार्यका अच्छी तरह संचालन करते है उन सेवकोंको लोग अपना प्रतिरूप ही समझते है। किंतु जब ऐसे स्वामिभक्त भी सेवक समयपर स्वामीके आत्महितके विरुद्ध दुष्कृत्य करानेमें प्रधान कारण बनजाते है तब अभक्त सेवकोंकी तो बात ही क्या है। अत एव सेवकनामक चेतन परिग्रह-को भी आत्माका अहितकर ही समझ कर मुमुक्षुओंको उसका संग्रह न करना चाहिये ।

दासी दास परिग्रहके ग्रहणसे भी मनमें संताप ही होता है यह बताते हैं: —

अतिसंस्तवधृष्टत्वादनिष्टे जाघटीति यत् ।
तद्दासीदासमृक्षीव कर्णाप्ताः कस्य शान्तये ॥ १२१ ॥

जो दासी और दास अत्यंत परिचय होजानेसे ढीठ होकर स्वामीके अनिष्ट-अनभिलषित भी कार्यके करनेमें पुनः पुनः प्रयत्न किया करते है क्या वे किसीको भी सुख या शांतिके कारण हो सकते है ? कभी नहीं। कानके पासतक पहुंचा हुआ भालू क्या किसीके भी अनिष्टका निवारण कर सकता है ? अतएव दासी दास परिग्रह भी अहितकर होनेके कारण त्याज्य ही है ।

शिष्योंका शासन करनेमें अथवा उनको शिक्षादिक देनेमें भी जो कभी कभी क्रोधका उद्भव हो जाया करता है उसपर ध्यान दिलाते हैं—

य: शिष्यते हितं शश्वदन्तेवासी सुपुत्रवत् ।
सोप्यन्तेवासिनं कोप छोपयत्यन्तरान्तरा ॥ १२२ ॥

जिस शिष्यको सत्पुत्रकी तरहसे गुरुजन दिनरात हित—आत्मकल्याणकी शिक्षा दिया करते है, देखते है कि वह भी कभी कभी—बीच बीचमें इस चाण्डाल क्रोधका स्पर्श करादिया करता है।

भावार्थ—कभी कभी ऐसा भी होता है कि योग्य भी शिष्य गुरु आदिका विनयादिक करनेमें प्रवृत्त नही हुआ करता। ऐसे समयमें गुरुजनोंको भी कदाचित् क्रोधका उद्भव होजाता है। जिससे कि उनका अकल्याण ही होता है। अत एव शिष्य परिग्रह भी साधुओंकेलिये असंग्रहणीय है। जिस प्रकार उच्च व उत्तम पुरुष चाण्डालका स्पर्श नहीं किया करते और न करना चाहते है, उस प्रकार साधुजन भी क्रोधादिकका स्पर्श नहीं किया करते और न करना चाहते है। किंतु शिष्यादिकका सम्बन्ध रहनेपर उसका स्पर्श होजाया करता है। अतएव मुमुक्षुओंके लिये शिष्यपरिग्रह भी त्याज्य ही है।

चतुष्पद परिग्रहका निषेध करते हैं—

द्विपदैरथ सत्संगश्चेत् किं तर्हि चतुष्पदैः ।
तिक्तमप्यामशान्नाशेर्नायुष्यं किं पुनर्घृतम् ॥ १२३ ॥

जब द्विपदों-मनुष्यादिकोंके साथ किया गया भी संग-संसर्ग असत्—अप्रशस्त—अत्यंत अपायका ही

कारण माना है या होता है तो चतुष्पदोंका तो कहना ही क्या है। इन हाथी घोडे आदिकोंका संसर्ग तो सुतरां दुःखका ही कारण होगा। दूषित और अपक्व रसके द्वारा जिसकी औदर्य अग्नि अभिभूत होगई है ऐसे मनुष्यको जब तिक्त द्रव्य—चिरायता नीम आदि भी आयुर्वर्धक जीवनकी स्थिरताके कारण अथवा स्वास्थ्यकर नहीं हो सकते तो घीका तो फिर कहना ही क्या है। क्योंकि तिक्त द्रव्य स्वभावसे ही आमका पाचक है। जब उसीसे किसी आमदूषित व्यक्तिको स्वास्थ्य लाभ नहीं हो सकता तो घीसे जो कि स्निग्ध शीत होनेके कारण उलटा आमदोषका वर्धक है पथ्यलाभ हो ही किस तरह सकता है।

भावार्थ—द्विपद परिग्रहके दोष पहले बता चुके हैं। जब दो पैरवालोंमें इतने दोष है तो चार पैरवालोंमें कितने होंगे सो अच्छी तरह समझमें आसकता है। अतएव द्विपदोंकी अपेक्षा चतुष्पदोंको दूना-बहुतर दुःखकर समझकर मुमुक्षुओंको दूर ही से छोड देना चाहिये।

अचेतन परिग्रहकी अपेक्षा चेतन परिग्रह अधिक बाधा देनेवाला है यह बात बताते है—

यौनमौखादिसंबन्धद्वारेणाविश्य मानसम्।
यथा परिग्रहश्चित्त्वान् मश्नाति न तथेतरः ॥ १२४ ॥

योनिकी अपेक्षा अथवा मुखादिककी अपेक्षासे होनेवाले संबन्धके द्वारा जिस प्रकारसे चेतन परिग्रह मनुष्यके मनमें प्रवेश कर-उसके हृदयको अच्छी तरह आक्रांत कर पीडित किया करता है वैसा अचेतन परिग्रह नहीं करता।

भावार्थ—सहोदर बहिन भाई आदिका जो सम्बन्ध है वह योनिकी अपेक्षासे है और शिष्य तथा साध्यायी आदिका जो सम्बन्ध है वह मुखकी अपेक्षासे है। इसी प्रकार जन्यजनक पोष्यपोषक भोज्यभोक्तृत्व

आदि और भी अनेक सम्बन्ध हैं। चेतन परिग्रहके हृदयतक पहुंचनेका द्वार—उसमें ममत्वोत्पत्तिका कारण यह सम्बन्ध ही है। जब तक यह द्वार खुला हुआ है तबतक जैसा चेतन परिग्रह स्वयं हृदयतक पहुंचकर उसको पीडित कर सकता है या किया करता है वैसा अचेतन परिग्रह नहीं कर सकता। यही कारण है कि यहांपर चेतनके बाद अचेतन परिग्रहका निर्देश किया है। क्योंकि प्रायः जिस पदार्थसे जितना अधिक या निकट सम्बन्ध होगा वह पदार्थ उतना ही अधिक आत्माको पीडित करेगा और जितना दूर होगा वह उतना ही कम क्लेश उत्पन्न करेगा। जीवका जैसा चेतन परिग्रहोके साथ साक्षात् सम्बन्ध होता है वैसा अचेतन परिग्रहके साथ नहीं। अचेतनके साथ परम्परा सम्बन्ध रहता है। अत एव चेतनकी अपेक्षा अचेतन परिग्रह कम बाधा दिया करता है।

चेतन परिग्रहके दोषोका निरूपण करके क्रमानुसार अचेतन परिग्रहके दोषोंको दश पद्योंमें बताना चाहते हैं। जिसमें सबसे पहले घरके दोष दिखाते है। क्योंकि और बाकीके दोषोंका स्थान यह घर ही है:—

पञ्चसूनाद् गृहाच्छून्यं वरं संवेगिनां वनम्।
पूर्वं हि लब्धलोपार्थमलब्धप्राप्तये परम् ॥ १२५ ॥

गृहस्थाश्रममे जो अवश्य ही करने पडते है ऐसे हिंसाके साधनभूत या स्थान अवद्य कर्मोंको सूना कहते है। इसके पांच भेद है—उखली, चक्की, चूल, जल, बुहारी। इन्ही कर्मोंके कारण मनुष्य गृहस्थ कहलाता और पूर्णतया मोक्षमार्गपर नही चल सकता। तथा इनके न रहते हुए मोक्ष प्राप्त कर सकता है। यथा:—

" कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भ प्रमार्जनी।
पञ्च शूना गृहस्थस्य तेन मोक्ष न गच्छति ॥ "

अतएव जो संवेगी—संसारसे भीरु और मोक्षके अभिलाषी है उनके लिये इन पांचो अवद्य कर्मोंसे

[illegible] घरकी [illegible]। क्योंकि यद्यपि [illegible] स्थान है किंतु [illegible] स्थान तो नहीं है। और इसके सिवाय इस घरमें रहनेसे तो पास भी संवेग नष्ट हो जाता है। किंतु [illegible] वनमें रहनेसे संवेगी-का संवेग बढता है। इतना ही नहीं किंतु अलब्ध जो अभी तक उन्हें कभी प्राप्त नहीं हो सका है ऐसा शुद्धात्मतत्त्व प्राप्त हो जाता है।

गृहकार्यमें जो निरंतर विशेष रूपसे आसक्त रहनेवाले हैं उन्हें जो निरंतर दुःख प्राप्त हुआ करते हैं उनपर अपशोच प्रकट करते हैं:—

विवेकशक्तिवैकल्याद् गृहद्वन्द्वनिगह्वरे ।
मग्नः सीदत्यहो लोकः शोकहर्षभ्रमाकुलः ॥ १२६ ॥

जिससे हिताहितका विवेचन किया जा सकता है ऐसी विवेकशक्तिसे विकल रहनेके कारण हाय ये बहिर्दृष्टि लोक गृहस्थाश्रमके कार्यकलापके झगडेरूपी [illegible] शोक और हर्षके चकरसे व्याकुल [illegible] व्यर्थ ही खेदको प्राप्त हो रहे हैं।

भावार्थः—जिस प्रकार कीचडमें फसा हुआ कोई आदमी सामर्थ्यका प्रतिबन्ध होजानेसे अपनेको उससे अलग न करसकनेपर दुःखी हुआ करता है उसीप्रकार गृहस्थाश्रममें फसा हुआ मनुष्य जिसके बलपर उससे अपने को पृथक् कर सकता है ऐसी विवेकशक्तिका प्रतिबन्ध होजानेपर उसमें फसा हुआ ही चित्त—संक्लिष्ट रहा करता है। क्योंकि वह शोक हर्षके परिवर्तनसे व्याकुल होजाता है [illegible] हर्ष विषाद और अंतमें उसका चित्त अस्थिर होजाता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

रतेररतिमायात पुना रतिमुपागत ।
तृतीय पदमप्राप्य बालिशो बत सीदति ॥

रतेररतिमायात' पुना रतिमुपागत ।
तृतीय पदमप्राप्य वालिशो व्रत सीदति ॥

ये अज्ञानी प्राणी रतिके नाद अरति ओर अरतिके नाद पुनः रतिको प्राप्त हो कर जो व्यर्थ ही क्लेश भोगरहे है उसका कारण यही है कि इन दोनोंके चकरमे पडकर इन्होंने अभीतक तीसरे पदको प्राप्त नही किया है। राग द्वेपसे रहित उपेक्षातत्व—वीतराग अवस्थाको ये अभीतक प्राप्त नहीं कर सके है।

अथवाः—

वासनामात्रमेवेतत् सुख दु ख च देहिनाम ।
तथा ह्युद्वेजयन्त्येते भोगा रोगा इवापदि ॥

प्राणियोंकेलिये यह सुख है और यह दुःख यह केवल वासना-कल्पना ही है-विपयोंको सुखकर या दु खकर समझना भ्रम ही है; क्योंकि, देखते है कि आपत्तिमें ये सभी भोग रोगोंकी तरहसे प्राणियोको उद्विग्न -पीडित किया करते है।

क्षेत्र परिग्रहके दोष बताते हैः—

क्षेत्रं क्षेत्रभृतां क्षेममाक्षेत्रज्ञ्यं मृषा न चेत ।
अन्यथा दुर्गतेः पन्था बह्वारम्भानुबन्धनात ॥ १२७ ॥

क्षेत्रज्ञ कोई पदार्थ नही है इस सिद्धान्तको आक्षेत्रज्ञ्य कहते है। क्षेत्रज्ञ नाम आत्माका है। क्योंकि क्षेत्र शब्दका अर्थ शरीर होता है ओर उसके अनुभव करनेवालेको क्षेत्रज्ञ कहते है। बौद्धोंका सिद्धान्त है कि " जीव नामका कोई भी पदार्थ नही है "। इसी प्रकार चार्वाकोका सिद्धान्त है कि " गर्भसे लेकर मरण तक ही

जीव रहता है आगे नहीं "। इन दोनों ही सिद्धांतोंको आक्षेत्रज्य कहते हैं। इस प्रकार बौद्धोंका नैरात्म्यवाद यद्यपि कल्पित है किंतु यदि वह असत्य न होता तथा चार्वाकोंका भी आक्षेत्रज्य सिद्धांत कल्पित नहीं होता तो संसारी शरीरधारियोंके लिये यह क्षेत्र—धान्यादिकके उत्पन्न होनेका स्थान भी जरूर ही ऐहिक सुखसंपत्तियोंको उत्पन्न कर कल्याणका कारण हो जाता। किंतु यदि यह बात नहीं है और ये उक्त दोनों ही सिद्धान्त मिथ्या है तथा जीवपदार्थ शश्वत् रहनेवाला है तब तो इस क्षेत्र परिग्रहको नरकादिक दुर्गतियोंका ही कारण समझना चाहिये। क्योंकि इसके विषयमें अनेक प्रकारका बहुतसा आरम्भ पुनः पुन करना पडता है जिससे कि पट्कायिक जीवोंका घात ही होता है। खेतके जोतने सींचने निराने काटने आदिमें जो पापकर्मोंका अनुबंध होता और उससे हिंसा होती है उसीके निमित्तसे प्राणियोंको दुर्गतियोंका भोग करना पडता है।

कुप्यादिक परिग्रहोंके निमित्तसे जो मनुष्यमें औद्धत्य आजाता है अथवा उसको आशाओंका अनुबन्धन हुआ करता है उसको बताते है --

> यः कुप्यधान्यशयनासनयानभाण्ड,--
> काण्डैकडम्बरिततााण्डवकर्मकाण्डः।
> वैतण्डिको भवति पुण्यजनेश्वरेऽपि,
> तं मानसोर्मिजटिलोज्झति नोत्तराशा:॥ ११८॥

कुप्य धान्य शयन आसन यान और भाण्ड इन परिग्रहोंके संघात–समूहसे अपने ताण्डव कर्मकाण्डको प्रकृष्टतया आडम्बरयुक्त बनानेवाला जो व्यक्ति धन और ऋद्धियोंके अधीश्वर–कुबेरका भी उपहास करने लगता है उस व्यक्तिको नाना विकल्पजालोंमे अन्वित उत्तराशा-भविष्यत् विषयोंके लिये बढती हुई तीव्र अभिलाषा छोड नहीं सकती।

भावार्थ—जो पुरुष अपनी धनसंपत्तिके गर्वमे उत्तरदिशाके अधिपति कुवेरका तिरस्कार करदेता है या करना चाहता है वह मानसरोवरकी लहरियोंसे पूर्ण उत्तर दिशाको भला किस तरह छोड सकता है। वह अवश्य ही कैलासके साथ साथ उत्तर दिशाको भी अधिगत करना चाहता है। इसी प्रकार कुप्यादिक परिग्रहोंके निमित्तसे जिसको अभिमान जागृत हो गया है और इसीलिये जो उन्हीके आडम्बर वढानेमे लीन रहता है वह व्यक्ति दूसरे वडे वडे सम्पत्तिशालियोंको भी अपने सामने तुन्छ समझने लगता है और इस तरहसे उनका उपहास किया करता है जैसे कि निरंतर ताण्डव नृत्यकी विचित्रता दिखानेके लिये अभिनय करनेवाले नटका वडे वडे शिष्ट पुरुष भी उपहास किया करते है। अथवा उपहास करनेके लिये ही–यह दिखानेकेलिये कि मेरी बरावर ऋद्धि-धर कोई भी नहीं है; वह परिग्रहोंका आडम्बर वढाता है। क्या ऐसे पुरुषको कभी भी अनेक चिन्ताओंके जालसे युक्त अभिलाषाए छोड सकती है? कभी नहीं। वह दिनरात भविष्यत्-अर्थको प्राप्त करनेकी आशासे चिन्तित ही रहा करता है। उसको कुप्य धान्य शयन आसन और यानादिकके संग्रह करनेकी चिन्ता लगी ही रहती है।

इस प्रकार इन परिग्रहोंके निमित्तसे अभिमान उत्पन्न होता और दूसरोंको तुन्छ समझनेकी बुद्धि जागृत होती तथा उनका आडम्बर वढानेकी चिन्ताओंसे संक्लेश परिणाम उत्पन्न हुआ करते है।

सोना और चांदीको छोडकर बाकीकी धातुओं अथवा वस्त्रादिक द्रव्योंको कुप्य कहते है। गेंहू चावल आदि अन्नको धान्य कहते है। पलग पालना आराम कुर्सी आदि सोनेके साधनोंको शयन[1] कहते है। मूंढा तख्त पट्टा सिंहासन कुर्सी वेंच आदि वैठनेके साधनोंको आसन[2] कहते है। पालकी पीनस तापझाम विमान आदि वैठकर जानेके साधनोंको यान कहते है। हींग मजीठ आदि मसाले अथवा किरानेके सामानको भाण्ड कहते है।

१–२ वस्तुत. इन शब्दोंका अर्थ ऐसा होता है कि जिसपर सोया जाय सो शयन और जिसपर वैठा जाय सो आसन। अत एव भूमि या पत्थरकी शिलाको भी शयन आसन कह सकते है।

धनमें गृद्धि रखनेवाले पुरुषकी महापापोंमें भी प्रवृत्ति होती है यह बताते हैं:—

जन्तून् हन्त्याह मृषा चरति चुरां ग्राम्यधर्ममाद्रियते।
खादत्यखाद्यमपि धिग् धनं धनायन् पिबत्यपेयमपि ॥ १२९ ॥

ग्राम सुवर्ण आदिक धनकी अभिकांक्षा— तीव्र गृद्धि रखनेवाला मनुष्य क्या क्या अनर्थ नहीं करता? वह उसको प्राप्त करनेकी अभिलाषासे महान्से महान् पाप कर्ममें भी प्रवृत्ति करने लगता है। प्राणिवध असत्यभाषण और चौरकर्मका आचरण करता, ग्राम्यधर्म - मैथुनका भी सेवन करता, सर्वथा अभक्ष्य काकमांसादिकका भी भक्षण करने लगता और उच्चवर्ण तथा प्रशस्त कुलमें जिसका पीना सर्वथा निषिद्ध है ऐसे मद्यादिकका भी पान करने लगता है। जिस धनकी लिप्सासे मनुष्यकी इन हिंसा झूठ चोरी आदि सभी दुष्कर्मोंमें प्रवृत्ति होने लगती है उस धनको अथवा गृद्धिवश इन महापापोंमें प्रवृत्ति करनेवाले मनुष्यको धिक्कार है। मुमुक्षुओंको यह धनपरिग्रह महापापका ही कारण समझकर दूरहीसे छोडदेना चाहिये।

भूमिमें लुब्ध हुए पुरुषके जो अपाय और अवद्य-निन्द्यकर्म होते हैं उनको दृष्टांतद्वारा स्पष्ट करते हैं-

तच्चादृग्साम्राज्यश्रियं भजन्नपि महीलवं लिप्सुः।
भरतोऽवरजेन जितो दुरभिनिविष्टः सतामिष्टः ॥ १३० ॥

उस पवित्र और लोकोत्तर साम्राज्यलक्ष्मी—समस्त चक्रवर्तीकी विभूतिको भोगते हुए भी जब प्रथम चक्रवर्ती भरतने पृथ्वीके एक छोटेसे हिस्से - केवल सुरम्य नामक देशको अपने छोटे भाई बाहुबलि कुमारसे लेकर अपने हस्तगत करना चाहा उस समय उस कुमारसे वह पराभवको ही प्राप्त हुआ और सत्पुरुषोंने भी उसको दुर-भिनिवेशयुक्त ही समझा।

भावार्थ—नीतिमार्गको प्राप्त न करके केवल दूसरोंका पारिभव करनेके ही परिणामोंमे जो कार्यका आरम्भ किया जाता है उसको दुरभिनिवेश कहते है। भरत जब समस्त पृथ्वीका उपभोग कर रहा था तब उसको अपने छोटे भाईसे वह जरासा भूमिखण्ड भी छीन लेनेका आग्रह करना उचित नहीं था। फिर भी—नीतिमार्गका अनुसरण न करके केवल बाहुबलीको जीत लेनेके ही अभिप्रायसे जो उसने युद्धका आरम्भ किया वह उसका दुरभिनिवेश ही था। यह उसकी निन्द्य कर्ममें प्रवृत्ति केवल भूमिके लोभवश ही हुई। जिसका परिणाम यह हुआ कि वह अपने उस छोटे भाईसे युद्धमें परिभूत हुआ और जगत्में निन्दाका पात्र बना।

धन मनुष्यमें दीन वचन निर्दयता कृपणता तथा अनवस्थितचित्तता आदि दोषोंका उत्पन्न करनेवाला है अतएव इन दोषोंकी अपेक्षासे धनकी निंदा करते हैं—

श्रीमैरेयजुषां पुरश्चटुपटुर्देहीति ही भाषते,
देहीत्युक्तिहतेषु मुञ्चति हहा नास्तीतिवाग्घ्रादिनीम् ।
तीर्थेपि व्ययमात्मनो वधमभिप्रैतीति कर्तव्यता,—
चिन्तां चान्वयते यदभ्यमितधीस्तेभ्यो धनेभ्यो नमः ॥ १३१ ॥

धनके द्वारा आतङ्कको प्राप्त होगई है बुद्धि जिसकी ऐसा मनुष्य हाय मद मोह स्खलन आदिको उत्पन्न करनेवाली लक्ष्मीरूपी मदिराका सेवन करनेवाले धनिकोंको सामने खुशामद भरे शब्दोंके बोलनेमें अति चतुर बनकर " कुछ दो " इन दीन शब्दोंके बोलनेमें भी संकोच नही करता है। तथा " दो " इस अतिदीन शब्दका उच्चारण करते ही जो स्वयं आहत हो चुके है—प्रायः मरचुके हैं उनपर हाय हाय यह धनसे आतङ्कितबुद्धि मनुष्य " यहां कुछ नही है " ऐसा वचनरूपी वज्र ऊपरसे और भी पटक देता है। इसी प्रकार यह धनमें लोलुपता रखनेवाला मनुष्य, औरोंकी तो बात क्या, तीर्थोंमें भी हो जानेवाले या किये गये व्यय-

को अपना मरण मानने लगता है। धर्मके आयतन अथवा कार्यके साधक पुरुषोंको तीर्थ कहते हैं। अत एव तीर्थ दो प्रकारके हैं। एक धर्मसमवायी, दूसरे कार्य समवायी। इन दोनो ही प्रकारके तीर्थोंमें यदि द्रव्यका विनियोग होजाय तो वह कंजूस समझता है कि हाय मैं तो मरगया—मेरा धनरूपी प्राण तो निकल ही गया। तथा इसी प्रकार धनकी गृद्धिमें आकुलित रहनेवाला व्यक्ति निरंतर इतिकर्तव्यताकी चिंताओंसे ग्रस्त रहा करता है। मुझको यह कार्य इस प्रकारसे करना है और यह इस प्रकारसे करना है तथा इसके बाद अमुक कार्य करूंगा और उसके बाद अमुक कार्य करूंगा और उसको उस तरहसे करूंगा आदि अनेक प्रकारकी तर्कणाएं धनलुब्ध पुरुषके पीछे लगी ही रहती हैं।

भावार्थ—धनका लोभी पुरुष दिनरात चिन्ताओंसे संक्लिष्ट रहता और उसका संचय करनेमें ही लगा रहता है। वह सत्पात्रोंमें भी उसका विनियोग करना नहीं चाहता। यदि कदाचित् कोई अर्थी याचना करने आता भी है तो उसके ऊपर निषेधसूचक शब्द कहकर वह वज्र पटक देता है। गृद्धिवश जो याचना करनेमें प्रवृत्त होता है वह स्वयं अधमरा होजाता है, यथा—

गतेर्भङ्ग स्वरो दीनो गात्रस्वेदो महद्भयम।
मरणे यानि चिन्हानि तानि चिन्हानि याचने॥

गतिमें स्खलन होना, स्वरमें दीनता आजाना, शरीरमें पसीना छूटना, और महान् भयका उत्पन्न होना आदि जो जो चिन्ह मरते समय होते है वे ही चिन्ह याचनाके समयमें भी हुआ करते हैं। किंतु इसपर भी जो लोग अर्थियोंको निषेध कर देते हैं उनकी गृद्धिका तो ठिकाना ही क्या है। इस प्रकार धनके निमित्तसे और अनेक दोषोंके सिवाय दैन्यभाषण निर्दयता कृपणता और अनवस्थितचित्तता ये चार महान् दोष भी उत्पन्न हुआ करते हैं।

धनके संचय रक्षण आदि करनेमें तीव्र दुःख ही उत्पन्न होता है अत एव उसकी प्राप्तिकेलिये उद्यम करनेका निषेध करते हैं:—

यत्पृक्तं कथमप्युपार्ज्य विधुराद्रक्षन्नरस्त्याजित:,
खे पक्षीव पलं तदर्थिभिरलं दुःखायते मृत्युवत ।
तल्लाभे गुणपुण्डरीकमिहिकावस्कन्दलोभोद्भव,-
प्रागल्भीपरमाणुतोलितजगत्युत्तिष्ठते कः सुधीः ॥[१] १३२ ॥

किसी तरहसे एक मांसके टुकडेको पाकर उसकी विघ्न बाधाओंसे रक्षा करते हुए पक्षीको यदि दूसरे फलार्थी पक्षी आकाशमें उससे वियुक्त करदें—उससे वह मांसका टुकडा छुडादे तो उसको जिस प्रकार मृत्युके समान अत्यंत दुःख होता है इसी प्रकार जो मनुष्य धनमें तीव्र गृद्धि रखनेवाला है और अत्यंत कष्टोंसे किसी प्रकार धनका संचय करके उसकी अपायोंसे तथा कठिनताके साथ रक्षा कर रहा है। यह कष्टसे संचित किया हुआ धन किसी प्रकार नष्ट न हो जाय, चोरीमें न चला जाय, अथवा किसी प्रकार खर्च न होजाय इत्यादि अनेक अपायोंके विषयमें निरंतर सावधानी रखता है उस मनुष्यको यदि उस धनके अर्थी याचक या वन्धुबान्धव कदाचित् उससे वियुक्त करदे—उससे लेले या कहीं त्याग—दानादिक करादे तो उस लुब्धको ऐसा तीव्र दुःख होता है जैसा कि मृत्युके समय—प्राणोंका वियोग होनेपर हुआ करता है। यह धनका संचय जिस लोभकर्म-चतुर्थ कषायके उदयसे मनुष्य किया करता है वह पुण्डरीक—श्वेत कमलके समान हृदयको आल्हादित करनेवाले सम्यग्दर्शन प्रभृति प्रशस्त गुणोंकेलिये तुषार वर्षाके समान है। इस लोभोदयकी प्रकृष्टता—निरंकुश प्रवृत्तिके कारण ही जीव समस्त जगत्की—स्थावर जंगम संपत्तिके समूहरूप संपूर्ण लोककी भी परमाणुसे तुलना करने लगता है। तीन लोककी संपत्तिको भी गृद्धिवश अणुतुल्य ही समझता और इसीलिये उसके अर्जन रक्षणमें ही निरंतर लगा रहकर क्लेशोंको ही उठाया करता है। अत एव कहना पडता है कि ऐसा कौन मुमुक्षु अथवा विचारकुशल पुरुष होगा जो कि ऐसे लोभके उदयसे प्राप्त होनेवाले दुःखकर धनका संचय करनेकेलिये उद्यम करे।

१—आशागर्तः प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपम। कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥

भावार्थ धनका अर्जन और रक्षण करनेमें मनुष्योंको तीव्र क्लेश ही उठाना पडता है अत एव उसकी प्राप्तिके लिये उद्यम करना व्यर्थ है ।

बहिर्दृष्टि मनुष्योंको धनके अर्जन और भोजनसे ऐसा उन्माद होता है जिससे कि वे निःशंक होकर पापकर्म करनेमें प्रवृत्ति होते और मैथुनका भी सेवन करने लगते हैं। इन्हीं धन और भोजन सम्बन्धी दोषोंको यहां प्रकट करते हैं:—

धनादन्नं तस्मादसव इति देहात्ममतयो,
मनुं मन्या लब्धुं धनमधमशङ्का विदधते ।
वृषस्यन्ति स्त्रीरप्यदयमशनोद्भिन्नमदना,
धनस्त्रीरागो वा ज्वलयति कुजानप्यमनसः ॥ १३२ ॥

" सम्पूर्ण जीवोंके प्राणोंकी स्थिति अन्नसे ही रह सकती है। भोजनके विना कोई भी प्राणोंको स्थिर नहीं रख सकता। किंतु अन्न-भोजन भी प्राप्त होना धनपर निर्भर है। अत एव समस्त लोक और उसके व्यवहारका मूल धन ही है। " बस, ऐसा समझकर ही बहिर्दृष्टि लोक शरीरको ही आत्मा समझनेवाले विपरीत-बुद्धि जन अपनेको मनु—लोकव्यवहारके उपदेष्टा कुलकर मानने लगते और धनका उपार्जन करनेकेलिये निःशंक—परलोकादिकके भयसे रहित होकर पापकर्मोंमें भी प्रवृत्ति करने लगते हैं। और उन्होंने जिसको धनका फल समझ रक्खा है ऐसे भोजनके करनेपर जब उनके तीव्ररूपमें कामदेवका उद्रेक होता है तो निर्दय होकर स्त्रियोंमें पशुकर्म—रति करनेकेलिये प्रवृत्त होते हैं। अथवा यह बात ठीक भी है; क्योंकि देखते हैं कि अमनस्क वृक्षोंको भी यह धन और स्त्रीका राग जलाया करता है—धनका स्वीकार करनेकेलिये और स्त्रियोंके साथ सविचार करनेकेलिये उद्युक्त किया करता है। जैसा कि नीतिमें भी कहा है कि " अर्थेपूपभोगरहितास्तरवोऽपि साभिला-

पाः किं पुनर्मनुष्याः " । अर्थात उपभोगरहित वृक्ष भी जब धनमें अभिलाषा रखते हैं तब मनुष्योंकी तो बात ही क्या है। ऐसा देखते भी है कि यदि किसी वृक्षके मूलके पास धन गाढदिया जाय तो उसको उस वृक्षकी जटाएं वेष्टित करलिया करती हैं अथवा उधरको ही जडें अधिक बढा करती हैं। इसी प्रकार कामिनियोंके लिखना- की अभिलाषा तो अशोकादिक वृक्षोंमें अच्छी तरह प्रसिद्ध ही है, जैसा कि कहा भी है कि:--

सन्नूपुरालक्तकपादताडितो द्रुमोपि यासां विकसत्यचेतन. ।
तदङ्गसस्पर्शरसद्रवीकृतो विलीयते यत्र नरस्तदद्भुतम् ॥

जिन स्त्रियोंके सुंदर नूपुर और महावरसे युक्त पैरसे ताडित होते ही अचेतन वृक्ष भी विकसित हो उठता है--खिलजाता है उन्ही स्त्रियोंके शरीरस्पर्शके रसके पिघलाये जानेपर भी मनुष्य विलीन न हो तो यह आश्चर्यकी बात है।

और भी कहा है कि:--

यासा सीमन्तिनीना कुरवकतिलकाशोकमाकन्दवृक्षा,
प्राप्योच्चैर्विक्रियन्ते ललितभुजलतालिङ्गनादीन्विलासान् ।
तासा पूर्णेन्दुगोर मुखकमलमल वीक्ष्य लीलालसाढ्य
को योगी यस्तदानीं कलयति कुशलो मानस निर्विकारम् ॥

जिन सीमन्तिनियोंके मनोज्ञ भुजलताओंके आलिंगन प्रभृति विलासोंको पाकर कुरवक तिलक अशोक और माकन्दवृक्ष भी अच्छी तरहसे विकारको प्राप्त होजाते है उनके लीलारससे भरे हुए और पूर्ण चन्द्रमाके समान गौरमुख कमलको अच्छी तरह देखकर ऐसा कौनसा कुशल योगी है जो कि अपने मनको निर्विकार प्रकाशित कर सके या रखसके।

उक्त गृहादिक परिग्रहोंमें लगी हुई ममत्वबुद्धिरूप मूर्च्छाके निमित्तसे आये हुए और उसके रक्षणादिके द्वारा संगृहीत पापकर्म अत्यंत दुर्जर हैं—वे बडी ही कठिनतासे आत्मासे सम्बन्ध छोडते हैं, इस बातको प्रकट करते हैं:—

तद्गेहाद्युपधौ ममेदमिति संकल्पेन रक्षार्जना,—
संस्कारादिदुरीहितव्यतिकरे हिंसादिषु व्यासजन् ।
दुःखोद्गारभरेषु रागविधुरप्रज्ञः किमप्याहर,—
त्यहो यत्प्रखरेपि जन्मदहने कष्टं चिराज्जीर्यति ॥ १३४ ॥

गृहादिकोंमें लगी हुई तृष्णाके कारण अंधी या विपर्यस्त होगई है प्रज्ञा—बुद्धि जिसकी ऐसे गृहस्थके जो उन गृह क्षेत्रादिक उपधियों—परिग्रहोंमें ' ये मेरे हैं " ऐसा संकल्प लगा रहता है उसके कारण ही वह उनके रक्षण अर्जन तथा संस्कारादिके करनेमें निरंतर पुनः पुनः दुश्चेष्टाएं किया करता है । यदि ये परिग्रह—गृहादिक पहलेसे पासमें होते हैं तब तो ये नष्ट न हो जांय या अपने हाथसे चले न जांय इस बातकी सावधानी रखता है । और यदि पहलेसे प्राप्त नहीं होते तो उनके प्राप्त करनेकेलिये प्रयत्न किया करता है । तथा प्राप्त होजानेपर अनेक प्रकारसे उनका संस्कार किया करता है । कभी झाडता कभी सींचता कभी लीपता कभी पोतता और कभी उनकी मरम्मत करता है । इस प्रकार सदा उनके सम्हालनेमें ही लगा रहता है । और इन क्रियाओंके पुनः पुनः करनेमें जो दुःखोंके उद्गारसे अच्छी तरह भरे हुए हिंसादिक कर्म होते हैं उनमें अच्छी तरह और नाना प्रकारसे आसक्त होकर उस अनिर्वचनीय पापका संचय करता है जो कि अत्यत तीक्ष्ण भी संसाररूप अग्निमें बडी ही कठिनतासे और चिरकालमें जाकर दग्ध हो सकता है । घोर नरकादिक दुर्गतियोंके दुःखोंका अनुभव कराके ही वे आत्मासे विच्छिन्न होते हैं ।

चेतन और अचेतन परिग्रहोंमें जो राग द्वेषका सम्बन्ध लगा हुआ है वही अनादिकालीन अविद्या—अ-

ज्ञानका कारण है। फिर भी जो मनुष्य उन रागद्वेषोंमें ही प्रवृत्ति करता है उसके जो पुनः पुनः कर्मोंका बंध हुया करता है उसका तिरस्कारपूर्वक निर्देश करते हैं:—

आसंसारमविद्यया चलसुखाभासानुबद्धाशया,
नित्यानन्दसुधामयस्वसमयस्पर्शच्छिदभ्यासया।
इष्टानिष्टविकल्पजालजटिलेष्वर्थेषु विस्फारितः,
क्रामन् रज्यति मुह्यति मुहुर्मुहुरहो बाबध्यते कर्मभिः॥ १३५॥

जीवोंके अविद्या—अज्ञान या विपर्यस्त बुद्धि जबसे संसार है तभीसे—अनादिकालसे लगी हुई है। इसके अभ्यास—निकटमें रहनेसे मनुष्योंको नित्य—सदातन आनन्द—प्रमोद या सुखानुभवरूपी सुधा—अमृतसे मधुर शुद्ध चिद्रूपकी प्राप्ति तनिक भी नहीं होती। यह अविद्या नित्य एवं वास्तविक आत्मिक सुखका अनुभव जीवोंको अंशरूपमें भी नहीं होनेदेती। किंतु उसके ठीक विपरीत चल—क्षणिक अथवा अनित्य सुखाभासों—इन्द्रियोंके विषयों अथवा आत्मासे सर्वथा पर पदार्थोंके साथ उन जीवोंकी आशा—तृष्णाको संयुक्त करदेती है। इसके निमित्तसे ही संसारी जीव आत्मिक सुखसे पराङ्मुख हुए इन्द्रियजनित विषयों अथवा उसके साधनभूत परिग्रहोंमें सुखकी भावनासे तृष्णान्वित हुआ करते हैं। और यह विपर्यस्त ज्ञान ही संसारके चेतन और अचेतन पदार्थोंमें जो कि वस्तुतः न इष्ट हैं और न अनिष्ट हैं उनमें इष्टानिष्ट बुद्धि उत्पन्न कराता है। क्योंकि इसके प्रसादसे ही जीव किसी पदार्थको इष्ट और किसीको अनिष्ट समझने लगता है। जिनको इष्ट समझता है उनको प्राप्त करनेके लिये और जो प्राप्त हो तो उनका सदा संयोग बना रहनेकेलिये निरंतर चिंता किया करता है। और इसी प्रकार जिनको अनिष्ट समझता है उनकी सदा अप्राप्तिकेलिये हमेशह संकल्प विकल्प किया करता है। यह अज्ञान इन्हीं विकल्पजालोंसे जटिल उक्त चेतन और अचेतन पदार्थोंमें प्रयत्नावेशको प्राप्त होनेकेलिये जीवोंको प्रेरित किया करता है। विकल्पजालके विषयभूत इष्टानिष्ट पदार्थोंकी क्रमसे प्राप्ति और अप्राप्तिकेलिये प्रयत्न करते रहनेकी

प्रेरणा किया करता है। जिससे कि प्रेरित हुआ यह जीव अहो बारबार रागद्वेषरूप परिणत होता और ज्ञानावरणादिक कर्मोंसे पुनः पुनः बंधको प्राप्त होता है।

भावार्थ—बंधका कारण रागद्वेष है। चेतन और अचेतन परिग्रहके निमित्तसे हमेशह रागद्वेष हुआ करते हैं। अत एव परिग्रही जीवके कर्मोंका संचय भी प्रतिक्षण हुआ करता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

कादाचित्को बन्ध क्रोधादे कर्मण. सदा सङ्गात्।
नात क्वापि कदाचित् परिग्रहग्रहवता सिद्धि ।

क्रोधादिकके निमित्तसे कदाचित बंध हुआ करता है किंतु परिग्रहके निमित्तसे सदा ही हुआ करता है। यही कारण है कि जो परिग्रहरूपी ग्रहसे आविष्ट हे उनको कहीं भी और कभी भी सिद्धि—मुक्ति नहीं होसकती।

यह मोहकर्म इतना प्रबल है कि असमयमें काललब्धिके विना तत्त्वज्ञानियोंके लिये भी जिसका जीतना अत्यंत कष्टसाध्य है। इसी बातपर विचार करते हैं:—

महतामप्यहो मोहग्रहः कोप्यनवग्रहः।
ग्राहयत्यस्वमस्वांश्च योऽहममाधिया हठात् ॥ १३६ ॥

मोह—चारित्रमोहनीय कर्म ग्रहके समान है। जिस प्रकार ग्रहके निमित्तसे जीव विविध प्रकारकी कुचेष्टाएं किया करता है उसी प्रकार इसके निमित्तसे भी जीव अनेक प्रकारके विकारोंको प्राप्त होकर दुर्व्यवहार किया करता है। यह इतना दुर्निवार या चिर—आवेशरूप है कि जिसका निरूपण नहीं किया जा सकता। आश्चर्य है कि यह बडे—महापुरुषोंको भी पर और परकीय पदार्थोंमें क्रमसे अहंबुद्धि और ममबुद्धिके द्वारा जबर्दस्ती विपरीत ग्रह करादेता है।

भावार्थ—दूसरे साधारण व्यक्तियोंकी बात क्या, छद्मस्थ गृहस्थ अवस्थामें अवस्थित तीर्थंकर प्रभृति

व्यक्ति भी जो कि तत्त्वस्वरूपको भले प्रकार जानते हैं इसके वशमें होकर अन्यथा व्यवहार करने लगते है। जो निजात्मस्वरूप नहीं है ऐसे शरीरादिकमें " मैं " इस तरहसे और अनात्मीय स्त्री पुत्र गृहादिक परिग्रहोंमें " ये मेरे हैं " इस तरहसे समझकर व्यवहार करने लगते हैं।

यद्यपि अपकार करनेवाला यह चारित्रमोहनीय ही है फिर भी इसका उच्छेद करनेकेलिये विद्वानोंको प्रयत्न काललब्धिके विषयमें ही करना चाहिये। ऐसी शिक्षा देते हैः—

दुःखानुबन्धैकपरानरातीन्,
समूलमुन्मूल्य परं प्रतप्स्यन्।
को वा विना कालमरेः प्रहन्तुं,
धीरो व्यवस्यत्यपराध्यतोपि ॥ १३७ ॥

केवल दुःखोंके देनेमें ही तत्पर रहनेवाले या प्रधान कारणभूत मिथ्यात्वादिक शत्रुओंका समूल उन्मूलन कर-संवरके साथ साथ निर्जरा—एकदेश क्षय करके उत्कृष्टतया तप करनेकी इच्छा रखनेवाला ऐसा कौन धीर होगा जो कि अपना अपराध-अपकार करनेवाले भी कर्मशत्रु—चारित्रमोहनीयका नाश करने के लिये कालकी अपेक्षा किये विना ही उद्युक्त उत्साहित हो।

भावार्थ—यह बात लोकमें भी देखते हैं कि जो धीर—स्थिरप्रकृतिका नायक होता है वह इस प्रचलित नीतिको हृदयमें रखकर कि " जबतक योग्य समय-अवसर प्राप्त न हो तबतक अपने अपकर्ताके साथ भी सद्व्यवहार ही करना चाहिये," नित्य ही संतप्त करनेवाले चौर वरटादिकोंका निर्बंध-ध्वंस करके अपने प्रकृष्ट तेजको समस्त जगत्के ऊपर उपस्थापित करनेकी इच्छासे अपना अपराध करनेमें प्रवृत्त भी उन प्रतिनायक शत्रुओंका घात करनेकेलिये योग्य समयकी प्रतीक्षा किया करता है। इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। क्योंकि प्रत्येक कार्य अवसर

पर ही उचित रूपसे सिद्ध हो सकता है। अत एव जो धीर मुमुक्षु भव्य मिथ्यात्वादिक शत्रुओंका नाश कर—सव-रसहभावी निर्जरा—इन कर्मोंका एकदेश क्षय करके तपका आराधन करना चाहते हैं वे भी सबसे पहले उस तपके विरोधी चारित्रमोहनीयको निर्मूल करनेकेलिये योग्य समयकी ही प्रतीक्षा किया करते हैं।

लक्ष्मीका उपार्जन कर योग्य सत्पात्रोंमें उसका विनियोग करनेवाला जो सद्गृहस्थ उसका सर्वथा परित्याग कर मुख्यतया मोक्षमार्गमें चलनेका प्रयत्न करता है—उत्कृष्ट निर्ग्रन्थ लिङ्गको धारण करता है उसकी प्रशंसा करते हैं:—

पुण्याब्धेर्मथनात्कथं कथमपि प्राप्य श्रियं निर्विशन्,
वैकुण्ठो यदि दानवासनविधौ शण्ठोस्मि तत्सद्विधौ।
इत्यर्थैरुपगृह्णता शिवपथे पान्थान्यथास्वं स्फुर,—
त्ताद्दग्वीर्यबलेन येन स परं गम्येत नम्येत सः ॥ १३८ ॥

पुण्यरूपी समुद्रका मन्थन करके किसी न किसी प्रकारसे—बडे कष्टोंसे लक्ष्मीका उपार्जन कर उसका उपभोग करनेवाला जो गृहस्थ यह सोच करके कि "यदि दानके द्वारा सचमुचमें मैं अपनी आत्माका संस्कारविधान करनेमें मन्द रहा तो सदाचार-सम्यक्चारित्रके पालन करनेके लिये प्रयत्न करनेमें भी भ्रष्ट ही रहूंगा। यदि अपनी इस लक्ष्मीका सत्पात्रोंमें व्यय नहीं कर सकता तो मुनिधर्मका भी धारण मैं किस तरह कर सकूंगा। अवश्य ही मैं उससे वञ्चित रहूंगा"। मोक्षमार्गमें नित्य ही प्रस्थान करनेवाले साधुओंको अपने उस धनके द्वारा यथायोग्य उपकार करता है वह सद्गृहस्थ अपने उस स्फुरायमान और मोक्षमार्गके लिये सर्वथा योग्य वीर्य और बलके द्वारा जब उस उत्कृष्ट मोक्षमार्गमें चलने लगता है उस समयमें उक्त सदाचारसे पूर्ण इस भव्यको मुमुक्षुजन भी नमस्कार किया करते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार क्षीरसमुद्रका मन्थन करके प्राप्त की हुई लक्ष्मीका स्वय भोग करनेवाले

भी विष्णु दान करनेवालोंमें प्रधान बननेमें यदि अलम रहें अथवा दानव--असुरोंका विनिपात करनेमें कुण्ठित रहें तो अवश्य ही वे सद्विधिसे भी नितान्त भ्रष्ट ही समझे जायगे, या रहेंगे। इसी प्रकार कठिन परिश्रम और पुण्यके द्वारा प्राप्त हुई लक्ष्मीका मैं स्वयं भोग करता हुआ भी यदि उसको दानमें खर्च न कर सका और उसके द्वारा सत्पुरुषोंपर आनेवाले संकटोंका निराकरण न करसका और उनका उपकार न करसका तो मैं और उत्कृष्ट आचरणका पालन करनेसे तो अवश्य ही वञ्चित रहूंगा, जब साधारण गृहस्थोचित धर्मका ही मैं सेवन नहीं कर सकता तो सर्वोत्कृष्ट मोक्षमार्ग - मुनिधर्मका तो धारण ही किस तरह कर सकूंगा। ऐसा सोचकर जो सद्गृहस्थ अपनी उस लक्ष्मीका भोग करता हुआ भी साधुओंका उपकार करनेमें व्यय करता है और उसके निमित्तसे प्रतिक्षण उद्दीप्त होते हुए मोक्षमार्गोपयोगी बल और वीर्यके द्वारा उत्कृष्ट मोक्षमार्गमें गमन करने लगता है वही धन्य है।

गृहस्थाश्रमको छोडकर यदि तपका आराधन किया जाय तभी मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति निर्विघ्नतया हो सकती है, अन्यथा नहीं। इसी बातको प्रकट करते हैः—

प्रजाग्रद्वैराग्यः समयबलवल्गत्स्वसमयः,
सहिष्णुः सर्वोर्मीनपि सदसदर्थस्पृशि दृशि।
गृहं पापप्रायक्रियमिति तदुत्सृज्य मुदित,—
स्तपस्यान्निःशल्यः शिवपथमजस्रं विहरति ॥ १३९ ॥

जिसका वैराग्य-संसार शरीर और भोगो इन्द्रियविषयोंमें तृष्णाराहित्य-रागद्वेषरहित परमप्रशमरूप परिणाम प्रतिक्षण प्रकर्षरूपसे प्रदीप्त होता चला जाता है, लाभादिककी अपेक्षासे रहित होनेके कारण जिसके वैतृष्ण्यकी स्फूर्ति उत्तरोत्तर वढती ही जाती है। और जिसके अंतरङ्गमे काललब्धि तथा श्रुतज्ञानके सामर्थ्यसे निज चित्स्वरूपकी प्राप्ति उछल रही है। आगे वढनेके लिये सगर्व गर्जना कर रही है। एवं जो स-

मस्त परीपहोंको साधुरूपसे जीतनेके लिये प्रवृत्त है, ऐसा मुमुक्षु अन्तर्दृष्टिको प्रशस्त और अप्रशस्त पदार्थोंके भी स्पर्श करनेवाली होनेपर उस गृहको जिसमें कि अधिकतया ऐसे ही कर्म-क्रियाए हुआ करती है या करनी पडती है जिनमे कि प्रायः पापका ही आरम्भ हुआ करता है; प्रसन्नताके साथ माया मिथ्या तथा निदान इन तीन शल्योंसे रहित होकर अन्तरङ्ग एवं बाह्य दोनो ही प्रकारके तपका आराधन करता है वही तपस्वी रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्गमें अविश्रांत रूपसे विहार कर सकता है।

भावार्थ— संसार शरीर भोगोंसे विरक्त होजानेपर भी और काललब्धिको प्राप्त कर पूर्वोक्त रीतिसे श्रुतज्ञानके द्वारा निजात्मस्वरूपकी उपलब्धिका अभ्यास करलेनेपर तथा अन्तरङ्गमें विवेक या भेदज्ञानरूप समीचीन दृष्टिके स्फुरायमान भी होनेपर जबतक अनेक पापारम्भसे युक्त घरका परित्याग न किया जाय तबतक निःशल्य होकर तपका आराधन नहीं किया जा सकता। गृहनिरत पुरुपके कोई न कोई शल्य लगी ही रह सकती है। जैसा कि गुणभद्र स्वामीने भी कहा है कि 'गृहाश्रमे नात्महितं प्रसिध्यति'' गृहस्थाश्रममें आत्माका हित-मोक्ष अच्छी तरह सिद्ध नही हो सकता। अतएव जो मुमुक्षु अविश्रांत रूपसे मोक्षमार्गमें विहार करना चाहते है—पूर्णरूपसे रत्नत्रयका आराधन करना चाहते है उन्हे चाहिये कि वे उक्त गुणोसे युक्त होकर भी पापप्राय क्रियाओंसे युक्त गृहका सर्वथा और अवश्य ही परित्याग करें।

बाह्य परिग्रहोंमें शरीर सबसे अधिक हेय है ऐसा उपदेश देते हैः—

शरीरं धर्मसंयुक्तं रक्षितव्यं प्रयत्नतः।
इत्याप्तवाचस्त्वग्देहस्त्याज्य एवेति तण्डुलः॥ १४० ॥

धर्मसयुक्त—जिससे धर्मका साधन हो सकता है अथवा जो धर्मका आराधन करनेवाले जीवसे युक्त है उस शरीरकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये, इस शिक्षाको आप्त भगवान्‌के उपदिष्ट प्रवचनका तुप्—छिल-

का समझना चाहिये। क्योंकि आत्मसिद्धिके लिये शरीररक्षाका प्रयत्न सर्वथा निरुपयोगी है। तथा " शरीर सर्वथा त्याज्य ही है " इस शिक्षाको उक्त प्रवचनका तण्डुल समझना चाहिये। क्योंकि सारभूत पदार्थ वही है।

भावार्थ, जिस प्रकार धानकी भुसी निरुपयोगी ही समझी जाती है और भीतरका तण्डुल—चावल ही सारभूत एवं उपयोगी पदार्थ रहता है इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। प्रवचनकी शिक्षामें शरीररक्षाके उपदेशको भुसीके समान और शरीरत्यागके उपदेशको तण्डुलके समान समझना चाहिये। अत एव सारभूत शिक्षाको ग्रहण कर वाह्य परिग्रहोंमें अत्यंत हेय शरीरके त्याग करनेका ही प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा करनेपर ही मुमुक्षुओंका अभीष्ट सिद्ध हो सकता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि शरीरमें लगे हुए ममत्वका उच्छेदन करनेवाला ही पूर्णतया निर्ग्रन्थ हो सकता है और उसीको परम पुरुषार्थकी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। क्योंकि कहा भी है कि—

देहो वाहिरगथो अण्णो अक्खाण विसयअहिलासो।
तेसिं चाए खवओ परमट्ठे हवइ णिग्गंथो॥

शरीररूपी बाह्य परिग्रह और इन्द्रियोंके विषयोंकी अभिलाषारूप अन्तरङ्ग परिग्रह इन दोनोंका परित्याग करनेपर ही कर्मोंका क्षपण करनेकेलिये उद्युक्त साधु परमार्थसे निर्ग्रंथ हो सकता है। अर्थात् बाह्य परिग्रहोंमें शरीर ही प्रधान है और उसका त्याग ही मुमुक्षुओंकेलिये आवश्यक है।

शरीरको क्लेश देनेमें जो जो गुण हैं और उसके लालन पालनमें जो जो दोष हैं उनको बताते हुए साधुओंको उपदेश देते हैं:—

योगाय कायमनुपालयतोपि युक्त्या,
क्लेश्यो ममत्वहतये तव सोपि शक्त्या।

भिक्षोन्यथाक्षसुखजीवितरन्ध्रलाभात्,
तृष्णासरिद्विधुरयिष्यति सत्तपोद्रिम् ॥ १४१ ॥

हे चारित्रमात्रगात्र ! भिक्षो ! ! योग—रत्नत्रयात्मकताकी सिद्धिकेलिये पालन करते हुए भी—केवल उपेक्षा-करते हुए ही नहीं किंतु जिमसे संयमके पालनमें किसी प्रकारका विरोध न आवे इस तरहसे रक्षा करते हुए भी शक्ति और युक्तिके साथ—बल और वीर्यको न छिपाकर तथा आगममें बताई हुई विधिके अनुसार ममत्त्वबुद्धिको दूर करनेकेलिये—शरीरसे लगे हुए ममकार भावका निराकरण करनेकेलिये उसका दमन ही करना चाहिये। उसको क्लेप देकर कृष ही करदेना चाहिये। अन्यथा यह निश्चित समझ कि जिस प्रकार साधारण भी नदी प्रवेश करनेकेलिये मार्गभूत जरासे भी छिद्रको पाकर दुरारोह और दुर्भेद्य भी पर्वतमें प्रवेश कर उसको जर्जरित करदिया करती है उसी प्रकार तुच्छ भी यह तृष्णा—विपयोंकी आकाङ्क्षारूप नदी ऐन्द्रिय सुख और जीवनस्वरूप दो छिद्रोंको पाकर समीचीन तपरूपी ऐसे पर्वतको, कि जिसपर कठिनतासे आरोहण किया जा सकता है एवं जिसका सहसा भेदन भी नहीं किया जा सकता, छिन्न भिन्न कर जर्जरित कर डालेगी।

भावार्थ—चक्षुरादिक इन्द्रियोंके द्वारा अनुभूयमान आभिलपित अङ्गना प्रभृति पदार्थोंमे उत्पन्न होने वाले सुखकी और जीवनकी आशा-तृष्णानदीको समीचीन तपरूपी पर्वतमें प्रविष्ट होनेके लिये दो छिद्रोंके समान हैं। क्योंकि वैपयिक सुखकी अभिलापा और जीवनकी प्रत्याशाके द्वारा ही तृष्णारूप नदी दुरारोह और दुर्भेद्य भी समीचीन तपरूपी पर्वतको छिन्न भिन्न कर जर्जरित करदिया करती है। यही कारण है कि इन आशाओंके वशीभूत होकर जो शरीरके लालन पालनमें लगे रहते है या तत्पर रहते है उनको तपकी सिद्धि नहीं हो सकती और न उन्हे उसका सवर-निर्जरारूप फल ही प्राप्त हो सकता है। अत एव हे भिक्षो! यदि तुझको रत्नत्रयकी प्राप्ति व सिद्धिकेलिये तपरूपी पर्वतको स्थिर रखना है तो इस तरहसे युक्ति और शक्तिके अनुसार काय और कपाय-को कृप करनेमें ही प्रवृत्त होना चाहिये जिससे कि उसमें लगी हुई ममत्त्वबुद्धिका सर्वथा निराकरण हो जाय। किंतु यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि विना शरीरके स्थिर रहे तपका भी आराधन नहीं हो सकता। अत

एव शरीरका पालन भी करना चाहिये किन्तु वह इस प्रकारसे न करना चाहिये जिससे कि तप और संयमके आराधनमें विरोध आजाय ।

जो साधु नैर्ग्रन्थ्य व्रतको प्राप्त करचुका है उसका भी माहात्म्य शरीरमें स्नेह करनेके कारण नष्ट हो जाया करता है । ऐसी शिक्षा देते हैं:—

नैर्ग्रन्थ्यव्रतमास्थितोपि वपुषि स्निह्यन्नसह्यव्यथा,—
भीरुर्जीविताविचलालसतया पञ्चत्वचेक्रीयितम् ।
याञ्चादैन्यमुपेत्य विश्वमहितां न्यक्कृत्य देवीं त्रपां,
निर्मानो धनिनिष्ण्यसंघटनयाऽस्पृश्यां विधत्ते गिरम् ॥ १४२ ॥

देव गुरु और सधर्मा पुरुषोंकी साक्षीसे नैर्ग्रन्थ्य—समस्त परिग्रहके परित्यागरूप व्रतको प्राप्त करके भी जो साधु शरीरके विषयमें स्नेह—राग रखता है वह अवश्य ही असह्य—जिनका सहन नहीं किया जा सकता ऐसे परीषह और दुःखोंसे सदा भीत रहा करता है । और इसी लिये वह जीवन और धनमें तीव्र लालसा रखकर—अत्यंत लोलुपी होकर मरणके तुल्य—मानों मृत्युका मित्र या भाई ही हो ऐसे प्रार्थनाजनित दैन्यको प्राप्त कर—दीन बनकर और अतएव अत्यंत प्रभावसे युक्त देवीके समान लज्जाका अभिभव करके अपनी जगत्पूज्य भी वाणीको अन्त्यजोंके समान दयादाक्षिण्यादिसे रहित धनियोंसे संपर्क कराकर अस्पृश्य—अनादेय बनादेता है। क्या ऐसे भिक्षुका कभी भी महत्त्व स्थिर रह सकता है ? कभी नहीं ।

भावार्थ—केवल शरीरमें स्नेह करनेके कारण निर्ग्रंथ भी साधुओंका महत्त्व सर्वथा क्षीण हो जाया करता है । क्योंकि ऐसा साधु तपस्वियोंके कर्तव्य परीषहोपसर्गादिकके ऊपर विजय प्राप्त करनेका पालन नहीं कर सकता किंतु वह सदा शरीरके पालन पोषणमें ही दत्तचित्त और उनके साधनोंमें लालसायुक्त रह सकता

है। और उसके लिये वह ऐसे पदार्थोंकी धनियोंसे याचना करनेके लिये मरणतुल्य दीनताको धारण कर उस लज्जाको भी छोड दे सकता या छोडदेता ही है जो कि देवीके समान है। जैसा कि कहा भी है कि—

लज्जां गुणौघजननीं जननीमिवान्या,—
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमाना' ।
तेजस्विन. सुखमसूनपि संत्यजन्ति,
सत्यस्थितिव्यसनिनो न पुन' प्रतिज्ञाम् ॥

जो तेजस्वी अत्यंत शुद्ध हृदयवाली दूसरी माताके समान गुणोंकी खानि लज्जाका अनुसरण करनेवाले हैं और सत्यस्थितिके व्यसनी हैं वे अपने प्राणोंको सुखपूर्वक छोड सकते हैं किंतु प्रतिज्ञाको नहीं। इससे मालुम होता है कि लज्जा प्रभावशालिनी देवताके ही सदृश है। जिसको कि लम्पटी पुरुष दीन याचक बनकर छोडदिया करते है। अतएव जो साधु शरीरमें स्नेह रखते है वे क्रमसे उसके निमित्तसे लम्पटी दीन निर्लज्ज और धनियोंके सामने याचक बनकर अपनी वाणीका ही नही किन्तु अपना भी महत्व खो देते हैं।

जो धीर और महाप्रभावशाली तथा धर्मके विषयमें निरंतर वीर रससे पूर्ण रहनेवाले हैं वे अपने उस धार्मिक आचरणमें सहायभूत शरीरकी रक्षाके लिये जिनोपदेशके अनुसार भिक्षा गोचरी चर्याके आचरणको स्वीकार करके भी यदि उसमें प्रमाद करते हैं तो वह ठीक नहीं है। इस प्रकार साधुओंको भिक्षामें प्रमाद करनेका निषेध करते हैः —

प्राचीं मार्ष्टुमिवापराधरचनां दृष्ट्वा स्वकार्ये वपुः,
सध्रीचीनमदोऽनुरोद्धुमधुना भिक्षां जिनोपक्रमम् ।
आश्रौषीर्यदि धर्मवीररसिकः साधो नियोगाद्गुरो,—
स्तत्ताच्छिद्रचरौ न किं विनयसे रागापरागग्रहौ ॥ १४३ ॥

हे साधो ! तेने रत्नत्रयस्वरूप आत्माके साध्यभूत कार्यको जो स्वीकार किया है सो मालूम पडता है, मानों पहले—गृहस्थ अवस्थामें किये गये अनेक अपराधोंकी रचनाका मार्जन—निराकरण करनेकेलिये ही कियां है। किंतु इस कार्यमें सहायक शरीर है इस बातका निश्चय करके इस समयमें, जब कि संसार शरीर और वैराग्य परिणाम विशुद्धिकी तरफ बढता चला जा रहा है, आत्मकार्यके सहकारी रूपसे निश्चित इस शरीरको उसी कार्यमें प्रयुक्त करनेकेलिये धर्मका पालन करनेमें वीर रस—सोत्साह वृत्तिसे युक्त होकर गुरु—दीक्षाचार्यकी आज्ञानुसार यदि श्री तीर्थंकर भगवान्‌के उपदिष्ट स्वरूपसे युक्त भिक्षाको तेने स्वीकार कर लिया है—साधुओंके योग्य गोचरी चर्याके करनेकी प्रतिज्ञा करली है तो तू इस भिक्षारूपी छिद्र या द्वारसे आनेवाले अथवा अमुकने अमुक वस्तु बहुत अच्छी दी और अमुकने अमुक वस्तु अच्छी नहीं दी इस तरहसे संक्रांत होनेवाले रागद्वेषरूपी भूतोंका उपशमन भी क्यों नही करदेता? अवश्य ही तुझको भिक्षाके विषयमें होनेवाले प्रमाद—रागद्वेपका परित्याग करना चाहिये।

भावार्थ—विभावादिकोंके द्वारा व्यक्त होनेवाले उत्साहरूप स्थायी भावको वीर रस कहते है। कहा भी है कि—

उत्साहात्मा वीर स त्रेधा धर्मयुद्धदानेषु।
विषयेषु भवति तस्मिन्नक्षोभो नायक. ख्यात' ॥

धर्म युद्ध और दान इन विषयोंमें उत्साहरूप परिणामोंको वीर रस कहते हैं। अत एव इसके तीन भेद

१—यह बात उत्प्रेक्षा अलकारके द्वारा कही गई है जिसका कि लक्षण इस प्रकार बताया है कि—

कल्पना काचिदौचित्याद्यत्रार्थस्य सतोन्यथा।
द्योत्यते वादिभि शब्दैरुत्प्रेक्षा सा स्मृता यथा ॥

हैं। जो पुरुष इन विषयोंमें क्षोभरहित रहा करता है वह इस रसका नायक माना जाता है। इसके अनुसार जो धर्म—रत्नत्रयका आराधन करनेमें सदा सोत्साह रहा करता है उसको सप्तम गुणस्थानवर्ती अथवा द्रव्यकी अपेक्षासे अप्रमत्त संयत समझना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

णट्ठासेसपमाओ वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी।
अणुवसमगो अखवगो झाणणिलीणो हु अपमत्तो॥

नष्ट होगया है समस्त प्रमाद जिसका और व्रत गुण तथा शीलोंसे युक्त रहकर भी जो ज्ञानी उपशम या क्षपक श्रेणीका आरोहण न कर निरंतर ध्यानमें लीन रहता उसको निरतिशय अप्रमत्त समझना चाहिये।

इस प्रकार धर्मके विषयमें वीर रस अथवा वीर चर्यासे युक्त रहनेवाले, हे सिद्धिके साधन करनेमें उद्यत! यदि तेने गुरुकी आज्ञा और आगमके अनुसार शरीरके द्वारा क्रमसे धर्मका भी सहायक समझकर भिक्षा करना स्वीकार करलिया है तो उस विषयमें होनेवाली रागद्वेषपरिणतिको भी तुझे अवश्य ही छोडना चाहिये। क्योंकि इसने भोजनमें अमुक पदार्थ अच्छा दिया, अथवा, इसने अमुक पदार्थ अच्छा नहीं दिया इस तरहके भिक्षाके निमित्तसे जो परिणाम होते हैं वे भूतावेशके समान हैं और साधुओंको उक्त उत्तम पदसे गिरानेवाले हैं।

शरीर और आत्मामें भेद भावनाके बलसे समस्त विकल्पजालको तोड देनेवाले साधुओंके जो शुद्ध निजात्मस्वरूपकी प्राप्ति होती है उसकी प्रशंसा करते हैं।

नीरक्षीरवदेकतां कलयतोरप्यङ्गपुंसोरचि,—
च्चिद्भावाद्यदि भेद एव तदलं भिन्नेषु को विभ्रमः।
इत्यागृह्य परादपोह्य सकलोन्मीलद्विकल्पाच्छिदा,—
स्वच्छेनास्वनितेन कोपि सुकृती स्वात्मानमास्तिघ्नुते॥ १४४॥

यद्यपि शरीर और आत्मा नीरक्षीरकी तरह परस्परमें मिलकर अभिन्न सरीखे हो रहे है फिर भी उनमें भेद ही प्रमाणसिद्ध है। क्योंकि शरीर अचित्-जड है और आत्मा चित्-चेतन है । जिस प्रकार जल और अग्नि परस्परमें मिल जानेपर यद्यपि एक ही मालुम पडते है फिर भी द्रवता और दाहकता आदि गुण भेद या लक्षणभेदकी अपेक्षा दोनोंमें भेद निश्चित ही रहता है। उसी प्रकार जडता और चेतनता हेतुसे शरीर और आत्माकी भी विभिन्नता-प्रसिद्ध है। इस प्रकार जब अभिन्न सरीखे मालुम पडनेवाले शरीर और आत्मामें भेद प्रमाणतः सिद्ध है और वैसा ही मालुम भी होता है तब आत्मासे सर्वथा भिन्न कलत्र पुत्र गृह परिजन आदिमें तो अभेदभ्रम हो ही किस तरह सकता है । विवेकी पुरुषको आत्मासे सर्वथा भिन्न परिग्रहमें ये मुझ-स्वरूप ही है ऐसा, प्रत्यय कभी नहीं हो सकता। इस तरहसे शरीरादिक परिग्रहोंसे निजात्माकी भिन्नताका दृढ निश्चय करके और उनसे सर्वथा आत्माको दूर रखकर कोई विरला ही पुण्यात्मा समस्त उछलते हुए या उद्भूत होते हुए विकल्पों-अन्तर्जल्पसे अच्छी तरह सिक्त विचारों-संकल्पोंके नष्ट होजानेके कारण अत्यंत निर्मल हुई चेतोवृत्तिके द्वारा निजात्माका अभेदरूपसे अनुभव किया करता है।

भावार्थ—जन्मान्तरमें किये गये योगाभ्यासके बलसे संचित पुण्यकर्मका जिसके उदय हो आया है ऐसा ही कोई निकटभव्य शरीर और उससे सम्बन्ध रखनेवाले सभी परिग्रहोंसे भिन्नताका दृढ निश्चय करके एवं अपनेको उनसे हटाकर-उनका सर्वथा परित्याग कर निर्विकल्प ध्यानके द्वारा शुद्धात्मस्वरूपका अभेदरूपसे अनुभव किया करता है।

उक्त प्रकारकी भावनाके बलसे समरसीभावके द्वारा जिनकी स्वाभाविक आत्माकी ज्योति उन्मीलित हो उठी है उन पुरुषोंके मोहकर्मके ऊपर विजय प्राप्त करनेसे जो अतिशय प्रकट होता है उसको बताते हैं:

स्वार्थेभ्यो विरमय्य सुष्ठु करणग्रामं परेभ्यः पराक्,
कृत्वान्तःकरणं निरुध्य च चिदानन्दात्मनि स्वात्मनि ।

यस्तत्रैव निलीय नाभिसरति द्वैतान्धकारं पुन–
स्तस्योद्दाममसीम धाम कतमच्छिन्दत्तमः श्राम्यति ॥ १४५ ॥

समस्त इन्द्रियोंको तत्तत् विषयोंसे भले प्रकार हटाकर और अन्तःकरणको शरीरादिक पर पदार्थोंसे पराङ्मुख कर चिदानन्दस्वरूप— ज्ञानानन्दमय निज शुद्धात्मामें रोक कर–एकाग्रतया उपयुक्त करके तथा उसीमें अत्यंत लीन होकर जो निष्पन्नयोगवाला साधु द्वैतान्धकार— सविकल्प अवस्थारूपी अन्धकारकी तरफ आभिमुख नहीं होता, शुद्धात्मस्वरूपमें लीन होजानेके कारण ' यह मैं हूं और ये पर है, अथवा मैं ध्याता हूं और ये ध्येय है ' इत्यादि विकल्पोंकी तरफ जो प्रवृत्त नहीं होता उसका निःसीम— निरवधि या अनन्त तथा निरावरणतया प्रकाशमान तेज, ऐसा कौनसा अन्धकार है कि, जिसको नष्ट नहीं कर सकता ?

भावार्थ—इन्द्रियों व मनको अपने अपने विषयोंसे हटाकर निर्विकल्पतया निज शुद्धात्मस्वरूपमें लीन होनेवाले निष्पन्नयोगीके जो स्वाभाविक आत्मिक तेज जागृत होता है वह चिरकालसे लगे हुए–अनादिकालीन अविद्या–अज्ञान या मोहके समस्त विलासोंको सर्वथा ध्वस्त करदेता है। ऐसा कोई भी मोहकर्मका अंश नहीं है कि जिसको निरसन करनेमें वह आत्मज्योति असमर्थ हो। अत एव पूर्वोक्त भावनाके निमितसे आत्मलीनता या समरसीभावके द्वारा स्वाभाविक आत्मज्योतिके प्रकट होते ही मोहकर्मपर विजय प्राप्त होनेसे आत्माका अपूर्व ही अतिशय प्रकाशित होने लगता है।

शुद्ध निजात्मस्वरूपकी प्राप्तिकी तरफ उन्मुख हुए आरब्धयोगीको आगे चलकर होनेवाली निष्पन्नयोगकी रमणीयताकी प्राप्तिके फलकी भावनापर विचार प्रकट करते हैः—

भावैर्वैभाविकैर्मे परिणतिमऽयतोऽनादिसंतानवृत्त्या,
कर्मण्यैरेकलोलीभवत उपगतैः पुद्गलैस्तत्त्वतः स्वम् ।

अनादि संतानक्रमसे चले आये-जबसे संसार है तभीसे मेरे साथ सदा सन्निहित रहनेवाले-अव्युच्छिन्न प्रवाहरूपसे मेरी आत्माके साथ लगे हुए ज्ञानावरणादि कर्मके योग्य पुद्गलद्रव्य इस तरह श्लिष्ट हो गये मानो मै और वे एक ही हे। और इन्हीके निमित्तसे मै मोह या रागद्वेषरूप औपाधिक-वैभाविक भावोसे भी परिणत होने लगा। इस प्रकार पर-पुद्गलद्रव्यसे कथंचित् तादात्म्यको प्राप्त हुआ औरविभावरूप परिणत हुआ मै अब यदि तत्त्वतः आत्मस्वरूपका श्रद्धान कर और ज्ञान प्राप्त कर उपाधिरहित साम्यावस्थाको धारण करलू। निजात्माके शुद्ध चित्स्वरूपको भले प्रकार जानकर ओर वैसा ही उसका श्रद्धान भी करके रागद्वेष परिणतिकी निश्छल उपरतिको प्राप्त हो जाऊं। और शुद्ध निजात्मस्वरूपकी तरफ इस प्रकार उन्मुख हुए-मुझ आरब्धयोगीका गम्भीर आनन्दामृतके समुद्रमें विना किसी परिश्रमके -लीलामात्रसे ही यदि अवगाहन होने लगे तो मोहादिकसे आविष्ट चित्पर्यायोंके न रहनेपर यह फलके द्वारा अनुभवमें आनेवाली पापरूपी अग्नि किसको दग्ध करेगी? किसीको भी नहीं। क्योंकि ये पापकर्म फलके द्वारा ही अपना परिचय कराया करते हैं। रागद्वेष या मोहसे आक्रान्त तथा विभावभावरूप परिणत आत्माओंको ही सताया करते हैं। किंतु जब मैं आरब्धयोगी होकर क्रमसे योगकी परा काष्ठाको प्राप्त हो स्वाभाविक चिदानन्दका अच्छी तरह अनुभव करने लगूंगा उस समय मेरे ये समस्त वैभाविक भाव नष्ट हो जायगे। फिर वह पापाग्नि किसको संतप्त कर सकेगी? किसीको भी-नहीं। जब तृण या काष्ठ ही न रहेगा तब अग्नि किस चीजको जलावगी? किसीको भी नहीं। वह स्वयं शान्त होजायगी।

भावार्थ—मुझको आत्माके विषयमें वास्तविक सम्यग्दर्शन व ज्ञान प्राप्त कर तथा उसके शुद्ध स्वरूपको पाकर उसीमें लीन होना चाहिये जिससे कि स्वाभाविक अनन्त सुख प्राप्त हो और संसारताप नष्ट हो।

समाधिमें आरोहण करनेकी इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुओंको अन्तरात्माकी तरफ ही उपयुक्त रहनेका उपदेश देते हैः —

अयमधिमदबाधो भात्यहंप्रत्ययो य,—
स्तमनु निरवबन्धं बद्धनिर्व्याजसख्यम् ।
पथि चरसि मनश्चेत्तर्हि तद्धाम हर्षे,
भवदवविपदो दिङ्मूढमभ्येषि नो चेत ॥ १४७ ॥

अहंप्रत्ययके द्वारा जिसका भीतर--आत्मामें प्रतिभास होता है वह आत्मा सर्वथा निर्बाध है। अनुभविताओंको 'मैं' इस शब्दके द्वारा जिसका ज्ञान होता है वही आत्मा है ऐसा यद्यपि स्वयं प्रतीत होता है फिर भी उसकी अबाधता युक्ति और आगम दोनो प्रमाणोंसे भी सिद्ध है। क्योंकि जिस पदार्थका मैं इस शब्दके द्वारा अपने भीतर ही भान होता है वह आत्मा नहीं है इस बातको अथवा उससे भिन्न दूसरा पदार्थ है इस बातको सिद्ध करनेवाला कोई भी प्रमाण नहीं है। तथा आगममें भी कहा है कि " यत्र अहमित्यनुपरितप्रत्ययः स आत्मा "। मैं इस शब्दके द्वारा जिसका अनुपरित ज्ञान होता है वही आत्मा है। हे मन! इस प्रकार युक्ति और आगमके द्वारा अबाध सिद्ध आत्माके साथ निश्छल मित्रता जोडकर यदि तू अस्खलित रूपसे श्रेयोमार्गमें प्रवृत्त हो तो अवश्य ही तुझको वह प्रसिद्ध स्थान प्राप्त हो जो कि अनिर्वचनीय तथा केवल अनुभवद्वारा ही गम्य है। अन्यथा— यदि तू अन्तरात्माके साथ उपयुक्त होकर मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति न करेगा तो दिङ्मूढ--सद्गुरुओंके उपदेशमें व्यामोहित होकर ससाररूपी दावानलकी विपत्तियोंके ही अभिमुख प्राप्त होगा।

भावार्थ—जैसे कि दावानल जिसमें जल रहा है ऐसे वनमे दिशाभूल होजानेपर मनुष्य समीचीन मार्गमें न जाकर उल्टा उस मार्गकी तरफ जाने लगे जिसमें कि दावानल जल रहा है तो अवश्य ही उसको उस दावाग्निकी विपत्तियोंसे त्रस्त होना पडेगा। उसी प्रकार यदि मुमुक्षुजन अन्तरात्माके विपयमें मूढ होकर श्रेयोमार्गमें गमन न करें तो अवश्य ही वे संसारमार्गकी तरफ अभिमुख हो जांयगे और उसके तापसे विपन्न होंगे।

इस प्रकार आकिञ्चन्य महाव्रतका पालन करनेकेलिये पूर्णतया तयार होकर प्रवृत्त होनेवाले साधुओंको और भी आवश्यकीय शिक्षाएं दीं, किंतु पहलेके—गृहस्थ अवस्थाके विभ्रम संस्कारके कारण उन शिक्षानुकूल प्रवृत्तियोंके करनेमें कहीं शिथिलता न होने लगे अत एव उसके प्रति तिरस्कार भाव रखनेकेलिये मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रियविषयोंमें रागद्वेषके परित्यागरूप पांच भावनाओंको भाते हुए प्रयत्न करनेका उपदेश देते हैः—

यश्चार्वचारुविषयेषु निषिध्य राग,—
द्वेषौ निवृत्तिमधियन् मुहुरा निवर्त्यात् ।
ईर्ते निवर्त्यविरहादनिवृत्तिवृत्ति,
तद्धाम नौमि तमसङ्गमसङ्गसिंहम् ॥ १४८ ॥

इन्द्रियोंके विषय स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द मनोज्ञ और अमनोज्ञ दोनों ही प्रकारके होते हैं । संसारी प्राणियोंको मनोज्ञ विषयोंमें राग और अमनोज्ञ विषयोंमें द्वेष हुआ करता है । किंतु जो मुमुक्षु इन विषयोंमें रागद्वेषरूप प्रवृत्ति—रति अरतिको छोडकर निवर्त्य पदार्थोंके रहनेतक निवृत्ति और प्रवृत्तिसे रहित आत्मस्वरूपको प्राप्त होजाता है उस निरुपलेप निर्ग्रन्थसिंहको मैं नमस्कार करता हूं अथवा उसकी निरंतर स्तुति करता हूं ।

भावार्थः—कर्मबन्ध और उसके कारणभूत पदार्थोंको निवर्त्य कहते हैं । क्योंकि उनको आत्मासे दूर करना है । जबतक निवर्त्य रागद्वेषरूप परिणति लगी हुई है तबतक साधुओंको निवृत्ति—रागद्वेषके छोडनेका ध्यान करना चाहिये । बार बार करनेपर जब यह ध्यान अभ्यस्त होजाय तब उस आत्मपदका ध्यान करना चाहिये जो कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंसे ही रहित है । किंतु इस अविनश्वर आत्मपदका ध्यान करनेके भी पहले जिस निवृत्तिका ध्यान करना आवश्यक है उसके विषय निवर्त्य रागद्वेष हैं जिनका कि सम्बन्ध

बाह्य पदार्थोंसे है । अत एव मुमुक्षु साधुओंको सबसे पहले मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रियविषयमें क्रमसे होनेवाली रागद्वेष परिणतिको छोडनेका प्रयत्न करना चाहिये । जैसा कि कहा भी है कि:—

निवृत्तिं भावयेद्यावन्निवर्त्यं तदभावत ।
प्रवृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययम् ॥
रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम् ।
तौ च बाह्यार्थसम्बद्धौ तस्मात्तान् सुपरित्यजेत् ॥

निवर्त्यके रहनेतक निवृत्तिका भावन-ध्यान करना चाहिये किंतु उसके छूटजानेपर आत्मासे उस अव्यय पदका ही ध्यान करना आवश्यक है जहां न प्रवृत्ति है और न निवृत्ति । रागद्वेषको प्रवृत्ति और उसके त्यागको निवृत्ति कहते है । इन दोनोंका सम्बंध बाह्य पदार्थोंसे है । मनोज्ञामनोज्ञ विषयोंमें ही क्रमसे रागद्वेषकी परिणति होती है अत एव सबसे पहले मुमुक्षु भिक्षुओंको इनका ही परित्याग करना चाहिये ।

इस प्रकार परिग्रहके परित्यागरूप आकिंचन्य महाव्रतका वर्णन पूर्ण हुआ । अब साधुओंके व्रत, अपनी अपनी भावनाओंके द्वारा स्थिरताको प्राप्त होकर ही उनके अभिमतको सिद्ध किया करते है ऐसा उपदेश देते है:—

पञ्चभिः पञ्चभिः पञ्चाप्येतेऽहिंसादयो व्रताः ।
भावनाभिः स्थिरीभूताः सतां सन्तीष्टसिद्धिदाः ॥ १४९ ॥

हिंसा झूट चोरी कुशील और परिग्रह ये पांच पाप है । इन पांचों पापोंके परित्यागको ही अहिंसादिक पांच महाव्रत कहते है जिनका कि पहले सविस्तर व्याख्यान किया जाचुका है । इनमेंसे प्रत्येक व्रतकी पांच पांच भावनाओंका भी स्वरूप पहले लिखा जा चुका है । उन भावनाओंके द्वारा स्थिर-निश्चलताको प्राप्त होकर ही ये महाव्रत साधुओंके अभिमत अर्थको सिद्ध कर सकते है, अन्यथा नहीं । अत एव आत्महितैषी भिक्षुओंको उन भावनाओंमें अवश्य ही अच्छी तरहसे दृढ रहना चाहिये ।

उपर्युक्त पांचो व्रतोंके महत्वका समर्थनपूर्वक, जिन हेतुओंसे ये व्रत महान् माने गये हैं उनको दिखाते हुए और उनकी रक्षा करनेकेलिये रात्रिभोजनविरतिरूप छट्ठे अणुव्रतका भी उपदेश देते हुए यह बताते हैं कि उत्तरोत्तर अच्छी तरह किये गये अभ्यासके द्वारा इन व्रतोंके संपूर्ण करदेनेपर या होजानेपर ही साधुओं को निर्वाणरूप फल प्राप्त हो सकता हैः—

पञ्चैतानि महाफलानि महतां मान्यानि विष्वग्विर,—
त्यात्मानीति महान्ति नक्तमशनोज्झाणुव्रताग्राणि ये ।
प्राणित्राणमुखप्रवृत्त्युपरमानुक्रान्तिपूर्णीभव,—
त्साम्याः शुद्धदृशो व्रतानि सकलीकुर्वन्ति निर्वान्ति ते ॥ १५० ॥

उक्त अहिंसादिक पांचो व्रतोंका महान् शब्दके साथ जो उल्लेख किया है उसके तीन कारण है। पहला यह कि इनका फल महान है, दूसरा यह कि ये महापुरुषोंको भी मान्य हैं, तीसरा यह कि ये महा—समस्तविरतिरूप हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

आचरितानि महद्भिर्यच महान्तं प्रसाधयन्त्यर्थम् ।
स्वयमपि महान्ति यस्मान्महाव्रतानीत्यतस्तानि ॥

उत्तम पुरुष इन व्रतोंका पालन करते है। गणधरदेवादिकोंको भी ये अनुष्ठेय तथा सेव्य हैं। और इंद्रादिकोंके द्वारा भी पूज्य हैं, क्यों कि उनकी दर्शनविशुद्धिकी अतिशयित वृद्धिमें ये कारण हैं। दूसरी बात यह कि ये महान् अर्थ—प्रयोजनको सिद्ध करते हैं। इनके निमित्तसे ही अनन्तज्ञानादिक अनन्त चतुष्टय स्वरूप तथा मोक्षरूप सर्वोत्कृष्ट महान् फल प्राप्त हो सकता है। तीसरी बात यह कि ये स्वयं भी महान् हैं। स्थूल ये। क्योंकि इसके विना उनका कोई भी उक्त व्रत सुरक्षित नहीं रह सकता। रात्रिभोजन करनेसे मुनियोंको हिंसा शङ्का और आत्मविपत्ति आदि अनेक दोष उपस्थित होते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

हो या सूक्ष्म, सम्पूर्ण भेदरूप ही हिंसादिकका इनमें परित्याग किया जाता है। क्योंकि ये सकलविरतिरूप हैं। इस प्रकार पूज्यता फल और स्वरूप तीनोंमें ही महत्ता रहनेके कारण इन व्रतोंको महान् कहते हैं।

और भी कहा है कि —

महत्त्वहेतोर्गुणिभिः श्रितानि महान्ति मत्वा त्रिदशैर्नतानि।
महासुखज्ञाननिबन्धनानि महाव्रतानीति सतां मतानि॥

आत्मिक महत्ता प्राप्त करनेके उद्देशसे गुणी पुरुष इनका आश्रय लेते हैं, देवेन्द्रादिक भी महान् समझ कर इनको नमस्कार करते हैं तथा महान्—अनन्त सुख ज्ञानादिको ये ही उत्पन्न करनेवाले हैं। यही कारण है कि सत्पुरुष इनको महाव्रत कहते हैं।

ऐसे इन महाव्रतोंकी रक्षाकेलिये मुमुक्षु भिक्षुओंको छट्ठा अणुव्रत "रात्रिभोजनत्याग" प्रधानतया पालना चाहिये। क्योंकि इसके विना उनके किसी भी व्रतकी रक्षा नहीं हो सकती। जैसा कि कहा भी है कि:—

तेसिं चेव वयाणं रक्खट्ठं रायभोयणणियत्ती।
अट्ठ य पवयणमादाउ भावणाओ य सव्वाओ॥

इन व्रतोंकी रक्षाकेलिये रात्रिभोजननिवृत्ति, तथा आठ प्रवचन माताओं (पांच समिति तीन गुप्ति) और समस्त भावनाओंका पालन करना चाहिये। रात्रिभोजनत्यागको अणुव्रत कहनेका प्रयोजन यह है कि मुनियोंके भोजनका त्याग कालकी अपेक्षा सर्वथा नहीं, एक देशरूप ही पल सकता है। रात्रीकी अपेक्षासे ही उसका सर्वथा त्याग हो सकता है और रात्रिमें ही उसकी निवृत्ति बताई है, न कि दिनमें। दिनमें तो साधुजन भोजनकेलिये योग्य समयमें प्रवृत्ति कर सकते हैं। रात्रिमें ही भोजनका त्याग सो रात्रिभोजनत्याग ऐसा ही इस शब्दका अर्थ है। अत एव उसको अणुव्रत कहना चाहिये। इस अणुव्रतका भी मुनियोंको अवश्य ही पालन करना चाहि-

तेसिं पचण्ह पिय वयाणमावज्जण च सखाओ।
आदविवत्ती अह विजरादिभत्तप्पसगहि ॥

रात्रिमें भक्तपानका संग्रह करनेपर मुनियोंको जो दोप लग सकते है वे इस प्रकार समझने चाहिये कि—पांचो व्रतोका परित्याग शङ्का, और आत्मविपत्ति।

भोजनका रात्रिमे संग्रह तीन प्रकारसे हो सकता है। एक रात्रिमें जाकर दाताके यहा भोजन ग्रहण करना। दूसरा रात्रिमे लाकर दिनमें भोजन करना। तीसरा दिनमे लाकर रात्रिमें भोजन करना। ये तीनो ही पक्ष अपायकर है। क्योंकि यदि रात्रिमें भोजनके लिये भ्रमण करेगा तो हिंसा अवश्यम्भावी है। रात्रिमे प्रकाश न रहनेके कारण प्राणियोंको देखा नही जासकता और फिर ईर्यासमितिका भी पालन नहीं हो सकता। है, तथा कौनसा स्थान पवित्र है और कौनसा अपवित्र, कहां चलना चाहिये कहां रूकना दाताके यहा जाने आनेका मार्ग, उसके और अपने ठहरनेका स्थान, और कहा झूठन आदिक पडी चाहिये आदि बातोंका अवलोकन रात्रिमे अच्छी तरह नही हो सकता। न योग्य अयोग्य आहारका ही निरूपण हो सकता है। अत्यंत सूक्ष्म त्रस जीव जब कि दिनमें भी कठिनतासे ही देखे और बचाये जा सकते हैं तब रात्रिमे तो उनका परिहार हो ही किस तरह सकता है? इस प्रकार रात्रिभोजनमें प्रवृत्ति करनेवाला आहारका शोधन नही कर सकता और हिंसाके दोपसे बच नहीं सकता। अच्छी तरह बिना परीक्षा किये ही भोजन करनेवाला एपणा समितिका भी पालन किस तरह कर सकता है? और ऐसी—अयुक्त एपणासमितिविषयक तथा पादविभागिक[1] आलोचना करता हुआ वह सत्यव्रती भी किस तरह रह सकता है?

१—मुनियोकी आहोरात्रिक समीचीन चर्याको पदविभागी कहते है। अत एव जिसमें उसका वर्णन किया जाय उस आलोचनाको पादविभागिक कहते है। अच्छी तरह अपरीक्षित विषयमे एपणा प्रवृत्ति करनेवाला अपनी प्रवृत्तिकी पादविभागिक आलोचना करनेमें सत्यव्रतका पालन किस तरह कर सकता है?

यदि गृहका स्वामी सो रहा हो और उसके दिये विना भी आहार ग्रहण करलिया जायगा तो चोरीका भी दोष लगेगा। विद्वेष रखनेवाले कुटुम्बी अथवा अन्य विरोधी लोक अनेक प्रकारकी शङ्का करके रात्रिके समय मार्गमें गमन करनेवाले साधुके ब्रह्मचर्यको नष्ट कर देते है या कर दे सकते है। यदि भोजनको दिनमें लाकर और अपने पात्रमें ढककर रख लिया जाय और रात्रिमे उसको खाया जाय तो परिग्रहका भी दोष उपस्थित होगा। इस प्रकार रात्रि भोजनके निमित्तमे हिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रह ये पांचो ही पाप लगते हैं जिसमे कि इनके विरोधी व्रत रक्षित नहीं रह सकते। इसके सिवाय रात्रिभोजीको 'मेरे हिंसादिक दोष तो नहीं लगगये" अथवा "मेरी इस क्रियामें हिंसादि हुई या वची" ऐसी शंका लगी रहती है। और कदाचित् स्थाणु सर्प कण्टकादिकके द्वारा मरण होजाना भी संभव है। इस प्रकार रात्रिभोजन करनेसे मुनियोंको व्रतघात शंका और आत्मविपत्ति दोष उपस्थित होते है। अतएव उनको अपने व्रतोंकी रक्षाके लिये रात्रिभोजनत्यागरूप अणुव्रतका पालन अवश्य ही करना चाहिये।

जो शुद्ध क्षायिक सम्यग्दष्टि आद्य अवस्थामें होनेवाली प्राणिरक्षा प्रभृति प्रवृत्तियोंके उपरितन स्थानमें किये गये उपरमकी अनुक्रांति—गुणश्रेणि सक्रमणके द्वारा अपनी साम्यावस्था—सामायिक चारित्रको पूर्ण कर व्रतोंको भी संपूर्ण करदेते है वे ही मुमुक्षु जीवन्मुक्त अवस्थाको पाकर परम मुक्तिको भी प्राप्त करलेते है।

भावार्थ—जो रात्रिभोजनत्यागरूप अणुव्रतके द्वारा सुरक्षित रहते और उपर्युक्त तीन हेतुओंसे जिनकी महत्ता सिद्ध है ऐसे वे व्रत आद्य अवस्थामें प्रवृत्तिरूपसे ही पाले जाते है। क्योंकि सबसे पहले जीवोंकी प्राणि रक्षा सत्यभाषण दत्तग्रहण ब्रह्मचर्यका पालन और योग्य परिग्रहके ग्रहण करनेमें ही प्रवृत्ति हुआ करती है। परंतु आगे चलकर ऊपरके स्थानोंमें इस प्रवृत्तिकी उपरति होजाती है और गुणश्रेणीका उपसर्पण होकर क्रमसे समस्त सावद्य योगकी निवृत्तिरूप सामायिक चारित्र पूर्ण हो-जाता है। किन्तु जो शुद्ध क्षायिक सम्यग्दृष्टि इस सामायिकको भी सूक्ष्मसांपरायकी परा काष्ठातक पहुंचाकर यथाख्यात चारित्ररूप परिणत कर देते है वे ही योगी अयोगी होकर निर्वृति प्राप्त करते है। क्योंकि योग अचारि-

त्रका व्यापक है। जहांतक या जहां जहां योग रहेगा वहांतक या वहा वहां अचारित्र भी रहेगा ही। जिससे कि निर्वृति प्राप्त नहीं हो सकती। अयोग गुणस्थानके अन्तिम समयमें ही चारित्र पूर्ण हुआ करता है। और उसीसे मोक्ष प्राप्त हो सकती है; जैसा कि कहा भी है कि:—

सीलेसिं सपत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होइ॥

अयोगकेवलीमें ये तीन बातें प्राप्त होती है अथवा जिस जीवमें ये तीन बातें प्राप्त होजाती हैं उसको अयोगकेवली कहते हैः—१ संपूर्ण चारित्रके स्वामित्वकी प्राप्ति, २—समस्त कर्मास्रवोंका निरोध, ३—कर्मरजका सर्वथा राहित्य।

और भी कहा है कि:—

यस्य पुण्य च पाप च निष्फल गलति स्वयम्।
स योगी तस्य निर्वाण न तस्य पुनरास्रव॥

जिसका पुण्य और पाप स्वयं ही निष्फल गलजाता है—विना फल दिये ही निर्जीर्ण होजाता है उसका, पुनः परावर्तन नहीं होता अथवा फिर उसके कर्मोंका आस्रव नहीं होता। इससे सिद्ध है कि साधुओंको अपने आरंभिक अवस्थाके प्रवृत्तिरूप महाव्रत सुरक्षित रखकर अभ्यासक्रमसे चारित्रकी समग्रताको पहुंचा देने चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेपर ही उन्हे निर्वृति प्राप्त हो सकती है।

सत्व गुणाधिक क्लिश्यमान और अविनयी इनमें क्रमसे मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ्य भावना रखनेवालोंके ये सभी व्रत अच्छी तरह दृढताको प्राप्त होजाते हैं। अत एव मुमुक्षुओंको इन चारो भावनाओंमें नियुक्त रहनेका उपदेश देते हैं:—

अ ध ६०

मा भूत्कोपीह दुःखी भजतु जगदसद्धर्म शर्मेति मैत्रीं,
ज्यायोहृत्तेषु रज्यन्नयनमधिगुणेष्वेष्विवेति प्रमोदम् ।
दुःखाद्रक्षेयमार्तान् कथमिति करुणां ब्राह्मि मामेहि शिक्षा,
काऽद्रव्येष्वित्युपेक्षामपि परमपदाभ्युद्यता भावयन्तु ॥ १५१ ॥

अनंत ज्ञान अनंत दर्शन अनन्त सुख और अनन्त वीर्य । इस अनंत चतुष्टयरूप परमपदकी प्राप्तिके लिये उद्यत—अभिमुख हुए साधुओंको मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओंका निरन्तर चिन्तन करना चाहिये । प्राणिमात्रमें दुःखोंके उत्पन्न न होनेकी आकांक्षा रखनेको मैत्री, अपनेसे अधिक गुणवालोंको देखकर हर्षित होनेरूप मनोरागको प्रमोद, दुःखोंसे पीडित प्राणियोंके अभ्युद्धार करनेकी बुद्धिको कारुण्य, और निर्गुण या विरुद्ध व्यक्तियोंमें रागद्वेषके प्रकट न करनेको माध्यस्थ्य कहते है । जैसा कि कहा भी है कि:—

कायेन मनसा वाचा परा सर्वत्र देहिनि ।
अदु खजननी वृत्तिर्मैत्री मैत्रीविदा मता ॥
तपोगुणाधिके पुंसि प्रश्रयाश्रयनिर्भरः ।
जायमानो मनोराग प्रमोदो विदुपा मत ॥
दीनाभ्युद्धरणे बुद्धि कारुण्य करुणात्मनाम् ।
हर्षामर्षोज्झिता वृत्तिर्माध्यस्थ्य निर्गुणात्मनि ॥

मन वचन और कायके द्वारा संसारके सभी प्राणियोंके विपयमें ऐसी प्रवृत्ति करनेको, कि जिससे किसीको भी दुःख उत्पन्न न हो, मैत्री कहते है। तप या दूसरे गुण-सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र आदिक जिसमें अधिक पाये जांय ऐसे पुरुपके विपयमें होनेवाले उस मनोरागको प्रमोद कहते है जिससे कि उस व्यक्तिके विपयमें प्रीति भक्ति या विनय उत्पन्न हो; अथवा उनको अपने ऊपर प्रसन्न करने या उनके अनुकूल व्यवहार करने

तथा उन जैसा होनेका भाव जागृत हो जाय। दुःखी और पीडित प्राणियोंके अभ्युद्धारकी बुद्धिको कारुण्य कहते है। निर्गुण— मिथ्यादृष्टियोंके विषयमें हर्षामर्षरहित प्रवृत्तिको माध्यस्थ्य कहते है।

ये भावनाए किस प्रकार भाई जाती है उसका स्वरूप नीचे लिखे मूजब है:—" संसारमें कोई भी प्राणी दुःख —दुःख और उसके कारणभूत पापसे युक्त तथा संतप्त न हो, विश्वमात्रको निश्छल—पारमार्थिक कल्याण —आत्मिक सुख प्राप्त हो" ऐसे परिणामोंको मैत्री कहते है। जैसा कि कहा है कि: —

शिवमस्तु सर्वजगत परहितनिरता भवन्तु भूतगणा ।
दोपा प्रयान्तु नाश सर्वत्र सुखी भवतु लोक ॥

समस्त जगतको कल्याणकी प्राप्ति हो, मभी प्राणी दूसरोंके हितमें निरन्तर रत रहें, ससारमेंसे दोप नष्ट होजांय, और सभी जीवोंको सर्वत्र और सर्वदा सुखकी प्राप्ति हो। तथाच—

मा कार्षीत् कोपि पापानि मा च भूत्कोपि दु खित ।
मुच्यता जगदप्येपा मतिर्मैत्री निगद्यते ॥

संसारमें कोई भी जीव पाप न करे और न कोई दुःखोंमे उत्पीडित हो। समस्त जगत् निर्वृति प्राप्त करे। ऐसी मतिको मैत्री कहते है।

पुरोवर्ती—दृश्यमान गुणाधिक पुरुषोंमें अनुरक्त होनेवाले चक्षुओंकी तरह देशविप्रकृष्ट और कालविप्रकृष्ट— केवल स्मृतिपथको प्राप्त हुए गुणोत्कृष्ट व्यक्तियोंके विपयमें अनुरक्त होनेवाला ही मन प्रशस्यतर समझना चाहिये। ऐसे सद्भावकोंको-इन प्रत्यक्षमें उपस्थित गुणशालियोंको देखकर मेरे नेत्र सफल होगये, और उन परोक्ष रत्नत्रयधारक पुनीत महात्माओंका स्मरण कर मेरा मन अत्यंत पवित्र होगया। इस तरहके विचार करने या होनेको

१—इसी तरहके अन्यत्र भी श्लोक है।

प्रमोद कहते हैं। इसके होनेपर अन्तरङ्गमें जागृत हो उठनेवाली भक्ति निरूपित होजानेवाले मुखादिकके द्वारा अभिव्यक्त होजाया करती है। इस विषयमें कहा है किः—

अपास्ताशेषदोषाणां वस्तुतत्त्वावलोकिनाम्।
गुणेषु पक्षपातो यः स प्रमोदः प्रकीर्तितः॥

समस्त दोषोंको दूर कर वस्तुतत्त्वका अवलोकन करनेवालोंके ज्ञानदर्शनादिक गुणोंमें पक्षपात करनेको प्रमोद कहते हैं।

क्लेश भोगते हुए इन प्राणियोंकी मैं रक्षा किस तरह करूं।—इन संक्लिष्ट जीवोंके दुःखोंका मैं निवारण किस तरहसे करदूं, ऐसे सद्भाव रखने या विचार करनेको करुणा कहते हैं। जैसा कि कहा भी है किः—

दीनेष्वार्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम्।
प्रतीकारपरा बुद्धिः कारुण्यमभिधीयते॥

दीन दुःखी भीत और जीवनकी याचना करनेवाले—अभयके प्रार्थी जीवोंके उन दुःखोंका प्रतीकार करनेमें तत्पर रहनेवाली बुद्धिको कारुण्य कहते हैं।

सत्पुरुषोंके द्वारा जिनमें स्थापित किये गये गुण संक्रांत होजाते हैं उनको द्रव्यपात्र कहते हैं। किंतु जो इस लक्षणसे शून्य हैं और जिन्होंने तत्त्वार्थका श्रवण तथा ग्रहण करके श्रोतापने या पात्रताके गुणका संपादन नहीं किया है ऐसे व्यक्तियोंको दीगई कोई भी शिक्षा फलवती नहीं हो सकती। अत एव हे प्राज्ञि! वा देवि! आओ, साम्यभावनामें तत्पर मेरी आत्माको प्राप्त करो। अपना कार्य छोडकर मौनावस्थाको धारण करो। इस प्रकार साधुओंको अपात्रोंके विषयमें रागद्वेष छोडकर उपेक्षा—माध्यस्थ्यको स्वीकार कर मौन धारण करना चाहिये। कहा भी है किः—

क्रूरकर्मसु निःशङ्कं देवतागुरुनिन्दिषु।
आत्मशंसिषु योपेक्षा तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम्॥

क्रूर कर्म करनेवाले, निःशङ्क होकर देवता और गुरुओंकी निन्दा करनेवाले, तथा अपनी प्रशंसा करनेवालोंके साथ उपेक्षा-रागद्वेषरहित प्रवृत्ति-मौन धारणादि करनेको माध्यस्थ्य कहते है।

इस प्रकार साधुओंको इन भावनाओंके द्वारा अपने उपर्युक्त महाव्रत अच्छी तरह दृढ बनादेने चाहिये जिससे कि मुक्तिरूप फलको वे उत्पन्न करसकें।

इन भावनाओंके सिवाय मोक्षशास्त्रमे "हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम्" और "दुःखमेव वा", इन दोनो सूत्रोंके द्वारा समस्त व्रतोंमें व्यापक—सामान्यतः सभी व्रतोंकेलिये उपयोगी और भी जिन भावनाओंका उपदेश दिया है उनको भी हम प्रत्येक व्रतके साथ पहिले दिखाचुके है। अत एव यहांपर उनके वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है।

अवः—

"अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायण ।
परात्मबुद्धिसपन्न स्वयमेव परो भवेत् ॥"

जो अव्रती है उनको व्रत स्वीकार करके और व्रती होनेपर ज्ञान—श्रुतका अभ्यास करके, तथा ज्ञानपरायण होजानेपर परमात्मध्यानसे सपन्न होकर मुमुक्षुओंको स्वयं ही परमात्मरूप होजाना चाहिये। इस वचनके अनुसार जो मोक्षमार्गमें विहार करनेकी प्रतिज्ञा कर मुनिपदको स्वीकार कर उक्त महाव्रतोंका निर्वाह करनेमें तत्पर है अथवा उनका निर्वहण करचुके है उनको मैत्री आदि भावनाओं तथा स्वाध्याय और व्यवहार निश्चयरूप ध्यानके करनेका फल बताते हुए इन विषयोंमें भी उपयुक्त होनेकेलिये सावधान करते हैं—

मैत्र्याद्यभ्यसनात् प्रसद्य समयादावेद्य युक्त्याञ्चितात्

यत्किंचिद्रुचितं चिरं समतया स्मृत्वातिसाम्योन्मुखम् ।
ध्यात्वार्हन्तमुतस्विदेकमितरेष्वत्यन्तशुद्धं मनः,
सिद्धं ध्यायदहंमहोमयमहो स्याद्यस्य सिद्धः स वै ॥ १५२ ॥

ऊपर जिन मैत्री आदिक भावनाओंके विषयमें वर्णन किया गया है उनके विषयमें कहा है कि:—

एता मुनिजनानन्दसुधास्यन्देकचन्द्रिका ।
ध्वस्तरागादिसंक्लेशा लोकाग्रपथदीपिका ॥

ये भावनाएं मुनिजनोंकेलिये आनन्दामृतकी वर्षा या सिञ्चन करनेवाली अपूर्व चन्द्रिकाके समान है, रागादिक संक्लेशपरिणामोंको ध्वस्त करनेवाली और मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेकेलिये दीपिकाके समान हैं। अत एव इन भावनाओंका अभ्यास करके अपनेको अप्रशस्त रागद्वेष कषायसे रहित कर संप्रदायके अविच्छेद और प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाणादिक हेतुओंसे अनुगृहीत—पूजित आगमके अनुसार जीवादिक ध्येय व याथात्म्यरूपसे निर्णय—श्रद्धान कर रागद्वेषके अविषय किंतु उस श्रद्धाके विषयभूत किसी भी अनियत चेतन या अचेतन पदार्थका चिरकालतक–जबतक परमौदासीन्यकी योग्यता प्राप्त न हो जाय तबतक स्मरण–ध्यान करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

यत्रैवाहितधीः पुंस श्रद्धा तत्रैव जायते ।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥

जिस विषयमें मनुष्य अपनी बुद्धिको उपयुक्त किया करता है उसी विषयमें उसकी श्रद्धा होती है, उसी विषयमें उसका चित्त लीन हुआ करता है।

और भी कहा है कि:—

किमत्र बहुनोक्तेन ज्ञात्वा श्रद्धाय तत्त्वत ।
ध्येय समस्तमप्येतन्माध्यस्थ्य तत्र विभ्रता ॥

अधिक क्या कहें, सभी पदार्थोंको याथात्म्यरूपमे जानकर और उनका श्रद्धान कर उनमें माध्यस्थ्यको धारण करनेवाले साधुओंको उन सभी पदार्थोंका ध्यान करना चाहिये ।

इस प्रकार चेतन या अचेतन किसी भी पदार्थका ध्यान मुमुक्षुओंको अपनेको-निजात्मस्वरूपको परमौदासीन्य परिणामकी तरफ उन्मुख-प्रयत्नपर करना चाहिये । और ऐसा होकर अर्हंत-जीवन्मुक्त भगवान्का अथवा आचार्य उपाध्याय साधु इन तीनोंमेंसे किसी भी एकका एकाग्रतया ध्यान करना चाहिये । इसपर पुनः पुनः ध्यान करके और परमौदासीन्यस्वरूप परिणत होकर परममुक्त श्रीसिद्ध भगवान्का एकाग्रतया ध्यान करनेमें रत होना चाहिये । कहा भी है कि—

सति हि ज्ञातरि ज्ञेय ध्येयता प्रतिपद्यते ।
ततो ज्ञानस्वरूपोयमात्मा ध्येयतम स्मृत ॥
तत्रापि तत्त्वत, पच ध्यातव्या परमेष्ठिन ।
चत्त्वार सकलास्तेपु सिद्धस्वामी तु निष्कल ॥

जिस समय ज्ञाता ज्ञेयविषयोंकी तरफ प्रवृत्त होता है उस समय उसके सभी ज्ञेय पदार्थ ध्येय होजाते है । किंतु इसके बाद होनेवाला यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ही प्रशस्त ध्येय मानागया है । और उसमें भी पंचपरमेष्ठी ही वस्तुत, ध्येय समझने चाहिये जिनमेंसे कि चार अर्हन्त आचार्य उपाध्याय और साधुपरमेष्ठी तो सशरीर ध्येय है और एक सिद्ध परमेष्ठी अशरीर ध्येय हैं ।

इस क्रमसे ध्यान करते करते योगियोका मन जिस आत्मज्योतिका वेवेदन करते हैं तन्मय होजाता है। जैसा कि कहा भी है कि —

लवण व सलिलजोए झाणे चित्त विलीयए जस्स।
तस्स सुहासुहडहणो अप्पा अणलो पयासेइ ॥

जिस प्रकार नमककी डली पानीके सम्बन्धसे गलकर पानीरूप ही होजाती है उसी प्रकार जिस साधुका मन ध्यानमे लीन होकर ध्येयरूप ही होजाता है उसके वह आत्मारूप अग्नि प्रकाशित होती है जो कि शुभ और अशुभ अथवा सुख और असुख तथा उनके कारणोंको जलाकर भस्म कर देती है।

हे महाव्रतोंके पालन करनेमें उद्यत मुने! जिस साधुका मन इस प्रकारके आत्मतेजोमय स्वरूपको प्राप्त करचुका है, निश्चयसे उसी साधुको सिद्ध समझना चाहिये। वह शुद्धनिश्चयवादियोंमें, अच्छी तरह धारण किये गये महाव्रतोंमें निष्णात होजानेके कारण प्रसिद्ध होजाता है। कहा है कि:—

स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोपि।
तस्मादभ्यस्यन्तु ध्यान सुधिय सदाप्यपास्यालस्यम् ॥

आगमप्रसिद्ध दोनो ही प्रकारके मोक्षमार्गकी पूर्णतया प्राप्ति ध्यानमें अथवा उसके द्वारा ही हो सकती है। अत एव विवेकियोंको आलस्यरहित होकर निरन्तर उस ध्यानका ही अभ्यास करना चाहिये।

अथवा पूर्वोक्त प्रकारसे शुद्धस्वरूपपरिणत ध्याताको निश्चयसे भावोंकी अपेक्षा सिद्ध—परममुक्त ही समझना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि: —

परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति।
अर्हद्ध्यानाविष्टो भावार्हन् स्यात् स्वय तस्मात् ॥

जो आत्मा जिस रूपसे परिणत होता है-जिस विषयका ध्यान करता है वह उस ध्यानके द्वारा तन्मय होजाता है। यही कारण है कि अर्हन्तके ध्यानमें आविष्ट आत्मा स्वयं भावतः अर्हन् हो जाता है। और भी कहा है कि:-

येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित्।
तेन तन्मयतां याति सोपाधि स्फटिको यथा॥

जिस प्रकार स्फटिकके पीछे जैसी उपाधि लगाई जाय वह वैसा ही हो जाता है उसी प्रकार आत्मज्ञानी साधु जिस भावके द्वारा अपनी आत्माका जिस रूपमें ध्यान करता है उस भावके द्वारा वह उसी स्वरूप हो जाता है।

भावार्थ—साधुओंको मैत्री आदि भावनाओंके द्वारा रागद्वेषरहित होकर युक्तियुक्त आगमके अनुसार जीवादिक वस्तुओंका यथावत् श्रद्धान करना चाहिये। और उसके विषयभूत पदार्थोंका समतापूर्वक परमौदासीन्य योग्यता प्राप्त होनेतक ध्यान करना चाहिये। इसके बाद सकल परमेष्ठीका और अन्तमें सिद्ध भगवान्का ध्यान करना चाहिये। जिसके बलसे कि स्वयं सिद्धस्वरूपकी प्राप्ति हो जाय।

इस प्रकार महाव्रतोंका और उनके विशेष सामान्य भावनाओं तथा रात्रिभोजनत्यागरूप परिकरोंका निरूपण किया। अब गुप्ति और समितिका व्याख्यान करना चाहते हैं। क्योंकि इस अध्यायकी आदिमें सम्यक्चारित्ररूपी छायावृक्षका व्रतोंको प्रकाण्ड, गुप्तियोंको अग्रशाखा और समितियोंको उपशाखा लिखा जा चुका है। अत एव प्रकाण्डव्रतवर्णनके बाद गुप्ति और समितिका वर्णन क्रमप्राप्त है। तीन गुप्ति और पांच समिति इनको आगममें प्रवचनमाता कहा है। ऐसा क्यों कहा है इस बातकी उपपत्ति बताते हुए व्रतोद्यत मुमुक्षुओंको उनकी आराध्यताका उपदेश देते हैं:—

अहिंसां पञ्चात्मं व्रतमथ यताङ्गं जनयितुं,

सुवृत्तं पातुं वा विमलयितुमम्बाः श्रुतविदः ।
विदुस्तिस्रो गुप्तीरपि च समितीः पंच तदिमाः,
श्रयन्त्विद्धायाष्टौ प्रवचनसवित्रीर्व्रतपराः ॥ १५३ ॥

सावद्यकर्मसे विरत रहनेवाले अथवा योगानुष्ठान करनेकेलिये प्रवृत्ति करनेवाले साधुओंका शरीर ही जिसका शरीर है ऐसे अहिंसारूप अथवा अहिंसाप्रभृति पांच प्रकारके व्रतरूपी समीचीन चारित्रको उत्पन्न करनेकेलिये तथा सदा निर्मल बनाये रखनेकेलिये आगमके जाननेवाले आचार्य तीन गुप्तियों और पांच समितियोंको माता समझते है। अत एव उक्त व्रतोंमें निष्ठा रखनेवाले अथवा पूर्णतया पालन करनेकेलिये तत्परता रखनेवाले मुमुक्षुओंको अपना आभिमत प्रयोजन सिद्ध करनेकेलिये गुप्तिसमितिरूप आठो प्रवचनमाताओंका जो कि रत्नत्रयरूप प्रवचनकी जननी है अवश्य ही आश्रय लेना चाहिये, आराधन करना चाहिये ।

भावार्थ—संतानके प्रति माताके मुख्यतया तीन काम हुआ करते है, १ प्रसव, २ पालन, और ३ शोधन। संतानशरीरके उत्पन्न करनेका नाम प्रसव है तथा आपत्तिकर या हानिकर विषयोंसे उसके बचाव रखने एवं पोषक पदार्थोंके द्वारा पुष्टिलाभ करानेको पालन, और अन्तरङ्ग दोषोंको दूर कर शिक्षाभ्यासादिके द्वारा गुण उत्पन्न करनेको शोधन कहते है। जिस प्रकार माता अपनी संतानके प्रति इन तीनों कर्तव्योंका पालन करती है, उसी प्रकार गुप्ति और समिति भी उक्त व्रतोंके प्रति ये तीनो ही काम पूरे किया करती हैं। अत एव आगममें इनको माता कहा हैं। योगियोंका शरीर ही व्रतोंका शरीर है, उसको ये उत्पन्न करती है और पालन तथा नैर्मल्यके द्वारा उनको पुष्ट तथा समृद्ध बनाती हैं। अत एव उक्त व्रतोंके पालन करनेवालेको उचित है कि वह इष्टसिद्धिकेलिये इन आठ माताओंका—३ गुप्ति और ५ समितिका आराधन करे। क्योंकि ये रत्नत्रयकी जननी है ।

गुप्तिका सामान्य लक्षण बताते हैः—

गोप्तुं रत्नत्रयात्मानं स्वात्मानं प्रतिपक्षतः ।

पापयोगान्निगृह्णीयाल्लोकपंक्त्यादिनिस्पृहः ॥ १५४ ॥

मिथ्यादर्शन प्रभृति जो तीन प्रकारके कर्मबन्धके कारण बताये हैं वे आत्माके प्रतिपक्षी हैं। उनसे रत्नत्रयस्वरूप अपनी आत्माको सुरक्षित रखनेकेलिये लोकपूजा लाभ ख्याति आदि विषयोंमें स्पृहा न रखकर व्रतोद्यत साधुको पापयोग-- व्यवहार नयसे पापकर्मके कारण और निश्चय नयसे शुभाशुभ कर्मोंके आस्रवका कारण होनेसे निन्द्य मनवचनकायके व्यापारका निग्रह करना चाहिये।

भावार्थ--मनवचनकायके द्वारा होनेवाले आत्मप्रदेशपरिस्पन्दरूप योगके समीचीन निग्रहको योगनिग्रह कहते हैं। जैसा कि आगममें भी कहा है किः --

वाक्कायचित्तजानेकसावद्यप्रतिषेधकम् --
त्रियोगरोधकं वा स्याद्यत् तद् गुप्तित्रयं मतम् ॥

मन वचन और कायके द्वारा होनेवाले अनेक सावद्य कर्मोंके रोकनेको ही गुप्ति कहते हैं। अत एव गुप्ति तीन प्रकारकी बताई है --मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति। मोक्षशास्त्रमें भी कहा है कि " सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः "। यहांपर समीचीनताका अर्थ यही है कि लोकपूजादिकमें स्पृहा न रखकर और रत्नत्रय अथवा तत्स्वरूप आत्माकी प्रतिपक्षियोंसे रक्षा करनेकेलिये। क्योंकि इस प्रकारसे किया गया ही योगनिग्रह मुमुक्षुओंके लिये इष्टका साधक और अत एव समीचीन हो सकता है, अन्यथा नहीं। व्यवहार नयसे जो पापकर्मके संचयका कारण है उसको किन्तु निश्चय नयसे योगमात्रको आचार्योंने निन्द्य कहा है।

उपर्युक्त गुप्तियोंका पालन करनेकेलिये दृष्टान्त देकर साधुओंको सावधान करते हैं --

प्राकारपरिखावप्रैः पुरवद्रत्नभासुरम् ।

पायादपायादात्मानं मनोवाक्कायगुप्तिभिः ॥ १५५ ॥

जिस प्रकार राजा रत्नों—तत्तज्जातिके उत्कृष्ट पदार्थोंसे भासुर - शोभायमान अपने नगरकी, उसके अभ्युदयको नष्ट करदेनेवाले अपायोंसे प्राकार परिखा और वप्रके द्वारा रक्षा किया करता है उसी प्रकार व्रतियोंको सम्यग्दर्शन प्रभृति रत्नोंसे भासुर—देदीप्यमान अपनी आत्माकी रत्नत्रयके विघातक अपायोंसे मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्तिके द्वारा रक्षा करनी चाहिये।

भावार्थ - परिखा शब्दका अर्थ खाई है, जो कि नगरके चारो तरफ कृत्रिम नदीके रूपमें बनाई जाती है। इसके भीतर किन्तु नगरके चारो तरफ जो परकोटा बनाया जाता है उसको प्राकार कहते हैं। इसी प्रकार खाईके बाहिर किन्तु नगरके चारो तरफ जो धूलिका परकोटा बनाया जाता है उसको वप्र कहते हैं। जिस प्रकार इन तीनो उपायोंसे राजधानीके अभ्युदयकी रक्षा होती है उसी प्रकार तीनो गुप्तियोंसे आत्माके रत्नत्रयकी रक्षा हुआ करती है। अत एव राजाओंके समान व्रतियोंको भी क्रमसे प्राकार परिखा और वप्रके तुल्य मनोगुप्ति और कायगुप्तिके धारण करनेमें अवश्य ही प्रयत्न करना चाहिये।

मनोगुप्ति आदिका विशेष लक्षण बताते हैं:—

रागादित्यागरूपामुत समयसमभ्यासमद्ध्यानभूतां,
चेतोगुप्तिं दुरुक्तित्यजनतनुमवाग्लक्षणां वोक्तिगुप्तिम्।
कायोत्सर्गस्वभावा विशररतचुरापोहदेहामनीहा—
कायां वा कायगुप्तिं समदृगनुपतन्पाप्मना लिप्यते न ॥ १५६ ॥

जीवन और मरण प्रभृति सभी हेय और उपादेय पदार्थोंके विषयमें समान बुद्धि रखनेवाला अथवा

उनका यथावत् श्रद्धान करनेवाला वह साधु ज्ञानावरणादिक पापकर्मोंसे कभी भी लिप्त नहीं होता जो कि तीनो गुप्तियोंका निरन्तर पालन किया करता है। इन गुप्तियोंका स्वरूप इस प्रकार है:—

रागद्वेष कषायोंके और मोहके अभावको, यद्वा विनयपूर्वक समयका अच्छी तरह अभ्यास करनेको, अथवा समीचीन ध्यानको मनोगुप्ति कहते हैं। समय तीन प्रकारका बताया है--शब्दसमय, अर्थसमय, और ज्ञानसमय जिसका कि अर्थ क्रमसे वाचक वाच्य और प्रत्यय होता है। इस विषयमें एक जगह कहा है कि:—

विहाय सर्वसंकल्पान् रागद्वेषावलम्बितान्।
स्वाधीनं कुर्वतश्चेतः समत्वे सुप्रतिष्ठितम्॥

सिद्धान्तसूत्रविन्यासे शश्वत् प्रेरयतोथवा।
भवत्यविकला नाम मनोगुप्तिर्मनीषिणः॥

रागद्वेषके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले समस्त संकल्प विकल्पोंको छोडकर ममताभावमें स्थिर होजाने वाले अपने मनको जो व्यक्ति अपने अधीन--वशमें करलेता है, अथवा सिद्धान्तकी सूत्ररचनाके विषयमें निरन्तर ही जो अपने मनको लगाता रहता है उसी विचारशील पुरुषके परिपूर्ण मनोगुप्ति पल सकती है।

कठोर वचनादिकके छोडदेनेको अथवा मौन धारण करनेको वचनगुप्ति कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

साधुसंवृतवाग्वृत्तेर्मौनारूढस्य वा मुनेः।
संज्ञादिपरिहारेण वाग्गुप्तिः स्यान्महामतेः॥

जो महामति मुनि संज्ञा--इशारे आदिको छोडकर अपनी वचनप्रवृत्तिको अच्छी तरह संवरण करलेता है अथवा मौन धारण करलेता है उसीके वचनगुप्ति हो सकती या कही जा सकती है।

शरीरमें ममत्वबुद्धिके परित्यागरूप कायोत्सर्गको, अथवा हिंसा मैथुन और चोरी इन पापोंसे दूर रहने को, यद्वा समस्त शारीरिक चेष्टाओंकी निवृत्तिको कायगुप्ति कहते है। जैसा कि कहा भी है कि:—

स्थिरीकृतशरीरस्य पर्यंक संश्रितस्य वा।
परीषहप्रपातेपि कायगुप्तिर्मता मुने ॥

अत्यंत परीषहोंके आ उपस्थित होनेपर भी जो अपने शरीरको स्थिर बनाये रखता है अथवा पर्यंङ्कासनमें निश्चल रहता है-जो कायोत्सर्ग अथवा पर्यङ्कासनसे विचालित नहीं होता उस साधुके कायगुप्ति कही जाती है। और भी कहा है कि:—

कायक्रियानिवृत्तिः कायोत्सर्गः शरीरके गुप्तिः।
हिंसादिनिवृत्तिर्वा शरीरगुप्तिः समुद्दिष्टा ॥

शारीरिक क्रियाओंके परित्याग अथवा कायोत्सर्गको कायगुप्ति कहते है। यद्वा हिंसादिक पापोंकी निवृत्तिको भी कायगुप्ति कहते है।

वस्तुत त्रिगुप्तियुक्तका स्वरूप बताकर उसीके उत्कृष्टतया संवर और निर्जरा हो सकती है ऐसा उपदेश देते है:—

लुप्तयोगस्त्रिगुप्तोऽर्थात्तस्यैवापूर्वमण्वपि।
कर्मास्रवति नोपात्तं निष्फलं गलति स्वयम् ॥ १५७ ॥

जिसका मानसिक वाचिक और कायिक तीनो ही प्रकारका व्यापार लुप्त हो चुका है-जो तीनो ही प्रकारके योगोंसे सर्वथा रहित हो चुका है वही आत्मा वस्तुतः गुप्तित्रयरूप परिणत समझना चाहिये। ऐसे

त्रिगुप्त आत्माके एक परमाणुमात्र भी नवीन कर्मयोग–पुद्गलद्रव्यका आस्रव नहीं होता। और बिना, किसी प्रकारका प्रयत्न किये ही पूर्वसञ्चित कर्म अपना फल न देकर ही आत्मासे सम्बन्ध छोडजाते है।

भावार्थ—उपर्युक्त तीनों प्रकारकी योगपरिणति जिसकी सर्वथा नष्ट हो चुकी है उसीको वस्तुतः त्रिगुप्तिका धारक समझना चाहिये और उसीके परमसंवर तथा परमानिर्जरा हो सकती है या हुआ करती है।

सिद्ध हुए योग–ध्यानके आश्चर्यजनक माहात्म्यको प्रकट करते हैः -

अहो योगस्य माहात्म्यं यस्मिन् सिद्धेऽस्ततत्पथः।
पापान्मुक्तः पुमाल्लब्धस्वात्मा नित्य प्रमोदते ॥ १५८ ॥

जिस योग—ध्यानके सिद्ध होजानेपर जीव पापकर्मोके आनेके मार्गका सर्वथा निरोध कर पूर्वसञ्चित पापकर्मोसे भी सर्वथा रहित हो निज शुद्ध स्वरूपको प्राप्त कर अनन्त कालतक निरन्तर आत्मिक परमानन्दपदका अनुभव करता है, अहो उसके आश्चर्यकारी माहात्म्यका कौन वर्णन कर सकता है।

भावार्थ—परमसंवर सम्पूर्ण निर्जरा और परममुक्ति इन तीन लोकोत्तर तत्त्वोंकी प्राप्ति ध्यानके निमित्तसे ही हो सकती है। अत एव उसका माहात्म्य भी लोकोत्तर ही समझना चाहिये। यहांपर पापशब्दसे सभी कर्मोंका ग्रहण किया है। क्योंकि निश्चय नयसे देखा जाय तो सभी कर्म आत्माके प्रतिपक्षी है और संसाररूप अथवा उसके कारण हैं। तथा संसारका अभाव हो जानेपर जो जीवको निज शुद्धात्मस्वरूपकी प्राप्ति होती है उसको मोक्ष कहते है। इसके कारण परमसवर और निर्जरा है जिनकी कि सिद्धि उक्त ध्यानके द्वारा ही हो सकती है। यह ध्यान अप्रमत्त संयत गुणस्थानके प्रथम समयसे लेकर अयोगकेवलि गुणस्थानके प्रथम समय को प्राप्त कर क्रमसे व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यानरूप हो जाता है। यहींपर इसकी निष्पन्नता होती है और लोकोत्तर माहात्म्य प्रकट होता है।

मनोगुप्तिके अतीचारोंको बताते हैं:—

रागाद्यनुवृत्तिर्वा शब्दार्थज्ञानवैपरीत्यं वा ।
दुष्प्राणिधानं वा स्यान्मलो यथास्वं मनोगुप्तेः ॥ १५९ ॥

पहले गुप्तियोंका विशेष लक्षण बताते हुए मनोगुप्तिका स्वरूप तीन प्रकारसे बताया जा चुका है। १-रागादिकके त्यागरूप, २ समयके अभ्यासरूप, और ३ या समीचीन ध्यानरूप । इन्हीं ३ प्रकारोंको ध्यानमें रखकर यहापर मनोगुप्तिके क्रमसे तीन प्रकारके अतीचार बताते है।

उस आत्मपरिणतिको जिसका कि रागद्वेषरूप कषाय तथा मोहरूप परिणाम अनुगमन करते है मनोगुप्तिका पहले लक्षणकी अपेक्षासे अतीचार समझना चाहिये। किंतु यह अतीचार उसी अवस्थामें कहा जा-सकता है जब कि मनोगुप्तिकी अपेक्षा रखते हुए इससे उसके एकदेशका ही भङ्ग हो। क्योंकि अंशभङ्गका ही नाम अतीचार है। अतएव यह बात आगेके अतीचारोंके विषयमें भी ध्यानमें रखनी चाहिये।

दूसरे लक्षणकी अपेक्षासे शब्दार्थज्ञानके वैपरीत्यको अतीचार बताया है। यह कई प्रकारसे होता है किन्तु सामान्यसे इसके तीन भेद है। शब्दवैपरीत्य, अर्थवैपरीत्य और ज्ञानवैपरीत्य। व्याकरणशास्त्रके विरोधको अथवा विवक्षित पदार्थके अन्यथारूपसे प्रकाशित करनेको शब्दवैपरीत्य कहते है। सामान्यविशेषात्मक आभिधेय वस्तुका नाम अर्थ है। अत एव सामान्यमात्र अथवा विशेषमात्र यद्वा दोनोंके स्वतन्त्र माननेको अर्थवैपरीत्य कहते है। जीवादिक द्रव्योंका जैसा स्वरूप बताया गया है वैसा न मानकर अन्यथा मानना इसको भी अर्थवैपरीत्य कहते है। शब्द अर्थ अथवा दोनोंके ही विपरीत प्रतिभागका नाम ज्ञानवैपरीत्य है।

तीसरे लक्षणकी अपेक्षासे आर्तरौद्रध्यानको अथवा समीचीन विषयमें उसके न लगानेको अतीचार कहा

आदानानिक्षेपण समितिका स्वरूप बताते हैं—

सुदृष्टमृष्टं स्थिरमाददीत स्थाने त्यजेत्तादृशि पुस्तकादि ।
कालेन भूयः कियतापि पश्येदादाननिक्षेपसमित्यपेक्षः ॥ १६८ ॥

जो साधु आदाननिक्षेपण समितिकी अपेक्षा रखता है और उसको सुरक्षित रखना चाहता है उसे उचित है कि वह पुस्तकादिक किसी द्रव्यको जब ग्रहण करना चाहे तब उसको अपने साक्षात् चक्षुओंसे अच्छी तरह देखले और पीछे पिच्छिका आदिसे झाडले । फिर भी स्थिर-अनन्याचित्त होकर ग्रहण करे । इसी प्रकार जब कोई चीज जहां रखनी हो तब उस स्थानको भी उसी प्रकार देखले और झाडकर साफ करले । तथा रखनेके बाद भी फिरसे उसको कुछ समयमें जब कि सम्मूर्छन जीव उत्पन्न हो सकते हैं, देखलेना चाहिये । जैसा कि कहा भी है कि:—

आदाणे णिक्खेवे पडिलेहिय चक्खुणा समासिज्जो ।
दव्वं च दव्वठाणं संयमसिद्धीइ सो भिक्खू ।
सहसाणाभोइददुप्पमज्जियापच्चुवेक्खणा दोसा ।
परिहरमाणस्स भवे समिदी आदाणणिक्खेवा ॥

जो साधु किसी भी वस्तुके ग्रहण करने अथवा रखनेमें सहसा अनाभोग दुःप्रमार्जित और अप्रत्यवेक्षण इन दोषोंको छोडकर तथा उस ग्राह्य अथवा निक्षेप्य वस्तुको और उसके स्थानको अच्छी तरह चक्षुसे देखकर और पिच्छी आदिसे साफ करके ग्रहण करता अथवा रखता है उसके आदाननिक्षेपण समिति समझनी चाहिये ।

उत्सर्गसमितिका स्वरूप बताते हैं:—

साधन सम्यग्दर्शनादिक अथवा उसके कारण अपूर्व चैत्यालय समीचीन उपाध्याय तथा धर्माचार्यादिककी सिद्धि—प्राप्तिके लिये अपने स्थानसे उस साधनके स्थानपर जानेकी इच्छा होनेपर ऐसे मार्गसे जो कि लोकोंके द्वारा अच्छी तरह विध्वस्त है—जिसमें कि मनुष्य हाथी घोडा गाढी आदि निरन्तर अच्छी तरह चलते हैं और जिसमें सूर्यकी किरणें अथवा प्रकाश पडरहा हो, करुणाबुद्धिसे—दयार्द्रपरिणामोंसे और बडे प्रयत्न-सावधानताके साथ इस तरह मन्द मन्द पैर रखते हुए कि जिससे किसी भी जीवकी विराधना न हो-प्रत्येक जीवकी हर तरहसे रक्षा करते हुए और इसी लिये रात्रिमें नहीं किन्तु दिनमें तथा कुक्कुटसंपात्य भूमि जूडाप्रमाण धरतीको शोधते हुए गमन करता है उसके ईर्या नामकी समिति होती है या समझनी चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

मग्गुज्जोउवओगालंबणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो।
सुत्ताणुवीचिभणिया इरियासमिदी पवयणम्हि॥

जो उद्योत उपयोग और आलम्बनशुद्धिके द्वारा मार्गमे गमन करता है उसी मुनिके सूत्रोक्त निर्दोष ईर्यासमिति हो सकती है ऐसा प्रवचनमें कहा है।

क्रमप्राप्त भाषा समितिका लक्षण दो श्लोकोंमें बताते है—

कर्कशा परुषा कट्वी निष्ठुरा परकोपिनी।
छेदङ्करा मध्यकृशातिमानिन्यनयङ्करा॥ १६५॥
भूतहिंसाकरी चेति दुर्भाषां दशधा त्यजन्।
हितं मितमसंदिग्धं स्याद्भाषासमितो वदन्॥ १६६॥

ष्कृत होनेपर वे उस देवताके आराधन करनेका पुनः अवसर प्राप्त करनेमें तत्पर हो और उसके लिये की सखीसदृश समितिका आश्रय लें।

विशेष भेदोंका नामोल्लेख करते हुए समितिका निरुक्तिसिद्ध सामान्य लक्षण बताते हैं—

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गलक्षणाः ।
वृत्तयः पञ्च सूत्रोक्तयुक्त्या समितयो मताः ॥ १६३ ॥

सूत्र—श्रुत अथवा आगममें बताये हुए क्रमके अनुसार—समीचीनतया की गई प्रवृत्तिको समिति कहते है। क्योंकि निरुक्तिके अनुसार समिति शब्दका अर्थ ऐसा ही होता है कि सम्—सचीचीनतया की गई इति—प्रवृत्ति। इस समीचीन प्रवृत्तिके पांच भेद है—ईर्या भाषा एषणा आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग। ईर्या शब्दका अर्थ गमन, भाषा शब्दका अर्थ वचन, एषणा शब्दका अर्थ भोजन, आदाननिक्षेपण शब्दका अर्थ क्रमसे ग्रहण करना और रखना तथा उत्सर्ग शब्दका अर्थ छोडना—मलमूत्रादिका परित्याग होता है।

पांचो ही समितियोंका विशेष लक्षण बतानेकी इच्छासे क्रमानुसार पहिले ईर्यासमितिका लक्षण बताते हैः—

स्यादीर्यासमितिः श्रुतार्थविदुषो देशान्तरं प्रेप्सतः,
श्रेयःसाधनसिद्धये नियमिनः कामं जनैर्वाहिते ।
मार्गे कौक्कटिस्य भास्करकरस्पृष्टे दिवा गच्छतः,
कारुण्येन शनैः पदानि ददतः पातुं प्रयत्याङ्गिनः ॥ १६४ ॥

प्रायश्चित्तादि ग्रन्थरूप श्रुतके अर्थका भले प्रकार ज्ञान रखनेवाला जो व्रती या यति आत्मकल्याणके

मनोगुप्तिके अतीचारोंको बताते हैं:—

रागाद्यनुवृत्तिर्वा शब्दार्थज्ञानवैपरीत्यं वा ।
दुष्प्रणिधानं वा स्यान्मलो यथास्वं मनोगुप्तेः ॥ १५९ ॥

पहले गुप्तियोंका विशेष लक्षण बताते हुए मनोगुप्तिका स्वरूप तीन प्रकारसे बताया जा चुका है । १-रागादिकके त्यागरूप, २ समयके अभ्यासरूप, और ३ रा समीचीन ध्यानरूप । इन्हीं ३ प्रकारोंको ध्यानमें रखकर यहांपर मनोगुप्तिके क्रमसे तीन प्रकारके अतीचार बताते हैं ।

उस आत्मपरिणतिको जिसका कि रागद्वेषरूप कषाय तथा मोहरूप परिणाम अनुगमन करते हैं मनोगुप्तिका पहले लक्षणकी अपेक्षासे अतीचार समझना चाहिये । किंतु यह अतीचार उसी अवस्थामें कहा जा सकता है जब कि मनोगुप्तिकी अपेक्षा रखते हुए इससे उसके एकदेशका ही भङ्ग हो । क्योंकि अंशभङ्गका ही नाम अतीचार है । अतएव यह बात आगेके अतीचारोंके विषयमें भी ध्यानमें रखनी चाहिये ।

दूसरे लक्षणकी अपेक्षासे शब्दार्थज्ञानके वैपरीत्यको अतीचार बताया है । यह कई प्रकारसे होता है किन्तु सामान्यसे इसके तीन भेद है । शब्दवैपरीत्य, अर्थवैपरीत्य और ज्ञानवैपरीत्य । व्याकरणशास्त्रके विरोधको अथवा विवक्षित पदार्थके अन्यथारूपसे प्रकाशित करनेको शब्दवैपरीत्य कहते है । सामान्यविशेषात्मक आभिधेय वस्तुका नाम अर्थ है । अत एव सामान्यमात्र अथवा विशेषमात्र यद्वा दोनोंके स्वतन्त्र माननेको अर्थवैपरीत्य कहते है । जीवादिक द्रव्योंका जैसा स्वरूप बताया गया है वैसा न मानकर अन्यथा मानना इसको भी अर्थवैपरीत्य कहते है । शब्द अर्थ अथवा दोनोंके ही विपरीत प्रतिभासका नाम ज्ञानवैपरीत्य है ।

तीसरे लक्षणकी अपेक्षासे आर्तरौद्रध्यानको अथवा समीचीन विषयमें उसके न लगानेको अतीचार कहा

साधन सम्यग्दर्शनादिक अथवा उसके कारण अपूर्व चैत्यालय समीचीन उपाध्याय तथा धर्माचार्यादिककी सिद्धि—प्राप्तिके लिये अपने स्थानसे उस साधनके स्थानपर जानेकी इच्छा होनेपर ऐसे मार्गसे जो कि लोकोंके द्वारा अच्छी तरह विध्वस्त है—जिसमें कि मनुष्य हाथी घोडा गाढी आदि निरन्तर अच्छी तरह चलते है और जिसमें सूर्यकी किरणें अथवा प्रकाश पडरहा हो, करुणाबुद्धिसे—दयार्द्रपरिणामोंसे और बडे प्रयत्न-सावधानताके साथ इस तरह मन्द मन्द पैर रखते हुए कि जिससे किसी भी जीवकी विराधना न हो-प्रत्येक जीवकी हर तरहसे रक्षा करते हुए और इसी लिये रात्रिमें नहीं किन्तु दिनमें तथा कुकुटसपात्य भूमि जूडाप्रमाण धरतीको शोधते हुए गमन करता है उसके ईर्या नामकी समिति होती है या समझनी चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

मग्गुज्जोवओगालंबणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो ।
सुत्ताणुवीचिभणिया इरियासमिदी पवयणम्हि ॥

जो उद्योत उपयोग और आलम्बनशुद्धिके द्वारा मार्गमे गमन करता है उसी मुनिके सूत्रोक्त निर्दोष ईर्यासमिति हो सकती है ऐसा प्रवचनमे कहा है।

क्रमप्राप्त भाषा समितिका लक्षण दो श्लोकोंमें बताते है —

कर्कशा परुषा कटुी निष्ठुरा परकोपिनी ।
छेदङ्करा मध्यकृशातिमानिन्यनयङ्करा ॥ १६५ ॥
भूतहिंसाकरी चेति दुर्भाषां दशधा त्यजन् ।
हितं मितमसंदिग्धं स्याद्भाषासमितो वदन् ॥ १६६ ॥

जो साधु कर्कशादि दुर्भाषाओंको छोडकर हित मित और असंदिग्ध वचन बोलता है उसके भाषा नामकी समिति समझनी चाहिये। जो वचन अपना और दूसरेका उपकार करनेवाले हैं उनको हित, और जो विवक्षित अर्थकेलिये उपयोगी हों उनको मित, तथा जिनसे दूसरोंको संशयादिक उत्पन्न न हों उनको असंदिग्ध कहते हैं। दुर्भाषा दश प्रकारकी बताई है। यथाः—

१— तू मूर्ख है, बिलकुल बैल है, कुछ नहीं समझता, इस तरहके संताप उत्पन्न करनेवाले वचनोंको कर्कशा भाषा कहते हैं। २ तू अनेक दोषोंकी खानि महादुष्ट है, ऐसे मर्मभेदी वचनोंको परुषा भाषा कहते हैं। ३—तू धर्मशून्य है, जातिहीन—कुजाति है, ऐसे उद्वेग उत्पन्न करनेवाले वचनोंको कटुभाषा कहते हैं। ४- तुझे मार डालूंगा, तेरा शिर उडादूंगा, ऐसे कठोर शब्दोंको निष्ठुरा भाषा कहते हैं ५- तू तो हंसीका स्थान बिलकुल निर्लज्ज है, तेरा तप किस कामका, ऐसे दूसरेको क्रोध उत्पन्न करनेवाले वचनोंको परकोपिनी भाषा कहते हैं। ६—पराक्रमशाली और गुणवान मनुष्योंका भी निर्मूल विनाश करदेनेवाले, अथवा असद्भूत दोषोंको भी प्रकट करनेवाले वचनोंको छेदंकरी भाषा कहते हैं। ७— ऐसे निष्ठुर वचनोंको जो कि हड्डियोंके भीतर भी कृप काडालें, मध्यकृपा भाषा कहते हैं। ८—अपने महत्वको और दूसरोंकी निंदाको प्रख्यात करनेवाले शब्दोंको अतिमानिनी भाषा कहते हैं। ९—शीलसंतोषादिकके खण्डन करनेवाले अथवा परस्परमें मिले हुए या प्रेमबद्ध व्यक्तियोंमें विद्वेष उत्पन्न करनेवाले वचनोंको अनयंकरा भाषा कहते हैं। १०—जिनके निमित्तसे जीवोंके प्राणोंका भी वियोग होजाय ऐसे वचनोंको भूतहिंसाकरी भाषा कहते हैं।

एषणासमितिका लक्षण बताते हैं:—

विघ्नाङ्गारादिशङ्काप्रमुखपरिकरैरुद्गमोत्पाददोषैः,
प्रस्मार्यं वीरचर्यार्जितममलमधःकर्ममुग् भावशुद्धम्।
स्वान्यानुग्राहि देहस्थितिपटु विधिवद्दत्तमन्यैश्च भक्त्या,

अधः नामके महादोषका आगे चलकर वर्णन करेंगे। पञ्चसूना और प्राणिहिंसा अथवा सूनाओंके द्वारा होनेवाली हिंसाको अधःकर्म कहते हैं। इसका परित्याग करनेवाले और अत एव इन्द्रिय तथा मनके नियमनकी अनुष्ठानरूप तपोलक्ष्मीको निरतर पुष्ट करनेवाले साधुके उस समय एषणा नामकी समीचीन प्रवृत्ति समझनी चाहिये जब कि वह मात्राके अनुरूप और योग्य कालमें ऐसे अन्न— चतुर्विध आहारको ग्रहण करे जो कि दाताके घरसे वामभागके तीन घर और दक्षिण भागके तीन घर तथा एक उस दाताका घर जहां प्रतिग्रह किया गया हो इस तरह सात घरोंमें रहनेवाले ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य अथवा सच्छूद्रके द्वारा भक्तिपूर्वक-निष्कपट अनुरागसे एवं विधिपूर्वक-प्रतिग्रहादि नवधा भक्तिके द्वारा दिया गया हो, जो अपने और परके उपकार करनेमें समर्थ, शरीरको आयुःप्रमाणके अनुसार स्थिर रखनेमें क्षम हो, जो भोक्ताके परिणामोंके द्वारा दूषित न किया गया हो अथवा जिसके विषयमें भोक्ताके परिणाम विशुद्ध हो, जो पूय रुधिरादिक मलोंसे तथा अधःकर्म महादोषसे रहित हो, जो वीरचर्या अदीन या अयाचकवृत्तिके द्वारा ग्रहण किया गया हो, तथा अन्तराय और अङ्गारादिक एवं शङ्का-प्रभृति उद्गमदोष तथा उत्पादना दोषोंसे सर्वथा अलिप्त हो। भोजन बनानेवाले अथवा दाताके प्रयोगसे भोजन बनानेमें दोष होते हैं उनको उद्गम दोष कहते हैं। इसके औद्देशिकादिक सोलह भेद हैं। इसी प्रकार भोक्ताके द्वारा भोजन बनवानेमें या उसके सम्बन्धमें जो दोष होते हैं उनको उत्पादना दोष कहते हैं। इसके धात्रीदूत आदि भेद हैं। एवं भोजनक्रियामें जो विघ्न उपस्थित होते हैं उनको अन्तराय कहते हैं। इसी प्रकार भोजन-सम्बन्धी अङ्गारादिक तथा भोज्यवस्तुसम्बन्धी शङ्कादिक दोष भी हैं जिनका कि विशेष वर्णन आगेके अध्यायमें करेंगे।

भावार्थ—जो साधु भोजनके सम्बन्धमें बताई हुई आठ प्रकारकी शुद्धियोंके अनुसार छ्यालीस दोष चौदह मल और बत्तीस अन्तराय तथा अधःकर्म महादोषसे रहित और उपर्युक्त विशेषणोंसे युक्त भोजनको विधिपूर्वक ग्रहण करता है उसीके एषणा नामक समिति समझनी चाहिये।

आदाननिक्षेपण समितिका स्वरूप बताते हैं—

सुदृष्टमृष्टं स्थिरमाददीत स्थाने त्यजेत्तादृशि पुस्तकादि ।
कालेन भूयः कियतापि पश्येदादाननिक्षेपसमित्यपेक्षः ॥ १६८ ॥

जो साधु आदाननिक्षेपण समितिकी अपेक्षा रखता है और उसको सुरक्षित रखना चाहता है उसे उचित है कि वह पुस्तकादिक किसी द्रव्यको जब ग्रहण करना चाहे तब उसको अपने साक्षात् चक्षुओंसे अच्छी तरह देखले और पीछे पिच्छिका आदिसे झाडले । फिर भी स्थिर-अनन्याचित्त होकर ग्रहण करे । इसी प्रकार जब कोई चीज जहां रखनी हो तब उस स्थानको भी उसी प्रकार देखले और झाडकर साफ करले । तथा रखनेके बाद भी फिरसे उसको कुछ समयमें जब कि सम्मूर्छन जीव उत्पन्न हो सकते हैं, देखलेना चाहिये । जैसा कि कहा भी है कि:—

आदाणे णिक्खेवे पडिलेहिय चक्खुणा समासिज्जो ।
दव्वं च दव्वठाणं संयमसिद्धीइ सो भिक्खू ।
सहसाणाभोइददुप्पमज्जियापच्चुवेक्खणा दोसा ।
परिहरमाणस्स भवे समिदी आदाणणिक्खेवा ॥

जो साधु किसी भी वस्तुके ग्रहण करने अथवा रखनेमें सहसा अनाभोग दुःप्रमार्जित और अप्रत्यवेक्षण इन दोषोंको छोडकर तथा उस ग्राह्य अथवा निक्षेप्य वस्तुको और उसके स्थानको अच्छी तरह चक्षुसे देखकर और पिच्छी आदिसे साफ करके ग्रहण करता अथवा रखता है उसके आदाननिक्षेपण समिति समझनी चाहिये ।

उत्सर्गसमितिका स्वरूप बताते हैं:—

ष्कृत होनेपर वे उस देवताके आराधन करनेका पुनः अवसर प्राप्त करनेमें तत्पर हों और उसके लिये उस देवता की सखीसदृश समितिका आश्रय लें।

विशेष भेदोंका नामोल्लेख करते हुए समितिका निरुक्तिसिद्ध सामान्य लक्षण बताते हैं—

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गलक्षणाः ।
वृत्तयः पञ्च सूत्रोक्तयुक्त्या समितयो मताः ॥ १६३ ॥

सूत्र - श्रुत अथवा आगममें बताये हुए क्रमके अनुसार—समीचीनतया की गई प्रवृत्तिको समिति कहते है। क्योंकि निरुक्तिके अनुसार समिति शब्दका अर्थ ऐसा ही होता है कि सम्—सचीचीनतया की गई इति—प्रवृत्ति। इस समीचीन प्रवृत्तिके पांच भेद है—ईर्या भाषा एषणा आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग। ईर्या शब्दका अर्थ गमन, भाषा शब्दका अर्थ वचन, एषणा शब्दका अर्थ भोजन, आदाननिक्षेपण शब्दका अर्थ क्रमसे ग्रहण करना और रखना तथा उत्सर्ग शब्दका अर्थ छोडना—मलमूत्रादिका परित्याग होता है।

पांचो ही समितियोंका विशेष लक्षण बतानेकी इच्छासे क्रमानुसार पहिले ईर्यासमितिका लक्षण बताते हैं:—

स्यादीर्यासमितिः श्रुतार्थविदुषो देशान्तरं प्रेप्सतः,
श्रेयःसाधनसिद्धये नियमिनः कामं जनैर्वाहिते ।
मार्गे कौक्कुटिस्य भास्करकरस्पृष्टे दिवा गच्छतः,
कारुण्येन शनैः पदानि ददतः पातुं प्रयत्नाङ्गिनः ॥ १६४ ॥

प्रायश्चित्तादि ग्रन्थरूप श्रुतके अर्थका भले प्रकार ज्ञान रखनेवाला जो व्रती या यति आत्मकल्याणके

आदानानिक्षेपण समितिका स्वरूप बताते हैं—

सुदृष्टमृष्टं स्थिरमाददीत स्थाने त्यजेत्तादृशि पुस्तकादि ।
कालेन भूयः कियतापि पश्येदादाननिक्षेपसमित्यपेक्षः ॥ १६८ ॥

जो साधु आदाननिक्षेपण समितिकी अपेक्षा रखता है और उसको सुरक्षित रखना चाहता है उसे उचित है कि वह पुस्तकादिक किसी द्रव्यको जब ग्रहण करना चाहे तब उसको अपने साक्षात् चक्षुओंसे अच्छी तरह देखले और पीछे पिच्छिका आदिसे झाडले । फिर भी स्थिर-अनन्यचित्त होकर ग्रहण करे । इसी प्रकार जब कोई चीज जहां रखनी हो तब उस स्थानको भी उसी प्रकार देखले और झाडकर साफ करले । तथा रखनेके बाद भी फिरसे उसको कुछ समयमें जब कि सम्मूर्छन जीव उत्पन्न हो सकते है, देखलेना चाहिये । जैसा कि कहा भी है कि:—

आदाणे णिक्खेवे पडिलेहिय चक्खुणा समासिज्जो ।
दव्व च दव्वठाण सयमसिद्धीइ सो भिक्खू ।
सहसाणाभोइददुप्पमज्जियापच्चुवेक्खणा दोसा ।
परिहरमाणस्स भवे समिदी आदाणणिक्खेवा ॥

जो साधु किसी भी वस्तुके ग्रहण करने अथवा रखनेमें सहसा अनाभोग दुःप्रमार्जित और अप्रत्यवेक्षण इन दोषोंको छोडकर तथा उस ग्राह्य अथवा निक्षेप्य वस्तुको और उसके स्थानको अच्छी तरह चक्षुसे देखकर और पिच्छी आदिसे साफ करके ग्रहण करता अथवा रखता है उसके आदाननिक्षेपण समिति समझनी चाहिये ।

उत्सर्गसमितिका स्वरूप बताते हैं:—

है। इस प्रकार मनोगुप्तिके लक्षणभेदकी अपेक्षासे तीन प्रकारके अतीर बताये है। किन्तु इतना अवश्य समझलेना चाहिये कि ऐसी कोई भी क्रिया अथवा परिणाम मनोगुप्तिके अतीचारोंमें ही परिगणित होंगे जो कि अपेक्षाविशेषके अनुसार मनोगुप्तिके आंशिक भंगका कारण हों। क्योंकि अंशभंगका ही नाम अतीचार है। यह बात आगेके अतचिारोंके विषयमें भी ध्यानमें रखनी चाहिये।

क्रमप्राप्त वचनगुप्तिके अतीचारोंको दिखाते है।

कार्कश्यादिगरोद्गारो गिरः सविकथादरः।
हुंकारादिक्रिया वा स्याद्वाग्गुप्तेस्तद्वदत्ययः ॥ १६० ॥

भाषासमितिके विषयमें कर्कशा परुषा कटु आदि दश प्रकारके वचनदोष आगे चलकर गिनावेंगे। ऐसे वचनोको विषके समान समझना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार विषके निमित्तसे उसके भक्षण करनेवालेको मोह अथवा संतापादिक हुआ करते है उसी प्रकार कर्कश आदि वचनोंके निमित्तसे उसके सुननेवालेको भी संतापादिक हुआ करते है। अत एव ऐसे वचनोंका श्रोताओंके प्रति उच्चारण करना वचनगुप्तिका अतीचार है। इसी प्रकार विकथाओंमें आदर-उनको प्रकाशित करनेकेलिये उद्यम करना भी वचनगुप्तिका अतीचार है। मोक्षमार्गके विरुद्ध कथोपकथनको विकथा कहते है। इसके स्त्री राजा चोर और भोजन इन विषयोंकी अपेक्षासे चार भेद हैं। मुखसे हुंकारादिकके द्वारा अथवा खकार करके यद्वा हाथ और भृकुटिचालन क्रियाओंके द्वारा इङ्गित करना भी वचनगुप्तिका अतीचार है।

पहिले वचनगुप्तिका स्वरूप दो प्रकारसे बताया है। एक तो दुर्वचनके त्यागरूप दूसरा मौनरूप। उपर्युक्त आदिके दो अतीचार प्रथम लक्षणकी अपेक्षासे है और तीसरा अतीचार मौनरूप लक्षणकी अपेक्षासे है।

कायगुप्तिके अतीचारोंको बताते है. -

कायोत्सर्गमलाः शरीरममतावृत्तिः शिवादिन्यथा,
भक्तं तत्प्रतिभोन्मुखं स्थितिरथाकीर्णेंघ्रिणैकेन सा ।
जन्तुस्त्रीप्रतिमापरस्वबहुले देशे प्रमादेन वा,
सापध्यानमुताङ्गवृत्त्युपरतिः स्युः कायगुप्तेर्मलाः ॥ १६१ ॥

आगे चलकर आठवें अध्यायमें आवश्यकोंका वर्णन करते हुए कायोत्सर्गसम्बन्धी जिन बत्तीस दोषोंका वर्णन करेंगे उनको कायगुप्तिका अतीचार समझना चाहिये । इसी प्रकार यह शरीर मेरा है इस प्रकारकी प्रवृत्ति करनेको, अथवा महादेव विष्णु ब्रह्मा बुद्ध आदिकी मूर्तिके सामने इस तरहसे खडे होनेको मानों उनका आराधन करनेकेलिये खडे हुए हैं —आराधककी तरहसे शिवादिकी मूर्तिके सामने हाथ छोडकर या किसी अन्य प्रकारसे खडे होनेका, यद्वा जनसमूहसे व्याप्त स्थानमें एक पैरसे खडे होनेको भी कायगुप्तिका अतीचार कहते हैं । किन्तु ये चारो ही अतीचार कायगुप्तिका जो कायोत्सर्गरूप लक्षण बताया है उसकी अपेक्षासे हैं । ये अतीचार समस्त अथवा व्यस्त दोनों ही प्रकारके हो सकते हैं । कायगुप्तिका दूसरा स्वरूप हिंसादिकके त्यागरूप बताया है । उसकी अपेक्षासे ऐसे स्थानमें जिसमें कि अनेक जन्तु-प्राणिगण स्त्रियोंकी प्रतिमाएं अथवा परकीय धनादिक प्रचुरतासे पाया जाता हो प्रमाद-अयत्नाचारपूर्वक रहनेको कायगुप्तिका अतीचार समझना चाहिये । कायगुप्तिका तीसरा लक्षण समस्त चेष्टाओंका परित्याग बताया है । इस लक्षणकी अपेक्षासे शरीर अथवा हस्तादिकके द्वारा परीषह अथवा उपसर्गादिकके दूर करनेकी चिन्तारूप अपध्यानके साथ साथ शरीरव्यापारके छोडनेको कायगुप्तिका अतीचार समझना चाहिये ।

जो मुनि गुप्तियोंके पालन करनेमें असमर्थ है और शरीरसे व्यापार करना चाहता है उसको समिति-

योंका पालन करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं: —

गुप्तेः शिवपथदेव्या बहिष्कृतो व्यवहातिप्रतीहार्या ।
भूयस्तद्भक्त्यवसरपर, श्रयेत्तत्सखीः शमी समितीः॥ १६२ ॥

जिस प्रकार अभीष्ट नायिकाको अपने ऊपर अनुरक्त-प्रसन्न करनेकी इच्छा रखनेवाला कोई नायक अवसर न मिलनेपर उसको अनुकूल करनेकेलिये अपनी उस प्रेयसीकी सखीका आश्रय लेता है, उसी प्रकार गुप्तियोंका आराधन करनेकी इच्छा रखनेवाले यतिको उनकी अप्राप्तिमें गुप्तियोंकी सखीके समान समितियोंका ही आश्रय लेना श्रेयस्कर है।

यहांपर समितियोंको गुप्तियोंकी सखी जो बताया है उसका अभिप्राय यह है कि समितियां गुप्तियोंके स्वभावका अनुसरण किया करती हैं किन्तु गुप्तियां समितियोंके स्वभावका अनुसरण कभी नहीं करतीं।

गुप्तियोंको मोक्षमार्गकी अधिदेवता और शरीरादिककी चेष्टाको उनकी प्रतीहारिणी जो कहा है उसका भी अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार प्रतीहारिणी अपनी स्वामिनीका आराधन न करनेवाले अथवा विराधन करनेवालेको दूर करदिया करती है उसी प्रकार गुप्तियोंका आराधन करनेमें असमर्थ अथवा विराधन करनेवाले यतिको व्यवहारचेष्टा मोक्षमार्गसे दूर करदिया करती है-यथेष्ट संवर निर्जरा नहीं होने देती। क्योंकि कहा भी है कि कर्मोंके आगमनके द्वारका निरोध करनेवाले यतिके-गुप्ति और शरीरचेष्टाविशिष्ट साधुके समितियां हुआ करती है। यथा-

कर्मद्वारोपरमणरतस्य तिस्रस्तु गुप्तय सन्ति।
चेष्टाविष्टस्य मुनेर्निर्दिष्टा समितय पञ्च ॥

अत एव मुमुक्षु यतिओंको उचित है कि मोक्षमार्गकी अधिदेवता गुप्तिकी प्रतीहारिणी चेष्टाके द्वारा बहि-

ष्कृत होनेपर वे उस देवताके आराधन करनेका पुनः अवसर प्राप्त करनेमें तत्पर हों और उसके लिये उस देवता की सखीसदृश समितिका आश्रय लें।

विशेष भेदोंका नामोल्लेख करते हुए समितिका निरुक्तिसिद्ध सामान्य लक्षण बताते हैं—

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गलक्षणाः ।
वृत्तयः पञ्च सूत्रोक्तयुक्त्या समितयो मताः ॥ १६३ ॥

सूत्र—श्रुत अथवा आगममें बताये हुए क्रमके अनुसार—समीचीनतया की गई प्रवृत्तिको समिति कहते है। क्योंकि निरुक्तिके अनुसार समिति शब्दका अर्थ ऐसा ही होता है कि सम्—समीचीनतया की गई इति—प्रवृत्ति। इस समीचीन प्रवृत्तिके पांच भेद है—ईर्या भाषा एषणा आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग। ईर्या शब्दका अर्थ गमन, भाषा शब्दका अर्थ वचन, एषणा शब्दका अर्थ भोजन, आदाननिक्षेपण शब्दका अर्थ क्रमसे ग्रहण करना और रखना तथा उत्सर्ग शब्दका अर्थ छोडना—मलमूत्रादिका परित्याग होता है।

पांचो ही समितियोंका विशेष लक्षण बतानेकी इच्छासे क्रमानुसार पहिले ईर्यासमितिका लक्षण बताते हैं:—

स्यादीर्यासमितिः श्रुतार्थविदुषो देशान्तरं प्रेप्सतः,
श्रेयःसाधनसिद्धये नियमिनः कामं जनैर्वाहिते ।
मार्गे कौक्कुटिस्य भास्करकरस्पृष्टे दिवा गच्छतः,
कारुण्येन शनैः पदानि ददतः पातुं प्रयत्नाङ्गिनः ॥ १६४ ॥

प्रायश्चित्तादि ग्रन्थरूप श्रुतके अर्थका भले प्रकार ज्ञान रखनेवाला जो व्रती या यति आत्मकल्याणके

निर्जन्तौ कुशले विविक्तविपुले लोकोपरोधोज्झिते,
प्लुष्टे कृष्ट उतोषरे क्षितितले विष्टादिकानुत्सृजन् ।
धुःप्रज्ञाश्रमणेन नक्तमभितो दृष्टे विभज्य त्रिधा,
सुस्पृष्टेप्यपहस्तकेन समितावुत्सर्ग उत्तिष्ठते ॥ १६९ ॥

द्वीन्द्रियादिक जीवोंसे तथा हरित तृणादिकसे रहित एवं प्रशस्त— सर्पकी वामी आदि भयके कारणोंसे रहित तथा विविक्त-एकान्त जनशून्य अथवा अशुचि आदि कूडे कचडेसे रहित, और जहांपर किसी प्रकारका संकट उपस्थित न हो, एवं जहांपर जाने आने या बैठने आदिमें किसीको किसी प्रकारकी रुकावट न हो, ऐसे दवाग्नि अथवा श्मशानाग्निके द्वारा दग्ध हुए स्थानमें, यद्वा हलके द्वारा बार बार जोते गए खेतमें, अथवा स्थण्डिल—खारी मट्टीवाली चटीली जमीनमें जो साधु दिनके समय अपने मल मूत्र नाक थूक केश सप्तम धातु पित्त वमन आदि मलोंको छोडता है उसके उत्सर्ग नामकी समिति कही जाती है। यदि कदाचित् रात्रिके समय मलादिककी बाधा हो तो उसकी निवृत्तिकेलिये साधुओंको उचित है कि वे प्रज्ञाश्रमणके द्वारा क्रमसे तीन भागोंमें विभक्त करके दिनके समय अच्छी तरह देखे गये स्थानमें ही मलादिकका उत्सर्ग करें। यदि फिर भी मलोत्सर्गके समय किसी जीवादिककी शंका हो तो उस शंकाको दूर करनेकेलिये अपने वाम हाथसे उस स्थानको मलोत्सर्गके पहिले ही स्पर्श करके देखलें।

भावार्थ—साधुओंको प्रासुक, निर्भय, एकान्त पवित्र, संकटरहित, और ऐसी अनुपरुद्ध भूमिमें जो कि दग्ध अथवा जोती हुई यद्वा ऊषर हो, अपने उपर्युक्त मलोंका परित्याग करना चाहिये। और रात्रिके समय प्रज्ञाश्रमणके द्वारा निर्दिष्ट स्थानमें मलोत्सर्ग करना चाहिये।

जो साधु विनय करनेमें तत्पर और वैयावृत्यादिकमें कुशल तथा वैराग्यभावनाओंमें रत और समस्त संघका प्रतिपालन करनेवाला एवं जितेन्द्रिय होता है उसको प्रज्ञाश्रमण कहते हैं। इसको उचित है कि जबतक सूर्यका अस्त न होजाय—उदय बना रहे तबतक साधुओंको दिनमें ही, रात्रिके समय मलमूत्रादिका उत्सर्ग करने केलिये क्रमसे तीन स्थानतक देखकर एक उचित स्थान निश्चित करले। यदि पहिला स्थान अशुद्ध हो तो दूसरा, और दूसरा भी अशुद्र हो तो तीसरा स्थान निश्चित करे। इस निश्चित स्थानपर ही साधुओंको रात्रिके समय मलोत्सर्ग करना चाहिये। फिर भी कदाचित् किसी प्रकारकी शंका हो जाय तो वाम हाथसे उस स्थानका स्पर्श कर अपना संदेह दूर करलेना चाहिये तब मलोत्सर्ग करना चाहिये। ऐसा करनेपर ही उत्सर्गसमिति साधुओंके मानी जा सकती है। जैसा कि कहा भी है कि—

वणदाहकिसिमसिकदे थडीले अणुपरोधविच्छिण्णे।
अवगदजतुविवित्ते उच्चारादी विसज्जिज्जो ॥
उच्चार पासवण खेल सिंघाणयादिज दव्व।
अचित्तभूमिदेसे पडिलेहित्ता विसज्जिज्जो ॥

वनवान्हिके द्वारा दग्ध, अथवा कृष्ट—जो कि हलके द्वारा पुनः पुन विदीर्ण करदी गई हो, यद्वा श्मशानाग्निके द्वारा जली हुई, अथवा ऊषर भूमिमें जहांपर कि किसीकी रोकटोक नहीं है और जीवजन्तुओंकी बाधा भी नहीं है एव जो अचित्त—प्रासुक है, साधुओंको प्रतिलेखन करके–उस स्थानको अच्छी तरह देख शोध कर मल मूत्र थूक श्लेष्मा आदिका विसर्जन करना चाहिये। तथाः--

रात्रौ च तत्त्यजेत्स्थाने प्रज्ञाश्रमणवीक्षिते।
कुर्वन् शङ्कानिरासायापहस्तस्पर्शन मुनि।
द्वितीयाद्य भवेत्तच्चेदशुद्ध साधुरिच्छति।
लघुत्वस्यावशे दोषो न दद्याद् गुरुक यते॥

मुनियोंको रात्रिके समय प्रज्ञाश्रमणके द्वारा निरीक्षित स्थानमें मलोत्सर्ग करना चाहिये और अपनी शंका दूर करनेकेलिये उस स्थानको वाम हाथसे स्पर्श करके देखलेना चाहिये। यदि पहिला स्थान अशुद्ध हो तो दूसरा और दूसरा भी अशुद्ध हो तो तीसरा स्थान देखना चाहिये। कदाचित् वीमारी या किसी विशेष कारणवश शीघ्र ही मलका उत्सर्ग होजाय तो आचार्यको उचित है कि साधुको विशेष दण्ड न दे।

जो मुनि अतिचाररहित समितियोंके पालन करनेमें तत्पर रहता है उसको हिंसादिक दोषोंका अभावरूप फल प्राप्त होता है। इस बातको प्रकट करते हैं:--

समितीः स्वरूपतो यतिराकारविशेषतोप्यनतिगच्छन् ।
जीवाकुलेपि लोके चरन्न युज्येत हिंसाद्यैः ॥ १७० ॥

स्वरूप अथवा लक्षणकी अपेक्षासे यद्वा पूर्वोक्त उनके विशेषणोंकी अपेक्षासे भी जो साधु समितियोंमें रंचमात्र भी अतिचार नहीं लगनेदेता और सदा उनके पूर्णतया पालन करनेमें सावधान रहता है वह स्थावर और त्रसजीवोंसे व्याप्त संसारमें यथेच्छ विहार करते हुए भी हिंसादि दोषोंसे लिप्त नहीं होता।

समितियोंके माहात्म्यका वर्णन करते हुए उनका सदा सेवन करनेकेलिये उपदेश देते हैं:—

पापेनान्यवधेपि पद्ममणुशोप्युद्वेव नो लिप्यते,
यद्युक्तो यदनादृतः परवधाभावेप्यलं वध्यते ।
यद्योगादधिरुह्य संयमपदं भान्ति व्रतानि द्रुया,—

जो साधु समितियोंका भले प्रकार पालन कर वह दैववश अपनेसे दूसरे प्राणियोंका वध होजानेपर भी, जिस प्रकार कमल या उसका पत्ता पानीमें लिप्त नहीं होता उसी प्रकार, पापकर्मसे रंचमात्र भी उपाश्लिष्ट नहीं होता। किंतु इसके विरुद्ध जो इन समितियोंमें आदरबुद्धि नहीं रखता और इनका पालन नहीं करता वह परप्राणियोंका व्यपरोपण न करके भी तज्जनित हिंसादोषसे अथवा पापकर्मसे लिप्त होजाता है। एवं इन समितियोंके ही माहात्म्यसे महाव्रत और अणुव्रत भी संयमस्थानको पाकर प्रकाशमान होते तथा पूर्वोक्त तीनों प्रकारकी गुप्तियां भी जागृत होती हैं। अत एव जिनका निरतिचार पालन अहिंसादिका, और न पालन हिंसादि दोषोंका कारण है और जिनके निमित्तसे व्रत संयमरूप होजाते तथा गुप्तियां उद्भूत होती हैं उन समितियोंका सत्पुरुषोंको नित्य ही—जब गुप्तियोंका पालन न कर सके उस समय, अवश्य ही सेवन करना चाहिये। क्योंकि कहा भी है कि:—

अजदाचारो समणो छस्सुवि काएसु वधगोत्तिमदो।
चरदि जद जदि णिच कमलं व जले णिरुवलेवो।

जो श्रमण आचरण करनेमें असावधानता रखता है उसके षट्कायसम्बन्धी पापका बन्ध होता है किंतु जो यत्नपूर्वक आचरण—संयमका पालन करता है वह पापकर्मसे इस तरह अलिप्त रहता है जैसे कि कमल जलसे।

ऊपर समितियोंका एक फल यह भी बताया है कि इनके निमित्तसे व्रत संयमस्थानको प्राप्त होजाते हैं। यहांपर प्रश्न होसकता है कि व्रत और संयममें क्या अन्तर है? इसका उत्तर वर्गणाखण्डके बन्धनाधिकारमें इस प्रकार दिया है कि—

“सयमविरईण को भेदो? ससमिदि महव्वयाणुव्वयाइ
संयमो, समिदीहिं विणा महव्वयाणुव्वयाइ विरदी॥” इति।

समितियोंके साथ साथ महाव्रत और अणुव्रतोंके पालन करनेका नाम संयम और विना समितियोंके इनके पालन करनेका नाम व्रत है।

इस प्रकार समितियोंका वर्णन समाप्त हुआ। अब शीलका वर्णन क्रमप्राप्त है। क्योंकि इस अध्यायकी आदिमें समितियोंके व्रत अथवा चारित्ररूपी वृक्षका रक्षक शीलको ही बताया है। अत एव यहांपर शीलका लक्षण और उसके विशेष भेदोंको बताते हुए उसकी उपादेयताका निरूपण करते हैं:—

शीलं व्रतपरिरक्षणमुपैतु शुभयोगवृत्तिमितरहतिम्।
संज्ञाक्षविरतिरोधौ क्ष्मादियममलात्ययं क्षमादींश्च ॥ १७२ ॥

जिसके द्वारा व्रतोंकी रक्षा की जाय अथवा उनका पालन किया जाय उसको शील कहते हैं। इसके पालन करनेमें शुभयोगरूप प्रवृत्ति और अशुभयोगकी निवृत्ति करनी चाहिये, संज्ञाओंका परिहार और इन्द्रियोंका निरोध करना चाहिये, पृथिवी आदि दश प्रकारके जीवोंके प्राणव्यपरोपणका त्याग और उनके अतीचारोंका परिहार करना चाहिये, तथा उत्तमक्षमादि दशधर्मको धारण करना चाहिये।

पुण्यास्रवकी कारणभूत मनवचनकायकी प्रवृत्तिको अथवा जिनसे समस्त कर्मोंका क्षय किया जा सकता है उन गुप्तियोंको शुभयोग कहते हैं। अतएव इसके तीन भेद हैं। इसी प्रकार अशुभयोगनिवृत्तिके भी तीन भेद हैं। आहार भय मैथुन और परिग्रहकी अभिलाषारूप संज्ञाओंकी निवृत्ति चार प्रकारकी है। तथा स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र इनका निरोध पांच प्रकारका है। संयमके विषयकी अपेक्षा दश भेद हैं। यथा—पृथिवी जल तेज वायु प्रत्येक साधारण द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। एवं धर्मके भी दश भेद हैं—उत्तमक्षमा मार्दव आर्जव शौच सत्य संयम तप त्याग आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य। इन भेदोंका परस्परमें गुणा करनेसे शीलके अठारह हजार भेद होते हैं। यथा—तीन प्रकारकी शुभयोगप्रवृत्तिके तीन भेदोंके साथ

गुणा करनेपर नौ भेद और फिर इनका चार प्रकारकी संज्ञानिवृत्तिसे गुणा करनेपर ३६ भेद; एवं इनका भी पांच इंद्रियनिरोधसे गुणा करनेपर एकसौ अस्सी भेद तथा उनका भी निरतीचार दश प्रकारके संयमसे गुणा करनेपर एक हजार आठसौ और इनका भी फिर दश धर्मसे गुणा करनेपर अठारह हजार भेद होते है। जैसा कि कहा भी है कि:—

योगे करणसंज्ञाक्षे धरादौ धर्म एव च।
अष्टादश सहस्राणि स्यु शीलानि मिथोवधे॥

तीन योग, तीन करण, चार संज्ञाए, पांच इन्द्रिय, दश संयम और दश धर्म इनका परस्परमें गुणा करने पर शीलके अठारह हजार भेद होते है। जो मुनिश्रेष्ठ मनोयोग और आहारसंज्ञासे रहित तथा मनोगुप्तिका पालन करनेवाला स्पर्शनेन्द्रियसे संवृत, पृथिवीकायके संयमका पालक और उत्तम क्षमाका धारक होता है उस विशुद्ध मुनिके अठारह हजार शीलके भेदोंमेंसे पहिला भेद समझना चाहिये। तथा जो मुनिश्रेष्ठ इन्हीं विशेषणोंसे युक्त है किन्तु मनोगुप्तिकी जगह वाग्गुप्तिका पालन करनेवाला है उसके दूसरा भेद समझना चाहिये। और जो वाग्गुप्तिकी जगह कायगुप्तिका पालन करता है उसके तीसरा भेद समझना चाहिये। जो वचनयोग रहित मनोगुप्तिका पालन करता किंतु शेष उपर्युक्त विशेषणोंसे युक्त है उसके चौथा भेद, और जो वचनयोगरहित वचनगुप्तिका पालन करते हुए शेष उक्त विशेषणोंसे युक्त है उसके पांचवॉ भेद तथा जो वचनयोगरहित कायगुप्तिका पालन करते हुए शेष विशेषणोंसे युक्त है उसके छट्ठा भेद समझना चाहिये। इसी प्रकार गुप्ति योग संज्ञा और इन्द्रियादिकोंका अक्षसंचार करके क्रमसे सम्पूर्ण भेद समझलेने चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

मनोगुप्ते मुनिश्रेष्ठे मन करणवर्जिते।
आहारसंज्ञया मुक्ते स्पर्शनेन्द्रियसवृते।
सधरासयमे क्षान्तिसनाथे शीलमादिमम्।
तिष्ठत्यविचल शुद्ध तथा शेषेष्वपि क्रम॥

भेदोंका बताते हुए उनके पालन करनेका उपदेश देते हैं।—

गुणाः संयमवीकल्पाः शुद्धयः कायसंयमाः ।
सेव्या हिंसाकम्पितातिक्रमाद्यब्रह्मवर्जनाः ॥ १७३ ॥

संयमके ही उत्तर भेदोंका नाम गुण है। कायसंयम, शुद्धि, हिंसादिवर्जन, आकम्पितादिवर्जन, अतिक्रमादिवर्जन, और अब्रह्मवर्जन, इन सबके भेदोका परस्परमें गुणा करनेसे चौरासी लाख भेद होते है। इन्हीका नाम ८४ लाख उत्तर गुण है।

पूर्वोक्त संयमके विषयकी अपेक्षासे बताये हुए पृथिवीकाय पृथिवीकायिक आदि दश भेदोंका परस्परमें गुणा करनेपर कायसंयमके सौ भेद होते है। हिंसादित्यागके भी विषयकी अपेक्षा इक्कीस भेद हैं। इनका अतिक्रमादित्यागके चार भेदोंसे गुणा करनेपर ८४ भेद होते है और इनका भी उक्त सौ भेदोंसे गुणा करनेपर ८४०० आठ हजार चार सौ भेद होते है। पुनः इनका अब्रह्मत्यागके दश भेदोंसे गुणा करनेपर ८४००० चौरासी हजार और इनका भी आकम्पितादित्यागके दश भेदोंसे गुणा करनेपर आठ लाख चालीस हजार भेद, तथा इनका भी आलोचनादिक प्रायश्चित्तके दश भेदोंसे गुणा करनेपर चौरासी लाख भेद होते है। गुणोंके इन सभी भेदोंका मुमुक्षुओंको पालन और इनके विरुद्ध दोषोंका परित्याग करना चाहिये।

हिंसादित्यागके इक्कीस भेद जिन विषयोंकी अपेक्षासे बताते है उनके नाम इस प्रकार हैः —

हिंसानृत तथा स्तेय मैथुन च परिग्रह' ।
क्रोधादयो जुगुप्सा च भयमप्यरती रति ॥

मनोवाकायदुष्टत्व मिथ्यात्वं सप्रमादकम् ।
पिशुनत्व तथा ज्ञानमक्षाणा चाप्यनिग्रह. ॥

हिंसा झूट चोरी कुशील परिग्रह क्रोध मान माया लोभ जुगुप्सा भय अरति रति मनोमंगुल वचनमंगुल कायमंगुल मिथ्यात्व प्रमाद पिशुनता अज्ञान और इन्द्रियोंका अनिग्रह ।

विपयव्यासङ्गसे अथवा संक्लेश परिणामोंसे आगममें बताये हुए कालकी अपेक्षा अधिक कालतक आवश्यकादिकके करते रहनेको अतिक्रम, और विपयव्यासङ्गादिकी अपेक्षासे ही नियत कालसे कम समयमें उस क्रियाके करनेको व्यतिक्रम, तथा क्रियाओंके करनेमें आलस्य करनेको अतिचार, और व्रतोंके पालन करने अथवा खण्डित करदेनेको अनाचार कहते हैं ।

अब्रह्म-शीलविराधनाके दश भेद इस प्रकार हैं: —

स्त्रीगोष्ठी वृष्यभुक्तिश्च गन्धमाल्यादिवासनम् ।
शयनासनमाकल्प षष्ठ गन्धर्ववादितम् ॥
अर्थसग्रहदु शीलसङ्गती राजसेवनम् ।
रात्रौ सचरण चेति दश शीलविराधना ॥

स्त्रियोंकी सगति, पुष्ट आहारका ग्रहण, सुगध द्रव्य अथवा पुष्पमाला आदिके द्वारा शरीरका संस्कार करना, कोमल शय्या, उत्तम मृदु आसन, कटक कुण्डल आदि भूपणोंका धारण, गीतादि गाना और वांसरी आदि बाजोंका बजाना, सुवर्णादि धनका सग्रह करना, विट प्रभृति कुशीली पुरुपोंका सहवास, राजाकी सेवा, और रात्रिमें इतस्ततः सचरण करना, इस तरह कुशीलके दश भेद होते हैं ।

आकम्पितादिक आलोचनासम्बन्धी दश दोपोंके नाम इस प्रकार हैं:—

आकम्पिय अणुमाणिय जं दिट्ठ बादरं च सुहुम च ।
छण्ण सद्दाउलिय बहुजणमव्वत्ततस्सेवी ॥

आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, प्रच्छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त, और तत्सेवी ।

प्रायश्चित्तसम्बन्धी आलोचनादिक दश भेद इस प्रकार हैं: —

आलोचन, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार, और श्रद्धान । इन दश भेदोंका ही नाम शुद्धि भी है ।

इस प्रकार हिंसादिक, अतिक्रमादिक, कायादिक, और अब्रह्मसम्बन्धी स्त्रीसंगमादिक, तथा आकम्पितादिक दोषोंके नाम और उनकी संख्या यहांपर बताई है । इन दोषोंके नामसे उल्टा गुणोंका नाम समझना चाहिये । और अत एव गुणोंकी संख्या भी उतनी ही समझनी चाहिये जितनी कि दोषोंकी है । इस तरह इन गुणोंकी संख्याका और दश प्रकारकी प्रायश्चित्तरूप शुद्धिका परस्परमें गुणा करनेपर गुणोंके चौरासी लाख उत्तर भेद होते हैं जैसा कि ऊपर भी बताया जाचुका है । आगममें भी कहा है कि:—

इगवीसचदुरसहिदा दस दस दसगा य आणुपुव्वीए ।
हिंसादिक्कमकाया विराहणालोचणासोही ॥

हिंसादित्यागके इकीस भेद, चार प्रकारके अतिक्रमादिक, और पृथिवीकायादिके सौ भेद, तथा शीलविराधनाके त्यागके दश भेद, एवं आलोचनके दश भेद आकम्पितादिक, और दशभेदरूप शुद्धि–प्राय-

श्चित्त । इन सबका परस्परमें गुणा करनेपर चौरासी लाख भेद होते हैं । इन गुणोंके उच्चारणका विधानक्रम आगममें इस प्रकारसे बताया है कि:—

मक्के प्राणातिपातेन तथातिक्रमवर्जिते ।
पृथिव्या पृथिवीजन्तो पुनरारम्भमयते ॥
निवृत्तवनितासङ्गे चाकम्प्यपरिवर्जिते ।
तथालोचनया शुद्धे गुण आद्यस्तथा परे ॥

अर्थात-गुणोंके भेदोंमेंसे पहिले हिंसादित्यागके इक्कीस भेदोंको उसके बाद अतिक्रमादित्यागके चार भेदोंको इसके बाद पृथिवीत्यागादि सौ भेदोंको उसके बाद स्त्रीसंगमादित्यागके दश भेदोंको, और उसके भी बाद आकम्पितादित्यागके दश भेदोंको और अंतमें आलोचनादिक प्रायश्चित्तके दश भेदोंको पंक्तिक्रमसे स्थापन करना चाहिये । इनमें क्रमसे अक्षसंचार करनेपर हिंसाके त्यागी अतिक्रमदोषसे रहित पृथिवीकायिक जीवके भी आरम्भसे संयम तथा स्त्रीसंसर्गसे निवृत्त और आकम्पित दोषसे भी मुक्त एवं आलोचनाशुद्धिके धारक साधुके चौरासी लाख उत्तर गुणोंमेंका प्रथम भेद होगा। इसी प्रकार जो हिंसात्यागकी जगह मृषावादसे मुक्त हो तो दूसरा भेद, अचौर्यव्रतसे युक्त निरोगार संचार करनेपर तीसरा भेद और कुशीलत्याग विशेषणपर संचार करनेसे चौथा भेद होता है । इसी तरह आगे भी अक्षसंचारके क्रमसे सम्पूर्ण भेदोंको निकाललेना चाहिये ।

इस प्रकार सम्यक् चारित्रका विस्तारपूर्वक वर्णन करके अब उसकी उद्योतना आराधनाका तीन पद्योंमें वर्णन करना चाहते हैं । किंतु उसमें सबसे पहले मुमुक्षुओंको अतिक्रमादिक उपर्युक्त चार दोषोंके त्याग करनेका उपदेश देते हैं :—

चित्क्षेत्रप्रभवं फलब्धिसुभगं चेतोगवः संयम,—
व्रीहिव्रातमिमं जिघत्सुरदमः सद्भिः समुत्सार्यताम् ।

नो चेच्छीलवृतिं विलंघ्य न परं क्षिप्रं यथेष्टं चरन्,
धुन्वन्नेनमयं विमोक्ष्यति फलैर्विष्वक् च तं भङ्क्ष्यति ॥ १७४ ॥

व्रतोंके धारण करने, मन वचन और कायकी प्रवृत्तिका त्याग करने तथा कषायोंका निग्रह इन्द्रियोंका विजय और समितियोंके पालन करनेको संयम कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि—

व्रतदण्डकषायाक्षसमितीनां यथाक्रमम्।
संयमो धारणं त्यागो निग्रहो विजयोऽवनम् ॥

इस संयमको शालि आदि धान्योंके समान समझना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार धान्य खेतमें उत्पन्न होता है और जिस प्रकार वह अपनी सस्यसम्पत्तिके द्वारा लोगोंका प्रीतिकर होता है उसी प्रकार यह भी बुद्ध्यतिशयादिक ऋद्धिरूपी फलोंके द्वारा आराधकोंको रुचि उत्पन्न किया करता है। अत एव साधुओंको जो कि चारित्रका आराधन करनेकेलिए उद्यत हैं इस धान्यसमूहके समान संयमका भक्षण करनेकेलिए उत्सुक हुए मनरूपी अदम्य बलीवर्द-सांडका दमन ही करदेना चाहिये। क्योंकि यदि इसका दमन न किया गया तो यह शीघ्र ही संयमरूपी धान्यसमूहकी रक्षाकी कारणभूत शीलरूपी बाडको लांघकर और यथेष्ट--अभिलषित विषयोंको चरता तथा नष्ट करता हुआ उस संयम-धान्यको केवल उससे प्राप्त होनेवाले मुख्य और आनुषङ्गिक सस्यादिक फलोंसे वियुक्त करदेगा। इतना ही नहीं किन्तु खूब सार कर उसका चारो तरफसे मर्दन भी कर डालेगा। और इस तरह संयमधान्यको वह बिलकुल ही नष्ट करदेगा।

---

१ बुद्धितओविय लद्धीविउव्वणलद्धी तहेव ओसहिया।
रसबलअक्खीणा वि य रिद्धीओ सत्त पण्णत्ता ॥
बुद्धि तप विक्रिया औषध रस बल अक्षीण इस तरह ऋद्धियोंके सात भेद हैं।

यहांपर संयमको ऋद्धिरूप फलके द्वारा प्रीतिकर बताकर उसके विषयमें अतिक्रमको सूचित किया है। इसी प्रकार ' लांघकर ' शब्दके द्वारा व्यतिक्रम, यथेष्टादि शब्दोंके द्वारा अतीचार तथा चारों तरफसे आदि वाक्यके द्वारा अनाचारको सूचित किया है। क्योंकि अतिक्रमादिकका स्वरूप आगममें इसी प्रकार कहा है किः—

क्षति मन शुद्धिविधेरतिक्रम, व्यतिक्रम शीलवृतेर्विलङ्घनम् ।
प्रभोतिचार विषयेषु वर्तन, वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ॥

संयमके विषयमें मानसिक शुद्धि न रहनेको अतिक्रम, शीलकी वाडके उल्लघन होनेको व्यतिक्रम, विषयोंमें प्रवृत्ति होनेको अतीचार, और उन विषयोंमे अत्यंत आसक्त होनेको अनाचार कहते है।

चारित्रविनयका स्वरूप बताते हुए उसका पालन करनेके लिये साधुओंको प्रेरित करते है।

सदसत्स्वार्थकोपादिप्रणिधानं त्यजन् यतिः ।
भजन्समितिगुप्तीश्च चारित्रविनयं चरेत् ॥ १७५ ॥

यहांपर चारित्र शब्दसे व्रतोंका ही ग्रहण किया है। अतएव चारित्रमें कहिये अथवा व्रतोंमें कहिये निर्मलता उत्पन्न करनेके लिये प्रयत्न करनेको ही चारित्रविनय कहते हैं। यतिओंको उचित है कि इष्ट और अनिष्ट दोनों ही प्रकारके इन्द्रियविषयोंमें रागद्वेष करनेका और क्रोध मान माया आदि कषायों तथा हास्यादिक नोकषायोंका परित्याग करें। प्रशस्त विषयोंमें राग और अप्रशस्त विषयोंमें द्वेष न करें। तथा आत्माको कषायरूप परिणत न होने दें। साथ ही पूर्वोक्त समितियों और गुप्तियोंका पालन करें। क्योंकि ऐसा करनेपर ही उनके चारित्रविनयकी सिद्धि हो सकती है।

इस भरतक्षेत्र और दुःषमकालमें भी जो मोक्षमार्गमें विहार कर रहे हैं और उनमें प्राधान्यको प्राप्त क-

रचुके हैं उनमें श्रामण्यका बोध करानेवाले संयमका निरूपण करते हुए भावतः उनकी स्तुति करते है—

सर्वावद्यनिवृत्तिरूपमुपगुर्वादाय सामायिक,
यश्छेदैर्विधिवद्व्रतादिभिरुपस्थाप्याऽन्यदन्वेत्यपि ।
वृत्तं बाह्य उतान्तरे कथमपि च्छेदेप्युपस्थापय,—
त्यैतिह्यानुगुणं धुरीणमिह नौम्यैदंयुगीनेषु तम् ॥ १७८ ॥

सम्पूर्ण सावद्ययोगके परित्याग करनेको 'सामायिक संयम कहते है। इसमें संक्षेपसे सभी महाव्रतोंका संग्रह होजाता है। जैसा कि कहा भी है कि

क्रियते यदभेदेन व्रतानामधिरोहणम् ।
कपायस्थूलतालीढः स सामायिकसंयमः ॥

यद्यपि सामायिक संयममें बादर संज्वलन कषायका सम्बन्ध रहता है फिर भी इसके धारण करनेवाले मुमुक्षुके अभेदरूपसे सभी व्रतोंका धारण हो जाता है। अतएव जो साधु दीक्षाचार्यके समीप विधिपूर्वक इस संयमको धारण करके इसके दूसरे विकल्पोंका अभ्यास न रहनेके कारण उनके विषयमें प्रमाद होनेपर अपनी आत्माका विधिपूर्वक उन विकल्पोंमें—सामायिक संयमके ही विशेष भेद पांच महाव्रतोंमें और उनके भी परिकर रूप शेष तेईस मूल गुणोंमे आरोपण—उपस्थापन करके छेदोपस्थापना चारित्रको धारण करता है और कभी कभी सामायिक संयमका भी पुनः धारण करलेता है। क्योंकि ऐसी नीति भी है कि जो आदमी केवल सुवर्णमात्रको चाहता है वह कडा कुण्डल अथवा अंगूठी आदि किसी भी वस्तुके मिलजानेको श्रेयस्कर ही समझता है। हां, सर्वथा सुवर्णका अभावउसको अभीष्ट नही रहता। इसी प्रकार सर्वसावद्यके त्यागरूप सामायिक संयमका अभिलाषी साधु उसके परिकररूप अट्ठाईस मूल गुणोंमें अपनेको उपस्थित कर दूसरे— छेदोपस्थापन संयम-

का पालन किया करता है। क्योंकि उसको सर्वथा संयमका अभाव इष्ट नहीं है। इसी तरह जो साधु किसी प्रकारसे बाह्य-द्रव्यहिंसारूप अथवा अन्तरङ्ग भावहिंसारूपमें व्रतोंका भंग होजानेपर आगमके अनुसार उनका पुनः उपस्थापन कर उसी छेदोपस्थापन नामके दूसरे संयमको धारण करता है, ऐसे वर्तमानकालीन साधुओंमें प्रधान संयमीको मैं नमस्कार करता हू।

भावार्थ—संयमके पांच भेद आगममें बताये है - सामायिक छेदोपस्थापन परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात। इनमेंसे आजकल यहांपर—इस दुःपमकाल और भरतक्षेत्रमें मुनियोंके आदिके दो ही संयम हो सकते हैं। अत एव जो मोक्षमार्गमें विहार करता हुआ इन दोनो ही संयमोंका पालन करता है उसको आजकल श्रमणोत्तम समझना चाहिये। मैं भी उसको नमस्कार करता हू।

[illegible] सामायिक संयमका स्वरूप ऊपर लिखा जा चुका है कि सम्पूर्ण सावद्य योगके त्यागको सामायिक कहते है। और इसमें सब मूलगुणोंका सङ्ग्रह हो जाता है। सामायिकके ही छेदों-विकल्पों-पांच महाव्रतों और उनके परिकररूप तेईस मूलगुणोंमें अनभ्यासादिके कारण प्रमाद होनेपर उनमें पुनः अपनेको उपस्थित करनेका नाम छेदोपस्थापन संयम है। सामायिकमें अशक्त हुआ श्रमण इस संयमको धारण करता है। इसकी विधि इस प्रकार है कि—

जो मुमुक्षु श्रमण होना चाहता है वह पहले यथाजातरूपके धारकपनेके साधक तथा परमगुरु श्री अर्हद्भट्टारक अथवा तत्कालीन दीक्षाचार्यके द्वारा दिये हुए - उपदिष्ट बहिरंग और अन्तरङ्ग लिङ्गको धारण करता है और सम्मानपूर्वक उसमें तन्मय होता है। यहां यह बात भी समझलेनेकी है कि यद्यपि लिंग कोई दीयमान वस्तु नहीं है—वह स्वतः सिद्ध है। फिर भी परमगुरु श्री अर्हद्भट्टारकके द्वारा अथवा तत्कालीनताकी दृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो दीक्षाचार्यके द्वारा उसके ग्रहण करनेके विधानका प्रतिपादन किया जाता है। अत एव व्यवहारकी अपेक्षा-उपदेशकी अपेक्षासे उसको दीयमान कहते है। इस दिये हुए लिंगको आदान क्रियाके द्वारा

धारण करनेके बाद उस श्रमणके भाव्यभावक[1] भावमे जो स्व और परका विभाग इस तरहसे प्रवृत्त होता है जिससे कि आत्मा संवलनको और पर पदार्थ प्रत्यस्तमनको प्राप्त होने लगता है, उसमे वह सर्वस्वका दान-उपदेश करनेवाले उन मूल उत्तर और परमगुरुओंको नमस्क्रियाके द्वारा सम्भावित बनाकर भावतः उनकी स्तुति और वन्दना करनेमें अत्यंत लीन हो जाता है। इसके बाद समस्त सावद्य योगका प्रत्याख्यान ही सर्वोत्कृष्ट महाव्रत है इस श्रवणरूप श्रुतज्ञानके द्वारा, जब कि वह अपनी आत्माका—समयद्वारा—आत्मस्वरूपमें लीन रहनेका अनुभव कर रहा हो, सामायिक संयमपर आरोहण करता है। इसके बाद जब कि वह प्रतिक्रमण आलोचनके प्रत्याख्यानरूप क्रियाओंके श्रवणरूप श्रुतज्ञानके द्वारा अपनी आत्मामें तीन कालसम्बधी कर्मोंसे पृथक् होनेका—"मेरा यह आत्मा त्रैकालिक कर्मोंसे रहित हो रहा है" ऐसा अनुभव कर रहा हो उस समयमेंवह भूतकालमें उत्पन्न हुए किंतु वर्तमानमें अनुपस्थित कायिक वाचिक और मानसिक कर्मोंसे रहित अवस्थाका आरोहण करता है। इसके बाद जब वह समस्त अवद्यकर्मोंके घर शरीरको भी छोडकर सर्वोत्कृष्ट यथाजातरूप-नाग्न्य स्वरूपका एकाग्रतासे अवलम्बन लेकर अवस्थित होने लगता है उस समय उसको उपस्थित कहते है। और उपस्थित होनेपर जब कि वह सम्पूर्ण विषयोंमें समदृष्टिको धारण करने लगता है उस समय उसको साक्षात् श्रमण कहते है। इस प्रकार सामायिकके छेदों विकल्पोंमें अथवा उनके द्वारा अपनी आत्माके स्वरूपको उपस्थित करनेवालेका नाम ही छेदोपस्थापक है। जैसा कि प्रवचनसारकी चूलिकामें भी कहा है कि —

जहजादरूवजाद उप्पाडिदकेसमसुग सुद्ध ।
रहिद हिंसादीदो अप्पडिकम्म ववदि लिङ्ग ॥
मुच्छारंभविजुत्त जुत्त उवजोगजोगसुद्धीहिं ।
लिंग ण परावेक्ख अपुणब्भवकारण जेण्ह ॥
आदाय त च लिंग गुरुणा परमेण त णमंसिता ।

---

१ भाव्य—पर स्वरूप और भावक-आत्मा ।

सोचासवद किरिय उवठ्ठिदो होदि सो समणो ॥
वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सगमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेयभत्तं च ॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥

केश और स्मश्रुओंका उत्पाटन करदेनेपर तथा यथाजातरूपके धारण करनेपर जो शुद्ध स्वरूप उत्पन्न होता है जो कि हिंसादिक तथा प्रतिक्रमणादिकसे भी रहित है, मूर्छा और आरम्भसे रहित किंतु उपयोग योग और शुद्धियोंसे युक्त है, जो दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखता और अपुनर्भव-मोक्षका कारण है उसको जैन लिङ्ग कहते हैं। परमगुरुके उपदेशानुसार उनको नमस्कार करके जो मुमुक्षु इस लिङ्गको धारण करके और व्रतों तथा क्रियाओंका स्वरूप सुनकर उनमें उपस्थित होता है उसको श्रमण कहते हैं। पांच व्रत और शेष उनकी परिकररूप तेईस क्रियाएं हैं जिनके कि नाम इस प्रकार हैं—पांच व्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियनिरोध, छह आवश्यक, और एक लोच, एक आचेलक्य एक अस्नान, एक पृथ्वीपर सोना, एक अदंतधावन, एक स्थित भोजन, तथा एक एकभुक्ति। इस प्रकार जिनेन्द्रदेवने श्रमणोंके अट्ठाईस मूलगुण बताये हैं। इनमें जो प्रमत्त रहता है वह श्रमण छेदोपस्थापन संयमका धारक समझा जाता है, अथवा होता है।

छेदोपस्थान इस शब्दमें छेद शब्दका अर्थ लोप भी होता है। अत एव सामायिकके किसी विकल्पका धारण कर लेनेपर भी कारणवश उसका छेद भंग-लोप होजानेपर पुनः उसके धारण करनेको-उसमें उपस्थित होनेको छेदोपस्थापन संयम कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि—

व्रतानां छेदनं कृत्वा यदात्मन्यधिरोपणम् ।
शोधनं वा विलोपे तच्छेदोपस्थापनं मतम् ॥

अंश—विभाग करके जो अपनी आत्मामें व्रतोंका आरोपण करना, अथवा धारण करलेनेके बाद लोप होनेपर उनका शोधन करना, इसको छेदोपस्थापन संयम कहते हैं।

इस पद्यमें अपि शब्द जो दिया है उससे यह अभिप्राय भी ग्रहण करलेना चाहिये कि उक्त श्रमण केवल छेदोपस्थापन संयमका ही अनुसरण नहीं करता किंतु, कभी कभी पुनः सामायिक संयमपर भी अधिरोहण किया करता है।

इस प्रकार चारित्रके उद्योतनका निरूपण करके अब उसके उद्यमनादिक—उद्यमन, निर्वहण, सिद्धि और निस्तरणका भी निरूपण करते हैः—

ज्ञेयज्ञातृतथाप्रतीत्यनुभवाकारैकदृग्बोधभाग्,
दृष्टृज्ञातृनिजात्मवृत्तिवपुषं निष्पीय चर्यासुधाम्।
पक्तुं बिभ्रदनाकुल तदनुबन्धायैव कंचिद्विधिं,
कृत्वाप्यामृति यः पिबत्यधिकशस्तामेव देवः स वै ॥ १७७

हेयोपादेयरूप जाननेयोग्य तत्त्वोंको ज्ञेय कहते है और जाननेवाले शुद्ध चित्स्वरूप आत्माको ज्ञाता कहते हैं। इन दोनोंका जैसा कि वस्तुत स्वरूप है, अथवा जैसा कि सर्वज्ञ वीतरागके उपदेशानुसार आगममें वर्णित है तदनुसार इन दोनोंके विषयमें अथवा ज्ञाता भी ज्ञेयरूपसे भिन्न नहीं है, वह भी ज्ञेयत्वसे उपलक्षित ही है अत एव ज्ञेयरूप ज्ञाताके विषयमें जो प्रतीति होती है उसको सम्यग्दर्शन कहते है। इसी प्रकार ज्ञेय और ज्ञाताके विषयमें अथवा ज्ञेयरूप ज्ञाताके विषयमें जो तथाभूत अनुभवाकारका होना उसको सम्यग्ज्ञान कहते है। ये दोनो ही आकार—तात्विक सम्यक्त्व और तात्त्विक ज्ञान आत्माके मुख्य स्वरूप हैं। अत एव तादात्म्यरूपसे इनको धारण करनेवाला जो मुमुक्षु द्रष्टा—जैसा कि ऊपर तात्त्विक सम्यक्त्वका स्वरूप कहा गया है तदनुसार ज्ञेय ज्ञाताकी तथाप्रतीतिरूप परिणत, और ज्ञाता—ज्ञेयज्ञाताके विषयमें

तथानुभूतिस्वरूप ज्ञानमय परिणत अपनो आत्मामें जो उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप अस्तित्व हैं वही जिसका स्वरूप है ऐसे चारित्ररूपी अमृतका निरंतर और अतिशयेन पान करके-उसमें अत्यंत उपयुक्त होकर, जिस प्रकार संसारमें लोग अमृतमय-स्वादु भोजन पान करनेके बाद उसको पकानेके लिये—भुक्त अन्नका अभीष्ट रस बने इसलिये निराकुलताको अथवा सवारी विनोद आदिके द्वारा प्रसन्नताको धारण किया करते हैं उसी प्रकार इस चारित्ररूपी अमृतको जो कि आत्माको अजरामर बनानेका कारण है पकानेके लिये-अभीष्ट फल देनेकी तरफ परिणत करनेके लिये निराकुलताको अथवा ख्याति लाभ पूजा आदिकी अपेक्षारूप क्षोभसे रहित होकर-निराकुलतया उसीको धारण करता है और उसके पानका अनुवर्तन करनेके लिये ही आगमोक्त तीर्थयात्रादि किसी भी व्यवहारको करके भी मरणपर्यंत भी उसको नहीं छोडता, प्रत्युत अधिकाधिक रूपमें उसका पान करता रहता है, नियमसे उसको देव समझना चाहिये।

भावार्थ—उद्यमनादिका सामान्य स्वरूप पहिले लिखचुके है किंतु प्रकृतमें जो ये चारो बातें बताई हैं उनका अभिप्राय इस प्रकार है कि:—

जीवसहाव णाण अप्पडिहददसण अणण्णमय।
चरिय च तेसु णियद अत्थित्तमणिंदिय भणिय

इसको ही मोक्षका कारण समझकर निरतर और अत्यंत उसमें उपयुक्त होनेको चारित्रका[1] उद्यमन समझना चाहिये। फल देनेतक आकुलतारहित होकर उसके धारण करनेको उसका निर्वहण, दूसरे तीर्थयात्रादि व्यवहारचारित्रके न करनेपर तो बात ही क्या, करके भी मरणपर्यन्त उनके न छोडनेको निस्तरण, तथा उत्तरो-

१—चारित्रको

पर अधिकाधिक रूपमें उसमें उपयुक्त होते आनेको उसकी सिद्धि कहते हैं। इन चारों आराधनाओंके धारण करनेवालेको देव कहते हैं। यथाः—

मान्य ज्ञान तपोहीन ज्ञानहीन तपोऽर्हितम्।
द्वय यस्य स देव: स्याद् द्विहीनो गणपूरण: ॥

तपरहित ज्ञान मान्य होता है, और ज्ञानरहित तप भी पूज्य माना गया है। अत एव जिसमें ये दोनों ही बातें पाई जांय उसको देव और जिसमें दोनों ही न हों उसको केवल संख्या पूरी करनेवाला ही समझना चाहिये। देवशब्दका निरुक्तिसिद्ध अर्थ भी यही होता है कि इन्द्रादिक भी जिसकी स्तुति और वंदना करें। अतएव शुद्धात्म द्रव्यको अथवा उसके मूल कारण इस चारित्रशुद्धिसे युक्त जीवको ही देव समझना चाहिये। फलतः मुमुक्षुओंको चाहिये कि वे इस चारित्रशुद्धि और उसका आराधन करनेमें फलसिद्धितक अवश्य ही निरंतर रत रहें। जैसा कि कहा भी है कि—

द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धो द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धि:।
बुद्ध्वेति कर्माविरता परेपि द्रव्याविरुद्ध चरण चरन्तु ॥

इस प्रकार चारित्रके विषयमें उद्योतनादिक पांचो आराधनाओंका प्रकरण समाप्त हुआ।

यहांसे चार श्लोकोंमें माहात्म्यका वर्णन करना चाहते हैं। किंतु उसमें सबसे पहिले चारित्रमें रुचि उत्पन्न करनेकेलिये उसके अभ्युदयरूप आनुषङ्गिक फलको और मोक्षरूप मुख्य फलको दिखाते हैं:—

सद्दृग्ज्ञप्त्यमृतं लिहन्नहरहर्भोगेषु तृष्णां रहन्।
वृत्ते यत्नमथोपयोगमुपयन्निर्मायमूर्मीन्स्यन्।
तत्किंचित पुरुषश्चिनोति सुकृतं यत्पाकमूर्छन्नव, —

प्रेमारस्तत्र जगच्छ्रियश्चलदृशोपीर्ष्यन्ति मुक्तिश्रिये ॥ १७८ ॥

विषयों—भोगोंमें तृष्णारहित होकर निरंतर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपी अमृतका आस्वाद लेने वाला और सम्यक्चारित्रका आराधन करनेमें प्रयम ही नहीं किन्तु उपयोग और सदा उसका अनुष्ठान करने वाला, तथा निष्कंप रूपसे क्षुधादि परीषहोंपर विजय प्राप्त करनेवाला पुरुष ऐसे पुण्यकर्मका संचय करता है कि जिसके उदयसे बढता हुआ है नवीन प्रेम जिनका ऐसी संसारकी सम्पूर्ण सम्पत्तियां—लक्ष्मियां स्त्री सुलभस्वभावके कारण अपने स्वामीपर—उक्त चारित्रभक्तिके अनुरागसे विशिष्ट पुण्यकर्मका संचय करनेवाले पुरुषपर जब कि केवल कटाक्षपात ही करनेवाली मुक्तिलक्ष्मीसे ईर्ष्या करने लगती है तो उसके संगम करनेपर तो बात ही क्या है ?

भावार्थ—उक्त प्रकारकी चारित्राराधनाके अनुरागसे विशिष्ट पुण्यका संचय करनेवाला पुरुष जगत्के सम्पूर्ण भोगोंको भोगकर अंतमें कृतकृत्य होजाता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

सपज्जदि णिव्वाण देवासुरमणुयरायविहवेहिं ।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणाओ ॥

दर्शन और ज्ञानका जिसमें प्राधान्य पाया जाता है ऐसे चारित्रके द्वारा जीवको सुर असुर मनुष्य और उनके राजवैभवोंके साथ साथ निर्वाण भी सिद्ध होता है।

तपका यद्यपि चारित्रमें ही अन्तर्भाव है। तो भी उसकी विशेषता जाहिर करनेकेलिये यहांपर अथशब्दके द्वारा उसका पृथक् व्याख्यान समझलेना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

चरण हित हि जो उज्जमो आउज्जणाय जा होइ।
सो चेव जिणेहिं तओ भणिओ असढं चरंतस्स ॥

यथाख्यातसे कुछ ही कम जो संयम होता है उसको सूक्ष्मसांपराय कहते हैं। सम्पूर्ण कर्मोंमें प्रधान मोहकर्मके सर्वथा उपशांत होजानेपर अथवा क्षीण होजानेपर जो छद्मस्थ अथवा वीतराग साधुओंके सयम होता है उसको यथाख्यात संयम कहते हैं।

संयमके विना केवल कायक्लेशरूप तपके अनुष्ठानसे कर्मोंकी निर्जरा होती तो है किन्तु वह बन्धसहभाविनी होतीहै। अत एव सिद्धिके अभिलापियोंको इस संयमका आराधन अवश्य ही करना चाहिये। ऐसा उपदेश देते हैं:—

तपस्यन् यं विनात्मानमुद्वेष्टयाति वेष्टयन् ।
मन्थं नेत्रमिवाराध्यो धीरैः सिद्ध्यै स संयमः ॥१८०॥

जिस प्रकार मठा विलोनेका दण्ड अपने खींचनेवाली रस्सीसे एक साथ ही बन्धता भी है और खुलता भी है। उसी प्रकार संयमके विना—हिंसादिक विषयोंमे की गई प्रवृत्तिके साथ तप—आतापनादिक कायक्लेशको करता हुआ यह जीव भी बन्धसहभाविनी निर्जरा किया करता है। जिस समय कुछ कर्मोंसे मुक्त हुआ करता है उसी समय दूसरे कर्मोंसे वेष्टित भी हुआ करता है। फलतः संयमके विना तप भी निरर्थक है—आत्मसिद्धिका साधक नहीं हो सकता। अत एव अक्षोभ्य प्रकृतिके धारण करनेवाले साधुओंको आत्म सिद्धिकेलिये निश्चय नयसे रत्नत्रयमें एकसाथ प्रवृत्त एकाग्रतारूप और व्यवहार नयसे प्राणिरक्षा और इन्द्रिय निरोधरूप संयमका आराधन करना ही चाहिये।

सयमरहित तप करनेवालेके जितने कर्मोंकी निर्जरा होती है उससे अधिक कर्मोंका संचय हो जाता है। इस बातको दिखाते हुए और इसीलिये सुतरां साधुओंको संयमाराधनके प्रति उद्यत करनेकेलिये उनको पूजातिशयसे पूर्ण तीन लोककी अनुग्रहतारूप उसका फल बताते हैं:—

कुर्वन् येन विना तपोपि रजसा भूयो हृताद्‌ भूयसा,
स्नानोत्तीर्ण इव द्विपः स्वमपधीरुद्धूलयत्युद्धुरः ।
यत्तं संयममिष्टदैवतमिवोपास्ते निरीहः सदा,
किं–कुर्वाणमरुद्गणः स जगतामेकं भवेन्मङ्गलम् ॥ १८१ ॥

सरोवरमें स्नानावगाहन करके बाहर निकला हुआ मदोन्मत्त हस्ती जिस प्रकार कुछ धुलजानेवाली धूलिकी अपेक्षा कहीं अधिक धूलिमे अपनेको धूमरित बनालेता है, उसी प्रकार मदके उद्रेकको प्राप्त हुआ जडबुद्धि जीव, जिसके विना, तप करके भी निर्जीर्ण कर्मोंकी अपेक्षा बहुत अधिक पाप कर्मोंसे अपनी आत्माको उल्टा मलिन बनालेता है, उस संयमकी जो साधु ख्यातिलाभादिकी अपेक्षासे रहित होकर नित्य ही इष्ट देवताकी तरह उपासना करता है वह संसारके सभी बहिरात्मा प्राणियोंकेलिये उत्कृष्ट मङ्गलरूप हो जाता है। क्योंकि उसके निमित्तसे संसारी जीवोंके पापका क्षय और पुण्यका संचय होता है। इसी प्रकार संयमाराधकके सम्मुख देव और उनके इन्द्र भी किंकरकी तरह—“ हम क्या करें ”- इस तरहसे आदेशकी प्रार्थनाकेलिगे निरंतर उन्मुख हुए खडे रहते है।

तपका चारित्रमें अन्तर्भाव किस प्रकार होजाता है उसकी उपपत्ति बताते हैं:—

कृतसुखपरिहारो वाहते यच्चरित्रे,
न सुखनिरतचित्तस्तेन बाह्य तपः स्यात् ।
परिकर इह वृत्तोपक्रमेऽन्यत्तु पापं,
क्षिपत इति तदेवेत्यस्ति वृत्ते तपोऽन्तः ॥ १८२ ॥

चारित्रको ही ऊर्जित करनेकेलिए जो उद्यम किया जाता है उसको तप कहते हैं ।

इस सम्यक्चारित्रकी आराधनाके निमित्तसे पूर्वकालमें इस भरतक्षेत्रमें भी जो अपायरहित पदको प्राप्त कर चुके हैं उनसे सांसारिक क्लेशके उच्छेदकी याचना करते हैं:—

ते केनापि कृताऽऽजवंजवजयाः पुंस्पुङ्गवाः पान्तु मां,
तान्युत्पाद्य पुरात्र पञ्च यदि वा चत्वारि वृत्तानि यैः ।
मुक्तिश्रीपरिरम्भशुम्भदसमस्थामानुभावात्मना,
केनाप्येकतमेन वीतविपदि स्वात्माभिषिक्तः पदे ॥ १७९ ॥

जिन्होंने इस दुःषम कालसे पूर्वके युग—चतुर्थ काल और इसी भरत क्षेत्रमें उपर्युक्त पांचो संयमोंको अथवा चारको उत्पन्न करके या धारण करके शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा एक-अभिन्न ही किंतु अशुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा रत्नत्रयरूप आत्माके द्वारा संसारका सर्वथा नाश करदिया और जिन्होंने उक्त उत्पन्न संयमोंमेंसे मोक्षलक्ष्मीके आलिङ्गनसे शोभमान असाधारण शक्तिके माहात्म्यरूप और अत्यंत उत्कृष्ट किसी भी एक—अनिर्वचनीय भेदके द्वारा अपनी आत्माको विपत्तिरहित मोक्षस्थानमें प्रतिष्ठित करदिया वे पुरुषोत्तम मेरी संसारके व्यसनोंसे रक्षा करें ।

भावार्थ—मोक्षकी सिद्धि यद्यपि यथाख्यात संयमसे ही होती है अन्यसे नहीं । फिर भी व्यवहारसे क्षपकश्रेणि मांडनेके पूर्व जो संयम रहता है उससे भी उसकी सिद्धि कही जाती है । अत एव यहांपर किसी भी एक संयमके द्वारा आत्माको निर्वाणपदमें उपस्थित करलेना किंतु अशुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा रत्नत्रयात्मक और शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा अभिन्नात्माके ही द्वारा संसारका नाश होना बताया है ।

पाँच इन्द्रियोंसे सहित जो मानसिक और [illegible] हैं। जैसा [illegible] शास्त्रमें [illegible] है —

[illegible]

[illegible] पति और [illegible] के नियमोंमें किसी भी एक [illegible] करता है, और एक साथ दोनों मार्गोंमें [illegible] गमन करता है [illegible] अथवा [illegible] है और [illegible] है जैसे [illegible]

१—[illegible] भी इसी [illegible] पुष्ट करते हैं।

तप दो प्रकारका है—एक बाह्य दूसरा अन्तरङ्ग। यह दोनो ही प्रकारका तप चारित्रमें अन्तर्भूत हो जाता है। क्योंकि अनशनादिक जो बाह्य तप है उनका सम्बन्ध भोजनप्रभृति बहिर्भूत पदार्थोंके ही त्यागादिकसे है। इसी प्रकार चारित्रके विषयमें भी बाह्य पदार्थोंका त्याग करना ही पडता है। क्योंकि जो पुरुष शरीरके द्वारा भोगमें आनेवाले विषयों अथवा सुखोंका परित्याग करदेता है वही चारित्रका आराधन करसकता है, न कि शारीरिक सुखोंमें आसक्तचित्त रहनेवाला। इससे सिद्ध है कि बाह्य तप इस प्रकरणमें निर्दिष्ट चारित्रका ही परिकर है। इसी प्रकार अन्तरङ्ग तप भी चारित्रमें अन्तर्भूत है। क्योंकि जिस प्रकार चारित्र नवीन कर्मोंको आनेसे रोकता है और संचित कर्मोंको नष्ट करता है उसी प्रकार तप भी करता है। प्रायश्चित्तादिक अन्तरङ्ग तपके द्वारा भी संवर और निर्जरा दोनो ही कार्य होते है। जैसा कि ' तपसा निर्जरा च " इस सूत्रके द्वारा भी बताया है।

इसी अर्थको प्रकारान्तरसे स्पष्ट करते हैं:—

त्यक्तसुखोनशनादिभिरुत्सहते वृत्त इत्यघं क्षिपति।
प्रायश्चित्तादीन्यपि वृत्तेन्तर्भवति तप उभयम् ॥ १८३ ॥

अनशनादिकके द्वारा बाह्य सुखोंका परित्याग करदेनेवाला ही चारित्रके विषयमें सोत्साह प्रवृत्त हो सकता है और प्रायश्चित्तादिक भी चारित्रकी तरहसे ही पापकर्मोका क्षय करते हैं। अत एव दोनो ही प्रकारके तपको चारित्रमें ही अन्तर्भूत समझना चाहिये।

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

पंचम अध्याय ।

सम्यक्चारित्राराधनाका व्याख्यान चतुर्थ अध्यायमें समाप्त हुआ। किन्तु उसके प्रकरणमें विघ्नाङ्गारादि इस सूत्र[1] के द्वारा जिस एषणा समितिका वर्णन किया था उसकी अङ्गभूत पिण्डशुद्धिका वर्णन अब इस अध्यायमें करना चाहते है। आगममें पिण्डशुद्धि आठ प्रकारकी बताई है। यथा :—

" उद्गमोत्पादनाहारसंयोग सप्रमाणकः ।
अङ्गारधूमौ हेतुश्च पिण्डशुद्धिर्मताष्टधा ॥ "

उद्गमशुद्धि, उत्पादशुद्धि, आहारशुद्धि, संयोगशुद्धि, प्रमाणशुद्धि, अङ्गारशुद्धि, धूमशुद्धि और हेतुशुद्धि। इन आठोंका वर्णन करनेके पूर्व संक्षेपसे पिण्डकी योग्यता और अयोग्यताका विधिमुख और निषेधमुखसे निर्देश करते है।

षट्चत्वारिंशता दोषैः पिण्डोधःकर्मणा मलैः ।
द्विसप्तैश्चोज्झितोविघ्नं योज्यस्त्याज्यस्तथार्थतः ॥ १ ॥

पिण्ड नाम आहारका है। जिस आहारको मुनिजन आगमोक्त विधिके अनुसार ग्रहण करसकें उसको योग्य और जिसको ग्रहण न करसकें उसको अयोग्य कहते है। आगमके अनुसार अन्तरायोंके न होनेपर छयालीस दोषों, चौदह मलो और अधःकर्मसे रहित ही पिण्ड साधुओंकेलिये ग्राह्य है। किन्तु इसके विरुद्ध अन्तरायोंके होनेपर अथवा दोष मल और अधःकर्मसे युक्त होनेपर वह अग्राह्य अथवा अयोग्य कहा जाता है।

उपर्युक्त-उद्गमादिक, विषयोंके नाम है। ये यदि ऐसे हों जिनसे कि पिण्ड ग्रहण करनेमें बाधा न हो

१—अध्याय ४ श्लोक १६७

तब तो इनको उद्गमशुद्धि आदि शब्दोंसे कहते है। और ये यदि आगमके अनुसार ठीक न हों तो इनको ही दोष शब्दसे कहते है। उद्गमादिशब्दोंका अर्थ आगे चलकर यथास्थान करेंगे। यहांपर केवल उनके भेद बताते है, सो भी दोषोंकी अपेक्षासे। क्यों कि पिण्डशुद्धिमें दोषोंका न रहना ही अभीष्ट है। इन भेदोंका स्वरूप भी आगे चलकर लिखेंगे।

उद्गमदोषके सोलह भेद है, और उत्पादना दोषके भी सोलह भेद है, किंतु आहारसम्बन्धी शङ्कितादिक दश दोष है और संयोजना प्रमाण अङ्गार तथा धूम इनका एक एक ही भेद है। इस तरह कुल मिलाकर दोषोंके छ्यालीस भेद है। हेतुदोषको ही अधःकर्म कहते है। इनके सिवाय पिण्डके ही विषयमें पूयादिक चौदह मल और भी होते है जिनका कि वर्णन आगे चलकर करेंगे। इसी प्रकार अन्तरायके भी बत्तीस भेदोंका व्याख्यान मलोंके बाद ही करेंगे। अब यहांपर क्रमप्राप्त उद्गम और उत्पादना दोषोंका स्वरूप तथा उनकी संख्या बताते हैः—

दातुः प्रयोगा यत्यर्थे भक्तादौ षोडशोद्गमाः ।
औद्देशिकाद्या धात्र्याद्याः षोडशोत्पादना यतेः ॥ २ ॥

दाताके द्वारा आहार औषध वसतिका और उपकरण प्रभृति देय वस्तुओंके देनेमें जो दोष होते है उनको उद्गम दोष कहते है। इनके औद्देशिकादिक सोलह भेद है। अपने लिये भोजनादि बनवाने आदिके लिये किये गये प्रयोगोंको उत्पादना दोष कहते है। इसके भी धात्री दूत आदि सोलह भेद है।

शेष दोषोंका भी उद्देश-स्वरूपकथन करते है :—

शङ्किताद्या दशान्नेन्ये चत्वारोङ्गारपूर्वकाः ।
षट्चत्वारिंशदन्योधःकर्म सूनाङ्गिहिंसनम् ॥ ३ ॥

अन्न—भोज्यपदार्थके सम्बन्धमें जो दोष होते हैं उनको आहारदोष कहते हैं। इसके शङ्कित पिहित आदि दश भेद हैं। इनके सिवाय भुक्तिक्रियासम्बन्धी चार दोष और भी हैं। यथा—अङ्गार धूम संयोजन और प्रमाण। इस प्रकार इन उपर्युक्त दोषोंके कुल छयालीस भेद हुए। इन सबसे भिन्न अधःकर्म नामका एक दोष और भी है जिसको कि हेतुदोष भी कहते हैं। इसको छयालीस दोषोंसे भिन्न बतानेका कारण यह है कि यह उन सब दोषोंसे बडा-महादोष है क्यों कि इसमें हिंसाका सम्बन्ध रहता है। चूल चक्की ओखली बुहारी और पानी भरना इन पांच क्रियाओंको पंचसूना कहते हैं। जिस कामके करनेमें इन पच सूनाओंके द्वारा प्राणियोंकी—षट्कायिक जीवोंकी हिंसा होती है उसको अथवा स्वय सूना और प्राणिहिंसाको ही अध कर्म कहते हैं। अतएव वसतिकादिके बनवाने या सुधारने आदिमें जो हिंसा होती है उसको अधःकर्म ही समझना चाहिये। इस शब्दका अनुगत अर्थ भी ऐसा ही होता है कि जो कर्म अधोगतिका निमित्त है उसको अधःकर्म कहते हैं। यह गृहस्थोचित निकृष्ट व्यापार माना गया है। साधुओंको न तो यह कर्म करना ही चाहिये और यदि कोई करता हो तो उसकी अनुमोदना भी न करना चाहिये। फलतः संयमियोंको तो यह दूर ही से छोड देना चाहिये। यदि कोई साधु वैयावृत्यको छोडकर अपने भोजनकेलिये इस गृहस्थोंके कामको करने लगे तो उसको श्रमण न कहकर गृहस्थ कहना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि :—

छज्जीवणिकायाण विराहणोद्दावणेहि णिप्पण्ण।
आधाकम्म णेय सयपरकदमादसपण्ण॥

षट्कायिक जीवोंकी विराधना अथवा पीडामे उत्पन्न हुई आहारादि वस्तुको अधःकर्म कहते हैं। चाहे तो वह स्वयं बनाई हो अथवा दूसरेने बनाई हो।

उद्गम और उत्पादना ये दोनो शब्द अन्वर्थ है इसी बातको दिखाते हैं:

भक्ताद्युद्गच्छत्यपथ्यैर्यैर्यैरुत्पाद्यते च ते।
दातृयत्योः क्रियाभेदा उद्गमोत्पादनाः क्रमात॥ ४॥

उद्गम शब्दमें उत् उपसर्गका अर्थ उन्मार्ग और गमधातुका अर्थ गमन करना होता है। यहांपर करण अर्थमें घ प्रत्यय किया गया है। अतएव जिन क्रियाओंके द्वारा भोज्य द्रव्य उन्मार्गकी तरफ चला जाय— आगमकी आज्ञारूप मार्गके विरुद्ध रत्नत्रयका घातक सिद्ध हो ऐसी दाताकी क्रियाओंको उद्गमदोष कहते हैं। इसी प्रकार उत्पादना शब्दका अर्थ उत्पन्न कराना होता है। यहांपर उत्पूर्वक ण्यंत पद् धातुसे करण अर्थमें युट् प्रत्यय हुआ है। अतएव जिन मार्गविरुद्ध क्रियाओंके द्वारा भोजन उत्पन्न कराया जाय ऐसी यति—पात्रकी क्रियाओंको उत्पादना दोष कहते हैं।

अब यहांपर दो श्लोकोंमें उद्गमके भेदोंका नाम गिनाते और उनमें दोषपनेका समर्थन करते हैं।

उद्दिष्टं साधिकं पूति मिश्रं प्राभृतकं बलिः।
न्यस्तं प्रादुष्कृतं क्रीतं प्रामित्यं परिवर्तितम् ॥ ५ ॥
निषिद्धाभिहृतोद्भिन्नाच्छेद्यारोहास्तथोद्गमः।
दोषा हिंसानादरान्यस्पर्शदैन्यादियोगतः ॥ ६ ॥

उद्दिष्ट ' औद्देशिक ' साधिक पूति मिश्र प्राभृतक बलि न्यस्त प्रादुष्कृत (प्रादुष्कर) क्रीत प्रामित्य परिवर्तित निषिद्ध अभिहृत उद्भिन्न अच्छेद्य और आरोह। इस प्रकार उद्गमके सोलह भेद हैं। इनमें हिंसा अनादर अन्यस्पर्श और दीनता आदिका सम्बन्ध पाया जाता है इसलिये इनको दोष कहते हैं। किंतु इन बातोंका सम्बन्ध इनमें किस तरहसे पाया जाता है यह बात तब तक समझमें नहीं आ सकती जब तक कि इन प्रत्येकका स्वरूप समझ न लिया जाय। अतएव इनका यथाक्रमसे सामान्य और विशेष रूपसे स्वरूपनिर्देश करते हैं।

तदौद्देशिकमन्नं यद्देवतादीनलिङ्गिनः।
सर्वपाषण्डपार्श्वस्थसाधून् वोद्दिश्य साधितम् ॥ ७ ॥

जो अन्न यक्ष राक्षस नाग आदि देवताओंके उद्देशमे अथवा दुःखित दरिद्र व्यक्तियोंके उद्देशसे यद्वा जैन दर्शनसे वहिर्भूत आचरण करनेवाले या वेश रखने वालोंके उद्देशमे बनाया गया हो उसको औद्देशिक कहते है। इसी प्रकार जो सर्व साधारणके उद्देशमे अथवा पापाण्डियों पार्श्वस्थों और साधुओंके उद्देशसे भोजन बनाया जाता है उसको भी औद्देशिक कहते है।

पापण्डियोंका स्वरूप पहले बता चुके है। पार्श्वस्थ पांच प्रकारके होते है, अवसन्न पार्श्वस्थ मृगचरित मकट और कुशील। यथा,

"वृत्तेऽलसोऽवसन्न पार्श्वस्थो मलिनपरदृष्टेऽनिष्ट।
ससक्तो मृगचरित स्वकल्पिते मकटकुचरितस्तु कुशील. ॥

चारित्रमें प्रमादी रहनेवालेको अवसन्न, जिसका सम्यग्दर्शन मलिन हो जाय उसको पार्श्वस्थ, जो इष्टानिष्ट विषयोंमें आसक्त रहनेवाला है उसको मृगचरित, स्वकल्पित आचरण करनेवालेको मकट, और खोटे आचरण करनेवालेको कुशील कहते हैं।

पूर्वोक्त जिनलिङ्गके धारक २८ मूलगुणोंका पालन करनेवाले निर्ग्रन्थोंको साधु कहते है। अत एव निमित्तभेदसे औद्देशिक अन्नके चार भेद होजाते है। सर्व साधारणके उद्देशमे दिया हुआ, पापंडियोंके उद्देशसे दिया हुवा, पार्श्वस्थोंके उद्देशसे दिया हुआ, और साधुओंके उद्देशसे दिया हुआ। आगमके अनुसार इनके क्रमसे चार नाम है,—उद्देश, समुद्देश, आदेश, और समादेश।

उद्गम दोषके दूसरे भेद साधिकका स्वरूप दो प्रकारसे बताते है—

स्याद्दोषोऽध्यधिरोधो यत्स्वपाके यतिदत्तये।
प्रक्षेपस्तण्डुलादीनां रोधो वाऽऽपचनाद्यतेः ॥ ८ ॥

यदि दाता अपनेलिये पकते हुए भात दाल आदि धान्यमें अथवा उसकेलिये पकते हुए जल-अधेनमें मु-नियोंको दान देनेके अभिप्रायसे–' आज तो हम साधु महाराजको आहार देंगे " उस संकल्पसे चावल दाल आदि डाले तो उसकी इस क्रियाको साधिक दोष कहते हैं। अथवा भोजनके पकने–तयार होनेतक पूजा धर्म आदि विषयोंके प्रश्नादिके छलसे साधुओंके रोक रखनेको भी साधिक दोष कहते हैं। इस दोषका दूसरा नाम अध्यधिरोध भी है।

दो प्रकारके पूतिदोषको बताते हैं।

पूति प्रासु यदप्रासुमिश्रं योज्यमिदंकृतम् ।
नेदं वा यावदार्येभ्यो नादायीति च कल्पितम् ॥ ९ ॥

जो द्रव्य स्वरूपसे प्रासुक है उसमें यदि अप्रासुक वस्तु भी मिला दी जाय तो उसको पूति दोषसे दूषित समझना चाहिये। इसको पूतिदोषका अप्रासुकमिश्रण नामका पहला भेद समझना चाहिये। इसी प्रकार किसी वस्तु-की अपेक्षासे ऐसी कल्पना करना कि " इस पात्रद्वारा अथवा इसमें बनाये हुए अमुक पदार्थका यहा इस भोजनका दान साधुओंको न होजाय तबतक इसका उपयोग किसीको भी न करना चाहिये " इसे पूतिदोष कहते है। यह पूतिदो-षका पूतिकर्मकल्पना नामका दूसरा भेद है। इसका उदाहरण इस प्रकार समझना कि–" हमारे यहापर यह नवीन चूल जो बनी है उसपर बने हुए भोजनका, अथवा यह नवीन पात्र जो आया है उसका साधुमहाराजके दानमें जब तक उपयोग न करलिया जायगा तबतक दूसरे किसीको भी इसका उपयोग न करना चाहिये, " दाताकी ऐसी कल्प-नाको पूतिकर्मकल्पना नामका दोष कहते है। इसके चक्की उखली चूल दर्वी और पात्रकी अपेक्षासे पांच भेद होते है। यथाः—

मिश्रमप्रासुना प्रासु द्रव्य पूतिकमिष्यते ।
चुल्लिकोदूखल दर्वी पात्रगन्धौ च पञ्चधा ॥

इसी विषयमें और भी कहा है किः—

अप्पासुग्ण मिस्स पामुयदव्व तु पूतिकम्म तु ।
चुल्लीउक्खलीदव्वीभायणगधित्ति पचविह ॥

इनके उदाहरणोंकी कल्पना स्वयं करलेनी चाहिये ।

मिश्र दोपका स्वरूप बताते है –

पाषण्डिभिर्गृहस्थैश्च सह दातुं प्रकल्पितम् ।
यतिभ्यः प्रासुकं सिद्धमप्यन्नं मिश्रमिष्यते ॥ १० ॥

प्रासुक-अचित्त भी बनाये हुए उस अन्नको आचार्योंने मिश्र दोपसे दूषित हो कहा है, यदि वह दाताने पाषण्डियों और गृहस्थोंके साथ साथ यतियोंको देनेके लिये तयार किया हो।

कालकी हानि और वृद्धिकी अपेक्षासे प्राभृत दोपके दो भेद होते हैं; एक स्थूल दूसरा सूक्ष्म। इन दोनोंका स्वरूप बताते है –

यद्दिनादौ दिनांशे वा यत्र देय स्थित हि तत ।
प्राग्दीयमान पश्चाद्वा ततः प्राभृतकं मतम् ॥ ११ ॥

आगममें जो वस्तु जिस दिन जिस पक्ष या जिस वर्षमे देने योग्य बताई है अथवा दिनके जिस पूर्वाह्न या अपराह्नमें देने योग्य बताई है उससे पहले या पीछे यदि उस वस्तुको दिया जाय तो उसको आगममें प्राभृत दोपसे दूषित माना है। पहले पीछेको ही कालकी हानि और वृद्धि कहते हैं। इसकी अपेक्षासे ही प्राभृत दोपके दो भेद होजाते हैं–एक स्थूल दूसरा सूक्ष्म। स्थूल भी कालकी हानि वृद्धिकी अपेक्षासे होता है और सूक्ष्म भी। अन्तर इतना ही है कि दिन पक्ष मास आदिकमें हानि वृद्धिका होना स्थूल प्राभृत है और दिनके अशोंमें पहले पीछे होना सूक्ष्म प्राभृत है। यथा :-

जिस वस्तुको आगममें शुक्ल पक्षकी अष्टमीको देने योग्य बताया है उसको उस दिन न देकर उससे पहले ही-शुक्ला पंचमीको ही यदि दाता दे अथवा जो चैत्रके शुक्ल पक्षमें देने योग्य निर्धारित है उसको उससे पहले कृष्ण पक्षमें ही यदि दिया जाय, तथा इसी तरह और भी जो कालहानिकी अपेक्षासे होने वाले दोष है उन सबको स्थूल प्राभृत कहते है। इसी तरह शुक्ल पंचमीके दिन देने योग्य वस्तुको उसके बाद शुक्ल अष्टमीके दिन देना अथवा चैत्र कृष्ण पक्षमें देने योग्यको चैत्र शुक्लमें देना तथा और भी जो इसी तरह का लवृद्धिकी अपेक्षासे होने वाले दोष हैं उन सबको भी स्थूल प्राभृत ही कहते हैं। मध्यान्हमें देने योग्यको पूर्वाण्हमें देना और अपराण्हमें देने योग्यको मध्यान्हमें देना, इत्यादि कालहानिकी अपेक्षासे होनेवाले दोषोंको सूक्ष्म प्राभृत कहते हैं। इसी प्रकार पूर्वाण्हमें देने योग्य वस्तुको जो मध्यान्हादिकमें देना यह सब भी कालवृद्धिकी अपेक्षासे होनेवाला सूक्ष्म प्राभृत कहा जाता है। कहा भी है कि:—

द्वेधा प्राभृतकं स्थूलं सूक्ष्मं तदुभयं द्विधा।
अवसर्पस्तथोत्सर्पः कालहान्यतिरेकतः ॥
परिवृत्त्या दिनादीनां द्विविधं बादरं मतम्।
दिनस्याद्यन्तमध्यानां द्वेधा सूक्ष्मं विपर्ययात् ॥

प्राभृत दोषके दो भेद है—एक स्थूल दूसरा सूक्ष्म। इनमें भी प्रत्येकके कालहानि और कालवृद्धिकी अपेक्षा क्रमसे दो दो भेद होते हैं-एक अवसर्प दूसरा उत्सर्प। दिन पक्ष मासादिकमें हानिवृद्धि होनेसे स्थूल प्राभृतके दो भेद, और दिनके ही आदि मध्य अन्तमें हानि वृद्धि होनेसे सूक्ष्म प्राभृतके दो भेद होते हैं।

बलि और न्यस्तका लक्षण बताते हैं:—

यक्षादिबलिशेषोऽर्चासावद्यं वा यतौ बलिः।
न्यस्तं क्षिप्त्वा पाकपात्रात्पात्र्यादौ स्थापितं क्वचित् ॥ १२

यक्ष नाग माता कुलदेवी और पित्रादिकेलिए बनाये हुएमेंसे अवशिष्ट आहार यदि संयमियोंको दिया जाय तो उसको बलि दोषसे दूषित समझना चाहिये। यद्वा यतियोंके निमित्तसे सावद्य पूजनका आरम्भ करना भी बलिदोष माना जाता है। जिस वर्तनमें भोजन पकाया या बनाया गया हो उसमेंसे निकालकर कटोरी कटोरा आदि किसी दूसरे वर्तनमें रखकर यदि उसको किसी दूसरे स्थानमें—अपने ही घरमें अथवा परघरमें रखदिया जाय तो उसको न्यस्त कहते है। इसको इसलिये दूषित कहा है कि यदि रखनेवालेकी अपेक्षा कोई भिन्न मनुष्य उसको दे तो वह उसमें गडबड कर सकता है।

प्रादुष्कार और क्रीतका स्वरूप बताते हैः—

पात्रादेः संक्रमः साधौ कटाद्याविष्क्रियाऽऽगते।
प्रादुष्कारः स्वान्यगोर्थविद्याद्यैः क्रीतमाहृतम् ॥ १३ ॥

प्रादुष्कारके दो भेद हैं-एक संक्रम दूसरा प्रकाश। साधुके घर आनेपर भोजनके भाजन आदिकोका एक जगहसे दूसरी जगह लेजाना संक्रम दोष है। और किवाड मंडप आदिका दूर करना, भस्मादिकसे अथवा जलादिकसे वर्तनादिकोंका माजना यद्वा दीपकका जलाना आदि प्रकाश दोष है। जैसा कि कहा भी है किः—

सक्रमश्च प्रकाशश्च प्रादुष्कारो द्विधा मत।
एकोत्र भाजनादीना कटादिविषयोऽपर॥

५ अपने अथवा पराये यद्वा दोनोंके यथासम्भव गौ अर्थ विद्यादिकोंके बदलेमें जो भोज्यद्रव्य लाया जाय उसको क्रीत कहते है। अर्थात् भिक्षार्थ साधुके घरमें प्रविष्ट होजानेपर उनकेलिये उक्त गौ आदिको देकर जो भोज्य सामग्री लाई जाय उसको क्रीत दोषसे दूषित समझना चाहिये।

यहांपर गौ शब्द उपलक्षण है अत एव इससे गाय बैल भैंस घोडा बकरी आदि सभी चेतन द्रव्य समझने चाहिये। पारिशेष्यात् अर्थ शब्दसे सोना चांदी रुपया पैसा आदि अचेतन पदार्थ समझना चाहिये। विद्याके प्रज्ञप्ति आदि अनेक भेद हैं। यहांपर आदिशब्दसे चेटक मंत्र आदिको समझना चाहिये। ये चीजें अपनी हों या दूसरेकी अथवा दोनोंकी–साजेकी, किन्तु उनके द्वारा यदि भिक्षार्थ साधुके आनेपर कोई भोज्य सामग्री लाई जाय तो उसको क्रीत दोषसे दूषित समझना चाहिये। यथाः—

क्रीत तु द्विविध द्रव्य भाव' स्वकपर द्विधा।
सचित्तादिभवो द्रव्य भावो विद्यादिक तथा॥

प्रामित्य और परिवर्तितका स्वरूप बताते हैः—

उद्धारानीतमन्नादि प्रामित्यं वृद्ध्यवृद्धिमत्।
व्रीह्यन्नाद्येन शाल्यन्नाद्युपात्त परिवर्तितम्॥ १४॥

मुनियोंके दानकेलिये किसीसे भी उधार लाये हुए अन्न आदिको प्रामित्य कहते हैं। उधार लानेमें और उसके चुकानेमें दाताको अनेक क्लेश उठाने पडते हैं परिश्रम करना पडता और कदर्थित होना पडता है। अत एव माधुकरी वृत्ति धारण करनेवाले साधुओंके लिये यह दोष माना है। यह दो प्रकारका माना है एक वृद्धिमत् दूसरा अवृद्धिमत्। क्योंकि कोई भी चीज जो उधार लाई जाती है वह दो प्रकारकी हो सकती है एक व्याजू दूसरी विना व्याजू। यथाः—

भक्तादिकमृण यच्च तत्प्रामित्यमुदाहृतम्।
तत्पुनर्द्विविध प्रोक्त सवृद्धिकमथेतरत्॥

एक चीजके बदलेमें यदि दूसरी चीज लाई जाय जैसे कि साठीके बदलेमें शालीके चावल अथवा उ-

दके बदलेमें मूंग तो उसको परिवर्तित कहते है। ऐसा करनेमें भी दाताको संक्लेश होता है अत एव यह भी मुनियोंकेलिये दोष ही है। यथाः---

व्रीहिभक्तादिभिः शालिभक्तादि स्वीकृत हि यत्।
संयतानां प्रदानाय तत्परीवर्तमिष्यते ॥

निषिद्ध दोष और उसके भेदप्रभेदोंको बताते हैः--

निषिद्धमीश्वरं भर्त्रा व्यक्ताव्यक्तोभयात्मना।
वारित दानमन्येन तन्मन्येन त्वनीश्वरम् ॥ १५ ॥

जो चीज किसीके मना करनेपर भी मुनियोंको आहारकेलिये दी जाय उसको निषिद्ध कहते है। इसके दो भेद है एक ईश्वर दूसरा अनीश्वर। वस्तुके स्वामीसे निषिद्ध वस्तुको ईश्वर और जो वस्तुतः स्वामी तो नहीं है किन्तु अपनेको स्वामी समझता है ऐसे पुरुषके द्वारा निषिद्ध हो उस वस्तुको अनीश्वर कहते है। स्वामीके तीन भेद हैं--व्यक्त अव्यक्त और उभय। जो अपने अधिकार अथवा रक्षणादि कार्यके करनेमें किसी दूसरे की अपेक्षा नही रखता ऐसे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र अधिकारीको व्यक्त और जो दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाला है उसको अव्यक्त कहते हैं। किन्तु जो व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकारका कहा जा सकता हो अथवा ऐसे दो संयुक्त व्यक्ति हों तो उनको उभय कहते है। इसी प्रकार अनीश्वर दोषके भी ये तीन भेद होते है। अत एव व्यक्तेश्वर निषिद्ध आदि निषिद्ध दोषके छह भेद हो जाते हैं। इस विषयका आचार टीकामें,

"अणिसिट्ठ पुण दुविह ईसरमहणीसरं च दुवियप्प।
पढमेस्सरसारक्ख वत्तावत्त च सघाडं ॥"

इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए बहुत विशेष वर्णन किया है। किन्तु बुद्धिमान् लोक उस सम्पूर्ण व्या

ख्यानकी अपनी बुद्धिसे यहांपर ही घटना कर सकते है अत एव प्रकृतमें किसी प्रकारके सूत्रविरोध आदिकी शका न करनी चाहिये ।

आविहृत दोषका व्याख्यान करते हैः—

त्रीन् सप्त वा गृहान् पङ्क्त्या स्थितान्मुक्त्वान्यतोऽखिलात ।

देशादयोग्यमायातमन्नाद्यभिहृतं यतेः ॥ १० ॥

एक सरल पङ्क्तिमें स्थित तीन अथवा सात मकानोंको छोडकर बाकी सब जगहोंसे मुनियोंके भोजन केलिये आई हुई अयोग्य अन्नादिक भोज्य सामग्रीको अभिहृत कहते हैं । ऐसी सामग्रीके ग्रहण करनेमें ईर्यासमिति आदिका पालन नहीं हो सकता किंतु उसमें प्रचुरतया दोष आता है अत एव साधुओंकेलिये ऐसे भोजनके ग्रहण करनेमें अभिहृत दोष है ।

इस दोषके मूलमें दो भेद है—एक देशाभिहृत दूसरा सर्वाभिहृत । देशाभिहृतके दो भेद है—एक आदृत दूसरा अनादृत । सर्वाभिहृतके चार भेद है—स्वग्रामागत परग्रामागत स्वदेशागत परदेशागत । जिस ग्राम नगर या देशमें भोक्ता यति उपस्थित हो उसको स्वग्राम या स्वदेश और बाकीको परग्राम तथा परदेश समझना चाहिये । एक ही पङ्क्तिमें स्थित तीन अथवा सात मकानोंमेंसे जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि एक दाताका मकान और उसके दोनो तरफके तीन तीन मकान इस तरह एक ही सरल पंक्तिके सात मकानोंमेंसे आये हुएको आदृत और उनके सिवाय दूसरे मकानों या स्थानोंसे आये हुए औषधाहारादिको अनादृत कहते है । एक मुहल्लेमे दूसरे मुहल्लेमें लाये गये भोजनादिको स्वग्रामागत और बाकीको परग्रामागत कहते है । इसी तरह स्वदेशागत और परदेशागतका भी स्वरूप समझना चाहिये ।

उद्भिन्न और आच्छेद्य दोपके स्वरूपका निरूपण करते हैः—

पिहितं लाञ्छितं वाज्यगुडाद्युद्घाट्य दीयते ।
यत्तदुद्भिन्नमाच्छेद्यं देयं राजादिभीषितैः ॥ १७ ॥

ऐसी कोई भी घी गुड खांड या छुआरा आदि वस्तु जो कि भट्टी या लाख आदिसे ढकी हुई हो अथवा किसी तरहकी नामकी सील मुहर की गई हो वह खोलकर साधुओंको भोजनके लिये दीजाय तो इसको उद्भिन्न दोपसे दूषित कहा है क्योंकि देखा जाता है कि चींटी आदि जीवोंका प्रवेश प्राय हो जाया करता है। इसी प्रकार यदि राजा या मन्त्री आदिके भयसे गृहस्थ लोग साधुओंको आहार दें तो उस दी हुई वस्तुको आच्छेद्य दोपसे दूषित समझना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

सयतश्रममालोक्य भीपयित्वा प्रदापितम् ।
राजचौरादिभिर्यत्तदाच्छेद्यमिति कीर्तितम् ॥

संयतोंके भिक्षाश्रमको देखकर यदि कोई राजा अथवा उसके समान प्रभुता रखनेवाला मंत्री आदि कोई भी व्यक्ति यद्वा चौर आदि गृहस्थोंको यह भय दिखाकर कि इन आये हुए संयतोंको यदि तुम लोग भिक्षा न कराओगे तो हम तुम्हारा सम्पूर्ण द्रव्य लूट लेंगे या ग्राममे निकाल देंगे; भोजन करवावे, तो उस दी हुई वस्तुको आच्छेद्य दोपसे दूषित समझना चाहिये।

मालारोहण दोपको बताते हैं:—

निश्रेण्यादिभिरारुह्य मालमादाय दीयते।
यद् द्रव्यं संयतेभ्यस्तन्मालारोहणमिष्यते ॥ १८ ॥

नसेनी या जीना—दादरा आदिके द्वारा मकानके ऊपरके खन-मालेपर चढकर और वहांसे लाकर जो

द्रव्य संयमियोंको आहारकेलिये दिया जाय उसको मालारोहण कहते है। इस क्रियाके करनेसे दाताका अपाय दीखता है अत एव इसको दोष माना है।

इस प्रकार उद्गम दोषोंका प्रकरण समाप्त हुआ। अब उत्पादना दोषोंका व्याख्यान करनेकेलिये सब से पहले उनके नामका उल्लेख करते है। यहापर यह बात स्मरणमें रखनी चाहिये कि ये दोष भोक्ता संयमी के प्रयोगकी अपेक्षासे होते है; चाहे तो उसने उस देय वस्तुको तयार होनेमें स्वयं प्रयोग किया हो या कराया हो अथवा उसकेलिये उपदेश दिया हो।

उत्पादनास्तु धात्री दूतनिमित्ते वनीपकाजीवौ।
क्रोधाद्याः प्रागनुनुतिवैद्यकविद्याश्च मन्त्रचूर्णवशाः ॥ १९ ॥

उत्पादन दोषके सोलह भेद है। धात्री दूत निमित्त वनीपकवचन आजीव क्रोध मान माया लोभ पूर्व स्तुति पश्चात्स्तुति वैद्यक विद्या मन्त्र चूर्ण वश।

पांच प्रकारके धात्री दोषको बताते हैः--

मार्जनक्रीडनस्तन्यपानस्वापनमण्डनम्।
बाले प्रयोक्तुर्यत्प्रीतो दत्ते दोषः स धात्रिका ॥ २० ॥

धात्री शब्दका अर्थ धाय होता है। जो बालकका पोषण करे उसको धाय कहते है। उसके भिन्न भिन्न कार्यकी अपेक्षा पांच भेद है, मार्जन मंडन खेलन स्वापन और क्षीर। स्नानादिके द्वारा बालकके पोषण करनेवालीको मार्जन धाय, जो भूषणादिकके द्वारा करे उसको मण्डन धाय, जो नाना प्रकारसे क्रीडा करावे उसको खेलन धाय, जो माताकी तरह सुलावे उसको स्वापन धाय, और जो दूध पिलाकर पुष्ट करे उसको क्षीरधाय कहते

है। इनमेंसे एक या अनेक कार्योंका यदि भोक्ता संयमी बालकमें प्रयोग करे और अनुरक्त हुआ गृहस्थ उस प्रयोग द्वारा उत्पन्न कराये हुए भोजनको दे तथा उसको वह संयमी ग्रहण करे तो उसके वह धात्री नामका उत्पादन दोष समझना चाहिये। जैसा कि कोई संयमी गृहस्थके बालकको खिलानेका इस तरहसे स्वयं प्रयोग करे या करावे अथवा उसकेलिये उपदेश दे कि जिससे भोजनके उत्पन्न होनेमें सहायता पहुचे और अनुरक्त गृहस्थके द्वारा दिये हुए उस उत्पन्न भोजनको ग्रहण करे तो उस संयमीके खेलनधात्री नामका उत्पादन दोष लगेगा। जैसा कि कहा भी है कि:—

स्नानभूषापय'क्रीडामातृधात्रीप्रभेदत' ।
पञ्चधा धात्रिकाकार्यादुत्पादो धात्रिकामलम् ॥

इन कार्योंसे दोषका आना इसलिये बताया है कि इनसे स्वाध्यायका विनाश होता और जिनमार्गमें दूषण लगता है।

दूतदोष और निमित्तदोषको स्पष्ट करते हैं:—

दूतोऽशनादेरादानं संदेशनयनादिना ।
तोषितादातुरष्टाङ्गनिमित्तेन निमित्तकम् ॥ २१ ॥

सम्बन्धी पुरुषादिकोंके वचन —वृत्तान्त—संदेशको स्थानान्तरमें पहुचाना दूतकर्म कहाजाता है। ऐसे कर्म करके संतुष्ट किये गये दाताके द्वारा दिये हुए भोजनादिका ग्रहण करना दूतदोष है। जैसा कि कहा भी है कि:—

जलस्थलनभ स्वान्यग्रामस्वपरदेशत ।
सवन्धिवचसो नीतिर्दूतदोषो भवेदसौ ॥

अपने ग्राम या अपने देशसे जलस्थल या आकाशमार्गसे दूसरे ग्राम या दूसरे देशमें जाकर और वहां

पहुंचकर किसीके समाचारोंको उसके सम्बन्धीके पास पहुंचाकर भोजन ग्रहण करे तो वहां दूत दोष समझा जाय गा। इस कर्मके करनेसे शासनमें दूषण लगता है अत एव जिनलिङ्गियोंकेलिये यह दोष माना है।

अष्टाङ्ग निमित्तके द्वारा संतुष्ट किये गये दाताके द्वारा दिये हुये भोजनके ग्रहण करनेको निमित्त दोष कहते हैं। अष्टाङ्ग निमित्तके नाम इस प्रकार हैः—

लाञ्छनाङ्गस्वरं छिन्नं भौमं चैव नभोगतम्।
लक्षणं स्वपनश्चेति निमित्तं त्वष्टधा भवेत्॥

मसा तिल लहसन आदिको लाञ्छन या व्यञ्जन कहते हैं। हाथ पैर सिर पेट अङ्गुली आदि शरीरके किसी भी भागको अङ्ग कहते हैं। स्वर शब्दका अर्थ शब्द स्पष्ट है। अस्त्र शस्त्रादिकके घावको अथवा वस्त्रादि में छेद वगैरहके होजानेको छिन्न कहते है। पृथ्वीके किसी विभागविशेषको भौम कहते हैं। सूर्य चन्द्रादिके ग्रहण उदय अस्त आदि होनेको अन्तरिक्ष कहते है। शरीरमें नन्द्यावर्त कमल चक्र हाथी आदिके आकारके पडजानेको लक्षण कहते है। और सोते हुए मनुष्यको हाथी विमान महिष आदि जो दीखा करते है उसको स्वप्न कहते हैं।

इन व्यंजनादिकोंको देखकर भविष्यमें होनेवाले शुभाशुभ फलका जो ज्ञान होता है उसको निमित्तज्ञान कहते हैं। इस ज्ञानके द्वारा तथाभूत फलको बताकर दाताको संतुष्ट करके उसके दिये हुए आहारौषधादिका ग्रहण करना निमित्तनामका उत्पादनदोष समझना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेमें रसास्वादन दीनता आदि दोष दीखते हैं।

वनीपक और आजीवदोषोंका लक्षण करते हैंः—

दातुः पुण्यं श्वादिदानादस्त्येवेत्यनुवृत्तिवाक्।
वनीपकोक्तिराजीवो वृत्तिः शिल्पकुलादिना॥ २१॥

याचना करनेवालेको वनीपक कहते हैं। अत एव भोजन ग्रहण करनेके अभिप्रायसे दाताके अनुकूल

वचन बोलकर जहां आहारादि ग्रहण किया जाय वहां वनीपक वचन नामका उत्पादन दोष समझना चाहिये। जैसे कि दाताके यह पूछनेपर कि कुत्ता काक कोढी मांसासक्त द्विज दीक्षोपजीवी पार्श्वस्थ तापस श्रमण छात्र इत्यादिकोंको दान देनेमें पुण्य होता है या नहीं ? उत्तरमें आहारके अभिप्रायसे ऐसे अनुकूल वचन बोलना कि "इस में क्या सन्देह है, होता ही है, ऐसे ही वचनोंको वनीपकवचन नामका दोष कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि

> साण-किविण-तिहिमाहण-पासत्थिय-सवण-काग-दाणादि ।
> पुण्ण णवेति पुट्ठे पुण्ण ति य वणिवय वयण ॥

ऐसे वचनोंके बोलनेसे दीनता प्रकट होती है अत एव इसको दोष माना है।

अपने हस्तरेखादिके अथवा शिल्पशास्त्रादिके ज्ञानको यद्वा कुल जाति ऐश्वर्य तपोऽनुष्ठानादिको प्रकट करके भोजन ग्रहण करनेमें आजीव नामका दोष होता है। यथा —

> आजीवस्तप ऐश्वर्यं शिल्प जातिस्तथा कुलम् ।
> तैस्तूत्पादनमाजीव एष दोष' प्रकथ्यते ॥

ऐसा करनेमें वीर्य—सामर्थ्यका अनिगूहन और दीनता प्रकट होती है अत एव इसको दोष माना है।

क्रोध मान माया लोभ इन चार दोषोंका, पूर्व कालमें हस्तकल्यादिक नगरोंमें होजानेवाले इनके आख्यानोंको बताते हुए, स्वरूपनिर्देश करते है।

> क्रोधादिबलादऽदतश्चत्वारस्तदभिधा मुनेर्दोषाः ।
> पुरहस्तिकल्यवेन्नातटकासीरासीयनवत स्युः ॥२३॥

क्रुद्ध होकर भोजनादिके ग्रहण करनेमें क्रोध दोष, अभिमानके वशीभूत होकर ग्रहण करनेमें मान दोष,

समाचारको धारण करके भोजनादि करनेमें माया दोष, और लुब्ध परिणामोंसे आहार औषधादिके ग्रहण करनेमें लोभ दोष होता है। जैसा कि पूर्व कालमें हस्तिकल्यादिक नगरोंमें हो भी चुका है। हस्तिकल्य नामके नगरमें क्रोधके बलसे भोजन करनेवाले मुनिको क्रोध नामका दोष, और वेन्नातट नामक नगरमें मानके बलसे भोजन करनेवालेके मान दोष, काशी नगरीमें मायाचारके बलसे भोजन करनेवालेके मायादोष, तथा लोभके बलसे रासीयन नामके नगरमें भोजन करनेवालेके लोभ नामका दोष घटित हो चुका है। उसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये।

पूर्वस्तुति और पश्चात्स्तुति दोषोंको बताते हैः—

स्तुत्वा दानपतिं दानं स्मरयित्वा च गृह्णतः।
गृहीत्वा स्तुवतश्च स्त· प्राक्पश्चात्संस्तवौ क्रमात् ॥ २४ ॥

तुम बडे दानवीर हो, तुह्मारी कीर्ति सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त होरही है, इत्यादि अनेक प्रकारसे दाताकी प्रशंसा करके; अथवा " पहले तो तुम बडे दानशूर थे मुक्तहस्त होकर लोगोंको दान किया करते थे, पर अब तो कुछ न मालुम, क्यों भूलसे गये हो ", इत्यादि अनेक प्रकारसे उसको पहले दानका स्मरण दिलाकर भोजन करनेमें पूर्वस्तुति नामका दोष होता है। तथा भोजन करनेके अनन्तर उसी प्रकार स्तुति करना दानका स्मरण दिलाना उसको पश्चात् स्तुति नामका दोष कहते है। ऐसा करनेमें जिनलिङ्गके कर्तव्योंसे विरुद्ध कृपणता प्रकट होती है अत एव इसको दोष माना है।

चिकित्सा विद्या और मन्त्र इन तीन दोषोंको बताते है —

चिकित्सा रुक्प्रतीकाराद्विद्यामाहात्म्यदानतः।
विद्या मन्त्रश्च तद्दानमाहात्म्याभ्यां मलोऽश्नतः ॥ २५ ॥

ज्वरादिक व्याधि अथवा ग्रहादिकोंकी बाधा दूर करनेको चिकित्सा कहते हैं : इसके आठ अङ्ग है–रसायन विष क्षार बाल शरीर भूत शल्य और शलाका। यथाः—

रसायनविषक्षारा. कौमाराङ्गचिकित्सिते।
चिकित्सा दोष ष्योऽस्ति भूत शल्य शिराष्टधा॥

अत एव इस चिकित्साविधिके द्वारा उक्त व्याधिबाधाका स्वयं प्रतीकार करके अथवा उसके निराकरण का उपदेश देकर जो साधु भोजन करता है उसके चिकित्सा नामका उत्पादन दोष लगता है। क्यों कि ऐसा करनेसे सावद्यादिक अनेक दोषोंकी उद्भूति होती है

आकाशगामिनी आदि अनेक प्रकारकी विद्याएं प्रसिद्ध है। उनका माहात्म्य दिखाकर अथवा उनका दान करके–सिद्ध कराकर, यद्वा मैं तुझको अमुक विद्या दे दूंगा ऐसा आश्वासन देकर भोजन करनेवाले साधुके विद्या नामका दोष लगता है। जैसा कि कहा भी है किः—

विज्जा साधिदसिद्धा तिस्से आसापदाणकरणेहिं।
तिस्से माहप्पेण य विज्जादोसो दुउप्पादो॥

इसी प्रकार मन्त्रका माहात्म्य दिखाकर यद्वा उसका दान करके–सिद्ध कराके अथवा सिद्ध करादेनेका आश्वासन देकर भोजन करनेवाले साधुके मन्त्र नामका दोष लगता है। ऐसा करनेमें लोकप्रतारण, रसनेन्द्रियकी गृद्धि आदि अनेक दोष प्रकट होते हैं अत एव इनको दोष माना है।

विद्या और मन्त्र इनके दोषोंका स्वरूप प्रकारान्तरसे बताते हैः—

विद्या साधितसिद्धा स्यान्मत्रः पठितसिद्धकः।
ताभ्यां चाहूय तौ दोषौ स्तोऽश्नतो मुक्तिदेवताः॥ २६॥

तुषचणतिलतण्डुलजलमुष्णजलं च स्ववर्णगन्धरसैः।
अरहितमपरमपीदृशमपरिणतं तन्न मुनिभिरुपयोज्यम् ॥ ३२ ॥

भूसी चना तिल अथवा चावलके धोवनका जल यद्वा ऐसा जल जो कि गरम होकरके पुनः ठंडा होगया हो जिसके कि वर्ण गन्ध और रसका परिवर्तन नहीं हुआ है एवं और भी जो इसी तरहका जल हो जो कि हरीतकी चूर्णादिके द्वारा अच्छी तरह विध्वस्त नहीं हुआ हो-अपने वर्णादिको छोडकर वर्णान्तरको प्राप्त न हुआ हो उसको अपरिणत कहते है। अत एव संयमियोंको उसका ग्रहण न करना चाहिये। ग्रहण करनेपर अपरिणत नामका दोष लगता है। यथाः--

तिलादिजलमुष्णं च तोयमन्यच्च तादृशम्।
कराद्यऽताडितं नैव ग्रहीतव्यं मुमुक्षुभिः ॥

साधारण दोषका स्वरूप बताते हैं -

यद्दातुं संभ्रमाद्वस्त्राद्याकृष्यान्नादि दीयते।
असमीक्ष्य तदादानं दोषः साधारणोऽशने ॥ ३३ ॥

आकुलता भय अथवा आदरसे वस्त्रादिकोंका आकर्षण करके अच्छी तरह पर्यालोचन किये विना ही दाताके द्वारा दीगई आहार औषधादिक वस्तुके ग्रहण करनेमें साधारण दोष माना है। यथाः--

संभ्रमाहरणं कृत्वाऽऽदातुं पात्रादिवस्तुनः।
असमीक्ष्यैव यद्देयं दोषः साधारणः स तु ॥

दायक दोषका स्वरूप बताते हैः-

ज्वरादिक व्याधि अथवा ग्रहादिकोंकी बाधा दूर करनेको चिकित्सा कहते हैं। इसके आठ अङ्ग है—रसायन विष क्षार बाल शरीर भूत शल्य और शलाका। यथाः—

रसायनविषक्षारा कौमाराङ्गचिकित्सिते।
चिकित्सा दोष ष्योऽस्ति भूत शल्य शिराष्टधा॥

अत एव इस चिकित्साविधिके द्वारा उक्त व्याधिबाधाका स्वय प्रतीकार करके अथवा उसके निराकरण का उपदेश देकर जो साधु भोजन करता है उसके चिकित्सा नामका उत्पादन दोष लगता है। क्यों कि ऐसा करनेसे सावद्यादिक अनेक दोषोंकी उद्भूति होती है

आकाशगामिनी आदि अनेक प्रकारकी विद्याएं प्रसिद्ध है। उनका माहात्म्य दिखाकर अथवा उनका दान करके-सिद्ध कराकर, यद्वा मैं तुझको अमुक विद्या दे दूंगा ऐसा आश्वासन देकर भोजन करनेवाले साधुके विद्या नामका दोष लगता है। जैसा कि कहा भी है किः—

विज्जा साधिदसिद्धा तिस्से आसापदाणकरणेहिं।
तिस्से माहप्पेण य विज्जादोसो दुउप्पादो॥

इसी प्रकार मन्त्रका माहात्म्य दिखाकर यद्वा उसका दान करके-सिद्ध कराके अथवा सिद्ध करादेनेका आश्वासन देकर भोजन करनेवाले साधुके मन्त्र नामका दोष लगता है। ऐसा करनेमें लोकप्रतारण, रसनेन्द्रियकी गृद्धि आदि अनेक दोष प्रकट होते है अत एव इनको दोष माना है।

विद्या और मन्त्र इनके दोषोंका स्वरूप प्रकारान्तरसे बताते हैः—

विद्या साधितसिद्धा स्यान्मत्रः पठितसिद्धकः।
त भ्यां चाहूय तौ दोषौ स्तोऽश्नतो भुक्तिदेवताः॥ २६॥

जप होम आदिके द्वारा आराधन करनेपर जो सिद्ध—दशभूत हुई हो उसको विद्या कहते है। उसके द्वारा भुक्तिदेवता—भोजन प्रदान करनेवाले व्यन्तरादिदेवोंका आव्हान करके उनसे प्राप्त हुई आहारौषधादिक सामग्रीके ग्रहण करनेवाले साधुके विद्यानामका दोष होता है। इसी प्रकार जिसका पहले गुरुमुखसे अध्ययन किया हो किन्तु पीछे वह सिद्ध होगया हो—अपनी शक्तिके अनुसार कार्यका साधक बनगया हो उसको मन्त्र कहते हैं। इसके द्वारा उक्त भुक्तिदेवताका आमन्त्रण करके उसके द्वारा सम्पन्न हुई आहार्य सामग्रीका ग्रहण करनेवालेके मन्त्रनामका दोष लगता है। जैसा कि कहा भी है कि,

> विद्यामन्त्रै. समाहूय यदानपतिदेवता।
> साधितः स भवेद्दोषो विद्यामन्त्रसमाश्रयः॥

चूर्ण और मूलकर्म दोषोंको बताते हैः—

> दोषो भोजनजननं भूषाञ्जनचूर्णयोजनाच्चूर्णः।
> स्यान्मूलकर्म चावशवशीकृतिवियुक्तयोजनाभ्यां तत॥ २७॥

वस्तुओंकी रजविशेषको चूर्ण कहते हैं। प्रकृतमें यह दो प्रकारका कहा जा सकता है, एक भूषाचूर्ण दूसरा अंजनचूर्ण। जिससे शरीर शोभायमान या अलकृत हो ऐसी द्रव्यरजको भूषाचूर्ण और जिससे नेत्रोंमें निर्मलता आदि उत्पन्न हो उसको अंजनचूर्ण कहते है। इस तरहके चूर्णोंका दाताकेलिये सम्पादन करके उसके यहां भोजन ग्रहण करनेवाले साधुके चूर्ण नामका दोष लगता है। क्योंकि यह क्रिया जीविकाके द्वारा जीवन करनेमें प्रवृत्त करती है अत एव इसको दोष माना है। जो अपने अधीन नहीं है उसको वशमें करनेका उपाय बताकर या वैसा होनेकी योजना करके, और परस्परमें वियुक्त हुए—विरही स्त्रीपुरुषोका मेल कराकर अथवा उसका उपाय बताकर भोजन ग्रहण करनेवाले साधुके मूलकर्म नामका उत्पाद दोष लगता है। क्योंकि ऐसा करनेमें लज्जादिका आभोग—स्वीकार किया जाता है।

इस प्रकार उत्पादन दोषोंका प्रकरण समाप्त हुआ। अब क्रमप्राप्त दश प्रकारके अशन दोषोंके नाम गिनाते हैं—

शङ्कितपिहितम्रक्षितनिक्षिप्तच्छोटितापरिणताख्याः।
दश साधारणदायकलिप्तविमिश्रैः सहेत्यशनदोषाः ॥ २८ ॥

भोज्यसामग्रीसे सम्बन्ध रखनेवाले दोषोंको अशन कहते हैं। इसके दश भेद हैं:—शंकित पिहि म्रक्षित निक्षिप्त छोटित अपरिणत साधारण दायक लिप्त और विमिश्र।

इनका स्वरूप बतानेकी इच्छासे क्रमके अनुसार पहले शङ्कित और पिहित इन दोषोंका लक्षण करते हैं।

संदिग्धं किमिदं भोज्यमुक्तं नो वेति शंकितम्।
पिहितं देयमप्रासु गुरु प्रास्वपनीय वा ॥ २९ ॥

इस वस्तुको आगममें ग्रहण करनेके योग्य बताया है अथवा अयोग्य ऐसा जिस वस्तुके विषयमें संशय हो उसके ग्रहण करनेमें शङ्कित नामका दोष माना है। अथवा यह वस्तु कहीं अधःकर्मके द्वारा तो निष्पन्न नहीं हुई ऐसा जिसके विषयमें संदेह होजाय, फिर भी उसको यदि ग्रहण करलिया जाय तो भी शंकित नामका दोष होता है।

अप्रासुक वस्तुके द्वारा अथवा प्रासुक किन्तु गुरु—भारी पदार्थके द्वारा ढकी हुई भोज्यसामग्रीको उघाडकर दिये जानेपर ग्रहण करनेमें पिहित नामका दोष लगता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

पिहित यत्सचित्तेन गुर्वचित्तेन वापि यत्।
तत् त्यक्त्वैव च यद्देय बोद्धव्य विहित हि तत् ॥

म्रक्षित और निक्षिप्त दोषोंका लक्षण बताते हैं:—

म्रक्षितं स्निग्धहस्ताद्यैर्दत्तं निक्षिप्तमाहितम् ।
सचित्तक्ष्माग्निवार्बीजहरितेषु त्रसेषु च ॥ ३० ॥

घी तैल आदिके द्वारा स्निग्ध—सचिक्कण हुए हाथ अथवा चमचा करछली आदि पात्रोंके द्वारा दी गई भोज्यसामग्रीके ग्रहण करनेमें म्रक्षित नामका दोष लगता है। जो वस्तु सचित्त पृथिवी जल अग्नि बीज और हरितकाय इन पांचके ऊपर अथवा छठे त्रसकाय—द्वींद्रियसे लेकर पचेन्द्रियतकके ऊपर रक्खी हुई हो, उसके ग्रहण करनेमें निक्षिप्त नामका दोष लगता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

सच्चित्त पुढवि आऊ तेऊ हरिद च बीज तसजीवा ।
ज तेसिमुवरि ठविद णिक्खित्त होदि छब्भेयम् ॥

छोटित दोषका स्वरूप बताते हैं:—

भुज्यते बहुपातं यत्करक्षेप्यथवा करात् ।
गलद्भित्त्वा करौ त्यक्त्वाऽनिष्टं वा छोटितं च तत् ॥ ३१ ॥

प्रकारभेदसे छोटित दोष पांच तरहका है। क्योंकि बहुतसी भोज्यसामग्रीको गिराकर अथवा छोडकर थोडे आहारके ग्रहण करनेमें, और परोसनेवाले दाताके द्वारा हाथपर छोडी गई किन्तु तक्र आदिके द्वारा झरती हुई वस्तुके ग्रहण करनेमें, तथा जिससे भोज्य सामग्री टपक रही है ऐसे हाथसे भोजन करनेमें, एवं दोनो हाथोंको अलहदा अलहदा करके भोजन करनेमें, और अनिष्ट आहारको छोडकर इष्ट पदार्थके ग्रहण करनेमें छोटित दोष लगता है।

अपरिणत दोषको बताते हैं:

[illegible] ॥ २१ ॥

[illegible]

[illegible]

साधारण दोषका स्वरूप बताते हैं:—

[illegible] दीयते ।
असमीक्ष्य तदादानं दोषः साधारणोऽशने ॥ २२ ॥

आकुलता वश अथवा आदरसे वस्त्रादिकोंका आकर्षण करके अच्छी तरह पर्यालोचन किये बिना ही दाताके द्वारा दीगई आहार औषधादिक वस्तुके ग्रहण करनेमें साधारण दोष माना है । यथाः—

सभ्रमाहरण कृत्वाऽऽदातु पात्रादिवस्तुनः ।
असमीक्ष्यैव यद्देय दोषः साधारण स तु ॥

दायक दोषका स्वरूप बताते हैं:—

मलिनीगर्भिणीलिङ्गिन्यादिनार्या नरेण च।
शवादिनापि क्लीबेन दत्तं दायकदोषभाक् ॥ ३४ ॥

रजस्वला गर्भभारसे युक्त अथवा जिनलिङ्ग आदिके धारण करनेवाली आर्यिकाओं तथा दूसरी भी रक्त पटिका आदि अनेक प्रकारकी स्त्रियोंके द्वारा ही नहीं किन्तु शवको श्मशानमें छोडकर आये हुए मृतक सूतकसे युक्त यद्वा व्याधियुक्त तथा क्लीव-नपुंसक आदि पुरुषोंके द्वारा भी दिये हुए आहारको दायक दोषसे युक्त समझना चाहिये।

यहांपर स्त्री पुरुष वेदोंके साथ जो आदि शब्द दिया है उससे और भी आगममें बताये हुए भेदोंका ग्रहण करलेना चाहिये। यथाः—

सूती शोण्डी तथा रोगी शव. पण्ढ. पिशाचवान्।
पतितोच्चारनग्नाश्च रक्ता वेश्या च लिङ्गिनी॥
वान्ताऽभ्यक्ताङ्गिका चातिबाला वृद्धा च गर्भिणी।
अद यन्धा निषण्णा च नीचोच्चस्था च सान्तरा॥
फूत्कार ज्वालन चैव सारण छादन तथा।
विध्यापनाग्निकार्ये च कृत्वा निश्च्यावघट्टने॥
लेपन माजन त्यक्त्वा स्तनलग्न शिशु तथा।
दीयमानेपि दानेस्ति दोषो दायकगोचर.॥

सूती - जननहारी —जिसके सन्तान उत्पन्न हुई हो, जो मद्यपान करनेमें लम्पट हो, जो वातादिककी बाधासे पीडित अथवा भूतपिशाच आदिके द्वारा मूर्च्छित हो, जो रक्ता—मासिक धर्मसे युक्त हो, जो पंचश्रमणिका रक्तपटिका आर्यिका आदिका लिङ्ग धारण करनेवाली हो, जिसने वान्ति की हो, अथवा शरीरमें अभ्यङ्ग लगा रक्खा हो यद्वा पात्रके स्थानसे नीचे या ऊंचे प्रदेशपर खडी हो, जो भींत वगैरहके आडमें आगई हो, जो

अतिमात्र नामक भुक्तिदोषके चौथे भेदका स्वरूप बताते हैं:—

सव्यञ्जनाशनेन द्वौ पानेनैकमंशमुदरस्य ।
भूत्त्वाऽभृतस्तुरीयो मात्रा तदतिक्रमः प्रमाणमलः ॥ ३८ ॥

साधुओंको उदरके दो भाग—भूखके अ धे प्रमाणको व्यजन दाल शाक आदि और अशन--भात रोटी लड्डू आदिक द्वारा भरना-पूर्ण करना चाहिये । त । एक अश—एक चतुर्थांशको पानी आदि द्रव पदार्थोंसे पूर्ण करना चाहिये । किन्तु उदरका एक चतुर्थांश खाली ही रखना चाहिये, परन्तु जो साधु इस प्रमाणका अतिक्रमण करता है उसके अतिमात्र नामका भुक्तिदोष लगता है । जैसा कि कहा भी है कि:

अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशो पानेनैक प्रपूरयेत् ।
आश्रम पवनादीना चतुर्थमवशेषयेत् ॥

पेटका चतुर्थभाग वायु आदिका स्थान माना है । अत एव उसको रिक्त रखना ही उचित है । उसको भी भरलेनेपर आलस्य निद्रा आदि विकार होने लगते हैं, ज्वरादि व्याधियां भी उद्भूत हो सकती हैं; जिससे कि स्वाध्याय आदि आवश्यक कर्मोंकी क्षति ही होती है । इसी लिये अतिप्रमाण भोजनको दोष माना है ।

इस प्रकार पिण्डदोषके छ्यालीस भेदोंका निरूपण करके अब क्रमप्राप्त चौदह मलोंका निरूपण करते हैं:-

पूयास्रपलास्थ्याजिनं नखः कचमृतविकलत्रिके कन्दः ।
बीजं मूलफले कणकुण्डौ च मलाश्चतु र्शान्नगताः ॥ ३९ ॥

जिनमें कि ससक्त—स्पृष्ट होनेपर अन्नादिक आहार्य सामग्री साधुओंको ग्रहण न करनी चाहिये उनको मल कहते हैं । उनके चौदह भेद हैं जिनके कि नाम इस प्रकार हैं—पीव—फोडे आदिमें होजानेवाला कच्चा,

रुधिर, तथा साधारण रुधिर—रक्त-खून, मांस, हड्डी, चर्म, नख. केश. मरा हुवा विकलत्रय—द्वीन्द्रिय त्रींद्रिय चतुरीन्द्रिय, कन्द सूरण आदि, जो उत्पन्न हो सकता हो ऐसा गेंहू आदि बीज, मूली अदरख आदि मूल, बेर आदि फल तथा कण—गेहू जौ आदिका बाह्य खण्ड, और कुण्ड—शाली आदिके अभ्यंतर सूक्ष्म अवयव अथवा बाहरसे पक्व भीतरसे अपक्वको कुण्ड कहते है।

आठ प्रकारकी पिण्डशुद्धिमें पाठ न रहनेके कारण इन मलोंका पृथक् निरूपण किया है।

इनमेंसे उत्तम मध्यम जघन्य भेदोंको गिनाते हैः—

पूयादिदोषे त्यक्त्वापि तदन्नं विधिवच्चरेत ।
प्रायश्चित्तं नखे किञ्चित केशादौ त्वन्नमुत्सृजेत् ॥ ४० ॥

उक्त चौदह मलोंमेंसे आदिके पीव रक्त मांस हड्डी और चर्म इन पांच दोषोंको महादोष माना है। अत एव इनसे संसक्त आहारको केवल छोड ही न देना चाहिये किन्तु उसको छोडकर आगमोक्त विधिके अनुसार प्रायश्चित्त भी ग्रहण करना चाहिये। नखका दोष मध्यम दर्जेका है, अत एव नखयुक्त आहारको छोड तो देना ही चाहिये किन्तु कुछ प्रायश्चित्त भी ग्रहण करना चाहिये। केशादिकका दोष जघन्य दर्जेका है अत एव साधुओंको उनसे युक्त आहार केवल छोड देना चाहिये।

केशादिकसे अभिप्राय केश और मृत विकलत्रयका है। अत एव शेष कन्दादिकके विषयमें विधिका भेद है क्योंकि इस विषयमें ऐसा विधान है कि कन्दादिकको आहारसे अलहदा करदेना चाहिये। यदि वे अलहदा न हो सकते हों तो आहारको भी छोड देना चाहिये। इसी विधिविशेषको बताते हैः—

१—कहीं २ बीजशब्दसे अंकुरित अवस्था ली है। २—कहीं कहीं कण शब्दका अर्थ चावलआदि किया है।

कन्दादिषट्कं त्यागार्हमित्यन्नाद्विभजन्मुनिः ।
न शक्यते विभक्तुं चेत् त्यज्यतां तर्हि भोजनम् ॥ ४१ ॥

कन्द बीज मूल फल कण और कुण्ड ये छह वस्तुएं ऐसी है जो कि आहारसे पृथक् की जा सकती है। अत एव साधुओंको आहारमें यदि ये वस्तुएं मिलगई हों तो उन्हे निकालकर दूर ही कर देना चाहिये। यदि कदाचित् उनका पृथक् करना अशक्य हो तो वह आहार ही छोडदेना चाहिये।

बत्तीस अन्तरायोंका निरूपण करते हैं--

प्रायोन्तराया: काकाद्याः सिद्धभक्तेरनन्तरम् ।
द्वात्रिंशद्व्याकृताः प्राच्यैः प्रामाण्याद्व्यवहारतः ॥ ४२ ॥

काक अमेध्य छर्दि रोधन रुधिर अश्रुपात इत्यादि अन्तरायके ३२ भेद हैं। जिनके निमित्तसे साधुजन भोजनका परित्याग करदेते हैं उनको अन्तराय कहते हैं। ये अन्तराय प्रायः करके सिद्धभक्तिका उच्चारण करनेके अनन्तर हुआ करते हैं। प्राय कहनेसे कोई कोई अन्तराय सिद्धभक्तिके पहले भी होते है यह सूचित होता है, जैसे कि अभोज्यगृहप्रवेश। इस नामका अन्तराय जिसका कि लक्षण आगे चलकर करेंगे, सिद्धभक्तिके पूर्व ही हो सकता है। इन अन्तरायोंका प्राचीन ऋषियोंने सूत्ररूपमें नहीं किन्तु टीकाग्रन्थोंमें व्याख्यान किया है। यद्यपि यहांपर अन्तरायोंके नाम ३२ ही गिनाये हैं किन्तु आम्नायके अनुसार इनके सिवाय और भी अन्तराय हो सकते हैं।

काकनामक अन्तरायका स्वरूप बताते है।

काकश्वादिविडुत्सर्गो भोक्तुमन्यत्र यात्यधः ।
यतौ स्थिते वा काकाख्यो भोजनत्यागकारणम् ॥ ४३ ॥

जहांपर सिद्धभक्तिका उच्चारण किया हो वहांसे किसी कारणवश यदि वह संयमी जिसने कि सिद्धभक्तिका उच्चारण, करलिया है भोजन करनेके लिये किसी अन्य स्थानपर जाय अथवा सिद्धभक्ति करके भोजन ग्रहण करनेके लिये वहीं अथवा अन्यत्र खडा हो जाय और ऊपरसे कोई काक या कुत्ता आदि जानवर मलोत्सर्ग करदे तो काक नामका अन्तराय समझना चाहिये, जो कि भोजन छोडदेनेका कारण है।

अमेध्य छर्दि और रोधन नामक तीन अन्तरायोंका स्वरूप बताते हैं:—

लेपोऽमेध्येन पादादेरमेध्यं छर्दिरात्मना।
छर्दनं रोधनं तु स्यान्मा भुङ्क्ष्वेति निषेधनम् ॥ ४४ ॥

भोजनके लिये स्थानान्तरको जाते हुए अथवा खडे हुए साधुके यदि किसी तरह चारण जङ्घा जानु आदि किसी भी शरीरके अवयवसे अमेध्य—विष्टा आदि अशुचि पदार्थका स्पर्श होजाय तो अमेध्य नामका अन्तराय होता है। यदि किसी कारणसे स्वयं साधुको वमन होजाय तो छर्दिनामका अन्तराय माना है। आज भोजन मत करना, इस प्रकार रोकदेनपर रोधननामका अन्तराय होता है।

रुधिर अश्रुपात और जान्वधःपात इन तीन अन्तरायोंका स्वरूप दो श्लोकोंमें बताते हैं:—

रुधिरं स्वान्यदेहाभ्यां वहतश्चतुरंगुलम्।
उपलम्भोऽस्रपूयादेरश्रुपातः शुचात्मनः ॥ ४५ ॥
पातोश्रूणां मृतेन्यस्य क्व पि वाक्रन्दतः श्रुतिः।
स्याज्जान्वधःपरामर्शः स्पर्शो हस्तेन जान्वधः ॥ ४६ ॥

अपने या परके शरीरसे चार अङ्गुलतक या उससे अधिक रुधिर पीव आदिको वहता हुआ देखनेसे सा

धुको रुधिर नामका अन्तराय होता है। और शोकमे अपना अश्रुपात होजानेको अथवा अपने सम्बन्धीके मरजानेपर जोरसे रोते हुए स्त्री अथवा पुरुषके आक्रन्दनके सुनाइ पड़नेको भी अश्रुपात नामका अन्तराय कहते है। तथा सिद्धभक्तिके अनन्तर अपनी जानुके नीचेके भागका हाथमे स्पर्श होजानेको जान्वधःपरामर्श नामक अन्तराय कहते है।

जानूपरिव्यतिक्रम, नाभ्यधोनिर्गमन, प्रत्याख्यातसेवन, और जन्तुवध इन चार अन्तरायोंका स्वरूप दो श्लोकोंमें बताते हैः—

जानुदघ्न तिरश्चीनकाष्ठाद्यपरिलङ्घनम् ।
जानुव्यतिक्रमः कृत्वा निर्गमो नाभ्यधः शिरः ॥ ४७ ॥
नाभ्यधोनिर्गमः प्रत्याख्यातसेवोज्झिनाशनम् ।
स्वस्याग्रेन्येन पञ्चाक्षघातो जन्तुवधो भवेत् ॥ ४८ ॥

घोंटूतक ऊंचे अथवा उमसे अधिक ऊंचे किन्तु तिरछे लगे हुए काष्ट–अर्गल या पाषाणादिको लांघकर जानेमें जानूपरिव्यतिक्रम नामका अन्तराय होता है। यदि अपने शिरको नाभिमे नीचे करके निकलना पडे तो नाभ्यधोनिर्गम नामका अन्तराय होता है। देवगुरुकी साक्षीमे छोडा हुआ पदार्थ यदि खानेमें आजाय तो प्रत्याख्यातसेवा नामका अन्तराय होता है। यदि अपने ही (संयमीके ही) सन्मुख कोई दूसरा–बिल्ली कुत्ता आदि मूसे आदि पञ्चेन्द्रिय जीवका घात करे तो जन्तुवध नामका अन्तराय होता है।

काकादिपिण्डहरण, पाणिपिण्डपतन, पाणिजन्तुवध, मांसादिदर्शन, उपसर्ग और पादान्तर पञ्चेन्द्रियागमन, इन छह अन्तरायोंका स्वरूप तीन श्लोकोंमें बताते हैः–

काकादिपिण्डहरणं काकगृध्रादिना करात् ।
पिण्डस्य हरणं ग्रासमात्रपातेऽश्नतः करात् ॥ ४९ ॥

स्यात्पाणिपिण्डपतनं पाणिजन्तुवधः करे ।
स्वयमेत्य मृते जीवे मांसमद्यादिदर्शने ॥ ५० ॥
मांसादिदर्शनं देवाद्युपसर्गे तदाह्वयः ।
पादान्तरेण पंचाक्षगमे तन्नामकोऽश्नतः ॥ ५१ ॥

यदि भोजन करते हुए साधुके हाथपरमें काक गृद्ध आदि कोई भी जानवर भोज्य द्रव्यका हरण करले तो काकादिपिण्डहरण नामका अन्तराय होता है। यदि भोजन करते हुए साधुके हाथसे ग्रास गिरजाय तो पाणिपिण्डपतन नामका अन्तराय होता है। यदि भोजन करते हुए साधुके हाथपर कोई जीव आकर विना किसीके प्रयोगके ही मरजाय तो पाणिजन्तुवध नामका अन्तराय होता है। भोजन करते हुए मांस मद्य आदि दीखजाय तो साधुको मांसादिदर्शन नामका अन्तराय होता है। इसी प्रकार--भोजन करते समय देव मनुष्य या तिर्यञ्च इनमेंसे किसीके भी द्वारा यदि उत्पात हो तो देवाद्युपसर्ग नामका अन्तराय होता है। और चलते समय यदि चरणोंके अन्तरालमें पञ्चेन्द्रिय जीव आजाय तो पादान्तरपंचेन्द्रियागमन नामका अन्तराय होता है।

भोजनसंपात और उच्चार नामक दो अन्तरायोंका स्वरूप बताते हैं:—

भूमौ भाजनसंपाते परिवेषिकहस्ततः ।
तदाख्यो विघ्न उच्चारो विष्टायाः स्वस्य निर्गमे ॥ ५२ ॥

संयमीके हस्तपुटपर जलादि सामग्रीका प्रक्षेपण करनेवालेके हाथसे कोई भी पात्र भूमिपर गिरजाय तो भोजनसंपात नामका अन्तराय होता है और यदि स्वयं संयमीके गुदद्वारसे मल-विष्टा निकल जाय तो उच्चार नामका अन्तराय होता है।

प्रस्रवण और अभोज्यगृहप्रवेश इन दो अन्तरायोंका स्वरूप बताते हैं:—

मूत्राख्यो मूत्रशुक्रादे श्चाण्डालादिनिकेतने ।
प्रवेशो भ्रमतो भिक्षोरभोज्यगृहवेशनम् ॥५३॥

यदि सयमीके मूत्र शुक्र अश्मरी आदि निकलजाय तो मूत्रनामका अन्तराय होता है। और भिक्षाकेलिये पर्यटन करते हुए यदि चाण्डाल आदि अस्पृश्य जीवोंके गृहमें प्रवेश होजाय तो उस संयमीके अभोज्यगृहप्रवेश नामका अंतराय माना है। पतन उपवेशन और संदेश इन तीन अन्तरायोंका स्वरूप बताते हैं:—

भूमौ मूर्छादिना पाते पतनाख्यो निपद्यया।
उपवेशनसंज्ञोऽसौ संदंशः श्वादिदंशने ॥ ५४ ॥

यदि स्वयं संयमी मूर्छा भ्रम क्लम श्रम आदिके द्वारा भूमिपर गिरजाय तो पतन नामका अन्तराय होता है और किसी कारणसे भूमिपर बेठना उपवेशन नामका अन्तराय है। कुत्ता तथा बिल्ली आदिके द्वारा काटे जानेपर संदेश नामका अन्तराय होता है।

भूमिस्पर्श निष्ठीवन उदरक्रिमिनिर्गमन और अदत्तग्रहण इन चार अन्तरायोंका स्वरूप दो श्लोकोंमें बताते हैं:—

भूस्पर्शः पाणिना भूमेः स्पर्शो निष्ठीवनाह्वयः ।
स्वेन क्षेपे कफादेः स्यादुदरक्रिमिनिर्गमः ॥ ५५ ॥
उभयद्वारतः कुक्षिक्रिमिनिर्गमने सति ।
स्वयमेव गृहेऽन्नादेरदत्तग्रहणाह्वयः ॥ ५ ॥

हाथसे भूमिका स्पर्श करनेपर भूमिस्पर्श नामका अन्तराय होता है और स्वय ही, न कि खांसी आदिके वशमे कफ थूक नाक आदिका निरसन करनेपर निष्ठीवन नामका अन्तराय होता है। तथा ऊर्ध्वमार्ग-मुखकी तरफसे अथवा अधोमार्ग-गुदद्वारसे उदरगत क्रिमिके निकलनेपर उसी नामका-उदरक्रिमिनिर्गमन अन्तराय होता है। और दाताके दिये विना ही भोजन पान ओषध आदि यदि ग्रहण करलिया जाय तो अदत्तग्रहण नामका अन्तराय होता है।

प्रहार ग्रामदाह पादग्रहण और करग्रहण इन चार अन्तरायोंका स्वरूप दो पद्योंमें बताते हैं:—

प्रहारोऽस्यादिना स्वस्य प्रहारे निकटस्य वा।
ग्रामदाहोऽग्निना दाहे ग्रामस्योद्धृत्य कस्यचित् ॥ ५७ ॥
पादेन ग्रहणे पादग्रहणं पाणिना पुनः।
हस्तग्रहणमादाने भुक्तिविघ्नोऽन्तिमो मुनेः ॥ ५८ ॥

अपना (संयमीका) अथवा निकटवर्ती किसी अन्य व्यक्तिका खड्ग बर्छी आदिके द्वारा प्रहार होनेपर प्रहार नामका अन्तराय होता है। जिसमें स्वयंका निवास हो रहा हो ऐसे ग्रामके अग्निसे जलनेपर अग्निदाह नामका अन्तराय होता है। किसी भी रत्न सुवर्ण आदि वस्तुको पैरसे उठाकर ग्रहण करनेमें पादग्रहण नामका अन्तराय होता है। यदि किसी वस्तुको भूमिपरसे हाथके द्वारा उठाकर ग्रहण किया जाय तो करग्रहण नामका अन्तराय माना है।

इस प्रकार बत्तीस अन्तरायोंका वर्णन किया, किन्तु दो पद्योंमें शेष अन्तरायोंका भी संग्रह करते हैं:—

तद्वच्चाण्डालादिस्पर्शः कलहः प्रियप्रधानमृती।
भीतिर्लोकजुगुप्सा सधर्मसंन्यासपतनं च ॥ ५९ ॥

सहसोपद्रवभवनं स्वभुक्तिभवने स्वमौनभङ्गश्च ।
संयमनिर्वेदावपि बहवोऽनशनस्य हेतवोन्येपि ॥ ६० ॥

अन्तराय शब्दका अर्थ ऊपर बताया जाचुका है कि भोजन छोडदेनेके कारणोंको अन्तराय कहते है। इस अर्थपर विचार करनेसे अन्तरायके ३२ ही भेद है ऐसा निर्धारण—नियम नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त काकप्रभृति अन्तरायोंकी तरह और भी बहुतसे भेद हो सकते हैं। यथा—चाण्डालादिका स्पर्श होजाना, कलह होना, अपने इष्ट अथवा मुख्य व्यक्तिका मरण होजाना, जिस किसीसे पापमय होना, लोगोंमें निन्दाका होना तथा साधर्मीका सन्यासमरण होजाना, यद्वा जिस गृहमें भोजन कर रहे हों उसमें अकस्मात् उपद्रवका हो उठना, जो कि भोजनके समय अवश्य ही पालनीय है ऐसे अपने मौनका अज्ञानसे अथवा प्रमादसे भङ्ग होजाना, इसी प्रकार संयम—प्राणिरक्षा और इन्द्रियोंका दमन करनेके लिये परिणामोंका निग्रह करना, तथा निर्वेद—संसार शरीर और भोगोंके विषयमें वैराग्यकी सिद्धि और वृद्धिके लिये जो प्रयत्न किया जाय वह भी अन्तराय कहा जा सकता है। अत एव यद्यपि अन्तरायके ३२ भेद गिनाये है किन्तु अर्थकी अपेक्षासे उसके अनेक भेद हो सकते है।

आहार ग्रहण करनेके कारणोंको बताते है: —

क्षुच्छमं संयमं स्वान्यवैयावृत्त्यमसुस्थितिम् ।
वाञ्छन्नावश्यकं ज्ञानध्यानादींश्चाहरेन्मुनिः ॥ ६१ ॥

क्षुधाबाधाका उपशमन, संयमकी सिद्धि और स्वपरकी वैयावृत्त्य—आपत्तियोंका प्रतीकार करनेके लिये तथा प्राणोंकी स्थिति बनाये रखनेके लिये एवं आवश्यकों और ध्यानाध्ययनादिको निर्विघ्न चलते रहनेके लिये मुनियोंको आहारग्रहण करना चाहिये. भावार्थ— साधुओंको आत्मकल्याणका सहायक समझकर ही आहार ग्रहण करना चाहिये न कि शरीरको सुदृढ सुंदर और सतेज बनाये रखनेकेलिये अथवा रसनेंद्रियादिकोंकी तृप्तिकेलिये। जैसा कि कहा भी है कि,

वेयणवज्जावच्चे किरियुट्ठाणे य मजमट्ठाए ।
तवपाणधम्मचिंता कुज्जा एदेहिं आहारं ॥

जो मनुष्य वुभुक्षासे पीडित है उसके दया क्षमा आदिक कोई भी गुण स्थिर नहीं रह सकते ऐसा उपदेश देते हैं:—

बुभुक्षाग्लपिताक्षाणां प्राणिरक्षा कुतस्तनी ।
क्षमादयः क्षुधार्तानां शंक्याश्चापि तपस्विनाम् ॥ ६२ ॥

जिन मनुष्योंकी इंद्रियोंको क्षुधाबाधाने सर्वथा अशक्त बना डाला है उनके भीतर प्राणिरक्षा-दया कहांसे आसकती है. इसी प्रकार चिरकालसे तपस्या करनेवाले भी किन्तु वुभुक्षापीडित साधुके क्षमादिक गुणोंके स्थिर रहनेमें संदेह ही समझना चाहिये ।

योगियोंमें भी जो क्षुधासे अशक्त है उसके लिये वैयावृत्त्यका करना कठिन होजाता है । इसी प्रकार उनके प्राणोंका सुरक्षित रहना भी आहारपर ही अवलम्बित है । अत एव उनको आहारमें प्रवृत्ति करनेका उपदेश देते हैं:-

क्षुत्पीतवीर्येण परः स्ववदार्तो दुरुद्धरः ।
प्राणाश्चाहारशरणा योगकाष्ठाजुषामपि ॥ ६३ ॥

क्षुधाके द्वारा नष्ट होगई है शक्ति जिसकी ऐसा मनुष्य जब कि स्वयं ही दुःखी अथवा पीडित हो रहा है तब क्या उसके लिये दूसरे दुःखपीडित लोगोंका उद्धार करना अशक्य नहीं है-अवश्य है। इसी प्रकार जो आरब्धयोगी है अथवा जिन्होंने अभी योगका आरम्भ भी नहीं किया है उनकी तो बात ही क्या, जो घटमानयोगी है और जिन्होंने यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि इस अष्टाङ्ग योगका अभ्यास किया है उनके भी प्राणोंको निःसन्देह आहार ही शरण है ।

भोजन छोडनेके निमित्तोंको दिखाते हैं:—

आतङ्के उपसर्गे ब्रह्मचर्यस्य गुप्तये ।
कायकार्श्यतपःप्राणिदयाद्यर्थं च नाहरेत् ॥ ६४ ॥

किसी भी आकस्मिक व्याधि—मारणान्तिक पीडाके उठ खडे होनेपर, देवादिकके द्वारा किये गये उत्पातादिकके उपस्थित होनेपर, अथवा ब्रह्मचर्यको निर्मल बनाये रखनेकेलिये यद्वा शरीरकी कृशता तपश्चरण और प्राणिरक्षा आदि धर्मोंकी सिद्धिके लिये भी साधुओंको भोजनका परित्याग करदेना चाहिये ।

साधुओंको स्वास्थ्यकी स्थिरताकेलिये सर्वेषणादिकोंके द्वारा भोजन करनेका उपदेश देते हैं:—

द्रव्यं क्षेत्रं बलं कालं भावं वीर्यं समीक्ष्य च ।
स्वास्थ्याय वर्ततां सर्वविद्धशुद्धाशनैः सुधीः ॥ ६५ ॥

विचारपूर्वक आचरण करनेवाले साधुओंको आरोग्य और आत्मस्वरूपमें अवस्थान रखनेके लिये द्रव्य क्षेत्र काल भाव बल और वीर्य इन छह बातोंका अच्छी तरह पर्यालोचन करके सर्वाशन विद्धाशन और शुद्धाशन के द्वारा आहारमें प्रवृत्ति करना चाहिये ।

आहारादिक सामग्रीको द्रव्य, और पृथ्वीके जाङ्गलादिक प्रदेशको क्षेत्र कहते हैं । यह क्षेत्र तीन प्रकारका माना है—जाङ्गल अनूप और साधारण, जिनका कि लक्षण इस प्रकार है—

देशोल्पवारिद्रुनगो जाङ्गलः स्वल्परोगदः ।
अनूपो विपरीतोऽस्मात्समः साधारणः स्मृतः ॥
जाङ्गलं वातभूयिष्ठमनूपं तु कफोल्बणम् ।
साधारणं सममलं त्रिधा भूदेशमादिशेत् ॥

पृथ्वीके जिस भागमें जल वृक्ष और पर्वत अल्प प्रमाणमें पाये जाते है उसको जाङ्गल कहते हैं। इसमें रोगोंकी उत्पत्ति प्रायः कम हुआ करती है। इससे ठीक विपरीत प्रदेशको अर्थात जिसमें जल वृक्ष और पर्वत अधिक प्रमाणमें पाये जांय उसको अनूप कहते हैं। और जहांपर ये जलादिक वस्तुए समरूपमें पाई जाती हैं कम या अधिक नही पाई जाती उस प्रदेशको साधारण कहते है। जाङ्गल देशमें वातकी और अनूपदेशमें कफकी प्रधानता रहा करती है, किन्तु साधारणप्रदेशमें वात पित्त और कफ तीनोंही समानरूपमें रहा करते है।

हेमन्त शिशिर वसन्त ग्रीष्म वर्षा और शरद् इन छह ऋतुओंको काल समझना चाहिये। इनके भेदसे भी चर्यामें भेद हुआ करता है। यथा--

शरद्वसन्तयो–रूक्ष शीत घर्मघनान्तयो ।
अन्नपान समासेन विपरीतमतोन्यदा ॥

शरद् और वसन्त ऋतुमें रूक्ष तथा ग्रीष्म और वर्षा ऋतुमें शीत अन्नपान ग्रहण करना चाहिये। और भिन्न समयमें इससे विपरीत भोजन पान करना चाहिये। यथाः--

शीते वर्षासु चाद्यास्त्रीन्वसन्तेऽन्त्यान् रसान्भजेत् ।
स्वादु निदाघ शरदि स्वादुतिक्तकषायकान् ॥
रसा स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायका ।
षड्द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्व बलावहा ॥

पृथिवी जल अग्नि वायु और वनस्पति आदिके सम्बन्धमें रहनेवाले रस छह प्रकारके माने है–मधुर अम्ल लवण तिक्त उषण और कषाय। इनको उत्तरोत्तर क्रम कम बलवर्धक माना है। फलतः मधुर रस सबसे अधिक और कषाय सबसे कम बलवर्धक माना है। इनमेंसे आदिके तीन रसोंको शीत और वर्षामें तथा अन्तके तीन रसोंको वसन्तमें तथा ग्रीष्म ऋतुमें मधुर रस और शरद् ऋतुमें मधुर तिक्त और कषाय रसका सेवन करना चाहिये।

भावशब्दका अर्थ श्रद्धा उत्साह आदि तथा बलशब्दका अर्थ अन्नपानादिके निमित्तसे उत्पन्न हुई शा

रीरिक सामर्थ्य और वीर्यशब्दका अर्थ स्वाभाविक शक्ति होता है।

एषणा समितिके द्वारा शुद्ध भोजनको सर्वाशन, और गुड तैल तथा घी दूध दही आदिसे रहित किन्तु छाछ आदिसे युक्त निर्विकृत भोजनको विद्धाशन, तथा पककर जैसा तयार हुआ हो वैसेके वैसे ही-जिसमें किसी भी प्रकारसे—व्यञ्जनादिकके द्वारा अन्यथापन नहीं लाया गया है ऐसे भोजनको शुद्धाशन कहते है।

इस श्लोकमें च शब्दके द्वारा जो विशेष बात बताई है वह यह है कि सर्वाशनादिकसे विपरीत-असर्वाशन अविद्धाशन और अशुद्धाशन कदाचित् योग्य किंतु कदाचित् अयोग्य दोनों ही प्रकारका हो सकता है। अत एव उनका भले प्रकार पर्यालोचन करके ही ग्रहण करना चाहिये।

जो भोजन विधिपूर्वक किया जाता है उससे स्व और पर दोनोंका उपकार होता है, इस बातको प्रकट करते हैः-

यत्प्रत्तं गृहिणात्मने कृतमपेतैकाक्षजीव त्रसै,—
र्निर्जीवैरपि वर्जितं तदशनाद्यात्मार्थसिद्ध्यै यतिः।
युञ्जन्नुद्धरति स्वमेव न परं किं तर्हि सम्यग्दृशं,
दातारं द्युशिवश्रिया च सचते भोगैश्च मिथ्यादृशम् ॥ ६६ ॥

जिस भक्तपान औषध आदिको गृहस्थने स्वयं अपने ही लिये बनाया हो और जो कि मृत अथवा जीवित द्वीन्द्रियादिक जीवोंसे तथा एकेन्द्रिय प्राणियोंसे सर्वथा रहित है ऐसे उस भक्त पानादिको नवधा भक्ति के द्वारा गृहस्थके द्वारा दिये जानेपर आत्मकल्याणको सिद्ध करनेके अभिप्रायसे विधिपूर्वक ग्रहण करनेवाला यति संयमी केवल अपना ही नहीं किन्तु उस दाताका भी उपकार किया करता है। क्योंकि यदि वह दाता सम्यग्दृष्टि हो तब तो उसको स्वर्ग मोक्षरूपी लक्ष्मीसे युक्त बनादेता है और यदि मिथ्यादृष्टि हो तो उसे अभीष्ट विषयोंकी प्राप्ति करादेता है।

ब्राह्मणादिकोंमेंसे जो गृहस्थ नित्य नैमित्त अनुष्ठान करनेवाले हैं वे दाता हो सकते हैं, किन्तु शिल्पी आदि नहीं हो सकते जैसा कि कहा भी है कि--

शिल्पिकारुकवाक्पण्यशफलीपतितादिपु ।
देहस्थितिं न कुर्वीत लिङ्गिलिङ्गोपजीविपु ॥
दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिता ।
मनोवाक्कायधर्माय मता सर्वेपि जन्तव ॥

जिस नवधा भक्तिसे दाता दान देता है उसको नवपुण्यशब्दसे कहा है । जिसके कि नाम इस प्रकार हैं—

पडिगहमुच्चठ्ठाण पादोदयमच्चण च पणमं च ।
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धीय णवविह पुण्ण ॥

प्रतिग्रह उच्चस्थान पादप्रक्षालन पूजन प्रणाम और मन वचन कायकी शुद्धि तथा भोजनसम्बन्धी शुद्धि इस प्रकार नौ कर्तव्योंको नवपुण्यशब्दसे कहा है ।

द्रव्यशुद्धि और भावशुद्धिमें क्या अन्तर है सो बताते हैं:-

द्रव्यतः शुद्धमप्यन्नं भावाशुद्ध्या प्रदुष्यते ।
भावो ह्यशुद्धो बन्धाय शुद्धो मोक्षाय निश्चितः ॥ ६७ ॥

यदि अन्न--भोज्य सामग्री द्रव्यतः शुद्ध-प्रासुक भी हो किन्तु भावतः—'मेरे इसने यह बहुत अच्छा किया' इत्यादि परिणामोंकी दृष्टिसे अशुद्ध हैं तो उसको अशुद्ध-सर्वथा दूषित ही समझना चाहिये । क्योंकि बन्धमोक्षके कारण परिणाम ही माने हैं । आगममें अशुद्ध परिणामोंको कर्मबन्धका और विशुद्ध परिणामोंको मोक्षका कारण बताया है । अत एव जो अन्न द्रव्यसे शुद्ध रहते हुए भी भावसे भी शुद्ध है उसीको ग्रहण करना चाहिये । जैसा कि कहा भी है कि—

प्रगता असवो यस्मादन्नं तद् द्रव्यतो भवेत् ॥
प्रासुकं किं तु तत्स्वस्मै न शुद्धं विहितं मतम् ॥

दूसरेके लिये बनाये हुए अन्नका ग्रहण करनेवाला भोक्ता यति दूषित नहीं होता इस बातको दृष्टान्त-द्वारा दृढ करते हैं—

योक्ताऽधःकर्मिको दुष्येन्नात्र भोक्ता विपर्ययात् ।
मत्स्या हि मत्स्यमदने जले माद्यन्ति न प्लवाः ॥ ६८ ॥

अन्नादिककी योजना करने बनाने तथा रखने उठाने संचय आदि करनेमें प्रवृत्ति दाताकी हुआ करती है अत एव अधःकर्मसम्बन्धी दूषण दाताको ही लगता है, न कि भोक्ताको, क्योंकि उसका अधःकर्मसे बिलकुल भी सम्बन्ध नहीं रहता। ठीक ही है—यदि जल मत्स्योंके लिये मदका कारण बनजाय तो उससे मत्स्य ही मदको प्राप्त हो सकते हैं, न कि मण्डूक। जैसा कि कहा भी है कि—

मत्स्यार्थं प्रकृते योगे यथा माद्यन्ति मत्स्यकाः ।
न मण्डूकास्तथा शुद्धः परार्थं प्रकृते यतिः ॥
अधःकर्मप्रवृत्तः सन् प्रासुद्रव्येपि बन्धकः ।
अधःकर्मण्यसौ शुद्धो यतिः शुद्धं गवेषयेत् ॥

अथवा—

आधाकम्मपरिणदो पासुगदव्वेपि बंधगो भणिदो ।
सुद्धं गवेसमाणो आधाकम्मेवि सो सुद्धो ॥

प्रासुक द्रव्यको ग्रहण करते हुए भी यदि साधु अधःकर्मसे प्रवृत्त होता है तो वह कर्मोंका बन्ध ही करता है। अत एव शुद्ध आहारकी गवेषणा करनेवाले साधुको अधःकर्मके विषयमें भी विशुद्ध ही रहना चाहिये।

इस प्रकार इस अध्यायमें पिण्डशुद्धिका वर्णन करके अन्तमें शुद्ध आहारके निमित्तसे प्राप्त हुई सामर्थ्यके द्वारा त्रिकालसम्बन्धी—भूत भविष्यत् और वर्तमान सिद्धिविषयक उत्साहको उद्योतित करनेवाले मुमुक्षुओंसे ग्रन्थकर्त्ता—आशाधर अपनी सिद्धिकी प्रार्थना करते हैं—

विदधति नवकोटीशुद्धभक्ताद्युपाजे,—
कृतनिजवपुषो ये सिद्धये सज्जमोजः ।
विदधतु मम भूता भाविनस्ते भवन्तो,—
प्यसमशमसमृद्धाः साधवः सिद्धिमद्धा ॥ ६९ ॥

कृत कारित अनुमोदनाको मन वचन और कायसे गुणा करनेपर नवभङ्ग होते हैं। इन्हीको नवकोटी कहते हैं। इन नवकोटियोंसे शुद्ध भोजन पानादिके द्वारा अपने शरीरको बलाधान पहुंचानेवाले और अद्वितीय उपशमरूप समृद्धिको धारण करनेवाले जो साधु अपने उत्साहको सिद्धिके प्राप्त करनेमें साक्षात् समर्थ बना रहे है अथवा बना चुके है या जो आगे चलकर बनावेंगे वे परम साधु मुझको भी शीघ्र ही निज आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करावें।

यहांपर ' कृतनिजवपुषः " की जह विकल्पमें " कृततनुसुहृद " ऐसा भी पाठ रक्खा है। क्योंकि सिद्धि प्राप्त करनेमें अनुकूल कारण बनकर आत्माकेलिये शरीर मित्रकी तरह उपकारक है।

ऊपर जो नवकोटीके भेद बताये है उसके सिवाय आर्ष आगममें प्रकारान्तरसे भी उनको गिनाया है। यथा:—

दातुर्विशुद्धता देयं पात्रं च प्रपुनाति सा ।
शुद्धिर्देयस्य दातारं पुनीते पात्रमप्यद. ॥
पात्रस्य शुद्धिर्दातारं देयं चैव पुनात्यत ।
नवकोटिविशुद्ध तद्दानं भूरिफलोदयम् ॥

दाता देय और पात्र इनकी शुद्धिका सम्बन्ध परस्परमें जोडनेसे नव भेद होजाते हैं। यथाः—दाताकी शुद्धिमे देय और पात्रकी शुद्धि होना तथा देयकी शुद्धिमे दाता और पात्रकी शुद्धिका होना, एवं पात्रकी शुद्धिसे दाता और देयकी शुद्धिका होना। 'जिस दानमें ये नव शुद्धि पाई जाती है वह अत्यंत उत्कृष्ट फल देता है, इसमें सन्देह नहीं है।

पिण्डशुद्धिविधानीय नामा

पञ्चम अध्याय

समाप्त ॥



अथ षष्ठाऽध्यायः ।

उस रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्गमें जिसका कि लक्षण पहले बताया जा चुका है महान् उद्योग करनेका जिन्होंने दृढ विचार करलिया है और जो कायिक वाचिक तथा मानसिक अथवा सहज शारीर और आगन्तुक इन तीन प्रकारके तापोंका उच्छेदन करना चाहते है उन साधुओंको समीचीन तपके आराधनके उपक्रमकी विधि बताते है:—

दृग्वज्रद्रोण्युपघ्नेऽद्भुतविभववृषद्वीपदीप्रे स्फुटानु,—
प्रेक्षातीर्थे सुगुप्तिव्रतसमितिवसुभ्राजि बोधाब्जराजि ।
मग्नोन्मग्नोर्मिरत्नत्रयमहिमभरव्यक्तिदृष्टेऽभियुक्ता,
मज्जन्त्विच्छानिरोधामृतवपुषि तपस्तोयधौ तापशान्त्यै ॥ १ ॥

मोक्षमार्गमें चलनेका निरंतर ही उद्योग करनेवाले साधुओंको मानसिक वाचनिक और कायिक अथवा सहज शारीर और आगन्तुक इन तीन प्रकारके संतापोंकी शान्तिके लिये या दुःखोंका उच्छेद करने के लिये इच्छानिरोधरूपी अमृत ही है शरीर जिसका ऐसे तपरूपी समुद्रमें निरंतर स्नान और अवगाहन करना चाहिये।

रत्नत्रयको आविर्भूत करनेके लिये जो इच्छाओंको निरोध किया जाता है उसका तप कहते है। इसमें अवगाहन करना उतना ही कठिन है जितना कि समुद्रमें। अत एव इसको समुद्रके समान बताया है। जिस प्रकार संसारमें अग्नि अथवा धूप आदिके संतापको दूर करनेवाला अपूर्व कारण अमृत माना गया है उसी प्रकार समस्त सांसारिक संतापोंका शमन करनेके लिये मोहनीयकर्मजनित इच्छाओंका निग्रह अद्वितीय साधन

माना गया है। अत एव इस इच्छानिरोधरूपी अमृतको जो तपरूपी समुद्रका शरीर कहा है सो ठीक ही है। क्यों कि इसीमें अवगाहन करनेसे समस्त संताप दूर हो सकते है।

इस तपःसमुद्रका आश्रय सम्यग्दर्शनरूपी वज्रमय नौका है।

जिस प्रकार समुद्रका आधार स्थल वज्रमय नावके आकारमें है उसी प्रकार तपस्याका भी आश्रय दृढ सम्यग्दर्शन है। जिस प्रकार समुद्रमें उद्भूत वैभवको धारण करनेवाले अन्तर्द्वीप रहा करते है उसी प्रकार तपश्चरणमें विस्मयनीय विभूतिको सम्पन्न करनेवाले उत्तम क्षमा आदि दश धर्म रहा करते है। धर्मोको अन्तर्द्वीपोंके समान बताना ठीक ही है; क्योंकि जिस प्रकार अन्तर्द्वीपोंकी देवगण नित्य सेवा किया करते हैं उसी प्रकार मुमुक्षुजन इन धर्मोंकी सेवा किया करते है। जिस प्रकार समुद्रमें प्रवेश करनेकेलिये किनारेपर घाट बने रहते है उसी प्रकार तपःसमुद्रमे प्रवेश करनेकेलिये अनित्य अशरण संसार एकत्व अन्यत्व अशुचित्व आदि बारह अनुप्रेक्षाओंको समझना चाहिये। जिस प्रकार समुद्रमें जगतको आल्हादित करदेनेवाले हीरा मोती आदि रत्न रहा करते हैं उसी प्रकार तपश्चरणमें समीचीन व्रत गुप्ति और समिति हुआ करती हैं॥ समुद्र यदि जगतको आल्हादित करनेवाले चन्द्रमाके द्वारा शोभायमान होता है तो तपश्चरण वैसे ही सम्यग्ज्ञानके द्वारा प्रदीप्त होता है। जिस प्रकार समुद्र में कोई कोई लहरी निमीलित और कोई कोई उन्मीलित रहा करती हैं उसी प्रकार तपश्चरणमें भावनाबलके द्वारा कोई कोई परीषह तिरोहित—अपना कार्य करनेमें असमर्थ और कोई कोई उद्भूत—कार्य करनेमें समर्थ रहा करती है। जिस प्रकार समुद्र अपने ऐरावत कौस्तुभ और पारिजात इन तीन रत्नोंके माहात्म्यका अतिशय प्रकट होनेसे अपने उत्कर्षकी सम्भावना किया करता है उसी प्रकार तपश्चरण भी अपनेको सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इस रत्नत्रयस्वरूप परिणत आत्माके घाति अघाति कर्मोंका क्षपण करनेमें समर्थ शक्त्यतिशयके द्वारा उत्कृष्ट प्रकट करता है।

भावार्थ—समुद्रसमान तपश्चरणमे अवगाहन करनसे ही सांसारिक तापत्रयकी शान्ति हो सकती है और रत्नत्रय तथा आत्मोपलब्धिकी प्राप्ति हो सकती है। अत एव साधुओंको मोक्षमार्गमें महोद्योग करनेके लिये इस तपःसमुद्रमें अवगाहन करना ही चाहिये।

दश धर्मोंका स्वरूप बताते हैं—

क्रूरक्रोधाद्युद्भवाङ्गप्रसङ्गेप्यादत्तेऽद्धा यन्निरीहः क्षमादीन् ।
शुद्धज्ञानानन्दसिद्ध्यै दशात्मा ख्यातः सम्यग्विश्वविद्भिः स धर्मः ॥२॥

दुःख अथवा दुर्निवार क्रोधादि कषायोंका उद्भव करदेनेवाले कारणोंका व्यक्तरूपमें अथवा सहसा प्रसंग आजानेपर भी ऐहिक विषयोंके लाभादिककी अपेक्षा न रखकर जो अन्तःकलुषताके उपरमका धारण करना उसको धर्म कहते हैं। जिसको कि सर्वज्ञ देवने शुद्धज्ञान तथा शुद्धप्रमोदकी सिद्धीका साधन बताया है और जो कि उत्तम क्षमा उत्तम मार्दव उत्तम आर्जव उत्तम सत्य उत्तम शौच उत्तम संयम उत्तम तप उत्तम त्याग उत्तम आकिञ्चन्य उत्तम ब्रह्मचर्य इस तरह दश प्रकारका है।

कषाय आत्माको तेजका नाश करनेवाले और अत्यंत दुर्जय हैं इस बातको प्रकाशित करते हुए उनकी जेयता दिखाकर यह बात भी बताते हैं कि उनका विजय करलेनेपर ही वास्तविक आत्मरूपकी उपलब्धि हो सकती है—

जीवन्तः कणशोपि तत्किमपि ये घ्नन्ति स्वनिघ्नं मह,—
स्ते सद्भिः कृतविश्वजीवविजया जेयाः कषायद्विषः ।
यन्निर्मूलनकर्मठेषु बलवत्कर्मारिसंघाश्रिता,—
मासंसारनिरूढबंधविधुरा नोत्क्राथयन्ते पुनः ॥ ३ ॥

अधिक प्रमाणकी तो बात ही क्या एक कण—अंशमात्र भी अस्तित्वमें बैठे हुए कषायरूपी शत्रु जिन्होंने कि समस्त संसारके जीवोंपर विजय प्राप्त कर रक्खा है, आत्माके उस स्वाधीन तेजका जो कि अनिर्वचनीय है

नाश करदेते है। किंतु जो इन कषाय शत्रुओंका निःशेष नाश करनेमें शूर है उनको अनादिकालसे परतन्त्रताके दुःखको पुनःपुन भुगानेवाले एवं बलवान् भी ये कर्मशत्रुओंके संघ उत्पीडित नही कर सकते, अत एव साधुओंको इन क्रोधादिक शत्रुओंके जीतनेका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये।

क्रोध कषायका फल अनर्थ ही है इस बातको दिखाकर उसके जीतनेका उपाय बताते है:—

कोपः कोप्यग्निरन्तर्बहिरपि बहुधा निर्दहन् देहभाजः,
कोपः कोप्यन्धकारः सह दृशमुभयीं धीमतामप्युपघ्नन्।
कोपः कोपि ग्रहोऽस्तत्रपमुपजनयन् ,जन्मजन्माभ्यपायां,—
स्तत्कोपं लोप्तुमाप्तश्रुतिरसलहरी सेव्यतां क्षान्तिदेवी ॥ ४ ॥

क्रोध कषायको एक अपूर्व अग्निके समान समझना चाहिये जो कि संसारी प्राणियोंके बाह्य शरीर नेत्र आदिकोंको तथा अन्तस्तत्त्व-आध्यात्मिक भावोंका नाना प्रकारसे ऐसा भस्मसात् किया करता है कि जिसका कोई प्रतीकार नही हो सकता। यद्वा उसको एक अपूर्व अन्धकारके तुल्य समझना चाहिये जो कि मूर्खोंकी तो बात ही क्या, विद्वानोंकी भी अन्तरङ्ग और बाह्य दोनो ही प्रकारकी दृष्टियोंको अन्धा बना देता है। अथवा उसको एक अपूर्व ग्रहके समान भी कहा जा सकता है जो कि निर्लज्जताके साथ साथ नाना प्रकारके क्लेशोंको इस जन्म और जन्मान्तरोंमें भी उत्पन्न किया करता है। फलतः यह बात सिद्ध है कि क्रोधका फल अनर्थके सिवाय और कुछ भी नहीं है। अत एव मुमुक्षुओंको इस कोपका लोप करनेके लिये उस क्षमादेवताका आराधन करना चाहिये, जो कि आप्तोक्त आगमके अर्थज्ञानका उल्हास करनेमें कारण है।

उत्तमक्षमाके माहात्म्यकी प्रशंसा करते है--

यः क्षाम्यति क्षमोप्याशु प्रतिकर्तुं कृतागसः।
कृत्वागसं तमिच्छन्ति क्षान्तिपीयूषसंजुषः ॥ ५ ॥

अपना अपराध करनेवालोंका शीघ्र ही प्रतीकार करनेमें समर्थ रहते हुए भी जो पुरुष अपने उन अपराधियोंके प्रति उत्तम क्षमा धारण करता है उसको क्षमारूपी अमृतका समीचीनतया सेवन करनेवाले साधुजन पापोंको नष्ट करदेनेवाला समझते हैं।

क्षमाभावनाकी विधि बताते हैं।—

प्राग्वास्मिन्वा विराध्यन्निममहमबुधः किल्बिषं यद्बबन्ध,
क्रूरं तत्पारतन्त्र्याद् ध्रुवमयमधुना मा शपन्कामममाघ्नन्।
निघ्नन्वा केन वार्यः प्रशमपरिणतस्याथवावश्यभोग्यं,
भोक्तुं मेद्यैव योग्यं तदिति वितनुतां सर्वथार्यस्तितिक्षाम् ॥ ६ ॥

मुझ अल्पज्ञने पूर्वजन्ममें अथवा इसी जन्ममें जो इस जीवकी विराधना की थी उससे दुःखद एवं उदग्र पापकर्मका बन्ध किया जिसकी कि परतन्त्रताके कारण ही आज मुझको यह गाली दे रहा है अथवा चाबुकसे पीट रहा है यद्वा मेरे प्राणोंका अपहरण कर रहा है। भला जिसकी कि मैंने विराधना की वह यदि उस विराधनाजनित पाप कर्मके उदयमें मेरे साथ भी वैसा ही व्यवहार करे तो उसको वैसा करनेसे कौन रोक सकता है। क्योंकि संचित कर्मोंका फल अवश्य ही भोगना पडता है। जब कि वह अवश्य ही भोगना पडता है तब मुझको प्रशमरूप परिणत होकर आज ही उनका भोगलेना योग्य है। इस प्रकारसे साधुओंको अपनी क्षमाभावना विस्तृत करनी चाहिये।

भावार्थ—किसी विराधकके उपस्थित होनेपर साधुओंको ऐसा विचार करना चाहिये कि मेरे पूर्वसंचित पापकर्मके उदयसे ही यह मेरे प्रति ऐसा व्यवहार कर रहा है। अत एव इस पापफलको मध्यस्थ भावोंसे जहांतक हो, शीघ्र ही भोगलेना उचित है, जिससे कि इन कर्मोंकी निर्जरा हो जाय।

किसीके इस तरहसे गाली आदि दिये जानेपर भी कि जिसके सुनते ही क्रोध उत्पन्न हो जाय, जो साधु

अपने चित्तको सयत रखता है उसीको इष्ट आत्मोपलब्धि हो सकती है, इस बातको बताते हैं:—

दोषो मेस्तीति युक्तं शपति शपति वा तं विनाज्ञः परोक्षे,
दिष्ट्या साक्षान्न साक्षादथ शपति न मां ताडयेत्ताडयेद्वा ।
नासून् मुष्णाति तान्वा हरति सुगतिदं नैष धर्मं ममेति,
स्वान्तं यः कोपहेतौ सति विशदयति स्याद्धि तस्येष्टसिद्धिः ॥ ७ ॥

उत्तम क्षमाका साधक जो मुमुक्षु किसीके गाली आदि देने अथवा निन्दा आदि करनेपर इस तरहका विचार करता है कि मेरे पापकर्मके उदयके वशीभूत हुआ यह जीव जिन दोषोंके सबबसे मेरी निन्दा कर रहा है, सचमुचमें वे दोष मुझमें मौजूद हैं, अथवा मुझमें दोषोंके न रहनेपर भी जो मेरी यह बुराई करता है सो इसका यह लडकपन है, क्योंकि असद्भूत दोषोंका उद्भावन अज्ञ बालक ही कर सकते हैं, या किया करते है। अथवा मेरे परोक्षमें मेरी बुराई करके इसने मेरा बढप्पन ही रक्खा है। यदि कोई प्रत्यक्षमें ही निन्दा करता हो तो जो साधु ऐसा विचार करता है कि–" यह केवल मेरी निन्दा ही तो करता है मुझको मारता या पीटता तो नहीं है," यदि वह पीटता हो तो उसके विषयमें ऐसा विचार करता है कि " मुझको पीटता ही है न, मेरे प्राणोंका अपहरण तो नहीं करता, " यदि कोई वैसा भी करनेलगे तो जो उत्तम क्षमाका निधि अपने मनमें ऐसा विचार किया करता है कि " यह मेरे प्राणोंका अपहरण ही करता है न कि मेरे स्वर्गापवर्गरूप फल देनेवाले आत्मधर्मका; " उसी साधुके अभीष्ट अर्थकी सिद्धि हो सकती है।

भावार्थ—निन्दा आदि क्रोधके निमित्त मिलजानेपर भी जो साधु अपने हृदयको प्रशान्त रखता है–विकृत नही होने देता उसके व्रत शील आदि सब सुरक्षित रहते और इस लोकमें अथवा परलोकमें कहीं भी उसको

१–इसको अपनेमें दोषोंके सद्भावका चिन्तवन करना कहते है।

दुःख नहीं भोगना पडता। उसको सर्वत्र सम्मान सत्कार आदिका लाभ ही होता है।

क्रोधका फल अपकीर्ति तथा दारुण दुःख ही है, इसी बातको दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हुए उसका दूरहीसे परित्याग करनेका उपदेश देते हैं—

नाद्याप्यन्त्यमनोः स्वपित्यवरजामर्षार्जितं दुर्यशः,
प्रादोदोन्मरुभुतिमत्र कमठे वान्तं सकृत् क्रुद्विषम्।
दग्ध्वा दुर्गतिमाप यादवपुरीं द्वीपायनस्तु क्रुधा,
तत्क्रोधं ह्यरिरित्यजत्वपि विराराधत्यरौ पार्श्ववत् ॥ ८ ॥

अन्तिम मनु—भरतचक्रवर्तीका अपने छोटे भाई बाहुबलि कुमारके ऊपर किये गये क्रोधद्वारा संचित अपयश क्या आजतक इतना समय बीतजानेपर भी सो गया, नहीं, वह बराबर जागृत है और अपना काम कर रहा है। इसी प्रकार अपने बडे भाई कमठके ऊपर केवल एक ही बार छोडे हुए क्रोधरूपी विषने क्या मरुभूति—पार्श्वनाथ-स्वामीके पूर्वभवके जीवको बार बार और अतिशयरूपसे सतप्त नहीं किया? अवश्य किया। तथा क्रोधानल यद्वा तपोलब्धिविशेषके द्वारा उत्पन्न हुए तैजस शरीरके द्वारा द्वारावती नगरीको भस्मसात् करके स्वयं दुर्गतिको प्राप्त होनेवाले द्वीपायन तपस्वीका नाम किसने नहीं सुना है? फलतः यह बात स्पष्ट है कि क्रोध कषाय मनुष्योंकेलिये शत्रुके समान अपकार करनेवाला है अत एव उक्त पार्श्वनाथ स्वामीके ही समान साधुओंको क्षमास्वियोंका धुरीण बनकर किसी शत्रुके द्वारा अपनी पुनः पुनः तथा अतिशयेन विराधना भी किये जानेपर शत्रुतुल्य क्रोधका क्षेपण अथवा शमन करना उचित है।

इस प्रकार उत्तम क्षमाधर्मका निरूपण करके क्रमप्राप्त मार्दवधर्मका लक्षण करनेकेलिये जिसका उदय

१— इसको अपनेमें दोषोंके अभावका चिन्तवन करना कहते हैं।

रहनेसे यह धर्म उद्भूत नहीं हो सकता उस मान कषायको धिकार देते है —

हृत्सिन्धुर्विधिशिल्पिकल्पितकुलाद्युत्कर्षहर्षोर्मिभिः,
किर्मीरः क्रियतां चिराय सुकृतां म्लानिस्तु पुंमानिनाम् ।
मानस्यात्मभुवापि कुत्रचिदपि स्वोत्कर्षसंभावनं,
तद्धयेयेपि विधेश्चरेयमिति धिग्मानं पुमुत्प्लाविनम् ॥ ९ ॥

जो दैवरूपी शिल्पीके द्वारा रचेगये वंशरूप तप ऐश्वर्य प्रभृतिके अतिरेकसे जनित प्रमोदरूपी लहरियोंके द्वारा पुण्यात्माओं भाग्यहीन व्यक्तियोंके हृदयरूपी समुद्रको जीवनभरकेलिये चित्रविचित्र बनादेता है । और जिसके कि निमित्तसे वास्तविक पुंस्त्वके न रहते हुए भी अपनेको पुरुष समझनेवालोंको किसी विषयमें इस प्रकारसे अपने लिये अधिकताकी उत्प्रेक्षा होने लगती है कि मैं इस विषयमें उत्कृष्ट हू । किंतु औरोंकी तो बात ही क्या खास अपने पुत्रके द्वारा भी कभी कभी उनको वह मान म्लान हो जाता है । इसी प्रकार जो पुरुषोंको अपने माहात्म्यसे भ्रष्ट करदिया करता है उस मानकषायको धिकार हो । अब मुझको चाहिये कि उस दैवके लिये भी स्मरणीय —जहांपर कि भाग्य भी अपना अनुष्ठान नहीं कर सकता उस विषयमें प्रवृत्ति करूं ।

अभिमानके निमित्तसे होनेवाली अनर्थपरम्पराओंको दिखाते है

गर्वप्रत्यग्नगकवलिते विश्वदीपे विवेक,—
त्वष्टर्युच्चैः स्फुरितदुरितं दोषसन्देहवृन्दैः ।

१ विपरीत लक्षणाके अनुसार ऐसा अर्थ किया गया है ।

सत्रोद्वृत्ते तमसि हतदृग् जन्तुगस्तेषु भूयो,
भूयोऽभ्याजत्स्वपि सर्जात ही स्वैरमुन्मार्ग एव ॥ १०॥

जिसके द्वारा कर्तव्याकर्तव्यका पृथक्करण किया जा सकता है ऐसा विवेकरूपी सूर्य जो कि समस्त संसारको प्रकाशित करनेकेलिये प्रदीपके समान है, जब अहंकाररूपी अस्ताचलके द्वारा ग्रस्त हो जाता है और राग द्वेष प्रभृति राक्षसगणोंके साथ साथ अतिशयरूपमें बढरही और फैल रहीं है चोरी व्यभिचार आदि पापकर्मोंकी प्रवृत्तियां जिसमें, ऐसा मोहरूपी अन्धकार अच्छी तरहसे-उच्छृंखलताके साथ साथ निबिडरूपमें सर्वत्र व्याप्त होजाता है उस समयमें इस प्राणीकी दृष्टि नष्ट होजाती है, और कष्टकी बात है कि वह अभीष्ट मार्गको छोडकर गुरु आदि आप्तजनोंके द्वारा पुनः पुनः रोकेजानेपर भी स्वच्छन्दतया उन्मार्ग-पुरुषार्थविरोधी मार्गमें ही आसक्त होता है।

अहंकारजनित पापकर्मके उदयसे होनेवाले अत्यंत उग्र अपमान दुःखका निरूपण करते है—

जगद्वैचित्र्येऽस्मिन्विलसति विधौ काममनिशं,
स्वतन्त्रो न क्वास्मीत्यभिनिविशतेऽहंकृतितमः।
कुधीर्येनादत्ते किमपि तदघं यद्रसवशा,—
च्चिरं भुङ्क्ते नीचैर्गतिजमपमानज्वरभरम् ॥ ११ ॥

" स्थावरजंगमस्वरूप संसारकी विचित्रता प्रसिद्ध है। इसमें निरंतर और यथेष्टरूपसे भाग्यके स्फुरायमान होनेपर ऐसा कौनसा विषय है कि जिसको मैं प्राप्त नहीं कर सकता। संसारके सभी विषयोंको प्राप्त करनेमें मैं स्वतन्त्र हूं। " ऐसा समझनेवाला यह जडबुद्धि जीव अहंकाररूपी अंधकारको उच्छृंखल बनादेता है और उससे उस अनिर्वचनीय पापकर्मका संचय करता है कि जिसका उदय होनेपर नीचगतिसम्बन्धी अपमानज्वरको चिरकालतक

उसे भोगना पडता है। क्योंकि जीवोंको उनका अपमान—महत्वकी हानि ज्वरसे भी अधिक तीव्र संताप करनेवाला और दुःख देनेवाला है। तथा यह निगोदादिक नीच पर्यायोंमें होनेवाला अपमान अभिमानके निमित्तसे ही होता है जैसा कि आगममें कहा है कि—

जातिरूपकुलैश्वर्यशीलज्ञानतपोवलै ।
कुर्वाणोहङ्कृतिं नीच गोत्र बध्नाति मानव. ॥

जाति आदि आठ विषयोंका मद करनेवाला नीचगोत्रका बंध करता है।

पूर्वोक्त प्रकारके दुःखद मानका मर्दन मार्दवधर्म ही कर सकता है। अत एव उसकी प्रशसा करते हैं—

भद्रं मार्दववज्राय येन निर्लूनपक्षतिः ।
पुनः करोति मानाद्रिर्नोत्थानाय मनोरथम् ॥ १२ ॥

उस मार्दवरूपी वज्रका कल्याण हो जिसके द्वारा अपने पक्ष शक्तिविशेषके समूल छिन्न होजानेपर यह मानरूपी पर्वत पुनः उठनेका प्रयत्न नहीं करसकता। भावार्थ —मानके दूर करनेको मार्दव कहते है। जाति रूप कुल ऐश्वर्य आदि अतिशयोंके रहते हुए भी उनका मद न होना, अथवा दूसरोंके द्वारा किये गये तिरस्कार आदि निमित्तोंके मिलनेपर भी अभिमानका जागृत न होना, यद्वा अपने सामने दूसरोंको तुच्छ समझनेके सकषाय भावका उद्भूत न होना आदि मार्दव कहाता है। इस मार्दवधर्मरूपी वज्रके द्वारा ही मानरूपी पर्वतका चूर्ण किया जा सकता है। अत एव इस अपूर्व धर्मका सदा कल्याण हो।

अहंकार कभी भी कर्तव्य नहीं हो सकता इस बातका उपदेश देनेकेलिये संसारकी दुरवस्थाको प्रकट करते हैं।

क्रियेत गर्वः संसारे न श्रूयेत नृपोपि चेत् ।
दैवाज्जातः कृमिर्गूथे भृत्त्यो नेक्ष्येत वा भवन् ॥ १३ ॥

दूसरे साधारण जीवोंकी तो बात ही क्या, एक राजातक अपने संचित पापकर्मके उदयसे मरकर विष्टाका कीडा हुआ, यह बात यदि आप्तसंप्रदायके द्वारा सुननेमें न आई होती, अथवा आजकल भी एक देशका नरेश क्षणभरके बाद किंकर होता हुआ देखनेमें न आता होता तब तो कदाचित संसारमें गर्व किया भी जा सकता था। किंतु यह बात नहीं है—उक्त सभी बातें सुनने और देखनेमें आती हैं। अत एव संसारके इस दुःस्वरूपका जाननेवाला कोई भी मनुष्य किसी भी वस्तुके निमित्तमें गर्व करना कर्तव्य किस तरह समझ सकता है।

समीचीन व्रतोंका अभ्यास करनेवाले साधुओंको आरम्भिक अवस्थामें अभिमानको जीतनेका उपाय करना चाहिये किंतु कर्मोंको नष्ट करनेकेलिये उसको उत्तेजित करना चाहिये। ऐसा उपदेश देते है—

प्राच्यानैदंयुगीनानथ परमगुणग्रामसामृद्ध्यसिद्धा,—
नद्धा ध्यायन्निरुन्ध्यान्प्रादिमपरिणतः शिर्मदं दुर्मदारिम् ।
छेत्तुं दौर्गत्यदुःखं प्रवरगुरुगिरा संगरे सद्व्रतास्त्रैः,
क्षेप्तुं कर्मारिचक्रं सुहृदमिव शितैर्दीपयेद्वाभिमानम् ॥ १४ ॥

जो आत्माका अपाय करे उसको शत्रु कहते है। मान-कषाय आत्माका अत्यत अपाय ही करता है अत एव उसको भी प्रबल शत्रुके ही समान समझना चाहिये। और इसीलिये जो आत्महितको सिद्ध करना चाहते है उन साधुओंको मार्दव धर्मसे युक्त होकर तथा पूर्वकालके और इस युगके भी उन सम्पूर्ण साधुओंको जो कि अपने ज्ञान विनय दया सत्य प्रभृति परम गुणगणोंकी समृद्धिके द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त करचुके है तत्त्वतः ध्यान करते हुए उस दुष्ट मदरूपी शत्रुका निवारण करना ही उचित है। अथवा इस मान कषायको मित्रके समान स—

समझना चाहिये। जिस प्रकार विजयलाभकी इच्छा रखनेवाला कोई भी वीर योद्धा दारिद्र्यादिक दुःखोंको नष्ट करनेकेलिये अपने मंत्री या सेनापति आदि अधिकारीके कथनानुसार संग्राममें अपना प्रहार करनेकेलिये उद्यत हुई शत्रुसैन्यका तीक्ष्ण शस्त्रोंके द्वारा निरसन करनेकेलिये मित्रको उत्तेजित किया करता है उसी प्रकार मुमुक्षुओंको दुर्गतियोंका निराकरण करनेकेलिये सद्गुरुओंके उपदेशानुसार प्रतिज्ञाओंमें स्थिर होकर धर्मरूपी शत्रुसैन्यका उनकी सम्पूर्ण शक्तियोंका नाश करनेमें सर्वथा समर्थ निर्मल अहिंसादिक व्रतोंके द्वारा नाश करनेकी इच्छासे मित्रके समान अभिमानको उत्तेजित करना चाहिये। क्योंकि आद्य अवस्थामें मुमुक्षुओंकेलिये अभिमान भी विधेय हो सकता है। क्योंकि उसके निमित्तसे कर्मोंका क्षपण करनेकी प्रवृत्तिमें उत्तेजना लाई जा सकती है।

यद्यपि मानकषायकी शक्ति मार्दव धर्मके द्वारा अभिभूत हो जाती है फिर भी उसका सर्वथा नाश शुक्लध्यानकी प्रवृत्तिसे ही हो सकता है। अत एव वैसा करनेकेलिये उपदेश देते हैं:—

मार्दवाशनिनिर्लूनपक्षो मायाक्षितिं गतः।
योगाम्बुनैव भेद्योऽन्तर्वहता गर्वपर्वतः ॥ १५ ॥

मार्दवरूपी वज्रके द्वारा पक्षच्छेद होजानेपर मायारूपी पृथ्वीपर पडे हुए गर्वरूपी पर्वतका भेदन अन्तरङ्गमें वहते हुए योगरूपी जलके द्वारा ही हो सकता है। भावार्थ — जिस प्रकार इन्द्रके द्वारा छोडे हुए वज्रसे पक्षच्छेद होजानेपर पर्वतका पृथ्वीपर पतन तो होजाता है किंतु वास्तविक विदारण नहीं होता सो वह उसके ही भीतर वहनेवाले जलके ही द्वारा हो सकता है इसी प्रकार मार्दव भावनाके द्वारा शक्तिविशेषके नष्ट होजानेसे गर्वरूपी पर्वत संज्वलनमायारूपमें आकर प्राप्त तो होजाता है किंतु उसका वास्तविक निर्हरण आत्मस्वरूपमें संततिक्रमसे प्रवर्तमान पृथक्त्व वितर्कवीचार नामके शुक्ल ध्यानद्वारा ही हो सकता है। क्योंकि क्षपकश्रेणीमें शुक्ल ध्यानके द्वारा मान संज्वलनका उन्मूलन माया संज्वलनमें क्षेपण करके ही किया जाता है।

मानके निमित्तसे महापुरुषोंके भी अभिप्रायोंकी जो बडी भारी क्षति हुई है या हुआ करती है उस-

पर लक्ष्य दिलाते हुए इस बातका उपदेश देते है कि उसका नाश करनेके लिये मुमुक्षुओंको मार्दव भावोंका अवश्य ही पालन करना चाहियेः —

मानोऽवर्णमिवापमानमभितस्तेनेऽर्ककीर्तेस्तथा,
मायाभूतिमचीकरत्सगरजान् षष्टिं सहस्राणि तान् ।
तत्सौनन्दमिवादिराट् परमरं मानग्रहान्मोचयेत्,
तन्वन्मार्दवमाप्नुयात् स्वयमिमं चोच्छिद्य तद्वच्छिवम् ॥ १६ ॥

अहंकारके द्वारा आदिचक्रवर्ती भरतेश्वरके पुत्र अर्ककीर्तिका जो अपमान अपयश और तेजोवध हुआ वह आगममें प्रसिद्ध है । इसी प्रकार इस मानकषायने आर्षप्रसिद्ध सगरचक्रवर्तीके साठ हजार पुत्रोंकी मणिकेतु नामक देवके द्वारा जो मायाभस्म करादी सो भी आगममें प्रसिद्ध ही है । अत एव साधुओंको चाहिये कि यदि कोई इस अहंकाररूपी भूतके आवेशसे ग्रस्त हुआ हो तो वे उसको शीघ्र ही उससे छुडानेका इस तरहसे प्रयत्न करें कि जिस तरहसे भरतराजने बाहुबलिकुमारके विषयमें किया था । तथा स्वयं भी भरतचक्रवर्तीकी ही तरह मार्दव धर्मको धारण करके और मानकषायरूपी ग्रहको निर्मूल करके अभ्युदय तथा मोक्षपदको प्राप्त करना चाहिये । क्योंकि जो पुरुष मार्दवधर्मसे युक्त है उसका गुरुजन अनुग्रह करते और साधुगण भी मान करते है । तथा अन्तमें वह सम्यग्ज्ञानादिकका पात्र बनकर स्वर्गापवर्गरूपी फलको प्राप्त करलेता है ।

क्रमप्राप्त आर्जव धर्मका वर्णन करनेकी इच्छासे सबसे पहले सर्वथा परिहरणीय मायाके विलासोंको बताते है —

क्रोधादीनसतोपि भासयति या सद्वत् सतोप्यर्थतो,—

[1]सद्दोषधियं गुणेष्वपि गुणश्रद्धां च दोषेष्वपि ।
या सूते सुधियोपि विभ्रमयते संवृण्वती यात्यणू,-
न्यप्यभ्यूहपदानि सा विजयते माया जगद्व्यापिनी ॥ १७ ॥

समस्त संसारको व्याप्त करलेनेवाली मायाने सबपर विजय— सर्वोत्कृष्ट पदको प्राप्त कर रक्खा है। क्योंकि यह प्रयोजनके अनुसार जहां जब जैसा भाव प्रकट करना चाहिये वहां उस समय वैसा ही भाव प्रकट किया करती है। कभी तो अनुद्भूत भी क्रोध मान या लोभरूप कपायभावोंको उद्भूतकी तरह प्रकट किया करती है, और कभी-प्रयोजनके आश्रयसे उद्भूत भी इन कषायोंको अनुद्भूतकी तरह दिखाया करती है। जैसा कि कहा भी है कि—

[2]भेय मायामहागर्तान्मिथ्याघनतमोमयात्।
यस्मिंलीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहयः ।

मिथ्यादर्शन या विपर्यासरूप निबिड अन्धकारसे व्याप्त उस मायाचाररूपी महान गर्तसे अवश्य ही डरना चाहिये जिसमें कि पडे हुए क्रोधादि कषायरूपी विषयभुजङ्ग देखनेमें नहीं आ सकते।

यह माया दृष्टिको शान्त बनाकर गुणोंमें दोषबुद्धि और दोषोंमें गुणोंकी श्रद्धा उत्पन्न कर दिया करती है। अधिक क्या कहें, ऐसे अत्यंत सूक्ष्म तर्कणाके स्थानोंको जो कि सहसा दृष्टिमें भी न आ सकें, ढककर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या, कुशलबुद्धियोंको भी भ्रममें डाल देती है। जैसा कि कहा भी है कि:—

[2]बहिः सर्वाकारप्रवणरमणीयं व्यवहरन्,

१— यह श्लोक श्रीगुणभद्र स्वामीने कहा है।
२— यह श्लोक मुद्राराक्षस नाटकमेंका है।

पराभ्यूहस्थानान्यपि तनुतराणि स्थगयति ।
जन विद्वानेव सकलमतिमधाय कपटे,—
स्तटस्थ. स्वानर्थान् घटयति च मौन स भजते ॥

यह माया इसलोक और परलोक दोनों ही जगह दुःखका ही कारण है । इस बातको दिखाते हैं:—

य: सोढुं कपटीत्यकीर्तिभुजगीमिष्टे श्रवोन्तश्चरीं,
सोपि प्रेत्य दुरत्ययात्ययमयीं मायोरगीमुज्झतु ।
नो चेत्स्त्रीत्वनपुंसकत्वविपरीणामप्रबन्धार्पित,
ताच्छील्यं बहु धातृकेलिकृतपुंभावोप्यभिव्यङ्क्ष्यति ॥ १८ ॥

" यह कपटी है " इस तरहकी अपकीर्तिरूप सर्पिणीके अपने कानके पास घूमनेको जो सहन नहीं कर सकता उसकी तो बात ही क्या, जो सहन कर सकता है उसको भी चाहिये कि वह परलोकमें निःसीम दुःखोंके देने वाली इस मायासर्पिणीको दूरसे ही छोड दे । क्योंकि यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो जिसके उदयसे पुंस्त्व पर्याय प्राप्त होती है उस कर्मके निमित्तसे पुल्लिङ्ग पर्यायसे युक्त रहते हुए भी अपने स्त्रीत्वरूप विविध परिणामोंकी संतातिके द्वारा मिश्रित हुए उन प्रभूत भावोंको—भावस्त्रीत्व या भावनपुंसकत्वको अवश्य ही प्रकट कर देगा ।

भावार्थ—मायाचारका त्याग न करनेपर संसारमें जो अपयश होता है सो तो होता ही है किन्तु उससे परलोकमें स्त्रीत्व या नपुंसकत्व पर्यायकी जिससे प्राप्ति हो ऐसे कर्मका सचय भी होता है । अत एव वर्तमानमें भले ही वह पुरुषविधायक कर्मके उदयसे पुल्लिङ्ग दीखे किन्तु मरकर वह अवश्य ही स्त्री या नपुंसक होगा ।

मायाचारीका लोकमें बिलकुल भी विश्वास नहीं होता इस बातको प्रकाशित करते हैं—

योा वाचा स्वमपि स्वान्तं वाचं वञ्चयतेऽनिशम् ।
चेष्टया च स विश्वास्यो मायावी कस्य धीमतः ॥ १९ ॥

जो मनुष्य निरंतर अपने हृदयको भी वचनोंसे और वचनोंको भी कायव्यवहारसे धोखा दिया करता है उस मायाचारीका भला ऐसा कौन विचारशील होगा जो कि विश्वास करे क्योंकि मायाचारी मनुष्य जो कुछ मनमें होता है उसको तो कहता नहीं और जैसा कुछ कहता है वैसा करता नहीं ।

इस कलिकालमें आर्जवधर्मके धारण करनेवालोंकी दुर्लभता बताते हैं—

चित्तमन्वेति वाग् येषां वाचमन्वेति च क्रिया ।
स्वपरानुग्रहपराः सन्तस्ते विरलाः कलौ ॥ २० ॥

आजकल इस पंचमकालमें ऐसे सत्पुरुष बहुत ही विरल हैं-दो चारकी संख्यामें मिलने भी कठिन हैं कि जो अपना और परका उपकार करनेमें ही तत्पर रहते हुए भी अमायिक हों-जिनका कि हृदयके अनुरूप वचन और वचनके अनुरूप कायव्यवहार हो ।

आर्जवधर्मके धारकोंका माहात्म्य प्रकट करते हैं—

आर्जवस्फूर्जदूर्जस्काः सन्तः केपि जयन्ति ते ।
ये निगीर्णत्रिलोकायाः कृन्तन्ति निकृतेर्मनः ॥ २१ ॥

आर्जवधर्मके द्वारा बढता हुआ है तेज अथवा उत्साह जिनका, और इसीलिये जो तीन लोकको अपने पेटमें रखलेनेवाली-जगत्त्रयीको अपने अधीन करनेवाली मायाके हृदयको विदीर्ण करडालते हैं वे लोकोत्तर सत्पुरुष

सदा जयवंते रहो, अथवा ऐसे ही साधुजन सर्वोत्कृष्ट पदको प्राप्त कर सकते है।

माया कषायका जीतना अत्यत कठिन कार्य है। फिर भी जिन्होंने आर्जवधर्मके द्वारा उसको जीतलिया है उनको मोक्षमार्गप्रवृत्तिमें किसी भी प्रकारका प्रतिबन्ध नही आ सकता। ऐसा उपदेश देते हैं—

दुस्तरार्जवनावा यैस्तीर्णा मायातरङ्गिणी।
इष्टस्थानगतौ तेषां कः शिखण्डी भविष्यति ॥ २२ ॥

जो आर्जवधर्मरूपी नौकाके द्वारा दुस्तर भी मायारूपी नदीको लांघ कर पार होगये हैं उनके अभीष्ट स्थानक जानेमें भला कौन अन्तराय हो सकता है? कोई नहीं। भावार्थ—मायाकषायके जीतने वालोंका मोक्षमार्ग निष्कण्टक समझना चाहिये।

मायाचारके निमित्तसे जो दुर्गतियोंमें क्लेश अथवा दुःसह गर्हा–निन्दा हुआ करती है उसको उदाहरणद्वारा बताते हैं:—

खलूक्त्वा हृत्कर्णक्रकचमखलानां यदतुलं,
किल क्लेशं विष्णोः कुसृतिरसृजत संसृतिसृतिः।
हतोऽश्वत्थामेति स्ववचनविसंवादितगुरु,—
स्तपःसूनुर्म्लानः सपदि श्रृणु सद्भ्योन्तराधित ॥ २३ ॥

हे साधुओ! सुनो, सज्जनोंके हृदय और कानोंको विदीर्ण करनेके लिये करोंतके समान मायावचनका सत्पुरुष कभी भी प्रयोग नहीं करते। ससारमार्गके बढानेवाली इस अनन्तानुबन्धिनी मायाने विष्णु—वासुदेवको जो असाधारण क्लेश दिया वह किसीसे छिपा नहीं है; क्योंकि वह लोक और शास्त्र सर्वत्र सुननेमें आता है।

इसी प्रकार " कुञ्जरो न नरः " ऐसे मायापूर्ण वचनोंसे युक्त " अश्वत्थामा मारागया " इन वचनोंके द्वारा अपने गुरु द्रोणाचार्यको धोखा देनेके कारण युधिष्ठिरको ऐसी ग्लानि हुई थी कि जिसके सबबसे उन्होंने अपनेको सत्पुरुषोंसे छिपालिया था —वे सज्जनोंको अपना मुख दिखाना नहीं चाहते थे। भावार्थ—इस मायाके प्रसादसे बडे बडे पुरुषोंको भी क्लेश ही हुआ है ऐसा समझकर हृदय तथा कर्णतकको विदीर्ण करदेनेवाली इस मायाका साधुओंको परित्याग ही करना चाहिये।

इस प्रकार आर्जव धर्मका निरूपण करके शौच धर्मका व्याख्यान करना चाहते हैं। किंतु उसमें सबसे पहले निकटवर्ती अथवा यथाप्राप्त विषयोंमें गृद्धि उत्पन्न करनेवाले लोभकषायका अवश्य ही निराकरण करनेकेलिये मुमुक्षुओंको उपदेश देते हैं। क्योंकि यह लोभ सम्पूर्ण पापोंका मूल तथा समस्त गुणोंका विध्वस करनेवाला है और इसका निराकरण होनेपर ही शौच धर्म प्रकट हो सकता है। —

लोभमूलानि पापानीत्येतद्यैर्न प्रमाण्यते।
स्वयं लोभाद् गुणभ्रंशं पश्यन्तः श्यन्तु तेपि तम्॥ २४॥

जो लोग " लोभमूलानि पापानि–समस्त पापोंका मूल लोभ कषाय ही है " इस जगत्प्रसिद्ध वाक्यको प्रमाण नहीं मानते उनको कमसे कम यह देखकर तो भी, कि इसके निमित्तसे ही दया मैत्री साधुता आदि समस्त गुणोंका विध्वंस होता है, लोभको कृश कर डालना चाहिये।

भावार्थ—जो पुण्यपापका विश्वास करनेवाले आस्तिक हैं वे तो इसको पापका मूल समझकर छोडते ही हैं किंतु जो वैसा विश्वास नहीं करते उनको कमसे कम अपने इस अनुभवसे तो भी इस लोभको छोडना चाहिये कि वह समस्त गुणोंका नाशक है। जैसा कि व्यासने भी कहा है किः——

भूमीष्ठोपि रथस्थांस्तान् पार्थ सर्वधनुर्धरान्।
एकोपि पातयामास लोभः सर्वगुणानिव॥

भूमिपर खडे हुए और अकेले ही अर्जुनने रथमें बैठे हुए सम्पूर्ण धनुर्धारियोंको इस तरहसे निपातित कर दिया जैसे कि अकेला ही लोभ सम्पूर्ण गुणोंको नष्ट करदिया करता है ।

एक औचित्य गुण करोड गुणोंकी बराबर है । किंतु वह भी अत्यत लुब्ध मनुष्यको छोडने योग्य मालूम पडता है, ऐसा उपदेश देते हैं:—

गुणकोट्या तुलाकोटिं यदेकमपि टीकते ।
तदप्यौचित्यमेकान्तलुब्धस्य गरलायते ॥ २५ ॥

दान और प्रिय वचनोंके द्वारा दूसरोंको सतोप उत्पन्न करना इसको औचित्य कहते हैं । यदि करोड गुणोंको एक तरफ और औचित्यको दूसरी तरफ रखकर देखा जाय तो एक औचित्यका ही प्रमाण अधिक मिलेगा, किंतु जो नितान्त लोभसे आक्रान्त है उसे वह भी विपके समान जान पडता है । और जगह भी कहा है कि—

औचित्यमेकमेकत्र गुणानां राशिरेकतः ।
विषायते गुणग्राम औचित्यपरिवर्जित. ॥

फलतः औचित्यरहित लुब्ध मनुष्य शेष गुणोंको भी धारण नहीं कर सकता ।

आत्मजीवन परजीवन और आरोग्य तथा पांचो इन्द्रियके उपभोग, इन आठ विषयोंकी अपेक्षासे लोभके भी आठ भेद माने है । इनसे आकुलितचित्त रहनेवाला मनुष्य सदा और सम्पूर्ण अकृत्योंको कर डालता है । इस बातको बताते हैं —

उपभोगेन्द्रियारोग्यप्राणान् स्वस्य परस्य च ।
गृध्यन् मुग्धः प्रबन्धेन किमकृत्यं करोति न ॥ २६ ॥

अपने अथवा पर—स्त्री पुत्रादिकोंके उपभोगों इन्द्रियों आरोग्य और प्राणोंकी गृद्धि रखनेवाला मूढ मनुष्य गुरुवध पितृवध आदिकोंमेंसे ऐसा कौनसा अकृत्य है कि जिसको वह चाहे तभी नहीं कर सकता। अपि तु सभी दुष्कृत्योंको वह कर सकता है। अत एव मोहको छोडकर इस लोभका भी निरसन ही करना चाहिये।

लोभके वश होते ही मनुष्यके गुण नष्ट हो जाते है इस बातको बताते है:—

तावत्कीर्त्यैं स्पृहयति नरस्तावदन्वेति मैत्रीं,
तावद् वृत्तं प्रथयति बिभर्त्याश्रितान् साधु तावत् ।
तावज्जानात्युपकृतमघाच्छङ्कते तावदुच्चै,—
स्तावन्मानं वहति न वशं याति लोभस्य यावत् ॥ २७ ॥

मनुष्य तभी तक कीर्तिकी स्पृहा और उसका संचय कर सकता तथा अखण्डरूपमे उसको कायम रख सकता, एवं मैत्रीका भी अविच्छिन्नतया पालन वह तभी तक कर सकता, और अपने चारित्रकी वृद्धि भी तभी तक कर सकता है, इसी प्रकार अपने आश्रित व्यक्तियोंका भले प्रकार पोषण भी वह तभी तक कर सकता, और किसीके किये हुए उपकारका स्मरण, या पापसे भय तभी तक कर सकता, एवं अपने बढे हुए मान-आत्मगौरव का धारण या रक्षण भी वह तभी तक कर सकता है; जब तक कि वह लोभके वश नहीं होता। किंतु उसके अधीन होते ही ये सम्पूर्ण गुण निःसन्देह नष्ट होजाते है।

जिस उपायसे लोभका विजय किया जा सकता है उसका आराधन करनेके लिये मुमुक्षुओंको उत्साहित करते है:—

प्राणेशमनु मायाम्बां मरिष्यन्तीं विलम्बयन् ।
लोभो निशुम्भ्यते येन तद्भजेच्छौचदैवतम् ॥ २८ ॥

जो व्यक्ति मनोगुप्तिका पालन नही कर सकता वह यदि परवस्तुओंमें अनिष्ट उपयोगका परित्याग करदे

तो उसके शौचधर्म माना जायगा। क्योंकि मनके सम्पूर्ण परिष्पन्दोंके निरोधको मनोगुप्ति और लोभकी उत्कृष्ट निवृत्तिको शौचधर्म कहते हैं। यह दोनोंमें अन्तर है। इस शौचधर्मको देवताके समान समझना चाहिये। क्योंकि यह अपने आश्रितोंका पक्षपात रखनेवाला है। अत एव इस शौचधर्मरूपी देवताका मुमुक्षुओंको अवश्य ही आराधन करना चाहिये। क्योंकि वह उस लोभ कपायका निग्रह करता है जो कि अपने प्राणेश-मोहके मरते ही स्वयं भी मरनेके लिये तयार हुई मायारूपी अपनी माताको अवलम्बन देता-बचालेता है। जिस प्रकार पतिके मरते ही उसका अनुगमन करनेकी इच्छा रखनेवाली स्त्रीको उसका पुत्र बचालिया करता है, उसी प्रकार मोह पिताके नष्ट होते ही मायारूपी माताको नष्ट होनेसे बचाने वाला यह लोभ ही है। इस प्रकारसे मायाके पोषक लोभका निग्रह शौच धर्म ही करता है। अतएव प्रत्येक मुमुक्षुको इस शौचरूपी देवताका आराधन करना ही चाहिये।

जो लोग संतोषका अभ्यास करके तृष्णाको दूर करनेवाले है उनके आत्मध्यानमें होनेवाले उपयोगके उद्योगको प्रकाशित करते है—

अविद्यासंस्कारप्रगुणकरणग्रामशरणः।
परद्रव्यं गृध्नुः कथमहमधोधश्चिमरगाम्।
तदद्योद्यद्विद्यादृतिधृतिसुधास्वादहततृ,—
ड्डूरः स्वध्यात्योपर्युपरि विहराम्येष सततम् ॥ २९ ॥

अनादि कालसे लेकर अबतक मैं, यह कितने दुःखकी बात है कि शरीर और आत्मामें अभेद-प्रत्ययरूप अविद्याकी वासनासे विषयोंकी तरफ उन्मुख हुई इन्द्रियोंके वशमें पडकर और इसी लिये आत्मस्वरूपसे भिन्न शरीरादिकोंमें गृद्धियुक्त होकर नीचे नीचेकी तरफ ही जारहा हूं। अतएव शरीर और आत्मामें भेदज्ञानके होजानेपर अब मै उस अविद्याके विरुद्ध प्रकाशित होती हुई और बढती हुई विद्याके अन्तःसारस्वरूप संतोषमय सुधाका बार बार पान करनेके कारण तृष्णारूपी विषका परिहार होजानेसे आत्मामें ही निरन्तर प्रवर्तमान तथा निर्विकल्पतया निश्चल ध्यानके द्वारा निरंतर उन्नतोन्नत दशामें उपयुक्त होते जाना ही उचित समझता हूं।

शौचके माहात्माकी प्रशंसा करते हैं।

निर्लोभतां भगवतीमभिवन्दामहे मुहुः।
यत्प्रमादात्सतां विश्वं शश्वद्भातीन्द्रजालवत् ॥ ३० ॥

जिसके कि प्रमादसे शुद्धोपयोगमें स्थिर रहनेवाले साधुओंको यह सम्पूर्ण चराचर जगत निरंतर इंद्रजालके समान अनुपभोग्य मालुम पडने लगता है उस निर्लोभता-प्रकर्षको प्राप्त हुई लोभनिवृत्तिरूपी भगवतीके सन्मुख खडे होकर मैं पुनः पुनः नमस्कार करता हू और उसकी स्तुति करता हूं।

दृष्टांत द्वारा लोभके माहात्म्यको प्रकट करते हैं।

तादृक्षे जमदग्निमिष्टिनमृषिं स्वस्यातिथेयाध्वरे,
हत्वा स्वीकृतकामधेनुरचिराद्यत्कार्तवीर्यः क्रुधा।
जघ्ने सान्वयसाधनः परशुना रामेण तत्सूनुना,
तद्दुर्दण्डित इत्यपाति निरये लोभेन मन्ये हठात् ॥ ३१ ॥

समस्त लोगोंके चित्तको चमत्कृत करदेनेवाले और जहांपर कि अपना आतिथेय सत्कार किया जारहा था उसी जगह —जमदग्निके आश्रममें ही आतिथ्य कार्यमें प्रवृत्त उस जमदग्नि ऋषिको ही मारकर उसकी कामधेनुको हस्तगत करलेने वाले कार्तवीर्यका जो उस जमदग्निके पुत्र परशुरामने क्रुद्ध होकर अपने परशुके द्वारा संतानसैन्यसहित वध किया उससे मुझको तो ऐसा जानपडता है मानो उसके लोभ कषायने ही यह समझकरके कि यह दुर्दण्डित है— विना अपराधके ही दूसरोंको दंड देनेवाला है उसे जबर्दस्ती नरकमें पटकदिया। भावार्थ—लोभके वश होकर मनुष्य निरपराधियोंके घात जैसा पाप भी करने लगता है जिससे कि उसको इसलोक और परलोक दोनों ही जगह दुःखमय ही फल प्राप्त होता है।

इस प्रकार उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, और शौच, इन चार धर्मोंका जो कि क्रमसे क्रोध मान माया और लोभकी निवृत्ति होनेसे उद्भूत होते हैं, वर्णन करचुकनेपर अन्तमें इन चारों कषायोंमेंसे प्रत्येककी अनन्तानुबंधिनी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, और संज्वलन, इस तरह चार चार अवस्थाएं होती हैं उनको दृष्टांतद्वारा स्पष्ट करते हुए क्रमसे उनके फलोंको भी दो पद्योंमें दिखाते हैं।

दृशदवनिरजोऽबराजिवदश्मस्तम्भास्थिकाष्ठवेत्रकवत् ।
वंशांघ्रिमेषशृङ्गोक्षमूत्रचामरवदनुपूर्वम् ॥ ३२ ॥

कृमिचक्रकायमलरजनिरागवदपि च पृथगवस्थाभिः ।
क्रुन्मानदम्भलोभा नारकतिर्यङ्नृसुरगतीः कुर्युः ॥ ३३ ॥

क्रोध मान माया और लोभ इनमेंसे प्रत्येककी सर्वोत्कृष्ट और उसकी अपेक्षा हीन हीनतर तथा हीनतम उदयरूप शक्तियोंकी अपेक्षासे चार चार अवस्थाए होती हैं जिनको कि क्रमसे अनन्तानुबन्धी आदि कहते हैं। इन अवस्थाओंके द्वारा ही ये क्रोधादिक क्रमसे नारक, तिर्यक्, मानुष और देवगतिको उत्पन्न किया करते हैं। क्योंकि अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया और लोभके द्वारा नारकगतिका और अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादिकके द्वारा तिर्यग्गतिका तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोधादिकके द्वारा मनुष्यगतिका एवं संज्वलन क्रोध मान माया और लोभके द्वारा देवगतिका बन्ध होता है।

क्रोधकी अनन्तानुबंधी आदि जो चार अवस्थाएं बताई हैं वे क्रमसे पाषाणरेखा, पृथ्वीरेखा, धूलिरेखा, और जलरेखाके समान हुवा करती है। जिस प्रकार पत्थरमें पडी हुई दरार सैकडों उपायोंके करनेपर भी फिर नहीं जुड सकती उसी प्रकार अनन्तानुबंधी क्रोधके द्वारा फटा हुआ मन भी कभी जुड नहीं सकता। जिस प्रकार पृथ्वीमें पडी हुई दरार अनेक उपाय करनेपर कठिनतासे जुड सकती है उसी तरह अप्रत्याख्यानावरण क्रोधके द्वारा विदीर्ण मन भी कठिनतासे ही मिलता है। जिस प्रकार धूलिके ऊपर कीगई रेखा सहज उपायके द्वारा ही मिट जाती है

उसी प्रकार प्रत्याख्यानावरण क्रोधके द्वारा विदीर्ण हुआ मन भी सरल उपायके द्वारा ही शान्त होजाता है। जिस प्रकार लकडी आदिके द्वारा जलमें कीगई रेखा तुरत मिटजाती है और फिर वह जल स्वयं जैसेका तैसा होजाता है उसी प्रकार संज्वलन क्रोधके द्वारा उत्पन्न हुआ मनोभाव भी महसा स्वय मिट जाता है।

मानके अनन्तानुबन्धी आदि अवस्थाओंकी अपेक्षा जो चार भेद बताये हैं वे क्रमसे पाषाणके स्तम्भ, हड्डी, लकडी, और वेतकी लताके समान होते है। जिस प्रकार पाषाणका स्तम्भ टूट सकता है पर नम्र नहीं हो सकता उसी प्रकार अनन्तानुबन्धी मानके उदयसे ग्रस्त जीव नष्ट हो सकता है पर किसीकेलिये नम्र नहीं हो सकता। जिस प्रकार हड्डीमें अत्यंत अल्प नम्रता आ सकती है उसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरणमानी भी कुछ नम्रताको धारण कर सकता है। जिस प्रकार हड्डीकी अपेक्षा लकडी अधिक नम्र हो सकती है उसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरणमानीकी अपेक्षा प्रत्याख्यानावरणमानी भी अधिक नम्र हो सकता है। तथा जिस प्रकार वेतकी लता सबसे अधिक नम्र होती है उसी प्रकार संज्वलनमानी भी अत्यत नम्र हुवा करता है।

इसी प्रकार मायाके वांसकी जडके समान, मेंढाके सींगके समान, तथा गोमूत्रके समान और चमरी गौके केशोंके समान इस तरह अनन्तानुबन्धी आदि चार भेद माने हैं। और लोभके क्रमिराग (हिरिमिजीका रग) चक्रमल (गाडीके पहियेका ओंगन) शरीरमल, और हल्दीके रगके समान इस तरह अनन्तानुबन्धी आदि चार भेद बताये हैं। इनका उपमानार्थ स्पष्ट ही है।

जो साधु उत्तम क्षमादिकोंके द्वारा क्रोधादिकोंको जीत लेता है उसके लिये जीवन्मुक्ति सुलभ समझनी चाहिये। क्योंकि वह शुक्लध्यानके द्वारा सहजमें ही उस अवस्थाको प्राप्त कर सकता है-ऐसा उपदेश देते है—

संख्यातादिभवान्तराब्ददलपक्षान्तर्मुहूर्ताशयान्,
दृग्देशव्रतवृत्तसाम्यमथनान् हास्यादिसैन्यानुगान्।
यः क्रोधादिरिपून् रुणद्धि चतुरोप्युद्यक्षमाद्यायुधै,–

योगक्षेमयुतेन तेन सकलश्रीभूयमीषल्लभम् ॥ ३४ ॥

कषायोंके जिस प्रकार शक्तिभेदकी अपेक्षा चार भेद माने है उसी प्रकार उनका वासनाकाल और कार्य भी भिन्न भिन्न ही होता है। अनन्तानुबन्धीका सस्कार सख्यात असंख्यात और अनंत भवतक रह सकता है और उसके उदयसे सम्यग्दर्शनका घात होता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरणका संस्कार छह महीनेतक रह सकता है और वह देशव्रतको रोकता है। उसके उदयसे एकदेश चारित्र भी नहीं हो सकता। प्रत्याख्यानावरणका संस्कार पंद्रह दिनतक रह सकता है और वह सकल चारित्रको नहीं होनेदेता। तथा संज्वलनका संस्कार अन्तर्मुहूर्त--कुछ कम दो घडीतक रह सकता है जो कि यथाख्यात चारित्रको रोकनेवाला है। इस प्रकार कषायोंका संस्कार कार्य भिन्न भिन्न ही है। इनके अनुगामी हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्री पुरुष और नपुंसक ये नव नोकषाय और भी हैं। इनको उक्त क्रोधादि कषायरूप शत्रुओंका सैन्य समझना चाहिये। अतएव जिस प्रकार कोई विजिगीषु व्यक्ति उत्कृष्ट मध्यम आदि प्रतापके रखनेवाले एवं उत्कृष्ट मध्यम आदि वैरभावके भी रखनेवाले चारो तरफके ससैन्य शत्रुओंको तीक्ष्ण शस्त्रोंके द्वारा जीतकर अपने योगक्षेम-अलब्धलाभ और लब्धपरिरक्षणके द्वारा सकल साम्राज्य--षट्खण्डभूमिके आधिपत्यको सहज ही में प्राप्त करलेता है उसी प्रकार जो मुमुक्षु भव्य उक्त चार प्रकारकी वासनाओंसे युक्त और सम्यग्दर्शनादिकका घात कर आत्माका अपाय करनेवाले तथा हास्यादिकी सेनासे युक्त अनन्तानुबंधी क्रोधादि चार प्रकारके शत्रुओंको निर्मल--ख्याति लाभ पूजा आदिकी अपेक्षासे रहित होनेके कारण प्रशस्त--उत्तमक्षमादि शस्त्रोंके द्वारा परास्त कर देता है वही साधु क्षपकश्रेणिगत समाधिके द्वारा--एकत्ववितर्कवीचार शुक्लध्यानमें स्थिर होकर सकल-सशरीर लक्ष्मी--अन्तरङ्ग केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्ट--स्वरूप और बाह्य समवसरणरूप विभूतिको अनायास ही प्राप्त करलेता है।

भावार्थ-जो व्यक्ति उत्तम क्षमादिकोंके द्वारा कषायोंका निरोध करदेता है वह विना किसी परिश्रमके ही शुक्लध्यानमें स्थिर होकर शीघ्र ही अर्हन्त अवस्थाको प्राप्त करलेता है।

क्रमप्राप्त सत्यधर्मके लक्षण और उपलक्षणको बताते हुए उसका फल भी बताते हैं:—

कूटस्थस्फुटविश्वरूपपरमब्रह्मोन्मुखाः सम्मताः,
सन्तस्तेषु च साधुसत्यमुदितं तत्तीर्णसूत्रार्णवैः।
आ शुश्रूषुतमःक्षयात्करुणया वाच्यं सदा धार्मिकै,—
र्घोराज्ञानविषार्दितस्य जगतस्तद्ध्येकमुज्जीवनम् ॥ ३५ ॥

चराचर जगतकी भूत भविष्यत वर्तमान अनन्त पर्यायस्वरूप और जो द्रव्यरूपतया नित्य तथा स्पष्ट संवेदनके द्वारा जाना जाता है ऐसे परमब्रह्म–आत्मज्योतिस्वरूपमें परिणत होनेके लिये जो उद्युक्त रहते हैं उनको सत्–सत्पुरुष कहते हैं और उस परब्रह्मकी तरफ उन्मुखता होनेमें जो उपकारक हो उसको सत्य कहते हैं। अत एव धार्मिक आचरण करनेवाले प्रवचनसमुद्रके पारदर्शियोंको श्रोताओंके दुःखका उच्छेदन करनेकी करुणापूर्ण इच्छासे सदा ऐसे ही वचन बोलने चाहिये जो कि उनको उक्त आत्मज्योतिकी तरफ उन्मुख करनेवाले हों और सो भी तबतक बोलने चाहिये जबतक कि उनके सुननेकी इच्छा रखने वालोंके उस विषयके अज्ञानका नाश न हो जाय। क्योंकि यह सत्य वचन घोर अज्ञानरूपी विषसे मूर्छित–अभिभूत हुए बहिरात्मा प्राणियोंके उज्जीवित—प्रबुद्ध करनेकेलिए अद्वितीय रसायनके समान है।

भावार्थ—सत् शब्दका अर्थ आत्मस्वरूप है। अत एव जिन क्रियाओंके निमित्तसे आत्मस्वरूपकी तरफ प्रवृत्ति हो उनको ही सत्य कहते है। इसी लिये साधु ऐसे वचन बोलता है कि जिनसे श्रोताओंकी प्रवृत्ति उस आत्मस्वरूपकी तरफ होजाय उसीको सत्यवक्ता और उसके वचनोंको सत्यवचन कहते हैं।

प्रकृत चारित्रके विषयमें सत्यशब्दका सम्बन्ध तीन जगह किया गया है,–सत्यमहाव्रतमें, भाषासमितिमें और सत्यधर्ममें; किंतु इन तीनो सत्योंके स्वरूपमें अन्तर क्या है सो बताते हैं—

असत्यविरतौ सत्यं सत्स्वसत्स्वपि यन्मतम् ।
वाक्समित्यां मितं तद्धि धर्मे सत्स्वेव बह्वपि ॥ ३६ ॥

सत्य शब्दका अर्थ ऊपर बताया जा चुका है कि सतके विषयमें जो उपकारक हो उसको सत्य कहते हैं किंतु यह लक्षण निरुक्तिकी अपेक्षासे किया गया है। अत एव केवल सत्के ही विषयमें नहीं, कदाचित असत्के विषयमें भी जो उपकारक हो उसको भी सत्पुरुषोंने सत्य माना है।

इस सत्यकी प्रवृत्ति व्रत समिति और धर्म इस तरह तीन जगह की जाती है। किंतु इनमें जो अन्तर है वह यही कि अनृतविरति महाव्रतमें तो सत् और असत् दोनों ही विषयोंमें थोडा भी और बहुत भी दोनो ही प्रकारसे बोला जाता है। तथा भाषासमितिमें सत् और असत् दोनो ही विषयोंमे किंतु थोडा ही बोला जाता है। एवं सत्य धर्ममें केवल सत् विषयमें ही किंतु थोडा और बहुत दोनों ही तरहसे बोला जाता है।

सत्यधर्मके अनन्तर क्रमके अनुसार संयम धर्मका वर्णन करना चाहते है। संयम दो प्रकारका माना है एक उपेक्षारूप दूसरा अपहृतरूप। आजकलके कितने ही समितियोंमें प्रवृत्ति रखनेवाले इन संयमोंमेंसे अपहृत संयमका पालन किया करते हैं-ऐसा उपदेश देते हैं—

प्राणेन्द्रियपरीहाररूपेपहृतसंयमे ।
शक्यक्रियप्रियफले समिताः केपि जाग्रति ॥ ३७ ॥

त्रस और स्थावर जीवोंकी पीडाको परिहार करने और स्पर्शनादिक इन्द्रियोंकी अपने अपने विषयोंमें प्रवृत्ति न होने देनेको अपहृत संयम कहते है। अपहृतसंयमके फल अथवा कार्यको उपेक्षासंयम कहते है। अपहृत संयमका अनुष्ठान शक्य और फल इष्ट है। अत एव इसके शक्यानुष्ठान और इष्ट प्रयोजनकी अपेक्षासे आजकल कितने ही समितियोंके पालन करनेवाले इस अपहृत संयमके विषयमें ही प्रमादरहित प्रवृत्ति किया करते है।

फलतः अपहृत संयम दो प्रकारका है-एक प्राणिसंयम दूसरा इन्द्रियसंयम। दोनोंमें भी प्रत्येकके उत्तम मध्यम जघन्य इस तरह तीन तीन भेद हैं। जो साधु इस संयमका पालन करता है उसको उसका अच्छी तरहसे अभ्यास करनेकेलिये प्रेरणा करते है —

सुधीः समरसाप्तये विमुखयन् स्वमर्थान्मन,—
स्तुदोथ दवयन्स्वयं तमपरेण वा प्राणितः ।
तथा स्वमपसारयन्नुत नुदन् सुपिच्छेन तान्,
स्वतस्तदुपमेन वापहृतसंयमं भावयेत ॥ ३८ ॥

रागद्वेषको उद्भूत कर चित्तको क्षुब्ध करदेनेवाले स्पर्शादिक विषयोंसे स्पर्शनादिक इन्द्रियोंको पराङ्मुख रखना इसको उत्तम इंद्रियसंयम कहते हैं । उन विषयोंको स्वय इस तरहसे दूर रखना कि जिससे इंद्रियां उनको ग्रहण न कर सकें, इसको मध्यम इन्द्रियसयम कहते है । और गुरु आदिकी आज्ञा प्रभृतिके द्वारा प्रेरित होकर उन विषयोंको इन्द्रियोंसे परे रखना इसको जघन्य इन्द्रियसयम कहते हैं ।

स्वयं उपस्थित प्राणियोंमे अपनेको पृथक रखना इसको उत्तम प्राणिसयम कहते हैं । और पांच गुणोंसे[1] युक्त प्रतिलेखन---पीछीके द्वारा अपने शरीरादिकके ऊपरसे उन जीवोंको दूर कर देना इसको मध्यम प्राणिसयम कहते हैं । तथा वैसी पीछीके न होनेपर उसके समान दूसरे मृदु वस्त्रादिके द्वारा प्राणियोंके दूर करनेको जघन्य प्राणिसयम कहते है ।

विवेकपूर्वक कार्य करनेवाले मुमुक्षुओंको उपेक्षासंयम की सिद्धि अथवा प्राप्तिके लिये इन छहों प्रकारके अपहृत सयमका भले प्रकार अभ्यास करना चाहिये ।

जो मन अपने वशमें नहीं रहता वह बाह्य विषयोंकी तरफ दौडा करता है, इस बातको ध्यानमें रख-कर ग्रन्थकर्ता अपने अपने विषयोंसे प्राप्त होनेवाले प्रचण्ड दुःखोंको दिखानेवाली स्पर्शनादिक इन्द्रियोंमेंसे एक एकके द्वारा अपनी अपनी सामर्थ्यका प्रतिपादन कराकर जगतमें स्वतन्त्रतया घूमनेवाले मनका निरोध करनेके लिये उपदेश देते हैः-

१— पीछीके आचार्योंने पाच गुण बताये हैं । —धूलिरहित, प्रस्वेदरहित, मृदु, सुकुमार, और लघु ।

स्वामिन्पृच्छ वनद्विपान्नियमितान्नाथाश्रुपिल्लाझषीः,
पश्याधीश विदन्त्यमी रविकराः प्रायः प्रभोऽग्नेः सखा ।
किं दूरेऽधिपते क पक्कणभुवां दौःस्थित्यमित्येकशः,
प्रत्युत्तप्रभुशक्ति खैरिव जगद्भावन्निरुन्ध्यान्मनः ॥ २९ ॥

कुलीन पुरुषोंको अपने मुंह अपनी तारीफ करना शोभा नहीं देता, वह उनके लिये लज्जाका ही कारण माना है, अतएव मैं अपने मुह अपनी तारीफ क्या करूं, पर आपको मेरा पराक्रम जानना है तो " हे स्वामिन् मन! आप जरा उन जगली हाथियोंसे ही पूछिये जो कि इस समय स्तम्भोंसे बँधे हुऐ है!"

" हे नाथ! आप उस रोती हुई मछलीकी तरफ देखिये," उसीसे मेरा आपको पराक्रम मालुम पडजायगा।

" हे अधीश! मेरे कामको तो प्रायः ये सूर्यकी किरणें ही जानती हैं।"

" हे प्रभो! यह अग्निका मित्र वायु क्या कुछ दूर है?" पास ही तो है; अतएव मेरे कार्यके विषयमें इसीसे पूछिये। क्योंकि सदा सर्वत्र रहनेवाला यही मेरे कृत्यका साक्षी हो सकता है।

" हे अधिपते! क्या आपने कहीं भी अहेरिया या भील आदिकोंकी आजीविका कष्टमय देखी है?" नहीं। फिर वे जो सर्वत्र सुखपूर्वक आजीविका करलेते हैं वह किसका प्रताप है?

इस प्रकार प्रत्येक स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र इन पांचो इन्द्रियोंने क्रमसे ऊपर लिखे मूजब जो मनके समक्ष अपनी सामर्थ्य प्रकट करनेके लिये व्यंग्यपूर्ण वचन कहे है उनसे यह बात अच्छी तरह मा

१—यह स्पर्शनेन्द्रियका कथन है। इसी प्रकार आगे क्रमसे रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्रका भी कथन है उसको भी घटित करलेना चाहिये।

लुम होती है कि मनने इन्द्रियोंके द्वारा संसारमें उस प्रभुशक्तिको सर्वत्र रोप रक्खा है कि जिसकी सामर्थ्य का कोई भी प्रतिविधान-प्रतीकार नहीं हो सकता। अत एव जगत्‌में अपनी प्रभुताको कायम करनेवाले और बड़े वेगके साथ विश्वभरमें दौड लगानेवाले इस मनका मुमुक्षुओंको निरोध करना ही उचित है।

इन्द्रियोंका स्वामी मन है। यदि वह वशमें न हो तो इन्द्रियोंको वह अपने विषयमें प्रवृत्त करता है। और यदि वशमें करलियाजाय तो इन्द्रियां भी स्वयं अपने विषयोंसे निवृत्त होजाती हैं। अत एव जितेन्द्रिय बननेके लिये—यदि इन्द्रियोंको अपने वशमें करना हो तो मनको जीतनेका प्रयत्न करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि—

इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मन प्रभु.।
मन एव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रिय ॥

अत एव ग्रन्थकार इन्द्रियसंयमकी सिद्धिकेलिये मनको संयत करनेका मुमुक्षुओंको उपदेश देते हैं:—

चिद्दृग्धीमुदुपेक्षितास्मि तदहो चित्तेह हृत्पङ्कजे,
स्फूर्जत्त्वं किमुपेक्षणीय इह मेऽभीक्ष्णं बहिर्वस्तुनि।
इष्टद्विष्टधियं विधाय करणद्वारैरभिस्फारयन्,
मां कुर्याः सुखदुःखदुर्मतिमयं दुष्टैर्न दूष्येत किम् ॥ ४० ॥

१—उक्त पांचों इन्द्रियोंके कथनमें क्रमसे हस्तिनीस्पर्श दोष, जालके द्वारा डाली गई गोलीके रसास्वादनमें लम्पट अपने पति—मत्स्यके मरणका दु ख, गन्धके लोभी भ्रमरका कमलके कोशमें मरण, और रूपके देखनेमें उत्सुक पतङ्गकी मृत्यु, एव गीतध्वनिमें अनुरक्त मृगका वध व्यङ्ग्य है। जो बात स्पष्ट न कहकर अभिप्रायसे जाहिर की जाय उसको व्यङ्ग्य कहते है। स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र इन इन्द्रियोंने भी अपना कार्य स्पष्ट नहीं बताया है किन्तु जिनको उनके कार्यसे प्रचण्ड क्लेश उत्पन्न हुआ है उनका उल्लेख कर अभिप्रायसे यह जाहिर किया है।

मैं, प्रमाणकी अपेक्षा स्वरूप और पररूपका संवेदयिता—स्वपरप्रकाशक, और शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा स्वरूपमात्रका अनुभविता स्वात्मोपलब्धिरूप, तथा अन्य विषयोंकी तरफ उन्मुख न हो कर परस्वरूपका भी ध्यान करनेवाला हूं। अत एव निश्चय नयकी अपेक्षासे मैं सम्पूर्ण अन्तरङ्ग और बाह्य विकल्पजालोंके विलीन होजाने से आत्मामें विश्रान्ति लाभ कर अत्यंत आल्हादको प्राप्त हूं शुद्ध स्वात्माके अनुभवरूप अत्यंत सुखस्वभावमें परिणत हूं। और स्वरूप या पररूप किसीमें भी रागी द्वेषी न होकर उपेक्षास्वभाव—परम उदासीन ज्ञानमय हूं। अत एव हे मन! इस हृदयकमल—तत्तत् विषयोंके ग्रहणमें व्याकुल हुआ तू क्या इन बाह्य वस्तुओंके विषयमें जो कि सदा इन्द्रियगोचर और वस्तुतः उपेक्षणीय है—जिनमें कि रागद्वेषको न करके मध्यस्थभाव ही धारण करना चाहिये, मुझको इष्टानिष्टबुद्धि उत्पन्न कर इन इन्द्रियोंके द्वारा उनके विषयोपभोगकी तरफ उन्मुख बनाता हुआ मुझे सुख अथवा दुःखके मिथ्याज्ञानरूपमें परिणत कर सकता है? कभी नहीं। अथवा ऐसा भी हो सकता है; क्योंकि जो स्वयं दुष्ट—दोषयुक्त-विकृत हुआ करते हैं वे दूसरी शुद्ध-अविकृत वस्तुको भी दोषयुक्त बनादिया करते हैं।

भावार्थ—हे मन! पापकर्मके निमित्तसे द्रव्यमनमें विलास करनेवाला तू जो सकल विकल्पोंसे शून्य भी चेतनको नाना विकल्पजालोंमें जटिल बना देता है सो तेरा यह कार्य अन्याय्य है। मैं इसकी निन्दा करता हूं।

उत्कृष्ट कुलीनताके अभिमानका स्मरण कराते हुए अन्तरात्माको उपालम्भगर्भित शिक्षा देते हैं:—

पुत्रो यद्यन्तरात्मन्नसि खलु परमब्रह्मणस्तत्किमक्षै,
र्लौल्याद्यद्वल्लतान्ताद्रसमलिभिरसृग्रक्तपाभिर्व्रणाद्वा।
पायं पायं यथास्वं विषयमघमयैरेभिरुद्दीर्यमाणं,
भुञ्जानो न्यात्तरागारतिमुखमिमकं हंस्यमा स्वं सवित्रा॥ ४१॥

हे अन्तरात्मन्! मनके दोष और आत्मस्वरूपके विचार करनेमें चतुर चिद्विवर्त! यदि तू परमब्रह्म—

परमात्माका पुत्र है तो भ्रमर अथवा मक्खियोंके द्वारा पुष्पोंसे पी पी कर उगले हुए रसके समान अथवा जोंकों के द्वारा घावमेंसे पी पी कर पुनः उद्वमन किये हुए खूनके समान पापप्रचुर इन्द्रियोंके द्वारा अपने अपने अनुरूप भोग भोगकर छोडे हुए इन पापबन्धके कारण, अत एव कुत्सित स्पर्शादिक विषयोंको, रागद्वेषको बढाते हुए भोगकर क्यों अपने पिता परमब्रह्मके साथ साथ अपना भी वध करता है।

भावार्थ—स्पर्शन रसन और घ्राण इन तीनों इंद्रियोंके विषय भोगकर भी फिर फिरसे भोगनेमें आते हैं। अत एव इनको वमन अथवा उगलनके समान समझना चाहिये। इसी लिये हे अन्तरात्मन्! तुझको परमात्माका पुत्र होकर-कुलीन होकर उसका सेवन करना उचित नहीं है। ऐसा करनेमे तेरा, तेरे पिता-परमात्मा दोनोंका ही घात होता है। यहांपर बहिरात्मपरिणतिको अन्तरात्माका घात और शुद्ध स्वरूपसे च्युत कराकर आत्माको रागद्वेषयुक्त बनाना परमात्माका घात समझना चाहिये।

इन्द्रियोंके द्वारा अनादि कालसे लगी हुई अविद्याकी वासनाके वशसे अनेक वार छिन्न हो गई हैं दुराशाएं जिसकी ऐसे चित्तकी विषयासक्तिको हटाते हुए उस योग्यताकी विधिका उपदेश देते हैं जिससे कि परम पदकी प्राप्ति हो सकती है ।: —

तत्त्वाद्गोचरभुक्तये निजमुखप्रेक्षीण्यमूनीन्द्रिया,—
ण्यासेदु क्रियसेऽभिमानघन भोश्चेतः कयाऽविद्यया ।
पूर्या विश्वचरी कृतिन् किमिमकैरङ्कैस्तवाशा ततो,
विश्वैश्वर्यचणे सजत्सवितरि स्वे यौवराज्यं भज ॥ ४२ ॥

हे निबिड अभिमानके पुज मन ! क्या तुझको यह वात मालुम है कि अपने अपने उन प्रतिनियत इष्टानिष्ट विषयोंका अनुभव करनेमें स्वाधीन वृत्तिको धारण करनेवालीं इन इन्द्रियोंका उपस्थाता तुझको किस अविद्याने बनादिया है ? और हे कुशल ! हे गुणदोषोंके विचार तथा स्मरणादि करनेमें प्रधान ! सन्नद्ध एव

वर्तमान तथा प्रतिनियत रूपादि विषयोंको ही ग्रहण करनेवालीं इन रंक इन्द्रियोंसे क्या तेरी वह आशा जो कि सम्पूर्ण जगत्को कवलित करलेनेवाली है, पूर्ण हो सकती है ? नहीं, कभी नहीं। अत एव अपने अपने पिता परमब्रह्मके विश्वमात्रके ऐश्वर्यका भोक्ता समस्त वस्तुविस्तारका अधिपति रहते हुए तुझको यौवराज्य—शुद्ध निजात्माके अनुभवकी योग्यतारूप कुमारपदका ही सेवन करना चाहिये। एकत्ववितर्क अवीचारनामक शुक्लध्यानमें स्थिर होना चाहिये।

इन्द्रियोंके विषय, जिस समयमें उनको भोगा जाता है, उसी एक क्षणमें रमणीय मालुम होते हैं किन्तु अनन्तर समयमें ही उनका अत्यंत कटु अनुभव होने लगता है, इस बातको बताते हुए और साथ ही इस बातको भी ज्ञान कराते हुए कि वे आविर्भूत होकर अनन्तर समयमें ही तृष्णामें पुनः नवीनताको उद्भूत कर स्वयं तिरोभूत होजाते हैं। अत एव तृष्णासंतापको उत्पन्न करनेवाले और क्षणभंगुर हैं। फिर भी जो अज्ञानी लोक इन विषयोंके ही लिये अपने सम्मुख विपत्तियोंको बुलाते है उनकी कृतिपर अपशोच प्रकट करते हैं:—

सुधागर्वं खर्वन्त्याभिमुखहृषीकप्रणयिनः,
क्षणं ये तेप्यूर्ध्वं विषमपवदन्त्यङ्ग विषयाः।
त एवाविर्भूय प्रातिचितघनायाः खलु तिरो,—
भवन्त्यन्धास्तेभ्योप्यहह किमु कर्षन्ति विपदः ॥ ४२ ॥

अपने अपने विषयोंको ग्रहण करनेके लिये उत्सुक हुई इन्द्रियोंके साथ यथायोग्य - अपने अपने अनुरूप परिचय रखनेवाले जो विषय अमृतके भी गर्वका खण्डन करदेते हैं—फलतः जो सेवन करते समय अमृतसे भी अधिक रमणीय मालूम पडते हैं ऐसे अत्यत उत्तम गिने जानेवाले पुष्पमाला स्त्री चन्दन प्रभृति विषय भी अन्तमें सेवनक्षणके बाद ही मोह मूर्छा और संतापादिको उत्पन्न कर जहर ही उगलते हैं। इसके सिवाय ये आविर्भूत होकर —उपभोग्यताको धारण करके क्षणभरके बाद ही भोगोपभोगकी गृद्धिको बढाकर तिरोभूत—विलीन होजाते

है– उपभोगके योग्य नहीं रहते। इस प्रकार तत्त्वदृष्टिसे ये विषय आपातमात्र रमणीय। किंतु परिपाककटु और तृष्णासंतापके जनक तथा क्षणभंगुर ही है। हाय फिर भी मालुम नहीं, ये अन्धे–तत्त्वस्वरूपसे अनभिज्ञ लोक इन विषयोंके लिये अपने सन्मुख विपत्तियोंको क्यों बुलाते है? जैसा कि कहा भी है कि: —

आरम्भे तापकान् प्राप्तावऽतृप्तिप्रतिपादकान्।
अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् काम कः सेवते सुधी. ॥

जो आरम्भमें सताप करनेवाले है और जो प्राप्त होकर भी अतृप्ति—असंतोषको जाहिर करनेवाले है तथा जिनका अन्तमें भी छोडना कठिन है ऐसे आदि मध्य और अन्त सर्वदा ही आत्माको संक्लिष्ट बनानेवाले इन विषयोंका, ऐसा कौन विवेकी होगा जो कि सेवन करना चाहे।

ये विषय इस लोक और परलोक दोनों ही जगह आत्माकी चैतन्यशक्तिको आच्छादित करने वाले हैं, इस बातको प्रकट करते है —

किमपीदं विषयमयं विषमतिविषमं पुमानयं येन।
प्रसभमभिभूयमानो भवे भवे नैव चेतयते ॥ ४४ ॥

यह विषयरूपी विष अपूर्व अथवा अलौकिक ही है जो कि अतिशय विषम—अत्यंत कष्टकर और ऐसा विलक्षण है कि जिससे सहसा मूर्छित हुआ यह जीव भवभवतक—अनन्त पर्यायोंमें भी सचेत नहीं हो सकता। भावार्थ—स्वसवेदनका अनुभव करनेवाला भी जीव इन विषयोंके प्रसादसे ऐसे वैभाविक भावोंको प्राप्त हो जाता है कि जिससे वह फिर अनन्त भवतक भी ज्ञानचेतनाका लाभ नहीं कर सकता। अत एव जो साधु ज्ञानचेतनारूप अमृतका पान करनेकी इच्छा रखते है उनकेलिये इस विषयरूप विपसे विरत होना ही श्रेयस्कर है।

ऊपर अपहृतसंयमको उत्तम मध्यम और जघन्य इस तरह तीन प्रकारका बताया है। उसमेंसे उत्तम प्रकारसे इन्द्रिय परिहाररूप अपहृत सयमको भावनाका विषय बनानेके लिये उपदेश देकर मध्यम और ज

घन्य रूपसे भी उसकी भावना करनेकेलिये उपदेश देनेका उपक्रम करते हैः--

साम्यायाक्षजयं प्रतिश्रुतवतो मेऽमी तदर्थाः सुखं,
लिप्सोर्दुःखविभीलुकस्य सुचिराभ्यस्ता रतिद्वेषयोः।
व्युत्थानाय खलु स्युरित्यखिलशस्तानुत्सृजेद् दूरत,—
स्तद्विच्छेदननिर्दयानथ भजेत्साधून्परार्थोद्यतान् ॥ ४५ ॥

दुःखोंसे अतिशय डरनेवाले और सुखको प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले तथा उपेक्षासंयमको सिद्ध करनेकेलिये इन्द्रियविजय स्वीकार करनेवाले—इन्द्रियोंको वश करनेमें प्रवृत्त हुए मेरे निकटवर्ती ये इन्द्रियोंके विषय क्षणमात्रमें राग या द्वेपको उत्पन्न कर सकते है। अत एव इन सम्पूर्ण विषयोंको दूर ही से छोडदेना उचित है।

अथवा जो इस प्रकारसे विषयोंके छोडदेनेमें असमर्थ है उसको उन चिरकालके दीक्षित साधुओंकी सेवा करनी चाहिये जो कि इन विषयोंका विच्छेद करनेमें अत्यंत निर्दय और दूसरोंका प्रयोजन सिद्ध करनेके लिये सदा उद्यत रहा करते हैं।

भावार्थ—संयमके उत्तम मध्यम जघन्य तीनों भेदोंका स्वरूप पहले लिखा जा चुका है; जिसमेंसे उत्तम भेदका ऊपर अच्छी तरह वर्णन किया जा चुका है। जिसमें कि अन्तर्वृत्तिके द्वारा ही आत्माको विषयोंसे पृथक् रहना दिखाया गया है। किंतु यहांपर पहले वाक्यमें मध्यम संयमका और दूसरे वाक्यमें जघन्य संयमका उपदेश है क्योंकि पहले वाक्यमें बाह्य वृत्तिके द्वारा आत्मासे विषयोंके दूर करनेका उपदेश है और दूसरे वाक्यमें गुरुओंके निमित्तसे उनको पृथक् करनेका उपदेश है।

स्वयं ही विषयोंको दूर करनेरूप मध्यम अपहृतसंयमका पालन करनेकेलिये साधुओंको उद्यत करते हैः—

मोहाज्जगत्युपेक्ष्येपि छेत्तुमिष्टेतराशयम्।
तथाभ्यस्तार्थमुज्झित्वा तदन्यार्थं पदं व्रजेत ॥ ४६ ॥

यह सम्पूर्ण चराचर जगत् वस्तुतः उपेक्षणीय ही है, इसमें न तो कोई वास्तवमें रागका ही विषय है और न द्वेषका ही फिर भी इसमें जो इष्टानिष्ट वासनाकी प्रवृत्ति होती है सो केवल मोह-अज्ञानका ही कार्य है। अत एव संयमके अभिलाषियोंको चाहिये कि वे उसको दूर करनेकेलिये उस पदको, जिसमें कि इष्टानिष्टतया पुनः पुनः विषयोंका सेवन किया जाता है; छोडकर उस पदका आश्रय लें जहांपर कि सम्पूर्ण विषय इष्टानिष्ट वासनासे सर्वथा अलिप्त है।

मनको विक्षिप्त करदेनेवाले इन्द्रियविषयोंके दूर करनेमें कुशल गुरु आदिकोंका अभिनन्दन करते हैः-

चित्तविक्षेपिणोक्षार्थान् विक्षिपन् द्रव्यभावतः।
विश्वाराट् सोयमित्यार्यैर्बहु मन्येत शिष्टराट् ॥ ४७ ॥

रागद्वेषादिको उद्भूत कर मनमें क्षोभ उत्पन्न करदेनेवाले द्रव्य और भावरूप-बाह्य और अन्तरङ्ग इन्द्रियोंके विषयोंका अच्छी तरह परित्याग करानेमें कुशल शिष्टराट्का उत्तम पुरुष 'यह जगन्नाथ है-सम्पूर्ण जगत्के अधीशकी तरह शोभायमान होनेवाला है' यह कहकर अत्यंत सम्मान करते है।

भावार्थ—तत्त्वार्थोंका श्रवण या ग्रहण आदि करके जिन्होंने अनेक गुणोंका सम्पादन किया है ऐसे शिष्ट पुरुषोंमें जो उनके अधीशकी तरह शोभायमान होता है उसको शिष्टराट् कहते है। ऐसे पुरुषके प्रसादसे ही मनको क्षुब्ध बनानेवाले समस्त विषय दूर किये जा सकते हैं। अत एव आर्य पुरुषोंके द्वारा वह संसारके स्वामीके समान अतिशय सम्मानित होता है।

इंद्रियसंयमकी तरह प्राणिपरिहाररूप अपहृत संयम भी उत्तम मध्यम और जघन्य इस तरह तीन प्रकार का बताया है। इनका विस्तृत रूपमे वर्णन करते है—

बाह्यं साधनमाश्रितो व्यसुवसत्यन्नादिमात्रं स्ववसाद्,—
भूतज्ञानमुखस्तदभ्युपसृतान् जन्तून्यतिः पालयन्

स्वं व्यावर्त्य ततः सतां नमसितः स्यात् तानुपायेन तु,

स्वान्मार्जन् मृदुना प्रियः प्रतिलिखन्नप्यादृतस्तादृशा ॥ ४८ ॥

ज्ञान और चारित्रकी क्रियाओंको अपने अधीन रखनेवाला और उनके बाह्य साधन प्रासुक वसतिका तथा अन्न पुस्तकादि मात्रको ही ग्रहण करनेवाला जो संयमी उन प्रासुक भी वसतिका आदिमें देवात् आकर पड जानेवाले जीवजन्तुओंके वियोग या उपघात आदिका विचार न करके स्वय अपनेको ही उनसे अलग रखकर उन जीवोंकी रक्षा करता है वही उत्तम प्राणिपरिहाररूप अपहृत संयमका पालक समझा जाता है। ऐसे संयमीकी साधुजन भी पूजा करते हैं। किंतु जो साधु इस तरह अपनेको ही उन जीवोंसे पृथक् न रखकर अपने शरीरादिके ऊपर आकर पडजानेवाले उन जीवोंका उक्त पांच गुणोंसे युक्त कोमल पीछी आदिके द्वारा मार्जन करके उनकी रक्षा करता है वह मध्यम प्राणिपरिहाररूप अपहृत संयमका पालन करनेवाला मानागया है और उसको सत्पुरुष बडी प्रेमकी दृष्टिसे देखते हैं। तथा जो यति उस तरहकी पीछी न मिलनेपर उसके समान किसी भी दूसरी कोमल वस्तुसे उन जीवोंका शोधन करता है वह जघन्य प्राणिपरिहाररूप अपहृत संयमका पालन करनेवाला मानागया है और वह भी सत्पुरुषोंकेलिये आदरणीय होता है।

अपहृत संयमको बढानेकेलिए आठ प्रकारकी शुद्धिका उपदेश देते हैं:—

भिक्षेर्याशयनासनाविनयव्युत्सर्गवाङ्मनस्तनुषु ।

तन्वन्नष्टसु शुद्धिं यतिरपहृतसंयमं प्रथयेत् ॥ ४९ ॥

भिक्षा ईर्या शयनासन विनय व्युत्सर्ग और मन वचन काय इन आठ विषयोंमें संयमियोंको निरवद्यता बढाते हुए अपहृत संयमको बढानेका प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि इन शुद्धियोंके निमित्तसे ही संयमकी वृद्धि हो सकती है।

भिक्षाशुद्धिका वर्णन पिण्डशुद्धिके प्रकरणमें करचुके हैं। फिर भी यहांपर इतना विशेष समझलेना चाहि-

ये कि मुनियोंकी भिक्षा गोचार अक्षम्रक्ष उदराग्निप्रशमन भ्रामरी और श्वभ्रपूरण इस तरह पांच प्रकारकी मानी है। गौके समान भक्षण करनेको गोचार कहते हैं। जिस प्रकार गौ अपने प्रयोक्ताके सौन्दर्य आदिकी तरफ निरीक्षण न करके और उचित स्वाद वगैरहकी भी अपेक्षा न करके जैसा कुछ प्राप्त होजाता है उसीको निर्विशेषरूपसे ग्रहण किया करती है, उसी प्रकार जो साधु दाताके गुणोंकी परीक्षामें न लगकर और न आहारके स्वाद अथवा उचित संयोजना आदिकी ही अपेक्षा करके यथाप्राप्त भोजनको ग्रहण करता है उसकी इस भिक्षाको गोचार कहते हैं। गाडीका पहिया जिस काष्ठपर ठहरा रहता है उसको किसी न किसी स्नेह-तैल आदि से ओंगना पडता है। क्योंकि उसके ओंगे विना ब्राझेप भरी हुई गाडी अभीष्ट स्थानतक पहुंच नहीं सकती। उसी प्रकारे आयुष्यादिको स्थिर रखनेकेलिये और रत्नत्रयरूप गुणोंके भारसे पूर्ण शरीररूपी गाडीको अभीष्ट स्थान तक पहुचानेकेलिये जो यथाविधि किसी भी निर्दोष आहारका ग्रहण करना उसको अक्षम्रक्षण कहते हैं। जिस प्रकार खजांनेमें आग लगजानेपर किसी भी जलसे उसको बुझाया जाता है; उसमें यह जल पवित्र है और यह अपवित्र है ऐसा विचार नहीं किया जाता। इसी प्रकार उदराग्निके प्रज्वलित होनेपर उसको शान्त करनेकेलिये जो यह सरस है या यह विरस है ऐसा विचार न करके आहार ग्रहण किया जाय उसको उदराग्निप्रशमन कहते हैं। जिस प्रकार भ्रमर पुष्पको किसी भी प्रकारकी पीडा न देकर उससे आहार ग्रहण करता है उसी प्रकार जो मुनि दाताको किसी भी तरहसे बाधित न करके उससे आहार्य सामग्रीको ग्रहण करता है, उसकी भिक्षाको भ्रामरी कहते हैं। जिस प्रकार कचरा वगैरहका ख्याल न करके जिस किसी भी तरह गढेको भरदिया जाता है उसी प्रकार यह स्वादु है या यह अस्वादु है ऐसा विचार न करके यथाप्राप्त भोजनके द्वारा जो उदररूपी गड्ढेका भरदेना उसको श्वभ्रपूरण कहते हैं।

ईर्या व्युत्सर्ग और वचन इन तीन प्रकारकी शुद्धियोंका वर्णन समितियोंके प्रकरणमें आचुका है, और शयनासन तथा विनय शुद्धिका वर्णन आगे चलकर तपके प्रकरणमें करेंगे; अत एव यहांपर इनके दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है। रही मनःशुद्धि सो उसका स्वरूप इस प्रकार है कि कर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली और रागादिके उद्रेकसे रहित तथा जिसमें मोक्षमार्गकी रुचिके द्वारा अतिशय निर्मलता प्राप्त हो चुकी है ऐसी

भावशुद्धिको मनःशुद्धि कहते हैं। सम्पूर्ण शुद्धियोंमें प्रधान इसी शुद्धिको माना है। क्योंकि चारित्रका प्रकाश इसीसे हो सकता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

सर्वासामेव शुद्धीनां भावशुद्धिः प्रशस्यते।
अन्यथालिङ्ग्यते पत्यमन्यथालिङ्ग्यते पतिः॥

सबमें प्रशस्त भावशुद्धि ही गिनी गई है। क्योंकि देखते हैं कि माता जो संतानका आलिङ्गन करती है उसमें और पतिका जो आलिङ्गन करती है उसमें एकसी क्रियाके रहते हुए भी परिणामोंका बड़ा भारी अन्तर है।

शरीरकी ऐसी चेष्टाको कायशुद्धि कहते है जो कि वस्त्र भूषण और संस्कारादिसे सर्वथा रहित हो तथा बालकके समान यथाजात रूपसे युक्त किंतु जिसमें किसी भी प्रकारसे अङ्गका विकार नहीं पाया जाता, तथा जिसके देखते ही लोगोंको ऐसा जान पडे मानों यह मूर्तिमान् प्रशम ही है। ऐसी कायशुद्धि ही अभयपदका कारण हो सकती है। क्योंकि इसके होनेपर अपनेको दूसरेसे और दूसरेको अपनेसे किसी भी तरह भय नहीं हो सकता।

यद्यपि इन आठ शुद्धियोंका वर्णन समिति आदिके प्रकरणमें आजाता है फिर भी उसका यहांपर पृथक् वर्णन जो किया है उसका अभिप्राय यही है कि बाल या अशक्त भी मुनिवर्ग अत्यंत दुष्कर भी संयमका पालन करनेमें सदा प्रयत्नशील बने रहें।

इस प्रकार अपहृत संयमका वर्णन करके क्रमप्राप्त उपेक्षा संयमका अथवा उसके धारण करनेवालेका स्वरूप बताते हैं:—

तेमी मत्सुहृदः पुराणपुरुषा मत्कर्मकल्मषोदयैः,
स्वैः स्वैः कर्मभिरीरितास्तनुमिमा मन्नेतृकां मद्धिया।

चञ्चम्यन्त इमं न मामिति तदाबाधे त्रिगुप्तः परा,—
क्लिष्टयोत्सृष्टवपुर्बुधः समतया तिष्ठत्युपेक्षायमी ॥ ५० ॥

देश कालके विधानको जाननेवाला और आत्मा तथा शरीरके भेदज्ञानसे युक्त उपेक्षासंयमका धारक यति मानसिक वाचिक और कायिक तीनों ही प्रकारके व्यापारोंका अच्छी तरह निरोध करके तथा शरीरमें सर्वथा ममत्वका परित्याग करके उपद्रव करनेवाले अथवा हिंसादिक जीवजंतुओंके द्वारा अनेक प्रकारका दुःख दिया जानेपर भी उनको किसी भी तरहका क्लेश नहीं देता किंतु सदा समता परिणामोंको ही धारण किया करता है। किसी भी पदार्थको वह इष्ट या अनिष्ट समझकर उसमें राग या द्वेष नहीं करता। क्योंकि वह सोचता है कि ये व्याघ्रादिक जो मेरे इस शरीरका उग्रताके साथ और बारबार भक्षण करते हैं सो बिचारे समझते हैं कि यह शरीर ही मैं हूं। किंतु ऐसा नहीं है, मैं इस शरीरका केवल प्रयोक्ता हूं। जिस प्रकार कुठार यदि बैगीको होता है, तो उसको उसका प्रयोक्ता कहा जा सकता है। पर बैगीको ही कुठार नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार मैं भी इस शरीरका वाहक मात्र हूं। शरीर ही मैं नहीं कहा जा सकता। किंतु ये बिचारे मेरे शरीरको ही मुझे समझकर भक्षण कर रहे हैं। सो इनका यह अज्ञान है। तथा इसमें इनका कोई अपराध भी नहीं है। क्योंकि मेरे ही पूर्वसंचित उपघातादि कर्मके उदयका साहाय्य पाकर फल दे सकनेवाले अपने पूर्वार्जित परघातादि कर्मोंके उदयसे प्रेरित होकर ये ऐसा कर रहे हैं। किंतु शुद्धद्रव्यदृष्टिसे यदि देखा जाय तो इनमें और मुझमें कोई अन्तर नहीं है। ये मेरे ही समान हैं। क्योंकि "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" शुद्ध स्वरूपकी अपेक्षासे सभी जीव शुद्ध हैं। अथवा ये मेरे उपकारी मित्र ही हैं। क्योंकि पिता आदि पर्यायोंको धारण कर इस अनादि संसारके भीतर कभी न कभी उन्होंने मेरा उपकार ही किया होगा। जैसा कि कहा भी है कि —

१—उपघात और परघात दोनों कर्म साथ ही उदयमें आकर फल दे सकते हैं। जो घात करनेवाला है उसके परघात प्रकृतिका और जिसका घात हो उसके उपघात प्रकृतिका उदय होता है।

सर्वे तातादिसम्बन्धा नासन् यस्याङ्गिनोङ्गिमि ।
सर्वैरनेकधा सार्द्धं नासावङ्ग्यपि विद्यते ॥

अतएव मुझसे सर्वथा भिन्न शरीरका यदि ये भक्षण करते है तो भले ही करो। मेरी इससे क्या हानि लाभ है । क्योंकि स्वसंवेदनके द्वारा जिसका प्रत्यक्ष हो सकता है ऐसे टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वभाव आत्माका तो ये कुछ भक्षण कर ही नहीं रहे हैं । शरीरके निमित्तसे यह केवल व्यवहार है कि मेरा भक्षण कर रहे है । वास्तवमें तो जो आत्मस्वरूपकी तरफ लीन हो रहा है उसका बाह्य दुःखोंकी तरफ लक्ष्य भी नहीं जाता । और न उनसे उसको किसी प्रकारके दु:खका अनुभव ही होता है । जैसा कि कहा भी है:—

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहि स्थिते ।
जायते परमानन्द कश्चिद्योगेन योगिन ॥
आनन्दो निर्दहत्युद्ध कर्मेन्धनमनारतम् ।
नचासौ खिद्यते योगी बहिर्दु खेष्वचेतन ॥
आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृत ।
तपसा दुष्कृत घोर भुञ्जानोपि न खिद्यते ॥

संयमका वर्णन करके तपोरूप धर्मका व्याख्यान करते हैं । यह धर्म उपेक्षासंयमकी सिद्धिका कारण है । अत एव जो साधु उसका पालन करते हैं उनको वैसा करनेकेलिये अधिक उत्साहित करते हैं:—

उपेक्षासंयमं मोक्षलक्ष्मीश्लेषविचक्षणम् ।
लभन्ते यमिनो येन तच्चरन्तु परं तपः ॥ ५१ ॥

संयमियोंको स्वाध्याय और ध्यानस्वरूप उत्कृष्ट तपका अनुष्ठान अवश्य ही करना चाहिये । क्योंकि केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टयरूप मोक्षलक्ष्मीका आलिङ्गन करानेमें चतुर दूतके समान इस उपेक्षासंयमकी प्राप्ति इस तपके प्रसादसे ही हो सकती है ।

इस प्रकार तपोधर्मका निरूपण करके क्रमप्राप्त त्यागधर्मका वर्णन करते हैं:—

शक्त्या दोषैकमूलत्वान्निवृत्तिरुपधेः सदा ।
त्यागो ज्ञानादिदानं वा सेव्यः सर्वगुणाग्रणीः ॥५२॥

सम्पूर्ण परिग्रह रागादिक दोषोंके उत्पन्न करनेमें प्रधान कारण हैं। अत एव साधुओंको शक्तिके अनुसार उनका त्याग ही करना चाहिये। इसीको दान कहते हैं। अथवा ज्ञानादिके देनेको भी दान कहते है। अत एव ज्ञानियोंको इसका भी निरंतर अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि यह दान धर्म सम्पूर्ण गुणोंमें प्रधान माना गया है।

यहांपर यह प्रश्न हो सकता है कि दान और उत्सर्ग तथा शौच इन तीनोंमें क्या अन्तर है? क्योंकि तीनों जगहपर परिग्रहके छोडनेका ही उपदेश दिया जाता है।

उत्तर—त्याग और उत्सर्गमें अनियत काल और नियतकालका अन्तर है। क्योंकि अपनी शक्तिके अनुसार अनियत कालके लिये परिग्रहके छोडनेको त्याग और नियत कालकेलिये सम्पूर्ण परिग्रहोंके छोडनेको उत्सर्ग अथवा कायोत्सर्ग कहते हैं। इसी प्रकार शौच और दानमें असंनिहित और संनिहित विषयोंके छोडनेकी अपेक्षासे भेद है। असंनिहित विषयोंमें भी जो कर्मके उदयसे गृद्धि हुआ करती है शौचधर्ममें उसका भी परित्याग किया जाता है; किंतु दानधर्ममें संनिहित— निकटवर्ती ही विषय छोडे जाते है। यह परस्परमें भेद समझना चाहिये।

दूसरे सम्पूर्ण दानोंके माहात्म्यकी अपेक्षा ज्ञानदानका माहात्म्य अधिक है इस बातको प्रकट करते हैं:—

यत्पाकल्पं कियेति भिक्षुरभयाद्वा तत्त्वाद्भेषजा,-
द्रा रोगान्तरसंभवाद्दशनतश्चोत्कर्षतस्ताडनम्।

ज्ञानात्त्वाशुभवन्मुदो भवमुदां तृप्तोऽमृते मोदते,
तद्दातृंस्तिरयन् ग्रहानिव रविर्भातीतरान् ज्ञानदः ॥ ५३ ॥

अभयदानादिका फल जैसा कुछ आगममें बताया गया है वह प्रसिद्ध है। अभयदानके प्रसादसे साधुको सुख प्राप्त होता है-उसको किसीसे भी भय नहीं हो सकता। किंतु यह फल उसको ज्यादेसे ज्यादे उसी एक भवकेलिये प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार औषधके दानसे रोगकी निवृत्तिरूप फल भी तभीतककेलिये मिल सकता है जब तक कि और कोई दूसरा रोग उत्पन्न नहीं होजाता। तथा आहारदानसे भी साधुको ज्यादे से ज्यादे उसी एक दिनकेलिये औदर्यशान्तिलाभ फल मिल सकता है, अधिक नहीं। किंतु तत्क्षण आनन्द उत्पन्न करनेवाले ज्ञानके प्रसादसे साधु संसारके सम्पूर्ण सुखोंमें तृप्तिलाभ कर- कृतकृत्य होकर अमृतपदमें जाकर विराजमान होजाता है और वहांपर नित्यसुखसे आल्हादित रहा करता है। अत एव जिस प्रकार सूर्य शेष सम्पूर्ण नक्षत्रोंको अपने प्रकाशके द्वारा तिरोहित कर सबके ऊपर प्रकाशित होता है उसी प्रकार ज्ञानका दान करनेवाला साधु भी अपने माहात्म्यसे अभय भेषज और भोजन तीनोंहि प्रकारके दान करनेवालोंको अधःकृत कर देता है।

भावार्थ—दान चार प्रकारका माना है, अभय, औषध, आहार, और ज्ञान। इनमेंसे आदिकी तीन वस्तुए यदि साधुओंको दी जांय तो उनसे उनको उतना लाभ नहीं हो सकता जितना कि ज्ञानके प्रसादसे हो सकता है। क्योंकि आत्माका वास्तविक कल्याण ज्ञानहीसे हो सकता है। अतएव ज्ञानके दानका माहात्म्य भी इतर दानोंके माहात्म्यकी अपेक्षा उत्कृष्ट ही माना गया है।

क्रमप्राप्त आकिंचन्य धर्मका स्वरूप बतानेके अभिप्रायसे उसका पालन करनेवालोंको जो उत्कृष्ट तथा अद्भुत फल प्राप्त हुआ करता है उसको प्रकट करते हैं।

अकिञ्चनोऽहमित्यस्मिन् पथ्यक्षुण्णचरे चरन् ।
तददृष्टचरं ज्योतिः पश्यत्यानन्दनिर्भरम् ॥ ५४ ॥

मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले ये शरीरादिक भी मेरे नहीं है ऐसे आकिंचन्य धर्मरूप और अपूर्व-जिनका कि पहले कभी भी अनुभव नहीं किया है, आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके उपायमें विहार करनेवाला साधु उस आनन्द रससे पूर्ण एक टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकभावस्वभाव आत्मज्योतिका अनुभव करता है जो कि पहले कभी भी अनुभवमें नहीं आसकी है।

भावार्थ— आत्मासे सर्वथा असम्बद्ध परिग्रहोंकी तो बात ही क्या, सम्बद्ध शरीरादिक परिग्रहमें भी संस्कारादिको छोडकर "ये मेरे है" इस तरहके मूर्च्छारूप परिणामोंका त्याग करना इसको आकिंचन्य धर्म कहते हैं।

ब्रह्मचर्य धर्मका स्वरूप बताते हैः—

चरणं ब्रह्मणि गुरावस्वातन्त्र्येण यन्मुदा ।
चरणं ब्रह्मणि परे तत्स्वातन्त्र्येण वर्णिनः ॥ ५५ ॥

मैथुन कर्मसे सर्वथा निवृत्त वर्णीकी आत्मतत्त्वके उपदेष्टा गुरुओंकी प्रीतिपूर्वक अधीनता स्वीकार कर की गई प्रवृत्तिको अथवा ज्ञान और आत्माके विषयमें स्वतंत्रतया की गई प्रवृत्तिको ब्रह्मचर्य कहते हैं। भावार्थ— जो चतुर्थ व्रतको स्वीकार करनेवाला साधु व्यवहारसे अध्यात्मगुरुओंकी और परमार्थसे अपनी आत्माकी ही अधीनता स्वीकार करके प्रीतिपूर्वक व्यवहार करता है वही उत्कृष्ट और स्वच्छन्द ज्ञानका अनुभव करता है।

इस प्रकार दश धर्मोका वर्णन करके अंतमें इन सभीके साथ उत्तम विशेषण लगानेकी आवश्यकता और गुप्ति आदिसे इनका पृथक् वर्णन करनेका कारण बताते हैंः—

गुप्त्यादिपालनार्थं तत एवापोद्धृतैः प्रतिक्रमवत् ।
दृष्टफलनिर्व्यपेक्षैः क्षान्त्यादिभिरुत्तमैर्यतिर्जयति ॥ ५६ ॥

पूर्वकृत दोषोंके निराकरणको प्रतिक्रमण कहते हैं। जिस प्रकार गुप्ति समिति और व्रतोंका पालन करनेकेलिये प्रतिक्रमणका पृथक् उल्लेख किया गया है उसी प्रकार उनका पालन और रक्षण आदि करनेके लिये क्षमादिकोंसे पृथक् वर्णन किया गया है। जो साधु ख्याति लाभ पूजा आदि ऐहिक-दृष्ट फलकी अपेक्षा न रखकर इन उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंके द्वारा सदा शुद्धोपयोगमें प्रयत्नशील बना रहता है वह सर्वोत्कृष्ट पदको प्राप्त करलेता है।

इस प्रकार दश धर्मोंका निरूपण करके, इस अध्यायकी आदिमें तपरूपी समुद्रके तीर्थरूपमें जिनका निर्देश किया है उन अनुप्रेक्षाओंका वर्णन क्रमप्राप्त है। जिन मुमुक्षुओंका चित्त निरंतर इन अनुप्रेक्षाओंके चिन्तवनमें लगा रहता है उनको मोक्षमार्गके अनेक विघ्नोंसे युक्त रहते हुए भी किसी भी प्रकारका प्रत्यवाय—अपराध नहीं लग सकता। अत एव उनका निरंतर चिन्तवन करते रहनेकेलिये साधुओंको प्रेरणा करते हैं।

बहुविघ्नेपि शिवाध्वनि यान्निघ्नधियश्चरन्त्यमन्दमुदः।
ताः प्रयतैः संचिन्त्या नित्यमनित्याद्यनुप्रेक्षाः॥ ५७ ॥

जिन अनुप्रेक्षाओंसे अपनी मतिको निरत रखनेवाले साधु जन मोक्षमार्गमें अनेक विघ्नोंके उपस्थित होते हुए भी आनन्दके उद्रेकको प्राप्त होकर यथेच्छ विहार करते रहते हैं उन अनित्यादिक[1] बारहो अनुप्रेक्षाओंका मुमुक्षुओंको प्रयत्नशील होकर शरीरादिकके विषयमें नित्य ही चिन्तवन करते रहना चाहिये।

आयु काय इन्द्रिय बल यौवन आदिमें क्षणभंगुरताका विचार करनेसे जो मोहका उपमर्दन होता है उसको दिखाते हैः—

चुलुकजलवदायुः सिन्धुवेलावदङ्गं,
करणबलममित्रप्रेमवद्यौवनं च।

१—अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ, धर्मस्वाख्यातत्व।

मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले ये शरीरादिक भी मेरे नहीं है ऐसे आकिंचन्य धर्मरूप और अपूर्व-जिनका कि पहले कभी भी अनुभव नहीं किया है, आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके उपायमें विहार करनेवाला साधु उस आनन्द रससे पूर्ण एक टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकभावस्वभाव आत्मज्योतिका अनुभव करता है जो कि पहले कभी भी अनुभवमें नहीं आसकी है।

भावार्थ— आत्मामे सर्वथा असम्बद्ध परिग्रहोंकी तो बात ही क्या, सम्बद्ध शरीरादिक परिग्रहमें भी संस्कारादिको छोडकर " ये मेरे हैं " इस तरहके मूर्च्छारूप परिणामोंका त्याग करना इसको आकिंचन्य धर्म कहते हैं।

ब्रह्मचर्य धर्मका स्वरूप बताते हैं:—

चरणं ब्रह्मणि गुरावस्वातन्त्र्येण यन्मुदा ।
चरणं ब्रह्मणि परे तत्स्वातन्त्र्येण वर्णिनः ॥ ५५ ॥

मैथुन कर्मसे सर्वथा निवृत्त वर्णीकी आत्मतत्त्वके उपदेष्टा गुरुओंकी प्रीतिपूर्वक अधीनता स्वीकार कर की गई प्रवृत्तिको अथवा ज्ञान और आत्माके विषयमें स्वतंत्रतया की गई प्रवृत्तिको ब्रह्मचर्य कहते हैं। भावार्थ— जो चतुर्थ व्रतको स्वीकार करनेवाला साधु व्यवहारसे अध्यात्मगुरुओंकी और परमार्थसे अपनी आत्माकी ही अधीनता स्वीकार करके प्रीतिपूर्वक व्यवहार करता है वही उत्कृष्ट और स्वच्छन्द ज्ञानका अनुभव करता है।

इस प्रकार दश धर्मोंका वर्णन करके अंतमें इन सभीके साथ उत्तम विशेषण लगानेकी आवश्यकता और गुप्ति आदिसे इनका पृथक् वर्णन करनेका कारण बताते हैं:—

गुप्त्यादिपालनार्थं तत एवापोद्धृतैः प्रतिक्रमवत् ।
दृष्टफलनिर्व्यपेक्षैः क्षान्त्यादिभिरुत्तमैर्यतिर्जयति ॥ ५६ ॥

पूर्वकृत दोषोंके निराकरणको प्रतिक्रमण कहते हैं। जिस प्रकार गुप्ति समिति और व्रतोंका पालन करनेकेलिये प्रतिक्रमणका पृथक् उल्लेख किया गया है उसी प्रकार उनका पालन और रक्षण आदि करनेके लिये क्षमादिकोंसे पृथक् वर्णन किया गया है। जो साधु ख्याति लाभ पूजा आदि ऐहिक—दृष्ट फलकी अपेक्षा न रखकर इन उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंके द्वारा सदा शुद्धोपयोगमें प्रयत्नशील बना रहता है वह सर्वोत्कृष्ट पदको प्राप्त करलेता है।

इस प्रकार दश धर्मोंका निरूपण करके, इस अध्यायकी आदिमें तपरूपी समुद्रके तीर्थरूपमें जिनका निर्देश किया है उन अनुप्रेक्षाओंका वर्णन क्रमप्राप्त है। जिन मुमुक्षुओंका चित्त निरंतर इन अनुप्रेक्षाओंके चिन्तवनमें लगा रहता है उनको मोक्षमार्गके अनेक विघ्नोंसे युक्त रहते हुए भी किसी भी प्रकारका प्रत्यवाय—अपराध नहीं लग सकता। अत एव उनका निरंतर चिन्तवन करते रहनेकेलिये साधुओंको प्रेरणा करते हैं।

बहुविघ्नेपि शिवाध्वनि यान्निघ्नधियश्चरन्त्यमन्दमुदः।
ताः प्रयतैः संचिन्त्या नित्यमनित्याद्यनुप्रेक्षाः॥ ५७ ॥

जिन अनुप्रेक्षाओंसे अपनी मतिको निरत रखनेवाले साधु जन मोक्षमार्गमें अनेक विघ्नोंके उपस्थित होते हुए भी आनन्दके उद्रेकको प्राप्त होकर यथेच्छ विहार करते रहते हैं उन अनित्यादिक बारहो अनुप्रेक्षाओंका मुमुक्षुओंको प्रयत्नशील होकर शरीरादिकके विषयमें नित्य ही चिन्तवन करते रहना चाहिये।

आयु काय इन्द्रिय बल यौवन आदिमें क्षणभंगुरताका विचार करनेसे जो मोहका उपमर्दन होता है उसको दिखाते हैं:—

चुलुकजलवदायुः सिन्धुवेलावदङ्गं,
करणबलममित्रप्रेमवद्यौवनं च।

१—अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ, धर्मस्वाख्यातत्व।

स्फुटकुसुमवदेतत् प्रक्षयैकव्रतस्थं,
क्वचिदपि विमृशन्तः किं नु मुह्यन्ति सन्तः ॥ ५८ ॥

क्या वे सत्पुरुष कभी भी आयु आदिके विषयमें मोहको प्राप्त हो सकते है ? कभी नहीं। जो कि आयु-आदिके स्वरूपका निरंतर इस प्रकारसे विचार करते रहते है कि यह आयु—भवको धारण करनेकेलिये कारण-भूत कर्मविशेष अंजलीके जलके समान क्षणभंगुर है। जिस प्रकार अंजलीमें भरा हुआ जल छिद्रोंमें होकर टपक टपक कर शीघ्र ही समाप्त होजाता है उसी प्रकार आयुःकर्म भी प्रतिक्षण उदयमें आ आकर सहसा समाप्त होजाता है। यह शरीर लवण समुद्रकी वेलाके समान अनित्य है। जिस प्रकार समुद्रके जलका उच्छ्वास सदा एकसा नहीं रहता, जहांतक उसे बढना चाहिये वहांतक बराबर बढता जाता है और फिर जहांतक उसे घटना चाहिये वहांतक बराबर घटता जाता है। इसी प्रकार यह शरीर भी अपने प्रमाणतक बराबर धातु उपधातुओंके द्वारा बढता जाता है और उसके बाद क्रमसे घटकर क्षीण हो जाता है। इन्द्रियोंका सामर्थ्य—विषयग्रहण करनेकी शक्ति शत्रुओंके प्रेमके समान है क्योंकि उचित उपचार होनेपर भी ये व्यभिचार ही प्रकट करती हैं। जिस प्रकार योग्य आसनादि देकर अनुकूलताकी तरफ उन्मुख किया हुआ भी शत्रु प्रेम विघटित होनेमें समयकी अपेक्षा नहीं रखता उसी प्रकार इन्द्रियां भी पथ्य आहार विहारके द्वारा सुपुष्ट की जानेपर भी अपनी सामर्थ्यके छोडनेमें बुद्धिके अपराधको ढूंढा करती है। यह यौवन खिले हुए फूलके समान शीघ्र ही विकारको प्राप्त होजानेवाला है। जिस प्रकार फूल खिलते ही कुछ क्षणकेलिये अपनी मनोहरता दिखाकर क्षणमात्रमें ही कुमला जाता है उसी प्रकार यह यौवन भी कुछ क्षणोंके लिये चमत्कार दिखाकर मुरझा जाता या विकारको प्राप्त होजाता है। इस प्रकार ये आयु शरीर इन्द्रिय और यौवन सभी क्षणभङ्गुर है। इन्होंने सर्वथा नष्ट होनेका उत्कृष्ट व्रत ले रक्खा है। अत एव इनका निर्मूल प्रलय अवश्यम्भावी है।

भावार्थ—आयु आदि अन्तरङ्ग पदार्थोंकी क्षणभङ्गुरताका निरंतर चिन्तवन करनेवाला मुमुक्षु उनमें कभी भी मोहित नहीं हो सकता—उन विषयोंमें कभी भी उसके ममत्वबुद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती, और न उनके

विषयमें उसको नित्यताका ही प्रत्यय हो सकता है।

इस प्रकार आयु आदि अन्तरङ्ग पदार्थोंकी क्षणभंगुरताका विचार करके संपत्ति आदि बाह्य पदार्थोंकी भी अनित्यताको प्रकट करते हैं:—

छाया माध्यान्हिकी श्रीः पथि पथिकजनैः सङ्गमः सङ्गमः स्वैः
स्वार्थाः स्वप्नेक्षितार्थाः पितृसुतदयिता ज्ञातयस्तोयभङ्गाः।
सन्ध्यारागोनुरागः प्रणयरसमृजां ह्लादिनीदाम वैस्थं,
भावाः सैन्यादयोन्येप्यनुविदधति तान्येव तद्ब्रह्म दुग्धः ॥५९॥

लक्ष्मी स्थिर रहनेवाली नहीं है, वह मध्यान्हकालकी छायाके समान क्षणमात्रकेलिये अपना प्रकाश दिखाकर तिरोभूत होजानेवाली है। इसी प्रकार और भी दृष्टांत व दार्ष्टांत समझने चाहिये। जैसे बन्धु बान्धवोंके साथ संयोग भी ऐसा ही है जिस तरहसे कि मार्गमें पथिकोंके साथ कुछ क्षणके लिये संयोग हो जाया करता है। जिस प्रकार भिन्न भिन्न दिशाओंसे आकर पथिकजन विश्रामके लिये एक वृक्षकी छायामें कुछ क्षणके लिये एकत्रित हो जाते है किंतु थोडी ही देर बाद वे अपने अपने स्थानको चल जाते है-वियुक्त होजाते हैं। उसी प्रकार भिन्न भिन्न गतियोंसे आये हुए जीव अपने अपने कर्मके अनुसार आयुका उपभोग करनेके लिये एक ही कुल या जातिमें कुछ क्षणके लिये इकट्ठे हो जाते हैं और उसके बाद अपने अपने कर्मके अनुसार भिन्न भिन्न गतियोंमें चले जाते हैं। अतएव बन्धुबान्धवोंका संयोग मार्गमें होनेवाले पथिकसंयोगके समान क्षणभगुर है। इन्द्रियोंके विषय भी स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंके समान अकिंचित्कर ही है। क्योंकि जिस प्रकार स्वप्नमें देखे हुए पदार्थ उस समय देखने मात्रके ही हैं, निद्रा खुलते ही सब विलीन होजानेवाले हैं। उनमे कोई भी वास्तविक कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। उसी प्रकार इन्द्रियोंके विषय भी उपभोगके समयमें ही मनोहर मालुम पड़नेवाले हैं। उसके बाद उनसे कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। माता पिता लड़का लडकी और स्त्री आदि जितने कुटुम्बी जन हैं वे

सब भी जलकल्लोलके समान क्षणभंगुर ही हैं। जिस प्रकार जलकी कल्लोल अपना चमत्कार दिखाकर क्षणमात्रमें तिरोभूत हो जाती है उसी प्रकार कुटुम्बी जन भी कुछ कालतक ठहरकर विलीन हो जाते हैं। प्रेमरसको ही सदा प्रगट करनेवाले मित्र प्रभृतिका अनुराग भी सन्ध्याकालके रागके ही समान है। जिस प्रकार सन्ध्याके समय कुछ ही क्षणोंमें आकाशमें कई वर्णोंका विलक्षण २ परिणमन हो होकर सहसा विलीन हो जाता है, उसी प्रकार मित्रजनोंका प्रेम भी कुछ समयतक ही अपना रूप दिखाकर तिरोहित होजाता है। पूज्यता और आज्ञाप्रभृतिका ऐश्वर्य भी विजली के चमत्कारकी तरह क्षणमात्रमें ही नष्ट होजानेवाला है। अधिक कहांतक कहें सेना, हाथी, घोडे, रथ, पैदल, महल बगीचा आदि जितने भी बाह्य पदार्थ हैं वे सब इस क्षणभंगुरताका ही अनुसरण करते हैं। अतएव हमे इन सम्पूर्ण क्षणविनश्वर पदार्थोंका परित्याग करके आत्मा और शरीरके भेदज्ञानरूप ब्रह्मको स्वाभाविक आनन्दसे पूर्ण करना ही उचित है।

इस प्रकार अन्तरङ्ग और बाह्य-सम्बद्ध और असम्बद्ध दोनो ही प्रकारके पदार्थोंमें नश्वरताका विचार करते रहनेसे आसक्ति नहीं होती और उनके भोग कर छोड देनेपर-वियोगकालमें फिरसे उनको भोगनेके लिये दुष्परिणाम भी नही होते।

अशरणताका निरूपण करते हैः—

तत्तत्कर्मग्लपितवपुषां लब्धवाञ्छितार्थं,
मन्वानानां प्रसभमसुवत्प्रोद्यतं भक्तुमाशाम्।
यद्वद्धार्थं त्रिजगति नृणां नैव केनापि दैवं,
तद्वन्मृत्युर्ग्रसनरसिकस्तद् वृथा त्राणदैन्यम् ॥ ६० ॥

मसि कृषि आदि कर्मोंने जिनके शरीरको निःसत्व करडाला है और जो अभीष्ट पदार्थके विषयमें समझते हैं कि यह तो हमारे हाथमें ही है ऐसे मनुष्योंकी प्राणोंके समान आशाका-भविष्य पदार्थोंके प्राप्त करनेकी

आकांक्षाका बलात्कार उपमर्दन करदेनेके लिये उद्युक्त हुए दैव-पूर्वकृत अशुभ कर्मको दूर करनेके लिये क्या तीनों लोकमें भी कोई समर्थ है ? नही ! इस त्रिलोकीमें चेतन या अचेतन ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है जो कि पूर्वसंचित कर्मका निवारण कर सके[1]। मनुष्य भविष्यके लिये अनेक प्रकारकी आशाएं बांधता है किंतु पूर्वकर्म उदयमें आकर हठात् उसमे विघ्न डाल देता है। जिस प्रकार कोई भी इन्द्रादिक या मन्त्रादिक कर्मकी शक्तिसे नही रोक सकते उसी प्रकार आयु भी अनिवार्य ही है। संसारी जीवमात्रके प्राणोंका संहार करनेमें उद्युक्त हुए मृत्युका भी कोई निवारण नहीं कर सकता। जब कि यह बात है-दैव और मृत्यु दोनोंका ही निराकरण नहीं हो सकता तब रक्षण या शरणके लिये किसीका भी अनुसरण करना या किसीके सामने दीनता प्रकाशित करना व्यर्थ ही है। क्योंकि न तो कोई मेरे भाग्यमें परिवर्तन कर सकता है और न मेरी मृत्युको ही रोक सकता है। ये दोनो कार्य अवश्यम्भावी है अतएव इनके लिये धैर्यका अवलम्बन लेना ही सत्पुरुषोंको उचित है।

चक्री अर्धचक्री इन्द्र या योगीन्द्र कोई भी क्यों न हो, कालका प्रतीकार नहीं कर सकता; इस बातका निरंतर चिन्तवन करते रहनेवाला मुमुक्षु किसी भी बाह्य वस्तुमें मोहित नहीं हो सकता। इस बातको प्रकट करते हैं:—

सम्राजां पश्यतामप्यभिनयति न किं स्वं यमश्चाण्डिमानं,
शक्राः सीदान्ति दीर्घे क न दयितवधूदीर्घनिद्रामनस्ये।
आ कालव्यालदंष्ट्रां प्रकटतरतपोविक्रमा योगिनोपि
व्याक्रोष्टुं न क्रमन्ते तदिह बहिरहो यत् किमप्यस्तु किं मे ॥ ६१ ॥

यह यमराज बलत्कार प्राणोंका हरण करलेनेवाली अपनी क्रूरताका अभिनय भला कहां कहांपर नही दिखाता है, सम्पूर्ण पृथ्वीका उपयोग करनेवाले चक्रवर्ती बैठे ही रहते है और उनके सामने यह क्रूर काल उनके

१—कर्माण्युदीर्यमाणानि स्वकीये समये सति। प्रतिषेद्धुं न शक्यन्ते नक्षत्राणीव केनचित् ॥

पुत्रादिकोंके प्राणोंका संहार कर ही डालता है; पर वे कुछ नहीं कर सकते, देखते ही रहजाते हैं। अपनी प्रियतमा वधुओंके मरणसे उत्पन्न हुए चिरकालीन—सागरोंतकके दुःखसे क्या ये इन्द्रादिक दुःखी नहीं होते? होते ही है। क्योंकि देवाङ्गनाओंकी आयु पल्योपम और इन्द्रोंकी आयु सागरोपम हुआ करती है अत एव जिस प्रकार सागर—समुद्रमें अनेक लहरें उत्पन्न होकर विलीन होजाती है उसी प्रकार एक इन्द्रकी आयुमें अनेक देवियां उत्पन्न हो हो कर आयु पूर्ण करजाती है। उन सबके वियोगका दुःख इन्द्रोंको आयुःपर्यंत भोगना पडता है। इसीलिये तो कहते है कि यह यमराज भला किसको दुःखकर अभिनय नहीं दिखाता?

कदाचित् कोई समझेगा कि चक्रवर्ती या इन्द्र यदि यमराजका मुकाबिला नहीं कर सकते तो न सही; पर उत्कृष्ट तपस्यासे उत्पन्न हुए पराक्रमके धारक योगीश्वर उसका प्रतीकार अवश्य कर सकते होंगे। सो ऐसा भी नहीं है। हमें यह बडे दुःखके साथ कहना पडता है कि भुजग अथवा सिंहके समान कालकी भयकर डाढका प्रतिरोध अतिशयित और जगद्विख्यात तपोविक्रमकी शक्तिको धारण करनेवाले ऋषिगण भी नहीं कर सकते। उन्हे भी कालकवलित होना ही पडता है। अत एव हे तत्वज्ञानमें प्रवीण महर्षियो! तुम ऐसा विचार करो कि इन बाह्य पदार्थ शरीरादिकोंमें जरा मरण या व्याधि आदि कुछ भी होता रहो, इससे मेरा क्या नुकसान? कुछ नहीं। जैसा कि कहा भी है किः—

न मे मृत्यु कुतो भीतिर्न मे व्याधि कुतो व्यथा
नाहं बालो न वृद्धोहं न युवैतानि पुद्गले ॥
जीवोन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रह ।
यदन्यदुच्यते किंचित् सोस्तु तस्यैव विस्तर ॥
मत्त कायादयो भिन्नास्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः ।
नाहमेषां किमप्यस्मि ममाप्येते न किंचन ॥

आधि व्याधि मृत्यु और भय तथा बाल वृद्ध और युवा आदि अवस्थाएं मेरी आत्मामें नहीं, पुद्गलमें होती हैं। जीव दूसरा पदार्थ है और पुद्गल दूसरा पदार्थ है। जिन जिन इन भिन्न वस्तुओंका निरूपण किया

जाता है वे सब पुद्गलकी ही अवस्थाए है। तत्त्वदृष्टिसे यदि देखा जाय तो शरीरादिक मुझसे और मैं शरीरादिकसे सर्वथा भिन्न हूं। मैं इनका कोई नही और ये मेरे कोई नहीं।

इस प्रकारसे जो नित्य ही अशरणताका विचार करता रहता है उस विरक्तबुद्धिके किसी भी सांसारिक पदार्थमें ममत्त्वबुद्धि उत्पन्न नहीं होती किंतु आत्मप्रत्यय या स्वावलम्बनका भाव दृढ होता है और सर्वज्ञके मार्गमें प्रीति उत्पन्न होती है।

संसारानुप्रेक्षाका वर्णन करते हैः -

तच्चेद् दुःखं सुखं वा स्मरसि न बहुशो यन्निगोदाहमिन्द्र-
प्रादुर्भावान्तनीचोन्नतविविधपदेष्वा भवाद्भुक्तमात्मन्।
तार्त्कि ते शाक्यवाक्यं हतक परिणतं येन नानन्तराति,—
क्रान्ते भुक्तं क्षणेपि स्फुरति तदिह वा कास्ति मोहः सगर्हः ॥ ६२ ॥

हे आत्मन्! अनादि कालसे लेकर अबतक अनत वार तेने जो निगोदसे लेकर अहमिन्द्रतककी नीच और ऊंच नाना प्रकारकी पर्यायोंमें सुख या दुःख जो कुछ भोगा है उसका तुझे स्मरण क्यों नही होता? जिस प्रकार नीच स्थानोंमें तू निगोदतक पहुंचा और वहां तेने दुःखोंका अनुभव किया उसी प्रकार ऊंच स्थानोंमें भी अनेक बार तेने अहमिन्द्रतककी पर्यायोंको धारण किया और वहापर सांसारिक सुखोंका भी अनुभव किया। पर तुझे न तो उन नीच स्थानोंके भोगे हुए दुःखोंका ही स्मरण होता है और न उन ऊंच स्थानोंके सुखोंका ही। इसका क्या कारण है? हे दुरात्मन्! क्या निरन्वय क्षणिक वादरूप बौद्ध सिद्धान्तके वचन तेरें एकतानताको प्राप्त हो गये हैं? क्या क्षणिक सिद्धान्तके अनुसार पूर्व पर्यायमें सर्वथा नष्ट होकर अब सर्वथा नया पदार्थ ही उत्पन्न

१—समभवमहमिन्द्रोऽनन्तशोऽनन्तवारान्, पुनरपि च निगोतोऽनंतशोऽन्तर्निवृत्त।
किमिह फलमभुक्त तद्यदद्यापि भोक्ष्ये, सकलफलविपत्तेः कारण देव देया॥

हुआ है ? पूर्व पर्याय तो क्या, इसी पर्यायमें तू प्रतिक्षण नष्ट हो हो कर नवीन ही उत्पन्न हो रहा है ? अन्यथा अभी थोडे ही समय पहले जिन सुखों और दुःखोंको तेने भोगा था उनका भी तुझे स्मरण क्यों नहीं होता ? अथवा ठीक ही है, इस लोकमें प्राणिमात्रको निगलजानेवाले मोहको क्या किसी भी प्राणीके विषयमें ग्लानि होती है ? नहीं । यही कारण है कि तुझको उन दु खकर या सुखकर स्थानोंका स्मरण नहीं होता, अथवा होकर भी उनकी तरफसे तुझे उपेक्षा नहीं होती । क्योंकि मोहके प्रमादसे जीव ऐसा मूर्च्छित रहता है जिससे कि संसारके वास्तविक स्वरूपकी तरफ उसका लक्ष्य ही नहीं जाता ।

संसारकी दुरवस्थाका स्वय विचार करनेकेलिये उपदेश देते हैः—

अनादौ संसारे विविधविपदातङ्कनिचिते,
मुहुः प्राप्तस्तां तां गतिमगतिकः किं किमवहम् ।
अहो नाहं देहं कमथ न मिथो जन्यजनका,—
द्युपाधिं केनागां स्वयमपि हहा स्वं व्यजनयम् ॥ ६२ ॥

इष्टवियोग और अनिष्टसंयोगके द्वारा आकर प्राप्त होनेवाली नाना प्रकारकी विपत्तियों और उनसे होनेवाले क्लेशोंसे अत्यंत भरे हुए इस अनादि संसारमें उसके दुःखोंसे छूटनेका कोई भी उपाय न पाकर भला कौन कौनसी गतिको मैने अनेक वार नहीं पाया है ? नारक तिर्यक् और मनुष्य आदि सभी गतियोंमें तो मैने वार वार भ्रमण किया है । तथा कौनसा ऐसा शरीर है कि जिसको मैंने धारण नहीं किया; सिवाय उसके कि जो सम्यक्त्वके सहचारी पुण्यकर्मके उदयसे ही प्राप्त होता है । और तो काले गोरे छोटे मोटे ऊंचे नीचे आदि अनेक प्रकारके वर्ण और संस्थानके प्रायः सभी शरीरोंको मैने धारण किया हैं । इसी प्रकार ऐसा कौनसा जीव है कि जिसके साथ मैने पिता पुत्रादिके सम्बन्धकी उपाधि नहीं पाई है ? जिस जीवका कभी पुत्र हुआ हूं तो कभी उसीका पिता भी हुआ हू, कभी सेवक हुआ हू तो कभी स्वामी भी हुआ हू। और यदि कभी भोज्य हुआ हूं तो कभी उसीका

भोजक भी हुआ हूं। इस प्रकार प्रायः जीवमात्रके साथ मैं सभी वैभाविक भावोंको पाचुका हू । हाय अब मुझे उन दुःखमय अवस्थाओंका स्मरण होनेसे बडा कष्ट होता है । पर मैंने अपने आप ही तो अपनेको दुरवस्थाओंमें पटका था।

इस तरहसे विचार करनेवाला मनुष्य संसारके दुःखोंसे उद्विग्न होकर उसको छोडनेकी तरफ प्रवृत्ति करता है।

क्रमप्राप्त एकत्त्वानुप्रेक्षाकी विधि बताते हैं: —

किं प्राच्यः कश्चिदागादिह सह भवता येन साध्येत सङ्यङ्,
प्रेत्त्येहत्योपि कोपि त्यज दुरभिमतिं संपदीवापदि स्वान् ।
मध्रीचो जीव जीवन्ननुभवसि परं त्वोप कर्तुं सहैति,
श्रेयोंहश्चापकर्तुं भजसि तत इतरत्तत्फलं त्वेककस्त्वम् ॥ ६४ ॥

हे आत्मन् ! क्या पूर्वभवका पुत्र मित्र या बहिन भाई आदिमेंसे कोई भी इस भवमें तेरे साथ आया है ? जिसको कि देख करके यह अनुमान किया जा सके कि इस भवका भी कोई परभवतक तेरे साथ जा सकेगा । जब कि ऐसा नहीं है—दृष्टांतकेलिये भी परभवसे साथमें आया हुआ कोई 'बन्धु बान्धव नहीं मिलता तो यह किस तरह माना जा सकता है कि इस भवके दृष्ट जनोंमेंसे भी कोई तेरे या किसीके भी साथ जा सकेगा ? अत एव इनके विषयमें तुझको जो मिथ्याज्ञान बैठा हुआ है कि ये मेरे हैं सो उस दुरभिनिवेशको छोडदे । हे जीव ! क्या तेने जीते हुए कभी इस बातका अनुभव किया है कि जिनको तू अपने समझता है वे तेरी सम्पत्तिकी तरह विपत्तिमें भी कभी सहायक हुए हैं ? नहीं । क्योंकि जब तेरे जीते जी यह हाल है कि संपत्तिके रहते हुए तो ये सब तेरा साथ देते हैं पर विपत्तिको देखकर दूर ही भागजाते हैं; तब मरनेपर साथ देनेकी तो बात ही कहां । हे आत्मन् ! यह निश्चय समझ कि इनमेंसे तेरे साथ जानेवाला कोई भी नहीं है । हां, पुण्य और पाप जिनका कि तेने ही संचय किया है उनमेंसे तेरा उपकार करनेकेलिये पुण्य और अपकार करनेकेलिये पाप

परभवतक तेरे साथ अवश्य जायगा। किंतु उनका सुख और दुःखरूप फल इस लोककी तरह परलोकमें भी तुझे अकेलेको ही भोगना पडेगा। उसको भी कोई बांट नहीं सकता। अत एव यह निश्चय मान कि संसारके भीतर नाना योनियोंमें पर्यटन और पुण्यपापके सुखदुःखरूप फलोंका अनुभव तुझे अकेलेको ही करना पडता है उसमें तेरा भागीदार कभी कहीं भी और कोई भी नहीं हो सकता।

वास्तवमें आत्माके साथ जानेवाला कोई भी नहीं है, इस बातको प्रकट करते हैं:—

यदि सुकृतममाहंकारसंस्कारमङ्गं,
पदमपि न सहैति प्रेत्य तत् किं परेर्थाः।
व्यवहृतितिमिरेणैवार्पितो वा चकास्ति,
स्वयमपि मम भेदस्तत्त्वतोस्म्येक एव ॥ ६५ ॥

जिसमें कि ममकार और अहंकारका संस्कार - दृढ प्रत्यय जन्मसे ही किया गया है ऐसा यह शरीर ही जब कि परलोकके लिये मेरे क्या किसीके भी एक डग भी साथ नहीं जाता है तब स्त्रीपुत्रादिक और धन धान्यादिक जो कि सर्वथा ही भिन्न दीख रहे हैं; किस तरह साथ जा सकते हैं। अत एव मेरा और इनका भेद निश्चित है। अथवा मेरा भेद ही स्वय अपने स्वरूपको दिखा रहा है कि मैं अन्धकारके समान यद्वा नेत्ररोगके समान व्यवहार नय—उपचारसे हूं न कि निश्चय नयसे। निश्चयनयसे तो मै एक ही हू—मुझमें ज्ञान सुख दुःख आदि पर्यायोंकी अपेक्षा भेद नहीं है। मै सदा एक चैतन्य रूपमें ही रहनेवाला हू।

इस प्रकार एकत्वका विचार करनेवाले मुमुक्षुके स्वजन या परजन किसीमें भी रागद्वेषकी उद्भूति नहीं होती, वह निःसङ्ग होकर मोक्षमें प्रवृत्त होता है।

अन्यत्व भावनाके अतिशयित फलको दिखाकर उसके विषयमें प्रलोभन उत्पन्न करते हुए उसका वर्णन करते हैं:—

नैरात्म्यं जगत इवार्य नैर्जगत्यं,
निश्चिन्वन्ननुभवसिद्धमात्मनोपि ।
मध्यस्थो यदि भवसि स्वयं विविक्तं,
स्वात्मानं तदनुभवन् भवादपैषि ॥ ६६ ॥

" अहं " या " मैं " ऐसी जिसमें प्रतीति होती है उसको आत्मा कहते हैं। यह प्रतीति अन्तस्तत्त्वमें ही होती है, शेष सम्पूर्ण जगतमें नहीं होती। अतएव जगतका स्वरूप नैरात्म्य माना है। हे आर्य! जिस प्रकार जगत्का स्वरूप नैरात्म्य है उसी प्रकार आत्माका स्वरूप नैर्जगत्य भी है। क्योंकि वह सम्पूर्ण पर वस्तुओंके ग्रहणसे रहित है। अतएव अपने नैर्जगत्यको अनुभवसिद्ध निश्चय करके-इस बातका दृढ प्रत्यय करके कि मेरी आत्मा इन सम्पूर्ण दृश्यमान पदार्थोंसे सर्वथा अलिप्त है, यदि तू मध्यस्थ होजाय-समस्त वस्तुओंमें रागद्वेषरहित हो कर आत्मस्वरूपमें स्थिर होजाय तो अवश्य ही तू अपनी आत्माकी शरीरादिकसे भिन्नताका अनुभव करते हुए उसको संसार और शरीर दोनोंसे ही मुक्त कर सकता है।

भावार्थ—यदि तू अपनी आत्माको संसार और शरीरसे सर्वथा भिन्न समझकर निरंतर उसका विचार करता रहे तो अवश्य ही एक न एक दिन तेरा आत्मा उनसे रहित होजायगा।

अन्यत्वकी भावनामें रत रहनेवालेके अपुनर्भवकी जो अभिलाषा होती है या रहना चाहिये उसको प्रकट करते हैं—

बाह्याध्यात्मिकपुद्गलात्मकवपुर्युग्मं भृशं मिश्रणा,—
द्धेम्नः किट्टककालिकाद्वयमिवाभादप्यदोऽनन्यवत् ।
मत्तो लक्षणतोऽन्यदेव हि ततश्चान्योहमर्थादत,—
स्तद्भेदानुभवात्सदा मुदमुपैम्यन्वेमि नो तत्पुनः ॥ ६७ ॥

यह शरीर जो देखनेमें आता है सो बाह्य और अन्तरङ्ग दो पौद्गलिक शरीरोंका जोडा है-इसमें रस रक्तादिक धातुमय औदारिक शरीर बाह्य और ज्ञानावरणादिकर्मस्वरूप कार्मण शरीर अन्तरङ्ग है जो कि दोनोंही पौद्गलिक हैं। जिस प्रकार सुवर्णके साथ बाह्य स्थूल मल किट्ट और अन्तरङ्ग सूक्ष्म मल कालिका दोनों ही अत्यंत जुडे रहते हैं उसी प्रकार मेरे साथ ये दोनों शरीर भी अत्यंत जुडे हुए हैं—मेरे साथ मिलकर सर्वथा एकमेकसे होगये हैं इसीलिये मैं और ये दोनों अभिन्न सरीखे जान पडते हैं। किंतु वास्तवमें ये मुझसे सर्वथा भिन्न है क्योंकि मेरा और इसका लक्षण या स्वरूप सर्वथा भिन्न २ है। मै अमूर्त और यह मूर्त, मैं ज्ञानदर्शनादि उपयोग-रूप चेतन और यह अज्ञानस्वरूप जड, मैं आनन्दमय और यह निरानन्द, इस प्रकार मुझमें और इसमें महान् अन्तर है। अतएव अत्यंत संयोगकी अपेक्षा यह मुझसे अभिन्न सरीखा मालुम होते हुए भी वास्तवमें भिन्न ही है। ये मुझसे भिन्न हैं मैं इनसे भिन्न हूं। इस प्रकार वास्तविक भेदका अनुभव हो जानेसे अब मैं सदा आत्मिक सुखमें ही मग्न रहूंगा, इस शरीरका अनुवर्तन न करूंगा।

इस प्रकार शरीरादिकसे भिन्नताका विचार करनेवाला साधु उन विषयोंमें निरीह होकर मोक्षके साधनमें सतत सोत्साह बना रहता है।

यहांपर यह प्रश्न हो सकता है कि एकत्वानुप्रेक्षा और अन्यत्वानुप्रेक्षामें क्या अन्तर है? किंतु दोनोंका अन्तर स्पष्ट है। एकत्व भावनामें तो "मै अकेला हू" इस तरह विधिरूपसे चिन्तवन किया जाता है और अन्यत्व भावनामें "मुझसे भिन्न है, मेरे नहीं है," इस तरह निषेधरूप चिन्तवन किया जाता है। अत एव दोनोंमें महान् अन्तर हैं।

शरीरकी अशुचिताका विचार कराते हुए आत्माको शरीरके विषयमें जो पक्षपात लगा हुआ है उसकी निन्दा करते हैः—

कोपि प्रकृत्यशुचिनीह शुचेः प्रकृत्या,
भूयान्वसेरकपदे तव पक्षपातः।

यद्विश्रसा रुचिरमर्पितमर्पितं द्राग्,
व्यत्यस्यतोपि मुहुराद्विजसेऽङ्ग नांगात ॥ ६८ ॥

हे आत्मन् ! चन्दन गंध आदि रमणीय और पवित्र भी वस्तुएं इस शरीरपर लगाई जांय तो भी और बार बार लगानेपर भी यह शरीर स्वभावसे ही उनको लगाते लगाते ही झटसे विगाड देता है–अपवित्र बना देता है। फिर भी देखते है कि स्वभावसे ही शुद्ध और रमणीय तू इससे उद्विग्न–विरक्त नहीं होता। अतएव मालुम होता है कि तेरा स्वभावसे ही अपवित्र और अमनोज्ञ इस शरीरमें जो कि उस स्थानके समान थोडे ही समयतक ठहरनेके लिये है जहांपर कि पथिक जन रातभरके लिये ही विश्राम किया करते है, अपूर्व और बडा भारी पक्षपात है। क्योंकि यदि तुझे इसमें पक्षपात न होता तो क्या तू पवित्र होकर और इसकी अपवित्रताका अनुभव करके भी इससे विरक्त न होता ? अवश्य होता।

शरीरके ऊपर चामका आच्छादन मात्र लगा हुआ है इसीलिये गृद्धादिक मांसभक्षी पक्षी उसको चोंथ चोंथ कर नहीं खाते हैं, अन्यथा वे इसको छोडते भी नहीं। इससे सिद्ध है कि शरीरकी बराबर कोई भी पदार्थ अपवित्र नहीं है। फिर भी शुद्ध स्वरूपके देखनेमें कुशल या स्थिर आत्माका आधार मात्र होनेसे ही वह पवित्र भी हो सकता है। अत एव अशुचि भी शरीरमें समस्त संसारकी विशुद्धिकी कारणताका संपादन करनेके लिये आत्माको उत्साहित करते हैं—

निर्मीयास्थगयिष्यदङ्गमनया वेधा न भोश्वेत त्वचा,
तत् क्रव्याद्भिरखण्डयिष्यत खरं दायादवत् खण्डशः।
तत्संशुद्धनिजात्मदर्शनविधावग्रेसरत्वं नयन्,
स्वस्थित्येकपवित्रमेतदखिलत्रैलोक्यतीर्थं कुरु ॥ ६९ ॥

हे आत्मन्! यह शरीर इतना अशुचि है कि यदि विधाता इसको बनाकर ऊपरसे इस दीखते हुए चमडेसे इसे आच्छादित न करदेता तो गृद्धादिक जितने मांसभक्षी पक्षी हैं वे सब इसको अच्छी तरहसे चोंथ डालते। जिस प्रकार भाई बन्धु आदि दायाद जन अविभाज्य—जिसका विभाग नहीं किया जा सकता ऐसी भी वस्तुके लिये आपसमें क्रोध और स्पर्धाके साथ लड लडकर खण्ड खण्ड करके उस वस्तुको ग्रहण करते है उसी प्रकार गृद्ध वगैरह पक्षी इस शरीरके लिये करते। इस प्रकार यद्यपि यह अशुचिपदार्थमय है फिर भी इसमें तू निवास करता है इसलिये यह पवित्र भी समझा जाता है। अतएव अत्यंत शुद्ध निज आत्मस्वरूपका अवलोकन करनेमें इस शरीरको अग्रेसर बनाकर सम्पूर्ण त्रिलोकीके लिये तीर्थस्वरूप विशुद्धिका कारण बना देना चाहिये।

भावार्थ—यद्यपि यह शरीर स्वभावसे अपवित्र ही है किंतु तेरे सम्बन्धसे पवित्र भी है। अतएव ज्यों ज्यों तू पवित्र होता जायगा त्यों त्यों यह भी अधिकाधिक शुद्ध होता जायगा। जिम समय तू अत्यंत निर्मल निजात्म स्वरूका अवलोकन करने लगेगा उस समय तेरा यह शरीर भी परमौदारिक होकर समस्त संसारके लिये तीर्थरूप होजायगा। किंतु तेरा पवित्र होना भी इस शरीरके ऊपर ही निर्भर है। क्योंकि जिस उत्कृष्ट ध्यानके बलसे तुझे निज शुद्धात्माका साक्षात्कार हो सकता है उसकी प्राप्ति उत्तम संहननवाले शरीरसे ही हो सकती है। अत एव तुझे उसको तीर्थरूप बनाना ही उचित है।

इस प्रकार निरंतर चिन्तवन करनेवाला साधु शरीरसे विरक्त होकर अशरीर अवस्था प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करने लगता है।

आस्रवके स्वरूपका विचार करनेके लिये उसके दोषोंका चिंतवन करते हैं:—

युक्ते चित्तप्रसत्त्या प्रविशति सुकृतं तद्भविन्यत्र योग,—
द्वारेणाहत्य बद्धः कनकनिगडवद्येन शर्माभिमाने।
मूर्छन् शोच्यः सतां स्यादतिचिरमयवेत्याचसंक्लेशभावे,
यत्वंहस्तेन लोहान्दुकवदवसिताच्छिन्नमर्मेव ताम्येत ॥ ७० ॥

जिस समय यह संसारी जीव प्रशस्त राग या अनुकम्पादिक परिणामोंसे युक्त होता है उस समय मन वचन कायके द्वारा होनेवाले आत्मप्रदेशपरिस्पन्दरूप योगके द्वारा पुण्य कर्मका संचय होता है। सम्यग्दर्शनादिक भावोंसे युक्त आत्माके प्रदेशोंमें रहनेवाले कर्मस्कन्धोंमें सातावेदनीय शुभ आयु शुभ नाम और शुभ गोत्ररूप पुण्यकर्मके योग्य पुद्गलद्रव्यका योगके द्वारा अनुप्रवेश होता है। पौद्गलिक कर्मोंका स्कन्ध और भी पुद्गलोंसे एक क्षेत्रावगाह करके आपसमें जकड जाता है। जिस प्रकार सुवर्णकी बेढियोंसे जकडा हुआ कोई राजपुरुष अपने महत्वका ख्याल करके सुखका अभिमान करता हो। किंतु तत्वदर्शी लोग उसपर खेद ही जाहिर करते हैं। उसी प्रकार पुण्यकर्मके उदयसे मै सुखी हूं इस तरहके अभिमानमें चिरकाल–पल्योंतक मूर्छित रहनेवालेपर सिद्धिके साधनमें उद्यत रहनेवाले सत्पुरुष खेद ही किया करते है। क्योंकि यह पुण्यकर्म भी जीवको बलात्कार परतन्त्र ही बनाता है।

जिस समय यह जीव राग द्वेष अथवा मोहरूप संक्लेश परिणामोंसे युक्त होता है उस समय मिथ्यात्वादिक भावोंसे युक्त आत्माके प्रदेशोंमें रहनेवाले कर्मस्कन्धोंमें उक्त योगके द्वारा पापकर्मके योग्य पुद्गलद्रव्योंका अनुप्रवेश होता है। विशिष्ट शक्तिको प्राप्त इस पापकर्मके निमित्तसे सर्वथा पराधीन हुआ यह संसारी जीव मर्मवेधी पीडाओंसे इस प्रकार खेद और दीनताको प्राप्त होता है जिस तरहसे कि लोहेकी शृंखलाओंसे बंधा हुआ कोई सापराध व्यक्ति मार्मान्तिक पीडाओंसे दुःखी हुआ करता है

भावार्थ— पुण्य और पाप दोनो ही कर्मोंका आस्रव वास्तवमें आत्माकी पराधीनताका ही कारण है और शोचनीय ही है।

जो मुमुक्षु आस्रव । निरोध करते है उन्हीको कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है अन्यथा नहीं। जो आस्रवका निरोध नहीं करते उनका इस दुरन्त संसारमें पतन ही होता है। ऐसा उपदेश करते हैः—

विश्वातङ्कविमुक्तमुक्तिनिलयद्रङ्गाग्रिमाप्त्युन्मुखः,
सद्रत्नोच्चयपूर्णमुद्भटविपद्भीमे भवाम्भोनिधौ।

योगाच्छिद्रपिधानमादधदुरूद्योगः स्वपोतं नये,-
न्नो चेन्मङ्क्ष्यति तत्र निर्भरविशत्कर्माम्बुभारादसौ ॥७१॥

अनंत चतुष्टयरूप अवस्थाको मुक्ति कहते हैं । जो व्यक्ति इस अवस्थाको प्राप्त करके परमात्मा बनगये हैं उन्हे मुक्तिका धाम या आश्रम समझना चाहिये । यह मुक्तिधाम सम्पूर्ण नगरोंमें प्रधान तथा समस्त आतङ्को-आपत्तियों और विपत्तियोंके द्वारा हृदयमें होनेवाले क्षोभोंसे सर्वथा रहित है । किंतु इस स्थानको प्राप्त करनेके लिये संसाररूपी समुद्रको पार करना पडता है । अतएव जो साधु उस स्थानको प्राप्त करनेके लिये अभिमुख हुए हों उन्हें महान् उद्योग करके-दश प्रकारके धर्म और आठ प्रकारकी शुद्धियोंमें विपुल उत्साहको धारण करके-अप्रमत्त संयत होकर प्रशस्त रत्नोंके समूहसे भरे हुए-सम्यग्दर्शनादिक गुणोंसे परिपूर्ण अपने आत्मारूपी जहाजको उसके छिद्रोंके समान योगोंको रोककर जिनका कोई प्रतिकार नहीं किया जा सकता ऐसी विपत्तियोंसे भयकर इस संसाररूपी समुद्रसे पार कर देना चाहिये । क्योंकि यदि योगरूपी छिद्रोंको रोका न जायगा तो उनके द्वारा झरझर भरते हुए कर्मरूपी जलके भारसे वह आत्मारूपी जहाज संसारसागरमें अवश्य ही डूब जायगा ।

इस प्रकार विचार करनेवाले साधुके उत्तम क्षमादिक धर्मोंके विषयमें कल्याणकारिणी बुद्धि स्थिर होती है ।

क्रमप्राप्त संवर भावनाका स्वरूप बतानेके लिये उसके गुणोंका विचार करते हैं:—

कर्मप्रयोक्तृपरतन्त्रतयात्मरङ्गे
प्रव्यक्तभूरिरसभावभरं नटन्तीम् ।
चिच्छक्तिमग्रिमपुमर्थसमागमाय,
व्यासेधतः स्फुरति कोपि परो विवेकः ॥ ७२ ॥

जिस प्रकार लोकमें नृत्यकर्मके प्रयोक्ता नटाचार्यके अधीन होकर रङ्गभूमिमें नटी शृङ्गारादि नाना प्रकारके रसों और भावोंके अद्भुत चमत्कारको दर्शकोंके सम्मुख प्रकट करती हुई नृत्य किया करती है किंतु जो पुरुष

उत्तम पुरुषार्थको प्राप्त करनेकेलिये उसका परिहार करदेते हैं उन्हीको विवेकी—हिताहितका विचारशील समझा-जाता है उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मोंके उदयके वशमें पडकर आत्माकी रङ्गभूमिमें अनेक प्रकारके रसों और भावोंके लोकोत्तर चमत्कारको परीक्षकोंके सम्मुख प्रकट करते हुए नृत्य करनेवाली चेतनाशक्तिका उत्कृष्ट पुरुषार्थ मोक्ष अथवा धर्मको प्राप्त करनेकेलिये परिहार करदेते हैं उन्हीके अनिर्वचनीय और उत्कृष्ट विवेक—शुद्धोपयोग-में स्थिरता प्रकट हो सकती है।

भावार्थ—कर्मोदयके निमित्तसे होनेवाले किंतु नवीन कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारण आत्मप्रदेशपरिस्पन्दरूप योगका निरोध करदेनेवाले ही उस शुद्धोपयोगकी स्थिरताको प्राप्त कर सकते हैं जिससे कि मोक्षपुरुषार्थकी सिद्धि हो सकती है।

कर्मोंके रोकनेको अथवा उसके उपायोंको संवर कहते हैं। वह शुद्ध सम्यग्दर्शनादिके भेदसे अनेक प्रकारका है। जो साधु इन प्रकारोंके द्वारा आस्रवके मिथ्यात्वादिक भेदोंका निरोध कर देता है उसको जो अशुभ कर्मोंका संवरणरूप मुख्य फल और सम्पूर्ण सम्पत्तियोंके प्राप्त करनेकी योग्यतारूप आनुषङ्गिक फल प्राप्त होता है उसको बताते हैं—

> मिथ्यात्वप्रमुखद्विपद्बलमवस्कन्दाय दृप्यद्बलं
> रोद्धुं शुद्धसुदर्शनादिसुभटान् युञ्जन् यथास्वं सुधीः।
> दुष्कर्मप्रकृतीर्न दुर्गतिपरीवर्तैकपाकाः परं,
> निःशेषः प्रतिहन्ति हन्त कुरुते स्वं भोक्तुमुत्काः श्रियः॥ ७१॥,

जिस प्रकार प्रतिपक्षियोंके ऊपर विजय प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाला कोई भी विद्याविनीतमति नायक उन शत्रुओंके बलका निरोध करनेके लिये कि जिनके पराक्रमका अहमहमिकासे और गर्वके साथ बढना अपने महत्त्वको नष्ट करदेनेके लिये हो, यथायोग्य सुभटोंकी योजना करता है-जैसे शत्रुकी तरफ योद्धा हो वैसे ही

वीर योद्धाओंकी योजना ही अपने यहां भी करलेता है। क्योंकि ऐसा करनेपर वह दारिद्र्यादि दुःखोंका फल भुगानेवाले सम्पूर्ण अमात्यादिकोंका नाश कर देता है। इतना ही नहीं किंतु अपने ऊपर विजयलक्ष्मी अथवा अभ्युदय सपात्तियोंको उत्कण्ठित भी बना लेता है। इसी प्रकार जो विचारशील मुमुक्षु अपने शुद्धात्मस्वरूपका घात करनेके लिये बढ रहा है पराक्रम जिनका ऐसे मिथ्यात्वप्रभृति शत्रुओंके बलका निरोध करनेकेलिये यथायोग्य शुद्ध सम्यग्दर्शनादिक सुभटोंकी योजना करता है। वह न केवल नरकादिकोंमें परिभ्रमण करना ही है फल जिनका ऐसी सम्पूर्ण पापप्रकृतियोंको ही नष्ट करता है, किंतु हर्षके साथ कहना पडता है कि वह देवेंद्र-नरेन्द्रादिकोंकी विभूतियों अथवा मोक्षलक्ष्मीको भी अपना उपभोग करनेकेलिये अपने ऊपर उत्कण्ठित बनालेता है।

भावार्थ—जो साधु सम्यग्दर्शनके द्वारा मिथ्यात्वका, ज्ञानके द्वारा अज्ञानका, समितिके द्वारा अविरतिका, संयमके द्वारा इन्द्रियासंयमका, व्रतोंके द्वारा प्राणासंयमका, उत्साहके द्वारा प्रमादका और क्षमाके द्वारा क्रोधका तथा मार्दवके द्वारा मानका या आर्जवके द्वारा मायाका अथवा शौचके द्वारा लोभका तथा इसी प्रकार अन्य भी यथायोग्य उपायोंसे आस्रवके भेदोंका निरोध करदेता है; उसके सम्पूर्ण पापकर्मोंका नाश हो जाता है और अभ्युदयोंकी सिद्धि होती है।

ऐसा विचार करते रहनेवाला साधु निरतर सवर करनेमें प्रयत्नशील बना रहता है।

निर्जराके स्वरूपकी विचार करनेके लिये उसका फल प्रगट करते हैः—

यः स्वस्याविश्य देशान् गुणविगुणतया भ्रश्यतः कर्मशत्रून्,
कालेनोपेक्षमाणः क्षयमवयवशः प्रापयंस्तत्सुकामान् ।
धीरस्तैस्तैरुपायैः प्रसभमनुपजत्यात्मसंपद्यजस्रं,
तं बाहीकश्रियोङ्कं श्रितमपि रमयत्यान्तरश्रीः कटाक्षैः ॥ ७४ ॥

जो मुमुक्षु सम्यग्दर्शनादिक गुणोंकी विगुणता—मिथ्यादर्शनादिरूप परिणतिके द्वारा अपने प्रदेशों—कर्मोंके द्वारा मलीमस हुए चेतनाके अंशोंमें अनुप्रवेश करके यथासमय स्वयं भ्रष्ट होते हुए—उदयमें आकर और फल देकर आत्मासे सम्बन्ध छोडकर निर्जीर्ण होते हुए कर्मरूपी शत्रुओंकी उपेक्षा करदेता है, और जो कर्म अपना फल देनेके लिये उन्मुख है उनका उन उन अनशन अवमौदर्य वृत्तिपरिसंख्यान आदि प्रसिद्ध उपायोंके द्वारा खण्ड खण्ड करके प्रयोगपूर्वक क्षय कर देता है, तथा परीषह और उपसर्गोंके द्वारा क्षोभको प्राप्त न होकर आत्मसम्पत्तिमें ही निरतर आसक्त रहता है उसके तपोतिशयकी गृद्धिरूप बाह्य लक्ष्मीकी गोदमें बैठ रहनेपर भी उससे अन्तरङ्ग लक्ष्मी—अनन्तज्ञानादिविभूति कटाक्षोंके द्वारा रमण किया करती है।

भावार्थ—जो साधु यथासमय स्वयं पककर गलनेवाले कर्मोंकी संवरपूर्वक निर्जरा कर देता है तथा औपक्रमिक कर्मोंका अशतः क्षय करता है उस तपस्वीको शीघ्र ही अन्तरङ्ग लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है।

निर्जरा दो प्रकारकी हुआ करती है—एक बन्धसहभाविनी, दूसरी संवरसहभाविनी। पहले प्रकारकी निर्जरा अनादिकालसे होती आरही है। उसके फलको कहते हुए दूसरे प्रकारकी निर्जराका फल जो आत्मध्यान ही है उसकेलिये प्रतिज्ञा करते है।:—

भोजं भोजमुपात्तमुज्झति मयि भ्रान्तेल्पशोनल्पशः,
स्वीकुर्वत्यपि कर्म नूतनमितः प्राक् को न कालो गतः।
संप्रत्येष मनोऽनिशं प्रणिदधेऽध्यात्मं न विन्दन्बहि,—
र्दुःखं येन निरास्रवः शमरसे मज्जन्भजे निर्जराम् ॥ ७५ ॥

अवतक मेरा जो काल व्यतीत हुआ है उसके प्रत्येक क्षणमें मैंने संचित कर्मोंके भोग भोगकर छोडे तो थोडे परंतु अनादि मिथ्यात्वके संस्कारके वशमें पडकर शरीर और आत्मामें एकत्वका निश्चय करके नवीन

कर्मोंका ग्रहण अधिक प्रमाणमें किया। अब तक मेरे बन्धसहभाविनी ही निर्जरा हुई है जिससे कि प्रत्येक क्षणमें कर्मोंकी जितनी निर्जरा हुई थी उसकी अपेक्षा कहीं अधिक कर्मोंका बन्ध होता रहा है। क्योंकि नरकादिकोंमें कर्मके वशसे होनेवाली अबुद्धिपूर्वक निर्जराका नाम ही अकुशलानुबंधिनी प्रसिद्ध है। इस प्रकार अनतककी निर्जराका फल बन्ध ही रहा है। अत एव अब मैं स्वस्वरूपका प्रत्यक्ष होजानेपर अपने मनको आत्मस्वरूपमें ही नियुक्त रक्खूंगा। जिससे कि परीषह और उपसर्गादिकोंके द्वारा होनेवाले दुःखोंकी तरफ बे खबर रहकर और पूर्वकृत अशुभ कर्मोंके आस्रवका निरोध करके तथा प्रशमसुखमें निमग्न रहकर कर्मोंके एकदेश क्षयरूप निर्जराको कर सकूं। इस संवरसहभाविनी निर्जराको ही कुशलानुबन्धिनी भी कहते हैं। यह परीषहोंका विजय करनेपर होती है। अत एव इसकेलिये आत्मस्वरूपकी तरफ ही मनको सदा प्रवृत्त रखना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेसे ही वास्तविक कर्मोंकी निर्जरा और प्रशमसुखकी प्राप्ति हो सकती है।

इस प्रकार निर्जराके गुण और दोषोंका विचार करनेवाला साधु कुशलानुबन्धिनी निर्जराकेलिये प्रवृत्त हुआ करता है।

लोकानुप्रेक्षा क्रमप्राप्त है। अत एव लोक और अलोकके स्वरूपका निरूपण करके उसका विचार करनेसे जो निजात्मस्वरूपके प्राप्त करनेकी योग्यता उत्पन्न होती है उसको बताते हैं:—

जीवाद्यर्थचितो दिववंमुरजाकारस्त्रिवातावृतः,
स्कन्धः खेऽतिमहाननादिनिधनो लोकः सदास्ते स्वयम्।
तन्मध्येत्र सुरान् यथायथमधः श्वाभ्रांस्तिरश्चोभितः,
कर्मोदर्चिरुपप्लुतानधियतः सिद्ध्यै मनो धावति ॥ ७६॥

जहांपर जीवादिक पदार्थ देखनेमें आवें उसको लोक कहते हैं। बहुतसे लोग समझते हैं कि यह लोक शूकरकी डाढ़पर या गौकी पूंछपर अथवा कछुएकी पीठपर या शेष नागके फणपर ठहरा हुआ है। कोई कोई सम-

झते हैं कि यह सदासे नहीं है—कभी न कभी किसी न किसीने इसको बनाया था और कभी नष्ट भी हो जायगा किंतु यह बात नहीं है, यह सदासे और स्वयं आकाशमें ठहरा हुआ है। कभी किसीने इसको न तो धारण ही किया और न उत्पन्न ही किया है। यह जीव पुद्गल धर्म अधर्म और आकाश काल इन छह द्रव्योंसे व्याप्त है। अथवा इन छह द्रव्योंके समूहको ही लोक समझना चाहिये। आधे मृदंगको खडा रखकर उसके मुखपर पूरा मृदंग खडा करनेसे जैसा आकार बने वैसा ही इस लोकका आकार है। अथवा इस लोकके तीन भेद है। अधोलक ऊर्ध्व लोक और मध्य लोक। वेत्रासनके आकार अधोलोक, मृदंगके आकार ऊर्ध्व लोक, और झल्लरीके आकार मध्यलोक है। यह सम्पूर्ण लोक घनोदधि घनवात और तनुवात इन वातवलयोंसे इस प्रकार सर्वत्र वेष्टित है जैसे कि तीन त्वचाओंसे वृक्ष वेष्टित रहा करता है। सम्पूर्ण द्रव्योंका समुदायरूप यह लोक अत्यंत महान् है। इसमें ऊंचाई, मोटाई और चौडाई तीनों बातें पाई जाती है। इस घनरूप आकारसे लोकका कुल विस्तार तीनसौ तेतालीस राजूका होता है। इस प्रकार अत्यंत विपुल यह लोक सृष्टि और संहारसे सर्वथा रहित है। जैसा कि कहा भी है कि:—

लोओ अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिव्वत्तो।
जीवाजीवेहि फुडो सव्वागासऽवयवो णिच्चो ॥

इस लोकके अधो भागमें नरक है, जहांपर कर्मोंके उदयरूप अग्निसे संतप्त नारकी निवास करते हैं। ऊर्ध्व भागमें स्वर्ग हैं जहांपर कि वैमानिक देव रहते हैं। ये देव भी ज्ञानावरणादि पापकर्मोंकी उदयाग्निसे दग्ध ही रहा करते हैं। मध्यलोकमें असख्यात द्वीप समुद्रोंमेंसे ढाई द्वीप और दो समुद्रोंका मनुष्यक्षेत्र है जिसका प्रमाण ४५ लाख योजनका होता है। मनुष्य इसी क्षेत्रमें रहते हैं। कर्मोदयके संतापसे ये भी बचे हुए नहीं है। ये भी तापत्रयसे पीडित ही है। इनके सिवाय तिर्यंच जीव सर्वत्र भरे हुए है। वैमानिक देवोंके सिवाय शेष देवोंके स्थान भिन्न स्थानोंमें है। नागकुमारादिक नव प्रकारके भवनवासी देव इस पृथ्वीके खर भागमें रहा करते हैं, असुरकुमार और राक्षस पंक भागमें रहा करते है। तथा व्यंतरोंका निवास चित्रा और वज्रा पृथ्वीके संधिस्थानसे लेकर मेरुपर्यन्त और तिर्यक् भी सर्वत्र है। ज्योतिषी देवोंका स्थान इस भूमिसे सातसौ नब्बे योजन ऊपर जाकर आकाशमें है।

इस प्रकार जो साधु इस लोकके स्वरूपका और उसमें सर्वत्र यथायोग्य स्थानोंमें रहनेवाले किंतु कर्मो-
दयकी अग्निसे सदा संतप्त रहनेवाले देव नारकी मनुष्य और तिर्यंच जीवोंका ध्यान करता है उसका मन सिद्धिके
लिये दौडने लगता है। वह इस लोकके बाहर सिद्धक्षेत्र-लोकके अग्रभागको अथवा निज-आत्मस्वरूप क्षेत्रको
पानेका विचार करने लगता है। अतएव मुमुक्षु साधुओंको इस लोकके स्वरूपका विचार निरंतर करते रहना
चाहिये।

जो साधु लोकके स्वरूपका भले प्रकार विचार करता रहता है उसके संवेगगुणकी सिद्धि होती है।
जिससे कि मुक्ति प्राप्त करनेकी सामर्थ्य उसमें प्रकट होजाती है। इसी बातको बताते हैं:—

लोकस्थितिं मनसि भावयतो यथावद्,
दुःखार्तदर्शनविजृम्भितजन्मभीतेः।
सद्धर्मतत्फलविलोकनरञ्जितस्य,
साधोः समुल्लसति कापि शिवाय शक्तिः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार साधु जो उपर्युक्त लोकके स्वरूपका अपने मनमें बार बार और यथावत् विचार करता रहता
है उसको दुःखोंसे पीडित रहनेवाले लोकोंका अवलोकन करनेके कारण संसारसे भय उत्पन्न होता है जिससे कि
शुद्धात्माके अनुभवरूप श्रेष्ठ धर्म तथा उसके परमानन्दरूप फलमें उसको अनुराग होता है। इस संसारसे भी-
रुतारूप संवेग और धर्मके अनुरागसे ही उस साधुके मोक्षको प्राप्त करनेके लिये वह शक्ति प्रकट होजाती है जो
कि अलौकिक तथा अनिर्वचनीय है।

जो इस प्रकार निरंतर विचार करता रहता है उसके तत्त्वज्ञानकी विशुद्धि हुआ करती है।

क्रमप्राप्त बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका वर्णन करते हैं:—

जातोऽत्रैकेन दीर्घं घनतमसि परं स्वानभिज्ञोऽभिजानन्,

जातु द्वाभ्यां कदाचित्त्रिभिरहमसकृज्जातुचित्खैश्चतुर्भिः ।
श्रोत्रान्तैः कर्हिंचिच्च क्वचिदपि मनसानेहसीदृङ्नरत्वं,
प्राप्तो बोधिं कदापं तदलमिह यते रत्नवज्जन्मसिन्धौ ॥ ७८ ॥

मैने अत एव आत्मस्वरूपसे अनभिज्ञ रहकर पर पदार्थोंको ही अपना समझा। इसी लिये चिरकाल तक मै मिथ्यात्वरूप निविड अन्धकारसे व्याप्त निगोतादि स्थानोंमें एकेंद्रिय होकर उत्पन्न हुआ और इसी तरह अनंतकाल मैंने वहांपर व्यतीत करदिया। कभी कभी स्पर्श और उस गुणमे प्रधानतया युक्त परद्रव्यको आत्मस्वरूप समझकर मै लट वगैरह द्वीन्द्रिय जीवस्थानोंमें भी उत्पन्न हुआ। और चिरकालतक उन अन्धकारमय स्थानोंमें ही बना रहा। इसी प्रकार अनत वार पिपीलिकादि स्थानोंमें भी मै उत्पन्न हुआ जहांपर कि स्पर्शन रसन और घ्राण ये तीन ही इन्द्रियां पाई जाती है। अनेक वार श्रोत्रेन्द्रियको छोडकर बाकी चार इन्द्रियोंसे युक्त भ्रमरादिक पर्यायोंमें भी मै उत्पन्न हुआ। कदाचित् श्रोत्रेन्द्रियसे भी युक्त किंतु मनसे रहित गोरहरादि असंज्ञी पंचेंद्रिय पर्यायोंमें भी मैं उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार अनेक वार संज्ञी पंचेन्द्रिय भी हुआ, कदाचित मनुष्य भी हुआ। किंतु इन सभी पर्यायोंमें मैं आत्मस्वरूपमे पराङ्मुख ही रहा। मैंने पर पदार्थोंको कभी स्पर्शप्रधान कभी स्पर्शरसप्रधान कभी स्पर्शरसगन्धप्रधान तो कभी स्पर्शरसगंधवर्ण चारो गुणोंसे युक्त पुद्गलद्रव्यको ही अपना स्वरूप समझा। प्रायः विना इच्छाके किंतु कभी कभी — मनुष्यादि पर्यायोंमें इच्छासहित भी मैं उत्पन्न हुआ परंतु मिथ्यात्वके निविड अंधकारमें ही पडा रहा। क्या मैंने कभी भी इस उत्तम कुल प्रशस्त जाति आदिसे युक्त मनुष्य पर्यायको पाकर रत्नत्रयको भी पाया है? नहीं, कभी नहीं। क्योंकि जिस प्रकार समुद्रमें बहुमूल्य रत्नका मिलना अत्यत दुर्लभ है उसी प्रकार संसारमें इस रत्नत्रयका पाना भी अत्यंत दुर्लभ है। अत एव जन्ममरणरूप इस संसारसमुद्रमें इस दुर्लभ रत्नत्रयको ही पानेका मुझे यथेष्ट प्रयत्न करना चाहिये।

यदि पाया हुआ यह रत्नत्रय कदाचित् प्रमादसे क्षणके लिये भी छूट गया तो उसी क्षणमें ऐसे कर्मोंका बन्ध होगा कि जिनका उदय होते ही मुझे उनके वशमें पडकर दुःखों और क्लेशोंका ही अनुभव करना पडेगा।

फिर उस रत्नत्रयका मिलना और भी अधिक कष्टसाध्य हो जायगा। इसी बातको बताते है:--

दुष्प्रापं प्राप्य रत्नत्रयमखिलजगत्सारमुत्सारयेयं,
नो चेत्प्रज्ञापराधं क्षणमपि तदरं विप्रलब्धोक्षधूर्तैः।
तत्किंचित्कर्म कुर्यां यदनुभवभवत्क्लेशसंक्लेशसंविद्,
बोधेर्विन्देय वार्तामपि न पुनरनुप्राणनास्याः कुतस्त्याः ॥ ७९ ॥

सम्पूर्ण ससारमें सारभूत और दुर्लभ इस रत्नत्रयको पाकर यदि मैंने प्रज्ञापराधको नहीं छोडा और क्षणमात्रकेलिये भी उसको—प्रमादरूप आचरणको धारण किया तो अवश्य ही मै इन इंद्रियरूपी धूर्तोंसे ठगा जाऊंगा और शीघ्र ही मेरें उस दारुण कर्मका सचय होगा कि जिसके उदयसे होने वाले क्लेश और संक्लेश दोनोंका ही मुझे अनुभव करना पडे। इन भावोंका अनुभव करनेपर सम्यग्दर्शनादिका पुनरुज्जीवन तो कहां, उसकी बात भी मै न पा सकूंगा। अत एव रत्नत्रयको पाकर मुझे प्रति समय ऐसी सावधानता रखनी चाहिये कि जिससे क्षणमात्रके लिये भी वह छूट न जाय।

भावार्थ— एक निगोद शरीरमें सिद्धराशिसे अनंतगुणे जीव रहा करते है। ऐसे ही स्थावर जीवोंसे यह सम्पूर्ण लोक खचाखच भरा हुआ है। इसमें त्रसता पंचेंद्रियत्व मनुष्यत्व देश कुल इन्द्रिय आरोग्य और सद्धर्मकी संपत्तिका प्राप्त करना उत्तरोत्तर कठिन है; तब उक्त सम्पूर्ण बातोंका मिलना तो और भी कठिन है। किंतु इन सब बातोंके मिलनेपर भी समाधि मरणका होना बहुत ही कठिन है। रत्नत्रयका फल भी समाधि मरण ही है। अत एव सम्यग्दर्शनादिकका प्राप्त होजाना भी समाधि मरणके होजानेपर ही सफल हो सकता है।

इस प्रकार रत्नत्रयकी दुर्लभताके विचार करते रहनेको ही बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा कहते है। जो साधु इस प्रकार निरतर विचार करता रहता है वह उसकी रक्षामें सावधान रहता है। वह दुर्लभ रत्नत्रयको पाकर एक क्षणके लिये भी ऐसा प्रमाद नहीं करना चाहता जिससे कि उसकी रचमात्र भी मलिनता हो सके।

क्रमप्राप्त धर्मस्वाख्यातत्व नामकी बारहवीं अनुप्रेक्षाका वर्णन करनेकेलिये केवलि भगवान्के द्वारा निरूपित और तीन लोकमें अद्वितीय मंगलरूप तथा सम्पूर्ण लोकमें उत्तम धर्मके प्रकट होनेकी आशा करते है —

लोकालोके रविरिव करैरुल्लसन् सत्क्षमाद्यैः,
खद्योतानामिव घनतमोद्योतिनां यः प्रभावम् ।
दोषोच्छेदप्रथितमहिमा हन्ति धर्मान्तराणां,
स व्याख्यातः परमविशदख्यातिभिः ख्यातु धर्मः ॥ ८० ॥

सम्पूर्ण पदार्थोंकी विशेषताओंको स्पष्टतया प्रकाशित करनेमें कुशल और उत्कृष्ट ज्ञानके धारण करनेवाले सर्वज्ञ भगवान्ने चौदह गुणस्थानोंमें गति आदिक चौदह मार्गणास्थानोंमें जो आत्मतत्वका विचार होता है उसको अथवा वस्तुओंके यथावत् स्वरूपको व्यवहार और निश्चय दोनो ही नयोंसे समीचीन धर्म बताया है । मै चाहता हूं कि सभी जीवोंके तथा मेरे भी यह धर्म उदभूत हो और सदा प्रकाशमान बना रहे। क्योंकि मिथ्यात्वरूपी निबिड अन्धकारमें नाम मात्रको प्रकाश करनेवाले खद्योतोंके समान वेदादिनिरूपित धर्मोंके माहात्म्यको नष्ट करनेवाला धर्म यही है । जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश होनेपर खद्योतोंका प्रकाश नष्ट होजाता है उसी प्रकार इस धर्मके प्रकट होते ही इतर धर्मोंका महत्व हृदयमेंसे नष्ट होजाता है । और जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणोंके द्वारा चकवा चकवीके आलापोंको उल्लसित किया करता है उसी प्रकार यह धर्म भी अपने उत्तमक्षमा मार्दव आर्जव आदि किरणोंके द्वारा भव्य जीवोंके अन्तरङ्गमें सम्यग्दर्शनको प्रकाशित किया करता है । जिस प्रकार सूर्यका महत्व रात्रिको नष्ट करदेनेमें प्रख्यात है उसी प्रकार इस धर्मका माहात्म्य भी रागद्वेषादिक दोषोंके निर्मूल करनेमें प्रसिद्ध है ।

अहिंसा ही एक ऐसा धर्म है कि जिसका फल अक्षय सुख है । अत एव इस धर्मको ही सबसे अधिक दुर्लभ, सम्पूर्ण शब्दब्रह्म—सिद्धांत वचनोंका प्राण समझना चाहिये । इसी बातको प्रकट करते है.—

सुखमचलमहिंसालक्षणादेव धर्माद्,
भवति विधिरशेषोप्यस्य शेषोऽनुकल्पः ।
इह भवगहनेसावेव दूरं दुरापः,
प्रवचनवचनानां जीवितं चायमेव ॥ ८१ ॥

अन्तरङ्गमें रागद्वेषादिका उत्पन्न न होना इसको अहिंसा कहते है। अविनश्वर सुखकी प्राप्ति इस अहिंसाधर्मसे ही हो सकती है। इसके सिवाय सत्यवचन अचौर्य प्रवृत्ति और ब्रह्मचर्य आदि जिन जिन धर्मोंका आगममें विधान किया गया है वे सब इस अहिंसा धर्मके ही अनुयायी है। क्योंकि उनके द्वारा द्रव्य अथवा भावरूप अहिंसाका ही समर्थन किया जाता है। अत एव इस ससाररूपी वनमें यह अहिंसा धर्म ही अत्यंत दुर्लभ है। इसको सम्पूर्ण प्रवचन वचनोंका प्राण समझना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

अप्रादुर्भाव खलु रागादीना भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य सक्षेप ॥

जो मुमुक्षु इस प्रकार निरंतर धर्मके वास्तविक स्वरूपका और फलका विचार करता रहता है उसके उस धर्ममें अनुराग होता और बढता रहता है।

इस प्रकार बारह भावनाओंका वर्णन करके अंतमें इस बातका उपदेश देते है कि जो साधु इन सम्पूर्ण अनुप्रेक्षाओंका अथवा इनमें जो कोई भी उसे इष्ट हों उन एक दोका भी ध्यान करता रहता है उसके इन्द्रियोंका और मनका प्रसार होना रुक जाता है तथा आत्मस्वरूपमें अपनी आत्माका स्वय संवेदन होने लगता है। जिससे कि वह कृतकृत्य होकर जीवन्मुक्त अवस्थाको और अंतमें परममुक्तिको भी प्राप्त कर लेता है।—

इत्येतेषु द्विषेषु प्रवचनदृगनुप्रेक्षमाणोऽध्रुवादि,—

ष्वद्धा यत्किंचिदन्तःकरणकरणजिद्बोत्ति यः स्वं स्वयं स्वे ।
उच्चैरुच्चैःपदाशाधरभवविधुराम्भोधिपारासिराज·
त्कार्तार्थ्यैः पूतकीर्तिः प्रतपति स परैः स्वैर्गुणैर्लोकमूर्ध्नि ॥ ८२ ॥

परमागम ही है नेत्र जिसके ऐसा जो मुमुक्षु अनित्य अशरण संसार एकत्व अन्यत्व अशुचित्व आस्रव संवर निर्जरा लोक बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्यातत्व इन बारह अनुप्रेक्षाओंमेंसे जिनका कि स्वरूप ऊपर लिखा जा चुका है, यथारूचि एक अनेक अथवा सभीका तत्वतः ध्यान करता है वह मन और इंद्रिया दोनोंपर विजय प्राप्त करके आत्मामें ही आत्माका स्वय अनुभव करने लगता है। तथा जहांपर महर्द्धिक देव चक्रवर्ती इन्द्र अहमिंद्र और गणधर तथा तीर्थंकर नामके उन्नतोन्नत पदोंको प्राप्त करनेकी अभिलाषा लगी हुई है और इसी लिये जो निन्द्य समझा जाता है ऐसे संसारके दुःखसमुद्रमें पार पहुंच कर शोभमान कृतार्थ-कृतकृत्यताको प्राप्त कर लेता है। क्योंकि संसारके सम्पूर्ण पदोंसे संतोष होजानेको कृतकृत्यता कहते हैं। वह संसारके उस पार ही प्रकाशमान है। इस प्रकार वह मुमुक्षु पवित्र यश और वचनोंको धारण करके जीवन्मुक्त बनकर अन्तमें अपन-आत्मिक-सिद्ध अवस्थामें प्रकट होनेवाले सम्यग्दर्शनादिक उत्कृष्ट गुणोंके द्वारा तीनो लोकोंके ऊपर-लोकके अन्तमें प्रदीप्त होता है।

दुःखोंका अनुभव किये विना यदि ज्ञानका अभ्यास किया जाय तो वह प्रायः दुःखोंके उपस्थित होते ही नष्ट भ्रष्ट-आत्मानुभवसे च्युत हो सकता है। अत एव मुनियोंको चाहिये कि वे आत्माका ध्यान या विचार अपनी शक्तिके अनुसार दुःखोंके साथ साथ ही किया करें। जैसा कि कहा भी है कि—

अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥

इसी बातको ध्यानमें रखकर अनुप्रेक्षाओंके अनतर परीषहोंका वर्णन करनेके लिये उनकी विशेष संख्या-को अन्तर्गर्भित करके उनका सामान्य लक्षण बताते हुए इस बातका निर्देश करते हैं कि इन क्षुत्पिपासा आदि

परिषहोंका विजय कैसा व्यक्ति कर सकता है:—

दुःखे भिक्षुरुपस्थिते शिवपथाद्भ्रश्यत्यदुःखश्रितात्,
तत्तन्मार्गपरिग्रहेण दुरितं रोद्धुं मुमुक्षुर्नवम् ।
भोक्तुं च प्रतनं क्षुदादिवपुषो द्वाविंषतिं वेदनाः,
स्वस्थो यत्सहते परीषहजयः साध्यः स धीरैः परम् ॥८३॥

यदि संयमी साधु विना दुःखोंका अनुभव किये ही मोक्षमार्गका सेवन करे तो वह उसमें दुःखोंके उपस्थित होते ही भ्रष्ट हो सकता है। अत एव साधुओंकेलिये परीषहोंको जीतनेका उपदेश है। जैसा कि कहा भी है कि:—

परिषोढव्या नित्य दर्शनचारित्ररक्षणे नियता ।
संयमतपोविशेषास्तदेकदेशाः परीषहाख्या स्युः ॥

अत एव जो मुमुक्षु समीचीन ध्यानरूपी मोक्षमार्गको स्वीकार करके उसके द्वारा नवीन दुष्कर्मोंका निरोध करनेकेलिये और पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करनेकेलिये आत्मस्वरूपमें स्थिर होकर क्षुधा पिपासा आदि बाईस प्रकार की वेदनाओंको सहता है उसीको परीषहविजयी कहते है। धीर पुरुष ही परीषहविजयको सिद्ध कर सकते हैं। जो दुःखोंके उपस्थित होनेपर रंचमात्र भी कातरता प्रकट नहीं करते ऐसे धीर पुरुष ही परीषहविजयको सिद्ध कर सकते हैं।

भावार्थ—क्षुधादिक वेदनाओंके परीषह और आत्मस्थ होकर उनके सहनेको परीषहजय कहते है धीर व्यक्ति ही इस विजयको सिद्ध करनेका अधिकारी है। और इसका फल नवीन कुकर्मोंका संवर तथा प्राचीन कर्मोंकी निर्जरा होना है। अत एव मुमुक्षुओंको कातरता छोडकर परीषहोंपर विजय प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेपर ही संवर और निर्जराके सिद्ध होजानेसे मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है।

बालकोंको व्युत्पत्ति करानेकेलिये परीषहोंका सामान्य लक्षण फिरसे विस्तारपूर्वक बताते हैः—

शारीरमानसोत्कृष्टबाधहेतून् क्षुदादिकान् ।
प्राहुरन्तर्बहिर्द्रव्यपरिणामान् परीषहान् ॥८४॥

अन्तरङ्ग द्रव्यजीवके क्षुधा पिपासा आदि परिणामोंको और बाह्य द्रव्यपुद्गलके शीत उष्णता आदि जो शारीरिक अथवा मानसिक उत्कृष्ट बाधाओंके कारण हो ऐसे परिणामोंको आचार्य परीषह कहते हे ।

जो आत्मकल्याणके अभिलाषी हैं उनको चाहे जितने विघ्नोंके आपडनेपर भी आरब्ध श्रेयोमार्गसे हटना न चाहिये । इस वातकी शिक्षा देते हैः—

स कोपि किल नेहाभून्नास्ति नो वा भविष्यति ।
यस्य कार्यमविघ्नं स्यान्न्यक्कार्यो हि विधेः पुमान् ॥ ८५ ॥

जिसका कोई भी कार्य विघ्नरहित हो ऐसा कोई भी पुरुष न तो आजतक हुआ, न वर्तमानमें है, और न आगे ही होगा; क्योंकि निश्चयसे दैव पुरुषका अभिभव किया ही करता है। शास्त्र और लोक दोनों ही जगँह यह बात प्रसिद्ध है कि " श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि " अत एव विचारशील साधुओंको श्रेय साधनका प्रारम्भ करके विघ्नोंके भयसे उसको कभी भी न छोडना चाहिये । जैसा कि अन्य लोगोंने भी कहा है ।

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचे
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्या ।
विघ्नै. पुन पुनरपि प्रतिहन्यमाना,
प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥

जो साधु दु ख और परिश्रमसे घवडा जाता है उसका यह लोक और परलोक दोनो ही भ्रष्ट हो जाते

है-कहीं भी उसका अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार भयका उद्भावन कर परीषह और उपसर्गों को जीतनेके लिये मुमुक्षुओंको उद्युक्त करते हैः——

विक्लवप्रकृतिर्यः स्यात् क्लेशादायासतोथवा।
सिद्धस्तस्यात्रिकध्वंसादेवामुत्रिकविप्लवः ॥ ८६ ॥

जो व्याधि आदिक बाधाओंसे अथवा परिश्रमसे घबडा जानेवाला है उसके अभीष्ट-पारलौकिक कल्याणका विनाश निश्चित है। क्योंकि उसकी तीनो बातें नष्ट हो जाती हैं। जिसका फल इसी लोकमें प्राप्त करना चाहता है उसका और जिसका फल परलोकमें प्राप्त करना चाहता है उसका तथा जो कार्य शुरू किया है उसका, इस तरह तीनों ही नष्ट हो जाते हैं।

जिस साधुका मन अत्यंत तीव्र उपसर्गों और परीषहोंके वार वार आपडनेपर भी विचलित नहीं होता उसीको अभीष्ट निःश्रेयस पदकी प्राप्ति हो सकती है, ऐसा उपदेश देते हैः-

क्रियासमभिहारेणाप्यापतद्भिः परीषहैः।
क्षोभ्यते नोपसर्गैर्वा योपवर्गं स गच्छति ॥ ८७ ॥

प्रचुर प्रमाणमें और वार वार भी आपडनेवाले परीषह तथा उपसर्गो-देव मनुष्य तिर्यंच अथवा अचेतन निमित्तसे होनेवाले पीडाविशेषोंके द्वारा जिसका हृदय क्षुब्ध-चलायमान नहीं होता ऐसा ही मुमुक्षु साक्षात् मोक्षको प्राप्त कर सकता है।

जिसने परीषहोंपर विजय प्राप्त करनेका अभ्यास पहलेसे ही करलिया है ऐसा धीर वीर व्यक्ति ही क्रमसे घाति कर्मोंका क्षय करके लोकके अन्तमें प्राधान्यको प्राप्त किया करता है—

सोढाशेषपरीपहोऽक्षतशिवोत्साहः सुदृग्वृत्तभाग्,

मोहांशक्षपणोल्वणी कृतबलो निस्सांपरायं स्फुरन् ।
शुक्लध्यानकुठारकृत्तबलवत्कर्मद्रुमूलोऽपरं,
ना प्रस्फोटितपक्षरेणुखगवद्यात्यूर्ध्वमस्त्वा रजः ॥८८॥

जो द्रव्यसे पुल्लिंग है और जिसने सबसे पहले क्षुधादिक परीषहोंको सह बना लिया है। –जो इन परीषहोंके अथवा उपसर्गोंके द्वारा कभी भी अभिभूत नहीं होता और अप्रतिहत तथा प्रतिक्षण बढता हुआ है मोक्षके लिये उत्साह जिसका एवं क्षायिक सम्यक्त्व और सामायिक छेदोपस्थापन आदिमेंसे किसी भी चारित्रमें तन्मय होजाने वाला–क्षपकश्रेणीपर आरोहण करनेकेलिये उन्मुख हुआ है ऐसा सातिशय अप्रमत्त सम्यग्दृष्टि जीव ही क्रमसे मोहनीय कर्मके अंशों–चारित्रमोहनीयकी कुछ प्रकृतियोंके क्षीण होजानेसे उत्कट सामर्थ्यको धारण कर–अपूर्वकरण आदि गुणस्थानोंको पाकर अकषायता—लोभके अभावको प्रकाशित करते हुए शुक्लध्यानरूपी कुठारके द्वारा ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन बलवान् कर्मरूपी वृक्षोंको जडसे उखाडकर– जीवन्मुक्त होकर आत्मरूपको आच्छादित करनेकेलिये धूलिके समान वेदनीय आयु नाम गोत्र इन अघाति कर्मोंका निरसन करके ऊर्ध्वगति–लोकके अग्रस्थानको प्राप्त किया करता है। जिस प्रकार यदि किसी पक्षीके पखोंमें धूलि लगी हो तो वह उड नहीं सकता किंतु उसके दूर होते ही यथेच्छ उडकर ऊपरको जा सकता है । इसी प्रकार जीवन्मुक्तरूपी पक्षी अघातिकर्मरूपी धूलिको हटाकर ऊर्ध्वगमन किया करता है।

भावार्थ—ज्ञानावरणादि बलिष्ट कर्मोंको निर्मूल करनेके लिये छेदन करनेमें कारण शुक्लध्यान–रूपी कुठारको जो बताया है वह यद्यपि सामान्य निर्देश है किन्तु उससे एकत्ववितर्क अवीचार नामक दूसरा शुक्ल ध्यान समझना चाहिये। क्योंकि पृथक्त्ववितर्कवीचार नामका शुक्ल ध्यान तो आठवें आदि गुणस्थानोंमें ही होजाता है। इसी प्रकार अघातिकर्मोंका निरसन व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामके शुक्लध्यानसे हूआ करता है। किंतु यह सब और इसके भी पहले क्षपक श्रेणीका आरोहण तक भी उसी व्यक्तिके हो सकता है जिसने कि परीषहों और उपसर्गोंको जीतनेका भले प्रकार अभ्यास करलिया है। अत एव मुमुक्षुओंको सबसे पहले इसीका

अभ्यास करना चाहिये। यही कारण है कि यहांपर मुमुक्षुका सबसे पहला विशेषण " सोढाशेषपरीषहः " दिया है। इस विशेषणको स्पष्ट करनेके लिये सबसे पहले क्षुधापरीषहपर जय प्राप्त करनेका विधान करते हैं:—

षट्कर्मीपरमादृतेरनशनाद्यास्त्रकृशिम्नोऽसन्,—
स्यालाभाच्चिरमप्यरं क्षुदनले भिक्षोर्दिधक्ष्यत्यसून्।
कारापञ्जरनारकेषु परवान् योऽभुक्षि तीव्राः क्षुधः,
का तस्यात्मवतोऽद्य मे क्षुदियमित्युज्जीव्यमोजो मुहुः ॥८९॥

छह आवश्यक क्रियाओंके करनेमें परम आदर भाव रखनेवाले और अनशनादिक बाह्य तपोंके करनेसे अत्यंत कृशताको प्राप्त हुए भिक्षु— भिक्षान्नवृत्ति करनेवाले संयमी साधुको चिरकाल तक–वर्षभरतक भोजनके न मिलनेसे यदि क्षुधा बाधारूप अग्नि शीघ्र ही प्राणोंको भी दग्ध करदेनेके लिये प्रवृत्त हो तो इस प्रकार विचार करके अपने उत्साहको बार बार उद्दीप्त करना चाहिये कि —

मनुष्य पर्यायमें जेलखानेमें, तिर्यंच पर्यायके धारण करनेपर पिंजरे आदिकमें, और नारक पर्यायके अन्दर नरकादिकोंमें पराधीन होकर जैसी जैसी मैने तीव्र क्षुधाबाधाएं सही है या मुझे सहनी पडी उनकी अपेक्षा आज, जब कि मै आत्माधीन—स्वतन्त्र हूं, मेरी यह क्षुधाबाधा तो चीज ही क्या है? कुछ भी नहीं।

भावार्थ — चिरकाल तक उपवास करनेसे जठराग्नि प्राणोंको भी दग्ध किया करती है। जैसा कि वैद्यक ग्रन्थोंमें भी लिखा है कि:—

आहारं पचति शिखी दोषानाहारवर्जित पचति।
दोषक्षये च धातून् पचति च धातुक्षये प्राणान्॥

अत एव चिरकाल तक तपस्या और उपवासोंके करनेसे यदि ऐसी भी अवस्था आकर उपस्थित होजाय तो भी साधुओंको अपने आवश्यक कर्मों और तपोऽनुष्ठानोंसे विचालित न होना चाहिये, किंतु " पूर्व जन्मोंमें भोगी

हुई तीव्र आहारबाधाओंका विचार करके वर्तमान बाधाकी नगण्यताका विचार कर उक्त आवश्यकों और तपोऽनुष्ठानोंमें अपने उत्साहको और भी अधिक उद्दीप्त करना चाहिये ।

पिपासा परीषहमें तिरस्कार प्रकट करते हैः—

पत्रीवानियतासनोद्वसितः स्नानाद्यपासी यथा,-
लब्धाशी क्षपणाध्वपित्तकृदवष्वाणज्वरोष्णादिजाम् ।
तृष्णां निष्कुषिताम्बरीषदहनां देहेन्द्रियोन्माथिनीं,
संतोषोद्धकरीरपूरितवरध्यानाम्बुपानाज्जयेत ॥ १० ॥,

पक्षियोंके समान साधुजन भी एक जगह स्थिर नहीं रहते—वे सदा भ्रमण ही करते रहते है । न उनका कोई घर ही नियत है । वनोंमें या पर्वतोंकी कन्दराओंमें अथवा यत्र तत्र बनी हुई वसतिकाओ आदिमें ही वे निवास किया करते है । पानीके न मिलनेपर स्नानादि करनेसे भी कदाचित् मनुष्योंको शान्तिलाभ हो सकता है । किंतु साधुजन स्नान अवगाहन परिषेचन शिरोलेपन आदि सभी उपचारोंका परित्याग करनेवाले है । वे केवल यथाप्राप्त भोजन ग्रहण करते है जिससे कि उल्टी तृष्णा—प्यास बढ ही सकती है । फिर भी आत्मसिद्धिकी साधनामें प्रवृत्त हुए साधुओंको उपवास मार्गगमन तथा कडुआ कसेला नमकीन आदि पित्तवर्धक आहार एवं ज्वरजनित सताप और उष्णता या मरुदेश प्रभृति कारणोंसे उत्पन्न हुई भाडकी अग्निको भी जीतने वाली और शरीर तथा इन्द्रियोंको कदर्थित करडालनेवाली पिपासाका संतोषरूपी मावमासके बने हुए प्रशस्त घटमें प्राप्त उत्कृष्ट धर्म्य और शुक्लध्यानरूपी जलका पान करके शमन करदना चाहिये ।

शीतपरीषहको जीतनेका उपाय बताते हैं:—

विष्वक्चारिमरुच्चतुष्पथमितो धृत्येकवासाः पत,—

त्यक्त्वाङ्गं निशि काष्ठदाहिनि हिमे भावांस्तदुच्छेदिनः।
अध्यायन्नधियन्नधोगतिहिमान्यतीदुरन्तास्तपो,—
बर्हिस्तप्तनिजात्मगर्भगृहसंचारी मुनिर्मोदते ॥ ९१ ॥

शीत ऋतुके दिनोंमें रात्रिके समय जब कि प्रत्येक प्राणीके ऊपर उस हिम-तुपारका पतन हुआ करता है जिससे कि बडे बडे वृक्ष और वनस्पति भी दग्ध हो जाया करते हैं, मुनिजन उस चौरायेपर जाकर निवास करते है जहांपर कि चारो ही तरफकी हवा चलती रहती है। उस समय वे साधुजन संतोषरूपी अद्वितीय वस्त्रको धारण करते हैं। किंतु जिनसे कि शीतकी वाधा दूर की जासकती है ऐसे पूर्वानुभूत पदार्थोंका स्मरण भी नही किया करते। हां, अधोगति—नरकोंकी तीव्र शीतजनित वेदनाओंका स्मरण अवश्य किया करते हैं। तथा तपश्चर्यारूपी अग्निसे संतप्त हुए अपने आत्मस्वरूप गर्भगृह-तलघरमें विहार करते हुए आनन्दका अनुभव किया करते है।

भावार्थ— मुख्यतया चार कारणोंसे शीतपरीषहका निग्रह किया जासकता है—१ संतोषसे, २ पूर्वानुभूत रजाई अंगीठी गंधतैल और केशर आदिका स्मरण न करनेसे, ३ नरकादिकी शीतवेदनाओंके स्मरणसे, और ४ आत्मस्वरूपमें लीन रहनेसे।

उष्ण परीषहको सहनेका उपाय बताते है —

अनियतविहृतिर्वनं तदात्वज्वलदनलान्तमितः प्रवृद्धशोषः।
तपतपनकरालिताध्वखिन्नः स्मृतनरकोष्णमहार्तिरुष्णसात्स्यात् ॥ ९२ ॥

साधुओंका विहार अनियत हुआ करता है; क्योंकि वे सदा एक स्थानमें अवस्थित नहीं रहा करते। अत एव ग्रीष्मकालमें सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंसे संतप्त मार्गमें गमन करनेके कारण खेदको प्राप्त हुए और इसी लिये

जिनका मुख भीतरसे बिलकुल सूखगया है ऐसे साधुजन यदि कदाचित् ऐसे वनमें जाकर प्राप्त हो जांय कि जिसके सभी प्रान्तभाग तत्काल लगी हुई अग्निसे जल रहे हों और फिर भी वे अपनी उष्ण बाधाका कुछ भी विचार न कर नरकादिकोंमें होनेवाली उष्णताकी महा वेदनाओंका स्मरण करें तो कहना चाहिये कि वे महा मुनि उष्ण परीषहके सहन करनेवाले हैं।

भावार्थ—ऊपरके श्लोकमें नरकोंकी शीतवेदनाका और इस श्लोकमें उष्णवेदनाका उल्लेख किया है। इसका कारण यह है कि आदिके चार नरकोंमें और पांचवे नरकके चार भागोंमसे तीन भागोंमें उष्णवेदना हुआ करती है। बाकी पांचवें नरकके चतुर्थभागमें और छट्ठे तथा सातवें नरकमें शीत वेदना हुआ करती है।

दंशमशक परीषहविजयका वर्णन करते हैं—

दंशादिदंशककृतां बाधामपजिघांसया।
निःक्षोभं सहतो दंशमशकोर्मीक्षमा मुनेः॥ ९३॥

डांस मच्छर मक्खी पिस्सू बर्र ततैया दीमक खटमल कीडा मकोडा चींटी बिच्छू आदि काटनेवाले जितने कीटक—क्षुद्र प्राणी हैं उनके काटनेसे उत्पन्न हुई पीडाको जो साधु अशुभ कर्मोदयका नाश करनेकी इच्छासे निश्चलचित्त होकर सहन करता है उसके दंशमशकपरीषहका विजय माना जाता है।

नाग्न्य परीषहके जीतनेवाले साधुओंका स्वरूप बताते हैं:

निर्ग्रन्थनिर्भूषणविश्वपूज्यनाग्न्यव्रतो दोषयितुं प्रवृत्ते।
चित्तं निमित्ते प्रबलेपि यो न स्पृश्येत दोषैर्जितनाग्न्यरुक् सः॥ ९४॥

वामदृष्टि शापाकर्णन कामिनीनिरीक्षण आदि जिनका प्रतीकार नहीं किया जा सकता ऐसे प्रबल कारणोंके, मनको मलिन करनेके लिये विकारकी तरफ ले जाने के लिये प्रवृत्त होनेपर भी जिस साधुको वे दोष छू

नही पाते और जो वस्त्रादि परिग्रहोंसे रहित तथा कटक कुण्डलादि भूषणोंसे रिक्त एवं संसारके लिये पूज्य नग्न-स्वरूप रहनेकी प्रतिज्ञामें स्थिर रहता है उसीको नग्नपरीषहका विजेता समझना चाहिये।

अरति परीषहके जीतनेका उपाय बताते हैः—

लोकापवादभयसद्व्रतरक्षणाक्ष,—
रोधक्षुदादिभिरसह्यमुदीर्यमाणाम्।
स्वात्मोन्मुखो धृतिविशेषहृतेन्द्रियार्थ,—
तृष्णः शृणात्वरतिमाश्रितसंयमश्रीः ॥९५॥

इन्द्रियोंके विषयोंमें लगी हुई तृष्णाको विशिष्ट संतोषके द्वारा दूर करके और निज आत्मस्वरूपकी तरफ उन्मुख होकर संयम—संपत्तिके धारक-रतिका स्मरण दिलानेवाली देखी सुनी अथवा स्वयं अनुभवमें आई हुई कथाओंके श्रवणका परित्याग करनेवाले साधुओंको लोकापवादका भय सद्व्रतोंकी रक्षा तथा इन्द्रियनिरोध और क्षुधादि कारणोंके द्वारा दुःसह रूपसे उद्भूत हुई अरति-किसी भी एक शयन अथवा आसनादिकमें अवस्थित न रहने का परित्याग करना चाहिये।

यहांपर यदि कोई कहे कि चक्षुरादिक सभी इन्द्रियां अरतिकी कारण है अतएव अरतिका पृथक् ग्रहण करना अयुक्त है, तो वह ठीक नही है। क्योंकि कदाचित् क्षुधादिकी बाधा न होनेपर भी केवल कर्मोदयके निमित्त-से भी संयममें अरति हो जाया करती है।

स्त्रीपरीषहको सहनेका उपदेश देते हैः—

रागाद्युपप्लुतमतिं युवतीं विचित्रां,—
श्चित्तं विकर्तुमनुकूलविकूलभावान्।

संतन्वतीं रहसि कूर्मवदिन्द्रियाणि,
संवृत्त्य लघ्वपवदेत गुरूक्तियुक्त्या ॥ ९६ ॥

रागद्वेषके निमित्तसे अथवा यौवनका गर्व रूपका मद विभ्रम या उन्माद और मद्यपानके आवेशसे नष्ट होगई है बुद्धि जिसकी ऐसी युवती स्त्री यदि कदाचित् चित्तको विकृत बनानेकेलिये एकान्तमें नाना प्रकारके अनुकूल और प्रतिकूल भावोंको करनेका सतत प्रयत्न करे तो साधुओंको शीघ्र ही गुरुनिरूपित युक्ति–विधानके अनुसार अपनी इन्द्रियोंका कच्छपकी तरह संकोच कर उसका निराकरण करदेना चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार किसी आघातके उपस्थित होते ही कच्छप अपने हाथ पैर ग्रीवा आदिको संकोच लेता है उसी प्रकार विकृतमति तरुणियोंके द्वारा एकान्तमें किये गये मनको मलिन करनेवाले विविध प्रकारके अनुकूल प्रतिकूल भावोंके आघातके उपस्थित होते ही साधुओंको अपनी इन्द्रियां संकुचित करलेनी चाहिये। ऐसा करनेपर ही स्त्रीपरीषहपर विजयलाभ हो सकता है। क्यों कि जो मुनि स्त्रियोंके दर्शन स्पर्शन आलाप अभिलापादिमें उत्सुकता नहीं रखता तथा जो उनके नेत्र मुख भौंह आदिके विकारों एवं रूप गमन हसी लीला जभाई पीनोन्नत स्तन जघन ऊरुमूल कांख और नाभि आदि स्थानोंके देखनेपर भी विकृतमना नहीं होता और जिसने वशगीतादिके सुनने आदि तौर्यत्रिकका परित्याग करदिया है वही साधु स्त्रीपरीषहका विजयी कहा जा सकता है।

चर्यापरीषहको सहनेका निरूपण करते हैं:—

विभ्यद्भवाच्चिरमुपास्य गुरून्निरूढ,—
ब्रह्मव्रतश्रुतशमस्तदनुज्ञयैकः।
क्षोणीमटन् गुणरसादपि कण्टकादि,—
कष्टे सहन्त्यनधियन् शिबिकादिचर्याम् ॥ ९७ ॥,

संसारसे उद्विग्न और धर्माचार्यादि गुरुजनोंकी चिरकालतक सेवा करनेसे अत्यंत दृढताको प्राप्त होगया है ब्रह्मचर्य और शास्त्रज्ञान तथा कषायोंका उपशम जिसका ऐसा जो साधु दर्शनविशुद्धि आदि कारणोंमें अनुराग रख कर गुरुओंकी आज्ञाके अनुसार पृथ्वीपर एकाकी विहार करते हुए कांटा खोवरा कंकड पत्थर या और किसी नुकीली चीजके छिदजाने आदिका कष्ट होते हुए भी पूर्वानुभूत पालकी पीनस रथ वैली हाथी घोडा आदि याप्य यान या वाहन आदि किसी भी सवारीका स्मरण नहीं करता उसके चर्यापरीषहका विजय समझना चाहिये ।

निषद्या परीषहके विजयका स्वरूप बताते हैं ?—

भीष्मश्मशानादिशिलातलादौ,
विद्यादिनाऽजन्यगदाद्युदीर्णम् ।
शक्तोपि भङ्क्तुं स्थिरमङ्गिपीडां,
त्यक्तु निषद्यासहनः समास्ते ॥९८॥

भयंकर श्मशान प्रेतवन शून्यगृह या गिरिकंदरादिकमें शिलातल अथवा किसी स्थंडिल प्रदेशपर ध्यान करते समय विद्या मंत्र अथवा औषधि आदिके निमित्तसे उद्भूत हुए उपसर्ग या किसी भी तरहकी व्याधिको नष्ट करनेकेलिये स्वय समर्थ रहते हुए भी जो साधु स्थिर होकर समाधि- वीरासनादिक कायोत्सर्गसे चलायमान नहीं होता उसको ही निषद्यापरीषहका सहन करनेवाला समझना चाहिये ।

शय्यापरीषहको जीतनेका उपदेश देते हैं: -

शय्यापरीषहसहोऽस्मृतहंसतूल,—
प्रायोऽविषादमचलन्त्रियमान्मुहूर्तम् ।

आवश्यकादिविधिग्वेदनुदे गुहादौ,

त्र्यस्रोपलादिशबले शवबच्छयीत ॥ ९९ ॥

स्वाध्याय प्रभृति आवश्यक कर्मोंके करनेसे उत्पन्न हुए खेदका निराकरण करनेकेलिये जो साधु विषादरहित होकर " यह स्थान व्याघ्रादि हिंस्र जंतुओंसे व्याप्त है, यहांसे जल्दी निकल चलना ही अच्छा है, देखें-कब रात खतम होती है, " इस तरहकी भयपूर्ण आकुलतासे रहित होकर नियम— एकपार्श्वसे अथवा दण्डवत् लम्बे होकर सोनेकी प्रतिज्ञासे चलायमान न होता हुआ तिकोने गठीले आदि कंकड पत्थरोंसे व्याप्त पर्वतकी गुहा कंदरा आदिमें शवकी तरह निश्चेष्ट होकर शयन करता है और पूर्वानुभूत हसतूलशय्या अथवा आस्तरणादिका स्मरण नहीं करता उस साधुको शय्यापरीषहका विजयी समझना चाहिये ।

आक्रोश परीषह जीतनेवालेका स्वरूप बताते हैं:—

मिथ्यादृशश्चण्डदुरुक्तिकाण्डैः,

प्रविध्यतोऽरूंषि मृधं निरोद्धुम् ।

क्षमोपि यः क्षाम्यति पापपाकं,

ध्यायन् स्वमाक्रोशसहिष्णुरेषः ॥ १०० ॥

मिथ्यादृष्टियोंके मर्मवेधी अत्यंत अनिष्ट तथा प्रचण्ड दुर्वचनरूपी बाणोंका शीघ्र ही प्रतीकार करनेमें समर्थ रहते हुए भी जो साधु अपने पूर्वसंचित पाप कर्मके उदयका स्मरण करके उनपर क्षमा करदेता है उसीको आक्रोश परीषहका विजेता समझना चाहिये ।

वध परीषहके विजयका स्वरूप बताते हैं:—

नृशंसेऽरं कश्चित्स्वैरं कुतश्चिन्मारयत्यपि ।
शुद्धात्मद्रव्यसंवित्तिवित्तः स्याद्वधमर्षणः ॥ १०१ ॥

यदि कभी कोई चोर प्रभृति नृशंस मनुष्य–क्रूर कर्म करनेवाला आदमी दृष्ट या अदृष्ट किसी भी कारण के वश शीघ्र ही स्वच्छन्द होकर मार डालनेके लिये तयार हो उस समयमें जो साधु अपने शुद्धात्म द्रव्यके अनुभवसे विश्वस्त होकर स्थिर रहता है उसीको वधपरीषहका विजयी समझना चाहिये ।

भावार्थ—जो साधु किसी भी क्रूर जीवके द्वारा अपना प्राणापहार होनेपर भी ऐसा विचार करता है कि यह जीव मेरे शरीरका घात करता है जो कि विनश्वर और दुःखद ही है; किंतु आत्मस्वरूप ज्ञानका घात नहीं करता जो कि उससे सर्वथा विपरीत अविनश्वर और सुखमय है। उसीको वधबाधाका अबाध विजेता समझना चाहिये ।

साधुओंको याचना परीषह जीतनेके लिये भी उत्साहित करते हैं:—

भृशं कृशः क्षुन्मुखसन्नवीर्यः,
शम्पेव दातॄन् प्रतिभासितात्मा ।
ग्रासं पुटीकृत्य कराव्ऽयाञ्चा,–
व्रतोपि गृह्णन् सह याचनार्तिम् ॥ १०२ ॥

हे साधो ! प्राण निकलजानेपर भी आहार वसतिका और औषध आदिके लिये मैं किसीसे याचना तो नहीं ही करूंगा किंतु दीन वचन मुखवैवर्ण्य और शरीरके इशारे आदिसे याचना करने का अन्तर्गत भाव भी प्रकट न करूंगा, इस प्रकार अयाचनाव्रतका धारण करनेवाला तू, दीखने लगी है हड्डी और नसें जिसकी ऐसा अत्यंत कृश होकर भी तथा क्षुधा मार्गगमन तपस्या और रोग आदिके द्वारा अपनी स्वाभाविक शक्तिके क्षीण

होजानेपर भी दानोद्यत गृहस्थोंको बिजलीके चमत्कारकी तरह क्षणमात्रके लिये ही एक वार अपना स्वरूप मात्र दिखाकर दाताके दिये हुए आहारको अपने हस्तपुट—दोनो हाथोंको ही पात्र बनाकर ग्रहण करते हुए याचना परिषहपर विजय प्राप्त कर सकता है।

अलाभ परिषहके विजयका स्वरूप दिखाते हैः—

निःसङ्गो बहुदेशचार्यऽनिलवन्मौनी विकायप्रती,—
कारोऽद्येदमिदं श्व इत्यविमृशन् ग्रामेऽस्तभिक्षः परे।
बह्वोकःस्वपि बह्वहं मम परं लाभादलाभस्तपः,
स्यादित्यात्तधृतिः पुरोः स्मरयति स्मार्तानलाभं सहन् ॥ १०२ ॥

जो साधु वायुकी तरह निर्ग्रंथ है- किसी भी पदार्थसे ससक्ति नहीं रखता और अनेक देशोंमें भ्रमण करता रहता है, जो मौनव्रतको धारण करता किंतु अपने शरीरका कभी भी प्रतीकार नहीं करता है जो कभी इस प्रकारका संकल्प भी नहीं करता कि आज इस घरमें विहार करेंगे और कल उस घरमें। जो एक ग्राममें भिक्षा न मिलनेपर उसी दिन दूसरे ग्राममें भिक्षाके लिये पर्यटन करनेकी उत्सुकता नहीं रखता, और अनेक गृहोंमे तथा अनेक दिन तक आहार मिलते रहनेकी अपेक्षा न मिलना ही मेरेलिये उत्कृष्ट तप है, ऐसा समझता है वह परम संतोषको धारण करनेवाला ऋषि ही अलाभ परीषहका जीतनेवाला समझा जाता है। ऐसा साधु अपने इस उत्कृष्ट धैर्यके द्वारा, उन ऋषियोंको जो कि पर, मागमरूप उद्धार शास्त्रके ज्ञाता तथा तदनुसार आचरण करने वाले है, भगवान् आदिनाथका स्मरण करादेता है।

भावार्थ—आहारके लाभसे अलाभको ही श्रेयःसाधन समझकर अपने उत्कृष्ट धैर्यसे विचालित न होना ही अलाभ परीषहका विजय समझा जाता है।

रोगपरीषहके विजयका स्वरूप बताते हैः—

तपोमहिम्ना सहसा चिकित्सितुं,

शक्तोपि रोगानतिदुस्सहानपि ।
दुरन्तपापान्तविधित्सया सुधीः,
स्वस्थोधिकुर्वीत सनत्कुमारवत् ॥ १०४ ॥

शरीर और आत्मामें भेदज्ञान रखनेवाला जो साधु एक साथ उपस्थित हुई अत्यंत दुस्सह क्षुधादिक अनेक व्याधियोंका विशिष्ट तपके बलसे प्राप्त हुई जल्लौषधि आदि अनेक ऋद्धियोंके द्वारा क्षणमात्रमें प्रतीकार करनेकेलिये समर्थ होते हुए भी प्रतीकार नहीं करता किंतु सनत्कुमार चक्रवर्तीकी तरह दुःखद पापकर्मोंका विनाश करनेकी इच्छासे निराकुल होकर उनकी बाधाका सहन करता है उसको रोगपरीषहका विजयी समझना चाहिये ।

तृणस्पर्श परीषहके सहनेका स्वरूपनिर्देश करते हैः—

तृणादिषु स्पर्शखरेषु शय्या भजान्निषद्यामथ खेदशान्त्यै ।
संक्लिश्यते यो न तदर्तिजातखर्जुस्तृणस्पर्शतितिक्षुरेषः ॥ १०५ ॥

सूखे तृण पत्ते या कंकरीली भूमि अथवा पत्थरकी शिला यद्वा ऐसी कण्टकित भूमिपर जो कि छूनेमें भी कर्कश मालुम होती है, व्याधि, मार्गमें विहार अथवा ठंडी गर्मी आदिके निमित्तसे उत्पन्न हुए श्रम—खेदको दूर करनेकेलिये शयनासन करनेवाला जो साधु उन शुष्क तृणादिककी पीडासे खुजली आदि विकारोंके उत्पन्न होने पर भी उनसे संक्लिष्ट—खिन्न नही होता उसको तृणस्पर्श परीषहका विजयी समझना चाहिये ।

मलपरीषहके विजयको दिखाते हैः—

रोमास्पदस्वेदमलोत्थसिध्म,—
प्रायार्त्यवज्ञातवपुः कृपावान् ।

केशापनेतान्यमलाग्रहीता,
नैर्मल्यकामः क्षमते मलोर्मिम् ॥ १०६ ॥

रोमछिद्रोंमें रहनेवाले प्रस्वेदमलके निमित्तसे उत्पन्न हुए दाद खाज छाजन आदि अनेक चर्मरोगोंकी पीडासे शरीर युक्त रहते हुए भी जो साधु उसकी तरफ कभी लक्ष नहीं करता; प्रत्युत उसमें केवल दया-परिणामोंको सिद्ध करनेका ही भाव रखता है। क्योंकि उसने शरीराश्रित प्रतिष्ठित बादर निगोदिया जीवोंकी दयाका पालन करनेकेलिये ही उद्वर्तन करनेका और जलकायिक जीवोंकी रक्षा करनेकेलिये ही स्नानका परित्याग कर दिया है। इसी प्रकार जो साधु केशोंका लोच करनेमें और उसके बाद सत्कार न करनेमे जो पीडा होती है उसको सहन करता है और अन्य मलका ग्रहण नहीं करता उस कर्ममलरूप पङ्कके दूर करनेकी इच्छा रखनेवाले साधुको मलपरीषहका विजयी समझना चाहिये।

भावार्थ—कर्ममलको दूर करनेकी इच्छा और दयापरिणामोंके सिद्ध करनेकी अभिलाषासे ही मलजनित अनेक बाधाओं और व्याधियोंके होते हुए भी उनकी तरफ लक्ष्य न करनेको और निर्मम होकर केशोत्पाटनादिक करनेको मलपरीषहका विजय कहते हैं।

सत्कारपुरस्कार परीषहके विजयका स्वरूप बताते हैं:—

तुष्येन्न यः स्वस्य परैः प्रशंसया,
श्रेष्ठेषु चाग्रे करणेन कर्मसु।
आमन्त्रणेनाथ विमानितो न वा,
रुष्येत्स सत्कारपुरस्क्रियोर्मिजित् ॥ १०७ ॥

दूसरे लोग यदि अपनी प्रशंसा करें अथवा धार्मिक एवं माङ्गलिक कार्योंके समय अपनेको बुला कर अथवा अग्रस्थान देकर अपना सम्मान करें तो उससे जो साधु प्रसन्न नहीं होता और इसके विरुद्ध यदि कोई अपनी निन्दा करे अथवा श्रेष्ठ कार्योंके समय अपनेको न बुलाकर या अग्रस्थान न देकर अपना अपमान करे तो उससे रुष्ट नहीं होता उस साधुको सत्कारपुरस्कार परीषहका विजयी समझना चाहिये।

भावार्थ—चिरकालसे ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाला महातपस्वी स्वसमय और परसमयका ज्ञाता हितोपदेशका निरूपण करनेमें कुशल और अनेक वार परवादियोंपर विजय प्राप्त करनेवाला होकर भी जो साधु अपने मनमें ऐसा विचार नहीं लाता कि "देखो, कोई भी मुझे प्रमाण नहीं मानता या मेरी भक्ति अथवा मुझे ससंभ्रम उच्चासनका प्रदान नहीं करता। इससे तो मिथ्यादृष्टि ही अच्छे जो कि अपने मूर्ख भी साधर्मीका सर्वज्ञतुल्य सम्मान करके अपने धर्मकी प्रभावना किया करते है। व्यन्तरादिकोंके विषयमें भी जो सुना जाता है कि वे प्राचीन समयमें अत्यंत उग्र तपस्या करनेवालोंकी सत्यग्र पूजा किया करते थे सो भी बात कुछ मिथ्यासरीखी ही मालुम होती है। अन्यथा आज वे साधर्मी होकर भी हम सरीखोंका अनादर क्यों करते है?" इस प्रकारके दुर्भावोंसे जिसका मन अलिप्त रहता है और जो मानापमानमें तुल्यवृत्ति है वही सत्कारपुरस्कार परीषहका विजयी समझा जा सकता है।

प्रज्ञा परीषहके विजयका स्वरूप बताते है—

विद्याः समस्ता यदुपज्ञमस्ताः प्रवादिनो भूपसभेषु येन।
प्रज्ञोर्मिभिजित् सोऽस्तु मदेन विप्रो गरुत्मता यद्वदखाद्यमानः ॥१०८॥

जो सम्पूर्ण श्रुतपूर्व और प्रकीर्णक विद्याओंका प्रथमोपदेष्टा है जिसने अनेक वार अनेक राजसभाओंमें अनुमानादि विषयोंपर अनेक मिथ्या प्रवादियोंका निराकरण करके विजय प्राप्त किया है। फिर भी गरुडके द्वारा ब्राह्मणकी तरह ज्ञानका गर्व जिसका भक्षण नहीं कर सकता उसको प्रज्ञापरीषहका विजयी समझना चाहिये।

भावार्थ— मिथ्यापुराणोंमे एक कथा प्रसिद्ध है कि विष्णुने एक वार अनेक राक्षसोंको मारा । मारनेसे जो कुछ थोडेसे राक्षस शेष रहे थे उनकेलिये उन्होंने अपने गरुडको मारनेका आदेश किया । वस, फिर क्या था, गरुड उन राक्षसोंका भक्षण करने लगा । किंतु राक्षसोंके साथ साथ एक ब्राह्मण भी पेटमें चलागया जो कि उसे पचा नहीं । अन्तमें गरुडने उस ब्राह्मणका वमन कर दिया । इसी प्रकार जो साधु अनेक विद्याओंका अधीश होकर भी ज्ञानमदसे पचता नहीं है वही सत्कारपुरस्कार परीषहका विजयी हो सकता है ।

अज्ञान परिषहके विजयको बताते हैः—

पूर्वेऽसिधन् येन किलाशु तन्मे,
चिरं तपोभ्यस्तवतोपि बोधः ।
नाद्यापि बोभोत्यपि तूच्यकेहं,
गौरित्यतोऽज्ञानरुजोऽपसर्पेत ॥ १०९ ॥

जिस तपके माहात्म्यसे पूर्व कालमें अनेक तपस्वी शीघ्र ही सिद्धिको प्राप्त होगये सुने जाते हैं, उसी तपको चिरकालसे अभ्यास करते हुए भी आजतक मुझको कोई सातिशय अथवा प्रकृष्ट ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ । प्रत्युत मुझको लोक अज्ञानी—मदबुद्धि देखकर 'यह बैल है' इत्यादि कुत्सित शब्दोंके द्वारा ही बोला करते हैं । इस प्रकारका अज्ञानजनित दुःख जिसके हृदयमें कभी भी उद्भूत नहीं होता उसको अज्ञान परीषहका विजयी समझना चाहिये ।

भावार्थः–जो साधु "तू मूर्ख है, निरा पशु ही है, कुछ नहीं समझता," इस तरहके तिरस्कारके शब्दोंको सुनकर भी सहन करता और निरंतर अध्ययनमें रत रहता है; किंतु मन वचन कायकी अनिष्ट चेष्टाओंसे निवृत्त और महोपवासादिका अनुष्ठान करनेवाला होकर भी 'आज तक मेरे किसी तरहका ज्ञानातिशय उत्पन्न नहीं हुआ' ऐसे दुर्भावसे अभिभूत नहीं होता वही अज्ञानपरीषहका विजयी हो सकता है ।

अदर्शन परीषहके विजयको दिखाते हैः—

महोपवासादिजुषां मृषोद्याः,
प्राक् प्रातिहार्यातिशया न हीक्षे ।
किंचित्तथाचार्यपि तद् वृथैषा,
निष्ठेत्यसन् सद्दृगदर्शनासट् ॥ ११० ॥

मैं महोपवासादिको करते हुए भी अपनेमें प्रातिहार्य या ज्ञानातिशयादिकोंका उत्पन्न होना नही देखता हूं । इससे मालुम होता है, पूर्वकालमें पक्ष मास आदिक महोपवासादिके करनेवाले साधुओंके प्रातिहार्य या ज्ञानातिशयादिकी उत्पत्ति होना जो बताया जाता है वह सब झूठी बात है । अन्यथा मुझमें भी वे अतिशय आज जागृत क्यों नहीं होते । अत एव इस तपस्याका अनुष्ठान करना भी व्यर्थ ही है । इस तरहके भाव जिसके हृदयमें उद्भूत नही हुआ करते उस दर्शनविशुद्धियुक्त साधुको ही अदर्शनपरिषहका विजयी समझना चाहिये ।

इस प्रकार बाईस परीपहोंके विजयका स्वरूप और साधन बताया गया । ये सभी परीपह कर्मोदयके निमित्तसे प्राप्त हुआ करती है । ज्ञानावरणके उदयसे प्रज्ञा और अज्ञान, दर्शनमोहके उदयसे अदर्शन, अन्तरायके उदयसे अलाभ, मानके उदयसे नाग्न्य निशद्या आक्रोश याचना और सत्कारपुरस्कार, अरतिके उदयसे अरति, वेदके उदयसे स्त्री, और वेदनीयके उदयसे क्षुधा पिपासा शीत उष्ण दंशमशक चर्या शय्या वध रोग तृणस्पर्श तथा मल परीपह होती है ।

इन बाईस परीपहोंमेंसे एक समयमें एक जीवके एकसे लेकर उन्नीस तक हो सकती है । क्योंकि चर्या शय्या और निशद्या इन तीन परस्पर विरोधी परीपहोंमेंसे एक कालमें कोईसी एक ही हो सकती है । इसी प्रकार शीत उष्णमेंसे भी एक कालमें एक ही हो सकती है । इस प्रकार तीनके कम होजानेसे बाकी उन्नीस तक हो सकती है ।

यहांपर कोई प्रश्न कर सकता है कि प्रज्ञा और अज्ञान परीपहमें भी सहानवस्थान विरोध है इसलिये इनमेंसे भी एक कालमें एक ही परीपह हो सकेगी। और फिर वैसा होनेपर एक कालमें एक जीवके १९ परीपहतक होनेका नियम किस तरह स्थिर रह सकता है ? इसका उत्तर सहज है। क्योंकि श्रुतज्ञानकी अपेक्षा प्रज्ञाका प्रकर्प रहते हुए भी साथमें अवधिज्ञानादिके अभावकी अपेक्षा अज्ञान भी रह सकता है। अत एव इनमें सहानवस्थान विरोधकी कल्पना ठीक नहीं है।

मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत पर्यन्त सात गुणस्थानोंमें सभी-बाईसों परीपह होती है। अपूर्वकरणमें अदर्शनके सिवाय शेप २१, अनिवृत्तिकरणके सवेद भागमें अरतिको छोडकर शेप २०, और अवेदभागमें स्त्री परीपहके बिना १९, तथा इसी गुणस्थानमें मानकपायके उदयका अभाव होजानेसे नाग्न्य निपद्या आक्रोश याचना और सत्कारपुरस्कारको छोडकर शेप १४, अत एव अनिवृत्तिकरण सूक्ष्मसांपराय उपशांतकपाय और क्षीणकपाय इन चार गुणस्थानोंमें १४ परीपह होती है। इसके अंतमें प्रज्ञा अज्ञान और अलाभ परीपह नष्ट होजाती है इसीलिये सयोगी भगवान्के ११ परीपह ही मानी है। सयोगी भगवान्के वेदनीय कर्म सत्तामें रहता है। अत एव तन्निमित्तक ११ परीपह जो भी है वे उपचारसे मानी जाती है। जिन भगवान्के सम्पूर्ण घातिया कर्मरूपी इन्धन ध्यानाग्निके द्वारा दग्ध हो चुका है और अप्रतिहत अनंतचतुष्टय उद्भूत हो चुका है, साथ ही उनके अन्तराय कर्मका अभाव होजानेसे निरंतर सातावेदनीयरूप शुभ पुद्गलोंका ही संचय हुआ करता है। यही कारण है कि उनके सत्तामें बैठा हुआ भी वेदनीय कर्म अपना फल प्रकट नहीं कर सकता। क्योंकि वेदनीय कर्म घातिया कर्मोंकी तथा विशेपकर मोहनीय कर्मकी सहायतासे ही अपना फल प्रकट कर सकता है। अन्यथा नहीं। जिस प्रकार मंत्र या औषधि आदिके बलसे मारण शक्तिके नष्ट होजानेपर विपद्रव्य अपना कार्य—मारनेरूप नहीं कर सकता, और जिस प्रकार जडके कटजानेपर कोई भी वृक्ष फल फूल देनेमें समर्थ नहीं हो सकता, तथा जिस प्रकार उपेक्षा संयमके धारण करनेवाले नौवें और दशवें गुणस्थानवर्ती साधुओंके मैथुन परिग्रह संज्ञा कार्यरूप नहीं हो सकती। एवं जिस प्रकार सम्पूर्ण ज्ञानके धारक [illegible] भगवानके एकाग्रचिन्तानिरोधरूप लक्षणके न रहनेपर भी कर्मरजकी निर्जरा रूप फलकी अपेक्षासे ध्यानका उपचार किया जाता है। उसी प्रकार क्षुधा रोग वध आदि कार्यरूप

अध्याय ९।११

परीषहोंके न होनेपर भी वेदनीय [illegible] जो शरीरमें बैठा हुआ है [illegible] अपेक्षासे वेदनीय कर्मके [illegible] ग्यारह परीषह [illegible] उपचारसे कही जाती हैं। यही कारण है कि सूत्रकारने "एकादश जिने" ऐसा कहा है। [illegible] दोनों ही उपचार होते हैं। वेदनीय [illegible] अपेक्षा [illegible] ग्यारह परीषह हैं, किन्तु [illegible] वेदनीय [illegible] नहीं है। [illegible] नहीं होती है।

[illegible] अपेक्षासे [illegible] परीषह होती हैं। [illegible] परीषह होती हैं। [illegible] परीषह होती हैं। [illegible] होती है।

इस प्रकार [illegible] परीषहोंके [illegible] अपवादिक [illegible] उपदेश देना [illegible] उपदेश देते हैं।

[illegible],—
[illegible] ।
[illegible],
[illegible] ॥११॥

[illegible] उपसर्ग करते हैं। [illegible] प्रकार

अध्याय ९

का होता है–अचेतनकृत मनुष्यकृत तिर्यञ्चकृत और देवकृत। क्रमसे इन उपसर्गोंको शिवभूतिनामक मुनि, युधिष्ठिर आदि पाण्डुपुत्र और सुकुमालस्वामी तथा विद्युचर प्रभृति अनेक उत्तम पुरुषोंने आत्मध्यानके द्वारा जीत करके ही ससारका सहार किया था। भावार्थ—विना उपसर्गोंका सहन किये परमपदकी प्राप्ति नहीं हो सकती। पूर्व कालमें भी जिन उत्तम पुरुषोंने संसारको नष्ट कर अजरामर पदको प्राप्त किया था उन्होंने भी इन उपसर्गोंको सहन करके ही किया था। उपसर्गोंका सहन आत्मध्यानके द्वारा ही हो सकता है अत एव जिस प्रकार आगमप्रसिद्ध शिवभूति मुनि और एणिकापुत्रादिकोंने आत्मस्वरूपमें स्थिर होकर अचेतनकृत उपसर्गोंका सहन किया, तथा पाण्डव गजकुमार गुरुदत्त प्रभृतिने मनुष्यकृत उपसर्गोंका और सुकुमाल सुकोशल सिद्धार्थ आदिने तिर्यक्कृत उपसर्गोंका, तथा विद्युचर श्रीदत्त सुवर्णभद्रादिकोंने देवकृत उपसर्गोंका सहन कर निर्भयपद प्राप्त किया, उसी प्रकार हे मुमुक्षुओ! यदि उस पदके प्राप्त करनेकी इच्छा है तो आपको भी चिदानंदमय आत्मस्वरूपमें लीन होकर अचेतनादिमेंसे किसीके भी द्वारा उत्पन्न किये गये यथायोग्य प्राप्त हुए उपसर्गोंका सहन करना चाहिये।

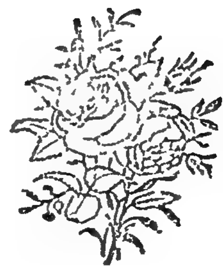
प्रकृत विषय—परीषहजय और उपसर्गसहनका उपसहार कर मोक्षनगरीके पथिक साधुओंको बाह्य और अभ्यन्तर तपका आचरण करनेके लिये उद्यमी होनेको उपदेश देते है—

इति भवपथोन्माथस्थामप्रथिम्नि पृथूद्यमः,
शिवपुरपथे पौरस्त्यानुप्रयाणचणश्चरन्।
मुनिरनशनाद्यस्त्रैरुग्रैः क्षितेन्द्रियतस्कर,—
प्रसृतिरमृत विन्दत्वन्तस्तपःशिबिकां श्रितः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार शिवनगरीके मार्ग–रत्नत्रयमें विहार करते हुए और पूर्वाचार्योंका अनुगमन कर प्रतीतिको प्राप्त हुए साधुओंको संसारके मार्ग–मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका उच्छेदन करनेवाली शक्तिके प्रपंचमें महान् उत्साहको धारण करके तथा अनशन अवमौदर्य आदि बाह्य तपश्चरणरूपी तीक्ष्ण एवं दुःसह

शस्त्रोंके द्वारा इन्द्रियरूपी चोरोंके प्रसारका निराकरण कर और अन्तरङ्ग तपरूपी पालकीमें बैठकर मोक्षस्थान अथवा उसके अभावमें स्वर्गको प्राप्त करना चाहिये । भावार्थ—ऐसा करनेपर ही उनको स्वर्गमोक्षादिकी प्राप्ति हो सकती है ।

इस प्रकार रत्नत्रय मार्गमें महान् उद्योग करनेका जिसमें वर्णन किया गया है ऐसा छट्ठा अध्याय समाप्त हुआ ।



अथ सप्तमोऽध्यायः

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन आराधनाओंका वर्णन करके क्रमानुसार सम्यक्तप आराधनाका वर्णन करनेकी इच्छासे ग्रन्थकार सबसे पहले इस बातकी शिक्षा देते है कि मुक्तिका प्रधान साधन वीतरागता है और रागद्वेषका अभाव तपके द्वारा ही हो सकता है; अत एव मुमुक्षुओंको वीतरागताकी सिद्धिकेलिये नित्य ही तपका संचय करना चाहिये —

ज्ञाततत्त्वोपि वैतृष्ण्यादृते नाप्नोति तत्पदम् ।
ततस्तत्सिद्धये धीरस्तपस्तप्येत नित्यशः ॥ १ ॥

जिसको हेयोपादेयरूप वस्तुस्वरूपका ज्ञान नहीं है उसकी तो बात ही क्या, जो उसका भले प्रकार निश्चय कर चुका है उसको भी अनन्तज्ञानादि चतुष्टयरूप परमपद क्षायिक यथाख्यात चारित्रस्वरूप वीतरागताके विना प्राप्त नहीं हो सकता। अत एव वीतरागता प्राप्त करनेकेलिये पूर्वोक्त परीषह और उपसर्गोंसे विचलित न होनेवाले धीर वीर साधुओंको उस तपका, जिसका कि लक्षण आगे चलकर करेंगे, नित्य ही संचय करना चाहिये। क्योंकि तपके द्वारा ही उसकी सिद्धि हो सकती है।

तपका निरुक्तिसिद्ध लक्षण बताते हैं:—

तपो मनोक्षकायाणां तपनात् सन्निरोधनात् ।
निरुच्यते दृगाद्याविर्भावायेच्छानिरोधनम् ॥ २ ॥

तप शब्दका अर्थ समीचीनतया निरोध करना होता है। अत एव आत्मामें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान

और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयका आविर्भाव करनेके लिये इच्छाके रोकनेको—मन इन्द्रिय और शरीरके इष्टानिष्ट विषयोंमेंसे इष्टके ग्रहण करनेकी और अनिष्टके छोडनेकी जो अभिलाषा हुआ करती है उसके न होने देनेको ही तप कहते है।

इस प्रकार "इच्छाका समीचीनतया निरोध" यह तपका लक्षण उसकी धातुके अर्थके अनुसार ही है। फिर भी प्रकारान्तरसे उसका निरुक्तिसिद्ध ही लक्षण बताते है:—

यद्वा मार्गाविरोधेन कर्मोच्छेदाय तप्यते।
अर्जयत्यक्षमनसोस्तत्तपो नियमक्रिया ॥ ३ ॥

उपर्युक्त रत्नत्रयमें किसी भी प्रकारका आघात न पहुंचाकर सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मोका निर्मूल नाश करनेके लिये जो मुमुक्षु साधु इन्द्रिय और मनके विरुद्ध आचरण करता है—मन व इन्द्रियोंको अपने अपने विषयोंमें प्रवृत्त होनेसे रोकता है उसकी इस विरुद्ध प्रवृत्तिको ही तप कहते है। भावार्थ—प्रत्येक संसारी आत्मा मन व इन्द्रियोंके अधीन हो रहा है। किंतु मुमुक्षु साधु इसके विरुद्ध आचरण करता है। वह मन और इन्द्रियोंको आत्माके अधीन बनाता है। बस, उसके इस विरुद्धाचरणको ही तप कहते है।

इस प्रकार तपका निरुक्तिसिद्ध लक्षण बताया। फिर भी ग्रन्थान्तरोंमें जो उसका लक्षण बताया है उसका भी उल्लेख करते है और उसके भेद प्रभेदोंका वर्णन करते हुए उसका अनुष्ठान करनेका उपदेश देते है—

संसारायतनान्निवृत्तिरमृतोपाये प्रवृत्तिश्च या,
तद्वृत्त मतमौपचारिकमिहाद्योगोपयोगौ पुनः।
निर्मायं चरतस्तपस्तदुभयं बाह्यं तथाभ्यन्तरं,
षोढाऽत्राऽनशनादि बाह्यमितरत् षोढैव चेतुं चरेत् ॥ ४ ॥

चारो गतियों अथवा उसके अनेक भेदोंमे जीवके इतस्तत पर्यटन करनेको ही संसार कहते हैं। यह पाच प्रकारका है— द्रव्य क्षेत्र काल भव भाव। इस परिभ्रमणका मूल कारण कर्मवन्ध है किंतु कर्मवन्धका भी मूल कारण मिथ्यात्रिक— मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है। अत एव इस मिथ्यात्रिकसे निवृत्त होने- और इसके विरुद्ध मोक्षके उपाय रत्नत्रयमें प्रवृत्त होनेको ही उपचरित सम्यक् चारित्र कहते है। इस उपचरित सम्यक् चारित्रमें मायाचारको छोडकर उद्योग करने तथा सदा उपयुक्त— तल्लीन रहनेका ही नाम तप है। वह दो प्रकारका माना है-एक अन्तरङ्ग और दूसरा वाह्य। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान इनको अन्तरङ्ग तप कहते है। और अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन तथा कायक्लेश इनको वाह्य तप कहते हैं। इनमेंसे अन्तरङ्ग तपकी सिद्धि और वृद्धिका कारण वाह्य तप है। अत एव मुमुक्षुओंको अभ्यन्तर तपको स्थिर रखनेके लिये अथवा उसको बढाते रहनेके लिये वाह्य तपका आचरण करते ही रहना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि- "वाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्"।

वाह्य तप कारणरूप है अत एव उसका ही वर्णन सबसे पहले करना चाहते है; किंतु विशेष वर्णन करनेके पूर्व इस बातके लिये युक्ति उपस्थित करते है कि उसके उत्तर भेद अनशनादिक तप क्यों हैं?

देहाक्षतपनात्कर्मदहनादान्तरस्य च।
तपसो वृद्धिहेतुत्वात् स्यात्तपोऽनशनादिकम्॥ ५॥

अनशन अवमौदर्य आदिक तप इसलिये है कि इनके होनेपर शरीर इन्द्रियां उद्रिक्त नहीं हो सकतीं किंतु कृश हो जाती है। दूसरे इनके निमित्तसे संपूर्ण अशुभ कर्म अग्निके द्वारा इन्धनकी तरह भस्मसात् हो जाते है। तीसरे अभ्यन्तर प्रायश्चित्त आदि तपोंके बढानेमें ये कारण है।

अनशनादिकको वाह्य तप माना है। जिसमेंसे उनका तप होना तो युक्तिपूर्वक सिद्ध किया। अब उनके वाह्यत्वके लिये भी युक्ति उपस्थित करते हैं —

बाह्यं वल्भाद्यपेक्षत्वात्परप्रत्यक्षभावतः ।
परदर्शनिपाषण्डिगेहिकार्यत्वतश्च तत् ॥ ६ ॥

अनशनादि तपोंको बाह्य कहनेमें तीन कारण हैं। एक तो यह कि इनके करनेमें बाह्य द्रव्यकी अपेक्षा रहती है। अनशनमें भोजनके छोडनेकी, अवमौदर्यमें अल्प भोजनकी, वृत्तिपरिसंख्यानमें बाहिर दृष्टिसे दीख सकने योग्य किसी भी वस्तुके आश्रयसे नियम करनेकी, इसी प्रकार रसपरित्यागादिकमें भी रसादिक बाह्य वस्तुओंकी आवश्यकता पडती है। दूसरा कारण यह भी है कि ये दूसरे लोगोंको दीखते हैं। स्वसंघके और परसंघके सभी लोगोंको यह तो साक्षात् ही मालूम हो जाता है कि इन्होंने आज भोजन किया है अथवा नहीं किया। तीसरा कारण यह भी है कि इन अनशनादि तपोंको केवल निर्ग्रंथ साधु ही नहीं किया करते, और लोग भी किया करते हैं। बौद्ध प्रभृति जैनेतर धर्मोंके अनुयायी और कापालिक प्रभृति पाषण्डी तथा इतर गृहस्थ लोग भी उपवासादिक किया करते हैं। अत एव साधारणतया बाह्य लोगोंका कार्य होनेसे भी इन तपोंको बाह्य कह सकते हैं।

बाह्य तपका फल बताते हैं:—

कर्माङ्गतेजोरागाशाहानिध्यानादिसंयमाः ।
दुःखक्षमासुखासङ्गब्रह्मोद्योताश्च तत्फलम् ॥ ७ ॥

अनशनादि तपके करनेसे ज्ञानावरणादिक कर्म और शरीरका तेज क्षीण होता है। अथवा कर्मोंके कारणभूत हिंसादिककी और शुक्रकी हानि होती है। इसके सिवाय रागद्वेषादिक कषाय और विषयभोगोंकी आशाका अपकर्षण होता है। इस तरहसे बाह्य तपके द्वारा अनेक दोषोंकी हानि होती है। केवल हानि ही हानि होती है यह बात नहीं है किन्तु ध्यान स्वाध्याय आरोग्य मार्गप्रभावना और कषाय–मदमात्सर्यादिका मंथन तथा परप्रत्ययकरण दयादिक उपकार और तीर्थायतनोंकी स्थापना इत्यादि अनेक उत्तम फलोंकी और संयमकी सिद्धि भी होती है। जैसा कि कहा भी है कि —

विदितार्थशक्तिचरित कायेन्द्रियपापशोषक परमम् ।
जातिजरामरणहर सुनाकमोक्षाश्रय सुतपः ॥

इस समीचीन बाह्य तपका प्रयोजन शक्ति और चरित सर्वत्र प्रसिद्ध है। क्योंकि यह शरीर इन्द्रिय और पापका शोष करने वाला तथा जन्म जरा और मरणका हरण करने वाला, एवच मोक्षका आश्रय है।

प्रकृतमें ध्यान शब्दसे धर्म्य और शुक्लरूप प्रशस्त ध्यानका तथा संयम शब्दसे पूर्वोक्त उसके उपेक्षा और अपहृतरूप दो भेदोंका ग्रहण करना चाहिये।

इनके सिवाय अनशनादिके प्रमादसे तापत्रयका सहन सुखोंमें अनासक्ति और ब्रह्मोद्योत-ब्रह्मचर्यमें निर्मलताका उत्पन्न होना आदि और भी अनेक गुण उद्भूत हुआ करते हैं।

बाह्य तप परम्परासे मनके जीतनेमें भी कारण है इस बातको स्पष्ट करते हैं:—

बाह्यैस्तपोभिः कायस्य कर्शनादक्षमर्दने ।
छिन्नवाहो भट इव विक्रामति कियन्मनः ॥ ८ ॥

इन्द्रियां मनरूपी सुभटके वाहनके समान हैं। और अनशनादिक बाह्य तपोंके द्वारा शरीरका कर्शन हो जानेसे उसका मर्दन हो जाता है। अतएव इन्द्रियोंका दलन हो जानेपर दुर्जय भी मन अपना पराक्रम किस तरह प्रकट कर सकता है? कैसा भी वीर पुरुष क्यों न हो, प्रतियोद्धाके द्वारा अपने वाहन-घोडेके मारे जानेपर अवश्य ही निर्बल हो जायगा।

अनशनादिका विशेष स्वरूप बतानेके पहले इस बातकी शिक्षा देते हैं कि तपस्वियोंको भोजन इस प्रकारसे करना चाहिये कि जिससे प्रमाद प्रकट न हो सके —

शरीरमाद्यं किल धर्मसाधनं,
तदस्य यस्येत् स्थितयेऽशनादिना ।

तथा यथाक्षाणि वशे स्युरुत्पथं,

न चानुधावन्त्यनुबद्धतृड्वशात् ॥ ९ ॥

शरीरके विना तप तथा और भी ऐसे ही धर्मोंका साधन नहीं हो सकता । अत एव आगममें ऐसा कहा है कि रत्नत्रयरूप धर्मका आद्य साधन शरीर है । इसी लिये साधुओंको भी भोजन पान शयन आदिके द्वारा इसके स्थिर रखनेका प्रयत्न करना चाहिये । किंतु इस बातको सदा लक्ष्यमें रखना चाहिये कि भोजनादिकमें प्रवृत्ति ऐसी और उतनी ही हो कि जिससे इन्द्रियां अपने ही अधीन बनी रहें । ऐसा न होना चाहिये कि अनादि कालकी वासनाके वशवर्ती होकर वे उन्मार्गकी तरफ भी दौडने लगें ।

भावार्थ—साधुओंको भोजनमें प्रवृत्ति ऐसे मध्यम मार्गका आश्रय लेकर करनी चाहिये कि जिससे इन्द्रियां अपने अधीन भी बनी रहें और उन्मार्गमें भी प्रवृत्त न हों ।

अभिमत और स्वादु भोजनके दोष प्रकट करते हैं:—

इष्टमृष्टोत्कटरसैराहारैरुद्भटीकृताः ।

यथेष्टमिन्द्रियभटा भ्रमयंति बहिर्मनः ॥ १० ॥

इन इन्द्रियरूपी सुभटोंको यदि अभीष्ट और स्वादु तथा उत्कट रससे पूर्ण—ताजी बने हुए भोजनोंके द्वारा उद्भट—दुर्दम बना दिया जाय तो ये अपनी इच्छानुसार—जो जो इन्हें इष्ट हों उन सभी बाह्य पदार्थोंमें मनको भ्रमाने लगते है । भावार्थ—इष्ट सरस और स्वादु भोजनके निमित्तसे इन्द्रिय और मन स्वाधीन नहीं रह सकते ।

अनशनका लक्षण और उसके भेद बताते हैं:—

चतुर्थाद्यर्धवर्षान्त उपवासोथवाऽऽमृतेः ।

सकृद्भुक्तिश्च मुक्त्यर्थं तपोनशनमिष्यते ॥ ११ ॥

कर्मोंका क्षय करनेके उद्देशसे भोजनके परित्यागको अनशन नामका तप कहते हैं। यह दो प्रकारका होता है—एक तो सकृद्भुक्ति–प्रोषध, दूसरा उपवास। दिनमें एक बार भोजन करनेको प्रोषध और सर्वथा भोजनके परिहारको उपवास कहते हैं। यह दो प्रकारका माना है—अवधृतकाल और अनवधृतकाल। अवधृतकालके चतुर्थसे लेकर पाण्मासिकतक अनेक भेद हैं। जो मरणपर्यन्तके लिये उपवास धारण किया जाता है उसको अनवधृतकाल कहते हैं।

भावार्थ—एक दिनकी दो भुक्ति समझी जाती है। इसीलिये प्रोषधोपवासका दूसरा नाम चतुर्थोपवास है क्योंकि धारण और पारणके दिनकी एक एक भुक्ति और उपवासके दिनकी दो भुक्ति इस तरह मिलाकर चार भुक्तिका उसमें परित्याग किया जाता है। इस तरहसे भोजनके चार समयोंमें चतुर्विध आहारके परित्यागका नाम आगममें रूढिसे चतुर्थ ऐसा प्रसिद्ध है। यदि धारण और पारणके मध्यमें दो उपवास किये जांय तो उसका नाम षष्ठ और तीन उपवास किये जांय तो अष्टम, चार उपवास किये जांय तो दशम तथा पांच उपवास किये जांय तो द्वादश होता है। इसी तरह आगे [illegible] भेद समझने चाहिये। लगातार छह महीनेके उपवास करनेको पाण्मासिक अथवा [illegible] उपवास कहते हैं। [illegible] चतुर्थसे लेकर पाण्मासिक तकके कालका प्रमाण निश्चित रहता है। अतएव ये सब अवधृतकाल नामक अनशनके भेद होते हैं। जिसमें कालका प्रमाण निश्चित नहीं रहता ऐसे आमरणांत किये गये उपवासको अनवधृतकाल कहते हैं।

[illegible]

[illegible]

सिद्ध होता है। क्योंकि दण्डक या आचारादि शास्त्रोंमें सांवत्सरिक अनशनका भी उल्लेख किया गया है।

उपवासका निरुक्तिपूर्वक लक्षण बताते हैं: —

स्वार्थादुपेत्य शुद्धात्मन्यक्षाणां वसनाल्लयात् ।
उपवासोऽशनस्वाद्यखाद्यपेयाविवर्जनम् ॥ १२ ॥

उपपूर्वक वस धातुसे उपवास बनता है। उपसर्गका अर्थ उपेत्य, हटकर, तथा वस धातुका अर्थ निवास करना या लीन होना होता है। अत एव इन्द्रियोंके अपने अपने विषयोंसे हटकर शुद्ध आत्मस्वरूपमें लीन होनेको उपवास कहते हैं।

भावार्थ-यों तो उपवासमें सभी इन्द्रियोंके विषयोंका परित्याग होता है किन्तु रसनेन्द्रियके विषयके परित्यागकी मुख्यता रहती है। रसनाका विषय चार प्रकारका भोजन माना है-अशन स्वाद्य खाद्य और पेय। इन चारोंका विशेष लक्षण आगे चलकर करेंगे। अत एव यहां इतना ही समझना चाहिये कि इन चारो ही प्रकारके भोजनोंका परित्याग करके शेष सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयसे विरत हो आत्मस्वरूपमे लीन होनेको उपवास कहते है। जैसा कि कहा भी है कि:—

उपेत्याक्षाणि सर्वाणि निवृत्तानि स्वकार्यतः ।
वसन्ति यत्र स प्राज्ञैरुपवासोऽभिधीयते ॥

तथा इसी तरह किसी किसीने ऐसा भी कहा है कि—

---

१ 'अर्धवर्षान्त' ऐसा शब्द श्लोकमें है। यहापर अर्धशब्दको वर्षका विशेषण बनानेसे छह महीनेका उपवास अर्थ निकलता है। परंतु 'अर्ध और वर्ष' ऐसा समास करनेसे वर्ष शब्दका अर्थ एक वर्षका उपवास भी हो जाता है। इस दूसरे अर्थके समय भी अर्ध शब्दके साथ वर्ष शब्द जोडनेकी आवश्यकता है, वह वर्षशब्द यहापर लुप्त हुआ मानना चाहिये। एकशेष विधिसे एक वर्षशब्दका दो वार उपयोग होजाता है। ऐसा व्याकरणका आधार है।

उपावृत्तस्य दोषेभ्यो यस्तु वासो गुणै सह ।
उपवासः स विज्ञेयः सर्वभोगविवर्जितः ॥

अशनादिक चार प्रकारके भोजनका लक्षण बताते हैं—

ओदनाद्यशनं स्वाद्यं ताम्बूलादि जलादिकम् ।
पेयं खाद्यं त्वपूपाद्यं त्याज्यान्येतानि शक्तितः ॥ १३ ॥

भात दाल दलिया खिचडी आदि भोज्य सामग्रीको अशन, पान सुपारी इलायची लौंग तथा अनार संतरा ककडी खरबूजा आदि भक्ष्य पदार्थोंको स्वाद्य, जल दुग्ध शरबत आदि पीने योग्य द्रव पदार्थोंको पेय, और पूडी पूआ कचौडी लड्डू आदि चर्वण करने योग्य वस्तुओंको खाद्य कहते हैं।

भावार्थ—जिनके द्वारा क्षुधा शांत करनेकी प्रधान अपेक्षा रहा करती है उनको अशन, और जिनका मुख्यतया स्वाद लेना अपेक्षित रहा करता है उनको स्वाद्य, तथा जिनके द्वारा प्राणोंका तर्पण करनेकी इच्छा हो अथवा किया जाता हो उनको पेय, और जिनके भक्षण करनेमें चर्वण आदिके द्वारा विशेष प्रयत्न करना पडे उनको खाद्य कहते हैं मुमुक्षु साधुओंको उपवास करनेकी अभिलाषासे अपनी २ शक्तिके अनुसार उन चारो ही प्रकारके पदार्थोंका परित्याग करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि " शक्तितस्त्यागतपसी "।

उत्तम मध्यम और जघन्यके भेदसे तीनो ही प्रकारका उपवास प्रचुर दुष्कर्मोंका भी शीघ्र ही नाश कर सकता है, अतएव उसका विधिपूर्वक पालन करनेके लिये उपदेश देते हैं।

उपवासो वरो मध्यो जघन्यश्च त्रिधापि सः ।
कार्यो विरक्तैर्विधिवद्बह्वागःक्षिप्रपाचनः ॥ १४ ॥

उत्तम मध्यम अथवा जघन्य तीनोंमेंसे कौनसा भी उपवास प्रचुर पातकोंकी भी शीघ्र ही निर्जरा कर

सकता है। अत एव प्राणसंयम और इन्द्रियसंयमके पालन करनेवाले विरक्त पुरुषोंको शक्तिके अनुसार और विधिपूर्वक इसका पालन करना चाहिये।

उपवासके उत्तमादिक तीनो भेदोंका लक्षण बताते हैं:—

धारणे पारणे सैकभक्तो वर्यश्चतुर्विधः।
साम्बुर्मध्योनेकभक्तः सोधमास्त्रिविधावुभौ ॥ १५ ॥

जिसके धारण और पारणके दिन एक भुक्ति तथा उपवासके दिन चारो प्रकारके पदार्थोंका दोनो भुक्तिवेलाओंमें परित्याग किया जाय उसके उपवासको उत्तम भेद समझना चाहिये। जिसके धारण और पारणके दिन दोनो भुक्तिवेलाओंमें भी आहारका परित्याग किया जाय किंतु जलके सिवाय शेष आहार्य सामग्रीको ही छोडा जाय उसको मध्यम भेद समझना चाहिये किंतु जिसके धारण और पारणके दिन एक भुक्ति भी न की जाय और उपवासके दिन जल भी ग्रहण करलिया जाय उसको जघन्य भेद समझना चाहिये। इनमेंसे उत्तम भेदका अपर नाम चतुर्विध और शेष भेदोंका नाम त्रिविध है। क्योंकि उत्तम भेदमें चतुर्विध आहारका और मध्यम जघन्य भेदमें त्रिविध आहारका ही परित्याग होता है। जैसा कि कहा भी है कि:-

चतुर्णां तत्र भुक्तीना त्यागे वर्यश्चतुर्विध ।
उपवास सपानीयस्त्रिविधो मध्यमो मत ॥

विना शक्तिके भोजनका परित्याग करनेमें जो दोष उत्पन्न होते हैं उनको प्रकट करते हैं:—

यदाहारमयो जीवस्तदाहारविराधितः।
नार्तरौद्रातुरो ज्ञाने रमते न च सयमे ॥ १६ ॥

यह प्राणी प्रधानतया द्रव्यप्राणोंसे ही जीवित रहता है। अतः इसको आहारमय, मानो भोजनके द्वारा

ही बना है ऐसा, कहना चाहिये । अत एव विना भोजनके यह प्रायः स्थिर नही रह सकता। यदि उससे बलात्कार भोजनका परित्याग करादिया जाय तो वह आर्त और रौद्र ध्यान करनेमें आतुर हो उठता है । और यह स्पष्ट ही है कि इस तरहके दुर्ध्यानोंसे पीडित व्यक्तिका मन न तो स्वाध्याय आदिके द्वारा ज्ञानका अभ्यास करनेमें और न संयमका आराधन करनेमें ही लग सकता है ।

इसी बातको फिर भी प्रकारान्तरसे बताते हैं:—

प्रसिद्धमन्नं वै प्राणा नृणां तत्त्याजितो हठात् ।
नरो न रमते ज्ञाने दुर्ध्यानार्तो न संयमे ॥ १७ ॥

" अन्नं वै प्राणाः " यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है । अन्न नाम आहारका है, वह निश्चय ही मनुष्योंका जीवन है । क्योंकि उसके विना वह जीवित नही रह सकता । प्राणका लक्षण ही यह है कि जिसके रहनेपर जीवित रहे और जिसके वियोग होनेपर मरजाय । अन्नके विपयमें भी यह बात देखी जाती है । इसलिये उसको भी प्राण कहा जा सकता है । अत एव जिस व्यक्तिसे बलात्कार अन्न छुडवादिया जाता है वह अन्तरंगमें आर्त और रौद्रध्यानसे संक्लिष्ट हो उठता है । फिर वह इन दुर्ध्यानोंसे पीडित होकर ज्ञानाभ्यास या संयमके आराधनमें रत नहीं रह सकता ।

साधुओंको उचित है कि यदि आयु बहुत अधिक बाकी हो तो उसके बहुतसे हिस्सेको विधिपूर्वक यथाशक्ति नित्यनैमित्तिक उपवास करके, किन्तु अन्तके शेप भागको अनशनद्वारा ही वितावे । इसी बातकी शिक्षा देते हैं.—

तन्नित्यनैमित्तिकभुक्तिमुक्तिविधीन्यथाशक्ति चरन्विलङ्घ्य ।
दीर्घं सुधीर्जीवितवर्त्म युक्तस्तच्छेपमत्येत्वशनोज्झयैव ॥ १८ ॥

आहारके प्रत्याख्यान करनेकी विधि दो प्रकारकी बताई है-एक नित्य, दूसरी नैमित्तिक । केशलोचा

आदिके समय भोजनके परित्यागको नित्य विधि और कनकावलि आदिमें वैसा करनेको नैमित्तिक विधि कहते हैं। जो विवेकी साधु हैं उन्हे उचित है कि वे अपनी शक्तिको न छिपाकर ऊपर लिखे अनुसार महान् फलकी साधक इन विधियोंका पालन करते हुए अपने जीवनके सुदीर्घ मार्गको तय करें किंतु उन्हे उसका शेष भाग चतुर्विध आहारका परित्याग करके भक्तप्रत्याख्यान इङ्गिनी प्रायोपगमन मरण आदिमेंसे किसीके द्वारा ही व्यतीत करना चाहिये।

अनशन तपमें विशिष्ट रुचि उत्पन्न कराते हैं:—

प्राञ्चः केचिदिहाप्युपोष्य शरदं कैवल्यलक्ष्म्याऽरुचन् ,
षण्मासानशनान्तवश्यविधिना तां चक्रुरुत्कां परे ।
इत्यालम्बितमध्यवृत्त्यनशनं सेव्यं सदार्यैस्तनुं,
तप्तां शुद्ध्यति येन हेम शिखिना मूषामिवात्माऽऽवसन् ॥ १९ ॥

जिस प्रकार मूषा—घरियामें पडा हुआ सुवर्ण विना अग्निके शुद्ध नहीं हो सकता। अग्निके द्वारा संतप्त होनेपर ही किट्ट कालिकादि दोषोंसे रहित हो सकता है। उसी प्रकार शरीरके भीतर पडा हुआ कर्ममलसे युक्त आत्मा विना तपके शुद्ध नहीं हो सकता। अनशनादि तपरूपी अग्निसे संतप्त होनेपर ही द्रव्यकर्म और भावकर्मसे रहित हो सकता है। इसी लिये तो विदेह क्षेत्रोंकी तो बात ही क्या, इस भरत क्षेत्रमें भी कर्मभूमिके प्रारंभमें बाहुबलि प्रभृति कितने ही पूर्व पुरुषोंने एक एक वर्षतक उपोषित रहकर कैवल्यलक्ष्मी—अनन्तज्ञानादि चतुष्टयके द्वारा अपनेको उद्योतित किया। और कितने ही भगवान् आदीश्वर प्रभृति महापुरुषोंने चतुर्थसे लेकर षाण्मासिक तककी अनशनविधिरूपी वशीकरण मंत्रके द्वारा उस लक्ष्मीको अपने ऊपर उत्कण्ठित बनाया। अत एव वर्तमानमें भी सम्पूर्ण मुमुक्षुओंको इस अनशन तपका सदा पालन करना चाहिये। किंतु न सर्वथा उत्कृष्ट और न सर्वथा जघन्य, किंतु मध्यम दर्जेकी चर्याका आश्रय लेकर 'सदा उसका सेवन करना चाहिये।

आहारकी अभिलाषा चार कारणोंसे हुआ करती है। अत एव उसका निग्रह उन कारणोंके विरुद्ध

भावना करनेसे हो सकता है। इसीलिये साधुओंको वैसा करनेका उपदेश देते हैं:—

भुक्त्यालोकोपयोगाभ्यां रिक्तकोष्ठतया सतः।
वेद्यस्योदीरणाच्चान्नसञ्ज्ञामभ्युद्यतीं जयेत् ॥ २० ॥

आहारसंज्ञा चार कारणोंसे उद्भूत हुवा करती है-भुक्त्युपयोग, रिक्तकोष्ठ, और असाता वेदनीय कर्मकी उदीरणा। जैसा कि कहा भी है कि:—

आहारदंसणेण य तस्सुवओगेण ओमकोठाए।
वेदस्सुदीरणाए आहारे जायदे सण्णा ॥

अर्थात् आहारकी तरफ दृष्टि डालनेसे, उसकी तरफ अपने मनका उपयोग लगानेसे, पेट खाली होनेपर और क्षुधा वेदनीयरूप असाता कर्मका उदय होनेपर आहारके विषयमें अभिलाषा उत्पन्न हुआ करती है। साधुओंको इसका निग्रह करना चाहिये।

भावार्थ, निग्रह करनेके उपायका उल्लेख नहीं किया है। क्योंकि वह आहारसंज्ञाके कारणोंका प्रदर्शन करनेसे स्वयं मालूम हो जाता है। यह नियम है कि जिन कारणोंसे जिस कार्यकी उत्पत्ति हुआ करती है उनके अभावमें अथवा उनके विरुद्ध कारण मिलनेपर वह कार्य नहीं हो सकता। इस सिद्धान्तके अनुसार यह बात भी स्वयं ही सिद्ध हो जाती है कि आहार दर्शनादिके विरुद्ध भावना करनेसे आहार संज्ञाका भी निग्रह हो सकता है। अतएव अनशन तपके अभिलाषी साधुओंको प्रतिपक्ष भावनाओंके द्वारा आहार संज्ञाका निग्रह करनेमें सदा प्रवृत्त रहना चाहिये।

अनशन तपकी भावना करनेमें साधुओंको प्रवृत्त करते हैं —

शुद्धस्वात्मरुचिस्तमीक्षितुमपाक्षिप्याक्षवर्गं भजन्,

निष्ठासौष्ठवमङ्गानिर्ममतया दुष्कर्मनिर्मूलनम् ।
श्रित्वाऽब्दानशनं श्रुतार्पितमनास्तिष्ठन् धृतिन्यकृत,—
द्वन्द्वः कर्हि लभेय दोर्बलितुलामित्यस्त्वनाश्वांस्तपन् ॥ २१ ॥

अत्यंत निर्मल निज चित्स्वरूपमें श्रद्धा और रुचिको धारण करके उस शुद्धात्मस्वरूपका साक्षात् अवलोकन करनेकेलिये जो साधु स्पर्शनादिक इंद्रियोंको अपने अपने विपयोंसे हटाकर चारित्रसौंदर्यका सेवन करते हुए शरीरसम्बन्धी ममत्वका परित्याग कर सम्पूर्ण अशुभ कर्मोंकी निर्जरा करनेमें कुशल सांवत्सरिक उपवासको स्वीकार करके श्रुतज्ञानके आराधन–अभ्यासमें ही अपने मनको लगाता हुआ आत्मस्वरूपके धारण करनेरूप धैर्य अथवा प्रसात्तिके द्वारा समस्त परीपहोंको परास्त करदेता है और इस तरहकी भावना रखता है कि " वह दिन कब प्राप्त होगा कि मै बाहुबलिकी समकक्षताको धारण कर सकूगा " वही अनशन तपका करनेवाला समझा जा सकता है ।

इस प्रकार अनशन तपका व्याख्यान करके क्रमप्राप्त अवमौदर्य तपका लक्षण और फल बताते हैं:—

ग्रासोऽश्रावि सहस्रतन्दुलमितो द्वात्रिंशदेतेऽशनं,
पुंसो वैश्रसिकं स्त्रियो विचतुरास्तद्धानिरौचित्यतः ।
ग्रासं यावदथैकसिक्थमवमौदर्यं तपस्तच्चरे—
द्धर्मावश्यकयोगधातुसमतानिद्राजयाद्याप्तये ॥ २२ ॥

स्वाभाविक भोजन पुरुपका बत्तीस ग्रास और स्त्रीका अट्ठाईस ग्रासका होता है तथा एक ग्रासका पमाण एक हजार चांवलकी बराबर हुआ करता है । ऐसा आम्नायके अनुसार शिष्ट पुरुषोंसे सुनते हैं । इस प्रमाणमें यथा योग्य कम करके उसके ग्रहण करनेको अवमौदर्य कहते है । यह कमी एकोत्तर श्रेणीके द्वारा–एक दो तीन चार आदि ग्रासके क्रमसे एक ग्रासतक हो सकती है । अथवा भोजन ग्रहण करनेकी विधि पहले इस प्रकार बता चुके

हैं कि पेटके चार भागोंमेंसे दो भागोंमें अन्न तथा एक भागमें जल भरना चाहिये और एक भाग वायुके लिये खाली छोडदेना चाहिये । इस प्रमाणमें कमी करके-चौथाई आदि भागका त्याग करके भोजन ग्रहण करनेको अवमौदर्य तप कहते है । इस तपके प्रसादसे उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्मकी और षडावश्यक कर्तव्योंकी तथा आतापनादि यद्वा समीचीन ध्यानादिरूप योगोंकी प्राप्ति अथवा सिद्धि हुआ करती है । वात पित्त कफरूप दोषोंकी विषमता नष्ट होकर समता उत्पन्न हुआ करती है । निद्रापर विजय प्राप्त होता और इन्द्रियां बलाढ्य होकर द्वेषी नहीं बन सकतीं । इसी तरह इस तपके और भी अनेक फल हैं जो कि मुमुक्षु साधुकेलिये आवश्यक हैं । अत एव तपस्वियोंको इस तपका पालन तथा अनुष्ठान अवश्य ही करते रहना चाहिये । जैसा कि कहा भी है कि:-

धर्मावश्यकयोगेषु ज्ञानादावुपकारकृत् ।
दर्पहारीन्द्रियाणां च ज्ञेयमूनोदरं तपः ॥
द्वात्रिंशाः कवलाः पुंस आहारस्तृप्तये भवेत् ।
अष्टाविंशतिरेवेष्टाः कवलाः किल योषितः ॥
तस्मादेकोत्तरश्रेण्या यावत्कवलमात्रकम् ।
ऊनोदरं तपो ह्येतत्तद्भेदोऽपीदमिष्यते ॥

अधिक भोजन करनेसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंको प्रकट करते हैः—

बह्वाशी चरति क्षमादिदशकं दृप्यन्ननावश्यका,—
न्यक्षूणान्यनुपालयत्यनुषजत्तन्द्रस्तमोऽभिद्रवन् ।
ध्यानाद्यर्हति नो समानयति नाप्यातापनादीन्वपुः,—
शर्मासक्तमनास्तदर्थमनिशं तत्स्यान्मिताशी वशी ॥ २३ ॥

अवमौदर्यका फल ऊपर बता चुके है । उसके विरुद्ध जो व्यक्ति अधिक—उचित प्रमाणका अतिक्रमण

करके-भोजन करता है वह प्रमाद और कषायके वशवर्ती होजानेसे उत्तमक्षमादि दशधर्मरूप आचरण नहीं कर सकता, न निर्दोष अथवा सम्पूर्ण आवश्यकोंका ही पालन कर सकता है, और न मोहसे अभिभूत हो जानेके कारण ध्यान स्वाध्याय आदिमें ही प्रवृत्त हो सकता है। इसी प्रकार वह आतापन वर्षायोग तथा बाह्य शयन आदि योगोंको भी भले प्रकार पूर्ण नहीं कर सकता। क्योंकि उसका मन शरीरके विषयमें निर्मम होनेके बदले प्रीतियुक्त होजाता है—वह शरीरसुखमें ही आसक्त होने लगता है। अत एव मुमुक्षुओंको धर्मादिकी प्राप्तिकेलिये जितेन्द्रिय होकर—रसनेन्द्रियकी लोलुपता छोडकर नित्य परिमित ही भोजन करना चाहिये।

परिमित भोजन करनेसे इन्द्रियां दर्पको धारण नहीं करती, किंतु अपने अधीन होजाती है, इसी बातको प्रकट करते है:—

नाक्षाणि प्रद्विषन्त्यन्नप्रतिक्षयभयान्न च।
दर्पात्स्वैरं चरन्त्याज्ञामेवानूद्यान्ति भृत्यवत् ॥ २४ ॥

परिमित आहार करनेवाले व्यक्तिकी इन्द्रियां मानो इस भयसे कि कहीं उपवासके द्वारा हमारा नाश ही न होजाय, विरुद्ध नहीं हुआ करतीं, और न मदके वेगमें आकर स्वच्छन्द विषयोंमें विहार ही किया करती है। किन्तु एक नौकरके समान आज्ञाके साथ ही निर्दिष्ट कार्य करनेकेलिये उद्यत होजाया करती है।

परिमित भोजन करनेसे और भी जो विशिष्ट गुण उत्पन्न हुआ करते हैं उनको बताते हैं:—

शमयत्युपवासोत्थवातपित्तप्रकोपजाः।
रुजो मिताशी रोचिष्णु ब्रह्मवर्चसमश्नुते ॥ २५ ॥

उपवासके द्वारा वात पित्तके कुपित होजानेसे जो व्याधियां उत्पन्न हुआ करती है वे सब परिमित भोजनके द्वारा शान्त हो जाया करती है। क्योंकि वात पित्त दोनो ही उन्मार्गगामी है। अत एव अनशनके निमित्तसे धातुओंमें वैषम्य उत्पन्न होता है और परिमित भोजनसे उनमें साम्य आता है। इसके सिवाय इस अवमौदर्यके

प्रतापसे साधु प्रकाशस्वभाव परमात्मतेजको अथवा श्रुतज्ञानको भी प्राप्त हुआ करता है।

इस प्रकार अवमौदर्य तपका वर्णन करके क्रमानुसार वृत्तिपरिसंख्यान तपका लक्षण और उसका फल बताते हैं:—

भिक्षागोचरचित्रदातृचरणामत्रान्नसद्मादिगात्,
संकल्पाच्छ्रमणस्य वृत्तिपरिसंख्यानं तपोङ्गस्थितिः।
नैराश्याय तदाचरेन्निजरसासृग्मांससंशोषण,—
द्वारेणेन्द्रियसंयमाय च परं निर्वेदमासेदिवान् ॥ २६ ॥

भिक्षाके विषयमें दाता, गमन, पात्र, अन्न और गृह आदिके सम्बन्धसे अनेक प्रकारके संकल्प किये जा सकते है। उनमेंसे कोई भी विशिष्ट अभिप्राय रखकर आहार ग्रहण करनेको वृत्तिपरिसंख्यान नामका तप कहते है। क्योंकि साधुओंकी शरीरकेलिये संकल्पपूर्वक होनेवाली वृत्तिका ही नाम वृत्तिपरिसंख्यान है। यह संकल्प दाता आदिके सम्बन्धसे नीचे लिखे अनुसार अनेक प्रकारका हो सकता है। यथा—

दाताके सम्बन्धसे—चातुर्वर्ण्यमेंसे जिनके यहांका भोजन ग्रहण कर सकते है उनके विषयमें ऐसा विचार करना कि आज यदि ब्राह्मण पडगावेगा तब तो भोजन करेंगे, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार क्षत्रियादिके विषयमें। अथवा ऐसा सकल्प करना कि आज यदि वृद्ध पुरुष प्रतिग्रह करेगा तब तो भोजनकेलिये ठहरेंगे, अन्यथा नहीं। इसी तरह बाल युवा आदिके विषयमें समझना चाहिये। यद्वा ऐसा विचार करके भोजनके लिये निकलना कि आज यदि जूता पहरकर सामने आता हुआ व्यक्ति भोजनके लिये कहेगा तो ठहरेंगे, अन्यथा नहीं। अथवा बीच मार्गमें खडा होकर पडगावेगा तो ठहरेंगे, अन्यथा नहीं। यद्वा ऐसा विचार करलेना कि हाथीपर चढा हुआ व्यक्ति प्रतिग्रह करेगा तभी भोजन करेंगे, अन्यथा नहीं। इस सम्बन्धमें पुरुषकी तरह स्त्रियोंके विषयमें भी परिस-

१ कुडी आदि भाजन—वर्तन।

ख्यान किया जासकता है। इस प्रकार दाताके सम्बन्धसे अनेक प्रकारके संकल्प हो सकते है।

गमनके सम्बन्धसे—जिस गलीमें होकर जाना पडता है उसमें घुसते ही यदि भोजनका निमित्त मिलेगा तब तो ग्रहण करूगा, अन्यथा नही। इसी प्रकार गलीमें प्राञ्जल, गोमूत्रिकाके आकार, अथवा चतुरस्राकार, यद्वा भीतरसे लेकर बाहर निकलने तक, या शलभमालाके भ्रमणकी तरह अथवा गोचर्याके आकारमें भ्रमण करते हुए आज भोजनके लिये मुझे कोई पडगावेगा तो ठहरूगा, अन्यथा नहीं। इत्यादि गमनके निमित्तसे भी अनेक तरहका संकल्प हुआ करता है।

पात्रके सम्बन्धसे—भी विविध प्रकारका संकल्प किया जाता है। यथा—आज मुझे सुवर्णपात्रमें यदि कोई आहार देगा तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार चांदी कांसा तांबा पीतल मट्टी आदिके बने हुए अथवा उसके किसी अवान्तर भेदके विषयमें भी संकल्प किया जा सकता है।

अन्नके विषयमें—आज मुझे पिण्डभूत आहार, अथवा द्रवरूप पेय पदार्थ, यद्वा लपसी, या मसूर च-ना जब आदि अन्न मिलेगा तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार शाक कुल्मापादिसे मिला हुआ भोजन मिलेगा तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नही। यद्वा चारो तरफ शाक और बीचमें भात रक्खा हुआ मिलेगा तो भोजन करूंगा अन्यथा नहीं। इसी तरह चारो तरफ व्यञ्जन और बीचमें या एक तरफ अन्न, या अनेक व्यञ्जनोंके बीचमें पुष्पावली की तरह रक्खा हुआ सिक्थक[1] अथवा निष्पावादिसे मिला अन्न, यद्वा केवल शाक या व्यञ्जनादिक, हाथ जिसमें लिप्त होजाय या न हो सके ऐसी चीज, झोलदार या वगैर झोलका पदार्थ या और किसी पानक प्रभृति पदार्थके निमित्तसे भी ऐसा सकल्प किया जा सकता है कि यदि ऐसा भोजन मिलेगा तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं।

गृहके विषयमें—अमुक अमुक मकानोंमें या इतने ही मकानोंमें भोजनके लिये प्रवेश करूंगा, अधिकमें नहीं। इत्यादि। आदि शब्दसे गली बाजार भिक्षा और दातृक्रिया आदिका संकल्प भी समझलेना चाहिये।

---

१ जिसमें पानीका भाग कम हो ऐसे रधे हुए दाल खीचडी आदि आहारको और सत्तूको भी सिक्थक कहते है।

जैसे कि अमुक गली या बाजारमें प्रवेश करनेके बाद यदि भिक्षाका लाभ होगा तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं, ऐसा संकल्प करना। अथवा इसी प्रकार एक दो आदि सख्याकी अपेक्षा गली कूचोंमें आहारके लिये प्रवेश करनेका संकल्प करना। तथा पाटक निवसनविषयक संकल्पका स्वरूप भी कई प्रकारसे है—कोई कोई कहते है कि पाटक निवसनसे केवल मुहल्लाकी ही भूमिके स्पर्श करनेका संकल्प किया जाता है, उसके भीतर बने हुए घरोंकी भूमिके स्पर्श करनेका सकल्प नहीं किया जाता। कोई कहते हैं कि घरकी परिकरभूमि—आसपासकी जमीनका स्पर्श करके आहार ग्रहण करनेके संकल्पको निवसनसंकल्प कहते है। और कोई कोई मुहल्लाकी तथा घरके आसपासकी ऐसे दोनों ही भूमियोंमें प्रवेश करके आहार ग्रहण करनेके सकल्पको पाटक निवसनके संकल्पमें लेते है।

इसी प्रकार भिक्षाके विषयमें भी सकल्प किया जाता है। जैसे कि एक ही भिक्षा ग्रहण करूंगा या दो ही ग्रहण करूंगा, अधिक नहीं; इत्यादि। अथवा भिक्षाको अनियत रखकर, इतने ही ग्रास लूंगा, अधिक नहीं, या इतनी ही वस्तुओंको लूंगा, अधिकको नहीं। यद्वा इतने कालतक ही भिक्षा लूंगा, अथवा इसी कालमें भिक्षा लूंगा, बादमें नहीं, ऐसा भी संकल्प किया जाता है। इसी तरह दातृक्रियाका भी संकल्प किया जाता है। जैसे कि एक ही दाता भोजन देगा तो ग्रहण करूंगा, अथवा दो या तीन मिलकर आहार देंगे तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं। इत्यादि। जैसा कि कहा भी है कि—

गत्वा पत्यागतमृजुविधिश्च गोमूत्रिका तथा पेटा।
शम्बूकावर्तविधिः पतङ्गवीथी च गोचर्या ॥
पाटकनिवसनभिक्षापरिमाण दातृदेयपपरिमाणम्।
पिण्डाशनपानाशनखिचयवागूर्व्रतयति स ॥
ससृष्टफलकपरिखा पुष्पोपहृत च शुद्धकोपहृतम्।
लेपकमलेपक पानक च नि सिक्थक ससिक्थ च ॥
पात्रस्य दायकादेरवग्रहो बहुविध. स्वसामर्थ्यात्।
इत्येवमनेकविधा विज्ञया वृत्तिपरिसख्या ॥

भावार्थ—जो मुमुक्षु संसार शरीर और भोगोंसे वैराग्यको प्राप्त होचुका है उसको चाहिये कि नैराश्य और इन्द्रियसंयमको सिद्ध करनेके लिये इस उत्कृष्ट वृत्तिपरिसंख्यान तपका पालन करे। यह तप अपने शरीरके रस रक्त मांसके शोषण करनेसे ही होसकता है। अत एव शक्तिके अनुसार अनेक प्रकारके जो वृत्तिपरिसंख्यानके भेद गिनाये है उनका पालन करके विषयोंकी आशा और इन्द्रियोंके उद्रेकका निरोध सिद्ध करना चाहिये।

रसपरित्याग तपका लक्षण बताते हैः—

त्यागः क्षीरदधीक्षुतैलहविषां षण्णां रसानां च यः,
कात्स्न्येंनावयवेन वा यदसनं सूपस्य शाकस्य च।
आचाम्लं विकटौदनं यददनं शुद्धौदनं सिक्थव,—
द्रूक्षं शीतलमप्यसौ रसपरित्यागस्तपोऽनेकधा ॥ २७ ॥

दूध दही ईक्षु तैल और हविप्—घृत, अथवा मधुर आम्ल लवण कटु कषाय और तिक्त इन रसोंके सर्वात्मना अथवा एकदेश रूपसे छोडनेको, यद्वा दाल आदि व्यंजन और शाक-हरितकाय वनस्पति आदिमेंसे किसी भी एक दोके अथवा सबके छोडदेनेको रसपरित्याग कहते है। केवल मांड ग्रहण करना, अथवा विकट-अतिपक्व यद्वा उष्ण जल मिला हुआ भोजन करना, केवल भात ही लेना, अथवा जिसमे द्रवरहित सूखा ग्रास तोडकर लिया जाता हो ऐसे रोटी आदिका ही भोजन करना, यद्वा स्नेहहीन रूक्ष पदार्थ ही ग्रहण करना. अथवा ठंडा—कुछ देर रक्खा हुआ भोजन लेना, ये सब रसपरित्यागके ही स्वरूप है। अत एव यह तप अनेक प्रकारका हो सकता है।

भावार्थ—रसपरित्याग शब्दका अर्थ स्पष्ट है। अत एव इसके विशेप लक्षण करनेकी आवश्यकता नहीं

१ असन—त्याग। २—इक्षु शब्दसे मतलब गुड खाड शक्कर राव आदिका है।

है। किंतु इतना बतादेना आवश्यक है कि रस अनेक तरहका हो सकता है और वह अनेक तरहसे छोडा जासकता है। अत एव यह तप भी अनेक प्रकारका हो सकता है। इसीलिये यहांपर उसके कई प्रकार बतादिये गये हैं। और बाकीके भेदोंका भी सग्रह करलेनेकेलिये अपिशब्दका उल्लेख करादिया है। अत एव इस तपके पालन करनेमें प्रवृत्त हुए साधुओंको श्रेष्ठ और इष्टरूप रस गन्धादिसे युक्त तथा रूप बल वीर्य गृद्धि एव दर्पके बढानेवाले, यद्वा जिनके बनाने आदिकेलिये महान् आरम्भमें प्रवृत्ति करनी पडे, ऐसे परमान्नपान फलभक्षण औपधादिक सभी आहारोंका परित्याग कर देना चाहिये।

जो ससारसे भीरु है, सर्वज्ञकी आज्ञामें दृढ भक्ति रखता है, तथा तप और समाधिका अभिलापी है, किन्तु सल्लेखना प्रारम्भ करनेके पूर्व ही जिसने नवनीतादिक चारो महाविकृतियोंका जीवनभरकेलिये परित्याग कर दिया है, ऐसा शरीरसल्लेखनाकी इच्छा रखनेवाला व्यक्ति ही रसपरित्यागका विशेषरूपसे अभ्यास कर सकता है। इस बातको दो पद्योंमें बताते है ।:—

काङ्क्षाकृन्नवनीतमक्षमदसृण्मांसं प्रमङ्गप्रदं,
मद्यं क्षौद्रमसंयमार्थमुदितं यच्चच्च चत्वार्यपि ।
संमूर्च्छालसवर्णजन्तुनिचितान्युच्चैर्मनोविक्रिया,—
हेतुत्वादपि यन्महाविकृतयस्त्याज्यान्यतो धार्मिकैः ॥ २८ ॥

इत्याज्ञां दृढमार्हतीं दधदघाद्भीतोऽत्यजत् तानि य,—
श्चत्वार्येव तपःसमाधिरसिकः प्रागेव जीवावधि ।
अभ्यस्येत्स विशेषतो रसपरित्यागं वपुः संलिखन्,
स्याद् दूषीविषवद्धि तन्वपि विकृत्यङ्गं न शान्त्यै श्रितम् ॥ २९ ॥

जो साधु भगवान अर्हन्त देवकी आज्ञाको दृढताके साथ धारण करता है। अर्थात् " अवतक जो मै संसारमे पडा हूं वह सर्वज्ञदेवकी आज्ञाका उल्लघन करनेसे ही, और भविष्यत्में भी यदि उसका उल्लंघन करूगा तो इस दुरत ससारमे ही पड़ूंगा, अत एव संसारसे छूटनेकी इच्छा रखनेवाला मै अब कभी भी इस आज्ञाका उल्लंघन न करूंगा। " इस तरहकी दृढता रख कर जो मुमुक्षु जिनेंद्रदेवकी, चारो महा विकृतियोंके सर्वथा परित्याग करनेकी, आज्ञाको धारण करता है और इसीलिये जो तपमें एकाग्रता धारण करनेका प्रेमी है, अथवा तप और समाधि दोनों ही की आकाङ्क्षा रखता है, तथा पापरूप अथवा पापके कारणभूत संसारसे त्रस्त हो चुका है, उसे शरीरसल्लेखना का प्रारम्भ करनेके पूर्व ही चारो महाविकृतियोंका जीवनपर्यन्तके लिये परित्याग कर देना चाहिये।

नवनीत मांस मद्य और मधु इन चार पदार्थोंको आगममें महाविकृति कहा है। क्योंकि ये हृदयमें महान् विकार उत्पन्न करनेवाले हैं। इसके सिवाय इनमें, जिस वर्णके ये पदार्थ होते है, सर्वथा उसी वर्णके, अनन्तानन्त सम्मूर्छन जीव उत्पन्न हुआ करते हैं। नवनीतमें नवनीतके आकार और मांसमें मांसके आकारके अनन्तानन्त निगोदिया जीव हर अवस्थामें उत्पन्न हुआ करते और रहा करते है। इसी प्रकार मद्यादिकको भी हर समय ऐसे त्रसजीवोंसे व्याप्त ही समझना चाहिये। अत एव इन चारों ही पदार्थोंके सेवनमें द्रव्यहिंसा अवश्यम्भाविनी है। और इतना ही नही किन्तु प्रत्येकमें विशिष्ट दोप भी पाये जाते हैं। यथा—

नवनीत-यह गृद्धिको उत्पन्न किया करता है। मांस—इन्द्रियोंमें दर्प उत्पन्न करनेवाला है। मद्य—इसके एकवार सेवन करते ही पुनः पुनः सेवन करनेकी अभिलापा हुआ करती है, अथवा अगम्या—वेश्या या परस्त्री आदिके साथ रमण करनेमें विशेप रूपसे प्रवृत्ति होने लगती है। मधु—इसके निमित्तसे असयम उत्पन्न हुआ करता है। क्योंकि मधुके भक्षण करनेसे रसमें विशेप अनुराग हुआ करता है, इसलिये इन्द्रियासंयम, और उसमें उत्पन्न होनेवाले या रहनेवाले जीवोंका घात होता है इसलिये प्राणीसंयम भी हुआ करता है। इस प्रकार इन चारो ही महाविकृतियोंमें समस्त रूपसे या व्यस्तरूपसे महान् दोप पाये जाते है। अत एव अहिंसा धर्मका पालन करनेवाले भव्योंको इनका सर्वथा परिहार करना ही उचित है।

ऐसा समझकर और ऊपर लिखे अनुमार जो साधु चारो ही महाविकृतियोंका परित्याग करदेता है वही शरीरको कृश करते हुए इस परित्याग तपका विशेष रूपसे अभ्यास कर सकता है। इसलिये जो मुमुक्षु हैं उन्हें इनका त्याग करके इस तपमें विशेष अभ्यास करना ही चाहिये। क्योंकि इसका थोडासा भी पालन कल्याणके लिये ही होगा। वह दूषित विषकी तरह रंचमात्र भी विकार पैदा नहीं कर सकता।

क्रमप्राप्त विविक्तशय्यासन तपका लक्षण और फल बताते हैं:—

विजन्तुविहिताबलाद्यविषये मनोविक्रिया,—
निमित्तरहिते रतिं ददाति शून्यसद्मादिके ।
स्मृतं शयनमासनाद्यथ विविक्तशय्यासनं ,
तपोऽर्तिहतिवर्णिताश्रुतसमाधिसंसिद्धये ॥ ३० ॥

पहले पिण्डशुद्धिके प्रकरणमें जो उद्गमादिक दोष बताये हैं उनसे रहित, और जहांपर स्त्री पशु नपुंसक गृहस्थ तथा क्षुद्र जीवोंका संचार नहीं पाया जाता, जो-मनमें विकार उत्पन्न करनेवाले-जिनसे अनेक प्रकारका संकल्प विकल्प उत्पन्न हो सकता है-ऐसे शब्द-कोलाहलादिकसे रहित है, जहांपर मनकी विषयान्तरमें गमन करनेकी उत्सुकता निवृत्त हो जाया करती है, और जहांपर किसीका भी आहार विहार या संमर्ग नहीं पाया जाता ऐसे एकान्त स्थानमें अनेक प्रकारकी पीडाओंका परिहार करनेकेलिये अथवा ब्रह्मचर्यका पालन और शास्त्रोंका विचार तथा उत्तम ध्यानको भले प्रकार सिद्ध करनेके लिये शयन और आसन-उठने बैठने या खडे होने आदिको आचार्य विविक्त शय्यासन नामका तप कहते हैं।

इस तपका पालन करनेवाला साधु असाधु लोकोंके संसर्ग ममापण आदिसे होनेवाले दोषों या संक्लेशादि भावोंसे युक्त नहीं हो सकता। अत एव विविक्तशय्यासनके इस महान् फलको प्रकट करते हैं:-

असभ्यजनसंवासदर्शनोत्थैर्न मथ्यते ।
मोहानुरागविद्वेषैर्विविक्तवसतिं श्रितः ॥ ३१ ॥

जो साधु एकान्त स्थानमें निवास करता है वह असभ्य लोगोंके सहवास अवलोकन संभाषण आदिके द्वारा उत्पन्न होनेवाले मोह—अज्ञान अथवा ममत्व यद्वा अनुराग विद्वेष प्रभृति दोषोंसे दूषित अथवा त्रस्त नहीं हो सकता। जैसा कि कहा भी है कि:—

कलहो रोल झञ्झा व्यामोह सकरो ममत्व च ।
ध्यानाध्ययनविघातो नास्ति विविक्ते मुनेर्वसत ॥

असाधु लोगोंके पासमें रहनेसे किसी भी प्रकारका झगडा टंटा, या कोलाहल नहीं हो सकता। न किसी प्रकारका परिणामोंमें संक्लेश ही हो सकता है। असयमी पुरुषोंके साथ मिश्रण होते रहनेसे संयमके पालनमें हानि पहुंचती है। और ध्यान तथा स्वाध्यायमें बाधा उपस्थित होती है।

बाह्य तपके छट्ठे भेद कायक्लेशका लक्षण बताकर उसका पालन करनेके लिये साधुओंको प्रेरित करते हैं—

ऊर्ध्वार्काद्ययनैः शवादिशयनैर्वीरासनाद्यासनैः,
स्थानैरेकपदाग्रगामिभिरनिष्ठीवाग्रिमावग्रहैः ।
योगैश्चातपनादिभिः प्रशमिना संतापनं यत्तनोः,
कायक्लेशमिदं तपोऽर्त्युपनतौ सद्ध्यानसिद्ध्यै भजेत ॥ ३२ ॥

पीडा या दुःखोंके आकर उपस्थित होनेपर भी प्रशस्त ध्यानसे विचलित न होकर उलटा उनको भले प्रकार सिद्ध करनेके लिये जिन क्रियाओंके करनेसे शरीरको क्लेश पहुंच सकता है उन क्रियाओंके करनेको काय

क्लेश कहते हैं। यह तप भी मुमुक्षुओंके लिये आवश्यक है। अत एव प्रशान्त तपस्वियोंको इसका नित्य ही सेवन करना चाहिये।

यह शरीरके कदर्थनरूप तप अयन शयन आदि अनेक उपायोंके द्वारा सिद्ध हुआ करता है। प्रकृतमें यह उपाय छह प्रकार बताया है। यथा अयन, शयन, आसन, स्थान, अवग्रह, और योग। इनमें भी अयनके अनुसूर्यादिक, शयनके शवशय्यादिक, आसनके नीरासनादिक स्थानके एकपदादिक, अवग्रहके अनिष्ठीवनादिक, और योगके आतपनादिक अनेक उत्तर भेद होते हैं। जैसा कि कहा भी है कि—

ठाणसयणासणेहिं विविहेहिमवग्गहेहिं बहुगेहिं।
अणुवीचीपरिताओ कायकिलेसो हवदि एसो॥

उत्तर भेदोंके नाम इस प्रकार हैं —

अनुसूर्यं प्रतिसूर्यं तिर्यक्सूर्यं तथोर्ध्वसूर्यं च।
तद्भ्रमकेणापि गत प्रत्यागमन पुनर्गत्वा॥
साधार सविचार ससन्निरोध तथा विसृष्टाङ्गम)
समणदमेकपाद गृद्ध्रस्थित्या यते' स्थानम्॥
समपर्यङ्कनिपद्योऽसमयुतगोदोहिकास्तयोत्कुटिका।
मकरमुखहस्तिहस्तौ गोशय्या चार्धपर्यङ्क॥
वीरासनदण्डाद्या यतोर्ध्वशय्या च लगडशय्या च।
उत्तानमवाक्शयन शवशय्या चैकपार्श्वशय्या च॥
अभ्रावकाशशय्या निष्ठीवनवर्जन न कण्डूया।
तृणफलकशिलेलास्वावसेवन केशलोच च॥
स्वापवियोगो रात्रावस्नानमदन्तघर्षण चैव।
कायक्लेशतपोद शीतोष्णातापनाप्रभृति॥

अयन—इसके अनुसूर्य आदि अनेक भेद हैं। सूर्यके सन्मुख गमन करनेको अनुसूर्य, सूर्यको पीठकी तरफ करके गमन करनेको प्रतिसूर्य, और वाम भागमें अथवा दक्षिण भागमें सूर्यको करके गमन करनेको तिर्यक्-सूर्य, तथा शिरके ऊपर सूर्यको करके गमन करनेको ऊर्ध्वसूर्य कहते हैं। इसी प्रकार सूर्य जिधर जिधरको घूमता जाय उधर उधर ही घूमते जानेको सूर्यभ्रमगति और किसी ग्रामादिक या तीर्थादिक स्थानको जाकर वहांसे पुनः लौटनेको गमनागमन कहते हैं। इसी तरह अयनके अनेक भेद होते हैं।

स्थान—इसके भी साधारादिक अनेक भेद हैं। कायोत्सर्ग धारण करनेको स्थान कहते हैं। जिसमें स्तम्भादिकका आश्रय लेना पडे उसको साधार, जिसमें संक्रमण पाया जाय उसको सविचार, जो निश्चलरूपसे धारण किया जाय उसको ससन्निरोध, जिसमें सम्पूर्ण शरीर छोडदिया जाय—ढीला डाल दिया जाय उसको विसृष्टाङ्ग, जिसमें दोनः पैर समान रक्खे जांय उसको समपाद, एक पैरसे खडे होनेको एकपाद, और जिस तरह गृद्ध पक्षी उडते समय अपने दोनो पंख ऊपरको करलेता है उसी प्रकार दोनों भुजाओंको ऊपर करके जो कायोत्सर्ग धारण किया जाता है उसको प्रसारितबाहु कायोत्सर्ग कहते हैं। इस तरह स्थानके भी अनेक भेद हैं।

आसन—जिसमें पिंडलियां और स्फिक् बराबर मिलजांय इस तरहसे बैठनेको समपर्यङ्कासन कहते हैं। इससे उल्टा असमपर्यङ्कासन हुआ करता है। जिस तरह गौके दुहनेके समय बैठते हैं उसी तरहसे ग्वाला-दिके लिये बैठनेको गोदोहासन कहते हैं। ऊपरको संकुटित होकर बैठनेका नाम उत्कुटिकासन है। मकरके मुखकी तरह दोनो पैरोंको बनाकर बैठनेका नाम मकरमुखासन है। हाथीकी सूंडकी तरह एक पैरको अथवा एक हाथको फैलाकर बैठनेका नाम हस्तिहस्तासन है। जिस तरह गौ बैठती है उस तरहसे बैठनेको गोशय्यासन कहते हैं। अर्धपर्यङ्कासन शब्दका अर्थ स्पष्ट ही है। दोनो जंघाओंको दूरवर्ती रखकर बैठनेका नाम वीरासन है। जिसमें शरीर दण्डके समान आयत बनजाय इस तरहसे बैठनेको दण्डासन कहते हैं। इस प्रकार आसनके अनेक भेद हैं।

शयन—शरीरको संकुचित करके सोनेको लगडशय्या कहते हैं। ऊपरको मुख करके सोनेका नाम उत्तानशय्या, और नीचेको मुख करके सोनेका नाम अवाक्शय्या है। शवकी तरह पडकर सोनेको शवशय्या कहते

हैं। वाम या दाक्षिण किसी भी एक भागसे सोनेको एकपार्श्वशय्या कहते हैं। बाहिर निरावरण स्थानमें सोनेको अभ्रावकाशशय्या कहते हैं। इस प्रकार शयनके भी अनेक भेद होते हैं।

अवग्रह—अनेक प्रकारकी बाधाओंके जीतनेको अवग्रह कहते हैं। यह भी अनेक प्रकारका हो सकता है। यथा—थूकने या खकारनेकी बाधाको जीतना, छींक या जंभाईको रोकना, खुजली मालुम पडनेपर भी खुजाना नहीं, तृण कांटा या किसी तरहकी लकडी आदिके लगजानेपर खिन्न न होना, फोडा फुसी या फफोला आदिके होजानेपर भी दुःखी न होना, कंकड पत्थरोंके लगजानेपर या वैसी निम्नोन्नतादिक भूमिके स्पर्शसे भी खेद न मानना, यथासमय केशोंका उत्पाटन करना और उसकी पीडाकी तरफ लक्ष्य न देना, रात्रिमें भी नहीं सोना, कभी स्नान न करना, और न कभी दांतोंको मांजना। इत्यादि अवग्रहके अनेक भेद है। क्योंकि जिन क्रियाओं और अभिप्रायोंसे धर्मकृत्योंके साधन करनेमें सहायता मिल सकती है उन सभीको अवग्रह कह सकते है।

योग—इसके भी आतपनादिक अनेक भेद हैं। ग्रीष्म ऋतुमें पर्वतके शिखरपर सूर्यके सम्मुख खडे होना आतपन कहलाता है। इसी प्रकार वर्षा ऋतुमें वृक्षके नीचे और शीतकालमें चौरायेपर ध्यानादिके लिये बैठना; इत्यादि अनेक प्रकारसे योग हुआ करता है।

भावार्थ—यह बात पहले भी कही जा चुकी है कि दुःखोंको सहन करनेका अभ्यास न रहनेसे कदाचित् दुःखोंके उपस्थित होते ही ज्ञान ध्यान आदि सब कुछ छूट जाता है अत एव साधुओंको अपनी शक्तिके अनुसार दुःखोंके सहन करते रहनेका अभ्यास करना चाहिये। इसीलिये यहांपर अनेक उपायोंसे कायक्लेश करनेका उपदेश दिया है जिससे कि स्वाध्याय और ध्यानादिकके साधनमें तथा दूसरे भी सम्पूर्ण अवश्यपालनीय कर्तव्योंमें आपत्तियोंके आजानेपर बाधा न पड जाय।

इस प्रकार बाहिरङ्ग तपके छह भेदोंका वर्णन समाप्त हुआ। अब अन्तरङ्ग तपका व्याख्यान करते है। इस तपके प्रायश्चित्तादिक छह भेदोंका नाम पहले लिखा जा चुका है। यहांपर सबसे पहले यह बताते हैं कि तपके इन छह भेदोंको अन्तरङ्ग कहनेका कारण क्या है ? :—

बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वात् स्वसंवेद्यत्वतः परैः ।
अनध्यासाच्चपः प्रायश्चित्ताद्यभ्यन्तरं भवेत् ॥ ३३ ॥

प्रायश्चित्त प्रभृति तपोंमें बाह्य द्रव्यकी अपेक्षा नहीं है, उसमें मुख्यतया अन्तःकरणके परिणामोंका ही सम्बन्ध रहता है। इसके सिवाय इनका स्वयं ही संवेदन होता है, प्रायः करके इनका स्वरूप बाह्येन्द्रियोंके द्वारा देखनेमें नहीं आसकता। तथा जिस प्रकार अनशनादिकोंको अनार्हत लोग धारण किया करते हैं उस प्रकार वे प्रायश्चित्तादिको धारण नहीं करते। अत एव प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्त्य स्वाध्याय व्युत्सर्ग और ध्यान इन छह तपोंको अन्तरंग माना है।

प्रायश्चित्तका लक्षण और उसके अवान्तर भेदोंकी संख्या बताते हैं:—

यत्कृत्याकरणे वर्ज्याऽवर्जने च रजोर्जितम् ।
सोतिचारोत्र तच्छुद्धिः प्रायश्चित्तं दशात्म तत् ॥ ३४ ॥

जिनका अवश्य ही पालन करना चाहिये ऐसे षडावश्यक प्रभृति कृत्योंका पालन न करनेसे और जो वर्ज्य है—जिनका कभी भी पालन न करना चाहिये ऐसे हिंसादिक कर्मोंका त्याग न करनेसे अथवा उनका अनुष्ठान करनेसे जो पापका संचय होता है उसको अतिचार कहते हैं। इस अतिचार या पापकी शुद्धिका ही नाम प्रायश्चित्त है। इसके आलोचनादिक दश भेद हैं; जैसा कि आगे चलकर वर्णन करेंगे।

दो श्लोकोंमें प्रायश्चित्तके पालन करनेका प्रयोजन प्रकट करते हैं:-

प्रमाददोषविच्छेदममर्यादाविवर्जनम् ।
भावप्रसादं निःशल्यमनवस्थाव्यपोहनम् ॥ ३५ ॥

चतुर्द्धाराधनं दार्ढ्यं संयमस्यैवमादिकम् ।
सिसाधयिषताऽऽचर्यं प्रायश्चित्तं विपश्चिता ॥ ३६ ॥

जो साधु चारित्रके पालन करनेमें असावधानताके कारण लगे हुए दोषों–अतीचारोंका परिहार करना चाहता है, और मर्यादाके उल्लंघनको छोडना चाहता है— चाहता है कि मुझसे प्रतिज्ञात व्रतोंका उल्लंघन किसी भी प्रकार न हो जैसा कि कहा भी है कि:—

महातपस्तडागस्य संभृतस्य गुणाम्भसा ।
मर्यादापालिबन्धेऽल्पामप्युपेक्षिष्ट मा क्षतिम् ॥

यह महान् तप एक प्रकारका बडा भारी तलाव है जो कि गुणरूपी जलसे भरा हुआ है । मर्यादा–इसके किनारे—पार हैं । चाहें ये किनारे छोटेसे ही क्यों न हों, फिर भी उनको तोडनेका प्रयत्न न करना चाहिये ।

इसके सिवाय जो साधु परिणामोंसे कश्मलताको दूर कर अन्तरङ्ग भावोंमें प्रसत्ति उद्भूत करना चाहता है, तथा माया मिथ्या और निदान इन तीन शल्योंको—अन्तरंगके स्खलनरूप अतीचारोंको हटाना चाहता है, एवं अनवस्था—अपराधके भी ऊपर अपराध करते जानेका निराकरण करना चाहता है, सम्यग्दर्शनादिक चारों आराधनाओंको उद्योतित करना चाहता है, संयमके साधनमें दृढता उत्पन्न करना चाहता है, और इसी तरहके और भी अनेक सुप्रयोजनोंको सिद्ध करना चाहता है उस विवेकी साधुको प्रायश्चित्त तपका अनुष्ठान अवश्य ही करना चाहिये ।

प्रायश्चित्त शब्दका निरुक्तिसिद्ध अर्थ बताते हैं —

प्रायो लोकस्तस्य चित्तं मनस्तच्छुद्धिकृत्क्रिया ।
प्राये तपसि वा चित्तं निश्चयस्तन्निरुच्यते ॥ ३७ ॥

प्रायः शब्दका अर्थ लोक और चित्त शब्दका अर्थ मन होता है। अत एव उस क्रिया या अनुष्ठानको प्रायश्चित्त कहते है जिसके कि करनेसे अपने साधर्मी और सङ्घमें रहनेवाले लोगोंका मन अपनी तरफसे शुद्ध हो जाय। किसीसे अपराध बनजानेपर सहवर्तियोंके मनमें जो ग्लानि उत्पन्न हो जाती है वह जिस कर्मके करनेसे दूर हो जाय उसीको प्रायश्चित्त कहते हैं।

अथवा प्रायः शब्दका अर्थ तप और चित्त शब्दका अर्थ निश्चय होता है। अत एव अनशन अवमौदर्य आदि तपोंके विषयमें उनकी अनुष्ठेयताके श्रद्धान करनेको भी प्रायश्चित्त कहते हैं।

साधुओंका चित्त जिस कर्ममें लीन हो या रहना चाहिये उस कर्मको अथवा अपराधके संशोधनको भी प्रायश्चित्त कहते हैं।

इस प्रायश्चित्त नामक तपके दश भेद माने हैं। यथाः—आलोचन प्रतिक्रमण तदुभय [आलोचनप्रतिक्रमण] विवेक व्युत्सर्ग तप छेद मूलपरिहार और श्रद्धान। इनमेंसे क्रमके अनुसार पहले भेद आलोचनका स्वरूप और उसके भेद दिखाते हैः—

सालोचनाद्यस्तद्भेदः प्रश्रयाद्धर्मसूरये।
यद्दशाकम्पिताद्यूनं स्वप्रमादनिवेदनम् ॥ ३८ ॥

धर्माचार्यके सम्मुख विनय और भक्तिसे नम्र होकर अपने प्रमाद और तज्जनित दोषोंको छोडकर निवेदन करदेनेका नाम आलोचन प्रायश्चित्त है। जैसा कि कहा भी है किः—

मस्तकविन्यस्तकरः कृतिकर्म विधाय शुद्धचेतस्कः।
आलोचयति सुविहितः सर्वान् दोषास्त्यजन् रहसि ॥

आलोचन प्रायश्चित्तके विषयमें एक बात विशेष समझनेकी है। वह यह कि पुरुष यदि अपने दोषोंका आलोचन करे तो एकान्तमें भी कर सकता है, किंतु स्त्रियोंको ऐसा न करना चाहिये। उन्हे दो या तीनके आश्रयसे तथा प्रकाशमें ही आलोचन करना उचित है।

आलोचनके सम्बन्धमें देशकालके विधानका निर्णय करते हैं:—

प्राह्णेऽपराह्णे सद्देशे बालवत् साधुनाखिलम् ।
स्वागस्त्रिरार्जवाद्वाच्यं सूरेः शोध्यं च तेन तत् ॥ ३९ ॥

प्रमादसे अपराध करनेवाले साधुको अपना सम्पूर्ण पाप धर्माचार्यके सम्मुख माया या कपटको छोडकर बालककी तरह ज्योंका त्यों कहदेना चाहिये । तथा याद कर करके तीन वार कहना चाहिये । जैसा कि कहा भी है कि—

इयमुजुभावमुवगदो सवेदो सेसरि तु तिक्खंतो ।
लेस्साहि विसुज्झतो उवेदि सल्लं समुद्धरिदु ॥
जह बालो जप्पंतो कज्जमकज्जं च उज्जुग भणदि ।
तह आलोचेदव्व मायामोस च मोत्तूण ॥

इस प्रकार जब साधु अपने दोषोंका निवेदन करचुके तब धर्माचार्यको प्रातःकालके समय अथवा सायंकालके समय प्रशस्त स्थानमें और उत्तम लग्नमे सुनिरूपित प्रायश्चित्त देकर उस साधुके अपराधका निराकरण करदेना चाहिये ।

अर्हद्गृह सिद्धक्षेत्र समुद्र कमलसरोवर क्षीरफलोंसे व्याप्त स्थान और तोरण उद्यान आदि स्थान आलोचन करने और प्रायश्चित्त देनेके लिये उत्तम और प्रशस्त मानगये हैं । आचार्यगण ऐसे स्थानोंपर ही साधुको शुद्ध करनेकेलिये आलोचना कराना चाहते हैं ।

स्थानकी तरह लग्नके विषयमें भी शुभ चन्द्रमा तिथि नक्षत्र घडी आदि देखलेना उचित है । जैसा कि कहा भी है कि:—

आलोचणादिआ पुण होदि पसत्थेवि सुद्धभावं सा ।
पुव्वह्णे अवरह्णे सोम्मतिहीरिक्खवेलाए ॥

जिस रत्नत्रयमार्गका साधु आराधन करता है उसका यदि एकदेशरूपसे विराधन होजाय तब तो आकम्पितादिक दश दोषोंसे रहित पदविभागकी नामकी आलोचना करनी चाहिये। और यदि दोष बडा हो या स्मरणमें न आसके अथवा व्रतभंग हो जाय तो औघी नामक आलोचना करना उचित है। इसी बातका दश दोषोंके नाम और लक्षण बताते हुए पांच पद्योंमें वर्णन करते हैं:—

आकम्पितं गुरुच्छेदभयादावर्जनं गुरोः।
तपःशूरस्तवात्तत्र स्वाऽशक्त्याख्यानुमापितम् ॥ ४० ॥
यद् दृष्टं दूषणस्यान्यदृष्टस्यैव पृथा गुरोः।
बादरं बादरस्यैव सूक्ष्मं सूक्ष्मस्य केवलम् ॥ ४१ ॥
छन्नं कीदृक्चिकित्से दृग्दोषे पृष्ट्वेति तद्विधिः।
शब्दाकुलं गुरोः स्वागः शब्दनं शब्दसंकुले ॥ ४२ ॥
दोषो बहुजनं सूरिदत्तान्यक्षुण्णतत्कृतिः।
बालाच्छेदग्रहोऽव्यक्तं समात्तत्सेवितं त्वसौ ॥ ४३ ॥
दशेत्युज्झन् मलान्मूलाप्रासः पदविभागिकाम्।
प्रकृत्यालोचना मूलप्राप्तश्चौघीं तपश्चरेत ॥ ४४ ॥ (पञ्चकम्)

जिस रत्नत्रयमार्गका साधु आराधन करता है उसका प्रमादवश एक देशरूपसे विराधन होजानेपर मुमुक्षुको दश दोष छोडकर पदविभागिका नामक आलोचन करके प्रायश्चित्त तपका अनुष्ठान करना चाहिये विशेष आलोचनाको पदविभागिका कहते है। जिस समय दीक्षा ग्रहण की हो उसी समयसे जो जब जहां

और जिस तरहसे अपराध बनगया हो उसको उसी समय ओर उसी जगह तथा उसी तरह प्रकाशित करनेको विशेष आलोचन कहते है ।

जिमने अपने व्रतादिकको सर्वात्मना भंग करदिया है उसको दश दोप रहित औघी आलोचना करना चाहिये । सामान्य आलोचनको औघी कहते हैं ।

आलोचन करते समय जिन दश दोषोंको छोडना चाहिये उनका लक्षण इस प्रकार है--

१-आचार्य महान् प्रायश्चित्त न देदें इस भय और शकासे उपकरण आदि देकर अथवा किसी अन्य उपायसे उनको थोडा प्रायश्चित्त देनेके लिये अपने अनुकूल करनेका नाम आकम्पित दोप है ।

२--प्रार्थना करनेपर गुरु थोडासा ही प्रायश्चित्त देकर मुझपर अवश्य ही अनुग्रह करेंगे इस बातको अनुमानसे जाननेके बाद " उन वीरपुरुषोंको धन्य हे जो कि उत्कृष्ट तप किया करते हैं या कर सकते है " इस तरहसे तपःशूर पुरुषोंकी स्तुति करके तपके विषयमें अपनी अशक्ति जाहिर कर अपने अपराधके प्रकाशित करनेको अनुमापित दोप कहते हैं ।

३-यदि अपने अपराधको किसीने देखलिया तब तो गुरुके समक्ष कह दिया, अन्यथा नहीं । इस तरह दूसरेके द्वारा देखे हुए ही दोपके प्रकाशित करनेको दृष्ट दोप कहते हैं ।

४-गुरुके सामने छोटे छोटे अपराधोंको तो छिपा लेना और केवल बडे बडे ही अपराधोंको जाहिर करना इसको बादर दोप कहते हैं ।

५-स्थूल दोषोंको छिपाकर केवल सूक्ष्म दोषोंको ही गुरुके सम्मुख निरूपण करना इसको सूक्ष्म दोप कहते है ।

६-अपने दोपके उद्देशसे गुरुसे यह पूछना कि ऐसा अपराध बन जानेपर, क्या प्रायश्चित्त होना चाहिये ? किन्तु अपने दोपको जाहिर न करना । और उत्तरमें गुरुसे प्रायश्चित्त मालुम होजानेपर उसका चुपकेसे अनुष्ठान करलेना इसको छन्न दोप कहते है ।

७-पक्षादिक अतीचारोंकी शुद्धिके समय जहांपर बहुतसे लोगोंका शब्द हो रहा हो वहांपर उस कोलाहलमें ही गुरुके सामने अपने दोष कथन करनेको शब्दाकुल दोष कहते हैं।

८—अपने गुरुके दिये हुए प्रायश्चित्तका दूसरे भी उस विषयके दक्ष व्यक्तियोंसे चर्चा कर पालन करनेको बहुजन दोष कहते हैं।

९—अपनेसे ज्ञान वा संयममें जो हीन है उससे प्रायश्चित्त ग्रहण करनेको अव्यक्त दोष कहते हैं।

१०—अपने समान-अपराधी-पार्श्वस्थसे प्रायश्चित्त ग्रहण करनेको तत्सेवित दोष कहते हैं।

इस प्रकार आलोचनके दश दोष बताये हैं। इन दोषोंको छोड कर ही गुरुके सामने अपने दोषोंका आलोचन करना चाहिये। क्योंकि इस तरहके आलोचनके विना किया हुआ महान् भी तप संवरकी सहवर्तिनी निर्जराका कारण नहीं हो सकता। किंतु केवल आलोचन ही कार्यकारी है ऐसा भी न समझना चाहिये, क्योंकि आलोचन करनेपर भी अन्य विहित विधियोंका आचरण न करनेवाला साधु सर्वथा दोषोंसे रहित नहीं हो सकता। अत एव सर्वदा दोनों ही कामोंका करना आवश्यक है—आलोचन भी करना चाहिये और गुरुनिरूपित उचित आचरणका पालन भी करना चाहिये। इसी बातकी शिक्षा देते हैं:—

सामौषधवन्महदपि न तपोऽनालोचनं गुणाय भवेत्।
मन्त्रवदालोचनमपि कृत्वा नो विजयते विधिमकुर्वन् ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार विना विचार किये ही दी हुई सामदोषसे युक्त महान् भी औषध आरोग्यके करनेवाली नहीं हो सकती उसी प्रकार उपर्युक्त आलोचनके विना किया हुआ महान् भी तप आत्माके लिये गुणकारी नहीं हो सकता। क्योंकि अनालोचित तपसे संवर और निर्जरा दोनो नहीं हो सकते। इसी तरह मन्त्रके समान आलोचनको करके भी विहित आचरणका अनुष्ठान न करनेवाला भी तपस्वी दोषोंका विजेता नहीं बन सकता।

कार्य आरंभ करनेके उपायका गुप्त रूपसे विचार करना इसको मन्त्र कहते हैं। शत्रुओंके द्वारा अपना वि

निपात तो न हो और अपने कार्यकी सिद्धि हो ही जाय इसकेलिये पांच बातोंका विचार करना पडता है—पुरुष द्रव्य संपत्ति देश और काल। इस प्रकार पञ्चाङ्ग मंत्रको करके भी यदि कोई राजा अपने विहिताचरणमें प्रवृत्त न हो तो वह शत्रुओंपर विजयी नही हो सकता। इसी प्रकार आलोचन करके भी विधिविहिताचरणका अनुष्ठान न करनेवाला तपस्वी दोपरहित नहीं हो सकता।

भावार्थ—आलोचन और विहित आचरण करनेपर ही साधु अभीष्ट सिद्ध कर सकता है, अन्यथा नहीं।

जिसका मन सद्गुरुओंके दिये हुए प्रायश्चित्तमें लीन रहता है वह साधु अवश्य ही महती दीप्तिको प्राप्त करता है; यह बात दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैं।

यथादोषं यथाम्नायं दत्तं सद्गुरुणा वहन्।
रहस्यमन्तर्भात्युच्चैः शुद्धादर्श इवाननम् ॥ ४६ ॥

जिसके भीतर मुखका प्रतिबिंब पडा हुआ है ऐसा निर्मल दर्पण जिस प्रकार अतिशय शोभाको प्राप्त होता है उसी प्रकार जो तपस्वी आम्नायके अनुसार और जैसा दोप हो उसके अनुरूप सद्गुरुओंके दिये हुए प्रायश्चितको हृदयमें धारण करता है वह अतिशय दीप्तिको प्राप्त होता है।

क्रमके अनुसार प्रायश्चित्तके दूसरे भेद–प्रतिक्रमणका स्वरूप बताते हैं—

मिथ्या मे दुष्कृतमिति प्रायोऽपायैर्निराकृतिः।
कृतस्य संवेगवता प्रतिक्रमणमागसः ॥ ४७ ॥

संसारसे भीरु और विषयभोगोंसे तथा शरीरादिकमे विरक्तचित्त साधुके द्वारा "मेरा सम्पूर्ण दुष्कृत्य मिथ्या हो जाय, मुझसे जो जो पाप बने हैं वे सब शान्त हो जांय" इस तरहके उपायोंसे अपने किये हुए अपराधोंके निराकरण किये जानेको प्रतिक्रमण कहते हैं।

भावार्थ—जिन वातोंसे धर्मकथादिकमें व्यवधान पड सकता है उन कारणोंके मिलनेपर यदि उन विषयोंमें उपयुक्त योगोंका विस्मरण हो जाय और उस समय गुरु निकटवर्ती न हों तो संवेग और निर्वेदसे युक्त साधु उन विषयोंका पुनः अनुष्ठान करता है और अपने किये हुए अल्प अपराधका ' मुझसे जो यह अपराध वन गया सो मिथ्या हो, अब फिर मैं ऐसा न करूंगा । ' इस तरह कहकर निराकरण करता है । इस तरहके निराकरण करनेको ही प्रतिक्रमण कहते हैं ।

किसी किसीका ऐसा भी कहना है कि इस निराकरण करनेमें अपने दोषोंका नाम लेकर उच्चारण भी करना चाहिये। जैसे कि मेरा अमुक दोष मिथ्या हो, मुझसे अमुम अपराध वनगया सो भी मिथ्या हो । इस तरहके अभिव्यक्त प्रतीकारको प्रतिक्रमण समझना चाहिये । किंतु इस तरहका प्रतिक्रमण करनेकी जिसको आचार्यने आज्ञा दी हो उसी शिष्यको करना चाहिये ।

प्रायश्चित्तके तीसरे भेद तदुभयका लक्षण बताते हैः—

दुःस्वप्नादिकृतं दोषं निराकर्तुं क्रियेत यत् ।
आलोचनप्रतिक्रान्तिद्वयं तदुभयं तु तत् ॥ ४८ ॥

दुःस्वप्न अथवा सङ्क्लेशादिक परिणामोंसे उत्पन्न हुए दोषका निराकरण करनेके लिये जो उपर्युक्त आलोचन और प्रतिक्रमण दोनोंका करना इसको तदुभय कहते हैं । इसमें इतनी विशेषता है कि आलोचन और प्रतिक्रमण कुछ विशिष्ट हुआ करता है । अत एव जैसी गुरु आज्ञा करें तदनुसार ही शिष्यको करना चाहिये । तथ आलोचन शिष्यको ही और आलोचन कराकर प्रतिक्रमण आचार्यको ही करना चाहिये ।

विवेकका लक्षण बताते है —

संसक्तेऽन्नादिके दोषान्निवर्तयितुमप्रभोः ।

यत्ताद्विभजनं साधोः स विवेकः सतां मतः ॥ ४९ ॥

आपसमें मिले हुए अथवा संमूछित अन्नादिकमें जो ऐसे दोष हों जिनका कि पृथक्करण न हो सकता हो तो उस अवस्थामें उस अन्नपान या उपकरणादिके छोडदेनेको विवेक कहते हैं।

प्रकारान्तरसे इसीका लक्षण बताते हैः—

विस्मृत्य ग्रहणेऽप्रासोर्ग्राहणे वाऽपरस्य वा।
प्रत्याख्यातस्य संस्मृत्य विवेको वा विसर्जनम् ॥ ५०॥

यदि कोई सचित्त वस्तु भूलसे ग्रहण करने करानेमें आजाय तो उसके छोडदेनेको विवेक कहते है। अथवा कोई वस्तु प्रासुक तो है पर छोडी हुई है एसी वस्तु भी ग्रहण होजानेपर भले प्रकार प्रतिग्रहपूर्वक याद करके उसके छोडदेनेको विवेक कहते है। जैसा कि कहा भी है कि—

" शक्तिको न छिपाकर और प्रयत्नपूर्वक छोडते हुए भी कदाचित् किसी कारणसे यदि अप्रासुक वस्तु ग्रहण करने या करानेमें आजाय, अथवा प्रासुक किंतु प्रत्याख्यात वस्तु भूलसे ग्रहण करनेमें आजाय तो याद करके उस वस्तुके छोडनेको विवेक कहते है। " इसके सिवाय किसी किसीने विवेकका अर्थ इस प्रकार बताया है- कि—" शुद्ध भी वस्तुमें अशुद्धताका संदेह अथवा विपर्यास हो जानेपर यद्वा अशुद्ध वस्तुमें शुद्धताका निश्चय होजानेपर, या छोडी हुई प्रासुक वस्तु, पात्र अथवा मुखमें प्राप्त हो जाय, यद्वा जिस वस्तुके ग्रहण करनेपर कषायादिक उत्पन्न होते हों, उन सम्पूर्ण वस्तुओंके परित्यागको विवेक कहते हैं।

क्रमप्राप्त व्युत्सर्ग प्रायश्चित्तका स्वरूप बताते हैः—

स व्युत्सर्गो मलोत्सर्गाद्यतीचारेवलम्ब्य सत्।
ध्यानमन्तर्मुहूर्तादि कायोत्सर्गेण या स्थितिः ॥ ५१ ॥

मलोत्सर्ग दुःस्वप्न या दुश्चिन्तन प्रभृतिका अतीचार लगजानेपर अन्तर्मुहूर्त दिन पक्ष यद्वा महीना आदि कालका प्रमाण करके उतने समय तक देहसे ममत्व छोडकर प्रशस्त ध्यानको धारण करके खडे रहनेको व्युत्सर्ग कहते हैं।

किसी किसीने नियत समयतक मन वचन कायके परित्यागको व्युत्सर्ग बताया है।

तप प्रायश्चित्तका लक्षण बताते हैं:—

कृतापराधः श्रमणः सत्त्वादिगुणभूषणः।
यत्करोत्युपवासादिविधिं तत्क्षालनं तपः॥ ५२॥

जो तपस्वी सत्व धैर्य आदि अनेक गुणोंसे अलङ्कृत है फिर भी उससे किसी प्रकारका अपराध बनगया—विधिविहित आचरणका अतिक्रमण होगया उस अवस्थामें यदि वह अपने अपराधका प्रक्षालन करनेके लिये उपवास एकस्थान आचाम्ल निर्विकृति आदि बाह्य तपोंको करता है तो उसकी इस क्रियाको तप नामक प्रायश्चित्त कहते हैं।

ऊपर आलोचनादिक छह प्रकारके प्रायश्चित्तका स्वरूप बताया है। अब यह बताते हैं कि किस किस अपराधके विषयमें ये प्रायश्चित्त करने चाहिये।

भयत्वराशक्त्यबोधविस्मृतिव्यसनादिजे।
महाव्रतातिचारेमुं षोढा शुद्धिविधिं चरेत्॥ ५३॥

भयत्वरा—डरकर भाग जाना, अशक्ति—सामर्थ्यकी हीनता, अबोध—अज्ञान, विस्मृति—विस्मरण, व्यसन—यवनादिकोंका आतङ्क, इसी तरहके रोग अभिभव आदि और भी अनेक कारणोंसे महाव्रतोंमें अतीचार लगजानेपर तपस्वियोंके उपर्युक्त छह प्रकारकी शुद्धिविधि—प्रायश्चित्त करनी चाहिये।

भावार्थ—आगममें भिन्न भिन्न अपराधोंके लिये भिन्न भिन्न प्रकारका ही प्रायश्चित्त भी बताया है। अत एव तपस्वियोंको आलोचन प्रतिक्रमण तदुभय विवेक व्युत्सर्ग और तप इन छहमेंसे यथायोग्य—अपराधके अनुरूप प्रायश्चित्त लेकर अपराधकी शुद्धि करलेनी चाहिये। जैसे कि—

आचार्यसे पूछे विना आतापन आदिके करनेपर, दूसरेके परोक्षमें उसकी पुस्तक पींछी आदि उपकरणोंके लेलेनेपर, प्रमादसे आचार्य प्रभृतिकी आज्ञाका पालन न करनेपर, संघके स्वामीसे पूछे विना उसके प्रयोजनसे कहीं भी जाकर पुनः आजानेपर, दूसरे संघसे विना पूछे अपने संघमें आजानेपर, देशकालके नियमानुसार जिन विशेष व्रतोंका अवश्य ही पालन करना चाहिये उनको धर्मकथा आदिके व्यासङ्गसे भूलजानेपर किन्तु पुनः उनका पालन करलेनेपर, इसी तरहके और भी अपराध बनजानेपर केवल आलोचन प्रायश्चित्त करना चाहिये।

पांच इन्द्रिय और छट्ठा मन तथा इसी तरह वचन आदि क्रियाओंका भी दुरुपयोग होजानेपर, आचार्य आदिसे अपने हाथ पैर आदिका धक्का लगजानेपर, व्रत समिति और गुप्तियोंका पालन अत्यंत अल्प होनेपर, चुगली अथवा कलह आदिके करनेपर, वैयावृत्त्य और स्वाध्याय आदिमें प्रमाद करनेपर, गोचरीकेलिये जाते हुए जननेंद्रियमें विकार होजानेपर, इसी तरह और भी सक्लेश करनेवाली क्रियाओंके होजानेपर प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त करना चाहिये। यह प्रायश्चित्त दिन और रात्रिके अन्तमें-सायंकाल और प्रातःकाल तथा भोजनकेलिये जाने आदिके समय किया जाता है। जैसा कि इसका व्यहार प्रसिद्ध भी है।

केशलोच नखोंका छेदन दुःस्वप्न और इन्द्रियोंका अतीचार तथा रात्रिभोजनमें पक्ष मास संवत्सर आदिका दोप लगजानेपर उभय प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिये।

मौन आदिके धारण किये विना ही आलोचन करनेपर, उदरमेंसे क्रिमिके निकलनेपर, हिम अथवा दंशमशक आदिके निमित्तसे यद्वा महावातादिके संघर्षसे अतीचार लगजानेपर, स्निग्ध भूमि हरित तृण यद्वा कर्दम आदिके ऊपरसे चलनेपर, घोंटुओंतक जलमें प्रवेश करजानेपर, अन्यनिमित्तक वस्तुको अपने उपयोगमें लेआनेपर नावके द्वारा नदीपार होनेपर, पुस्तक या प्रतिमा आदिके गिरादेनेपर पंच स्थावरोंका विघात होजानेपर, यद्वा वि-

ना देखे हुए स्थानमें शारीरिक मलके छोडदेनेपर, पक्षसे लेकर प्रतिक्रमण क्रिया पर्यन्त व्याख्यान प्रवृत्यन्तादिकोंमें केवल कायोत्सर्ग ही प्रायश्चित्त किया जाता है। थूकने या पेशाव आदिको करनेपर तो कायोत्सर्गका करना प्रसिद्ध ही है।

अनशनादि करनेके स्थानको आगमके अनुसार समझलेना चाहिये।

क्रमानुसार छेद प्रायश्चित्तका स्वरूप बताते हैं:—

चिरप्रव्राजितादृप्तशक्तशूरस्य सागसः।
दिनपक्षादिना दीक्षाहापनं छेदमादिशेत् ॥ ५४ ॥

जो साधु चिरकालसे दीक्षित होनेके सिवाय गर्वरहित तपस्याओंके करनेमें समर्थ और शूर है उससे किसी प्रकारका अपराध बनजानेपर उस अपराधकी शुद्धिकेलिये आचार्यद्वारा एक दिन दो दिन पक्ष मास वर्ष दो वर्ष आदि कालप्रमाणसे दीक्षाकालके कम करदिये जानेको छेद कहते हैं।

मूलका लक्षण बताते हैं:—

मूलं पार्श्वस्थसंसक्तस्वच्छन्देष्ववसन्नके।
कुशीले च पुनर्दीक्षादानं पर्यायवर्जनात् ॥ ५५ ॥

पहली सम्पूर्ण दीक्षाको खण्डित करके फिरसे नवीन दीक्षा देकर प्रायश्चित्तकी अपेक्षा पर्याय बदलनका मूल नामका प्रायश्चित्त कहते हैं। यह प्रायश्चित्त अत्यत अपराधीको ही दिया जाता है। और ऐसे अपराधी पाच प्रकारके हो सकते है—पार्श्वस्थ, ससक्त, स्वच्छन्द, अवसन्न, आर कुशील।

जो श्रमणोंके पासमें वसतिका अथवा मठ बनाकर रहता है यद्वा उपकरणोंमे अपनी आजीविका करता

है उसको पार्श्वस्थ कहते हैं। जो वैद्यक मन्त्र अथवा ज्योतिषके द्वारा आजीविका करनेवाले है और राजा आदिकोंकी सेवा किया करते हैं उनको संसक्त कहते है। जिसने स्वेच्छाचारी होकर गुरुकुलका परित्याग करदिया है और जो एकाकी ही उच्छृङ्खल विहार करता हुआ जिनवचनोंकी निन्दा करता फिरता है उसको स्वच्छन्द अथवा मृगचारी कहते हैं। जो जिनवचनोंसे अनभिज्ञ है और जिसने चारित्रका भार अपने ऊपरसे उतार दिया है तथा ज्ञान और आचरणमे भ्रष्ट होकर जो इन्द्रियोंके विषयोंमें अलस बना रहता है उसको अवसन्न कहते है। जिसकी आत्मा क्रोधादि कषायोंसे कलुषित रहती है और जो पंच महाव्रत अट्ठाईस मूलगुण तथा शीलके उत्तर भेदोंसे भी रहित ह, जो सघका अनुवर्तन नहीं करता उसको कुशील कहते है।

परिहार प्रायश्चित्तका लक्षण और उसके भेद बताते हैः—

विधिवद्दूरात्त्यजनं परिहारो निजगणानुपस्थानम्।
सपरगणोपस्थानं पाराञ्चिकमित्ययं त्रिविधः ॥ ५६ ॥

शास्त्रमें जैसा कि विधान है उसके अनुसार एक दिन दो दिन पक्ष महीना आदिके विभागसे अपराधीको दूर करदेनेका नाम परिहार प्रायश्चित्त है। यह तीन प्रकारका होता हैः—निजगणानुपस्थान, सपरगणोपस्थान, और पाराञ्चिक।

अपने सघसे निकाल देनेको निजगणानुपस्थान कहते हैं। जो साधु नौ या दश पूर्व ज्ञानका और आदिके तीन उत्तम संहननोंका धारक है, परीषहोंको जीतनेवाला, दृढकर्मा, धीर, वीर और ससारसे भीरु है, किन्तु प्रमादसे वह अन्य मुनियोंके छात्रों या ऋषियोंको अथवा दूसरे पाखाडियोंकी चेतन अचेतन द्रव्यको यद्वा परस्त्रीको चुरानेमें प्रवृत्ति करता है, मुनियोंके ऊपर प्रहार करता है, या ऐसे ही किसी अन्य विरुद्ध आचरणमें प्रवृत्त होता है तो उसको निजगणानुपस्थान नामका प्रायश्चित्त दिया जाता है।

इस प्रायश्चित्तके अनुसार वह दोषी मुनियोंके आश्रमसे कमसे कम ३२ दण्डकी दूरीपर विहार करता

और रहता है, तथा उतने ही फलसे बाल—अपनेसे छोटे भी मुनियोंकी वन्दना करता है, किन्तु गुरु उसको प्रतिवन्दना न करके ही भले प्रकार उसका आलोचन करते हैं; शेष लोगोंमें वह मौनव्रतको धारण करता और अपनी पीछीको उल्टी रखता है। उसको जघन्यतया पांच पांच उपवास और उत्कृष्टतया छह महिनेका उपवास करना चाहिये। दोनोंकी उत्कृष्ट अवधि बारह वर्षकी मानी गई है।

यदि पूर्वोक्त दोषोंको ही साधु दर्पसे करे तो उसको परगणोपस्थान नामका प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसकी विधि इस प्रकारसे है कि, आचार्य उसके आलोचनको सुनकर विना प्रायश्चित्त दिये ही दूसरे आचार्यके पास उसे भेज देते हैं। इसी तरह दूसरे आचार्य तीसरेके पास भेजदेते हैं और तीसरे चौथेके पास भेजते हैं। इस प्रकार सातवे आचार्यके पास तक उसको भेजा जाता है। इसके बाद वहांसे उसको उसी प्रकार वापिस लौटाया जाता है। लौटते लौटते जब वह पहले ही आचार्यके पास आजाता है तब वे पहले ही आचार्य उसको प्रायश्चित्त देते हैं और उससे उसका पालन कराते हैं।

जो तीर्थंकर गणधर आचार्य प्रवचन अथवा संघ आदिकी आसादना करता है, अथवा राजाके विरुद्ध आचरण करनेवाला है, राजाके अनभिमत मंत्री आदिको दीक्षा देनेवाला है, राजकुलकी वनिताओ अथवा राजाङ्ग-नाओं या कुलाङ्गनाओंका सेवन करता है, तथा इसी तरहके अन्य भी अपराध करके धर्मको दूषित करता है, उसको पाराञ्चिक प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसकी विधि इस प्रकार है कि—चातुर्वर्ण्य मुनिसंघ इकट्ठा होकर उसको बुलाता है और कहता है कि "यह महापापी पातकी समयबाह्य और अवन्द्य है" इस तरहकी घोषणा करके अनुपस्थान प्रायश्चित्त देकर उसको देशसे निकाल देता है। और वह भी अपने धर्मसे रहित क्षेत्रमें रहकर आचार्यके दिये हुए प्रायश्चित्तका पालन करता है।

प्रायश्चित्तके दशवें भेद श्रद्धानका स्वरूप बताते हैं:—

गत्वा स्थितस्य मिथ्यात्वं यद्दीक्षाग्राहणं पुनः।
तच्छ्रद्धानमिति ख्यातमुपस्थापनमित्यपि ॥ ५७ ॥

जो साधु सम्यग्दर्शनको छोडकर मिथ्यात्वमें प्रवेश कर गया है-बौद्धादिक मिथ्यामतके अभिनिवेशको धारण कर रहने लगा है उससे आचार्यद्वारा पुनः दीक्षा ग्रहण कराये जानेको श्रद्धान प्रायश्चित्त कहते है । इसका दूसरा नाम उपस्थापन भी है। कोई कोई महाव्रतोंका मूलोच्छेद होजानेपर फिरसे दीक्षा दिलानेको उपस्थापन कहते है ।

इस प्रकार प्रायश्चित्तके दश भेदोंका वर्णन किया। अब यह बताते हैं कि इनका प्रयोग अपराधके अनुरूप ही होना चाहियेः —

सैषा दशतयी शुद्धिर्बलकालाद्यपेक्षया ।
यथादोषं प्रयोक्तव्या चिकित्सेव शिवार्थिभिः ॥ ५८ ॥

जिस प्रकार चतुर वैद्य रोगीके बल काल आदिको देखकर वात पित्त आदिक विकारके अनुसार योग्य चिकित्साका प्रयोग करता है उसी प्रकार कल्याणके अभिलाषी आचार्योंको भी, जैसा दोष हो उसके अनुसार और अपराधीके बलकालादि, सत्त्वसंहननादिको देखकर, उपर्युक्त दश प्रकारकी शुद्धिका प्रयोग करना चाहिये ।

इस प्रकार व्यवहार नयसे प्रायश्चित्तके दश भेदोंका व्याख्यान करके निश्चयनयके अनुसार भेदोंका प्रमाण बताते हैं:—

व्यवहारनयादित्थं प्रायश्चित्तं दशात्मकम् ।
निश्चयात्तदसंख्येयलोकमात्रभिदिष्यते ॥ ५९ ॥

व्यवहार नयसे प्रायश्चित्तके दश भेद है जैसा कि ऊपर वर्णन किया जाचुका है । किंतु निश्चयनयसे उसके असंख्यातलोकप्रमाण भेद होते हैं ।

इस प्रकार प्रायश्चित्तका वर्णन कर क्रमानुसार विनयतपका लक्षण कहते हैं:—

स्यात् कषायहृषीकाणां विनीतेर्विनयोथवा ।
रत्नत्रये तद्वति च यथायोग्यमनुग्रहः ॥ ६० ॥

विहित कर्ममें प्रवृत्ति करनेसे तथा क्रोधादिक कषाय और स्पर्शनादिक इन्द्रियोंका सर्वथा निरोध करनेसे विनय प्रकट हुआ करता है। अथवा सम्यग्दर्शनादिकस्वरूप रत्नत्रय और उसके धारण करनेवाले पुरुषोंके यथोचित उपकार करनेको विनय कहते हैं।

विनयशब्दकी निरुक्ति दिखाते हुए उसके फलको प्रकट करते है और इस बातका उपदेश देते है कि विनयका पालन अवश्य ही करना चाहिये :—

यद्विनयत्यपनयति च कर्मासत्त्व निराहुरिह विनयम् ।
शिक्षायाः फलमखिलक्षेमफलश्चेत्ययं कृत्यः ॥ ६१ ॥

विनय शब्दके "दूर करना," और "विशेषरूपसे प्राप्त कराना" इस तरह दोनो ही अर्थ होते है। अत एव मोक्षके प्रकरणमें जो सम्पूर्ण अप्रशस्त कर्मोंको दूर करता है, अथवा जो स्वर्गादिक विशिष्ट अभ्युदयोंको प्राप्त कराता है उसको विनय कहते है। जिनवचनके ज्ञानको प्राप्त करनेका फल यही है—जिनागमकी शिक्षा विनयरूप साध्यको सिद्ध करनेकेलिये ही प्राप्त की जाती है। तथा सम्पूर्ण कल्याणोंकी प्राप्ति भी इस विनयके द्वारा ही हो सकती है। अत एव मुमुक्षुओंको इसका पालन अवश्य ही करना चाहिये।

समस्त विशिष्ट अभीष्ट गुणोंका एकमात्र साधन विनय ही है, इसी बातको प्रकट करते है —

सारं सुमानुषत्वेऽर्हद्रूपसंपदिहार्हती ।
शिक्षास्यां विनयः सम्यगस्मिन् काम्याः सतां गुणाः ॥ ६२ ॥

आर्यता कुलीनता आदि प्रशस्त गुणोंसे युक्त इस उत्तम मनुष्य पर्यायका सार–उपादेय भाग अर्हद्रूप-संपत्ति–आचेलक्यादिस्वरूप जिनलिङ्गका धारण करना ही है। और इस जिनलिङ्गके धारण करनेका भी सारभूत फल जिनागमकी शिक्षा प्राप्त करना है। तथा शिक्षाका भी सार यह विनय है। क्योंकि इसके होनेपर ही सत्पुरुषोंके लिये भी स्पृहणीय समाधिप्रभृति गुण स्फुरायमान होते हैं।

विनयरहित पुरुषकी शिक्षा भी निष्फल है; इस बातको बताते हैं—

शिक्षाहीनस्य नटवल्लिङ्गमात्मविडम्बनम्।
अविनीतस्य शिक्षापि खलमैत्रीव किंफला ॥ ६३ ॥

जिस पुरुषने नृत्य करनेकी शिक्षा प्राप्त नहीं की है वह यदि नृत्य करनेमें प्रवृत्त हो तो उपहासका ही पात्र हो सकता है। इसी प्रकार जिसने जिनागमकी शिक्षा प्राप्त नहीं की है उसका जिनलिङ्ग धारण करना भी उपहासका ही विषय हो सकता है। इसी तरह उस मनुष्यकी शिक्षा भी जो कि विनयसे रहित है, निरर्थक अथवा दुर्जन पुरुषोंकी मित्रताके समान अनिष्ट फल उत्पन्न करनेवाली ही हो सकती है।

विनयके तत्त्वार्थ सूत्रमें चार भेद और आचारशास्त्रोंमें पांच भेद बताये है उन्हीका यहांपर उपदेश देते हैः—

दर्शनज्ञानचारित्रगोचरश्चोपचारिकः।
चतुर्धा विनयोऽवाचि पञ्चमोपि तपोगतः ॥ ६४ ॥

तत्त्वार्थका निरूपण करनेवाले आचार्योंने विनयके चार भेद बताये है–दर्शनविनय ज्ञानविनय चारित्र विनय और औपचारिक विनय। किन्तु आचारादि शास्त्रोंका विचार करनेवालोंने तपोविनय नामका पांचवां भेद भी बताया है। यथाः—

दसणणाणे विणओ चरित्त तव ओवचारिओ विणओ ।
पचविहो खलु विणओ पचमगइणायगो भणिओ ॥

इनमेंसे क्रमके अनुसार पहले मम्यक्त्वविनयका स्वरूप बताते हैं:—

दर्शनविनयः शङ्काद्यसन्निधिः सोपगूहनादिविधिः ।
भक्त्यर्चावर्णावर्णहृत्यनासादना जिनादिषु च ॥ ६५ ॥

सम्यग्दर्शनके शंका कांक्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टिप्रशंसा और अनायतनसेवारूप मलोंके दूर करनेको, तथा उपगूहन स्थितीकरण वात्सल्य और प्रभावनारूप गुणोंसे उसके युक्त करनेको, एवं अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय आदिकी भक्ति अर्चा वर्णना आदि करनेको दर्शनविनय कहते हैं ।

अरिहंतादिकोंके गुणोंमें अनुराग रखनेको भक्ति कहते है । द्रव्य अथवा भावसे उनकी पूजा करनेको अर्चा कहते हैं । विद्वानोंकी सभामें युक्तिबलसे उनके यशोविस्तार करनेको वर्ण अथवा वर्णना कहते है । माहात्म्य का समर्थन करके असद्भूत दोषोंके उद्भावनका नाश करना इसको अवर्णहृति कहते है । इसी तरह अवज्ञाके दूर करनेको अर्थात् उनमें आदरभाव प्रकट करनेको अनासादना कहते हैं ।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके निर्मल और सगुण बनानेको तथा अरिहंत सिद्ध चैत्य सुदेव धर्म साधुवर्ग आचार्य उपाध्याय प्रवचन और दर्शन इनकी उपर्युक्त भक्ति पूजा आदि करनेको दर्शनविनय कहते है ।

दर्शनविनय और दर्शनाचारमें क्या अन्तर है ? इसका उत्तर देते है:—

दोषोच्छेदे गुणाधाने यत्नो हि विनयो दृशि ।
दृगाचारस्तु तत्त्वार्थरुचौ यत्नो मलात्यये ॥ ६६ ॥

सम्यग्दर्शनमेंसे दोषोंके दूर करने और उसमें गुणोंके उत्पन्न करनेकेलिये जो प्रयत्न किया जाता है उसको दर्शनविनय, तथा शंकादिक मलोंके दूर होजानेपर तत्त्वार्थश्रद्धानमें प्रयत्न करनेको दर्शनाचार कहते हैं।

भावार्थ—सम्यक्त्वके निर्मल और सगुण बनानेको दर्शनविनय तथा उसकी शुद्धि करनेको दर्शनाचार कहते हैं।

आठ प्रकारके ज्ञानविनयको पालन करनेका उपदेश देते हैं:—

शुद्धव्यञ्जनवाच्यतद्द्वयतया गुर्वादिनामाख्यया,
योग्यावग्रहधारणेन समये तद्भाजि भक्त्यापि च।
यत्काले विहिते कृताञ्जलिपुटस्याव्यग्रबुद्धेः शुचेः,
सच्छास्त्राध्ययनं स बोधविनयः साध्योष्टधापीष्टदः॥ ६७॥

शब्द अर्थ और उभय–शब्दार्थ की शुद्धतापूर्वक, और गुरु, चिन्तापक तथा जिस विषयका अध्ययन करना है उसका नामोल्लेख करते हुए, एवं जिस सूत्रका अध्ययन करना है उसकेलिये आवश्यक तपोविशेषका अवलम्बन लेकर, अर्थात् जिस तपोविशेषके धारण करनेपर ही विवक्षित श्रुतज्ञान प्रकट हो सकता है उस तपोविशेषको धारण करके, तथा प्रवचन और उसके धारण तथा निरूपण करनेवाले श्रुतधरोंमें भक्ति रखकर, आगममें अध्ययन करनेका जो समय बताया है उसी विहित समयमें पिच्छी सहित दोनों हाथोंको जोडकर, मनमें किसी भी प्रकारकी व्यग्रता धारण न करके–अर्थात् चित्तको एकाग्र बनाकर, और मन वचन कायको शुद्ध रखकर युक्तिसिद्ध परमागमके न केवल अध्ययन करनेको ही किन्तु गुणन व्याख्यान और शास्त्रदृष्ट्या आचरणको भी ज्ञानविनय कहते है। अत एव इसके आठ भेद–अंग होते है। यह ज्ञानविनय अभ्युदयों और निःश्रेयसरूप फलको उत्पन्न कर सकता है अत एव मुमुक्षुओंको इसका साधन अवश्य ही करना चाहिये।

भावार्थ—साधुओंको अभीष्ट फल देनेवाले इस अष्टाङ्ग सम्यग्ज्ञानका अवश्य पालन करना चाहिये। ७०५

ज्ञानके आठ अंगोंके नाम इस प्रकार हैं:— १ शब्दार्थ की शुद्धता, २ गुरु आदिका नामोल्लेख, ३ कारणरूप तपोविशेषका पालन, ४ परमागम और उसके धारकोंमें भक्ति, ५ विधिविहित समय, ६ आदरभाव, ७ चित्तकी एकाग्रता, ८ और मन वचन कायकी शुद्धि ।

इन आठ अङ्गोंसे परिपूर्ण अध्ययनको ही ज्ञानविनय कहते हैं । ज्ञानविनय और ज्ञानाचारमें क्या अन्तर है, सो बताते हैं:—

यत्नो हि कालशुद्ध्यादौ स्याज्ज्ञानविनयोत्र तु ।
सति यत्नस्तदाचार: पाठे तत्साधनेषु च ॥ ६८ ॥

उपर्युक्त कालशुद्धि आदिके विषयमें प्रयत्न करनेको ज्ञानविनय और उन शुद्धिआदिकोंके होजानेपर श्रुतका अध्ययन करनेकेलिये प्रयत्न करनेको अथवा अध्ययन की साधनभूत पुस्तकादि सामग्रीकेलिये प्रयत्न करनेको ज्ञानाचार कहते हैं ।

क्रमानुसार चारित्रविनयका स्वरूप बताते हैं:—

रुच्याऽरुच्यहृषीकगोचररतिद्वेषोज्झनेनोच्छलत,—
क्रोधादिच्छिदयाऽसकृत्समितिपूद्योगेन गुप्त्यास्थया ।
सामान्येतरभावनापरिचयेनापि व्रतान्युद्धरन्,
धन्य: साधयते चरित्रविनयं श्रेय:श्रिय: पारयम् ॥ ६९ ॥

इन्द्रियोंके मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयोंमें जो क्रमसे रागद्वेष उत्पन्न हुआ करते हैं उनको छोडकर, तथा उठतेहुए क्रोधादिक कषायोंका नाश करके, एवं समीचीन प्रवृत्तिकेलिये बार बार प्रयत्न करके, तथा मनवचन कायके निरोधरूप अथवा शुभमनवचनादिरूप गुप्तियोंमें आदरभाव रखकर, और सामान्य तथा विशेष भावनाओंको

भातेहुए—" संसारमें कोई भी प्राणी दुःखी नहो " इसतरहकी सामान्य, और "निगृह्णतो वाङ्मनसी" इत्यादि श्लोकके द्वारा पहले बताईहुई विशेष भावनाओंको भातेहुए जो साधु अपने अहिंसादिक व्रतोंको निर्मल बनाता है वही साधु धन्य है। क्योंकि ऐसा सुकृती साधु ही स्वर्ग और मोक्षरूप लक्ष्मीका साक्षात्कार करानेमें समर्थ चारित्रविनयका साधन कर सकता है।

भावार्थ—ऊपरलिखे मूजब चारित्रके धारण करनेको चारित्र विनय कहते हैं।

चारित्रविनय और चारित्राचारमें क्या अन्तर है, सो बताते हैं—

समित्यादिषु यत्नो हि चारित्रविनयो मतः।
तदाचारस्तु यस्तेषु सत्सु यत्नो व्रताश्रयः ॥ ७० ॥

व्रतोंको निर्मल बनानेकेलिये समिति आदिमें प्रयत्न करनेको चारित्र विनय, और समित्यादिकोंके सिद्ध हो जानेपर व्रतोंकी वृद्धि आदिके लिये प्रयत्न करने को चारित्राचार कहते हैं।

अब क्रमानुसार विनयके चौथे भेद औपचारिकविनयका वर्णन करते हैं। किन्तु उसमें सबसे पहले प्रत्यक्षमें पूज्य पुरुषोंका जो कायके द्वारा औपचारिक विनय किया जाता है उसके सात भेदोंका वर्णन करते हैं:—

अभ्युत्थानोचितवितरणोच्चासनाद्युज्झनानु,—
व्रज्या पीठाद्युपनयविधिः कालभावाङ्गयोग्यः।
कृत्याचारः प्रणतिरिति चाङ्गेन सप्तप्रकारः,
कार्यः साक्षाद्गुरुषु विनयः सिद्धिकामैस्तुरीयः ॥ ७१ ॥

आराध्य गुरुजनोंके साक्षात् उपस्थित रहनेपर स्वात्मोपलब्धिकी इच्छा रखनेवाले साधुओंको अपने शरीरके द्वारा उनका अभ्युत्थानादिक सात प्रकारका औपचारिक विनय करना चाहिये। यथा —

१-गुरुजनोंको आता हुआ मालुम होते ही अपने आसनसे उठकर खडे होजाना चाहिये। २-उनके योग्य पुस्तकादि वस्तुओंका दान करना चाहिये। ३-उनके सामने उच्चासनपर बैठना आदि न चाहिये। ४-यदि उनके साथ चलनेका अवसर पडे तो उनके पीछे पीछे नम्रता और आदर के साथ गमन करना चाहिये। ५-सिंहासन या शयनीयादि स्थानों को तयार कर देना। ६-उनको प्रणाम-नमस्कारादि करना। ७-तथा उनके काल भाव और शरीरके योग्य कार्योंको करना। कालयोग्य कार्योंको करना जैसे कि गर्मीमें ठंडी और शर्दीमें उष्णता लानेवाली क्रिया करना, भाव योग्य जैसे-उन्हें कहीं भेजनेका अवसर हो तो उनके अभिप्राय और आज्ञानुसार वहां जाना आना आदि। शरीर योग्य-जैसे कि उनके शरीर और बलके अनुरूप उनका मर्दन करना।

यहांपर च शब्द समुच्चयार्थक है। अत एव इन सभी बातोंको गुरुओंके विषयमें करना उचित है। तथा यद्यपि यहांपर शारीरिक विनयके ये सात प्रकार ही बताये हैं, किंतु आदरकेलिये उनके संमुख जाना आदि और भी भेद होते हैं, सो उनका भी यहांपर इति शब्दसे समावेश करलेना चाहिये।

औपचारिक विनयके वाचिक भेदोंको बताते हैः—

हितं मितं परिमितं वचः सूत्रानुवीचि च।
ब्रुवन् पूज्यांश्चतुर्भेदं वाचिकं विनयं भजेत् ॥ ७२ ॥

आराध्य गुरुजनोंकी वचनके द्वारा चार प्रकारसे विनय करना चाहिये। अर्थात् उनके सम्मुख या उनके लिये ऐसे वचन बोलने चाहिये जो चार विशेषणोंसे युक्त हों। यथा—हित—जोकि कल्याण के कारण धर्मका विधायक हो। मित—जिसमें अक्षरोंका प्रमाण तो कम हो किन्तु महान् अर्थ भरा हुआ हो। परिमित—जो कारण युक्त हो। और सूत्रानुवीचि—अर्थात् जो आगमके अर्थसे विरुद्ध न हो।

यहांपर च शब्दका जो ग्रहण किया है उससे नित्य नैमित्तिक पूजनादिके अवसरपर बोले हुए वचनोंका समावेश करलेना चाहिये। तथा उन वचनोंका भी जो कि वाणिज्यादिका विधान नहीं करते।

औपचारिक विनयके मानस भेदोंको गिनाते हैं:--

निरुन्धन्नशुभं भावं कुर्वन् प्रियहिते मतिम् ।
आचार्यादेरवाप्नोति मानसं विनयं द्विधा ॥ ७३ ॥

मानस विनय दो प्रकारका हो सकता है-१ अशुभ भावोंकी निवृत्ति २ और शुभभावोंमें प्रवृत्ति । अर्थात् आचार्य उपाध्याय स्थविर प्रवर्तक और गणधरादिकोंके विषयमें सम्यक्त्वकी विराधना करनेवाले प्राणिवधादिक अशुभभावोंका रोकना, और धर्मकेलिये उपकारक तथा सम्यक्त्व और ज्ञानादिके विषयमें शुभ विचार करना मानस विनय है ।

इस प्रकार प्रत्यक्ष गुरुजनोंके विषयमें पालन करने योग्य तीन प्रकारके विनयका प्रतिपादन करके परोक्ष गुरुओंके विषयमें भी तीन प्रकारके विनयका निरूपण करते हैं:--

वाङ्मनस्तनुभिः स्तोत्रस्मृत्यञ्जलिपुटादिकम् ।
परोक्षेष्वपि पूज्येषु विदध्याद्विनयं त्रिधा ॥ ७४ ॥

जो दीक्षागुरु श्रुतगुरु तपोधिक आदि गुरुजन परोक्ष है-इन्द्रियोंसे परे है उनका भी वचन मन और शरीरके द्वारा क्रमसे स्तुति स्मृति और अञ्जलिपुटादिक करके मुमुक्षुओंको विनय करना चाहिये । अतएव परोक्ष गुरुओंका भी विनय वचन मन और शरीर की अपेक्षा तीन प्रकारका होता है । अर्थात् वचनके द्वारा उनका गुणस्तवन जयघोष आशीर्वादादि बोलना, मनके द्वारा उनका स्मरण और उनके गुणोंका चिन्तवन आदि करना, तथा शरीरके द्वारा उनको हाथ जोडना नमस्कार करना इत्यादि सब परोक्ष विनय है ।

यहापर अपिशब्दसे जो तप गुण या अवस्था आदिकी अपेक्षा अपनेसे छोटे है उन मुनियों या श्रावकोंकी भी यथा योग्य विनय करना चाहिये इस बातको सूचित किया है ।

तपोविनयका स्वरूप बताते हैं:—

यथोक्तमावश्यकमावहन् सहन्,
परीषहानग्रगुणेषु चोत्सहन् ।
भजंस्तपे वृद्धतपास्यहेलयन्,
तपोलघूनेति तपोविनीतताम् ॥ ७५ ॥

व्याधि आदिके वश होजानेपरभी जिनका अवश्यही पालन करना चाहिये उन पूर्वोक्त षडावश्यकोंका जो साधु निरंतर पालन करता है, क्षुधापिपासाआदि बाईस परीषहोंका सहन करता और उत्तर गुणों—आतपनादिकों अथवा विशिष्ट संयमों या आगेके गुणस्थानोंमें सोत्साह प्रवृत्ति रखता है, एवं जिनको तप करतेहुए अपनेसे अधिक दिन हो गये हैं उन तपस्वियोंकी सेवा करता और स्वयं भी अनशनादिक तपोंका पालन करता है, तथा जो साधु अपनेसे तप करनेमें न्यून हैं उनकी अवहेलना-अवज्ञा नहीं करता, वही तपस्वी तपो विनयको प्राप्त हो सकता है।

भावार्थ— पूर्वोक्त आवश्यकोंके पालन करने आदिको ही तपोविनय कहते हैं।

विनय भावनाका फल बताते हैं:—

ज्ञानलाभार्थमाचारविशुद्ध्यर्थं शिवार्थिभिः ।
आराधनादिसंसिद्ध्यै कार्यं विनयभावनम् ॥ ७६ ॥

जो मुमुक्षु हैं उनको ज्ञानका लाभ करनेकेलिये तथा दर्शनाचार, ज्ञानाचार चारित्राचार तपआचार और वीर्याचार इन पांच आचारोंको शुद्ध-निर्मल बनानेकेलिये, एवं पूर्वोक्त सम्यक्त्वादि चार आराधना प्रभृति और भी अनेक गुणोंको भले प्रकार सिद्ध करनेकेलिये इस विनयतपमें बार बार प्रवृत्त होना चाहिये।

आराधना शब्दके साथ आये हुए आदि शब्दसे किन किन विषयोंको लेना चाहिये सो स्पष्ट करते हैं:—

द्वारं यः सुगतेर्गणेशगणयोर्यः कार्मणं यस्तपो,—
वृत्तज्ञानऋजुत्वमार्दवयशःसौचित्यरत्नार्णवः ।
यः संक्लेशदवाम्बुदः श्रुतगुरूद्योतैकदीपश्च यः,
स क्षेप्यो विनयः परं जगदिनाज्ञापारवश्येन चेत् ॥ ७७ ॥

मुमुक्षुओंको विनयतपका परित्याग करना कदाचित्भी उचित नहीं है; बल्कि जो तीन लोकके अधीश भगवान् अर्हंतदेवकी आज्ञामें रहकर अपनी आत्माका हित सिद्ध करना चाहते हैं उन साधुओंको इसका अवश्य ही पालन करना चाहिये। क्योंकि यह तप समस्त कर्मोंके क्षयका कारण होनेसे मोक्षका और प्रचुर पुण्यास्रवका कारण होनेसे स्वर्गका द्वार है, तथा गण और संघके स्वामीको वश करनेके लिये वशीकरण मंत्रके समान है। तप चारित्र ज्ञान सरलता मार्दव यश और सौचित्य[1] आदि अनेक गुणरूप रत्नोंको उत्पन्न करनेकेलिये रत्नाकर–समुद्रके समान है। राग द्वेष प्रभृति संक्लेश परिणामरूपी दावानल–को शांत करनेकेलिये मेघके समान है, और आचार शास्त्रमें बताये हुए क्रमज्ञान तथा कल्पज्ञानको एवं सदाम्नायके उपदेष्टा गुरुओंको प्रकाशित करनेकेलिये अद्वितीय दीपकके समान है।

वैयावृत्त्य तपका निरुक्तिसिद्ध लक्षण बताते हुए मुमुक्षुओंको उसका पालन करनेकेलिये प्रेरित करते हैं:-

क्लेशसंक्लेशनाशायाचार्यादिदशकस्य यः ।
व्यावृत्तस्तस्य यत्कर्म तद्वैयावृत्त्यमाचरेत् ॥ ७८ ॥

आचार्य उपाध्याय तपस्वी शैक्ष ग्लान गण कुल संघ साधु और मनोज्ञ इन दश प्रकारके मुनियोंके

१—गुरु आदिकोंका अपने ऊपरसे वैमनस्य दूर होने और अनुग्रह प्राप्त होनेको सौचित्य कहते है।

क्लेश—शारीरिक पीडा और संक्लेश—आर्तरौद्र ध्यानरूप दुष्परिणामोंका नाश करनेकेलिये जो तपस्वी अथवा श्रावक व्यापृत—प्रवृत्त हुआ करता है उसके इस कर्म—मनोव्यापार व्यापारको ही वैयावृत्य कहते हैं। मुमुक्षुओंको इस अंतरंग तपका पालन अवश्य ही करना चाहिये।

आचार्य और उपाध्याय शब्दका अर्थ पहले बताया जा चुका है। किंतु शेष शब्दोंका अर्थ नहीं बताया वह इस प्रकार है:—

तपस्वी-महान् उपवासादिक तप करनेवाला, शैक्ष-प्रधानतया शिक्षामें ही रत रहनेवाला, ग्लान-रोगादिके निमित्तसे जिसका शरीर पीडित हो रहा हो, गण-स्थविर संतति, कुल—दीक्षा देनेवाले आचार्यकी शीघ्रुनरूप शिष्यसतान, संघ—चातुर्वर्ण्यरूप मुनिसमूह, साधु—जिसको दीक्षा लिये हुए चिरकाल होगया हो, मनोज्ञ—लोकसम्मत, अथवा जिसको लोक अधिक मान देते हों।

वैयावृत्यका फल बताते हैं:—

मुक्त्युद्युक्तगुणानुरक्तहृदयो यां कांचिदप्यापदं,
तेषां तत्पथघातिनीं स्ववदवस्यन्योङ्गवृत्त्याथवा।
योग्यद्रव्यनियोजनेन शमयत्युद्घोपदेशेन वा,
मिथ्यात्वादिविषं विकर्षति स खल्वार्हन्त्यमप्यर्हति ॥ ७९ ॥

जिस साधु अथवा श्रावकका मन मुक्तिको प्राप्त करनेकेलिये उद्युक्त हुए साधुओंके संयमविशेषरूप गुणपर आसक्त है और इसीलिये जो उनके उपर आई हुई मोक्षमार्गमें बाधा पहुंचानेवाली दैवी मानुषी तैरश्ची अथवा अचेतनकृत आपत्तियोंको अपने ऊपर आई हुई समझकर शारीरिक प्रयत्न करके हटा देता है, अथवा संयमसे अविरुद्ध औषध अन्न वसतिका आदिकी योजना करके, यद्वा प्रभावशाली महान् उपदेश देकर उनके मिथ्यात्व अज्ञान अविरति प्रमाद कषाय और योगरूप विषको निकाल दूर करता

है वह वैयावृत्यकर्ममें प्रवृत्त महात्मा इन्द्र अहमिन्द्र चक्रवर्तित्व आदि पदोंकी तो बात ही क्या सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकर पदको भी निश्चयसे अपने आधिकृत करलेता है।

भावार्थ—वैयावृत्य करनेवाला मुमुक्षु उत्कृष्ट अभ्युदयों और अंतमें आर्हन्त्य पदको भी प्राप्त करलेता है।

साधर्मियोंपर आई विपत्तिकी उपेक्षा करनेवालोंके दोष प्रकट करते और इस बातका समर्थन करते हैं कि सम्पूर्ण तपस्याओंका हृदय वैयावृत्य ही है:—

सधर्मापदि यः शेते स शेते सर्वसंपदि।
वैयावृत्त्यं हि तपसो हृदयं ब्रुवते जिनाः ॥ ८० ॥

जो अपने समान रत्नत्रय धर्मका आराधन करनेवाले हैं उनके ऊपर आई हुई आपत्तिको देखकर भी जो सो जाता है—उस आपत्तिके दूर करनेकी चेष्टा नहीं करता वह समस्त संपत्तियोंके विषयमें भी सो जाता है—उसका कोई भी पुरुषार्थ सफल नहीं हो सकता। क्योंकि अर्हत देवने अन्तरङ्ग और बाह्य सम्पूर्ण तपस्याओंका हृदय वैयावृत्य ही बताया है।

और भी वैयावृत्यका फल बताते हैं:—

समाध्याधानसानाथ्ये तथा निर्विचिकित्सता।
सधर्मवत्सलत्वादि वैयावृत्येन साध्यते ॥ ८१ ॥

वैयावृत्यके द्वारा एकाग्रचिन्ताके निरोधरूप ध्यान और सनाथताकी प्राप्ति होती है, तथा ग्लानिका अभाव होता है, और साधर्मियोंमें गोवत्सके समान परस्पर प्रीति उत्पन्न होती है। इसके सिवाय धर्म और आम्नायकी रक्षा तथा प्रभावना आदि और भी अनेक गुण इस वैयावृत्यके द्वारा सिद्ध हुआ करते है।

इसप्रकार वैयावृत्यके प्रकरणको समाप्त करके क्रमानुसार मुमुक्षुओंकेलिये स्वाध्यायके विषयमें नित्य ही अभ्यास करनेका विधान करते हुए स्वाध्याय इस शब्दका निर्वचनसिद्ध अर्थ बताते हैं:—

नित्यं स्वाध्यायमभ्यस्येत्कर्मनिर्मूलनोद्यतः ।
स हि स्वस्मै हितोऽध्यायः सम्यग्वाध्ययनं श्रुतेः ॥ ८२ ॥

स्व-आत्माके लिये हितकर-उपकारी-संवर और निर्जराके कारणभूत श्रुतके अध्ययनको अथवा सु-समीचीन केवलज्ञानोत्पत्तिपर्यन्त श्रुतके अध्ययन-पाठको स्वाध्याय कहते हैं। अत एव ज्ञानावरणादिक कर्मों तथा मनोवाकायक्रियाओंको निर्मूल करनेकेलिये उद्युक्त हुए मुमुक्षुओंको इस स्वाध्यायका नित्य ही अभ्यास करना चाहिये।

सम्यक् शब्दका अर्थ बताते हुए स्वाध्यायके पहले भेद-वाचना का स्वरूप बताते हैं:—

शब्दार्थशुद्धता द्रुतविलम्बिताद्यूनता च सम्यक्त्वम् ।
शुद्धग्रन्थार्थोभयदानं पात्रेस्य वाचना भेदः ॥ ८३ ॥

शब्द और अर्थकी शुद्धता, तथा बिना विचारे ही जल्दीसे न बोलना, बे मौके विश्राम लेकर उच्चारण न करना किन्तु बोलने या लिखने आदिके समय योग्य स्थानपर ही विश्राम लेना, और किसी भी अक्षर मात्रा या पद आदिको छोड न देना, इत्यादि सब स्वाध्यायकी समीचीनता कहलाती है। इस तरहकी समीचीनता या शुद्धतासे युक्त अथवा निरवद्य-मोक्षमार्गकेलिये उपयोगी ग्रन्थ अर्थ अथवा दोनों-हीके विनयादि गुणोंसे युक्त पात्रकेलिये देनेको वाचना कहते हैं।

स्वाध्यायके दूसरे भेद प्रच्छनाका स्वरूप बताते हैं:—

प्रच्छनं संशयोच्छित्त्यै निश्चितद्रढनाय वा ।
प्रश्नोऽधीतिप्रवृत्त्यर्थत्वादधीतिरसावपि ॥ ८४ ॥

ग्रन्थ अर्थ अथवा दोनोंके विषयमें "यह इसी तरहसे है या दूसरी तरहसे" ऐसा संशय होनेपर उसको दूर करनेकेलिये अथवा निश्चित मालुम होनेपर भी कि यह इसी तरहसे है या ऐसा नहीं है अपने निश्चयको द्रढ बनानेके लिये विशेष विद्वान्से उस विषयमें प्रश्न करना इसको प्रच्छना स्वाध्याय कहते हैं।

यहांपर यह शंका हो सकती है कि प्रश्न करना अध्ययन नहीं कहा जा सकता, अत एव इस स्वाध्यायके लक्षणमें अव्याप्ति दोष आता है। किंतु यह शका ठीक नहीं है, क्योंकि प्रश्न करना अध्ययनमें प्रवृत्ति होनेका निमित्त है, अत एव उसको भी स्वाध्याय कह सकते हैं।

मुख्य विषयमें ही किये गये प्रश्नको स्वाध्याय कह सकते हैं यह बताकर इस शंकाका प्रकारान्तरसे समाधान करते हैः—

किमेतदेवं पाठ्यं किमेषोर्थोस्योति संशये।
निश्चितं वा द्रढयितुं पृच्छन् पठति नो न वा ॥ ८५ ॥

हे भगवन्! यह अक्षर पद या वाक्य इसी तरहसे होना चाहिये या दूसरी तरहसे? यद्वा इसका उच्चारण किस प्रकार करना चाहिये? इत्यादि शब्दके विषयमें जो अपने संदेहको प्रकट करता है, तथा इस पद वाक्य या श्लोकका क्या अर्थ होना चाहिये? अभी जो अर्थ कहा गया वही होना चाहिये या और कुछ? इत्यादि अर्थके विषयमें जो प्रश्न करता है, अथवा मैंने जो यह समझा है सो ठीक है या नहीं? इत्यादि शब्द या अर्थके विषयमें प्रश्न करनेवाला साधु क्या अध्ययन नहीं करता? अवश्य करता है।

भावार्थ—शब्द या अर्थका निश्चय करनेकेलिये अथवा निश्चयको भी द्दढ करनेकेलिये जो प्रश्न किया जाता है वह भी स्वाध्याय में ही सम्मिलित है।

अनुप्रेक्षा नामक स्वाध्यायके तीसरे भेदका निरूपण करते हैं—

सानुप्रेक्षा यदभ्यासोऽधिगतार्थस्य चेतसा।
स्वाध्यायलक्ष्म पाठोन्तर्जल्पात्मात्रापि विद्यते ॥ ८६ ॥

ज्ञात अथवा निश्चित विषयके मनमें पुनः पुनः विचार करनेको अनुप्रेक्षा कहते हैं। इसको भी समीचीन अध्ययन करना ही कहना चाहिये। क्योंकि शब्दार्थका पाठ यहांपर भी होता है। अन्तर इतना ही है कि वाचनामें बहिर्जल्प होता है, किन्तु अनुप्रेक्षामें अन्तर्जल्प हुआ करता है।

स्वाध्यायके आम्नाय और धर्मोपदेश नामके चौथे पांचवें भेदका स्वरूप बताते हैं:—

आम्नायो घोषशुद्धं यद्वृत्तस्य परिवर्तनम्।
धर्मोपदेशः स्याद्धर्मकथा सस्तुतिमङ्गला ॥ ८७ ॥

पढे हुए ग्रन्थके शीघ्रता या विलंब आदि दोषोंसे रहित पुनः पुनः उच्चारण करनेको आम्नाय कहते हैं। स्तुति देववन्दना तथा मङ्गल-नमस्कार आशीः शान्ति आदि विषयोंके साथ धर्मके निरूपण करनेको धर्मोपदेश कहते हैं।

भावार्थः—भगवान्‌का स्तोत्र पाठ करना, उनको नमस्कारादि करना, या अन्य त्रेसठ शलाका पुरुषोंके चरित्रका निरूपण करना, अथवा किसी भी धार्मिक विषयका व्याख्यानादि करना, इत्यादि सब धर्मोपदेश है।

धर्मकथाके चार भेदोंका स्वरूप बताते हैं:—

आक्षेपणीं स्वमतसंग्रहणीं समेक्षी, विक्षेपणीं कुमतनिग्रहणीं यथार्हम्।
संवेजनीं प्रथयितुं सुकृतानुभावं, निर्वेदनीं वदतु धर्मकथां विरक्त्यै ॥ ८८ ॥

धर्मकथा चार प्रकारकी होती है—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेदनी। जिसके द्वारा अपने मतका संग्रह-अनेकान्त सिद्धान्तका यथायोग्य समर्थन हो उसको आक्षेपणी, और इसी प्रकार—यथायोग्य जिसके द्वारा क्षणिकैकान्त प्रभृति मिथ्यामतोंका निग्रह—खंडन हो उसको विक्षेपणी, तथा जिसके द्वारा पुण्यके फलस्वरूप संपत्तिको यथायोग्य प्रकाशित किया जाय उसको संवेजनी, एवं जिसको सुनकर संसार शरीर और भोगोंसे वैराग्य उत्पन्न होसके ऐसी निरूपणाको निर्वेदनी कहते हैं।

भावार्थ—धर्मोपदेश नामक स्वाध्याय तपके ये चार भेद हैं। इस तपका निरन्तर पालन करनेकी इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुओंको ये चार प्रकारकी ही कथाएं करनी चाहिये।

स्वाध्यायके फल बताते हैं:—

प्रज्ञोत्कर्षजुषः श्रुतस्थितिपुषश्चेतोक्षसंज्ञामुषः,
संदेहाच्छिदुराः कषायभिदुराः प्रोद्यत्तपोमेदुराः।
संवेगोल्लासिताः सदध्यवसिताः सर्वातिचारोज्झिताः,
स्वाध्यायात परवाद्यऽशङ्किताधियः स्युः शासनोद्भासिनः॥ ८९॥

मुमुक्षुओंको स्वाध्यायके प्रसादसे अनेक प्रकारके फल प्राप्त होते है। यथाः—स्वाध्याय करनेवालोंकी तर्कवितर्करूप बुद्धि इसके निमित्तसे ही प्रीतिपूर्वक उत्कर्षको धारण किया करती है। एव वे परमागमकी स्थितिको भी इसके बलसे ही पुष्ट रख सकते है। तथा इन्द्रिय और अनिन्द्रिय–मन एवं आहार भय मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओंका प्रतिरोध–निग्रह, तथा संशयों–अनेक प्रकारकी शकाओंका निराकरण, एव क्रोधादिक कषायोंका नाश, इसके द्वारा ही कर सकते हैं। तपस्विगणभी इसमें प्रवृत्त होनेपर ही दिनपर दिन बढते हुए तपसे पुष्ट हो सकते हैं। संवेगके द्वारा उत्कृष्ट शोभाको प्राप्तहुए प्रशस्त परिणामोंकी सिद्धि भी इसीसे हो सकती है। अथवा उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूपसे युक्त वस्तुका निश्चय स्वाध्याय करनेसे ही हो सकता है। इसमें प्रवृत्त होनेसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान या सम्यक्चारित्र किसीमें भी अतीचार नहीं लग सकता। एव इसके बलसे ही विद्वान्लोग बौद्धादिक परवादियोंसे निःशंक रहते और जिनधर्मकी प्रभावना कर सकते है।

स्वाध्यायके स्तुतिरूप फलको बताते हैं:—

शुद्धज्ञानघनार्हदद्भुतगुणग्रामग्रहव्यग्रधी,—
स्तद्व्यक्त्युद्धरनूतनोक्तिमधुरस्तोत्रस्फुटोद्गारगीः।

मूर्तिं प्रश्रयनिर्मितामिव दधत्ताकिंचिदुन्मुद्रय,—
त्यात्मस्थाम कृती यतोऽरिजयिनां प्राप्नोति रेखां धुरि ॥ ९० ॥,

स्तुतिरूप स्वाध्यायमें प्रवृत्त हुए मुमुक्षुकी बुद्धि—मनःप्रवृत्ति, अत्यंत निर्मल और परिपूर्ण ज्ञानके भंडार श्री अर्हंतदेवके अद्भुत—आश्चर्योत्पादक गुणोंके समूहमें अभिनिवेशके कारण व्यग्र रहा करती है, और इसीलिये उसकी वाणी—वचनप्रवृत्ति, भगवान्के उन गुणोंके प्रकट होनेसे उत्कट तथा नवीन नवीन उक्तियोंसे मधुर स्तोत्रोंके स्फुट उद्गारोंसे भरी हुई रहती है, एवं उसकी शरीर यष्टि ऐसी मालुम पडने लगती है मानों साक्षात् विनयकी ही बनी हुई हो। इस प्रकार उसके मन वचन और काय तीनों ही पूर्णज्ञानघन भगवान्के गुणोंमें लीन रहते हैं। अत एव वह कृती अपनी आत्मामें स्थित अनिर्वचनीय वीर्य—अनन्तशक्तिको प्रकट कर देता और अतमें मोहके विजेता साधुओंके अग्रपदको प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—स्तुतिरूप स्वाध्याय करनेवालेकी बुद्धि उक्ति और शारीरिक प्रवृत्ति भगवान्के निर्मल गुणोंकी तरफ ही लगी रहती है। अत एव अतमें वह उसी रूपको प्राप्त करलेता है।

पंचनमस्कार मंत्रको परममंगल और उसके जप करनेको उत्कृष्ट स्वाध्याय बताते हैं:—

मलमखिलमुपास्त्या गालयत्याङ्गिनां य,—
श्छित्वफलमपि मङ्गं लाति यच्चत्पराध्यम्।
परमपुरुषमंत्रो मङ्गलं मङ्गलानां,
श्रुतपठनतपस्यानुत्तरा तज्जपः स्यात ॥ ९१ ॥

पेंतीस अक्षरके अपराजित मंत्रको ही परमपुरुष मत्र कहते हैं। इसकी उपासना—आराधना—मन या वचनके द्वारा जप करनेसे संपूर्ण पाप गल जाते हैं। तथा इससे मोक्षरूप अभ्युदयकी भी प्राप्ति होती है। अत एव इसको

साधारण मंगल ही नहीं किन्तु मंगलोंका भी मंगल–परममंगल कहना चाहिये। क्योंकि सम्पूर्ण लौकिक कल्याणोंके सिद्ध होने में भी यह प्रधान कारण है। जैसा कि कहा भी है कि:—

एसो पञ्चणमोयारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाण च सव्वेसिं पढमं होइ मंगलं ॥

और इसीलिये इसके वाचिक या मानसिक जपको उत्कृष्ट स्वाध्याय तप समझना चाहिये।

भावार्थ—मंगल शब्दके निरुक्तिकी अपेक्षा दो अर्थ होते हैं, एक तो यह कि जिसके निमित्तसे म–पाप गल जांय। दूसरा यह कि जिसके द्वारा मङ्ग–अभ्युदयकी सिद्धि हो। ये दोनों ही अर्थ पञ्च नमस्कार मंत्रमें पूर्णतया घटित होते हैं, अत एव उसको परममंगल कहना चाहिये। इसीलिये इसके जप करनेको उत्कृष्ट स्वाध्याय नामका अन्तरङ्ग तप समझना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

स्वाध्याय परमस्तावज्जप पञ्चनमस्कृते।
पठनं वा जिनेन्द्रोक्तशास्त्रस्यैकाग्रचेतसा ॥

अरिहंत भगवान्के ध्यानमें लगे हुए मुमुक्षुका आशीर्वचनरूप अथवा शान्त्यादिवचनरूप मंगल भी कल्याणका साधक हुआ करता है, इसी बातको प्रकट करते हैं—

अर्हद्ध्यानपरस्यार्हन् शं वो दिश्यात्सदास्तु वः। —
शान्तिरित्यादिरूपोपि स्वाध्यायः श्रेयसे मतः ॥ ९२ ॥

जो साधु प्रधानतया निरंतर अर्हंतके ध्यानमें ही लीन रहता है उसके "अर्हन् शं वो दिश्यात." अर्थात् अर्हंत भगवान् तुम्हारा कल्याण करें, तथा "सदास्तु वः शान्ति" अर्थात् तुम्हें सदा शान्ति बनी रहे, इत्यादि वचनोंको भी स्वाध्याय ही कहना चाहिये। क्योंकि पूर्वाचार्योंने इसके द्वारा भी कल्याण–पुण्यकी और परम्परासे मोक्षकी सिद्धि मानी है। शान्तिका स्वरूप इस प्रकार कहा है:—

सुखतद्धेतुसम्प्राप्तिर्दुःखतद्धेतुवारणम्।
तद्धेतुहेतवश्चान्यदपीदृक शान्तिरिष्यते ॥

अर्थात् सुख और उसके कारण तथा कारणोंके भी कारणोंकी प्राप्तिको यद्वा दुःख और उसके कारण तथा कारणोंके भी कारणों की निवृत्तिको शान्ति कहते हैं। जयवाद और आशीर्वचनोंका अर्थ स्पष्ट ही है। यथाः—

जयन्ति निर्जिताशेषसर्वथैकान्तनीतय ।
सत्यवाक्याधिपा· शश्वद्विद्यानन्दा जिनेश्वरा' ॥

तथा— जयन्ति विधुताशेषबन्धना धर्मनायका ।
त्वं धर्मविजयी भूत्वा तत्प्रसादाज्जगाखिलम् ॥

तथा— जयत्वसौ श्रीवृषभो जिनेश्वर ,
सुरावधूना सितचामरावली ।
बभौ यदङ्गे प्रतिबिम्बिताभितो,
रवेरिवान्तश्चलदिन्दुसंहति ॥

अथवा— नतामरशिरोरत्नप्रभाप्रोतनखत्विषे ।
नमो जिनाय दुर्वारमारवीरमदच्छिदे ॥

इसी प्रकार " स्वस्ति त्रिलोकगुरवे जिनपुंगवाय "–इत्यादि और भी वचनोंको समझना चाहिये।

क्रमप्राप्त व्युत्सर्ग नामक तपके दो भेदोंको और उसकी दोनों भावनाओंको बताते हैः—

बाह्यो भक्तादिरुपधिः क्रोधादिश्चान्तरस्तयोः ।
त्यागं व्युत्सर्गमास्वान्तं मितकालं च भावयेत् ॥ ९३ ॥

व्युत्सर्ग नाम त्यागका है। वह दो प्रकारका हो सकता है। एक बाह्य दूसरा अन्तरङ्ग। आहार वसतिका आदि ऐसे पदार्थोंका जिनका कि आत्मासे सम्बन्ध नहीं है त्याग करना बाह्य व्युत्सर्ग कहा जाता है। और जिनका कि आत्मासे सम्बन्ध हो रहा है ऐसे क्रोधादि कषायरूप अन्तरंग परिग्रहके त्यागको अन्तरङ्ग व्युत्सर्ग कहते हैं। इन दोनों ही प्रकार के व्युत्सर्गतपका यावज्जीवन अथवा कालका प्रमाण करके मुमुक्षुओंको पालन करनेका पुनः पुनः विचार करना चाहिये।

वर्तमान क्षेत्र और कालवर्ती साधुओंके प्रसादसे अपनी आत्मामें प्रशमकी प्राप्ति हो, ऐसी भावना प्रकट करते हैं:--

भक्तत्यागविधेः सिसाधयिषया येऽर्हाद्यवस्थाः क्रमा,—
च्चत्वारिंशतमन्वहं निजबलादारोढुमुद्युञ्जते ।
चेष्टाजल्पनचिन्तनच्युतचिदानन्दामृतस्रोतसि,
स्नान्तः सन्तु शमाय तेऽद्य यमिनामत्राग्रगण्या मम ॥ ९९ ॥

जो संयमियोंमें अग्रगण्य साधुजन आज इस भरतक्षेत्र और पंचमकालमें रहकर भी भक्त प्रत्याख्यान मरणको सिद्ध करनेकी इच्छासे अर्ह लिङ्ग आदि चालीस पर्यायों--अवस्थाओंपर प्रतिदिन और अपनी शक्तिके अनुसार क्रमसे आरोहण करनेकेलिये सोत्साह प्रवृत्त रहा करते हैं, और चेष्टा वचन तथा विचारोंसे च्युत-मन वचन और कायके अगोचर चिदानन्द स्वरूप अमृतके स्रोतमें अवगाहन करके शुद्धिको प्राप्त हो चुके हैं, उनके प्रसादसे मुझे प्रशमकी प्राप्ति हो। क्योंकि ऐसे महातपस्वियोंके स्मरणसे अवश्य ही आत्मामें शान्तिका लाभ होता है।

जो साधु आत्माका सस्कार करते समय कान्दर्पी आदि पांच प्रकारकी सक्लिष्ट भावनाओंको छोडकर तप श्रुत सत्व एकत्व और धृति इन पाच भावनाओंका प्रयोग करता है वह सहजमें ही परीषहोंको जीत सकता है, ऐसा उपदेश देते हैं:—

कान्दर्पीप्रमुखाः कुदेवगतिदाः पञ्चापि दुर्भावना,—
स्त्यक्त्वा दान्तमनारतपःश्रुतसदाभ्यासादबिभ्यद्भृशम् ।
भीष्मेभ्योऽपि समिद्धसाहसरसो भूयस्तरां भावय —
न्नेकत्वं न परीषहैर्धृतिसुधास्वादे रतस्तप्यते ॥ १०० ॥

व्युत्सर्ग शब्दका निरुक्तिसे क्या अर्थ होता है, सो बताते हैं:—

बाह्याभ्यन्तरदोषा ये त्रिविधा बन्धहेतवः ।
यस्तेषामुत्तमः सर्गः स व्युत्सर्गो निरुच्यते ॥ ९४ ॥

माता पिता स्त्री पुत्र भ्राता भगिनी भागिनेय आदिका संसर्ग बाह्यदोष है, और ममकार अहंकार आदि भाव अन्तरङ्ग दोष हैं। इनके भी उत्तर भेद अनेक हैं। ये अन्तरङ्ग और बाह्य दोष ही कर्मबन्धके कारण हैं। अत एव इन वि–विविध दोषोंके उत्—उत्तम—प्राणान्तिक और ख्याति लाभ पूजा आदि की अपेक्षासे रहित सर्ग—परित्यागको व्युत्सर्ग कहते हैं।

व्युत्सर्गके उत्कृष्ट स्वामीको बताते हैं:—

देहाद्विविक्तमात्मानं पश्यन् गुप्तित्रयीं श्रितः ।
स्वाङ्गेऽपि निस्पृहो योगी व्युत्सर्गं भजते परम् ॥ ९५ ॥

जो अपनी आत्माका शरीरसे सर्वथा भिन्न अनुभव करता रहता है और जो तीनों ही गुप्तियोंका सर्वथा पालन करनेवाला तथा बाह्य पदार्थोंमें ही नहीं अपने शरीरमें भी निस्पृह रहता है ऐसा योगी—समीचीन ध्यानमें स्थिर रहनेवाला यति ही उत्कृष्ट व्युत्सर्गका धारक हो सकता है।

अन्तरङ्ग परिग्रहके व्युत्सर्गका स्वरूप प्रकारान्तरसे बताते हैं:—

कायत्यागश्चान्तरङ्गोपाधिव्युत्सर्ग इष्यते ।
स द्वेधा नियतानेहा सार्वकालिक इत्यपि ॥ ९६ ॥

शरीरके परित्याग करनेको भी पूर्वाचार्योंने अन्तरङ्ग परिग्रहका व्युत्सर्ग ही माना है। इसके भी दो भेद हैं—एक नियतकाल दूसरा सार्वकालिक।

कान्दर्पी कैल्विषी आभियोगा दानवी और संमोहा इस तरह दुर्भावनाएं पांच प्रकारकी मानी हैं। जो साधु इनमें प्रवृत्त होता है वह देवगतिमें जाकर भी भाण्ड तैरिक काहार शौनिक कुर्कर आदि नीच अवस्थाओंको धारण करता है, अर्थात् मरकर कुदेव होता है। अत एव इन कुत्सित भावनाओंको छोडकर और अपने मनको वशमें करके जो निरंतर तपोभावना और श्रुतभावनामें लीन रहता है, तथा इस तप और श्रुतका सदा अभ्यास और इसीके बलपर साहसिकताके निरंतर उद्दीप्त रहनेसे अत्यंत भयकर वेतालादिकोंसे भी जो कभी भयको प्राप्त नहीं होता किन्तु पुनः पुनः एकत्वका विचार किया करता है वह साधु निरंतर सतोपामृतके पान करनेमें रत रहा करता है और इसीलिये वह कभी भी क्षुधा पिपासा आदि परीषहोंसे पीडित नहीं हो सकता।

भावार्थ—दुर्भावनाओंका परित्याग और मनका निर्दलन करके जो मुमुक्षु तप श्रुत सत्त्व और एकत्वका निरन्तर अभ्यास करता हुआ धैर्यको धारण करता है वही परीषहोंका विजेता हो सकता है।

मिथ्या और समीचीन भावनाओंका स्वरूप इसप्रकार है:—

कन्दर्प (रागके उद्रेकसे हसी दिल्लगीके साथ साथ अशिष्ट शब्द बोलना) कौत्कुच्य (शरीरसे दुश्चेष्टा करते हुए अश्लील दिल्लगी करना और भड वचन बोलना) विहेतन (प्रतारणा करना, या किसीको यातना देना आदि) यद्वा केवल परिहास करना अथवा चाटु कारके शब्द बोलना या दूसरोंको विस्मय उत्पन्न करना इत्यादि अनेक प्रकारकी क्रियाओंके निरतर करनेको कान्दर्पी भावना कहते हैं। केवली श्रुत धर्म आचार्य और साधुओंके अवर्णवाद—असद्भूत दोषोंके निरूपण करने तथा मायाचार रखनेको कैल्विषिकी भावना कहते हैं। आनन्दोत्पादक रस ऋद्धियोंके निमित्तसे मत्र अभियोग कौतुक या भूतक्रीडा आदि अनेक तरहके कर्म करनेमें निरत रहनेको अभियोग भावना कहते हैं। क्रोध रोष आदि कषायोंसे आविर्भूत रहना तथा लडाई झगडों आदिमें आसक्त रहना एवं करुणा या कोमलता अथवा सहानुभूति आदिक भावोंसे रहित परिणामोंका रखना दानवी भावना कही जाती है। सन्मार्गके प्रतिकूल और मिथ्यामार्गके समर्थन करनेमें अपनी बुद्धिकी पटुता प्रकट करना तथा प्राणियोंको मोह—मिथ्यात्व अथवा रागद्वेषादिकसे मोहित करना आदि संमोहा भावना कही जाती है।

ये पांच प्रकारकी दुर्भावनाएं है जिनके कि करनेमे तपस्वी परलोकमें कुदेव होता है। इनके विरुद्ध मोक्षमार्गकी साधक पांच समीचीन भावनाएं हैं जिनका कि निर्देश ऊपर किया जाचुका है। फिर भी उनका स्वरूप संक्षेपमें इस प्रकार है:—

इन्द्रियोंका स्वामी मन है। मनकी प्रेरणासे ही इन्द्रियां अपने विषयोंमें प्रवृत्त हुआ करती है। इसलिये यदि इन्द्रियोंको जीतना हो तो पहले मनको वशमें करना चाहिये। मनके वशमें होजानेपर इन्द्रियां स्वयं ही वशीभूत होजाती हैं। और वह वशीभूत मन समाधिका कारण बनता है। अत एव अनेकप्रकारसे मन और इन्द्रियोंके वशमें करते रहनेके प्रयत्नका ही नाम तपोभावना है। ज्ञान दर्शन चारित्र और तप इन चारों आराधनाओंकी सिद्धि आगमका अभ्यास करनेसे ही होसकती है और इसके निमित्तसे ही मुमुक्षु साधु असंक्लिष्ट होकर सुखका भोग कर सकता है। अत एव पुनः पुनः आगमके अभ्यास करनेको श्रुतभावना कहते हैं। दिनमें अथवा रातमें अत्यंत भयानकरूप रखकर देवोंके द्वारा डरायेजानेपर भी भयके वश न होना तथा उत्कृष्ट साहसका रखना इसको सत्व भावना कहते हैं। संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त रहकर मोक्षमार्गमें रत रहनेको एकत्व भावना कहते है। जिसको देखकर साधारण शक्तिवाले लोगोंको भय उत्पन्न होने लगे एवं जिसका वेग मार्गको दुर्धर बनानेवाला है ऐसी परीषहोंकी सम्पूर्ण सेना समस्त उपसर्गोंके साथ साथ भी आकर यदि उपस्थित हो तो भी आरब्ध मोक्षमार्गमें निराकुल रहना तथा सम्पूर्ण मनोरथोंके सिद्ध करनेवाले धैर्यको न छोडना धृति भावना कही जाती है।

भक्तप्रत्याख्यानका लक्षण और सल्लेखनाके जघन्य तथा उत्कृष्ट कालका प्रमाण बताते है:—

यस्मिन् समाधये स्वान्यवैयावृत्त्यमपेक्ष्यते ।
तद्द्वादशाब्दानीषन्तर्मुहूर्तं चाशनोज्झनम् ॥ १०१ ॥

समाधिकी इच्छा रखनेवाले साधुओंको भक्तप्रत्याख्यान मरणमें रत्नत्रयको एकाग्र रखनेकेलिये स्ववैयावृत्य और परवैयावृत्य दोनों ही की अपेक्षा रहा करती है। तथा इस मरणका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट बारह वर्षका है।

व्युत्सर्ग तपका फल बताते हैं:--

नैःसङ्ग्यं जीविताशान्तो निर्भयं दोषविच्छिदा ।
स्याद्व्युत्सर्गाच्छिवोपायभावनापरतादि च ॥ १०२ ॥

व्युत्सर्ग तपके प्रसादसे सम्पूर्ण परिग्रहका निग्रह होजानेसे निर्ग्रन्थताकी सिद्धि, और जीवनकी आशाका विनाश तथा भयका अभाव होता है, रागादिक दोषोंका उच्छेद और मोक्षमार्ग--रत्नत्रयके अभ्यास करनेमे तत्परता होती है। अधिक क्या सभी लौकिक और पारलौकिक अभ्युदयों तथा अन्तमें मोक्षकी भी इससे सिद्धि हुआ करती है।

अन्तिम अन्तरङ्ग तप-ध्यानका वर्णन करनेकी इच्छासे उसके मिथ्या और समीचीन भेदोंका वर्णन करते हुए इस बातका उपदेश देते हैं कि प्रशस्त ध्यानके विना सम्पूर्ण क्रियाओंका पालन करते रहने पर भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती:--

आर्तं रौद्रमिति द्वयं कुगतिदं त्यक्त्वा चतुर्धा पृथग्,
धर्म्यं शुक्लमिति द्वयं सुगतिदं ध्यानं जुषस्वानिशम् ।
नो चेत्क्लेशनृशंसकीर्णजनुरावर्तें भवाब्धौ भ्रमन्,
साधो सिद्धिवधूं विधास्यसि मुधोत्कण्ठामकुण्ठाश्चिरम् ॥ १०३ ॥

मनके किसी भी एक विषयमें लीन होनेको ध्यान कहते हैं। यह दो प्रकारका होता है, एक मिथ्या दूसरा समीचीन। मिथ्या भी दो प्रकारका होता है, एक आर्त दूसरा रौद्र। तथा समीचीन भी दो प्रकारका होता है, एक धर्म्य दूसरा शुक्ल। इनमें भी प्रत्येकके उत्तर भेद चार चार होते हैं। यथा आर्तध्यानके इष्टवियोग अनिष्टसंयोग पीडाचिन्तवन और निदान। रौद्रध्यानके हिंसानन्द मृषानन्द चौर्यानन्द और परिग्रहानन्द। एव

धर्मध्यानके आज्ञाविचय अपायविचय विपाकविचय और संस्थानविचय। तथा शुक्लध्यानके पृथक्त्ववितर्कवीचार एकत्ववितर्क सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति।

इष्टपदार्थ स्त्री पुत्र धन गृह आदिका वियोग होजानेपर दुःखके साथ उसकी प्राप्तिकेलिये पुनः पुनः विचार करना, अथवा संयोग रहनेपर भी संयोग ही बना रहे कभी वियोग न हो ऐसा उसके विषयमें वार वार विचार करते रहना इसको इष्टवियोग नामका आर्तध्यान कहते हैं। इसी प्रकार अनिष्ट पदार्थका संयोग हो जाने पर उसके वियोगके लिये अथवा वियोग रहनेपर उसका कभी भी संयोग न होनेके लिये पुनः २ विचार करनेको अनिष्टसंयोग नामका आर्तध्यान कहते हैं। तथा कभी आधि व्याधि प्राप्त न हो इस तरहका अथवा उनके प्राप्त होनेपर उनके दूर होनेके लिये चिन्ता करते रहनेको पीडाचिन्तवन, और भविष्यत्‌में भोगादिकोंकी अभिलाषा पूर्ण करनेकेलिये संकल्प करनेको निदान आर्तध्यान कहते हैं।

हिंसा झूठ चोरी और कुशील अथवा परिग्रहमें आनन्द मानना तथा उनकेलिये खुशीके साथ प्रवृत्ति करना इसको ही क्रमसे हिंसानंद मृषानंद चौर्यानंद और परिग्रहानंद कहते हैं।

अरिहंत देवकी आज्ञाका मुझसे भंग न हो यद्वा कोई भी उसका भंग न करे तथा सर्वत्र उसका प्रचार हो ऐसा विचार करनेको आज्ञाविचय, ये सम्पूर्ण संसारी प्राणी जो अनेक प्रकारके दुःखोंको भोग रहे है वे उनसे कब मुक्त हों ऐसा विचार करनेको अपाय विचय, और ये सभी संसारी जीव कर्मोदयके वशमें पडकर इस तरह संक्लिष्ट हो रहे है ऐसे कर्म फलके विषयमें वार वार विचार करनेको विपाकविचय, तथा लोकके आकारादिके विषयमें पुनः पुनः विचार करनेको संस्थान विचय नामका धर्मध्यान कहते हैं।

वितर्क शब्दका अर्थ श्रुत और वीचार शब्दका अर्थ व्यंजन तथा योगकी संक्रांति होता है। जिस ध्यानमें पृथक्त्व-योगोंकी भिन्नताके साथ साथ ये दोनों बातें रहें उसको पृथक्त्व वितर्कवीचार नामका शुक्लध्यान कहते हैं, और जिसमें एक ही योगके साथ वितर्क तो हो पर वीचार न हो उसको एकत्व वितर्क कहते है। जिसमें काययोगकी भी स्थूल परिणति छूट जाती है किन्तु मन्दस्पन्दता ही रहजाती है उसको सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, और जिसमें सम्पूर्ण ही क्रिया छूट जांय उसको व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामका शुक्लध्यान कहते हैं।

इस प्रकार ध्यानोंका स्वरूप संक्षेपसे यहांपर बताया है। इनमेंसे आदिके जो दोनों आर्त और रौद्र नामक मिथ्या ध्यान हैं वे तिर्यञ्च नारक कुदेव या कुमानुषत्व आदि खोटी पर्यायोंके कारण हैं। तथा अंतके जो धर्म्य और शुक्ल नामके सद्ध्यान हैं वे सुगतियों—सुदेवत्व सुमानुषत्व तथा अंतमें मोक्षको भी देनेवाले हैं। अत एव हे साधो ! तू इन दुर्ध्यानोंको छोडकर निरंतर समीचीन ध्यानोंका ही प्रीतिपूर्वक सेवन कर। अन्यथा अनेक व्रत उपवासादि क्रियाकाण्डमें सदा उद्यत रहते हुए भी तू सिद्धवधूको चिरकालकेलिये अपने ऊपरसे उत्कण्ठाशून्य बनालेगा, और अत्यंत भयंकर तथा क्रूर मकर मच्छ आदि जलजंतुओंके समान विविधक्लेशोंसे पूर्ण तथा जन्ममरणरूप भंवरोंसे भरे हुए भव–समुद्रमें भ्रमण करता फिरेगा।

भावार्थ—मोक्षकी सिद्धि सद्ध्यानके प्रसादसे ही हो सकती है अत एव मुमुक्षु साधुओंको उसमें अवश्य ही प्रवृत्त होना चाहिये।

अंतमें तपके विषयमें उद्योतनादिक पांचो आराधनाओंका और उसके फलका वर्णन करते हैं:—

यस्त्यक्त्वा विषयाभिलाषमभितो हिंसामपास्यंस्तप,—
स्यागूर्णो विशदे तदेकपरतां बिभ्रच्चदेवोद्गतिम्।
नीत्वा तत्प्रणिधानजातपरमानन्दो विमुञ्चत्यसून्,
स स्नात्वाऽमरमर्त्यशर्मलहरीष्वेति परां निर्वृतिम् ॥ १०४ ॥

इन्द्रियोंके विषयोंकी अभिलाषाको छोडकर और द्रव्य तथा भाव दोनों ही प्रकारकी हिंसाका भी सर्वथा परित्याग करके जो साधु पूर्वोक्त निर्मल तपश्चरणमें उद्यत रहकर उसीमें रत रहता हुआ उसके अन्त दर्जेकी समुन्नतिको प्राप्त होजाता है, तथा उस निर्मल तपश्चरणमें रहनेवाली अव्यवच्छिन्न परिणति–एकतानताके निमित्तसे उत्पन्न हुए प्रकृष्ट प्रमोदको प्राप्त होकर प्राणोंका परित्याग करता है वह साधु देव और मनुष्यगतिके सुखसमुद्रमें अवगाहन करके अन्तमें परममुक्तिको प्राप्त होता है।

भावार्थ—तपके विषयमें पांच आराधनाएं बताई हैं—उद्योतन उद्यवन निर्वहण साधन और निस्तरण। विषयाभिलाषाको छोडकर हिंसाका त्याग करना उद्योतन, निर्मल तपमें उद्यत रहना उद्यवन, उस तपमें ही लीन रहना निर्वहण, और उस तपस्यामें अंतिम दर्जेकी उन्नति करना साधन, तथा उस तपोजनित आनन्दमें मरणान्त निमग्न रहना निस्तरण कहा जाता है। इन पांच आराधनाओंमें रत रहनेवाला ही साधु देव और मनुष्यगतिके उत्कृष्ट अभ्युदयोंका भोगकर जीवन्मुक्ति और अंतमें परममुक्तिको प्राप्त होता है।



आठवाँ अध्याय ।

तपके विनयरूपसे षडावश्यकोंका पालन करनेकेलिये पहले संक्षेपमें कहा जा चुका है। अब उन्हींको खुलासा समझानेकेलिये निरूपण करते हैं:—

अयमहमनुभूतिरितिस्ववित्तिविषजत्तथेतिमतिरुचिते ।
स्वात्मनि निःशङ्कमवस्थातुमथावश्यकं चरेत् षोढा ॥ १ ॥

जो स्वसंवेदन प्रत्यक्षका विषय है, और जो "अहं"—"मैं" इस उल्लेखके द्वारा अनुभवमें आता है वह शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप आत्मा मैं ही हूं। इस अनुभवको ही स्वपरज्ञप्ति अथवा स्वसंवित्ति कहते हैं। जो इस आत्मसंवेदनके द्वारा जिसमें कि भिन्नताका अवभास नहीं हो सकता ऐसी एकतानताको प्राप्त हो गया है और जो रुचि अथवा श्रद्धाका विषय हो चुका है—अपने द्वारा अपनेमें ही जिसका निश्चय किया जा चुका है ऐसे निज आत्मस्वरूपमें निःशङ्क-निश्चित सुखका अनुभव करते हुए अथवा निःसंशय—निश्चल होकर उत्पाद व्यय और ध्रौव्यके समुदयरूप आत्मवृत्तिमें अवस्थित होनेकेलिये तपस्वियोंको छह प्रकारके आवश्यकोंका पालन करना चाहिये।

मुमुक्षुओंके छह आवश्यक कर्मोंके निर्माणका समर्थन करनेकेलिये चौदह पद्योंमें स्थलशुद्धिका विधान करते हैं। उसमें सबसे पहले आत्मा और शरीरके भेद ज्ञान तथा वैराग्यके द्वारा जिसकी शक्ति नष्ट करदी गई है ऐसा विषयोंका उपभोग कर्मबन्धका कारण नहीं हो सकता, इस बातको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं:—

मन्त्रेणेव विषं मृत्यै मध्वरत्या मदाय वा ।
न बन्धाय हतं ज्ञप्त्या न विरक्त्यार्थसेवनम् ॥ २ ॥

मन्त्रद्वारा जिसकी सामर्थ्य—मारणशक्ति नष्ट करदी गई है ऐसे विषका भक्षण करनेपर भी जिस प्रकार मरण नहीं होता उसी तरह आत्मा और शरीरका भेद ज्ञान रहने पर विषयोंका सेवन करनेमे कर्मोंका बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार विना प्रीतिके पिया हुआ भी मद्य जिस तरह मद—नशा या बेहोशीको करनेवाला नहीं होता उसीप्रकार भेद ज्ञान द्वारा उत्पन्न हुए वैराग्यके अन्तरङ्गमें रहनेपर वह विषयोपभोग कर्म बन्धका कारण नहीं हो सकता।

भावार्थ—यहांपर भेदज्ञान और वैराग्य इन दोनोंकेलिये क्रमसे दो उदाहरण दिये हैं। इन उदाहरणोंसे यह बात स्पष्ट है कि यदि अनरङ्गमें भेदज्ञान और वैराग्य हो तो इन्द्रोयोंके विषयोंका सेवन करते हुए भी कर्मोंका बन्ध नहीं हो सकता।

ज्ञानी जीवका विषयोपभोग स्वरूपकी अपेक्षासे यद्यपि सद्रूप है तो भी उससे विशिष्ट फल उत्पन्न नहीं होता इसलिये उसे असद्रूप ही कहना चाहिये। इसी बातको दृष्टान्तद्वारा दृढ करते हैः—

ज्ञो भुञ्जानोपि नो भुङ्क्ते विषयांस्तत्फलात्ययात् ।
यथा परप्रकरणे नृत्यन्नपि न नृत्यति ॥ ३ ॥

जिस प्रकार नृत्यकार अन्य पुरुषके विवाहादिक उत्सवके समय केवल शारीरिक चेष्टामात्रसे ही नृत्य करता है न कि उपयोग लगाकर। उसका उपयोग तो उस समय उधरसे विमुख ही रहता है। क्योंकि उसका वहां पर कोई फल भी नहीं होता। अत एव उसको नृत्य करते हुए भी उपयोगकी अपेक्षा से नृत्य नहीं करता है ऐसा ही कहना चाहिये। इसी प्रकार जो मनुष्य ज्ञानी है—आत्मस्वरूपके ज्ञानमें उपयुक्त है वह चेष्टामात्रसे यद्यपि इन्द्रियोंके विषयोंको भोगता है फिर भी उसे अभोक्ता ही समझना चाहिये। क्योंकि वास्तवमें उसका विषयोंकी तरफ उपयोग नहीं रहता। "आज मैं धन्य हू जो इस तरहके उत्कृष्ट भोगोंको भोग रहा हूं" ऐसा आभिमानिक रस और बुद्धिपूर्वक राग उसके नहीं पाया जाता। इसलिये उसके कर्मोंका बन्ध भी नहीं होता।

भावार्थ—कर्मोंका संचय बुद्धिपूर्वक रागादिकके द्वारा हुआ करता है। ज्ञानीके विषयोंके सेवन करनेमें बुद्धिपूर्वक रागादि नहीं रहते। अत एव उसके कर्मोंका बन्ध भी नहीं होता। विषय सेवनका फल कर्मबन्ध है सो

जब ज्ञानीके नहीं होता तब उसको विषयोंका भोक्ता कहना ही व्यर्थ–निष्फल है। अत एव आत्मज्ञानी जीव भोक्ता रहनेपर भी अभोक्ता ही माना जाता है।

ज्ञानी और अज्ञानीके कर्मबन्धकी विशेषता बताते हैं —

नाबुद्धिपूर्वा रागाद्या जघन्यज्ञानिनोपि हि।
बन्धायालं तथा बुद्धिपूर्वा अज्ञानिनो यथा ॥ ४ ॥

जिसको मध्यम या उत्कृष्ट आत्मज्ञान है उसकी तो बात ही क्या जघन्य दर्जेके आत्मज्ञानवाले पुरुषके भी सम्पूर्ण रागादिक आत्मदृष्टिपूर्वक ही हुआ करते हैं अत एव वे कर्मबन्ध करानेमें भी समर्थ नहीं हुआ करते। किंतु अज्ञानीके इसके विपरीत सभी रागादिक आत्मदृष्टि रहित होते है अत एव उसके वे सभी भाव कर्म बन्धके ही कारण हुआ करते हैं।

अनादि कालसे आत्माके साथ जो प्रमाद या अज्ञानजनित आचारणका सम्बन्ध चला आ रहा है उसपर अपशोच प्रकट करते हैं:—

मत्प्रच्युत्य परेहमित्यवगमादाजन्म रज्यन् द्विषन्,
प्राङ्मिथ्यात्वमुखैश्चतुर्भिरपि तत्कर्माष्टधा बन्धयन्।
मूर्तैर्मूर्तमहं तदुद्भवभवैर्भावैरसंचिन्मयै,—
र्योजं योजमिहाद्य यावदसदं ही मा न जात्वासदम् ॥ ५ ॥

चेतनाका चमत्कार मात्र है स्वभाव जिसका ऐसी अपनी आत्माको हाय मैंने कभी भी प्राप्त नहीं किया— निजस्वरूपकी तरफ मेरी अभी तक कभी दृष्टि ही नहीं गई, बल्कि उस आत्मस्वरूपसे विमुख होकर पर शरीरादिकमें ही मै आत्मबुद्धि धारण किये रहा, जड शरीरादिकोंको ही "ये मैं हूं" ऐसा मानता रहा। हा! इस अज्ञानके कारण ही मै अनादिकालसे इष्ट पदार्थोंमें राग और अनिष्ट विषयोंमें द्वेष करता रहा हूं। और

इसीलिये मिथ्यात्वादिक—मिथ्यात्व असंयम कषाय और योग इन चार पूर्वसंचित पौद्गलिक भावोंसे उन प्रसिद्ध आठ प्रकारके मूर्त—रूप रस गंध स्पर्श युक्त ज्ञानावरणादि कर्मोंका बन्ध करता रहा, तथा उनके उदयसे उत्पन्न हुए अज्ञानमय मिथ्यादर्शन और रागादि विभावरूप परिणत हो हो कर आज तक इस संसारमें दुःख और क्लेशको ही भोगता रहा हूं।

भावार्थ—अनादि कालसे आजतक मेरा आत्मस्वरूपकी तरफ कभी भी वास्तवमें लक्ष्य नहीं गया। इसीलिये अब तक मैं कर्मचेतना और कर्मफल चेतनाका ही अनुभव कर केवल दुखोंको ही भोगता रहा।

दूसरी जगहपर बन्धके कारण मिथ्यात्वादि पांच बताये हैं किंतु यहांपर चार ही लिखे हैं इसलिये किसी प्रकारका विरोध न समझना चाहिये। क्योंकि प्रमादका अविरतिमें अन्तर्भाव हो जानेपर चार भी बन्धके कारण कहे जा सकते है।

आत्माका कर्तृत्व और भोक्तृत्व स्वरूप वास्तविक नहीं है, वह परपदार्थकी अपेक्षामे ही है, सो भी जब तक शरीर और आत्माका भेद ज्ञान नहीं होता है तब तक और केवल व्यवहार नयसे ही माना है। वास्तवमें तो आत्माका स्वरूप ज्ञातृत्व ही है। इसी बातको दिखाकर भेद ज्ञानके हो जानेपर शुद्ध निज आत्मस्वरूपका अनुभव करनेकेलिये प्रयत्न करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं:—

स्वान्यावऽप्रतियन् स्वलक्षणकलानैय यतोऽस्नेऽहमि—
त्यैक्याध्यासकृते: परस्य पुरुषः कर्ता परार्थस्य च।
भोक्ता नित्यमहंतयानुभवनाज्ज्ञातैव चार्थान्वयो,—
स्तत्स्वान्यप्रविभागबोधबलतःशुद्धात्मसिद्ध्यै यते ॥ ६ ॥

जीव और अजीवका लक्षण तथा स्वरूप भिन्न भिन्न है। किंतु उसको न पहचान कर—आत्मा और शरीरमें जो स्वरूपकी विशेपता नियत—सिद्ध है उसको न समझकर अनात्मस्वरूप शरीरादिकमें जो ये ही मैं हूं इस तरहका

अभेदाध्यवसाय होता है उसीसे जीवको कर्मादिकोंका कर्त्ता और परार्थ—कर्मादिकोंके फलका भोक्ता माना है। अर्थात् भेद ज्ञान न होनेतक आत्मा शरीरादिकके विषयमें कर्त्ता और भोक्ता है किंतु व्यवहारसे ही है न कि निश्चयसे। वास्तवमें तो वह केवल कर्मादिक या उसके फलादिकका ज्ञाता ही है न कि कर्ता या भोक्ता। क्योंकि "अहं"—"मैं" इस उल्लेखके द्वारा उसके विषयमें नित्य ऐसा ही अनुभव होता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

मा कर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं साङ्ख्या इवाप्यार्हताः,
कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादधः।
ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं,
पश्यन्तु च्युतकर्मभावमचलं ज्ञातारमेकं परम्॥

सांख्य जिस प्रकार आत्माको कर्ता मानते हैं उस प्रकार आर्हत नहीं मानते। आर्हत लोग जब तक भेद ज्ञान नहीं होता है तभी तक उसको कर्ता मानते हैं, बादमें नहीं। बादमें तो वे उसको स्वयं अनुभवमें आने योग्य प्रत्यक्षस्वरूप नियत अनंतज्ञानका भंडार और सम्पूर्ण कर्म तथा विभावोंसे रहित सर्वोत्कृष्ट अद्वितीय निश्चल—टंकोत्कीर्ण[१] ज्ञाता मानते हैं।

अत एव मुमुक्षुओंको निश्चय करना चाहिये कि अब मैं स्व और परके भेद ज्ञानका बल उद्भूत हो जानेपर निर्मल निज आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये ही प्रयत्न करूंगा।

आत्माके सम्यग्दर्शनस्वरूपका अनुभव करते हैं।

यदि टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावमात्मानम्।
रागादिभ्यः सम्यग्विविच्य पश्यामि सुदृगास्मि॥ ७॥

भले प्रकार-संशय विपर्यय और अनध्यवसायको छोडकर यदि मैं रागादिकसे भिन्न अपने स्वरूपका अनुभव करता हूं तो वह एक कर्तृत्वादि भावोंसे रहित टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकभावस्वभाव सम्यग्दर्शनस्वरूप ही अनुभवमें आता है।

१—टांकीसे उकेरी हुई मूर्तिके समान जिसका आकार निश्चल और बिलकुल स्पष्ट हो उसको टंकोत्कीर्ण कहते हैं।

रागादिकसे निजस्वरूपकी भिन्नताका समर्थन करते हैं:—

ज्ञानं जानत्तया ज्ञानमेव रागो रजत्तया ।
राग एवास्ति नत्वन्यत्ताच्चिद्रागोस्म्यचित् कथम् ॥ ८ ॥

ज्ञानका स्वभाव जानना—स्व और परपदार्थोंको अवभासित करना है, अत एव अपने इस स्वभावके कारण ज्ञान ज्ञान ही रह सकता है, वह अन्यस्वरूप—रागादिरूप नहीं हो सकता। इसी प्रकार रागका स्वभाव इष्ट-विषयोंमें प्रीति उत्पन्न करना है। अत एव वह भी अपने इस स्वभावके कारण राग ही रह सकता है—ज्ञानरूप नहीं हो सकता। यही बात द्वेष या मोहादिके विषयमें भी समझनी चाहिये। अर्थात् ज्ञानादिक सभी भाव अपने अपने स्वभावके कारण भिन्न भिन्न रूप नहीं हो सकते, अपने अपने स्वभावमें ही रह सकते है, ज्ञान रागादिरूप नहीं हो सकता और रागादिक ज्ञानरूप नहीं हो सकते। ज्ञान ज्ञान ही रहेगा और रागादिक रागादिक ही रहेंगे। जब कि यह बात सिद्ध है तब चित्स्वरूप-ज्ञानस्वभाव मैं अचित्-रागद्वेष मोहरूप किस तरह हो सकता हूं? कभी नहीं हो सकता।

इसी बातको संक्षेपमें और भी स्पष्ट करते हैं:—

नान्तरं वाङ्मनोप्यस्मि किं पुनर्बाह्यमङ्गगीः ।
तत् कोऽङ्गसङ्गजेष्वैक्यभ्रमो मेऽङ्गाऽङ्गजादिषु ॥ ९ ॥

शरीर और वाणी आदि तो प्रत्यक्ष ही मुझसे सर्वथा बाह्य—पृथक् दीखते है अत एव इनके विषयमें तो कहना ही क्या किन्तु अन्तरङ्ग—जो दृष्टिगोचर नहीं होते ऐसे अन्तर्जल्पविकल्पस्वरूप जो वचन या मन है त-

२—रागादिक यद्यपि स्वसंविदित हैं तो भी परस्वरूपका सवेदन नहीं कर सकते इसलिये उन्हे अचित ही कहना चाहिये।

त्स्वरूप भी मैं नहीं हूं। इसलिये हे अङ्ग ! केवल शरीरके संसर्ग मात्रसे उत्पन्न हुए पुत्रादिकोंके विषयमें तो मुझे ऐक्य—अभेदका भ्रम हो ही किस तरह सकता है ?

भावार्थ—द्रव्य और भावरूप वचन या मन तथा शरीर और उससे सम्बन्ध रखनेवाले माता पिता भ्राता भगिनी स्त्री पुत्र आदि सभी तत्त्वतः मुझसे भिन्न हैं और मैं उनसे भिन्न हू।

आत्मा ही अष्टाङ्ग सम्यग्दर्शनस्वरूप है इस बातको स्पष्ट करते हैं:—

यत्कस्मादपि नो बिभेति न किमप्याशंसति क्वाप्युप,—
क्रोशं नाश्रयते न मुह्यति निजाः पुष्णाति शक्तीः सदा।
मार्गान्न च्यवतेऽञ्जसा शिवपथं स्वात्मानमालोकते,
माहात्म्यं स्वमभिव्यनक्ति च तदस्म्यष्टांगसद्दर्शनम् ॥ १० ॥

सम्यग्दर्शनके निःशङ्कितत्व निःकांक्षितत्व आदि आठ अंग माने हैं जिनका कि वर्णन पहले किया जा चुका है। इन आठो अङ्गोंके होनेसे सम्यग्दर्शन पूर्ण माना जाता है। किंतु यह अष्टाङ्ग सम्यग्दर्शन मुझसे कोई भिन्न वस्तु नहीं है। बल्कि मै ही अष्टांङ्ग सम्यग्दर्शन हू। क्योंकि मैं निःशङ्क–निर्भय हू, मुझे किसीसे भी भय नहीं होता। इहलोकभय परलोकभय अरक्षकभय अगुप्तिभय मरणभय वेदनाभय और अकस्मात्भय। ये सात प्रकारकी जो भय बतलाई हैं वे आत्माको नहीं होतीं। जैसा कि कहा भी है कि:—

रूपैर्भयकरैर्वाक्यैर्हेतुदृष्टान्तसूचिभिः।
जातु क्षायिकसम्यक्त्वो न क्षुभ्यति विनिश्चलः ॥

इसी प्रकार आत्माको इस जन्ममें भोगोंकी और परभवमें इन्द्रादि पदोंकी आकांक्षा भी नहीं होती। न वह विष्टा आदि पदार्थों और क्षुधा पिपासा आदि भावोंमें ग्लानि ही करता है। किसी भी मिथ्या देव गुरु या शास्त्रमें वह मोहित–मूर्च्छित भी नहीं होता। बल्कि जिनसे कर्मोंका संवर या निर्जरा हो सकती है, अथवा समस्त

कर्मोंसे रहित मोक्षकी सिद्धि हो सकती है, यद्वा अभ्युदयोंकी प्राप्ति और दुर्गतियोंकी निवृत्ति हो सकती है उन अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंको वह सदा पुष्ट किया करता है। और रत्नत्ररूप मार्गसे कभी विचलित नहीं होता. किंतु वास्तविक मोक्षमार्ग निज चित्स्वरूपका अवलोकन किया करता, और सदा अपने माहात्म्य—अचिन्त्यशक्ति विशेषका सर्वत्र प्रकाश किया करता है। इस प्रकार निश्चयसे देखा जाय तो मैं ही अष्टाङ्गसम्यग्दर्शन हूं।

आत्माकी ज्ञानके विषयमें रति आदि रूप जो परिणति होती है उसको दिखाते हैं—

सत्यान्यात्माशीरनुभाव्यानीयान्ति चैव यावदिदम्।
ज्ञानं तदिहास्मि रतः संतुष्टः संततं तृप्तः ॥ ११ ॥

आत्मा—जीव, और आशीः—आगामी इष्ट पदार्थोंकी अभिलाषा, तथा अनुभाव्य—जो कि वर्तमानमें अनुभवमें आरहे हों, ये तीनों ही पदार्थ सत्य है। और उतने ही हैं जितने कि इस ज्ञानने जाने हैं, अर्थात् जितना यह स्वय संवेद्यमान ज्ञान है उतना ही आत्मा है और उतनी ही आशी है तथा अनुभवनीय पदार्थ भी उतना ही है। अत एव मैं इस ज्ञानमें ही निरंतर रत-आसक्त रहता तथा संतोषको धारण कर तृप्त—सुखी होता हू। अथवा इसको पाकर मैं संतुष्ट और सुखी होगया हूं।

भेदज्ञानके निमित्तसे ही कर्मोंका बन्धन टूटकर मोक्ष और अनंत सुखका लाभ हो सकता है। इसी बातको बताते हैं:—

क्रोधाद्यास्रवविनिवृत्तिनान्तरीयकतदात्मभेदविदः।
सिध्यति बन्धनिरोधस्ततः शिवं शं ततोऽनन्तम् ॥ १२ ॥

क्रोधादिक आस्रवोंकी विशेषरूपसे निवृत्ति—संवरके साथ साथ जो उन क्रोधादिक आस्रवों और आत्माके भेदका ज्ञान होता है उसीसे कर्मोंके बंधका निरोध हुआ करता है। बन्धका उच्छेद हो जानेपर मोक्षकी प्राप्ति और उससे पुनः अनन्तसुखकी सिद्धि हुआ करती है।

यहांपर क्रोधादिकमें आदि शब्द व्यवस्थावाची है । अत एव इससे जीवकी परतन्त्रताके निमित्तभूत राग द्वेष मोह और बादर सूक्ष्म योग तथा अघाति कर्मोंके तीव्र और मन्द उदयके कालविशेषका भी ग्रहण कर लेना चाहिये ।

भावार्थ—इन सम्पूर्ण आस्रवोंका निरोध और उसके साथ साथ भेद ज्ञान होनेसे ही मोक्ष कल्याण और अनन्तसुखकी सिद्धि होती है । जैसा कि कहा भी है कि: —

भेदविज्ञानतः सिद्धा सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥

प्रकृत विषयका उपसंहार करते हुए इस बातका उपदेश देते हैं कि साधुओंको शुद्ध आत्मसंवेदनका लाभ होजानेपर अधःक्रियाओंके पालन करनेमें भी प्रवृत्त होना चाहिये:—

इतीदृग्भेदविज्ञानबलाच्छुद्धात्मसंविदम् ।
साक्षात्कर्मोच्छिदं यावल्लभे तावद्भजे क्रियाम् ॥ १३ ॥

जिसका कि स्वरूप उपर लिखा जा चुका है और जैसा कि आगममें बतलाया भी है उस भेद विज्ञानकी सामर्थ्यसे शुद्ध–सम्पूर्ण संकल्प विकल्पोंसे रहित आत्मसंवेदनको जो कि घाति और अघाति सभी कर्मोंको निर्मूल करनेकेलिये साक्षात्कारण है प्राप्त करूं तबतक मुझे सम्यग्ज्ञानपूर्वक सभी आवश्यक क्रियाओंका पालन करना चाहिये ।

भावार्थ—आत्माका भिन्नत्वेन अनुभवन करनेरूप ज्ञान क्रियाका पालन मुमुक्षुका प्रधान कर्तव्य है, किन्तु जबतक वह मुख्यतया सिद्ध न हो तबतक उसकी साधनभूत अथवा अङ्गरूप अधस्तन क्रियाओंको भी पालना चाहिये ।

यहांपर यह शंका हो सकती है कि जब मुमुक्षुका कर्तव्य निर्विकल्प आत्माका अनुभव करना है जिसमे

कि उसके अभीष्ट मोक्षकी सिद्धि हो सकती है तब उसके विरुद्ध कर्मबन्धकी कारण क्रियाओंका पालन करनेमें उसे प्रवृत्त क्यों होना चाहिये ? और क्या यह कथन आगमविरुद्ध नहीं है ? इसका उत्तर देते हैं:—

सम्यगावश्यकविधेः फलं पुण्यास्रवोऽपि हि ।
प्रशस्ताध्यवसायोंहश्छित्व किलेति मतः सताम् ॥ १४ ॥

ऐसा आगममें बतलाया है कि जिन प्रशस्त परिणामोंसे पुण्यकर्मका आस्रव और पापकर्मोंका उच्छेद होता है वे समीचीन आवश्यक विधानोंके ही फल हैं। यही कारण है कि साधुजन इसके पालन करनेको स्वीकार करते हैं। जैसा कि कहा भी है कि: —

आवश्यकं न कर्तव्यं नैष्फल्यादित्यसांप्रतम् ।
प्रशस्ताध्यवसायस्य फलस्यात्रोपलब्धितः ॥
प्रशस्ताध्यवसायेन संचितं कर्म नाश्यते ।
काष्ठं काष्ठान्तकेनेव दीप्यमानेन निश्चितम् ॥

आवश्यकोंका पालन करना निष्फल है, यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उन्हीके निमित्तसे शुभ परिणामोंकी सिद्धि हुआ करती है; और जिस प्रकार अग्निमे काष्ठ भस्म हो जाता है उसी प्रकार उन शुभ परिणामोंसे पूर्वसंचित कर्म नष्ट हो जाया करते हैं।

यहांपर कोई फिर कह सकता है कि पुण्यबन्ध भी तो कर्मका बन्ध ही है; अत एव पापबन्धकी तरह पुण्यबन्ध करनेका भी अनुरोध मुमुक्षुके लिये क्यों होना चाहिये ? इसका भी उत्तर देते हैं:—

मुमुक्षोः समयाकर्तुः पुण्यादभ्युदयो वरम् ।
न पापाद्दुर्गतिः सद्यो बन्धोऽपि ह्यक्षयाश्रिये ॥ १५ ॥

रागद्वेषरूप परिणत न होनेवाले उदासीन ज्ञानको जो प्राप्त नहीं हो सकता उस मुमुक्षुके पापकर्मका संचय और उससे प्राप्त होनेवाली दुर्गतियोंकी अपेक्षा पुण्यकर्म और उसके द्वारा स्वर्गादि पदोंका प्राप्त होना अच्छा ही है। क्योंकि जिस बन्ध-पुण्यकर्मके संचयसे अक्षय लक्ष्मीकी प्राप्ति हो सकती है वह पुण्यबन्ध भी मुनियोंके लिये सह्य हो सकता है।

भावार्थ—जिस प्रकार निष्कपट भक्ति करनेवाला कोई सेवक अपने स्वामीके द्वारा पीडित होनेपर भी कालान्तरमें उससे यथेष्ट लक्ष्मी प्राप्त करनेकी इच्छासे उसकी भक्ति ही करता है, उसी प्रकार मुमुक्षुजन जबतक शुद्ध निजात्मस्वरूपका लाभ नहीं होता तबतक जिनेन्द्रदेवकी भक्तिमें निरत रहता और उनकी उपदिष्ट क्रियाओंका पालन किया करता है। जिससे कि उस पुण्यबन्धका संचय होता है जो कि मोक्षलक्ष्मीकी सिद्धिके साक्षात् कारण-ध्यानके साधनमें समर्थ उत्तम संहननादि निमित्तोंको प्राप्त करा सकता है।

इस प्रकार जिसकी कर्तव्यता भले प्रकार सिद्ध करके दिखादी गई है उस आवश्यकका निरुक्तिद्वारा अवतार करते हुए लक्षण बताते हैः—

यद्व्याध्यादिवशेनापि क्रियतेऽक्षावशेन तत्।
आवश्यकमवश्यस्य कर्माहोरात्रिकं मुनेः॥ १६॥

जो इन्द्रियोंके वश्य—अधीन नहीं होता उसको अवश्य कहते हैं। ऐसे संयमीके आहोरात्रिक—दिन और रातमें करने योग्य कामोंका ही नाम आवश्यक है। अत एव व्याधि आदिसे ग्रस्त हो जानेपर भी इन्द्रियोंके वशमें न पडकर जो दिन और रातके काम मुनियोंको करने ही चाहिये उन्हीको आवश्यक कहते हैं।

ऐसे आवश्यककर्म कितने हैं उनके नाम बताते हैः—

सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वंदना प्रतिक्रमणम्।
प्रत्याख्यानं कायोत्सर्गश्चावश्यकस्य षड् भेदाः॥ १७॥

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, और कायोत्सर्ग। इस तरह आवश्यक कर्म छह प्रकारके होते हैं।

निक्षेपरहित व्याख्यान वक्ता और श्रोता दोनोंहीको उन्मार्गमें लेजानेवाला हो सकता है। अत एव सामायिकादि छहों आवश्यकोंको नामादि छहों निक्षेपोंपर घटित करके पालन करनेका उपदेश देते हैं:-

नामस्थापनयोर्द्रव्यक्षेत्रयोः कालभावयोः।
पृथङ्निक्षिप्य विधिवत्साध्याः सामायिकादयः॥ १८॥

आवश्यक निर्युक्तिमें बताये हुए विधानके अनुसार नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भाव इन छह निक्षेपोंपर सामायिकादिको घटित करके आचार्योंको उनका व्याख्यान करना चाहिये और साधुओंको उनका पालन करना चाहिये।

इस तरह करनेसे सामायिक के छह भेद होते है। नाम सामायिक स्थापना सामायिक द्रव्य सामायिक क्षेत्र सामायिक काल सामायिक और भावसामायिक। इसी प्रकार चतुर्विंशतिस्तवादिके भी विषयमें समझना चाहिये। प्रत्येक आवश्यकपर छहों निक्षेप लगते हैं, अत एव आवश्यकोंके कुल भेद छत्तीस होते हैं।

सामायिकका निरुक्तिपूर्वक लक्षण बताते हैं:—

रागाद्यबाधबोधः स्यात् समायोऽस्मिन्निरुच्यते।
भवं सामायिकं साम्यं नामादौ सत्यसत्यपि॥ १९॥

सम—रागद्वेषादिसे आक्रांत न होनेवाले अय—ज्ञानको समाय कहते हैं। इस तरहके ज्ञानमें अनुभवन रूप जो प्रवृत्ति होती है उसको ही सामायिक कहते हैं। सामायिकका ही दूसरा नाम साम्य भी है। प्रशस्त और अप्रशस्त नाम स्थापना आदिके विषयमें क्रमसे रागद्वेष न करना इसीको साम्य कहते है।

मावार्थ—शुभाशुभ विषयोंमें रागद्वेष न करके शुद्धचिन्मात्र के अनुभवन करनेको सामायिक या साम्य कहते हे। यह नामादि निक्षेपोंकी अपेक्षासे छह प्रकारका हो सकता है। यथा —

नाम सामायिक—शुभाशुभ नामोंको सुनकर रागद्वेष न करना।

स्थापनासामायिक—जैसा चाहिये वैसे ही प्रमाण से और मनोहरता आदिगुणोंसे युक्त स्थापनामें राग और उससे विपरीत में द्वेष न करना।

द्रव्यसामायिक— जो सुवर्णादिरूप था या होनेवाला है उसमें राग और जो मृत्तिकादिरूप होगया या होजायगा उसमें द्वेष न कर समदर्शी रहना।

क्षेत्रसामायिक—सुगंध फलफूलोंसे पूर्ण वन उपवन और कटीली ककरीली आदि भूमिमें रागद्वेष न करना

कालसामायिक—वसन्त और ग्रीष्म प्रभृति ऋतुओंमें दिन या रात्रिमें तथा शुक्लपक्ष या कृष्णपक्षमें एव प्रातः काल और सायकाल आदि किसी भी मनोज्ञामनोज्ञ समयमें रागद्वेष न कर समता धारण करना।

भावसायिक—जीवमात्रके विषयमें दुर्भावनाओंको छोड कर मैत्रीभाव धारण करना।

नामसामायिकादि शब्दोंका अर्थ जैसा कुछ ऊपर लिखागया है उसके सिवाय और भी नीचे लिखे मुजब हो सकता है, उस अर्थका भी यहा संग्रह करलेना। यह बात इस श्लोकमें दिये हुए अपिशब्दके द्वारा सूचित की गई है। यथाः जाति द्रव्य गुण क्रिया आदिकी अपेक्षा न करके ' सामायिक " ऐसी किसीकी संज्ञा रखदेने को अथवा " सामायिक " इस शब्द मात्रको भी नामसामायिक कहते हैं। जो व्यक्ति सामायिकरूप परिणत है उसके गुणोंका उसके सदृश या विसदृश आकार रखनेवाले किसी भिन्न पदार्थमें आरोप करना इसको स्थापना सामायिक कहते हैं। जो सामायिकरूप परिणत हो चुका हो या आगे चलकर तद्रूप परिणत होनेवाला हो उसको द्रव्यसामायिक कहते हैं। यह दो प्रकारका होता है—एक आगमद्रव्यसामायिक दूसरा नो आगमद्रव्यसामायिक। सामायिकके स्वरूपका निरूपण करनेवाले शास्त्रके ज्ञाता किंतु उस विषयमें अनुपयुक्त आत्माको आगम द्रव्यसामायिक कहते हैं।

नोआगमद्रव्यसामायिकके तीन भेद हैं-ज्ञायकशरीर भावी और तद्व्यतिरिक्त। सामायिकशास्त्रके जाननेवाले अनुपयुक्त आत्माके शरीरको ज्ञायकशरीर कहते हैं। इसके भी तीन भेद हैं-भूत भविष्यत् और वर्तमान। भूत भी तीन प्रकारका होता है-च्युत च्यावित और त्यक्त। जो पके हुए फलकी तरह आयुके पूर्ण होनेपर स्वयं छूटजाय उसको च्युत, और जो शस्त्रप्रहार विषभक्षण श्वासोच्छ्वासके निरोध आदि कारणोंसे छूटे उसको च्यावित, तथा समाधि द्वारा छोडे हुएको त्यक्त कहते हैं। त्यक्तके भी तीन भेद हैं-भक्त प्रत्याख्यान इङ्गिनीमरण प्रायोपगमन। भक्त प्रत्याख्यान भी तीन तरहका है-उत्कृष्ट मध्यम जघन्य। उत्कृष्ट बारह वर्षका, जघन्य अन्तर्मुहूर्तका, और जिसका इन दोनोंके मध्यका काल हो उसको मध्यम कहते है। जो आगे चलकर सामायिक शास्त्रका जाननेवाला होगा उसको भावीनो आगमद्रव्य सामायिक कहते हैं। तद्व्यतिरिक्तके दो भेद हैं— एक कर्म दूसरा नो कर्म। सामायिकरूप परिणत जीवके द्वारा संचित होनेवाले तीर्थंकर आदि शुभकर्मोंको कर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्य सामायिक कहते हैं। नो कर्म तद्व्यतिरिक्त तीन प्रकारका होता है—सचित्त अचित्त और मिश्र। उपाध्यायादिको सचित्त, पुस्तकादिको अचित्त, और उभयरूपको मिश्र कहते हैं। सामायिकरूप परिणत जीव जहांपर स्थित हो उस गिरनार चम्पापुर पावापुर कलाश आदि स्थानको क्षेत्र सामायिक, और जिस समयमें वह सामायिकस्वरूप परिणत हो उस प्रातः काल मध्यान्हकाल और सायकाल आदि समयको कालसामायिक कहते हैं। वर्तमानमें जो सामायिक पर्यायसे युक्त है उसको भावसामायिक कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं— आगम भावसामायिक और नो आगम भावसामायिक। सामायिक शास्त्रके जाननेवाले उपयुक्त आत्माको आगमभावसामायिक कहते हैं। नो आगमभावके दो भेद हैं-उपयुक्त और तत्परिणत। जो सामायिक शास्त्रके विना ही सामायिकके अर्थका विचार कर रहा है— उधर उपयुक्त है उसको उपयुक्त नो आगमभावसामायिक, और जो रागद्वेषके अभावरूप परिणत है उसको तत्परिणत नोआगमभाव सामायिक कहते हैं।

यहांपर सामायिकके विषयमें ही नामादि निक्षेप घटित किये हैं किन्तु इसी प्रकार चतुर्विंशतिस्तवनादि आवश्यकोंके विषयमें भी घट सकते हैं सो स्वय घटित करलेने चाहिये। तथा इस विषयमें एक बात और भी

ध्यानमें रखने योग्य है वह यह कि यहांपर सामायिकके विषयमें यद्यपि छह निक्षेप और उनके भेदोंको घटित किया है फिर भी वास्तवमें प्रयोजन आगमभाव सामायिक और नो आगमभाव सामायिकसे ही है।

दूसरी तरहसे निरुक्ति करके भावसामायिकका फिरसे लक्षण बताते हैं:—

समयो दृग्ज्ञानतपोयमनियमादौ प्रशस्तसमगमनम् ।
स्यात्समय एव सामायिकं पुनः स्वार्थिकेन ठणा ॥ १० ॥

समय शब्दमें सम्का अर्थ प्रशस्तता अथवा एकत्व होता है; और अयका अर्थ प्राप्ति या परिणति होता है। अतएव परीषह कषाय और इन्द्रियोंको जीतकर तथा सञ्ज्ञाओं दुर्लेश्याओं और दुर्ध्यानोंको छोडकर दर्शन ज्ञान तप यम नियम आदिके विषयमें प्रशस्तताकी प्राप्ति अथवा एकत्व रूपसे परिणमन होनेको समय कहते है। और समयकाही नाम सामायिक है। क्योंकि समय शब्दसेही स्वार्थमें ठण् प्रत्यय होकर सामायिक शब्द बनता है।

अब पद्रह श्लोकोंमें सामायिक करनेकी विधि बताते है। उसमें सबसे पहले नाम सामायिककी भावनाका स्वरूप निरूपण करते हैं:—

शुभेऽशुभे वा केनापि प्रयुक्ते नाम्नि मोहतः ।
स्वमवाग्लक्षणं पश्यन्न रतिं यामि नारतिम् ॥ २१ ॥

किसी भी शुभ या अशुभ नाममें अथवा यदि कोई मेरे विषयमें ऐसे शब्दोंका प्रयोग करे तो उनमें मुझे रति या अरति न करनी चाहिये। क्योंकि वह शुभाशुभ शब्द बोलनेवाला, मोही—अज्ञानी है। वह नहीं जानता कि मै शब्दका विषय नहीं हूं। किंतु मैं देखरहाहूं कि वास्तवमें मैं अवाग्लक्षण हूं। मैं शब्दके द्वारा नहीं जाना जा सकता, और न शब्द मेरा स्वरूप या लक्षण ही है। जैसा कि कहा भी है कि:—

अरसमरूवमगंध अव्वत्त चेदणागुणमसद्द ।
जाणमलिंगग्गहण जीवमणिद्दिट्ठसठाणं ॥

अर्थात् जीवका स्वरूप रस रूप और गंधसे रहित अव्यक्त तथा चेतना गुणसे युक्त शब्द रहित अलिंग और किसी भी खास आकार-संस्थानसे रहित समझना चाहिये।

स्थापना सामायिककी भावनाका स्वरूप बताते हैं:—

यदिदं स्मर्यत्यर्चा न तदप्यस्मि किं पुनः।
इयं तदस्यां सुस्थेति धीरसुस्थेति वा न मे ॥ २२ ॥

जैसा चाहिये वैसेही प्रमाणसे युक्त यह सामने दीखती हुई मूर्ति मुझे जिस अर्हदादिरूपका स्मरण करा रही है क्या मैं तत्स्वरूप हूं? नहीं। तो क्या मैं इस मूर्तिस्वरूप हू? नहीं-सर्वथा नहीं। यही कारण है कि मेरा ज्ञान-साम्यानुभव न तो इस मूर्तिमें भले प्रकार ठहरा हुआ ही है, अथवा न इससे विपरीत ही है।

द्रव्यसामायिकके अनुभवका स्वरूप बताते हैं:—

साम्यागमज्ञतदेहौ तद्विपक्षौ च यादृशौ।
तादृशौ स्तां परद्रव्ये को मे स्वद्रव्यवद्ग्रहः ॥ २३ ॥

सामायिक शास्त्रका ज्ञाता अनुपयुक्त आत्मा और उसका शरीर-ज्ञायक शरीर ये दोनों, तथा इनमें विपक्ष-भाविनोआगमद्रव्य सामायिक और तद्व्यतिरिक्त-कर्म नो कर्म ये दोनो जैसे कुछ शुभ या अशुभ हैं, रहें, मुझे इनसे क्या? क्योंकि ये पर द्रव्य हैं। साम्यभावरूप परिणत मुझे इन में स्वद्रव्यकी तरह अभिनिवेश किस तरह हो सकता है? कभी नहीं हो सकता।

१—जीविय मरणे लाहालाहे संजोयविप्पओएय। बंधुअरि सुहदुक्खे विय समदा सामाइयं णाम ॥ इत्यादि
२—३—इनका स्वरूप पहले लिखाजाचुका है।

भावार्थ—यहांपर स्वद्रव्य का जो दृष्टान्त दिया है उसको अन्वयमुख और व्यतिरेकमुख दोनों ही तरह से घटित करना चाहिये। क्योंकि स्वद्रव्यमें भी अभिनिवेश आरब्धयोगीके ही हो सकता है नाकि निष्पन्नयोगीके। निष्पन्नयोगी तो सम्पूर्ण संकल्पविकल्पोंसे रहित अवस्था का अनुभव किया करता है। यथाः—

मुक्त इत्यपि न कार्यमञ्जसा कर्मजालकलितोहमित्यपि।
निर्विकल्पपदवीमुपाश्रयन् सयमी हि लभते परं पदम्॥

अपि च,— यद्यदेव मनसि स्थित भवेत्तत्तदेव सहसा परित्यजेत्।
इत्युपाधिपरिहारपूर्णता सा यदा भवति तत्पद तदा॥

तथा,— अन्तरङ्गबहिरङ्गयोगतः कार्यसिद्धिरखिलेति योगिना।
आशितव्यमनिशं प्रयत्नत' स्व परं सदृशमेव पश्यता॥

इसलिये अन्वयदृष्टान्तके समय तो ऐसा अर्थ करना चाहिये कि स्वद्रव्यमें मुझे जैसा कुछ अभिनिवेश है वैसा परद्रव्यमें किस तरह हो सकता है? नहीं हो सकता। तथा व्यतिरेक दृष्टान्त के समय ऐसा अर्थ करना चाहिये कि मुझे स्वद्रव्यमें भी क्या अभिनिवेश है? कुछ भी नहीं! इसी प्रकार परद्रव्यमें भी क्या अभिनिवेश हो सकता है? कुछ भी नहीं।

क्षेत्र सामायिकमें किस प्रकारकी भावना होती है सो बताते हैं:—

राजधानीति न प्रीये नारण्यनीति चोद्विजे।
देशो हि रम्योऽरम्यो वा नात्मारामस्य कोपि मे॥ २४॥

यह राजधानी है—इसमें राजा महाराजा आदि बड़े आदमी रहते है, इसलिये मनोज्ञस्थान है। ऐसा समझकर मुझे इसमें कुछ राग-प्रेम नहीं होता। और न यह एक महान् अरण्य —निर्जन वन है, इसलिये मुझे इसमें किसी प्रकार उद्वेग ही होता है। क्योंकि वास्तवमें मेरा रमणीय स्थान चित्स्वरूप ही है। अत एव मेरेलिये कोई भी बाह्य स्थान मनोज्ञ या अमनोज्ञ नहीं हो सकता।

भावार्थ—आत्माका रमण या गमन आत्माके सिवाय भिन्न स्थानमें नहीं हो सकता। ग्राम रमणीय और निवास करने योग्य स्थान है, तथा निर्जनवन अमनोज्ञ और निवास करनेके लिये अयोग्य स्थान है; इस तरहकी कल्पना जो आत्माका अवलोकन नहीं कर पाते उन्हीं के होती है। किन्तु जो आत्माका साक्षात् अनुभव करने वाले हैं उनके लिये तो रति और गतिका स्थान सम्पूर्ण बाह्य पदार्थों और संकल्प विकल्पोंसेरहित निश्चल निज आत्मस्वरूप ही है।

यहांपर यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि आत्मासे रति करना भी एक रागही है जो कि मोक्षका प्रतिबन्धक होनेसे मुमुक्षुओंको सहनीय नहीं होता। अतएव शुद्धनिश्चय नयकी अपेक्षासे आत्माराम शब्दका अर्थ आत्मासे निवृत्ति करना चाहिये।

कालसामायिकके अनुभवनका स्वरूप बताते हैं:—

नामूर्तत्वाद्धिमाद्यात्मा कालः किं तर्हि पुद्गलः।
तथोपचर्यते मूर्तस्तस्य स्पृश्यो न जात्वहम् ॥ २५ ॥

निश्चय काल द्रव्य अमूर्त है, उसमें रूप रस गंध स्पर्श नहीं है। लोक जिसका काल शब्दसे व्यवहार करते हैं वह पुद्गल द्रव्य है। अत एव हेमन्त शिशिर वसंत या शीत ग्रीष्म वर्षा आदि मूर्त पुद्गलके ही स्वरूप हैं मैं कदाचित् भी इस मूर्त पुद्गलस्वरूप कालका विषय नहीं हो सकता। क्योंकि मैं उससे सर्वथा विरुद्ध अमूर्त ही नहीं किन्तु निश्चय नयसे एक चित्स्वरूप ही हूं।

इस प्रकार नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र और काल सामायिकका क्रमसे निरूपण करके भाव सामायिकका किस प्रकारसे अनुभवन करना चाहिये सो बताते हैं:—

सर्वे वैभाविका भावा मत्तोन्ये तेष्वतःकथम्।
चिच्चमत्कारमात्रात्मा प्रीत्यप्रीती तनोम्यहम् ॥ २६ ॥

इन्द्रियजनित सुख दुःखका निराकरण करते हैं:—

कृतं तृष्णानुषङ्गिण्या खसौख्यमृगतृष्णया।
खिद्ये न दुःखे दुर्वारकर्मारिक्षययक्ष्मणि॥ ३२ ॥

इन्द्रियजनित सुखोंको पाकर मैं राग नहीं करता, और दुःखोंके उपस्थित होनेपर मुझे किसी प्रकारका खेद भी नहीं होता। क्योंकि ये वैषयिक सुख मृगतृष्णा—मरीचिकाके समान तृष्णाके बढानेवाले हैं। और दुःख, जिनका वारण नहीं किया जा सकता ऐसे कर्मरूपी शत्रुओंका क्षय करनेके लिये राजयक्ष्मा व्याधिके समान है।

भावार्थ—जगलोंमें एक प्रकारकी चटीली भूमि हुआ करती है उसको मरीचिका कहते हैं। मध्यान्हके समय सूर्यकी किरणोंसे उस भूमिमें जलका भ्रम हो जाता है। पिपासाकुलित मृगगण जल समझकर वहां आते हैं किंतु जल न पाकर दुःखी होते हैं। इससे उनकी तृष्णा—पिपासा और भी बढ जाती है। ऐन्द्रिय सुख भी मरीचिकाके ही समान हैं। लोग सुख की इच्छासे इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन करते हैं। किंतु उनमें सुख न पाकर दुःखका ही अनुभव किया करते हैं। जिससे उनकी तृष्णा—विषयोंके सेवन करनेकी इच्छा और भी बढजाती है। अत एव इन सुखोंसे मैं तो निहाल होगया। अर्थात्—इन सुखों—सुखाभासोंको धिक्कार हो जिनमे कि दुःख ही अच्छे हैं। क्योंकि वे कर्मोंके लिये क्षयरोग के समान हैं। जिस प्रकार क्षयरोगके होजानेपर बलिष्ठ भी मनुष्य अवधि पाकर मर जाता है उसी प्रकार इन दुःखोंके निमित्तसे उदयमें आकर दुर्वार भी असाता वेदनीय प्रभृति कर्म निर्जीर्ण हो जाते हैं। जिससे कि आत्माका कुछ उपकार ही होता है। इसी लिये मैं दुःखोंसे खिन्न नहीं होता और सुखोंसे प्रसन्न नहीं होता, इनमें समताही धारण करता हू।

जो विचारशील हैं उनके लिये संसारके दुःसह दुःखोंका अनुभव रत्नत्रयकी प्रीतिका ही कारण हो जाता है, ऐसा उपदेश देते हैं:—

दवानलीयति न चेज्जन्मारामेत्र भीः सताम्।
तर्हि रत्नत्रयं प्राप्तुं त्रातुं चेतुं यतेत कः॥ ३३ ॥

औदायिक औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक ये चार प्रकारके तथा जीवन मरणादिक सभी वैभाविक भाव मुझसे भिन्न है, क्योंकि वे परनिमित्तक हैं, कर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाले है अत एव वे मेरे वास्तविक भाव नहीं हैं। शुद्ध निश्चय नयसे आत्माका वास्तविक स्वरूप पारणामिक भाव हैं। अत एव एक चेतनाके चमत्कार—अत्यंत अद्भुत स्वरूपको धारण करनेवाला मैं इन वैभाविक भावोंमें रागद्वेष को किस तरह प्राप्त हो सकता हू, कभी नहीं हो सकता।

यहांसे नौ श्लोकोंमें भावसामायिकका ही विस्तारके साथ वर्णन करते हैः—

जीविते मरणे लाभेऽलामे योगे विपर्यये।
वन्धावरौ सुखे दुःखे साम्यमेवाभ्युपैम्यहम् ॥ २७ ॥

जीवन मरण लाभ और हानि सयोग और वियोग तथा मित्र और शत्रु एव सुख और दुःख इन सब विषयोंमें मैं रागद्वेषको छोडकर समता भाव धारण करता हू। क्योंकि जो आत्मस्वरूपसे अपरिचित प्राणी हैं वेही जीवनकी आशा और मरणका भय किया करते हैं। उन्हे जीवन—वर्तमान आयुष्यका धारण इष्ट और मरण-आयुकर्मका पूर्ण हो जाना अनिष्ट मालुम होता है। किंतु चित्स्वरूपके अनुभवकी तरफ प्रवृत्त हुआ मैं इनमें राग-द्वेप किस तरह कर सकता हू। मुझे न तो जीवनमें राग है और न मरणमें द्वेप। इसी प्रकार न लाभमें प्रीति है न अलाभमें अप्रीति। न संयोग इष्ट है और न वियोग अनिष्ट। उपकारीमे प्रेम नहीं और अपकारीमे अमर्प नहीं। किंबहुना सुखकी आशा और दुःखका भय भी छोडकर सभी इष्ट अनिष्ट विपयोंमें उच्च साम्य भाव धारण करता हूं।

जीवनकी आशा और मरणके भयके विपयमें वर्णन करते हैं।—

कायकारान्दुकायाह स्पृहयामि किमायुषे।
तद्दुःखक्षणविश्रामहेतोर्मृत्योर्बिभमि किम् ॥ २८ ॥

आयु कर्म शरीररूपी जेलखानेमें जीवकी यथेष्ट गतिका प्रतिबंध करनेवाले और उसको निरंतर दुःखोंके

यह संसार एक प्रकारका उपवन है जिसमें कि मूढ पुरुषोंको प्रीति उत्पन्न करनेवाले विषय बहुलतासे पाये जाते हैं। किंतु सत्पुरुषोंकी बुद्धि इसमें दावानलका काम करती है। यदि वह ऐसा न करती होती तो फिर क्या कोई भी रत्नत्रयको प्राप्त करने और उसकी रक्षा तथा संचय करनेकेलिये प्रयत्न करता? नहीं, कोई भी नहीं करता।

भावार्थ—जिस प्रकार मनोहर भी उपवनमें रहनेवाले लोग दावाग्निके लगनेपर उसको प्रीतिका विषय न समझकर उस मार्गका ही अनुसरण करते हैं जिसपर कि चलनेसे शीघ्र ही उस वनसे मुक्ति हो सके। उसी प्रकार इस संसारमें रहनेवाले सत्पुरुष विवेकशक्तिके प्रकाशित होने पर इसको प्रीतिके अयोग्य समझकर मोक्षमार्गकी प्राप्ति रक्षा और वृद्धिकेलिये ही प्रयत्न किया करते है।

सम्पूर्ण सदाचारोंका शिरोमणि साम्यभाव है, अतएव इसीकी भावनामें आत्माको आसक्त रखनेका प्रयत्न करते हैं:—

सर्वसत्त्वेषु समता सर्वेष्वाचरणेषु यत्।
परमाचरणं प्रोक्तमतस्तामेव भावये॥ ३४॥

पूर्वाचार्योंने कहा है कि सम्पूर्ण प्राणियों और सम्पूर्ण द्रव्योंमें रागद्वेषको छोडकर समभाव धारण करना समस्त आचरणोंमें उत्कृष्ट आचरण है। अतएव मै और संकल्प विकल्पोंको छोडकर अपने हृदयमें इस साम्यभावको ही पुनः पुनः धारण करता हू। इसीके अनुभवमें रत होता हू।

इस पूर्वोक्त कथनसे यह निश्चय हो जानेपर कि भावसामायिकका अवश्य ही सेवन करना चाहिये, इस बातको प्रकट करते हैं कि इस सामायिक पर आरूढ आत्माका भाव कैसा होता है:—

मैत्री मे सर्वभूतेषु वैरं मम न केनचित्।
सर्वसावद्यविरतोस्मीऽति सामायिकं श्रयेत्॥ ३५॥

सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरा मैत्रीभाव है, मैं चाहता हूं कि संसारका कोई भी जीव किसी भी प्रकारसे दुःखी

न हो। मेरा किसी भी स्वपक्ष या परपक्षवालेके साथ किसी तरहका वैर-विरोध भी नहीं है। मैं सम्पूर्ण सावद्य-हिंसादिक पापोंसे युक्त मन वचन कायके व्यापारोंसे निवृत्त हूं।" इस तरहके भावोंको धारण करके मुमुक्षुओंको भाव सामायिक पर आरूढ होना चाहिये।

भावार्थ—भावसामायिकका स्वरूप पहले बताचुके हैं कि सम्पूर्ण जीवोंमें मैत्रीभाव धारण करना और अशुभ परिणामोंको छोडना भावसामायिक है। तो भी उसकी स्मृतिको दृढ बनानेकेलिये यहां फिरसे उसका उल्लेख कर दिया है।

विवेकी पुरुष भावसामायिकमें प्रवृत्त हो इसकेलिये उसका असाधारण माहात्म्य दिखाते हुए शिक्षा देते हैं:-

एकत्वेन चरन्निजात्मनि मनोवाक्कायकर्मच्युतेः
कैश्चिद्विक्रियते न जातु यतिवद्यद्वागपि श्रावकः।
येनार्हच्छ्रुतलिङ्गवानुपरिमग्रैवेयकं नीयतेऽ—
भव्योप्यद्भुतवैभवेत्र न सजेत् सामायिके कः सुधीः॥ ३६॥

इस सामायिकका माहात्म्य अद्भुत है। क्योंकि इसका सेवन करनेवाला यदि संयमी हो तब तो कहना ही क्या है। यदि श्रावक भी हो जो कि संयमका एकदेशरूपसे ही पालन किया करता है तो वह भी इसका सेवन करनेपर संयमीके ही समान बाह्य या अभ्यन्तर कैसे भी विकार उत्पन्न करनेवाले कारणोंके उपस्थित होनेपर कभी भी विकारको प्राप्त नहीं होता। वे कारण इसके हृदयपर रचमात्र भी अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। क्योंकि सामायिक करनेवाला श्रावक मन वचन कायके व्यापारसे रहित होकर अपने नित्य चित्स्वरूपमें ही एक ज्ञायक भावके द्वारा प्रवृत्ति किया करता है। वह इच्छापूर्वक मन वचन कायके व्यापारमें प्रवृत्त नहीं होता। और आत्माका अनुभव करनेमें भी कर्तृत्व भोक्तृत्व भावको भी नहीं रखता। यद्यपि अन्तरङ्गमें उसके संयमका घात करनेवाले प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय रहा करता है तो भी उसके तज्जनित अविरतिरूप परिणाम बहुत ही

मन्द रहा करते है। उसका चित्त हिंसादिक किसी भी अवद्यकर्ममें आसक्त नहीं रहा करता। अतएव वह उपचारसे महाव्रती-मुनिके समान माना जाता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

सामायियह्मि दु कदे समणो इव सावओ हवदि जह्मा।
एदेण कारणेण दु बहुसो सामाइय कुज्जा॥

अर्थात्—सामायिकके करनेसे श्रावक मुनिके समान हुआ करता है। अतएव मुमुक्षुओंको बहुधा सामायिक ही करनी चाहिये।

इसके सिवाय अर्हन्त भगवान्के उपदिष्ट ग्यारह अङ्गका पाठी तथा निर्ग्रन्थ जिनलिङ्गका धारक अभव्य-द्रव्यलिङ्गी मुनिभी इस सामायिकके प्रसादसे ही उपरिम ग्रैवेयक तक-नव अनुदिशसे नीचेके विमानतक जाकर पहुंच सकता है। अतएव इस आश्चर्यकारी वैभवसे युक्त सामायिकमें भला ऐसा कौन सद्बुद्धि होगा जो कि आसक्त न हो? अर्थात् सभीको इसमें प्रवृत्त होना चाहिये।

इस प्रकार षडावश्यकोंमें सामायिकका वर्णन किया। अब नौ पद्योंमें चतुर्विंशतिस्तवका व्याख्यान करते है। जिसमें सबसे पहले उसका लक्षण बताते है:—

कीर्तनमर्हत्केवलिजिनलोकोद्द्योतधर्मतीर्थकृताम्।
भक्त्या वृषभादीनां यत्स चतुर्विंशतिस्तवः षोढा॥ ३७॥

अर्हत् केवली और जिन तथा लोकका उद्योत करनेवाले एव धर्मतीर्थके प्रवर्तक श्री ऋषभादिक चौबीस भगवान्के गुणोंका भक्तिपूर्वक आख्यान-गुणगान या प्रशंसा करनेको चतुर्विंशतिस्तव कहते हैं। यह छह प्रकारका होता है, नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भाव।

जो ज्ञानावरणादि कर्मरूप अरि-शत्रुओंके तथा जन्म मरणरूप संसारके हन्ता-नाशकरनेवाले है। तथा जो पूजा वन्दना नमस्कार या सिद्धिगमनादिके लिये अर्ह-योग्य है उनको अर्हन्त कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि.

अरिहंति वंदणणमसणाणि अरिहंति पूयसक्कार ।
अरिहंति सिद्धिगमण अरिहंता तेण वुचति ॥

जो सम्पूर्ण द्रव्यों तथा उनकी समस्त पर्यायोंका हस्तामलकवत् साक्षात् अवलोकन करने वाले हैं उनको केवली कहते हैं। अनेक पर्यायोंके द्वारा गहन संसारके विषम व्यसनों—दुःखोंको प्राप्त करानेवाले कर्मोंको जिन्होने जीत लिया है उनको जिन कहते है। जो अपने सर्वोत्कृष्ट ज्ञान भावके द्वारा सम्पूर्ण लोकको प्रकाशित करनेवाले--जाननेवाले हैं उनको लोकोद्योतक कहते हैं। जिन्होने धर्म—वस्तुओंके यथार्थ स्वरूपका अथवा उत्तमक्षमादिकका तीर्थ --उपदेश किया है उनको धर्मतीर्थकृत् कहते हैं।

लोक नौ प्रकारका माना है। यथाः—

णामं ठवण दव्व खेत्त चिण्ह कसाय लोओ य ।
भवलोगभावलोग पज्जयलोगो य णादव्वो ॥

अर्थात्—नामलोक स्थापनालोक द्रव्यलोक क्षेत्रलोक चिन्हलोक कषायलोक भवलोक भावलोक और पर्यायलोक।

संसारमें जितने पदार्थ हैं उनकी और उनकी पर्यायोंकी शुभाशुभ संज्ञाओंको नामलोक कहते हैं। सम्पूर्ण कृत्रिम और अकृत्रिम पदार्थोंको स्थापनालोक कहते हैं। तथा छह द्रव्योंके विस्तारको द्रव्यलोक कहते है। यह परिणामादिकी अपेक्षासे अनेक प्रकार होता है। यथा —

परिणामि जीवमुत्त सपदेस एय खेत्त किरिया य ।
णिच्च कारण कत्ता सव्वगदिदरह्मि यपएसो ॥

अवस्था या आकारके बदलनेको परिणाम या पर्याय कहते हैं। यह दो प्रकारका होता है, व्यंजन पर्याय और अर्थ पर्याय। व्यंजन पर्यायकी अपेक्षासे जीव और पुद्गल दो द्रव्य परिणामी हैं, शेष चार द्रव्य अपरिणामी है। क्योंकि जीवका चारो गतियोंमें भ्रमण होता है और लकडी पत्थर मट्टी आदि पुद्गलोंका परिणमन प्रत्यक्ष

दीखता है। शेष चार द्रव्योंमें इस तरहका भ्रमण या परिणमन नहीं पाया जाता । अर्थपर्यायकी अपेक्षासे छहो द्रव्य परिणामी हैं। जीवत्वकी अपेक्षामें एक आत्मद्रव्य ही जीव है। क्योंकि उसका चेतना लक्षण उसीमें पाया जाता है। शेष पांच द्रव्य ज्ञाता दृष्टा नहीं है इसलिये उनको अजीव कहते हैं। जिसमें रूप रस गंध स्पर्श पाया जाता है उसको मूर्त कहते हैं। ऐसा द्रव्य एक पुद्गल ही है। शेष पांच द्रव्य अमूर्त हैं। इसी प्रकार जीवादिक पांच द्रव्य सप्रदेश हैं। क्योंकि उनमें अनेक प्रदेश पाये जाते है। काल द्रव्य अप्रदेशी है। क्योंकि वह परमाणुरूप ही रहता है, उसका प्रचयबन्ध नहीं होता। धर्म अधर्म और आकाश इनके प्रदेश कभी भी विघटित नहीं होते अत एव ये एक द्रव्य है। बाकीके संसारी जीव पुद्गल और कालद्रव्य अनेकरूप हैं। क्षेत्र शब्दसे एक आकाश द्रव्य ही लिया जाता है। क्योंकि वही सबका आधार है, उसीमें सब द्रव्य ठहरते है, औरोंमें नहीं। अत एव बाकीके पांच द्रव्योंको अक्षेत्र कहते हैं। जिसके निमित्तसे पदार्थ एक स्थानसे दूसरे स्थानतक पहुंचता है उसको क्रिया कहते हैं। यह जीव और पुद्गलमें ही पाई जाती है। इसलिये ये दो पदार्थ ही सक्रिय है, बाकीके अक्रिय हैं। धर्म अधर्म आकाश और कालद्रव्य नित्य हैं । क्योंकि उनकी व्यंजन पर्याय कभी भी विघटित नहीं होती। शेष जीव और पुद्गल द्रव्य अनित्य है। जीवके सिवाय पांच द्रव्य कारणरूप है। क्योंकि वे जीवके प्रति उपकार किया करते है। जीव द्रव्य कार्य करनेमें स्वतत्र है इसलिये वह अकारण है। जीव अपने शुभाशुभ कर्मोंके फलका भोक्ता है । अतएव वह कर्त्ता है, शेष द्रव्य अकर्त्ता हैं । आकाश द्रव्य सर्वगत है, बाकीके पांच द्रव्य असर्वगत है। इसी प्रकार द्रव्य लोकके विषयमें जीवादिकका अनेक धर्मोंकी अपेक्षासे व्याख्यान किया है।

अधोलोक तिर्यग्लोक और ऊर्ध्वलोकके आकाशका प्रमाण जितना बताया है उसको क्षेत्र लोक कहते हैं। जिनके द्वारा द्रव्य गुण या पर्यायकी सिद्धि होती है उसको चिन्हलोक कहते है। तथा उदयमें आये हुए क्रोधादिकको कषायलोक कहते हैं। और नारकादि गतियोंमें प्राप्त जीवोंको भवलोक, एवं तीव्र रागद्वेषादि परिणामोंको भाव लोक कहते है। पर्यायलोक चार प्रकारका है, द्रव्य गुणपर्याय, क्षेत्रपर्याय, भवानुभाव, और भावपरिणाम। जैसा कि कहा भी है किः—

दव्वगुणखेत्तपज्जय भवाणुभावो य भावपरिणामो ।
जाण चउव्विहमेव पज्जयलोग समासेण ॥

जीवके ज्ञानादिक पुद्गलके रूपादिक धर्मके गतिहेतुत्वादिक अधर्मके स्थितिहेतुत्वादिक और आकाशके अवगाहहेतुत्वादिक तथा कालके वर्तना आदि गुण प्रसिद्ध है। इन्हीको द्रव्य गुणपर्याय लोक कहते हैं। रत्न प्रभा आदि पृथिवियों और जम्बूद्वीपादिक द्वीपों तथा ऋजुविमानादि विमानोंको क्षेत्रपर्यायलोक कहते हैं। आयुके जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेदोंको भवानुभाव, और जिनसे कि कर्मोंका ग्रहण या परित्याग हुआ करता है उन असंख्यात लोक प्रमाण शुभाशुभ परिणामोंको भाव परिणाम लोक कहते है।

इस प्रकार लोकके नौ भेद हैं। अपने सम्पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा जिन्होने इस नौ भेद रूप लोकको प्रकाशित किया है उन वर्तमान चौवीस तीर्थंकरोंके, अथवा भूत भविष्यत् वर्तमान सभी अर्हन्तोंके गुणोंका भक्ति पूर्वक महत्ववर्णन करनेको चतुर्विंशतिस्तव कहते है।

इसके नामादिक छह भेदोंको व्यवहार और निश्चयकी अपेक्षासे दो भागोंमें विभक्त करके वताते है:—

स्युर्नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालाश्रयाः स्तवाः ।
व्यवहारेण पञ्चार्थादेको भावस्तवोऽर्हताम् ॥ ३८ ॥

चतुर्विंशतिस्तवके छह भेद हैं—नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भाव। इनमेंसे आदिके पांच भेद व्यवहार नयकी अपेक्षासे और अन्तका एक भावस्तव निश्चय नयकी अपेक्षासे है।

इनका विशेष वर्णन करनेकेलिये क्रमानुसार पहले नामस्तवका स्वरूप वताते हैं:—

अष्टोत्तरसहस्रस्य नाम्नामन्वर्थमर्हताम् ।
वीरान्तानां निरुक्तं यत्सोऽत्र नामस्तवो मतः ॥ ३९ ॥

वृषभादिक महावीर पर्यन्त चौवीस तीर्थंकरोंका अथवा सभी अर्हन्तोंका एक हजार आठ नामोंसे अर्थके अनुसार निर्वचन करना इसको नामस्तव कहते है।

भावार्थ—जिन भगवान्के अन्वर्थ नामोंसे उल्लेख करनेको नामस्तव कहते है। जैसा कि महापुराणके २५ वें पर्व में " श्रीमान् स्वयंभूर्वृषभः शंभवः शंभुरात्मभू । " से लेकर " धर्मपालो जगत्पालो धर्मसाम्राज्यनायकः । " तक के श्लोकोंमें एक हजार आठ नामोंसे किया गया है। इसी तरह और भी आगमके अनुसार अन्वर्थताका विचार करना चाहिये। जैसा कि—

ध्यानद्रुघणनिर्भिन्नघनघातिमहातरु ।
अनन्तभवसतानजयादासीरनन्तजित् ॥
त्रैलोक्यनिर्जयावाप्तदुर्दर्पमतिदुर्जयम् ।
मृत्युराज विजित्यासीज्जिन मृत्युञ्जयो भवान् ॥ इत्यादि ।

इस नामस्तको व्यवहारनयकी अपेक्षासे जो कहा है उसका कारण यह है कि इसके द्वारा जिस परमात्माका वर्णन किया जाता है वह वस्तुतः वचनके अगोचर है। जैसा कि आगममें कहा भी है कि:—

गोचरोऽपि गिरामासां त्वमवाग्गोचरो मत ।
स्तोतुस्तथाप्यसदिग्ध त्वत्तोभीष्टफल भवेत् ॥
तथा,— सज्ञासज्ञद्वयावस्थाव्यतिरिक्तामलात्मने ।
नमस्ते वीतसज्ञाय नमः क्षायिकदृष्टये ॥

यह नामस्तव सामान्य और विशेष दोनों ही प्रकारसे किया जाता है। चौवीस तीर्थंकरोंका या भूत भविष्यत् सभी तीर्थंकरोंका समुदायरूपसे स्तवन करना इसको सामान्य नामस्तव कहते है। जैसे कि " थोस्सामि जिणवरिंदे " तथा " चउवीसं तित्थयरे " इत्यादि। भिन्न भिन्न एक एक तीर्थंकरका नाम लेकर निर्वचन करना इसको विशेष नामस्तव कहते हैं। जैसे कि " ऋषभोऽजितनामाच " तथा "चन्द्रप्रभ चन्द्रमरीचिगौर" इत्यादि।

१— बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्त्वं शकरोऽसि भुवनत्रयशकरत्वात् ।
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानाद् व्यक्त त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोसि ॥
इत्यादि और भी स्वय समझलेने चाहिये

स्थापनास्तवका स्वरूप बताते हैं:—

कृत्रिमाकृत्रिमा वर्णप्रमाणायतनादिभिः ।
व्यावर्ण्यन्ते जिनेन्द्रार्चा यदसौ स्थापनास्तवः ॥ ४० ॥

कृत्रिम—किसी कर्ता करण आदिके द्वारा बनी हुई तथा अकृत्रिम जो बिना किसी कर्त्ता करणके स्वयं बनी हों ऐसी जिनप्रतिमाओंका वर्ण—रूप, प्रमाण—लंबाई चौडाई उंचाई, तथा आयतन—मंदिर आदिकी अपेक्षा वर्णन करनेको स्थापना स्तव कहते हैं।

द्रव्यस्तवका स्वरूप बताते हैं:—

वपुर्लक्ष्मगुणोच्छ्रायजनकादिमुखेन या ।
लोकोत्तमानां संकीर्तिश्चित्रो द्रव्यस्तवोस्ति सः ॥ ४१ ॥

तीर्थंकर भगवान्के शरीर चिन्ह गुण उत्सेध और माता पिता आदिके द्वारा अनेक प्रकारसे और आश्चर्यकारी महत्त्व वर्णन करनेको द्रव्यस्तव कहते हैं।

भगवानके शरीरकी सुंदरताका वर्णनः—

सनवव्यञ्जनशतैरष्टाग्रशतलक्षणै ।
विचित्र जगदानन्दि जयतादर्हता वपु ॥

तथा— जिनेन्द्रान्नौमि तान्येषा शारीरा परमाणव ।
विद्युतामिव मुक्ताना स्वय मुञ्चन्ति सहतिम् ॥

अर्थात नौ सौ व्यंजन और एकसौ आठ लक्षणोंके द्वारा अपूर्व सौन्दर्यको धारण करनेवाला भगवानका शरीर सदा जयवंता रहो। मैं उन अर्हंतोको नमस्कार करता हूं कि जिनके मुक्तिलाभ करते ही उनके शरीरके परमाणु आपसके सम्बन्धको छोडकर विजलीकी तरह स्वयं ही आकाशमें विलीन हो जाते हैं।

१—इनके लक्षण और नामादिक महापुराणके पर्व १५ में बताये हैं। वहांपर देखलेने चाहिये।

इसी प्रकार और भी समझलेना चाहिये। भगवानके बैल हाथी आदि जो चिन्ह बताये हैं उनके द्वारा वर्णन करनेको भी द्रव्यस्तव कहते हैं। यथा—

गौर्गजोश्वः कपि कोक सरोज स्वस्तिकः शशी।
मकर श्रीयुतो वृक्षो गण्डो महिषशूकरौ॥
सेधा वज्र मृगश्छागः पाठीनः कलशस्तथा।
कच्छपश्चोत्पल शङ्खो नागराजश्च केशरी॥
इत्येतान्युक्तदेशेषु लाञ्छनानि प्रयोजयेत्।

वृषभादि महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरोंके चिन्होंके नाम इस प्रकार हैं—बैल, हाथी, घोडा, बन्दर, कोक, कमल, स्वस्तिक, चन्द्रमा, मकर, श्रीवृक्ष, गेण्डा, भैंसा, शूकर, सेंही, वज्र, हिरण, बकरा, मत्स्य, कलश, कच्छप, श्वेत कमल, शङ्ख, सर्प, सिंह।

गुणशब्दके द्वारा रूपादिक तथा निःस्वेदत्वादिक दोनों ही लिये जाते हैं। अत एव इनके द्वारा भगवान्का वर्णन करना भी द्रव्यस्तव समझा जाता है। निःस्वेदत्वादिके द्वारा जैसे कि—

निःस्वेदत्वमनारत विमलता सस्थानमाद्य शुभ,
तद्वत्सहनन भृशं सुरभिता गौरूप्यमुच्चैः परम्।
सौलक्षण्यमनन्तवीर्यमुदितिः पथ्या प्रियाऽसृक् च यः,
शुभ्र चातिशया दशेह सहजा सन्त्वर्हदङ्गानुगा॥

अर्थात् भगवान्के शरीरमें स्वभावसे ही दश अतिशय रहा करते हैं। १ उनके शरीरमें कभी भी पसीना नहीं आता, २ रे किसी भी प्रकारका मल नहीं होता, ३ रे उनका आकार चारो तरफसे समान रहा करता है, अर्थात् सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार शरीरका और उसके आङ्गोपाङ्गोंका जितना प्रमाण रहना चाहिये, भगवान्के शरीर

१—यैः शांतरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं, इत्यादि। इसी तरह चिन्ह और गुणादिकके विषयमें भी समझना चाहिये।

और आङ्गोपाङ्गोंका उतना ही प्रमाण रहा करता है। ४ थे उनके वज्रर्षभनाराच संहनन रहा करता है। उनके शरीरमें हड्डी कीली और वेष्टन तीनों ही वज्रके या तत्तुल्य रहा करते हैं। ५ वें अत्यंत सुगंध, और छठे उत्कृष्ट सौन्दर्य, तथा सातवें उनके शरीरमें १००८ लक्षण और व्यंजन पाये जाते हैं। ८ वें उनका वीर्य अनन्त रहता है। तथा ९ वें उनके वचन लोगोंके लिये हितरूप और प्रिय हुआ करते हैं। १० वें उनके शरीरका रक्त दूधके समान श्वेतवर्ण हुआ करता है।

शरीरके वर्ण द्वारा जैसे कि:—

श्रीचन्द्रप्रभनाथपुष्पदशनौ कुन्दावदातच्छवी,
रक्ताम्भोजपलाशवर्णवपुषौ पद्मप्रभद्वादशौ।
कृष्णौ सुव्रतयादवौ च हरितौ पार्श्वः सुपार्श्वश्च वै,
शेषाः सन्तु सुवर्णवर्णवपुषो मे षोडशाऽघच्छिदे॥

चौवीस तीर्थंकरोंमेंसे आठवें चन्द्रप्रभ नाथ और नौवें पुष्पदन्त स्वामी कुन्दपुष्पके समान गौर वर्ण हैं और पद्मप्रभ भगवान् तथा वासुपूज्य भगवानका शरीर रक्तकमलके समान अथवा ढाकके फूलके समान लाल वर्णका है। सुव्रतनाथ और सुपार्श्वनाथ स्वामीका शरीर हरित वर्ण है। बाकीके सोलह तीर्थंकरोंका शरीर सुवर्णके समान है।

भगवानकी उचाई आदिका वर्णन करना, जैसे कि:-

नाभेयस्य शतानि पञ्च धनुषा मानं परं कीर्तितं,
सद्भिस्तीर्थकराष्टकस्य निपुणं पञ्चाशदून हि तत्।
पञ्चानां च दशोनकं भुवि भवेत्पञ्चोनकं चाष्टके,
हस्ताः स्युर्नवसप्त चान्त्यजिनयोर्येषां प्रमा नौमि तान्॥

आदिनाथ स्वामीके शरीरकी उंचाई पांचसौ धनुप, अजितनाथकी ४५० धनुप, संभवनाथ स्वामीकी ४०० धनुप, अभिनदन स्वामीकी ३५० धनुप, सुमतिनाथकी ३०० धनुप, पद्मप्रभस्वामीकी २५० धनुप, सुपार्श्वनाथकी २०० धनुप, चन्द्रप्रभस्वामीकी १५० धनुप, पुष्पदंत स्वामीकी १०० धनुप, शीतलनाथकी ९० धनुप, श्रेयान्सनाथ

की ८० धनुष, वासुपूज्यस्वामीकी ७० धनुष, विमलनाथकी ६० धनुष, अनन्तनाथकी ५० धनुष, धर्मनाथकी ४५ धनुष, शान्तिनाथकी ४० धनुष, कुन्थुनाथकी ३५ धनुष, अरहनाथकी ३० धनुष, मल्लिनाथकी २५ धनुष, मुनिसुव्रतनाथकी २० धनुष, नमिनाथकी १५ धनुष, नेमिनाथकी १० धनुष, पार्श्वनाथकी ९ हाथ, और वर्धमान स्वामीकी काय ७ हाथ है। इसप्रकार कायप्रमाणके धारण करनेवाले जिन भगवान्को मैं नमस्कार करता हूं।

मातापिता आदिमेंसे माताओंके द्वारा भगवान्का स्तवन करना, जैसे कि:—

> वंश' क्षायिकदृक् समिद्धसुधिया योस्मिन्मनूनामभूद्,
> ये चेक्ष्वाकुकुरूग्रनाथहरियुग्वंशा पुरा वेधसा।
> आधानादिविधिप्रबन्धमहिता सृष्टास्तदुत्थार्यभू,—
> भर्तृस्वामिकजीविता सुकुलजा जैन्यो जयन्त्यम्बिका ॥

क्षायिक सम्यग्दर्शनके धारण करनेवाले और उत्कृष्ट समीचीन ज्ञानके धारक कुलकरोंके वंशमें अथवा जिन वंशोंकी पूर्व कालमें आदि ब्रह्मा–आदीश्वर भगवान्के द्वारा स्थापना हुई और उन्हींके द्वारा जिनमें गर्भाधानादि संस्कार क्रियाओंके द्वारा महनीयता प्राप्त हो चुकी है ऐसे इक्ष्वाकु कुरु उग्र नाथ हरि आदि वंशोंमेंसे किसीमें भी उत्पन्न होनेवाले तथा इस आर्यभूमिके भर्ता–महान् सम्राट् जिनके स्वामी हैं। अर्थात जो ऐसे उत्कृष्ट कुलीन राजाओंकी प्राणवल्लभाएं हैं और जो स्वयं भी ऐसे ही उत्तम कुलोंमें उत्पन्न हुई हैं ऐसी जिनेन्द्रदेवकी माताएं सदा जयवंती रहो।

उपर्युक्त श्लोकमें जनक शब्दके साथ आदि शब्द जो दिया है उससे माताके स्वप्न शरीरकी कान्ति दिव्यध्वनि विभूति और दीक्षा वृक्षादिके द्वारा किये गये भगवान्के कीर्तनको भी द्रव्यस्तव कहते हैं। इनमेंसे स्वप्नोंके द्वारा जैसे कि:—

> मात्रा तीर्थङ्कराणा परिचरणपरश्रीप्रभृत्योद्धवादि–
> श्रीसमेदामदूता रजनिविरमणे स्वप्नमाजेक्षिता ये।
> श्रीगोक्षेभारिमाल्यक्षशिरविक्षपकुम्भाब्जपण्डाब्धिपीठ–

घोयानाशीविषौकोवसुचयशिखिन: सन्तु ते मङ्गलं नः ॥

जिनकी परिचर्यामें लक्ष्मी आदि देवियां रहा करती हैं ऐसी तीर्थकरोंकी माताओंके द्वारा रात्रिके अंतिम प्रहरमें देखे गये, और जो कि पुरश्चारी दूतके समान भगवान्‌के गर्भादिक निर्वाण पर्यन्त पांचो कल्याणोंको पहलेसे ही सूचित करने वाले है, ऐसे सोलह स्वप्न अर्थात् ऐरावतके समान श्वेत हाथी, उत्कृष्ट बैल, सिंह, लक्ष्मी, दोमालाएं चद्रमा, सूर्य, मीनयुगल, दो कलश, कमल वन, सरोवर, सिंहासन, देवविमान, नागमन्दिर, रत्नराशि, और निर्धूम अग्नि, तुमको सदा मगल कारी हों।

इसी प्रकार कान्ति दिव्यध्वनि आदिके द्वारा भी समझना चाहिये। जैसे कि:—

कान्त्येव स्नपयति ये दश दिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये
धामोद्दाममहस्विना जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयो साक्षात्क्षरन्तोमृत
वन्द्यास्तेष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वरा' सूरय ॥
येभ्यर्चिता मुकुटकुण्डलहाररत्नै शक्रादिभि सुरगणै स्तुतपादपद्मा ।
ते मे जिना प्रवरवंशजगत्प्रदीपास्तीर्थङ्करा. सततशान्तिकरा भवन्तु ॥

जो अपनी अद्भुत कांतिके द्वारा ऐसे मालुम पडते है मानो ये उसके द्वारा दशों दिशाओंका अभिषेक ही कर। रहे है, और जो अपने तेजके द्वारा महान् तेजास्वियोंके भी तेजको दवा देते हैं, जो अपने अद्भुतरूप के द्वारा समस्त लोगोंके मनका हरण करनेवाले है, और जो अपनी दिव्य वाणीके द्वारा लोगोंके कानोंमें मानों साक्षात् सुखकर अमृत ही चुआ देते है, ऐसे १००८ लक्षणोंके धारक धर्म तीर्थके प्रवर्तक भगवान्‌की ही तुम सब लोगोंको वन्दना करनी चाहिये। मुकुट कुंडल हार और रत्नमय भूषणोंसे भूषित इन्द्र तथा देवगण जिनकी पूजा किया करते हैं, और जिनके चरण कमलोंकी स्तुति किया करते है, ऐसे सर्वोत्कृष्ट वंशोंमें उत्पन्न होनेवाले और जो-जगत्‌के जीवोंका अज्ञानरूपी अंधकार दूर करनेकेलिये उत्कृष्ट दीपकके समान है, वे तीर्थंकर भगवान् हमारे लिये सदा शान्तिके कारण हों।

चतुर्विंशतिस्तवके जो पूर्वोक्त नामस्तवादिक भेद गिनाये हैं उनमें वास्तविक स्तव भावस्तव ही है। क्योंकि उसमें गुणोंके द्वारा साक्षात् केवलियोंका वर्णन किया जाता है। और वस्तुतः केवलियों और उनके गुणोंमें कोई अन्तर नहीं है। जैसा कि कहा भी है कि:—

त णिच्छयेण जुजइ ण सरीरगुणेहिं हुति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणइ जो सो सच्च केवली थुणइ॥

अर्थात् केवलियोंके शारीरिक गुणोंका वर्णन करनेसे वस्तुतः केवलियोंका स्तवन नहीं समझा जाता, किंतु जो उनके गुणोंका वर्णन है वही सच्चा केवलियोंका स्तवन है।

ऊपर इस स्तवनरूप आवश्यकके दो भेद बताये हैं, एक व्यवहार दूसरा निश्चय। इन दोनोंके फलमें क्या अतर है उसको बताते हुए नित्य ही उसमें प्रवृत्त रहनेकी प्रेरणा करते हैं:—

लोकोत्तराभ्युदयशर्मफलां सृजन्त्या,
पुण्यावलीं भगवतां व्यवहारनुत्या।
चित्तं प्रसाद्य सुधियः परमार्थनुत्या,
स्तुत्ये नयन्तु लयमुत्तमबोधिसिद्ध्यै॥ ४५॥

नामादिरूप पांच प्रकारके व्यवहार स्तवनसे उस पुण्यश्रेणीका संचय होता है जिसके कि उदयसे जीवोंको लोकोत्तर—अलौकिक अभ्युदयों—पूज्यता धन आज्ञा और ऐश्वर्य प्रभृतियों और अनेक प्रकारके सुखोंकी प्राप्ति हुआ करती है। तथा पारमार्थिक भावस्तवनसे उत्तम मोक्षमार्ग—रत्नत्रयकी सिद्धि हुआ करती है। अत एव जो विवेकी इस मोक्षमार्गको सिद्ध करना चाहते हैं उन्हें भगवानकी व्यवहारस्तुतिके द्वारा अपना चित्त निर्मल बनाकर उसे शुद्धचित्स्वरूपमें लीन बनाना चाहिये।

भावार्थ—मुमुक्षुओंको अभीष्टसिद्धि–निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्ति शुद्ध आत्माका ध्यान किये विना नहीं हो

तद्गर्भावतराद्युद्धक्रियाद्दसस्य कीर्तनम् ॥ ४३ ॥

भगवान्के गर्भ जन्म तप ज्ञान और निर्वाण कल्याणकोंकी प्रशस्त क्रियाओंसे जो महत्ताको प्राप्त हो चुका है ऐसे समयका वर्णन करनेको कालस्तव कहते है। अर्थात् तीर्थकरोंके पांचों कल्याणक सम्बन्धी समयोंके महत्वके वर्णन करनेका नाम कालस्तव है।

भावस्तवका स्वरूप बताते है—

वर्ण्यन्तेनन्यसामान्या यत्कैवल्यादयो गुणाः।
भावकैर्भावसर्वस्वदिशां भावस्तवोस्तु सः ॥ ४४ ॥

जीवाजीवादिक सात तत्त्व अथवा नौ पदार्थोंको भाव कहते है। इन भावोंके सर्वस्व-द्रव्य गुण पर्यायरूप संपत्तिका यथावत् वर्णन करनेवाले अर्हन्त भगवान्के असाधारण-जो अन्य किसी भी देवादिकमें नहीं पाये जाते ऐसे अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन प्रभृति गुणोंके भव्योंद्वारा किये गये वर्णनको भावस्तव कहते हैं। जैसे कि

विवर्तै स्वैर्द्रव्यं प्रतिसमयमुद्यद्व्ययदपि,
स्वरूपादुल्लोलैर्जलमिव मनागप्यविचलत्।
अनेहोमाहात्म्याहितनवनवीभावमखिल,
प्रभिन्वाना' स्पष्ट युगपदिह न. पान्तु जिनपा' ॥

जिस प्रकार जलमें प्रतिक्षण कल्लोलें उठती रहतीं और विलीन भी होती रहती हैं तो भी वह स्वरूपतः निश्चल ही रहता है। इसी प्रकार द्रव्योंमें भी प्रति समय अनेक पर्यायें उत्पन्न होतीं और नष्ट भी होती रहती है फिर भी वे द्रव्य अपने स्वरूपकी अपेक्षा रंचमात्र भी चलायमान नहीं होते—सदा एकस्वरूप—नित्य ही रहते हैं। इस प्रकार कालके माहात्म्यसे जिसमें प्रतिक्षण उत्तरोत्तर नवीनता प्राप्त होती रहती है ऐसे सम्पूर्ण जगत्को युगपत् साक्षात् देखनेवाले जिनभगवान् हमारी रक्षा करो।

चतुर्विंशतिस्तवके जो पूर्वोक्त नामस्तवादिक भेद गिनाये हैं उनमें वास्तविक स्तव भावस्तव ही है। क्योंकि उसमें गुणोंके द्वारा साक्षात् केवलियोंका वर्णन किया जाता है। और वस्तुतः केवलियों और उनके गुणोंमें कोई अन्तर नहीं है। जैसा कि कहा भी है कि:—

त णिच्छएण जुजइ ण सरीरगुणेहिं हुति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणइ जो सो सच्च केवली थुणइ ॥

अर्थात् केवलियोंके शारीरिक गुणोंका वर्णन करनेसे वस्तुतः केवलियोंका स्तवन नहीं समझा जाता, किंतु जो उनके गुणोंका वर्णन है वही सच्चा केवलियोंका स्तवन है।

ऊपर इस स्तवरूप आवश्यकके दो भेद बताये हैं, एक व्यवहार दूसरा निश्चय। इन दोनोंके फलमें क्या अतर है उसको बताते हुए नित्य ही उसमें प्रवृत्त रहनेकी प्रेरणा करते हैं:—

लोकोत्तराभ्युदयशर्मफलां सृजन्त्या,
पुण्यावलीं भगवतां व्यवहारनुत्या।
चित्तं प्रसाद्य सुधियः परमार्थनुत्या,
स्तुत्ये नयन्तु लयमुत्तमबोधिसिद्धयै ॥ ४५ ॥

नामादिरूप पाच प्रकारके व्यवहार स्तवनसे उस पुण्यश्रेणीका संचय होता है जिसके कि उदयसे जीवोंको लोकोत्तर—अलौकिक अभ्युदयों—पूज्यता धन आज्ञा और ऐश्वर्य प्रभृतियों और अनेक प्रकारके सुखोंकी प्राप्ति हुआ करती है। तथा पारमार्थिक भावस्तवनसे उत्तम मोक्षमार्ग—रत्नत्रयकी सिद्धि हुआ करती है। अत एव जो विवेकी इस मोक्षमार्गको सिद्ध करना चाहते हैं उन्हें भगवानकी व्यवहारस्तुतिके द्वारा अपना चित्त निर्मल बनाकर उसे शुद्धचित्स्वरूपमें लीन बनाना चाहिये।

भावार्थ—मुमुक्षुओंको अभीष्टसिद्धि-निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्ति शुद्ध आत्माका ध्यान किये विना नहीं हो

सकती। और इस ध्यानकी निश्चलता निर्विकल्प मनसे ही हो सकती है। तथा मनमें निर्विकल्पता व्यवहारस्तुतिके द्वारा ही उत्पन्न हुआ करती है। अत एव जो मुमुक्षु अपना अभीष्ट सिद्ध करना चाहते हैं उन्हे पहले व्यवहार स्तुतिके द्वारा अपना मन शुद्ध चित्स्वरूपके ध्यानमें लीन होने योग्य बनालेना चाहिये। तभी वे शुद्धात्माके ध्यान में स्थिर होकर आत्मस्वरूप निश्चयरत्नत्रयको प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार चतुर्विंशतिस्तव रूप आवश्यकका वर्णन करके, अब क्रमानुसार ग्यारह पद्योंमें वन्दनाका व्याख्यान करते हैं। जिसमें सबसे पहले वन्दनाका लक्षण बताते हैं:—

वन्दना नतिनुत्याशीर्जयवादादिलक्षणा ।
भावशुद्ध्या यस्य तस्य पूज्यस्य विनयक्रिया ॥ ४६ ॥

अर्हत सिद्ध आचार्य आदिकोंमेंसे अथवा वृषभादि चौवीस तीर्थंकरोंमेंसे किसी भी पूज्य आत्माका विशुद्ध परिणामोंसे नमस्कार स्तुति आशीर्वाद जयवाद आदि स्वरूप विनय कर्म करनेको वन्दना कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

कर्मारण्यहुताशाना पञ्चाना परमेष्ठिनाम् ।
प्रणतिर्वन्दनाऽवादि त्रिशुद्धा त्रिविधा बुधे ॥

अर्थात्—कर्मरूप अरण्यको भस्म करनेके लिये अग्निके समान पांचो परमेष्ठियोंको नमस्कार करनेका नाम वन्दना है। इसके मनवचन कायकी शुद्धिकी अपेक्षासे तीन भेद माने हैं।

ऊपरके श्लोकमें विनय कर्मका नाम वन्दना बताया है। उसमें यह नहीं मालुम होता कि विनय किसको कहते हैं। अत एव उसका स्वरूप बताते हैं:—

हिताहितासिलुप्त्यर्थं तदङ्गानां सदाञ्जसा ।
यो माहात्म्योद्भवे यत्नः स मतो विनयः सताम् ॥ ४७ ॥

हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेकेलिये उसके कारणोंका जिनसे कि हितकी प्राप्ति और अहितका उच्छेद हो सकता है ऐसे अर्हत सिद्धादिक अथवा प्रवचनादिक माहात्म्यको प्रकट करनेके लिये सदा निष्कपट प्रयत्न करनेकाही नाम सत्पुरुषोंने विनय कहा है।

विनयके पांच भेदोंका नाम गिनाकर यह बताते हैं कि वन्दनारूप आवश्यकके प्रकरणमें विनयशब्दसे मोक्षहेतुक विनयका ही ग्रहण करना चाहिये। और इसीलिये जो निर्जरार्थी हैं उन्हे इस विनयके पांचवें भेद मोक्षार्थ विनयका अवश्य पालन करनेके लिये उपदेश देते हैः—

लोकानुवृत्तिकामार्थभयनिःश्रेयसाश्रयः।
विनयः पञ्चधावश्यकार्योन्त्यो निर्जरार्थिभिः ॥ ४८ ॥

विनय पांच प्रकारका है, लोकानुवृत्तिहेतुक, कामहेतुक, अर्थहेतुक, भयहेतुक, और मोक्षहेतुक। किंतु जो निर्जरार्थी हैं उन्हे इन पांच भेदोंमेंसे अंतिम भेद मोक्षहेतुक विनयका अवश्य ही पालन करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

लोकानुवर्तनाहेतुस्तथा कामार्थहेतुक ।
विनयो भयहेतुश्च पञ्चमो मोक्षसाधन ॥
उत्थानमञ्जलि पूजाऽतिथेरासनढौकनम् ।
देवपूजा च लोकानुवृत्तिकृद्विनयो मत ॥
भाषाछन्दानुवृत्ति च प्रदान देशकालयो· ।
लोकानुवृत्तिरर्थाय विनयश्चाञ्जलिक्रिया ॥
कामतन्त्रे भये चैव ह्येव विनय इष्यते ।
विनय पञ्चमो यस्तु तस्यैपा स्यात् प्ररूपणा ॥

अर्थात् विनय पांच हेतुओंसे हुआ करता है, अत एव उसके पाच भेद है। एक तो वह कि जिसमें लोकोंका अनुवर्तन किया जाता है, दूसरा वह कि जो कामके प्रयोजनसे किया जाता है, तथा तीसरा वह कि जो अर्थ–धनकेलिये

हुआ करता है, और चौथा वह जो कि भयके निमित्तसे करना पडता है, एव पांचवां वह जो कि मोक्षको सिद्ध करनेके, उद्देश्यसे किया जाता है। इसीलिये उनके ये पांच अन्वर्थ नाम है।— लोकानुवर्तनाहेतुक, कामहेतुक, अर्थहेतुक, भयहेतुक, और मोक्षहेतुक।

अतिथिके समक्ष खडे होना, हाथ जोडना और उनकी पूजा करना, तथा उनको ऊंचा आसन देना आदि, और देवपूजा करना आदि भी लोकानुवर्तनाहेतुक विनय माना गया है। धनके उद्देश्यसे भाषाका स्वतन्त्र अनुवर्तन करना, देश और कालका विनियोग करना, तथा लोकोंका अनुवर्तन करना और हाथ जोडना आदि अर्थहेतुक विनय है। इसी प्रकार काम और भयके विषयमें भी विनय कर्म हुआ करता है। पांचवां मोक्षविनय है जिसका कि इस प्रकरणमें निरूपण किया गया है। यह मोक्षविनय भी दर्शनविनय आदिके भेदसे पांच प्रकारका है, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है।

नामादिनिक्षेपके भेदसे वन्दनाके छह भेदोंका उल्लेख करते हैं:—

नामोच्चारणमर्चाङ्गकल्याणावन्यनेहसाम्।
गुणस्य च स्तवाश्चैकगुरोर्नामादिवन्दना ॥ ४९ ॥

वन्दनाके नामादि निक्षेपोंकी अपेक्षासे छह भेद है। नाम वन्दना, स्थापनावन्दना, द्रव्यवन्दना, कालवन्दना, क्षेत्रवन्दना, और भाववन्दना। अर्हतादिकोंमेसे किसी भी एक पूज्य पुरुषके नामका उच्चारण करनेको अथवा स्तुति आदि करनेको नामवंदना कहते है। जिनप्रतिमाकी स्तुति करनेको स्थापना वन्दना कहते है। भगवान् के शरीरका स्तवन करना इसको द्रव्यवन्दना कहते हैं। पंच कल्याणकोंमेंसे किसी भी कल्याणकके कालकी स्तुति करना इसको कालवन्दना कहते है। जहांपर भगवान्‌का कोई भी कल्याण हुआ हो उस स्थानकी स्तुति करनेको क्षेत्रवन्दना कहते हैं। और भगवान्‌के गुणोंका स्तवन करना इसको भाववन्दना कहते हैं।

अर्हतादिकोंके सिवाय और भी जो वन्द्य पुरुष हैं उनको बताते हुए इस बातका निर्देश करते है कि वन्दना करनेवाला साधु कैसा होना चाहिये, अथवा उसको किस तरह वन्दना करनी चाहिये।

सूरिप्रवर्त्युपाध्यायगणिस्थविररात्निकान् ।
यथार्हं वन्दतेऽमानः संविग्नोऽनलसो यतिः ॥ ५० ॥

दीक्षादेनेवाले अथवा अनुचित कार्यसे रोकनेवाले यद्वा किसीको संघमें सम्मिलित करने या पृथक् करने की व्यवस्था देनेवालोंको सूरी कहते हैं । जो आचार्यकी आज्ञाका संघके साधुओंसे पालन कराते हैं उनको प्रवर्ती या प्रवर्त्तक कहते हैं। जिनके पास मुनिजन श्रुतका अध्ययन किया करते हैं उनको उपाध्याय कहते है । और गणकी रक्षा करनेवाले तथा राजसभादिमें कुशल साधुओंको गणी कहते है । इसी प्रकार मर्यादा रखनेवालोंको स्थविर और रत्नत्रयके अधिकतया धारण करनेवालोंको रात्निक कहते हैं । इन सभीका संसारसे भीरु संयमी साधुओंको गर्वरहित होकर और आलस्य छोडकर यथा योग्य विनयकर्म करना चाहिये ।

वन्दनाका विषयविभाग करनेकेलिये किसके परोक्षमें किसकी वन्दना करनी चाहिये सो बताते हैं:—

गुरौ दूरे प्रवर्त्याद्या वन्द्या दूरेषु तेष्वपि ।
संयतः संयतैर्वन्द्यो विधिना दीक्षया गुरुः ॥ ५१ ॥

गुरु—आचार्य यदि देशान्तरको गमन आदि करके चले गये हों, प्रत्यक्ष उपस्थित न हों तो उनके परोक्षमें कर्मकाण्डमें बताई हुई विधिके अनुसार क्रमसे प्रवर्तकादिकी संयमियोंको वन्दना करनी चाहिये । और यदि प्रवर्तकादिक भी उस समय उपस्थित न हों तो जो साधु अपनेसे दीक्षामें बडा है उसकी मुनियोंको वन्दना करनी चाहिये ।

संयमी श्रावक और मुनियोंको जिनकी वन्दना न करनी चाहिये उनका उल्लेख करते हैं:—

श्रावकेणापि पितरौ गुरू राजाप्यसंयताः ।
कुलिङ्गिनः कुदेवाश्च न वन्द्याः सोपि संयतैः ॥ ५२ ॥

असंयमी–माता पिता, और दीक्षागुरु तथा शिक्षागुरु, एवं राजा और मंत्री आदि, तथा तापसादिक और पार्श्वस्थादिक, इसी प्रकार रुद्रादिक और शासन देवतादिक, तथा शास्त्रोपदेशके अधिकारी श्रावककी भी संयमियोंको वन्दना न करनी चाहिये। इतना ही नहीं बल्कि यथोक्त सयमका पूर्णतया पालन करनेवाले श्रावकोंको भी इन असंयमियोंकी वन्दना न करनी चाहिये।

संयमी साधुओंकी भी वन्दना करनेकी विधिका नियम बताते हैं कि कब और किस तरहसे उनकी वन्दना करनी चाहिये, और कब नहीं करनी चाहिये:—

वन्द्यो यतोप्यनुज्ञाप्य काले साध्वासितो न तु।
व्याक्षेपाहारनीहारप्रमादविमुखत्वयुक् ॥ ५३ ॥

संयमीको संयमीकी भी वन्दना योग्य समयमें—आगममें जो वन्दना करनेका समय बताया है उसी समयमें करनी चाहिये। इसके सिवाय जब कि वे अपने स्थानपर या आसनादिपर बैठे हों या बैठ चुके हों तब और उनकी मंजूरी लेकर ही वन्दना करनी चाहिये। अर्थात् वन्दना करनेके पहले "हे भगवन्! वन्देऽहं,—हे भगवन् मैं आपकी वन्दना करता हूं," इस तरहसे उनके समक्ष विज्ञप्ति करनी चाहिये। और जब वे इसके बदलेमें "वन्दस्व" "वन्दना करो" यह अनुज्ञा करें तब उनकी वन्दना करनी चाहिये। जैसे कि कहा भी है कि—

आसने ह्यासनस्थं च शान्तचित्तमुपस्थितम्।
अनुज्ञाप्यैव मेधावी कृतिकर्म निवर्तयेत् ॥

सम्मुख उपस्थित संयमी जब कि भले प्रकार आसन पर बैठे हुए हो कर भी शांतचित्त हों तब उनकी मंजूरी लेकर ही विवेकी साधुओंको उनका विनय आदि करना चाहिये।

जिस समय वे वन्दनीय साधु किसी प्रकार व्याकुल हों अथवा भोजन कर रहे हों, यद्वा मल मूत्रादिका

उत्सर्ग कर रहे हों, तथा सावधान न हों, या अपनी तरफ उन्मुख न हों तो उनकी उस समय वन्दना न करनी चाहिये। जैसा कि कहा भी है किः—

व्याक्षिप्तं च पराचीनं मा वन्दिष्ठा: प्रमादिनम्।
कुर्वन्तं सन्तमाहारं नीहारं चापि संयतम्॥

ऊपर यह बात लिखी जा चुकी है कि आगममें जो वन्दना करनेका समय बताया है उसी समयमें वह करनी चाहिये। किंतु वह समय कौनसा है सो बताते हैं:—

वन्द्या दिनादौ गुर्वाद्या विधिवद्विहितक्रियैः।
मध्याह्ने स्तुतदेवैश्च सायं कृतप्रतिक्रमैः॥ ५४॥

गुरु—आचार्यादिकोंकी वन्दना साधुओंको दिनमें तीनवार करनी चाहिये, प्रातः काल, मध्याह्नकाल और सायंकाल। जिसमेंसे प्रातः काल तो वह प्राभातिक कर्मके अनन्तर, और मध्याह्नमें देव वन्दनाके अनन्तर तथा सायंकालमें प्रतिक्रमणके अनन्तर करनी चाहिये। इसके सिवाय नैमित्तिक क्रियाओंके पीछे भी उनकी वन्दना करनी चाहिये। तथा वन्दना करनेकी विधि क्रियाकाण्डमें जैसी कुछ बताई है तदनुसार ही वह करनी चाहिये।

आचार्य और शिष्यकी तथा दूसरे भी संयमियोंकी वन्दना और प्रतिवन्दनाका विषय विभाग करते हैं:—

सर्वत्रापि क्रियारम्भे वन्दनाप्रतिवन्दने।
गुरुशिष्यस्य साधूनां तथा मार्गादिदर्शने॥ ५५॥

सभी नित्य या नैमित्तिक क्रिया करते समय शिष्यको गुरुसे वन्दना करनी चाहिये। और गुरु—आचार्यको भी उसके बदलेमें शिष्यसे वन्दना करनी चाहिये। इसके सिवाय शेष मुनियोंको भी रास्ता आदिकमें दर्शन होजानेपर परस्परमें यथायोग्य वन्दना करनी चाहिये। तथा मार्गशब्दके साथ आदि शब्दजो दिया है उससे मलोत्सर्गके अनन्तर या कायोत्सर्गके अनन्तर भी दर्शन होजानेपर एक दूसरेको आपसमें वन्दना करनी चाहिये।

यहांतक पडावश्यकोंमेंसे सामायिक चतुर्विंशतिस्तव और वन्दना इन तीन आवश्यकोंका वर्णन किया। अब इनका व्यवहार के अनुसार प्रयोग किस तरह करना चाहिये उसकी विधि बताते हैं:—

सामायिकं णमो अरहंताणमिति प्रभृत्यथ स्तवनम्।
थोस्सामीत्यादि जयति भगवानित्यादिवन्दनां युंज्यात्॥ ५६॥

संयमी साधुओंको तथा देश संयमी श्रावकोंको भी णमो अरहताणं आदि सामायिक दण्डकमें बताए हुए पाठके अनुसार सामायिक, और थोस्सामि इत्यादि पाठके अनुसार चतुर्विंशतिस्तव, तथा जयति भगवान् इत्यादि उल्लेखके अनुसार वन्दना करनी चाहिये।

इस श्लोकमें एक आदि शब्दका लुप्त निर्देश है। अत एव इस वन्दनाके प्रकरणमें अरहत वन्दना सिद्ध वन्दना आदिका भी संग्रह समझलेना चाहिये।

क्रमानुसार प्रतिक्रमणके लक्षण और भेद बताते हैं:—

अहर्निशापक्षचतुर्मासाब्देर्योत्तमार्थभूः।
प्रतिक्रमस्त्रिधा ध्वंसो नामाद्यालम्बनागसः॥ ५७॥

नाम स्थापना और द्रव्य आदिक छह प्रकारके आश्रयसे उत्पन्न हुए अपराध अथवा संचित हुए पापके आत्मासे दूर करनेको प्रतिक्रमण कहते हैं। यह तीन प्रकारसे हुआ करता है, मन वचन और कायके द्वारा, अथवा कृत कारित और अनुमोदनाकी अपेक्षासे। यद्वा मन वचन और कायके द्वारा की गई निन्दा गर्हा और आलोचनाको भी तीन प्रकारका पातिक्रमण कहते है। जैसा कि कहा भी है कि:—

विनिन्दनालोचनगर्हणैरहं, मनोवच कायकषायनिर्मितम्।
निहन्मि पाप भवदु.खकारण, मिपग्विष मन्त्रगुणैरिवाखिलम्॥

मैं संसारसम्बधी दुःखोंके कारण मन वचन तथा काय और कषाय के द्वारा साचित हुए पापको निन्दा आलोचना और गर्हा के द्वारा इस तरह नष्ट कर देता हू, जैसे कि मन्त्र के माहात्म्यसे वैद्य समस्त विषको निःशेष कर दिया करता है। यह निन्दादिरूप प्रतिक्रमणका लक्षण ही है। जैसा कि और भी कहा है कि:—

प्रमादप्राप्तदोषेभ्य प्रत्यावृत्त्य गुणावृति. ।
स्यात्प्रतिक्रमणा यद्वा कृतदोषविशोधना ॥

प्रमादके निमित्तसे जो दोष या अपराध उत्पन्न हुआ करते हैं उनसे आत्माको बचाये रखना, अर्थात् वे दोष आत्मामें उत्पन्न न होने देना और गुणोंकी तरफ उसकी प्रवृति रखना इसको प्रतिक्रमण कहते हैं। अथवा प्रमादादिके वश जो दोष लगगये हों उनके दूर करनेको भी प्रतिक्रमण कहते है।

प्रतिक्रमण करनेके समय-काल अथवा उसके विषय सात हैं। दिन रात्रि पक्ष चतुर्मास वर्ष ईर्या और उत्तमार्थ। दिन रात्रि पक्ष और वर्ष शब्दका अर्थ स्पष्ट है। चतुर्माससे मतलब श्रावण भाद्रपद आश्विन और कार्तिक इन चार महीनाओंका ही नहीं है; किंतु इसके आगे मगसिर पौष माघ और फल्गुनको तथा चैत्र वैशाख ज्येष्ठ और अषाढ, इन चार चार महीनोंको भी चातुर्मास कहते हैं। इसतरह प्रतिक्रमणके सम्बन्धमें एक वर्षमें तीन चातुर्मास हुआ करते हैं। ईर्यासे मतलब ईर्यापथ गमनका है। जो शरीरके परित्याग कराने में समर्थ है—अर्थात् जो समाधिमरणके समय किया जाता है ऐसे समस्त दोषोंकी आलोचना पूर्वक किये गये चार प्रकारके आहारके त्यागका नाम उत्तमार्थ है। इस प्रकार समय या विषयकी अपेक्षासे प्रति क्रमणके सात भेद है,-आह्निक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक, ऐर्यापथिक, और उत्तमार्थिक। जैसा कि कहा भी है कि:—

ऐर्यापथिकराऽयुत्थ प्रतिक्रमणमाह्निकम् ।
पाक्षिक च चतुर्मासवर्षोत्थ चोत्तमार्थिकम् ॥

प्रतिक्रमण आलोचना पूर्वक हुआ करता है। अत एव इस कथनसे प्रतिक्रमणकी तरह आलोचनाके भी सात भेद समझ लेना चाहिये। यथाः—

आलोचण दिवसिय राइय इरियावह च वोद्धव्व ।
पक्खय चादुम्मासिय सवच्छरमुत्तमट्ठं च ॥

इस प्रकार आचार शास्त्रके अनुसार प्रतिक्रमणके सात भेद हैं। किन्तु ग्रन्थान्तरोंमें इनके सिवाय और भी भेद बताये है। परन्तु उनका इन सात भेदोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। इसी बातको बताते हैं:—

सोन्त्ये गुरुत्वात् सर्वातीचारदीक्षाश्रयोऽपरे ।
निषिद्धिकेर्यालुञ्चाशदोषार्थश्च लघुत्वतः ॥ ५८ ॥

सम्पूर्ण अतीचार सम्बन्धी और दीक्षा सम्बन्धी प्रति क्रमण अन्तके उत्तमार्थ प्रतिक्रमणमें अन्तर्भूत हो जाते हैं। क्योंकि उनके भक्ति और उच्छ्वास दण्डकका पाठ बहुत ज्यादा है। जिस समय दीक्षा ली उस समयसे लेकर सन्यास ग्रहण करनेके समय तक जो जो दोप या अपराध हुए हों उनकी निन्दा गर्हा और आलोचना करने को सर्वातीचार प्रतिक्रमण कहते है। तथा व्रत ग्रहण करनेमें जो दोप लगे हों उनकी निन्दा आदि करनेको दीक्षा सम्बन्धी प्रतिक्रमण कहते है।

ये दोनों ही प्रतिक्रमण गुरु—बडे हैं इसलिये इनका उत्तमार्थमें समावेश हो जाता है। इस कथनसे अर्थात् गुरुत्वका उल्लेख करके ग्रन्थकारने यह बात व्यक्त करदी है कि बृहत् प्रतिक्रमणाएं भी सात प्रकारकी हुआ करती है। जिनके कि नाम इस प्रकार है,— व्रतारोपणी, पाक्षिकी, कार्तिकान्त चातुर्मासी फाल्गुनान्त चातुर्मासी, आषाढान्त सांवत्सरी, सार्वातीचारी, और उत्तमार्थी।

अतिचार सम्बन्धी प्रतिक्रमणा सार्वातीचारीमें और जिसमें तीन प्रकारके आहारका परित्याग किया जाता है वह उत्तमार्थीमें अन्तर्भूत होजाती है; अत एव इनका पृथक् नामोल्लेख नहीं किया है। बाकीकी पांच प्रतिक्रमणाएं वर्षके अंतमें कीजाती है। और यौगान्ती प्रतिक्रमणा सांवत्सरीमें अन्तर्भूत हो जाती है। जैसा कि कहा भी है कि:—

व्रतादाने च पक्षान्ते कार्तिके फाल्गुने शुचौ ।
स्यात्प्रतिक्रमणा गुर्वी दोषे सन्यासने मृतौ ॥

अर्थात् बृहत्प्रतिक्रमणाएं सात समयोंमें हुआ करती हैं, व्रत ग्रहण करते समय, पक्षके अन्तमें, कार्तिकके अन्तमें, फाल्गुनके अन्तमें, आषाढके अन्तमें, किसी प्रकारका दोष लग जानेपर, और संन्यास मरणके समय ।

इस प्रकार ये सात बृहत्प्रतिक्रमणाएं है । लघुप्रतिक्रमणाओंके आह्निक आदि सात भेद बताये हैं । इनके सिवाय आगममें निषिद्धिकेर्यादिक और भी प्रतिक्रमणाओंके जो भेद बताये हैं उनका आह्निकादिकमें ही अन्तर्भाव हो जाता है । क्योंकि वे लघु हैं, उनके भी भक्ति उच्छ्वासदण्डकका पाठ अल्प है ।

जहांपर मुनिजन उठा बैठा आदि करते हैं उस स्थान विशेष को निषिद्धिका कहते है, और उस स्थानमें चलने फिरने आदि का नाम निषिद्धिकेर्या है। दीक्षा ग्रहण करनेके अनन्तर दो महीना तीन महीना या चार महीनामें अपने हाथसे केशोंके उखाडनेको लोच कहते हैं । अशन नाम भोजन अर्थात् गोचरवृत्तिका है । दुःस्वप्न आदि अतीचारोंको दोष कहते हैं । इन चार निमित्तोंकी अपेक्षासे जो निन्दा गर्हा आदि की जाती हैं उन्हीको क्रमसे निषिद्धिकागमन प्रतिक्रमणा, लुञ्चप्रतिक्रमणा, गोचारिप्रतिक्रमणा, और अतीचार प्रतिक्रमणा कहते हैं। ये चारो ही प्रतिक्रमणाएं लघु हैं। इसलिये इनका ऐर्यापथिक आदि प्रतिक्रमणाओंमें अन्तर्भाव होजाता है । इनमेंसे पहली मार्गातीचार प्रतिक्रमणामें और पिछली रात्रिप्रतिक्रमणामें तथा बीचकी दोनों आह्निकप्रतिक्रमणामें अन्तर्भूत होती हैं । इस कथनसे अर्थात् श्लोकमें अन्तर्भावकेलिये लघुत्व हेतु देकर ग्रन्थकारने यहांपर लघुप्रतिक्रमणाएं भी सात होती हैं यह बताया है । जैसा कि कहा भी है किः—

लुञ्चे रात्रौ दिने भुक्ते निषेधिकागमने पथि ।
स्यात् प्रतिक्रमणा लघ्वी तथा दोषे तु सप्तमी ॥

लोच रात्रि दिन भोजन निषेधिकागमन मार्ग और दोष अर्थात् अतीचार इन सात विषयोंकी अपेक्षासे लघुप्रतिक्रमणाओंके भी सात भेद हैं ।

इस प्रकरणके प्रारम्भमें प्रतिक्रमणका लक्षण बताते समय लिखा था कि नाम स्थापना आदि छह निमित्तोंसे होनेवाले अपराधके अथवा संचित हुए पापके दूर करने को प्रतिक्रमण कहते हैं। अत एव नामादिकी अपेक्षासे प्रतिक्रमणके भी छह भेद होते है । इन्हीं छह भेदोंका स्वरूप दो श्लोकोंमें बताते हैं:—

स्यान्नामादिप्रतिक्रान्तिः परिणामनिवर्तनम् ।
दुर्नामस्थापनाभ्यां च सावद्यद्रव्यसेवनात ॥ ५९ ॥

क्षेत्रकालाश्रिताद्रागाद्याश्रिताच्चातिचारतः ।
परिणामनिवृत्तिः स्यात क्षेत्रादीनां प्रतिक्रमः ॥ ६० ॥ युग्मम् ।

पापसंचयके कारणभूत नामोंके उच्चारणादिमे होनेवाले अथवा उनका उच्चारणादि करनेके लिये जो परिणाम होवे हैं उनकी निवृत्तिको नामप्रतिक्रमणा कहते हैं । सराग स्थापनाके निमित्तसे होनेवाले परिणामोंकी निवृत्तिको स्थापना प्रतिक्रमण कहते है । हिंसादि पापोंसे युक्त भोज्यादि वस्तुओंके विपयमें जो परिणाम होते है उनकी निवृत्तिको द्रव्यप्रतिक्रमणा कहते है । क्षेत्रके सम्बन्धमे लगनेवाले अतीचारोंकी तरफ परिणामों की प्रवृत्ति न होना अथवा उनकी तरफ यदि परिणाम प्रवृत्त होभीजाय तो निन्दा आदिके द्वारा उनकी निवृत्ति करनेको क्षेत्रप्रतिक्रमणा कहते है । इसी प्रकार कालके निमित्तसे लगनेवाले अतीचारोंकी प्रवृत्ति न होनेको अथवा होजानेपर उसके निवृत्त करनेको कालप्रतिक्रमणा कहते है । तथा रागद्वेप और मोह सम्बन्धी अतीचारोंसे आत्माके निवृत्त रखनेको भाव प्रतिक्रमणा कहते हैं ।

प्रतिक्रमण यह क्रिया है, उसके कर्ता कर्म करण और अधिकरणरूप कारक कौन २ हैं सो बताते हैः—

स्यात प्रतिक्रमकः साधुः प्रतिक्रम्यं तु दुष्कृतम् ।
येन यत्र च तच्छेदस्तत्प्रतिक्रमणं मतम् ॥ ६१ ॥

पांच महाव्रतादिके श्रवण और धारण करनेमें तथा उनमें दोषोंके लग जानेपर उन दोषोंके दूर करनेमें सदा तत्पर रहनेवाला साधु इस प्रतिक्रमण क्रिया का कर्ता है। क्योंकि वही द्रव्यादि विषयक अतीचारोंसे आत्माको निवृत्त रखता है, तथा यदि अतीचार लग भी जांय तो उनकी वह शुद्धि भी करता है। जिनसे कि आत्माको बचाकर रक्खा जाता है, अथवा जो दूर करने—छोडने योग्य है ऐसे मिथ्यात्वादिक पापोंको और उनके निमित्तभूत द्रव्यादिकोंको प्रतिक्रम्य प्रतिक्रमण क्रियाका कर्म समझना चाहिये। "मिथ्या मे दुष्कृत भवतु—मेरे सम्पूर्ण पाप मिथ्या-निःशेष हो" इस तरहके शब्दोंसे प्रकट होनेवाले परिणाम अथवा ये शब्दसमूह ही इस क्रियाके करण है। क्योंकि इन्हींके द्वारा पापोंका उच्छेदन किया जाता है। व्रतोंकी शुद्धि पूर्वकता अथवा तद्रूप परिणत जीव इस क्रियाका अधिकरण समझना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

जीवो दु वडिक्कमओ दव्वे खेत्ते य काल भावे य।
पडिगच्छदि जेणुज्जहिं त तस्स भवे पडिकमण॥
पडिकमिदव्व दव्व सच्चित्ताचित्तमिस्सिय तिविह।
खेत्त च गिहादीय कालो दिवसादिकालम्हि॥
मिच्छत्ते पडिकमण तह चेव असजमे पडिकमण।
कसाएसु पडिकमण जोगेसु य अप्पसत्थेसु॥

प्रतिक्रमणके विषयमें पांच बातें विचारणीय है।—कर्ता द्रव्य क्षेत्र काल और भाव। कर्ता जीव है, क्योंकि वह आत्माको अपराधोंसे निवृत्त रखने या करनेमें स्वतन्त्र है। जिनका प्रतिक्रमण किया जाता है वह कर्म रूप वस्तु ही द्रव्य है। वह तीन प्रकारकी मानी है, सचित्त अचित्त और मिश्र। गृह गुहा वसतिका वन उपवन मन्दिर आदि स्थान प्रतिक्रमणके क्षेत्र है। दिन रात्रि प्रातः काल मध्यान्ह आदि नित्य नैमितिक समय ही प्रतिक्रमणके काल है। भाव नाम परिणामका है। वह चार प्रकारका है, मिथ्यात्व असंयम कषाय और अप्रशस्त योग।

प्रतिक्रमण करनेकी विधि बताते हैं:—

निन्दागर्हालोचनाभियुक्तो युक्तेन चेतसा ।
पठेद्वा शृणुयाच्छुद्धयै कर्मघ्नान्नियमान्समान् ॥ ६२ ॥

अपनेसे जो दोप बनगया हो उसकी स्वयं अपने मनमेंही, हाय मुझसे यह बडा अनर्थ होगया, ऐसी भावना करने को निन्दा कहते हैं । यदि यह भावना गुरुके समक्ष कीजाय तो उसको गर्हा कहते हैं । तथा अपने दोपोंका गुरुसे निवेदन करदेनेको आलोचन कहते हैं । साधुओंको प्रतिक्रमणके समय ये तीनो ही पहले करने चाहिये । पीछे विपुल कर्मोंकी निर्जराकेलिये अथवा सम्पूर्ण अतीचारोंकी शुद्धिकेलिये कर्मोंका नाश करनेवाले समस्त नियमों-दण्डकोंका स्वयं पाठ करना चाहिये, अथवा आचार्यादिसे सुनना चाहिये ।

भावार्थ—पहले तो साधुओंको भावप्रतिक्रमणमें प्रवृत्त होना चाहिये । किन्तु यह प्रवृत्ति स्वयं निन्दा गर्हा और आलोचना करनेसे ही हुआ करती है । जैसा कि कहा भी है कि:—

आलोयण निंदणगरहणाहिं अब्भुट्ठिओ अकरणाए ।
त भावपडिकमण सेस पुण दव्वदो भणिद ॥

अर्थात् प्रतिक्रमण दो प्रकारका है, एक द्रव्यरूप दूसरा भावरूप । आलोचना निन्दा और गर्हाकेद्वारा दोपोंके दूर करनेमें प्रवृत्त होनेको भाव प्रतिक्रमण, और शेप क्रियाओंके करनेको द्रव्यप्रतिक्रमण कहते हैं । इनमेंसे पहले भावप्रतिक्रमण करके पीछे द्रव्यरूप प्रतिक्रमण करना चाहिये । अर्थात् निन्दादिके अनन्तर व्यवहारसे अविरुद्ध प्रतिक्रमण सम्बन्धी दण्डकोंके पाठका स्वय उच्चारण करना चाहिये, अथवा आचार्यादिके मुखसे उसको सुनना चाहिये । क्योंकि उपयुक्त मनसे, अर्थ की तरफ ध्यान देकर यदि यह पाठ किया जाय या सुनाजाय तो वह सम्पूर्ण कर्मोंका नाश कर देता है । जैसा कि कहा भी है कि: —

भावयुक्तोर्थतन्निष्ठ सदा सूत्र तु य पठेत् ।
स महानिर्जरार्थाय कर्मणो वर्तते यति ॥

अर्थात् मन लगाकर और अर्थकी तरफ भी ध्यान देते हुए प्रतिक्रमण सूत्रका पाठ करनेसे संयमियोंके कर्मोंकी महान् निर्जरा हुआ करती है।

इस सब कथनका तात्पर्य यह है कि आजकल दुःषम काल है। इसके प्रसादसे लोगोंकी बुद्धि या प्रवृत्ति वक्र और जडरूप होजाती है, चित्त चचल रहा करता है, जिससे कि प्रायः उनसे अपराध हुआही करते है। यहांतक कि व्रतादिकोंमें जो अतिचार वे अपने आप लगालिया करते हैं उनका भी उन्हे स्मरण नही रहता। अत एव ईर्यागमनागमनादिकमें कोई दोष लगे या न लगे सबको समस्त अतीचारोंकी शुद्धिके लिये सम्पूर्ण प्रतिक्रमण करने ही चाहिये। क्योंकि इन प्रतिक्रमणोंके कहते समय चाहें सबमें उपयोग न लगे, किन्तु जिस किसी भी प्रतिक्रमणमें चित्त स्थिर हो जायगा उसीसे समस्त दोष दूर हो जांयगे। क्योंकि ये सभी प्रतिक्रमण कर्मोंके नष्ट करनेमें समर्थ है। जैसा कि कहा भी है कि:—

स प्रतिक्रमणो धर्मो जिनयोरादिमान्त्ययोः।
अपराधे प्रतिक्रान्तिर्मध्यमाना जिनेशिनाम्॥
यदोपजायते दोष आत्मन्यन्यतरत्र वा।
तदैव स्यात्प्रतिक्रान्तिर्मध्यमाना जिनेशिनाम्॥
ईर्यागोचरदु स्वप्नप्रभृतौ वर्तता नवा।
पौरस्त्यपश्चिमा सर्वं प्रतिक्रामन्ति निश्चितम्॥
मध्यमा एकचित्ता यदमूढदृढबुद्धय।
आत्मनानुष्ठित तस्माद्गर्हमाणा सृजन्ति तम्॥
पौरस्त्यपश्चिमा यस्मात्समोहाश्चलचेतसः।
ततः सर्वं प्रतिक्रान्तिरन्धोऽश्वोऽत्र निदर्शनम्॥

अर्थात् सबसे पहले तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ स्वामीके समयमें और सबसे पिछले महावीर स्वामीके समयमें ही इस प्रतिक्रमण धर्मका सदा पालन किया जाता है। बाकीके मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरोंके बारेमें इसका सदा पालन नहीं किया जाता, जब अपराध होता है तभी किया जाता है। पहले और पिछले तीर्थंकरके

समयके साधुओंको निश्चित रूपसे सम्पूर्ण प्रतिक्रमण करने ही चाहिये, चाहे ईर्या गोचर दुःस्वप्न आदिके विषयमें उन्हे दोष लगे या न लगे। बीचके बाईस तीर्थंकरोंके समयके साधुओंका चित्त चंचल नहीं हुआ करता और उनकी बुद्धि भी दृढ हुआ करती है, तथा उनमें मूढता भी विशेष नहीं पाई जाती। अत एव उनसे जब कोई अपराध बन जाता है तब वे उसकी गर्हा आदि करते हैं। किंतु आदि तीर्थंकर और अन्तिम तीर्थंकरके समयके साधु वैसे नहीं होते, उनमें मोह और चित्तकी चचलता रहा करती है, अत एव वे सब प्रतिक्रमण करते है।

निम्न श्रेणीके मुमुक्षुओंको प्रतिक्रमण आदि करनेमें लाभ है और न करनेमें हानि है। किंतु जो उच्च पदपर पहुंच गये हैं उन मुमुक्षुओंको इस प्रतिक्रमण आदिके करनेमें हानि ही है। इसी बातका उपदेश देते हैः—

प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहरणं धारणा निवृत्तिश्च ।
निन्दा गर्हा शुद्धिश्चामृतकुम्भोन्यथापि विषकुम्भः ॥६३॥

यहांपर प्रतिक्रमण शब्दसे द्रव्य प्रतिक्रमणका ग्रहण किया है। अतएव दण्डकोंका पाठ करना ही प्रकृतमें उसका लक्षण समझना चाहिये। गुणोंम प्रवृत्ति करनेको प्रतिसरण कहते हैं। दोषोंसे पराङ्मुख रहनेका नाम परिहरण है। चित्तके स्थिर रखनेका नाम धारणा है। दूसरी तरफ चित्तके चले जानेपर उधरसे पुन उसके लौटानेको निवृत्ति कहते हैं। निन्दा और गर्हा शब्दका अर्थ पहले बता चुके हैं। प्रायश्चित्त आदिके द्वारा अपने शोधन करनेको शुद्धि कहते है।

निम्नपदमें रहनेवाले मुमुक्षुओंकेलिये ये प्रतिक्रमणादि आठो ही कार्य अमृतघटके समान है। क्योंकि जिस प्रकार अमृतका पान करनेसे चित्तमें प्रसन्नता और आह्लाद हुआ करता है उसी प्रकार इन क्रियाओंके करनेसे भी परम प्रसन्नता और आह्लाद प्राप्त हुआ करता है। अत एव निम्नपदमें इनके करनेसे लाभ ही है। तथा न करनेसे हानि है। क्योंकि इनके न करनेपर मोह और संताप आदि उत्पन्न हुआ करते हैं जो कि पापबन्धके कारण हैं। इसलिये उस अवस्थामें इनका न करना विषके घटके समान ही समझना चाहिये।

यहांपर अपि शब्दका जो पाठ किया है उससे यह बात भी जाहिर करदी है कि ऊपरके पदमें पहुंचकर प्रतिक्रमण आदिका करना भी विषकुम्भके समान है। क्योंकि वहांपर विशेषतया संवर और निर्जराके कारणोंमें ही प्रवृत्ति होती है, पुण्य बंधके कारणोंमें नहीं। किंतु इस प्रतिक्रमण आदिके द्वारा उस पुण्यकी प्राप्ति होती है जो कि वैभवको उत्पन्न कर क्रमसे मद और मतिमें मोह उत्पन्न करदिया करता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

पुण्णेण होइ विहओ विहवेण मओ मएण मइमोहो।
मइमोहेण य पाव त पुण्ण अह्म मा होउ॥

पुण्यके उदयसे वैभवकी प्राप्ति होती है। और वैभवसे मद तथा मतिमें मोह उत्पन्न हुआ करता है। मोहके निमित्तसे पापका संचय हुआ करता है। अत एव इस पापबन्धका कारण पुण्य ही हमको नहीं चाहिये।

यहांपर यदि यह कोई शंका करे कि इस पद्यमें (आर्यामें) छन्दोभङ्ग है। क्योंकि प्रतिक्रमण इस शब्दमें क्र इस संयुक्ताक्षरके आगे रहनेसे ति यह दीर्घ होजाता है। सो ठीक नहीं है। क्योंकि यहांपर उसका शिथिल उच्चारण करना अभीष्ट है, जैसा कि अनेक स्थलोंमें पाया भी जाता है। यथा:—

वित्तैर्येषा प्रतिपदमिय पूरिता भूतधात्री,
निर्जित्यैतद्भुवनवलय ये विभुत्व प्रपन्नाः।
तेप्येतस्मिन् गुरुवचह्रदे बुद्बुदस्तम्बलीला,
धृत्वा धृत्वा सपदि विलय भूभुज सप्रयाता॥

यहांपर "गुरु वचह्रदे बुद्बुद" इस पदमें ह्र इस संयुक्ताक्षरके आगे पडे रहनेपर भी चको दीर्घ मानकर अथवा द्बु इस सयुक्ताक्षरके आगे रहते हुए भी बु को दीर्घ मानकर छन्दोभङ्ग नहीं होता। इसी तरह "भ्रमति भ्रमरकान्ता नष्टकान्ता वनान्ते" इसमें भ्र के पडे रहनेपर भी ति दीर्घ नहीं माना जाता। तथा "शत्रोरपत्यानि प्रियवदानि नोपेक्षितव्यानि बुधैः कदाचित्" यहांपर प्रि के पडे रहनेपर भी नि यह दीर्घ नहीं माना गया है। "जिनवर प्रतिमाना भावतोऽहं नमामि" इसमें भी प्र के पडे रहते हुए भी र को दीर्घ मानकर छन्दोभङ्ग

नहीं माना है। इसी प्रकार और भी अनेक स्थानोंमें शिथिल उच्चारण मिलता है। तदनुसार यहांपर भी समझना चाहिये। अत एव छन्दोभङ्गकी शंका ठीक नहीं है।

सम्पूर्ण कर्मोंसे रहित होनेकी भावना करते हुए उनके फलोंसे भी रहित होनेकी भावना करनेमें मुमुक्षुओंको प्रेरित करते हैं।:—

प्रतिक्रमणमालोचं प्रत्याख्यानं च कर्मणाम्।
भूतसद्भाविनां कृत्वा तत्फलं व्युत्सृजेत सुधीः ॥ ६४ ॥

विवेकी साधुओंको भूत भविष्यत् और वर्तमान समस्त कर्मोंका प्रतिक्रमण आलोचन और प्रत्याख्यान करके उनके सम्पूर्ण फलोंका भी प्रत्याख्यान करना चाहिये।

भावार्थः—मुमुक्षुओंको भूत वर्तमान और भविष्यत् कर्मोंका क्रमसे प्रतिक्रमण आलोचन और प्रत्याख्यान करना चाहिये। तथा उसी प्रकार कर्मोंके फलोंका भी क्रमसे प्रतिक्रमण आदि करना चाहिये। जिन शुभ या अशुभ कर्मोंका पूर्व कालमें संचय हो चुका है उन कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होनेवाले परिणामोंसे अपनी आत्माको जुदा रखना, संचित कर्मोंके उदयकेलिये निमित्त मिलनेपर उस निमित्तको उदयका निमित्त न बनने देना, यदि कर्मोंका उदय हो भी जाय तो उससे अपनी आत्माको पृथक् रखना, क्रोधादिरूप परिणत न होना, और कर्मोंके संग्रह तथा उदय आदिमें करणभूत पूर्व कर्मोंकी आत्मासे निवृत्ति करना, इसको भूत कर्मोंका प्रतिक्रमण कहते हैं। वर्तमानमें जिन शुभ या अशुभ कर्मोंका उदय हो रहा है उनसे अपनी आत्माको सर्वथा भिन्न समझना, इसको वर्तमान या सत्कर्मोंका आलोचन करना कहते हैं। जिनसे कि आगामी कर्मोंका बन्ध हो सकता है ऐसे अपने शुभ या अशुभ परिणाम न होने देना इसको भाविकर्मोंका प्रत्याख्यान कहते है। इस प्रकार भूत वर्तमान और भविष्यत् कर्मोंका प्रतिक्रमणादिक क्रमसे करके उनके फलोंका भी परित्याग करनेके लिये इस प्रकार विचार करना चाहिये। यथाः—

नहीं हूं, मैं अपने चिदात्माका ही अनुभविता हू । " इत्यादि सभी मूल कर्म और उनकी उत्तर प्रकृतियोंके विपयमें विचार करके उनके फलका विशेपरूपसे और नानापकारसे प्रत्याख्यान करना चाहिये। जैसाकि कहा भी है किः —

विगलन्तु कर्मविपतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव ।
संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मनात्मानम् ॥

मैं इस समय अपने अचल चैतन्यस्वरूप आत्माका स्वयही अनुभव कर रहा हूं । अतएव ये मेरे कर्मरूपी विपवृक्षोंके फल विना भक्तिकेही झडजांय । और भी कहा है किः—

निःशेपकर्मफलसंन्यसनान्ममैवं,
सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तिवृत्तेः ।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं,
कालावलीयमचलस्य वहत्वनन्ता ॥

मेरे सम्पूर्ण कर्मोंके फल छूट चुके हैं, अथवा मैंने उनको छोड दिया है । इसी लिये अब मैं अन्य सम्पूर्ण क्रियाओंमें विहारकरनेको भी छोडनेमें प्रवृत्त हुआ हू । अब मैं अन्य सब क्रियाओंमें संचार करनेसे विमुख होकर केवल चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वका पुनः पुनः अथवा प्रचुरतासे अनुभव करनेकी क्रियामें ही अचलतया लीन हो रहा हू । मेरी इस अचलताको अनतकाल धारण करे, अर्थात् इस आत्मानुभवन रूप क्रियामें अनंतकालतक अचल बना रहूं । इसी तरह और भी कहा है किः—

यः पूर्वभावकृतकर्मविपद्रुमाणां, भुङ्क्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः ।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं, निष्कर्मशर्ममयमेति दशान्तरं सः ॥

जो भव्य अपने आप ही तृप्त रहकर अपने ही परिणामोंसे पूर्वकालमें संचित पापकर्म रूपी विपवृक्षोंके फलोंका अनुभवन नहीं करता है वह तत्काल भी रमणीय और परिपाकमें भी मधुर तथा कर्मोंसे रहित किंतु सुखमय अपूर्व अवस्थाको प्राप्त हुआ करता है ।

भावार्थ—कर्मोंका फल–पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त होनेवाला सुख तत्काल ही रमणीय है, सेवन करते समय ही अच्छा मालुम होता है, किंतु उसका परिपाक कटु ही है। क्योंकि उसका सेवन करनेसे जो नवीन कर्मोंका बन्ध होता है उसके निमित्तसे परलोकमें तो दुःखकी प्राप्ति होती ही है, किंतु इस भवमें भी उससे दुःखोंकी ही प्राप्ति हुआ करती है। यद्वा उसके साथ अनेक दुःखोंका मिश्रण भी रहा ही करता है। अथवा वह स्वय ही दुःख रूप है। इसके सिवाय वह कर्मोंके उदय से प्राप्त होता है इसलिये पराधीन भी है। अत एव इस सुखके निमित्तसे भव्योंको वास्तविक तृप्ति नहीं हो सकती। जो इसके सेवनकी अभिलाषा भी रखते हैं वे भी वस्तुतः सुखी नहीं हो सकते। जिस प्रकार कोई रोगी मनुष्य दाहसे व्यथित होनेपर पानीके पीनेकी इच्छा तो रक्खे किंतु वैद्यके कथनानुसार अपाय होनेके भयसे पीवे नहीं तो उसको वस्तुतः सुखी नहीं कह सकते। सुखी वही कहा जासकता है कि जिसको उसके पीनेकी इच्छा ही नहीं है। जो किसीकी प्रेरणा से नहीं किंतु स्वतः ही जलके विषयमें तृप्त है। उसी प्रकार जो भव्य अपने पूर्व संचित कर्मोंके विषमय फलोंका स्वतः तृप्त होनेसे नहीं भोगता वह वास्तविक–कर्मजनित सुखोंसे सर्वथा विपरीत आत्मस्वरूप—स्वाधीन जो सेवन करते समय भी मधुर मालुम पडती है और जिसका परिपाक भी मधुर है, एव जिसके साथमें किसी दूसरे दुःख का रचमात्र भी संसर्ग नहीं पाया जाता ऐसी अनंत सुखमय अवस्थाको प्राप्त हुआ करता है।

और भी कहा है किः—

> अत्यन्त भावयित्वा विरतिमविरत कर्मणस्तत्फलाच्च,
> प्रस्पष्ट नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसचेतनायाः।
> पूर्ण कृत्वा स्वभाव स्वरसपरिगत ज्ञानसचेतना स्वां,
> सानन्द नाटयन्तः प्रशमरसमिताः सर्वकाल पिबन्तु ॥ (२३३ पु० सि०)

कर्मोंसे और उनके फलोंसे आत्मा सर्वथा भिन्न है, इस बातका निरंतर और अच्छी तरहसे अनुभव करके जिन्होने सम्पूर्ण अज्ञान चेतनाका भले प्रकार नाश करदिया है, तथा उसका नाश करके अपने परिणामोंको जिन्होने आत्मानुभवके रसकी तरफ पूर्णतया लगा दिया है, और इसी लिये जो अपनी आत्मिक ज्ञानचेतनाके

" मनसे वचनसे या शरीरसे मैंने जिस किसी दुष्कर्मका संचय किया हो, अथवा किसीसे कराया हो, यद्वा किसीके करनेपर उसकी अनुमोदना की हो, तो वह सब मेरा दुष्कर्म मिथ्या हो जाय। " इस वाक्यमें एक भूतकालकी ही क्रिया लगाई है। किन्तु इसी प्रकारसे मनवचनकायके संयोगी असंयोगी भेद और उनंचास क्रियापदोंको क्रमसे जोडकर प्रतिक्रमण करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषय मनोवच:कायैः।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे ॥

भूत भविष्यत् और वर्तमान कालमें मन वचन और कायके द्वारा तथा कृत कारित और अनुमोदना करके जिन जिन कर्मोंका संग्रह हुआ हो या हो रहा है उन सबको छोडकर अब मैं कर्मरहित उत्कृष्ट अवस्थाका अनुभव कर रहा हूं। तथा और भी कहा है कि:—

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥

मोहके निमित्तसे मैंने जिन जिन कर्मोंको संचित किया उन सभीको छोडकर—उनका प्रतिक्रमण करके देखता हूं तो कर्म रहित चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मामें मैं अपने आत्मस्वरूपसे ही सदा लीन होकर रह रहा हूं।

पूर्व कालमें संचित कर्मोंके फलका प्रति क्रमण करनेके लिये किस प्रकारकी भावना होनी चाहिये सो ऊपर बताया है। इसी प्रकार वर्तमानमें उदयमें आते हुए कर्मोंका और उनके फलका आलोचन इस तरह करना चाहिये कि " मैं अपने मन वचन या शरीरके द्वारा न तो दुष्कर्म करता हूं, और न किसी से कराता हूं, और न कोई वैसा करता हो तो उसकी अनुमोदना करता हूं। " किंतु पहलेकी तरह यहांपर भी मन वचन कायके सयोगी असंयोगी भंग और उनंचास क्रिया पदोंको क्रमसे लगालेना चाहिये। इस प्रकार कर्म और उनके फलोंका आलोचन करके अपने आत्मस्वरूपमें लीन होना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत् कर्म सफलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥

।

अर्थात् ये सम्पूर्ण कर्म जो कि उदयमें आ रहे हैं वे सब मोहकी लीलासे ही प्रकट होने वाले हैं। अत
एव इन सबको आलोचना करके मै सदा कर्मरहित चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मामें अपने आत्मस्वरूपमे ठहरा हुआ हूं।
इसी तरह भविष्यत्कर्मोंका और उनके फलोंका प्रत्याख्यान करनेकेलिये भी विचार करना चाहिये। यथाः—
" मै अपने मन वचन और कायके द्वारा कोई भी दुष्कर्म न करूगा और न किसीसे कराऊंगा तथा कोई करता
होगा तो उसकी अनुमोदना भी न करूंगा। " यहांपर भी क्रमसे मन वचन कायके संयोगी असंयोगी भंग और
उनचास क्रियापद जोडलने चाहिये। और इस तरह प्रत्याख्यान करके आत्मरूपमें लीनता की प्रवृत्ति करनी चाहिये।
जैसा कि कहा भी है किः —

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्त निरस्तसमोह ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥

मैंने मोहकर्मका निरास करदिया है, इसी लिये अब आगे संचित होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंका भी प्रत्या
ख्यान करके कर्मरहित चैतन्य स्वरूप अपनी आत्मामें आत्मस्वरूपके द्वारा सदा लीन रहनेकेलिये प्रवृत्त होता हू।
यहांपर भूत वर्तमान और भविष्यत् कर्मोंमेंसे एक एकका क्रमसे प्रतिक्रमण आलोचन और प्रत्याख्यान
किस तरह करना चाहिये सो बताया। किंतु समुदायरूपसे भी तीन काल सम्बन्धी समस्त कर्मोंका परित्याग करके
तथा मोह रहित होकर कर्मजनित विकारोंसे रहित आत्मामें लीन होनेका अभ्यास करना चाहिये। जैसा कि
कहा भी है किः—

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिक शुद्धनयावलम्बी ।
विलीनमोहो रहित विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे ।।

शुद्धनिश्चयनयका अवलम्बन लेकर सम्पूर्ण त्रिकालसम्बन्धी कर्मोंको पूर्वोक्त रीतिसे छोडकर और मोहर-
हित होकर मैं उन कर्मजनित विकारोंसे सर्वथा रहित चेतनामय आत्मस्वरूप में लीन हो रहा हूं।
" मै मतिज्ञानावरण कर्मके फलका भोक्ता नहीं हू, केवल अपने चैतन्यस्वरूपका ही अनुभव करनेवाला
हू। " इसीप्रकार " मैं श्रुतज्ञानावरण कर्मके फलका भोक्ता नहीं हू, अवधिज्ञानावरण कर्मके फलका भी मै भोक्ता

विलासोंका आनन्दपूर्वक दर्शन किया करते हैं वेही अंतमें शान्तरसका सर्वकाल पान किया करते हैं। इसी तरह और भी कहा है किः—

कर्मभ्य कर्मकार्येभ्य पृथग्भूत चिदात्मकम्।
आत्मान भावयेन्नित्य नित्यानन्दपदप्रदम्॥

यह चित्स्वरूप आत्मा कर्म और उसके फलोंसे सर्वथा भिन्न है। ऐसा नित्य ही अनुभवन करना चाहिये। क्योंकि उसीसे शास्वत आनन्दरूप पदकी प्राप्ति हुआ करती है। समयसारमें भी ऐसा ही कहा है किः—

कम्म ज पुव्वकय सुहासुहमणेयवित्थरविसेसम्।
त दोस जो चेयइ सो खलु आलोयण चेया॥
णिच्च पच्चक्खाणं कुव्वइ णिच्च च पडिकमइ जो य।
णिच्च आलोचेइय सो हु चरित्त हवइ चेया॥

पूर्वकृत कर्म शुभ और अशुभ इस तरह दो प्रकारका है। इसके और विशेष भेद अनेक हैं। जो भव्य इनके विषयमें से दोष हैं ऐसा विचार करता है उसीको आलोचन करनेवाला समझना चाहिये। जो नित्य ही प्रत्याख्यान प्रतिक्रमण और आलोचन किया करता है उसको सम्यक्चारित्रका अनुभविता या स्वामी समझना चाहिये।

उपर्युक्त सम्पूर्ण अर्थका अभिप्राय नीचे लिखी हुई कारिकामें पाया जाता है। इस लिये इस कारिकाका नित्य ही पाठ करना चाहिये।

ज्ञानस्य सचेतनयैव नित्य प्रकाशते ज्ञानमतीवशुद्धम्।
अज्ञानसचेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्ध॥

हमेशा ज्ञानका अनुभवन करनेसे अत्यंत शुद्ध ज्ञान प्रकाशित हुआ करता है। और अज्ञानका अनुभव करनेसे कर्मोंका बन्ध होता है जिससे कि ज्ञान की शुद्धि होना रुक जाता है। इसी अभिप्रायका सग्रह निम्नलिखित कारिकाओंमें भी पाया जाता है, अत एव इनका भी नित्य विचार करना चाहिये। यथाः—

सर्वथात्त प्रतिक्रामन्नुद्यदालोचयन् सदा ।
प्रत्याख्यान् भाविसदसत्कर्मात्मा वृत्तमस्ति चित् ॥ १ ॥
नैष्फल्याय क्षिपे त्रेधा कृतकारितसमतम् ।
कर्म स्वाचतयेऽत्यन्तमिदोद्यद्रुन्ध उत्तरम् ॥ २ ॥
अहमेवाहमित्येवज्ञान तच्छुद्धये भजे
शरीराद्यहमित्येवाज्ञान तच्छेतु वर्जये ॥ ३ ॥

अर्थात्—जो पूर्वसंचित पुण्यापुण्यरूप कर्मोंका सर्वथा प्रतिक्रमण किया करता है, और उदयमें आते हुओंकी सदा आलोचना किया करता है, तथा आगामी होनेवाले कर्मोंका भी प्रत्याख्यान किया करता है, उस चित् स्वरूप आत्माको चारित्र समझना चाहिये। अत एव मैं मन वचन और कायके द्वारा कृत कारित और अनुमोदित कर्मोंको निष्फल बनानेके लिये छोडता हू। तथा जो उदयमें आरहे है उनके विषयमें मै ऐसा विचार करता हूं कि ये मेरी आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं। इसी प्रकार उत्तर कालीन कर्मोंको भी मै रोकता हू—नवीन कर्मोंका संचय न हो अथवा संचित कर्मोंका भविष्यमें उदय न हो इसका प्रयत्न–प्रत्याख्यान करता हू। " अहं-मैं इस शब्दके द्वारा जिसका बोध होता है वही मैं–आत्मा हूं, " ऐसा समझनेको ही सम्यग्ज्ञान कहते है। यही ज्ञान आत्माकी शुद्धिका कारण है। और इसके प्रतिकूल शरीरादिकको ऐसा समझना कि ये मैं हूं अज्ञान है। इस अज्ञानके निमित्तसे आत्माकी शुद्धि नष्ट होती है-अशुद्धि उत्पन्न होती है। अत एव आत्मशुद्धिकेलिये मैं इस अज्ञानको छोडता हूं और ज्ञानका सेवन करता हूं।

भावार्थ—बन्धकी कारणभूत समस्त या व्यस्त—सम्पूर्ण या एक एक करण क्रियाओंमें प्रवृत्ति करके यह जीव योग और कषायके वश होकर जिन कर्मोंका संचय करता है वे संक्षेपमें दो प्रकारके हैं। एक पुण्य रूप दूसरे पापरूप। साता वेदनीय शुभ आयु (तिर्यगायु मनुष्यायु और देवायु) शुभ नाम [मनुष्यगति देवगति पंचेन्द्रिय जाति शरीर आङ्गोपाङ्ग निर्माण आदि] और शुभगोत्र इनको पुण्य कर्म कहते हैं। बाकी ज्ञानावरणादिक प्रकृतियोंको पापकर्म कहते हैं। इन सभी कर्मोंका जो व्यक्ति उदयमें आनेसे पहले ही " मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु "

–मेरे ये कर्म मिथ्या हो जांय " इत्यादि उपायोंसे नित्य प्रतिक्रमण किया करता है—उनका निराकरण करदिया करता है उसको चारित्रवान्, और इस तरहसे प्रतिक्रमण करनेको चारित्र समझना चाहिये। क्योंकि इस तरह नित्य प्रतिक्रमण करनेवाला ऐसा अनुभव किया करता है कि चित्स्वरूप मैं, मैं शब्दके द्वारा ही जाना जाता हूं। और इस तरहकी अनुभव प्रवृत्तिका ही चारित्र कहते हैं। क्योंकि अखण्ड ज्ञानस्वभाव निज आत्मस्वरूपमें ही निरंतर रमण करनेका नाम वस्तुतः चारित्र है। अत एव संचित कर्मोंके प्रतिक्रमण-नित्य निराकरण करनेको चारित्र समझना चाहिये। इसीको ज्ञान चेतना भी कह सकते हैं। क्योंकि वह " मैं अब स्वयं ही ज्ञानानुभवरूप हो रहा हूं " इस तरहसे अपने ज्ञानमात्र स्वभावका ही अनुभव किया करता है।

इसी प्रकार वर्तमानमें उदयमें आनेवाले कर्मोंके आलोचन करनेवाले और भविष्यत् कर्मोंका निरोध करने वालेको भी चारित्रस्वरूप ही समझना चाहिये, क्योंकि वह भी अपनी आत्मासे कर्म फलों और कर्मोंका अत्यत भिन्न रूपसे अनुभव किया करता है। और समझता है कि मैं इन सम्पूर्ण परभावोंसे सर्वथा रहित चिन्मात्र हू। इसका विशेप खुलासा ठक्कुर अमृतचंद्र आचार्यने अपनी बनाई हुई समयसारकी टीकामें किया है। अतएव विशेप जिज्ञासुओंको यह विपय वहांपर देखना चाहिये।

नामादिक छह निक्षेपोंकी अपेक्षासे प्रत्याख्यान छह भागोंमें विभक्त है। इसका पाच पद्योंमें व्याख्यान करने की इच्छासे सबसे पहले उसका लक्षण बताते हैं:—

> निरोद्धुमागो यन्मार्गोच्छिदो निर्मोक्षुरुज्झति।
> नामादीन् षडपि त्रेधा तत्प्रत्याख्यानमामनेत् ॥ ६५ ॥

मुमुक्षु भव्य पाप कर्मोंका निवारण करनेके लिये रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गके विरोधी—नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप छहों अयोग्य विपयोंका जो परित्याग किया करता है उसीको प्रत्याख्यान कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

नामादीनामयोग्यानां षण्णां त्रेधा विवर्जनम् ।
प्रत्याख्यान समाख्यातमागाम्यागोनिषिद्धये ॥

अर्थात्—जिनसे पाप कर्मोंका संचय होता है ऐसे नामोंका मन वचन और कायके द्वारा न स्वय उच्चारण करना न दूसरोंसे कराना और न उसकी अनुमोदना करना इसको नामप्रत्याख्यान कहते है। अथवा "प्रत्याख्यान" इस नाममात्रको भी नामप्रत्याख्यान कहते हैं। द्रव्योंके ऐसे प्रतिरूप मन वचन कायसे न बनाना न बनवाना और न उनकी अनुमोदना करना जो कि पापबन्धके कारण हैं, और जिनसे कि मिथ्यात्वादिकी प्रवृत्ति हुआ करती है उसको स्थापनाप्रत्याख्यान कहते हैं। अथवा प्रत्याख्यानस्वरूप परिणत प्रतिबिम्बको स्थापना प्रत्याख्यान कहते हैं। किंतु यह सद्भावरूप ही हो सकता है। जिन द्रव्योंके सेवन करनेसे पापका बंध हो सकता है उनको सावद्य द्रव्य कहते हैं। ऐसे सावद्य द्रव्योंका तथा तपके लिये छोडे हुए निरवद्य द्रव्योंका भी सेवन या भोजन न करना न कराना और न उसकी अनुमोदना करना इसको द्रव्य प्रत्याख्यान कहते है। अथवा प्रत्याख्यान शास्त्रके जाननेवाले किन्तु अनुपयुक्त आत्माके शरीर भावी और कर्मनोकर्मरूप तद्व्यतिरिक्त भेदोंको भी द्रव्य प्रत्याख्यान कहते हैं। असंयमादिके कारणभूत क्षेत्रका त्याग करना, दूसरोंसे कराना, या करते हुओंका अनुमोदन करना, इसको क्षेत्रप्रत्याख्यान कहते हैं। अथवा जिस प्रदेशमें प्रत्याख्यान किया गया हो उसको भी क्षेत्रप्रत्याख्यान कहते हैं। इसी प्रकार असंयमादिके कारणभूत कालको छोडना छुडाना और छोडते हुएका अनुमोदन करना इसको कालप्रत्याख्यान कहते हैं। अथवा जिस समयमें प्रत्याख्यान किया जाय उसको भी कालप्रत्याख्यान कहते है। तथा मिथ्यात्वादि भावोंका मन वचन और कायके द्वारा परित्याग करना कराना और करते हुएका अनुमोदन करना इसको भाव प्रत्याख्यान कहते हैं। अथवा प्रत्याख्यानशास्त्रके जाननेवाले उपयुक्त आत्मा उसके ज्ञान या प्रदेशोंको भी भावप्रत्याख्यान कहते हैं।

इस श्लोकमें निरोद्धुमागः ऐसा वाक्य जो लिखा है सो सामान्य निर्देश समझना चाहिये। इसीलिये इसमें आचार टीका कारके किये हुए प्रत्याख्यानके लक्षणका भी संग्रह हो जाता है। आचार टीकामें प्रत्याख्यान

का लक्षण इस प्रकार बताया है कि भविष्यत् और वर्तमान काल विषयक अतीचारोंके दूरकरनेको प्रत्याख्यान कहते हैं। इसी बात-सग्रहको स्पष्ट करते हैं:—

तन्नाम स्थापनां तां तद्द्रव्यं तत्क्षेत्रमञ्जसा ।
त कालं तं च भावं न श्रयेन्न श्रेयसेस्ति यत ॥६६ ॥

जो निश्रेयसके साधनमें उपयोगी नहीं हैं—रत्नत्रयके विरोधी हैं उन अयोग्य नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र और काल तथा भावका मुमुक्षुओंको परमार्थतः—अन्तरङ्गसे सेवन न करना चाहिये। परमार्थसे कहनेका प्रयोजन यह है कि उपसर्ग आदिके निमित्तसे कदाचित् अयोग्य नामादिका उच्चारण या सेवन आदि होजानेपर भी प्रत्याख्यानमें हानि नहीं होती। क्योंकि उसका वहांपर सेवन भावपूर्वक नहीं होता।

जो मुमुक्षु योग्य नाम आदिका सेवन करता है वह परम्परासे अवश्य ही रत्नत्रयका आराधक है, इस बातको प्रकाशित करते हैं:—

यो योग्यनामाद्युपयोगपूतस्वान्तःपृथक् स्वान्तमुपैति मूर्तेः ।
सदाऽस्पृशन्नप्यपराधगन्धमाराधयत्येत्र स वर्त्म मुक्तेः ॥ ६७ ॥

जिनका सेवन करनेमे शुद्धोपयोग प्रकट हुआ करता है या हो सकता है उन योग्य नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भावका सेवन करनेसे जिनका अन्तरग अत्यंत पवित्र हो चुका है, जो अपने आत्मस्वरूपको शरीरसे सर्वथा भिन्न समझते हैं, और जो स्वात्मोपलब्धिके विरोधी परद्रव्य ग्रहणका कभी रंचमात्र भी स्पर्श नहीं करते—अर्थात् जिनमें कभी प्रमादका लेशमात्र भी नहीं पाया जाता उन साधुओंको अवश्य ही मोक्षके मार्गका— रत्नत्रयका आराधन करनेवाला समझना चाहिये।

ऊपर नामादिके भेदसे प्रत्याख्यानके छह भेद बताये है। किंतु उनमें द्रव्य प्रत्याख्यान व्यवहारकेलिये उपयोगी है। अत एव उसका विशेष स्पष्टीकरण करते हुए प्रत्याख्येय विषयोंके विशेष भेद और प्रत्याख्यान करनेवालेका स्वरूप बताते है:—

सावद्येतरसाच्चित्ताचित्तमिश्रोपधींस्त्यजेत् ।
चतुर्धाहारमप्यादिमध्यान्तेष्वाज्ञयोत्सुकः ॥ ६८ ॥

अर्हतदेवकी आज्ञामें उपयोग लगाकर और जैसी कुछ गुरुओंकी आज्ञा हो उसके अनुसार उत्सुकता रखकर साधुओंको प्रत्याख्यान के आदि मध्य और अन्तमें सावद्य तथा निरवद्य दोनों ही प्रकारके सचित्त अचित्त और मिश्र परिग्रहोंको तथा चार प्रकारके आहारका भी प्रत्याख्यान करना चाहिये।

भावार्थ—जिनको छोडना चाहिये उनको प्रत्याख्येय कहते है। इस द्रव्यप्रत्याख्यान के प्रकरणमें प्रत्याख्येय विषय मूल में दो हैं। एक उपधि दूसरा आहार। उपधि नाम परिग्रहका है। वह दो प्रकारकी होती है, एक सावद्य दूसरी निरवद्य। जिसकी उत्पत्ति आदि हिंसादिकके निमित्तसे है उसको सावद्य कहते है। और जिसमें हिंसादिक न हों उनको निरवद्य कहते है। इनमें भी प्रत्येक परिग्रह तीन तीन प्रकारकी होती है, सचित्त अचित्त और मिश्र। जिसमें चेतन-जीवका सद्भाव रहे उसको सचित्त और जिसमें उसका सद्भाव न रहे उसको अचित्त, तथा जिसमें चित् और अचित् दोनों ही रूप पाये जांय उसको मिश्र कहते हैं। आहार के चार भेद है जो कि पहले बताये जा चुके है। यहांपर यद्यपि चार प्रकारके आहारका त्याग करनेके लिये कहा है तो भी अपिशब्दकी सामर्थ्यसे तीन प्रकारका भी आहार छोडना चाहिये, ऐसा भी अभिप्राय समझलेना चाहिये। ये ही द्रव्यप्रत्याख्यान के प्रत्याख्येय – त्याज्य विषय है। इन्ही के छोडनेको प्रत्याख्यान कहते है। और जो अर्हत देवकी आज्ञा का यथावत् श्रद्धान करके और गुरुके आदेशानुसार इनका प्रत्याख्यानकी आदि मध्य और अंतमें त्याग करता है उसको प्रत्याख्याता कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

आज्ञाज्ञापनयोर्दक्ष आदिमध्यावसानतः ।
साकारमनाकारं च सुसंतोषोनुपालयन् ॥
प्रत्याख्याता भवेदेष प्रत्याख्यान तु वर्जनम् ।
उपयोगि तथाहारः प्रत्याख्येय तदुच्यते ॥

इसके सिवाय मुमुक्षुओंको अपनी अपनी शक्तिके अनुसार अर्थात् शक्तिको न तो छिपाकरके और न उसका उल्लंघन ही करके अनेक प्रकारसे उपवासादि करके अवश्य ही प्रत्याख्यान करने का उपदेश देते हैं:—

अनागतादिदशभिद् विनयादिचतुष्कयुक् ।
क्षपणं मोक्षुणा कार्यं यथाशक्ति यथागमम् ॥६९ ॥

अपने बल और वीर्यका तथा आगमका अतिक्रमण न करके मुमुक्षुओंको विनयादिक चार प्रकारका और अनागतादिक दश प्रकारका प्रत्याख्यान करना चाहिये । आगममें प्रत्याख्यानके जो अनागतादिक दश भेद गिनाये हैं वे इस प्रकार हैं:—

अनागतमतिक्रान्त कोटीयुतमखण्डितम् ।
साकार च निराकारं परिमाण तथेतरत् ॥
नवमं वर्तनीयात दशमं स्यात सहेतुकम् ।
प्रत्याख्यानविकल्पोयमेव सूत्रे निरुच्यते ॥

जिन उपवासादिकोंको चतुर्दशी आदि तिथियोंमें करना चाहिये उनको उन तिथियोंमें न करके उनके पहले ही त्रयोदशी आदि तिथियोंमें यदि किया जाय तो उनको अनागत कहते हैं । और उस दिन न करके यदि उसके अनन्तर अमावस्या पूर्णिमा या प्रतिपदा आदि तिथियोंमें किया जाय तो उनको अतिक्रान्त कहते हैं । कल स्वाध्यायका समय बीत जानेपर यदि शक्ति होगी तो उपवास करूंगा नहीं तो नहीं करूंगा, ऐसा संकल्प करके जो उपवास किया जाता है उसको कोटीयुत कहते हैं । जिस पाक्षिकादिक अवसर पर अवश्य ही उपवास करना

चाहिये उस समयपर किये गये उपवासको अखण्डित कहते हैं। सर्वतोभद्र कनकावली आदि जो उपवासोंके भेद बताये हैं उनको विधिपूर्वक और भेदसहित पालन किये जानेपर साकार उपवास कहते हैं। जो अपनी इच्छानुसार उपवास किया जाता है उसको निराकार कहते हैं। एक दिनका दो दिनका तथा सोलह प्रहरका चोवीस प्रहरका बत्तीस प्रहरका इत्यादि कालकी मर्यादा करके जो उपवास किया जाता है उसको परिमाण कहते हैं। जीवनपर्यन्तकेलिये जो चार या तीन आदि प्रकारके आहारादिका त्याग करना उसको अपरिमाण या अपरिशेष उपवास कहते हैं। वन नदी आदिमेंसे निकलकर जानेपर या कोई और भी ऐसे ही कारण मिलनेपर अर्थात् मार्ग तय करनेके निमित्तसे जो किया जाय उस उपवासको वर्तनीयात कहते हैं। जो किसी कारणविशेषसे—उपसर्ग आदि निमित्तोंकी अपेक्षासे किया जाय उसको सहेतुक कहते हैं। इस प्रकार उपवासके और उसके सम्बन्धमे प्रत्याख्यानके भी दश भेद हैं। इसी प्रकार विनय आदिकी अपेक्षासे, जिनकेकि निमित्तसे उसमें शुद्धि प्राप्त हुआ करती है, प्रत्याख्यानके चार भेद हैं। क्योंकि उसकी शुद्धिके कारण भी चार हैं– विनय अनुवाद अनुपालन और भाव। विनय शब्दका अर्थ पहले लिखा जा चुका है। उसके पाच भेदोंमेंसे यहांपर मोक्षमार्ग विषयक ही विनय ग्रहण करना चाहिये। मोक्षाश्रय विनयके भी पांच भेद हैं, दर्शनाश्रय ज्ञानाश्रय चारित्राश्रय तपआश्रय और उपचाराश्रय। इनमेंसे आदिके चार भेदोंको कृतिकर्म और पांचवें भेदको औपचारिक कहते हैं। इन विनयोंके निमित्तसे प्रत्याख्यान की शुद्धि हुआ करती है। अत एव प्रत्याख्यानकी विशुद्धिकी इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुओं को इनका यथाशक्ति और आगमके अनुकूल पालन करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

कृतिकर्मोपचारश्च विनयो मोक्षवर्त्मनि।
पञ्चधा विनयाच्छुद्धं प्रत्याख्यानमिदं भवेत् ॥

जिस तरह गुरुने निरूपण किया है उसी तरह–उसमें स्वर पद मात्रा अक्षर आदिकी भी अशुद्धि न करके उनके वचनोंका यथावत् कथन करने को अनुवाद कहते हैं। इस प्रकार गुरुवाक्योंका अनुकथन करनेसे भी प्रत्याख्यानकी शुद्धि हुआ करती है। अतएव मुमुक्षुओंको इस आवश्यककी शुद्धिके लिये गुरुओंके कहे मूजब पाठ भी करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

गुरोर्वचोनुभाष्यं चेच्छुद्धं स्वरपदादिना ।
प्रत्याख्यानं तथाभूतमनुवादामलं भवेत् ॥

अर्थात् गुरुके वचनका अनुवाद करना हो तो स्वरपद आदिकी अपेक्षा शुद्ध ही करना चाहिये । ऐसा करनेसे जो प्रत्याख्यान हुआ करता है उसको अनुवादामल कहते हैं ।

गुरुकी आज्ञानुसार यथावत् आचरण करनेको, श्रम आतंक उपसर्ग दुर्भिक्ष आदिके निमित्तसे अथवा वन उपवन आदिमें रहकर भी आज्ञानुकूल आचरणका भंग न करनेको अनुपालन कहते हैं. ऐसा करनेसे भी प्रत्याख्यान की शुद्धि हुआ करती है । अतएव भव्योंको इसका भी पालन करना चाहिये । जैसा कि कहा भी है कि:—

श्रमातंकोपसर्गेषु दुर्भिक्षे काननेपि वा ।
प्रपालितं न यद्भग्नमनुपालनयाऽमलम् ।

इसी प्रकार प्रत्याख्यानकी चौथी शुद्धि भावोंकी अपेक्षासे बताई है । भाव नाम परिणामोंका है । जो प्रत्याख्यान रागद्वेषादिरूप अन्तरंग परिणामोंसे दूषित नहीं होता उसको भावशुद्ध कहते हैं । यथा —

रागद्वेषद्वयेनान्तर्यन्नैव दूषितम् ।
विज्ञेयं भावशुद्धं तत् प्रत्याख्यानं जिनागमे ॥

शरीर और इन्द्रियादिके निमित्तसे जो अशुभ कर्मका संचय हुआ करता है उसके दूर करनेको, अथवा वह जिन उपवासादि उपायोंसे दूर किया जाता है उनको भी प्रत्याख्यान कहते हैं । उपाय अनेक है अत एव इस प्रत्याख्यानके भी अनेक भेद हैं । किंतु इसका पालन करना आवश्यक है । इसलिये मुमुक्षुओंको अपनी २ शक्तिके अनुसार और आगमके अनुकूल इसका पालन अवश्य ही करना चाहिये ।

इस प्रकार षडावश्यकोंमेंसे प्रत्याख्यान नामके पांचवें भेदका व्याख्यान करके अब क्रमानुसार छट्टे भेद कायोत्सर्गका सात पद्योंमें वर्णन करना चाहते हैं । उसमें सबसे पहले कायोत्सर्गका स्वरूप क्या है ? उसका

पालन करनेवाला कैसा होना चाहिये ? वह क्यों किया जाता है ? और वह कितने प्रकारका है ? इन चार वातोंका निर्णय करनेके लिये क्रमसे उसका लक्षण, प्रयोक्ता—स्वामी, और हेतु-साधन तथा भेद-विधान इन चार वातोंका निर्देष करते हैं:—

मोक्षार्थी जितनिद्रकः सुकरणः सूत्रार्थविद्वीर्यवान्,
शुद्धात्मा बलवान् प्रलम्बितभुजायुग्मो यदास्तेऽचलम्
ऊर्ध्वज्ञुश्चतुरंगुलान्तरसमाग्रांघ्रिर्निषिद्धाभिधा,—
द्याचारात्ययशोधनादिह तनूत्सर्गः स षोढा मतः ॥ ७० ॥

दोनों पैरोंमें चार अंगुलका अन्तर रखकर एक सीधमें उनको इस तरहसे रखना कि जिसमें एक पैर दूसरेसे आगे पीछे न हो, और जंघाओंको भी ऊपरकी तरफ सीधा करके तथा दोनो बाहुओंको नीचे की तरफ लटकाकर निश्चल खडे रहनेको कायोत्सर्ग कहते हैं। अथवा काय शब्दसे शरीर सम्बन्धी ममत्व भी कहा जाता है। अत एव शरीरके विषयमें ममत्व न रखनेको भी कायोत्सर्ग कहते है। जैसा कि कहा भी है कि:—

ममत्वमेव कायस्थ तात्स्थ्यात् कायोऽभिधीयते ।
तस्योत्सर्गस्तनूत्सर्गो जिनबिम्बाकृतेर्यतेः ॥

अर्हन्त भगवानकी मूर्तिके समान निर्ग्रन्थ आकृति—मुद्रा धारण करनेवाला संयमी जो शरीरके ममत्वको छोडता है उसके इस कार्यको ही कायोत्सर्ग कहते हैं। क्योंकि काय शब्दसे आचार्योंने तद्विषयक ममत्व ही लिया है। इस कायोत्सर्गको धारण करनेका अधिकारी वह मुमुक्षु ही हो सकता है जो कि निद्राको जीतनेवाला हो, जिसकी क्रियाए और परिणाम प्रशस्त हों, जो आगमके अर्थको जाननेवाला हो, जिसमें वीर्यान्तराय कर्मके क्षयो-

१—वोसरिदबाहुजुयलो चतुरंगुलमंतरेण समपादं ।
सव्वगचलणरहियो काओस्सग्गो विसुद्धो दु ॥

पशमसे उत्पन्न होनेवाली स्वाभाविक शक्ति और आहारादिके निमित्तसे संचित होनेवाली वैभाविक शक्ति मौजूद हो, और जिसकी आत्मा सम्यक्त्वादिके निमित्तसे शुद्ध हो चुकी है अर्थात् जो भव्य होनेके सिवाय चतुर्थादि गुण-स्थानवर्ती है। एवं जिसके परिणामोंमें विशुद्धि पाई जाती है। जैसा कि कहा भी है कि—

मोक्षार्थी जितनिद्रो हि सूत्रार्थज्ञः शुभक्रियः।
बलवीययुत कायोत्सर्गी भावविशुद्धिभाक् ॥

इस कायोत्सर्गका प्रयोजन अतिचारोंका शोधन करना है। जिन नाम आदिकोंका उच्चारण आदि करना आगममें निषिद्ध है उनका अनुष्ठानादि करनेसे उत्पन्न होनेवाले अतीचारोंको इस कायोत्सर्गके द्वारा दूर किया जाता है। वे निषिद्ध नामादिक छह हैं—नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव। रूखे कठोर असभ्य मर्मभेदी आदि शब्द निषिद्ध नाम कहे जाते हैं। इसी प्रकार स्थापना आदिके विषयमें भी समझना चाहिये। इनके सेवन करनेसे अथवा और भी किसी निमित्तसे जो दोष लगते है उनका संशोधन करना कायोत्सर्गका हेतु है। इसके सिवाय कायोत्सर्ग करनेसे तपकी वृद्धि और कर्मोंकी निर्जरा भी हुआ करती है। अत एव ये भी उसके हेतु है। जैसा कि कहा भी है कि:—

आगःशुद्धितपोवृद्धिकर्मनिर्जरणादयः।
कायोत्सर्गस्य विज्ञेया हेतवो व्रतवर्तिना ॥

ऊपर निषिद्ध नामादिक छहभेदोंके नाम लिखे हैं। उनके अनुष्ठानसे लगे हुए दोष कायोत्सर्गके द्वारा दूर होते है, अतएव कायोत्सर्गके भी छह भेद हैं। सावद्य नामोंके उच्चारणादिसे लगे हुए दोषोंकी शुद्धिके लिये जो कायोत्सर्ग किया जाय उसको अथवा कायोत्सर्ग इस शब्दको ही नामकायोत्सर्ग कहते हैं। मिथ्यात्वकी वर्धक या जनक अथवा पापकी उत्पादक स्थापनाके निमित्तसे लगे हुए दोषोंका उच्छेद करनेके लिये जो किया जाय उसको अथवा कायोत्सर्गरूप परिणत प्रतिबिम्बको स्थापना कायोत्सर्ग कहते हैं। सावद्य द्रव्यका सेवन करनेसे लगे हुए अतीचारोंको दूर करनेके लिये जो कायोत्सर्ग किया जाय उसको, अथवा जिसमें कायोत्सर्गका वर्णन किया गया है ऐसे

शास्त्रके जाननेवाले अनुपयुक्त आत्माको, यद्वा उस आत्माके शरीर को या भाविपर्यायको, अथवा कर्मनोकर्मरूप तद्व्यतिरिक्तको द्रव्यकायोत्सर्ग कहते हैं। सावद्य क्षेत्रका सेवन करनेसे लगे हुए दोषोंको नष्ट करनेके लिये जो किया जाय उसको अथवा जहांपर कायोत्सर्ग किया गया हो उस स्थानको क्षेत्र कायोत्सर्ग कहते हैं। इसी प्रकार सावद्य समय के सेवनसे संचित हुए दोषोंका ध्वंस करनेके लिये जो किया जाय उसको अथवा जिस समयमें कायोत्सर्गका परिणमन हो उस समयको कालकायोत्सर्ग कहते हैं। मिथ्यात्वादि परिणाम रूप अतीचारोंका परिहार करनेके लिये किये गये कायोत्सर्गको अथवा जिसमें कायोत्सर्गका वर्णन किया गया है ऐसे शास्त्रके जाननेवाले उपयुक्त आत्माको या उस ज्ञानको अथवा उस जीवके प्रदेशोंको भाव कायोत्सर्ग कहते हैं।

कायोत्सर्गके कालका प्रमाण सामान्यतया तीन प्रकारका हो सकता है, जघन्य उत्कृष्ट और मध्यम। किन्तु इनका प्रमाण कितना कितना है और किस तरह नापा जा सकता है सो बताते हैं।—

कायोत्सर्गस्य मात्रान्तर्मुहूर्तोऽल्पा समोत्तमा।
शेषा गाथात्र्यंशचिन्तात्मोच्छ्वासैर्नैकधा मिता ॥ ७१ ॥

कायोत्सर्गका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट एक वर्ष, और मध्यम अनेक प्रकारका है। एक समय अधिक आवली प्रमाणकालसे लेकर एक समय कम मुहूर्त प्रमाणतकके कालको अन्तर्मुहूर्त कहते हैं। यह कायोत्सर्गका जघन्य काल है। इससे ऊपर-अधिक और एक वर्षसे कम दो तीन आदि मुहूर्त या प्रहर दिन पक्ष मास आदिक, कार्य काल द्रव्य क्षेत्र भाव आदिकी अपेक्षासे कायोत्सर्गके मध्यम कालके भेद अनेक हैं। जैसा कि कहा भी है:—

अस्ति वर्षं समुत्कृष्टो जघन्योन्तर्मुहूर्तगः।
कायोत्सर्गः पुनः शेषा अनेकस्थानगा मताः ॥

कायोत्सर्गके कालका यह प्रमाण उन उच्छ्वासों के द्वारा गिना जा सकता है जिनमें कि "णमो अरहंताणं" इत्यादि गाथाके तीन अंशोंमेंसे प्रत्येक अंशका चिंतवन किया जाता है।

अर्थात् णमो अरहंताणं इत्यादि पंच नमस्कार मंत्र रूप गाथाके तीन अंश हैं। णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं इन दो नमस्कार पदोंका एक अंश, और णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणं इन दो नमस्कार पदोंका दूसरा एक अंश, इसी प्रकार णमो लोए सव्वसाहूणं इस एक नमस्कारपदका तीसरा एक अंश। इनमेंसे एक एक अंशका चिन्तवन करनेमें जो प्राण वायु भीतर जाती और बाहर निकलती है उतनेमें एक उच्छ्वास हो जाता है। पूर्ण गाथा का एकवार चिन्तवन करनेमें तीन उच्छ्वास और नौवार चिन्तवन करनेमें सत्ताईस उच्छ्वास लगते हैं। अत एव इसी हिसाबसे सर्वत्र कायोत्सर्गके कालका प्रमाण मापा जा सकता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः संसारोन्मूलनक्षमे ।
सन्ति पञ्च नमस्कारे नवधा चिन्तिते सति ॥

भावार्थ—नौवार पंच नमस्कार मंत्रका चिन्तवन करनेमें सत्ताईस उच्छ्वास लगते हैं। यदि इस विधिसे इस मंत्रका चिन्तवन किया जाय तो यही मंत्र समस्त संसारके संहारमें समर्थ हो सकता है; इसीसे भवबनका उच्छेदन हो सकता है।

दैनिक रात्रिक या पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण वा कायोत्सर्गके समय कितने २ उच्छ्वास होने चाहिये सो बताते हैं:—

उच्छ्वासाः स्युस्तनूत्सर्गे नियमान्ते दिनादिषु ।
पञ्चस्वष्टशतार्धत्रिचतुःपञ्चशतप्रमाः ॥ ७२ ॥

दिन रात्रि पक्ष चतुर्मास और संवत्सर इन पांच अवसरोंपर वीरभक्ति करते समय जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसमें क्रमसे एकसौ आठ, चौअन, तीनसौ, चारसौ, और पांचसौ उच्छ्वास हुआ करते हैं। अर्थात् आह्निक कायोत्सर्गमें एकसौ आठ, रात्रि सम्बन्धी कायोत्सर्गमें चौअन, पाक्षिकमें तीनसौ, चातुर्मासिकमें चारसौ, और सांवत्सरिक कायोत्सर्गमें पांचसौ उच्छ्वास हुआ करते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

आह्निकेऽष्टशतं रात्रिभवेऽर्धं पाक्षिके तथा ।
नियमान्तेऽस्ति सस्थेयमुच्छ्वासानां शतत्रयम् ॥
चतुःपञ्चशतान्याहुश्चतुर्मासाब्दसंभवे ।
इत्युच्छ्वासास्तनूत्सर्गे पञ्चस्थानेषु निश्चिताः ॥

मूत्र पुरीष आदिका उत्सर्ग करके जो प्रतिक्रमण किया जाता है उस समय अथवा अर्हत्शय्या अथवा साधुशय्याकी वन्दना करते समय यद्वा स्वाध्यायकी आदिमें जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसमें कितने २ उच्छ्वास हुआ करते हैं सो बताते हैंः—

मूत्रोच्चाराध्वभक्तार्हत्साधुशय्याभिवन्दने ।
पञ्चाग्रा विंशतिस्तेस्युःस्वाध्यायादौ च सप्तयुक् ॥ ७३ ॥

मूत्रका या पुरीषका उत्सर्ग करके, एक ग्रामसे चलकर दूसरे ग्राममें पहुंचनेपर या भोजनके पीछे, अथवा अर्हच्छय्या या साधुशय्याकी वंदना करते समय जो कायोत्सर्ग किये जाते हैं उनमें पचीस पचीस उच्छ्वास हुआ करते हैं। इसी प्रकार स्वाध्यायकी आदिमें या अंतमें नित्यवंदनाके समय अथवा तत्काल मनमें विकार उत्पन्न होनेपर जो कायोत्सर्ग किया जाता है उनमें सत्ताईस सत्ताईस उच्छ्वास होने चाहिये । जैसा कि कहा भी है किः—

ग्रामान्तरेऽन्नपानेऽर्हत्साधुशय्याभिवन्दने ।
प्रस्रावे च तथोच्चारे उच्छ्वासा पञ्चविंशतिः ॥
स्वाध्यायोद्देशनिर्देशे प्रणिधानेऽथ वन्दने ।
सप्तविंशतिरुच्छ्वा कार्योत्सर्गेऽभिसमता ॥

किसीभी ग्रंथके प्रारम्भ करनेको उद्देश और उस प्रारब्ध ग्रंथ की समाप्तिको निर्देश कहते हैं । तथा मानसिक विकार वा तत्क्षण उत्पन्न हुए अशुभ परिणामोंको प्रणिधान कहते हैं । जिनेन्द्र भगवान्के निर्वाण

कल्याणक या समवसरण या केवलज्ञानकी उत्पत्ति अथवा दीक्षा कल्याणक वा जन्म कल्याणकके स्थानको अर्हच्छय्या और इसी प्रकार श्रमणोंके निषिद्धिका स्थानोंको साधुशय्या कहते हैं। इसके सिवाय सूत्रमें यह वचन जो कहा है किः—

जन्तुघातानृतादत्तमैथुनेषु परिग्रहे।
अष्टोत्तरशतोच्छ्वासा कायोत्सर्गाः प्रकीर्तिता ॥

अर्थात्—प्राणिपीडन अनृतवचन अदत्तग्रहण अब्रह्म या मूर्च्छारूप परिणामोंके हो जानेपर एक सौ आठ उच्छ्वास युक्त कायोत्सर्ग धारण करना चाहिये। सो यह कथन भी च शब्दसे सग्रहीत हो जाता है।

व्रतारोपणी आदि प्रतिक्रमणाओंके समय कायोत्सर्गके उच्छ्वासों की सख्या कितनी होनी चाहिये सो बताते हैं:—

या व्रतारोपणी सार्वातीचारिक्यातिचारिकी।
औत्तमार्थी प्रतिक्रान्तिः सोच्छ्वासैराह्निकी समा ॥ ७४ ॥

व्रतारोपणी सर्वातीचारी आतिचारिकी और औत्तमार्थी प्रतिक्रमणाओंके उच्छ्वास आन्हिकी प्रतिक्रमणाके समान ही हुआ करते हैं। अर्थात् जिस प्रकार दैवसिक प्रतिक्रमणा करनेमें एक सौ आठ उच्छ्वासोंके द्वारा कायोत्सर्ग धारण किया जाता है उसी प्रकार व्रतारोपणी आदि प्रतिक्रमणाओंमें भी एकसौ आठ उच्छ्वासोंका ही कायोत्सर्ग हुआ करता है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग के उच्छ्वासोंकी संख्या बताकर अब यह बताते हैं कि दिनरातमें स्वाध्यायादिके विषयमें कुल कायोत्सर्ग कितने कितने हुआ करते हैं:—

स्वाध्याये द्वादशेष्टा षड्वन्दनेऽष्टौ प्रतिक्रमे।
कायोत्सर्गा योगभक्तौ द्वौ चाहोरात्रगोचराः ॥ ७५ ॥

स्वाध्यायके बारह, वन्दनाके छह, प्रतिक्रमणके आठ, और योगभक्तिके दो, इस तरह मिलाकर दिनरातमें अट्ठाईस कायोत्सर्ग हुआ करते हैं। इनका विशेष विभाग आगे चलकर लिखेंगे।

कर्मोंकी सातिशय निर्जरारूप फल प्राप्त करनेके लिये कायोत्सर्ग करते समय ध्यान और उपसर्ग तथा परीषहोंका सहन विशेषतया करना चाहिये, ऐसा उपदेश देते हैं:—

व्युत्सृज्य दोषान् निःशेषान् सद्ध्यानी स्यात्तनूत्सृतौ।
सहेताप्युपसर्गोर्मीन् कर्मैवं भिद्यतेतराम् ॥ ७६ ॥

कायोत्सर्गमें प्रवृत्त हुए मुमुक्षुओंको ईर्यापथादिक अतीचार अथवा कायोत्सर्ग सम्बन्धी समस्त दोष जिनका कि आगे चलकर वर्णन किया जायगा अच्छी तरहसे छोडकरके विशेषतया प्रशस्त ध्यानके करनेमें ही प्रवृत्त होना चाहिये। अर्थात् आलस्यको छोडकर धर्म्य यद्वा शुक्लध्यानका ही सेवन करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि.—

कायोत्सर्गस्थितो धीमान् मलमीर्यापथाश्रयम्।
निःशेषं तत्समानीय धर्म्यं शुक्लं च चिन्तयेत् ॥

अर्थात् कायोत्सर्ग करनेवाले विवेकी साधुओंको ईर्यापथ दोषोंको निःशेष करके धर्म्य वा शुक्ल ध्यानका चिन्तवन करना चाहिये। इतना ही नहीं बल्कि कायोत्सर्ग करनेमें यदि किसी भी तरहका उपसर्ग या परीषह आकर उपस्थित हो जाय तो उसको भी अच्छी तरह सहन करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेसे ही ज्ञानावरणादिक दुर्वार कर्मोंका प्रकर्षतया विश्लेषण—निर्जरण हो सकता है। अत एव निर्जराके अभिलाषियोंको कायोत्सर्ग करते समय परीषह और उपसर्गोंका भी अवश्य ही सहन करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

उपसर्गस्तनूत्सर्गं श्रितस्य यदि जायते।
देवमानवतिर्यग्भ्यस्तदा सह्यो मुमुक्षुणा ॥

अर्थात् कायोत्सर्ग करनेमें देव मनुष्य या तिर्यंचोंके द्वारा किसी तरहका उपसर्ग आ उपस्थित हो तो वह मुमुक्षुओंको सहना चाहिये. क्योंकिः—

साधोस्त सहमानस्य निष्कम्पीभूतचेतसः ।
पतन्ति कर्मजालानि शिथिलीभूय सर्वत ॥
यथाङ्गानि विभिद्यन्ते कायोत्सर्गविधानतः ।
कर्माण्यपि तथा सद्य सञ्चितानि तनूभृताम् ॥
यमिना कुर्वता भक्त्या तनूत्सर्गमदूषणम् ।
कर्म निर्जीर्यते सद्यो भवकोटिभ्रमार्जितम् ॥

जो साधु निष्कम्प होकर—चित्तमें जरा भी चलायमान न होकर इन उपसर्गों या परीषहोंका सहन करता है उसके सम्पूर्ण कर्मजाल शिथिल—जीर्ण होकर झड जाते हैं । जिस प्रकार कायोत्सर्ग करनेसे शरीरमें विश्लेषण होजाता है—शरीरके स्कन्ध ढीले पडकर निर्जीर्ण होजाते हैं उसी प्रकार प्राणियोंके संचित कर्म भी तत्काल निर्जीर्ण हो जाया करते हैं । अत एव जो संयमी इस कायोत्सर्गका भक्तिपूर्वक और अतीचार रहित पालन करता है उसके कोड्यों भवोंमें भ्रमण करनेसे भी संचित हुए कर्म क्षणमात्रमें ही निर्जीर्ण हो जाया करते हैं ।

जो योगी नित्य या नैमित्तिक क्रिया काण्डका अनुष्ठान करनेमें सदा दृढ प्रयत्न रहा करता है वह परम्परया अवश्य ही मोक्षका लाभ लिया करता है, ऐसा उपदेश देते हैंः—

नित्येनेत्थमथेतरेण दुरितं निर्मूलयन् कर्मणा,
योऽभ्यासेन विपाचयत्यमलयन् ज्ञानं त्रिगुप्तिश्रितः ।
स प्रोद्बुद्धनिसर्गशुद्धपरमानन्दानुविद्धस्फुर,—
द्विश्वाकारसमग्रबोधशुभगं कैवल्यमास्तिघ्नुते ॥ ७७ ॥

जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है तदनुसार नित्य और नैमित्तिक क्रियाओंके द्वारा पापकर्मोंका निर्मूल निरसन करते हुए और मन वचन कायके व्यापारोंका भले प्रकार निग्रह करके–तीनों गुप्तियोंके आश्रयसे ज्ञानको निर्मल बनाते हुए जो अभ्यास–पुनः पुनः प्रवृत्तिके द्वारा अपने स्वपरावभासी ज्ञानको परिपक्क बनाता है वह उस कैवल्य–निर्वाणको प्राप्त करलेता है जो कि पुनः जन्ममरण के अभावसे अभिव्यक्त स्वाभाविक निर्मलतासे युक्त और परमोत्कृष्ट शांतिरूप प्रमोदसे अनुविद्ध–पृथक्तया अनुभवमें आनेवाले अर्थात् दूसरे सम्पूर्ण द्रव्योंमें मिला हुआ रहने पर भी अन्य द्रव्यरूप जिसका परिणमन अशक्य है, और इसी लिये जो अपने इस अशक्य विवेचनके द्वारा भिन्नरूपसे अनुभवमें आता है, एवं जिसमें समस्त लोक और अलोकका स्वरूप प्रकाशमान रहता और सम्पूर्ण द्रव्य तथा उनकी भूत भविष्यत् वर्तमान सब पर्यायें विषय हुआ करती हैं ऐसे परिपूर्ण ज्ञानके द्वारा अत्यंत रमणीय है।

भावार्थ—नित्य नैमित्तिक क्रियाओंके अनुष्ठानसे ही ज्ञान निर्मल और परिपक्क हुआ करता है जिससे कि कैवल्य की प्राप्ति हुआ करती है। अतएव योगियोंको नित्य नैमित्तिक कर्मकाण्डमें अवश्य ही प्रवृत्त होना चाहिये और उसका पुनः पुनः अभ्यास करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है किः—

नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्।
ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन तु पाचयेत्॥

अर्थात् नित्य नैमित्तिक क्रियाओंके द्वारा पापका क्षय करते हुए ज्ञानको निर्मल बनाना चाहिये। तथा बार बार इस तरहकी प्रवृत्ति करके अपने इस ज्ञानको परिपक्क कर देना चाहिये। क्योंकि—

अभ्यासात् पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः।

इस पुनः पुनः प्रवृत्तिके द्वारा ज्ञानके परिपक्क होजानेसे ही मनुष्य कैवल्यको प्राप्त करलेता है।

इस प्रकार आवश्यकोंका प्रकरण समाप्त हुआ।

अब नित्य नैमित्तिक कर्मकाण्डमेंसे पूर्वोक्त षडावश्यकोंके सिवाय जो कृतिकर्म बाकी रहजाता है उसका भी संग्रह करते हुए मुमुक्षुओंको उसका सेवन करनेकेलिये प्रेरित करते हैं:—

योग्यकालासनस्थानमुद्रावर्तशिरोनति ।
विनयेन यथाजातः कृतिकर्मामलं भजेत् ॥७८ ॥

संयमका ग्रहण करते समय जो निर्ग्रंथरूपसे पुनः उत्पन्न हुआ है और इसी लिये जो बाह्य तथा अभ्यंतर परिग्रहोंकी चिन्तासे सर्वथा रहित है ऐसे परम निःश्रेयसके अभिलाषी संयमीको योग्य—समाधिके लिये सहकारी निमित्त कारण–काल आसन स्थान मुद्रा आवर्त और शिरोनतिरूप कृतिकर्म-पापकर्मके उच्छेदन करनेवाले अनुष्ठानका बत्तीस दोषोंको टालकर और विनयपूर्वक सेवन करना चाहिये ।

पहले वन्दनाके प्रकरणमें उसकी विधि बताते समय दिनका आदि मध्य और अंत इस तरह वन्दनाके लिये तीन सन्धिकाल बता चुके है । किंतु वहांपर कालका परिमाण नहीं बताया है । अत एव यहांपर नित्य देववन्दनाके विषयमें तीनों कालोंका परिमाण बताते हैः—

तिस्रोऽह्नोन्त्या निशश्चाद्या नाड्यो व्यत्यासिताश्च ताः ।
मध्याह्नस्य च षट्कालास्त्रयोमी नित्यवन्दने ॥७९ ॥

तीन संधिकालोंकी अपेक्षासे वंदना भी तीन प्रकारकी होती है । पूर्वाह्नवन्दना अपराह्नवन्दना और मध्याह्नवन्दना । इन कालोंका परिमाण इस प्रकार है ।—दिनकी आदिकी तीन घडी और रात्रिकी अंतकी तीन-घडी इस तरह मिलाकर छह घडी काल पूर्वाण्ह वन्दनाका है । तथा दिनकी अंतकी तीन घडी और रात्रिकी आदिकी तीन घडी इस तरह मिलाकर छह घडी काल अपराण्ह वन्दनाका है. इसी प्रकार मध्यान्हसे तीन घडी पहलेका और तीन घडी पीछेका कुल मिलाकर छह घडी काल मध्याह्नवन्दनाका है । यह संध्या वन्दनाओंका उत्कृष्ट काल है, जैसा कि कहा भी है कि:—

मुहूर्तत्रितय काल: सध्यानां त्रितये बुधै ।
कृतिकर्मविधेर्नित्य परो नैमित्तिको मत: ॥

अर्थात् कृतिकर्मकी नित्यकी विधिके कालका उत्कृष्ट परिमाण तीनों संध्याओंमें तीन तीन मुहूर्त है ।

योग्य कालका स्वरूप बताकर अब क्रमानुसार योग्य आसनका स्वरूप बताते हैं:—

वन्दनासिद्धये यत्र येन चास्ते तदुद्यतः ।
तद्योग्यमासनं देशः पीठं पद्मासनाद्यपि ॥ ८० ॥

वन्दनाकी सिद्धिकेलिये उद्यत हुआ साधु जहांपर वन्दनाके लिये बैठता है अथवा जिसके द्वारा वन्दनामें प्रवृत्त होता है उस प्रदेश, पीठ [सिंहासन] या पद्मासनादिकको योग्य आसन कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

आस्यते स्थीयते यत्र येन वा वन्दनोद्यतै ।
तदासन विबोद्धव्य देशपद्मासनादिकम् ॥

वन्दना कर्म करनेके लिये प्रवृत्त हुए साधु जहांपर या जिसके द्वारा वन्दनाके लिये बैठें उस देश या पद्मासनादिकका नाम आसन है ।

प्रदेश पीठ और पद्मासनादिकमेंसे वन्दनाके लिये प्रदेश कैसा होना चाहिये सो बताते हैं:—

विविक्तः प्रासुकस्त्यक्तः संक्लेशक्लेशकारणैः ।
पुण्यो रम्यः सतां सेव्यःश्रेयो देशः समाधिचित् ॥ ८१ ॥

मुमुक्षुओंको समाधिके साधक और वर्धक ऐसे प्रदेशमें वन्दना करनी चाहिये जो कि शुद्ध एकान्त तथा प्रासुक हो । अर्थात् जो अप्रशस्त लोक और संमूर्छनजीवोंसे सर्वथा रहित है, जहांपर संक्लेशके कारण रागद्वेषादिक या क्लेश-कष्टके कारण परीषह उपसर्ग नहीं पाये जाते, जो किसीके निर्वाण आदि कल्याणकके द्वारा पवित्र हो चुका है, और जो रमणीय तथा प्रशस्त ध्यानका वर्धक है ।

भावार्थ—समाधिके बाधक कारणों या दोषोंसे रहित और साधक कारणों या उपर्युक्त गुणोंसे युक्त स्थानका ही साधुओंको वन्दनाकेलिये आश्रय लेना चाहिये। अत एव आगममें वर्ज्य और उपादेय इस तरह दो प्रकारके स्थान बताये है। जैसा कि कहा भी है कि:—

> संसक्तः प्रचुरच्छिद्रस्तृणपश्वादिदूषितः।
> विक्षोभको हृषीकाणां रूपगंधरसादिभिः॥
> परीषहकरो दंशशीतवातातपादिभिः।
> असंबद्धजनालापः सावद्यारम्भगर्हितः॥
> आर्द्रीभूतो मनोऽनिष्टः समाधाननिषूदकः।
> योऽशिष्टजनसंचारः प्रदेशं तं विवर्जयेत्॥
> विविक्तः प्रासुकः सेव्यः समाधानविवर्धकः।
> देवर्जुदृष्टिसंपातवर्जितो देवदक्षिणः॥
> जनसंचारनिर्मुक्तो ग्राह्यो देशो निराकुलः॥
> नासन्नो नातिदूरस्थो सर्वोपद्रववर्जितः

जहांपर अनेक लोगोंका संसर्ग पाया जाता हो, जहां सर्प विच्छू मूषक आदिके छिद्र प्रचुरतासे पाये जांय, जो तृण कंटक या पशु पक्षी आदिके द्वारा खराब हो गया हो, जिसके रूप रस या गंधादिकके निमित्तसे इन्द्रियोंमें बिलकुल क्षोभ उत्पन्न होजाय, जहांपर दंशमशक या शर्दी गर्मी अथवा धूप वर्षा आदिके निमित्तसे परीषहें उपस्थित होती हों, जहांपर उन्मत्त आदि मनुष्योंका असंबद्ध प्रलाप हो रहा हो अथवा जहांपर पूर्वापर सम्बन्ध रहित बोलनेवाले लोगोंका कोलाहल पाया जाय, जो सावद्य आरम्भके निमित्तसे गर्हित-निंद्य है, जो ऊष्मा आदिके निमित्तसे गीला हो रहा हो, और जो मनके लिये अप्रिय—अरति उत्पन्न करनेवाला, एवं चित्तमेंसे निराकुल शांति या साताको नष्ट करदेनेवाला है और जहांपर अशिष्ट लोगोंका संचार—इतस्ततः भ्रमण या गमनागमन पाया जाता है ऐसा स्थान साधुओंके लिये वर्ज्य है। किंतु इसके विपरीत जो एकांत—जहां लोगोंका संसर्ग या गमनागमनादिक नहीं पाया जाता, जो सम्मूर्छन जीवोंसे रहित, सेवन करने योग्य, और चित्तमें अतिशय समाधान उत्पन्न करनेवाला

है, जहांपर देवकी सीधी दृष्टि नहीं पडती, अथवा जो देवस्थानसे दक्षिणभागकी तरफ है, और जहांपर मनुष्योंका सचार नहीं पाया जाता, जो आकुलताके कारणोंसे रहित, एवं न अत्यंत निकट और न अत्यत दूरवर्ती है, तथा जो सम्पूर्ण उपद्रवोंसे रहित है, ऐसा ही स्थान साधुओंको समाधिके लिये अगीकार करना चाहिये।

क्रमानुसार कृतिकर्मके योग्य पीठका स्वरूप बताते हैं:—

विजन्त्वशब्दमच्छिद्रं सुखस्पर्शमकीलकम् ।
स्थेयस्ताणाद्यधिष्ठेयं पीठं विनयवर्धनम् ॥ ८२ ॥

वन्दनाकी सिद्धिके लिये उद्यत हुए साधुओंको ऐसे आसनपर बैठना चाहिये जो कि तृण काष्ठ या पत्थर इनमेंसे किसीका बना हुआ हो, जिसमें घुण मत्कुण या अन्य ऐसे ही जीव नहीं पाये जाते, जिसमें किसी तरहका शब्द नहीं होता, और जो छिद्र रहित है, जिसका स्पर्श सुखकर है, और जो कील रहित, एवं निश्चल है, तथा उन्नतत्व उद्धतत्व आदि दोषोंसे रहित अर्थात विनयका बढानेवाला है।

वन्दनाके योग्य आसनका तीसरा भेद पद्मासनादिक बताया था। उन पद्मासनादिक-पद्मासन पर्यङ्कासन और वीरासनका ही स्वरूप बताते हैं:—

पद्मासनं श्रितौ पादौ जङ्घाभ्यामुत्तराधरे ।
ते पर्यङ्कासनं न्यस्तावूर्वोर्वीरासनं क्रमौ ॥ ८३ ॥

जहांपर दोनों पैर जघाओंसे मिल जांय उसको पद्मासन कहते हैं। और दोनों जंघाओंको ऊपर— एकके ऊपर दूसरीके रखनेसे जो आकार बनता है उसको पर्यङ्कासन कहते हैं। तथा दोनों जघाओंके ऊपर दोनों पैरोंके रखनेसे जो आकार बनता है उसको वीरासन कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

त्रिविध पद्मपर्यङ्कवीरासनस्वभावकम् ।
आसन यत्नत कार्यं विदधानेन वन्दनाम् ॥

तत्र पद्मासनं पादौ जङ्घाभ्यां श्रयतो यते. ।
तयोरुपर्यधोभागे पर्यङ्कासनमिष्यते ॥
ऊर्वोरुपरि कुर्वाण· पादन्यास विधानत. ।
वीरासन यतिर्धत्ते दुष्कर दीनदेहिन· ॥

अर्थात् वन्दना करनेवालेको पद्मासन पर्यङ्कासन और वीरासन इन तीन प्रकारके आसनोंमेंसे कोई भी करना चाहिये। दोनों पैरोंके दोनों जंघाओंसे मिलजानेपर पद्मासन, दोनों जंघाओंको ऊपर नीचे रखनेसे पर्यङ्कासन, और दोनों पैरोंको दोनों जंघाओंके ऊपर रखनेसे वीरासन कहते हैं। यह वीरासन दुर्बल शरीर या हीन संहनन वालोंके लिये दुर्धर है। इसको उत्कृष्ट शक्तिवाले संयमी पुरुष ही धारण कर सकते हैं। इसके सिवाय कोई कोई इन तीनों आसनोंका स्वरूप इस प्रकार बताते हैं:—

जङ्घाया जङ्घया श्लिष्टे मध्यभागे प्रकीर्तितम् ।
पद्मासन सुखाधायि सुसाध सकलैर्जनै ॥
बुधैरुपर्यधोभागे जङ्घयोरुभयोरपि ।
समस्तयो· कृते ज्ञेय पर्यङ्कासनमासनम् ॥
ऊर्वोरुपरि निक्षेपे पादयोर्विहिते सति ।
वीरासन चिरं कर्तुं शक्य धीरैर्न कातरैः ॥

जंघाका दूसरी जंघाके मध्य भागसे मिल जानेपर पद्मासन हुआ करता है. इस आसनमें बहुत सुख होता है, और समस्त लोक इसको बडी सुगमतासे कर सकते हैं। दोनों जंघाओंको आपसमें मिलाकर ऊपरनीचे रखनेसे पर्यङ्कासन कहते हैं। दोनों पैरोंको दोनों जघाओंके ऊपर रखनेसे वीरासन कहते हैं। इस आसनको जो कातर पुरुष हैं वे अधिक देरतक नहीं कर सकते धीर वीर ही कर सकते हैं।

किसी किसीने इन आसनोंका स्वरूप इस प्रकार बताया है कि:—

जङ्घाया मध्यभागे तु संश्लेषो यत्र जङ्घया ।
पद्मासनमिति प्रोक्त तदासनविचक्षणैः ॥

स्याज्जङ्घयोरधोभागे पादोपरि कृते सति ।
पर्यङ्को नाभिगोत्तानदक्षिणोत्तरपाणिक ॥
वामोंघ्रिर्दक्षिणोरूर्ध्वं वामोरुपरि दक्षिण' ।
क्रियते यत्र तद्धीरोचित्त वीरासन स्मृतम् ॥

जब एक जंघाका मध्यभाग दूसरी जंघामें मिल जाय तब उस आसनको पद्मासन कहते हैं । दोनों पैरोंके ऊपर जंघाओंके नीचेके भागको रखकर नाभिके नीचे ऊपरको हथेली करके ऊपरनीचे दोनों हाथोंको रखनेसे पर्यंकासन होता है । दक्षिण जंघाके ऊपर वामपैर और वाम जंघाके ऊपर दक्षिण पैर रखनेसे वीरासन बताया है जो कि धीर पुरुषोंके योग्य है ।

वन्दनाके योग्य आसनोंका स्वरूप बताकर स्थानविशेषका वर्णन करते हैं:—

स्थीयते येन तत्स्थानं वन्दनायां द्विधा मतम् ।
उद्भीभावो निषद्या च तत्प्रयोज्यं यथाबलम् ॥ ८४ ॥

वन्दनाके प्रकरणमें स्थान शब्दका अर्थ यह होता है कि वन्दना करनेवाला शरीरकी जिस आकृति या क्रियाके द्वारा एक ही जगहपर स्थित रहे या ठहरा रहे उसको स्थान कहते हैं । यह ठहरना दो प्रकारसे हो सकता है-एक खडे रहकर, दूसरा बैठकर । अतएव स्थानके दो भेद हैं, एक उद्भीभाव दूसरा निषद्या । वन्दना करनेवालोंको अपनी शक्तिके अनुसार इन दो प्रकारके स्थानोंमेंसे चाहे जौनसे स्थानका उपयोग करना चाहिये । जैसा कि कहा भी है कि:—

स्थीयते येन तत्स्थान द्विप्रकारमुदाहृतम् ।
वन्दना क्रियते यस्मादुद्भीभूयोपविश्य वा ॥

अर्थात्—जिसके द्वारा स्थित रहा जाय उसको स्थान कहते हैं । यह दो प्रकारका होता है । क्योंकि वन्दना खडे होकर अथवा बैठ कर दोनो ही तरहसे की जाती है ।

स्थानके अनंतर मुद्राका नामोल्लेख किया था अतएव क्रमके अनुसार मुद्राओंका वर्णन होना चाहिये। मुद्रा अनेक प्रकारकी होती हैं किंतु कृतिकर्मके योग्य चार तरहकी ही मुद्रा मानी गई हैं। जिनमुद्रा योगमुद्रा वन्दनामुद्रा और मुक्ताशुक्तिमुद्रा। इनमेंसे पहले आदिकी दोनों मुद्राओंका स्वरूप बताते हैं:—

मुद्राश्चतस्रो व्युत्सर्गस्थितिर्जैनीह यौगिकी।
न्यस्तं पद्मासनाद्यङ्के पाण्योरुत्तानयोर्द्वयम् ॥ ८५ ॥

मुद्रा चार प्रकारकी हैं जिनमुद्रा योगमुद्रा वन्दनामुद्रा और मुक्ताशुक्तिमुद्रा। दोनों भुजाओंको लटकाकर और दोनों पैरोंमें चार अंगुलका अंतर रखकर कायोत्सर्गके द्वारा—शरीरको छोडकर खडे रहनेका नाम जिनमुद्रा है। इसका स्वरूप पहले लिखा जा चुका है। इसके सिवाय जिनमुद्राका आगममें भी यही लक्षण लिखा है। यथाः—

जिनमुद्रान्तरं कृत्वा पादयोश्चतुरङ्गुलम्।
ऊर्ध्वजानोरवस्थान प्रलम्बितभुजद्वयम् ॥

पद्मासन पर्यंकासन और वीरासनका स्वरूप पहले लिखा जा चुका है। इन तीनोंमेंसे कौनसे भी आसनको मांडकर नाभिके नीचे ऊपरको हथेली करके दोनों हाथ ऊपर नीचे रखनेसे योगमुद्रा होती है। जैसा कि कहा भी है किः

जिना' पद्मासनादीनामङ्कमध्ये निवेशनम्।
उत्तानकरयुग्मस्य योगमुद्रा बभाषिरे ॥

वन्दना मुद्रा और मुक्ताशुक्ति मुद्राका स्वरूप बताते हैं:—

स्थितस्याध्युदरं न्यस्य कूर्परौ मुकुलीकृतौ।
करौ स्याद्वन्दनामुद्रा मुक्ताशुक्तिर्युताङ्गुली ॥ ८६ ॥

१—इसी अध्यायके श्लोक ७० मोक्षार्थी जितनिद्रक आदिके प्रलंबितभुजायुग्म इत्यादि शब्दोंके द्वारा।

खडे होकर दोनों कोंहनियोंको पेटके ऊपर रखने और दोनों करों–हाथोंको मुकुलित कमलके आकारमें बनाने पर वन्दनामुद्रा होती है। जैसा कि कहा भी है कि:—

मुकुलीकृतमाधाय जठरोपरि कूर्परम्।
स्थितस्य वन्दनामुद्रा करद्वन्द्व निवेदिता ॥

अर्थात् दोनों हाथ जोड कर कोंहनीको पेटपर रखकर खडे रहनेवालेके वन्दना मुद्रा बताई है।

इसी प्रकार खडे रहकर और दोनों कोंहनियोंको पेटके ऊपर रखकर दोनों हाथोंकी अंगुलियोंको आकार विशेषके द्वारा आपसमें संलग्न करके मुकुलित बनानेसे मुक्ताशुक्तिमुद्रा होती है। जैसा कि कहा भी है कि:—

मुक्ताशुक्तिर्मता मुद्रा जठरोपरि कूर्परम्।
ऊर्ध्वजानोः करद्वन्द्व सलग्नाङ्गुलि सूरिभिः ॥

इन चार प्रकारकी मुद्राओंमेंसे कौनसी मुद्राका प्रयोग किस विषयमें करना चाहिये सो बताते हैं:—

स्वमुद्रा वन्दने मुक्ताशुक्तिः सामायिकस्तवे।
योगमुद्रास्यया स्थित्या जिनमुद्रा तनूज्झने ॥ ८७ ॥

आवश्यकोंका पालन करनेवालोंको वन्दनाके समय वन्दनामुद्रा, और "णमो अरहंताण" इत्यादि सामायिकदण्डकके समय तथा "थोस्सामि" इत्यादि चतुर्विंशतिस्तवदण्डकके समय मुक्ताशुक्तिमुद्राका प्रयोग करना चाहिये. इसी प्रकार बैठकर कायोत्सर्ग करते समय योगमुद्रा और खडे होकर कायोत्सर्ग करते समय जिनमुद्रा धारण करनी चाहिये।

मुद्राके अनन्तर क्रमके अनुसार आवर्तोंके स्वरूपका निरूपण करते हैं:—

शुभयोगपरावर्तानावर्तान् द्वादशाहुराद्यन्ते।

साम्यस्य हि स्तवस्य च मनोङ्गगीः संयतं परावर्त्यम् ॥ ८८ ॥

मन वचन और शरीरकी चेष्टाको अथवा उसके द्वारा होनेवाले आत्म प्रदेशोंके परिस्पन्दको योग कहते हैं हिंसादिक अशुभ प्रवृत्तियोंसे रहित योग प्रशस्त समझा जाता है. इसी प्रशस्त योगको एक अवस्थासे हटाकर दूसरी अवस्थामें लेजानेका नाम परावर्तन है। और इसका दूसरा नाम आवर्त भी है। इसके मन वचन और कायकी अपेक्षा तीन भेद, और यह सामायिक तथा स्तवकी आदिमें और अंतमें किया जाता है अतएव इसके बारह भेद होते है। जो मुमुक्षु साधु वन्दना करनेके लिये उद्यत हैं उन्हे यह बारहों प्रकारका आवर्त करना चाहिये। अर्थात् उन्हे अपने २ मन वचन और काय सामायिक तथा स्तवकी आदि एव अन्तमें पापव्यापारसे हटाकर अवस्थान्तरको प्राप्त कराने चाहिये।

भावार्थ—सामायिककी आदिमें समस्त क्रियाविज्ञापन विकल्पोंको छोडकर सामायिक दण्डकके उच्चारण करने में ही मनका उपयोग लगाना इसको संयतमनआवर्त कहते है। इसी प्रकार जिसमें भूमिका स्पर्श करना पडता है ऐसी अवनति क्रियारूप वन्दनामुद्रा करके पुनः खडे होकर मुक्ताशुक्ति मुद्राके द्वारा दोनों हाथोंका तीन वार घुमाना इसको संयत कायपरावर्तन कहते हैं। तथा "चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं" इत्यादि पाठका उच्चारण कर चुकनेपर "णमो अरहंताणं" इत्यादि पाठके उच्चारण करनेमें जो वचनको लगाना उसको सयत वाक्परावर्तन कहते हैं। इस प्रकार सामायिक दण्डक की आदिमें ये तीन आवर्त—शुभ योगोंके परावर्तन हुआ करते हैं इसी तरह अंतके भी तीन आवर्त यथायोग्य समझलेने चाहिये। तथा इसी प्रकार स्तव दण्डकके भी आदिमें एवं अंतमें तीन तीन आवर्त समझने चाहिये। इस तरह कुल मिलाकर एक कायोत्सर्गमें बारह आवर्त हुआ करते हैं।

यह बात भगवान् वसुनंदि सैद्धान्तदेवने आचारटीकाके अन्दर "दुओणदंजहाजादं" इत्यादि सूत्रका व्याख्यान करते समय कही है। तथा क्रियाकाण्डेंमे भी कहा है कि:—

द्वे नते साम्यनुत्यादौ भ्रमास्त्रिस्त्रियोगगाः।
त्रिःस्त्रिर्भ्रम प्रणामश्च साम्ये स्तवे मुखान्तयोः॥

अर्थात्– सामायिकके आदिमें और अंतमें दो नति त्रियोगसम्बन्धी तीन २ आवर्त और प्रत्येक दिशामें तीन २ भ्रमणके पीछे एक एक प्रणाम हुआ करता है। भावार्थ प्रत्येक भ्रमणके करते समय चारों दिशाओंमें एक २ प्रणाम होता ह। अतएव तीन भ्रमणके मिलाकर बारह प्रणाम हो जाते हैं।

ऊपर आवर्तका अर्थ योगत्रयका बदलना लिखा है, किंतु वृद्ध व्यवहारमें इसका अर्थ हाथोंका घुमाना होता है। अतएव प्राचीन व्यवहारके अनुरोधसे इस प्रकारके आवर्तका भी उपदेश देते हैं :—

त्रिः संपुटीकृतौ हस्तौ भ्रमयित्वा पठेत् पुनः।
साम्यं पठित्वा भ्रमयेत्तौ स्तवेप्येतदाचरेत् ॥ ८९ ॥

आवश्यकों का पालन करनेवाले तपस्वियों को सामायिक पाठका उच्चारण करनेके पहले दोनों हाथोंको मुकुलित बनाकर तीन वार घुमाना चाहिये। घुमाकर सामायिकके " णमो अरहताणं " इत्यादि पाठका उच्चारण करना चाहिये। पाठ पूर्ण होनेपर फिर उसी तरह मुकुलित हाथोंको तीनवार घुमाना चाहिये। यही विधि स्तव दण्डकके विषयमें भी समझनी चाहिये।

भावार्थ — दोनों हाथोंका संपुट बनाकर तीन वार घुमाना और फिर चतुर्विंशति स्तवदण्डकका पाठ करना। पाठ के अनंतर फिर उसी तरह दोनों हाथोंके संपुटको तीन वार घुमाना चाहिये। व्युत्सर्ग तपका वर्णन करते समय चारित्र सारमें भी कहा है कि: —

इन आवश्यक क्रियाओंको करनेवाला साधु शक्तिको न छिपाकर न शक्तिसे अधिक किंतु शक्तिके अनुरूप खडे होकर अथवा खडे होनेकी शक्ति न हो तो पर्यंकासनसे मन वचन कायको शुद्ध करके दोनों हाथोंका संपुट बनाकर क्रिया विज्ञापनापूर्वक सामायिक दण्डकका उच्चारण करे। इस तरह तीन आवर्त और एक शिरोनति होती है। इसी तरह सामायिकदण्डकके अतमें भी करना, तथा यथोक्त कालतक जिनभगवान्के गुणोंका स्मरण करते हुए कायव्युत्सर्गको करके दूसरे दण्डककी आदिमें तथा समाप्तिमें भी इसी प्रकार करना चाहिये। इस तरह कुल मि-लाकर एक कायोत्सर्गके बारह आवर्त और चार शिरोनति होजाती है।

वन्दना आदि नित्य कर्म करनेमें योग्य काल आसन स्थान मुद्रा आदिका आश्रय लेनेका पहले जो वर्णन कर चुके हैं उसके अनुसार आवर्तोंका स्वरूप बतानेके बाद शिरोनतिका वर्णन करना क्रम प्राप्त है अतएव उसका वर्णन करते हैं:—

प्रत्यावर्तत्रयं भक्त्या नन्नमत् क्रियते शिरः ।
यत्पाणिकुड्मलाङ्क तत् क्रियायां स्याच्चतुःशिरः ॥ ९० ॥

प्रकृतमें शिर शब्दका अर्थ भक्तिपूर्वक मुकुलित हुए दोनों हाथोंसे संयुक्त मस्तकका तीन तीन आवर्तोंके अनतर नम्रीभूत होना समझना चाहिये। भावार्थ—यहांपर शिर शब्दसे शिरोनति अर्थ समझना चाहिये चैत्यभक्ति आदिके अथवा कायोत्सर्गके विषयमें चार २ शिरोनति की जाती है क्योंकि सामायिक दण्डक तथा स्तव दण्डकके आदि और अन्तमें तीन तीन आवर्तके अनन्तर एक एक शिरोनति करनेका आगम में विधान किया है

चैत्यभक्ति आदि करते समय आवर्त और शिरोनति दूसरी तरहसे भी हो सकती हैं। इसी बातको बताने के लिये सूत्र कहते हैं :—

प्रतिभ्रामरि वार्चादिस्तुतौ दिश्येकशश्चरेत् ।
त्रीनावर्तान् शिरश्चैकं तदाधिक्यं न दुष्यति ॥ ९१ ॥

चैत्यादि की भक्ति करते समय प्रत्येक प्रदक्षिणामें पूर्वादिक चारो दिशाओं की तरफ प्रत्येक दिशामें तीन आवर्त और एक शिरोनति करनी चाहिये। यहांपर यह बात भी ध्यानमें रखनी जरूरी है कि आवर्त और शिरोनतिका जो प्रमाण बताया गया है उससे यदि अधिक आवर्त तथा शिरोनति हो जांय तो वह कोई दोषका कारण नहीं है।

भावार्थ—चारो दिशाओं के मिलाकर चार शिरोनति और बारह आवर्त चैत्यभक्ति आदि करने वाले के प्रत्येक प्रदक्षिणामें हो जाते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :—

चतुर्दिक्षु विहारस्य परावर्तास्त्रियोगगाः।
प्रतिभ्रामरि विज्ञेया आवर्ता द्वादशापि च।

अर्थात् — चैत्यभक्ति आदि करते समय चारो दिशाओंकी तरफ प्रदक्षिणा देते हुए त्रियोग सम्बन्धी परावर्तन हुआ करते हैं। प्रत्येक दिशामें तीन आवर्त हुआ करते हैं। अतएव प्रत्येक प्रदक्षिणामें बारह आवर्त हो जाते हैं।

आवर्त और शिरोनति उक्त प्रमाणसे अधिक भी हो जांय जैसाकि तीन प्रदक्षिणा देने आदिके समय संभव है तो उसमें कोई दोष न समझना चाहिये। क्योंकि इस विषयमें चारित्र सारमें भी कहा है कि:—

" एकस्मिन् प्रदक्षिणीकरणे चैत्यादीनामभिमुखीभूतस्यावर्तत्रयैकावनमने कृते चतसृष्वपि दिक्षु द्वादशावर्ताश्चतस्रः शिरोवनतयो भवन्ति। आवर्तानां शिरःप्रणतीनामुक्तप्रमाणादाधिक्यमपि न दोषाय "

अर्थात — एक या पहली प्रदक्षिणा देनेमें प्रतिमा आदिके सम्मुख खडे होकर तीन आवर्त और एक शिरोनति की जाती है, इसलिये चारो दिशाओंमें मिलकर बारह आवर्त और चार शिरोनति हो जाती है। आवर्त और शिरोनति इस प्रमाणसे अधिक भी हो जांय तो उसमें कोई दोष नहीं है।

इसी अभिप्रायका समर्थन करते हैं:—

दीयते चैत्यनिर्वाणयोगिनन्दीश्वरेषु हि।
वन्द्यमानेष्वधीयानैस्तत्तद्भक्तिं प्रदक्षिणा ॥ ९२ ॥

जिस समय मुमुक्षु संयमी चैत्य वंदना या निर्वाण वंदना अथवा योगि वंदना यद्वा नंदीश्वर चैत्य वंदना किया करते है; उस समय तत्तद्भक्तिका पाठ बोलते हुए वे प्रदक्षिणा दिया करते हैं।

भावार्थः—चैत्यादि वंदना करते समय चैत्यभक्ति आदिका जो पाठ क्रिया काण्डमें प्रसिद्ध है उसको बोलते हुए प्रदक्षिणा दी जाती है. इससे जब कि एक ही प्रदक्षिणामें बारह आवर्त और चार शिरोनति हो जाती हैं तब

८१९

उससे अधिक प्रदक्षिणा होजानेपर आवर्त और शिरोनति का प्रमाण भी अधिक हो सकता है, ऐसा सिद्ध होता है।

ग्रंथकार अपने और दूसरे आचार्योंके मतमें शिरोनतिके विषयका निर्णय प्रकट करते हैं:—

द्वे साम्यस्य स्तुतेश्चादौ शरीरनमनान्नती ।
वन्दनाद्यन्तयोः कैश्चिन्निविश्य नमनान्मते ॥ ९३ ॥

सामायिक दण्डक और चतुर्विंशति स्तवकी आदिमें दो शिरोनति करनी चाहिये। यह नति शरीरके पांचो अंगोंको नमाकर जिसमें कि भूमिका स्पर्श हो जाय इस तरहसे करनी चाहिये । श्रीस्वामी समन्तभद्र प्रभृति आचार्योंने दो नति मानी है। परन्तु उनको वन्दनाकी आदि और अंतमें बैठकर प्रणाम करके दो नति करना इष्ट है। जैसा कि श्री भगवान् प्रभाचन्द्र देवने रत्नकरण्डकी टीकामें "चतुरावर्तत्रितय—" इत्यादि सूत्रके "द्विनिषद्य" इस पदका व्याख्यान करते समय लिखा है कि "देववन्दनां कुर्वता हि प्रारम्भे समाप्तौ चोपविश्य प्रणामः कर्तव्यः।" अर्थात् देववन्दना करने वालेको आदि और अंतमें बैठकर प्रणाम करना चाहिये।

प्रणामके भेद और उनका स्वरूप दो श्लोकोंद्वारा बताते हैं:—

योगैः प्रणामस्त्रेधार्हज्ज्ञानादेः कीर्तनात्त्रिभिः ।
कं करौ ककरं जानुकरं ककरजानु च ॥ ९४ ॥
नम्रमेकाद्वित्रिचतुःपञ्चाङ्गः कायिकः क्रमात् ।
प्रणामः पञ्चधावाचि यथास्थानं क्रियेत सः ॥ ९५ ॥

मन वचन और कायकी अपेक्षा प्रणाम तीन प्रकारका है। क्योंकि सर्वज्ञ वीतराग श्री अर्हत्परमेष्ठी अथवा सिद्ध भगवान्के ज्ञानादिक गुणोंका कीर्तन इन तीनों ही योगोंके द्वारा किया जाता है. इनमेंसे शारीरिक प्रणाम पांच प्रकारका है। कायिक प्रणाममें शरीरके अंगोंको नम्रीभूत किया जाता है, अतएव शरीरके पांच अंगोंकी अपेक्षा

कायिक प्रणाम भी पांच तरहका माना है। जिसमें शरीरका एक अंग नम्रीभूत हो उसको एकाङ्ग, और जिसमें दो अंग नम्रीभूत हों उसको द्वयङ्ग, और जिसमें तीन चार पाच अंग नम्रीभूत कियेजांय उसको क्रमसे त्र्यंग चतुरंग पंचांग कायिक प्रणाम कहते है।

एकाङ्ग प्रणाममें केवल शिरको ही नमाया जाता है। द्वयंङ्गमें दोनों हाथ जोडकर नम्रीभूत किये जाते है। त्र्यगमें दोनों हाथ और शिर नत हुआ करता है। चतुरङ्गमे दोनों हाथ और दोनों घुटने नत किये जाते है। और पचाङ्गमें मस्तक दोनों हाथ और दोनों घुटने नम्र करने चाहिये

कृतिकर्म करने वालोंको इन पाच प्रकारके प्रणामोंमेंसे जो प्रणाम जिस स्थानपर करना उचित है उसको उसी स्थानपर करना चाहिये। जैसे कि सामायिक दण्डक की आदिमें पचाङ्ग प्रणाम करना चाहिये। कहा भी है कि:—

मनसा वचसा तन्वा कुरुते कीर्तन मुनि ।
ज्ञानादीना जिनेन्द्रस्य प्रणामस्त्रिविधो मत ॥
एकाङ्गो नमने मूर्ध्नो द्वयङ्ग स्यात् करयोरपि ।
त्र्यङ्ग करशिरोनामे प्रणाम कथितो जिने. ॥
करजानुविनामेऽसौ चतुरङ्गो मनीषिभि ।
करजानुशिरोनामे पञ्चाङ्ग परिकीर्तित ॥
प्रणाम कायिको ज्ञात्वा पञ्चधेति मुमुक्षुभिः ।
विधातव्यो यथास्थान जिनसिद्धादिवन्दने ॥

अर्थात्—मुनिजन जिनेन्द्रके ज्ञानादिका मन वचन और कायसे कीर्तन किया करते हैं। अतएव त्रियोग की अपेक्षा प्रणाम तीन प्रकारका है। जिसमें कायिक प्रणाम पांच तरहका है। शिरके नमानेपर एकाङ्ग, दोनों हाथों के नमानेपर द्वयङ्ग, दोनों हाथ और शिरके नमानेपर त्र्यग, दोनों हाथ और दोनों जानुओंके नमानेपर चतुरंग, और दोनों हाथ दोनों जानु तथा एक शिरके नमानेपर पंचाङ्ग प्रणाम कहा जाता है। इन पांच प्रकारके प्रणामोंमेंसे

स्तब्धमत्यासन्नभाव: प्रविष्टं परमेष्ठिनाम् ॥ ९८ ॥

१—वन्दनाके कर्ममें तत्परता न रखना, अर्थात् उसको प्रधान मानकर जैसी प्रवृत्ति होनी चाहिये वैसी न करना और उसमें आदर भाव रहित होना, इसको वन्दनाका पहला अनादृत नामका दोष समझना चाहिये।

२ ज्ञान पूजा कुल जाति आदि आठ विषयोंकी अपेक्षा लेकर जो अहंकार होता है उसको मद कहते हैं। इन आठों ही अथवा इनमेंसे अन्यतरके द्वारा अपनेमें उत्कर्षकी संभावना करके इन मदोंके वशीभूत हो जाना इसको स्तब्ध नामका दूसरा दोष समझना चाहिये।

३— अर्हदादिक परमेष्ठियों के अत्यंत निकट वर्ती होकर उनकी वन्दना करना इसको वन्दनाका तीसरा प्रविष्ट नामका दोष समझना चाहिये।

हस्ताभ्यां जानुनो: स्वस्य संस्पर्श: परिपीडितम्।
दोलायितं चलन् कायो दोलावत् प्रत्ययोथवा ॥ ९९ ॥

४ —अपने दोनों हाथोंसे अपनी दोनों जंघाओंका चारो तरफ स्पर्श करना, अर्थात् वन्दना करते समय जंघाओंपर हाथ फेरते जाना या फेरना इसको वंदनाका परिपीडित नामका चौथा दोष कहते हैं।

५—जिस प्रकार झूलापर बैठे हुए आदमीका शरीर चलायमान हुआ करता है उसी प्रकार वन्दना करनेवाला यदि अपने शरीरका यातायात करे तो उसको दोलायित दोष समझना चाहिये। अर्थात् वंदना करते समय यदि शरीर आगेको झुके फिर पीछे को फिर आगेको फिर पीछेको इसी तरह चलायमान हो तो वंदनाका वह पांचवां दोलायित दोष है। अथवा स्तुत्य स्तुति और स्तुतिके फलके विषयमें चलायमान ज्ञानका होना —संशय करना उसको भी दोलायित दोष कहते हैं।

भालेंकुशवदङ्गुष्ठविन्यासोऽङ्कुशितं मतम्।
निषेदुष:कच्छपवद्रिङ्ग्वा कच्छपरिङ्गितम् ॥ १०० ॥

काय का व्यापार विशुद्ध पाया जाय। जहांपर तीनों ही योग कालुष्यरहित रहा करते हैं। और जो अपने चितिकर्म सम्बन्धी तथा व्युत्सर्ग सम्बन्धी बत्तीस २ दोषोंसे रहित हो। कहा भी है कि:—

दुओणद जहाजाद बारसावत्तमेव य।
चदुस्सिरं तिसुद्ध च किदियम्म पउज्जदे ॥
तिविह तियरगसुद्ध मयरहिय दुविहठाणपुणरुत्त।
विणएण कमविसुद्ध किदियम्म होइ कायव्व ॥
किदियम्म पि कुणतो ण होदि किदियम्मि णिज्जराभागी।
बत्तीसाणण्णदर साहुट्ठाण विराहतो ॥

अर्थात—बारह आवर्त चार शिरोनति और मनवचनकायकी शुद्धिसे युक्त यथाजात नित्य नैमित्तिक क्रिया करनी चाहिये। तीन करणोंसे शुद्ध मदरहित दो प्रकारके स्थानोंसे (उद्भीभाव और उपवेशन) युक्त और क्रमपूर्वक किये जानेसे विशुद्ध तीन प्रकारका कृतिकर्म करना चाहिये। कृतिकर्म करनेपर भी कृतिकर्मका फल प्राप्त नहीं हुआ करता। क्योंकि बत्तीस जो साधुस्थान बताये है उनमेंसे किसी एकका भी विराधन करनेवाला साधु निर्जराका भागी नहीं बन सकता। अर्थात् बत्तीस दोषोंको टालकर जो जिनवंदना आदि करता है वही कर्मोंकी निर्जरा कर सकता है।

यहांपर जिन बंदनाके ३२ और कायोत्सर्गके ३२ दोष टालनेके लिये जो कहा है उसमें वन्दना सम्बन्धी ३२ दोषोंका स्वरूप चौदह श्लोकोंके द्वारा बताते हैं:—

अनादृतमतात्पर्यं वन्दनायां मदोद्धृतिः।

१—आगे चलकर १११ वें गाथामें ऐसा कहेंगे कि " इति दोषोज्झिता कार्या वन्दना निर्जरार्थिना। " अर्थात् निर्जरार्थियोंको इस प्रकार ३२ दोषोंसे रहित वन्दना करनी चाहिये। सो इस श्लोकका सम्बन्ध वहातक जोडलेना चाहिये। तथा १०४ के श्लोकमें मल शब्द आया है इसलिये मध्य दीपक न्यायसे अथवा अन्त्यदीपकन्यायसे इन अनादृतादिक भावोंको बन्दनाका दोष समझना।

स्तब्धमत्यासन्नभावः प्रविष्टं परमेष्ठिनाम् ॥ ९८ ॥

१—वन्दनाके कर्ममें तत्परता न रखना, अर्थात् उसको प्रधान मानकर जैसी प्रवृत्ति होनी चाहिये वैसी न करना और उसमें आदर भाव रहित होना, इसको वन्दनाका पहला अनादृत नामका दोष समझना चाहिये।

२ ज्ञान पूजा कुल जाति आदि आठ विषयोंकी अपेक्षा लेकर जो अहंकार होता है उसको मद कहते हैं। इन आठो ही अथवा इनमेंसे अन्यतरके द्वारा अपनेमें उत्पत्तिकी सभावना करके इन मदोंके वशीभूत हो जाना इसको स्तब्ध नामका दूसरा दोष समझना चाहिये।

३— अर्हदादिक परमेष्ठियों के अत्यंत निकट वर्ती होकर उनकी वन्दना करना इसको वन्दनाका तीसरा प्रविष्ट नामका दोष समझना चाहिये।

हस्ताभ्यां जानुनोः स्वस्य संस्पर्शः परिपीडितम्।
दोलायितं चलन् कायो दोलावत् प्रत्ययोऽथवा ॥ ९९ ॥

४ — अपने दोनों हाथोंसे अपनी दोनों जंघाओंका चारो तरफ स्पर्श करना, अर्थात् वन्दना करते समय जंघाओंपर हाथ फेरते जाना या फेरना इसको वंदनाका परिपीडित नामका चौथा दोष कहते हैं।

५—जिस प्रकार झूलापर बैठे हुए आदमीका शरीर चलायमान हुआ करता है उसी प्रकार वन्दना करनेवाला यदि अपने शरीरका यातायात करे तो उसको दोलायित दोष समझना चाहिये। अर्थात् वंदना करते समय यदि शरीर आगेको झुके फिर पीछे को फिर आगेको फिर पीछेको इसी तरह चलायमान हो तो वदनाका वह पांचवां दोलायित दोष है। अथवा स्तुत्य स्तुति और स्तुतिके फलके विषयमें चलायमान ज्ञानका होना—संशय करना उसको भी दोलायित दोष कहते हैं।

भालेंकुशवदङ्गुष्ठविन्यासोऽङ्कुशितं मतम्।
निषेदुषः कच्छपवद्रिङ्खा कच्छपरिङ्गितम् ॥ १०० ॥

६—अपने ललाटपर अपने हाथके अंगुष्ठको अंकुशकी तरह रखकर वन्दना करना अंकुशित नामका छठा दोप है।

७—बैठकर वदना करनेवाला यदि कन्छपके समान चेष्टा करे, अर्थात् बैटे २ ही कछुए की तरह धीरेमे रेंगनेकी क्रिया करे तो वह सातवा कन्छपरिङ्गित नामका दोप है।

मत्स्योद्वर्तं स्थितिर्मत्स्योद्वर्तवत् त्वेकपार्श्वतः।
मनोदुष्टं खेदकृतिर्गुर्वाद्युपरि चेतासि ॥ १०१ ॥

८—जिस प्रकार मछली एक भागको ऊपर करके उछला करती है उसी प्रकार वंदना करनेवाला यदि एक भागको–कटिभागको ऊपर को निकालकर वन्दना करनेके लिये स्थित हो तो उसको आठवां मत्स्योद्वर्त नामका दोप समझना चाहिये।

९—अपने मनमें गुरु–आचार्यादिके ऊपर आक्षेप करना–खिन्न होना मनोदुष्ट नामका दोप है।

वेदिबद्ध स्तनोत्पीडो दोर्भ्यांवा जानुबन्धनम्।
भयं क्रिया सप्तभयाद्बिभ्यत्ता बिभ्यतो गुरोः ॥ १०२ ॥

१०—अपनी छातीके स्तनभागोंका मर्दन करना दशवा वेदिकाबद्ध नामका दोप है। अथवा योगपट्टकी तरह दोनों भुजाओंके द्वारा अपने दोनों घुटनोंको बांध लेना यह भी वेदिका बद्ध नामका ही दोप है।

११– इस लोकभय परलोकभय अकस्मात् भय मरणभय इत्यादि सात प्रकारकी भयके वशीभूत होकर आवश्यक क्रिया करना इसको ग्यारहवां भयनामका दोप समझना।

१२– गुरु आचार्य आदि से डरते हुए आवश्यक कर्म करना बिभ्यत्ता [बिभ्यतः कर्म बिभ्यत्ता] नामका बारहवां दोप है।

भक्तो गणो मे भावीति वन्दारोर्ऋद्धिगौरवम्।

गौरवं स्वस्य महिमन्याहारादावथ स्पृहा ॥ १०३ ॥

१३– ऋषि मुनि यति और अनगार इसतरह चारो प्रकारके मुनियोंका संघ मेरा भक्त बनजायगा ऐसा भाव रखकर जो वन्दना करना इसको तेरहवां ऋद्धि गौरव नामका दोष समझना ।

१४– अपने माहात्म्यकी इच्छा करना, अथवा भोजन और उपकरण आदिकी स्पृहा रखकर वन्दना करना चौदहवां गौरव नामका दोष है ।

स्याद्वन्दने चोरिकया गुर्वादेः स्तेनितं मलः ।
प्रतिनीतं गुरोराज्ञाखण्डनं प्रातिकूल्यतः ॥ १०४ ॥

१५– आचार्य प्रवर्ती और उपाध्याय आदि गुरुजनोंसे छिपाकर वन्दना क्रिया करना स्तेनित नामका पंद्रहवां मल–दोष समझना चाहिये ।

१६– प्रतिकूल वृत्ति रखकर गुरुकी आज्ञाका खंडन करदेना सोलहवां प्रतिनीत नामका दोष है ।

प्रदुष्टं वन्दमानस्य द्विष्टेऽकृत्वा क्षमां त्रिधा ।
तर्जितं तर्जनान्येषां स्वेन स्वस्याथ सूरिभिः ॥ १०५ ॥

१७–कलह वगैरहके द्वारा किसीके साथ द्वेषका विषय यदि उपस्थित होगयाहो तो उस विषयमें मन वचन और कायके द्वारा जिसका अपराध किया है उसके मनमें क्षमाभाव उत्पन्न कराये विना, वा स्वयं उसके प्रति क्षमा धारण किये विना वन्दना करना प्रदुष्ट नामका सत्रहवां दोष है ।

१८–अंगूठाके पासकी अंगुली–तर्जनीको उठाकर और हिलाकर दूसरे शिष्यादिकोंको अपनेसे भय उत्पन्न करना तर्जित नामका दोष है । अथवा आचार्यादिकोंके द्वारा अपनी तर्जना होना यह भी तर्जित नामका ही अठारहवां दोष है ।

शब्दो जल्पक्रियान्येषामुपहासादि हेलितम् ।
त्रिवलितं कटिग्रीवाहृद्भङ्गो भ्रकुटिर्नवा ॥ १०६ ॥

१९—वन्दना करते समय बीचमें बातचीत करते जाना शब्द नामका दोष है।

२०—वन्दना करते हुए दूसरे लोकोंका उद्घट्टन करना, उनको धक्का देना, विप्लव मचाना, दूसरोंकी हसी करना, इत्यादि वन्दनाका बीसवां हेलित नामका दोष है।

२१—वन्दना करते समय कटि ग्रीवा और हृदय इन अंगोंमें भंग-बलि पडजाना त्रिवलित नामका दोष है। अथवा ललाटके ऊपर त्रिवली—तीन सरवटोंका पडजाना यह त्रिवलित नामका ही इकीसवां दोष है।

करामर्शोथ जान्वन्तः क्षेपः शीर्षस्य कुञ्चितम् ।
दृष्टं पश्यन् दिशः स्तौति पश्यन्स्वान्येषु सुष्ठु वा ॥ १०७ ॥

२२—शिरका अपने हाथसे अमर्श करना, अथवा दोनो जघाओं-घुटुनोंके बीचमें शिर रखना कुंचित नामका दोष है।

२३—जो दिशाओंकी तरफ देखता हुआ वन्दना करे उसके दृष्ट दोष समझना चाहिये। अथवा जब दूसरे गुरु आदिक या और कोई देख रहे हों उस समय सुतरा बडे उत्साहके साथ स्तुति वन्दना में प्रवृत्ति करना इसको भी दृष्ट दोष ही कहते है।

अदृष्टं गुरुदृङ्मार्गत्यागो वाऽप्रतिलेखनम् ।
विष्टिः संघस्येयमिति धीः संघकरमोचनम् ॥ १०८ ॥

२४—गुरुकी दृष्टि बचाकर वन्दना करना अदृष्ट नाम का दोष है। अथवा पीछीके द्वारा प्रतिलेखन न करके ही वन्दना करना चौवीसवां अदृष्ट नामका ही दोष है।

२५—ये संघकी बडी जबर्दस्ती है कि बलपूर्वक-हठसे क्रिया कराई जाती है, इस प्रकारकी बुद्धिका होना संघकरमोचन नामका दोप है।

उपध्याप्त्या क्रियालब्धमनालब्धं तदाशया।
हीनं न्यूनाधिकं चूला चिरेणोत्तरचूलिका ॥ १०९ ॥

२६—उपकरणादि परिग्रहका लाभ होनेपर आवश्यक क्रिया करना आलब्ध नामका दोप है।
२७—उपकरणादिकी आशासे क्रिया करना अनालब्ध नामका दोप है।
२८—मात्रा प्रमाण क्रिया न करके अधिक या कम करना इसको हीन नामका दोप समझना चाहिये।

२९—वन्दनाको तो थोडीसी देरमें ही पूर्ण कर देना और उसकी चूलिकारूप आलोचना आदि क्रिया-ओंको अधिक समय तक करना इसको उत्तर चूलिका दोप कहते हैं।

मूको मुखान्तर्वन्दारोर्हुङ्काराद्यथ कुर्वतः।
दुर्दरो ध्वनिनान्येषां स्वेन च्छादयतो ध्वनीन् ॥ ११० ॥

३०—यदि वन्दना करने वाला वन्दनाके पाठको मुखके भीतर ही बोले जिससे कि किसीको सुनाई ही न पडे इसको मूक दोप कहते हैं। अथवा वन्दना करते समय हुंकार आदि संज्ञाएं-इशारे करना भी मूक नामका दोप कहा है।

३१—वन्दना करते समय उसका पाठ इतने जोरसे बोलना कि जिससे अपनी ध्वनिसे दूसरे वन्दना करनेवालोंका शब्द दब जाय इसको दुर्दर नामका दोप कहा है।

द्वात्रिंशो वन्दने गीत्या दोषः सुललिताह्वयः।
इति दोषोज्झिता कार्या वन्दना निर्जरार्थिना ॥ १११ ॥

३२—वन्दना करते समय उसके पाठको गागाकर–पंचम—स्वरसे बोलना यह वन्दनाका बत्तीसवां सुललित नामका दोष है ।

इस प्रकार वन्दना सम्बन्धी ३२ दोष है । कर्मोंकी निर्जरा करने के जो अभिलाषी है उनको यह वन्दना क्रिया इन बत्तीस दोषोंसे रहित करनी चाहिये ।

भावार्थ—यहांपर वन्दनाके ३२ दोषोंका उल्लेख करके ग्रंथकार ने अंतमें पुनः उन दोषोंका स्मरण कराया है जिनको कि वन्दना करते समय अवश्यही टालना चाहिये । इन दोषोंके सदृश और भी दोष जैसे कि वन्दना करते समय शिरको नीचा ऊंचा करना, अथवा शिरको ऊपरको करके वंदना करना, यद्वा हाथोंको घुमाना फिराना तथा गुरु के सामने खडे होकर पाठका उच्चारण करना, इत्यादि संभव हैं । अतएव क्रिया काण्डादिमें कहे मूजब सभी दोष टालना उचित है । क्योंकि दोष रहित वन्दना ही निर्जराका कारण हो सकती है ।

इस प्रकार वन्दना सम्बन्धी ३२ दोषोंका वर्णन करके क्रमानुसार कायोत्सर्गके दोषोंका स्वरूप ११ श्लोकोंमें बताते हैः—

कायोत्सर्गमलोस्त्येकमुत्क्षिप्याङ्घ्रिं वराश्ववत् ।
तिष्ठतोऽश्वो मरुद्धूतलतावच्चलतो लता ॥ ११२ ॥

१—उत्तम घोडा जिस प्रकार एक पैरको जमीनसे अच्छी तरह न छुआ कर खडा हुआ करता है उसी प्रकार कायोत्सर्ग करते समय एक पैरको जमीनसे अच्छी तरह न लगाकर खडे रहना कायोत्सर्गका घोटक नामका पहला दोष है ।

२—जिस प्रकार हवाके लगनेसे लता कांपा करती है उसी प्रकार कायोत्सर्ग करनेवालेका शरीर यदि कांपे—चलायमान हो तो उसको लता नामका दोष समझना चाहिये ।

यहांपर पहले ही दोषका स्वरूप बताते समय मल शब्दका जो प्रयोग किया है उसका सम्बन्ध आदि दीपकन्यायसे आगे जिन दोषोंका वर्णन करते हैं उन सबके साथ लगा लेना चाहिये ।

स्तम्भः स्तम्भाद्यवष्टभ्य पट्टकः पट्टकादिकम् ।
आरुह्य मालो मालादि मूर्ध्नालम्ब्योपरि स्थितिः ॥ ११३ ॥

३—दीवाल-भीत या स्तम्भ वगैरहका आश्रय लेकर कायोत्सर्गकेलिये खडे होना स्तम्भ नामका दोष है।

४—पट्टा अथवा चटाई आदिके ऊपर खडे होकर कायोत्सर्ग करना पट्टक नामका दोष है।

५—शिरके ऊपरके प्रदेशमें शिरके द्वारा माला अथवा रस्सी आदिका अवलम्बन लेकर खडे होना—कायोत्सर्ग करना माल नामका दोष है।

शृङ्खलाबद्धवत् पादौ कृत्वा शृङ्खलितं स्थितिः ।
गुह्यं कराभ्यामावृत्त्य शवरीवच्छवर्यपि ॥ ११४ ॥

६—यदि अपने दोनों पैरोंको संकलसे जकडे हुए कैदीके पैरोंकी तरह बनाकर कायोत्सर्ग करे तो उसको शृङ्खलित नामका दोष समझना चाहिये।

७—भिल्लिनीकी तरह अपने गुह्यभागको-शरीरके गुह्य अंगको अपने दोनों हाथोंसे ढककर कायोत्सर्ग करे तो वह शबरी नामका दोष है।

लम्बितं नमनं मूर्ध्नस्तस्योच्चरितमुन्नमः ।
उन्नमय्य स्थितिर्वक्षः स्तनदावत्स्तनोन्नतिः ॥ ११५ ॥

८—शिरको नीचा करके कायोत्सर्ग करना लम्बित नामका दोष है।
९—शिरको ऊपरको उठाकर कायोत्सर्ग करना उच्चरित नामका दोष है।
१०—जिस प्रकार बच्चेको दूध पिलानेके लिये तयार हुई स्त्री स्तनभागको ऊपर उठाती है उसीप्रकार

वक्षःस्थलके स्तनभागोंको उठाकर कायोत्सर्ग करना स्तनोन्नति नामका दोष है

वायसो वायसस्येव तिर्यगीक्षा खलीनितम् ।
खलीनार्ताश्ववद्दन्तघृष्टयोर्ध्वाधश्चलच्छिरः ॥ ११६ ॥

११—कायोत्सर्ग करते समय तिरछी निगाहसे कौएकी तरह इधर उधर देखना वायस नामका दोष है।

१२—जिस प्रकार घोडा लगाम लगजानेपर दांतोंको घिसता—कट कट शब्द करता हुआ शिरको ऊपर नीचेको हिलाया करता है, उसी प्रकार दांतोंको घिसते हुए शिरको ऊपर नीचे करना खलीनित नामका दोष है।

ग्रीवां प्रसार्यावस्थानं युगार्तगववद्युगः ।
मुष्टिं कपित्थवद्बद्ध्वा कपित्थः शीर्षकम्पनम् ॥ ११७ ॥
शिरःप्रकम्पितं संज्ञा मुखनासाविकारतः ।
मूकवन्मूकिताख्यः स्यादङ्गुलीगणनाङ्गुली ॥ ११८ ॥

१३—जिसके कंधेपर जूआ रक्खा हुआ है ऐसा बैल जिस प्रकार अपनी गर्दनको लम्बी कर दिया करता है उसी प्रकार ग्रीवाको लम्बा करके कायोत्सर्ग करनेवाला यदि खडा हो तो युग नामका दोष है।

१४—कायोत्सर्गके लिये खडे होनेपर कैथकी तरह दोनो हाथोंकी मुठी बांध लेना कपित्थ नामका दोष है।

१५—कायोत्सर्गके समय शिर हिलाना शीर्षकम्पन नामा दोष है।

१६—मुखनासिका आदिके विकार प्रकट करके गूंगे की तरह इशारा करना मूकित नामका दोष है।

१७—अंगुलियोंके द्वारा गिनना अगुली नामका दोष है।

भ्रूक्षेपो भ्रूविकारः स्याद् घूर्णनं मदिरार्तवत् ।

उन्मत्त ऊर्ध्वं नयनं शिरोधेर्बहुधाप्यधः ॥ ११९ ॥

१८—कायोत्सर्ग करते समय भृकुटियोंका विकार युक्त होजाना भ्रूक्षेप नामका दोप है।

१९—मदिरा पीकर उसके नशेसे पागल हुआ मनुष्य जिस प्रकार घूमा करता है उसी प्रकार कायोत्सर्ग करते समय घूमनेसे उन्मत्त नामका दोप कहा जाता है।

२०—अनेक तरहसे ग्रीवा-गर्दन को ऊपरकी तरफ उठाना ग्रीवोर्ध्वनयन नामका दोप है।

२१—अपनी ग्रीवाको अनेक तरहसे नीचे की तरफ झुकाना ग्रीवाधोनयन नामका दोप है।

निष्ठीवनं वपुःस्पर्शो न्यूनत्वं दिगवेक्षणम् ।
मायाप्रायास्थितिश्चित्रा वयोपेक्षाविवर्जनम् ॥ १२० ॥

२२—थूकना और श्लेष्मा आदिका निकालना निष्ठीवन नामका दोप है।

२३—शरीरका इधर उधर स्पर्श करना वपुःस्पर्श नामका दोप है।

२४—कायोत्सर्गको जितने प्रमाणमें करना चाहिये उतना न करके कुछ कम करना न्यूनता नामका दोप है।

२५—इधर उधर दिशाओंकी तरफ देखते हुए कायोत्सर्ग करना दिगवेक्षण नामका दोप है।

२६—वञ्चनायुक्त-प्रायःमायाचारसे पूर्ण विचित्र रूपसे कायोत्सर्गके लिये ऐसी तरहसे खडे होना कि जिसको देखकर लोगों को आश्चर्य हो मायाप्रायास्थितिनामका दोप है।

२७—आयुका ख्याल करके अर्थात् वृद्धावस्थाका विचार करके कायोत्सर्गका छोड देना वयोपेक्षाविवर्जन नामका दोप है।

व्याक्षेपासक्तचित्तत्वं कालापेक्षाव्यतिक्रमः ।
लोभाकुलत्वं मूढत्वं पापकर्मैकसर्गता ॥ १२१ ॥

२८—कोलाहलादिके कारण मनमें विक्षेपका पैदा होना-चित्तमें चंचलता या चलायमानता आजाना व्याक्षेपासक्तचित्तता नामका दोष है।

२९—समयका विचार करके कायोत्सर्ग के विविध अंशोंको छोड देना कालापेक्षाव्यतिक्रम नामका दोष है।

३०—गृद्धि या लोभके वशीभूत होकर चित्तमें विक्षेप पैदा होना लोभाकुलता नामका दोष है।

३१—कर्तव्य या अकर्तव्यके विषयमें विवेक न रखना मूढता नामका दोष है।

३२—कायोत्सर्ग करते समय हिंसादिक पापकर्मोंमें उत्साहका उत्कृष्ट हो जाना पापकर्मैकसर्गता नामका दोष है।

इस प्रकार कायोत्सर्गके ३२ दोषोंका स्वरूप बताकर अंतमें उपसंहार करते हुए शुद्ध-इन दोषोंसे रहित कायोत्सर्ग करनेका फल बताते हैं:—

योज्येति यत्नाद् द्वात्रिंशद्दोषमुक्ता तनूत्सृतिः ।
सा हि मुक्त्यङ्गसद्ध्यानशुद्ध्यै शुद्धैव संमता ॥ १२२ ॥

मुमुक्षु साधुओंको अप्रमत्त होकर उपर्युक्त बत्तीस दोष-अतीचार छोडकरके ही कायोत्सर्ग करना चाहिये। क्योंकि यद्यपि निःश्रेयस पदके प्राप्त होनेका प्रधान कारण समीचीन ध्यान-धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान है। किंतु दोनों ही ध्यानोंमें शुद्धि-निर्मलता शुद्ध-निरतीचार कायोत्सर्गके करनेसेही प्राप्त होसकती है। ऐसा ही आचार्योंका अभिप्राय है। जैसा कि कहा भी है:—

सदोषा न फलं दत्ते निर्दोषायास्तनूत्सृते. ।
किं कूटं कुरुते कार्यं स्वर्णं सत्यस्य जातुचित् ॥

अर्थात्—निर्दोष कायोत्सर्गका फल सदोष कायोत्सर्गसे नहीं मिल सकता। क्या सच्चे सुवर्णका काम कृत्रिम सुवर्ण दे सकता है? कभी नहीं दे सकता। इस प्रकार कायोत्सर्गका फल समीचीन ध्यानकी निर्मलता या

परम्परासे मोक्षकी प्राप्ति है, सो यह फल निर्दोप कायोत्सर्गसे ही मिल सकता है सदोपसे नहीं ।

ध्यानके उत्थितोत्थितादिक चार भेद है । उनमें दोका फल इष्ट और दोका अनिष्ट है । इसी बातको बताते हैः—

सा च द्वयीष्टा सद्ध्यानादुत्थितस्योत्थितोत्थिता ।
उपविष्टोत्थिता चोपाविष्टस्यान्यान्यथा द्वयी ॥ १२३ ॥

कायोत्सर्ग दो प्रकारका है, एक इष्ट दूसरा अनिष्ट। इष्ट कायोत्सर्गमें धर्म्य और शुक्ल ध्यान किया जाता है। इन समीचीन ध्यानोंके आश्रयसेही उसको इष्ट अथवा इष्ट फलका देनेवाला माना गया है। इष्ट कायोत्सर्ग दो प्रकारका है, एक उत्थितोत्थित दूसरा उपविष्टोत्थित। खडे होकर कायोत्सर्ग करने वाले—खडे आसनसे कायोत्सर्ग करते समय धर्म्य या शुक्लध्यान करने वालेके उत्थितोत्थित नामका कायोत्सर्ग कहा जाता है। क्योंकि वह मुमुक्षु अंतरंग और बहिरंग दोनों ही तरहसे खडा हुआ ही समझा जाता है। जो बैठकर कायोत्सर्ग करने वाले है उनके वह कायोत्सर्ग उपविष्टोत्थित नामका कहा जाता है। क्योंकि वह द्रव्यसे बैठा हुआ है, परन्तु अंतरंगसे—वस्तुतः खडा हुआ है। इन दोनोंही समीचीन कायोत्सर्गोंसे सद्ध्यानकी विशुद्धि और निःश्रेयस पदकी सिद्धि हुआ करती है. अतएव इनको ही अभीष्ट फलका देने वाला समझकर आचार्योंने इष्ट माना है।

इनके विरुद्ध दो प्रकारका कायोत्सर्ग अनिष्ट माना है, क्योंकि उनका फल अनिष्ट—संसारकी वृद्धि करने वाला है। इस अनिष्ट कायोत्सर्गके दो भेद इस प्रकार है।—एक तो उपविष्टोपविष्ट दूसरा उत्थितोपविष्ट। जो बैठकर आर्त अथवा रौद्र ध्यान करता है उसके कायोत्सर्गको उपविष्टोपविष्ट कहते है। क्योंकि वह द्रव्य और भाव दोनों ही तरफसे बैठा हुआ है। जो खडे होकर आर्त या रौद्र ध्यान करता है उसके कायोत्सर्गको उत्थितोपविष्ट कहते है। क्योंकि वह द्रव्यसे खडा हुआ है परन्तु भावोंसे बैठा हुआ है

इन इष्ट—अनिष्ट चार प्रकारके कायोत्सर्गोंका स्वरूप आगममें भी इसी प्रकार कहा है। यथाः—

त्यागो देहममत्वस्य तनूत्सृतिरुदाहृता ।
उपविष्टोपविष्टादिविभेदेन चतुर्विधा ॥
आर्तरौद्रद्वय यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते ।
उपविष्टोपविष्टाख्या कथ्यते सा तनूत्सृतिः ॥
धर्म्यशुक्लद्वय यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते ।
उपविष्टोत्थिता सन्तस्ता वदन्ति तनूत्सृतिम् ॥
आर्तरौद्रद्वय यस्यामुत्थितेन विधीयते ।
तामुत्थितोपविष्टाख्या निगदन्ति महाधिय ॥
धर्म्यशुक्लद्वय यस्यामुत्थितेन विधीयते ।
उत्थितोत्थितनामान ता भाषन्ते विपश्चित. ॥

अर्थात—शरीरसे ममत्वके छोडदेनेको कायोत्सर्ग कहते है। इसके उपविष्टोपविष्ट आदि चार भेद हैं। बैठकर आर्त रौद्रका चिन्तवन करना उपविष्टोपविष्ट कायोत्सर्ग समझना। बैठकर धर्म्य शुक्लका चिन्तवन करना उपविष्टोत्थित कायोत्सर्ग है। खडे होकर आर्त रौद्रका चिन्तवन करना उत्थितोपविष्ट कायोत्सर्ग है। और खडे होकर धर्म्य शुक्लका चिन्तवन करना उत्थितोत्थित नामका कायोत्सर्ग बताया है।

शरीरसे ममत्वका त्याग विना किये अनशन आदि व्रतोंके करनेपर भी कोई भी मुमुक्षु अपनी आत्माकी इष्ट सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। इसी बातको स्पष्ट करते हैं:—

जीवद्देहममत्वस्य जीवत्याशाप्यनाशुषः ।
जीवदाशस्य सद्ध्यानवैधुर्यात्तत्पदं कुतः ॥ १२४ ॥

जिस प्राणीके अंतरङ्गमें शरीरके प्रति ममत्वभाव जागृत है वह कैसा भी अनशनादि व्रत करै परन्तु उसके भोगोपभोगके विषयोंको प्राप्त करनेकी इच्छा भी अवश्य जीवित रहा करती है. और जिसके इस लोक सम्बन्धी

विषयोंकी आशा लगी हुई है वह धर्मध्यान शुक्लध्यान अथवा समाधिको किस तरह सिद्ध कर सकता है। और समीचीन ध्यानके सिद्ध हुए विना आत्मपद—मोक्षका लाभ किस तरह हो सकता है।

भावार्थ—समीचीन ध्यानके सिवाय कोई भी ऐसा आचरण नहीं है कि जिससे कर्मोंकी निःशेष निर्जरा हो-कर शुद्धात्मपद प्राप्त हो सके। और इस ध्यानकी सिद्धिके लिये आशाका त्याग और आशाका परित्याग करनेके लिये शरीरसे ममत्व छोडना अत्यंत आवश्यक है। अतएव इष्ट पदको प्राप्त करनेके लिये अनशनादिक व्रताचरण करनेवालोंको शरीरसे ममत्वका त्याग करना ही चाहिये।

कायोत्सर्गका काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट एक वर्षका बताया है। सो अतीचारों—मलदोषोंको दूर करनेके लिये और षडावश्यक क्रियाओंको सिद्ध करनेके लिये—उन क्रियाओंके पालन करनेमें दृढता-निष्ठा प्राप्त करनेके लिये उतने कालतक कायोत्सर्ग करना ही चाहिये। परन्तु यदि उतने कालप्रमाणसे अधिक समयतक भी अपनी शक्तिके अनुसार किया जाय तो वह दोषका कारण नहीं है। प्रत्युत उससे लाभ ही है। इसी बातको कहते हैं:—

हत्वापि दोषं कृत्वापि कृत्यं तिष्ठेत् तनूत्सृतौ।
कर्मनिर्जरणाद्यर्थं तपोवृद्ध्यै च शक्तितः॥ १२५॥

जितनी देर तक कायोत्सर्ग करके दोषोच्छेदन किया जा सकता है उतनी देरतक कायोत्सर्ग करनेके उपरांत, अथवा षडावश्यक क्रियाओंके करनेमें जितना कायोत्सर्ग करना चाहिये उतने कालतक कायोत्सर्ग करके संचित कर्मोंकी निर्जरा और नवीन कर्मोंका संवरण करनेके लिये अथवा तपको बढानेकेलिये शक्तिके अनुसार और भी खडे रहना चाहिये।

भावार्थ—नियत समय तक तो कायोत्सर्ग करना ही चाहिये। क्योंकि उससे दोषोंका परिहार और संवर निर्जराके कारणभूत कर्मकी सिद्धि होती है। परन्तु नियत कालके अनंतर शक्तिको बढानेके लिये अधिक भी खडा रहे—कायोत्सर्ग करे तो इस में कोई दोष नहीं है। बल्कि ऐसा करनेसे तपस्या और उसकी शक्ति बढती है, यह लाभ ही है।

मन वचन कायसे शुद्ध—पवित्र क्रिया कर्म करनेका अधिकारी कैसा होना चाहिये सो बताते हैं:—

यत्र स्वान्तमुपास्य रूपरसिकं पूतं च योगक्षमना,—
यप्रत्युक्तगुरुक्रमं वपुरनुज्येष्ठोद्घपाठं वच : ।
तत् कर्तुं कृतिकर्म सज्जतु जिनोपास्त्योत्सुकस्तात्त्विक:
कर्मज्ञानसमुच्चयव्यवसित: सर्वंसहो निस्पृह: ॥ १२६ ॥

जिस कृतिकर्मके करते समय भव्य जीवोंका मन सिद्ध परमेष्ठी प्रभृति आराध्य देवोंके स्वरूपकी उपासना करनेमें सातिशय अनुरागको प्राप्त हो जाता है, और अत्यंत विशुद्ध परिणामोंको धारण करके पवित्र बन जाता है। इसी प्रकार जिस कृतिकर्मके समय मुमुक्षुओंका शरीर अत्यंत पवित्र तथा योग्य आसनादिके करनेसे गुरु क्रमका उल्लघन न करनेमें सावधान रहा करता है। अर्थात् दीक्षाकी अपेक्षा जो बडे हैं उनके समक्ष क्रिया करनेकी परिपाटीको यहां गुरुक्रम समझना चाहिये। उचित आसनादिका प्रयोग करनेके कारण शरीरके द्वारा जहांपर गुरुक्रमका भंग नहीं किया गया है। एव जिस कर्मके करनेमें वचन, बडोंके बताये क्रमके अनुसार प्रशस्त उच्चारण से युक्त और वर्ण पद आदिसे शुद्ध रहा करते हैं। फलतः जिस कृतिकर्मके करनेमें उसके करनेवालोंके मन शरीर और वचन तीनों ही शुद्ध—पवित्र बन जाते हैं, उस कर्मको करनवाला कैसा होना चाहिये ? इसी बातका उत्तर पांच विशेषणोंके द्वारा यहांपर देते हैं:—

१ अरिहंत भगवानकी उपासना द्वारा कृति कर्म करने में जिसकी उत्कण्ठा बढरही है।

२ जो पारमार्थिक हो। वचना आदिका भाव न रखकर सचमुचमें क्रिया कर्म करके संवर और निर्जराको प्राप्त कर आत्मकल्याणका अभिलाषी हो।

३—आगममें बताई हुई क्रियाओंके करने और निज स्वरूप के ज्ञानका संग्रह करनेमें जो उत्साहके साथ प्रवृत्ति करता हो

४—परीषह और उपसर्गोंके सहन करने-जीतनेमें समर्थ हो।

५—ऐहिक विषय भोगोपभोगकी अभिलाषा तथा शरीरादिककी ममतासे रहित हो।

भावार्थ—इन पांच गुणोंसे युक्त जीव ही त्रियोगशुद्ध कर्म करनेका अधिकारी हो सकता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

> सव्याधेरिव कल्पत्वे विदृष्टेरिव लोचने।
> जायते यस्य संतोषो जिनवक्त्रविलोकने॥
> परीषहसहः शान्तो जिनसूत्रविशारदः।
> सम्यग्दृष्टिरनाविष्टो गुरुभक्तः प्रियंवदः॥
> आवश्यकमिदं धीरः सर्वकर्मनिषूदनम्।
> सम्यक् कर्तुमसौ योग्यो नापरस्यास्ति योग्यता॥

जिस प्रकार बीमार आदमीको नीरोगता प्राप्त होजानेपर, और अंधे मनुष्यको नेत्रोंका लाभ होजानेपर हर्ष-संतोष प्राप्त हुआ करता है; उसी प्रकार जिन भगवानके मुख कमलको देखते ही जिसको प्रसन्नता हो आती है। जो परीषहोंके जीतनेमें समर्थ है, और जिसके क्रोधादिक कषायोंका उद्रेक नहीं पाया जाता, जो जिन भगवानके उपदिष्ट तत्त्वोंका स्वरूप समझनेमें कुशल है, जो सम्यग्दर्शनसे युक्त, आवेश रहित, गुरुजनोंका भक्त, और प्रियवचन बोलनेवाला है, वही धीर वीर सम्पूर्ण कर्मोंको नष्ट करनेवाले इस आवश्यक कर्मके करनेका अधिकारी हो सकता है। और किसीमें इसकी योग्यता नहीं रह सकती।

पहले "क्रमवत्" ये विशेषण जो दिया है उसका तात्पर्य मदज्ञानियोंको भी भले प्रकार हो जाय इसलिये उसका अभिप्राय स्पष्ट करते हैं:—

> प्रेप्सुः सिद्धिपथं समाधिमुपनिश्यात्रेघ पूज्यं क्रिया,—
> मानम्यादिलयभ्रमत्रयशिरोनामं पठित्वा स्थितः।

साम्यं त्यक्ततनुर्जिनान् समदृशः स्मृत्वावनम्य स्तवं,
युक्त्वा साम्यवदुक्तभक्तिरुपविश्यालोचयेत सर्वतः ॥ १२७ ॥

निज आत्मस्वरूपकी प्राप्तिकी उपायभूत समाधि—रत्नत्रयकी एकाग्रताको जो प्राप्त करना चाहते है उन संयमियों अथवा एक देश सयमियोंको बैठकर नमस्कार करके कर्तव्य कर्मका पूज्य गुरुओंसे आवेदन करना चाहिये। अर्थात् प्रणाम पूर्वक और अत्यंत विनयके साथ " चैत्यभक्ति कायोत्सर्गं करोमि " इत्यादि पाठ बोलकर क्रिया कर्मकी विज्ञापना करनी चाहिये। फिर खडे होकर आदि और अतमें तीन २ आवर्त और एक एक शिरोनतिके साथ २ सामायिक दण्डकका पाठ बोलकर कायोत्सर्गके लिये खडे होना चाहिये। अर्थात् शरीरसे ममता छोडकर कायोत्सर्ग करना चाहिये। इसके बाद समदृष्टी—जीवन मरण हानि लाभ यश अपयश और शत्रुमित्रमें समभाव रखनेवाले—रागद्वेष न करनेवाले जिन—पूर्ण रूपसे अथवा एकदेश रूपसे कर्म शत्रुओंको जीतने वाले अर्हदादि पांचो ही परमेष्ठीका चिन्तवन करके और नमस्कार करके सामायिककी ही तरह अर्थात् आदि और अंतमें तीन २ आवर्त और एक २ शिरोनतिके साथ " थोस्सामि " इत्यादि स्तव दण्डक बोलकर वन्दना कल्पका पाठ करके सभी अशोंकी आलोचना करनी चाहिये।

भलेप्रकार षडावश्यकोंका पालन करनेवाले के चिन्होंको बताते हैं:—

शृण्वन् हृष्यति तत्कथां घनरवं केकीव मूकैरहता,
तद्गर्हेऽङ्क्षति तत्र यस्यति रसे वादीव नास्कन्दति।
क्रोधादीन् जिनवच्च वैद्यपतिवद् व्यत्येति कालक्रमं,
नित्यं जातु कुलीनवन्न कुरुते कर्ता षडावश्यकम् ॥ १२८ ॥

जिस प्रकार मयूर मेघके शब्दोंको सुनकर प्रसन्न हुआ करता है उसी प्रकार षडावश्यकोंका अच्छी तरह

पालन करनेवाला साधु उसकी कथा—षडावश्यक की प्रशंसा या निन्दा सुनकर हर्षको प्राप्त हुआ करता है। उनकी निन्दाके विषयमें गूंगा और बहिरा बन जाया करता है। न तो स्वयं ही आवश्यकोंकी निन्दा करता है और न दूसरोंकी की हुई निन्दाको सुनता ही है। आवश्यकोंका पालन करनेमें इस प्रकार सदा अप्रमत्त प्रवृत्ति किया करता है जैसे कि कोई धातुवादी—रसायन सिद्ध करने वाला पारद आदि रसके सिद्ध करनेमें निरन्तर सावधान रहा करता है। जिस प्रकार क्षीण कषाय ऋषि कषायका सम्पर्क नहीं होने देता उसी प्रकार षडावश्यक पालन करने वाला भी क्रोधादिकका प्रवेश नहीं होने देता। तथा वैद्यराजकी तरह काल और क्रमका कभी व्यतिक्रम नहीं होने देता। जिस प्रकार वैद्यके लिये कहा गया है कि:—

> प्रावृट् शुक्रनभोतेषु शरद्‌जमहौ स्मृतौ ।
> तपस्यो मधुमासश्च वसन्त शोधन प्रति ॥
> स्वस्थवृत्तमभिप्रेत्य व्याधौ व्याधिवशेन तु ।
> कृत्वा शीतोष्णवृष्टीना प्रतीकार यथायथम् ॥
> प्रयोजयेत् क्रिया प्राप्तां क्रियाकाल न हापयेत् ।

अर्थात्—प्रावट्-वर्षा आदि जिसर ऋतुमें जिस २ प्रकारकी चिकित्सा करना उचित है उस समयमें उसी प्रकार इलाज करना चाहिये। वैद्योंको चिकित्साका काल छोडना या भूलना उचित नहीं है। उसी प्रकार क्रमके लिये भी कहा गया है कि:—

> प्राक्पाचनं स्नेहविधिस्ततश्च स्वेदस्ततः स्याद्वमन विरेक ।
> निरूहण स्नेहनवस्तिकर्म नस्य क्रमश्चेति भिषग्वराणाम् ॥ इति ।

अर्थात सबसे पहले पाचन उसके बाद क्रमसे स्नेहविधि स्वेद वमन विरेक निरूहणवास्तिकर्म स्नेहनवस्तिकर्म और नस्यका प्रयोग करना चाहिये। इसी तरह जो षडावश्यकोंका पालन करनेवाला है वह भी उनके काल और क्रमको चूकता नहीं है। जो आवश्यक जिस समय और जिस क्रमसे करना चाहिये उसको उसी समय और उसी क्रमसे किया करता है। तथा जिस तरह कोई महान् वंशमें उत्पन्न होनेवाला कुलीन पुरुष कभी

भी ऐसा कोई काम नहीं किया करता जो कि उसके कुलके विरुद्ध हो; उसी तरह षडावश्यक पालन करनेवाला साधु भी कभी ऐसा कोई निन्द्य आचरण नहीं किया करता जो कि लोक विरुद्ध कुलविरुद्ध और समयविरुद्ध अर्थात् शास्त्र या आगम अथवा गुरुपरम्पराके विरुद्ध हो ।

यहांपर जातु—कदाचित् शब्द अन्त्यदीपक है, अतएव यद्यपि उसका प्रयोग अन्तिम वाक्यके साथ ही किया गया है तो भी उसका सम्बन्ध यथासम्भव सभी वाक्योंके साथ करलेना चाहिये ।

इसी विषयमें और जगह भी ऐसा कहागया है कि: —

तत्कथाश्रवणानन्दो निन्दाश्रवणवर्जनम् ।
अलुब्धत्वमनालस्य निन्द्यकर्मव्यपोहनम् ॥
कालक्रमाऽव्युदासित्वमुपशान्तत्वमार्जवम्
विज्ञेयानीति चिह्नानि षडावश्यककारिण' ॥

अर्थात्—षडावश्यकोंकी प्रशंसा सुनकर आनंदित होना, और उसकी निन्दाको न सुनना, तथा अलुब्धता, अनालस्य, और निन्द्य आचरणोंका परित्याग, काल तथा क्रमको छोडना नहीं, और उपशान्तता, तथा आर्जव भावोंको धारण करना, ये षडावश्यक पालन करनेवालेके चिन्ह समझने चाहिये ।

पूर्वोक्त षडावश्यकोंका पूर्णतया अच्छी तरह पालन करनेवाले पुरुषको निःश्रेयस पदकी और अपूर्णतया पालन करनेवालेको स्वर्गादिक अभ्युदयोंकी प्राप्ति हुआ करती है । ऐसा कहकर षडावश्यकके पालन करनेका फल बताते हैं:—

समाहितमना मौनी विधायावश्यकानि ना ।
संपूर्णानि शिवं याति सावशेषाणि वै दिवम् ॥ १२९ ॥

प्रकृत विषयके सिवाय अन्य किसी भी विषयमें वार्तालाप न करनेवाला द्रव्य पुरुष एकाग्र चित्त होकर सामायिकादि छहों आवश्यकोंका पूर्णरूपसे यदि भलेप्रकार पालन करता है तो वह नियमसे मोक्षपदको प्राप्त किया करता है । और जो कुछ कमती पालन करता है वह नियम से स्वर्गति— कल्पवासियोंमें महर्द्धिक पदको प्राप्त

किया करता है। यह फल अशक्ति की अपेक्षासे ही बताया है। क्योंकि वृद्ध पुरुषोंका वचन है कि:—

ज सक्कइ त कीरइ ज च ण सक्केइ त च सद्दहण।
सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाण।

जिस विषय के पालन करने की सामर्थ्य है उस विषय का पालन करना ही चाहिये। परन्तु जिसके पालन करने की शक्ति नहीं है उसका श्रद्धान रखना चाहिये। क्योंकि श्रद्धानी जीव ही अजर अमर पदको प्राप्त किया करते हैं।

यहांपर वै शब्दके द्वारा जो नियम बताया है उससे इस कथनका तात्पर्य समझना चाहिये कि:—

सर्वैरावश्यकैर्युक्त सिद्धो भवति निश्चितम्।
सावशेषैस्तु सयुक्तो नियमात्स्वर्गगो भवेत्॥

अर्थात्—सम्पूर्ण आवश्यकोंका पालन करने वाला नियमसे सिद्ध पदको और अपरिपूर्णका पालन करने वाला नियमसे स्वर्गतिको प्राप्त किया करता है।

उक्त षडावश्यक क्रियाओंकी तरह साधुओंको दूसरी सामान्य क्रियाओंका भी नित्य पालन करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं:—

आवश्यकानि षट् पञ्च परमेष्ठिनमस्क्रियाः।
निसही चाऽसही साधोः क्रियाः कृत्यास्त्रयोदश॥ १३०॥

छह आवश्यक क्रियाएं, और अर्हदादिक पच परमेष्ठियोंको नमस्कार करनेकी पांच क्रियाएं, तथा एक निसही और एक असही, इस तरह कुल तेरह क्रियाएं है कि जिनका साधुओंको प्रतिदिन अवश्य पालन करना ही चाहिये।

अर्हदादि परमेष्ठियोंको भावोंसे पंचनमस्कार करनेवाला क्या फल प्राप्त करता है सो बताते हैं:—

योर्हत्सिद्धाचार्याध्यापकसाधून् नमस्करोत्यर्थात ।
प्रयतमतिः खलु सोखिलदुःखविमोक्षं प्रयात्यचिरात ॥ १३१ ॥

जो जीव अर्हंत परमेष्ठी–सकल परमात्मा और सिद्धपरमेष्ठी–विकलपरमात्माको तथा आचार्य उपाध्याय और ढाईद्वीपवर्ती सम्पूर्ण साधुओंको भावोंसे नमस्कार करता है, और उसके लिये ही प्रयत्न करनेका चित्तमें विचार किया करता है वह जीव संसारके चतुर्गति सम्बन्धी सम्पूर्ण दुःखोंसे थोडे ही कालमें नियमसे छूट जाया करता है।

भावार्थ—पंचपरमेष्ठियोंकी भावसे वंदना करनेवाला और उसके लिये प्रयत्नशील रहनेवाला मनुष्य अल्पकालमें ही शास्वतिक निर्दुःख पद–परम निःश्रेयसको प्राप्त कर सकता है।

निसही और असही इन दोनों क्रियाओं का प्रयोग कब क्यों और किसतरह करना चाहिये सो बताते हैं—

वसत्यादौ विशेत तत्स्थं भूतादिं निसहीगिरा ।
आपृच्छ्य तस्मान्निर्गच्छेत्तं चापृच्छ्याऽसहीगिरा ॥ १३२ ॥

साधुओंको जब मठ चैत्यालय या वसतिका आदिमें प्रवेश करना हो तब उन मठादिकों में रहने वाले भूत यक्ष नाग आदिकोंसे " निसही " इस शब्दको बोलकर पूछकर प्रवेश करना चाहिये। इसीतरह जब वहांसे निकलना हो तब " असही " इस शब्दके द्वारा उनसे पूछकर निकलना चाहिये। जैसाकि कहा भी है कि:—

वसत्यादिस्थभूतादिमापृच्छ्य निसहीगिरा ।
वसत्यादौ विशेत्तस्मान्निर्गच्छेत् सोऽसहीगिरा ॥

अर्थात्—वसतिका आदिमें रहने वाले भूतादिकोंमे " निसही " इस शब्दके द्वारा पूछकर साधुओंको वसतिका आदिमें प्रवेश करना चाहिये। और असही इस शब्दके द्वारा पूछकर वहांसे बाहर निकलना चाहिये।

निसही और असही शब्दका निश्चयनयकी अपेक्षा अर्थ बताते हैं:—

आत्मन्यात्मासितो येन त्यक्ता वाऽऽशास्य भावत : ।
निसह्यसह्यौ स्तोन्यस्य तदुच्चारणमात्रकम् ॥ १३३ ॥

जिस साधुने अपनी आत्माको अपनी आत्मामें ही स्थापित कर रक्खा है अर्थात् रोक रक्खा है उसके निश्चय नयसे निसही समझना चाहिये। और जिसने इस लोक परलोक आदि सम्पूर्ण विषयोंकी आशा का परित्याग कर दिया है उसके निश्चय नयसे असही समझना चाहिये। किंतु इसके प्रतिकूल जो बहिरात्मा हैं अथवा आशावान् हैं उनके ये निसही और असही केवल शब्दोच्चारण मात्र ही समझना चाहिये।

भावार्थ—निसही और असही निश्चय नयसे जो अन्तरात्मा तथा परिग्रहरहित निर्ग्रंथ साधु हैं उन्हींके समझना चाहिये। और जो वैसे नहीं हैं उनके केवल निसही असही शब्दका उच्चारणमात्र ही कहा जा सकता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

स्वात्मन्यात्मासितो येन निषिद्धो वा कषायत: ।
निसही भावतस्तस्य शब्दोन्यस्य हि केवल ॥

अर्थात्-जिसने अपनी आत्माको अपनी आत्मामें ही स्थापित—उपयुक्त कर रक्खा है, अथवा कषाय परिणामोंसे रोक रक्खा है उसीके निश्चयसे निसही समझना चाहिये। जो ऐसा नहीं है उसके निसही शब्द उच्चारण मात्र ही रहा करता है।

इसी तरह:—

आशा यस्त्यक्तवान् साधुरसही तस्य भावत: ।
त्यक्ताशा येन नो तस्य शब्दोच्चारो हि केवल ॥

अर्थात्-जिस साधुने आशाको छोड दिया है भावत: असही उसीके कही जा सकती है। और जिसने आशाको छोडा नहीं है उसके केवल उसका उच्चारण ही कहना चाहिये।

और भी कहा है कि:—

निषिद्धचित्तो यस्तस्य भावतोस्ति निषिद्धिका।
अनिषिद्धस्य तु प्रायः शब्दतोस्ति निषिद्धिका॥
आशया विप्रमुक्तस्य भावतोन्यासिका मता।
आशया त्ववियुक्तस्य शब्द एवास्ति केवलम्॥

अर्थात्—जिसने अपने चित्तको विषयोंमें उपरत बना रक्खा है भावतः निषिद्धिका–निसही उसी के रहा करती है। और जिसका चित्त संयत नहीं है उसके निषिद्धिका शब्द मात्र ही रहती है। इसी तरह जो आशासे रहित है उसके भावसे और जो उससे युक्त है उसके शब्द मात्रही आसिका–असही रहा करती है।

अब अंतमें प्रकृत विषयका उपसंहार करते हुए नित्यनैमित्तिक क्रियाकर्मका पालन करनेके लिये साधुओं को प्रेरित करते हैं:—

इत्यावश्यकनिर्युक्तावुपयुक्तो यथाश्रुतम्।
प्रयुञ्जीत नियोगेन नित्यनैमित्तिकक्रियाः॥ १३४॥

पूर्वमें आवश्यकोंके पालन करनेकी जो रीति नीति बताई गई है तदनुसार आवश्यकोंके सम्पूर्ण उपायोंमें दत्तचित्त होकर कृतिकर्मकी विधि बतानेवाले शास्त्रोंके अनुसार तथा गुरुपरम्परासे जो उपदेश चला आरहा है उसके अनुसार साधुओंको नित्य नैमित्तिक क्रियाओंका पालन अवश्य ही करना चाहिये।

मोक्ष कल्याणमें अपनी बुद्धिको लगाकर जिसने श्री जिनेन्द्र भगवान्‌के उपदिष्ट आगमरूपी क्षीर समुद्रका मंथन करके सुमना—विद्वानों [पक्षमें देवताओं] की तृप्तिके लिये इस धर्मरूपी अमृतको उद्धृत किया है वह महा पंडित श्री आशाधर जयवंता रहो तथा वह प्रसिद्ध भव्यात्मा हरदेव भी सदा आनंदको प्राप्त हो कि जिसके उपयोगके लिये इस टीकारूपी शुक्तिकी सुखपूर्वक रचना हुई है।

इस प्रकार आवश्यकनिर्युक्त नामका आठवां अध्याय समाप्त हुआ।

अथ नवमोऽध्यायः ।

साधुओंको नित्यकर्मकी विधिका पालन करने में उद्यमी बनानेके लिये चवालीस पद्योंमें वर्णन करते हैं:-

शुद्धस्वात्मोपलम्भाग्रसाधनाय समाधये ।
परिकर्म मुनिः कुर्यात् स्वाध्यायादिकमन्वहम् ॥ १ ॥

निज आत्मस्वरूपमें सब तरफसे चित्तका हटकर लगजाना इसको योग अथवा समाधि कहते हैं। इस योगकी सिद्धिके पहले उसकी योग्यता उत्पन्न करनेकेलिये जो क्रियाए पाली जाती है उनको परिकर्म कहते है। इसके भेदोंको आगे चलकर लिखेंगे। साधुओंको परिकर्म के स्वाध्यादिक भेदोंका प्रतिदिन पालन करना चाहिये। क्योंकि इनका पालन करनेसे ही समाधिकी सिद्धि हो सकती है। और उस समाधिके द्वारा ही निज शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो सकती है। क्योंकि निर्मल चित्स्वरूप का लाभ होनेमें प्रधान कारण चित्तकी एकाग्रतारूप ध्यान ही है। जैसा कि कहा भी है कि:—

यदात्रिक फल किंचित् फलमामुत्रिक च यत् ।
एतस्य द्वितयस्यापि ध्यानमेवाग्रकारणम् ॥

अर्थात् जीवोंको संसारमें जो आभ्युदयिक फल प्राप्त हुआ करते हैं, अथवा पारलौकिक निर्विकल्प आत्म समुत्थ सुखादिका लाभ हुआ करता है, उन दोनों ही लाभोंका प्रधान कारण ध्यान ही माना है।

परिकर्मके प्रथम भेद स्वाध्यायके प्रारम्भ करने और समाप्त करनेकी विधि बताते हैं:-

स्वाध्यायं लघुभक्त्यात्तं श्रुतसूर्योरहर्निशे ।
पूर्वेऽपरेपि चाराध्य श्रुतस्यैव क्षमापयेत् ॥ २ ॥

स्वाध्यायका प्रारम्भ दिन और रात्रिके पूर्वाह्न तथा अपराह्न के समय लघु श्रुतभक्ति और लघु आचार्य भक्तिका पाठ करके करना चाहिये। इस तरह विधिपूर्वक उसको नियत समयतक करके अतमें लघु श्रुतभक्तिका पाठ करके उसकी समाप्ति करनी चाहिये।

भावार्थ—स्वाध्यायके समय ४ माने है; जिनमें दो दिनके और दो रात्रिके है. उनके नाम इस प्रकार हैं गोसर्गिक आपराह्णिक प्रादोपिक वैरात्रिक। इन चारों ही समयों में साधुओंको आलस्य छोडकर स्वाध्याय करना उचित है। जैसा कि कहा भी है कि:—

एक प्रादोषिको रात्रौ द्वौ च गोसर्गिकस्तथा।
स्वाध्यायाः साधुभिः सर्वे कर्तव्याः सन्त्यतन्द्रितैः ॥

स्वाध्यायका प्रारम्भ करते समय "अर्हद्वक्त्रप्रसूतम्" इत्यादि लघु श्रुतभक्तिका पाठ—अञ्चलिकामात्र बोलकर और व्यवहारके अनुसार आचार्यादिकोंकी भी भक्ति करके नियत समयमें स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये। आगममें स्वाध्यायके विषयमें बारह कायोत्सर्ग बताये हैं जिनका कि पहले वर्णन करचुके हैं। वन्दना आदिके विषयमें छह आदि कायोत्सर्ग हुआ करते है जिनका कि उल्लेख आगे चलकर तत्तत्प्रकरणमें किया जायगा।

उपर्युक्त स्वाध्यायोंके प्रारम्भ और समाप्तिके कालकी इयत्ता—प्रमाण बताते हैः—

ग्राह्यः प्रगे द्विघटिकादूर्ध्वं स प्राक्ततश्च मध्याह्ने।
क्षम्योऽपराह्णपूर्वापररात्रेष्वपि दिग्गेषैव ॥ २ ॥

प्रातःकालका स्वाध्याय सूर्योदयसे दो घडी दिन चढजानेपर शुरू करना चाहिये और मध्यान्हमें दो घडी काल बाकी रहे तभी समाप्त कर देना चाहिये। इसी तरह अपराह्ण स्वाध्यायका प्रारम्भ साधुओंको मध्यान्हसे दो घडी काल बीत जानेपर शुरू करना चाहिये और सूर्यास्तके समयमे दो घडी पहले ही समाप्त कर देना चाहिये। पूर्वरात्रिक और अपर रात्रिक स्वाध्यायके विषयमें भी यही क्रम समझना चाहिये। अर्थात् पूर्वरात्रिक स्वाध्यायका

प्रारम्भ साधुओंको सूर्यास्त से दो घडीके अनंतर करना चाहिये और मध्य रात्रिके दो घडी पहले समाप्त कर देना चाहिये. तथा अपररात्रिक स्वाध्यायका प्रारम्भ अर्धरात्रिके दो घडी पीछे करना चाहिये और प्रातः कालसे दो घडी पहले समाप्त करना चाहिये।

स्वाध्यायका लक्षण और उसके विधिपूर्वक पालन करने का फल बताते हैं:—

सूत्रं गणधराद्युक्तं श्रुतं तद्वाचनादयः ।
स्वाध्यायः स कृतः काले मुक्त्यै द्रव्यादिशुद्धितः ॥ ४ ॥

गणधर आदिके प्ररूपित शास्त्रोंको सूत्र कहते हैं। इन सूत्रोंके वाचना पृच्छना अनुपेक्षा आम्नाय और धर्मोपदेश को स्वाध्याय कहते हैं। यह स्वाध्याय योग्य समयमें और द्रव्यादिककी शुद्धिपूर्वक करनेसे कर्मोंका क्षय होता और मुक्तिकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—गणधर, प्रत्येक बुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्न दशपूर्वका ज्ञान रखनेवाले आचार्यों द्वारा उपदिष्ट ग्रंथोंको सूत्र कहते है। यथा —

सुत्त गणहरकहिद तहेव पत्तेयबुद्धकहिय च ।
सुदकेवलिणा कहिद अभिण्णदसपुव्विकहिद च ॥
त पढिदुमसज्झाए ण य कप्पदि विरदि इत्थिवग्गस्स ।
एत्तो अण्णो गथो कप्पदि पढिदु असज्झाए ॥
आराघणणिज्जुत्ती मरणविभत्ती असग्गहथुदीवो ।
पच्चक्खाणावासय धम्मकहाओ य एरिसओ ॥

अर्थात्—गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और दशपूर्वके पाठी आचार्यों द्वारा कथित ग्रंथोंको सूत्र कहते है। उसका पाठ स्वाध्यायके नियतकालमें ही करना चाहिये। अयोग्य कालमें उसका पाठ करना उचित नहीं है। अस्वाध्याय कालमें सूत्रसे भिन्न ग्रथोंका पाठ किया जा सकता है।

यह स्वाध्यायवाचना आदिके भेदसे पांच प्रकारका बताया है। स्वाध्याय करने वालेको अपने शरीरकी तथा परशरीरकी शुद्धिका विचार करना उचित है। इसी प्रकार स्वाध्याय करनेवालेको भूमिशुद्धिका भी विचार करके चारों दिशाओंमें रुधिर मांसादिक चारसौ हाथकी दूरीपर ही छोडदेना चाहिये। तथा आगममें स्वाध्यायके लिये जो अयोग्य समय बताये हैं उनमें स्वाध्याय करना उचित नहीं है। यथा.—

दिसिदाहउक्कपडण विज्जुवउक्काऽसणिंदधणुग च ।
दुग्गधसझ दुद्दिण-चदगहा-सूरराहुजुद्ध च ॥
कलहादिधूमकेदू धरणीकप च अंभगज्ज च ।
इच्चेवमाइबहुगा सज्झाए वज्जिदा दोसा ॥

अर्थात्—अग्निदाह उल्कापात विजली उल्का वज्र इन्द्रधनुष् दुर्गंध सध्या दुर्दिन चन्द्रग्रहण सूर्यग्रहण युद्ध धूम्रकेतु भूकम्प मेघगर्जन इत्यादि बहुतसे भियप्रधानकी मृत्यु आदि दूषित समय स्वाध्यायके लिये वर्जित कहे हैं।

विनय पूर्वक श्रुतका अध्ययन करनेमें क्या माहात्म्य है सो बताते हैं:—

श्रुतं विनयतोऽधीतं प्रमादादपि विस्मृतम् ।
प्रेत्योपतिष्ठतेऽनूनमावहत्यपि केवलम् ॥ ५ ॥

विनय पूर्वक जिस श्रुतका अध्ययन किया गया है वह यदि कारण वश प्रमादके निमित्तसे विस्मृत भी हो जाय तो भी वह कालान्तरमें या दूसरे जन्ममें ज्योंका त्यों—अविकलरूपमें आकर उपस्थित होजाता है. और पूर्ण केवलज्ञानतक को उत्पन्न कर देता है।

भावार्थ—विनयपूर्वक शास्त्र पढनेका यह फल है कि यदि वह कदाचित् प्रमादके द्वारा याद न भी रहे फिर भी वह जन्मान्तर तकमें सबका सब स्मरणमें आसकता है। बल्कि उसके निमित्तसे क्रमसे केवल—असहाय ज्ञानतककी उत्पत्ति हो सकती है। जैसा कि कहा भी है कि:—

विणएण सुदमधीदं जदि वि पमादेण होइ विस्सरिदं ।
तमुवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि ॥

अर्थात्-विनयके साथ पढा हुआ श्रुत यदि प्रमादसे विस्मृत भी हो जाय तो भी वह परभवमें उपस्थित-स्मृत हो आता है और केवलज्ञानतकका लाभ कराता है।

जिस विशिष्ट ज्ञानसे तत्त्वज्ञान आदि मोक्षके साधन प्राप्त हुआ करते है वह जिनशासनमें ही मिल सकता है, अन्यत्र नहीं; ऐसा उपदेश करते हैः—

तत्त्वबोधमनोरोधश्रेयोरागात्मशुद्धयः ।
मैत्रीद्योतश्च येन स्युस्तज्ज्ञानं जिनशासने ॥ ६ ॥

" सर्वं वस्तुजातमनेकान्तात्मकम् " अर्थात् सम्पूर्ण वस्तुमात्र अनन्तधर्मात्मक हैं, उस सिद्धान्तको जिनशासन कहते है। और इसके विरुद्ध सर्वथा एकान्त रूप वस्तुको माननेवाले सर्वथैकान्त वादी कहे जाते है। सो तत्त्वज्ञानादि पाच या छह विषय ऐसे है जो कि इस जिनशासन में ही मिल सकते हैं, अन्यत्र-सर्वथैकान्तवादियोंके मतमें नहीं।

१ तत्त्वबोध—तत्त्व तीन प्रकारके माने गये है. हेय. २ उपादेय, ३ और उपेक्षणीय। इनमेंसे यथायोग्य अर्थात् हेयका हेयरूप से, उपादेयका उपादेयरूपसे और उपेक्षणीयका उपेक्षणीयरूपसे बोध-प्रतिपत्ति होना उसको तत्त्वबोध कहते हैं। यथाः—

इतीदं जीवतत्त्वं यः श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते ।
शेषतत्त्वं सम पश्चि स हि निर्वाणभाग् भवेत् ॥

अर्थात् जो भव्य अजीवादिक छह तत्त्वोंके साथ २ इस जीवतत्त्वका श्रद्धान करता है, ज्ञान प्राप्त करता है, और उपेक्षणीयमें उपेक्षा किया करता है वही जीव निर्वाणका भागी हो सकता है. सारांश यह कि सात तत्त्वोंमें हेय

उपादेय और उपेक्षणीय तत्त्वोंका स्वरूप समझकर उनमें उसी प्रकारका श्रद्धानादि होना तत्त्वबोधका वास्तविक स्वरूप है। तत्त्वबोधसे मोक्ष का भागी जीव बन सकता है। परन्तु इस प्रकारका तत्त्वबोध—जिनशासन–सर्वज्ञ वीतराग भगवानके मतमें ही मिल सकता है, अन्य मतोंमें नहीं।

२—मनोरोध-चित्तको विषयोंकी तरफसे हटाना, उसको परपदार्थोंकी या विषयोंकी तरफ जाने न देना मनोरोध कहा जाता है। " यद्यदेव मनसि स्थितं भवेत् तत्तदेव सहसा परित्यजेत् " अर्थात् मनमें जब कोई पदार्थ आकर उपस्थित हो तो उसको उसी समय छोड देना चाहिये। आत्म कल्याण या मोक्षमार्गके विरुद्ध कैसा भी विचार यदि मनमें उत्पन्न हो तो उसको एक क्षण भी ठहरने नहीं देना चाहिये। यही मनके निग्रह करनेका उपाय है। इसको भी मनोरोध कहते हैं। सो यह मनोरोध भी सिवाय जिनशासनके अन्यत्र नहीं मिल सकता।

३—श्रेयोराग-यहांपर श्रेयस् शब्दसे चारित्र और राग शब्दसे उसमें लीन होनेका कारण अनुरागरूप श्रद्धान समझना चाहिये। अर्थात् मोक्षके साक्षात् कारण चारित्रमें लीन करदेनेवाला अनुरागरूप श्रद्धान भी अनेकान्त मतमें ही प्राप्त हो सकता है, दूसरे मतोंमें नहीं।

४—आत्मशुद्धि-जिस विषयका " मैं " इस तरहसे अनुपचरित–वास्तविक मान होता है उसको आत्मा कहते है। इस आत्मामें परपदार्थके संयोगसे रागादिरूप अशुद्धि हुआ करती है। उस अशुद्धिका दूर होना ही आत्मशुद्धि कहाजाता है। यह भी जिनमतमें ही मिल सकती है। वास्तविक वीतरागता और आत्मशुद्धि अन्यमतके अनुसार नहीं बन सकती।

५—मैत्रीद्योत-किसी भी जीवको कभी भी किसी भी तरह से दुःखकी उत्पत्ति न हो ऐसी अभिलाषाको मैत्री कहते हैं। इसका माहात्म्य विद्वानोंके हृदयमें उत्पन्न करना मैत्री द्योत समझना जाहिये। अर्थात् वस्तुतः मैत्री भावना की प्रभावना भी जिनमतमें ही बन सकती है, अन्यत्र नहीं।

इस प्रकार ये पांच विषय हैं। च शब्द समुच्चय वाची है। अर्थात् ये पांचो ही समुदित अथवा इनमेंका प्रत्येक भी विषय जिनमतके सिवाय अन्यमतोंमें नहीं बन सकते। जैसा कि कहा भी है कि:—

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥
जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मित्तिं पभावेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥

अर्थात्—जिससे तत्त्वका विबोध प्राप्त होता है, जिससे चित्तका निरोध होता है, और जिससे आत्मा विशुद्ध हुआ करता है, वह ज्ञान जिनशासनमें ही मिल सकता है। जिसमें रागभाव दूर किये जा सकते हैं, और जिससे श्रेयोमार्गमें अनुरागकी उत्पत्ति होती है, तथा जिससे मैत्री भावनाकी प्रभावना हुआ करती है, वह ज्ञान जिनशासनमें ही मिल सकता है।

यहांपर सूत्रकारने जिन दो सूत्रोंके द्वारा दुर्लभ अर्थात् जिनमतके सिवाय अन्यत्र अलभ्य ज्ञानका माहात्म्य बताया है उनमें से पहले सूत्र के द्वारा सम्यक्त्वसहचारी और दुसरे सूत्र के द्वारा चारित्र सहचारी ज्ञानका वर्णन किया है, ऐसा समझना चाहिये।

इस प्रकार स्वाध्यायके माहात्म्यका वर्णन करके अब पश्चिम रात्रिके समय साधुओंको स्वाध्यायका पहले प्रतिष्ठापन-प्रारम्भ फिर निष्ठापन—समाप्ति, और उसके बाद प्रतिक्रमण तथा उसके बाद रात्रियोगका निष्ठापन ये क्रियाए क्रम से अवश्य करनी चाहिये, ऐसा उपदेश देते हैः—

क्लमं नियम्य क्षणयोगनिद्रया लातं निशीथे घटिकाद्वयाधिके।
स्वाध्यायमत्यस्य निशाद्विनाडिकाशेषे प्रतिक्रम्य च योगमुत्सृजेत् ॥ ७ ॥

शक्तिके अनुसार मनके विचारोंका शुद्ध चिद्रूपमें रोकना योग कहा जाता है। इस योगको निद्राके समान समझना चाहिये। क्योंकि निद्राका लक्षण लिखा है कि "इंद्रियात्ममनोमरुतां सूक्ष्मावस्था स्वापः"। अर्थात् इन्द्रिय आत्मा मन और प्राण इनका सूक्ष्म अवस्था विशेषको निद्रा कहते हैं। योगमें भी इन चारोंकी सूक्ष्म अवस्था हुआ करती है। अत एव योगियोंको जो निद्रा आती है उसको योग निद्रा समझना चाहिये।

इसका काल अत्यल्प माना गया है। क्योंकि साधुओंकी निद्राका काल ज्यादेसे ज्यादे चार घडीका ही माना है। अर्ध रात्रिसे दो घडी पहले और दो घडी पीछेका जो काल है वही निद्राका काल है, जो कि स्वाध्यायके योग्य नहीं माना है। इस अल्पकालीन निद्राको ही क्षणयोग निद्रा समझना चाहिये। इस क्षणयोगनिद्राके द्वारा ही साधुजन अनवरत—दिनमें और रात्रिमें किये गये ध्यानाध्ययनतपश्चरण आदिके द्वारा उत्पन्न हुए शरीरखेदको दूर किया करते हैं।

योगियोंको इस निद्राके द्वारा शरीर ग्लानि दूर करके अर्धरात्रिके अनन्तर दो घडी काल बीतजानेपर तीसरी घडीके प्रारम्भमें स्वाध्यायका प्रतिष्ठापन–प्रारम्भ करना चाहिये; और उसका निष्ठापन रात्रिमें जब दोघडी काल बाकी रहे तब करदेना चाहिये। इसके अनन्तर प्रतिक्रमण अर्थात् अपनेसे जो अपराध बनगयाहो उसका विधिपूर्वक संशोधन करना चाहिये। और उसके बाद योगका निष्ठापन करना चाहिये। अर्थात् रात्रिमें जिस शुद्धोपयोगको ग्रहण किया था उसका उत्सर्ग कर देना चाहिये।

इस विषयमें श्रीमान् गुणभद्र आचार्यने भी कहा है कि:—

यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्म,
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं,
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः॥

तथा इसी बातको श्रीमान् पूज्य रामसेनजीने भी कहा है कि:—

स्वध्यायाद् ध्यानमध्यास्ते ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यानस्वाध्यायसपत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

यही बात स्वयं हमने भी सिद्धचक्र महाकाव्यमें कही है। यथा:—

परमसमयसाराभ्यासानन्दसर्प—
त्सहजमहसि साय स्वे स्वय स्वं विदित्वा।

पुनरुदयदविद्यावैभवा प्राणचार-
स्फुरदरुणविजृम्भा योगिनो यं स्तुवन्ति ॥

परमागमका व्याख्यान करना पढना पढाना सुनना सुनाना उसका प्रचार करना ग्रंथरूप तयार करना कराना इत्यादि आगमकी तरफ उपयोग रखने वालेको जो फल प्राप्त हुआ करते है उनको दिखाते हुए उसके लोकोत्तर माहात्म्यका वर्णन करते हैः—

खेदसंज्वरसंमोहविक्षेपाः केन चेतस : ।
क्षिप्येरन् मङ्क्षु जैनी चेन्नोपयुज्येत गीःसुधा ॥ ८ ॥

जिन भगवान्की उपदिष्ट वाणीको अमृतकी उपमा दी जाती है; क्योंकि दोनों हीसे जीवोंका खेद संताप आदि दूर हुआ करता है। परन्तु वस्तुतः जिनवाणी अमृतसे अत्यधिक है। यह वह लोकोत्तर सुधा है कि जिसके सेवन करनेसे मानसिक खेद अथवा मनमें किसी प्रकारका उत्पन्न हुआ संताप, यद्वा सहज ही जीवोंको लगा हुआ अज्ञान, प्रायः चित्तमें अनेक कारणोंसे उत्पन्न होनेवाली व्याकुलताए—नाना प्रकारके विक्षेप, सेवन करते ही दूर होजाया करते हैं। यदि संसारमें यह जैनी वाणी न होती तो वस्तुतः इन मानसिक दोषोंका निराकरण करनेमें कोई भी समर्थ नहीं था। जब कि मिथ्यादृष्टि भी योग्य सुभाषित की प्रशंसामें यही बात कहते है; यथाः—

क्लान्तमपोज्झति खेदं तप्तं निर्वाति बुध्यते मूढम् ।
स्थिरतामेति व्याकुलमुपयुक्तसुभाषितं चेतः ॥

यदि उत्तम सुभाषितका उपयोग किया जाय तो उससे क्लान्त हृदयका खेद दूर होता है, सतप्त मन शान्त बनता है, और अज्ञानी हृदयमें ज्ञानका संचार होता है, तथा व्याकुलित चित्त स्थिरताको प्राप्त हुआ करता है। जब कि मिथ्यादृष्टि भी सुभाषितकी इतनी प्रशंसा करते है तब श्री सर्वज्ञ वीतराग निर्दोष अरिहंत भट्टारकके मुखारविंदसे प्रगट हुई वाणीके माहात्म्यका तो कौन वर्णन कर सकता है।

इस प्रकार स्वाध्यायके माहात्म्यका वर्णन किया। अब क्रमप्राप्त प्रतिक्रमणके माहात्म्यको बतानेका प्रारम्भ करते हैं:—

दुर्निवारप्रमादारिप्रयुक्ता दोषवाहिनी।
प्रतिक्रमणदिव्यास्त्रप्रयोगादाशु नश्यति ॥ ९ ॥

जिनका निवारण नहीं किया जा सकता ऐसे प्रमाद रूपी शत्रुओंके द्वारा प्रेरित अतिचारोंकी सेनाका नाश प्रतिक्रमणरूपी दिव्य अस्त्रोंके प्रयोग से बहुतही जल्दी होजाया करता है।

भावार्थ—उत्तम कार्योंके सम्पादन करनेमें उत्साहका न होना या उन विषयोंमें सावधान न रहना इसको प्रमाद कहते हैं। यह प्रमाद साधारण प्रयत्न के द्वारा दूर नहीं किया जासकता। इसके द्वारा आत्माका वास्तविक कल्याण या स्वार्थ नष्ट होता है, अतएव इसको शत्रुके समान समझना चाहिये। मुमुक्षुओंको संयमका पालन करनेमें अनेक प्रकारके दोषों—अतीचारोंकी सेना जो आघेरती है वह इस प्रमादशत्रुकी प्रेरणासे ही। किंतु इसका निवारण सहज नहीं है। अतएव जिस प्रकार किसी बलवान शत्रुका निवारण देवोपनीत हथियार चलाकर ही किया जाता है उसी प्रकार इस प्रचण्ड शत्रुका निवारण भी प्रतिक्रमणरूपी दिव्य आयुधके विधिपूर्वक प्रयोग करनेसे ही हो सकता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

जीवे प्रमादजनिताः प्रचुराः प्रदोषा,
यस्मात्प्रतिक्रमणतः प्रलयं प्रयान्ति।
तस्मात्तदर्थममलं मुनिबोधनार्थं,
वक्ष्ये विचित्रभवकर्मविशोधनार्थम् ॥

जीवके प्रमादसे उत्पन्न हुए प्रचुर और बडे २ भी दोष इस प्रतिक्रमणके प्रसादसे ही प्रलयको प्राप्त हो जाया करते हैं। अत एव उसका निर्दोष अर्थ मुनियोंको जाननेके लिये और विचित्र संसारमें संचित कर्मोंको दूर करनेके लिये मैं कहूंगा।

इस कथनसे सिद्ध है कि प्रमादजन्य महान् भी दोष प्रतिक्रमणके द्वारा दूर हो जाया करते हैं।

प्रमादकी महिमा कितनी बडी है सो उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैः—

त्र्यहादऽवैयाकारणः किलैकाहादकार्मुकी ।
क्षणादयोगी भवति स्वभ्यासोपि प्रमादतः ॥ १० ॥

यह बात लोकमें प्रसिद्ध है कि मंद अभ्यास करनेवाले की तो बात ही क्या जिसने व्याकरणका खूब अच्छी तरहसे अभ्यास किया है ऐसा वैयाकरण भी तीन दिनके प्रमादसे अवैयाकरण बन जाता है । केवल तीन दिनके लिये अभ्यास छोड देनेसे अच्छी तरह अभ्यस्त भी व्याकरणका ज्ञान विस्मृत होजाता है । इसी तरह एक दिनके प्रमादसे धानुष्क अधानुष्क होजाता है । अर्थात् केवल एक दिन अभ्यास छोडदेनेसे ही अच्छी तरहसे अभ्यस्त भी धनुर्विद्याको भूलकर अनभ्यस्त सरीखा होजाता है । किंतु निरन्तर समाधिका अभ्यास करनेवाला योगी एक क्षणभर के लिये प्रमाद करनेपर अयोगी बनजाता है—समाधिसे च्युत होजाता है ।

प्रतिक्रमण और रात्रियोगका प्रतिष्ठापन तथा निष्ठापन—प्रारम्भ और समाप्ति किस प्रकार करनी चाहिये सो उसकी विधि बताते हैः—

भक्त्या सिद्धप्रतिक्रान्तिवीरद्विद्वादशार्हताम् ।
प्रतिक्रामेन्मलं योगं योगिभक्त्या भजेत् त्यजेत ॥ ११ ॥

प्रतिक्रमणमें चार प्रकारकी भक्ति कीजाती है । अर्थात् संयममें लगे हुए मल—अतीचारोंको दूर करनेके लिये साधुओंको चार प्रकारकी वन्दना करनी चाहिये ।—सिद्धभक्ति प्रतिक्रमणभक्ति, वीरभक्ति, और चतुर्विंशति तीर्थकर भक्ति । तथा रात्रियोगका प्रारम्भ और समाप्ति योगि भक्तिके द्वारा ही की जाती है । " आज रात्रिको मैं इस वसतिकामें ही रहूगा " ऐसे नियम विशेष को ही रात्रियोग कहते है. सो इस नियमको धारण करनेके पूर्व और पूर्ण होनेके अनंतर साधुओंको योगि भक्ति करनी चाहिये । जैसा कि कहा भी है कि —

सिद्धनिषेधिकावीरजिनभक्तिः प्रतिक्रमे ।
योगिभक्तिः पुनः कार्या योगग्रहणमोक्षयोः ॥

अर्थात् प्रतिक्रमणमें सिद्धभक्ति प्रतिक्रमणभक्ति वीरभक्ति और जिन भक्ति करनी चाहिये । तथा योगके ग्रहण और मोक्ष दोनो ही अवसरोंपर योगिभक्ति ही करनी चाहिये ।

प्रातःकालीन देववन्दना करनेके लिये साधुओंको प्रोत्साहित करते हुए कहते हैः—

योगिध्यानैकगम्यः परमविशददृग्विश्वरूपः स तच्च,
स्वान्तस्थेम्नैव साध्यं तदमलमतयस्तत्पथध्यानबीजम् ।
चित्तस्थैर्यं विधातुं तदनवधिगुणग्रामगाढानुरागं,
तत्पूजाकर्म कर्मच्छिदुरमिति यथासूत्रमासूत्रयन्तु ॥ १२ ॥

जिसका ध्यान योगिजन किया करते है वह परमात्मा केवलज्ञानस्वरूप है । वह ज्ञान सर्वोत्कृष्ट पदको प्राप्त है—उससे अधिक ज्ञान कहींपर भी और किसी भी जीवके नहीं पाया जाता । तथा वह ज्ञान विशद—स्पष्ट अथवा अव्यवधान—अक्रमवर्ती है, अर्थात् युगपत् समस्त पदार्थोंको विषय करता है, और पर इन्द्रिय अथवा मनकी अपेक्षा नहीं रखता । इस ज्ञानके द्वारा जगत्के सम्पूर्ण पदार्थ-लोक तथा अलोक और त्रिकालवर्त्ती उनके समस्त आकार प्रतिभासित हुआ करते हैं । इस ज्ञानके धारक अरिहत भगवान्का स्वरूप परमागममें प्रसिद्ध है । यथाः—

" केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासियण्णाणो ।
णवकेवललद्धुग्गमसुजणियपरमप्पववएसो ॥
असहायणाणदंसणसहिओ इदिकेवली हु जोगेण ।
जुत्तोत्ति सजोगिजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो ॥ "

जिन्होने केवलज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंसे अज्ञानभावको सर्वथा नष्ट कर दिया है, और नव केवललब्धियोंके प्रकट होनेसे जिन्होने परमात्मा यह संज्ञा प्राप्त करली है, उनको अनादिनिधन आर्ष आगममें असहायज्ञान-दर्शनसे युक्त होनेके कारण केवली और योगसे युक्त रहनेके कारण सयोगी जिन कहा गया है।

इस प्रकारके परमात्माके स्वरूपका संवेदन केवल योगियोंको ध्यानके द्वारा ही हो सकता है। किंतु इस प्रकारके ध्यानकी प्राप्ति योगियोंको मनकी स्थिरतासे ही हुआ करती है। जिनका मन चचल है उनको इस ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। जैसा कि कहा भी है कि:—

ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम्।
गुरूपदेश श्रद्धान सदाभ्यास· स्थिरं मनः ॥

अर्थात् ध्यानकी सिद्धिके प्रधानतया चार कारण हैं। – गुरुओंका उपदेश, श्रद्धान, निरंतर अभ्यास, और मनकी स्थिरता।

और भी कहा है कि—

अविक्षिप्त मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरुच्यते।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्त नाश्रयेत्पुनः ॥

अविक्षिप्त—अचपल—स्थिर मनको तत्त्व और उसके विरुद्ध विक्षिप्त—चंचल मनको भ्रान्ति माना है। अत एव मुमुक्षुओंको चंचल मनका आश्रय छोडकर स्थिर मनका ही आश्रय लेना चाहिये।

चित्तकी स्थिरता जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा–वन्दना करनेसे हुआ करती है। अत एव कालुष्य रहित निर्मल बुद्धिके धारक साधुओंको उचित है कि उस परमात्माकी प्राप्तिका उपायभूत धर्म्य ध्यान या शुक्लध्यानरूप उपयोगका भी बीज–कारण चित्तकी स्थिरता को ही समझकर उसको सिद्ध करनेके लिये परमागममें कहे मूजब परमात्मा–श्री जिनेन्द्र भगवान्‌की पूजा–विनयकर्म उसके अनन्तानन्त गुणोंके पिण्डमें गाढ अनुराग–भक्ति अथवा श्रद्धा रखते हुए अवश्य करें। क्योंकि यह पूजा ज्ञानावरणादि कर्मोंको अथवा कर्मोंके आनेके द्वाररूप मन वचन कायके व्यापार को नष्ट करने वाली है।

भावार्थ—यहांपरपूजा शब्दसे भाव पूजाका ही ग्रहण करना चाहिये। भावपूजाका लक्षण इस प्रकार बताया है कि—

व्यापकानां विशुद्धाना जैनानामनुरागत. ।
गुण.ना यदनुध्यानं भावपूजेयमुच्यते ॥

अर्थात्–अरिहंत भगवानके व्यापक और विशुद्ध गुणोंमें अनुराग भाव रखकर उनका चिन्तवन करना इसको भावपूजा कहते हैं। अत एव इस पूजाके करनेवालेके जिनेन्द्र भगवानके अनन्तानन्त ज्ञानादि गुणोंमें भक्ति या श्रद्धा दृढ हुआ करती है, और मनवचन कायकी क्रियाओंका सावद्य रुपसे निरोध होजानेके कारण संवर तथा ज्ञानावरणादि कर्मोंकी एकदेश निर्जरा भी हुआ करती है। तथा चित्तमें स्थिरता भी प्राप्त हुआ करती है जिससे कि योगियोंको उस उत्कृष्ट ध्यानकी सिद्धि हुआ करती है कि जिसके बलसे वे उस परमात्मका स्वयंसवेदन कर सकते है।

यहांपर उत्कृष्ट ध्यान शब्दसे एकत्व वितर्क अवीचार नामका शुक्लध्यान समझना चाहिये। क्योंकि परमात्माके उक्त स्वरूपका स्वसंवेदन उसीके द्वारा होता है।

योगियोंको चित्तकी स्थिरतासे सिद्ध होने वाले योगके आठ अंग बताये हैं।–यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि। इनमेंसे अपने विषय पर स्थिर हो जानेवाले ज्ञानकोही ध्यान कहते है। और जब वह ध्यान भी स्थिरीभूत हो जाता है तब उसीको समाधि कहते है। इस समाधि या उत्कृष्ट ध्यान अथवा प्रकृतमें एकत्ववितर्ककी सिद्धिका कारण मनकी स्थिरता और उसका भी कारण परमात्माकी पूजा–वन्दनाको जानकर योगियोंको आगमके अनुसार अवश्य ही प्रातःकालीन देववंदना करनेमें प्रवृत्त होना चाहिये।

त्रैकालिक देववन्दना किसप्रकार करनी चाहिये सो उसकी विधि बताते हैं:—

त्रिसन्ध्यं वन्दने युंज्याच्चैत्यपञ्चगुरुस्तुती ।
प्रियभक्तिं बृहद्भक्तिष्वन्ते दोषविशुद्धये ॥ १३ ॥

वन्दना करने वाले साधुओंको तीनों सन्ध्याओंके समयमें जिनेन्द्रभगवान्‌की वन्दना करनेमें चैत्यवन्दना और पंचगुरुवन्दना करनी चाहिये। और जब दोषोंकी विशुद्धि करनी हो—वन्दनासम्बन्धी अतीचारों या रागादि भावोंका उच्छेदन करना हो तब वृहद्भक्तियोंके अन्तमें समाधि भक्ति करनी चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि— " ऊनाधिक्यविशुद्ध्यर्थं सर्वत्र प्रियभक्तिकाः " अर्थात् न्यूनाधिकताके दोषकी निवृत्तिके लिये सर्वत्र समाधिभक्ति की जाती है।

आचार शास्त्रमें कहे मूजब ही अच्छी तरहसे क्रिया करनेवाले भी कितने ही ऐसे देखनेमें आते हैं कि जो केवल वृद्धोंकी परम्परासे चले आये व्यवहारके ही वशीभूत होकर जिन भगवानकी नित्य वन्दना भी सिद्ध भक्ति चैत्यभक्ति पञ्चगुरुभक्ति और शांतिभक्ति इन चार भक्तियोंके द्वारा ही किया करते हैं। किन्तु उनका यह व्यवहार हमारी समझसे केवल भक्तिरूपी चुडेलका दुर्विलास ही समझना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेमें आगमकी आज्ञाका अतिक्रमण होता है। आगममें पूजा और अभिषेक मङ्गलके अवसर पर ही इन चार भक्तियोंके करनेका विधान है। [illegible] वन्दनाके समय केवल चैत्यभक्ति और पचगुरुभक्ति ही की जाती है। यथा:—

चैत्यपञ्चगुरुस्तुत्या नित्या सन्ध्यासु वन्दना।
सिद्धभक्त्यादिशान्त्यन्ता पूजाभिषवमङ्गले ॥

[illegible] सन्ध्याओंके समय जो जिनदेवकी नित्य वन्दनाकी जाती है वह चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्तिपूर्वक [illegible] है। और [illegible] समय अथवा अभिषेक वन्दनाके समय सिद्ध भक्ति चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांति [illegible] भक्ति की जाती है। और भी कहा है कि:—

[illegible] चेदियभत्तीय पंचगुरुभत्ती।
[illegible] चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति करनी चाहिये।
[illegible] पंचगुरुभत्तिसंतीहिं ॥

[illegible] चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांति भक्तिके द्वारा की जाती है।

अतएव यह बात सिद्ध है कि तीनों सन्ध्याओंके समय नित्यवन्दना चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति इन दो भक्तियोंके द्वारा ही हुआ करती है, न कि सिद्धभक्ति आदि चार भक्तियोंके द्वारा।

कृतिकर्मके छह भेदोंका व्याख्यान करते हैं:—

स्वाधीनता परीतिस्त्रयी निषद्या त्रिवारमावर्ताः।
द्वादश चत्वारि शिरांस्येवं कृतिकर्म षोढेष्टम् ॥ १४ ॥

कृतिकर्म छह प्रकारका है।—स्वाधीनता, परीति, निषद्या, त्रिवार, आवर्त, और शिरोनति। वन्दना करने वालेकी स्वतन्त्रताका ही नाम स्वाधीनता है। इस विषयका विशेष उल्लेख आगे चलकर किया जायगा। परीति नाम प्रदक्षिणाका है। अर्थात् कृतिकर्म करते समय तीनवार प्रदक्षिणा देना इसको परीति कहते हैं। निषद्या नाम बैठनेका है। सो यह तीन भेदरूप है। क्योंकि कृतिकर्म करनेवाले को क्रिया विज्ञापनाके अनंतर चैत्यभक्तिके अनंतर और पचगुरुभक्तिके अनतर इस तरह तीनवार आलोचना करते समय पुनः पुनः बैठना पडता है। त्रिवार शब्दसे यहांपर वन्दना करते समय तीनवार किये जाने वाले कायोत्सर्गको लेना चाहिये। क्योंकि इस प्रकरणमें चैत्यभक्ति पचगुरुभक्ति और समाधिभक्ति के अवसर पर तीन कायोत्सर्ग किये जाते हैं। आवर्तका स्वरूप पहले लिखा जा चुका है। ये प्रत्येक दिशाके तीन तीन मिलाकर चारो दिशाके बारह हुआ करते हैं। इसी तरह चार शिरोनतिका स्वरूप भी पहले कह चुके हैं। इसतरह कृतिकर्मरूप वन्दनाके छह भेद अथवा अंग हैं। जैसा कि सिद्धांतमें भी कहा है कि—

आदाहीणं पदाहीणं तिक्खुत्त तिऊणद।
चदुस्सिरं वारसावत्त चेदि।

अर्थात्—स्वाधीनता परीति निषद्या त्रिवार चतुःशिरोनति और बारह आवर्त ये छह कृतिकर्मके भेद है।

जिन भगवानकी मूर्तिकी वन्दना करनेसे चार प्रकारके महान् फल प्राप्त हुआ करते है। यथा—१–नवीन
२ महान् पुण्य कर्मप्रकृतियोंका आस्रव हुआ करता है। २ रे पूर्वके संचित पुण्य कर्मके उदयमें विशेषता प्राप्त हुआ

करती है। उनकी स्थिति और अनुभाग बढकर फलमें महत्ता प्राप्त होती है। ३ रे संचित पापकर्मकी फलदान शक्तिका अपकर्षण हो जाया करता है। वह घटकर अत्यंत अल्प रह जाती है। ४ थे नवीन पापकर्मका संवर हो जाता है। अर्थात् चैत्य वन्दना करनेवालेको नवीन पापका आस्रव नहीं होता। अतएव मुमुक्षुओंको तीनोंही सन्ध्यासमयोंमें यह जिन चैत्य वंदना हमेशा और अवश्य ही करनी चाहिये। इसी बातको यहांपर साधुओंको चैत्य वन्दनाकेलिये प्रेरित करते हुए स्पष्ट करते हैं:—

दृष्ट्वार्हत्प्रतिमां तदाकृतिमरं स्मृत्वा स्मरंस्तद्गुणान्,
रागोच्छेदपुरःसरानतिरसात् पुण्यं चिनोत्युच्चकैः।
तत्पाकं प्रथयत्यघं कृशयते पाकाद्गुणद्व्यास्रवत्,
तच्चैत्यान्यखिलानि कल्मषमुषां नित्यं त्रिशुद्ध्या स्तुयात् ॥ १५॥

मूर्तिके देखते ही जिसकी वह मूर्ति है उसकी आकृतिका तत्काल स्मरण हुआ करता है। अतएव जिन भगवान्की प्रतिमाका दर्शन करने वालोंको भी दर्शन करते ही उनकी आकृतिका स्मरण होता है। अरिहंत भगवान् के शरीरका आकार सम्पूर्ण मलदोषोंसे रहित स्फटिकके समान शुद्ध और समस्त धातु उपधातुओंसे रहित तेजःपुंजके सदृश हुआ करता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

शुद्धस्फटिकसंकाशं तेजोमूर्तिमयं वपुः।
जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम् ॥

अठारह दोषोंसे रहित जिनभगवान्का शरीर सातोंही धातुओंसे रहित हुआ करता है। वह निर्मल स्फटिकके समान प्रकाशित होता हुआ ऐसा जान पडता है मानो तेजकी साक्षात् मूर्ति ही है।

आकृतिका स्मरण होते ही उन अर्हद्भट्टारकके वीतरागता प्रभृति अनेक गुणोंका भी भक्तिके अत्यन्त उद्रेकसे स्मरण होता ही है क्योंकि बाह्य आकृतिके देखनेसे उस आकृतिवालेके गुणोंका भी बोध हो ही जाता है।

सराग और वीतराग व्यक्तिके आकारमें अन्तर अवश्य रहा करता है। इस अंतरको ही देखकर आकृतिवालेके गुणों-का स्मरण हुआ करता है। अतएव इस विषयमें कहा भी है कि:—

"वपुरेव तवाचष्टे भगवन् वीतरागताम्।
न हि कोटरसंस्थेऽग्नौ तरुर्भवति शाड्वलः॥

हे भगवन्! आपका शरीर ही आपकी वीतरागताको स्पष्ट कह रहा है। क्योंकि जिसके कोटरमें अग्नि जल रही हो वह वृक्ष हरा भरा कभी नहीं रह सकता। इसी प्रकार जिसके अन्तरङ्गमें क्रोधादि कषाय जाज्वल्यमान हों उसके शरीरका आकार प्रशान्त कभी नहीं रह सकता। अत एव आपके शरीरका आकार ही कह रहा है कि आप वीतराग हैं।

इस प्रकार जिन भगवान्की प्रतिमाका दर्शन करनेसे अरिहंत भगवान्की आकृतिकी स्मृति और उससे पुनः साक्षात् उनके वीतरागता सर्वज्ञता सर्वदर्शित्व आदि गुणोंका स्मरण हुआ करता है, जिससे कि भक्ति में लीन हुआ वन्दारु— चैत्यवन्दना करनेवाला साधु उसी समय महान् पुण्य कर्मका—सातावेदनीय शुभ आयु शुभ नाम और शुभ गोत्र कर्मका नवीन बन्ध किया करता है। तथा पूर्वके बंधे हुए पुण्य कर्मकी स्थिति और अनुभाग में अतिशय उत्पन्न किया करता है। जिससे कि वे उदय कालमें पहलेकी अपेक्षा अत्यधिक शुभ फल दिया करते है। और पूर्वके जो पापकर्म बन्धे हुए है उनकी स्थिति तथा अनुभागमें अपकर्षण किया करता है। जिससे कि वे पहले के समान तीव्र फल नहीं दे सकते, किंतु मन्द मन्दतर फल देकर ही निर्जीर्ण होजाया करते हैं। इसी प्रकार वह चैत्यवन्दना करनेवाला साधु नवीन पाप कर्मका संवर किया करता है।

अरिहंत भगवान् की प्रतिमाकी वन्दना करनेसे तत्काल ये चार फल प्राप्त हुआ करते है। अत एव जिन्होने चार घातिया कर्मोंको तथा अपने और भी पापकर्मों या मल दोषोंको नष्ट कर विशुद्धता प्राप्त करली है, तथा जो दूसरे वन्दना करनेवाले भव्यजीवोंका भी पापपङ्क दूर करनेवाले है उन श्री अरिहंत भट्टारककी कृत्रिम और अकृत्रिम सम्पूर्ण प्रतिमाओंका मुमुक्षुओंको तीनों ही सन्ध्या समयोंमें अपने मन वचन और शरीरको शुद्ध रखकर अवश्य ही स्तवन करना चाहिये।

कृतिकर्मके छह अंगोमें पहला जो स्वाधीनता बताया था उसके अर्थका व्यतिरेक मुखसे समर्थन करते है—

निल्यं नारकवद्दीनः पराधीनस्तदेष न ।
क्रमते लौकिकेऽप्यर्थे किमङ्गास्मिन्नलौकिके ॥ १६ ॥

पराधीन जीव हमेशा ही दीन बना रहता है । दुःखमय अवस्थाका निरंतर अनुभव करते रहनेके कारण उसको नारकियोंके समान ही समझना चाहिये । इसी लिये लोकमें भी यह कहावत प्रसिद्ध है कि " को नरकः ? परवशता " । अर्थात् किसीने पूछा कि नरक किसको समझना चाहिये तो उत्तर देनेवालेने कहा कि पराधीनताको। भावार्थ—परतन्त्रता जीवको नारकीके समान दीन बना देती है । इस दीनताके कारण ही वह लौकिक कार्य—अपने चलने फिरने उठने बैठते स्नान भोजन आदि कार्योंको भी अच्छी तरह स्वतन्त्रता और उत्साहके साथ सम्पादित नहीं कर सकता । जब लौकिक कार्योंको भी भलेप्रकार निर्विघ्न सिद्ध नहीं कर सकता, तब मित्र ? अलौकिक कार्योंके विषयमें तो कहना ही क्या । अर्थात् सर्वज्ञदेवके आराधन प्रभृति कृतिकर्मका वह अप्रतिहतरूपसे कभी पालन नहीं कर सकता । इसी लिये लोकमें भी यह उक्ति प्रसिद्ध है कि:—

परार्थानुष्ठाने श्लथयति नृप स्वार्थपरता,
परित्यक्तस्वार्थो नियतमयथार्थः क्षितिपतिः ।
परार्थश्चेत्स्वार्थादभिमततरो हन्त परवान्,
परायत्तः प्रीतेः कथमिव रसं वेत्ति पुरुषः ॥

अर्थात् पराधीन रहनेवाला मनुष्य किसी भी तरह सुखका अनुभव नहीं कर सकता । भावार्थ—जिस प्रकार लौकिक कार्योंके लिये स्वाधीनताकी आवश्यकता है उसी प्रकार या उससे भी अधिक अलौकिक—लोकोत्तर चैत्यवन्दना प्रभृति कार्योंको करनेकेलिये भी स्वाधीनताकी आवश्यकता है ।

अब चौदह पद्योंमें देव वन्दना आदि क्रियाओंको किस क्रमसे करना चाहिये उसका उपदेश करते है । किंतु उसमें सबसे पहले व्युत्सर्ग पर्यंत की क्रियाओंका क्रम पांच श्लोकोंमें बताते हैं:—

श्रुतदृष्ट्यात्मनि स्तुत्यं पश्यन् गत्वा जिनालयम् ।
कृतद्रव्यादिशुद्धिस्तं प्रविश्य निसही गिरा ॥ १७ ॥
चैत्यालोकोद्यदानन्दगलद्बाष्पस्त्रिरानतः ।
परीत्य दर्शनस्तोत्रं वन्दनामुद्रया पठन् ॥ १८ ॥
कृत्वेर्यापथसंशुद्धिमालोच्यानम्रकांघ्रिदोः ।
नत्वाश्रित्य गुरोः कृत्यं पर्यङ्कस्थोग्रमङ्गलम् ॥ १९ ॥
उक्त्वात्तसाम्यो विज्ञाप्य क्रियामुत्थाय विग्रहम् ।
प्रह्वीकृत्य त्रिभ्रमैकशिरोविनतिपूर्वकम् ॥ २० ॥
मुक्ताशुक्त्यङ्कितकरः पठित्वा साम्यदण्डकम् ।
कृत्वावर्तत्रयशिरोनती भूयस्तनुं त्यजेत् ॥ २१ ॥

जिन भगवान्की वन्दना करनेकेलिये जिनालयको जाते समय मुमुक्षुओंको भावरूप श्री अरिहंत भगवान्‌का स्वरूप सम्पूर्ण आत्माओंमें अथवा अपने ही चित्स्वरूपमें परमागमके ज्ञानरूपी नेत्रोंके द्वारा देखते हुए गमन करना चाहिये। अर्थात् भावरूप अर्हदादिका चर्मचक्षुके द्वारा अवलोकन नहीं हो सकता; अतएव श्रुतज्ञानरूपी नेत्रोंके द्वारा उनका स्वरूप अपनेमें ही देखते हुए मन्दिरमें जाना चाहिये। और द्रव्य क्षेत्र काल भावकी शुद्धि करके " निसही निसही निसही " इस प्रकार उच्चारण करते हुए जिनमंदिरमें प्रवेश करना चाहिये। वहां पहुंचकर जिन भगवान्की प्रतिमाका दर्शन करते ही हृदयमें अत्यन्त आनद-प्रमोदके उत्पन्न होनेसे जिसकी आंखोंसे हर्षके अश्रु झड रहे हैं ऐसे उस वन्दना करनेवालेको तीन वार भगवान्को नमस्कार करना चाहिये। उसके वाद जिनालय-गर्भ गृह अथवा उस वेदीको कि जिसमें श्री जिन चैत्य विराजमान हों तीन वार प्रदक्षिणा देनी

चाहिये। तदनन्तर दर्शन स्तोत्रका पाठ करते हुए—अर्थात् अद्याभवत्सफलता नयनद्वयस्य देव त्वदीय चरणाम्बुज वीक्षणेन " इत्यादि भगवान्के दर्शन विषयक स्तोत्रका अथवा सम्यक्त्वको उत्पन्न व पुष्ट करनेवाले " दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवतापहारि " इत्यादि सामान्यसे किसीभी स्तोत्रका उच्चारण करते हुए वन्दनामुद्राके द्वारा ईर्यापथ शुद्धि करनी चाहिये। अर्थात् मार्गमें चलनेसे जीवोंकी विराधना आदि दोष जो संभव हैं उनका पडिकमामि आदि दण्डकके द्वारा शोधन करना चाहिये। इसके बाद इच्छामि इत्यादि दण्डकका उच्चारण करके निन्दा गर्हारूप आलोचना करनी चाहिये। पुनः धर्माचार्यके समक्ष और यदि गुरु-धर्माचार्य उपस्थित न हों तो भगवान्के ही सामने पंचाङ्ग नमस्कार—एक शिर दो हाथ और दो घोंटू इन पांच अंगो को भले प्रकार नम्रीभूत करके कर्तव्य कर्मको स्वीकार करना चाहिये। अर्थात् देववन्दना या प्रतिक्रमण जो कुछ करना हो उसकी नमोस्तु भगवन्! देव वन्दनां करिष्यामि—हे भगवन् नमस्कार हो अब मैं देववन्दना करूंगा, " यह कहकर अथवा " नमोस्तु भगवन् प्रतिक्रमण करिष्यामि—हे भगवन् नमस्कार हो अब मैं प्रतिक्रमण करूगा " यह कहकर कर्तव्यकी प्रतिज्ञा करनी चाहिये। इसके बाद पर्यङ्कासनसे बैठकर जिनेद्र भगवान् के गुणोंको प्रकट करनेवाले " सिद्धं सम्पूर्ण भव्यार्थम् " इत्यादि स्तोत्रका पाठ करना चाहिये। पुनः " खम्मामि सव्वजीवाणं " इत्यादि सूत्रपाठ के द्वारा साम्यभाव-समायिकको प्राप्त होना चाहिये। पुनः वन्दना क्रियाका विज्ञापन करके खडे होकर शरीरको नम्रीभूत बनाकर दोनों हाथोंकी मुक्ताशुक्ति मुद्रा बनाकर उससे तीन आवर्त और एकशिरोनति करके " णमो अरहंताणं " इत्यादि सामायिक दण्डकका पाठ करना चाहिये। तथा पाठ पूर्ण होनेपर अन्तमें भी आदिकी तरह तीन आवर्त और एक शिरोनति करनी चाहिये। इस प्रकार सामायिक दण्डकका पाठ आवर्त और शिरोनतिके साथ २ पूर्ण होनेपर व्युत्सर्ग धारण करना चाहिये। शरीरमें ममत्वभावका सर्वथा परित्याग करना चाहिये।

भावार्थ—यहापर देववन्दनासे लेकर व्युत्सर्ग पर्यन्त जो क्रियाएं जिस क्रमसे बताई हैं उनको उसी क्रमसे करना चाहिये। इनके द्रव्य और भावरूप भेदोंका स्वरूप पहले बता चुके है। तथा वन्दनामुद्रा मुक्ताशुक्तिमुद्रा पर्यंकासनका भी स्वरूप पहले लिख चुके है। तदनुसार ही उनको करना चाहिये।

१—अध्याय ८ श्लोक ८५—८६—८७

अब दो श्लोकों द्वारा व्युत्सर्गमें ध्यान करनेकी विधि बताते हैं:—

जिनेन्द्रमुद्रया गाथां ध्यायेत् प्रीतिविकस्वरे ।
हृत्पङ्कजे प्रवेश्यान्तर्निरुध्य मनसानिलम् ॥ २२ ॥
पृथग् द्विद्व्येकगाथांशचिन्तान्ते रेचयेच्छनैः ।
नवकृत्वः प्रयोक्तैवं दहत्यंहः सुधीर्महत् ॥ २३ ॥ युग्मम् ।

व्युत्सर्गके समय साधुओंको अपनी प्राणवायु मनके साथ २ भीतर प्रविष्ट करके आनन्दसे विकसित हुए हृदय कमलमें रोककर जिनेन्द्र मुद्राके द्वारा "णमोअरिहंताण"—प्रभृति गाथाका ध्यान करना चाहिये। तथा गाथाके दो दो और एक अंशका क्रमसे पृथक् २ चिन्तवन करके अन्तमें उस प्राणवायुका धीरे २ रेचन करना चाहिये—प्राणवायुको बाहर निकालना चाहिये। इस प्रकार अपनी दृष्टिको अन्तरङ्गकी तरफ लगाकर नौ वार प्राणायामका प्रयोग करनेवाला संयमी चिरकालके संचित महान् पापकर्मोंको भी भस्म कर देता है।

भावार्थ—प्राणायामका महत्व अत्यन्त अधिक है। जैसा कि कहा भी है कि—

शनैः शनैर्मनोऽजस्र वितन्द्र सह वायुना ।
प्रवेश्य हृदयाम्भोजकर्णिकाया नियन्त्रयेत् ॥
विकल्पा न प्रसूयन्ते विषयाशा निवर्तते ।
अन्त स्फुरति विज्ञान तत्र चित्ते स्थिरीकृते ॥
स्थिरीभवन्ति चेतांसि प्राणायामावलम्बिनाम् ।
जगद्वृत्त च नि शेष प्रत्यक्षमिव जायते ॥
स्मरगरलमनोविजय समस्तरोगक्षय वपुःस्थैर्यम् ।
पवनप्रचारचतुर. करोति योगी न सदेहः ॥

साधुओंको अप्रमत्त होकर प्राणवायुके साथ २ धीरे २ अपने मनको अच्छी तरह भीतर प्रविष्ट करके हृदय कमलकी कर्णिकामें रोकना चाहिये। इस तरह प्राणायामके सिद्ध होनेसे चित्त स्थिर हो जाया करता है। जिससे कि अन्तरङ्गमें संकल्प विकल्पोंका उत्पन्न होना बन्द होजाता है, विषयोंकी आशा निवृत्त होजाती है, और अन्तरङ्गमें विज्ञानकी मात्रा बढने लगती है। प्राणायाम करनेवालोंके मन ऐसे स्थिर होजाते है कि उनको जगत्का सम्पूर्ण वृत्तान्त प्रत्यक्ष सरीखा दीखने लगता है। प्राणायामके द्वारा प्राणवायुका प्रचार करनेमें चतुर योगी कामदेव रूपी विष और मनपर विजय प्राप्त करलिया करता है। तथा इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि वह उसके द्वारा रोगोंका नाश कर सकता है, और शरीरको स्थिर बनालिया करता है।

तथा और भी कहा है कि:—

दोयक्खभुआ दिट्ठी अंतमुही सिवसरूवसलीणा।
मणपवणक्खविहूणा सहजावत्था स णायव्वा ॥
जत्थ गया सा दिट्ठी तत्थ मण तत्थ संठिय पवणं।
मणपवणलए सुण्ण तहिं च ज फुरइ त ब्रह्म ॥

अर्थात् प्राणायाम करनेवाले साधुओंकी दृष्टि जब बाह्य विषयोंकी तरफसे हटकर अन्तरङ्गकी तरफ उन्मुख होकर आत्मरूपमें अच्छी तरह लीन हो जाती है उस समय मन पवन और इन्द्रियोंकी गति बन्द होकर स्वाभाविक अवस्था प्राप्त हुआ करती है। जहांपर दृष्टि जाकर स्थिर हो जाती है, वहींपर मन और वहींपर पवन भी स्थिर हो जाता है। इस प्रकार मन और पवनके स्थिर होजानेपर जब बाह्य जगत्में शून्यता प्राप्त होती है उस समयमें ब्रह्म प्रकट हुआ करता है।

प्राणवायुके संचार क्रमको ही प्राणायाम कहते है. इसके मूलमें तीन भेद हैं; कुम्भक रेचक पूरक। वायुके भीतर खींचनेको कुम्भक और वहां रोक रखनेको पूरक तथा बाहर निकालनेको रेचक कहते है। योगियोंको व्युत्सर्ग–कायोत्सर्गके समय ध्यान करते हुए ये तीनों ही क्रिया करनी चाहिये। इस ध्यानमें जिनमुद्राके द्वारा णमो अरहंताणं प्रभृति पंचनमस्कारमहामंत्ररूप गाथाका चिन्तवन करना चाहिये। तथा इस गाथाके क्रमसे दो दो और

एक अंशका विभाग करके उनका पृथक् २ चिन्तवन करना चाहिये। अर्थात् पहले भागमें णमो अरहंताणं णमो सिद्धाण इन दो पदोंका और दूसरे भागमें णमो आइरियाण णमो उवज्झायाणं इन दो पदोंका तथा तीसरे भागमें णमो लोए सव्वसाहूणं इस एक पदका ध्यान करना चाहिये। इसके अनंतर आनदसे प्रफुल्लित हृदय कमलमें मनके साथ रुकी हुई प्राण वायुका धीरे धीरे रेचन करना चाहिये। इस तरह कमसे कम नौबार प्रयोग करना चाहिये। कमसे कम इस नौबारकी क्रियासे ही सयमियोंके महान् पापका क्षय होजाता है।

जो इस प्राणायामके द्वारा ध्यान करनेमें असमर्थ हैं वे पासका कोई भी आदमी न सुन सके इस तरहसे उक्त पचनमस्कार मंत्रका वचन द्वारा भी जप कर सकते हैं, इसी बातको बताते हैं। किंतु इसके साथ ही यह भी दिखाते हैं कि इस वाचनिक जपके द्वारा तथा उक्त मानसिक जप-ध्यानके द्वारा जो पुण्यका संचय होता है उसमें कितना अंतर है।

वाचाप्युपांशु व्युत्सर्गे कार्यो जप्यः स वाचिकः।
पुण्यं शतगुणं चैत्तः सहस्रगुणमावहेत ॥ २४ ॥

उक्त व्युत्सर्ग— कायोत्सर्गके समय जो साधु पूर्वोक्त प्राणायामके करनेमें असमर्थ हैं वे सम्पूर्ण पापोंका क्षय करनेमें समर्थ पंचनमस्कार महामंत्रका वचन द्वारा जप कर सकते हैं। किंतु यह जप स्वय अपनी ही समझमें आवे उसको दूसरा कोई न सुनसके इस तरहसे करना चाहिये। परन्तु यह बात भी समझलेनी चाहिये कि इन दोनों ही जपोंके फलमें बहुत वडा अन्तर है। अर्थात् दण्डकोंका पाठोच्चारण करनेसे जितना पुण्यका संचय होता है उससे सौगुणा पुण्य इस वाचानिक जप करनेसे होता है। किन्तु उक्त मानासिक जप करनेसे हजारगुणा पुण्यका संचय हुआ करता है। जैसा कि कहा भी है किः—

वचसा वा मनसा वा कार्यो जप्य समाहितस्वान्तैः।
शतगुणमाद्ये पुण्य सहस्रगुणित द्वितीये तु ॥

अर्थात् साधुओंको एक चित्त होकर पंचनमस्कार मंत्रका जप वचन अथवा मन दोनोंमेंसे किसीके भी

द्वारा करना चाहिये। किंतु प्रथमपक्ष में–वचनके द्वारा जप करनेमें सौ गुणा पुण्य होता है तो द्वितीय पक्षमें–मनकेद्वारा जप करनेमें हजारगुणा पुण्य हुआ करता है।

इस विषयमें मनुने भी कहा है कि:—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशु स्याच्छतगुणैः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

अर्थात् विधियज्ञकी अपेक्षा जपयज्ञका फल दशगुणा अधिक है, उसमें भी वाचनिक जपका फल सौगुणा है तो मानसिक जपका फल हजार गुणा है।

मुमुक्षु भव्योंके श्रद्धानको उद्दीप्त करनेकेलिये पंचनमस्कार मंत्रका माहात्म्य बताते हैं:—

अपराजितमन्त्रो वै सर्वविघ्नविनाशनः।
मङ्गलेषु च सर्वेषु प्रथमं मंगलं मतः॥ २५॥

यह पंचनमस्कार मंत्र सम्पूर्ण विघ्न–पाप अथवा अन्तरायोंका अच्छी तरह नाश करनेवाला है। इतना ही नहीं बल्कि जितने भी मंगल–पापके गलानेवाले उपाय हैं, अथवा पुण्यको देनेवाले साधन हैं उन सभीमें यह मुख्य–प्रधान है। अत एव शिष्ट पुरुषोंने इसको यह अपराजित मंत्र है ऐसा निश्चितरूपसे माना है। जैसा कि कहा भी है कि:—

एसो पंचणमोकारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाण च सव्वेसिं पढमं होइ मङ्गलं॥

इस प्रकार पंच परमेष्ठियोंकी वन्दना करनेसे जो माहात्म्य प्राप्त होता है उसको बताकर एक एक परमेष्ठीका भी विनय करनेसे जो लोकोत्तर महिमा प्राप्त हुआ करती है उसको दिखाते हैं।

नेष्टं विहन्तुं शुभभावभग्नरसप्रकर्षः प्रभुरन्तरायः।

तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्यादिरिष्टार्थकृदर्हदादेः ॥ २६ ॥

अन्तराय कर्मके फलदेने की शक्ति शुभ परिणामोंके द्वारा नष्ट होजाया करती है। तब वह इच्छित वस्तुकी प्राप्तिमें विघ्न डालनेको समर्थ नहीं हो सकता। अत एव शुभ परिणामोंको सिद्ध करनेकेलिये अर्हदादिमेंसे इच्छानुसार किसीके भी गुणोंमें अनुराग रखकर प्रणाम स्तुति या वन्दना करना अभीष्ट प्रयोजनका साधक हो जाता है।

भावार्थः—अरिहंतादि पचपरमेष्ठियोंमेंसे किसीके भी गुणोंका स्मरण करनेसे और उनको नमस्कार आदि करनेसे परिणामोंमें जो विशुद्धि प्राप्त हुआ करती है उससे अन्तराय कर्मकी सामर्थ्य—फलदानशक्ति क्षीण होजाया करती है जिससे कि वह किसी भी इष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें विघ्न नहीं डाल सकता. फलतः किसी भी परमेष्ठीकी वन्दना करनेसे सभी प्रयोजनोंकी सिद्धि हो सकती है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग तककी क्रियाओंका क्रम आदि बताकर उसके अनतरके कार्यको भी दो श्लोकोंद्वारा बताते हैः—

प्रोच्य प्राग्वत्ततः साम्यस्वामिनां स्तोत्रदण्डकम् ।
वन्दनामुद्रया स्तुत्वा चैत्यानि त्रिप्रदक्षिणम् ॥ २७ ॥
आलोच्य पूर्ववत्पञ्चगुरून् नुत्वा स्थितस्तथा ।
समाधिभक्त्याऽस्तमलः स्वस्य ध्यायेद्यथाबलम् ॥ २८ ॥

चैत्यभक्ति और कायोत्सर्ग-व्युत्सर्ग तथा उसमें बताये गये ध्यानको कर चुकनेपर पहलेकी तरह—शरीरको नम्रीभूत करने आदिकी जो विधि बताई है तदनुसार समायिकके स्वामी श्री चौबीस तीर्थंकर भगवान्को भक्तिके भारसे पूर्ण होकर "थोस्सामि" प्रभृति स्तोत्र दण्डक बोलना चाहिये। पुनः तीन प्रदक्षिणा देते हुए वन्दनामुद्राके द्वारा जिनेन्द्र भगवान्की प्रतिमाकी स्तुति-वन्दना करनी चाहिये। उसके बाद एक शिर दो बाहु

और दो घोंटुओंको नम्रीभूत करने आदिकी जो विधि बताई है उसी प्रकार यहां भी " इच्छामि भत्ते चेइयभत्ति काउस्सग्गो कओ " इत्यादि पाठ बोलकर आलोचन करके खडे होना चाहिये। क्योंकि चैत्यभक्तिकी तरह यहांपर प्रदाक्षिणा नहीं दी जाती। अतएव खडे होकर पहलेकी तरह ही कर्तव्य क्रियाकी विज्ञापना करके अर्हदादिक पंचगुरुओंको वन्दना मुद्राके द्वारा नमस्कार करना चाहिये। यहांपर भी पंचाङ्ग नमस्कार पूर्वक " इच्छामि भत्ते पचगुरुभक्ति काउस्सग्गो कओ तस्स आलोचेउ, अट्ठमहापाडिहेर सजुत्ताण अरहंताण " इत्यादि पाठ बोलकर आलोचन करना चाहिये। इसके बाद वन्दना सम्बन्धी अतीचारोंको समाधिभक्तिके द्वारा निःक्षेप करके शक्तिके अनुसार अपना ध्यान करना चाहिये। अर्थात् अपने बलवीर्यादिका विचार कर आत्मध्यानमें तत्पर होना चाहिये।

आत्मध्यानको छोडकर अन्य किसी भी उपायसे मोक्षकी सिद्धि नहीं हो सकती, इस बातको प्रकट करते हैं

नात्मध्यानाद्विना किंचिन्मुमुक्षोः कर्मेष्टकृत ।
किंत्वस्त्रपरिकर्मेव स्यात कुण्ठस्याततायिनि ॥ २९ ॥

मुमुक्षुओंकी आत्मध्यानसे रहित कोई भी क्रिया इष्टप्रयोजन–मोक्षकी साधक नहीं हो सकती। जो मोक्षकी अभिलाषा रखकर अन्य कायक्लेश तपश्चरणादि क्रिया तो करते हैं परन्तु निजआत्मस्वरूपका ध्यान नहीं करते उनका वह क्रिया करना ठीक वैसा ही समझना चाहिये जैसे कि कोई पुरुष शस्त्र चलानेका अभ्यास तो करता है परन्तु क्रियामें मंद है। यदि कोई शत्रु हथियार लेकर मारनेको उद्यत हो तो उसका वह निवारण नहीं कर सकता। उसी प्रकार केवल बाह्य क्रिया करनेवाला साधु कर्मशत्रुओंका निवारण नहीं कर सकता।

भावार्थ—मोक्षकी सिद्धि आत्मध्यानसे ही हो सकती है। जैसा कि कहा भी है किः—

मग्ना' कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञान न जानन्ति यद्
मग्ना ज्ञाननयैषिणोपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सतत ज्ञान भजन्तः स्वय,
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वश यान्ति प्रमादस्य च ॥

उन पुरुषोंको संसारसमुद्रमें डुबा हुआ समझना चाहिये जो कि कर्म करने—बाह्य आचरणके पालन करनेका ही एकान्त पक्ष पकडकर बैठे है, क्योंकि वे ज्ञानके अनुभवसे शून्य है। इसी प्रकार वे मनुष्य भी संसारमें निमग्न ही समझने चाहिये जो कि ज्ञानको ही एकान्ततः आत्मोद्धारका उपाय मानते है। क्योंकि वे आचरण करनेमें अत्यंत स्वच्छन्द और मंदोद्यमी होजाते है। अतएव वे ही साधुजन ससारसमुद्रको तरकर विश्वके ऊपर विराजमान हो सकते हैं, जो कि स्वय ज्ञानका सेवन—आत्मध्यानका अभ्यास करते हुए बाह्य चारित्रका भी पालन करते है और कभी भी प्रमादके वशीभूत नहीं हुआ करते।

समाधि—ध्यानकी उत्कृष्ट अवस्थाका माहात्म्य इतना अधिक है कि उसका कोई वर्णन नहीं कर सकता, इसी बातको प्रकट करते है।

य: सूते परमानन्दं भूर्भुवः स्वर्भुजामपि।
काम्यं समाधिः कस्तस्य क्षमो माहात्म्यवर्णने ॥ ३० ॥

अन्यकी तो बात ही क्या, अधोलोक के स्वामी धरणीन्द्रादिक और मध्य लोकके अधिपति चक्रवर्ती आदि तथा ऊर्ध्वलोकके पालन करनेवाले सौधर्मेंद्रादिकों को भी जो समाधि अभिलषित उत्कृष्ट प्रसन्नता रूप आनन्द—सुखको दिया करती है, उस समाधिके माहात्म्यका वर्णन करनेमे कौन समर्थ हो सकता है।

भावार्थ—समाधिके द्वारा कर्मोंको नष्ट कर जीव अविचल पद-मोक्षको प्राप्त किया करता है। किंतु जब तक वह प्राप्त नहीं होती तब तक उस समाधिके बलसे जीव संसारके भी सर्वोत्कृष्ट अभ्युदयोंको प्राप्त किया करता है, अत एव उसकी महिमा अपार है. उसका कोई वर्णन नहीं कर सकता। जैसाकि कहा भी है कि:—

अनाधिव्याधिसंबाधममन्दानन्दकारणम्।
न किंचिदन्यदस्तीह समाधेः सदृश सखे॥

अर्थात् समाधिके निमित्तसे सभी आधि और व्याधि दूर रहती हैं। समाधिमें प्रवृत्त रहनेवाले साधुके मानसिक खेद-क्लेश उत्पन्न नहीं हुआ करता। इसी तरह उनको शारीरिक दुःख भी या तो उत्पन्न ही नहीं होते, यदि दैववशसे उत्पन्न भी हो जांय तो पीडाके कारण नहीं हुआ करते। तथा यह समाधि संसार सम्बन्धी और निःश्रेयस संम्बधी कभी मंद न पडनेवाले महान् आनन्दको प्रकट करनेवाली है। अत एव हे मित्र! इस जीवके लिये संसारमें समाधिके समान कोई भी कल्याणका कारण नहीं हो सकता।

प्राभातिक देव वन्दनाके अनंतर आचार्यादिकोंकी वन्दना करनेका उपदेश देते हैं:—

लघ्व्या सिद्धगणिस्तुत्या गणी वन्द्यो गवासनात्।
सैद्धान्तोन्तःश्रुतस्तुत्या तथान्यस्तन्नुतिं विना॥ २१॥

साधुओंको आचार्यकी वन्दना गवासनसे बैठकर-जिस तरह गौ बैठते समय अपनी टांगोंका आकार बनाती है उस तरह बनाकर और लघु सिद्ध भक्ति तथा लघु आचार्य भक्ति बोलकर करनी चाहिये। यदि आचार्य सिद्धान्तवेत्ता हों तो उनकी वंदना लघुसिद्धभक्ति लघुश्रुतभक्ति और लघुआचार्यभक्तिको क्रमसे बोलकर करनी चाहिये। आचार्यके सिवाय दूसरे यतियोंकी वन्दना भी गवासनसे ही किन्तु वह केवल लघुसिद्ध भक्तिको बोलकर ही करनी चाहिये। किंतु यदि इतर साधु भी सिद्धान्तवेत्ता हों तो उनकी वंदना लघुसिद्ध भक्ति और उसकेबाद क्रमसे लघुश्रुत भक्ति भी बोलकर करनी चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

सिद्धभक्त्या बृहत्साधुर्वन्द्यते लघुसाधुना।
लघ्व्या सिद्धश्रुतस्तुत्या सैद्धान्तः प्रणम्यते॥
सिद्धाचार्यलघुस्तुत्या वन्द्यते साधुभिर्गणी।
सिद्धश्रुतगणिस्तुत्या लघ्व्या सिद्धान्तविद्गणी॥

छोटे साधुओंको बडे साधुओंकी वन्दना लघुसिद्धि भक्ति पूर्वक, तथा सिद्धान्तवेत्ता साधुओंकी वंदना क्रमसे लघुसिद्ध भक्ति और लघुश्रुतभक्तिके द्वारा, और आचार्यकी वंदना लघुसिद्धभक्ति तथा लघु आचार्यभक्तिके द्वारा,

एवं सिद्धान्त वेत्ता आचार्यकी वदना क्रमसे लघुसिद्धभक्ति श्रुतभक्ति और आचार्यभक्तिके द्वारा करनी चाहिये।

धर्माचार्यकी वन्दना-उपासना करनेसे जो माहात्म्य प्राप्त होता है उसकी प्रशंसा करते हैं:—

यत्पादच्छायमुच्छिद्य सद्यो जन्मपथक्लमम् ।
वर्वर्ष्टि निर्वृतिसुधां सूरिः सेव्यो न केन सः ॥ ३२ ॥

जिनके चरणोंकी छाया मुक्तिरूपी अमृतकी वृष्टि करके तत्काल जीवोंको संसार मार्गके संतापसे रहित बना देती है ऐसे आचार्यकी सेवा कौन नहीं करेगा ?

भावार्थ—कृतकृत्यताके द्वारा प्राप्त होनेवाले अथवा कृतकृत्यतास्वरूप संतोषको निर्वृति कहते हैं। इस संतोषको अमृतके समान समझना चाहिये। क्योंकि इसके प्राप्त होते ही जीव जन्ममरणरूपी ससारके मार्गमें भ्रमण करनेसे प्राप्त हुए संताप और क्लेशसे छूट जाता तथा परम आल्हादको प्राप्त होता है। किंतु यह अवस्था आचार्योंके चरणका आश्रय लिये बिना प्राप्त नहीं हो सकती। अत एव आचार्य चरणोंकी सेवा सर्वोत्कृष्ट फलको देनेवाली है ऐसा समझकर सभी मुमुक्षु साधुओंको उनकी उपासना करनी चाहिये।

अपनेसे बडे साधुओंकी वन्दना करनेसे जो फल प्राप्त होता है सो बताते हैं:—

येऽनन्यसामान्यगुणाः प्रीणन्ति जगदञ्जसा ।
तान्महन्महतः साधूनिहामुत्र महीयते ॥ ३३ ॥

जो साधु संसारके अन्य किसी भी जीवमें जो नहीं पाये जा सकते ऐसे महान् गुणोंके धारण करनेवाले और इन्द्रादिके द्वारा पूज्य है, तथा जगत्‌के जीवोंका परमार्थसे हित करनेवाले और अपने उपदेशादिके द्वारा भवआतापमे सतप्त प्राणियोंको तृप्त करनेवाले हैं; ऐसे दीक्षाकी अपेक्षा अपनेसे बडे साधुओंकी पूजा करनेपर ही मुमुक्षु साधु इस लोक तथा परलोकमें महनीयता—पूज्यताको प्राप्त हुआ करता है।

भावार्थ—अपनेसे बडे साधुओंकी विनय करनेसे पूज्यता प्राप्त हुआ करती है।

प्रातःकालकी चैत्यवंदना आदि क्रिया कितने समयतक करनी और उसके अनन्तर क्या करना सो बताते हैः—

प्रवृत्त्यैवं दिनादौ द्वे नाड्यौ यावद्यथाबलम्।
नाडीद्वयोनमध्याह्नं यावत्स्वाध्यायमावहेत ॥ ३४ ॥

पूर्वोक्त रीतिसे चैत्यवंदना आदि क्रिया प्रातः काल-दिनकी आदिमें दोघडी तक करनी चाहिये। उसके बाद साधुओंको स्वाध्याय करना चाहिये। स्वाध्यायका समय मध्याह्नसे दो घडी पहले तकका है। सो इस समय के भीतर ही साधुओंको अपनी शक्तिके अनुसार स्वाध्याय करना चाहिये।

स्वाध्यायको समाप्त करनेपर मुनिकी दो अवस्थाएं हो सकती हैं। एक उपवास सहित और दूसरी उपवासरहित। इनमेंसे पहली अवस्थामें मध्याह्नसे दो घडी पहले और दो घडी पीछेका जो अस्वाध्यायका काल है उस समयमें मुनिको क्या करना चाहिये सो बताते हैः—

ततो देवगुरू स्तुत्वा ध्यानं वाराधनादि वा।
शास्त्रं जपं वाऽस्वाध्यायकालेऽभ्यसेदुपोषितः ॥ ३५ ॥

उपवास युक्त साधुको पूर्वाह्णकालका स्वाध्याय समाप्त होने पर अस्वाध्याय कालमें श्री अरहंत परमेष्ठी और गुरु— धर्माचार्यकी वन्दना करके ध्यान करना चाहिये। अथवा चार आराधना आदिका या किसी शास्त्रका अभ्यास करना चाहिये। यद्वा पचनमस्कारादि मंत्रका जप करना चाहिये।

उपवास न करनेवाले साधुको इस मध्याह्नके अस्वाध्यायकालमें क्या करना चाहिये सो बताते हैंः—

प्राणयात्राचिकीर्षायां प्रत्याख्यानमुपोषितम्।

न वा निष्ठाप्य विधिवद्भुक्त्वा भूयः प्रतिष्ठयेत् ॥ ३६ ॥

यदि भोजन करनेकी इच्छा हो तो पूर्व दिन जो प्रत्याख्यान अथवा उपवास ग्रहण किया था उसकी विधिपूर्वक क्षमापणा करनी चाहिये। और उस निष्ठापनके अनंतर शास्त्रोक्त विधिके अनुसार भोजन करके अपनी शक्तिके अनुसार फिर भी प्रत्याख्यान अथवा उपवासकी प्रतिष्ठापना करनी चाहिये।

प्रत्याख्यान या उपवासकी निष्ठापना-समाप्ति और आगेकेलिये प्रतिष्ठापन—प्रारम्भ करनेकी और प्रतिष्ठापन करनेके अनंतर आचार्य परमेष्ठीकी वंदना करनी चाहिये, अत एव उसके भी करनेकी विधि बताते हैं:—

हेयं लघ्व्या सिद्धभक्त्याशनादौ, प्रत्याख्यानाद्याशु चादेयमन्ते।
सूरौ तादृग्योगिभक्त्यग्रया तद्, ग्राह्यं वन्द्यः सूरिभक्त्या स लघ्व्या ॥३७॥

पहले दिन जो प्रत्याख्यान या उपवास ग्रहण किया था उसकी निष्ठापना साधुओंको भोजनके पहले लघु सिद्धभक्ति बोलकर करनी चाहिये। तथा भोजन क्रिया समाप्त होते ही तत्काल पुनः सिद्धभक्ति बोलकर नवीन प्रत्याख्यान या उपवासका प्रतिष्ठापन करना चाहिये। किंतु इस प्रकारसे स्वयं प्रत्याख्यानादिका प्रतिष्ठापन आचार्य परमेष्ठीके निकट न रहनेपर ही करना चाहिये। यदि आचार्य पासमें हों तो साधुओंको भोजनके अनंतर लघुआचार्य भक्ति बोलकर उनकी वंदना करनी चाहिये। पुनः लघु सिद्ध भक्ति और योगिभक्ति बोलकर प्रत्याख्यानादिका प्रतिष्ठापन करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

सिद्धभक्त्योपवासश्च प्रत्याख्यानं च मुच्यते।
लघ्व्यैव भोजनस्यादौ भोजनान्ते च गृह्यते ॥
सिद्धयोगिलघुभक्त्या प्रत्याख्यानादि गृह्यते।
लघ्व्या तु सूरिभक्त्यैव सूरिर्वन्द्योथ साधुना ॥

अर्थात् भोजनकी आदिमें उपवास या प्रत्याख्यानका त्याग और भोजनके अन्तमें उसका ग्रहण लघु

आचार्य वन्दनाके बाद साधुओंको विधिपूर्वक देववन्दना करके प्रदोष-सन्ध्या समयके अनन्तर दो घडी काल व्यतीत होनेपर पूर्वरात्रिक स्वाध्यायका प्रारम्भ करना चाहिये. और अर्धरात्रिमें दो घडी समय जब बाकी रहे तब उस स्वाध्यायको समाप्त करना चाहिये ।

इस पूर्वरात्रिक स्वाध्यायके समाप्त होनेपर साधुओंको उचित है कि वे ऐसा अभ्यास और प्रयत्न करें कि जिससे वे निद्राके वशीभूत न हों । अत एव निद्राको जीतनेके उपाय कौनसे हैं सो बताते हैं:—

ज्ञानाद्याराधनानन्दसान्द्रः संसारभीरुकः ।
शोचमानोऽर्जितं चैनो जयेन्निद्रां जिताशनः ॥ ४२ ॥

निद्राको जीतनेके चार उपाय हैं । १-आहारको जीतना । उपवास या अनुपवास करके-३२ ग्रास मात्र अथवा उदरके तीन भागमात्र जो भोजनका प्रमाण बताया है उससे कम भोजन करके, अथवा ऐसा कोई भी आहार ग्रहण न करके कि जिससे शरीरमें आलस्य या तन्द्रा आजाय, निद्राको जीतना चाहिये । जिताशनः इस शब्दकी जगह जितासनः ऐसा दन्त्य सकारका भी पाठ माना है । अत एव इस शब्दका अर्थ आसनको जीतना ऐसा होता है । अर्थात् पर्यंकासन या वीरासन आदिसे चलायमान न होकर-आसनके निमित्तसे खेदित न होकर निद्राको जीतना चाहिये । दूसरा उपाय-आराधनाओंकी अविच्छिन्न प्रवृत्ति है । अर्थात् ज्ञान दर्शन चारित्र और तप इन चार विषयोंकी चारों आराधनाओंके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले प्रमोदको निरन्तर प्रवृत्तिके द्वारा अतिसघन बनाकर निद्राको जीतना चाहिये । तीसरा उपाय संवेग है । अर्थात् पंचपरिवर्तनरूप या दुःखोंके कारण अथवा सर्वथा दुःखमय संसारसे निरन्तर डरनेवाला निद्राको जीत सकता है । चौथा उपाय शोक है । जो पूर्वकालमें अपनेसे कोई पाप बन गया है उसका शोक करनेसे भी निद्रा जीती जा सकती है । जैसा कि कहा भी है कि:—

ज्ञानाद्याराधने प्रीतिं भयं संसारदुःखतः ।
पापे पूर्वार्जिते शोकं निद्रां जेतुं सदा कुरु ॥

अर्थात्—हे आत्मन् ! तू निद्राको जीतनेकेलिये ज्ञानादिके आराधन करनेमें प्रीति और संसारके दुःखोंसे भय तथा पूर्वसंचित पापोंका शोक सदा किया कर.

जो स्वाध्यायके करनेमें असमर्थ है उनके लिये देव वन्दना करनेका विधान करते हैंः—

सप्रतिलेखनमुकुलितवत्सोत्सङ्गितकरः सपर्यङ्कः ।
कुर्यादेकाग्रमनाः स्वाध्यायं वन्दनां पुनरशक्त्या ॥ ४२ ॥

प्रतिलेखन—पीछीको हाथोंमें लेकर उसके साथ २ ही हाथोंको मुकुलित—अञ्जलिबद्ध करके और उन हाथोंको वक्षः स्थलके मध्यमें रखकर, पर्यङ्कासनसे बैठकर, और मनको एकाग्र बनाकर—अन्य किसी भी विषयकी तरफ अपने चित्तको न जाने देकर साधुओंको स्वाध्यायमें प्रवृत्त होना चाहिये । जैसा कि कहा भी हैः—

पलियकणिसेज्जगदो पडिलेहिय अञ्जलीकदपणामो ।
सुत्तत्थजोगजुत्तो पढिदव्वो आदसत्तीए ॥

अर्थात्-पर्यंकासनको धारण करनेवाला और पीछीयुक्त अंजलिके द्वारा किया है प्रणाम जिसने ऐसे साधुको अपनी शक्तिके अनुसार सूत्रार्थके स्वाध्यायमें प्रवृत्त होना चाहिये । और भी कहा है किः—

मनो बोधाधीनं विनयविनियुक्तं निजवपु,—
र्वचः पाठायत्तं करणगणमाधाय नियतम् ।
दधानः स्वाध्यायं कृतपरिणतिर्जैनवचने,
करोत्यात्मा कर्मक्षयमिति समाध्यन्तरमिदम् ॥

अर्थात्—मनको ज्ञानके आधीन बनाकर और अपने शरीरको विनयसे युक्त करके तथा वचनको पाठ करनेमें लगाकर और इन्द्रियोंको अपने २ विषयोंसे निवृत्त करके जिन भगवान्के वचनोंकी तरफही अपना उपयोग लगाते हुए जो स्वाध्याय करता है वह आत्मा कर्मोंका क्षय कर देता है। अतएव इस स्वाध्यायको समाधि ही समझना चाहिये ।

सिद्ध भक्ति बोलकर ही करना चाहिये। अथवा साधुओंको लघु सिद्धभक्ति और लघु योगिभक्ति बोलकर प्रत्याख्यानादिका ग्रहण करना चाहिये और लघु आचार्य भक्ति बोलकर उनकी वंदना करनी चाहिये।

भोजनके अनंतर तत्काल ही प्रत्याख्यानादि ग्रहण करनेके लिये जो कहा है उसका अभिप्राय स्पष्ट करनेके लिये तत्काल प्रत्याख्यानादि ग्रहण न करनेमें दोष और थोडी देरके लिये भी उसके ग्रहण करनेमें महान् लाभ है; इस बातको बताते हैं:—

प्रत्याख्यानं विना दैवात् क्षीणायुः स्याद्विराधकः।
तदल्पकालमप्यल्पमप्यर्थपृथु चण्डवत् ॥ ३८ ॥

प्रत्याख्यानादिके ग्रहण किये विना यदि कदाचित्—पर्वबद्ध आयुकर्मके वशसे वर्तमान आयु क्षीण हो जाय तो वह साधु विराधक समझना चाहिये। अर्थात् कारण वश यदि उसकी अकस्मात् मृत्यु हो जाय तो वह साधु प्रत्याख्यानसे रहित होनेके कारण रत्नत्रयका आराधक नहीं हो सकता। किंतु इसके विपरीत प्रत्याख्यान सहित तत्काल मरण होनेपर थोडी देरकेलिये और थोडासा ही ग्रहण किया हुआ वह प्रत्याख्यान चण्ड नामक चाण्डालकी तरह महान् फलका देनेवाला होजाता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

चण्डोऽवन्तिषु मातङ्गः किल मांसनिवृत्तितः।
अप्यल्पकालभाविन्याः प्रपेदे यक्षमुख्यताम् ॥

अर्थात्—उज्जयनी नगरीमें एक चण्ड नामका मातङ्ग रहता था। एक दिन वह चामकी रस्सी बट रहा था, जब कि उसकी आयु पूर्ण होनेमें थोडासा ही समय बाकी रहा था। यह बात एक ऋषिराजको मालुम हुई तब उन्होंने उसको मांस त्यागका व्रत दिया। उस मातङ्गने " ये मेरी चामकी रस्सीका बटना जबतक पूर्ण नहीं होता तब तकके लिये मेरे मांसका त्याग है " ऐसा व्रत लिया। भविव्यतानुसार रस्सी बटना पूर्ण होनेके पहले ही उसका मरण हो गया। अत एव उस व्रतके प्रसादसे वह मरकर यक्षेन्द्र हुआ।

प्रत्याख्यानादि ग्रहण करनेके अनंतर गोचार प्रतिक्रमण—भोजनसम्बन्धी दोषोंका संशोधन करना चाहिये। अतएव उसकी विधि बताते हैं:—

प्रतिक्रम्याथ गोचारदोषं नाडीद्वयाधिके ।
मध्यान्हे प्राह्णवद्वृत्ते स्वाध्यायं विधिवद्भजेत ॥ ३९ ॥

प्रत्याख्यान अथवा स्वाध्यायको अपनेमें स्थापित करनेके बाद साधुओंको गोचार[1]सम्बन्धी दोषों—अतीचारोंका प्रतिक्रमण करना चाहिये । और उसके बाद पूर्वाह्नकी तरह अपराह्न कालमें भी मध्यान्हसे दो घडी अधिक समय व्यतीत होनेपर विधिपूर्वक स्वाध्यायका प्रारम्भ करना चाहिये ।

अपराह्न कालका स्वाध्याय समाप्त होनेपर दैवसिक प्रतिक्रमण—दिन भरमें जो कोई दोष अथवा अतीचार लग गया हो उसका संशोधन आदि करनेकी विधि बताते हैः—

नाडीद्वयावशेषेह्नि तं निष्ठाप्य प्रतिक्रमम् ।
कृत्वाह्निकं गृहीत्वा च योगं वन्द्यो यतैर्गणी ॥ ४० ॥

जब दिनमें दो घडी काल बाकी रहे तब विधिपूर्वक आपराह्णिक स्वाध्यायकी निष्ठापना कर देनी चाहिये । और फिर आह्निक क्रिया करनेमें जो किसी प्रकारका दोष लगा हो उसका प्रतिक्रमण करना चाहिये । पुनः संयमियोंको रात्रि योग ग्रहण कर आचार्य परमेष्ठीकी वंदना करनी चाहिये ।

आचार्य वन्दनाके अनंतर देववन्दना आदि जो करना चाहिये उसका विधान करते हैंः—

स्तुत्वा देवमथारभ्य प्रदोषे सद्विनाडिके ।
मुञ्चेन्निशीथे स्वाध्यायं प्रागेव घटिकाद्वयात ॥ ४१ ॥

१—मुनियोंके आहारके गोचार भ्रामरी अक्षम्रक्षण और श्वभ्रपूरण ये भेद और इनका स्वरूप पहले बता चुके हैं ।

भावार्थ—जिस स्वाध्यायके करनेमें मन वचन काय और इन्द्रियोंको अन्य सब विषयोंसे रोककर अपने उपयोगको जिनवचनकी तरफ ही लगाया जाता है उस स्वाध्यायको उत्कृष्ट ध्यान समझना चाहिये। और उसके करने वाले ही साधुके समाधिका कार्य—कर्मक्षय हुआ करता है।

स्वाध्यायको करनेके लिये पर्यंकासनका जो निर्देश किया है वह उपलक्षण है। अत एव वीरासनादिकसे भी स्वाध्याय किया जा सकता है ऐसा समझना चाहिये। किंतु जो व्यक्ति इस विधिसे स्वाध्याय नहीं कर सकता और खडे होकर वंदना करनेमें असमर्थ हो तो वह केवल वंदना कर सकता है. अर्थात् शक्तिके रहते हुए स्वाध्याय और उसके अभावमें उक्त विशेषणोंसे युक्त साधुको वन्दना ही करनी चाहिये। प्रतिक्रमणके द्वारा योगके ग्रहण और त्यागमें जो काल लगना चाहिये उसका प्रमाण व्यवहारसे अथवा जैसा कि पहले कहा जा चुका है तदनुसार समझ लेना चाहिये।

किसी अन्य धर्मकार्यादिमें लगजानेसे यदि उक्त योगप्रतिक्रमणादिक निर्दिष्ट समयपर न हो सकें और उनके करनेमें किसी प्रकारका व्यवधान आजाय तो वह अन्य समयमें भी किया जा सकता है। वैसा करनेमें कोई दोष नहीं है, ऐसा उपदेश करते हैं:—

योगप्रतिक्रमविधिः प्रागुक्तो व्यावहारिकः।
कालक्रमानियामोऽत्र न स्वाध्यायादिवद्यतः॥ ४९ ॥

रात्रियोग तथा प्रतिक्रमणका जो पहले विधान किया गया है वह व्यावहारिक है। क्योंकि इनके विषयमें कालके क्रमका-समयानुपूर्विताका या काल और क्रमका नियम नहीं है। जिस प्रकार स्वाध्यायादि (स्वाध्याय देव वन्दना और भक्त प्रत्याख्यान) के विषयमें काल और क्रम नियमित माने गये हैं उस प्रकार रात्रियोग और प्रतिक्रमणके विषयमें नहीं।

भावार्थ—जब स्वाध्यायादिकी तरह इनका कालक्रम नियत नहीं है तब यह बात स्वयं सिद्ध है कि

ये योग और प्रतिक्रमण निर्दिष्ट समयसे क्वचित् कदाचित् भिन्न समयमें भी किये जा सकते हैं। फिर भी किसी विशिष्ट धर्म कार्यमें रुकजानेपर ही साधुओंको ये भिन्न समयमें करने उचित हैं, सर्वदा वैसा करना योग्य नहीं है।

इस प्रकार नित्य क्रियाओंके करनेकी विधिका वर्णन किया। अब क्रमानुसार नैमित्तिक क्रियाओंके वर्णनका अवसर प्राप्त है। अब एन नैमित्तिक क्रियाओंमेंसे सबसे पहले चतुर्दशीको करने योग्य क्रियाकी विधि दो मतोंके अनुसार बताते हैं:—

त्रिसमयवन्दने भक्तिद्वयमध्ये श्रुतनुतिं चतुर्दश्याम्।
प्राहुस्तद्भक्तित्रयमुखान्तयोः केऽपि सिद्धशान्तिनुती ॥ ४५ ॥

क्रियाकाण्डके निरूपण करनेवाले प्राकृत चारित्रसारके मतानुसार जो वन्दना भक्ति आदि करनेका विधान करते हैं उन आचार्योंका कहना है कि प्रातःकाल मध्याह्न और सायंकाल इन तीनों समयोंमें नित्य देववंदना के अवसर पर जो दो भक्ति–चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति की जाती हैं उनके मध्यमें चतुर्दशीके दिन श्रुतभक्ति और करनी चाहिये। जैसा कि क्रियाकाण्डमें भी बताया गया है। यथा:—

जिणदेववन्दणाए चेदियभत्तीय पंचगुरुभत्ती।
चउदसिय तं मज्झे सुदभत्ती होइ कायव्वा ॥

जिनदेवकी नित्यवंदना करनेमें चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति की जाती है। किंतु चतुर्दशीको इन दोनों भक्तियोंके मध्यमें श्रुतभक्ति और करनी चाहिये। चारित्रसारमें भी कहा है कि "देवकी प्रतिदिनकी स्तवन क्रिया करने में चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति तथा चतुर्दशीके दिन इन दोनों भक्तियोंके मध्यमें श्रुतभक्ति हुआ करती है।

संस्कृत चारित्रसारके मतानुसार जो क्रियाकाण्डका निरूपण करने वाले हैं उन आचार्योंका कहना है कि चतुर्दशीके दिन उपर्युक्त तीनों भक्तियों–चैत्यभक्ति श्रुतभक्ति और पंचगुरुभक्तिके आदिमें और अंतमें क्रमसे सिद्धभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये। जैसा कि संस्कृत क्रियाकाण्डके पाठमें कहागया है कि:—

सिद्धे चैत्ये श्रुते भक्तिस्तथा पञ्चगुरुस्तुतिः।
शान्तिभक्तिस्तथा कार्या चतुर्दश्यामिति क्रिया ॥

अर्थात्-क्रमसे सिद्धभक्ति चैत्यभक्ति श्रुतभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करके चतुर्दशीको क्रिया करनी चाहिये।

यदि कदाचित् किसी धर्मकार्यके वश चतुर्दशीकी उपर्युक्त क्रिया करनेमें विच्छेद उपस्थित हो जाय तो उसके बदलेमें क्या करना चाहिये सो बताते हैं:—

चतुर्दशीक्रिया धर्मव्यासङ्गादिवशान्न चेत्।
कर्तुं पार्येत पक्षान्ते तर्हि कार्याष्टमीक्रिया ॥ ४६ ॥

क्षपण-निर्यापण-समाधि मरण सरीखा कोई ऐसा धर्म कार्य आकर उपस्थित हो जाय कि जिसमें लगे रहनेसे मुमुक्षु साधु उस दिनकी—चतुर्दशीकी क्रिया न कर सके तो ऐसे समयमें उसको दूसरे दिन-अमावस्या या पूर्णमासीको अष्टमी क्रिया करनी चाहिये। सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति और शांतिभक्तिके करनेसे अष्टमी क्रिया हुआ करती है, ऐसा आगेके सूत्रमें बतावेंगे। इसी विषयमें चारित्रसारमें कहा है कि:-

"चतुर्दशीदिने धर्मव्यासङ्गादिना क्रिया
कर्तुं न लभ्येत चेत् पाक्षिकेऽष्टम्यां क्रिया कर्तव्या।"

धर्मकार्यके कारण चतुर्दशीके दिनकी क्रिया करनेमें यदि व्यासङ्ग—व्यवधान आदि उपस्थित हो जाय तो पक्षान्तमें—अमावस्या अथवा पूर्णमासीको अष्टमीकी क्रिया करनी चाहिये। तथा क्रियाकाण्डमें भी ऐसा ही कहा है।

जदि पुण धम्मव्वासंगा ण कया होज्ज चउद्दसीकिरिया।
तो पुण्णिमाइदिवसे कायव्वा पक्खिया किरिया ॥

अर्थात् धर्म व्यासङ्गसे यदि चतुर्दशीकी क्रिया न की जासकी हो तो पूर्णमासीको पाक्षिकी क्रिया करनी चाहिये।

अष्टमीकी और पक्षान्तकी क्रियाविधिको तथा सर्वत्र चारित्रभक्तिके अनन्तर होनेवाली आलोचनाविधिको बताते हैं:—

स्यात् सिद्धश्रुतचारित्रशान्तिभक्त्याष्टमीक्रिया।
पक्षान्ते साऽश्रुता वृत्तं स्तुत्वालोच्यं यथायथम्॥ ४७॥

सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति इन चार भक्तियोंके द्वारा अष्टमीक्रिया की जाती है। पाक्षिकी क्रिया इनमेंसे श्रुतभक्तिके सिवाय बाकी तीन भक्तिके द्वारा हुआ करती है। तथा साधुओंको उचित है कि सभी जगह चारित्रभक्तिके अनन्तर यथायोग्य आलोचना किया करें। चारित्रसारमें भी अष्टमीको सिद्ध श्रुत चारित्र शान्तिभक्तिका करना और पाक्षिकी क्रिया करनेमें सिद्ध चारित्र शान्तिभक्तिका करना ही बताया है। किंतु संस्कृत क्रियाकाण्डमें यह जो पाठ दिया है कि:—

सिद्धश्रुतसुचारित्रचैत्यपञ्चगुरुस्तुति।
शान्तिभक्तिश्च षष्ठीय क्रिया स्यादष्टमीतिथौ॥
सिद्धचारित्रचैत्येषु भक्तिः पञ्चगुरुष्वपि॥
शान्तिभक्तिश्च पक्षान्ते जिने तीर्थे च जन्मनि॥

अष्टमीको सिद्धश्रुत चारित्र चैत्य पंचगुरुकी भक्ति और छट्ठी शांतिभक्ति करनी चाहिये। तथा अमावस्या पूर्णिमा और तीर्थंकर भगवान्‌के जन्म कल्याणके समय सिद्ध चारित्र चैत्य पंचगुरु शान्तिभक्ति करनी चाहिये। सो इसमें नित्यदेववन्दनाके साथ २ अष्टमी चतुर्दशीका विधान बताया है। अत एव यह वृद्धसम्प्रदाय समझना चाहिये।

१—अष्टमीक्रियामें जो चार भक्ति होती है उनमेंसे पाक्षिकी क्रियामें श्रुतभक्ति नहीं होती।

सिद्धप्रतिमा, तीर्थंकर भगवान्का जन्मकल्याणक, और अपूर्व जिनप्रतिमाके विषयमें करने योग्य क्रियाका उपदेश देते हैं:—

सिद्धभक्त्यैकया सिद्धप्रतिमायां क्रिया मता ।
तीर्थकृज्जन्मनि जिनप्रतिमायां च पाक्षिकी ॥ ४८ ॥

सिद्ध प्रतिमाकी वन्दना करनेमें एक सिद्धभक्ति ही करनी चाहिये । और तीर्थंकर भगवान्के जन्मकल्याण के समय पाक्षिकी क्रिया–सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये । इसी प्रकार अपूर्व जिनप्रतिमाकी वन्दना करनेमें भी पाक्षिकी क्रिया ही करनी चाहिये ।

अष्टमी आदिकी क्रियाओंमें यदि अपूर्व चैत्यवन्दना और नित्यदेव वदनाका योग करना अभीष्ट हो, अथवा इनका संयोग आकर उपस्थित हो जाय तो चैत्यभक्ति और पचगुरुभक्तिका प्रयोग कब और किस स्थानपर करना सो बताते हैं:—

दर्शनपूजात्रिसमयवन्दनयोगोऽष्टमीक्रियादिषु चेत् ।
प्राक् तर्हि शान्तिभक्तेः प्रयोजयेच्चैत्यपंचगुरुभक्ती ॥ ४९ ॥

अष्टमी आदि क्रियाओंके समयमें ही यदि अपूर्व चैत्य वन्दना और त्रैकालिक नित्य वंदनाका संयोग आकर उपस्थित होजाय तो साधुओंको उचित है कि शान्तिभक्तिके पहले चैत्यभक्ति और पचगुरुभक्ति करें । जैसा कि चारित्रसारमें भी कहा है कि:—

" अष्टम्यादिक्रियासु दर्शनपूजात्रिकालदेववन्दनायोगे ।
शान्तिभक्तितः प्राक्चैत्यभक्तिं पञ्चगुरुभक्तिं च कुर्यात् ' इति ।

अर्थात्—अष्टमी आदिकी क्रियामें ही दर्शनपूजा-चैत्यवदना और प्रातः मध्याह्न और सायंकालकी वंदनाका सयोग हो तो शांतिभक्तिके पहले चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति करनी चाहिये ।

एक ही जगह अनेक अपूर्व जिनप्रतिमाओंका दर्शन होनेपर किस प्रकार क्रिया करना सो बताते हैं। तथा उनके फिर भी दर्शनके विषयमें उन प्रतिमाओंकी अपूर्वता कब समझना इसकेलिये कालका प्रमाण भी दिखाते हैं।

दृष्ट्वा सर्वाण्यपूर्वाणि चैत्यान्येकत्र कल्पयेत् ।
क्रियां तेषां तु षष्ठेऽनुश्रूयते मास्यपूर्वता ॥ ५० ॥

यदि अनेक अपूर्व जिनप्रतिमा एक ही स्थानपर हों तो उन सभीका दर्शन करके उनमेंसे जिसकी तरफ रुचि अधिक प्रवृत्त हो उस एक ही प्रतिमाको लक्ष्य करके पहले कहे मुजब क्रिया करनी चाहिये। तथा उन प्रतिमाओंकी अपूर्वता व्यवहारी लोगोंकी परम्परासे छट्ठे महीनेमें समझनी चाहिये।

विशिष्ट क्रियाओंके करनेके लिये तिथिका निर्णय दिखाते हैं

त्रिमुहूर्तेऽपि यत्रार्क उदेत्यस्तमयत्यथ ।
स तिथिः सकलो ज्ञेयः प्रायो धर्म्येषु कर्मसु ॥ ५१ ॥

जिस दिन तीन मुहूर्ततक—कमसे कम छह घडी कालतक सूर्यका उदय अथवा अस्त पाया जाय उपवास वन्दना आदि धर्मसम्बन्धी क्रियाओंके करनेमें प्रायःवही तिथि पूर्ण मानी है।

प्रायः कहनेका अभिप्राय यह है कि बहुधा व्यवहारी लोगोंका परम्परासे ऐसा ही व्यवहार देखनेमें आता है; किंतु वास्तवमें यह नियम नहीं समझना चाहिये। अतएव देश कालादिके वश–क्वचित् इसके प्रतिकूल भी व्यवहार हो सकता है।

प्रतिक्रमणके विषयमें क्रियाकरनेकी विधिविशेष पांच श्लोकों में बताते हैं:—

पाक्षिक्यादिप्रतिक्रान्तौ वन्देरन्विधिवद्गुरुम् ।

सिद्धवृत्तस्तुती कुर्याद्गुर्वी चालोचनां गणी ॥ ५२ ॥
देवस्याग्रे परे सूरेः सिद्धयोगिस्तुती लघू ।
सवृत्तालोचने कृत्वा प्रायश्चित्तमुपेत्य च ॥ ५३ ॥
वन्दित्वाचार्यमाचार्यभक्त्या लघ्व्याससूरयः ।
प्रतिक्रान्तिस्तुतिं कुर्युः प्रतिक्रामेत्ततो गणी ॥ ५४ ॥
अथ वीरस्तुतिं शान्तिचतुर्विंशतिकीर्तनाम् ।
सवृत्तालोचनां गुर्वीं सगुर्वालोचनां यताः ॥ ५५ ॥
मध्यां सूरिनुतिं तां च लघ्वीं कुर्युः परे पुनः ।
प्रतिक्रमा बृहन्मध्यसूरिभक्तिद्वयोज्झिताः ॥ ५६ ॥ पञ्चकम् ।

पाक्षिक आदि प्रतिक्रमणके समय अर्थात् अमावस्या और पूर्णमासीको किये जानेवाले तथा चातुर्मास और संवत्सरके अंतमें जो प्रतिक्रमण किया जाता है वह जब करना हो तब शिष्य और सधर्माओंको पहले गुरु— आचार्यकी पूर्वमें बताई हुई विधिके अनुसार वन्दना करनी चाहिये। अर्थात् आचार्यकी वन्दना लघुसिद्धभक्ति और लघु आचार्यभक्तिको बोलकर गवासनके द्वारा करनी चाहिये। और आचार्य यदि सिद्धान्तवेत्ता हों तो क्रमसे सिद्ध श्रुत आचार्यभक्तिके द्वारा उनकी वन्दना करनी चाहिये। इत्यादि व्यवहारके अनुरोधसे जो विधान पहले बता चुके हैं उसीमुजब पाक्षिक आदि चातुर्मासिक तथा वार्षिक प्रतिक्रमणके समय भी गुरुकी पहले वन्दना करनी चाहिये। यहां पर तीनों भक्तियोंके बोलते समय क्रमसे तत्तद्भक्तिके आदिमें तीन प्रकारके उच्चारण हुआ करते हैं। अर्थात् "नमोस्तु प्रतिष्ठापनसिद्धभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम्" ऐसा सिद्धभक्तिके प्रारम्भमें और "नमोस्तु प्रतिष्ठापनश्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्" ऐसा श्रुतभक्ति करते समय तथा "नमोस्तु प्रतिष्ठापनाचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्" ऐसा आचार्यभक्तिको आदिमें बोलना चाहिये।

इसके अनंतर अपने शिष्यों और सधर्माओंसे युक्त गुरु—आचार्यको अपने इष्ट देवको नमस्कार कर " समता सर्वभूतेषु " इत्यादि पाठ बोलकर वृहद्वाक्योंमेंसे " सिद्धानुद्धूतकर्म " त्यादिक सिद्धभक्ति और ' येनेन्द्रान् " इत्यादि अञ्चलिका सहित चारित्रभक्ति बोलनी चाहिये। तथा श्री अरहंत भगवान्के सम्मुख " इच्छामि भत्ते पविख यंमि आलोचेउं " इत्यादि " जिणगुण संपात्ति होउ मज्झं " यहांतककी वृहदालोचना करनी चाहिये। यहांपर भी दोनों भक्तियोंकी आदिमें दो प्रकारके उचारण हुआ करते है।" सर्वाती चारविशुद्ध्यर्थं भावपूजावंदनास्तवसमेतं सिद्धभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम् " ऐसा सिद्धभक्तिकी आदिमें उचारण करना चाहिये। और " सर्वाती चार विशुद्धयर्थं आलोचना चारित्रभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम्" ऐसा चारित्रभक्ति की आदिमें उच्चारण करना चाहिये।

अर्थात्—पंचपरमेष्ठियोंके णमो अरहंताणं प्रभृति पांच नमस्कार पदोंको बोलकर कायोत्सर्ग करके " थोस्सामि " प्रभृति पाठ बोलना चाहिये। पुनः " तव सिद्ध " इत्यादि पाठको अञ्चलिकाके साथ बोलकर पूर्वोक्त विधि करनी चाहिये। और उसके बाद अचलिकायुक्त " प्रावृट्काले सविद्युत् " इत्यादि योगिभक्तिका पाठ बोलकर तथा " इच्छामिभत्ते चरित्ताचारो तेरसविहो" इत्यादि पांचो दण्डकोंका उचारण करके और " वदसमिदिंदिय " से लेकर " छेदोवट्ठावणं होदु मज्झं " यहांतकके पाठ को तीन वार बोलकर अरहंत देवके सामने अपने दोषोंकी आलोचना करनी चाहिये। इसके बाद अपनेसे जैसा कुछ दोष बनगया हो उसके अनुसार स्वयं प्रायश्चित्त लेकर और " पंचमहाव्रतम् " आदि पाठको तीन वार बोलकर प्रायश्चित्तके योग्य शिष्योंको भी प्रायश्चित्त देकर देवके समक्ष गुरुभक्ति करनी चाहिये। यहांपर तीन प्रकारके उचारण किये जाते हैं। पहला " नमोस्तु सर्वातीचारविशुद्धयर्थं सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम् " दूसरा " नमोस्तु सर्वाती चार विशुद्धयर्थं आलोचनायोगिभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम् " और तीसरा " नमोस्तु निष्ठापनाचार्य भक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम्।" ये उच्चारण क्रमसे यथास्थान करने चाहिये। यह सब क्रिया केवल आचार्यको ही करनी चाहिये।

इसके अनंतर ग्रहण करलिया है प्रायश्चित्त जिन्होंने ऐसे आचार्य परमेष्ठीके आगे शिष्यों तथा सधर्माओंको लघुसिद्धभक्ति लघुयोगिभक्ति और चारित्रभक्ति तथा आलोचना करके जिससे जिसप्रकारका दोष बनगया

हो उसको उसी मूजब शुद्धि—प्रायश्चित्त आलोचनपूर्वक ग्रहण करके "श्रुतजलधि" इत्यादि लघु आचार्यभक्ति बोलकर विधिपूर्वक उनकी वन्दना करना चाहिये। पुनः आचार्य परमेष्ठीके साथ २ शिष्यों तथा सधर्माओंको मिलकर प्रतिक्रमणभक्ति करनी चाहिये। अर्थात् "सर्वातीचारविशुद्ध्यर्थं पाक्षिक प्रतिक्रमणक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकल कर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तवसमेतं प्रतिक्रमणभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम्" ऐसा पाठ बोलकर प्रतिक्रमण भक्ति करनी चाहिये, और उसके बाद "णमो अरहंताण" इत्यादि दण्डकका पाठ बोलकर कायोत्सर्ग धारण करना चाहिये।

उपर्युक्त परिकर्मके पूर्ण होनेपर पुनः केवल आचार्य परमेष्ठीको "थोस्सामि" प्रभृति दण्डक और गणधर वलयका उच्चारण करके प्रतिक्रमण दण्डकका पाठ करना चाहिये। तथा जबतक केवल आचार्य इस पाठका उच्चारण करें तब तक उन शिष्यों और सधर्माओंको कायोत्सर्गके द्वारा खडे २ वह प्रतिक्रमण दण्डकका पाठ सुनना चाहिये।

इसके अनंतर परिकर्ममें प्रवृत्त संयमी साधुओंको "थोस्सामि" प्रभृति दण्डकका पाठ बोलना चाहिये और आचार्यके साथ २ "वदसमिदिंदियरोधो" इत्यादि बोलकर वीरभक्ति करनी चाहिये- अर्थात् "सर्वाती चार विशुद्ध्यर्थं पाक्षिक प्रतिक्रमण क्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्म क्षयार्थं भावपूजा वन्दनास्तव समेतं निष्ठित करणवीरभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम्" इस प्रकार उच्चारण करके पुनः "णमो अरहंताणं" इत्यादि दण्डक पाठ बोलना चाहिये। उसके बाद कायोत्सर्गमें प्रवृत्त होना चाहिये और पहले कायोत्सर्गके जितने उच्छ्वास बताये हैं उतने उसमें पूर्ण करना चाहिये। उसके बाद "थोस्सामि" इत्यादि दण्डकका पाठ करके "चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं" इत्यादि स्वयंभूका और "यः सर्वाणि चराचराणि" इत्यादि अंचलिकायुक्त वीरभक्ति तथा "वदसमिदिंदियरोधो" आदि पाठ बोलना चाहिये।

इसके बाद साधुओंको आचार्य के साथ २ शांतिभक्ति और चतुर्विंशति तीर्थंकरभक्ति करनी चाहिये। अर्थात् "सर्वातीचारविशुद्ध्यर्थं शांतिचतुर्विंशतितीर्थंकरभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्" ऐसा उच्चारण करके "णमो अरहंताणं" इत्यादि दण्डकका पाठ बोलकर कायोत्सर्ग धारण करना चाहिये। कायोत्सर्गके अनंतर "थोस्सामि" प्रभृति दण्डक बोलकर शांतिभक्ति और "रक्षाम्" इत्यादि चतुर्विंशतितीर्थंकर भक्ति तथा "चउवीसं तित्थयरे" आदि

अंचलिका सहित पाठको बोलकर " वदसमिदिंदियरोधो " आदि पाठ बोलना चाहिये । उसके बाद साधुओंको आचार्य के साथ २ ही " सर्वातीचारविशुद्ध्यर्थं चारित्रालोचना चार्य भक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम् " ऐसा पाठ बोलकर लघु चारित्रालोचनाके साथ २ वृहदाचार्यभक्ति करनी चाहिये । अर्थात् " इच्छामि भत्ते चारित्ताचारो तेरसविहो परिहारविदो " इत्यादि दण्डकके द्वारा साध्य लघु चारित्रालोचनाके साथ " सिद्धगुणस्तुति " आदि वृहदाचार्यभक्ति करनी चाहिये । तदनंतर आचार्यके साथ २ ही साधुओंको " वदसमिदिंदियरोधो " इत्यादि पाठका उच्चारण और " सर्वातीचारविशुद्ध्यर्थं वृहदालोचनाचार्य भक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम् " ऐसा उच्चारण करके वृहदालोचनाके साथ २ " देशकुलजाइसुद्धा " इत्यादि मध्य वृहदाचार्य भक्ति करनी चाहिये । अर्थात् यह वृहदाचार्यभक्ति " इच्छामि भत्ते पक्खियम्मि अलोचेउं पण्णारसण्णं दिवसाणं " इत्यादि वृहदालोचनाके साथ वृहदाचार्यभक्ति करनी चाहिये ।

इसके अनंतर आचार्य परमेष्ठीके साथ ही साधुओंको " वदसमिदिंदियरोधो " इत्यादि पाठ करके और " सर्वातीचारविशुद्ध्यर्थं क्षुल्लकालोचना चार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम् " इस प्रकार उच्चारण करके पहलेके ही समान दण्डकादिक बोलकर लघु आचार्यभक्ति करनी चाहिये । अर्थात् " प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः " यहांसे लेकर " मोक्षमार्गोपदेशका " यहांतकका लघु आचार्यभक्तिका पाठ बोलना चाहिये । इस प्रकार सम्पूर्ण क्रिया करनेके बाद साधुओंको आचार्यके साथ २ ही न्यूनाधिकताके दोषकी शुद्धिकेलिये " सर्वातीचारविशुद्ध्यर्थं सिद्धचारित्रप्रतिक्रमणनिष्ठितकरणवीरशान्तिचतुर्विंशतितीर्थंकरचारित्रालोचनाचार्यवृहदालोचनाचार्यक्षुल्लकालोचनाचार्यभक्तीः कृत्वा तद्धीनाधिकत्वादिदोषविशुद्ध्यर्थं समाधिभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम् " ऐसा उच्चारण करके और पहलेके ही समान दण्डकादि पाठ करके अंतमें " शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः " इत्यादि इष्टप्रार्थना करनी चाहिये । तथा सबके अंतमें साधुओंको सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति बोलकर गुरु—आचार्यकी वन्दना करनी चाहिये ।

इस प्रकार प्रतिक्रमण करनेकी विधि यहांपर हमने संक्षेपमें बताई है । जिनको विशेष जानना या करना हो उन्हे किसी प्रौढ आचार्य के निकट विस्तारके साथ देखकर और सीखकर करनी चाहिये । इसी विषयमें आगममें कहा है किः—

सिद्धचारित्रभक्तिः स्याद्बृहदालोचना ततः
देवस्य गणिनो वाग्रे सिद्धयोगिस्तुती लघू ॥
चारित्रालोचना कार्या प्रायश्चित्तं ततस्तथा ।
सूरिभक्त्या ततो लघ्व्या गणिनं वन्दते यतिः ॥
स्यात्प्रतिक्रमणा भक्तिः प्रतिक्रामेत्ततो गणी ।
वीरस्तुतिर्जिनस्तुत्या सह शान्तिनुतिर्मता ॥
वृत्तालोचनया सार्द्धं गुर्वी सूरिनुतिस्ततः ।
गुर्वालोचनया सार्धं मध्याचार्यनुतिस्तथा ॥
लघ्वी सूरिनुतिश्चेति पाक्षिकादौ प्रतिक्रमे ।
ऊनाधिक्यविशुद्ध्यर्थं सर्वत्र प्रियभक्तिका ॥

अर्थात्-अरहंत देव अथवा आचार्यके सम्मुख सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति और बृहदालोचनाके बाद लघु सिद्धभक्ति और लघु योगिभक्ति की जाती है। पुनः चारित्रालोचनापूर्वक प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिये और उसके बाद साधुओंको लघु आचार्यभक्ति बोलकर आचार्यकी वन्दना करना चाहिये। तदनंतर प्रतिक्रमण भक्ति करनी चाहिये और आचार्यको प्रतिक्रमण कराना चाहिये। पुनः वीरभक्ति और चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्तिके साथ २ शांति भक्ति तथा उसके बाद चारित्रालोचनाके साथ २ बृहदाचार्य भक्ति और उसके बाद क्रमसे बृहदालोचनापूर्वक मध्य बृहदाचार्य भक्ति और अतमें लघुआचार्य भक्ति बोलकर साधुओंको आचार्यकी वन्दना करनी चाहिये। यह पाक्षिकादि प्रतिक्रमणके समयकी क्रियाओंका संक्षेप है। इसके सिवाय न्यूनाधिकताके दोषकी शुद्धिके लिये सभी जगह समाधिभक्ति करनी चाहिये।

चारित्रसारमें भी ऐसा ही कहा है कि-"पाक्षिक चातुर्मासिक सांवत्सरिक प्रतिक्रमणे सिद्धचारित्रप्रतिक्रमण निष्ठितकरणचतुर्विंशतितीर्थंकर भक्तिचारित्रालोचनागुरुभक्तयो बृहदालोचनागुरुभक्तिर्लघीयस्याचार्यभक्तिश्च करणीयाः।"

व्रतारोपण आदि विषयोंकी अपेक्षा प्रतिक्रमण चार प्रकारका माना है किंतु उसमें बृहदाचार्य भक्ति और मध्य आचार्यभक्ति यहां नहीं करनी चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

वृत्तालोचनया सार्धं गुर्वालोचनया क्रमात् ।
सूरिद्वयस्तुतिं मुक्त्वा शेषा प्रतिक्रमा क्रमात् ॥

अर्थात्—क्रमसे चारित्रालोचना और वृहदालोचनाके साथ २ दोनों आचार्य भक्तियोंके सिवाय बाकीके प्रतिक्रमण क्रमसे हुआ करते हैं ।

इस प्रकार संक्षेपमें पाक्षिकादि प्रतिक्रमणकी विधि और उसका क्रम बताकर अब नैमित्तिक क्रियाओंके प्रकरणमें संयमी साधुओं और श्रावकोंके लिये श्रुतपंचमीके दिन क्या क्रिया करनी और किस तरह करनी उसकी विधि दो श्लोकों द्वारा बताते हैं:—

बृहत्या श्रुतपञ्चम्यां भक्त्या सिद्धश्रुतार्थया ।
श्रुतस्कन्धं प्रतिष्ठाप्य गृहीत्वा वाचनां बृहन् ॥ ५७ ॥
क्षम्यो गृहीत्वा स्वाध्यायः कृत्या शान्तिनुतिस्ततः ।
यमिनां गृहिणां सिद्धश्रुतशान्तिस्तवाः पुनः ॥ ५८ ॥ (युग्मम्)

संयमी साधुओंको वृहत् सिद्धभक्ति—" सिद्धानुद्धूतकर्म " इत्यादि और वृहत् श्रुतभक्ति—" स्तोष्ये संज्ञानानि " इत्यादिके द्वारा श्रुतस्कन्धका प्रतिष्ठापन करना चाहिये। और श्रुतावतारके उपदेश को ग्रहण कर वृहत् श्रुतभक्ति और वृहत् आचार्यभक्तिके द्वारा वृहत् स्वाध्यायका प्रतिष्ठापन करना चाहिये। तथा अंतमें वृहत श्रुतभक्ति बोलकर उस स्वाध्यायकी निष्ठापना—समाप्ति करनी चाहिये । इस प्रकार श्रुतपंचमी—ज्येष्ठ शुक्ला ५ के दिन साधुओंको क्रमसे क्रिया करनी चाहिये । जैसा कि चारित्रसारमें भी कहा है कि:—

" श्रुतपंचम्यां सिद्धश्रुतभक्तिपूर्विकां वाचनां गृहीत्वा तदनु स्वाध्यायं गृह्णतः श्रुतभक्तिमाचार्य भक्तिं च कृत्वा गृहीतस्वाध्यायाः कृतश्रुतभक्तयः स्वाध्यायं निष्ठाप्य समाप्तौ शान्तिभक्तिं कुर्युः " ।

अर्थात्—साधुओंको श्रुतपंचमीके दिन सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पूर्वक श्रुतावतारके उपदेशको ग्रहण

करके स्वध्यायको ग्रहण करनेके लिये श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति करके उसका ग्रहण और श्रुतभक्ति बोलकर उसका निष्ठापन तथा समाप्तिमें शांतिभक्ति करनी चाहिये।

जो स्वाध्यायको ग्रहण नहीं कर सकते उन गृहस्थ श्रावकोंको उस दिन—ज्येष्ठ शुक्ला ५ को केवल सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये।

सिद्धान्त आदिकी वाचना सम्बन्धी क्रियाकी विशेष विधि बतानेकेलिये दो श्लोक कहते हैं, जिसमें साधुओंको सिद्धान्तके अर्थाधिकारोंपर कायोत्सर्ग करनेका उपदेश देते हैं:—

कल्प्यः क्रमोयं सिद्धान्ताचारवाचनयोरपि।
एकैकार्थाधिकारान्ते व्युत्सर्गास्तन्मुखान्तयोः ॥ ५९ ॥
सिद्धश्रुतगणिस्तोत्रं व्युत्सर्गाश्चातिभक्तये।
द्वितीयादिदिने षट् षट् प्रदेया वाचनावनौ ॥ ६० ॥ युग्मम्।

[illegible] ... विधि बताई है वह केवल उसी दिन नहीं किंतु सिद्धान्तवाचना और [illegible] ... अर्थात् सिद्धान्तवाचना और वृद्धव्यवहारके अनुसार आचारवाच- [illegible] ... श्रुतभक्ति और आचार्यभक्तिके द्वारा बृहत् स्वाध्यायको [illegible] ... साधुओंको सिद्धान्तके प्रत्येक अर्थाधिकारके अंतमें कायोत्सर्ग [illegible] ... समाप्त कर अंतमें शांतिभक्ति [illegible] ... सिद्धान्तस्यार्थाधिकारणां समाप्तौ एकैक [illegible] ... और आचार्यभक्ति करनी चाहिये। [illegible] ... एक एक कायोत्सर्ग करना चाहिये। [illegible] ... दूसरे तीसरे आदि दिनको सिद्धान्तके वाच- [illegible]

करनेपर और उसके छोडनेपर यह अभिषेक वन्दना [illegible]

प्रति आविभक्ति प्रकट करनेकेलिये जहांपर वाचना की गई थी उस स्थानपर छह छह कायोत्सर्ग करना चाहिये।

भावार्थ—यहांपर वाचनाभूमिमें छह २ कायोत्सर्ग करनेके लिये जो कहा है उसका नियम नहीं समझना चाहिये। क्योंकि यह क्रिया सिद्धान्त और उसके अर्थाधिकारोंके प्रति उत्तम बहुमान दिखानेकेलिये ही कही गई है। अतएव यह क्रिया साधुओंको अपनी शक्तिके अनुसार ही करनी चाहिये। अर्थात् जितनी शक्तिहो उतने ही कायोत्सर्ग करने चाहिये।

संन्यास मरणकी क्रियाओंका प्रयोग कैसे करना उसकी विधि दो श्लोकोंके द्वारा बताते हैं:—

संन्यासस्य क्रियादौ सा शान्तिभक्त्या विना सह।
अन्तेऽन्यदा बृहद्भक्त्या स्वाध्यायस्थापनोज्झने ॥ ६१ ॥
योगेपि शेयं तत्राचस्वाध्यायैः प्रतिचारकैः।
स्वाध्यायाग्राहिणां प्राग्वत् तदाद्यन्तादिने क्रिया ॥ ६२ ॥

संन्यास मरणकी आदिमें श्रुतपंचमीके दिनकी जो क्रिया बताई है उसमेंसे शांतिभक्तिको छोडकर बाकी सब क्रिया करनी चाहिये। अर्थात् सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति बोलकर श्रुतस्कन्धके समान संन्यासका भी प्रतिष्ठापन करना चाहिये। तथा संन्यासके अंतमें भी वही क्रिया करनी चाहिये। किंतु इतनी विशेषता है कि यहांपर शांतिभक्तिको छोडना नहीं—उसको भी बोलना चाहिये। अर्थात् क्षपक—जो सन्यास मरण करनेवाला है उसका अन्त होनेपर शांतिभक्तिके साथ २ सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति बोलकर संन्यासका निष्ठापन करदेना चाहिये। तथा संन्यासके आदि और अंतके दिनको छोडकर मध्यके दिनोंमें बृहद्भक्तिपूर्वक स्वाध्यायका प्रतिष्ठापन और निष्ठापन करना चाहिये। अर्थात् बृहत्श्रुतभक्ति और बृहत्आचार्यभक्तिके द्वारा उसका प्रतिष्ठापन और बृहत्श्रुतभक्तिके द्वारा उसका निष्ठापन करना चाहिये। तथा रात्रियोग वर्षायोग आदिमें भी जिन्होने पहले ही दिन स्वाध्यायका प्रतिष्ठापन कर दिया है उन परिचारकोंको—संन्यास मरण करने वालेकी वैयावृत्य-सेवा शुश्रूषा करनेवालोंको उस संन्यासवसतीमें ही शयन

क्रिया करनी चाहिये। यह क्रिया साधुपरिचारकोंके लिये है। किंतु जो स्वाध्यायको ग्रहण न करने वाले गृहस्थ हैं उन्हें आदि और अंतके दिन श्रुतपंचमीके समान ही क्रिया करनी चाहिये। अर्थात् गृहस्थ परिचारकोंको संन्यास के पहले दिन और पिछले दिन सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति और शांतिभक्तिही करनी चाहिये। क्योंकि वे स्वाध्यायको ग्रहण नहीं कर सकते।

क्रमानुसार आष्टाह्निक पर्व कालकी नैमित्तिक क्रियाको बताते हैं:—

कुर्वन्तु सिद्धनन्दीश्वरगुरुशान्तिस्तवैः क्रियामष्टौ।
शुच्यूर्जतपस्यसिताष्टम्यादिदिनानि मध्याह्ने ॥ ६३ ॥

आषाढ कार्तिक और फाल्गुन महीनेकी शुक्ल पक्षकी अष्टमीसे लेकर आठ दिनतक—अर्थात् पूर्णमासी पर्यंत प्रतिदिन मध्याह्नके समय—पौर्वाह्णिक स्वाध्यायको समाप्त करके सिद्धभक्ति नन्दीश्वर चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांति भक्ति के द्वारा आष्टाह्निक क्रिया करनी चाहिये. इस श्लोकमें "कुर्वन्तु" ऐसी बहुवचन क्रियाका जो प्रयोग किया है उसका अभिप्राय यह है कि यह क्रिया सम्पूर्ण संघको-आचार्य आदि सबको मिलकर करनी चाहिये।

अभिषेकके समय की जानेवाली वन्दना क्रिया और मंगल गोचर क्रियाको बताते हैं:—

सा नन्दीश्वरपदकृतचैत्या त्वभिषेकवन्दनास्ति तथा।
मङ्गलगोचरमध्याह्नवन्दना योगयोज्झनयोः ॥ ६४ ॥

ऊपर जो नन्दीश्वरजिनचैत्यवन्दनाकी क्रिया बताई गई है वही क्रिया जिस दिन जिनभगवानका महा अभिषेक हो उस दिन करनी चाहिये। अत एव इस नंदीश्वर क्रियाको ही अभिषेक वन्दना कहते हैं। अन्तर इतना ही है कि यहांपर नन्दीश्वर चैत्यभक्ति न करके केवल चैत्यभक्ति ही की जाती है। इसी प्रकार वर्षायोगके ग्रहण करनेपर और उसके छोडनेपर यह अभिषेक वन्दना ही मंगलगोचरमध्यान्हवन्दना कही जाती है। अत एव

यहांपर भी नंदीश्वर क्रिया ही करनी चाहिये। और विशेष यह कि नन्दीश्वरभक्तिकी जगह केवल चैत्यभक्ति ही करनी चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि—

अहिसेय वदणासिद्धचेदियपचगुरुसतिभत्तीहिं।
कीरइ मगलगोयर मज्झण्हियवदणा होइ॥

अर्थात्—सिद्धभक्ति चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शान्तिभक्तिके द्वारा अभिषेकवन्दना की जाती है। और इन्हींके द्वारा मंगलगोचरमध्यान्हवन्दना भी हुआ करती है।

मंगलगोचर वृहत्प्रत्याख्यानकी विधि बताते हैः—

लात्वा बृहत्सिद्धयोगिस्तुत्या मङ्गलगोचरे।
प्रत्याख्यानं बृहत्सूरिशान्तिभक्ती प्रयुञ्जताम्॥ ६५॥

मंगलगोचर क्रिया करनेमें आचार्य आदिकोंको वृहत् सिद्धभक्ति और वृहत् योगिभक्ति करके भक्त प्रत्याख्यानको ग्रहण कर वृहत् आचार्यभक्ति और वृहत् शातिभक्ति करनी चाहिये। यहांपर " प्रयुञ्जताम्" यह बहुवचन क्रियाका जो निर्देश किया है उससे इस बातका बोधन कराया है कि यह क्रिया आचार्य आदि सब संघको मिलकर करनी चाहिये।

प्रकरणके अनुसार दो श्लोकोंमें वर्षायोगके ग्रहण और त्याग करने की विधिका उपदेश करते हैंः—

ततश्चतुर्दशीपूर्वरात्रे सिद्धमुनिस्तुती।
चतुर्दिक्षु परीत्याल्पाश्चैत्यभक्तीर्गुरुस्तुतिम्॥ ६६॥
शान्तिभक्तिं च कुर्वाणैर्वर्षायोगस्तु गृह्यताम्।
ऊर्जकृष्णचतुर्दश्यां पश्चाद्रात्रौ च मुच्यताम्॥ ६७॥ (युग्मम्),

ऊपर भक्त प्रत्याख्यानको ग्रहण करनेकी जो विधि बताई है तदनुसार उसके ग्रहण करनेके अनंतर आचार्य प्रभृति साधुओंको वर्षायोगका प्रतिष्ठापन करना चाहिये और चातुर्मासके अतमें उसका निष्ठापन करना चाहिये । इस प्रतिष्ठापन और निष्ठापनकी विधि इस प्रकार है—

चार लघु चैत्यभक्तियोंको बोलते हुए और पूर्वादिक चारो ही दिशाओंकी तरफ प्रदक्षिणा देते हुए आषाढ शुक्ला चतुर्दशीकी रात्रिको पहले ही प्रहरमें सिद्धभक्ति और योगिभक्ति का भी अच्छी तरह पाठ करते हुए और पचगुरुभक्ति तथा शांति भक्तिको भी बोलकर आचार्य और इतर सम्पूर्ण साधुओंको वर्षायोगका प्रतिष्ठापन करना

भावार्थ–पूर्व दिशाकी तरफ मुख करके वर्षायोगका प्रतिष्ठापन करनेकेलिये " यावन्ति जिनचैत्यानि " इत्यादि श्लोकका पाठ करना चाहिये । पुनः आदिनाथ भगवान् और दूसरे अजितनाथ भगवान् इन दोनोंका ही स्वयंभू स्तोत्र बोलकर अंचलिका सहित चैत्यभक्ति करनी चाहिये । यह पूर्व दिशाकी तरफकी चैत्य चैत्यालयकी वन्दना है । इसी प्रकार दक्षिण पश्चिम और उत्तरकी तरफकी वन्दना भी क्रमसे करनी चाहिये । अंतर इतना है कि जिस प्रकार पूर्वदिशाकी वंदनामें प्रथम द्वितीय तीर्थंकरका स्वयम्भूस्तोत्र बोला जाता है उसी प्रकार दक्षिण दिशाकी तरफ तीसरे चौथे संभवनाथ और अभिनन्दन नाथका तथा पश्चिमकी तरफ की वन्दना करते समय पांचवें छट्टे सुमतिनाथ और पद्मप्रभु भगवान्‌का और उत्तर दिशाकी वन्दना करते समय सातवें आठवें सुपार्श्वनाथ और चन्द्रप्रभुका स्वयंभूस्तोत्र बोलना चाहिये । और बाकी क्रिया पूर्वदिशाके समान ही समझनी चाहिये ।

यहांपर चारो दिशाओंकी तरफ प्रदक्षिणा करनेकेलिये जो लिखा है उस विषयमें वृद्धसम्प्रदाय ऐसा है कि पूर्वदिशाकी तरफ मुख करके और उधरकी वन्दना करके वहीं बैठे बैठे केवल भावरूपसे ही प्रदक्षिणा करनी चाहिये ।

यह वर्षायोगके प्रतिष्ठापनकी विधि है । यही विधि निष्ठापन में भी करनी चाहिये । अर्थात् कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीकी रात्रिको अतिम प्रहरमें पूर्वोक्त विधानके अनुसार ही आचार्य और साधुओंको वर्षायोगका निष्ठापन कर देना चाहिये ।

इस वर्षायोगकी विधिमें और भी जो विशेषता है उसको दो श्लोकोंमें बताते हैं:—

मासं वासोऽन्यदैकत्र योगक्षेत्रं शुचौ व्रजेत् ।
मार्गेऽतीते त्यजेच्चार्थवशादपि न लंघयेत् ॥ ६८ ॥
नभश्चतुर्थीं तद्याने कृष्णां शुक्लोर्जपञ्चमीम् ।
यावन्न गच्छेत्तच्छेदे कथंचिच्छेदमाचरेत् ॥ ६९ ॥

वर्षायोगके सिवाय दूसरे समय—हेमन्त आदि ऋतुमें भी आचार्य आदि श्रमणसंघको किसी भी एक स्थान या नगर आदिमें एक महीने तकके लिये निवास करना चाहिये। तथा आषाढ में मुनिसंघको वर्षायोगस्थानके लिये जाना चाहिये। अर्थात् जहां चातुर्मास करना है वहां आषाढमें पहुंचजाना चाहिये। और मगसिर महीना पूर्ण होनेपर उस क्षेत्रको छोड देना चाहिये। परन्तु इतना और भी विशेष है कि उस योगस्थानपर जानेकेलिये श्रावण कृष्णा चतुर्थीका अतिक्रमण कभी नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—यदि कोई धर्मकार्यका ऐसा विशेष प्रसङ्ग उपस्थित हो जाय कि जिसमें रुक जानेसे योगक्षेत्रमें आषाढके भीतर पहुंचना न बन सके तो श्रावण कृष्णा चतुर्थीतक पहुंच जाना चाहिये। परन्तु इस तिथिका उल्लघन किसी प्रयोजनके वशीभूत होकर भी करना उचित नहीं है। इसी प्रकार साधुओंको कार्तिक शुक्ला पंचमीतक योगक्षेत्रके सिवाय अन्यत्र प्रयोजन रहते हुए भी विहार न करना चाहिये। अर्थात् यद्यपि वर्षायोगका निष्ठापन कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीको हो जाता है फिर भी साधुओंको कार्तिक शुक्ला पंचमीतक उसी स्थानपर रहना चाहिये। यदि कोई कार्यविशेष हो तो भी तबतक उस स्थानसे नहीं जाना चाहिये।

यहांपर जो वर्षायोग धारण करने की विधि बताई है उसमें यदि किसी घोर उपसर्ग आदिके आ उपस्थित होनेसे विच्छेद पडजाय अर्थात् किसी कारणसे उसके समय आदिका यदि अतिक्रम हो जाय तो साधुसंघको उचित है कि उसके लिये प्रायश्चित्त धारण करें।

वीर भगवान्‌की निर्वाण कालिक क्रिया करनेके विषयमें जो आगमका निर्णय है उसको बताते हैं:—

योगान्तेऽर्कोदये सिद्धनिर्वाणगुरुशान्तयः ।
प्रणुत्या वीरनिर्वाणे कृत्यातो नित्यवन्दना ॥ ७० ॥

कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीकी रात्रिके अंतिम प्रहरमें वर्षा योगका निष्ठापन कर चुकनेपर श्री वर्धमान तीर्थंकर भगवान्‌की निर्वाण क्रिया सूर्यका उदय होनेपर सिद्धभक्ति निर्वाणभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर वन्दना करके करनी चाहिये । इसके बाद साधुओं और श्रावकोंको नित्यवंदना करनी चाहिये ।

भावार्थ—वर्षायोगका निष्ठापन और उसके बाद सूर्योदयके होनेपर वीर निर्वाण क्रिया और तदनंतर नित्यवदना । इस प्रकार क्रमसे क्रिया करनी चाहिये ।

पंचकल्याणकके समय करने योग्य क्रियाओंके विषयमें आगमका निर्णय प्रकट करते हैं:—

साद्यन्तसिद्धशान्तिस्तुति जिनगर्भजनुषोः स्तुयाद्वृत्तम् ।
निष्क्रमणे योग्यन्तं विदि श्रुताद्यपि शिवे शिवान्तमपि ॥ ७१ ॥

तीर्थंकर भगवानका गर्भावतार कल्याणक अथवा जन्मकल्याणक जब हो तब साधुओंको यद्वा श्रावकोंको क्रमसे सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति और शान्तिभक्ति बोलकर उस समयकी क्रिया करनी चाहिये । तथा निष्क्रमण-दीक्षाकल्याणककी क्रिया मुनियों व श्रावकोंको क्रमसे सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति योगिभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये. इसी प्रकार ज्ञान कल्याणकी क्रिया क्रमसे सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्र भक्ति योगिभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये । एव निर्वाण कल्याणक अथवा निर्वाण क्षेत्रकी वन्दना क्रिया क्रमसे सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति योगिभक्ति निर्वाणभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये ।

भावार्थ—पंचकल्याणक प्रतिष्ठा आदिमें तत्तत्कल्याणकके समय साधुओं और श्रावकोंको उस समयकी क्रिया ऊपर लिखे मूजब भक्ति पाठ बोलकर करनी चाहिये।

ऋषि अथवा सिद्धान्त वेत्ता मुनि आदि यदि मरणको प्राप्त होजांय तो उनके शरीरकी अथवा निषेधिका की वन्दना क्रिया करनेमें क्या क्या विशेषता है उसका निर्णय दो आर्यापद्योंके द्वारा बताते हैं:—

वपुषि ऋषेः स्तौतु ऋषीन् निषेधिकायां च सिद्धशान्त्यन्तः
सिद्धान्तिनः श्रुतादीन् वृत्तादीनुत्तरव्रातिनः ॥ ७२ ॥
द्वियुजः श्रुतवृत्तादीन् गणिनोऽन्तगुरून् श्रुतादिकानपि तान्।
समयविदोऽपि यमादींस्तनुक्लिशो द्व्यमुखानपि द्वियुजः ॥ ७३ ॥

ऋषि आदिकोंके शरीर अथवा निषेधिकाकी वन्दना भक्ति करनेमें प्रवृत्त हुए साधुओंको जिस विधिसे वन्दना करनी चाहिये वह इस प्रकार है।—यदि किसी सामान्य साधुका मरण हो जाय तो उसके शरीरकी अथवा निषद्याभूमिकी वन्दना सिद्धभक्ति योगिभक्ति और शांतिभक्तिको क्रमसे बोलकर करनी चाहिये। और यदि कोई सामान्य साधु सिद्धान्त वेत्ता हो तो उनका मरण होनेपर उनके शरीरकी या निषद्याभूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति योगिभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये। यदि कोई उत्तर व्रतोंको धारण करनेवाला साधु मरणको प्राप्त हो जाय तो उसके शरीरकी अथवा निषद्याभूमिकी वन्दना सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति योगिभक्ति और शांतिभक्ति पढकर करनी चाहिये। यदि कोई साधु सिद्धान्त वेत्ता भी हो और उत्तर व्रतोंको धारण करनेवाला भी हो और उसका मरण हो जाय तो उसके शरीरकी तथा निषद्याभूमिकी वंदना क्रमसे सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति योगिभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये। इसी प्रकार जो ऋषि आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हैं उनका यदि मरण हो जाय तो उनके शरीरकी या निषद्याभूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति योगिभक्ति आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये। तथा यदि कोई आचार्य सिद्धान्तवेत्ता हो

और उनका मरण हो जाय तो उनके शरीरकी अथवा निषद्याभूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति योगिभक्ति आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये। किंतु जो ऋषि आचार्यपद पर भी प्रतिष्ठित हैं और काय क्लेश तपके धारण करनेवाले भी हैं यदि उनका मरण हो जाय तो उनके शरीरकी या निषद्याभूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति योगिभक्ति चारित्रभक्ति आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये। यदि कोई ऋषि आचार्य भी हैं और सिद्धान्तवेत्ता तथा कायक्लेश तपके धारण करने वाले भी हैं उनका यदि मरण हो जाय तो उनके शरीरकी अथवा निषद्याभूमिका वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति योगिभक्ति आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये। इस विषयमें कहा भी है कि:—

काये निषेधिकायां च मुनेः सिद्धर्षिशान्तिभिः।
उत्तरव्रतिनः सिद्धवृत्तर्षिशान्तिभिः क्रियाः॥
सैद्धान्तस्य मुनेः सिद्धश्रुतर्षिशान्तिभक्तिभिः।
उत्तरव्रतिनः सिद्धश्रुतवृत्तर्षिशान्तिभिः॥
सूरेर्नैषेधिकाकाये सिध्दर्षिसूरिशान्तिभिः
शरीरक्लेशिनः सिध्दवृत्तर्षिगणिशान्तिभिः॥
सैध्दान्ताचार्यस्य सिध्दश्रुतर्षिसूरिशान्तयः।
अस्य योगे सिध्दश्रुतवृत्तर्षिगणिशान्तयः॥

श्रीअरहंत भगवानकी स्थिरप्रतिमाकी प्रतिष्ठा और चल प्रतिमाकी प्रतिष्ठाके समयकी विधि और उस प्रतिष्ठाके समयमें ही चतुर्थ दिनको किये जानेवाले अभिषेकके क्रिया विशेषको बताते हैं।

स्यात्सिद्धशान्तिभक्तिः स्थिरचलजिनबिम्बयोः प्रतिष्ठायाम्।
अभिषेकवन्दना चलतुर्यस्नानेऽस्तु पाक्षिकी त्वपरे॥ ७४॥

स्थिरप्रतिमाकी प्रतिष्ठा अथवा चल प्रतिमाकी प्रतिष्ठाके समय सिद्धभक्ति और शांतिभक्तिको बोलकर

वन्दना क्रिया करनी चाहिये। किंतु जिनभगवान्‌की चल प्रतिमाकी प्रतिष्ठाके चतुर्थ दिनके अभिषेकके समय अभिषेक वन्दना अर्थात् सिद्धभक्ति चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्तिको बोलकर वन्दना करनी चाहिये। और स्थिर प्रतिमाकी प्रतिष्ठाके चतुर्थ दिनके अभिषेकके समय पाक्षिकी क्रिया करनी चाहिये। अर्थात् सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति बृहदालोचना और शांतिभक्ति बोलकर वन्दना करनी चाहिये। परन्तु यह नियम केवल साधुओंके लिये समझना। जो स्वाध्यायको ग्रहण नहीं कर सकते उन गृहस्थोंकेलिये यह नियम नहीं है। उनको चाहिये कि आलोचनाको छोडकर बाकी भक्ति बोलकर ही क्रिया करें। इस विषयमें अन्यत्र भी कहा है कि:—

चलाचलप्रतिष्ठायां सिद्धशान्तिस्तुतिर्भवेत्।
वन्दना चाभिषेकस्य तुर्यस्नाने मता पुनः॥
सिद्धवृत्तनुतिं कुर्याद्बृहदालोचना तथा।
शान्तिभक्तिं जिनेन्द्रस्य प्रतिष्ठाया स्थिरस्य तु॥

अर्थात् चल और अचल प्रतिष्ठामें सिद्धभक्ति और शांतिभक्तिके द्वारा तथा चतुर्थ दिनके स्नानके समय अभिषेक वन्दनाके द्वारा और अरहंतकी स्थिर प्रतिमाकी प्रतिष्ठामें सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति बृहदालोचना और शांतिभक्तिके द्वारा क्रिया करनी चाहिये।

नैमित्तिक क्रियाओंके वर्णनके प्रकरणमें यहांपर आचार्य पदका प्रतिष्ठापन करते समय जो क्रिया की जानी चाहिये उसकी विधि बताते हैं:—

सिद्धाचार्यस्तुती कृत्वा सुलग्ने गुर्वनुज्ञया।
लात्वाचार्यपदं शान्तिं स्तुयात्साधुः स्फुरद्गुणः॥ ७९॥

आचार्य पदके योग्य छत्तीस विशेष गुण हुआ करते हैं। ये गुण जिन साधुओंमें पाये जाते हैं वेही इस पदपर स्थापित किये जाते हैं। इन गुणोंकी संज्ञा और स्वरूप आगे चलकर लिखेंगे। यहांपर इस पदकी प्रतिष्ठापन

क्रियाकी विधि बताते हैं, सो इस प्रकार है कि—जिसके वक्ष्यमाण ३६ गुण सम्पूर्ण संघके हृदयमें विशेष चमत्कार उत्पन्न कर रहे हैं ऐसे साधुको अपने गुरुकी आज्ञा-अनुमतिसे शुभ मुहूर्तमें सिद्धभक्ति और आचार्यभक्तिको बोलकर आचार्यपद ग्रहण करना चाहिये। और उसके बाद शांतिभक्ति करनी चाहिये।

भावार्थ—जिसमें आचार्यपदको धारण करने योग्य गुणोंको देखते हैं आचार्य उस साधुको इस पदके ग्रहण करनेकी आज्ञा देते हैं और इसकेलिये शुभ मुहूर्त निश्चित करते हैं। और वह साधु उनकी आज्ञानुसार उस शुभ मुहूर्तमें उस पदको ग्रहण करता है।

प्रारम्भमें सम्पूर्ण संघके समक्ष वह साधु सिद्धभक्ति और आचार्य भक्ति करता है। अनंतर आचार्य परमेष्ठी उससे कहते हैं कि आजसे तुम रहस्य-प्रायश्चित्तशास्त्रका अध्ययन और दीक्षा देने आदिका जो आचार्यपदका यार्थ है उसको कर सकते हो। अब तुमको ये कार्य करने चाहिये। इस प्रकार समस्त संघके समक्ष भाषण देकर उस साधुको पिच्छिका समर्पण करते हैं। और वह साधु उस पिच्छीको ग्रहण करता है। इसीको आचार्य पदका ग्रहण करना कहते है। इसके बाद उस साधुको शांतिभक्तिके द्वारा वंदना करनी चाहिये। जैसा कि चारित्रासारमें भी कहा है कि—" गुरूणामनुज्ञायां विज्ञानवैराग्य संपन्नो विनीतो धर्मशीलः स्थिरश्च भूत्वाचार्य पदव्या योग्यः साधुर्गुरुसमक्षे सिद्धाचार्यभक्तिं कृत्वाचार्यपदवीं गृहीत्वा शांतिभक्तिं कुर्यात्। " अर्थात् जो विशिष्ट ज्ञान और वैराग्यकी सम्पत्तिसे युक्त तथा विनयगुणको धारण करनेवाला धर्माचरणमें ही सदा निष्ठा रखनेवाला और प्रकृतिसे ही स्थिर है वह साधु आचार्य पदवीके योग्य समझना चाहिये। ऐसे साधुको गुरुकी आज्ञासे उनके ही समक्ष सिद्धभक्ति और आचार्यभक्ति बोलकर आचार्य पदको ग्रहण कर शांतिभक्ति करनी चाहिये।

आचार्यपदकी योग्यता सिद्ध करनेवाले छत्तीस गुण कौनसे हैं सो बताते हैं:—

अष्टावाचारवत्त्वाद्यास्तपांसि द्वादश स्थितेः।
कल्पा दशाऽऽवश्यकानि षट् षट्त्रिंशद्गुणा गणेः ॥ ७६ ॥

जो अङ्गसहित प्रवचनका मौनपूर्वक अध्ययन करता है उसको गणी कहते हैं। आचार्य भी अङ्गसहित प्रवचनके अध्येता हुआ करते हैं, अतएव उनको भी गणी कहते है। यहांपर " गणेः " इसकी जगह " गुरोः " ऐसा भी पाठ माना है। अर्थात् आचार्य—गणी—गुरुके छत्तीस विशेष गुण हैं। यथा—आचारवत्त्व आधारवत्त्व आदि दि आठ गुण, और छह अन्तरङ्ग तथा छह बाहिरङ्ग मिलाकर बारह प्रकारका तप, तथा संयमके अन्दर निष्ठाके सौष्ठव—उत्तमताकी विशिष्टताको प्रक करनेवाले आचेलक्य आदि दश प्रकारके गुण—जिनको कि स्थितिकल्प कहते हैं, और सामायिकादि पूर्वोक्त छह प्रकारके आवश्यक।

भावार्थ—आचारवत्वादि आठ, बारह तप, स्थितिकल्प दश और छह आवश्यक; इस प्रकार कुल मिलकर आचार्यके छत्तीस गुण माने हैं।

आचारवत्त्व आदि आठ गुणोंको गिनाते हुए उनका स्वरूप बताते हैं:—

आचारी सूरिराधारी व्यवहारी प्रकारकः।
आयापायदिगुत्पीडोऽपरिस्रावी सुखावहः ॥ ७७ ॥

आचारवत्त्व, आधारवत्त्व, व्यवहारपटुता, आयापायदेशना, उत्पीलन, अपरिस्रवण, और सुखावहन, ये आठ गुण आचार्यमें होने चाहिये। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

आचार पांच प्रकारका है-ज्ञानाचार दर्शनाचार चारित्राचार तपआचार और वीर्याचार। इन पांचो ही प्रकारके आचरणका स्वयं पालन करना दूसरोंसे कराना और उसका उपदेश देना इसको आचारवत्त्व कहते है। ये गुण जिनमें पाया जाय उनको आचारी कहते हैं। जैसा कि कहा भी है किः—

आचारं पञ्चविधं चरति च चारयति यो निरतिचारम्।
उपदिशति सदाचारं भवति स आचारवान् सूरिः ॥

जिस श्रुतज्ञानरूप संपत्तिकी कोई तुलना नहीं कर सकता उसको अथवा नौ पूर्व दश पूर्व या चौदह पूर्वतकके श्रुतज्ञानको, यद्वा कल्पव्यवहारके धारण करनेको आधारवत्त्व कहते हैं। यह गुण जिनमें पाया जाय ऐसे मतिज्ञानके समुद्र आचार्य को आधारी कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि: —

नवदशचतुर्दशाणा पूर्वाणा वेदिता मतिसमुद्रः।
कल्पव्यवहारधरः स भवत्याधारवान् नाम ॥

व्यवहार नाम प्रायश्चित्तका है, वह आगम आदिके भेदसे पांच प्रकारका है, इसकी कुशलताको ही व्यवहारपटुता कहते हैं। जो आचार्य इस विषयके ज्ञानको रखनेवाले हैं, जिन्होने अनेक वार प्रायश्चित्तको देते हुए देखा है, और जिन्होने स्वयं भी अनेकवार उसका प्रयोग किया है,-स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण किया है, दूसरोंको दिया है, अथवा दिलवाया है उनको व्यवहारी अथवा व्यवहारपटु कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

पञ्चविध व्यवहारं यो मनुते वस्तुत सविस्तारम्।
कृतकारितोपलब्धप्रायश्चित्तास्तृतीयस्तु ॥

व्यवहारके पांच भेद जो बताये हैं उनका खुलासा करते हैं:—

आगमश्च श्रुत चाज्ञा धारणा जीत एव च।
व्यवहारा भवन्त्येते निर्णयस्तत्र सूत्रतः ॥

व्यवहार—प्रायश्चित्त पांच प्रकारका है,-आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत। इन विषयोंका निर्णय सूत्रके[1] अनुसार हुआ करता है। ग्यारह अगशास्त्रोंमें जो प्रायश्चित्त बताया गया है अथवा उनके आधारसे जो प्रायश्चित्त दिया जाता है उसको आगम कहते हैं। इसी प्रकार चौदह पूर्वोंमें बताये हुए अथवा तदनुसार दिये

1— सूत्रका लक्षण पहले बता चुके हैं।

गये प्रायश्चित्तको श्रुत कहते हैं। समाधि मरणकेलिये उद्यत हुए ऐसे आचार्य कि जिनकी जंघाओंका बल नष्ट होगया है-जो चलने फिरनेकी सामर्थ्य नहीं रखते, और जो ऐसी जगह स्थित हैं कि जहांपर और कोई आचार्य उपस्थित नहीं हैं, वे आचार्य किसी दूसरे योग्य आचार्यके समीप अपने समान योग्य ज्येष्ठ शिष्यके द्वारा अपना संवाद भेजते हैं और उस शिष्यके ही मुखसे उन आचार्य परमेष्ठीके समक्ष अपने दोषोंका आलोचन करते हैं, तथा उन आचार्यके दिये हुए प्रायश्चित्तको ग्रहण करते हैं। इस तरहके प्रायश्चित्तको आज्ञा कहते हैं। यदि कोई ऐसे ही आचार्य जो समाधिमरणको उद्यत और जंघाबलसे रहित होनेके कारण चलनेको असमर्थ हैं किंतु उनके पास कोई शिष्य आदि नहीं है- असहाय हैं, ऐसी अवस्थामें वे अपने दोषोंका स्वयं आलोचन करके पहलेके अवधारित प्रायश्चित्तको धारण करते हैं, उसको धारणा कहते हैं। बहत्तर पुरुषोंकी अपेक्षा जो प्रायश्चित्त बताया जाता है उसको जीत कहते हैं। इन पांचो ही प्रकारके प्रायश्चित्तोंमें जो निष्णात हैं उन आचार्योंको व्यवहारपटु कहते हैं।

समाधिमरण करनेमें प्रवृत्त हुए साधक साधुओंकी परिचर्या-सेवा शुश्रूषा—वैयावृत्य करनेको परिचर्या कहते हैं। अर्थात् जो समाधिमरण कराने या उसकी वैयावृत्य करनेमें कुशल हैं उनको परिचारी अथवा प्रकारी कहते हैं। आलोचना करनेकेलिये उद्यत हुए क्षपक-समाधिमरण करनेवाले साधुके गुण और दोषोंके प्रकाशित करनेको आयापायदेशना कहते हैं। अर्थात् जो क्षपक किसी प्रकारका अतीचार आदि न लगाकर सरलभावोंसे अपने दोषोंका आलोचन करता है उसके गुणकी जो प्रशंसा करते अथवा उस गुणको प्रकटकरते हैं और जो क्षपक आलोचन करनेमें दोष लगाता अथवा वक्रभावोंसे आलोचन करता है उसके दोषोंको जो प्रकट करते हैं उनको आयापायदेष्टा अथवा गुणदोषप्रवक्ता कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

गुणदोषाणां प्रथकः क्षपकस्य विशेषमालुलोचयिषो. ।
अनृजोरालोचयतो दोषविशेष प्रकाशयति ॥

व्रतादिकोंमें लगे हुए ऐसे अतीचारोंका कि जो बाहर प्रकट नहीं हुए हैं-अभीतक अन्तरङ्गमें ही छिपे हुए हैं वमन करानेको-बाहर निकालनेको उत्पीलन कहते हैं। इस गुणके धारण करनेवाले गणधर-आचार्य उत्पीलक कहे जाते हैं। इस कार्यकेलिये आचार्यको बलवान् और सिंहके समान पराक्रमी तथा प्रतापी और वचन १०६

कुशल एवं प्रसिद्ध कीर्तिके धारण करनेवाला होना चाहिये। ऐसा होनेपर ही वे छिपे हुए दोषोंको बाहर निकाल-कर दूर कर सकते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

ओजस्वी तेजस्वी वाग्मी च प्रथितकीर्तिराचार्यः।
हरिरिव विक्रमसारो भवति समुत्पीलको नाम॥

यदि किसी शिष्यने अपना दोष एकान्तमें आकर कहा और वह ऐसा दोष है कि जिसको प्रकट करना उचित नहीं है तो उस गोप्य दोषको प्रकाशित न करना अपरिस्राव नामका गुण कहा है. इस गुणके कारण जो आचार्य उस आलोचित गोप्य दोषको पानीके घूंटकी तरह पीकर रह जाते हैं—प्रकाशित नहीं करते उनको अपरिस्रावी कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

आलोचिताः कलङ्का यस्या य पीततोयसंस्थायाः।
न परिस्रवन्ति कथमपि स भवत्यपरिस्रवः सूरिः॥

क्षुदादिके दुःखोंका उत्तम कथा आदिके द्वारा उपशमन करनेको सुखावह गुण कहते हैं। इस आठवें गुणके धारण करनेवाले आचार्यको भी सुखावह कहते हैं। इस गुणके कारण आचार्य क्षुधा आदिसे पीडित क्षपकके समक्ष ऐसी कथा करते हैं कि जो गम्भीर स्नेहयुक्त मिष्ट अत्यत मनोहर और कानोंको अतिशय सुख देनेवाली हो। और जिसके सुनते ही पूर्वकी उत्तम स्मृतिका उद्बोध हो जाय। जैसा कि कहा भी है कि:—

गम्भीरस्निग्धमधुरामतिहृद्या श्रवःसुखाम्।
निर्वापकः कथा कुर्यात् स्मृत्यानयनकारणम्॥

इस प्रकार आचार्यके आचारवत्व आदि आठ गुणोंका स्वरूप बताकर स्थितिकल्परूप दश गुणोंका स्वरूप दो श्लोकों द्वारा बताते हैं:—

आचेलक्यौद्देशिकशय्याधरराजकीयापिण्डोज्झाः।

कृतिकर्म व्रतारोपणयोग्यत्वं ज्येष्ठता प्रतिक्रमणम् ॥ ८० ॥
मासैकवासिता स्थितिकल्पो योगश्च वार्षिको दशमः ।
तन्निष्ठः पृथुकीर्तिः क्षपकं निर्यापको विशोधयति ॥ ८१ ॥

आचेलक्य, औद्देशिकपिण्डका त्याग, शय्याधरपिण्डकात्याग, राजकीयपिण्डका त्याग, कृतिकर्म, व्रतारोपणयोग्यता, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मासैकवासिता, और योग, इस प्रकार स्थितिकल्प गुण दश हैं। इनका स्वरूप क्रमसे इस प्रकार समझना चाहिये ।—

वस्त्रादिक सम्पूर्ण परिग्रहके अभावको अथवा नग्नताको आचेलक्य कहते हैं। इसके अनेक फल हैं। व्रत और संयमरूप आचरणमें इसके निमित्तसे विशुद्धि प्राप्त हुआ करती है। इन्द्रियोंका अपने २ विषयोंसे निग्रह होता अथवा उनपर विजय प्राप्त हुआ करता है। क्रोध मान माया आदि कषायों अथवा नोकषायोंका अभाव होता है। ध्यान धारणा समाधि और स्वाध्याय आदिकी इसके ही निमित्तसे निर्विघ्नरूपसे और भलेप्रकार सिद्धि हुआ करती है। अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग ग्रन्थि—मूर्छारूप परिणाम अथवा बाह्य उपाधियोंके संग्रहरूप ग्रंथि—बंधनका अभाव होता है। इससे राग और द्वेष जीतकर शरीरमें भी आदर भावका अभाव—उपेक्षा प्राप्त हुआ करती है। स्वतन्त्रताकी सिद्धि होकर आत्मा अपने ही अधीन बनता-पराधीनताका अभाव होता है। मनोगत विशुद्धि-निर्मलताकी आचेलक्यके द्वारा ही प्रकटता हुआ करती है। मन और कृतिमें निर्भयता तथा सर्वजगह सुखपूर्वक और विना किसी झंझटके निर्वाहकी सिद्धि इसीसे हो सकती है। नग्न रहनेवाला साधु ही वस्त्र अथवा लंगोटी आदिके धोने धरी करने और संभालकर रखने आदिक क्रिया कर्म करनेकी दिक्कतोंसे दूर रह सकता है। शरीरको अलकृत करने अथवा उसमें ममकारका भाव नग्नतासे ही कृश किया जा सकता है। तीर्थकरोंके आचरणका अनुसरण भी नग्नतासे ही हो सकता है। और आत्मामें ही छिपे हुए बल पराक्रमका प्रादुर्भाव अथवा सिद्ध वृद्धि भी इसीसे हो सकती है। इत्यादि अपरिमित गुण नग्नताके द्वारा सिद्ध होते है। अतएव स्थितिकल्पगुणोंमें यह आचेलक्य नामका एक विशिष्ट गुण बताया है। इसका विस्तृत समर्थन जिनको जानना हो उन्हे श्री विजय आचार्यकी रचित संस्कृत

मूलाराधनाके सुस्थित सूत्रकी टीका देखनी चाहिये। वहांपर इसका विशेष खुलासा किया गया है। अतएव ग्रन्थ विस्तारके भयसे यहांपर उसका विशेष वर्णन नहीं किया जाता। और इसीलिये श्री पद्मनान्दि आचार्यने भी सचेलताके दूषणोंको संक्षेपमें ही बताया है। यथाः—

म्लाने क्षालनतः कुतः कृतजलाद्यारम्भतः संयमो,—
नष्टे व्याकुलचित्ततार्थ महतामप्यन्यतः प्रार्थनम्।
कौपीनेऽपि हृते परैश्च झगिति क्रोधः समुत्पद्यते,
तन्नित्यं शुचिरागहृच्छमवतां वस्त्रं ककुम्मण्डलम्॥

साधुओंकेलिये कौपीनमात्र वस्त्रके भी धारण करनेमें कितना कष्ट और उत्कृष्टता या संयममें दोष उपस्थित होता है इसपर विचार करना चाहिये। कौपीनके मलिन होनेपर अवश्य ही उसको धोनेकेलिये प्रवृत्ति करनी पडेगी, और फिर उसकेलिये जल लाने आदिका आरम्भ भी करना ही होगा। ऐसी अवस्थामें उसका संयम किस प्रकार स्थिर रह सकता है? नहीं रह सकता। यदि दूसरेको धोनेकेलिये दिया जाय तो भी हिंसा करानेके अपराधसे छुटकारा नहीं होता। कदाचित् कौपीन कहीं गिरजाय खोजाय हवामें उडजाय या फट जाय तो मनमें व्याकुलता आये विना नहीं रह सकती। अथवा उसकेलिये दूसरेसे प्रार्थना भी करनी ही पडेगी। और ऐसी अवस्थामें याचनाके निमित्तसे उनकी महत्ता या गुरुतामें कुछ न कुछ लघुता भी आये विना नहीं रह सकती। यदि कदाचित् उसको कोई चुरा लेजाय अथवा छीनले तो तत्काल क्रोध भी आये विना नहीं रह सकता। अत एव परम शांतिकी इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुओंको यही उचित है कि वे सम्पूर्ण दिशाओंके समूहको ही वस्त्रके स्थानपर धारण करें। यह वस्त्र नित्य है—नैसर्गिक होनेसे कभी भी नष्ट होनेवाला या चोरी जानेवाला नहीं, समस्त मलदोषोंसे रहित होनेके कारण अत्यंत पवित्र है, एवं रागद्वेषको दूर करनेवाला है, इसके निमित्तसे याचना आदिके द्वारा लघुता प्राप्त नहीं होती, और न याचनाके व्यर्थ जानेपर मान भंग आदिके द्वारा चित्तमें किसी प्रकारकी कष्मलता ही उत्पन्न होती है। अतः संयमियोंको यह निर्विकार वस्त्र ही धारण करना चाहिये। जैसा कि श्री सोमदेव आचार्यने भी कहा है कि:—

नैष्किंचन्यमहिंसा च कुतः सयमिनां भवेत् ।
ते सङ्गाय यदीहन्ते वल्कलाजिनवाससाम् ॥
विकारे विदुषा दोषो नाविकारानुवर्तने ।
तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेषकल्मष ॥

अर्थात्—विकृत अवस्थाके प्राप्त करनेमें विद्वान् दोष समझते हैं नकि निर्विकार स्वरूपके धारण करनेमें । अत एव ऐसा कौन विवेकी होगा जो कि नैसर्गिक नग्नताके विषयमें द्वेष के वश होकर कश्मलता धारण करेगा । संयमी मुमुक्षुओंका आकिंचन्य–अपरिग्रह और अहिंसाव्रत तथा संयम कभी सिद्ध नहीं हो सकता यदि वे वकल चर्म या किसी भी तरहके वस्त्रके परिग्रहको धारण करनेका प्रयत्न करें, या उसका भाव रक्खें ।

जो मुनियोंके उद्देश्यसे तयार किया गया है ऐसे भोजनपान आदि द्रव्यके ग्रहण न करनेको औद्देशिक पिण्डका त्याग कहते हैं ।

वसतिका बनवानेवाला और उसका संस्कार करनेवाला तथा वहांपर व्यवस्था आदि करनेवाला ये तीनों ही शय्याधर शब्दसे कहे जाते हैं । इनके पिण्ड अर्थात् भोजन उपकरण आदि द्रव्यके ग्रहण न करनेको शय्याधर पिण्डोज्झा कहते हैं । जहांपर शय्याधर पिण्डका ग्रहण हो वहां दाताको धर्मफलके लोभसे आहारादिक प्रच्छन्न रूपसे ही योजित करना चाहिये । अर्थात् मैं शय्याधर हूं मेरे यहा भोजन होना ही चाहिये ऐसा भाव न रखकर अथवा इस बातको प्रकट न करके ही आहार दानमें प्रवृत्त होना चाहिये । जहांपर ऐसा प्रकट करके आहारकी व्यवस्थाकी गई हो उस आहारको ग्रहण न करना चाहिये । अथवा जो आहारदान नहीं कर सकता ऐसा कोई दरिद्र व्यक्ति है यद्वा ऐसा कोई लोभी पुरुष है तो उसको चाहिये कि वह वसतिकाका दान न करे । "मैं वसतिकाका दान तो करूंगा और आहारदान न करूंगा तो लोक मेरी निन्दा करेंगे । कहेंगे कि देखो इसकी वसतिकामें साधुओंने आकर निवास किया परन्तु इस मंदभाग्यने उनको आहार भी न दिया" ऐसा भाव रखकर जो वसतिका और आहारका दान किया जाता है वह ग्रहण न करना चाहिये । क्योंकि ऐसा होनेसे अत्यंत उपकारिताके कारण

संयमियोंको स्नेहका भाव उत्पन्न हो सकता है। जिससे कि अनेक दोष और भी लग सकते हैं।

कितने ही ग्रन्थकारोंने शय्याधरपिण्डोज्झाकी जगह शय्यागृहपिण्डोज्झा ऐसा पाठ दिया है। उसका खुलासा इस प्रकार किया जाता है कि रास्तेमें कहींको जाते हुए रात्रिको जिस गृह—वसतिमें ठहरना या शयन आदि क्रिया करनी पडे वहांपर दूसरे दिन आहार न करना चाहिये। अथवा वसतिका संबन्धी द्रव्यके निमित्तसे जो भोजन आदि तयार हुआ हो उसको ग्रहण न करना यही शय्यागृहपिण्डोज्झाका अभिप्राय है।

चौथा स्थितिकल्प गुण राजकीयपिण्डोज्झा है। इसमें राजशब्दका अर्थ इक्ष्वाकु कुरु उग्रनाथ हरि आदि कुल, अथवा प्रकृति—प्रजाको पालन पोषण आदिके द्वारा अनुरंजित करनेवाला, यद्वा उसके समान् ऋद्धिके धारण करनेवाला होता है। ऐसे व्यक्तियोंके घरमें जाकर भोजन ग्रहण न करना इसको राजकीयपिण्डोज्झा कहते हैं इसका अभिप्राय यह है कि ऐसे घरोंमें जो नानाप्रकारके भयकर कुत्ते आदि जानवर स्वच्छन्दरूपसे फिरते रहते है उनके द्वारा उन घरोंमें प्रवेश करनेपर संयमीका अपघात हो सकता है। मुनिके स्वरूपको देखकर वहांके घोडे गाय भैंस आदि पशु बिजुक सकते हैं। और बिजुक कर स्वयं त्रासको प्राप्त हो सकते अथवा दूसरोंको भी त्रास दे सकते हैं, यद्वा संयमीको भी उनसे त्रास हो सकता है। गर्वसे उद्धत हुए वहांके नौकर चाकरोंके द्वारा साधुका उपहास हो सकता है। अथवा महलोंमें रोककर रक्खी हुई और मैथुनसंज्ञा— रमण करनेकी इच्छासे पीडित रहनेवाली, यद्वा पुत्र आदि संततिकी अभिलाषा रखनेवाली स्त्रियां अपने साथ उपभोग करनेकेलिये उस संयमीको जबर्दस्ती अपने घरमें ले जा सकती हैं। सुवर्ण रत्न अथवा उनके बने हुए भूषण जो इधर उधर पडे हों उनको कोई स्वय चुराकर लेजाय और यह हल्ला करदे कि यहांपर मुनि आये थे और तो कोई आया नहीं, ऐसी अवस्थामे मुनिके ऊपर चोरीका आरोप उपस्थित हो सकता है। यहांपर ये साधु आते हैं सो कहीं ऐसा न हो कि महाराज इनपर विश्वास कर बैठें और इनकी बातोंमें आकर राज्यको नष्ट करदें, ऐसे विचारोंसे क्रोधादिके वशीभूत हुए दीवान मंत्री आदिके द्वारा संयमीका बध बंधादिक भी हो सकता है। इनके सिवाय ऐसे स्थानोंमें आहारकी विशुद्धि मिलना कठिन है, दूध आदि विकृतिका सेवन और लोभवश अमूल्य

रत्न आदिकी चोरी तथा परस्त्रियोंको देखकर रागभावका उद्रेक एवं वहांकी लोकोत्तर विभूतिको देखकर उसके-लिये निदान भावका हो जाना भी संभव है। इत्यादि अनेक कारण है कि जिनके निमित्तसे राजपिण्डको वर्ज्य बताया है। अत एव जहांपर ये दोष संभव न हों, अथवा दूसरी जगह आहारका लाभ असंभव हो, तो श्रुतमें विच्छेद न पडे इसकेलिये राजकीयपिण्डका भी ग्रहण किया जा सकता है। अर्थात् ऐसी अवस्थामें संयमी जन अपने तप संयम और ध्यान स्वाध्याय आदिके साधनको कायम रखनेकेलिये राजपिण्डको भी ग्रहण कर सकते हैं। क्योंकि उसको वर्ज्य जो माना है सो उपर्युक्त दोषोंकी संभावनासे ही माना है।

पांचवां स्थितिकल्प गुण कृतिकर्म है। पूर्वोक्त छह आवश्यकोंका पालन करना अथवा गुरुजनोंका विनयकर्म करना इसको कृतिकर्म कहते हैं। इसका स्वरूप पहले लिखा जा चुका है।

व्रतोंके आरोपण करनेकी योग्यताको छठा स्थितिकल्प गुण समझना चाहिये। इसकेलिये जो आचेलक्यमें स्थित है, तथा औद्देशिक आदि पिण्डका त्याग करनेमें उद्यत रहता है, गुरुजनोंकी भक्ति करनेवाला तथा विनयशील है उसको व्रतारोपणके योग्य समझना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

आचेलक्के य ठिदो उद्देसादीय परिहरदि दोसे।
गुरुभत्तिम विणीदो होदि वदाण स अरिहो दु॥

जो उत्पत्तिकी अपेक्षा माता और पिता अर्थात् जाति और कुलके सम्बन्धमें महान् है, जो वैभव प्रताप और कीर्तिकी अपेक्षा गृहस्थोंसे भी महान रहे हैं, जो ज्ञान और चर्या आदिमें उपाध्याय तथा आर्यिका आदिसे भी महान् है, एव क्रियाकर्मके अनुष्ठान द्वारा भी जिनमें श्रेष्ठता पाई जाती है उन आचार्योंको स्थितिकल्पके सातवें ज्येष्ठता गुणसे युक्त समझना चाहिये। आठवां स्थितिकल्पगुण प्रतिक्रमण है। इसका स्वरूप पहले बताचुके हैं। जो इसके करने और करानेवाले हैं उनको इस आठवें गुणसे युक्त समझना चाहिये। नौवां स्थितिकल्प गुण मासैकवासिता है। अर्थात् जिनके तीस दिनरात्रितक एक ही स्थानमें या ग्राम आदिमें रहनेका व्रत हो उनको इस गुणसे युक्त

समझना चाहिये । साधुओंको एक ही स्थानमें अधिक दिनतक रहनेसे अनेक दोष लग सकते हैं, यथा—उद्गम आदि दोषोंका परिहार नहीं किया जा सकता, उसी स्थानसे प्रतिबन्ध होजाता है—वहांके निवासियोंसे या उस स्थानसे ही राग होजाता है। गौरवमें कमी आती अथवा लघुता प्राप्त होती है, आलस्य—प्रमादकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है, शरीर अथवा मनमें सुकुमारताका भाव जागृत होता है, भावनाका अभाव और ज्ञातभिक्षाका ग्रहण होता है, इत्यादि अनेक दोष एक स्थानपर निवास करनेसे जो प्राप्त हुआ करते हैं उनका खुलासा मूलाराधनाकी टीकामें किया गया है, वहांसे जानना चाहिये । जैसा कि कहा भी है कि:—

पडिवधो लहुयत्त ण जणुवयारो ण देसविण्णाणं ।
णाणादीण अवुद्धी दोसा अविहारपरिकम्हि ॥

किंतु मूलाराधनाकी टिप्पणीमें मासैकवासिताका अर्थ वर्षा योगको ग्रहण करनेके पूर्व तथा उसके समाप्त होनेपर उसी स्थानमें जहां चातुर्मास किया हो एक महीनेतक रहना किया है ।

दशवां स्थितिकल्प गुण योग—वर्षायोग है । वर्षा कालमें चार महीने तक एक ही जगह रहना इसको योग कहते हैं । उन दिनोंमें पृथ्वी स्थावर और जंगम जीवोंसे व्याप्त हो जाती है। अत एव उन दिनोंमें भ्रमण करनेसे संयममें अत्यधिक बाधा उपस्थित हो सकती है । जलवृष्टि तथा शीतलवायुके लगनेसे अपनी भी विराधना हो सकती है । बावडी आदिमें पतन हो जाना भी संभव है । एवं जल और कीचड आदिके द्वारा अथवा उनमें छिपे हुए लकडी ठूठ कांटे आदिके द्वारा भी बाधा होना संभव है । इत्यादि कारणोंसे चातुर्मासमें एकसौ बीस दिन तक एक जगह ही रहना, यह उत्सर्ग मार्ग बताया है । अपवाद मार्गकी अपेक्षासे कोई विशेष कारण उपस्थित होने पर अधिक अथवा कम दिन तक भी निवास किया जासकता है । अधिक प्रमाणमें आषाढ शुक्ला दशमीसे लेकर कार्तिक शुक्ला पूर्णमासीके ऊपर तीस दिनतक और भी निवास कर सकते हैं ऐसा समझना चाहिये । अत्यधिक जलवृष्टि, शास्त्र—उपदेशरूप श्रुतका विशिष्ट लाभ, शक्तिका अभाव, और किसीकी वैयावृत्य करने आदिका प्रसंग आ उपस्थित होना, इन प्रयोजनोंके उद्देशसे एक स्थानमें अधिक दिनतक निवास किया जा सकता है । यह उत्कृष्ट कालका प्रमाण बताया है। हीन कालका प्रमाण चार दिनका है। अर्थात् महामारी, दुर्भिक्ष, ग्राम नगर प्रान्त आदिमें

राज्य क्रान्ति आदिके निमित्तसे भागदौड मचजानेपर, ये उस क्षेत्रको छोडनेके निमित्त उपस्थित होनेपर वहांसे अन्यत्र—दूसरे ग्राम या देशको चले जाना चाहिये। क्योंकि नहीं तो वहां रहनेपर रत्नत्रय धर्मकी विराधना हो सकती है। ऐसी अवस्थामें आषाढ शुक्ला पूर्णमासीको व्यतीत करके प्रतिपदा आदि तिथिको वहांसे जा सकते हैं। इस अपेक्षासे चार दिनका जघन्य काल बताया है। इस प्रकार स्थितिकल्पके दशवें भेदका स्वरूप समझना। किंतु मूलाराधनाकी टिप्पणीमें यह दशवां भेद पाद्य नामसे बताया है। उसका अभिप्राय ऐसा है कि दो दो महीनेसे निषिद्धिकाओंको देखना चाहिये। यथाः—

आचेलक्यौद्देशिकशय्यागृहराजपिण्डकृतिकर्म।
ज्येष्ठव्रतप्रतिक्रममास पाद्यः श्रमणकल्पः॥

इन उपर्युक्त स्थितिकल्प सम्बन्धी दश गुणोंमें जो निष्ठा धारण करनेवाले हैं, जिनकी इनमें भले प्रकार तत्परता सिद्ध हो चुकी है। एवं अनेक क्षपकों—समाधिमरण करनेवालोंका उद्धार करनेसे जिनकी विशाल कीर्ति सम्पूर्ण पृथ्वीपर फैलगई है, तथा संसारको छोडकर परलोक यात्रा करनेवाले कर्मोंका क्षपण करनेमें उद्युक्त साधुओंको जो समाधिमरणकेलिये प्रेरित करनेवाले हैं, ऐसे ही निर्यापक—आचार्य उन क्षपकोंको विशुद्धिलाभ करा सकते हैं। उसके मार्गमें लगाकर उसकी यथोक्त चर्याको बता सकते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

एतेषु दशसु नित्यं समाहितो नित्यवाद्यभीरुः।
क्षपकस्य विशुद्धिमसौ यथोक्तचर्यां समुद्दिशति॥

प्रतिमायोगको धारण कर खडे हुए मुनिकी क्रिया विधि बताते हैं:—

लघीयसोपि प्रतिमायोगिनो योगिनः क्रियाम्।
कुर्युः सर्वेपि सिद्धर्षिशान्तिभक्तिभिरादरात्॥ ८२॥

सवेरेसे सायंकालतक दिनभर सूर्यकी तरफ मुखकरके कायोत्सर्ग मुद्रा धारण कर खडे रहनेको प्रतिमा-

योग कहते हैं। इसको धारण करनेवाले योगी यदि दीक्षाकी अपेक्षा उम्रमें छोटे हों तो भी सम्पूर्ण साधुओंको अत्यंत आदरभावसे उनका क्रियाकाण्ड सिद्धभक्ति योगिभक्ति और शांतिभक्तिको बोलकर पूर्ण करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है किः—

प्रतिमायोगिनः साधो. सिद्धानागारशांन्तिभि. ।
विधीयते क्रियाकाण्ड सर्वसघेः सुभक्तितः ॥

दीक्षा ग्रहण करने और केशलोंच करनेकी क्रियाकी विधि बताते हैंः—

सिद्धयोगिबृहद्भक्तिपूर्वकं लिङ्गमर्प्यताम् ।
लुञ्चाख्यानाग्न्यपिच्छात्म क्षम्यतां सिद्धभक्तितः ॥ ८३ ॥

केशलुञ्चन, नामकरण, सर्वथा नग्न दिगम्बर अवस्था, और पिच्छी इनके समूहको जिनलिङ्गका स्वरूप समझना चाहिये। आचार्यको यह लिंग बृहत् सिद्धभक्ति और बृहत् योगिभक्ति बोलकर मुमुक्षुमें अर्पण करना चाहिये। तथा यह लिङ्गार्पणका विधान सिद्धभक्तिके द्वारा समाप्त करना चाहिये।

दीक्षा दानके अनन्तर क्या कर्तव्य है सो दो पद्योंमें बताते हैंः—

व्रतसमितीन्द्रियरोधाः पञ्च पृथक् क्षितिशयो रदाघर्षः ।
स्थितिसकृदशने लुञ्चावश्यकषट्के विचेलताऽस्नानम् ॥ ८४ ॥
इत्यष्टाविंशतिं मूलगुणान् निक्षिप्य दीक्षिते ।
सक्षेपेण सशीलादीन् गणी कुर्यात्प्रातिक्रमम् ॥ ८५ ॥ (युग्मम्)

मुनियाके मूलगुण अट्ठाईस हैं। यथा—अहिंसादिक पांच महाव्रत, ईर्यासमिति आदिक पांच समिति, और पांचो इन्द्रियोंका अपने २ विषयोंसे निरोध, ये पन्द्रह भेद हुए, इनका विशेष स्वरूप पहले लिखा जाचुका

है। इनके सिवाय एक भूमिशयन, १ दांतोंका घर्षण—दन्तधावन न करना, १ दिनमें एकवार भोजन करना १ खडे होकर भोजन करना, १ विधिपूर्वक केशोंका उत्पाटन करना, ६ पूर्वोक्त छह आवश्यकोंका पालन करना. १ सर्वथा वस्त्ररहित नग्न दिगम्बर अवस्था धारण करना, और १ तैल आदिका उद्वर्तन तथा जलमें अवगाहन आदि स्वरूप स्नान न करना। ये सब मिलाकर अट्ठाईस भेद होते हैं। इनके सिवाय चोरासी लाख उत्तर गुण और अठारह हजार शीलके भेद और भी हैं। दीक्षा लेनेवाले साधुमें आचार्यको संक्षेपसे इन उत्तर गुणों और शीलके भेदोंके साथ २ सम्पूर्ण उक्त मूलगुणोंका स्थापन करके व्रतारोपण सम्बन्धी प्रतिक्रमण करना चाहिये। जहांतक हो सके यह प्रतिक्रमण उसी दिन करना चाहिये; किंतु उसदिन उत्तम मुहूर्त आदि न बनता हो तो कुछ दिन बाद भी वह किया जा सकता है।

दीक्षाग्रहणके समयको छोडकर अन्य समयमें जो केशोंका लुंचन किया जाता है उसके कालका प्रमाण और उसकी क्रिया करनेकी विधि बताते हैं:—

लोचो द्वित्रिचतुर्मासैर्वरो मध्योऽधमः क्रमात् ।
लघुप्राग्भक्तिभिः कार्यः सोपवासप्रतिक्रमः ॥ ८६ ॥

केशोंका उत्पाटन तीन प्रकारका हुआ करता है,-उत्तम मध्यम और जघन्य। दो महीनेके अनंतर किया जाता है वह उत्कृष्ट, और जो तीन महीनेके अनंतर किया जाता है वह मध्यम, तथा जो चार महीना पीछे किया जाता है वह जघन्य समझना चाहिये। साधुओंको अपनी शक्तिके अनुसार इनमेंसे कौनसा भी लोच अवश्यही करना चाहिये। जिस दिन लोच करना हो उस दिन उपवास और उस क्रियासम्बन्धी प्रतिक्रमण भी करना चाहिये। तथा लोचका प्रतिष्ठापन लघु सिद्धभक्ति और लघु योगिभक्ति बोलकर, एवं निष्ठापन केवल सिद्धभक्तिके द्वारा करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि—

लोचो द्वित्रिचतुर्मासैः सोपवासप्रतिक्रमः ॥
लघुसिद्धर्षिभक्त्यान्यः क्षम्यते सिद्धभक्तितः ॥

सामायिक चारित्रकी उत्कृष्टता और वास्तविकता दिखानेकेलिये यहां बताते हैं कि वस्तुतः चारित्र एक सामायिक ही है, महाव्रतादिके रूपमें जो चारित्रका वर्णन किया जाता है वह उसीका भेदरूपसे वर्णन है. सो इस प्रकारका वर्णन भी आदि तीर्थंकर और अंतिम तीर्थंकरने ही किया है, मध्यके अजितादि पार्श्वनाथ पर्यंत बाईस तीर्थंकरोंने नहीं। इसी बातको यहांपर स्पष्ट करते हैं, और साथ ही यह भी दिखाते है कि इस देशनाके भेदका कारण क्या है।:—

दुःशोधमृजुजडैरिति पुरुरिव वीरोऽदिशद्व्रतादिभिदा ।
दुष्पालं वक्रजडैरिति माम्यं नापरे सुपट्वशिष्याः ॥ ८७ ॥

कर्मभूमिकी आदिमें मनुष्य परिणामोंके सरल किंतु मुग्ध—अज्ञानी हुआ करते है। अत एव वे सामायिक चारित्रको भले प्रकार समझ नहीं सकते और इसीलिये उसका अच्छी तरह पालन भी नहीं कर सकते। यही कारण है कि आदिनाथ भगवान्ने उनकेलिये सामायिक चारित्रको ही व्रतादिके भेद रूपसे बताया। इसी प्रकार अंतिम तीर्थंकरके समयके मनुष्य वक्र और अज्ञानी हुआ करते हैं। वे या तो अपनी वक्रताके कारण अथवा अज्ञानताके कारण सामायिक चारित्रके पालन करनेमें असमर्थ रहा करते हैं। उनसे उसका पालन होना अति कठिन रहता है। अत एव अंतिम तीर्थंकरने भी उसी सामायिकको व्रतोंके भेदरूपसे उनको बताया। किंतु मध्यके बाईस तीर्थंकरोंके समयके मनुष्य योग्य और अच्छे समझू हुआ करते हैं। उनमें सरलता और जडता नहीं रहती। वे अपने विषयमें भले प्रकार व्युत्पन्न रहा करते हैं। अत एव उन बाईस तीर्थंकरोंने चारित्रको व्रतादिके भेदरूपसे न बताकर केवल सामायिकके ही रूपसे बताया।

जिसको जिनलिंगकी दीक्षा दीजाय उसमें किस किस प्रकारकी योग्यता होनी चाहिये सो बताते हैः—

सुदेशकुलजात्यङ्गे ब्राह्मणे क्षत्रिये विशि ।
निष्कलङ्के क्षमे स्थाप्या जिनमुद्रार्चिता सताम् ॥ ८८ ॥

जिनेन्द्र भगवान्‌की मुद्रा देवेन्द्र नरेन्द्र धरणीन्द्र और मुनीन्द्रोंके द्वारा भी पूज्य है। अत एव धर्माचार्योंको जिस व्यक्तिमें इस मुद्राका आरोपण करना हो उसमें उन्हें इस प्रकारकी योग्यता अवश्य देखनी चाहिये कि—वह व्यक्ति प्रशस्त देशमें उत्पन्न हुआ हो, मांसाहारी म्लेच्छों या वैसे ही आचरणवाले भील आदिकोंके देशमें उत्पन्न न हुआ हो। जिस पितासे उसकी उत्पत्ति हुई है उसका वंशानुगत आचरण शुद्ध हो। एवं जिस कुक्षिमें उसने जन्म धारण किया है वह मातृपक्ष भी निर्दोप हो। तथा जिसका शरीर भी प्रशस्त हो,—उसमें ऐसे कोई दोष न हों जो कि आगममें जिनलिंगको धारण करनेमें बाधक बताये है। और चातुर्वर्ण्यमेंसे ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीन उत्तम वर्णोंमें ही जो उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार जिसको कोई कलङ्क नहीं लगा है, ब्राह्मण स्त्री बाल गौ आदिकी हत्या आदि अपराधोंसे जो मुक्त है। और जो उस मुद्राके धारण करनेमें समर्थ है, जो अति बाल अवस्था या सुकुमार शरीरको धारण करनेवाला नहीं है, अथवा अतिवृद्धताके कारण जिसका शरीर जीर्ण और इसीलिये जिनलिंगके चारित्रको पालन करनेके लिये जो असमर्थ नहीं होगया है। अत एव ऐसा कहा भी है कि :—

ब्राह्मणे क्षत्रिये वैश्ये सुदेशकुलजातिजे।
अर्हत' स्थाप्यते लिङ्ग न निन्द्यबालकादिपु॥

अर्थात् —तीन उत्तम वर्णोंके और प्रशस्त देश कुल जातिमें उत्पन्न होनेवाले ही पुरुषमें जिनलिंगकी स्थापना करनी चाहिये। जो ब्रह्महत्या आदि के कारण निन्द्य है अथवा बाल्यावस्था या वृद्धावस्था आदिके धारण करनेवाले हैं उनमें उस लिंगको स्थापित न करना चाहिये। इसी प्रकारः—

पतितादेर्न सा देया जैनी मुद्रा बुधार्चिता।
रत्नमाला सता योग्या मण्डले न विधीयते

जो जाति आदिसे पतित हैं उनको यह विद्वानोंके और देवोंके द्वारा भी पूज्य जिनमुद्रा न देनी चाहिये। जो रत्नोंकी माला सत्पुरुषोंके धारण करने योग्य हुआ करती है वह कुत्तेके गलेमें नहीं पहराई जाती। तथाः—

न कोमलाय बालाय दीयते व्रतमार्चितम् ।
न हि योग्ये महोक्षस्य भारे वत्सो नियोज्यते ॥

जिनका शरीर कोमल है या जिनका चित्त अति मृदु और इन्द्रियां विषय सेवनकी तरफ प्रबल हैं ऐसे बालकोंको जिनदीक्षाका त्रिलोकपूज्य व्रत न देना चाहिये । जिस बोझेको बडा बैल ही ढो सकता है उसमें छोटे बच्छेको जोतना ठीक नहीं ।

यहांपर कोई शंका कर सकता है कि दीक्षाका देना कषायको उत्पन्न करने और उसको पुष्ट करनेका साधन है; क्योंकि उसमें शिष्योंका परिग्रह बढता है, और उसके सम्बन्धसे पुनः उनके पोषण रक्षण और व्यवस्था आदिकी चिन्ता भी हुआ ही करती है. अवस्थाके अनुसार उनका निग्रहानुग्रह भी करना ही पडता है । और क्षपण आदिके समय साधुओंको वैयावृत्य आदिके लिये प्रेरित भी करना पडता है । इत्यादि अनेक कारणोंसे मुमुक्षुओंका इस कार्यमें पडना उचित नहीं प्रतीत होता । परन्तु यह शंका ठीक नहीं है । क्योंकि जिनका चारित्र सराग है उन्हींकेलिये आगममें इसका विधान किया है । जैसा कि कहा भी है किः—

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसण तेसिं ।
चरिया हि सरायाण जिणिंदपूजोवएसो य ॥

अर्थात्—सम्यग्दर्शनको दृढ करनेवाला और ज्ञानकी वृद्धि करनेवाला उपदेश देना, शिष्योंका ग्रहण करना, और उनका पोषण तथा रक्षण करना, एवं जिनेन्द्र भगवान्की पूजा आदिका उपदेश देना, यह सब सराग चारित्रके धारण करनेवाले मुनियोंका ही कार्य है । फिर इसके सिवाय ऐसा किये विना संघकी व्यवस्था और मोक्षमार्ग सुरक्षित नहीं रह सकते । अत एव यह कार्य भी किसी न किसीको करना ही पडता है ।

जब तक महाव्रतोंको धारण न किया जाय तब तक केवल जिनलिंग—केशोत्पाटन दिगम्बरता और संज्ञा तथा पिच्छीके ग्रहण करनेसे ही आत्मामें लगे हुए दोषोंकी विशुद्धि नहीं हो सकती । इस बातको दृष्टान्त देकर स्पष्ट करते हैं:—

महाव्रताद्दते दोषो न जीवस्य विशोध्यते ।
लिङ्गेन तोयादूषेण वसनस्य तथा मलः ॥ ८९ ॥

जिस प्रकार वस्त्रको जबतक पानीसे न धोया जाय तब तक केवल उसमें क्षारमट्टीके लगानेसे ही उसका मल दूर नहीं हो सकता, उसी प्रकार जब तक महाव्रत धारण नहीं किये जावे तब तक केवल चिन्हमात्र जिन लिंगके धारण करनेसे आत्मामें लगे हुए राग द्वेषरूपी कषायोंका मल दूर नहीं हो सकता।

किंतु जिनमुद्राके विना केवल व्रतोंका धारण करना भी कार्यकारी नहीं हो सकता। अत एव दृष्टान्त द्वारा इस बातको भी दृढ करते है कि जिनलिंगसे युक्त ही व्रताचरण कषायोंका विशोधन कर सकता है:—

मृद्यन्त्रकेण तुष इव दलिते लिङ्गग्रहेण गार्हस्थ्ये ।
मुशलेन कणे कुण्डक इव नरि शोध्यो व्रतेन हि कषायः ॥ ९० ॥

मट्टीके बने हुए यन्त्रविशेषके द्वारा जब धान्यके उपरका छिलका उतारकर दूर कर दिया जाता है तभी उसके भीतरकी बारीक—पतली भुसी मूसलके द्वारा छरकर दूर की जासकती है, अन्यथा नहीं। इसी तरहसे जिनलिंग और व्रतोंके विषयमें समझना चाहिये। अर्थात् व्रतोंको प्रकट कर दिखाने वाला चिन्ह-जिनलिंग जब धारण कर लिया जाता है तभी उसके द्वारा गृहस्थाश्रमका भाव निर्दलित होता और तभी मूपलके समान उन व्रतोंके द्वारा अन्तर्मल—कषायका शोधन किया जा सकता है।

भावार्थ—चावलके समान मनुष्यको और भुसीके समान कषायको तथा ऊपरके छिलके के समान गृहस्थाश्रमको एव मट्टीके यंत्रके समान जिन लिंगको समझकर मूसलके समान व्रतोंके द्वारा उसका शोधन करना चाहिये।

भूमिशयन नामके मूलगुणकी विधि बताते हैं:—

अनुत्तानोऽनवाङ् स्वप्याद्भूदेशेऽसंस्तृते स्वयम् ।
स्वमात्रे संस्तृतेऽल्पं वा तृणादिशयनेऽपि वा ॥ ९१ ॥

भूमिशयन मूलगुणको सिद्ध करनेकेलिये साधुओंको तृण घास आदिके आच्छादनसे रहित केवल भूमि-प्रदेशमें ऊर्ध्वमुख अथवा अधोमुख न होकर दक्षिण अथवा वाम किसी भी एक पार्श्व भागसे दण्डके समान लम्बायमान होकर अथवा धनुषके आकारको धारण करके शयन करना चाहिये । अथवा अल्प आच्छादनसे युक्त भूमिपर भी शयन कर सकते हैं । किंतु यह आच्छादन जितनी भूमिमें उन्हें सोना है उतनीमें ही स्वयं करना चाहिये । अल्प आच्छादनसे प्रयोजन यह है कि जैसा गृहस्थ आदिकोंका विस्तर हुआ करता है वैसा न होना चाहिये । भूमिके स्थानपर तृण आदि की बनी हुई चटाई यद्वा काष्ठके बने हुए तख्त आदि अथवा पत्थरकी शिला आदिके ऊपर भी शयन कर सकते हैं । इस विषयमें भी अनाच्छादन और अल्प आच्छादनका सम्बन्ध लगा-लेना चाहिये । जैसा कि कहा भी है कि:—

पासुअभूमिपदेसे अप्पमसथारिदम्हि पच्छण्णे ।
दण्डधणुव्व सेज्ज खिदिसयण एयपासेण ॥

अर्थात्—प्रासुक और अल्पसंस्तरित अथवा असंस्तरित एवं एकान्त भूमि प्रदेशमें दण्ड अथवा धनुषकी तरह एक पार्श्वभागसे सोना इसको क्षिति शयन कहते हैं ।

ऊर्ध्वमुख सोनेसे अधिकतर स्वप्नदर्शन होता है और अधोमुख सोनेसे प्रायः वीर्यस्खलन हो जाता है । इत्यादि दोषोंके कारण पार्श्वभागसे ही सोना बताया है । सो भी किसी एक ही विवक्षित पसलीकी तरफसे सोना चाहिये, अर्थात् करवट वगैरह न लेना चाहिये । निद्राके कालका प्रमाण पहले बता चुके हैं ।

खडे होकर भोजन करनेरूप मूलगुणकी विधि और उसके कालका प्रमाण बताते हैं:—

तिस्रोऽपास्याद्यन्तनाडीर्मध्येऽन्ह्याद्यात् स्थितः सकृत् ।

मुहूर्तमेकं द्वौ त्रीन्वा स्वहस्तेनानपाश्रयः ॥ ९२ ॥

दिनकी आदिकी और अंतकी तीन तीन घडी छोडकर बाकी दिनके मध्यभागमें एक वार खडे होकर दीवाल या स्तम्भ आदिका सहारा न लेकर अपने हाथसे—अंजलिपुट बनाकर एक मुहूर्त दो मुहूर्त अथवा तीन मुहूर्ततक आहार करना चाहिये ।

भावार्थ—दिनके उदयकालकी तीन घडी और अस्तसमयकी तीन आमरीकेलिये अयोग्य समय है। इस समयमें साधुओंको गोचरीकेलिये निकलना न चाहिये । और भोजन क्रियाका काल एकसे तीन मुहूर्त तकका है । इतने समयमें भोजन क्रिया समाप्त करनी चाहिये । तथा भोजन करते समय साधुओंको किसीका सहारा न लेकर और दोनों पैरोंको बराबरमें जोडकर खडे होना चाहिये और भूमिके तीन स्थानोंकी शुद्धि देखकर दिनमें एक वार अंजलिका भेद न करके भोजन करनेको स्थितिभोजन कहते हैं । जैसा कि कहा भी है किः—

> उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि ।
> एकम्हि दुय तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु ॥
> अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डादिविवज्जणेण समपायं ।
> पडिसुद्धे भूमितिये असण ठिदिभोयणं णाम ॥

अर्थात्—उदय और अस्तका तीन तीन घडीका काल छोडकर बाकीके दिनके मध्यके समयमें एक दो या तीन मुहूर्ततक एक वार भोजन करना इसको एकभुक्ति कहते हैं । तथा अंजलिपुटके द्वारा, खडे होकर, और भींत वगैरहका आश्रय न लेकर, पैरोंको बराबर रखकर, भूमित्रयकी शुद्धि देखकर भोजन करना इसको स्थितिभोजन कहते हैं ।

इस विषयकी विशेष व्याख्या आचार टीकामें की गई है । उसका उपयोगी समझकर कुछ आशय यहां भी दिया जाता है ।

अभिप्राय यह है कि समपाद और अंजलिपुट ये एक मुहूर्तसे लेकर तीन मुहूर्ततकका जो भोजनका समय बताया है उस सबके विशेषण नहीं किंतु मुनिके भोजनके विशेषण हैं। अतएव तीन मुहूर्तके भीतर जब जब भी वे भोजन करें तब तब ही उनको समपाद और अजलिपुटके द्वारा ही भोजन करना चाहिये, ऐसा आशय समझना। यदि ऐसा न माना जायगा और उनको— समपाद और अंजलिपुटको समयका ही विशेषण माना जायगा तो हस्त प्रक्षालन करनेपर भी उस समय जो जानूपरिव्यतिक्रम नामका अन्तराय बताया है सो नहीं बन सकता। इसी प्रकार नाभेरधोनिर्गमन अन्तराय जो बताया है वह भी नहीं बन सकता। इससे मालुम होता है कि तीन मुहूर्तका जो समय बताया है उसमें एक जगह भोजन क्रियाका प्रारम्भ करके किसी कारणसे हाथोंको धोनेके बाद मौन पूर्वक दूसरी जगह भोजनकेलिये जा सकते हैं। यदि वह अन्तराय एक स्थानपर भोजन करते हुएके होता है ऐसा माना जायगा तो अन्तरायका जानूपरिव्यतिक्रम यह विशेषण देना निरर्थक ही हो जायगा। उसकी जगह ऐसा ही फिर विशेषण देना चाहिये कि यदि बराबरमें रक्खे हुए पैर रंचमात्र भी चलायमान हो जांयगे तो अंतराय हो जायगा। इसी प्रकार नाभेरधोनिर्गमन नामका अंतराय भी दूरहीसे कैसे संभव हो सकता है? नहीं बन सकता। अत एव अन्तरायको बचानेकेलिये उसका ग्रहण करना भी निरर्थक ही ठहरेगा। इसी प्रकार पैरसे कोई चीज ग्रहण करनेमें आजाय तो वह अंतराय माना है सो वह भी कैसे बनेगा। इत्यादि अंतरायोंके स्वरूपको बतानेवाले अनेक सूत्र निरर्थक ही ठहरेंगे। इसी तरह यदि भोजन क्रिया प्रारम्भ करनेके बाद अंजलिपुटका भेद होना न माना जायगा तो हाथसे किसी वस्तुका ग्रहण होना जो अंतराय माना है वह नहीं बन सकता। उसके स्थानपर ऐसा ही फिर कहना चाहिये कि कोई वस्तु ग्रहण करनेमें आवे या न आवे यदि अजलिपुटका भेद होजाय तो अंतराय समझना चाहिये। इसी प्रकार जान्वधःपरामर्श नामका अन्तराय भी नहीं बन सकता। और भी अनेक अन्तराय इसी तरह नहीं बन सकते, यदि समपाद और अजलिपुटको एक दो तीन मुहूर्तप्रमाण भोजनके कालका विशेषण माना जाय। अत एव यह स्पष्ट है कि ये दोनों ही भोजनके विशेषण हैं न कि कालके।

भावार्थ—यह बात पहले बता चुके हैं कि प्रायः करके अंतराय सिद्धभक्तिके अनंतर ही हुआ करते हैं।

ऐसी अवस्थामें यदि समपाद और अंजलिपुटको भोजनके कालका विशेषण माना जाय तो उपर्युक्त कोई भी अंतराय नहीं बन सकता। अत एव उन्हे भोजनका ही विशेषण मानना चाहिये। अर्थात् जब २ भी तीन मुहूर्त कालके भीतर भोजन क्रियाको मुनि प्रारम्भ करें तब २ ही उन्हे समपाद और अंजलिपुटके द्वारा भोजन करना चाहिये. इससे यह बात भी सिद्ध होती है कि किसी कारणके वश एक जगह भोजन क्रिया प्रारम्भ करके हस्त प्रक्षालनके अनंतर ही दूसरी जगह भी भोजनकेलिये जा सकते है।

समपादका अभिप्राय यह है कि दोनों पैरोंमें चार अंगुलका अंतर रखकर दोनोंको एक सीधमें रखना। और भूमित्रयकी शुद्धि देखनेकेलिये जो कहा है उसका तात्पर्य यह है कि जहांपर आहार देनेके समय दाता खडा होता है, और जहांपर आहार लेनेको पात्र खडे होते हैं, एवं दोनोंके मध्यमें उच्छिष्ट का जहां पतन होता है वे तीनों ही स्थान शुद्ध होने चाहिये।

खडे होकर भोजन करनेका प्रयोजन क्या है सो बताते हैं:—

यावत्करौ पुटीकृत्य भोक्तुमुद्भः क्षमेऽश्नयहम्।
तावन्नैवान्यथेत्यागूसंयमार्थं स्थिताशनम् ॥ ९३ ॥

जबतक मैं खडे होकर और अपने हाथोंको जोडकर या उनको ही पात्र बनाकर उन्हींके द्वारा भोजन करनेकी सामर्थ्य रखता हूं तभीतक भोजन करनेमें प्रवृत्ति करूंगा, अन्यथा नहीं। इस प्रतिज्ञाका निर्वाह और इन्द्रिय संयम तथा प्राणिसंयमका साधन करनेकेलिये मुनियोंको खडे होकर भोजन करनेका विधान किया है।

भावार्थ—खडे होकर भोजन करनेके, प्रतिज्ञाका बोधन और निर्वाह, तथा आहारकी शुद्धि और दोषोंकी निवृत्ति, एवं संयमकी सिद्धि, इस प्रकार अनेक प्रयोजन हैं। जैसा कि आचारटीमें भी बताया है, उसका आशय इस प्रकार है:—

जब तक मेरे हाथ और पैर परस्परमें सम्बद्ध होनेकी शक्ति रखते हैं तभी तक मुझे आहार ग्रहण करना

लुंचन करनेसे दुःखोंके सहन करनेका अभ्यास होता है। जिससे कि परीषह और उपसर्गोंके जीतनेकी कठिनता दूर होती है। और कायक्लेश आदि तपकी सिद्धि होकर शरीरमें पूर्ण निर्ममताका भाव जागृत व दृढ होता है। अतएव जिसप्रकार नग्नतामें ये और इनके सिवाय दूसरे भी अनेक गुण बताये हैं उसी प्रकार केशोत्पाटन नामक मूलगुणमें भी समझने चाहिये। अतएव ऐसा कहा भी है किः—

काकण्या अपि संग्रहो न विहितः क्षौरं यया कार्यते,
चित्तक्षेपकृदस्त्रमात्रमपि वा तत्सिद्धये नाश्रितम्।
हिंसाहेतुरहो जटाद्यपि तथा यूकाभिरप्रार्थनै,—
वैराग्यादिविवर्धनाय यतिभिः केशेषु लोचः कृतः॥

अर्थात्—निर्वाण पथिक साधुजन अपने पास एक कौडी भी नहीं रखते जिससे कि क्षौरकर्म कराया जा सकता है। स्वयं क्षौर कर्म करनेके लिये अपने पास अस्त्र भी नहीं रखते। क्योंकि उससे चित्तमें विक्षेप उत्पन्न होता है। जटा बढाना इसलिये ठीक नहीं कि वह जूं आदिके द्वारा हिंसाका ही साधन है। अत एव सर्वोत्तम उपाय यही है कि हाथोंसे उनका उत्पाटन कर दिया जाय जिससे कि उलटी वैराग्य आदि गुणोंकी वृद्धि ही हुआ करती है:—

अस्नान नामके मूलगुणका समर्थन करते हैं: —

न ब्रह्मचारिणामर्थो विशेषादात्मदर्शिनाम्।
जलशुद्ध्याथवा यावद्दोषं सापि मतार्हतैः॥ ९८॥

जो ब्रह्मचर्य व्रतके पालन करनेवाले हैं उनके अशुद्धिका कारण ही नहीं रहता। अत एव उसको दूर करनेकेलिये उन्हे जलशुद्धि—स्नान करनेकी भी क्या आवश्यकता है? उससे उनका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। तथा खासकर जो आत्मदर्शी—योगी हैं—जो ज्ञान ध्यान स्वाध्याय और तपस्या तथा ब्रह्माचरणमें ही रत रहते हैं, और इसी लिये जिनका शरीर स्वयं पवित्र है उनके लिये तो यह स्नान किस प्रयोजनका! हां, यह बात अवश्य है कि यदि कदाचित् अस्पृश्यका स्पर्श आदि दोष उपस्थित हो जाय तो उसकी शुद्धिकेलिये उसकी

योग्य है, अन्यथा नहीं, इस भाव या प्रतिज्ञाका बोधन करानेकेलिये मुनिजन खडे होकर और अपने हाथोंसे भोजन करते हैं, यह पहला प्रयोजन। इसीके साथ दूसरा प्रयोजन यह भी है कि "मैं बैठकर या पात्रके द्वारा अथवा अन्य व्यक्तिके हाथसे भोजन न करूंगा" इस प्रतिज्ञाका निर्वाह होता है। तीसरा प्रयोजन यह है कि भोजनकी शुद्धि पलती है। क्योंकि इसके लिये अपना हाथ सबसे अधिक शुद्ध हुआ करता है; और अपने हाथमें रक्खे हुए भोजनका दृष्टि पूर्वक बहुत अच्छी तरह शोधन किया जा सकता है। चौथा प्रयोजन दोषोंकी निवृत्ति है। अर्थात—अपने हाथसे भोजन करनेमें कदाचित् अन्तराय आजाय तो अधिक भोजन का त्याग नहीं करना पडता। अन्यथा बहुतसी भोज्य सामग्रीसे भरी हुई सबकी सब थाली छोडनी पडेगी। और ऐसा होनेपर अवद्य-दोष उपस्थित होंगे। पांचवां प्रयोजन संयमकी सिद्धि है। अर्थात् इन्द्रियोंकी लोलुपताका कर्षण होकर और सूक्ष्म जीवोंकी या अपने चेतना प्राणकी रक्षा होकर इन्द्रिय संयम और प्राण संयमका पालन होता है। इन कारणोंसे ही खडे होकर और अपने हाथोंसे ही भोजन करनेका विधान किया गया है। यही बात औरोंने भी कही है, यथाः—

यावन्मे स्थितिभोजनेस्ति दृढता पाण्योश्च संयोजने,
भुंजे तावदहं रहाम्यथ विधावेषा प्रतिज्ञा यते'।
कायेप्यस्पृहचेतसोन्त्यविधिषु प्रोल्लासिनः सन्मते-
र्न ह्येतेन दिवि स्थितिर्न नरके संपद्यते तद्विना॥

खडे होकर भोजन करनेकी विशेष विधि बताते हैंः—

प्रक्षाल्य करौ मौनेनान्यत्रार्थाद् व्रजेद्यदैवाद्यात।
चतुरंगुलान्तरसमक्रमः सहाञ्जलिपुटस्तदैव भवेत॥ ९४॥

भोजनके स्थानपर यदि कीडी आदि तुच्छ जीव जंतु चलते फिरते अधिक नजर पडें, या ऐसा ही कोई दूसरा निमित्त उपस्थित हो जाय तो संयमियोंको हाथ धोकर वहांसे दूसरी जगहकेलिये आहारार्थ मौनपूर्वक चलेजाना चाहिये। इसके सिवाय जिस समय वे अनगार ऋषि भोजन करें उसी समय उनको अपने दोनों पैर

उन्हे आवश्यकता है। सो इसकेलिये जैनाचार्योंने भी ब्रह्मचारियों व योगियोंकेलिये जलशुद्धि मानी ही है। जैसा कि श्री सोमदेव सूरीने भी कहा है कि:—

ब्रह्मचर्योपपन्नानामध्यात्माचारचेतसाम्।
मुनीनां स्नानमप्राप्तं दोषे त्वस्य विधिर्मतः॥
सङ्गे कापालिकात्रेयीचण्डालशबरादिभिः।
आप्लुत्य दण्डवत्सम्यग्जपेन्मन्त्रानुपोषितः॥
एकान्तरं त्रिरात्रं वा कृत्वा स्नात्वा चतुर्थके।
दिने शुध्यन्त्यसंदेहमृतौ व्रतगताः स्त्रियः॥

अर्थात्—जो ब्रह्मचारी हैं, और जिनका आत्मा अपने ही में रमण करनेवाला है उन मुनियोंकेलिये स्नान अनावश्यक है। किंतु दोष उपस्थित होनेपर उसकी विधि भी मानी है। जैसे कि कापालिक आत्रेयी चण्डाल और भील आदिसे स्पर्श हो जानेपर अपने शरीरको अच्छीतरह भिगोकर दण्डस्नान करना चाहिये, और उपवासपूर्वक मंत्रका जप करना चाहिये। जो व्रतिक स्त्रिया हैं वे एकान्तरसे या तीनरात्रिके बाद निःसंदेह शुद्ध समझी जाती हैं। इसी प्रकार और भी कहा है कि:—

रागद्वेषमदोन्मत्ताः स्त्रीणां ये वशवर्तिनः।
न ते कालेन शुद्ध्यन्ति स्नातास्तीर्थशतैरपि॥

अर्थात्—जो रागद्वेष आदि कषायमदसे उन्मत्त रहनेवाले और स्त्रियोंके वशीभूत रहनेवाले—अब्रह्मके सेवन करने वाले हैं वे सैकडों तीर्थोंमें स्नान करके भी कभी शुद्ध नहीं हो सकते।

अंतमें इस अध्यायका उपसंहार करते हुए बताते हैं कि यहांपर जो नित्य और नैमित्तिक क्रियाओंका स्वरूप बताया है उनका यथावत् पालन करनेसे क्या फल प्राप्त होता है:—

नित्या नैमित्तिकीश्चेत्यावितथकृतिकर्माङ्गबाह्यश्रुतोक्ता,—

भक्त्या युङ्क्ते क्रिया यो यतिरथ परमः श्रावकोन्योथ शक्त्या।
स श्रेयःपक्त्रिमाग्रत्रिदशनरसुखः साधुयोगोज्झिताङ्गो,
भव्यः प्रक्षीणकर्मा व्रजति कतिपयैर्जन्मभिर्जन्मपारम् ॥ ९९ ॥

पूर्वोक्त रीतिसे इस अध्यायमें जिन नित्य और नैमित्तिक क्रियाओंका वर्णन किया गया है वे सब सत्यभूत कृतिकर्म नामके अङ्गबाह्य श्रुतमें अच्छी तरह बताई हैं। उसीके आधारसे यहांपर भी ये बताई गई हैं। अत एव सर्वथा प्रमाणभूत हैं। जो संयमी साधु अथवा उत्तम श्रावक—दशवीं ग्यारहवीं प्रतिमाका धारक देशसंयमी, यद्वा मध्यम—सातवीं आदि प्रतिमाका धारक, अथवा जघन्य—छट्ठी प्रतिमा तकके व्रतोंको धारण करनेवाला श्रावक भक्तिपूर्वक और शक्तिके अनुसार इन नित्य नैमित्तिक क्रियाओंका भले प्रकार पालन करता है वह भव्यात्मा आयुके अंतमें समाधिपूर्वक शरीरका अच्छी तरह त्याग करके संचित महान् पुण्य कर्मके उदयसे देवगति अथवा मनुष्यगतिके प्रधानभूत आभ्युदयिक सुखोंको भोगता है और परंपरासे ज्ञानावरणादि सम्पूर्ण कर्मोंको निरवशेषतया निर्जीर्ण करके कमसे कम दो तीन भवमें और ज्यादेसे ज्यादे सात आठ भवमें ही संसारका अंत कर शास्वतिक शिवसुखका अनुभव किया करता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

आराहिऊण केई चउव्विहाराहणाए संसारं,
उव्वरियसेसपुण्णा सव्वत्थणिवासिणो हुंति ॥
जेसिं होज्ज जहण्णा चउव्विहाराहणा हु खवयाणं।
सत्तट्ठभवे गंतुं तेविय पावंति णिव्वाणं ॥

इस ग्रंथमें जिस मुनिधर्मका वर्णन किया गया है वह जिन भगवान्‌के प्ररूपित आगमसे उद्धृत करके ही किया है। अत एव वह सर्वात्मना प्रमाण है और श्रद्धेय है। मुमुक्षुओंको उसका निरंतर यथावत् पालन करना चाहिये। ऐसा करनेसे ही उन्हें संसारके सर्वोत्कृष्ट अभ्युदय तथा परम निःश्रेयस पदकी प्राप्ति हो सकती है। इसी बातको ग्रंथकर्ता ग्रंथके अंतमें अपना और ग्रंथका नाम प्रकट करते हुए बताते हैं:—

इदं सुरुचयो जिनप्रवचनाम्बुधेरुद्धृतं,
सदा य उपयुञ्जते श्रमणधर्मसारामृतम् ।
शिवास्पदमुपासितक्रमयमाः शिवाशाधरैः,
समाधिविधुतांहसः कतिपयैर्भवैर्यान्ति ते ॥ १०० ॥

ऊपर जिस अनगारधर्मका इस ग्रंथमें वर्णन किया गया है वह अपूर्व अमृतके समान है, जो कि श्री जिनेन्द्र भगवान्के प्ररूपित आगमरूपी समुद्रसे उद्धृत किया गया है। जो निर्मल सम्यक्त्वके धारण करनेवाले इस धर्मके अन्तस्तत्त्वका सुधाके समान सदा सेवन किया करते हैं, अतएव जिनके चरणयुगलकी इन्द्रादिक भी आराधना किया करते हैं, अथवा आत्मिक क्षेम—साक्षात् मोक्षकी आकांक्षा धारण करनेवाले मुनिगण और अन्य महान् पुरुष जिनके क्रम—आनुपूर्वी और यम—संयमकी उपासना किया करते हैं, जिन्होंने समाधि—धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यानके द्वारा शुभ और अशुभ कर्मोंका अपनी आत्मासे पृथक्करण करादिया है, वे भव्यात्मा कुछ ही भवमें—कमसे कम दो तीन या ज्यादेसे ज्यादे सात आठ भवमें शाश्वतिक शिवसुखका सम्पादन किया करते हैं।

केवल शिवसुख—मोक्षकाही अभिप्राय रखकर जिसने भव्यों—मुनियों अथवा देवोंकी तृप्तिके लिये जिनभगवान्के आगमरूपी क्षीर समुद्रका मंथन करके इस धर्मामृतको उध्दृत किया है वे श्रीमान् आशाधर सदा जयवंते रहो। एवं वे भव्यात्मा हरदेव भी इस ग्रंथको बुद्धिगत करते हुए सदा आनंदित रहें कि जिनके उपयोगकेलिये उन्ही श्रीमान् आशाधरने इस टीकारूपी शुक्तिकी सुखपूर्वक रचना की है।

इस तरह श्री आशाधर विरचित धर्मामृत ग्रंथके अनगार धर्म नामक पूर्व भागकी भव्यकुमुदचंद्रिका नामकी स्वोपज्ञ टीकामें नित्य नैमित्तिक क्रियाओंका जिसमें वर्णन किया गया है ऐसा नौवां अध्याय पूर्ण हुआ।

इस प्रकार धर्मामृत ग्रंथके अनगार धर्मामृत नामक पूर्वार्धकी टीका पूर्ण हुई।

भद्रम् ।

ग्रंथकर्त्ताकी प्रशस्ति.

एक सपादलक्ष नामका देश था जो कि त्रिवर्गसम्पत्तिसे युक्त और लवणसमुद्रका भूषणरूप था। उसमें लक्ष्मी के क्रीडागृहके समान मंडलकर नामका एक महान् दुर्ग था। वहीं पर निर्मल व्याघ्रेरवाल जातिके श्री सल्लक्षण पिता और श्रीमती रत्नीबाई माताकी कुक्षिमें श्री जिनेन्द्र भगवान् के प्ररूपित सिद्धान्तमें श्रद्धा रखनेवाले आशाधरका जन्म हुआ था। उन्होंने जिस प्रकार अपनेको सरस्वती—वाणीके गर्भसे उत्पन्न किया था[1] उसी प्रकार सरस्वती नामकी अपनी स्त्रीसे छाहड नामके पुत्रको उत्पन्न किया था, जो कि अत्यंत गुणवान् था और जिसने मालवाके अधिपति श्री अर्जुन देवको अपने ऊपर अनुरंजित कर रक्खा था।

कवियों अथवा विद्वानोंके मित्र श्री उदयसेन मुनिने अत्यंत प्रीतिपूर्वक जिन आशाधरका यह कहकर अभिनंदन किया था कि—

> व्याघ्रेरवालवरवंशसरोजहंसः काव्यामृतौघरसपानसुतृप्तगात्रः ।
> सल्लक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षुराशाधरो विजयते कलिकालिदासः ॥

अर्थात्—जो व्याघ्रेरवाल नामके निर्दोष वंशरूपी सरोज—कमलको हंसके समान है, जिसका शरीर काव्यरूपी अमृतके समूहका रसपान करनेसे अत्यंत तृप्त हो चुका है, जो नीति अथवा न्यायशास्त्रके द्वारा सम्पूर्ण संसारको देखनेवाला है, अथवा जिसका न्यायशास्त्र संसारकेलिये चक्षुके समान है, एवं जो इस कलिकालमें कालिदासके समान है वह सल्लक्षणका पुत्र आशाधर सदा जयवंत रहो।

१—पं० आशाधर जी की सरस्वतीपुत्र ऐसी पदवी था।

इसी प्रकार उन आशाधरके विषयमें श्री मदनकीर्ति नामके यतिपति-आचार्यने भी ये प्रज्ञापुंज हैं ऐसा प्रशंसावाक्य कहा है।

वे ही आशाधर जब तुरुष्कराज साहबुद्दीनने सपादलक्ष देशपर अपना अधिकार किया तब उसके त्राससे अपने सदाचार एवं चारित्रमें क्षति पडती हुई देखकर मालवा देशमें आकर प्राप्त हुए, जहांपर कि विन्ध्यनरेशके बाहुबल, अन्तः सार तथा उत्साहके प्रसादसे त्रिवर्गका ओज-बल स्फुरायमाणहो रहा था। इस मालवाकी धारा नगरीमें अपने बडे परिवारको साथ लेकर आशाधरने निवास किया। यहीं पर वादिराज पंडित श्री धरसेनके शिष्य पंडित महावीरसे आर्हत प्रमाण शास्त्र और जैनेन्द्र व्याकरणका अध्ययन किया।

जिस आशाधरके विषयमें विन्ध्यनरेशके महासांधिविग्राहिक मंत्री और कवियोंके शिरोमणि विद्वान् विल्हणने इस प्रकार कहा है कि—

आशाधरत्व मयि विद्धि सिद्धं निसर्गसौंदर्यमजर्यमार्य।
सरस्वतीपुत्रतया यदेतदर्थे परं वाच्यमयप्रपञ्चः॥

अर्थात्—हे आर्य! सरस्वतीपुत्रत्वकी[1] अपेक्षा मुझमें स्वाभाविक सौंदर्य[2]—सहोदरता-मातृभावसे युक्त तथा अजर्य[3]—मैत्रीभावरूप आशाधरत्व सिद्ध होगया समझो।

ये आशाधर जिनधर्मको उद्योतित करनेकेलिये जहांपर अर्जुनवर्मा राजाका राज्य था और श्रावकोंकी वस्ती बहुत अधिक थी उस नलकच्छपुरमें आकर रहे।

उन्होंने पंडित देवचन्द्र प्रभृति किन श्रोताओंको थोडे ही समय में व्याकरण समुद्रके पार नहीं कर दिया, एवं उनसे समीचीन न्यायशास्त्ररूपी उत्कृष्ट अस्त्रको पाकर वादीन्द्र विशालकीर्ति आदिकमेंसे ऐसे कौन हैं कि

१—विल्हणकी माताका नाम सरस्वती था और पं. आशाधरजी की सरस्वतीपुत्र उपाधि थी। २ दूसरे पक्षमें सौंदर्य अर्थ भी हो सकता है। ३ पक्षान्तरमें कभी नष्ट न होनेवाला ऐसा भी अर्थ हो सकता है।

जिन्होने प्रति पक्षी वादियोंको आक्षिप्त—पराजित नहीं किया है। तथा जिनके जिनवचनरूपी दीपकके ग्रहण करानेपर भट्टारक देवभद्र विनयभद्र आदिकमेंसे ऐसे कौन हैं कि जो मोक्षमार्गमें अस्खलित रूपसे नहीं चलने लगे,—निरतिचार चारित्रका आचरण नहीं करने लगे। इसी प्रकार जिनके पास काव्यरूपी अमृतका पान करके बालसरस्वती महाकवि मदन आदिमेंसे ऐसे कौन हैं कि जिन्होंने सहृदय विद्वानोंके बीचमें प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं की है।

जिसके निरवद्य पद्योंसे मानों अमृतका पूर ही बहता है, जिससे स्याद्वाद विद्याका प्रसाद विशदरूपसे प्राप्त होता है, ऐसा प्रमेयरत्नाकर नामका इन्होने एक तर्कग्रन्थ बनाया है। इसी प्रकार जिन आशाधरने केवल आत्म कल्याणके लिये सिद्धिका है अंक-चिन्ह[1] जिसका ऐसा भरतेश्वराभ्युदय नामका उत्तम काव्य बनाया और उसकी टीका भी बनाई जो कि त्रैविद्य-न्याय व्याकरण सिद्धान्तके जाननेवाले कवीन्द्रों को प्रमुदित करने वाला है। तथा जिनागमका सार भूत, स्वयंकी बनाई हुई ज्ञानदीपिका नामकी टीकासे रमणीय, धर्मामृत नामका शास्त्र बनाकर मुमुक्षु विद्वानोंके आनन्दसे परिपूर्ण हृदयमें विराजमान किया। नेमीश्वरके नामका अनुवर्तन करने वाला राजीमती विप्रलम्भ—अर्थात् नेमीश्वर राजीमती विप्रलम्भ नामका खण्डकाव्य बनाया और उसकी स्वयं टीका भी बनाई। पिताकी आज्ञानुसार अध्यात्मरहस्य नामका शास्त्र भी बनाया जो कि प्रसत्तिगुणसे युक्त रहनेके कारण झटिति अर्थका बोधन करता है और अर्थतः गम्भीर है—जिसका अर्थ समझनेमें दूसरे शास्त्रों की अपेक्षा पडती है, तथा जो आरब्धयोगियोंको अत्यंत प्रिय है। मूलचार भगवती आराधना इष्टोपदेश आराधनासार भूपालचतुर्विंशतिका आदि ग्रंथोंके ऊपर टीका बनाई हैं और अमरकोषके ऊपरभी क्रिया कलाप नामकी विशिष्ट टीका रची है। रुद्रट आचार्यके काव्यालंकार की टीका की और अरहंतों—अनन्त तीर्थकरों का स्तवन रूप सटीक सहस्रनाम बनाया। जिनभगवान्की प्रतिमाकी प्रतिष्ठाकी विधि बतानेवाला जिनयज्ञकल्प नामका प्रतिष्ठाशास्त्र बनाया और उसकी जिनयज्ञकल्पदीपिका नामकी टीका भी बनाई। इसी प्रकार त्रिषष्टिस्मृति नामका सटीक संक्षिप्तशास्त्र भी बनाया जिसमें कि त्रेसठ शलाका पुरुषोंका विषय बताया गया है। जिनभगवान्का

१—प्रत्येक सर्गके अंतमें सिद्धि यह शब्द आता है।

अभिषेक शास्त्र नित्यमहोद्योत नामका बनाया जो कि मोहरूपी अंधकारको दूर करनेकेलिये सूर्यके समान है, और जिसमें महाभिषेक पूजाकी विधि बताई गई है। तथा रत्नत्रयविधानकी पूजा और उसके माहात्म्यका जिसमें वर्णन किया गया है ऐसा रत्नत्रयविधान नामका शास्त्र जिसने बनाया है, और जिसने वाग्भट संहिताका अभिप्राय व्यक्त करनेकेलिये उसके ऊपर आयुर्वेदके विद्वानोंको अभीष्ट अष्टाङ्गहृदयोद्योत नामकी टीका बनाई है। वही मैं आशाधर हूं कि जिसने अपने ही पहले बनाये हुए धर्मामृत ग्रंथमें निरूपित यति धर्मका अभिप्राय प्रकाशित करने वाली यह टीका बनाई है; जो कि मुनियोंको अतिशय प्रिय है। यदि इसके लिखते हुए कहीं अज्ञानिताके कारण स्खलन होगया हो तो धर्माचार्य तथा विद्वानोंको उसका संशोधन करके पठन करना चाहिये।

नलकच्छ नामके नगरमें उत्कृष्ट जैनधर्मका पालन करनेवाला श्रावकोंमें अग्रणी तथा देवपूजा आदि गुणोंके संग्रह करने और विवेकके धारण करने एवं करुणादानके करनेमें जो सदा तत्पर रहा करता, विनय सरलता भद्रता उदारता दया और परोपकारपरता आदि गुणोंसे युक्त तथा खंडेलवाल जातिरूपी सुवर्णमें माणिक्य–पद्मरागमणिके समान था ऐसा अतिशय सज्जन एक श्रेष्ठी रहता था, जिसका नाम तो पाप था परन्तु वस्तुतः वह पापसे सदा पराङ्मुख रहा करता था। उसके दो पुत्र थे एक बहुदेव दूसरा पद्मसिंह। पहला पिताके भारको धारण करनेमें समर्थ था, और दूसरेके शरीरको लक्ष्मीने आलिंगित कर रक्खा था। बहुदेवके तीन पुत्र थे— एक हरदेव जिसमें कि अनेक गुण स्फुरायमाण थे और दूसरा उदयी तथा तीसरा स्तम्भदेव। ये तीनों ही भाई त्रिवर्गका सेवन करनेवाले गृहस्थोंके द्वारा सम्मानित थे।

एकवार हरदेवने यह प्रार्थना की कि " साधु महीचन्द्रने मन्दज्ञानियोंको प्रबोधित करनेके लिये आपके धर्मामृत ग्रंथके सागारधर्म प्रकरणकी टीका आपसे ही करवादी है। परन्तु अभीतक उसके अनगार धर्म भागकी टीका नहीं बनी है। वह तीक्ष्ण बुद्धिके धारण करनेवाले विद्वानोंके लिये भी अत्यंत दुर्बोध है, विना टीकाके उसका अर्थ उनकी भी समझमें नहीं आ सकता। अत एव आप उसकी भी टीका बनानेका अनुग्रह करें। " इसके सिवाय धनचन्द्रने भी इसके लिये आग्रह किया। इसी परसे पं. आशाधरने यह टीका बनाई है जिसमें कि धर्मामृतोक्त यतिधर्मके विषयमें अच्छी तरह विचार किया गया है। विद्वानोंने इसका नाम भव्यकुमुदचन्द्रिका

रक्खा है; क्योंकि यह निकट भव्यजीव रूपी कमलोंको चांदनी के समान आल्हादित करनेवाली है । धर्मामृत ग्रंथके सागार अनगार इन दोनों ही मार्गोंकी टीका मुमुक्षु विद्वानोंके द्वारा चिन्तनामें प्रवृत्त होती हुई कल्पकाल पर्यन्त स्थिर रहे ।

जिस समयमें परमार वंशरूपी समुद्रको वृद्धिगत करनेवाले चन्द्रमाके समान महाराज देवपालके औरस पुत्र श्रीमान् जैतुगि देव अपने खड्गके बलसे मालवाका भले प्रकार शासन कर रहे थे उसी समयमें नलकच्छ नामके नगरमें श्रीमन्नेमिनाथ भगवान्के चैत्यालयमें विक्रमसम्वत् १३०० कार्तिक सुदि पंचमी सोमवारको शुभ लग्नमें यह टीका पूर्ण की । अनुमानसे इस टीकाका प्रमाण अनुष्टुप् छन्दकी अपेक्षा १२२०० है । यथा–पहले अध्यायमें १६०० दूसरेमें १४२७ तीसरेमें ३१८ चौथे में २६१५ पांचवेंमें ६०९ छट्ठेमें १७५५ सातवेंमें १२-६ आठवेंमें १५४१ और नौवेंमें १०७५ ।

सुख और उसके कारणोंकी प्राप्ति रूप अथवा दुःख और उसके कारणोंके निवारणरूप यद्वा उनके भी कारण प्रतिकारणरूप शांति और कल्याण समस्त संसारकेलिये श्री शांतिनाथ भगवान् सदा विस्तृत करो । धर्मका सेवन करनेवाले भव्य प्राणियोंके साथ अभ्युदय और मोक्षरूप लक्ष्मी सदा आलिंगन करे । जगत्में नीतिका प्रयोग सदा बढता रहे । पृथ्वीका शासन करनेवाला राजा अग्रणी और बलवान् हो । कविजन समीचीन विद्याके रसको प्रकट करनेवाली ही कविता किया करें । संसारमें पापका नाम भी न रहे । अथवा क्या २ और कितनी प्रार्थना की जाय, अत एव अंतमें एक ही प्रार्थना है कि परमनिश्रेयसका साधनरूप जिनभगवान्का शासन सदा जयवंत रहो ।


इस प्रकार महापंडित आशाधररचित और भव्यात्मा हरदेव द्वारा अनुमोदित अनगार धर्मामृतकी टीका समाप्त हुई ।
शुभम् ।

जिनकी भृकुटियां देखते ही मनको हर लिया करती है– आपात-रमणीय हैं उन वराङ्गनाओंका विभ्रम-सादर या साभिलाप निरीक्षण मनुष्योंके स्वान्त-मनको भ्रान्त बना देता है– व्याकुल करदेता अथवा अयथार्थ भावकी तरफ इस तरहसे झुका देता है, जैसे कि धतूरा पीनेवालेका मन भ्रान्त और व्याकुल हो जाता है, तथा उसको सफेद भी वस्तु पीली दीखने लगती है। इसी प्रकार कामिनी कटाक्षका निरीक्षण कर भ्रांत और व्याकुल हुआ मनुष्य अहितकर भी स्त्रियोंको हितकर समझने लगता है। चित्तके भ्रांत हो जानेपर उससे लज्जा इस तरह-से निवृत्त होजाती है जैसे कि रागके उद्रेकको पाते ही वह दूर होजाया करती है। क्योंकि अत्यंत रागी मनुष्यको किसी प्रकारकी भी लज्जा नहीं रहती। लज्जाके दूर होजानेपर मनमें शंका-भय, जलसे अग्निकी तरह, शांत होजाती –नष्ट होजाती है। उसको लोकनिंदा या गुरु आदिका भय नहीं रहता। इस प्रकार निर्भय होकर वह कामी अपनी अभीष्ट कामिनीपर इस तरहसे विश्वास करने लगता है जैसे कि मुमुक्षु पुरुष गुरुओंसे अध्यात्मतत्वका उपदेश सुनकर निज स्वरूपमें श्रद्धा करने लगता है। विश्वासके उद्भूत होते ही कामिनीमें उसका प्रणय—प्रेमपरिचय भी उसी तरहसे होने लगता है जैसे कि गुरुके निमित्तसे आत्मस्वरूपमें भव्योंके हुआ करता है। इसके अनंतर जैसे कि कोई साधु आत्मस्वरूपमें अच्छी तरह रमण करने लगता और अंतमें उसमें लीन—एकतान होजाता है उसी प्रकार कामी पुरुष भी प्रेमपरिचयके बाद अपनी अभीष्ट नायिकामें पर्याप्त रूपसे रतिकर्म करने लगता और अंतमें लीन हो जाता है। क्योंकि जिस प्रकार साधुओंको अपने शुद्धात्म स्वरूपमें समरस हुए विना आत्मिक सुखका अनुभवन नहीं हो सकता उसी प्रकार कामियोंको भी कामिनियोंमें लीन हुए विना सुखानुभव नहीं हो सकता। अत एव वे तल्लीन होजाते हैं–समरसीभावको धारण करने लगते हैं।

कहा भी है कि:—

लब्धायतिप्रगल्भा रतिकर्मणि पण्डिता विभुर्दक्षा।
आक्रान्तनायकमना निर्व्यूढविलासविस्तारा॥
सुरते निराकुलासा द्रवतामिव याति नायकायाङ्ग।
न च तत्र विवेकमुमल कोय काह किमेतदिति॥

स्नेह अथवा वशित्वको प्राप्त हुई प्रगल्भा नायिका जो कि रतिकर्ममें पण्डित विभु दक्ष और अधिकार प्राप्त करचुकी है, जो विलासका विस्तार करनेमें निर्व्यूढ—पूर्णतया समर्थ है नायिकके मनपर वह सुरतमें निराकुल होकर नायकके अंगमें इस तरहसे प्रविष्ट होजाती है जैसे कि कोई पतला पदार्थ। उस समयमें भिन्नताका भान बिलकुल नहीं होता। यहांतक कि यह कौन है, मैं कौन हू, और यह क्या हो रहा है इसकी तरफ भी उसका लक्ष्य नहीं जाता।

और भी कहा है कि: —

समरमरसरंगु गमिण जिह रइया वज्झंति।
समरसरसरंगुग्गमिण तिह जोइय सिज्झंति ॥

जिस प्रकार रागी पुरुप— नायक और नायिका मिल कर समरसके आनंदका अनुभव कर कर्मबंधको प्राप्त होते है उसी प्रकार योगिजन आत्मस्वरूपमें लीनताके आनन्दका अनुभव कर सिद्धि प्राप्त करते हैं।

कामिनियोंके कटाक्षका निरीक्षण देखनेमात्रमें ही मनोरम किंतु परिणाममें अत्यंत दारुण—भयानक है। यह बात वक्रोक्तिकी उपपत्तिद्वारा बताते हैं:—

चक्षुस्तेजोमयमिति मतेप्यन्य एवाग्निरक्ष्णो,—
रेणाक्षीणां कथमितरथा तत्कटाक्षाः सुधावत्।
लीढा दृग्भ्यां भुवमपि चरद्भिस्त्वगप्यर्पणयि:,
स्वान्तं पुंसां पविदहनवद्दग्धुमन्तर्ज्वलन्ति ॥ ८० ॥

वैशेपिकोंका सिद्धान्त है कि दीपकके समान चक्षुरिन्द्रियमें भी रश्मि–किरणें पाई जाती हैं; अत एव वह

तैजस है। तर्कके लिये इस सिद्धांतको मानकर यदि इसपर विचार करें तो मालुम पडता है कि इन मृगनयनी कामिनियोंके नेत्रोंमें यह अग्नि नहीं पाई जाती। भासुररूप और उष्ण स्पर्श गुणसे युक्त नाश्य स्थूल स्थिर और मूर्त द्रव्य जिसका कि दाहकता ही लक्षण है, अग्नि नामसे संसारमें प्रसिद्ध है। यह अग्नि तो इन अङ्गनाओंके नेत्रोंमें नहीं पाई जाती, किंतु इससे विलक्षण ही कोई अग्नि इनमें अवश्य पाई जाती या रहती है। क्योंकि अन्यथा— यदि विलक्षण अग्नि नहीं है तो देखिये कि, उन अङ्गनाओंके जिन कटाक्षोंको लोग अमृतकी तरहसे स्वादु समझ कर पहले अपने नेत्रोंके द्वारा पीजाते हैं—उनका रसास्वादन करलेते हैं; वे ही कटाक्ष उन मनुष्योंके उस मनको जो कि ध्रुव—नित्यरूपकी अपेक्षा सदा अविकृत रहनेवाला और विश्वमात्रमें अलातचक्रकी तरहसे चारो तरफको घूमनेवाला और इसपर भी जो अत्यत अणु—जो योगियोंके भी सहसा लक्ष्यमें न आसके ऐसा परमाणुसे भी अधिक सूक्ष्म है उसको भी भस्मसात् करनेकेलिये वज्राग्निकी तरहसे आत्माके भीतर प्रज्वलित क्यों हुआ करते हैं?

भावार्थ—यदि साधारण अग्नि ही उसमें पाई जाती या होती जैसी कि वैशेपिकोंने बताई है, तो उसका कार्य प्रकाश या दाह आदि भी होता; सो नहीं होता; बल्कि अमृतकी तरह लोग उसका रसास्वादन करने लगते है। इससे मालुम पडता है कि चक्षुओंमें जिस तैजसताकी कल्पना वैशेपिकोंने की है वह उसमें नहीं पाई जाती। किंतु यह कहा जा सक्ता है कि इन मृगनयनियोंके नयनोंमें कोई विलक्षण अग्नि रहती है जो कि ऊपरसे तो अमृतके समान मधुर मालुम पडती है और भीतर जाकर वज्राग्निके समान काम करती है। विवेकको नष्ट कर अन्तरात्माके हितको भस्म करदेती है। इसी लिये तो कहते हैं कि कामिनियोंके कटाक्षका निरीक्षण देखने मात्रमें रमणीय किंतु परिणाममें अत्यंत दारुण है।

कटाक्षनिरीक्षणके द्वारा क्षणमात्रमें ही मनुष्यके हृदयमें जो अपने स्वरूपको अभिव्यक्त करदेनेकी कामिनियोंमें शक्ति है उसको विदग्धोक्तिके द्वारा प्रकट करते हैं:—

हृद्यभिव्यञ्जती सद्यः स्वं पुंसोऽपाङ्गवल्गितैः।

सत्कार्यवादमाहत्य कान्ता सत्यापयत्यहो ॥ ८१ ॥

अपाङ्ग वलगन—कटाक्षपातके द्वारा दर्शकके हृदयमें तत्क्षण ही अपने स्वरूपको अभिव्यक्त करदेनेवाली कान्ता—प्रमदा, अहो, कितने कष्ट और आश्चर्यकी बात है कि बिना प्रमाणके जबर्दस्ती ही सांख्योंके सत्कार्य-वादको सत्य साबित करदिया करती है।

भावार्थ—सांख्योंका सिद्धान्त है कि:—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥

जितने भी कार्य है वे सभी सत्‌रूप हे-सदा उपस्थित रहनेवाले है। क्योंकि एक तो यह नियम है कि असत्‌की उत्पत्ति नहीं हो सकती—जो पदार्थ नहीं है वह कभी उत्पन्न भी नहीं हो सकता। दूसरे वह कार्य अपने उपादानको ग्रहण करता है। यह नियम है कि उपादानके गुण कार्यमें आया करते हैं। और यह बात तभी हो सकती है जब कि कार्य सत् हो। क्योंकि जो स्वयं असत् होगा वह उपादानके गुणोंको भी ग्रहण किस तरह कर सकेगा। तीसरे, एक पदार्थमे सभी कार्योंकी उत्पत्ति नही होती, यदि कार्य असत्‌रूप होता तो सभी पदार्थोंसे सब कार्य उत्पन्न हो सकते थे। चौथे, जो पदार्थ जिस कार्यके उद्‌भूत करनेमे समर्थ है उसीसे वह उत्पन्न—व्यक्त होता है अन्यसे नहीं। यदि कार्य असत् होता तो चाहे जिस पदार्थमे, चाहे जो पदार्थ उत्पन्न हो सकता था। पांचवें, कार्यकारणभाव भी तभी बन सकता है जब कि कार्य सद्रूप हो। यदि कार्य असत् हो तो चाहे जिससे भी वह उत्पन्न हो सकता है। किंतु ऐसा नहीं है। इससे मालुम पडता है कि कार्य सद्‌रूप ही है। यह सांख्योंका सिद्धान्त यद्यपि असत्य है प्रमाणसिद्ध नहीं है। फिर भी ये प्रमदाएं अपनी चेष्टाके द्वारा जबर्दस्ती उसको सिद्ध करनेका प्रयत्न करती हैं कि उनके कटाक्षका निरीक्षण करते ही मनुष्यके हृदयमें उनका स्वरूप अभिव्यक्त हो जाता है, और फिर वे ही वे दीखने लगती है।

जो मनुष्य इन कामिनियोंके कटाक्षका निरीक्षण करनेमें प्रवृत्त होते है वे अनेक भवतक युक्तायुक्तके विवेकसे शून्य होजाते हैं, यह बात वक्रोक्तिके द्वारा बताते है—

नूनं नृणां हृदि जवान्निपतन्नपाङ्गः,
स्त्रीणां विषं वमति किंचिदचिन्त्यशक्ति ।
नो चेत्कथं गलितसद्गुरुवाक्यमन्त्रा,
जन्मान्तरेष्वपि चकास्ति न चेतनाऽन्तः ॥ ८२ ॥

यह बात निश्चित मालुम होती है कि स्त्रियोंका अपाङ्ग-कटाक्ष मनुष्योंके हृदयपर पडते अपूर्व-लोकोत्तर-और जिसकी शक्ति अचिन्त्य है ऐसे विषको उगलता है। अन्यथा उसके पडते ही आत्मामें चेतनाशक्तिको इतनी गाढ मूर्च्छा क्यों आजाती है जो कि वह सद्गुरुओंके वाक्यरूपी मंत्रके प्रभावको भी भ्रष्ट कर, इसी जन्मकी तो बात क्या, वह चेतना जन्मान्तरमें भी प्रकाशित-प्रबुद्ध नही होती।

भावार्थ—ललनाओंके कटाक्षका असर इतना तीव्र है कि उससे मनुष्योंका विवेक जन्मजन्मान्तरके लिये भी नष्ट हो जाता है। और उसके सामने सद्गुरुका उपदेश भी अपना कुछ प्रभाव नही दिखा सकता। अत एव कहना चाहिये कि वह ऐसा अलौकिक-विष है कि जिसकी शक्ति अचिन्त्य है-विचारमें नही आसकती। क्यों कि यदि लौकिक विष होता तो उसकी शक्ति मालुम पड सकती थी और मन्त्रद्वारा दूर भी हो सकती थी। विषका अपहरण करनेकी शक्ति रखनेवाले अक्षरसमूहको मंत्र कहते है। लौकिक विष कैसा भी हो, मंत्रद्वारा वह दूर हो सकता है। किंतु गुरूपदेश जैसे मंत्रको भी जो हतप्रभ कर परलोकतक साथ जाता और अपना कार्य-चेतनाशक्ति-विवेकका नाश करता है ऐसा तो कोई अचिन्त्यशक्तिका अलौकिक ही विष हो सकता है।

संयमका सेवन—साधन करनेवाले साधुओंके भी मनको ये स्त्रियां आलोकन संभाषण आदि किसी भी

प्रकारसे उसके भीतर आकर ऐसा विकृत करदेती है कि जिसका सहसा प्रतीकार नहीं हो सकता। ऐसा भय उत्पन्न करके उनका परिहार करनेकेलिये मुमुक्षुओंको सावधान करते हैं:—

चित्रमेकगुणस्नेहमपि संयमिनां मनः।
यथातथा प्रविश्य स्त्री करोति स्वमयं क्षणात् ॥ ८३

संयमियोंका मन यद्यपि एकगुणस्नेह है फिर भी आश्चर्य है कि जिस किसी भी तरहसे स्त्रियां उसमें प्रविष्ट होजाती और क्षणमात्रमें उसको अपने रूप करलेती है।

भावार्थ—जिस पदार्थमें स्निग्धत्व या रूक्षत्व गुणका एक ही गुण अंश—अविभाग प्रतिच्छेद रहता है उसका किसी भी दूसरे पदार्थके साथ बंध नहीं हो सकता। जैसा कि कहा भी है कि " न जघन्यगुणानाम् " जघन्यगुण – एक अविभागप्रतिच्छेदसे युक्त पदार्थका किसीके भी साथ बंध नहीं होता ऐसा नियम है। और यह नियम है कि बंध होनेपर अधिक गुणवाला कम गुणवालेको अपनेरूप परिणत करलेता है। तथाच " बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ "। किंतु प्रकृतमें यह बात विरुद्ध नजर आती है कि स्त्रियोंका एकगुणस्नेहवाले भी संयमियोंके मनसे सम्बन्ध होजाता है और वे उसको अपने रूप करलेती है। अत एव इस विरोधाभासका परिहार करनेकेलिये ऐसा अर्थ समझना चाहिये कि—संयमियोंका मन यद्यपि सम्यग्दर्शनादिक गुणोंमें ही उत्कृष्टतया अथवा इन उत्कृष्ट गुणोंमें ही अनुराग रखनेवाला है; यद्वा एकगुण—एकत्वमें ही स्नेह रखनेवाला है, क्योंकि मुमुक्षु साधु समस्त बाह्य उपाधियोंसे रहित एकाकी होना चाहते हैं अथवा शरीर और कर्म नोकर्मके सम्बन्धसे भी रहित होकर शुद्धात्मस्वरूप ही होना चाहते है। फिर भी आलोकन संभाषण आदिके द्वारा उसकी प्रवृत्ति स्त्रियोंकी तरफ झुकजाती है और उससे वह विकृत होजाता है। अत एव साधुओंको अपने ब्रह्मचर्य महाव्रतकी वृद्धिकेलिये और उसके कारणभूत स्त्रीवैराग्यकी सिद्धिकेलिये स्त्रियोंके साथ आलोकन संभाषण भी न करना चाहिये।

थोडासा भी स्त्रीसंपर्क—उनकी संगति या संसर्ग, संयत पुरुषके स्वार्थ—आत्मकल्याणको भ्रष्ट करदेता है, ऐसी शिक्षा देते हैं:—

कणिकामिव कर्कट्या गन्धमात्रमपि स्त्रियाः।
स्वादुशुद्धां मुनेश्चित्तवृत्तिं व्यर्थीकरोत्यरम् ॥ ८४ ॥

जिस प्रकार कचरीकी गन्धमात्रसे ही स्वादु-मधुर और शुद्ध-स्वच्छ पवित्र भी गोधूमचूर्ण—आटा खराब होजाता है उसी प्रकार स्त्रियोंकी गंधमात्रसे ही मुनियोंकी स्वादुशुद्ध—आनन्द और वीतरागतासे युक्त भी मनोवृत्ति क्षणमात्रमें खराब होजाती है।

भावार्थ—मुनियोंकी समस्त प्रवृत्तियां कर्मक्षपणकेलिये हुआ करती हैं। अत एव शुद्धात्मस्वरूपके अनुभवसे उत्पन्न हुए आनंद और वीतरागतासे युक्त मनोवृत्तिका भी प्रयोजन कर्मक्षपण ही है। किंतु स्त्रियोंका आलोकन स्पर्शन संभाषण कथोपकथन आदिकी तो बात ही क्या, गंध भी उस मनोवृत्तिको मलिन बनाकर व्यर्थ करदेती है। क्योंकि उससे जो प्रयोजन सिद्ध होना चाहिये सो न होकर विरुद्ध ही अर्थ—प्रयोजन सिद्ध होता है। कर्मोंका क्षय न होकर संचय ही होता है। अत एव साधुओंको स्त्रियोंका संसर्ग ऐसा दूरसे ही छोड देना चाहिये कि जहांसे उनकी गंध भी न आसके। तभी उनका प्रयोजन सिद्ध हो सकता है; अन्यथा नहीं।

स्त्रीसंगतिके दोषोंको दृष्टांतद्वारा स्पष्ट करके बताते हैं:—

सत्त्वं रेतश्छलात्पुंसां घृतवद् द्रवति द्रुतम्।
विवेकः सूतवत्क्वापि याति योषाग्नियोगतः ॥ ८५ ॥

स्त्रियां अग्निके समान हैं. अतएव उनके सम्बन्धसे—सगतिसे मनुष्योंका सत्त्व-प्रशस्त मनोगुण रेत-वीर्यके छलसे घीकी तरह उड जाता है। मालुम भी नहीं पडता कि वह कहा गया।

भावार्थ मनुष्योंके सत्त्व और विवेकको नष्ट करनेकेलिये स्त्रीसंपर्क ऐसा समझना चाहिये जैसे कि घी और पारेकेलिये अग्निका सम्बन्ध।

अभीष्ट कामिनियोंकी विशिष्ट चेष्टाएं बडे भारी मोहके आवेशको उत्पन्न करदेती हैं, यह बात वक्रोक्तिके द्वारा बताते हैं: —

वैदग्धीमयनर्मवक्रिमचमत्कारक्षरत्स्वादिमाः,
सभ्रूलास्यरसाः स्मितद्युतिकिरो दूरे गिरः सुभ्रुवाम् ।
तच्छ्रोणिस्तनभारमन्थरगमोद्दामक्वणन्मेखला,—
मञ्जीराकुलितोपि मङ्क्षु निपतेन्मोहान्धकूपे न कः ॥ ८६ ॥

रसिक चेष्टाएं ही जिनका प्रकृत प्रयोजन है ऐसे नर्म और वक्रिमा—परिहासकेलि और कुटिलताओंके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले चमत्कार—विसयके आवेशसे जिनमें मधुरता—श्रोत्र और हृदयकी आह्लादकताका रस झर रहा है। और जिनके साथ साथ भृकुटियोंके लास्य—नृत्य—स्निग्ध संचालनका भी रस आरहा है। एवं जिनसे स्मित—ईषद् हास और द्युति—कान्ति चारो तरफको फैल रही है। सुन्दरी ललनाओंके वचन तो दूर ही

१—अकर्कश प्रेमोत्पादक।

रहो; क्योंकि वे तो मोक्षमार्गके अत्यंत प्रतिबंधक हैं, अत एव उनके विषयमें तो यहां कुछ कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है। किंतु कहना यह है कि ऐसा कौन मनुष्य है जो कि इन प्रमदाओंके श्रोणि-कटि और स्तनके भारसे-कटि और कुचोंकी गुरुताको न सहनेके कारण गमनके मन्थर—मन्द होजानेसे उद्दाम-उदार गम्भीर मधुर धीमी ध्वनि—रण झण शब्द करते हुए मेखलाके मंजीरोंसे—रशना नूपुरोंके शब्दोंको सुनते झटिति विक्षिप्तचित्त होकर मोहके अन्धकूपमें नहीं गिरपडता।

भावार्थ-- कामिनियोंके भृकुटिसंचालनका रसानुभव आदि तो आत्महितका साक्षात् ही विरोधी है। अत एव उसकी त्याज्यताका तो उपदेश ही क्या दें; क्योंकि मुमुक्षुओंको वह तो सबसे पहले ही त्याज्य है। किंतु उन्हें चाहिये कि कामिनियोंका संपर्क करना-संगतिमें रहना भी वे इस तरहसे छोडदें कि जहासे उनकी मेखलादिका शब्द कानोंमें पडकर कहीं उनके मनको विक्षिप्त- मूर्छित न करदे। क्योंकि जब नूपुरोंके शब्दको सुनकर ही मनुष्योंका मन व्याकुल होजाता है तब उसके उस तरहके वचनोंकी तो बात ही क्या है।

स्त्रियोंके साथ संभाषण करनेके दोष बताते हैं:—

सम्यग्योगाग्निना रागरसो भस्मीकृतोप्यहो।
उज्जीवति पुनः साधोः स्त्रीवाक्सिद्धौषधीबलात् ॥ ८७ ॥

समीचीन योग-समाधिरूपी अग्नि प्रयोगबन्धिके द्वारा भस्मरूप-दग्ध किया गया भी साधुओंका रागरूपी रस -मोहरूपी पारद, अहो, आश्चर्यकी बात है कि स्त्रियोंके वचनरूपी सिद्धौषधीके बलसे फिर उज्जीवित होजाता है-प्राण धारण करलेता है।

भावार्थ—जिस कषायको साधुगण बडी मुश्किलसे ध्यान धारणा और समाधी आदि अनेक उपायोंके द्वारा शांत या क्षीण करपाते हैं वही कषाय स्त्रियोंके साथ संभाषण करनेसे क्षणमात्रमें फिर उद्दीप्त होजाता है।

जैसे कि अनेक प्रयोगों—अग्निसंस्कारोंके द्वारा भष्म बनाया गया भी पारा सिद्धौषधीके द्वारा फिर पारा होजाता है।

नितम्बिनियोंके आलिङ्गनसम्बन्धी फलका विचार कराते हैं:—

पश्चाद्बहिर्वरारोहादोःपाशेन तनीयसा।
बध्यतेन्तः पुमान् पूर्वं मोहपाशेन भूयसा॥ ८८॥

यह पुरुष इन नितम्बिनियोंके अत्यंत तुच्छ बाहुपाशमें तो बाहिरसे और पीछेमे बंधता है किंतु भीतर— आत्मा या हृदयमें तो उसके पहले ही बडे भारी मोहपाशमें बंध जाता है।

भावार्थ—बाहिरसे यद्यपि देखनेमें शरीरसे स्त्रियोंका आलिंगन तुच्छ मालुम पडता है किंतु इसके कारण-भूत मोहके निमित्तसे आत्माका कर्मके साथ जो बंध होजाता है वह बडा भारी है, जो कि बहिर्दृष्टियोंकी दृष्टिमें नहीं आसकता, और जो उसके पहिले ही होजाता है। क्योंकि आलिङ्गनके लिये मूर्च्छित परिणामोंके होते ही कर्मबन्ध तो हो ही जाता है; फिर चाहे आलिङ्गन हो या न हो।

स्त्रियोंके अवलोकनादिसे होनेवाले दोषोंका उपसंहार करते हैं:—

दृष्टिविषदृष्टिरिव दृक्कृत्यावत्संकथाग्निवत्सङ्गः।
स्त्रीणामिति सूत्रं स्मर नामापि ग्रहवदिति च वक्तव्यम्॥ ८९॥

हे साधो! तुझको स्त्रियोंके विषयमें इन सूत्रोंका सदा स्मरण करना चाहिये—निरंतर अध्ययन और विचार करना चाहिये। क्योंकि इन सूत्रोंसे अनेक अर्थ सिद्ध हो सकते है। नाना अर्थोंके प्ररूपक वाक्योंको ही

सूत्र कहते हैं। वे सूत्र इस प्रकार हैं कि—स्त्रियोंकी दृष्टि दृष्टिविष सर्पकी दृष्टिके समान है। जिस प्रकार कितने ही विशिष्ट सर्पोंकी दृष्टिमें ही इतना उग्र विष होता है कि उसके पडते ही मनुष्य मूर्च्छित होजाते हैं और उनका बल क्षीण होजाता है। उसी प्रकार स्त्रियोंके कटाक्षका भी पात होते ही मनुष्य मोहित हो जाते हैं और उनके सत्व—पराक्रम या मनोबलका मर्दन होजाता है। इसी प्रकार स्त्रियोंकी[1] कथा—पारस्परिक भाषणको कृत्याके समान समझना चाहिये[2]। जिस प्रकार मारण विद्या मनुष्योंके प्राणोंका सहसा संहार करडालती है, उसी प्रकार यह कथा भी साधुओंके संयमरूपी प्राणोंका तुरंत अपहरण कर लेती है। और उनका संसर्ग अग्निके समान[3] है। जिस प्रकार अग्निमें यदि रत्नको डाल दिया जाय तो वह भस्म हो जाता है, उसी प्रकार स्त्रियोंके शरीरका स्पर्श होते ही संयमरत्न खाकमें मिल जाता है। इस प्रकार ये तीन सूत्र हैं। किंतु इनके ऊपर एक वक्तव्य[4] भी है। उसका भी साधुओंको सदा स्मरण करना चाहिये। वह इस प्रकार है कि—स्त्रियोंका नाममात्र भी ग्रहके तुल्य है। क्योंकि जिस प्रकार भूतादिकसे आविष्ट हुआ पुरुष विक्षिप्तमन हो जाता है उसी प्रकार स्त्रियोंका नाममात्र सुननेसे भी विक्षिप्त हो जाता है।

स्त्रियोंके संसर्गजन्य दोषोंका उपसंहार करते हैं—

किं बहुना चित्रादिस्थापितरूपापि कथमपि नरस्य।
हृदि शाकिनीव तन्वी तनोति संक्रम्य वैकृतशतानि ॥ ९० ॥

१—पहिला सूत्र।

२—दूसरा सूत्र। ३—तीसरा सूत्र।

४—सूत्रमें जो अभिप्राय न आसके उसको बतानेकेलिये जो सूत्रसे अतिरिक्त वचन कहा जाता है उसको वक्तव्य अथवा वार्तिक कहते हैं।

मुख्यरूप जो सचेतन स्त्रियां है उनकी तो बात ही क्या किंतु जिनकी केवल आकृति ही देखनेमे आती है ऐसी चित्र पुस्त काष्ठ आदिकमें स्थापित–आरोपित भी ललनाएं किसी तरहसे–प्रज्ञादोपसे अथवा अन्य किसी प्रकारसे मनुष्योंके हृदयमें शाकिनीकी तरहसे संक्रान्त होकर उसमे सैकडों ही विकृत चेष्टाएं करादेती हैं। और अधिक क्या कहें ?

भावार्थ—अज्ञानी और रागी मनुष्य स्त्रियोंके चित्रको देखकर ही जब विकृतमन होकर अनेक कुचेष्टाएं करने लगते है जिनमे कि केवल उनकी आकृतिका ही आरोपण किया जाता है; तो साक्षात् स्त्रियोंके संसर्गसे तो, न मालुम, क्या क्या अनर्थ नही हो सकते। शाकिनीके शरीरमें प्रवेश करजानेपर जो जो चेष्टाएं मनुष्य करता है वे सब मन्त्रमहोदधि आदि ग्रथोंमें बताई हुई हैं। तथा स्त्रियोंके संसर्गसे जो चेष्टाएं करता है उनको हम पहले लिख ही चुके हैं।

इस प्रकार स्त्रीसंसर्गके दोषोंका व्याख्यान कर अब क्रमप्राप्त उनकी अशुचिताका वर्णन पांच पद्योंमें करना चाहते है। उसमें पहले सामान्यसे स्त्रियोंके केशपाश मुख और आकृति–शरीरका जो कि आहार्यरमणीय किंतु झटिति विपर्यासके उत्पन्न करनेवाले हैं, व्याख्यान करते है, जिससे कि मुमुक्षुओंको मुक्तिका उद्योग करनेमें सहायता प्राप्त होसके। क्योंकि अशुचिताकी भावना—विचार वैराग्यका कारण हैं—

गोगर्मुद्भयजनैकवंशिकमुपस्कारोज्ज्वलं कैशिकं,
पादूकृद्गृहगन्धिमास्यमसकृत्ताम्बूलवासोत्कटम्।

---

१ — यथा —

खधो खधो पभणइ लुचइ सीस ण याणए किपि।
गय चेयणो हु विलवइ उड्ढ जोएइ अह ण जोएइ ॥

मूर्तिश्चाजिनकृद्वातिप्रातिकृतिः संस्काररम्या क्षणाद्,
व्यांजिप्यन्न नृणां यदि स्वममृते कस्तर्हुदस्थास्यत ॥ ९१ ॥

स्त्रियों और पुरुषोंके केशपाश मुख और शरीरका वास्तविक स्वरूप देखा जाय तो कुछ और ही है। केशसमूह तो, गौ बैल भैंस आदि पशुओंकी मक्खियोंको उडानेका जो व्यजन अथवा पूंछके बालोंका जो गुच्छा उसी वंशमें, उत्पन्न हुआ है। क्योंकि जो उस व्यजनका गोत्र है वही निन्द्य गोत्र स्त्री और पुरुषोंके बालोंका भी है। इसी प्रकार यदि मुखको देखा जाय तो जैसी चमारोंके घरमें दुर्गन्ध आया करती है वैसी ही इसमें आती है। शरीरको यदि देखा जाय तो उसको भी ठीक वैसा ही समझना चाहिये जैसी कि चमारोंके यहांपर रंगी मशक हुआ करती है। किंतु देखते हैं कि ये तीनों ही अपने इस वास्तविक रूपको लोगोंके सामने प्रकट न कर उन्हे विपर्यास ही उत्पन्न कराते हैं। स्त्रियोंके सामने पुरुषोंके और पुरुषोंके सामने स्त्रियोंके केशसमूह अपनेको संस्कार-अभ्यङ्ग स्नान सुगन्धित धूपनादिके द्वारा उज्ज्वल-सुन्दर सुगन्धित मनोहर और प्रदीप्त प्रकट करते हैं। मुख अपनेको ताम्बूलकी सुगन्धसे सुगन्धित मनोहर और महान प्रकट करता है। तथा शरीर भी स्नानानुलेपनादिके द्वारा अपनेको रमणीय प्रकाशित करता है। परन्तु क्षणभरकेलिये भी यदि ये ऐसा न करें-संसारके स्त्रियों और पुरुषोंको अपने स्वरूपके विषयमें विपर्यास उत्पन्न करानेका प्रयत्न न करें तो फिर कौन बुद्धिमान् मनुष्य होगा जो कि अमृतपद मोक्षकेलिये तपश्यादि करनेका प्रयत्न करे।

भावार्थः— यद्यपि ये तीनों ही लोगोंको विपर्यास ही उत्पन्न कराते हैं फिर भी मुमुक्षुओंको चाहिये कि वे इनके विपर्यासमें न आकर इनके वास्तविक स्वरूपका ही विचार किया करें; जिससे कि उनके निर्वेदकी सिद्धि होकर अभीष्ट प्रयोजन-मोक्षके साधनमें भी सहायता प्राप्त हो।

जो कामसे अन्धा हुआ पुरुष अपनेमें उत्कर्षकी संभावना करता है, अपनेको महान् समझने लगता है उसके प्रति धिक्कार प्रकट करते हैं:—

कुचौ मासग्रन्थी कनककलशावित्यभिसरन्,—
सुधास्यन्दीत्यङ्गव्रणमुखमुखक्लेदकलुषम् ।
पिबन्नोष्ठं गच्छन्नपि रमणमित्यार्तवपथं,
भग धिक् कामान्धः स्वमनु मनुते स्वःपतिमपि ॥ ९२ ॥

स्त्रियोंके कुचोंको जो कि गदाके आकारमें बन जानेवाली मांसकी ग्रंथी–गाठें है उनको पीनता उन्नतता और कठिनता गुणके कारण सुवर्णका कलश समझ कर जब आलिङ्गन करने लगता है, तथा शरीरके व्रणके समान अत्यंत अशुचिरूप पदार्थके वहने या निकलनेके द्वारके सदृश मुखके क्लेदसे कश्मल हुए ओष्ठको जब अमृतका झरना समझ कर पीने–चूसने लगता है–उनके रसका स्वाद लेने लगता है, और जब रजके वहनेके मार्ग योनिरन्ध्रको अत्यंत रमणीय स्थान समझ कर भोगने लगता है, उस समय कामसे अन्धा हुआ यह पुरुष— जिसको कि मन्मथ–मोहके कारण वस्तुका वास्तविक स्वरूप सूझता ही नहीं है; धिकार है कि दूसरे साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या, स्वर्गपति—इन्द्रसे भी अपनेको अधिक उत्कृष्ट समझने लगता है। भावार्थ –जो इतना काममे अन्धा होजाता है कि अत्यंत अशुचि और अस्पृश्य पदार्थोंमें भी रमण करने लगता है तथा उनके सेवन करनेमें भी जो इतना राग करने लगता है कि इन वस्तुओंकी प्राप्तिके सामने उत्तम व्यक्तियोंको भी हीन मानने लगता है उसको अब धिकार देनेके सिवाय और क्या कहें।

जिस समय दृष्टि स्त्रियोंके शरीरमें अनुराग करनेकी तरफ प्रवृत्त हो कि उसी समय— झटिति प्रबुद्ध हुआ उनके स्वरूपका परिज्ञान ही उत्पन्न होनेवाले मोहको दूर कर सकता है, यही बात दिखाते हैं:—

रेतःशोणितसंभवे बृहदणुस्रोतःप्रणालीगल–
द्दुर्गोद्गारमलोपलक्षितनिजान्तर्भागभाग्योदये ।

तन्वङ्गीवपुधीन्द्रजालवदलंभ्रान्तौ सजन्त्यां दृशि,
द्रागुन्मीलति तत्त्वदृग् यदि गले मोहस्य दत्तं पदम् ॥ ९३ ॥

तन्वङ्गी—ललनाओंके शरीरका यदि वास्तविक स्वरूप देखाजाय तो वह शुक्र और शोणितको उत्पन्न करनेका स्थान अथवा इनको उत्पन्न करनेवाला है । तथा इसमे प्रणालिकाओं—मोरिओंके समान जो बडे और छोटे छिद्र पाये जाते है उनसे अत्यंत ग्लानिके उत्पादक विष्टा मूत्र नाक थूक श्लेष्मा प्रस्वेद प्रभृति वहते हुए मल लोगोंको इस बातका अनुभव या ज्ञान करादेते है कि इनके अन्तर्भागमें—भीतर कितना और कैसा माग्यका उदय है । फिर भी यह शरीर जैसा कि ऊपर भी कहा जा चुका है लोगोंको भ्रांति—विपर्यास करानेमें पूर्णतया समर्थ है । किंतु इसकी तरफ दृष्टिके अनुरक्त-विपर्यासकी तरफ उन्मुख होते ही, निगाह जाते ही यदि साधुओंका तत्त्वज्ञान झटिति जागृत हो उठता है—शरीरके वास्तविक स्वरूपकी तरफ उनका लक्ष्य चला जाता है, तो कहना चाहिये कि उन्होंने मोहके गलेपर पैर देदिया । लात मारकर चारित्रमोहनीय कर्मका तिरस्कार करदिया और उसपर विजय प्राप्त करली ।

भावार्थ—जो स्त्रियोंके शरीरमें अनुरागका निमित्त पाते ही तत्त्वज्ञानसे काम लेते है और उसमें राग न करके उनके वास्तविक स्वरूप-अशुचिताका विचार करने लगते है वे ही साधु मोहकर्मको जीतकर अपने ब्रह्मचर्यमें वृद्धि और अभीष्ट पदकी सिद्धि प्राप्त कर सकते है ।

स्त्रियोंका शरीर वस्तुतः सुन्दर नही है किंतु रमणीय आहार वस्त्र भूषण अनुलेपनादिकी सजावटसे वैसा मालुम पडने लगता है, इसी बातको प्रौढोक्तिके द्वारा प्रकट करते हैः—

वर्चःपाकचरुं जुगुप्स्यवसतिं प्रस्वेदधारागृहं,
बीभत्सैकविभावभावनिवहैर्निर्माय नारीवपुः ।

वेधा वेद्मि सरीसृजीति तदुपस्कारैकसारं जगत,
को वा क्लेशमवैति शर्भाण रत: संप्रत्ययप्रत्यये ॥ ९४ ॥

जिसके निमित्तसे हृदय संकुचित होने लगता है ऐसे बीभत्स रसके ही उत्पन्न होनेमे आलम्बन या उद्दीपनरूप दोष धातु मल प्रभृति कारणभूत पदार्थोंके संघातों—स्कन्धोंसे स्त्रियोंके ऐसे शरीरको, जो कि उपभुक्त आहारादिके पकानेकेलिये मानों चरु—बटलोईके समान है और मूत्र पुरीष आर्त प्रभृति ग्लानिके उत्पादक पदार्थोंके ही रहनेका मानों स्थान है, तथा प्रस्वेद—पसीनाके निकलनेके लिये मानों धारागृह—निर्झरस्थानके तुल्य है, बनाकर अब जो विधाता भोगोपभोगके साधनभूत पदार्थोंके ही प्रपञ्चरूप इस जगत्को पुनः पुनः बनाता है उसका सारभूत प्रयोजन एक ही मालुम पडता है । वह यह कि, अब उस शरीरका उपकार करदिया जाय—इन जगत्के समस्त उत्तम पदार्थोंमे उस स्त्रीशरीरको सुगन्धित और रमणीय बना दिया जाय । क्योंकि यह चराचर जगत् कामिनियोंके शरीरमें रमणीयताके संपादनद्वारा ही कामी पुरुषोंके मनमें परम निवृत्ति—उपरतिको उत्पन्न कर सकता है । देखते है भी कि लोकमें उन्होंने रमणियोंके उपभोगको ही परम पुरुषार्थ माना है । जैसा कि भट्ट रुद्रटने भी लिखा है कि;—

राज्ये सारं वसुधा वसुन्धरायां पुरं पुरे सौधम् ।
सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम् ॥

राज्यमें सारभूत पदार्थ वसुधा पृथ्वी है । वसुधराका भी सार नगर, और नगरका भी सार महल है । एवं महलमें सारभूत पदार्थ पलंग, और पलंगका भी सारभूत रमणीय रमणियोंका रमणसर्वस्व है ।

अत एव कहना पडता है कि असुन्दर स्त्रीशरीरको सुंदर बनाने अथवा उसकी जुगुप्स्यता या अशुचिताको छिपानेकेलिये ही मानो ब्रह्मा भोगोपभोगके साधन ही जिसमें एक सार है ऐसे जगत्को वार वार रच-

ना करता है। अथवा ठीक ही है, संप्रत्यय—अतद्गुण वस्तुमें तद्गुणताका आभिनिवेश ही है प्रत्यय-कारण जिसका ऐसे सुखमे आसक्त हुआ ऐसा कौन पुरुष होगा जो कि क्लेश—दुःखका अनुभव करसके; कोई नही।

भावार्थ—जुगुप्स्य भी स्त्रीशरीरको वस्त्रादिकोंके द्वारा सजाकर और उसमें मनोज्ञताका प्रत्यय कर संसारी जन जो सुखका अनुभव करते है उसका कारण केवल मिथ्याभिनिवेश ही है।

जो बहिरात्मा या ऐसे अज्ञानी मनुष्य हैं कि जिनकी बुद्धि निरंतर विषयोंमें ही अच्छी तरहसे मूछित रहा करती है और जो स्त्रियोंके अत्यत निन्दनीय उपस्थ स्थानमे ही लालसा रखते है उनके दुःसह दुःखोका उपभोग करानेकी योग्यतासे युक्त असाधारण कारणरूप उद्योगपर खेद प्रकट करते है:—

विष्यन्दिक्लेदविश्रम्भासि युवतिवपुःश्वभ्रभूभागभाजि
क्लेशाग्निक्लान्तजन्तुव्रजयुजि रुधिरोद्गारगर्होद्धुरायाम्।
णाद्यनो योनिनद्या प्रकुपितकरणप्रेतवर्गोपसर्गै,—
मूर्छाल: स्वस्यबाल: कथमनुगुणयेद्दै तरं वैतरण्यम् ॥ ९५ ॥

तरुणी रमणियोंके शरीररूपी नरकभूमिके एक नियत स्थानमें अवस्थित, एव क्लेद-उबला हुआ—उष्ण—द्रव द्रव्यरूपी दुर्गन्धियुक्त जल निरन्तर बहता रहता है, तथा जो क्लेश-नाना प्रकारके दुःखरूपी अग्निसे संतप्त हुए प्राणिसंघातसे पूर्ण है और जो बाहिर निकलते हुए-बहते हुए रुधिरकी गर्हा-ग्लानिसे उद्रिक्त है, ऐसी योनिरूपी नदीमें जो लम्पट-लालसायुक्त रहता है और जो अत्यंत कुपित हुए इन्द्रियरूपी प्रेतवर्ग-नारकियोंके उपसर्ग—उपद्रवोंसे मूर्छित होजाता है, ऐसा यह अज्ञानी मनुष्य खेद और आश्चर्य है कि वैतरणी नदीमें अपनेको तरने या तरकर पार होने योग्य किस तरह बना सकेगा।

भावार्थ—स्त्रियोंकी योनि बिलकुल वैतरणी नदीके समान है जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। जब कि संसारके साधारण अज्ञानी जन इसको नहीं तर सकते और इद्रियोंके उपसर्गोंको भी नहीं सह सकते तब यह किस तरह कहा जा सकता है कि वे नरकमें वैतरणीको तरनेमें क्षम हो सकेंगे और नारकियोंके उपद्रवोंको भी सह सकेंगे, कभी नहीं। वे अवश्य ही नारकियोंके द्वारा दिये गये दुःखोंको भोगते हुए वैतरणीमें पडे पडे सडेंगे। इन दुःखोंसे इनके बचनेका उपाय तो यही है कि ये इस योनिनदीको तरकर पार होजांय—उसमें रमण करनेकी इच्छा ही न करें और इन्द्रियोंसे पराजित न होकर उनपर विजय प्राप्त करें। क्योंकि स्त्रियोंके अत्यंत जुगुप्स्य स्थानमें रमण करनेकी लोलुपता रखना और इन्द्रियोंके ही पराधीन रहना नरकमें जानेका ही प्रयत्न करना है।

इस प्रकार अशुचित्व भावनाका निरूपण करके अब क्रमानुसार वृद्ध पुरुषोंकी संगति करनेका पांच पद्योंमें व्याख्यान करना चाहते है। जिसमें पहले निरन्तर ही अपना कुशल—आत्महित चाहनेवाले मुमुक्षुओंको मोक्षमार्ग—रत्नत्रयका निर्वहण[1] करनेमें निष्णात साधुओंकी परिचर्या—वैयावृत्यके अतिशयरूप करनेका उपदेश देते हैं:—

स्वानूकाङ्कुशिताशयाः सुगुरुवाग्वृत्त्यस्तचेतःशयाः,
संसारार्तिवृहद्भयाः परहितव्यापारनित्योच्छ्रयाः।
प्रत्यासन्नमहोदयाः समरसीभावानुभावोदयाः,
सेव्याः शश्वदिह त्वयाद्दतनयाः श्रेयःप्रबन्धेप्सया ॥ ९६ ॥

१—सम्यग्दर्शनादिका उद्योतादि रूपसे आराधन करनेका निरूपण करते हुए निर्वहणका भी स्वरूप पहले लिखा जा चुका है।

हे मुमुक्षो साधो ! इस ब्रह्मचर्यके विषयमें श्रेय कल्याण अथवा सम्यक्चारित्रके प्रबन्ध-अव्युच्छित्तिका प्राप्त करनेकी इच्छासे — यदि तू आत्महित और ब्रह्मचर्य व्रतको पूर्ण करना चाहता है तो तुझको निरंतर सद्गुरुओं-उन वृद्ध आचार्योंकी सेवा — आराधना करनी चाहिये जो कि नीतिका सदा आदर करने वाले हैं उसके जाननेवाले और तदनुकूल सदा व्यवहार करनेवाले हैं। तथा जिनका कुल पिता या गुरुका वंश उनके आशयों मनोवृत्तियोंको सदा उत्पथमें जानेसे अंकुशकी तरहसे रोके रहता है। क्योंकि जो कुलीन पुरुष हैं वे दुरपवादके भयसे— अपकीर्तिके डरसे कभी भी अकृत्यमें प्रवृत्ति नहीं करते—वे सदा दुष्कृत्योंसे ग्लानि ही किया करते हैं। और जिनका मनोभू—कामदेव या उसका संस्कार, सद्गुरुओं—समीचीन उपदेष्टाओंके वचनपर अवस्थान करनेके कारण —उनके उपदेशानुसार चलनेमें सर्वथा अस्त हो चुका है। तथा जिनकी संसारकी पीडाओंसे भीति विपुल होगई— जिनका संवेग प्रतिक्षण बढता ही जाता है। और परोपकार - दूसरोंके हितके सिद्ध करनेमें प्रवृत्ति करनेसे ही जिनका नित्य हर्षका अतिरेक हुआ करता है। जो हर्षके साथ सदा परोपकारमें प्रवृत्ति किया करते हैं। जिनका महान् उदय मोक्ष निकटकालवर्त्ती होचुका है-जो उसी भवमें या कुछ ही भवमें मोक्षको प्राप्त करेंगे। जिनके शुद्ध चिदानन्दानुभवके अनुभावों—तत्काल उत्पन्न हुए रागादिकोंके प्रक्षय तथा जातिवैर और सकारणवैरके उपशमन और उपसर्गोंके निवारण आदिकोंका उदय — उत्कर्ष सदा बना रहता है, यद्वा जिनको समरसीभावके कार्य बुद्धि तप बल विक्रिया औषधि प्रभृति ऋद्धिरूप अभ्युदयकी प्राप्ति होचुकी है।

भावार्थ-कुलीनताके कारण संयत मनोवृत्ति, और गुरूपदेशानुसार निष्कामताकी सिद्धि, बढता हुआ संवेग, सानन्द परोपकारमें प्रवृत्ति, निकटभव्यता, शुद्ध चिदानन्दानुभवके कार्यकारणकी प्राप्ति, इन छह विशेषणोंसे युक्त वृद्धाचार्योंकी साधुओंको अपने ब्रह्मचर्यकी सिद्धिकेलिये अवश्य ही और निरंतर आराधना करनी चाहिये क्योंकि ऐसा करनेपर ही उनका ब्रह्ममहाव्रत निर्मल रह सकता है। जैसा कि कहा भी है कि'— ३

य करोति गुरुभाषित मुदा सश्रये वसति वृद्धसकुले ।
मुञ्चते तरुणलोकसगतिं ब्रह्मचर्यममल स रक्षति ॥

जो व्यक्ति हर्षके साथ गुरूपदेशके अनुसार सदा व्यवहार करता है और तरुण पुरुषोंकी संगति छोडकर वृद्ध पुरुषोंके बीच सदा उनके निकट ही रहता है, कहना चाहिये कि वह व्यक्ति अपने ब्रह्मचर्य व्रतको निर्मल रखता है।

वृद्ध और इतर पुरुषोंकी संगतियोंके फलमें जो अन्तर है उसको बताते हैं: -

> कालुष्यं पुंस्युदीर्णं जल इव कतकैः संगमाद्व्येति वृद्धै-
> रश्मक्षेपादिवासप्रशममपि लघूदेति तद्विङ्गसङ्गात् ।
> वार्भिर्गन्धो मृदीवोद्भवति च युवभिस्तत्र लीनोपि योगाद्,
> रागो द्राग्वृद्धसङ्गात्सरटवदुपलक्षेपतश्चैति शान्तिम् ॥ ९७ ॥

यथायोग्य निमित्तको पाकर मनुष्योंके हृदयमें उद्भूत हुआ कालुष्य-द्वेष शोक भयादिरूप संक्लेश अथवा इनके द्वारा प्रकट होनेवाला कलुषभाव वृद्ध पुरुषोंकी संगतिसे—बढते हुए ज्ञान संयमादि गुणोंसे युक्त पुरुषोंकी संगतिसे इस तरहसे प्रशमको प्राप्त होजाता है जैसे कि निर्मली फलके चूर्णका सम्बन्ध पाकर जलकी पङ्किलता प्रशान्त होजाया करती है। किंतु यह प्रशान्त भी कालुष्य विट पुरुषोंके संसर्गसे शीघ्र ही फिर उद्भूत हो जाता है। जैसे कि उस प्रशान्त जलमें यदि पत्थर डाल दिया जाय तो उसका गदलापन शीघ्र ही फिरसे ऊपर आजाया करता है।

इसी प्रकार दूसरी बात यह भी है कि यदि मनुष्योंके हृदयमें कषायभाव लीन—अनुद्भूत हो—जो अब तक जागृत न हुआ हो तो वह तरुण—विट पुरुषोंकी संगतिसे इस तरहसे उद्भूत—उदित होजाता है जैसे कि जलके सम्बन्धसे मट्टीमें गन्ध प्रकट होजाया करती है। किंतु वह अभिव्यक्त भी कालुष्य वृद्ध पुरुषोंकी संगतिसे शीघ्र ही इस तरहसे प्रशान्त होजाया करता है जैसे कि रंग बदलनेवाले गिरगिटका उद्भूत भी वर्ण तिरस्कार पत्थरके फेंकदेने पर झटिति दूर होजाता है।

भावार्थ—इस श्लोकके पूर्वार्धमें पहले वृद्ध पुरुषों और पीछे विट पुरुषोंकी संगति करनेसे जो मनुष्योंको फल प्राप्त होता है उसको दृष्टांतद्वारा प्रकट किया है। और उत्तरार्धमे पहले विट पुरुषों और पीछे वृद्ध पुरुषोंकी संगति करनेसे जो फल प्राप्त होता है उसको उदाहरण देकर बताया है। इन दोनों उदाहरणोंसे वृद्ध और इतर पुरुषोंकी संगतिके फलका अन्तर स्पष्ट होजाता है कि मुमुक्षुओंको और अपने ब्रह्मचारी व्रतकी निर्मलता बढानेकी इच्छा रखनेवालोंको सदा वृद्ध पुरुषोंकी ही संगति करनी चाहिये।

यहां एक बात और भी ध्यानमें रखनी चाहिये। वह यह कि, इस प्रकरणमे वयकी प्रधानताके साथ साथ जिसमें ज्ञान संयमादिक गुण भी प्रकर्ष रूपसे पाये जांय उसीको वृद्ध कहा है। जैसा कि पहले भी लिखा जा चुका है।

प्रायः यह बात प्रसिद्ध है कि यौवन अवस्थाके निमित्तसे विकार उत्पन्न हो ही जाते हैं। अत एव जो तरुण पुरुष है वे यदि अतिशयित गुणोंसे युक्त भी हों तो भी उनकी संगतिपर विश्वास न करना चाहिये। इसी बातको ग्रन्थकार प्रकाशित करते हैः—

अप्युद्यद्गुणरत्नराशिरुगपि स्वस्थः कुलीनोपि ना,
नव्येनाम्बुधिरिन्दुनेव वयसा संक्षोभ्यमाणः शनैः।
आशाचक्रविवर्तिगर्जितजलाभोगः प्रवृत्त्यापगाः,
पुण्यात्मा प्रतिलोमयन्विधुरयत्यात्माश्रयान् प्रायशः॥९८॥

जिस प्रकार आशाचक्र—दिङ्मण्डलमें फैले हुए और गर्जना करते हुए जलके विस्तारसे सब तरफको भरा हुआ, और जिसके भीतर रत्नराशि अपनी दीप्तिको प्रकाशित करनेके लिये सदा उद्यत रहा करती है, जो स्वस्थ—अतिशय प्रसन्न तथा कुलीन—पृथ्वीमें संश्लिष्ट है ऐसा समुद्र चन्द्रमाके उदयको पाकर धीरे धीरे अत्यत

क्षोभको प्राप्त होजाता है—विकृत होकर अपनी स्वाभाविक प्रकृतिसे चलायमान होजाता है। और पवित्र गङ्गादिक नदियोंको उन्मार्गगामिनी बनाता हुआ अपना आश्रय लेकर रहनेवाले मत्स्यादिकोंको भी प्रायः करके कुशलतासे भ्रष्ट करदेता है। उसी प्रकार जो मनुष्य स्वस्थ—सदा अच्छी तरह प्रसन्न अथवा निर्मल रहनेवाला है, और कुलीन लोकपूजित कुलमें उत्पन्न भी हुआ है, तथा जिनके ज्ञान संयमादिक गुणोंकी दीप्ति भी अपना प्रकाश करनेकेलिये प्रतिक्षण बधती जाती है वह भी नवीन वय—तारुण्यको पाकर-युवावस्थामें धीरे धीरे क्षुब्ध होजाया करता है। निर्मलता कुलीनता और ज्ञानसंयमप्रभृति गुणोंसे युक्त अपनी सात्त्विक प्रकृतिसे चलायमान होकर अनेक प्रकारके विकृत भावोंसे युक्त होजाया करता है। तथा सोत्सेक गर्जना करनेवाले मूढ लोकोंके आशाचक्र-प्रत्याशा-अभिलाषाकी परम्पराओंमें विविध प्रकारसे फसे हुए, भोगों इष्टविषयके उपयोगोंको अच्छी तरहसे पूर्ण करनेवाला बनकर गङ्गादिक नदियोंके समान पवित्र प्रवृत्तियों-मन वचन कायकी कृतियोंको उन्मार्गगामी बनाता हुआ विषयसेवनमें प्रवृत्त कराता हुआ प्रायः करके अपने आश्रित रहनेवाले शिष्यादिकोंको भी श्रेयोमार्ग-आत्महितसे भ्रष्ट करदेता है।

भावार्थ—यौवन अवस्थामें प्रायः मनुष्य कुलीन अथवा ज्ञान संयमादिके अभ्यासमें निरंतर रहने पर भी विकृत हो ही जाता है और सगर्व गर्जना करनेवाले जड मनुष्योंके आशान्वित भोगोंकी पूर्ति करनेमें उन्मुख हो ही जाता है- सिद्धि या यन्त्र मन्त्रादि बताकर उनकी भोगोपभोगसम्बन्धी अभिलाषाओंके सफल बनानेमें सहायक हो ही जाता है। यह इस अवस्थाका ही दोष है कि वह इस प्रकारसे अपनी प्रवृत्तियोंका दुरुपयोग कर डालता है। ऐसे मनुष्यकी संगतिसे अथवा सेवा आदि करनेमें रहनेसे मनुष्य श्रेयोमार्गसे भ्रष्ट ही हो सकता है। अत एव साधुओंको वृद्धोंकी ही संगति करनी चाहिये; क्योंकि युवावस्थाका विश्वास नहीं है। जैसा कि लौकिक पुरुष कहा भी करते हैं कि:—

अवश्य यौवनस्थेन क्लीबेनापि हि जन्तुना।
विकारः खलु कर्तव्यो नाविकाराय यौवनम् ॥

युवावस्थामे तो नपुंसकोंको भी अवश्य ही कुछ न कुछ विकार करलेना चाहिये। क्योंकि यौवन निर्विकार रहनेकेलिये थोडा ही है।

और भी कहा है कि—

यस्मिन्नज प्रसरति स्खलितादिवोच्चै,—
रान्ध्यादिव प्रचलता तमसश्चकास्ति।
सत्त्व तिरोभवति भीकमिवाङ्गजाग्ने,—
स्तद्यौवन विनयसज्जनसङ्गमेन॥

यौवनको पाकर मनुष्य स्खलित होने लगता है, जिससे मालुम पडता है कि उसमे रजोगुण अच्छी तरहसे अपना प्रसार कर रहा है। इसी प्रकार युक्तायुक्तके विवेकसे रहित होकर उसमे अन्धता भी आजाती है जिसमे मालुम पडता है कि उसमे तमोगुण भी अपनी प्रबलताको प्रकाशित कर रहा है। किंतु उसका सत्वगुण मानो उसके शरीरकी अग्निसे डरकर ही छिपा जाता है। इस प्रकारका यौवन विनयगुण और सत्पुरुषोंकी सङ्गतिसे ही निर्विकार रह सकता है।

जो मनुष्य इस तारुण्यको पाकर भी निर्विकार रहते है उनकी प्रशंसा करते है:—

दुर्गेपि यौवनवने विहरन् विवेक,—
चिन्तामणिं स्फुटमहत्त्वमवाप्य धन्यः।

चिन्तानुरूपगुणसंपदुरुप्रभावो.
वृद्धो भवत्यपलितोपि जगाद्विनीत्या॥ ९९॥

यह यौवनरूपी वन यद्यपि दुर्गम है—दुःखके साथ भी लोग इसको पार नहीं कर सकते और इसका अतिक्रमण नहीं करसकते; फिर भी जो मनुष्य इसमें विहार करते हुए भी, स्फुट है महत्व जिसका ऐसे विवेकरूपी चिन्तामणिको पाकर, चिन्ताके अनुरूप गुणसंपत्तिके महान् प्रभावसे युक्त होजाते हैं वे धन्य हैं। और ऐसे पुरुषोंको जरा विकारसे रहित रहनेपर भी जगत्को शिक्षादि देनेकी अपेक्षा वृद्ध ही समझना चाहिये।

भावार्थः—जो युवा होकर भी विवेकसे युक्त रहते हैं और गुणोंसे प्रभावित होजाते हैं वे धन्य हैं। योग्य और अयोग्य अथवा हित और अहित विषयमें विचार करनेकी चतुरताको विवेक कहते हैं। यह विवेक चिन्तामणि रत्नके समान है; क्योंकि इससे अभिलषित पदार्थोंकी प्राप्ति होसकती है। इसकी महिमा और जगत्-पूज्यता प्रकट है। क्योंकि मोक्षके कारण संयमका भी इसीके निमित्तसे साधन हो सकता है। अत एव इस विवेक-चिन्तामणिके निमित्तसे मनुष्योंको ऐसी गुणसंपत्तियां इच्छानुरूप प्राप्त होजाती है कि जिनका प्रभाव—शक्तिविशेष अचिन्त्य है। जो यौवनमें ही इस विवेकके द्वारा प्राप्त हुए गुणप्रभावसे भूषित होजाते हैं उन्हे युवा न समझकर वृद्ध ही समझना चाहिये। क्योंकि वे भी जगत्को वृद्धोंकी तरहसे ही शिक्षादिक देसकते हैं। किंतु ऐसे धन्य पुरुष विरल ही हो सकते हैं।

असाधु और साधु पुरुषोंके साथ संभाषण या संसर्गादि करनेसे जो फल प्राप्त होता है उसको दृष्टांतद्वारा प्रकट करते हैंः—

सुशीलोपि कुशीलः स्याद्दुर्गोष्ट्या चारुदत्तवत्।
कुशीलोपि सुशीलः स्यात् सद्गोष्ट्या मारिदत्तवत् ॥ १०० ॥

समीचीन और प्रशस्त आचरणवाला भी पुरुष दुष्ट जनोंकी संगतिमें पडकर अथवा उनके साथ संभा-

पणादि करके उस तरहसे कुशील-दुर्वृत्त या दुराचारी होजाता है जैसे कि चारुदत्त सेठ होगया था। तथा दुराचारी भी मनुष्य सत्पुरुषों-सज्जनोंकी संगति पाकर तथा उनके साथ संभाषणमात्र ही करके इस तरहसे सुशील बनजाता है जैसे कि मारिदत्त राजा बनगया था।

इस प्रकार वृद्ध पुरुषोंकी संगति करनेका उपदेश पूर्ण हुआ और उसके साथ साथ पहले जो ब्रह्मचर्य-व्रतकी शुद्धिके कारणभूत स्त्रीवैराग्यकी पांच भावनाएं बताई थीं उनका स्वरूप निरूपण भी समाप्त हुआ। किंतु इनके सिवाय पांच भावनाएं और भी बताई हैं। यथा—१ स्त्रीरागकथा श्रवण त्याग, २ तन्मनोहराङ्ग निरीक्षण त्याग, ३ पूर्वरतानुस्मरण त्याग, ४ वृष्येष्टरस त्याग, ५ स्वशरीरसंस्कार त्याग। साधुओंको अपने ब्रह्मचर्य महाव्रतकी स्थिरताके लिये इन भावनाओंका भी पालन करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं:—

रामारागकथाश्रुतौ श्रुतिपरिभ्रष्टोसि चेद्भ्रष्टदृक्,
तद्रम्याङ्गनिरीक्षणे भवसि चत्तत्पूर्वभुक्तास्मसि ।
निःसंज्ञो यदि वृष्यनाक्तितरसास्वादेऽरसज्ञोसि चेत्
संस्कारे स्वतनोः कृशोसि यदि तर्हिस्थितोसि तुर्यव्रते ३ १०१ ॥

हे साधो! स्त्रियोंके द्वारा अथवा स्त्रियोंके विषयमें रागपूर्वक किये गये ऐसे किसी भी कथोपकथनके जो कि उन रमणियोंके विषयमें रागरतिको उत्पन्न कर सकता है; सुननेके लिये यदि तू ऐसा बनजाता है मानो तेरे कान ही नहीं हैं—अत्यंत बधिर है। और उनके मुख कुच त्रिवली जघन नितम्ब प्रभृति रमणीय—मनोहर अङ्गोंके

१—२—इन दोनों कथाओंको क्रमसे चारुदत्त चरित्र और यशोधर चरित्रमें देखना चाहिये।
३—"नित्य कामाङ्गनासङ्गदोषाशौचानि भावयन्" इस श्लोकमें।

देखनेके लिये नेत्रहीन– अन्धा सरीखा बनगया है—उनका निरीक्षण करनेके लिये कभी भी अपनी दृष्टिका तू निक्षेप नहीं करता। तथा पहले जो तेने उन रमणीय रमणियोंके साथ रमण किया था उसका अब स्मरण करनेके लिये यदि तू ऐसा बनगया है मानो असंज्ञी–अमनस्क है–कभी उसका स्मरण नहीं करता और वृष्य दुग्धादिक शुक्रके बढानेवाले पदार्थों और अभीष्ट मधुरादिक रसोंका आस्वाद लेनेके लिये अभ्यासतः सेवन करनेके लिये यदि तू अरसज्ञ या ऐसा बन गया है मानों तेरे जिह्वा ही नहीं है। तथा अपने शरीरका संस्कार करनेके लिये उसको मनोहर अतिशयित और कान्तियुक्त बनानेके लिये यदि तू बिल्कुल ही पराङ्मुख होगया है मानों वृक्षसरीखा बनगया है; तो कहना चाहिये कि तू चौथे महाव्रत–ब्रह्मचर्यकी प्रौढ महिमाको प्राप्त कर चुका।

पूर्वरतानुस्मरण और वृष्येष्ट रसका त्याग करनेकेलिये पहले भी लिखा जाचुका है। किंतु यहांपर दूसरी वार फिर वर्णन करनेका प्रयोजन यह है कि ब्रह्मचर्य व्रत अत्यंत दुःसाध्य है अतएव उसका पालन करनेके लिये सावधानी रखकर अधिक प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि समस्त व्रतोंमें ब्रह्मचर्य व्रत ही क्लिष्ट और महान् माना है। जैसा कि कहा भी है कि: –

अक्खाण रसणी कम्माण मोहणी तह वयाण बंभ च।
गुत्तीण य मणगुत्ती चउरो दुक्खेण सिज्झति ॥

इन्द्रियोंमें रसना, कर्मोंमें मोहनीय, व्रतोंमें ब्रह्मचर्य, और गुप्तियोंमें मनोगुप्ति, ये चारो ही भाव बडी ही कठिनतासे सिद्ध हुआ करते हैं।

वृष्य द्रव्यका सेवन करनेसे जो तृप्ती होती है उसका प्रभाव मनुष्यपर कैसा पडता है या उसका फल कैसा मिलता है सो बताते हैं:—

को न वाजीकृता दृप्तः कंतुं कंदलयेद्यतः।

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमृषयः पुरुषं विदुः ॥ १०२ ॥

मनुष्योंको घोडेके समान बनादेनेवाले दुग्ध प्रभृति वीर्यवर्धक पदार्थोंको वाजीकरण कहते हैं। इसमें ऐसा कौनसा पदार्थ है जो कि उद्वृत्त—उत्तेजित होकर कामदेवको उद्भूत नहीं करदेता। सभी सगर्व वाजीकरण पदार्थ ऐसे ही है कि जिनके उपयोगसे अवश्य ही कामदेव जागृत होजाया करता है। क्योंकि ऋषियोंने पुरुषका स्वरूप उर्ध्वमूल और अधःशाख माना है। जिव्हा और कण्ठ प्रभृति अवयव मनुष्यके मूल है और हस्तादिक अवयव शाखाएं है। जिस प्रकार वृक्षके मूलमें किये गये सिञ्चनका परिणाम उसकी शाखओंपर पडता है उसी प्रकार जिव्हादिकके द्वारा उपयुक्त आहारादिकका प्रभाव हस्तादिक शरीरके अंगोंपर पडता है। यदि मनुष्य वाजीकरण पदार्थोंका सेवन करेगा तो अवश्य ही उसके शुक्रकी वृद्धि होकर कामदेव भी उत्तेजित होगा। अत एव साधुओंको ब्रह्मचर्यके साधनमें वृष्य पदार्थोंके सेवनको विघ्नकारक समझकर अवश्य ही छोडदेना चाहिये। और समस्त इन्द्रियोंमें प्रधान रसनाको वशमे करना चाहिये।

पूर्व कालमें ऐसे वहुतसे पुरुष होगये है जो कि मोक्षमार्गका अनुसरण करते थे किंतु ब्रह्मचर्य व्रतमे प्रमाद करनेके कारण संसारमें अत्यंत उपहासके ही पात्र हुए। अत एव इस महाव्रतके साधन करनेमें तत्पर रहनेवाले साधुओंको अच्छी तरह सावधानता रखनेका उपदेश देते है:—

दुर्धर्षोद्धतमोहशौल्किकतिरस्कारेण सद्माकराद्,
भृत्वा सद्गुणपण्यजातमयन मुक्तेः पुरः प्रस्थिताः।
लोलाक्षीप्रातिसारकैर्मदवशैराक्षिप्य तां तां हठा,—
न्नीताः किन्न विडम्बनां यतिवराश्चारित्रपूर्वाः क्षितौ ॥ १०३ ॥

किसी विक्रेय वस्तुके राज्यमें लानेपर अथवा राज्यसे वाहिर लेजानेपर यद्वा खान आदिमेंसे निकलनेवाले

किसी अन्य पदार्थपर जो राज्यका ग्राह्य भाग नियत रहता है—कर लगता है उसको शुल्क और उसके वसूल करनेवाले अधिकारीको शौल्किक कहते है। यदि कोई मनुष्य उस शौल्किकको छलकर-कर न देकर किंतु खानमेंसे रत्नादिकको लेकर मार्गमें जानेका प्रयत्न करे तो वह शौल्किकके नियुक्त मदोन्मत्त सिपाहियो द्वारा पकडा जाता है और जबर्दस्ती वहांसे ढकेलकर पीछेको कर दिया जाता है—लौटा दिया जाता है। वहांसे लौटते ही जिस प्रकार उस मनुष्यकी जगत्में विडम्बना हुआ करती है उसी प्रकार पूर्व कालमें कितने ही शकट कूर्चवार और रुद्रप्रभृति यतिश्रेष्ठोंकी भी जगत्में वह वह विडम्बना हुई है जो कि लोकमे और शास्त्रमें सर्वत्र प्रसिद्ध है। क्योंकि यद्यपि ये यतियोंमे श्रेष्ठ थे। जो केवल शरीरमात्र परिग्रहका धारण कर सम्यग्ज्ञानरूपी नौकाके द्वारा तृष्णारूप नदीसे पार लगानेवाले योगकेलिये यत्न किया करते है उनको यति कहते है। इस तरहके यतियोंमें यद्यपि ये शकट कूर्चवारादिक प्रधान और श्रेष्ठ थे, तथा मुख्यतया चारित्रका ही पालन करनेवाले थे, किंतु ज्यो ही उन्होंने दुर्धर्ष जिसका पराभव नही किया जा सकता और उद्धत मोहरूपी शौल्किकको छलनेका उपक्रम किया और सम्यग्दर्शन प्रभृति समीचीन गुणरूपी पण्यजात-विक्रेयद्रव्योंको गृहरूपी आकर—खानमेंसे लेकर मोक्षके मार्गमें जानेका प्रारम्भ किया कि त्यों ही उस शौल्किकके मदोन्मत्त लोलाक्षी—रमणीरूपी प्रतिसारकों-भटोंने उनको जबर्दस्ती उस मार्गसे पीछेको ढकेल दिया—संसारकी तरफ ही लौटा दिया। इस प्रकार लौटाये जानेपर जगत्में उनकी कौन कौनसी विडम्बना नहीं हुई—हर प्रकारसे उनका उपहास ही हुआ।

भावार्थ—शौल्किकके वेतनभोगी भटोंके समान जो यहांपर कामिनियोंको मोहकर्मके सहायक बताया है सो ठीक ही है। क्योंकि जिस प्रकार भट शौल्किकके कार्यमें पूरा योग देते है उसी प्रकार कामिनियां भी मोहकर्मके कार्यमें—संसारी प्राणियोंको विषयभोगोंमें ही मूर्छित करनेमें पूरा योग देती हैं। इन्हीके निमित्तसे मनुष्य अभीष्ट स्थानपर जानेका प्रयत्न करनेपर भी नही जा सकता, प्रत्युत अनिष्ट स्थानकी तरफ ही लौट जाता है।

जिस प्रकार रत्नादिक विक्रेय द्रव्य खानमे उत्पन्न हुआ करते है उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादिक गुण भी

घरमें उत्पन्न होजाते हैं। किंतु जिस प्रकार विक्रेय द्रव्य जहां लेजानेसे विशिष्ट अर्थ लाभके कारण हो सकते है वहांपर शौल्किकके भट उनको लेजाने नहीं देते, उसी प्रकार सम्यग्दर्शनादिक जिस मोक्षमार्गमें चलनेपर विशिष्ट मोक्षरूप अर्थके लाभके कारण हो सकते है उसमें ये कामिनी-भट जाने नहीं देते—चारित्रका आराधन करने नहीं देते। अत एव साधुओंको उचित है कि वे इन भटोंमे सदा सावधान रहकर अपने चारित्र—ब्रह्मचर्य महाव्रतका निरतर आराधन करनेका प्रयत्न करें।

इस प्रकार ब्रह्मचर्य महाव्रतका व्याख्यान पूर्ण हुआ। अब क्रमानुसार आकिञ्चन्य महाव्रतका अडतालीस पद्योंमें वर्णन करना चाहते है। किंतु उसमे सबसे पहले मुमुक्षुओंको उसका पालन करनेकेलिये अच्छी तरह उत्साहित करनेके अभिप्रायसे उसका लोकोत्तर माहात्म्य प्रकट करते हैं:—

मूर्छा मोहवशान्ममेदमहमस्येत्येवमावेशनं,
ता दुष्टग्रहवन्न मे किमपि नो कस्याप्यह खल्विति।
आकिंचन्यसुसिद्धमन्त्रसतताभ्यासेन धुन्वंति ये
ते शश्वत्प्रतपन्ति विश्वपतयश्चित्रं हि वृत्तं सताम् ॥ १०४ ॥

मोहनीय कर्मके उदयमे "यह मेरा है" और "मै इसका हूं" ऐसा जो परिणाम विशेष होता है उसको मूर्छा कहते है। जो महापुरुष दुष्ट ग्रहके समान इस मूर्छाका, "न मेरा कोई है" और "न मैं किसीका हूं", तथा "आत्मस्वरूपको छोडकर मैं और कुछ नहीं हूं। और संसारमें भी निजात्मरूपके सिवाय और कुछ भी उपादेय नहीं है" इस प्रकारके आकिञ्चन्य व्रतरूपी सुसिद्ध मंत्रका निरंतर अभ्यास करके, निग्रह करदेते हैं वे ही साधु तीन लोकके स्वामी बनकर अव्याहत तेजके धारक होजाते है। क्योंकि साधुओंका चरित्र विचित्र ही हुआ करता है।

भावार्थ--मूर्छाके सर्वथा परित्यागको ही आकिञ्चन्य महाव्रत कहते है। मोहनीय कर्मके उदयसे आत्मा के वास्तविक स्वरूपसे भिन्न समस्त अन्तरङ्ग और बाह्य पदार्थोंमें होनेवाले ममत्व परिणामको मूर्छा कहते है। मूर्च्छाका आकार बतानेके लिये इति और एवं इन दो शब्दोंका प्रयोग किया है. जिनमेंसे इति शब्द स्वरूप अर्थकी अपेक्षासे है । तदनुसार "यह जगत मेरा ही स्वरूप है," अथवा "इस जगत्स्वरूप ही मैं हू," इस तरहके आवेशको मूर्च्छा कहते है। एवं शब्द प्रकार अर्थकी अपेक्षासे है। तदनुसार मै याज्ञिक हूं, मै परिवाड हू, मै राजा हूं, मै पुरुष हूं, मै स्त्री हूं, इत्यादि मिथ्यात्वादिक परिणामरूप अभिनिवेशोंको मूर्छा कहते है। कहा भी है कि—

> या मूर्च्छा नामेय विज्ञातव्य परिग्रहोयमिति।
> मोहोदयादुदीर्णा मूर्छा तु ममत्त्वपरिणाम ॥

मोहके उदयसे होनेवाले ममत्वपरिणामोंको मूर्छा कहते है। और इसीका नाम परिग्रह भी है। यद्यपि यहांपर सामान्य शब्द मोह ही लिखा है किन्तु फिर भी मूर्छाकी उत्पत्तिमें विशेष कर लोभपरिणाम ही कारण है। क्योंकि अन्तरङ्ग और बाह्य पदार्थोंके प्राप्त करनेकी अभिलाषारूप परिग्रहसंज्ञा प्रधानतया लोभके ही निमित्तसे हुआ करती है। जैसा कि आगममें भी कहा है कि—

> उवयरणदसणेण य तस्सुवओगेण मुच्छिदाए य।
> लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायदे सण्णा ॥

भोगोपभोगके साधनभूत पदार्थोंके देखनेसे अथवा उनका उपयोग करनेमे यद्वा ममत्त्व परिणामोंके होनेपर और अन्तरङ्गमे लोभ कषायका उदय या उदीरणा होनेपर, इन चार कारणोंसे जीवको परिग्रहमें संज्ञा—वाछा हुआ करती है।

१— क्योंकि मिथ्यात्व रागद्वेष तथा हास्यादिक कषायोंको अतरग परिग्रहमें ही गिना है।

जो म. पुरुष इन मूर्छापरिणामोंके विरुद्ध निरंतर इस तरहकी भावनाका अभ्यास किया करते हैं कि "ये बाह्य और अन्तरङ्ग कोई भी पदार्थ मेरे नहीं हैं, और न मैं इनका हूं. मैं किसी अन्य पदार्थरूप भी नहीं हूं और न कोई अन्य पदार्थ ही मुझ स्वरूप है।" वे ही महात्मा दुष्ट ग्रहके समान इस परिग्रहका निग्रह कर सकते हैं, और तीन लोककी स्वामिताको प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि; यह आकिञ्चन्य भाव-कोई न हमारा, हम न किसीके. यह परिणाम सुसिद्ध मंत्रके समान है जो कि गुरूपदेशके अनन्तर ही अपना कार्य कर दिया करता है। यहांपर यह प्रश्न हो सकता है कि जो अकिंचन है वह तीन लोकका स्वामी किस तरह हो सकता है? क्यों कि ये दोनो ही बातें परस्पर विरुद्ध हैं। अतएव उक्त अर्थ न करनेके लिये ग्रंथकार कहते हैं कि साधुओंका चरित्र विचित्र ही हुआ करता है।

परिग्रह दो प्रकारका है – एक अन्तरंग दूसरा बाह्य। इन दोनों ही प्रकारके परिग्रहोंके दोषोंको बताते हुए मुमुक्षुओंको उनके त्याग करनेका उपदेश देते हैं—

शोध्योऽन्तर्न तुषेण तण्डुल इव ग्रन्थेन रुद्धो वहि,—
र्जीवस्तेन बहिर्मुखापि रहितो मूर्छामुपार्छन् विषम् ।

१— मंत्र तीन प्रकारके होते हैं सिद्ध, साध्य और सुसिद्ध। इनका स्वरूप इस प्रकार है कि—

सिद्ध सिध्यति कालेन साध्यो होमजपादिना ।
सुसिद्धस्तत्क्षणादेव अरीन् मन्त्रो निहन्ति ॥

जिसके सिद्ध होनेमे कालकी अपेक्षा रहती है उसको सिद्ध, और जो होम जप आदि करनेसे सिद्ध हो जाता है उसको साध्य, तथा जो तत्क्षण ही–गुरूपदेशके बाद ही अपना कार्य कर सके उसको सुसिद्ध कहते हैं।

२ " भवति मुनीनामलौकिकी वृत्तिः "।

निर्मोकेण फणीव नार्हति गुणं दोषैरपि त्वेधते,
तद्ग्रन्थानबहिश्चतुर्दश बहिश्चोज्झेदश श्रेयसे ॥ १०५ ॥

जिस प्रकार बाह्य तुष—मोटे छिलकेसे रुद्र-वेष्टित तण्डुल-धान अन्तरङ्गसे भी शुद्ध नहीं किया जा सकता -पतली भूसी उतार कर शुद्ध चावल नहीं बनाया जा सकता; उसी प्रकार बाह्य ग्रन्थ-अपनेमें ममकारके उत्पन्न करानेवाले चेतन और अचेतनरूप परिग्रहसे युक्त—आच्छादित अथवा आसक्तिको प्राप्त जीव भी अन्तरङ्गमें शुद्ध नहीं हो सकता-कर्मकलङ्कसे रहित निर्मल नहीं बन सकता। कहा भी है कि: -

शक्यो यथापनेतु न कोण्डकस्तण्डुलस्य सतुपस्य ।
न तथा शक्य जन्तो कर्ममल सङ्गसक्तस्य ॥

जिस प्रकार तुपमहित तण्डुलके भीतरकी भूसी दूर नहीं की जा सकती उसी प्रकार सग्रन्थ मनुष्यका कर्ममल भी दूर नहीं हो सकता।

इस कथनसे किसी किसीको यह शंका हो सकती है कि अन्तरङ्ग परिग्रह कोई चीज ही नहीं है, किन्तु बाह्य परिग्रह ही सब कुछ है। और आत्मिक विशुद्ध अवस्था प्राप्त करनेकेलिये उसीका त्याग करना चाहिये ? अत एव ग्रंथकार इस शंकाका परिहार करनेकेलिये कहते हैं कि— जिस प्रकार निर्मोक-केंचुलीसे रहित भी विप-सहित सर्प गुणी नहीं हो जाता-केंचुली उतरजानेसे ही वह निर्विप या शुद्ध जीव होगया ऐसा नहीं कहा जा सकता बल्कि विप रहनेसे दोपी ही रहता है या और भी अधिक दोषी हो जाता है। उसी प्रकार बाह्य परिग्रहसे रहित भी जीव यदि अन्तरङ्गमें मूर्च्छायुक्त है तो वह अहिंसादिक गुणोंमे युक्त नहीं हो सकता बल्कि उसमें दोप ही अधिक वृद्धिको प्राप्त हो सकते हैं। ऐसा जीव भी आत्माकी विशुद्ध अवस्थाको प्राप्त नहीं कर सकता। अत एव

साधुओंको अभीष्ट पद—मोक्ष प्राप्त करनेकेलिये अथवा उसके साधन चारित्रका आराधन करनेकेलिये अन्तरङ्ग और वाह्य सभी परिग्रहका त्याग करना चाहिये। अन्तरग परिग्रहके चौदह भेद हैं। यथाः—

मिच्छत्तवेदरागा हस्सादीया य तहय छद्दोसा।
चत्तारि तह कसाया चउदसाब्भतरा गथा॥

मिथ्यात्व, और तीन वेद—स्त्री पुरुष नपुंसक, हास्यादिक छह नोकषाय—हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा, तथा चार कषाय-क्रोध मान माया लोभ, ये चौदह अन्तरङ्ग परिग्रह है। वाह्य परिग्रहके दश भेद हैं। यथाः—

क्षेत्रं धान्यं धन वास्तु कुप्य शयनमासनम्।
द्विपदा. पशवो भाण्ड वाह्या दश परिग्रहा॥

क्षेत्र-खेत, धान्य-गेहू आदि अन्न, धन-सोना चांदी आदि, वास्तु—मकान, कुप्य-वस्त्र, शयन-खाट आदि, आसन सिंहासन प्रभृति बैठनेकी चीजें, द्विपद-दास दासी आदि, पशु—घोडा हाथी ऊट आदि, भाण्ड वर्तन-ये दश प्रकारके वाह्य परिग्रह हैं। ये अन्तरङ्ग परिग्रहके उत्पन्न करनेमें, जो कि कर्मबन्धका साक्षात्कारण है, निमित्त है। अत एव इनका भी त्याग ही करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है किः—

मूर्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्ति परिग्रहत्वस्य।
सग्रन्थो मूर्छावान् विनापि किल शेषसगेभ्य।
यद्येव भवति तदा परिग्रहो न खलु कोपि वहिरङ्ग।

१—सर्वार्थसिद्धिमें धनशब्दसे गा आदिक लिये है। यदि यही अर्थ लिया जाय तो यहापर पशु शब्दका ग्रहण व्यर्थ होजाता है। अत एव भेदविवक्षासे धनशब्दका अर्थ यहापर सोना चांदी ही किया है।

भवति नितरां यतोसौ धत्ते मूर्छानिमित्तत्वम् ॥
एवमतिव्याप्तिः स्यात् परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम् ।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्छास्ति ॥

परिग्रहका लक्षण मूर्च्छा किया गया है। अत एव दोनोंमें व्याप्ति अच्छी तरहसे घटित होती है। और इसीलिये बाह्य पदार्थका ग्रहण न करनेपर भी जो मूर्च्छायुक्त है उसको सग्रंथ ही माना है। कहा जा सकता है कि यदि यही बात है तो बाह्य परिग्रह कोई चीज ही नहीं है। क्योंकि अन्तरङ्गमें मूर्छाके रहनेपर सपरिग्रह और न रहनेपर अपरिग्रह माना जाता है। किंतु यह बात ठीक नहीं है; क्योंकि बाह्य परिग्रह अन्तरङ्ग मूर्छाका निमित्त है। बाह्य परिग्रहके रहनेपर अन्तरङ्गमें भी मूर्छा हो ही जाती है क्योंकि अन्तरङ्ग मूर्च्छाके विना बाह्य परिग्रहका ग्रहण नहीं हो सकता। अत एव बाह्य पदार्थोंके ग्रहण करनेको भी परिग्रह ही कहते हैं। इस कथनमें भी अतिव्याप्ति दोष दिया जा सकता है। क्योंकि इस लक्षणके अनुसार कर्मग्रहणको भी मूर्छा कह सकते हैं। क्योंकि वह भी आत्मस्वरूपसे भिन्न बाह्य पदार्थके ग्रहणरूप ही है। किन्तु यह दोष ठीक नहीं है। क्योंकि अकषाय व्यक्तियोंके कर्मके ग्रहण करनेमें मूर्छा नहीं होती—वह मूर्च्छापूर्वक नहीं होता।

परिग्रहका त्याग करनेकी विधि बताते हैं: —

परिमुच्य करणगोचरमरीचिकामुज्झिताखिलारम्भः ।
त्याज्यं ग्रन्थमशेषं त्यक्त्वापरनिर्ममः स्वशर्म भजेत् ॥ १०६ ॥

जिस प्रकार प्याससे बाधित हुए मृगगण जङ्गलकी चटीली भूमिमें जलका भ्रम कर बाधित

२— लक्षणके तीन दोष होते है—अव्याप्ति अतिव्याप्ति असंभव। लक्ष्यके एकदेशमें लक्षणके रहनेको अव्याप्ति, और अलक्ष्यमें भी रहनेको अतिव्याप्ति तथा लक्ष्यमात्रमें न रहनेको असंभव दोष कहते है।

हुए शांति की अभिलापामे उसकी तरफ उत्सुकतासे दोडते हैं, उसी प्रकार विषयवासनासे संसारी प्राणी इन्द्रियविषयोंको सुखकर ममझकर उनको प्राप्त करनेके लिये चेष्टा किया करते हैं। अत एव ये इन्द्रियोंके विषय मृगतृष्णाके समान हैं, वास्तवमें ये सुख और शांतिके कारण नहीं हैं। अथवा कर्मके क्षयोपशम के अनुसार इन इन्द्रियोंके प्रतिनियत विषयोंमें यदि कुछ प्रकाश भी होता है तो वह बहुत ही थोडा है—आभासमात्र है। इस तरहकी इन्द्रियविषयरूपी मरीचिकाको छोडकर—इन्द्रियविषयोंसे संयत होकर, और समस्त सावद्य क्रियाओंको—आरम्भादिकोंको छोडकर तथा जो छोडे जा सकते हैं ऐसे समस्त गृह गृहिणी प्रभृति बाह्य पदार्थोंको सर्वथा छोडकर; बालके अग्रभागकी बराबर भी त्याज्य परिग्रहसे अपना सम्बन्ध न रखकर, और जो छोडे नहीं जा सकते-जिनका त्याग करना अशक्य है ऐसे शरीरादिक परिग्रहोंके विषयमें निर्मम होकर- "ये मेरे है" इस सकल्पको छोडकर साधुओंको निज आत्मस्वरूपसे उत्पन्न सुखका सेवन करना चाहिये।

भावार्थ—यहांपर निर्मम शब्द उपलक्षण अर्थमें आया है, जिससे साधुओंको "ये मेरे हैं" इस संकल्पकी तरह "ये मै हूं" और "मैं ये है" इस संकल्पसे भी रहित होना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:-

जीवाजीवणिबद्धा परिग्गहा जीवसभवा चेव।
तेसिं सक्कचाओ इयरम्हि य णिम्ममोऽसगो ॥

परिग्रह दो प्रकारका है, चेतन और अचेतन अथवा अंतरग और बाह्य। इनमेंसे जिनका त्याग किया जा सकता है उनका सर्वथा त्याग करना चाहिये। और बाकीके जो परिग्रह है उनमें निर्मम होना चाहिये। इसीका नाम नैर्ग्रन्थ्य है। क्योंकि जो जीवसे असम्बद्ध उपधि है उसीका सर्वथा त्याग हो सकता है; सम्बद्धका नहीं। अत एव जो जीवसे सम्बद्ध है ऐसे शरीरादिक परिग्रहमें ये मेरे है अथवा ये मै ही हूं इस तरहकी सकल्परूप मूर्छा का ही परित्याग करना चाहिये।

मिथ्याज्ञान जिसका अनुसरण करता है ऐसे मोहकर्मके उदयसे जीवके दो प्रकारके भाव हुआ करते हैं—एक ममकार, दूसरा अहंकार। इन दोनोंका लक्षण इस प्रकार है:—

शश्वदनात्मीयेषु स्वतनुप्रमुखेषु कर्मजनितेषु।
आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा देह ॥
ये कर्मकृता भावा परमार्थनयेन चात्मनो भिन्ना।
तत्रात्माभिनिवेशोऽहंकारोऽहं यथा नृपति ॥

कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए अपने शरीर प्रभृति उन पदार्थोंमें जो कि आत्मासे भिन्न होनेपर भी सदा उससे सम्बद्ध रहते हैं, आत्मीयताके अभिनिवेशको ममकार कहते हैं। जैसे कि ये मेरा शरीर है। तथा कर्मोदयसे प्राप्त हुए उन पदार्थोंमें जो कि परमार्थमे आत्मासे भिन्न है—असम्बद्ध है उनमें आत्मीयताके अभिनिवेशको अहंकार कहते हैं। जैसे कि मैं राजा हूं।

आत्मासे भिन्न परद्रव्यका ग्रहण करना ही बंधका कारण है और स्वद्रव्यमें संवृत रहना ही मोक्षका कारण है। जैसा कि कहा भी है कि—

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान्।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो यति ॥

परद्रव्यका ग्रहण करनेवाला साधु अपराधी है अत एव वह बंधता है। किंतु जो यति स्वद्रव्यमें ही संवृत रहता है वह अपराधी नहीं है अत एव वह बंधता भी नहीं है। जिस प्रकार परद्रव्यका अपहरण करनेवाला चोर अपराधी होनेके कारण पकडा जाता है—बंधता है। किंतु जो स्वद्रव्यमें ही संतुष्ट रहनेवाला सज्जन है वह निरपराधी होनेके कारण बंध नहीं सकता। और भी कहा है कि:—

भेदविज्ञानतः सिद्धा सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥

जितने भी सिद्ध—संसारसे रहित है वे सब भेदविज्ञानके निमित्तसे ही सिद्ध हुए है। और जितने संसारी प्राणी है वे सब नियमसे इस भेदज्ञानके न रहनेके कारण ही कर्मोंसे बंधते है।

धनधान्यादिक परिग्रहरूपी ग्रह जिसपर सवार है ऐसे मनुष्यके जो मिथ्यात्व हास्य वेद रति अरति शोक भय जुगुप्सा मान कोप माया लोभके निमित्तसे जिस किसी भी विषयमें परतन्त्रता उत्पन्न होकर प्रवृत्त हुआ करती है उसको क्रमसे छोडनेका उपदेश देते है:—

श्रद्धत्तेनर्थमर्थं हसनमवसरेप्यत्यऽगम्यामपीच्छ,—
त्यास्तेऽरम्योपि रम्येप्यहह न रमते दैष्टिकेप्येति शोकम् ।
यस्मात्तस्माद्बिभेति क्षिपति गुणवतोप्युद्धाति क्रोधदम्भा,—
नऽस्थानेपि प्रयुंक्ते ग्रसितुमपि जगद्वाष्टि सङ्ग्रहार्तः ॥ १०७ ॥

परिग्रहका अभिनिवेश—ममकार अहंकाररूप परिणाम भूतावेशके समान है। इससे पीडित या आक्रान्त हुआ मनुष्य अतत्त्वभूत पदार्थका भी श्रद्धान करने लगता है। प्रमाणसिद्ध हेय और उपादेयरूप तथाभूत वस्तु को अर्थ कहते है। जो छोडने योग्य निश्चित है उसको हेय और जो ग्रहण करने योग्य निश्चित है उसको उपादेय कहते है। परिग्रहरूपी ग्रहसे संक्लिष्ट हुआ पुरुष अर्थको अनर्थ और अनर्थको अर्थ समझकर श्रद्धान करने लगता है। तत्त्वभूत पदार्थमें भी अतत्त्वभूतकी तरह रुचि नहीं करता और अतत्त्वभूतमें भी तत्त्वभूतकी तरह रुचि करने लगता है। जो धनधान्यादिक आत्माका हित सिद्ध करनेमें विल्कुल भी उपयोगी नहीं है उनमें परिग्रहपीडित मनुष्य इतनी रुचि करने लगता है और ऐसा रत होजाता है कि जिससे वह अपने स्वामीका धनलवसे खरीदा हुआ गुलाम जैसा बनजाता है। यदि स्वामी नाचता है तो आप भी नाचता है और यदि स्वामी भागता है तो आप भी उसके साथ परिकर लेकर और पसीनामें सराबोर होकर खूब भागने लगता है। यदि स्वामी किसी निर्दोष गुणी पुरुषकी निन्दा करता है तो आप भी निंदा करता है। स्वामी हसता है तो आप भी ह-

सता है। स्वामी रोता है तो आप भी रोने लगता है और डकराता है तो आप भी डकराने लगता है[2]। मतलब यह कि धनको आत्महित समझकर उसके प्राप्त करनेकी तीव्र लालसासे परिग्रहसंज्ञामें रत हुआ प्राणी धनपतिकी स्वच्छन्दताका भी अनुवर्तन करनेमें रत होजाया करता है।

यह मिथ्यात्वका—अतत्त्वभूत पदार्थमें तत्त्वभूतकी तरह रुचि करनेका एकमात्र निदर्शन है। इसी प्रकार और भी समझने चाहिये, तथा हास्यादिक शेष अन्तरङ्ग परिग्रहोंके भी उदाहरणोंको स्वयं समझलेना चाहिये। अत एव हास्यादिक परिग्रहोंके कार्यमात्रको ही यहांपर दिखाते हैः—

हास्य कषायसे पीडित हुआ मनुष्य अवसरकी तो बात ही क्या, विना अवसरके भी हसने लगता है, पुरुषवेदसे पीडित होकर सर्वथा अगम्य-गुरुपत्नी राजपत्नी मित्रपत्नी आदिकसे भी गमन करने लगता है। यदि तू मेरे साथ संभोग करे तो मै तुझको अमुक वस्तु दू, इस प्रकार लोभ दिये जानेपर उनका अभीष्ट सिद्ध करनेमें भी प्रवृत्त होजाता है। इसी प्रकार स्त्रीवेद और नपुसकवेदके विषयमें भी समझलेना चाहिये। रतिकषायसे पीडित मनुष्य भिल्लपल्ली आदि अमनोज्ञ स्थान या पदार्थमें भी प्रेम करने लगता है। और अरति कषायका उदय होनेपर राजधानी आदि रमणीय स्थान भी मनुष्यको रुचिकर नहीं होते। शोक नोकषायके उदयसे आक्रान्त होनेपर मनुष्य अहा, खेद है कि ऐसे विषयों या पदार्थोंमें भी शोक करने लगता है जिनमें कि केवल दैव ही प्रमाण है—जो केवल कर्मके उदयसे ही होजाया करते है। भयका उदय होनेपर चाहे जिस पदार्थसे मनुष्य डरने लगता है, चाहे वह भयका कारण

१—गला फाडकर चिल्लाना।

२–हसति हसति स्वामिन्युच्चै रुदत्यतिरोदिति,
गुणसमुदित दोषापेत प्रणिन्दति निन्दति।
कृतपरिकर स्वेदोद्गारि प्रधावति, धावति,
धनलवपरिक्रीत यन्त्र प्रनृत्यति नृत्यति ॥

हो चाहे न हो। जुगुप्साका उदय होनेपर दोषसहितकी तो बात ही क्या गुणविशिष्ट पुरुषमें भी जीव ग्लानि करने लगता है। इसी प्रकार मान क्रोध और मायाका उदय होनेपर मनुष्य अस्थान–गुरु आदिके विषयमें भी स्तब्धता करता और प्रतारणाका प्रयोग करने लगता है। लोभके उदयकी तो बात ही कहांतक कहें। इसके निमित्तसे तो जीव समस्त जगतको अपने पेटमें ही रखलेना चाहता है।

इस प्रकार ये अन्तरङ्ग भावरूप चौदह परिग्रह हैं जिनका कि साधुओंको त्याग करना चाहिये।

चेतन और अचेतन इस तरह दो प्रकारकी दुस्त्याज्यताका सामान्यरूपसे निरूपण करते हैं: -

प्राग्देहस्वग्रहात्मीकृतनियतिपरीपाकसंपादितेत,—
देहद्वारेण दारप्रभृतिभिरिमकैश्चामुकैश्चालयाद्यैः।
लोकः केनापि बाह्यैरपि दृढमबहिस्तेन बन्धेन बद्धो
दुःखार्तश्छेत्तुमिच्छन् निबिडयतितरां यं विषादाम्बुवर्षैः॥ १०८॥

शरीरमें आत्मत्व या आत्मीयताका अभिनिवेश या निश्चय करनेसे जो पूर्व जन्ममें नामकर्मका संचय अथवा बंध हुआ था उसके उदयसे वर्तमान भवमें जो शरीर प्राप्त हुआ है उसके द्वारा, आश्चर्य है कि बाह्य–आत्मासे असम्बद्ध भी इन कुत्सित प्रतीयमान स्त्रीप्रभृति और इसी प्रकार–दुःखकर ही अनुभवमें आनेवाले उन गृहादिक परिग्रहोंने इस संसारी बहिरात्मा प्राणीको किसी अलौकिक ऐसे बन्धनसे अन्तरङ्गमें दृढतासे बांध लिया है जिसका कि इन्हीं परिग्रहोंके द्वारा प्राप्त होनेवाले दुःखोंसे पीडित होनेपर छेदन करनेकी इच्छा रखते हुए भी वह प्राणी उसका छेदन नहीं करता बल्कि विषादरूपी जलका सिञ्चन कर उस बंधनको और भी अधिक दृढ बनालेता है।

भावार्थ—जीव जैसा विचार करता है वैसा ही उसको फल भी मिलता है। क्योंकि परिणामोंके अनुरूप ही कर्मोंका संचय और उनका फल हुआ करता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

अविद्वान् पुद्गलद्रव्य योभिनन्दति तस्य तत्।
न जातु जन्तो सामीप्य चतुर्गतिषु मुञ्चति ॥

जो अविवेकी पुद्गलद्रव्यकी प्रशसा करता है और उसको प्राप्त करना चाहता है उस प्राणीका वह चारो गतियोंमे कदाचित् भी साथ नहीं छोडता। क्योंकि जीव जिन पुद्गलोंको आत्मा या आत्मीय समझकर उनमें अभिनिवेश किया करता है वे ही उसके दीर्घ संसारके कारण हुआ करते है। जैसा कि कहा भी है कि:—

चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मान. कुयोनिषु।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥

जिनके हृदयमें आत्मासे असम्बद्ध पदार्थोंमें ममकार और आत्मसम्बद्ध पदार्थोंमें अहंकाररूपी निबिड अंधकार जाग्रत होजाता है या रहता है वे मूढात्मा कुयोनियोंमें चिरकालके लिये अच्छी तरह सोजाते है—निमग्न होजाते है। इसी प्रकार पूर्वभवमें शरीरमें आत्मत्वका अध्यवसाय करके जीवने जिस पुद्गलविपाकी नामकर्मका उपार्जन किया था उसीके उदयसे वर्तमानमें जो शरीर प्राप्त हुआ उसीके द्वारा स्त्रीपुत्रादिक कुटुम्बी जन तथा गृहादिरूपी बाह्य परिग्रहोंने उस बहिर्बुद्धि प्राणीको अति दृढरूपसे किसी अलौकिक बंधनद्वारा बांधलिया है। क्योंकि शरीरके द्वारा अथवा उसके निमित्तसे ही समस्त बन्ध और तज्जनित दुःख हुआ करते है। यह आश्चर्यकी बात है कि आत्मासे अत्यंत भिन्न रहनेपर भी इन परिग्रहोंने भीतरसे आत्माको बांधलिया है। जिसने जीवको अपने साथ गाढरूपसे नियंत्रित कर रक्खा है वह बंधन भी ऐसा अलौकिक है कि जिसको काटनेकी इच्छा रखते हुए भी वह प्राणी उलटा उसको दृढ बना देता है। जिस प्रकार लोकमे रस्सी आदिक बंधन पानीके निमित्तसे अधिक

हो चाहे न हो । जुगुप्साका उदय होनेपर दोषमहितकी तो बात ही क्या गुणविशिष्ट पुरुषमे भी जीव ग्लानि करने लगता है । इसी प्रकार मान क्रोध और मायाका उदय होनेपर मनुष्य अस्थान-गुरु आदिके विषयमें भी स्तब्धता क्रूरता और प्रतारणाका प्रयोग करने लगता है । लोभके उदयकी तो बात ही कहांतक कहे। इसके निमित्तसे तो जीव समस्त जगतको अपने पेटमे ही रखलेना चाहता है ।

इस प्रकार ये अन्तरङ्ग भावरूप चौदह परिग्रह है जिनका कि साधुओंको त्याग करना चाहिये।

चेतन और अचेतन इस तरह दो प्रकारकी. दुस्त्याज्यताका सामान्यरूपसे निरूपण करते हैः -

प्राग्देहस्वग्रहात्मीकृतनियातिपरीपाकसंपादितैत,—
देहद्वारेण दारप्रभृतिभिरिमकैश्चामुकैश्चालयाद्यैः ।
लोकः केनापि बाह्यैरपि दृढमबहिस्तेन बन्धेन बद्धो
दुःखार्तश्छेत्तुमिच्छन् निबिडयतितरां यं विषादाम्बुवर्षैः ॥ १०८ ॥

शरीरमें आत्मत्व या आत्मीयताका अभिनिवेश या निश्चय करनेसे जो पूर्व जन्ममें नामकर्मका संचय अथवा बंध हुआ था उसके उदयसे वर्तमान भवमें जो शरीर प्राप्त हुआ है उसके द्वारा, आश्चर्य है कि बाह्य-आत्मासे असम्बद्ध भी इन कुत्सित प्रतीयमान स्त्रीप्रभृति और इसी प्रकार-दुःखकर ही अनुभवमें आनेवाले उन गृहादिक परिग्रहोंने इस संसारी बहिरात्मा प्राणीको किसी अलौकिक ऐसे बन्धनसे अन्तरङ्गमें दृढतासे बांध लिया है जिसका कि इन्हीं परिग्रहोंके द्वारा प्राप्त होनेवाले दुःखोंसे पीडित होनेपर छेदन करने की इच्छा रखते हुए भी वह प्राणी उसका छेदन नहीं करता बल्कि विषादरूपी जलका सिञ्चन कर उस बंधनको और भी अधिक दृढ बनालेता है ।

भावार्थ—जीव जैसा विचार करता है वैसा ही उसको फल भी मिलता है। क्योंकि परिणामोंके अनुरूप ही कर्मोंका संचय और उनका फल हुआ करता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

अविद्वान् पुद्गलद्रव्य योभिनन्दति तस्य तत् ।
न जातु जन्तो सामीप्य चतुर्गतिषु मुञ्चति ॥

जो अविवेकी पुद्गलद्रव्यकी प्रशसा करता है और उसको प्राप्त करना चाहता है उस प्राणीका वह चारो गतियोंमें कदाचित् भी साथ नही छोडता। क्योंकि जीव जिन पुद्गलोंको आत्मा या आत्मीय समझकर उनमें अभिनिवेश किया करता है वे ही उसके दीर्घ संसारके कारण हुआ करते है। जैसा कि कहा भी है कि:—

चिर सुषुप्तास्तमसि मूढात्मान कुयोनिषु ।
अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥

जिनके हृदयमें आत्मासे असम्बद्ध पदार्थोंमें ममकार और आत्मसम्बद्ध पदार्थोंमें अहंकाररूपी निबिड अधकार जाग्रत होजाता है या रहता है वे मूढात्मा कुयोनियोंमे चिरकालके लिये अच्छी तरह सोजाते है—निमग्न होजाते है। इसी प्रकार पूर्वभवमें शरीरमे आत्मत्वका अध्यवसाय करके जीवने जिस पुद्गलविपाकी नामकर्मका उपार्जन किया था उसीके उदयसे वर्तमानमें जो शरीर प्राप्त हुआ उसीके द्वारा स्त्रीपुत्रादिक कुटुम्बी जन तथा गृहादिरूपी बाह्य परिग्रहोंने उस बहिर्बुद्धि प्राणीको अति दृढरूपसे किसी अलौकिक बंधनद्वारा बांधलिया है। क्योंकि शरीरके द्वारा अथवा उसके निमित्तसे ही समस्त बन्ध और तज्जनित दुःख हुआ करते है। यह आश्चर्यकी बात है कि आत्मामे अत्यंत भिन्न रहनेपर भी इन परिग्रहोंने भीतरसे आत्माको बांधलिया है। जिसने जीवको अपने साथ गाढरूपसे नियंत्रित कर रक्खा है वह बंधन भी ऐसा अलौकिक है कि जिसको काटनेकी इच्छा रखते हुए भी वह प्राणी उलटा उसको दृढ बना देता है। जिस प्रकार लोकमें रस्सी आदिक बंधन पानीके निमित्तसे अधिक

मजबूत होजाता है उसी प्रकार विषादरूपी जलका सिञ्चन होजानेसे—छींटा लगजानेसे अलौकिक बंधन भी दृढ होजाता है। क्योंकि देखते है कि अज्ञानी जन जब स्त्री आदिके निमित्तसे उपस्थित होनेवाले दुःखोंसे पीडित होते है तब वे उनको कदाचित् छोडना चाहते हैं किंतु उनके विरहसे उन्हे ऐसा विषाद होता है कि जिसके निमित्तसे वे और भी अधिक तीव्र असाता वेदनीय कर्मका बंध करलेते है जो कि आधिक दुःखका ही कारण होता है। अत एव ममकार या अहंकाररूप परिग्रहका बंधन ही जीवोंके लिये दुःखका मूल है। ऐसा समझकर अन्तरङ्ग परिग्रहोंकी तरह बाह्य परिग्रहोंका भी त्याग ही करना चाहिये।

बाह्य परिग्रह चेतन और अचेतन इस तरह दो प्रकारका जो बताया है उसमें चेतन परिग्रहको पृथक् विभक्त करके सोलह पद्योंमें उसके दोष बताना चाहते हैं। किंतु उसमें भी पहले पांच पद्योंमें स्त्री परिग्रहके दोषोंका वर्णन करते है। क्योंकि अत्यंत गाढ रागका निमित्त स्त्री ही होती है—

वपुस्तादात्म्येक्षामुखरतिसुखोत्कः स्त्रियमरं,
परामप्यारोप्य श्रुतिवचनयुक्त्यात्मनि जडः।
तदुच्छ्वासोच्छ्वासी तदसुखसुखासौख्यसुखभाक्,
कृतघ्नो मात्रादीनथ परिभवत्याः परधिया ॥ १०९ ॥

बहिरात्मबुद्धि मूढ प्राणी शरीरके साथ अपनी आत्माका तादात्म्य समझता है। अतएव वह शरीर और आत्मा दोनोंको एक रूपमें ही देखता है। वह समझता है कि मेरा आत्मा ही शरीर है और शरीर ही आत्मा है, दोनो भिन्न वस्तु नहीं है। इस विपरीताभिनिवेशरूप शरीर और आत्मामें होनेवाले एकत्व प्रत्ययके द्वारा ही यह अज्ञानी जीव रति-मैथुन कर्मसे उत्पन्न होनेवाले सुखमें सदा उत्सुक रहा करता है। यही कारण है कि वह आत्माकी तो बात ही क्या, शरीरसे भी सर्वथा भिन्न—अत्यंत अर्थान्तररूप स्त्रीका श्रुतिवचन-वेदवाक्योंकी

युक्तिसे अपनी आत्मामें आरोपण कर एकताका प्रत्यय करलेता है। क्योंकि ब्राह्मण लोग वैदिक मन्त्रोंके द्वारा विवाहसमयमें स्त्री और पुरुषके एकत्वका समर्थन किया करते हैं। इस योजनाके अनुसार ही मिथ्यादृष्टि लोग अपनेमें ही स्त्रीका संकल्प करके उसमें इतने अत्यंत आसक्त होजाते हैं कि उसके उच्छ्वासके साथ ही उच्छ्वास लेने और उसके दुःखमें दुःख और सुख में सुखका ही अनुभव किया करते हैं। स्त्रीका उच्छ्वास बंद हो जाने-पर—उसके मरजानेपर आप भी मर जाते और उसके ऊपर विपत्तियां संक्लेश उपस्थित होनेपर अपनेको विपन्न या संक्लिष्ट समझने लगते तथा सुख और शांतिसे युक्त देखकर अपनेको सुखी मानने लगते हैं। हाय! इस मिथ्या प्रत्ययके कारण यहांतक होता है कि वह मूढ स्त्रीको ही अपना सर्वस्व समझकर दूसरोंकी तो बात ही क्या, अपने मातापिता प्रभृति अत्यंत निकटवर्ती बंधुओं तथा गुरुजनोंमें भी परबुद्धि करके-उनको अपना विपक्षी समझकर और उनके प्रति कृतघ्न होकर—" इनने मेरा किया क्या है ? कुछ नहीं, मैं तो स्वयं अपने पुण्यबलसे ऐसा होगया हूं " यह समझ उनके किये हुए उपकारोंका भी अपलाप करके उनका तिरस्कार करदेता है।

भावार्थ--बाह्य चेतन परिग्रहोंमें एक स्त्री ही ऐसा परिग्रह है कि जिससे आत्मामें इतना तीव्र राग उत्पन्न होजाता है कि जिसके निमित्तसे उसमें कृतघ्नता जैसा महादोष भी आजाता है।

इस प्रकार स्त्रीपरिग्रहमें आसक्ति रखनेवाले पुरुषमें माता पिता आदिके तिरस्कारद्वारा उत्पन्न होनेवाले कृतघ्नता दोषको दिखाकर यह बताते हैं कि यह जीव उसके मरणका भी अनुगमन कर दुरन्त दुर्गतियोंके दुःखोंका भोग किया करता है। यह बात वचनभङ्गीके द्वारा प्रकट करते हैं: —

चिराय साधारणजन्मदुःखं पश्यन्परं दुःसहमात्मनोग्रे ।
पृथग्जनः कर्तुमिवेह योग्यां मृत्यानुगच्छत्यपि जीवितेशाम् ॥ ११० ॥

स्त्रीमें अत्यंत अनुराग रखनेवाला यह बहिरात्मा प्राणी यह देखकर कि अनन्तर जन्ममें मुझको चिरकाल

तक साधारण - निगोदपर्यायमे जन्मजानित अत्यंत उत्कृष्ट और ऐसे दुःख सहने पडेंगे जो कि दुःसह हैं–सहे नहीं जा सकते । अत एव मानो उनको सहनेका अभ्यास करनेके लिये ही वह अपनी प्राणाधिक प्रिया–वल्लभाके मरणका भी अनुवर्तन करता है– उसके मरनेपर आप भी प्राणपरित्याग करदेता है ।

भावार्थ--कितने ही रागी पुरुष स्त्रीके मरते ही उसके वियोगजनित दुःखको सह न सकनेके कारण अपने भी प्राण छोडदेते है । ऐसे जीव मरकर उस निगोद पर्यायको प्राप्त करते हैं जहांपर कि दूसरे साधारण दुःखोंकी तो बात ही क्या, जन्म मरण सम्बन्धी दुःसह दुःख चिरकालतक सहने पडते है ।

निगोदिया जीवोंका लक्षण पहले बताया जा चुका है कि इस पर्यायमें भी जीवोंकी सब क्रियाएं साधारण–समान ही होती है । जब एक शरीरमे एक जीव जन्म ग्रहण करता है तब उसी शरीरमे उसी समय अनन्तानन्त जीव और भी जन्म ग्रहण करते है । इसी प्रकार जब उनमेंमे एक जीव आहार ग्रहण करता है तो बाकीके सब जीव आहार ग्रहण करते है और श्वासोच्छ्वास लेता है तो सब श्वासोच्छ्वास लेते तथा एक मरता है तो सब मर-जाते है । इसी साधारण निगोदपर्यायके दुखोंको सहनेका स्त्रीपरिग्रही कामी पुरुष अपनी प्रेयसीके मरणका अनुकरण करके मानों अभ्यास करता है । इस प्रकार उत्प्रेक्षा अलंकारके द्वारा स्त्रीपरिग्रहका फल दुर्गतियोंके दुरन्त दुःखोंका भोग करना ही बताया है ।

संभोग और विप्रलम्भ शृङ्गारके द्वारा स्त्रियां मनुष्योंके पुरुषार्थको नष्ट करदेती है । अत एव उनकी इस शक्तिपर उपालम्भ प्रकट करते हैः---

---

१—" साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहण च ।
साहारणजीवाण साहारणलक्खण भणिय ॥
जत्थेक्क मरदि जीवो तत्थ दु मरण हवे अणताण ।
चकमइ जत्थ एक्को चक्कमण तत्थणताण ॥ "

प्रक्षोभ्यालोकमात्रादपि रुजति नरं यानुरज्यानुवृत्त्या,
प्राणैः स्वार्थापकर्षं कृशयति बहुशस्तन्वती विप्रलम्भम् ।
क्षेपावज्ञाशुगिच्छाविहतिविलपनाद्युग्रमन्तर्दुनोति,
प्राज्यागन्त्वामिषादामिषमपि कुरुते सापि भार्याऽह हार्या ॥ १११ ॥

स्त्रियां केवल अपने स्वरूपको दिखा करके ही मनुष्योंको क्षुब्ध कर—उनके हृदयको अच्छी तरह चंचल बनाकर संतप्त-पीडित किया करती है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पूर्वानुरागके द्वारा स्त्रियां पुरुषोंको प्रचुर दुःखका कारण ही होती है। क्योंकि पूर्वानुरागका स्वरूप ही ऐसा है। कहा है कि:—

स्त्रीपुंसयोर्नवालोकादेवोल्लसितरागयो ।
ज्ञेय पूर्वानुरागोयमपूर्णस्पृहयोर्दृशो ॥

जहांपर स्त्री और पुरुषका परस्परमें नवीन दर्शन होते ही दोनोंके हृदयमें रागका उद्रेक हो जाता है और दोनों ही की परस्परमें देखनेकी स्पृहा पूर्ण नहीं हो पाती—अपूर्ण ही रहजाती है वहांपर पूर्वानुराग समझा जाता है। यह विप्रलम्भ शृङ्गारका ही एक भेद है। यथा—

पूर्वानुरागमानात्मप्रवासकरुणात्मक ।
विप्रलम्भश्चतुर्धा स्यात् पूर्वपूर्वो ह्यय गुरु ॥

विप्रलम्भ शृङ्गार चार प्रकारका है—पूर्वानुराग, मान, प्रवास, और करुणा। इनमें पहला पहला भेद अधिक अधिक तीव्र है। करुणासे प्रवासमें, प्रवाससे मानमें, और मानसे पूर्वानुरागमें रागकी तीव्रता अधिक रहा करती है।

अतएव स्पष्ट है कि पहले तो पूर्वानुरागके द्वारा ही पत्नी पुरुषको क्लेश उपस्थित करती है। और पीछे

पतिकी इच्छानुसार चलकर उसको अपने ऊपर इस तरहसे अनुरक्त करके कि जिससे उसके स्वार्थका अपकर्षण हो जाय–वह धर्मादिक पुरुषार्थोंसे च्युत हो जाय, बल इन्द्रिय आयु तथा उच्छ्वासरूप प्राणोंसे भी उसको कृश बना देती है—उसको सुख नही देती, सुखा देती है। इससे यह बात भी मालुम हो जाती है कि संभोग शृङ्गारके द्वारा भी स्त्रियां पुरुषोंके हितमें बाधक ही होती हैं। क्योंकि देखते है कि कामी पुरुषोंसे कामिनियां एकान्तमें उनकी इच्छानुसार व्यवहार कर यथेष्ट चेष्टा कराया करती है। यथा—

यद्यदेव रुरुचे रुचितेभ्य· सुभ्रुवो रहसि तत्तदकुर्वन्।
आनुकूलिकतया हि नराणामाक्षिपन्ति हृदयानि रमण्य ॥

प्रिय पतियोंको जो जो विषय रुचिकर मालुम पडा सुन्दरियोंने वही वही एकान्तमें पूरा किया। क्योंकि अनुकूल व्यवहार करके रमणियां नियमसे पतियोंके हृदयोंपर अधिकार करलिया करती है।

इसी प्रकार जो स्त्रियां धिक्कार अनादर शोक इच्छाविघात विलाप और उत्कण्ठा प्रभृति भावोंसे उग्र–असह्य विप्रलम्भ–प्रणयभङ्ग या ईर्ष्यादिकसे उत्पन्न होनेवाले मान अथवा प्रवासरूप शृङ्गारको बढाकर अच्छी तरहसे मनुष्योंके हृदयको पीडित किया करती है। तथा शत्रुप्रहारादिक प्रचुर आगन्तुक दुःखरूपी मांसभक्षक राक्षसोंका विषय या ग्रास बनादेती है। यह कितने आश्चर्य और खेदकी बात है कि कामी पुरुष फिर भी उन भार्याओंको आर्या कहते हैं अथवा उनको हार्या–अनुरञ्जनीया समझते है। जैसा कि कहा भी है कि—

वाग्मी सामप्रवणश्चाटुभिराराधयेन्नरो नारीम्।
तत्कामिना महीयो यस्माच्छृङ्गारसर्वस्वम् ॥

वचनकुशल और सान्त्वनामें प्रवीण पुरुषको चाटुकार—खुशामदसे भरे हुए शब्दोंके द्वारा स्त्रियोंका आराधन करना चाहिये। क्योंकि कामियोंके लिये शृङ्गारका सर्वस्व यह आराधन ही महनीय या सेव्य विषय है।

भावार्थ—हाय, यह कितने दुःख और आश्चर्यकी बात है कि जो, पूर्वानुराग, सभोग और विप्रलम्भ तीनो ही प्रकारसे मनुष्यको क्रमसे सतप्त कृश और अन्तरङ्गमें पीडित किया करती है उसको मनुष्य उल्टा हार्या और आर्या समझता है। इसके संयोगसे मनुष्य आयु बल इन्द्रिय आदिकसे रिक्त होजाता है और वियोग होनेपर अन्तरङ्गमें पीडित हो विलापादिक करने लगता है; यह बात शास्त्र और लोक दोनो ही में प्रसिद्ध है। यथा—

स्निग्धा' श्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना,
वाता. शीकरिण' पयोदसुहृदामानन्दकेका: कला:
काम सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोस्मि सर्वं सहे,
वैदेही तु कथ भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥

इधर आकाशमें स्निग्ध मेघ छाये हुए हैं जिनमें कि बगुलोंकी पङ्क्ति उडरही है और उनकी शामल कान्तिसे आकाश आच्छन्न हो रहा है, और इधर जिसमें छोटे छोटे जलकण मिले हुए है ऐसी वायु वह रही है और मयूरोंकी आनन्दध्वनि हो रही है। ये सब कलाएं यथेष्ट—अच्छी तरहसे हों–मुझे इनकी कुछ भी परवाह नहीं है। क्योंकि मेरा हृदय अत्यंत कठोर है, मै रामचन्द्र हू, सब कुछ सह सकता हू। किंतु हाय हाय इस समय वैदेही किस तरहसे होगी। हा देवि! धीर रहना धैर्यसे काम लेना।

और भी कहा है कि:—

हारो नारोपित' कण्ठे स्पर्शविच्छेदभीरुणा।
इदानीमन्तरे जाता पर्वता सरितो द्रुमा ॥

परस्परके आलिङ्गनमें कही जरा भी अन्तर न पडजाय इस लिये मैने गलेमें हार तक नहीं पहराया था पर अब हम दोनोंके बीचमें हाय, कितने पर्वत नदी और वृक्षतक पडे हुए है।

इसी प्रकार आक्षेप अवज्ञा शोक और उत्कण्ठा आदिक भावोंके भी उदाहरण तत्तत् महाकवियोंके ग्रन्थोंमें मिलते है। जिससे यह बात स्पष्ट होती है कि पत्नीका संयोग और वियोग दोनो ही दुःखजनक है। एवं च जो पत्नी हर तरहसे मनुष्यका अहित ही करती है, आश्चर्य है, कि, कामी पुरुप उसको आर्या किस तरह समझते है। क्योंकि गुणोंसे पूर्ण रहनेके कारण जिसका आश्रय लिया जाय उसको आर्या कहते है।

शृङ्गारके पूर्वानुरागादिक जो भेद बताये है उनके द्वारा स्त्रियां पुरुषोंको किस प्रकार पीडित किया करती है यह बात दृष्टान्तद्वारा क्रमसे स्पष्ट करते है

> स्वासङ्गेन सुलोचना जयमऽघाम्भोधौ तथाऽवर्तयत,
> स्वं श्रीमत्यऽनु वज्रजङ्घमऽनयद्भोगालसं दुर्मृतिम ।
> मानासद्ग्रहविप्रयोगसमरानाचारशङ्कादिभिः,
> सीता राममतापयत्क न पतिं हा साऽऽपदि द्रौपदि ॥ ११२ ॥

अकम्पन राजाकी पुत्री सुलोचनाने जयकुमार-मेघेश्वरको अपने रूपपर आसक्त करके पाप—दुःखोत्पादक व्यसनरूपी समुद्रके भवरमे ऐसा पटका जिससे कि उसको अर्ककीर्तिके साथ महान् युद्धमें प्रवृत्त होना पडा। यह बात महापुराणमें अच्छी तरह बताई गई है। यह इस बातका उदाहरण है कि स्त्रिया पूर्वानुरागरूपी विप्रलम्भ शृङ्गारके द्वारा किस प्रकार पुरुषोंको दुःखकी उत्पादक हुआ करती है। वज्रदन्त चक्रवर्तीकी पुत्री श्रीमतीने अपने साथ साथ अपने पति वज्रजङ्घको भी भोगोंमें अलस बनाकर–विषयसेवनकी आसक्तिसे अशक्त कर बहुत बुरी मृत्युको पहुचाया। जिस प्रासादमे दोनो ही विषयसेवनमें आसक्त होकर पडे थे उसमे केशोको सुगन्धित करनेवाली धूपका धुआं भरजानेसे दोनोंका ही कण्ठ रुकगया और वे बुरी तरह मृत्युको प्राप्त हुए। यह कथा भी महापुराणमे स्पष्टतया लिखी है। यह इस बातका उदाहरण है कि संभोगसुखके द्वारा भी स्त्रियां

किस प्रकार पुरुषोंको दुःखकी उत्पादक हुआ करती है। सीताने रामचंद्रको भी कुछ कम दुःख नहीं दिया था। पहले तो प्रणयमङ्गजनित मानश्रृंगारके द्वारा और फिर युद्धमें प्रवृत्त लक्ष्मणकी पराजयका निवारण करनेकेलिये जो उसके पास जानेका रामचन्द्रजीसे उसने असद्ग्रह—दुरभिनिवेश किया उससे क्या रामचन्द्रको कुछ कम दुःख हुआ। तथा रावणद्वारा हरण होजानेपर जो वियोगजनित दुःख हुआ और उसकी प्राप्तिकेलिये रावणसे युद्ध करनेमें जो क्लेश उठाना पडा तथा लङ्केश्वरके साथ उपभोगकी संभावनासे जो मानसिक पीडा हुई वह क्या कुछ कम थी। अनाचारकी शंकासे अग्निपरीक्षा करनेपर जब सीताकी दिव्य शुद्धिकी प्रसिद्धि होगई तब जो रामचंद्रजीका अपमान हुआ उससे क्या उन्हे कुछ कम दुःख हुआ। अंतमें जब रामचद्रजी तपस्या कर रहे थे उस समय भी सीताके जीवने आकर उनके ऊपर घोर उपसर्ग किये ही थे। अत एव सीताने भी मान असद्ग्रह विरह संग्राम और अनाचारकी शंका तथा अपमान और उपसर्गादिक करके रामचन्द्रजीको कम संतप्त नहीं किया था। इनकी कथा रामायणमें प्रसिद्ध है। यह उदाहरण मान और प्रवासरूप विप्रलम्भ शृङ्गारके द्वारा स्त्रियां पुरुषोंको किस प्रकार दुःखकी उत्पादक हुआ करती हैं इस बातको प्रकाशित करता है। हाय, पञ्चाल राजाकी पुत्री द्रौपदीने तो अपने प्रिय पति अर्जुनको कौन कौनसी आपत्तिमें नहीं पटका था। उसे तो स्वयम्बरके समयमें ही हुए युद्धसे लेकर प्रायः सभी विपत्तियोंमें पडना पडा था। जिसकी कि कथा महाभारतमें प्रसिद्ध है। इस दृष्टांतसे पूर्वानुराग और प्रवासरूप विप्रलम्भद्वारा स्त्रियोंकी दुःखोत्पादकता स्पष्ट होती है।

भावार्थ—लौकिक अनुभव और शास्त्रीय उदाहरणोंसे यही बात सिद्ध होती है कि स्त्रीरूप चेतन परिग्रह रागी पुरुषोंको दुःखका ही कारण है।

स्त्रियोंकी रक्षा करना दुःशक्य है, इनके शीलभङ्ग हो जानेपर वडा भारी परिताप प्राप्त हुआ करता है। एवं वे सद्गुरुओंकी संगति करनेमें अन्तरायका कारण और परलोकके लिये उद्योग करनेमें प्रतिबन्धक हुआ

करती हैं। इस बातका निरूपण कर यह बात व्यक्त करते हैं कि इस तरहकी वल्लभाओंका मुमुक्षुओंको पहले से ही परिग्रहण न करना चाहिये।

तैरश्चोपि वधूं प्रदूषयति पुंयोगरतथेति प्रिया,—
सामीप्याय तुजेप्यऽसूयति सदा तद्विलत्रे दूयते।
तद्विप्रीतिभयान्न जातु सजाति ज्यायोभिरिच्छन्नपि,
त्यक्तुं सद्म कुतोपि जीर्यतितरां तत्रैव तद्यान्त्रितः ॥ १ ३ ॥

औरोंकी तो बात ही क्या कहें। अपने खास पुत्रसे भी लोक, यदि वह उनकी प्रिया — वल्लभाके निकट रहा करता हो तो असूया करने लगते है। वह चाहे जितना भी गुणी क्यों न हो अपनी प्रेयसीके निकट सहवास करनेके कारण उसमे रुष्ट हो लोक ईर्ष्यासे उसके गुणोंमे भी दोषोंका आरोपण किया करते है। और यह बात ठीक भी है; क्योंकि देखते हैं कि मनुष्योंकी तो बात ही क्या, तिर्यंच पुरुषोंका भी संयोग ब- धुओंको अच्छी तरह दूषित कर दिया करता है। जैसा कि प्रभंजन चरितादिक शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। प्रभं- जन चरित्रमें उस रानीकी कथा विदित है जो कि बन्दरपर आसक्त हो गई थी। इसी प्रकार लोकोंके हृद- यमें अपनी प्रियतमाका शीलभंग देखलेनेपर अथवा सुनलेनेपर सदा ही परिताप बना रहा करता है। वे नित्य ही उससे कुढते रहते है। तथा स्त्रीके निमित्तसे ही लोक इस भयमे कि कहीं प्रियाके प्रेमका भंग न हो जाय धर्माचार्यादिक गुरुजनोंकी भी संगतिमें नहीं रह सकता। वह सत्संगतिके फलमे वञ्चित रहता है। और किसी पुत्रवियोगादिक अगाढ कारणको पाकर घरका परित्याग करदेनेकी इच्छा करते हुए भी वह अपनी प्रियारूपी शृंखलामे जकडा रहनेके कारण उसको छोड नहीं सकता और घरमें पडा हुआ ही जरामे जर्जरित हो जाया करता है। इन सब बातोंको देख सुनकर विदग्ध पुरुष स्वयं ही ऐसा तात्पर्य समझ सकते हैं कि मुमुक्षुओंको पहलेसे ही स्त्रीका परिग्रहण न करना चाहिये। जसा कि कहा भी है कि—

प्रागेव शक्तोऽशक्तोऽन्त्ये त्यक्त्वा राज्य विपन्मयम् ।
धीर समाधिना मृत्वा भवाम्भोधे समुद्धरेत ॥

मनुष्य पहली अवस्थामें शक्त और अन्त्यभी अवस्थामें अशक्त रहा करते है। अत एव धीर पुरुषोंको पहली अवस्थामें ही विपत्तियोंसे भरे हुए राज्यको छोड देना चाहिये और अन्तमें समाधिपूर्वक मरण कर संसारसमुद्रसे पार हो जाना चाहिये।

इस प्रकार स्त्री परिग्रहके रागसे अन्धे हुए पुरुषोंके दूषणोंको प्रकट कर अब पुत्रमोहसे अन्धे हुओंके दोष बताते है: —

यः पत्नीं गर्भभावात्प्रभृति विगुणयन् न्यक्करोति त्रिवर्गं,
प्रायो वस्तुः प्रताप तरुणिमनि हिनस्त्याददाना धनं यः ।
मूर्खः पापो विपद्वानुपकृतिकृपणो वा भवन् यश्च शल्य,—
त्यात्मा वै पुत्रनामास्ययमिति पशुभिर्युज्यते स्वेन सोपि ॥ १४ ॥

जीव जब पिताके वीर्य और माताके रजको ग्रहण करलेता है तब उसको गर्भ कहते है। यथा:—

शुद्धे शुक्रार्तवे सत्त्व स्वकर्मक्लेशचोदित ।
गर्भ सपद्यते युक्तिवशादग्निरिवारणा ॥

अपने उपार्जित कर्मके उदयसे प्रेरित हुआ जीव जब शुद्ध रजवीर्यके पिंडमें आकर उपस्थित होता है तब उसको गर्भ कहते हैं। जिस प्रकार भस्मसे आच्छन्न अङ्गारमें अग्नि छिपी रहती है। इस स्वरूपके होजाने अथवा प्राप्त करनेको भी गर्भभाव कहते है। इस गर्भभावसे लेकर जबसे जीव माताके उदरस्थ रजवीर्यके पिण्डको ग्रहण कर

गर्भस्वरूपको प्राप्त करता है तभीसे वह भार्या—पिताकी पत्नी और अपनी जननीके शुभ शुभगता सौन्दर्य सौष्ठव आदि गुणोंका अपहरण करता हुआ पिताके अथवा मातापिता दोनोंके ही त्रिवर्गका-धर्म अर्थ काम इन तीन पुरुषार्थोंका भी ह्रास करदेता है। और प्रायः यौवन अवस्था प्राप्त करलेनेपर पिताके ग्राम सुवर्णादिक धनको छीन कर या लेकर प्रतापको भी नष्ट करदेता है—उसे निस्तेज बना देता है। कहा है कि: —

जाओ हरइ कलत्त वड्ढंतो वड्ढिमा हरइ।
अत्थ हरइ समत्थो पुत्तसमो वेरिओ णत्थि ॥

गर्भमें आते ही स्त्रीका, बढनेपर वृद्धिका और समर्थ होनेपर धनका अपहरण करनेवाले पुत्रकी बराबर वैरी कौन हो सकता है।

इसी प्रकार यदि वह मूर्ख-अज्ञानी हो, अथवा पापी—ब्रह्महत्या परदाराभिगमन सरीखे पातकोंमें प्रवृत्त हो, यद्वा व्याधि कारागृह आदि विपत्तियोंमें फस गया हो, अथवा मूर्खता या असामर्थ्यके कारण उपकार करनेमें कृपणता करता हो-अनुपकारी हो तो वह शरीरमें कांटेकी तरह हृदयके भीतर चुभा करता है। इस प्रकार जो पुत्र गर्भसे लेकर बडे होनेतक दुःखोंका देनेवाला और नाना प्रकारसे अपकार करनेवाला है उसकी भी मूढ—गृहस्थाश्रमके वास्तविक व्यवहारसे अनभिज्ञ पुरुष अपने साथ योजना—अपनी आत्माके साथ एकत्वकी कल्पना करते हैं। कहते हैं कि—यह-मेरे सामने उपस्थित तू, मैं ही हूं-हे पुत्र! तुझमें और मेरी आत्मामें कुछ भेद नहीं है। पुत्र इस नामकी अपेक्षासे ही तू साक्षात् मुझसे भिन्न है, स्वरूपसे नहीं। जातकर्ममें कहा है कि:—

अङ्गादङ्गात्प्रभवसि हृदयादपि जायसे।
आत्मा वै पुत्रनामासि सजीव शरद शतम् ॥

हे पुत्र! तू मेरे अङ्ग अङ्गसे उत्पन्न हुआ है। तेरे शरीरका प्रत्येक अङ्ग मेरे उसी उसी अङ्गसे बना

है। तू मेरे साक्षात् हृदयसे निकला है। अत एव यह स्पष्ट है कि पुत्र इस नामके सिवाय तुझमें और मेरी आत्मामें कुछ भी अन्तर नही है। अत एव हे हृदयके टुकडे! चिरंजीव! तू सैकडों वर्ष की आयु भोग।

मनुने भी इस विषयमें कहा है कि:—

पतिर्भार्यां सम्प्रविश्य गर्भो भूत्वा जायते।
जायायास्तद्धि जायात्व यदस्या जायते पुन ॥

पति ही भार्यामें प्रवेश कर और फिर गर्भ बनकर उत्पन्न हुआ करता है। जायाका जायापन ही यह है कि उसमें पति प्रवेश कर पुनः उत्पन्न होता है। अत एव पिता और पुत्रकी आत्मामें अन्तर नही है।

भावार्थ—पुत्रके साथ अपनी आत्माके अभेदकी कल्पना वे मूढ पुरुष ही करते है जो कि चेतन परिग्रहोंमें पुत्रके मोहसे अन्धे हो रहे है। उन्हे उसका वास्तविक स्वरूप ही नही दीखता। उनकी इस बातकी तरफ दृष्टि ही नही जाती और वे नहीं जानते कि वह एक ऐसी परिग्रह है जो कि उत्पन्न होनेके समयसे लेकर नित्य ही माता पिताको पीडित करती, क्लेश देती और हितसे पराङ्मुख कर संतप्त ही किया करती है।

पुत्रके विषयमें सांसिद्धिक नैसर्गिक और औपाधिक इस तरह दो प्रकारकी जो भ्रान्ति लगी हुई है उनको दूर कर मुमुक्षुओंको मोक्षके मार्गमें स्थापित करते है—उन्हे वास्तविक पुत्र किसको समझना चाहिये सो बताते हैं:—

यो वामस्य विधेः प्रतिष्कशतयाऽऽस्कन्दन् पितृञ्जीवतो,—
प्युन्मथ्नाति स तर्पयिष्यति मृतान्पिण्डप्रदाद्यैः किल।

इत्येषा जनुषान्धतार्य सहजाहार्याथ हार्या त्वया,
स्फार्यात्मैव ममात्मजः सुविधिनोद्धर्ता सदेत्येव दृक् ॥ ११५ ॥

प्रतिकूल विधि–बाधक दैव अथवा शास्त्रविरुद्ध विधान–आचरणका सहकारी बन कर जो जीवित-विद्यमान पिता पितामहादिकको कदर्थित कर–दुष्कर्मकी उदीरणा और तीव्र मोहकी उत्पत्तिसे पीडित कर शुद्ध चैतन्यरूप प्राणोंसे उन्हे वियुक्त करदेना है वह पुत्र उनके मरजानेपर उनको पिण्डदान जलतर्पण और ऋणशोधादिके द्वारा अच्छी तरह तृप्त करेगा ऐसी समझको अथवा इस आगमवाक्य या लोकोक्तिको भ्रांतिके सिवाय और क्या कहना चाहिये। हे आर्य! साधो! इस तरहकी नैसर्गिक अथवा आहार्य–दुरुपदेशजन्य जात्यन्धताको तू छोड दे। तुझको तो यह निश्चित श्रद्धान करना चाहिये कि मेरा यह आत्मा ही मेरा वास्तविक पुत्र है। क्यों कि नित्य सम्यक्चारित्रका पालन कराकर यही संसारसमुद्रसे मेरा उद्धार करनेवाला है।

भावार्थ—बहुतसे लोगोंके नैसर्गिक अथवा अज्ञानको फैलनेमें हस्तावलम्बन देनेवाले कदागमके आधारपर मिले हुए दुरुपदेशके निमित्तसे ऐसी भ्रांति बैठी हुई है कि पुत्र मरकर परलोकको गये हुए पितृ पितामहादिकको पिण्डदानादि कर्म करके तृप्त किया करता है। किंतु यह वास्तवमें भ्रांति ही है। क्योंकि जो पुत्र, चाहे वह विनयी हो चाहे अविनयी, जीवित पितादिकको तृप्त करना तो दूर रहा उल्टा क्लेश उपस्थित किया करता है और आत्महितसे दूर ही रखता है वह उनके मरनेपर क्या उन्हे कभी तृप्त कर सकता है? कभी नहीं। क्योंकि यदि पुत्र कदाचित विनयी हो तब तो वह अपने विषयमें मोहके ग्रहको पितादिकके ऊपर सवार कराकर उनसे परलोकके विरुद्ध आचरण कराता है। और यदि अविनयी हो तब तो वह दुःखों के देनेमें उन्मुख होकर पितादिकके दुष्कर्मोंकी उदीरणाका निमित्त हो ही जाता है। अतएव हे आर्य! इस परिग्रहको भी तू दुःखकर और आत्माके लिये अहितकर ही समझ और उसके विषयमें उक्त नैसर्गिक अथवा आपाधिक भ्रांतिको छोड। तथा अपनी उस आत्माको ही अपना पुत्र समझनेकी श्रद्धाको दृढ कर जो कि

सम्यक्चारित्रके द्वारा तेरा संसारसमुद्रसे उद्धार करदेनेवाला है।

जो प्राणी पुत्रियोंके मोहसे ग्रस्त रहते है उनका भी स्वार्थ नष्ट हो जाता है इस बातको खेदके साथ प्रकट करते है—

मात्रादीनामदृष्टद्रुघणहतिरिवाभाति यज्जन्मवार्ता
सौस्थ्यं यत्सप्रदाने क्वचिदपि न भवत्यन्वहं दुर्भगेव ।
या दुःशीलाऽरूला वा स्खलति हृदि मृते विप्लुते वा धवेऽन्त,—
यां दन्दग्धीह मुग्धा दुहितरि सुतवद् घ्नन्ति धिक् स्वार्थमन्धाः ॥११६॥

जिसके जन्मकी वार्ता-यदि कोई आकर कहे कि तुम्हारे लडकी हुई है तो यह समाचार मातापिताको ऐसा मालुम पडता है मानो अदृष्ट मुद्गरका आघात हो- मानो इसने हमारे ऊपर अदृष्ट मुद्गरका प्रहार ही किया है। तथा जन्मके बाद उसका दान यदि वर योग्य न मिले तो माता पिताके चित्तको चैन नही लेने देता। समीचीन शास्त्रोक्त विधिके अनुसार और प्रकर्षरूपसे जिसको कन्या दी जाय उसको संप्रदान कहते है। अत एव संप्रदान नाम वरयिताका है। इस वरयितामें कुल शील बल विद्या धनादिक जिन जिन गुणोंकी आवश्यकता है वे यदि उचित न मिले या तरतम रूपमें मिले तो उसका दान करते समय माता पिताके हृदयमें " हम योग्य स्थानमे अपनी कन्याको नियुक्त कर रहे है " ऐसा संतोष नही होता। उन्हे असंतोष या असफलताजनित क्लेश ही प्राप्त होता है जो कि जीवनपर्यन्त बना रहता है। इसके बाद यदि कदाचित् वह कन्या दुःशीला—व्यभिचारिणी अथवा निःसंतान हो तो वह भी दुर्भगा—अनिष्ट कन्याके ही समान मातादिकके हृदयमें दिनरात शल्यकी तरह खटक-

१— पूर्वसंचित दुष्कर्म अथवा दीखनेमें न आ सकनेवाला ।

ती रहती है; क्योंकि जिस कन्याको कुरूप या कुलक्षणादिकके कारण यदि कोई ग्रहण करना नहीं चाहता तो वह जिस प्रकार दुःखका ही कारण होती है उसी प्रकार व्यभिचारिणी और निःसंतान भी कन्या मातादिकके हृदयमें व्यथा ही उत्पन्न करनेवाली होती है। उस समय तो कन्या मातादिकको हृदयमें बहुत ही बुरी तरह और पुनः पुनः जलाया करती है जब कि उसका पति मर जाय, अथवा संन्यास लेजाय, यद्वा कहीं दूर देशको निकलकर चला जाय, अथवा ऐसा पति मिले जो कि त्रिवर्ग-धर्म अर्थ काम पुरुषार्थोंका साधन करनेमें असमर्थ हो। इस प्रकार कन्या भी माता पिताको पुत्रके ही समान अनेक प्रकारके दुःखोंके देनेमे मूल कारण है। फिर भी जो पुरुष उस कन्यामें मुग्ध रहते है— उसके ममत्त्वग्रहसे अन्धे हो जाते और तत्त्वस्वरूपको न देख सकनेके कारण अपने अभीष्ट प्रयोजन दुःखोच्छेदन और सुखप्राप्तिको नष्ट कर देते है, उन्हे धिक्कार है।

भावार्थ— पुत्रकी तरह कन्यारूप चेतन परिग्रह भी मनुष्योंको जन्मसे लेकर जबतक जीती है तब तक क्लेश ही देती है। फिर भी लोग उसमे मुग्ध होकर आत्मकल्याणसे पराङ्मुख रहते है। यह उनके अज्ञानका ही माहात्म्य है।

माता पिता आदि जितने बन्धु बान्धव है वे सब आत्माका अपकार ही करनेवाले है। अत एव उनकी वक्रोक्तिके द्वारा निन्दा करते हुए विपक्षियोंका अभिनन्दन करते है। क्योंकि उनके निमित्तसे पूर्वसंचित दुष्कर्मकी निर्जरा ही होती है; अत एव वे आत्माके उपकारी ही है:—

बीजं दुःखैकबीजे वपुषि भवति यस्तर्पसंतानतन्त्र,—
स्तस्यैवाधानरक्षाद्युपधिषु यतते तन्वती या च मायाम्।
भद्रं ताभ्यां पितृभ्यां भवतु ममतया मद्यवद् घूर्णयद्भ्यः,
स्वान्तं स्वेभ्यस्तु बद्धोञ्जलिरयमरयः पापदारा वरं मे ॥११७॥

जो तृष्णासंततिके अधीन होकर—निरंतर और बढती हुई गृद्धिके वशमें पडकर जो मेरे इस दुःखोंके एक मात्र—असाधारण कारण शरीरके उत्पन्न होनेमें बीजभूत है उस पिताका कल्याण हो। और इस शरीरके ही धारण - गर्भाधान तथा पालन पोषण और वर्धनादिक उपकरणोंमें ही जो मिथ्या मोहजालको बढाती हुई निरंतर प्रयत्न किया करती है उस माताका भी भला हो। ऐसे पिता माताको दूर ही से नमस्कार है जो कि दुःखोंके प्रधान हेतुको उत्पन्न करनेवाले और उल्टे उसीके पालन पोषणादिकमें मोहित बनानेवाले हैं। क्योंकि समस्त दुःखोंका मूल यह पिता माताने उत्पन्न हुआ शरीर ही है, यह बात स्पष्ट है। गुणभद्र स्वामीने भी कहा है "सर्वापदां पदमिदं जननं जनानाम्"। मनुष्योंका शरीर ही समस्त आपत्तियोंका स्थान है। जिन्होंने उत्तरोत्तर अधिकाधिक तृष्णासंततिके अधीन हो मेरेलिये यह अनंत दुःखोंकी खान तयार की है और उसीके रक्षणादिककी तरफ मुझे प्रवृत्त कर आत्महितसे पराङ्मुख कर दिया है ऐसे पिता माता मुझे नहीं चाहिये। किंतु मेरे और भी, अपने उन सभी बन्धुओंको हाथ जोडकर नमस्कार करता हूं और चाहता हूं कि मद्यके समान मोहित करनेवाले ममकारके द्वारा हिताहितके विचार—विवेकको नष्ट कर हृदयको सङ्क्लिष्ट अथवा विघूर्णित करदेनेवाले वे कोई भी बन्धुजन मुझे प्राप्त न हों। क्योंकि ये ऐसे अत्यंत दुष्ट हैं जो कि मोहित बनाकर आत्माको उसके वास्तविक हितसे वञ्चित रखते हैं। इन दुष्टोंको धिक्कार है। इनसे तो मेरे शत्रु ही भले, जिनके कि अपकारादिक करनेसे मेरा उपकार ही होता है। क्योंकि जब वे किसी प्रकारका अपकार करते या मुझको क्लेश देते हैं तो उनके उस व्यवहारसे मेरे पूर्वसञ्चित दुष्कर्मोंकी उदीरणा होजाती है और फलतः आत्माका हित ही होता है।

अधर्ममें प्रवृत्त करदेनेवाली दूसरोंके साथ की गई मित्रताकी निन्दा करते हैं:—

अधर्मकर्मण्युपकारिणो ये प्रायो जनानां सुहृदो मतास्ते ।
स्वान्तर्बहिःसततिकृष्णवर्त्मेंरस्त, कृष्णे खलु धर्मपुत्रः ११८

प्राय करके लोगोंके मित्र ऐसे ही हुआ करते हैं जो कि उनको अधर्मकर्म-पाप क्रियाओंमें ही प्रवृत्त करते तथा सहायक हुआ करते हैं। देखते हैं कि धर्मपुत्र युधिष्ठिरने अपनी अन्तरङ्ग संतती—निजात्माके लिये पापकर्मकी प्राप्तिके उपायभूत और बहिःसंतति—निज कुलके लिये—कृष्णवर्मा अग्निके समान—कौरव कुलका संहार करनेवाले कृष्णके साथ प्रीति की थी।

भावार्थ- जब धर्मपुत्रकी विष्णुके साथ की गई मित्रताने अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग अहित ही किया तब दूसरे साधारण लोगोंकी मित्रताका तो कहना ही क्या है। अत एव समस्त पुरुषार्थोंके मूल कारण धर्मका जो पुत्र है उसको इस मित्रतापर कभी विश्वास न करना चाहिये। जो अपने धर्मका अनुवर्तन करना चाहते हैं उन्हें उचित है कि अन्तरङ्ग-आत्मा और बाह्य—कुलादिककेलिये कृष्णवर्मा—पापमार्ग अथवा अग्निके समान समझकर इस लौकिक मित्रताको दूरहीसे छोडदें। क्योंकि यह हर प्रकारसे कृष्ण—काली ही है।

जो इस लोकमें संचयमें सहायता करनेवाले हैं वे सब मोहके ही उत्पन्न करनेवाले और बढानेवाले है अत एव उनकी त्याज्यता प्रकट करते हुए पारलौकिक कार्योंके साधनमें अवलम्ब देनेवाले मित्रोंका नीचली दशामें-सम्पूर्ण परिग्रहके छोडनेकी पूर्ण सामर्थ्य न होनेतक अनुसरण करनेका उपदेश देते हैं:—

निश्छद्म मेधति विपद्यपि संपदीव,
यः सोपि मित्रमिह मोहयतीति हेयः।
श्रेयः परत्र तु विबोधयतीति ताव-
च्छक्यो न यावदसितुं सकलोपि सङ्गः॥ ११९॥

संपत्तिके समयमें स्नेही मित्र बन्धु बान्धव तथा सहायक बननेवाले तो बहुत है। किंतु उनकी यहांपर चर्चा नहीं है। क्योंकि ऐसोंको संसारमें कोई मित्र भी नहीं कहता। परन्तु जो व्यक्ति संपत्तिकी तरह विपत्तिमें

भी–अनेक प्रकारके कष्ट उपस्थित होनेपर भी निष्कपटरूपसे स्नेह करता और अवलम्ब देता है उसीको लोकमें मित्र कहते है। तत्त्वदृष्टिसे यह भी आत्माको मोह ही उत्पन्न करता है। अत एव मुमुक्षुओंकेलिये वह भी त्याज्य ही है। फिर भी जबतक समस्त परिग्रहके छोडनेकी सामर्थ्य नहीं है तब तक उनको ऐसे सन्मित्रोंका आश्रय लेना चाहिये जो कि परलोकके विषयमें सहायता करनेवाले और आत्मा तथा शरीरके विशिष्ट भेदज्ञानको प्राप्त करानेवाले है।

जैसा कि कहा भी है कि:—

सङ्ग सर्वात्मना त्याज्यो मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभि ।
स चेत् त्यक्तु न शक्येत कार्यस्तर्ह्यात्मदर्शिभि ॥

मुमुक्षु मुनियोंको सङ्ग रखना सर्वथा वर्ज्य है। किन्तु जबतक वे उसको सर्वथा नहीं छोड सकते तबतक उन्हे आत्मदर्शियोंके साथ सङ्ग रखना चाहिये। और भी कहा है कि:—

सङ्ग सर्वात्मना त्याज्य स चेत् त्यक्तु न शक्यते ।
स सद्भि सह कर्तव्य सन्त सङ्गस्य भेषजम् ॥

वस्तुतः सङ्ग सर्वथा छोडदेनेके ही योग्य है। किंतु जब तक वह छोडा नहीं जा सकता तब तक सत्पुरुषोंके साथ सङ्ग करना या रखना चाहिये। क्योंकि सत्पुरुष सङ्गकी औषध है। सङ्गतिके निमित्तसे जो दोष उत्पन्न होते है वे सब सत्पुरुषोंके प्रसादसे दूर हो सकते हैं। अत एव वे आत्मकल्याणके सहायक है।

अत्यंत भक्तियुक्त भी भृत्य अकृत्य करानेमें ही अग्रेसर हो जाता है अत एव वह भी उपादेय नहीं है इस बातको दृष्टांतद्वारा बताते है:—

योतिभक्ततयात्मेति कार्यिभिः कल्प्यतेङ्गवत् ।
सोप्यकृत्येग्रणीर्भृत्यः स्याद्रामस्यांजनेयवत् ॥ १२० ॥

जिस प्रकार बहिरात्मबुद्धि मनुष्य अत्यंत श्लिष्ट रहनेके कारण शरीरमें मोहवश आत्मकल्पना करने लगता है, उसी प्रकार कार्य—स्वार्थमें तत्पर रहनेवाला मनुष्य अतिभक्ति-अत्यंत अनुराग रखनेके कारण जिसमें अपनी कल्पना करने लगता है—यह और मै दो नहीं है—जो यह है सो ही मैं हूं ऐसा समझने लगता है, ऐसा भी भृत्य अपने स्वामीसे, रामचंद्रके हनूमानकी तरहसे हिंसादि अकृत्य करानेमें अग्रणी बनजाता है।

भावार्थ— लोकमें जो स्वामीके प्रति भक्तिवश कार्यका अच्छी तरह संचालन करते है उन सेवकोंको लोग आत्मा रूप ही समझते है। किंतु जब ऐसे स्वामिभक्त भी सेवक समयपर स्वामीके आत्महितके विरुद्ध दुष्कृत्य करानेमें प्रधान कारण बनजाते है तब अभक्त सेवकोंकी तो बात ही क्या है। अत एव सेवकनामक चेतन परिग्रह-को भी आत्माका अहितकर ही समझ कर मुमुक्षुओंको उसका संग्रह न करना चाहिये।

दासी दास परिग्रहके ग्रहणसे भी मनमें संताप ही होता है यह बताते हैं:—

अतिसंस्तवधृष्टत्वादनिष्टे जाघटीति यत् ।
तद्दासीदासमृक्षीव कर्णाभ्याः कस्य शान्तये ॥ १२१ ॥

जो दासी और दास अत्यंत परिचय होजानेसे ढीठ होकर स्वामीके अनिष्ट-अनभिलषित भी कार्यके करनेमें पुनः पुनः प्रयत्न किया करते है क्या वे किसीको भी सुख या शांतिके कारण हो सकते है? कभी नहीं। कानके पासतक पहुंचा हुआ भालू क्या किसीके भी अनिष्टका निवारण कर सकता है? अतएव दासी दास परिग्रह भी अहितकर होनेके कारण त्याज्य ही है।

शिष्योंका शासन करनेमें अथवा उनको शिक्षादिक देनेमें भी जो कभी कभी क्रोधका उद्भव हो जाया करता है उसपर ध्यान दिलाते हैं—

य: शिष्यते हितं शश्वदन्तेवासी सुपुत्रवत् ।
सोप्यन्तेवासिनं कोप छोपयत्यन्तरान्तरा ॥ १२२ ॥

जिस शिष्यको सत्पुत्रकी तरहसे गुरुजन दिनरात हित—आत्मकल्याणकी शिक्षा दिया करते है, देखते है कि वह भी कभी कभी—बीच बीचमें इस चाण्डाल क्रोधका स्पर्श करादिया करता है।

भावार्थ—कभी कभी ऐसा भी होता है कि योग्य भी शिष्य गुरु आदिका विनयादिक करनेमें प्रवृत्त नहीं हुआ करता। ऐसे समयमें गुरुजनोंको भी कदाचित् क्रोधका उद्भव होजाता है। जिससे कि उनका अकल्याण ही होता है। अत एव शिष्य परिग्रह भी साधुओंकेलिये अमंगहणीय है। जिस प्रकार उच्च व उत्तम पुरुष चाण्डालका स्पर्श नहीं किया करते और न करना चाहते है, उस प्रकार साधुजन भी क्रोधादिकका स्पर्श नहीं किया करते और न करना चाहते है। किंतु शिष्यादिकका सम्बन्ध रहनेपर उसका स्पर्श होजाया करता है। अतएव मुमुक्षुओंके लिये शिष्यपरिग्रह भी त्याज्य ही है।

चतुष्पद परिग्रहका निषेध करते हैं—

द्विपदैरथ सत्संगश्चेत् किं तर्हि चतुष्पदैः ।
तिक्तमप्यामशान्नाशेर्नायुष्यं किं पुनर्घृतम् ॥ १२३ ॥

जब द्विपदों-मनुष्यादिकोंके साथ किया गया भी संग-संसर्ग असत्—अप्रशस्त—अत्यंत अपायका ही

कारण माना है या होता है तो चतुष्पदोंका तो कहना ही क्या है। इन हाथी घोडे आदिकोंका संसर्ग तो सुतरां दुःखका ही कारण होगा। दूषित और अपक रसके द्वारा जिसकी औदर्य अग्नि अभिभूत होगई है ऐसे मनुष्यको जब तिक्त द्रव्य—चिरायता नीम आदि भी आयुर्वर्धक जीवनकी स्थिरताके कारण अथवा स्वास्थ्यकर नहीं हो सकते तो घीका तो फिर कहना ही क्या है। क्योंकि तिक्त द्रव्य स्वभावसे ही आमका पाचक है। जब उसीसे किसी आमदूषित व्यक्तिको स्वास्थ्य लाभ नहीं हो सकता तो घीसे जो कि स्निग्ध शीत होनेके कारण उल्टा आमदोषका वर्धक है पथ्यलाभ हो ही किस तरह सकता है।

भावार्थ—द्विपद परिग्रहके दोष पहले बता चुके हैं। जब दो पैरवालोंमें इतने दोष है तो चार पैरवालोंमें कितने होंगे सो अच्छी तरह समझमें आसकता है। अतएव द्विपदोंकी अपेक्षा चतुष्पदोंको दूना-बहुतर दुःखकर समझकर मुमुक्षुओंको दूर ही से छोड देना चाहिये।

अचेतन परिग्रहकी अपेक्षा चेतन परिग्रह अधिक बाधा देनेवाला है यह बात बताते है—

यौनमौखादिसंबन्धद्वारेणाविश्य मानसम्।
यथा परिग्रहश्चित्त्वान् मश्नाति न तथेतरः ॥ १२४ ॥

योनिकी अपेक्षा अथवा मुखादिककी अपेक्षासे होनेवाले संबन्धके द्वारा जिस प्रकारसे चेतन परिग्रह मनुष्यके मनमें प्रवेश कर-उसके हृदयको अच्छी तरह आक्रांत कर पीडित किया करता है वैसा अचेतन परिग्रह नहीं करता।

भावार्थ—सहोदर बहिन भाई आदिका जो सम्बन्ध है वह योनिकी अपेक्षासे है और शिष्य तथा साध्यायी आदिका जो सम्बन्ध है वह मुखकी अपेक्षासे है। इसी प्रकार जन्यजनक पोष्यपोषक भोज्यभोक्तृत्व

आदि और भी अनेक सम्बन्ध हैं। चेतन परिग्रहके हृदयतक पहुंचनेका द्वार—उसमें ममत्वोत्पत्तिका कारण यह सम्बन्ध ही है। जब तक यह द्वार खुला हुआ है तबतक जैसा चेतन परिग्रह स्वयं हृदयतक पहुंचकर उसको पीडित कर सकता है या किया करता है वैसा अचेतन परिग्रह नहीं कर सकता। यही कारण है कि यहांपर चेतनके बाद अचेतन परिग्रहका निर्देश किया है। क्योंकि प्रायः जिस पदार्थसे जितना अधिक या निकट सम्बन्ध होगा वह पदार्थ उतना ही अधिक आत्माको पीडित करेगा और जितना दूर होगा वह उतना ही कम क्लेश उत्पन्न करेगा। जीवका जैसा चेतन परिग्रहोंके साथ साक्षात् सम्बन्ध होता है वैसा अचेतन परिग्रहके साथ नहीं। अचेतनके साथ परम्परा सम्बन्ध रहता है। अत एव चेतनकी अपेक्षा अचेतन परिग्रह कम बाधा दिया करता है।

चेतन परिग्रहके दोषोंका निरूपण करके क्रमानुसार अचेतन परिग्रहके दोषोंको दश पद्योंमें बताना चाहते हैं। जिनमें सबसे पहले घरके दोष दिखाते हैं। क्योंकि और बाकीके दोषोंका स्थान यह घर ही है:—

पञ्चशूनाद् गृहाच्छून्यं वरं संवेगिनां वनम्।
पूर्वं हि लब्धलोपार्थमलब्धप्राप्तये परम्॥ १२५॥

गृहस्थाश्रममें जो अवश्य ही करने पडते हैं ऐसे हिंसाके साधनभूत या स्थान अवद्य कर्मोंको शूना कहते हैं। इसके पांच भेद हैं—उखली, चक्की, चूल, जल, बुहारी। इन्ही कर्मोंके कारण मनुष्य गृहस्थ कहलाता और पूर्णतया मोक्षमार्गपर नहीं चल सकता। तथा इनके न रहते हुए मोक्ष प्राप्त कर सकता है। यथाः—

"कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भ प्रमार्जनी।
पञ्च शूना गृहस्थस्य तेन मोक्षं न गच्छति॥"

अतएव जो संवेगी—संसारसे भीरु और मोक्षके अभिलाषी हैं उनके लिये इन पांचो अवद्य कर्मोंसे

गुण घरकी ... गृह वन जाता। क्योंकि यद्यपि वह निश्चित स्थान है किन्तु निज स्थान तो नहीं है। और इसके सिवाय उस घरमें रहनेसे तो पास भी संवेग नष्ट हो जाता है। किंतु उस वनमें रहनेसे संवेगी-का संवेग बढता है। इतना ही नहीं किंतु अलब्ध जो अभी तक उन्हे कभी प्राप्त नहीं हो सका है ऐसा शुद्धात्मत-त्व प्राप्त हो जाता है।

गृहकार्यमें जो निरंतर विशेष रूपसे आसक्त रहनेवाले है उन्हे जो निरंतर दुःख प्राप्त हुआ करते है उनपर अपशोच प्रगट करते है:—

विवेकशक्तिवैकल्याद् गृहद्वन्द्वनिगह्वरे ।
मग्नः सीदत्यहो लोकः शोकहर्षभ्रमाकुलः ॥ १२६ ॥

जिससे हिताहितका विवेचन किया जा सकता है ऐसी विवेकशक्तिसे विकल रहनेके कारण हाय ये बहिर्दृष्टि लोक गृहस्थाश्रमके कार्यकलापरूप झगडेरूपी गहरे गड्ढेमें पडकर शोक और हर्षके चक्करसे व्याकुल रहकर व्य-र्थ ही खेदको प्राप्त हो रहे है।

भावार्थः—जिस प्रकार कीचडमें फसा हुआ कोई आदमी सामर्थ्यका प्रतिबन्ध होजानेसे अपनेको उससे अलग न करसकनेपर दुःखी हुआ करता है उसीप्रकार गृहरूपी गड्ढेमें फसा हुआ मनुष्य जिसके द्वारा वह उससे अपने को पृथक् कर सकता है ऐसी विवेकशक्तिका प्रतिबन्ध होजानेपर उसमें फसा हुआ ही चित्त—संक्लिष्ट रहा करता है। क्योंकि वह शोक हर्षके परिवर्तनसे व्याकुल होजाता है अथवा हर्ष विषाद और अंतमें उसका चित्त अस्थिर होजाता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

रतेररतिमायात पुना रतिमुपागत ।
तृतीय पदमप्राप्य बालिशो बत सीदति ॥

रतेररतिमायात' पुना रतिमुपागत ।
तृतीय पदमप्राप्य वालिशो वत सीदति ॥

ये अज्ञानी प्राणी रतिके नाद अरति ओर अरतिके नाद पुनः रतिको प्राप्त हो कर जो व्यर्थ ही क्लेश भोगरहे है उसका कारण यही है कि इन दोनोंके चक्करमे पडकर इन्होंने अभीतक तीसरे पदको प्राप्त नही किया है। राग द्वेपसे रहित उपेक्षातत्व—वीतराग अवस्थाको ये अभीतक प्राप्त नहीं कर सके है।

अथवाः—

वासनामात्रमेवैतत् सुख दु ख च देहिनाम ।
तथा ह्युद्वेजयन्त्येते भोगा रोगा इवापदि ॥

प्राणियोंकेलिये यह सुख है और यह दुःख यह केवल वासना-कल्पना ही है-विपयोंको सुखकर या दु खकर समझना भ्रम ही है; क्योंकि, देखते है कि आपत्तिमें ये सभी भोग रोगोंकी तरहसे प्राणियोको उद्विग्न -पीडित किया करते है।

क्षेत्र परिग्रहके दोप बताते हैः—

क्षेत्रं क्षेत्रभृतां क्षेममाक्षेत्रज्ञ्यं मृषा न चेत ।
अन्यथा दुर्गतेः पन्था बह्वारम्भानुबन्धनात ॥ १२७ ॥

क्षेत्रज्ञ कोई पदार्थ नही है इस सिद्धान्तको आक्षेत्रज्ञ्य कहते है। क्षेत्रज्ञ नाम आत्माका है। क्योंकि क्षेत्र शब्दका अर्थ शरीर होता है ओर उसके अनुभव करनेवालेको क्षेत्रज्ञ कहते है। बौद्धोंका सिद्धान्त है कि " जीव नामका कोई भी पदार्थ नही है "। इसी प्रकार चार्वाकोका सिद्धान्त है कि " गर्भसे लेकर मरण तक ही

जीव रहता है आगे नहीं "। इन दोनों ही सिद्धांतोंको आक्षेत्रज्य कहते हैं । इस प्रकार बौद्धोंका नैरात्म्यवाद यद्यपि कल्पित है किंतु यदि वह असत्य न होता तथा चार्वाकोंका भी आक्षेत्रज्य सिद्धांत कल्पित नहीं होता तो संसारी शरीरधारियोंके लिये यह क्षेत्र—धान्यादिकके उत्पन्न होनेका स्थान भी जरूर ही ऐहिक सुखसंपत्तियोंको उत्पन्न कर कल्याणका कारण हो जाता। किंतु यदि यह बात नहीं है और ये उक्त दोनों ही सिद्धान्त मिथ्या है तथा जीवपदार्थ शश्वत् रहनेवाला है तब तो इस क्षेत्र परिग्रहको नरकादिक दुर्गतियोंका ही कारण समझना चाहिये। क्योंकि इसके विषयमें अनेक प्रकारका बहुतसा आरम्भ पुनः पुन करना पडता है जिससे कि षट्कायिक जीवोंका घात ही होता है । खेतके जोतने सींचने निराने काटने आदिमें जो पापकर्मोंका अनुबंध होता और उससे हिंसा होती है उसीके निमित्तसे प्राणियोंको दुर्गतियोंका भोग करना पडता है ।

कुप्यादिक परिग्रहोंके निमित्तसे जो मनुष्यमें औद्धत्य आजाता है अथवा उसको आशाओंका अनुबन्धन हुआ करता है उसको बताते है --

य: कुप्यधान्यशयनासनयानभाण्ड,--
काण्डैकडम्बरिततांडवकर्मकाण्डः ।
वैतण्डिको भवति पुण्यजनेश्वरेऽपि,
तं मानसोर्मिजटिलोज्झति नोत्तराशा: ॥ ११८ ॥

कुप्य धान्य शयन आसन यान और भाण्ड इन परिग्रहोंके संघात—समूहसे अपने ताण्डव कर्मकाण्डको प्रकृष्टतया आडम्बरयुक्त बनानेवाला जो व्यक्ति धन और ऋद्धियोंके अधीश्वर—कुबेरका भी उपहास करने लगता है उस व्यक्तिको नाना विकल्पजालोंमे अन्वित उत्तराशा-भविष्यत् विषयोंके लिये बढती हुई तीव्र अभिलाषा छोड नहीं सकती।

भावार्थ—जो पुरुष अपनी धनसंपत्तिके गर्वमे उत्तरदिशाके अधिपति कुबेरका तिरस्कार करदेता है या करना चाहता है वह मानसरोवरकी लहरियोंसे पूर्ण उत्तर दिशाको भला किस तरह छोड सकता है। वह अवश्य ही कैलासके साथ साथ उत्तर दिशाको भी अधिगत करना चाहता है। इसी प्रकार कुप्यादिक परिग्रहोंके निमित्तसे जिसको अभिमान जागृत हो गया है और इसीलिये जो उन्हीके आडम्बर वढानेमे लीन रहता है वह व्यक्ति दूसरे बडे बडे सम्पत्तिशालियोंको भी अपने सामने तुच्छ समझने लगता है और इस तरहसे उनका उपहास किया करता है जैसे कि निरंतर ताण्डव नृत्यकी विचित्रता दिखानेके लिये अभिनय करनेवाले नटका बडे बडे शिष्ट पुरुष भी उपहास किया करते है। अथवा उपहास करनेके लिये ही—यह दिखानेकेलिये कि मेरी बराबर ऋद्धिधर कोई भी नहीं है; वह परिग्रहोंका आडम्बर वढाता है। क्या ऐसे पुरुषको कभी भी अनेक चिन्ताओंके जालसे युक्त अभिलाषाए छोड सकती है ? कभी नहीं। वह दिनरात भविष्यत्-अर्थको प्राप्त करनेकी आशासे चिन्तित ही रहा करता है। उसको कुप्य धान्य शयन आसन और यानादिकके संग्रह करनेकी चिन्ता लगी ही रहती है।

इस प्रकार इन परिग्रहोंके निमित्तसे अभिमान उत्पन्न होता और दूसरोंको तुच्छ समझनेकी बुद्धि जागृत होती तथा उनका आडम्बर वढानेकी चिन्ताओंसे संक्लेश परिणाम उत्पन्न हुआ करते है।

सोना और चांदीको छोडकर बाकीकी धातुओं अथवा वस्त्रादिक द्रव्योंको कुप्य कहते है। गेंहू चावल आदि अन्नको धान्य कहते है। पलग पालना आराम कुर्सी आदि सोनेके साधनोंको शयन[1] कहते है। मूंढा तख्त पट्टा सिंहासन कुर्सी बेंच आदि बैठनेके साधनोंको आसन[2] कहते है। पालकी पीनस तापझाम विमान आदि बैठकर जानेके साधनोंको यान कहते है। हींग मजीठ आदि मसाले अथवा किरानेके सामानको भाण्ड कहते है।

१–२ वस्तुत. इन शब्दोंका अर्थ ऐसा होता है कि जिसपर सोया जाय सो शयन और जिसपर बैठा जाय सो आसन। अत एव भूमि या पत्थरकी शिलाको भी शयन आसन कह सकते है।

धनमें गृद्धि रखनेवाले पुरुषकी महापापोंमें भी प्रवृत्ति होती है यह बताते हैं:—

जन्तून् हन्त्याह मृषा चरति चुरां ग्राम्यधर्ममाद्रियते ।
खादत्यखाद्यमपि धिग् धनं धनायन् पिबत्यपेयमपि ॥ १२९ ॥

ग्राम सुवर्ण आदिक धनकी अभिलाषा— तीव्र गृद्धि रखनेवाला मनुष्य क्या क्या अनर्थ नहीं करता? वह उसको प्राप्त करनेकी अभिलाषासे महान्से महान् पाप कर्ममें भी प्रवृत्ति करने लगता है। प्राणिवध असत्यभाषण और चौरकर्मका आचरण करता, ग्राम्यधर्म - मैथुनका भी सेवन करता, सर्वथा अभक्ष्य काकमांसादिकका भी भक्षण करने लगता और उच्चवर्ण तथा प्रशस्त कुलमें जिसका पीना सर्वथा निषिद्ध है ऐसे मद्यादिकका भी पान करने लगता है। जिस धनकी लिप्सासे मनुष्यकी इन हिंसा झूठ चोरी आदि सभी दुष्कर्मोंमें प्रवृत्ति होने लगती है उस धनको अथवा गृद्धिवश इन महापापोंमें प्रवृत्ति करनेवाले मनुष्यको धिक्कार है। मुमुक्षुओंको यह धनपरिग्रह महापापका ही कारण समझकर दूरहीसे छोडदेना चाहिये।

भूमिमें लुब्ध हुए पुरुषके जो अपाय और अवद्य-निन्द्यकर्म होते हैं उनको दृष्टांतद्वारा स्पष्ट करते हैं-

तत्तादृक्साम्राज्यश्रियं भजन्नपि महीलवं लिप्सुः ।
भरतोऽवरजेन जितो दुरभिनिविष्टः सतामिष्टः ॥ १३० ॥

उस पवित्र और लोकोत्तर साम्राज्यलक्ष्मी—समस्त चक्रवर्तीकी विभूतिको भोगते हुए भी जब प्रथम चक्रवर्ती भरतने पृथ्वीके एक छोटेसे हिस्से - केवल सुरम्य नामके देशको अपने छोटे भाई बाहुबलि कुमारसे लेकर अपने हस्तगत करना चाहा उस समय उस कुमारसे वह पराभवको ही प्राप्त हुआ और सत्पुरुषोंने भी उसको दुरभिनिवेशयुक्त ही समझा।

भावार्थ—नीतिमार्गको प्राप्त न करके केवल दूसरोंका पारिभव करनेके ही परिणामोंमे जो कार्यका आरम्भ किया जाता है उसको दुरभिनिवेश कहते है। भरत जब समस्त पृथ्वीका उपभोग कर रहा था तब उसको अपने छोटे भाईसे वह जरासा भूमिखण्ड भी छीन लेनेका आग्रह करना उचित नहीं था। फिर भी—नीतिमार्गका अनुसरण न करके केवल बाहुबलीको जीत लेनेके ही अभिप्रायसे जो उसने युद्धका आरम्भ किया वह उसका दुरभिनिवेश ही था। यह उसकी निन्द्य कर्ममें प्रवृत्ति केवल भूमिके लोभवश ही हुई। जिसका परिणाम यह हुआ कि वह अपने उस छोटे भाईसे युद्धमें परिभूत हुआ और जगत्में निन्दाका पात्र बना।

धन मनुष्यमें दीन वचन निर्दयता कृपणता तथा अनवस्थितचित्तता आदि दोषोंका उत्पन्न करनेवाला है अतएव इन दोषोंकी अपेक्षासे धनकी निंदा करते हैं—

श्रीमैरेयजुषां पुरश्चटुपटुर्देहीति ही भाषते,
देहीत्युक्तिहतेषु मुञ्चति हहा नास्तीतिवाग्घ्रादिनीम्।
तीर्थेपि व्ययमात्मनो वधमभिप्रैतीति कर्तव्यता,—
चिन्तां चान्वयते यदभ्यमितधीस्तेभ्यो धनेभ्यो नमः॥ १३१ ॥

धनके द्वारा आतङ्कको प्राप्त होगई है बुद्धि जिसकी ऐसा मनुष्य हाय मद मोह स्खलन आदिको उत्पन्न करनेवाली लक्ष्मीरूपी मदिराका सेवन करनेवाले धनिकोंको सामने खुशामद भरे शब्दोंके बोलनेमें अति चतुर बनकर " कुछ दो " इन दीन शब्दोंके बोलनेमें भी संकोच नहीं करता है। तथा " दो " इस अतिदीन शब्दका उच्चारण करते ही जो स्वयं आहत हो चुके है—प्रायः मरचुके हैं उनपर हाय हाय यह धनसे आतङ्कितबुद्धि मनुष्य " यहां कुछ नहीं है " ऐसा वचनरूपी वज्र ऊपरसे और भी पटक देता है। इसी प्रकार यह धनमें लोलुपता रखनेवाला मनुष्य, औरोंकी तो बात क्या, तीर्थोंमें भी हो जानेवाले या किये गये व्यय-

को अपना मरण मानने लगता है। धर्मके आयतन अथवा कार्यके साधक पुरुषोंको तीर्थ कहते हैं। अत एव तीर्थ दो प्रकारके हैं। एक धर्मसमवायी, दूसरे कार्य समवायी। इन दोनो ही प्रकारके तीर्थोंमें यदि द्रव्यका विनियोग होजाय तो वह कंजूस समझता है कि हाय मैं तो मरगया—मेरा धनरूपी प्राण तो निकल ही गया। तथा इसी प्रकार धनकी गृद्धिमे आकुलित रहनेवाला व्यक्ति निरंतर इतिकर्तव्यताकी चिंताओंसे ग्रस्त रहा करता है। मुझको यह कार्य इस प्रकारसे करना है और यह इस प्रकारसे करना है तथा इसके बाद अमुक कार्य करूंगा और उसके बाद अमुक कार्य करूंगा और उसको उस तरहसे करूंगा आदि अनेक प्रकारकी तर्कणाएं धनलुब्ध पुरुषके पीछे लगी ही रहती हैं।

भावार्थ—धनका लोभी पुरुष दिनरात चिन्ताओंसे संक्लिष्ट रहता और उसका संचय करनेमें ही लगा रहता है। वह सत्पात्रोंमें भी उसका विनियोग करना नहीं चाहता। यदि कदाचित् कोई अर्थी याचना करने आता भी है तो उसके ऊपर निषेधसूचक शब्द कहकर वह वज्र पटक देता है। गृद्धिवश जो याचना करनेमें प्रवृत्त होता है वह स्वयं अधमरा होजाता है, यथा—

गतेर्भङ्गः स्वरो दीनो गात्रस्वेदो महद्भयम्।
मरणे यानि चिन्हानि तानि चिन्हानि याचने॥

गतिमें स्खलन होना, स्वरमें दीनता आजाना, शरीरमें पसीना छूटना, और महान् भयका उत्पन्न होना आदि जो जो चिन्ह मरते समय होते है वे ही चिन्ह याचनाके समयमें भी हुआ करते हैं। किंतु इसपर भी जो लोग अर्थियोंको निषेध कर देते हैं उनकी गृद्धिका तो ठिकाना ही क्या है। इस प्रकार धनके निमित्तसे और अनेक दोषोंके सिवाय दैन्यभाषण निर्दयता कृपणता और अनवस्थितचित्तता ये चार महान् दोष भी उत्पन्न हुआ करते हैं।

धनके संचय रक्षण आदि करनेमें तीव्र दुःख ही उत्पन्न होता है अत एव उसकी प्राप्तिकेलिये उद्यम करनेका निषेध करते हैं:—

यत्पृक्तं कथमप्युपार्ज्य विधुराद्रक्षन्नरस्याजितः,
खे पक्षीव पलं तदर्थिभिरलं दुःखायते मृत्युवत।
तल्लाभे गुणपुण्डरीकमिहिकावस्कन्दलोभोद्भव,—
प्रागल्भीपरमाणुतोलितजगत्युच्चिष्ठते कः सुधीः ॥[1] १३२ ॥

किसी तरहसे एक मांसके टुकडेको पाकर उसकी विघ्न बाधाओंसे रक्षा करते हुए पक्षीको यदि दूसरे फलार्थी पक्षी आकाशमें उससे वियुक्त करदें—उससे वह मांसका टुकडा छुडादे तो उसको जिस प्रकार मृत्युके समान अत्यंत दुःख होता है इसी प्रकार जो मनुष्य धनमें तीव्र गृद्धि रखनेवाला है और अत्यंत कष्टोंसे किसी प्रकार धनका संचय करके उसकी अपायोंसे तथा कठिनताके साथ रक्षा कर रहा है। यह कष्टसे संचित किया हुआ धन किसी प्रकार नष्ट न हो जाय, चोरीमें न चला जाय, अथवा किसी प्रकार खर्च न होजाय इत्यादि अनेक अपायोंके विषयमें निरंतर सावधानी रखता है उस मनुष्यको यदि उस धनके अर्थी याचक या बन्धुबान्धव कदाचित् उससे वियुक्त करदे—उससे लेले या कहीं त्याग—दानादिक करादे तो उस लुब्धको ऐसा तीव्र दुःख होता है जैसा कि मृत्युके समय—प्राणोंका वियोग होनेपर हुआ करता है। यह धनका संचय जिस लोभकर्म—चतुर्थ कषायके उदयसे मनुष्य किया करता है वह पुण्डरीक—श्वेत कमलके समान हृदयको आल्हादित करनेवाले सम्यग्दर्शन प्रभृति प्रशस्त गुणोंकेलिये तुषार वर्षाके समान है। इस लोभोदयकी प्रकृष्टता—निरंकुश प्रवृत्तिके कारण ही जीव समस्त जगत्की—स्थावर जंगम संपत्तिके समूहरूप संपूर्ण लोककी भी परमाणुसे तुलना करने लगता है। तीन लोककी संपत्तिको भी गृद्धिवश अणुतुल्य ही समझता और इसीलिये उसके अर्जन रक्षणमें ही निरंतर लगा रहकर क्लेशोंको ही उठाया करता है। अत एव कहना पडता है कि ऐसा कौन मुमुक्षु अथवा विचारकुशल पुरुष होगा जो कि ऐसे लोभके उदयसे प्राप्त होनेवाले दुःखकर धनका संचय करनेकेलिये उद्यम करे।

१—आशागर्ते प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमं। कस्य किं कियदायाति वृथा वो विषयैषिता ॥

भावार्थ धनका अर्जन और रक्षण करनेमें मनुष्योंको तीव्र क्लेश ही उठाना पडता है अत एव उसकी प्राप्तिके लिये उद्यम करना व्यर्थ है।

बहिर्दृष्टि मनुष्योंको धनके अर्जन और भोजनसे ऐसा उन्माद होता है जिससे कि वे निःशंक होकर पापकर्म करनेमें प्रवृत्ति होते और मैथुनका भी सेवन करने लगते है। इन्ही धन और भोजन सम्बन्धी दोषोंको यहां प्रकट करते है:—

धनादन्नं तस्मादसव इति देहात्ममतयो,
मनुं मन्या लब्धुं धनमघमशङ्का विदधते।
वृषस्यन्ति स्त्रीरप्यदयमशनोद्भिन्नमदना,
धनस्त्रीरागो वा ज्वलयति कुजानप्यमनसः ॥ १३२ ॥

" सम्पूर्ण जीवोंके प्राणोंकी स्थिति अन्नमें ही रह सकती है। भोजनके विना कोई भी प्राणोंको स्थिर नहीं रख सकता। किंतु अन्न-भोजन भी प्राप्त होना धनपर निर्भर है। अत एव समस्त लोक और उसके व्यवहारका मूल धन ही है। " बस, ऐसा समझकर ही बहिर्दृष्टि लोक शरीरको ही आत्मा समझनेवाले विपरीत-बुद्धि जन अपनेको मनु—लोकव्यवहारके उपदेष्टा कुलकर मानने लगते और धनका उपार्जन करनेकेलिये निःशंक—परलोकादिकके भयसे रहित होकर पापकर्मोंमें भी प्रवृत्ति करने लगते है। और उन्होंने जिसको धनका फल समझ रक्खा है ऐसे भोजनके करनेपर जब उनके तीव्ररूपमें कामदेवका उद्रेक होता है तो निर्दय होकर स्त्रियोंमें पशुकर्म—रति करनेकेलिये प्रवृत्त होते है। अथवा यह बात ठीक भी है; क्योंकि देखते है कि अमनस्क वृक्षोंको भी यह धन और स्त्रीका राग जलाया करता है—धनका स्वीकार करनेकेलिये और स्त्रियोंके साथ प्रविचार करनेकेलिये उद्युक्त किया करता है। जैसा कि नीतिमें भी कहा है कि " अर्थोपभोगरहितास्तरवोऽपि साभिला-

पाः किं पुनर्मनुष्याः " । अर्थात उपभोगरहित वृक्ष भी जब धनमें अभिलाषा रखते हैं तब मनुष्योंकी तो बात ही क्या है। ऐसा देखते भी है कि यदि किसी वृक्षके मूलके पास धन गाढदिया जाय तो उसको उस वृक्षकी जटाएं वेष्टित करलिया करती हैं अथवा उधरको ही जडें अधिक बढा करतीं हैं। इसी प्रकार कामिनियोंके लिखना की अभिलाषा तो अशोकादिक वृक्षोंमें अच्छी तरह प्रसिद्ध ही है, जैसा कि कहा भी है कि:—

सन्नूपुरालक्तकपादताडितो द्रुमोपि यासां विकसत्यचेतन. ।
तदङ्गसस्पर्शरसद्रवीकृतो विलीयते यत्र नरस्तदद्भुतम् ॥

जिन स्त्रियोंके सुंदर नूपुर और महावरसे युक्त पैरसे ताडित होते ही अचेतन वृक्ष भी विकसित हो उठता है—खिलजाता है उन्ही स्त्रियोंके शरीरस्पर्शके रसके पिघलाये जानेपर भी मनुष्य विलीन न हो तो यह आश्चर्यकी बात है।

और भी कहा है कि:—

यासा सीमन्तिनीना कुरबकतिलकाशोकमाकन्दवृक्षा,
प्राप्योच्चैर्विक्रियन्ते ललितभुजलतालिङ्गनादीन्विलासान् ।
तासा पूर्णेन्दुगोर मुखकमलमल वीक्ष्य लीलालसाढ्य
को योगी यस्तदानीं कलयति कुशलो मानस निर्विकारम् ॥

जिन सीमन्तिनियोंके मनोज्ञ भुजलताओंके आलिंगन प्रभृति विलासोंको पाकर कुरबक तिलक अशोक और माकन्दवृक्ष भी अच्छी तरहसे विकारको प्राप्त होजाते है उनके लीलारससे भरे हुए और पूर्ण चन्द्रमाके समान गौरमुख कमलको अच्छी तरह देखकर ऐसा कौनसा कुशल योगी है जो कि अपने मनको निर्विकार प्रकाशित कर सके या रखसके।

उक्त गृहादिक परिग्रहोंमें लगी हुई ममत्वबुद्धिरूप मूर्च्छाके निमित्तसे आये हुए और उसके रक्षणादिके द्वारा संगृहीत पापकर्म अत्यंत दुर्जर हैं—ये बडी ही कठिनतासे आत्मासे सम्बन्ध छोडते हैं, इस बातको प्रकट करते हैं:—

तद्गेहाद्युपधौ ममेदमिति संकल्पेन रक्षार्जना,—
संस्कारादिदुरीहितव्यतिकरे हिंसादिपु व्यामजन् ।
दुःखोद्गारभरेषु रागविधुरप्रज्ञः किमप्याहर,—
त्यङ्घो यत्प्रखरेपि जन्मदहने कष्टं चिराज्जीर्यति ॥ १३४ ॥

गृहादिकोंमें लगी हुई तृष्णाके कारण अंधी या विपर्यस्त होगई है प्रज्ञा—बुद्धि जिसकी ऐसे गृहस्थके जो उन गृह क्षेत्रादिक उपधियों—परिग्रहोंमें ' ये मेरे हैं " ऐसा संकल्प लगा रहता है उसके कारण ही वह उनके रक्षण अर्जन तथा संस्कारादिके करनेमें निरंतर पुनः पुनः दुश्चेष्टाएं किया करता है। यदि ये परिग्रह—गृहादिक पहलेसे पासमें होते हैं तब तो ये नष्ट न हो जांय या अपने हाथसे चले न जांय इस बातकी सावधानी रखता है। और यदि पहलेसे प्राप्त नहीं होते तो उनके प्राप्त करनेकेलिये प्रयत्न किया करता है। तथा प्राप्त होजानेपर अनेक प्रकारसे उनका संस्कार किया करता है। कभी झाडता कभी सींचता कभी लीपता कभी पोतता और कभी उनकी मरम्मत करता है। इस प्रकार सदा उनके मक्षालनेमें ही लगा रहता है। और इन क्रियाओंके पुनः पुनः करनेमें जो दुःखोंके उद्गारसे अच्छी तरह भरे हुए हिंसादिक कर्म होते हैं उनमें अच्छी तरह और नाना प्रकारसे आसक्त होकर उस अनिर्वचनीय पापका संचय करता है जो कि अत्यत तीक्ष्ण भी संसाररूप अग्निमें बडी ही कठिनतासे और चिरकालमें जाकर दग्ध हो सकता है। घोर नरकादिक दुर्गतियोंके दुःखोंका अनुभव कराके ही वे आत्मासे विच्छिन्न होते हैं।

चेतन और अचेतन परिग्रहोंमें जो राग द्वेषका सम्बन्ध लगा हुआ है वही अनादिकालीन अविद्या—अ-

ज्ञानका कारण है। फिर भी जो मनुष्य उन रागद्वेषोंमें ही प्रवृत्ति करता है उसके जो पुनः पुनः कर्मोंका बंध हुआ करता है उसका तिरस्कारपूर्वक निर्देश करते हैं:—

आसंसारमविद्यया चलसुखाभासानुबद्धाशया,
नित्यानन्दसुधामयस्वसमयस्पर्शच्छिदभ्यासया।
इष्टानिष्टविकल्पजालजटिलेष्वर्थेषु विस्फारितः,
कामन् ग्लायती मुहुर्मुहुरहो बाबध्यते कर्मभिः ॥ १३५ ॥

जीवोंके अविद्या—अज्ञान या विपर्यस्त बुद्धि जबसे संसार है तभीसे—अनादिकालसे लगी हुई है। इसके अभ्यास—निकटमें रहनेसे मनुष्योंको नित्य—सदातन आनन्द—प्रमोद या सुखानुभवरूपी सुधा—अमृतसे मधुर शुद्ध चिद्रूपकी प्राप्ति तनिक भी नहीं होती। यह अविद्या नित्य एवं वास्तविक आत्मिक सुखका अनुभव जीवोंको अंशरूपमें भी नहीं होनेदेती। किंतु उसके ठीक विपरीत चल—क्षणिक अथवा अनित्य सुखाभासों—इन्द्रियोंके विषयों अथवा आत्मासे सर्वथा पर पदार्थोंके साथ उन जीवोंकी आशा—तृष्णाको संयुक्त करदेती है। इसके निमित्तसे ही संसारी जीव आत्मिक सुखसे पराङ्मुख हुए इन्द्रियजनित विषयों अथवा उसके साधनभूत परिग्रहोंमें सुखकी भावनासे तृष्णान्वित हुआ करते हैं। और यह विपर्यस्त ज्ञान ही संसारके चेतन और अचेतन पदार्थोंमें जो कि वस्तुतः न इष्ट हैं और न अनिष्ट हैं उनमें इष्टानिष्ट बुद्धि उत्पन्न कराता है। क्योंकि इसके प्रसादसे ही जीव किसी पदार्थको इष्ट और किसीको अनिष्ट समझने लगता है। जिनको इष्ट समझता है उनको प्राप्त करनेके लिये और जो प्राप्त हों तो उनका सदा संयोग बना रहनेकेलिये निरंतर चिंता किया करता है। और इसी प्रकार जिनको अनिष्ट समझता है उनकी सदा अप्राप्तिकेलिये हमेशह संकल्प विकल्प किया करता है। यह अज्ञान इन्हीं विकल्पजालोंसे जटिल उक्त चेतन और अचेतन पदार्थोंमें प्रयत्नावेशको प्राप्त होनेकेलिये जीवोंको प्रेरित किया करता है। विकल्पजालके विषयभूत इष्टानिष्ट पदार्थोंकी क्रमसे प्राप्ति और अप्राप्तिकेलिये प्रयत्न करते रहनेकी

प्रेरणा किया करता है। जिससे कि प्रेरित हुआ यह जीव अहो वारवार रागद्वेषरूप परिणत होता और ज्ञानावरणादिक कर्मोंसे पुनः पुनः बंधको प्राप्त होता है।

भावार्थ—बंधका कारण रागद्वेष है। चेतन और अचेतन परिग्रहके निमित्तसे हमेशह रागद्वेष हुआ करते हैं। अत एव परिग्रही जीवके कर्मोंका संचय भी प्रतिक्षण हुआ करता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

कादाचित्को बन्ध क्रोधादे कर्मण. सदा सङ्गात् ।
नात कापि कदाचित् परिग्रहग्रहवता सिद्धि ।

क्रोधादिकके निमित्तसे कदाचित बंध हुआ करता है किंतु परिग्रहके निमित्तसे सदा ही हुआ करता है। यही कारण है कि जो परिग्रहरूपी ग्रहसे आविष्ट हे उनकी कहीं भी और कभी भी सिद्धि—मुक्ति नहीं होसकती।

यह मोहकर्म इतना प्रबल है कि असमयमें काललब्धिके विना तत्त्वज्ञानियोंके लिये भी जिसका जीतना अत्यंत कष्टसाध्य है। इसी बातपर विचार करते हैं:—

महतामप्यहो मोहग्रहः कोप्यनवग्रहः ।
ग्राहयत्यस्वमस्वांश्च योऽहममाधिया हठात् ॥ १३६ ॥

मोह—चारित्रमोहनीय कर्म ग्रहके समान है। जिस प्रकार ग्रहके निमित्तसे जीव विविध प्रकारकी कुचेष्टाएं किया करता है उसी प्रकार इसके निमित्तसे भी जीव अनेक प्रकारके विकारोंको प्राप्त होकर दुर्व्यवहार किया करता है। यह इतना दुर्निवार या चिर—आवेशरूप है कि जिसका निरूपण नहीं किया जा सकता। आश्चर्य है कि यह बडे—महापुरुषोंको भी पर और परकीय पदार्थोंमें क्रमसे अहंबुद्धि और ममबुद्धिके द्वारा जबर्दस्ती विपरीत ग्रह करादेता है।

भावार्थ—दूसरे साधारण व्यक्तियोंकी बात क्या, छद्मस्थ गृहस्थ अवस्थामें अवस्थित तीर्थंकर प्रभृति

व्यक्ति भी जो कि तत्त्वस्वरूपको भले प्रकार जानते हैं इसके वशमें होकर अन्यथा व्यवहार करने लगते है। जो निजात्मस्वरूप नहीं है ऐसे शरीरादिकमें "मैं" इस तरहसे और अनात्मीय स्त्री पुत्र गृहादिक परिग्रहोंमें "ये मेरे हैं" इस तरहसे समझकर व्यवहार करने लगते हैं।

यद्यपि अपकार करनेवाला यह चारित्रमोहनीय ही है फिर भी इसका उच्छेद करनेकेलिये विद्वानोंको प्रयत्न काललब्धिके विषयमें ही करना चाहिये। ऐसी शिक्षा देते हैं:—

दुःखानुबन्धैकपरानरातीन्,
समूलमुन्मूल्य परं प्रतप्स्यन् ।
को वा विना कालमरेः प्रहन्तुं,
धीरो व्यवस्यत्यपराध्यतोपि ॥ १३७ ॥

केवल दुःखोंके देनेमें ही तत्पर रहनेवाले या प्रधान कारणभूत मिथ्यात्वादिक शत्रुओंका समूल उन्मूलन कर–संवरके साथ साथ निर्जरा—एकदेश क्षय करके उत्कृष्टतया तप करनेकी इच्छा रखनेवाला ऐसा कौन धीर होगा जो कि अपना अपराध–अपकार करनेवाले भी कर्मशत्रु—चारित्रमोहनीयका नाश करने के लिये कालकी अपेक्षा किये विना ही उद्युक्त उत्साहित हो।

भावार्थ—यह बात लोकमें भी देखते हैं कि जो धीर—स्थिरप्रकृतिका नायक होता है वह इस प्रचलित नीतिको हृदयमें रखकर कि "जबतक योग्य समय–अवसर प्राप्त न हो तबतक अपने अपकर्ताके साथ भी सद्व्यवहार ही करना चाहिये," नित्य ही संतप्त करनेवाले चौर बटमारादिकोंका निर्बंध–ध्वंस करके अपने प्रकृष्ट तेजको समस्त जगत्के ऊपर उपस्थापित करनेकी इच्छासे अपना अपराध करनेमें प्रवृत्त भी उन प्रतिनायक शत्रुओंका घात करनेकेलिये योग्य समयकी प्रतीक्षा किया करता है। इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। क्योंकि प्रत्येक कार्य अवसर

पर ही उचित रूपसे सिद्ध हो सकता है। अत एव जो धीर मुमुक्षु भव्य मिथ्यात्वादिक शत्रुओंका नाश कर—सव-रसहभावी निर्जरा—इन कर्मोंका एकदेश क्षय करके तपका आराधन करना चाहते हैं वे भी सबसे पहले उस तपके विरोधी चारित्रमोहनीयको निर्मूल करनेकेलिये योग्य समयकी ही प्रतीक्षा किया करते हैं।

लक्ष्मीका उपार्जन कर योग्य सत्पात्रोंमें उसका विनियोग करनेवाला जो सद्गृहस्थ उसका सर्वथा परित्याग कर मुख्यतया मोक्षमार्गमें चलनेका प्रयत्न करता है—उत्कृष्ट निर्ग्रन्थ लिङ्गको धारण करता है उसकी प्रशंसा करते हैं:—

पुण्याब्धेर्मथनात्कथं कथमपि प्राप्य श्रियं निर्विशन्,
वैकुण्ठो यदि दानवासनविधौ शण्ठोस्मि तत्सद्विधौ।
इत्यर्थैरुपगृह्णता शिवपथे पान्थान्यथास्वं स्फुर,—
त्तादृग्वीर्यबलेन येन स परं गम्येत नम्येत सः ॥ १३८ ॥

पुण्यरूपी समुद्रका मन्थन करके किसी न किसी प्रकारसे—बडे कष्टोंसे लक्ष्मीका उपार्जन कर उसका उपभोग करनेवाला जो गृहस्थ यह सोच करके कि "यदि दानके द्वारा सचमुचमें मैं अपनी आत्माका संस्कारविधान करनेमें मन्द रहा तो सदाचार-सम्यक्क्चारित्रके पालन करनेके लिये प्रयत्न करनेमें भी भ्रष्ट ही रहूंगा। यदि अपनी इस लक्ष्मीका सत्पात्रोंमें व्यय नहीं कर सकता तो मुनिधर्मका भी धारण मैं किस तरह कर सकूंगा। अवश्य ही मैं उससे वञ्चित रहूंगा"। मोक्षमार्गमें नित्य ही प्रस्थान करनेवाले साधुओंको अपने उस धनके द्वारा यथायोग्य उपकार करता है वह सद्गृहस्थ अपने उस स्फुरायमान और मोक्षमार्गके लिये सर्वथा योग्य वीर्य और बलके द्वारा जब उस उत्कृष्ट मोक्षमार्गमें चलने लगता है उस समयमें उक्त सदाचारसे पूर्ण इस भव्यको मुमुक्षुजन भी नमस्कार किया करते हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार क्षीरसमुद्रका मन्थन करके प्राप्त की हुई लक्ष्मीका स्वयं भोग करनेवाले

भी विष्णु दान करनेवालोंमें प्रधान बननेमें यदि अलस रहें अथवा दानव--असुरोंका विनिपात करनेमें कुण्ठित रहें तो अवश्य ही वे सद्विधिसे भी नितान्त भ्रष्ट ही समझे जांयगे, या रहेंगे। इसी प्रकार कठिन परिश्रम और पुण्यके द्वारा प्राप्त हुई लक्ष्मीका मैं स्वयं भोग करता हुआ भी यदि उसको दानमें खर्च न कर सका और उसके द्वारा सत्पुरुषोंपर आनेवाले संकटोंका निराकरण न करसका और उनका उपकार न करसका तो मैं और उत्कृष्ट आचरणका पालन करनेसे तो अवश्य ही वञ्चित रहूंगा, जब साधारण गृहस्थोचित धर्मका ही मैं सेवन नहीं कर सकता तो सर्वोत्कृष्ट मोक्षमार्ग – मुनिधर्मका तो धारण ही किस तरह कर सकूंगा। ऐसा सोचकर जो सद्गृहस्थ अपनी उस लक्ष्मीका भोग करता हुआ भी साधुओंका उपकार करनेमें व्यय करता है और उसके निमित्तसे प्रतिक्षण उद्दीप्त होते हुए मोक्षमार्गोपयोगी बल और वीर्यके द्वारा उत्कृष्ट मोक्षमार्गमें गमन करने लगता है वही धन्य है।

गृहस्थाश्रमको छोडकर यदि तपका आराधन किया जाय तभी मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति निर्विघ्नतया हो सकती है, अन्यथा नहीं। इसी बातको प्रकट करते हैः—

प्रजाग्रद्वैराग्यः समयबलवल्गत्स्वसमयः,
सहिष्णुः सर्वोर्मीनपि सदसदर्थस्पृशि दृशि।
गृहं पापप्रायक्रियमिति तदुत्सृज्य मुदित,—
स्तपस्यान्निःशल्यः शिवपथमजस्रं विहरति ॥ १३९ ॥

जिसका वैराग्य-संसार शरीर और भोगो इन्द्रियविषयोंमें तृष्णाराहित्य-रागद्वेषरहित परमप्रशमरूप परिणाम प्रतिक्षण प्रकर्षरूपसे प्रदीप्त होता चला जाता है, लाभादिककी अपेक्षासे रहित होनेके कारण जिसके वैतृष्ण्यकी स्फूर्ति उत्तरोत्तर बढती ही जाती है। और जिसके अंतरङ्गमें काललब्धि तथा श्रुतज्ञानके सामर्थ्यसे निज चित्स्वरूपकी प्राप्ति उछल रही है। आगे बढनेके लिये सगर्व गर्जना कर रही है। एवं जो स-

मस्त परीषहोंको साधुरूपसे जीतनेके लिये प्रवृत्त है, ऐसा मुमुक्षु अन्तर्दृष्टिको प्रशस्त और अप्रशस्त पदार्थोंके भी स्पर्श करनेवाली होनेपर उस गृहको जिसमें कि अधिकतया ऐसे ही कर्म-क्रियाए हुआ करती है या करनी पडती है जिनमे कि प्रायः पापका ही आरम्भ हुआ करता है; प्रसन्नताके साथ गाया सिथ्या तथा निदान इन तीन शल्योंसे रहित होकर अन्तरङ्ग एवं बाह्य दोनो ही प्रकारके तपका आराधन करता है वही तपस्वी रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्गमें अविश्रांत रूपसे विहार कर सकता है।

भावार्थ — संसार शरीर भोगोंसे विरक्त होजानेपर भी और काललब्धिको प्राप्त कर पूर्वोक्त रीतिसे श्रुतज्ञानके द्वारा निजात्मस्वरूपकी उपलब्धिका अभ्यास करलेनेपर तथा अन्तरङ्गमें विवेक या भेदज्ञानरूप समीचीन दृष्टिके स्फुरायमान भी होनेपर जबतक अनेक पापारम्भसे युक्त घरका परित्याग न किया जाय तबतक निःशल्य होकर तपका आराधन नहीं किया जा सकता। गृहनिरत पुरुषके कोई न कोई शल्य लगी ही रह सकती है। जैसा कि गुणभद्र स्वामीने भी कहा है कि 'गृहाश्रमे नात्महितं प्रसिध्यति" गृहस्थाश्रममें आत्माका हित—मोक्ष अच्छी तरह सिद्ध नही हो सकता। अतएव जो मुमुक्षु अविश्रांत रूपसे मोक्षमार्गमें विहार करना चाहते है—पूर्णरूपसे रत्नत्रयका आराधन करना चाहते है उन्हे चाहिये कि वे उक्त गुणोसे युक्त होकर भी पापप्राय क्रियाओंसे युक्त गृहका सर्वथा और अवश्य ही परित्याग करें।

बाह्य परिग्रहोंमें शरीर सबसे अधिक हेय है ऐसा उपदेश देते है: —

शरीरं धर्मसंयुक्तं रक्षितव्यं प्रयत्नतः।
इत्याप्तवाचस्त्वग्देहस्त्याज्य एवेति तण्डुलः ॥ १४० ॥

धर्मसंयुक्त—जिससे धर्मका साधन हो सकता है अथवा जो धर्मका आराधन करनेवाले जीवसे युक्त है उस शरीरकी प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये, इस शिक्षाको आप्त भगवान्‌के उपदिष्ट प्रवचनका तुष्—छिल-

का समझना चाहिये। क्योंकि आत्मसिद्धिके लिये शरीररक्षाका प्रयत्न सर्वथा निरुपयोगी है। तथा " शरीर सर्वथा त्याज्य ही है " इस शिक्षाको उक्त प्रवचनका तण्डुल समझना चाहिये। क्योंकि सारभूत पदार्थ वही है।

भावार्थ, जिस प्रकार धानकी भुसी निरुपयोगी ही समझी जाती है और भीतरका तण्डुल—चावल ही सारभूत एवं उपयोगी पदार्थ रहता है इसी प्रकार प्रकृतमें भी समझना चाहिये। प्रवचनकी शिक्षामें शरीररक्षाके उपदेशको भुसीके समान और शरीरत्यागके उपदेशको तण्डुलके समान समझना चाहिये। अत एव सारभूत शिक्षाको ग्रहण कर बाह्य परिग्रहोंमें अत्यंत हेय शरीरके त्याग करनेका ही प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा करनेपर ही मुमुक्षुओंका अभीष्ट सिद्ध हो सकता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि शरीरमें लगे हुए ममत्वका उच्छेदन करनेवाला ही पूर्णतया निग्रन्थ हो सकता है और उसीको परम पुरुषार्थकी सिद्धि प्राप्त हो सकती है। क्योंकि कहा भी है कि—

देहो बाहिरगंथो अण्णो अक्खाण विसयअहिलासो।
तेसिं चाए खबओ परमट्ठे हवइ णिग्गंथो॥

शरीररूपी बाह्य परिग्रह और इन्द्रियोंके विषयोंकी अभिलाषारूप अन्तरङ्ग परिग्रह इन दोनोंका परित्याग करनेपर ही कर्मोंका क्षपण करनेकेलिये उद्युक्त साधु परमार्थसे निग्रंथ हो सकता है। अर्थात् बाह्य परिग्रहोंमें शरीर ही प्रधान है और उसका त्याग ही मुमुक्षुओंकेलिये आवश्यक है।

शरीरको क्लेश देनेमें जो जो गुण हैं और उसके लालन पालनमें जो जो दोष हैं उनको बताते हुए साधुओंको उपदेश देते हैं:—

योगाय कायमनुपालयतोपि युक्त्या,
क्लेश्यो ममत्वहतये तव सोपि शक्त्या।

भिक्षोन्यथाक्षसुखजीवितरन्ध्रलाभात्,
तृष्णासरिद्विधुरयिष्यति सत्तपोद्रिम् ॥ १४१ ॥

हे चारित्रमात्रगात्र ! भिक्षो ! ! योग—रत्नत्रयात्मकताकी सिद्धिकेलिये पालन करते हुए भी—केवल उपेक्षा-करते हुए ही नहीं किंतु जिससे संयमके पालनमें किसी प्रकारका विरोध न आवे इस तरहसे रक्षा करते हुए भी शक्ति और युक्तिके साथ--बल और वीर्यको न छिपाकर तथा आगममें बताई हुई विधिके अनुसार ममत्वबुद्धिको दूर करनेकेलिये--शरीरसे लगे हुए ममकार भावका निराकरण करनेकेलिये उसका दमन ही करना चाहिये। उसको क्लेश देकर कृष ही करदेना चाहिये। अन्यथा यह निश्चित समझ कि जिस प्रकार साधारण भी नदी प्रवेश करनेकेलिये मार्गभूत जरासे भी छिद्रको पाकर दुरारोह और दुर्भेद्य भी पर्वतमें प्रवेश कर उसको जर्जरित करदिया करती है उसी प्रकार तुच्छ भी यह तृष्णा—विषयोंकी आकाङ्क्षारूप नदी ऐन्द्रिय सुख और जीवनस्वरूप दो छिद्रोंको पाकर समीचीन तपरूपी ऐसे पर्वतको, कि जिसपर कठिनतासे आरोहण किया जा सकता है एवं जिसका सहसा भेदन भी नहीं किया जा सकता, छिन्न भिन्न कर जर्जरित कर डालेगी।

भावार्थ--चक्षुरादिक इन्द्रियोंके द्वारा अनुभूयमान आभिलषित अङ्गना प्रभृति पदार्थोंमे उत्पन्न होने वाले सुखकी और जीवनकी आशा-तृष्णानदीको समीचीन तपरूपी पर्वतमें प्रविष्ट होनेके लिये दो छिद्रोंके समान हैं। क्योंकि वैषयिक सुखकी अभिलाषा और जीवनकी प्रत्याशाके द्वारा ही तृष्णारूप नदी दुरारोह और दुर्भेद्य भी समीचीन तपरूपी पर्वतको छिन्न भिन्न कर जर्जरित करदिया करती है। यही कारण है कि इन आशाओंके वशीभूत होकर जो शरीरके लालन पालनमें लगे रहते है या तत्पर रहते है उनको तपकी सिद्धि नहीं हो सकती और न उन्हे उसका संवर-निर्जरारूप फल ही प्राप्त हो सकता है। अत एव हे भिक्षो ! यदि तुझको रत्नत्रयकी प्राप्ति व सिद्धिकेलिये तपरूपी पर्वतको स्थिर रखना है तो इस तरहसे युक्ति और शक्तिके अनुसार काय और कषाय-को कृष करनेमें ही प्रवृत्त होना चाहिये जिससे कि उसमें लगी हुई ममत्वबुद्धिका सर्वथा निराकरण हो जा-य। किंतु यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि विना शरीरके स्थिर रहे तपका भी आराधन नहीं हो सकता। अत

एव शरीरका पालन भी करना चाहिये किन्तु वह इस प्रकारसे न करना चाहिये जिससे कि तप और संयमके आराधनमें विरोध आजाय ।

जो साधु नैर्ग्रन्थ्य व्रतको प्राप्त करचुका है उसका भी माहात्म्य शरीरमें स्नेह करनेके कारण नष्ट हो जाया करता है । ऐसी शिक्षा देते हैं:—

नैर्ग्रन्थ्यव्रतमास्थितोपि वपुषि स्निह्यन्नसह्यव्यथा,—
भीरुर्जीविताविचलालसतया पञ्चत्वचेक्रीयितम् ।
याञ्चादैन्यमुपेत्य विश्वमहितां न्यक्कृत्य देवीं त्रपां,
निर्मानो धनिनिष्ण्यसंघटनयाऽस्पृश्यां विधत्ते गिरम् ॥ १४२ ॥

देव गुरु और सधर्मा पुरुषोंकी साक्षीसे नैर्ग्रन्थ्य–समस्त परिग्रहके परित्यागरूप व्रतको प्राप्त करके भी जो साधु शरीरके विषयमें स्नेह–राग रखता है वह अवश्य ही असह्य–जिनका सहन नहीं किया जा सकता ऐसे परीषह और दुःखोंसे सदा भीत रहा करता है । और इसी लिये वह जीवन और धनमें तीव्र लालसा रखकर–अत्यंत लोलुपी होकर मरणके तुल्य–मानों मृत्युका मित्र या भाई ही हो ऐसे प्रार्थनाजनित दैन्यको प्राप्त कर–दीन बनकर और अतएव अत्यंत प्रभावसे युक्त देवीके समान लज्जाका अभिभव करके अपनी जगत्पूज्य भी वाणीको अन्त्यजोंके समान दयादाक्षिण्यादिसे रहित धनियोंसे संपर्क कराकर अस्पृश्य–अनादेय बनादेता है। क्या ऐसे भिक्षुका कभी भी महत्त्व स्थिर रह सकता है ? कभी नहीं ।

भावार्थ—केवल शरीरमें स्नेह करनेके कारण निर्ग्रंथ भी साधुओंका महत्त्व सर्वथा क्षीण हो जाया करता है । क्योंकि ऐसा साधु तपस्वियोंके कर्तव्य परीषहोपसर्गादिकके ऊपर विजय प्राप्त करनेका पालन नहीं कर सकता किंतु वह सदा शरीरके पालन पोषणमें ही दत्तचित्त और उनके साधनोंमें लालसायुक्त रह सकता

है। और उसके लिये वह ऐसे पदार्थोंकी धनियोंसे याचना करनेके लिये मरणतुल्य दीनताको धारण कर उस लज्जाको भी छोड दे सकता या छोडदेता ही है जो कि देवीके समान है। जैसा कि कहा भी है कि—

लज्जां गुणौघजननीं जननीमिवान्या,—
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमाना' ।
तेजस्विन. सुखमसूनपि संत्यजन्ति,
सत्यस्थितिव्यसनिनो न पुन' प्रतिज्ञाम् ॥

जो तेजस्वी अत्यंत शुद्ध हृदयवाली दूसरी माताके समान गुणोंकी खानि लज्जाका अनुसरण करनेवाले हैं और सत्यस्थितिके व्यसनी हैं वे अपने प्राणोंको सुखपूर्वक छोड सकते हैं किंतु प्रतिज्ञाको नहीं। इससे मालुम होता है कि लज्जा प्रभावशालिनी देवताके ही सदृश है। जिसको कि लम्पटी पुरुष दीन याचक बनकर छोडदिया करते है। अतएव जो साधु शरीरमें स्नेह रखते है वे क्रमसे उसके निमित्तसे लम्पटी दीन निर्लज्ज और धनियोंके सामने याचक बनकर अपनी वाणीका ही नही किन्तु अपना भी महत्व खो देते हैं।

जो धीर और महाप्रभावशाली तथा धर्मके विषयमें निरंतर वीर रससे पूर्ण रहनेवाले हैं वे अपने उस धार्मिक आचरणमें सहायभूत शरीरकी रक्षाके लिये जिनोपदेशके अनुसार भिक्षा गोचरी चर्याके आचरणको स्वीकार करके भी यदि उसमें प्रमाद करते हैं तो वह ठीक नहीं है। इस प्रकार साधुओंको भिक्षामें प्रमाद करनेका निषेध करते हैः—

प्राचीं मार्ष्टुमिवापराधरचनां दृष्ट्वा स्वकार्यें वपुः,
सध्रीचीनमदोऽनुरोद्धुमधुना भिक्षां जिनोपक्रमम् ।
आश्रौषीर्यदि धर्मवीररसिकः साधो नियोगाद्गुरो,—
स्तत्ताच्छिद्रचरौ न किं विनयसे रागापरागग्रहौ ॥ १४३ ॥

हे साधो ! तेने रत्नत्रयस्वरूप आत्माके साध्यभूत कार्यको जो स्वीकार किया है सो मालूम पडता है, मानों पहले—गृहस्थ अवस्थामें किये गये अनेक अपराधोंकी रचनाका मार्जन—निराकरण करनेकेलिये ही किया है। किंतु इस कार्यमें सहायक शरीर है इस बातका निश्चय करके इस समयमें, जब कि संसार शरीर और वैराग्य परिणाम विशुद्धिकी तरफ बढता चला जा रहा है, आत्मकार्यके सहकारी रूपसे निश्चित इस शरीरको उसी कार्यमें प्रयुक्त करनेकेलिये धर्मका पालन करनेमें वीर रस—सोत्साह वृत्तिसे युक्त होकर गुरु—दीक्षाचार्यकी आज्ञानुसार यदि श्री तीर्थंकर भगवान्‌के उपदिष्ट स्वरूपसे युक्त भिक्षाको तेने स्वीकार कर लिया है—साधुओंके योग्य गोचरी चर्याके करनेकी प्रतिज्ञा करली है तो तू इस भिक्षारूपी छिद्र या द्वारसे आनेवाले अथवा अमुकने अमुक वस्तु बहुत अच्छी दी और अमुकने अमुक वस्तु अच्छी नहीं दी इस तरहसे संक्रांत होनेवाले रागद्वेषरूपी भूतोंका उपशमन भी क्यों नही करदेता ? अवश्य ही तुझको भिक्षाके विषयमें होनेवाले प्रमाद—रागद्वेषका परित्याग करना चाहिये।

भावार्थ—विभावादिकोंके द्वारा व्यक्त होनेवाले उत्साहरूप स्थायी भावको वीर रस कहते है। कहा भी है कि—

उत्साहात्मा वीर स त्रेधा धर्मयुद्धदानेपु।
विपयेपु भवति तस्मिन्नक्षोभो नायक. ख्यात॰ ॥

धर्म युद्ध और दान इन विषयोंमें उत्साहरूप परिणामोंको वीर रस कहते हैं। अत एव इसके तीन भेद

१—यह बात उत्प्रेक्षा अलकारके द्वारा कही गई है जिसका कि लक्षण इस प्रकार बताया है कि—

कल्पना काचिदोचित्याद्यत्रार्थस्य सतोन्यथा।
द्योत्यते वादिभि शब्दैरुत्प्रेक्षा सा स्मृता यथा ॥

हैं। जो पुरुष इन विषयोंमें क्षोभरहित रहा करता है वह इस रसका नायक माना जाता है। इसके अनुसार जो धर्म--रत्नत्रयका आराधन करनेमें सदा सोत्साह रहा करता है उसको सप्तम गुणस्थानवर्ती अथवा द्रव्यकी अपेक्षासे अप्रमत्त संयत समझना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:--

णठ्ठासेसपमाओ वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी।
अणुवसमगो अखवगो झाणणिलीणो हु अपमत्तो॥

नष्ट होगया है समस्त प्रमाद जिसका और व्रत गुण तथा शीलोंसे युक्त रहकर भी जो ज्ञानी उपशम या क्षपक श्रेणीका आरोहण न कर निरंतर ध्यानमें लीन रहता उसको निरतिशय अप्रमत्त समझना चाहिये।

इस प्रकार धर्मके विषयमें वीर रस अथवा वीर चर्यासे युक्त रहनेवाले, हे सिद्धिके साधन करनेमें उद्यत! यदि तेने गुरुकी आज्ञा और आगमके अनुसार शरीरके द्वारा क्रमसे धर्मका भी सहायक समझकर भिक्षा करना स्वीकार करलिया है तो उम विषयमें होनेवाली रागद्वेषपरिणतिको भी तुझे अवश्य ही छोडना चाहिये। क्योंकि इसने भोजनमें अमुक पदार्थ अच्छा दिया, अथवा, इसने अमुक पदार्थ अच्छा नहीं दिया इस तरहके भिक्षाके निमित्तसे जो परिणाम होते हैं वे भूतावेशके समान हैं और साधुओंको उक्त उत्तम पदसे गिरानेवाले है।

शरीर और आत्मामें भेद भावनाके बलसे समस्त विकल्पजालको तोड देनेवाले साधुओंके जो शुद्ध निजात्मस्वरूपकी प्राप्ति होती है उसकी प्रशंसा करते हैं।

नीरक्षीरवदेकतां कलयतोरप्यङ्गपुंसोराचि,--
च्छिद्यावाद्यदि भेद एव तदलं भिन्नेषु को भिद्भ्रमः।
इत्यागृह्य परादपोह्य सकलोन्मीलद्विकल्पाच्छिदा,--
स्वच्छेनास्वनितेन कोपि सुकृती स्वात्मानमास्तिघ्नुते॥ १४४॥

यद्यपि शरीर और आत्मा नीरक्षीरकी तरह परस्परमें मिलकर अभिन्न सरीखे हो रहे है फिर भी उनमें भेद ही प्रमाणसिद्ध है। क्योंकि शरीर अचित्–जड है और आत्मा चित्–चेतन है। जिस प्रकार जल और अग्नि परस्परमें मिल जानेपर यद्यपि एक ही मालुम पडते है फिर भी द्रवता और दाहकता आदि गुण भेद या लक्षणभेदकी अपेक्षा दोनोंमें भेद निश्चित ही रहता है। उसी प्रकार जडता और चेतनता हेतुसे शरीर और आत्माकी भी विभिन्नता–प्रसिद्ध है। इस प्रकार जब अभिन्न सरीखे मालुम पडनेवाले शरीर और आत्मामें भेद प्रमाणतः सिद्ध है और वैसा ही मालुम भी होता है तब आत्मासे सर्वथा भिन्न कलत्र पुत्र गृह परिजन आदिमें तो अभेदभ्रम हो ही किस तरह सकता है। विवेकी पुरुषको आत्मासे सर्वथा भिन्न परिग्रहमें ये मुझ-स्वरूप ही है ऐसा, प्रत्यय कभी नहीं हो सकता। इस तरहसे शरीरादिक परिग्रहोंसे निजात्माकी भिन्नताका दृढ निश्चय करके और उनसे सर्वथा आत्माको दूर रखकर कोई विरला ही पुण्यात्मा समस्त उछलते हुए या उद्भूत होते हुए विकल्पों–अन्तर्जल्पसे अच्छी तरह सिक्त विचारों–संकल्पोंके नष्ट होजानेके कारण अत्यंत निर्मल हुई चेतोवृत्तिके द्वारा निजात्माका अभेदरूपसे अनुभव किया करता है।

भावार्थ—जन्मान्तरमें किये गये योगाभ्यासके बलसे संचित पुण्यकर्मका जिसके उदय हो आया है ऐसा ही कोई निकटभव्य शरीर और उससे सम्बन्ध रखनेवाले सभी परिग्रहोंसे भिन्नताका दृढ निश्चय करके एवं अपनेको उनसे हटाकर–उनका सर्वथा परित्याग कर निर्विकल्प ध्यानके द्वारा शुद्धात्मस्वरूपका अभेदरूपसे अनुभव किया करता है।

उक्त प्रकारकी भावनाके बलसे समरसीभावके द्वारा जिनकी स्वाभाविक आत्माकी ज्योति उन्मीलित हो उठी है उन पुरुषोंके मोहकर्मके ऊपर विजय प्राप्त करनेसे जो अतिशय प्रकट होता है उसको बताते हैं:

स्वार्थेभ्यो विरमय्य सुष्ठु करणग्रामं परेभ्यः पराक्,
कृत्वान्तःकरणं निरुध्य च चिदानन्दात्मनि स्वात्मनि।

यस्तत्रैव निलीय नाभिसरति द्वैतान्धकारं पुन—
स्तस्योद्दाममऽसीम धाम कतमच्छिन्दत्तमः श्राम्यति ॥ १४५ ॥

समस्त इन्द्रियोंको तत्तत् विषयोंसे भले प्रकार हटाकर और अन्तःकरणको शरीरादिक पर पदार्थोंसे पराङ्मुख कर चिदानन्दस्वरूप—ज्ञानानन्दमय निज शुद्धात्मामें रोक कर–एकाग्रतया उपयुक्त करके तथा उसीमें अत्यंत लीन होकर जो निष्पन्नयोगवाला साधु द्वैतान्धकार—सविकल्प अवस्थारूपी अन्धकारकी तरफ आभिमुख नहीं होता, शुद्धात्मस्वरूपमें लीन होजानेके कारण 'यह मै हूं और ये पर है, अथवा मैं ध्याता हूं और ये ध्येय है' इत्यादि विकल्पोंकी तरफ जो प्रवृत्त नहीं होता उसका निःसीम—निरवधि या अनन्त तथा निरावरणतया प्रकाशमान तेज, ऐसा कौनसा अन्धकार है कि, जिसको नष्ट नहीं कर सकता?

भावार्थ—इन्द्रियों व मनको अपने अपने विषयोंसे हटाकर निर्विकल्पतया निज शुद्धात्मस्वरूपमें लीन होनेवाले निष्पन्नयोगीके जो स्वाभाविक आत्मिक तेज जागृत होता है वह चिरकालसे लगे हुए-अनादिकालीन अविद्या–अज्ञान या मोहके समस्त विलासोंको सर्वथा ध्वस्त करदेता है। ऐसा कोई भी मोहकर्मका अंश नहीं है कि जिसको निरसन करनेमें वह आत्मज्योति असमर्थ हो। अत एव पूर्वोक्त भावनाके निमितसे आत्मलीनता या समरसीभावके द्वारा स्वाभाविक आत्मज्योतिके प्रकट होते ही मोहकर्मपर विजय प्राप्त होनेसे आत्माका अपूर्व ही अतिशय प्रकाशित होने लगता है।

शुद्ध निजात्मस्वरूपकी प्राप्तिकी तरफ उन्मुख हुए आरब्धयोगीको आगे चलकर होनेवाली निष्पन्नयोगकी रमणीयताकी प्राप्तिके फलकी भावनापर विचार प्रकट करते हैः—

भावैर्वैभाविकैर्मे परिणतिमऽयतोऽनादिसंतानवृत्त्या,
कर्मण्यैरेकलोलीभवत उपगतैः पुद्गलैस्तत्त्वतः स्वम्।

अनादि संतानक्रमसे चले आये–जबसे संसार है तभीसे मेरे साथ सदा सन्निहित रहनेवाले-अव्युच्छिन्न प्रवाहरूपसे मेरी आत्माके साथ लगे हुए ज्ञानावरणादि कर्मके योग्य पुद्गलद्रव्य इस तरह श्लिष्ट हो गये मानो मै और वे एक ही है। और इन्हीके निमित्तसे मै मोह या रागद्वेषरूप ओपाधिक–वैभाविक भावोसे भी परिणत होने लगा। इस प्रकार पर–पुद्गलद्रव्यसे कथंचित् तादात्म्यको प्राप्त हुआ औरविभावरूप परिणत हुआ मै अब यदि तत्त्वतः आत्मस्वरूपका श्रद्धान कर और ज्ञान प्राप्त कर उपाधिरहित साम्यावस्थाको धारण करलू। निजात्माके शुद्ध चित्स्वरूपको भले प्रकार जानकर ओर वैसा ही उसका श्रद्धान भी करके रागद्वेष परिणतिकी निश्छल उपरतिको प्राप्त हो जाऊं। और शुद्ध निजात्मस्वरूपकी तरफ इस प्रकार उन्मुख हुए-मुझ आरब्धयोगीका गम्भीर आनन्दामृतके समुद्रमें विना किसी परिश्रमके – लीलामात्रसे ही यदि अवगाहन होने लगे तो मोहादिकसे आविष्ट चित्पर्यायोंके न रहनेपर यह फलके द्वारा अनुभवमें आनेवाली पापरूपी अग्नि किसको दग्ध करेगी? किसीको भी नहीं। क्योंकि ये पापकर्म फलके द्वारा ही अपना परिचय कराया करते हैं। रागद्वेष या मोहसे आक्रान्त तथा विभावभावरूप परिणत आत्माओंको ही सताया करते हैं। किंतु जब मैं आरब्धयोगी होकर क्रमसे योगकी परा काष्ठाको प्राप्त हो स्वाभाविक चिदानन्दका अच्छी तरह अनुभव करने लगूंगा उस समय मेरे ये समस्त वैभाविक भाव नष्ट हो जायगे। फिर वह पापाग्नि किसको संतप्त कर सकेगी? किसीको भी नहीं। जब तृण या काष्ठ ही न रहेगा तब अग्नि किस चीजको जलावेगी? किसीको भी नहीं। वह स्वयं शान्त होजायगी।

भावार्थ—मुझको आत्माके विषयमें वास्तविक सम्यग्दर्शन व ज्ञान प्राप्त कर तथा उसके शुद्ध स्वरूपको पाकर उसीमें लीन होना चाहिये जिससे कि स्वाभाविक अनन्त सुख प्राप्त हो और संसारताप नष्ट हो।

समाधिमें आरोहण करनेकी इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुओंको अन्तरात्माकी तरफ ही उपयुक्त रहनेका उपदेश देते हैं: —

अयमधिमदबाधो भात्यहंप्रत्ययो य,—
स्तमनु निरवबन्धं बद्धानिर्व्याजसख्यम् ।
पथि चरसि मनश्चेत्तर्हि तद्धाम हर्षि,
भवदवविपदो दिङ्मूढमभ्येषि नो चेत ॥ १४७ ॥

अहंप्रत्ययके द्वारा जिसका भीतर--आत्मामें प्रतिभास होता है वह आत्मा सर्वथा निर्बाध है। अनुभविताओंको 'मैं' इस शब्दके द्वारा जिसका ज्ञान होता है वही आत्मा है ऐसा यद्यपि स्वयं प्रतीत होता है फिर भी उसकी अबाधता युक्ति और आगम दोनो प्रमाणोंसे भी सिद्ध है। क्योंकि जिस पदार्थका मैं इस शब्दके द्वारा अपने भीतर ही भान होता है वह आत्मा नहीं है इस बातको अथवा उससे भिन्न दूसरा पदार्थ है इस बातको सिद्ध करनेवाला कोई भी प्रमाण नहीं है। तथा आगममें भी कहा है कि " यत्र अहमित्यनुपरितप्रत्ययः स आत्मा "। मैं इस शब्दके द्वारा जिसका अनुपरित ज्ञान होता है वही आत्मा है। हे मन ! इस प्रकार युक्ति और आगमके द्वारा अबाध सिद्ध आत्माके साथ निश्छल मित्रता जोडकर यदि तू अस्खलित रूपसे श्रेयोमार्गमें प्रवृत्त हो तो अवश्य ही तुझको वह प्रसिद्ध स्थान प्राप्त हो जो कि अनिर्वचनीय तथा केवल अनुभवद्वारा ही गम्य है। अन्यथा— यदि तू अन्तरात्माके साथ उपयुक्त होकर मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति न करेगा तो दिङ्मूढ--सद्गुरुओंके उपदेशमें व्यामोहित होकर संसाररूपी दावानलकी विपत्तियोंके ही अभिमुख प्राप्त होगा।

भावार्थ—जैसे कि दावानल जिसमें जल रहा है ऐसे वनमे दिशाभूल होजानेपर मनुष्य समीचीन मार्गमें न जाकर उल्टा उस मार्गकी तरफ जाने लगे जिसमें कि दावानल जल रहा है तो अवश्य ही उसको उस दावाग्निकी विपत्तियोंसे त्रस्त होना पडेगा। उसी प्रकार यदि मुमुक्षुजन अन्तरात्माके विषयमें मूढ होकर श्रेयोमार्गमें गमन न करें तो अवश्य ही वे संसारमार्गकी तरफ अभिमुख हो जांयगे और उसके तापसे विपन्न होंगे।

इस प्रकार आकिञ्चन्य महाव्रतका पालन करनेकेलिये पूर्णतया तयार होकर प्रवृत्त होनेवाले साधुओंको और भी आवश्यकीय शिक्षाएं दीं, किंतु पहलेके—गृहस्थ अवस्थाके विभ्रम संस्कारके कारण उन शिक्षानुकूल प्रवृत्तियोंके करनेमें कहीं शिथिलता न होने लगे अत एव उसके प्रति तिरस्कार भाव रखनेकेलिये मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रियविषयोंमें रागद्वेषके परित्यागरूप पांच भावनाओंको भाते हुए प्रयत्न करनेका उपदेश देते हैः—

यश्चार्वचारुविषयेषु निषिध्य राग,—
द्वेषौ निवृत्तिमधियन् मुहुरा निवर्त्यात् ।
ईर्ते निवर्त्यविरहादनिवृत्तिवृत्ति,
तद्धाम नौमि तमसङ्गमसङ्गसिंहम् ॥ १४८ ॥

इन्द्रियोंके विषय स्पर्श रस गन्ध वर्ण और शब्द मनोज्ञ और अमनोज्ञ दोनों ही प्रकारके होते हैं। संसारी प्राणियोंको मनोज्ञ विषयोंमें राग और अमनोज्ञ विषयोंमें द्वेष हुआ करता है । किंतु जो मुमुक्षु इन विषयोंमें रागद्वेपरूप प्रवृत्ति—रति अरतिको छोडकर निवर्त्य पदार्थोंके रहनेतक निवृत्ति और प्रवृत्तिसे रहित आत्मस्वरूपको प्राप्त होजाता है उस निरुपलेप निर्ग्रन्थसिंहको मैं नमस्कार करता हूं अथवा उसकी निरंतर स्तुति करता हूं ।

भावार्थः—कर्मबन्ध और उसके कारणभूत पदार्थोंको निवर्त्य कहते हैं। क्योंकि उनको आत्मासे दूर करना है । जबतक निवर्त्य रागद्वेपरूप परिणति लगी हुई है तबतक साधुओंको निवृत्ति—रागद्वेपके छोडनेका ध्यान करना चाहिये । बार बार करनेपर जब यह ध्यान अभ्यस्त होजाय तब उस आत्मपदका ध्यान करना चाहिये जो कि प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंसे ही रहित है । किंतु इस अविनश्वर आत्मपदका ध्यान करनेके भी पहले जिस निवृत्तिका ध्यान करना आवश्यक है उसके विषय निवर्त्य रागद्वेप हैं जिनका कि सम्बन्ध

बाह्य पदार्थोंसे है । अत एव मुमुक्षु साधुओंको सबसे पहले मनोज्ञ और अमनोज्ञ इन्द्रियविषयमें क्रमसे होनेवाली रागद्वेष परिणतिको छोडनेका प्रयत्न करना चाहिये । जैसा कि कहा भी है कि:—

निवृत्तिं भावयेद्यावन्निवर्त्यं तदभावत ।
प्रवृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययम् ॥
रागद्वेषो प्रवृत्ति स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम् ।
तौ च बाह्यार्थसम्बद्धौ तस्मात्तान् सुपरित्यजेत् ॥

निवर्त्यके रहनेतक निवृत्तिका भावन-ध्यान करना चाहिये किंतु उसके छूटजानेपर आत्मासे उस अव्यय पदका ही ध्यान करना आवश्यक है जहां न प्रवृत्ति है और न निवृत्ति । रागद्वेषको प्रवृत्ति और उसके त्यागको निवृति कहते है । इन दोनोंका सम्बंध बाह्य पदार्थोंसे है । मनोज्ञामनोज्ञ विषयोंमें ही क्रमसे रागद्वेषकी परिणति होती है अत एव सबसे पहले मुमुक्षु भिक्षुओंको इनका ही परित्याग करना चाहिये ।

इस प्रकार परिग्रहके परित्यागरूप आकिंचन्य महाव्रतका वर्णन पूर्ण हुआ । अब साधुओंके व्रत, अपनी अपनी भावनाओंके द्वारा स्थिरताको प्राप्त होकर ही उनके अभिमतको सिद्ध किया करते है ऐसा उपदेश देते है:—

पञ्चभिः पञ्चभिः पञ्चाप्येतेऽहिंसादयो व्रताः ।
भावनाभिः स्थिरीभूताः सतां सन्तीष्टसिद्धिदाः ॥ १४९ ॥

हिंसा झूट चोरी कुशील और परिग्रह ये पांच पाप है । इन पांचों पापोंके परित्यागको ही अहिंसादिक पांच महाव्रत कहते है जिनका कि पहले सविस्तर व्याख्यान किया जाचुका है । इनमेंसे प्रत्येक व्रतकी पांच पांच भावनाओंका भी स्वरूप पहले लिखा जा चुका है । उन भावनाओंके द्वारा स्थिर-निश्चलताको प्राप्त होकर ही ये महाव्रत साधुओंके अभिमत अर्थको सिद्ध कर सकते है, अन्यथा नहीं । अत एव आत्महितैषी भिक्षुओंको उन भावनाओंमें अवश्य ही अच्छी तरहसे दृढ रहना चाहिये ।

उपर्युक्त पांचो व्रतोंके महत्वका समर्थनपूर्वक, जिन हेतुओंसे ये व्रत महान् माने गये हैं उनको दिखाते हुए और उनकी रक्षा करनेकेलिये रात्रिभोजनविरतिरूप छट्ठे अणुव्रतका भी उपदेश देते हुए यह बताते हैं कि उत्तरोत्तर अच्छी तरह किये गये अभ्यासके द्वारा इन व्रतोंके संपूर्ण करदेनेपर या होजानेपर ही साधुओं को निर्वाणरूप फल प्राप्त हो सकता है:—

पञ्चैतानि महाफलानि महतां मान्यानि विष्वग्विर,—
त्यात्मानीति महान्ति नक्तमशनोज्झाणुव्रताग्राणि ये ।
प्राणित्राणमुखप्रवृत्त्युपरमानुक्रान्तिपूर्णीभव,—
त्साम्याः शुद्धदृशो व्रतानि सकलीकुर्वन्ति निर्वान्ति ते ॥ १५० ॥

उक्त अहिंसादिक पांचो व्रतोंका महान् शब्दके साथ जो उल्लेख किया है उसके तीन कारण हैं। पहला यह कि इनका फल महान् है, दूसरा यह कि ये महापुरुषोंको भी मान्य हैं, तीसरा यह कि ये महा—समस्तविरतिरूप हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

आचरितानि महद्भिर्यच्च महान्तं प्रसाधयन्त्यर्थम् ।
स्वयमपि महान्ति यस्मान्महाव्रतानीत्यतस्तानि ॥

उत्तम पुरुष इन व्रतोंका पालन करते है। गणधरदेवादिकोंको भी ये अनुष्ठेय तथा सेव्य हैं। और इंद्रादिकोंके द्वारा भी पूज्य हैं, क्यों कि उनकी दर्शनविशुद्धिकी अतिशयित वृद्धिमें ये कारण हैं। दूसरी बात यह कि ये महान् अर्थ—प्रयोजनको सिद्ध करते हैं। इनके निमित्तसे ही अनन्तज्ञानादिक अनन्त चतुष्टय स्वरूप तथा मोक्षरूप सर्वोत्कृष्ट महान् फल प्राप्त हो सकता है। तीसरी बात यह कि ये स्वयं भी महान् हैं। स्थूल ये। क्योंकि इसके विना उनका कोई भी उक्त व्रत सुरक्षित नहीं रह सकता। रात्रिभोजन करनेसे मुनियोंको हिंसा शङ्का और आत्मविपत्ति आदि अनेक दोष उपस्थित होते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

हो या सूक्ष्म, सम्पूर्ण भेदरूप ही हिंसादिकका इनमें परित्याग किया जाता है। क्योंकि ये सकलविरतिरूप हैं। इस प्रकार पूज्यता फल और स्वरूप तीनोंमें ही महत्ता रहनेके कारण इन व्रतोंको महान् कहते हैं।

और भी कहा है कि —

महत्त्वहेतोर्गुणिभिः श्रितानि महान्ति मत्वा त्रिदशैर्नतानि।
महासुखज्ञाननिबन्धनानि महाव्रतानीति सतां मतानि ॥

आत्मिक महत्ता प्राप्त करनेके उद्देशसे गुणी पुरुष इनका आश्रय लेते हैं, देवेन्द्रादिक भी महान् समझ कर इनको नमस्कार करते हैं तथा महान्—अनन्त सुख ज्ञानादिको ये ही उत्पन्न करनेवाले हैं। यही कारण है कि सत्पुरुष इनको महाव्रत कहते हैं।

ऐसे इन महाव्रतोंकी रक्षाकेलिये मुमुक्षु भिक्षुओंको छट्ठा अणुव्रत " रात्रिभोजनत्याग " प्रधानतया पालना चाहिये। क्योंकि इसके विना उनके किसी भी व्रतकी रक्षा नहीं हो सकती। जैसा कि कहा भी है कि:—

तेसिं चेव वयाणं रक्खट्ठं रायभोयणणियत्ती।
अट्ठ य पवयणमादाउ भावणाओ य सव्वाओ ॥

इन व्रतोंकी रक्षाकेलिये रात्रिभोजननिवृत्ति, तथा आठ प्रवचन माताओं (पांच समिति तीन गुप्ति) और समस्त भावनाओंका पालन करना चाहिये। रात्रिभोजनत्यागको अणुव्रत कहनेका प्रयोजन यह है कि मुनियोंके भोजनका त्याग कालकी अपेक्षा सर्वथा नहीं, एक देशरूप ही पल सकता है। रात्रीकी अपेक्षासे ही उसका सर्वथा त्याग हो सकता है और रात्रिमें ही उसकी निवृत्ति बताई है, न कि दिनमें। दिनमें तो साधुजन भोजनकेलिये योग्य समयमें प्रवृत्ति कर सकते हैं। रात्रिमें ही भोजनका त्याग सो रात्रिभोजनत्याग ऐसा ही इस शब्दका अर्थ है। अत एव उसको अणुव्रत कहना चाहिये। इस अणुव्रतका भी मुनियोंको अवश्य ही पालन करना चाहि-

तेसिं पचण्ह पिय वयाणमावज्जण च सखाओ।
आदविवत्ती अह विजरादिभत्तप्पसगहि ॥

रात्रिमें भक्तपानका संग्रह करनेपर मुनियोंको जो दोप लग सकते है वे इस प्रकार समझने चाहिये कि—पांचो व्रतोका परित्याग शङ्का, और आत्मविपात्ति।

भोजनका रात्रिमे संग्रह तीन प्रकारसे हो सकता है। एक रात्रिमें जाकर दाताके यहा भोजन ग्रहण करना। दूसरा रात्रिमे लाकर दिनमें भोजन करना। तीसरा दिनमे लाकर रात्रिमें भोजन करना। ये तीनो ही पक्ष अपायकर है। क्योंकि यदि रात्रिमें भोजनके लिये भ्रमण करेगा तो हिंसा अवश्यम्भावी है। रात्रिमे प्रकाश न रहनेके कारण प्राणियोंको देखा नही जासकता और फिर ईर्यासमितिका भी पालन नहीं हो सकता। है, तथा कौनसा स्थान पवित्र है और कौनसा अपवित्र, कहां चलना चाहिये, कहां रूकना दाताके यहा जाने आनेका मार्ग, उसके और अपने ठहरनेका स्थान, और कहा झूठन आदिक पडी चाहिये आदि बातोंका अवलोकन रात्रिमे अच्छी तरह नही हो सकता। न योग्य अयोग्य आहारका ही निरूपण हो सकता है। अत्यंत सूक्ष्म त्रस जीव जब कि दिनमें भी कठिनतासे ही देखे और बचाये जा सकते हैं तब रात्रिमे तो उनका परिहार हो ही किस तरह सकता है? इस प्रकार रात्रिभोजनमें प्रवृत्ति करनेवाला आहारका शोधन नही कर सकता और हिंसाके दोपमे बच नही सकता। अच्छी तरह विना परीक्षा किये ही भोजन करनेवाला एपणा समितिका भी पालन किस तरह कर सकता है? और ऐसी—अयुक्त एपणासमितिविपयक तथा पादविभागिके[१] आलोचना करता हुआ वह सत्यव्रती भी किस तरह रह सकता है?

[१]—मुनियोकी आहोरात्रिक समीचीन चर्याको पदविभागी कहते है। अत एव जिसमें उसका वर्णन किया जाय उस आलोचनाको पादविभागिक कहते है। अच्छी तरह अपरीक्षित विषयमे एपणा प्रवृत्ति करनेवाला अपनी प्रवृत्तिकी पाद विभागिक आलोचना करनेमें सत्यव्रतका पालन किस तरह कर सकता है?

यदि गृहका स्वामी सो रहा हो और उसके दिये विना भी आहार ग्रहण करलिया जायगा तो चोरीका भी दोष लगेगा। विद्वेष रखनेवाले कुटुम्बी अथवा अन्य विरोधी लोक अनेक प्रकारकी शङ्का करके रात्रिके समय मार्गमें गमन करनेवाले साधुके ब्रह्मचर्यको नष्ट कर देते है या कर दे सकते है। यदि भोजनको दिनमें लाकर और अपने पात्रमें ढककर रख लिया जाय और रात्रिमे उसको खाया जाय तो परिग्रहका भी दोष उपस्थित होगा। इस प्रकार रात्रि भोजनके निमित्तसे हिंसा झूठ चोरी कुशील और परिग्रह ये पांचो ही पाप लगते हैं जिसमे कि इनके विरोधी व्रत रक्षित नहीं रह सकते। इसके सिवाय रात्रिभोजीको ' मेरे हिंसादिक दोष तो नही लगगये " अथवा " मेरी इस क्रियामें हिंसादि हुई या बची " ऐसी शंका लगी रहती है। और कदाचित् स्थाणु सर्प कण्टकादिकके द्वारा मरण होजाना भी संभव है। इस प्रकार रात्रिभोजन करनेसे मुनियोंको व्रतघात शंका और आत्मविपत्ति दोष उपस्थित होते है। अतएव उनको अपने व्रतोंकी रक्षाके लिये रात्रिभोजनत्यागरूप अणुव्रतका पालन अवश्य ही करना चाहिये।

जो शुद्ध क्षायिक सम्यग्दृष्टि आद्य अवस्थामें होनेवाली प्राणिरक्षा प्रभृति प्रवृत्तियोंके उपरितन स्थानमें किये गये उपरमकी अनुक्रांति—गुणश्रेणि सक्रमणके द्वारा अपनी साम्यावस्था—सामायिक चारित्रको पूर्ण कर व्रतोंको भी संपूर्ण करदेते है वे ही मुमुक्षु जीवन्मुक्त अवस्थाको पाकर परम मुक्तिको भी प्राप्त करलेते है।

भावार्थ—जो रात्रिभोजनत्यागरूप अणुव्रतके द्वारा सुरक्षित रहते और उपर्युक्त तीन हेतुओंसे जिनकी महत्ता सिद्ध है ऐसे वे व्रत आद्य अवस्थामें प्रवृत्तिरूपसे ही पाले जाते है। क्योंकि सबसे पहले जीवोंकी प्राणि रक्षा सत्यभाषण दत्तग्रहण ब्रह्मचर्यका पालन और योग्य परिग्रहके ग्रहण करनेमें ही प्रवृत्ति हुआ करती है। परंतु आगे चलकर ऊपरके स्थानोंमें इस प्रवृत्तिकी उपरति होजाती है और गुणश्रेणीका उपसर्पण होकर क्रमसे समस्त सावद्य योगकी निवृत्तिरूप सामायिक चारित्र पूर्ण हो-जाता है। किन्तु जो शुद्ध क्षायिक सम्यग्दृष्टि इस सामायिकको भी सूक्ष्मसांपरायकी परा काष्ठातक पहुंचाकर यथाख्यात चारित्ररूप परिणत कर देते है वे ही योगी अयोगी होकर निर्वृति प्राप्त करते है। क्योंकि योग अचारि-

त्रका व्यापक है। जहांतक या जहां जहां योग रहेगा वहांतक या वहा वहां अचारित्र भी रहेगा ही। जिससे कि निर्वृति प्राप्त नहीं हो सकती। अयोग गुणस्थानके अन्तिम समयमें ही चारित्र पूर्ण हुआ करता है। और उसीसे मोक्ष प्राप्त हो सकती है; जैसा कि कहा भी है कि:—

सीलेसिं सपत्तो णिरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होइ॥

अयोगकेवलीमें ये तीन बातें प्राप्त होती है अथवा जिस जीवमें ये तीन बातें प्राप्त होजाती हैं उसको अयोगकेवली कहते हैं:—१ संपूर्ण चारित्रके स्वामित्वकी प्राप्ति, २—समस्त कर्मास्रवोंका निरोध, ३—कर्मरजका सर्वथा राहित्य।

और भी कहा है कि:—

यस्य पुण्य च पाप च निष्फल गलति स्वयम्।
स योगी तस्य निर्वाण न तस्य पुनरास्रव॥

जिसका पुण्य और पाप स्वयं ही निष्फल गलजाता है—विना फल दिये ही निर्जीर्ण होजाता है उसका, पुनः परावर्तन नहीं होता अथवा फिर उसके कर्मोंका आस्रव नहीं होता। इससे सिद्ध है कि साधुओंको अपने आरंभिक अवस्थाके प्रवृत्तिरूप महाव्रत सुरक्षित रखकर अभ्यासक्रमसे चारित्रकी समग्रताको पहुंचा देने चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेपर ही उन्हे निर्वृति प्राप्त हो सकती है।

सत्व गुणाधिक क्लिश्यमान और अविनयी इनमें क्रमसे मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ्य भावना रखनेवालोंके ये सभी व्रत अच्छी तरह दृढताको प्राप्त होजाते हैं। अत एव मुमुक्षुओंको इन चारो भावनाओंमें नियुक्त रहनेका उपदेश देते हैं:—

मा भूत्कोपीह दुःखी भजतु जगदसद्धर्म शर्मेति मैत्रीं,
ज्यायोहृत्तेषु रज्यन्नयनमधिगुणेष्वेष्विवेति प्रमोदम् ।
दुःखाद्रक्षेयमार्तान् कथमिति करुणां ब्राह्मि मामेहि शिक्षा,
काऽद्रव्येष्वित्युपेक्षामपि परमपदाभ्युद्यता भावयन्तु ॥ १५१ ॥

अनंत ज्ञान अनंत दर्शन अनन्त सुख और अनन्त वीर्य। इस अनंत चतुष्टयरूप परमपदकी प्राप्तिके लिये उद्यत—अभिमुख हुए साधुओंको मैत्री प्रमोद कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओंका निरन्तर चिन्तन करना चाहिये। प्राणिमात्रमें दुःखोंके उत्पन्न न होनेकी आकांक्षा रखनेको मैत्री, अपनेसे अधिक गुणवालोंको देखकर हर्षित होनेरूप मनोरागको प्रमोद, दुःखोंसे पीडित प्राणियोंके अभ्युद्धार करनेकी बुद्धिको कारुण्य, और निर्गुण या विरुद्ध व्यक्तियोंमें रागद्वेषके प्रकट न करनेको माध्यस्थ्य कहते है। जैसा कि कहा भी है कि:—

कायेन मनसा वाचा परा सर्वत्र देहिनि ।
अदु खजननी वृत्तिर्मैत्री मैत्रीविदा मता ॥
तपोगुणाधिके पुंसि प्रश्रयाश्रयनिर्भर· ।
जायमानो मनोराग प्रमोदो विदुपा मत ॥
दीनाभ्युद्धरणे बुद्धि कारुण्य करुणात्मनाम् ।
हर्षामर्षोज्झिता वृत्तिर्माध्यस्थ्य निर्गुणात्मनि ॥

मन वचन और कायके द्वारा संसारके सभी प्राणियोंके विषयमें ऐसी प्रवृत्ति करनेको, कि जिससे किसीको भी दुःख उत्पन्न न हो, मैत्री कहते है। तप या दूसरे गुण-सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र आदिक जिसमें अधिक पाये जांय ऐसे पुरुषके विषयमें होनेवाले उस मनोरागको प्रमोद कहते है जिससे कि उस व्यक्तिके विषयमें प्रीति भक्ति या विनय उत्पन्न हो; अथवा उनको अपने ऊपर प्रसन्न करने या उनके अनुकूल व्यवहार करने

तथा उन जैसा होनेका भाव जागृत हो जाय। दुःखी और पीडित प्राणियोंके अभ्युद्धारकी बुद्धिको कारुण्य कहते है। निर्गुण—मिथ्यादृष्टियोंके विषयमें हर्षामर्षरहित प्रवृत्तिको माध्यस्थ्य कहते है।

ये भावनाए किस प्रकार भाई जाती है उसका स्वरूप नीचे लिखे मूजब है:—" संसारमें कोई भी प्राणी दुःख —दुःख और उसके कारणभूत पापसे युक्त तथा संतप्त न हो, विश्वमात्रको निश्छल—पारमार्थिक कल्याण —आत्मिक सुख प्राप्त हो" ऐसे परिणामोंको मैत्री कहते है। जैसा कि कहा है कि: —

शिवमस्तु सर्वजगत परहितनिरता भवन्तु भूतगणा ।
दोपा प्रयान्तु नाश सर्वत्र सुखी भवतु लोक ॥

समस्त जगतको कल्याणकी प्राप्ति हो, सभी प्राणी दूसरोंके हितमें निरन्तर रत रहें, ससारमेंसे दोप नष्ट होजांय, और सभी जीवोंको सर्वत्र और सर्वदा सुखकी प्राप्ति हो। तथाच—

मा कार्षीत् कोपि पापानि मा च भूत्कोपि दु खित ।
मुच्यता जगदप्येपा मतिर्मैत्री निगद्यते ॥

संसारमें कोई भी जीव पाप न करे और न कोई दुःखोंमे उत्पीडित हो। समस्त जगत् निर्वृति प्राप्त करे। ऐसी मतिको मैत्री कहते है।

पुरोवर्ती—दृश्यमान गुणाधिक पुरुषोंमें अनुरक्त होनेवाले चक्षुओंकी तरह देशविप्रकृष्ट और कालविप्रकृष्ट—केवल स्मृतिपथको प्राप्त हुए गुणोत्कृष्ट व्यक्तियोंके विपयमें अनुरक्त होनेवाला ही मन प्रशस्यतर समझना चाहिये। ऐसे सद्भावकोंको-इन प्रत्यक्षमें उपस्थित गुणशालियोंको देखकर मेरे नेत्र सफल होगये, और उन परोक्ष रत्नत्रयधारक पुनीत महात्माओंका स्मरण कर मेरा मन अत्यंत पवित्र होगया। इस तरहके विचार करने या होनेको

१—इसी तरहके अन्यत्र भी श्लोक है।

प्रमोद कहते हैं। इसके होनेपर अन्तरङ्गमें जागृत हो उठनेवाली भक्ति निकवित होजानेवाले मुखादिकके द्वारा अभिव्यक्त होजाया करती है। इस विषयमें कहा है कि:—

अपास्ताशेषदोषाणा वस्तुतत्त्वावलोकिनाम ।
गुणेषु पक्षपातो य स प्रमोद प्रकीर्तित ॥

समस्त दोषोंको दूर कर वस्तुतत्त्वका अवलोकन करनेवालोंके ज्ञानदर्शनादिक गुणोंमें पक्षपात करनेको प्रमोद कहते है।

क्लेश भोगते हुए इन प्राणियोंकी मे रक्षा किस तरह करूं।-इन संक्लिष्ट जीवोंके दुःखोंका मैं निवारण किस तरहसे करदूं, ऐसे सद्भाव रखने या विचार करनेको करुणा कहते है। जैसा कि कहा भी है कि:—

दीनेष्वार्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम् ।
प्रतीकारपरा बुद्धि कारुण्यमभिधीयते ॥

दीन दुःखी भीत और जीवनकी याचना करनेवाले-अभयके प्रार्थी जीवोंके उन दुःखोंका प्रतीकार करनेमें तत्पर रहनेवाली बुद्धिको कारुण्य कहते हैं।

सत्पुरुषोंके द्वारा जिनमें स्थापित किये गये गुण संक्रांत होजाते हैं उनको द्रव्यपात्र कहते हैं। किंतु जो इस लक्षणसे शून्य है और जिन्होंने तत्त्वार्थका श्रवण तथा ग्रहण करके श्रोतापने या पात्रताके गुणका संपादन नहीं किया है ऐसे व्यक्तियोंको दीगई कोई भी शिक्षा फलवती नहीं हो सकती। अत एव हे ब्राह्मि! वा देवि! आओ, साम्यभावनामें तत्पर मेरी आत्माको प्राप्त करो। अपना कार्य छोडकर मौनावस्थाको धारण करो। इस प्रकार साधुओंको अपात्रोंके विषयमें रागद्वेष छोडकर उपेक्षा-माध्यस्थ्यको स्वीकार कर मौन धारण करना चाहिये। कहा भी है कि:—

क्रूरकर्मसु नि शङ्क देवतागुरुनिन्दिषु ।
आत्मशंसिषु योपेक्षा तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम ॥

क्रूर कर्म करनेवाले, निःशङ्क होकर देवता और गुरुओंकी निन्दा करनेवाले, तथा अपनी प्रशंसा करनेवालोंके साथ उपेक्षा-रागद्वेपरहित प्रवृत्ति-मौन धारणादि करनेको माध्यस्थ्य कहते है।

इस प्रकार साधुओंको इन भावनाओंके द्वारा अपने उपर्युक्त महाव्रत अच्छी तरह दृढ बनादेने चाहिये जिससे कि मुक्तिरूप फलको वे उत्पन्न करसकें।

इन भावनाओंके सिवाय मोक्षशास्त्रमे "हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम्" और "दुःखमेव वा", इन दोनो सूत्रोंके द्वारा समस्त व्रतोंमें व्यापक—सामान्यतः सभी व्रतोंकेलिये उपयोगी और भी जिन भावनाओंका उपदेश दिया है उनको भी हम प्रत्येक व्रतके साथ पहिले दिखाचुके है। अत एव यहांपर उनके वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है।

अवः—

"अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायण।
परात्मबुद्धिसपन्न स्वयमेव परो भवेत्॥"

जो अव्रती है उनको व्रत स्वीकार करके और व्रती होनेपर ज्ञान—श्रुतका अभ्यास करके, तथा ज्ञानपरायण होजानेपर परमात्मध्यानसे सपन्न होकर मुमुक्षुओंको स्वयं ही परमात्मरूप होजाना चाहिये। इस वचनके अनुसार जो मोक्षमार्गमें विहार करनेकी प्रतिज्ञा कर मुनिपदको स्वीकार कर उक्त महाव्रतोंका निर्वाह करनेमें तत्पर है अथवा उनका निर्वहण करचुके है उनको मैत्री आदि भावनाओं तथा स्वाध्याय और व्यवहार निश्चयरूप ध्यानके करनेका फल बताते हुए इन विषयोंमें भी उपयुक्त होनेकेलिये सावधान करते हैं:—

मैत्र्याद्यभ्यसनात् प्रसद्य समयादावेद्य युक्त्याश्चितात्

यत्किंचिद्रुचितं चिरं समतया स्मृत्वातिसाम्योन्मुखम् ।
ध्यात्त्वार्हन्तमुतस्विदेकमितरेष्वत्यन्तशुद्धं मनः,
सिद्धं ध्यायदहंमहोमयमहो स्याद्यस्य सिद्धः स वै ॥ १५२ ॥

ऊपर जिन मैत्री आदिक भावनाओंके विषयमें वर्णन किया गया है उनके विषयमें कहा है किः—

एता मुनिजनानन्दसुधास्यन्देकचन्द्रिका ।
ध्वस्तरागादिसंक्लेशा लोकाग्रपथदीपिका ॥

ये भावनाएं मुनिजनोंकेलिये आनन्दामृतकी वर्षा या सिञ्चन करनेवाली अपूर्व चन्द्रिकाके समान है, रागादिक संक्लेशपरिणामोंको ध्वस्त करनेवाली और मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेकेलिये दीपिकाके समान हैं। अत एव इन भावनाओंका अभ्यास करके अपनेको अप्रशस्त रागद्वेष कषायसे रहित कर संप्रदायके अविच्छेद और प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाणादिक हेतुओंसे अनुगृहीत—पूजित आगमके अनुसार जीवादिक ध्येय व याथात्म्यरूपसे निर्णय—श्रद्धान कर रागद्वेषके अविषय किंतु उस श्रद्धाके विषयभूत किसी भी अनियत चेतन या अचेतन पदार्थका चिरकालतक-जबतक परमौदासीन्यकी योग्यता प्राप्त न हो जाय तबतक स्मरण-ध्यान करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है किः—

यत्रैवाहितधी पुस श्रद्धा तत्रैव जायते ।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्त तत्रैव लीयते ॥

जिस विषयमें मनुष्य अपनी बुद्धिको उपयुक्त किया करता है उसी विषयमें उसकी श्रद्धा होती है, उसी विषयमें उसका चित्त लीन हुआ करता है।

और भी कहा है कि:—

किमत्र वहुनोक्तेन ज्ञात्वा श्रद्धाय तत्त्वत ।
ध्येय समस्तमप्येतन्माध्यस्थ्य तत्र विभ्रता ॥

अधिक क्या कहें, सभी पदार्थोंको याथात्म्यरूपमे जानकर और उनका श्रद्धान कर उनमें माध्यस्थ्यको धारण करनेवाले साधुओंको उन सभी पदार्थोंका ध्यान करना चाहिये ।

इस प्रकार चेतन या अचेतन किसी भी पदार्थका ध्यान मुमुक्षुओंको अपनेको-निजात्मस्वरूपको परमौदासीन्य परिणामकी तरफ उन्मुख-प्रयत्नपर करना चाहिये । और ऐसा होकर अर्हंत-जीवन्मुक्त भगवान्का अथवा आचार्य उपाध्याय साधु इन तीनोंमेंसे किसी भी एकका एकाग्रतया ध्यान करना चाहिये । इसपर पुनः पुनः ध्यान करके और परमौदासीन्यस्वरूप परिणत होकर परममुक्त श्रीसिद्ध भगवान्का एकाग्रतया ध्यान करनेमें रत होना चाहिये । कहा भी है कि—

सति हि ज्ञातरि ज्ञेय ध्येयता प्रतिपद्यते ।
ततो ज्ञानस्वरूपोयमात्मा ध्येयतम स्मृत ॥
तत्रापि तत्त्वत. पच ध्यातव्या परमेष्ठिन ।
चत्त्वार सकलास्तेपु सिद्धस्वामी तु निष्कल ॥

जिस समय ज्ञाता ज्ञेयविपयोंकी तरफ प्रवृत्त होता है उस समय उसके सभी ज्ञेय पदार्थ ध्येय होजाते है । किंतु इसके बाद होनेवाला यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ही प्रशस्त ध्येय मानागया है । और उसमें भी पंचपरमेष्ठी ही वस्तुत. ध्येय समझने चाहिये जिनमेंसे कि चार अर्हन्त आचार्य उपाध्याय और साधुपरमेष्ठी तो सशरीर ध्येय है और एक सिद्ध परमेष्ठी अशरीर ध्येय हैं ।

इस क्रमसे ध्यान करते करते योगियोका मन जिस आत्मज्योतिका वे वेदन करते हैं तन्मय होजाता है। जैसा कि कहा भी है कि—

लवण व सलिलजोए झाणे चित्त विलीयए जस्स।
तस्स सुहासुहडहणो अप्पा अणलो पयासेइ॥

जिस प्रकार नमककी डली पानीके सम्बन्धसे गलकर पानीरूप ही होजाती है उसी प्रकार जिस साधुका मन ध्यानमें लीन होकर ध्येयरूप ही होजाता है उसके वह आत्मारूप अग्नि प्रकाशित होती है जो कि शुभ और अशुभ अथवा सुख और असुख तथा उनके कारणोंको जलाकर भस्म कर देती है।

हे महाव्रतोंके पालन करनेमें उद्यत मुने! जिस साधुका मन इस प्रकारके आत्मतेजोमय स्वरूपको प्राप्त करचुका है, निश्चयसे उसी साधुको सिद्ध समझना चाहिये। वह शुद्धनिश्चयवादियोंमें, अच्छी तरह धारण किये गये महाव्रतोंमें निष्णात होजानेके कारण प्रसिद्ध होजाता है। कहा है कि:—

स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोपि।
तस्मादभ्यस्यन्तु ध्यानं सुधिय सदाप्यपास्यालस्यम्॥

आगमप्रसिद्ध दोनो ही प्रकारके मोक्षमार्गकी पूर्णतया प्राप्ति ध्यानमें अथवा उसके द्वारा ही हो सकती है। अत एव विवेकियोंको आलस्यरहित होकर निरन्तर उस ध्यानका ही अभ्यास करना चाहिये।

अथवा पूर्वोक्त प्रकारसे शुद्धस्वरूपपरिणत ध्याताको निश्चयसे भावोंकी अपेक्षा सिद्ध—परममुक्त ही समझना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति।
अर्हद्ध्यानाविष्टो भावार्हन् स्यात् स्वयं तस्मात्॥

जो आत्मा जिस रूपसे परिणत होता है-जिस विषयका ध्यान करता है वह उस ध्यानके द्वारा तन्मय होजाता है। यही कारण है कि अर्हन्तके ध्यानमें आविष्ट आत्मा स्वयं भावतः अर्हन् हो जाता है। और भी कहा है कि: -

येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित्।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥

जिस प्रकार स्फटिकके पीछे जैसी उपाधि लगाई जाय वह वैसा ही हो जाता है उसी प्रकार आत्मज्ञानी साधु जिस भावके द्वारा अपनी आत्माका जिस रूपसे ध्यान करता है उस भावके द्वारा वह उसी स्वरूप हो जाता है।

भावार्थ—साधुओंको मैत्री आदि भावनाओंके द्वारा रागद्वेषरहित होकर युक्तियुक्त आगमके अनुसार जीवादिक वस्तुओंका यथावत् श्रद्धान करना चाहिये। और उसके विषयभूत पदार्थोंका समतापूर्वक परमौदासीन्य योग्यता प्राप्त होनेतक ध्यान करना चाहिये। इसके बाद सकल परमेष्ठीका और अन्तमें सिद्ध भगवान्का ध्यान करना चाहिये। जिसके बलसे कि स्वयं सिद्धस्वरूपकी प्राप्ति हो जाय।

इस प्रकार महाव्रतोंका और उनके विशेष सामान्य भावनाओं तथा रात्रिभोजनत्यागरूप परिकरोंका निरूपण किया। अब गुप्ति और समितिका व्याख्यान करना चाहते हैं। क्योंकि इस अध्यायकी आदिमें सम्यक्चारित्ररूपी छायावृक्षका व्रतोंको प्रकाण्ड, गुप्तियोंको अग्रशाखा और समितियोंको उपशाखा लिखा जा चुका है। अत एव प्रकाण्डव्रतवर्णनके बाद गुप्ति और समितिका वर्णन क्रमप्राप्त है। तीन गुप्ति और पांच समिति इनको आगममें प्रवचनमाता कहा है। ऐसा क्यों कहा है इस बातकी उपपत्ति बताते हुए व्रतोद्यत मुमुक्षुओंको उनकी आराध्यताका उपदेश देते हैं:—

अहिंसां पञ्चात्म व्रतमथ यताङ्ग जनयितु,

सुवृत्तं पातुं वा विमलयितुमम्बाः श्रुताविदः ।
विदुस्तिस्रो गुप्तीरपि च समितीः पंच तदिमाः,
श्रयन्त्विष्टायाष्टौ प्रवचनसवित्रीर्व्रतपराः ॥ १५३ ॥

सावद्यकर्मसे विरत रहनेवाले अथवा योगानुष्ठान करनेकेलिये प्रवृत्ति करनेवाले साधुओंका शरीर ही जिसका शरीर है ऐसे अहिंसारूप अथवा अहिंसाप्रभृति पांच प्रकारके व्रतरूपी समीचीन चारित्रको उत्पन्न करनेकेलिये तथा सदा निर्मल बनाये रखनेकेलिये आगमके जाननेवाले आचार्य तीन गुप्तियों और पांच समितियोंको माता समझते है। अत एव उक्त व्रतोंमें निष्ठा रखनेवाले अथवा पूर्णतया पालन करनेकेलिये तत्परता रखनेवाले मुमुक्षुओंको अपना अभिमत प्रयोजन सिद्ध करनेकेलिये गुप्तिसमितिरूप आठो प्रवचनमाताओंका जो कि रत्नत्रयरूप प्रवचनकी जननी है अवश्य ही आश्रय लेना चाहिये, आराधन करना चाहिये ।

भावार्थ—संतानके प्रति माताके मुख्यतया तीन काम हुआ करते है, १ प्रसव, २ पालन, और ३ शोधन। सतानशरीरके उत्पन्न करनेका नाम प्रसव है तथा आपत्तिकर या हानिकर विषयोंसे उसके बचाव रखने एवं पोषक पदार्थोंके द्वारा पुष्टिलाभ करानेको पालन, और अन्तरङ्ग दोषोंको दूर कर शिक्षाभ्यासादिके द्वारा गुण उत्पन्न करनेको शोधन कहते है। जिस प्रकार माता अपनी सतानके प्रति इन तीनों कर्तव्योंका पालन करती है, उसी प्रकार गुप्ति और समिति भी उक्त व्रतोंके प्रति ये तीनो ही काम पूरे किया करती हैं। अत एव आगममें इनको माता कहा हैं। योगियोंका शरीर ही व्रतोंका शरीर है, उसको ये उत्पन्न करती है और पालन तथा नैर्मल्यके द्वारा उनको पुष्ट तथा समृद्ध बनाती हैं। अत एव उक्त व्रतोंके पालन करनेवालेको उचित है कि वह इष्टसिद्धिकेलिये इन आठ माताओंका—३ गुप्ति और ५ समितिका आराधन करे। क्योंकि ये रत्नत्रयकी जननी है ।

गुप्तिका सामान्य लक्षण बताते हैः—

गोप्तुं रत्नत्रयात्मानं स्वात्मानं प्रतिपक्षतः ।

पापयोगान्निगृह्णीयाल्लोकपंक्त्यादिनिस्पृहः ॥ १५४ ॥

मिथ्यादर्शन प्रभृति जो तीन प्रकारके कर्मबन्धके कारण बताये हैं वे आत्माके प्रतिपक्षी हैं। उनमे रत्नत्रयस्वरूप अपनी आत्माको सुरक्षित रखनेकेलिये लोकपूजा लाभ ख्याति आदि विषयोंमें स्पृहा न रखकर व्रतोद्यत साधुको पापयोग-- व्यवहार नयसे पापकर्मके कारण और निश्चय नयमे शुभाशुभ कर्मोंके आस्रका कारण होनेसे निन्द्य मनवचनकायके व्यापारका निग्रह करना चाहिये।

भावार्थ--मनवचनकायके द्वारा होनेवाले आत्मप्रदेशपरिस्पन्दरूप योगके समीचीन निग्रहको योग-निग्रह कहते हैं। जैसा कि आगममें भी कहा है कि: —

वाक्कायचित्तजानेकसावद्यप्रतिपेधकम् —
त्रियोगरोधकं वा स्याद्यत् तद् गुप्तित्रयं मतम् ॥

मन वचन और कायके द्वारा होनेवाले अनेक सावद्य कर्मोंके रोकनेको ही गुप्ति कहते हैं। अत एव गुप्ति तीन प्रकारकी बताई हैं —मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति। मोक्षशास्त्रमें भी कहा है कि " सम्यग्योगनिग्रहो गुप्तिः "। यहांपर समीचीनताका अर्थ यही है कि लोकपूजादिकमें स्पृहा न रखकर और रत्नत्रय अथवा तत्स्वरूप आत्माकी प्रतिपक्षियोंसे रक्षा करनेकेलिये। क्योंकि इस प्रकारसे किया गया ही योग-निग्रह मुमुक्षुओंके लिये इष्टका साधक और अत एव समीचीन हो सकता है, अन्यथा नहीं। व्यवहार नयसे जो पापकर्मके संचयका कारण है उसको किन्तु निश्चय नयसे योगमात्रको आचार्योंने निन्द्य कहा है।

उपर्युक्त गुप्तियोका पालन करनेकेलिये दृष्टान्त देकर साधुओंको सावधान करते हैं —

प्राकारपरिखावप्रैः पुरवद्रत्नभासुरम् ।

पायादपायादात्मानं मनोवाक्कायगुप्तिभिः ॥ १५५ ॥

जिस प्रकार राजा रत्नों—तत्तज्जातिके उत्कृष्ट पदार्थोंसे भासुर - शोभायमान अपने नगरकी, उसके अभ्युदयको नष्ट करदेनेवाले अपायोंसे प्राकार परिखा और वप्रके द्वारा रक्षा किया करता है उसी प्रकार व्रतियोंको सम्यग्दर्शन प्रभृति रत्नोंसे भासुर—देदीप्यमान अपनी आत्माकी रत्नत्रयके विघातक अपायोंसे मनोगुप्ति वचनगुप्ति और कायगुप्तिके द्वारा रक्षा करनी चाहिये।

भावार्थ - परिखा शब्दका अर्थ खाई है, जो कि नगरके चारो तरफ कृत्रिम नदीके रूपमें बनाई जाती है। इसके भीतर किन्तु नगरके चारो तरफ जो परकोटा बनाया जाता है उसको प्राकार कहते हैं। इसी प्रकार खाईके बाहिर किन्तु नगरके चारो तरफ जो धूलिका परकोटा बनाया जाता है उसको वप्र कहते हैं। जिस प्रकार इन तीनो उपायोंसे राजधानीके अभ्युदयकी रक्षा होती है उसी प्रकार तीनो गुप्तियोंसे आत्माके रत्नत्रयकी रक्षा हुआ करती है। अत एव राजाओंके समान व्रतियोंको भी क्रमसे प्राकार परिखा और वप्रके तुल्य मनोगुप्ति और कायगुप्तिके धारण करनेमें अवश्य ही प्रयत्न करना चाहिये।

मनोगुप्ति आदिका विशेष लक्षण बताते हैं:—

रागादित्यागरूपामुत समयसमभ्यासमद्ध्यानभुतां,
चेतोगुप्तिं दुरुक्तित्यजनतनुमवाग्लक्षणां वोक्तिगुप्तिम्।
कायोत्सर्गस्वभावा विशररतचुरापोहृदेहामनीहा—
कायां वा कायगुप्तिं समदृगनुपतन्पाप्मना लिप्यते न ॥ १५६ ॥

जीवन और मरण प्रभृति सभी हेय और उपादेय पदार्थोंके विषयमें समान बुद्धि रखनेवाला अथवा

उनका यथावत् श्रद्धान करनेवाला वह साधु ज्ञानावरणादिक पापकर्मोंसे कभी भी लिप्त नहीं होता जो कि तीनों गुप्तियोंका निरन्तर पालन किया करता है। इन गुप्तियोंका स्वरूप इस प्रकार है:—

रागद्वेष कषायोंके और मोहके अभावको, यद्वा विनयपूर्वक समयका अच्छी तरह अभ्यास करनेको, अथवा समीचीन ध्यानको मनोगुप्ति कहते हैं। समय तीन प्रकारका बताया है--शब्दसमय, अर्थसमय, और ज्ञानसमय जिसका कि अर्थ क्रमसे वाचक वाच्य और प्रत्यय होता है। इस विषयमें एक जगह कहा है कि:—

विहाय सर्वसंकल्पान् रागद्वेषावलम्बितान्।
स्वाधीनं कुर्वतश्चेतः समत्वे सुप्रतिष्ठितम्॥

सिद्धान्तसूत्रविन्यासे शश्वत् प्रेरयतोथवा।
भवत्यविकला नाम मनोगुप्तिर्मनीषिणः॥

रागद्वेषके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले समस्त संकल्प विकल्पोंको छोडकर ममताभावमें स्थिर होजानेवाले अपने मनको जो व्यक्ति अपने अधीन--वशमें करलेता है, अथवा सिद्धान्तकी सूत्ररचनाके विषयमें निरन्तर ही जो अपने मनको लगाता रहता है उसी विचारशील पुरुषके परिपूर्ण मनोगुप्ति पल सकती है।

कठोर वचनादिकके छोडदेनेको अथवा मौन धारण करनेको वचनगुप्ति कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

साधुसंवृतवाग्वृत्तेर्मौनारूढस्य वा मुनेः।
संज्ञादिपरिहारेण वाग्गुप्तिः स्यान्महामतेः॥

जो महामति मुनि संज्ञा--इशारे आदिको छोडकर अपनी वचनप्रवृत्तिको अच्छी तरह संवरण करलेता है अथवा मौन धारण करलेता है उसीके वचनगुप्ति हो सकती या कही जा सकती है।

शरीरमें ममत्वबुद्धिके परित्यागरूप कायोत्सर्गको, अथवा हिंसा मैथुन और चोरी इन पापोंसे दूर रहने को, यद्वा समस्त शारीरिक चेष्टाओंकी निवृत्तिको कायगुप्ति कहते है। जैसा कि कहा भी है किः--

स्थिरीकृतशरीरस्य पर्यंक संश्रितस्य वा।
परीषहप्रपातेपि कायगुप्तिर्मता मुने ॥

अत्यंत परीषहोंके आ उपस्थित होनेपर भी जो अपने शरीरको स्थिर बनाये रखता है अथवा पर्यङ्कासनमें निश्चल रहता है-जो कायोत्सर्ग अथवा पर्यङ्कासनसे निचालित नहीं होता उस साधुके कायगुप्ति कही जाती है। और भी कहा है किः—

कायक्रियानिवृत्ति कायोत्सर्गं शरीरके गुप्ति।
हिंसादिनिवृत्तिर्वा शरीरगुप्ति समुदिष्टा ॥

शारीरिक क्रियाओंके परित्याग अथवा कायोत्सर्गको कायगुप्ति कहते है। यद्वा हिंसादिक पापोंकी निवृत्तिको भी कायगुप्ति कहते है।

वस्तुत त्रिगुप्तियुक्तका स्वरूप बताकर उसीके उत्कृष्टतया संवर और निर्जरा हो सकती है ऐसा उपदेश देते है :—

लुप्तयोगस्त्रिगुप्तोऽर्थात्तस्यैवापूर्वमण्वपि।
कर्मास्रवति नोपात्तं निष्फलं गलति स्वयम् ॥ १५७ ॥

जिसका मानसिक वाचिक और कायिक तीनो ही प्रकारका व्यापार लुप्त हो चुका है-जो तीनो ही प्रकारके योगोंसे सर्वथा रहित हो चुका है वही आत्मा वस्तुतः गुप्तित्रयरूप परिणत समझना चाहिये। ऐसे

त्रिगुप्त आत्माके एक परमाणुमात्र भी नवीन कर्मयोग–पुद्गलद्रव्यका आस्रव नहीं होता। और बिना किसी प्रकारका प्रयत्न किये ही पूर्वसञ्चित कर्म अपना फल न देकर ही आत्मासे सम्बन्ध छोडजाते है।

भावार्थ—उपर्युक्त तीनों प्रकारकी योगपरिणति जिसकी सर्वथा नष्ट हो चुकी है उसीको वस्तुतः त्रिगुप्तिका धारक समझना चाहिये और उसीके परमसंवर तथा परमनिर्जरा हो सकती है या हुआ करती है।

सिद्ध हुए योग–ध्यानके आश्चर्यजनक माहात्म्यको प्रकट करते हैः -

अहो योगस्य माहात्म्यं यास्मिन् सिद्धेऽस्ततत्पथः।
पापान्मुक्तः पुमाल्लब्धस्वात्मा नित्य प्रमोदते ॥ १५८ ॥

जिस योग—ध्यानके सिद्ध होजानेपर जीव पापकर्मोंके आनेके मार्गका सर्वथा निरोध कर पूर्वसञ्चित पापकर्मोंसे भी सर्वथा रहित हो निज शुद्ध स्वरूपको प्राप्त कर अनन्त कालतक निरन्तर आत्मिक परमानन्दपदका अनुभव करता है, अहो उसके आश्चर्यकारी माहात्म्यका कौन वर्णन कर सकता है।

भावार्थ—परमसंवर सम्पूर्ण निर्जरा और परममुक्ति इन तीन लोकोत्तर तत्त्वोंकी प्राप्ति ध्यानके निमित्तसे ही हो सकती है। अत एव उसका माहात्म्य भी लोकोत्तर ही समझना चाहिये। यहांपर पापशब्दसे सभी कर्मोंका ग्रहण किया है। क्योंकि निश्चय नयसे देखा जाय तो सभी कर्म आत्माके प्रतिपक्षी है और संसाररूप अथवा उसके कारण हैं। तथा संसारका अभाव हो जानेपर जो जीवको निज शुद्धात्मस्वरूपकी प्राप्ति होती है उसको मोक्ष कहते है। इसके कारण परमसंवर और निर्जरा है जिनकी कि सिद्धि उक्त ध्यानके द्वारा ही हो सकती है। यह ध्यान अप्रमत्त संयत गुणस्थानके प्रथम समयसे लेकर अयोगकेवलि गुणस्थानके प्रथम समयको प्राप्त कर क्रमसे व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्लध्यानरूप हो जाता है। यहींपर इसकी निष्पन्नता होती है और लोकोत्तर माहात्म्य प्रकट होता है।

मनोगुप्तिके अतीचारोंको बताते हैं:—

रागाद्यनुवृत्तिर्वा शब्दार्थज्ञानवैपरीत्यं वा ।
दुष्प्रणिधानं वा स्यान्मलो यथास्वं मनोगुप्तेः ॥ १५९ ॥

पहले गुप्तियोंका विशेष लक्षण बताते हुए मनोगुप्तिका स्वरूप तीन प्रकारसे बताया जा चुका है। १-रागादिकके त्यागरूप, २ समयके अभ्यासरूप, और ३ रा समीचीन ध्यानरूप। इन्हीं ३ प्रकारोंको ध्यानमें रखकर यहांपर मनोगुप्तिके क्रमसे तीन प्रकारके अतीचार बताते हैं।

उस आत्मपरिणतिको जिसका कि रागद्वेषरूप कषाय तथा मोहरूप परिणाम अनुगमन करते हैं मनोगुप्तिका पहले लक्षणकी अपेक्षासे अतीचार समझना चाहिये। किंतु यह अतीचार उसी अवस्थामें कहा जा-सकता है जब कि मनोगुप्तिकी अपेक्षा रखते हुए इससे उसके एकदेशका ही भङ्ग हो। क्योंकि अंशभङ्गका ही नाम अतीचार है। अतएव यह बात आगेके अतीचारोंके विषयमें भी ध्यानमें रखनी चाहिये।

दूसरे लक्षणकी अपेक्षासे शब्दार्थज्ञानके वैपरीत्यको अतीचार बताया है। यह कई प्रकारसे होता है किन्तु सामान्यसे इसके तीन भेद हैं। शब्दवैपरीत्य, अर्थवैपरीत्य और ज्ञानवैपरीत्य। व्याकरणशास्त्रके विरोधको अथवा विवक्षित पदार्थके अन्यथारूपसे प्रकाशित करनेको शब्दवैपरीत्य कहते हैं। सामान्यविशेषात्मक आभिधेय वस्तुका नाम अर्थ है। अत एव सामान्यमात्र अथवा विशेषमात्र यद्वा दोनोंके स्वतन्त्र माननेको अर्थवैपरीत्य कहते हैं। जी-वादिक द्रव्योंका जैसा स्वरूप बताया गया है वैसा न मानकर अन्यथा मानना इसको भी अर्थवैपरीत्य कहते हैं। शब्द अर्थ अथवा दोनोंके ही विपरीत प्रतिभासका नाम ज्ञानवैपरीत्य है।

तीसरे लक्षणकी अपेक्षासे आर्तरौद्रध्यानको अथवा समीचीन विषयमें उसके न लगानेको अतीचार कहा

आदाननिक्षेपण समितिका स्वरूप बताते हैं—

सुदृष्टमृष्टं स्थिरमाददीत स्थाने त्यजेत्तादृशि पुस्तकादि ।
कालेन भूयः कियतापि पश्येदादाननिक्षेपसमित्यपेक्षः ॥ १६८ ॥

जो साधु आदाननिक्षेपण समितिकी अपेक्षा रखता है और उसको सुरक्षित रखना चाहता है उसे उचित है कि वह पुस्तकादिक किसी द्रव्यको जब ग्रहण करना चाहे तब उसको अपने साक्षात् चक्षुओंसे अच्छी तरह देखले और पीछे पिच्छिका आदिसे झाडले। फिर भी स्थिर-अनन्यचित्त होकर ग्रहण करे। इसी प्रकार जब कोई चीज जहां रखनी हो तब उस स्थानको भी उसी प्रकार देखले और झाडकर साफ करले। तथा रखनेके बाद भी फिरसे उसको कुछ समयमें जब कि सम्मूर्छन जीव उत्पन्न हो सकते है, देखलेना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

आदाणे णिक्खेवे पडिलेहिय चक्खुणा समासिज्जो ।
दव्व च दव्वठाण सयमसिद्धीइ सो भिक्खू ।
सहसाणाभोइददुप्पमज्जियापच्चुवेक्खणा दोसा ।
परिहरमाणस्स भवे समिदी आदाणणिक्खेवा ॥

जा साधु किसी भी वस्तुके ग्रहण करने अथवा रखनेमें सहसा अनाभोग दुःप्रमार्जित और अप्रत्यवेक्षण इन दोषोंको छोडकर तथा उस ग्राह्य अथवा निक्षेप्य वस्तुको और उसके स्थानको अच्छी तरह चक्षुसे देखकर और पिच्छी आदिसे साफ करके ग्रहण करता अथवा रखता है उसके आदाननिक्षेपण समिति समझनी चाहिये।

उत्सर्गसमितिका स्वरूप बताते हैं:—

साधन सम्यग्दर्शनादिक अथवा उसके कारण अपूर्व चैत्यालय समीचीन उपाध्याय तथा धर्माचार्यादिककी सिद्धि—प्राप्तिके लिये अपने स्थानसे उस साधनके स्थानपर जानेकी इच्छा होनेपर ऐसे मार्गसे जो कि लोकोंके द्वारा अच्छी तरह विध्वस्त है—जिसमें कि मनुष्य हाथी घोडा गाढी आदि निरन्तर अच्छी तरह चलते हैं और जिसमें सूर्यकी किरणें अथवा प्रकाश पडरहा हो, करुणाबुद्धिसे—दयार्द्रपरिणामोंसे और बडे प्रयत्न-सावधानताके साथ इस तरह मन्द मन्द पैर रखते हुए कि जिससे किसी भी जीवकी विराधना न हो-प्रत्येक जीवकी हर तरहसे रक्षा करते हुए और इसी लिये रात्रिमें नहीं किन्तु दिनमें तथा कुक्कुटसंपात्य भूमि जूडाप्रमाण धरतीको शोधते हुए गमन करता है उसके ईर्या नामकी समिति होती है या समझनी चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

मग्गुज्जोउवओगालम्बणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो।
सुत्ताणुवीचिभणिया इरियासमिदी पवयणम्हि॥

जो उद्योत उपयोग और आलम्बनशुद्धिके द्वारा मार्गमे गमन करता है उसी मुनिके सूत्रोक्त निर्दोष ईर्यासमिति हो सकती है ऐसा प्रवचनमें कहा है।

क्रमप्राप्त भाषा समितिका लक्षण दो श्लोकोंमें बताते हैं —

कर्कशा परुषा कट्वी निष्ठुरा परकोपिनी।
छेदङ्करा मध्यकृशातिमानिन्यनयङ्करा॥ १६५॥
भूतहिंसाकरी चेति दुर्भाषां दशधा त्यजन्।
हितं मितमसंदिग्धं स्याद्भाषासमितो वदन्॥ १६६॥

ष्कृत होनेपर वे उस देवताके आराधन करनेका पुनः अवसर प्राप्त करनेमें तत्पर हो और उसके ... की सखीसदृश समितिका आश्रय लें।

विशेष भेदोंका नामोल्लेख करते हुए समितिका निरुक्तिसिद्ध सामान्य लक्षण बताते है—

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गलक्षणाः ।
वृत्तयः पञ्च सूत्रोक्तयुक्त्या समितयो मताः ॥ १६३ ॥

सूत्र—श्रुत अथवा आगममें बताये हुए क्रमके अनुसार—समीचीनतया की गई प्रवृत्तिको समिति कहते है। क्योंकि निरुक्तिके अनुसार समिति शब्दका अर्थ ऐसा ही होता है कि सम्—सचीचीनतया की गई इति—प्रवृत्ति। इस समीचीन प्रवृत्तिके पांच भेद है—ईर्या भाषा एषणा आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग। ईर्या शब्दका अर्थ गमन, भाषा शब्दका अर्थ वचन, एषणा शब्दका अर्थ भोजन, आदाननिक्षेपण शब्दका अर्थ क्रमसे ग्रहण करना और रखना तथा उत्सर्ग शब्दका अर्थ छोडना—मलमूत्रादिका परित्याग होता है।

पांचो ही समितियोंका विशेष लक्षण बतानेकी इच्छासे क्रमानुसार पहिले ईर्यासमितिका लक्षण बताते हैः—

स्यादीर्यासमितिः श्रुतार्थविदुषो देशान्तरं प्रेप्सतः,
श्रेयःसाधनसिद्धये नियमिनः कामं जनैर्वाहिते ।
मार्गे कौक्कटिस्य भास्करकरस्पृष्टे दिवा गच्छतः,
कारुण्येन शनैः पदानि ददतः पातुं प्रयत्नाङ्गिनः ॥ १६४ ॥

प्रायश्चित्तादि ग्रन्थरूप श्रुतके अर्थका भले प्रकार ज्ञान रखनेवाला जो व्रती या यति आत्मकल्याणके

मनोगुप्तिके अतीचारोंको बताते हैं:—

रागाद्यनुवृत्तिर्वा शब्दार्थज्ञानवैपरीत्यं वा ।
दुष्प्रणिधानं वा स्यान्मलो यथास्वं मनोगुप्तेः ॥ १५९ ॥

पहले गुप्तियोंका विशेष लक्षण बताते हुए मनोगुप्तिका स्वरूप तीन प्रकारसे बताया जा चुका है। १-रागादिकके त्यागरूप, २ समयके अभ्यासरूप, और ३ रा समीचीन ध्यानरूप। इन्हीं ३ प्रकारोंको ध्यानमें रखकर यहांपर मनोगुप्तिके क्रमसे तीन प्रकारके अतीचार बताते हैं।

उस आत्मपरिणतिको जिसका कि रागद्वेषरूप कषाय तथा मोहरूप परिणाम अनुगमन करते हैं मनोगुप्तिका पहले लक्षणकी अपेक्षासे अतीचार समझना चाहिये। किंतु यह अतीचार उसी अवस्थामें कहा जा-सकता है जब कि मनोगुप्तिकी अपेक्षा रखते हुए इससे उसके एकदेशका ही भङ्ग हो। क्योंकि अंशभङ्गका ही नाम अतीचार है। अतएव यह बात आगेके अतीचारोंके विषयमें भी ध्यानमें रखनी चाहिये।

दूसरे लक्षणकी अपेक्षासे शब्दार्थज्ञानके वैपरीत्यको अतीचार बताया है। यह कई प्रकारसे होता है किन्तु सामान्यसे इसके तीन भेद है। शब्दवैपरीत्य, अर्थवैपरीत्य और ज्ञानवैपरीत्य। व्याकरणशास्त्रके विरोधको अथवा विवक्षित पदार्थके अन्यथारूपसे प्रकाशित करनेको शब्दवैपरीत्य कहते है। सामान्यविशेषात्मक आभिधेय वस्तुका नाम अर्थ है। अत एव सामान्यमात्र अथवा विशेषमात्र यद्वा दोनोंके स्वतन्त्र माननेको अर्थवैपरीत्य कहते है। जीवादिक द्रव्योंका जैसा स्वरूप बताया गया है वैसा न मानकर अन्यथा मानना इसको भी अर्थवैपरीत्य कहते है। शब्द अर्थ अथवा दोनोंके ही विपरीत प्रतिभासका नाम ज्ञानवैपरीत्य है।

तीसरे लक्षणकी अपेक्षासे आर्तरौद्रध्यानको अथवा समीचीन विषयमें उसके न लगानेको अतीचार कहा

साधन सम्यग्दर्शनादिक अथवा उसके कारण अपूर्व चैत्यालय समीचीन उपाध्याय तथा धर्माचार्यादिककी सिद्धि—प्राप्तिके लिये अपने स्थानसे उस साधनके स्थानपर जानेकी इच्छा होनेपर ऐसे मार्गसे जो कि लोकोंके द्वारा अच्छी तरह विध्वस्त है—जिसमें कि मनुष्य हाथी घोडा गाढी आदि निरन्तर अच्छी तरह चलते है और जिसमें सूर्यकी किरणें अथवा प्रकाश पडरहा हो, करुणाबुद्धिसे—दयार्द्रपरिणामोंसे और बडे प्रयत्न-सावधानताके साथ इस तरह मन्द मन्द पैर रखते हुए कि जिससे किसी भी जीवकी विराधना न हो-प्रत्येक जीवकी हर तरहसे रक्षा करते हुए और इसी लिये रात्रिमें नहीं किन्तु दिनमें तथा कुकुटसपात्य भूमि जूडा-प्रमाण धरतीको शोधते हुए गमन करता है उसके ईर्या नामकी समिति होती है या समझनी चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

मग्गुज्जोवओगालबणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो।
सुत्ताणुवीचिभणिया इरियासमिदी पवयणम्हि ॥

जो उद्योत उपयोग और आलम्बनशुद्धिके द्वारा मार्गमे गमन करता है उसी मुनिके सूत्रोक्त निर्दोष ईर्यासमिति हो सकती है ऐसा प्रवचनमे कहा है।

क्रमप्राप्त भाषा समितिका लक्षण दो श्लोकोंमें बताते है —

कर्कशा परुषा कट्वी निष्ठुरा परकोपिनी।
छेदङ्करा मध्यकृशातिमानिन्यनयङ्करा ॥ १९५ ॥
भूतहिंसाकरी चेति दुर्भाषां दशधा त्यजन्।
हितं मितमसंदिग्धं स्याद्भाषासमितो वदन् ॥ १९६ ॥

जो साधु कर्कशादि दुर्भापाओंको छोडकर हित मित और असंदिग्ध वचन बोलता है उसके भापा नामकी समिति समझनी चाहिये। जो वचन अपना और दूसरेका उपकार करनेवाले हैं उनको हित, और जो विवक्षित अर्थकेलिये उपयोगी हों उनको मित, तथा जिनसे दूसरोंको संशयादिक उत्पन्न न हों उनको असंदिग्ध कहते हैं। दुर्भापा दश प्रकारकी बताई है। यथाः—

१— तू मूर्ख है, बिलकुल बैल है, कुछ नहीं समझता, इस तरहके संताप उत्पन्न करनेवाले वचनोंको कर्कशा भापा कहते हैं। २ तू अनेक दोपोंकी खानि महादुष्ट है, ऐसे मर्मवेधी वचनोंको परुपा भापा कहते हैं। ३—तू धर्मशून्य है, जातिहीन—कुजाति है, ऐसे उद्वेग उत्पन्न करनेवाले वचनोंको कटुभापा कहते हैं। ४- तुझे मार डालूंगा, तेरा शिर उडादूंगा, ऐसे कठोर शब्दोंको निष्ठुरा भापा कहते हैं ५- तू तो हमीका स्थान बिलकुल निर्लज्ज है, तेरा तप किस कामका, ऐसे दूसरेको क्रोध उत्पन्न करनेवाले वचनोंको परकोपिनी भापा कहते हैं। ६—पराक्रमशाली और गुणवान मनुष्योंका भी निर्मूल विनाश करदेनेवाले, अथवा असद्भूत दोपोंको भी प्रकट करनेवाले वचनोंको छेदंकरी भापा कहते हैं।७- ऐसे निष्ठुर वचनोंको जो कि हड्डियोंके भीतर भी कृप काढालें, मध्यकृपा भापा कहते हैं। ८—अपने महत्वको और दूसरोंकी निंदाको प्रख्यात करनेवाले शब्दोको अतिमानिनी भापा कहते हैं। ९—शीलसंतोपादिकके खण्डन करनेवाले अथवा परस्परमें मिले हुए या प्रेम-बद्ध व्यक्तियोंमें विद्वेप उत्पन्न करनेवाले वचनोंको अनयंकरा भापा कहते हैं। १०—जिनके निमित्तसे जीवोंके प्राणोंका भी वियोग होजाय ऐसे वचनोको भूतहिंसाकरी भापा कहते हैं।

एपणासमितिका लक्षण बताते हैंः—

विघ्नाङ्गारादिशङ्काप्रमुखपरिकैरुद्गमोत्पाददोषैः,
प्रस्मार्थं वीरचर्यार्जितममलमधःकर्ममुग् भावशुद्धम्।
स्वान्यानुग्राहि देहस्थितिपटु विधिवद्दत्तमन्यैश्च भक्त्या,

अधः नामके महादोषका आगे चलकर वर्णन करेंगे। पञ्चसूना और प्राणिहिंसा अथवा सूनाओंके द्वारा होनेवाली हिंसाको अधःकर्म कहते है। इसका परित्याग करनेवाले और अत एव इन्द्रिय तथा मनके नियमनकी अनुष्ठानरूप तपोलक्ष्मीको निरतर पुष्ट करनेवाले साधुके उस समय एपणा नामकी समीचीन प्रवृत्ति समझनी चाहिये जब कि वह मात्राके अनुरूप और योग्य कालमें ऐसे अन्न—चतुर्विध आहारको ग्रहण करे जो कि दाताके घरसे वामभागके तीन घर और दक्षिण भागके तीन घर तथा एक उस दाताका घर जहां प्रतिग्रह किया गया हो इस तरह सात घरोंमें रहनेवाले ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य अथवा सच्छूद्रके द्वारा भक्तिपूर्वक-निष्कपट अनुरागसे एवं विधिपूर्वक-प्रतिग्रहादि नवधा भक्तिके द्वारा दिया गया हो, जो अपने और परके उपकार करनेमें समर्थ, शरीरको आयुःप्रमाणके अनुसार स्थिर रखनेमें क्षम हो, जो भोक्ताके परिणामोंके द्वारा दूपित न किया गया हो अथवा जिसके विषयमें भोक्ताके परिणाम विशुद्ध हो, जो पूय रुधिरादिक मलोंसे तथा अधःकर्म महादोषसे रहित हो, जो वीरचर्या अदीन या अयाचकवृत्तिके द्वारा ग्रहण किया गया हो, तथा अन्तराय और अङ्गारादिक एवं शङ्का-प्रभृति उद्गमदोप तथा उत्पादना दोपोंसे सर्वथा अलिप्त हो। भोजन बनानेवाले अथवा दाताके प्रयोगसे भोजन बनानेमें दोप होते हैं उनको उद्गम दोप कहते है। इसके औद्देशिकादिक सोलह भेद है। इसी प्रकार भोक्ताके द्वारा भोजन बनवानेमें या उसके सम्बन्धमे जो दोप होते है उनको उत्पादना दोप कहते हैं। इसके धात्रीदूत आदि भेद है। एवं भोजनक्रियामें जो विघ्न उपस्थित होते है उनको अन्तराय कहते है। इसी प्रकार भोजन-सम्बन्धी अङ्गारादिक तथा भोज्यवस्तुसम्बन्धी शङ्कादिक दोप भी है जिनका कि विशेष वर्णन आगेके अध्यायमें करेंगे।

भावार्थ—जो साधु भोजनके सम्बन्धमें बताई हुई आठ प्रकारकी शुद्धियोंके अनुसार छ्यालीस दोप चौदह मल और बत्तीस अन्तराय तथा अधःकर्म महादोपसे रहित और उपर्युक्त विशेषणोंसे युक्त भोजनको विधिपूर्वक ग्रहण करता है उसीके एषणा नामक समिति समझनी चाहिये।

आदाननिक्षेपण समितिका स्वरूप बताते हैं—

सुदृष्टमृष्टं स्थिरमाददीत स्थाने त्यजेत्तादृशि पुस्तकादि ।
कालेन भूयः कियतापि पश्येदादाननिक्षेपसमित्यपेक्षः ॥ १६८ ॥

जो साधु आदाननिक्षेपण समितिकी अपेक्षा रखता है और उसको सुरक्षित रखना चाहता है उसे उचित है कि वह पुस्तकादिक किसी द्रव्यको जब ग्रहण करना चाहे तब उसको अपने साक्षात् चक्षुओंसे अच्छी तरह देखले और पीछे पिच्छिका आदिसे झाडले । फिर भी स्थिर-अनन्यचित्त होकर ग्रहण करे । इसी प्रकार जब कोई चीज जहां रखनी हो तब उस स्थानको भी उसी प्रकार देखले और झाडकर साफ करले । तथा रखनेके बाद भी फिरसे उसको कुछ समयमें जब कि सम्मूर्छन जीव उत्पन्न हो सकते हैं, देखलेना चाहिये । जैसा कि कहा भी है कि:—

आदाणे णिक्खेवे पडिलेहिय चक्खुणा समासिज्जो ।
दव्व च दव्वठाण सयमसिद्धीइ सो भिक्खू ।
सहसाणाभोइददुप्पमज्जियापच्चुवेक्खणा दोसा ।
परिहरमाणस्स भवे समिदी आदाणणिक्खेवा ॥

जो साधु किसी भी वस्तुके ग्रहण करने अथवा रखनेमें सहसा अनाभोग दुःप्रमार्जित और अप्रत्यवेक्षण इन दोषोंको छोडकर तथा उस ग्राह्य अथवा निक्षेप्य वस्तुको और उसके स्थानको अच्छी तरह चक्षुसे देखकर और पिच्छी आदिसे साफ करके ग्रहण करता अथवा रखता है उसके आदाननिक्षेपण समिति समझनी चाहिये ।

उत्सर्गसमितिका स्वरूप बताते हैं:—

ष्कृत होनेपर वे उस देवताके आराधन करनेका पुनः अवसर प्राप्त करनेमें तत्पर हों और उसके लिये उस देवता की सखीसदृश समितिका आश्रय लें।

विशेष भेदोंका नामोल्लेख करते हुए समितिका निरुक्तिसिद्ध सामान्य लक्षण बताते हैं—

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गलक्षणाः ।
वृत्तयः पञ्च सूत्रोक्तयुक्त्या समितयो मताः ॥ १६३ ॥

सूत्र - श्रुत अथवा आगममें बताये हुए क्रमके अनुसार—समीचीनतया की गई प्रवृत्तिको समिति कहते है। क्योंकि निरुक्तिके अनुसार समिति शब्दका अर्थ ऐसा ही होता है कि सम्—समीचीनतया की गई इति—प्रवृत्ति। इस समीचीन प्रवृत्तिके पांच भेद है—ईर्या भाषा एषणा आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग। ईर्या शब्दका अर्थ गमन, भाषा शब्दका अर्थ वचन, एषणा शब्दका अर्थ भोजन, आदाननिक्षेपण शब्दका अर्थ क्रमसे ग्रहण करना और रखना तथा उत्सर्ग शब्दका अर्थ छोडना—मलमूत्रादिका परित्याग होता है।

पांचो ही समितियोंका विशेष लक्षण बतानेकी इच्छासे क्रमानुसार पहिले ईर्यासमितिका लक्षण बताते हैं:—

स्यादीर्यासमितिः श्रुतार्थविदुषो देशान्तरं प्रेप्सतः,
श्रेयःसाधनसिद्धये नियमिनः कामं जनैर्वाहिते ।
मार्गे कौक्कुटिस्य भास्करकरस्पृष्टे दिवा गच्छतः,
कारुण्येन शनैः पदानि ददतः पातुं प्रयत्याङ्गिनः ॥ १६४ ॥

प्रायश्चित्तादि ग्रन्थरूप श्रुतके अर्थका भले प्रकार ज्ञान रखनेवाला जो व्रती या यति आत्मकल्याणके

आदाननिक्षेपण समितिका स्वरूप बताते हैं—

सुदृष्टमृष्टं स्थिरमाददीत स्थाने त्यजेत्तादृशि पुस्तकादि ।
कालेन भूयः कियतापि पश्येदादाननिक्षेपसमित्यपेक्षः ॥ १६८ ॥

जो साधु आदाननिक्षेपण समितिकी अपेक्षा रखता है और उसको सुरक्षित रखना चाहता है उसे उचित है कि वह पुस्तकादिक किसी द्रव्यको जब ग्रहण करना चाहे तब उसको अपने साक्षात् चक्षुओंसे अच्छी तरह देखले और पीछे पिच्छिका आदिसे झाडले । फिर भी स्थिर-अनन्यचित्त होकर ग्रहण करे । इसी प्रकार जब कोई चीज जहां रखनी हो तब उस स्थानको भी उसी प्रकार देखले और झाडकर साफ करले । तथा रखनेके बाद भी फिरसे उसको कुछ समयमें जब कि सम्मूर्छन जीव उत्पन्न हो सकते है, देखलेना चाहिये । जैसा कि कहा भी है कि:—

आदाणे णिक्खेवे पडिलेहिय चक्खुणा समासिज्जो ।
दव्वं च दव्वठाणं संयमसिद्धीइ सो भिक्खू ।
सहसाणाभोइददुप्पमज्जियापच्चुवेक्खणा दोसा ।
परिहरमाणस्स भवे समिदी आदाणणिक्खेवा ॥

जो साधु किसी भी वस्तुके ग्रहण करने अथवा रखनेमें सहसा अनाभोग दुःप्रमार्जित और अप्रत्यवेक्षण इन दोषोंको छोडकर तथा उस ग्राह्य अथवा निक्षेप्य वस्तुको और उसके स्थानको अच्छी तरह चक्षुसे देखकर और पिच्छी आदिसे साफ करके ग्रहण करता अथवा रखता है उसके आदाननिक्षेपण समिति समझनी चाहिये ।

उत्सर्गसमितिका स्वरूप बताते हैं:—

है। इस प्रकार मनोगुप्तिके लक्षणभेदकी अपेक्षासे तीन प्रकारके अतीर बताये है। किन्तु इतना अवश्य समझलेना चाहिये कि ऐसी कोई भी क्रिया अथवा परिणाम मनोगुप्तिके अतीचारोंमें ही परिगणित होंगे जो कि अपेक्षाविशेषके अनुसार मनोगुप्तिके आंशिक भंगका कारण हों। क्योंकि अंशभंगका ही नाम अतीचार है। यह बात आगेके अतचिारोंके विषयमें भी ध्यानमें रखनी चाहिये।

क्रमप्राप्त वचनगुप्तिके अतीचारोंको दिखाते है।

कार्कश्यादिगरोद्गारो गिरः सविकथादरः।
हुंकारादिक्रिया वा स्याद्वाग्गुप्तेस्तद्वदत्ययः॥ १६०॥

भाषासमितिके विषयमें कर्कशा परुषा कट्वी आदि दश प्रकारके वचनदोष आगे चलकर गिनावेंगे। ऐसे वचनोको विषके समान समझना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार विषके निमित्तसे उसके भक्षण करनेवालेको मोह अथवा संतापादिक हुआ करते है उसी प्रकार कर्कश आदि वचनोंके निमित्तसे उसके सुननेवालेको भी संतापादिक हुआ करते है। अत एव ऐसे वचनोंका श्रोताओंके प्रति उच्चारण करना वचनगुप्तिका अतीचार है। इसी प्रकार विकथाओंमें आदर-उनको प्रकाशित करनेकेलिये उद्यम करना भी वचनगुप्तिका अतीचार है। मोक्षमार्गके विरुद्ध कथोपकथनको विकथा कहते है। इसके स्त्री राजा चोर और भोजन इन विषयोंकी अपेक्षासे चार भेद हैं। मुखसे हुंकारादिकके द्वारा अथवा खकार करके यद्वा हाथ और भृकुटिचालन क्रियाओंके द्वारा इङ्गित करना भी वचनगुप्तिका अतीचार है।

पहिले वचनगुप्तिका स्वरूप दो प्रकारसे बताया है। एक तो दुर्वचनके त्यागरूप दूसरा मौनरूप। उपर्युक्त आदिके दो अतीचार प्रथम लक्षणकी अपेक्षासे है और तीसरा अतीचार मौनरूप लक्षणकी अपेक्षासे है।

कायगुप्तिके अतीचारोंको बताते है. -

कायोत्सर्गमला: शरीरममतावृत्तिः शिवादिन्यथा,
भक्तं तत्प्रतिभोन्मुखं स्थितिरथाकीर्णेंघ्रिणैकेन सा ।

जन्तुस्त्रीप्रतिमापरस्वबहुले देशे प्रमादेन वा,
सापध्यानमुताङ्गवृत्त्युपरतिः स्युः कायगुप्तेर्मला: ॥ १६१ ॥

आगे चलकर आठवें अध्यायमें आवश्यकोंका वर्णन करते हुए कायोत्सर्गसम्बन्धी जिन बत्तीस दोषोंका वर्णन करेंगे उनको कायगुप्तिका अतीचार समझना चाहिये । इसी प्रकार यह शरीर मेरा है इस प्रकारकी प्रवृत्ति करनेको, अथवा महादेव विष्णु ब्रह्मा बुद्ध आदिकी मूर्तिके सामने इस तरहसे खडे होनेको मानों उनका आराधन करनेकेलिये खडे हुए हैं —आराधककी तरहसे शिवादिकी मूर्तिके सामने हाथ छोडकर या किसी अन्य प्रकारसे खडे होनेका, यद्वा जनसमूहसे व्याप्त स्थानमें एक पैरसे खडे होनेको भी कायगुप्तिका अतीचार कहते हैं। किन्तु ये चारो ही अतीचार कायगुप्तिका जो कायोत्सर्गरूप लक्षण बताया है उसकी अपेक्षासे हैं । ये अतीचार समस्त अथवा व्यस्त दोनों ही प्रकारके हो सकते हैं। कायगुप्तिका दूसरा स्वरूप हिंसादिकके त्यागरूप बताया है । उसकी अपेक्षासे ऐसे स्थानमें जिसमें कि अनेक जन्तु-प्राणिगण स्त्रियोंकी प्रतिमाएं अथवा परकीय धनादिक प्रचुरतासे पाया जाता हो प्रमाद-अयत्नाचारपूर्वक रहनेको कायगुप्तिका अतीचार समझना चाहिये । कायगुप्तिका तीसरा लक्षण समस्त चेष्टाओंका परित्याग बताया है। इस लक्षणकी अपेक्षासे शरीर अथवा हस्तादिकके द्वारा परीषह अथवा उपसर्गादिकके दूर करनेकी चिन्तारूप अपध्यानके साथ साथ शरीरव्यापारके छोडनेको कायगुप्तिका अतीचार समझना चाहिये।

जो मुनि गुप्तियोंके पालन करनेमें असमर्थ है और शरीरसे व्यापार करना चाहता है उसको समिति-

योंका पालन करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं: --

गुप्तेः शिवपथदेव्या बहिष्कृतो व्यवहातिप्रतीहार्या ।
भूयस्तद्भक्त्यवसरपर, श्रयेत्तत्सखीः शमी समितीः॥ १६२ ॥

जिस प्रकार अभीष्ट नायिकाको अपने ऊपर अनुरक्त-प्रसन्न करनेकी इच्छा रखनेवाला कोई नायक अवसर न मिलनेपर उसको अनुकूल करनेकेलिये अपनी उस प्रेयसीकी सखीका आश्रय लेता है, उसी प्रकार गुप्तियोंका आराधन करनेकी इच्छा रखनेवाले यतिको उनकी अप्राप्तिमें गुप्तियोंकी सखीके समान समितियोंका ही आश्रय लेना श्रेयस्कर है ।

यहांपर समितियोंको गुप्तियोंकी सखी जो बताया है उसका अभिप्राय यह है कि समितियां गुप्तियोंके स्वभावका अनुसरण किया करती हैं किन्तु गुप्तियां समितियोंके स्वभावका अनुसरण कभी नहीं करतीं ।

गुप्तियोंको मोक्षमार्गकी अधिदेवता और शरीरादिककी चेष्टाको उनकी प्रतीहारिणी जो कहा है उसका भी अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार प्रतीहारिणी अपनी स्वामिनीका आराधन न करनेवाले अथवा विराधन करनेवालेको दूर करदिया करती है उसी प्रकार गुप्तियोंका आराधन करनेमें असमर्थ अथवा विराधन करनेवाले यतिको व्यवहारचेष्टा मोक्षमार्गसे दूर करदिया करती है-यथेष्ट संवर निर्जरा नहीं होने देती। क्योंकि कहा भी है कि कर्मोंके आगमनके द्वारका निरोध करनेवाले यतिके-गुप्ति और शरीरचेष्टाविशिष्ट साधुके समितियां हुआ करती है। यथा-

कर्मद्वारोपरमणरतस्य तिस्रस्तु गुप्तय सन्ति ।
चेष्टाविष्टस्य मुनेर्निर्दिष्टा समितय पञ्च ॥

अत एव मुमुक्षु यतिओंको उचित है कि मोक्षमार्गकी अधिदेवता गुप्तिकी प्रतीहारिणी चेष्टाके द्वारा बहि-

ष्कृत होनेपर वे उस देवताके आराधन करनेका पुनः अवसर प्राप्त करनेमें तत्पर हों और उसके लिये उस देवता की सखीसदृश समितिका आश्रय लें।

विशेष भेदोंका नामोल्लेख करते हुए समितिका निरुक्तिसिद्ध सामान्य लक्षण बताते हैं—

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गलक्षणाः ।
वृत्तयः पञ्च सूत्रोक्तयुक्त्या समितयो मताः ॥ १६३ ॥

सूत्र—श्रुत अथवा आगममें बताये हुए क्रमके अनुसार—समीचीनतया की गई प्रवृत्तिको समिति कहते है। क्योंकि निरुक्तिके अनुसार समिति शब्दका अर्थ ऐसा ही होता है कि सम्—समीचीनतया की गई इति—प्रवृत्ति। इस समीचीन प्रवृत्तिके पांच भेद है—ईर्या भाषा एषणा आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग। ईर्या शब्दका अर्थ गमन, भाषा शब्दका अर्थ वचन, एषणा शब्दका अर्थ भोजन, आदाननिक्षेपण शब्दका अर्थ क्रमसे ग्रहण करना और रखना तथा उत्सर्ग शब्दका अर्थ छोडना—मलमूत्रादिका परित्याग होता है।

पांचो ही समितियोंका विशेष लक्षण बतानेकी इच्छासे क्रमानुसार पहिले ईर्यासमितिका लक्षण बताते हैं:—

स्यादीर्यासमितिः श्रुतार्थविदुषो देशान्तरं प्रेप्सतः,
श्रेयःसाधनसिद्धये नियमिनः कामं जनैर्वाहिते ।
मार्गे कौक्कटिस्य भास्करकरस्पृष्टे दिवा गच्छतः,
कारुण्येन शनैः पदानि ददतः पातुं प्रयत्नाङ्गिनः ॥ १६४ ॥

प्रायश्चित्तादि ग्रन्थरूप श्रुतके अर्थका भले प्रकार ज्ञान रखनेवाला जो व्रती या यति आत्मकल्याणके

निर्जन्तौ कुशले विविक्तविपुले लोकोपरोधोज्झिते,
प्लुष्टे कृष्ट उतोषरे क्षितितले विष्टादिकानुत्सृजन् ।
घुःप्रज्ञाश्रमणेन नक्तमभितो दृष्टे विभज्य त्रिधा,
सुस्पृष्टेप्यपहस्तकेन समितावुत्सर्गे उत्तिष्ठते ॥ १६९ ॥

द्वीन्द्रियादिक जीवोंसे तथा हरित तृणादिकसे रहित एवं प्रशस्त — सर्पकी वामी आदि भयके कारणोंसे रहित तथा विविक्त-एकान्त जनशून्य अथवा अशुचि आदि कूडे कचडेसे रहित, और जहापर किसी प्रकारका संकट उपस्थित न हो, एवं जहांपर जाने आने या बैठने आदिमें किसीकी किसी प्रकारकी रुकावट न हो, ऐसे दवाग्नि अथवा श्मशानाग्निके द्वारा दग्ध हुए स्थानमें, यद्वा हलके द्वारा बार बार जोते गए खेतमें, अथवा स्थण्डिल — खारी मट्टीवाली चटीली जमीनमें जो साधु दिनके समय अपने मल मूत्र नाक थूक केश सप्तम धातु पित्त वमन आदि मलोंको छोडता है उसके उत्सर्ग नामकी समिति कही जाती है। यदि कदाचित् रात्रिके समय मलादिककी बाधा हो तो उसकी निवृत्तिकेलिये साधुओंको उचित है कि वे प्रज्ञाश्रमणके द्वारा क्रमसे तीन भागोंमें विभक्त करके दिनके समय अच्छी तरह देखे गये स्थानमें ही मलादिकका उत्सर्ग करें। यदि फिर भी मलोत्सर्गके समय किसी जीवादिककी शंका हो तो उस शंकाको दूर करनेकेलिये अपने वाम हाथसे उस स्थानको मलोत्सर्गके पहिले ही स्पर्श करके देखलें।

भावार्थ —साधुओंको प्राशुक, निर्भय, एकान्त पवित्र, संकटरहित, और ऐसी अनुपरुद्ध भूमिमें जो कि दग्ध अथवा जोती हुई यद्वा ऊषर हो, अपने उपर्युक्त मलोंका परित्याग करना चाहिये। और रात्रिके समय प्रज्ञाश्रमणके द्वारा निर्दिष्ट स्थानमें मलोत्सर्ग करना चाहिये।

जो साधु विनय करनेमें तत्पर और वैयावृत्यादिकमें कुशल तथा वैराग्यभावनाओंमें रत और समस्त संघका प्रतिपालन करनेवाला एवं जितेन्द्रिय होता है उसको प्रज्ञाश्रमण कहते हैं। इसको उचित है कि जबतक सूर्यका अस्त न होजाय—उदय बना रहे तबतक साधुओंको दिनमें ही, रात्रिके समय मलमूत्रादिका उत्सर्ग करने केलिये क्रमसे तीन स्थानतक देखकर एक उचित स्थान निश्चित करले। यदि पहिला स्थान अशुद्ध हो तो दूसरा, और दूसरा भी अशुद्ध हो तो तीसरा स्थान निश्चित करे। इस निश्चित स्थानपर ही साधुओंको रात्रिके समय मलोत्सर्ग करना चाहिये। फिर भी कदाचित् किसी प्रकारकी शंका हो जाय तो वाम हाथसे उस स्थानका स्पर्श कर अपना संदेह दूर करलेना चाहिये तब मलोत्सर्ग करना चाहिये। ऐसा करनेपर ही उत्सर्गसमिति साधुओंके मानी जा सकती है। जैसा कि कहा भी है कि—

वणदाहकिसिमसिकदे थडीले अणुपरोधविच्छिण्णे।
अवगदजंतुविवित्ते उच्चारादी विसज्जिज्जो ॥
उच्चार पासवण खेल सिंघाणयादिज दव्व।
अचित्तभूमिदेसे पडिलेहित्ता विसज्जिज्जो ॥

वनवान्हिके द्वारा दग्ध, अथवा कृष्ट—जो कि हलके द्वारा पुनः पुन विदीर्ण करदी गई हो, यद्वा श्मशानाग्निके द्वारा जली हुई, अथवा ऊषर भूमिमें जहांपर कि किसीकी रोकटोक नहीं है और जीवजन्तुओंकी बाधा भी नहीं है एव जो अचित्त—प्रासुक है, साधुओंको प्रतिलेखन करके—उस स्थानको अच्छी तरह देख शोध कर मल मूत्र थूक श्लेष्मा आदिका विसर्जन करना चाहिये। तथाः—

रात्रौ च तत्त्यजेत्स्थाने प्रज्ञाश्रमणवीक्षिते।
कुर्वन् शङ्कानिरासायापहस्तस्पर्शन मुनि।
द्वितीयाद्य भवेत्तच्चेदशुद्ध साधुरिच्छति।
लघुत्वस्यावशो दोषो न दद्याद् गुरुक यते॥

मुनियोंको रात्रिके समय प्रज्ञाश्रमणके द्वारा निरीक्षित स्थानमें मलोत्सर्ग करना चाहिये और अपनी शंका दूर करनेकेलिये उस स्थानको वाम हाथसे स्पर्श करके देखलेना चाहिये। यदि पहिला स्थान अशुद्ध हो तो दूसरा और दूसरा भी अशुद्ध हो तो तीसरा स्थान देखना चाहिये। कदाचित् वीमारी या किसी विशेष कारणवश शीघ्र ही मलका उत्सर्ग होजाय तो आचार्यको उचित है कि साधुको विशेष दण्ड न दे।

जो मुनि अतिचाररहित समितियोंके पालन करनेमें तत्पर रहता है उसको हिंसादिक दोषोंका अभावरूप फल प्राप्त होता है। इस बातको प्रकट करते हैं:--

समितीः स्वरूपतो यतिराकारविशेषतोप्यनतिगच्छन् ।
जीवाकुलेपि लोके चरन्न युज्येत हिंसाद्यैः ॥ १७० ॥

स्वरूप अथवा लक्षणकी अपेक्षासे यद्वा पूर्वोक्त उनके विशेषणोंकी अपेक्षासे भी जो साधु समितियोंमें रंचमात्र भी अतिचार नहीं लगनेदेता और सदा उनके पूर्णतया पालन करनेमें सावधान रहता है वह स्थावर और त्रसजीवोंसे व्याप्त संसारमें यथेच्छ विहार करते हुए भी हिंसादि दोषोंसे लिप्त नहीं होता।

समितियोंके माहात्म्यका वर्णन करते हुए उनका सदा सेवन करनेकेलिये उपदेश देते हैं:—

पापेनान्यवधेपि पद्ममणुशोप्युद्वेव नो लिप्यते,
यद्युक्तो यदनादृतः परवधाभावेप्यलं वध्यते ।
यद्योगादधिरुह्य संयमपदं भान्ति व्रतानि द्रुया,—

जो साधु समितियोंका भले प्रकार पालन कर वह दैववश अपनेसे दूसरे प्राणियोंका वध होजानेपर भी, जिस प्रकार कमल या उसका पत्ता पानीमें लिप्त नहीं होता उसी प्रकार, पापकर्मसे रंचमात्र भी उपश्लिष्ट नहीं होता। किंतु इसके विरुद्ध जो इन समितियोंमें आदरबुद्धि नहीं रखता और इनका पालन नहीं करता वह परप्राणियोंका व्यपरोपण न करके भी तज्जनित हिंसादोषसे अथवा पापकर्मसे लिप्त होजाता है। एवं इन समितियोंके ही माहात्म्यसे महाव्रत और अणुव्रत भी संयमस्थानको पाकर प्रकाशमान होते तथा पूर्वोक्त तीनों प्रकार की गुप्तियां भी जागृत होती हैं। अत एव जिनका निरतिचार पालन अहिंसादिका, और न पालन हिंसादि दोषोंका कारण है और जिनके निमित्तसे व्रत संयमरूप होजाते तथा गुप्तियां उद्भूत होती हैं उन समितियोंका सत्पुरुषोंको नित्य ही—जब गुप्तियोंका पालन न कर सके उस समय, अवश्य ही सेवन करना चाहिये। क्योंकि कहा भी है कि:—

> अजदाचारो समणो छस्सुवि काएसु बधगोत्तिमदो।
> चरदि जद जदि णिच कमलं व जले णिरुवलेवो।

जो श्रमण आचरण करनेमें असावधानता रखता है उसके षट्कायसम्बन्धी पापका बन्ध होता है किंतु जो यत्नपूर्वक आचरण—संयमका पालन करता है वह पापकर्मसे इस तरह अलिप्त रहता है जैसे कि कमल जलसे।

ऊपर समितियोंका एक फल यह भी बताया है कि इनके निमित्तसे व्रत संयमस्थानको प्राप्त होजाते हैं। यहांपर प्रश्न होसकता है कि व्रत और संयममें क्या अन्तर है? इसका उत्तर वर्गणाखण्डके बन्धनाधिकारमें इस प्रकार दिया है कि—

> "संयमविरईण को भेदो? ससमिदि महव्वयाणुव्वयाइ
> संयमो, समिदीहिं विणा महव्वयाणुव्वयाइ विरदी ॥" इति।

समितियोंके साथ साथ महाव्रत और अणुव्रतोंके पालन करनेका नाम संयम और विना समितियोंके इनके पालन करनेका नाम व्रत है।

इस प्रकार समितियोंका वर्णन समाप्त हुआ। अब शीलका वर्णन क्रमप्राप्त है। क्योंकि इस अध्यायकी आदिमें समितियोंके व्रत अथवा चारित्ररूपी वृक्षका रक्षक शीलको ही बताया है। अत एव यहांपर शीलका लक्षण और उसके विशेष भेदोंको बताते हुए उसकी उपादेयताका निरूपण करते हैं:—

शीलं व्रतपरिरक्षणमुपैतु शुभयोगवृत्तिमितरहतिम्।
संज्ञाक्षविरतिरोधौ क्ष्मादियममलात्ययं क्षमादींश्च ॥ १७२ ॥

जिसके द्वारा व्रतोंकी रक्षा की जाय अथवा उनका पालन किया जाय उसको शील कहते हैं। इसके पालन करनेमें शुभयोगरूप प्रवृत्ति और अशुभयोगकी निवृत्ति करनी चाहिये, संज्ञाओंका परिहार और इन्द्रियोंका निरोध करना चाहिये, पृथिवी आदि दश प्रकारके जीवोंके प्राणव्यपरोपणका त्याग और उनके अतीचारोंका परिहार करना चाहिये, तथा उत्तमक्षमादि दशधर्मको धारण करना चाहिये।

पुण्यास्रवकी कारणभूत मनवचनकायकी प्रवृत्तिको अथवा जिनसे समस्त कर्मोंका क्षय किया जा सकता है उन गुप्तियोंको शुभयोग कहते हैं। अतएव इसके तीन भेद हैं। इसी प्रकार अशुभयोगनिवृत्तिके भी तीन भेद हैं। आहार भय मैथुन और परिग्रहकी अभिलाषारूप संज्ञाओंकी निवृत्ति चार प्रकारकी है। तथा स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र इनका निरोध पांच प्रकारका है। संयमके विषयकी अपेक्षा दश भेद हैं। यथा—पृथिवी जल तेज वायु प्रत्येक साधारण द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। एवं धर्मके भी दश भेद हैं—उत्तमक्षमा मार्दव आर्जव शौच सत्य संयम तप त्याग आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य। इन भेदोंका परस्परमें गुणा करनेसे शीलके अठारह हजार भेद होते हैं। यथा—तीन प्रकारकी शुभयोगप्रवृत्तिके तीन भेदोंके साथ

गुणा करनेपर नौ भेद और फिर इनका चार प्रकारकी संज्ञानिवृत्तिसे गुणा करनेपर ३६ भेद; एवं इनका भी पांच इंन्द्रियनिरोधसे गुणा करनेपर एकसौ अस्सी भेद तथा उनका भी निरतीचार दश प्रकारके संयमसे गुणा करनेपर एक हजार आठसौ और इनका भी फिर दश धर्मसे गुणा करनेपर अठारह हजार भेद होते है। जैसा कि कहा भी है कि:—

योगे करणसंज्ञाक्षे धरादौ धर्म एव च।
अष्टादश सहस्राणि स्यु शीलानि मिथोवधे ॥

तीन योग, तीन करण, चार संज्ञाए, पांच इन्द्रिय, दश संयम और दश धर्म इनका परस्परमें गुणा करने पर शीलके अठारह हजार भेद होते है। जो मुनिश्रेष्ठ मनोयोग और आहारसंज्ञासे रहित तथा मनोगुप्तिका पालन करनेवाला स्पर्शनेन्द्रियसे संवृत, पृथिवीकायके संयमका पालक और उत्तम क्षमाका धारक होता है उस विशुद्ध मुनिके अठारह हजार शीलके भेदोंमेंसे पहिला भेद समझना चाहिये। तथा जो मुनिश्रेष्ठ इन्हीं विशेषणोंसे युक्त है किन्तु मनोगुप्तिकी जगह वाग्गुप्तिका पालन करनेवाला है उसके दूसरा भेद समझना चाहिये। और जो वाग्गुप्तिकी जगह कायगुप्तिका पालन करता है उसके तीसरा भेद समझना चाहिये। जो वचनयोग रहित मनोगुप्तिका पालन करता किंतु शेष उपर्युक्त विशेषणोंसे युक्त है उसके चौथा भेद, और जो वचनयोगरहित वचनगुप्तिका पालन करते हुए शेष उक्त विशेषणोंसे युक्त है उसके पांचवॉ भेद तथा जो वचनयोगरहित कायगुप्तिका पालन करते हुए शेष विशेषणोंसे युक्त है उसके छट्ठा भेद समझना चाहिये। इसी प्रकार गुप्ति योग संज्ञा और इन्द्रियादिकोंका अक्षसंचार करके क्रमसे सम्पूर्ण भेद समझलेने चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

मनोगुप्ते मुनिश्रेष्ठे मन करणवर्जिते।
आहारसंज्ञया मुक्ते स्पर्शनेन्द्रियसंवृते।
सधरासंयमे क्षान्तिसनाथे शीलमादिमम्।
तिष्ठत्यविचल शुद्ध तथा शेषेष्वपि क्रम ॥

भेदोंको बताते हुए उनके पालन करनेका उपदेश देते हैं।—

गुणाः संयमवीकल्पाः शुद्धयः कायसंयमाः ।
सेव्या हिंसाकम्पितातिक्रमाद्यब्रह्मवर्जनाः ॥ १७३ ॥

संयमके ही उत्तर भेदोंका नाम गुण है। कायसंयम, शुद्धि, हिंसादिवर्जन, आकम्पितादिवर्जन, अतिक्रमादिवर्जन, और अब्रह्मवर्जन, इन सबके भेदोंका परस्परमें गुणा करनेसे चौरासी लाख भेद होते हैं। इन्हीका नाम ८४ लाख उत्तर गुण है।

पूर्वोक्त संयमके विषयकी अपेक्षासे बताये हुए पृथिवीकाय पृथिवीकायिक आदि दश भेदोंका परस्परमें गुणा करनेपर कायसंयमके सौ भेद होते है। हिंसादित्यागके भी विषयकी अपेक्षा इक्कीस भेद हैं। इनका अतिक्रमादित्यागके चार भेदोंसे गुणा करनेपर ८४ भेद होते है और इनका भी उक्त सौ भेदोंसे गुणा करनेपर ८४०० आठ हजार चार सौ भेद होते है। पुनः इनका अब्रह्मत्यागके दश भेदोंसे गुणा करनेपर ८४००० चौरासी हजार और इनका भी आकम्पितादित्यागके दश भेदोंसे गुणा करनेपर आठ लाख चालीस हजार भेद, तथा इनका भी आलोचनादिक प्रायश्चित्तके दश भेदोंसे गुणा करनेपर चौरासी लाख भेद होते है। गुणोंके इन सभी भेदोंका मुमुक्षुओंको पालन और इनके विरुद्ध दोषोंका परित्याग करना चाहिये।

हिंसादित्यागके इक्कीस भेद जिन विषयोंकी अपेक्षासे बताते है उनके नाम इस प्रकार हैः —

हिंसानृत तथा स्तेय मैथुन च परिग्रह' ।
क्रोधादयो जुगुप्सा च भयमप्यरती रति ॥

मनोवाकायदुष्टत्व मिथ्यात्वं सप्रमादकम् ।
पिशुनत्व तथा ज्ञानमक्षाणा चाप्यनिग्रह. ॥

हिंसा झूट चोरी कुशील परिग्रह क्रोध मान माया लोभ जुगुप्सा भय अरति रति मनोमंगुल वचनमंगुल कायमंगुल मिथ्यात्व प्रमाद विशुनता अज्ञान और इन्द्रियोंका अनिग्रह।

विपयव्यासङ्गसे अथवा संक्लेश परिणामोंसे आगममें बताये हुए कालकी अपेक्षा अधिक कालतक आवश्यकादिकके करते रहनेको अतिक्रम, और विपयव्यासङ्गादिकी अपेक्षासे ही नियत कालसे कम समयमें उस क्रियाके करनेको व्यतिक्रम, तथा क्रियाओंके करनेमें आलस्य करनेको अतिचार, और व्रतोंके पालन करने अथवा खण्डित करदेनेको अनाचार कहते है।

अब्रह्म-शीलविराधनाके दश भेद इस प्रकार हैः –

स्त्रीगोष्ठी वृष्यभुक्तिश्च गन्धमाल्यादिवासनम् ।
शयनासनमाकल्प षष्ठ गन्धर्ववादितम् ॥
अर्थसग्रहदु शीलमङ्गती राजसेवनम् ।
रात्रौ सचरण चेति दश शीलविराधना ॥

स्त्रियोंकी संगति, पुष्ट आहारका ग्रहण, सुगध द्रव्य अथवा पुष्पमाला आदिके द्वारा शरीरका संस्कार करना, कोमल शय्या, उत्तम मृदु आसन, कटक कुण्डल आदि भूपणोंका धारण, गीतादि गाना और बांसरी आदि बाजोंका बजाना, सुवर्णादि धनका सग्रह करना, विट प्रभृति कुशीली पुरुषोंका सहवास, राजाकी सेवा, और रात्रिमें इतस्ततः सचरण करना, इस तरह कुशीलके दश भेद होते है।

आकम्पितादिक आलोचनासम्बन्धी दश दोषोंके नाम इस प्रकार हैः—

आकम्पिय अणुमाणिय जं दिट्ठ बादरं च सुहुम च ।
छण्ण सद्दाउलिय बहुजणमव्वत्ततस्सेवी ॥

आकम्पित, अनुमानित, दृष्ट, बादर, सूक्ष्म, प्रच्छन्न, शब्दाकुलित, बहुजन, अव्यक्त, और तत्सेवी ।

प्रायश्चित्तसम्बन्धी आलोचनादिक दश भेद इस प्रकार हैं: —

आलोचन, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार, और श्रद्धान । इन दश भेदोंका ही नाम शुद्धि भी है ।

इस प्रकार हिंसादिक, अतिक्रमादिक, कायादिक, और अब्रह्मसम्बन्धी स्त्रीसंगमादिक, तथा आकम्पितादिक दोषोंके नाम और उनकी संख्या यहांपर बताई है । इन दोषोंके नामसे उल्टा गुणोंका नाम समझना चाहिये । और अत एव गुणोंकी संख्या भी उतनी ही समझनी चाहिये जितनी कि दोषोंकी है । इस तरह इन गुणोंकी सख्याका और दश प्रकारकी प्रायश्चित्तरूप शुद्धिका परस्परमें गुणा करनेपर गुणोंके चौरासी लाख उत्तर भेद होते हैं जैसा कि ऊपर भी बताया जाचुका है । आगममें भी कहा है कि:—

इगवीसचदुरसदिहिदा दस दस दसगा य आणुपुव्वीए ।
हिंसादिक्कमकाया विराहणालोचणासोही ॥

हिंसादित्यागके इक्कीस भेद, चार प्रकारके अतिक्रमादिक, और पृथिवीकायादिके सौ भेद, तथा शीलविराधनाके त्यागके दश भेद, एवं आलोचनके दश भेद आकम्पितादिक, और दशभेदरूप शुद्धि-प्राय-

श्चित्त। इन सबका परस्परमें गुणा करनेपर चौरासी लाख भेद होते हैं। इन गुणोंके उच्चारणका विधानक्रम आगममें इस प्रकारसे बताया है कि:—

मक्के प्राणातिपातेन तथातिक्रमवर्जिते।
पृथिव्या पृथिवीजन्तो पुनरारम्भमयते॥
निवृत्तवनितासङ्गे चाकम्प्यपरिवर्जिते।
तथालोचनया शुद्धे गुण आद्यस्तथा परे॥

अर्थात्-गुणोंके भेदोंमेंसे पहिले हिंसादित्यागके इक्कीस भेदोंको उसके बाद अतिक्रमादित्यागके चार भेदोंको इसके बाद पृथिवीत्यागादि सौ भेदोंको उसके बाद स्त्रीसंगमादित्यागके दश भेदोंको, और उसके भी बाद आकम्पितादित्यागके दश भेदोंको और अंतमें आलोचनादिक प्रायश्चित्तके दश भेदोंको पक्तिक्रमसे स्थापन करना चाहिये। इनमें क्रमसे अक्षसंचार करनेपर हिंसाके त्यागी अतिक्रमदोषसे रहित पृथिवीकायिक जीवके भी आरम्भसे संयम तथा स्त्रीसंसर्गसे निवृत्त और आकम्पित दोषसे भी मुक्त एवं आलोचनाशुद्धिके धारक साधुके चौरासी लाख उत्तर गुणोंमेंसे प्रथम भेद होगा। इसी प्रकार जो हिंसात्यागकी जगह मृषावादसे मुक्त हो तो दूसरा भेद, अचौर्यव्रतसे युक्त निरोगाग्र संचार करनेपर तीसरा भेद और कुशीलत्याग विशेषणपर संचार करनेसे चौथा भेद होता है। इसी तरह आगे भी अक्षसंचारके क्रमसे सम्पूर्ण भेदोंको निकाललेना चाहिये।

इस प्रकार सम्यक् चारित्रका विस्तारपूर्वक वर्णन करके अब उसकी उद्योतना आराधनाका तीन पद्योंमें वर्णन करना चाहते हैं। किंतु उसमें सबसे पहले मुमुक्षुओंको अतिक्रमादिक उपर्युक्त चार दोषोंके त्याग करनेका उपदेश देते हैं :—

चित्क्षेत्रप्रभवं फलर्धिसुभगं चेतोगवः संयम,—
व्रीहिव्रातमिमं जिघत्सुरदमः सद्भिः समुत्सार्यताम्।

नो चेच्छीलवृतिं विलंघ्य न परं क्षिप्रं यथेष्टं चरन्,
धुन्वन्नेनमयं विमोक्ष्यति फलैर्विष्वक् च तं भङ्क्ष्यति ॥ १७४ ॥

व्रतोंके धारण करने, मन वचन और कायकी प्रवृत्तिका त्याग करने तथा कषायोंका निग्रह इन्द्रियोंका विजय और समितियोंके पालन करनेको संयम कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि—

व्रतदण्डकषायाक्षसमितीनां यथाक्रमम्।
संयमो धारण त्यागो निग्रहो विजयोऽवनम् ॥

इस संयमको शालि आदि धान्योंके समान समझना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार धान्य खेतमें उत्पन्न होता है और जिस प्रकार वह अपनी सस्यसम्पत्तिके द्वारा लोगोंका प्रीतिकर होता है उसी प्रकार यह भी बुद्ध्यतिशयादिक ऋद्धिरूपी फलोंके द्वारा आराधकोंको रुचि उत्पन्न किया करता है। अत एव साधुओंको जो कि चारित्रका आराधन करनेकेलिए उद्यत हैं इस धान्यसमूहके समान संयमका भक्षण करनेकेलिए उत्सुक हुए मनरूपी अदम्य बलीवर्द-सांडका दमन ही करदेना चाहिये। क्योंकि यदि इसका दमन न किया गया तो यह शीघ्र ही संयमरूपी धान्यसमूहकी रक्षाकी कारणभूत शीलरूपी बाडको लांघकर और यथेष्ट--अभिलषित विषयोंको चरता तथा नष्ट करता हुआ उस संयम-धान्यको केवल उससे प्राप्त होनेवाले मुख्य और आनुषङ्गिक सस्यादिक फलोंसे वियुक्त करदेगा। इतना ही नहीं किन्तु खूब खाकर उसका चारो तरफसे मर्दन भी कर डालेगा। और इस तरह संयमधान्यको वह बिलकुल ही नष्ट करदेगा।

---

१ बुद्धितओविय लद्धीविउव्वणलद्धी तहेव ओसहिया।
रसबलअक्खीणा वि य रिद्धीओ सत्त पण्णत्ता ॥
बुद्धि तप विक्रिया औषध रस बल अक्षीण इस तरह ऋद्धियोंके सात भेद हैं।

यहांपर संयमको ऋद्धिरूप फलके द्वारा प्रीतिकर बताकर उसके विषयमें अतिक्रमको सूचित किया है। इसी प्रकार 'लांघकर' शब्दके द्वारा व्यतिक्रम, यथेष्टादि शब्दोंके द्वारा अतीचार तथा चारो तरफसे आदि वाक्यके द्वारा अनाचारको सूचित किया है। क्योंकि अतिक्रमादिकका स्वरूप आगममें इसी प्रकार कहा है कि:—

क्षति मन शुद्धिविधेरतिक्रम, व्यतिक्रम शीलवृतेर्विलङ्घनम्।
प्रभोतिचार विषयेषु वर्तन, वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम्॥

संयमके विषयमें मानसिक शुद्धि न रहनेको अतिक्रम, शीलकी वाडके उल्लघन होनेको व्यतिक्रम, विषयोंमें प्रवृत्ति होनेको अतीचार, और उन विषयोंमे अत्यंत आसक्त होनेको अनाचार कहते है।

चारित्रविनयका स्वरूप बताते हुए उसका पालन करनेके लिये साधुओंको प्रेरित करते है।

सदसत्स्वार्थकोपादिप्रणिधानं त्यजन् यतिः।
भजन्समितिगुप्तीश्च चारित्रविनयं चरेत् ॥ १७५ ॥

यहांपर चारित्र शब्दसे व्रतोंका ही ग्रहण किया है। अतएव चारित्रमें कहिये अथवा व्रतोंमें कहिये निर्मलता उत्पन्न करनेके लिये प्रयत्न करनेको ही चारित्रविनय कहते हैं। यतिओंको उचित है कि इष्ट और अनिष्ट दोनों ही प्रकारके इन्द्रियविषयोंमें रागद्वेष करनेका और क्रोध मान माया आदि कषायों तथा हास्यादिक नोकषायोंका परित्याग करें। प्रशस्त विषयोंमें राग और अप्रशस्त विषयोंमें द्वेष न करें। तथा आत्माको कषायरूप परिणत न होने दें। साथ ही पूर्वोक्त समितियों और गुप्तियोंका पालन करें। क्योंकि ऐसा करनेपर ही उनके चारित्रविनयकी सिद्धि हो सकती है।

इस भरतक्षेत्र और दुःषमकालमें भी जो मोक्षमार्गमें विहार कर रहे हैं और उनमें प्राधान्यको प्राप्त क-

रचुके हैं उनमें श्रामण्यका बोध करानेवाले संयमका निरूपण करते हुए भावतः उनकी स्तुति करते हैं—

सर्वावद्यनिवृत्तिरूपमुपगुर्वादाय सामायिकं,
यश्छेदैर्विधिवद्व्रतादिभिरुपस्थाप्याऽन्यदन्वेत्यपि ।
वृत्तं बाह्य उतान्तरे कथमपि च्छेदेप्युपस्थापय,—
त्यैतिह्यानुगुणं धुरीणमिह नौम्यैदंयुगीनेषु तम् ॥ १७८ ॥

सम्पूर्ण सावद्ययोगके परित्याग करनेको 'सामायिक संयम कहते है। इसमें संक्षेपसे सभी महाव्रतोंका संग्रह होजाता है। जैसा कि कहा भी है कि

क्रियते यदभेदेन व्रतानामधिरोहणम् ।
कषायस्थूलतालीढः स सामायिकसंयमः ॥

यद्यपि सामायिक संयममें बादर संज्वलन कषायका सम्बन्ध रहता है फिर भी इसके धारण करनेवाले मुमुक्षुके अभेदरूपसे सभी व्रतोंका धारण हो जाता है। अतएव जो साधु दीक्षाचार्यके समीप विधिपूर्वक इस संयमको धारण करके इसके दूसरे विकल्पोंका अभ्यास न रहनेके कारण उनके विषयमें प्रमाद होनेपर अपनी आत्माका विधिपूर्वक उन विकल्पोंमें–सामायिक संयमके ही विशेष भेद पांच महाव्रतोंमें और उनके भी परिकर रूप शेष तेईस मूल गुणोंमे आरोपण–उपस्थापन करके छेदोपस्थापना चारित्रको धारण करता है और कभी कभी सामायिक संयमका भी पुनः धारण करलेता है। क्योंकि ऐसी नीति भी है कि जो आदमी केवल सुवर्णमात्रको चाहता है वह कडा कुण्डल अथवा अंगूठी आदि किसी भी वस्तुके मिलजानेको श्रेयस्कर ही समझता है। हां, सर्वथा सुवर्णका अभावउसको अभीष्ट नहीं रहता। इसी प्रकार सर्वसावद्यके त्यागरूप सामायिक संयमका अभिलाषी साधु उसके परिकररूप अट्ठाईस मूल गुणोंमें अपनेको उपस्थित कर दूसरे— छेदोपस्थापन संयम-

का पालन किया करता है। क्योंकि उसको सर्वथा संयमका अभाव इष्ट नहीं है। इसी तरह जो साधु किसी प्रकारसे बाह्य-द्रव्यहिंसारूप अथवा अन्तरङ्ग भावहिंसारूपमें व्रतोंका भंग होजानेपर आगमके अनुसार उनका पुनः उपस्थापन कर उसी छेदोपस्थापन नामके दूसरे संयमको धारण करता है, ऐसे वर्तमानकालीन साधुओंमें प्रधान संयमीको मैं नमस्कार करता हू।

भावार्थ—संयमके पांच भेद आगममें बताये है - सामायिक छेदोपस्थापन परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात। इनमेंसे आजकल यहांपर—इस दुःपमकाल और भरतक्षेत्रमें मुनियोंके आदिके दो ही संयम हो सकते हैं। अत एव जो मोक्षमार्गमें विहार करता हुआ इन दोनो ही संयमोंका पालन करता है उसको आजकल श्रमणोत्तम समझना चाहिये। मै भी उसको नमस्कार करता हू।

विशेषार्थ—सामायिक संयमका स्वरूप ऊपर लिखा जा चुका है कि सम्पूर्ण सावद्य योगके त्यागको सामायिक कहते है। और इसमें सब मूलगुणोंका सङ्ग्रह हो जाता है। सामायिकके ही छेदों-विकल्पों-पांच महाव्रतों और उनके परिकररूप तेईस मूलगुणोंमें अनभ्यासादिके कारण प्रमाद होनेपर उनमें पुनः अपनेको उपस्थित करनेका नाम छेदोपस्थापन संयम है। सामायिकमें अशक्त हुआ श्रमण इस संयमको धारण करता है। इसकी विधि इस प्रकार है कि—

जो मुमुक्षु श्रमण होना चाहता है वह पहले यथाजातरूपके धारकपनेके साधक तथा परमगुरु श्री अर्हद्भट्टारक अथवा तत्कालीन दीक्षाचार्यके द्वारा दिये हुए - उपदिष्ट बहिरंग और अन्तरङ्ग लिङ्गको धारण करता है और सम्मानपूर्वक उसमें तन्मय होता है। यहां यह बात भी समझलेनेकी है कि यद्यपि लिंग कोई दीयमान वस्तु नहीं है—वह स्वतः सिद्ध है। फिर भी परमगुरु श्री अर्हद्भट्टारकके द्वारा अथवा तत्कालीनताकी दृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो दीक्षाचार्यके द्वारा उसके ग्रहण करनेके विधानका प्रतिपादन किया जाता है। अत एव व्यवहारकी अपेक्षा-उपदेशकी अपेक्षासे उसको दीयमान कहते है। इस दिये हुए लिंगको आदान क्रियाके द्वारा

धारण करनेके बाद उस श्रमणके भाव्यभावक भावमे जो स्व और परका विभाग इस तरहसे प्रवृत्त होता है जिससे कि आत्मा संवलनको और पर पदार्थ प्रत्यस्तमनको प्राप्त होने लगता है, उसमे वह सर्वस्वका दान-उपदेश करनेवाले उन मूल उत्तर और परमगुरुओंको नमस्क्रियाके द्वारा सम्भावित बनाकर भावतः उनकी स्तुति और वन्दना करनेमें अत्यंत लीन हो जाता है। इसके बाद समस्त सावद्य योगका प्रत्याख्यान ही सर्वोत्कृष्ट महाव्रत है इस श्रवणरूप श्रुतज्ञानके द्वारा, जब कि वह अपनी आत्माका—समयद्वारा—आत्मस्वरूपमें लीन रहनेका अनुभव कर रहा हो, सामायिक संयमपर आरोहण करता है। इसके बाद जब कि वह प्रतिक्रमण आलोचनके प्रत्याख्यानरूप क्रियाओंके श्रवणरूप श्रुतज्ञानके द्वारा अपनी आत्मामें तीन कालसम्बधी कर्मोंसे पृथक होनेका—"मेरा यह आत्मा त्रैकालिक कर्मोंसे रहित हो रहा है" ऐसा अनुभव कर रहा हो उस समयमेंवह भूतकालमें उत्पन्न हुए किंतु वर्तमानमें अनुपस्थित कायिक वाचिक और मानसिक कर्मोंसे रहित अवस्थाका आरोहण करता है। इसके बाद जब वह समस्त अवद्यकर्मोंके घर शरीरको भी छोडकर सर्वोत्कृष्ट यथाजातरूप-नाग्न्य स्वरूपका एकाग्रतासे अवलम्बन लेकर अवस्थित होने लगता है उस समय उसको उपस्थित कहते है। और उपस्थित होनेपर जब कि वह सम्पूर्ण विषयोंमें समदृष्टिको धारण करने लगता है उस समय उसको साक्षात् श्रमण कहते है। इस प्रकार सामायिकके छेदों विकल्पोंमें अथवा उनके द्वारा अपनी आत्माके स्वरूपको उपस्थित करनेवालेका नाम ही छेदोपस्थापक है। जैसा कि प्रवचनसारकी चूलिकामें भी कहा है कि —

जहजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं ।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिङ्गं ॥
मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं ।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं ॥
आदाय तं च लिंगं गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता ।

---

१ भाव्य—पर स्वरूप और भावक-आत्मा ।

सोच्चासवद किरिय उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥
वदसमिदिंदियरोवो लोचावस्सगमचेलमण्हाण ।
खिदिसयणमदंतवण ठिदिभोयणमेयभत्त च ॥
एदे खलु मूलगुणा समणाण जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥

केश और स्मश्रुओंका उत्पाटन करदेनेपर तथा यथाजातरूपके धारण करनेपर जो शुद्ध स्वरूप उत्पन्न होता है जो कि हिंसादिक तथा प्रतिक्रमणादिकसे भी रहित है, मूर्छा और आरम्भसे रहित किंतु उपयोग योग और शुद्धियोंसे युक्त है, जो दूसरेकी अपेक्षा नही रखता और अपुनर्भव-मोक्षका कारण है उसको जैन लिङ्ग कहते है। परमगुरुके उपदेशानुसार उनको नमस्कार करके जो मुमुक्षु इस लिङ्गको धारण करके और व्रतों तथा क्रियाओंका स्वरूप सुनकर उनमें उपस्थित होता है उसको श्रमण कहते है। पांच व्रत और शेष उनकी परिकररूप तेईस क्रियाएं है जिनके कि नाम इस प्रकार हैं—पांच व्रत, पांच समिति, पांच इन्द्रियनिरोध, छह आवश्यक, और एक लोच, एक आचेलक्य एक अस्नान, एक पृथ्वीपर सोना, एक अदतधावन, एक स्थित भोजन, तथा एक एकभुक्ति। इस प्रकार जिनेन्द्रदेवने श्रमणोंके अट्ठाईस मूलगुण बताये है। इनमें जो प्रमत्त रहता है वह श्रमण छेदोपस्थापन संयमका धारक समझा जाता है, अथवा होता है।

छेदोपस्थान इस शब्दमें छेद शब्दका अर्थ लोप भी होता है। अत एव सामायिकके किसी विकल्पका धारण कर लेनेपर भी कारणवश उसका छेद भंग-लोप होजानेपर पुनः उसके धारण करनेको-उसमें उपस्थित होनेको छेदोपस्थापन सयम कहते है। जैसा कि कहा भी है कि—

व्रताना छेदन कृत्वा यदात्मन्यधिरोपणम्।
शोधन वा विलोपे तच्छेदोपस्थापन मतम् ॥

अंश—विभाग करके जो अपनी आत्मामें व्रतोंका आरोपण करना, अथवा धारण करलेनेके बाद लोप होनेपर उनका शोधन करना, इसको छेदोपस्थापन संयम कहते हैं।

इस पद्यमें अपि शब्द जो दिया है उससे यह अभिप्राय भी ग्रहण करलेना चाहिये कि उक्त श्रमण केवल छेदोपस्थापन संयमका ही अनुसरण नहीं करता किंतु कभी कभी पुनः सामायिक संयमपर भी अधिरोहण किया करता है।

इस प्रकार चारित्रके उद्योतनका निरूपण करके अब उसके उद्यमनादिक—उद्यमन, निर्वहण, सिद्धि और निस्तरणका भी निरूपण करते हैं:—

ज्ञेयज्ञातृतथाप्रतीत्यनुभवाकारैकदृग्बोधभाग्,
दृष्टृज्ञातृनिजात्मवृत्तिवपुषं निष्पीय चर्यासुधाम्।
पक्तुं बिभ्रदनाकुल तदनुबन्धायैव कंचिद्विधिं,
कृत्वाप्यामृति यः पिबत्यधिकशस्तामेव देवः स वै॥ १७७

हेयोपादेयरूप जाननेयोग्य तत्त्वोंको ज्ञेय कहते हैं और जाननेवाले शुद्ध चित्तस्वरूप आत्माको ज्ञाता कहते हैं। इन दोनोंका जैसा कि वस्तुत स्वरूप है, अथवा जैसा कि सर्वज्ञ वीतरागके उपदेशानुसार आगममें वर्णित है तदनुसार इन दोनोंके विषयमें अथवा ज्ञाता भी ज्ञेयरूपसे भिन्न नहीं है, वह भी ज्ञेयत्वसे उपलक्षित ही है अत एव ज्ञेयरूप ज्ञाताके विषयमें जो प्रतीति होती है उसको सम्यग्दर्शन कहते है। इसी प्रकार ज्ञेय और ज्ञाताके विषयमें अथवा ज्ञेयरूप ज्ञाताके विषयमें जो तथाभूत अनुभवाकारका होना उसको सम्यग्ज्ञान कहते है। ये दोनो ही आकार-तात्विक सम्यक्त्व और तात्त्विक ज्ञान आत्माके मुख्य स्वरूप हैं। अत एव तादात्म्यरूपसे इनको धारण करनेवाला जो मुमुक्षु द्रष्टा-जैसा कि ऊपर तात्त्विक सम्यक्त्वका स्वरूप कहा गया है तदनुसार ज्ञेय ज्ञाताकी तथाप्रतीतिरूप परिणत, और ज्ञाता-ज्ञेयज्ञाताके विषयमें

तथानुभूतिस्वरूप ज्ञानमय परिणत अपनो आत्मामें जो उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप अस्तित्व हैं वही जिसका स्वरूप है ऐसे चारित्ररूपी अमृतका निरंतर और अतिशयेन पान करके-उसमें अत्यंत उपयुक्त होकर, जिस प्रकार संसारमें लोग अमृतमय-स्वादु भोजन पान करनेके बाद उसको पकानेके लिये—भुक्त अन्नका अभीष्ट रस बने इसलिये निराकुलताको अथवा सवारी विनोद आदिके द्वारा प्रसन्नताको धारण किया करते हैं उसी प्रकार इस चारित्ररूपी अमृतको जो कि आत्माको अजरामर बनानेका कारण है पकानेके लिये-अभीष्ट फल देनेकी तरफ परिणत करनेके लिये निराकुलताको अथवा ख्याति लाभ पूजा आदिकी अपेक्षारूप क्षोभसे रहित होकर-निराकुलतया उसीको धारण करता है और उसके पानका अनुवर्तन करनेके लिये ही आगमोक्त तीर्थयात्रादि किसी भी व्यवहारको करके भी मरणपर्यंत भी उसको नहीं छोडता, प्रत्युत अधिकाधिक रूपमें उसका पान करता रहता है, नियमसे उसको देव समझना चाहिये।

भावार्थ—उद्यमनादिका सामान्य स्वरूप पहिले लिखचुके है किंतु प्रकृतमें जो ये चारो बातें बताई हैं उनका अभिप्राय इस प्रकार है कि:—

जीवसहाव णाण अप्पडिहददसण अणण्णमय।
चरिय च तेसु णियद अत्थित्तमणिंदिय भणिय

इसको ही मोक्षका कारण समझकर निरतर और अत्यंत उसमें उपयुक्त होनेको चारित्रका उद्यमन समझना चाहिये। फल देनेतक आकुलतारहित होकर उसके धारण करनेको उसका निर्वहण, दूसरे तीर्थयात्रादि व्यवहारचारित्रके न करनेपर तो बात ही क्या, करके भी मरणपर्यन्त उनके न छोडनेको निस्तरण, तथा उत्तरो-

१—चारित्रको

पर अधिकाधिक रूपमें उसमें उपयुक्त होते आनेको उसकी सिद्धि कहते हैं। इन चारों आराधनाओंके धारण करनेवालेको देव कहते हैं। यथा:—

मान्यं ज्ञानं तपोहीनं ज्ञानहीनं तपोऽर्हितम्।
द्वयं यस्य स देवः स्याद् द्विहीनो गणपूरणः॥

तपरहित ज्ञान मान्य होता है, और ज्ञानरहित तप भी पूज्य माना गया है। अत एव जिसमें ये दोनों ही बातें पाई जांय उसको देव और जिसमें दोनों ही न हों उसको केवल संख्या पूरी करनेवाला ही समझना चाहिये। देवशब्दका निरुक्तिसिद्ध अर्थ भी यही होता है कि इन्द्रादिक भी जिसकी स्तुति और वंदना करें। अतएव शुद्धात्म द्रव्यको अथवा उसके मूल कारण इस चारित्रशुद्धिसे युक्त जीवको ही देव समझना चाहिये। फलतः मुमुक्षुओंको चाहिये कि वे इस चारित्रशुद्धि और उसका आराधन करनेमें फलसिद्धितक अवश्य ही निरंतर रत रहें। जैसा कि कहा भी है कि—

द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः।
बुद्ध्वेति कर्माविरताः परेपि द्रव्याविरुद्धं चरणं चरन्तु॥

इस प्रकार चारित्रके विषयमें उद्योतनादिक पांचो आराधनाओंका प्रकरण समाप्त हुआ।

यहांसे चार श्लोकोंमें माहात्म्यका वर्णन करना चाहते हैं। किंतु उसमें सबसे पहिले चारित्रमें रुचि उत्पन्न करनेकेलिये उसके अभ्युदयरूप आनुषङ्गिक फलको और मोक्षरूप मुख्य फलको दिखाते हैं:—

सदृग्ज्ञप्त्यमृतं लिहन्नहरहर्भोगेषु तृष्णां दहन्।
वृत्ते यत्नमथोपयोगमुपयन्निर्मायमूर्मीन्ध्यन्।
तत्किंचित् पुरुषश्चिनोति सुकृतं यत्पाकमूर्छन्नव, —

प्रेमास्तत्र जगच्छ्रियश्चलदृशोऽपीर्ष्यन्ति मुक्तिश्रिये ॥ १७८ ॥

विषयों—भोगोंमें तृष्णारहित होकर निरंतर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपी अमृतका आस्वाद लेने वाला और सम्यक्चारित्रका आराधन करनेमें … प्रयम … नहीं किन्तु उपयोग और सदा उसका अनुष्ठान करने वाला, तथा निष्कंप रूपसे क्षुधादि परीषहोंपर विजय प्राप्त करनेवाला पुरुष ऐसे पुण्यकर्मका संचय करता है कि जिसके उदयसे बढता हुआ है नवीन प्रेम जिनका ऐसी संसारकी सम्पूर्ण सम्पत्तियां–लक्ष्मियां स्त्री सुलभस्वभावके कारण अपने स्वामीपर–उक्त चारित्रभक्तिके अनुरागसे विशिष्ट पुण्यकर्मका संचय करनेवाले पुरुषपर जब कि … कटाक्षपात … मुक्तिलक्ष्मीमें ईर्ष्या करने लगती है तो उसके संगम करनेपर तो बात ही क्या है ?

भावार्थ—उक्त प्रकारकी चारित्राराधनाके अनुरागसे विशिष्ट पुण्यका संचय करनेवाला पुरुष जगत्के सम्पूर्ण भोगोंको भोगकर अंतमें कृतकृत्य होजाता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

सपज्जदि णिव्वाण देवासुरमणुयरायविहवेहिं ।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणाओ ॥

दर्शन और ज्ञानका जिसमें प्राधान्य पाया जाता है ऐसे चारित्रके द्वारा जीवको सुर असुर मनुष्य और उनके राजवैभवोंके साथ साथ निर्वाण भी सिद्ध होता है।

तपका यद्यपि चारित्रमें ही अन्तर्भाव है। तो भी उसकी विशेषता जाहिर करनेकेलिये यहांपर अथशब्दके द्वारा उसका पृथक् व्याख्यान समझलेना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

चरण हित हि जो उज्जमो आउज्जणाय जा होइ।
सो चेव जिणेहिं तओ भणिओ असढ चरंतस्स ॥

यथाख्यातसे कुछ ही कम जो संयम होता है उसको सूक्ष्मसांपराय कहते हैं। सम्पूर्ण कर्मोंमें प्रधान मोहकर्मके सर्वथा उपशांत होजानेपर अथवा क्षीण होजानेपर जो छद्मस्थ अथवा वीतराग साधुओंके सयम होता है उसको यथाख्यात संयम कहते हैं।

संयमके विना केवल कायक्लेशरूप तपके अनुष्ठानसे कर्मोंकी निर्जरा होती तो है किन्तु वह बन्धसहभाविनी होतीहै। अत एव सिद्धिके अभिलापियोंको इस संयमका आराधन अवश्य ही करना चाहिये। ऐसा उपदेश देते हैं:—

तपस्यन् यं विनात्मानमुद्वेष्टयाति वेष्टयन्।
मन्थं नेत्रमिवाराध्यो धीरैः सिद्ध्यै स संयमः ॥१८०॥

जिस प्रकार मठा विलोनेका दण्ड अपने खींचनेवाली रस्सीसे एक साथ ही बन्धता भी है और खुलता भी है। उसी प्रकार संयमके विना—हिंसादिक विषयोंमे की गई प्रवृत्तिके साथ तप—आतापनादिक कायक्लेशको करता हुआ यह जीव भी बन्धसहभाविनी निर्जरा किया करता है। जिस समय कुछ कर्मोंसे मुक्त हुआ करता है उसी समय दूसरे कर्मोंसे वेष्टित भी हुआ करता है। फलतः संयमके विना तप भी निरर्थक है—आत्मसिद्धिका साधक नहीं हो सकता। अत एव अक्षोभ्य प्रकृतिके धारण करनेवाले साधुओंको आत्मसिद्धिकेलिये निश्चय नयसे रत्नत्रयमें एकसाथ प्रवृत्त एकाग्रतारूप और व्यवहार नयसे प्राणिरक्षा और इन्द्रिय निरोधरूप संयमका आराधन करना ही चाहिये।

सयमरहित तप करनेवालेके जितने कर्मोंकी निर्जरा होती है उससे अधिक कर्मोंका संचय हो जाता है। इस बातको दिखाते हुए और इसीलिये सुतरां साधुओंको संयमाराधनके प्रति उद्यत करनेकेलिये उनको पूजातिशयसे पूर्ण तीन लोककी अनुग्रहतारूप उसका फल बताते हैं:—

कुर्वन् येन विना तपोपि रजसा भूयो हृताद् भूयसा,
स्नानोत्तीर्ण इव द्विपः स्वमपधीरुद्धूलयत्युद्धुरः ।
यस्तं संयममिष्टदैवतमिवोपास्ते निरीहः सदा,
किं—कुर्वाणमरुद्गणः स जगतामेकं भवेन्मङ्गलम् ॥ १८१ ॥

सरोवरमें स्नानावगाहन करके बाहर निकला हुआ मदोन्मत्त हस्ती जिस प्रकार कुछ धुलजानेवाली धूलिकी अपेक्षा कहीं अधिक धूलिमें अपनेको धूसरित बनालेता है, उसी प्रकार मदके उद्रेकको प्राप्त हुआ जडबुद्धि जीव, जिसके विना, तप करके भी निर्जीर्ण कर्मोंकी अपेक्षा बहुत अधिक पाप कर्मोंसे अपनी आत्माको उल्टा मलिन बनालेता है, उस संयमकी जो साधु ख्यातिलाभादिकी अपेक्षासे रहित होकर नित्य ही इष्ट देवताकी तरह उपासना करता है वह संसारके सभी बहिरात्मा प्राणियोंकेलिये उत्कृष्ट मङ्गलरूप हो जाता है। क्योंकि उसके निमित्तसे संसारी जीवोंके पापका क्षय और पुण्यका संचय होता है। इसी प्रकार संयमाराधकके सम्मुख देव और उनके इन्द्र भी किंकरकी तरह—" हम क्या करें "- इस तरहसे आदेशकी प्रार्थनाकेलिये निरंतर उन्मुख हुए खडे रहते हैं।

तपका चारित्रमें अन्तर्भाव किस प्रकार होजाता है उसकी उपपत्ति बताते हैं:—

कृतसुखपरिहारो वाहते यच्चरित्रे,
न सुखनिरतचित्तस्तेन बाह्यं तपः स्यात् ।
परिकर इह वृत्तोपक्रमेऽन्यत्तु पापं,
क्षिपत इति तदेवेत्यस्ति वृत्ते तपोऽन्तः ॥ १८२ ॥

चारित्रको ही अर्जित करनेकेलिए जो उद्यम किया जाता है उसको तप कहते हैं ।

इस सम्यक्चारित्रकी आराधनाके निमित्तसे पूर्वकालमें इस भरतक्षेत्रमें भी जो अपायरहित पदको प्राप्त कर चुके हैं उनसे सांसारिक क्लेशके उच्छेदकी याचना करते हैं: —

ते केनापि कृताऽऽजवंजवजयाः पुंस्पुङ्गवाः पान्तु मां,
तान्युत्पाद्य पुरात्र पञ्च यदि वा चत्वारि वृत्तानि यैः ।
मुक्तिश्रीपरिरम्भशुम्भदसमस्थामानुभावात्मना,
केनाप्येकतमेन वीतविपदि स्वात्माभिषिक्तः पदे ॥ १७९ ॥

जिन्होंने इस दुःषम कालसे पूर्वके युग—चतुर्थ काल और इसी भरत क्षेत्रमें उपर्युक्त पांचो संयमोंको अथवा चारको उत्पन्न करके या धारण करके शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा एक-अभिन्न ही किंतु अशुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा रत्नत्रयरूप आत्माके द्वारा संसारका सर्वथा नाश करदिया और जिन्होंने उक्त उत्पन्न संयमोंमेंसे मोक्षलक्ष्मीके आलिङ्गनसे शोभमान असाधारण शक्तिके माहात्म्यरूप और अत्यंत उत्कृष्ट किसी भी एक—अनिर्वचनीय भेदके द्वारा अपनी आत्माको विपत्तिरहित मोक्षस्थानमें प्रतिष्ठित करदिया वे पुरुषोत्तम मेरी संसारके व्यसनोंसे रक्षा करें ।

भावार्थ—मोक्षकी सिद्धि यद्यपि यथाख्यात संयमसे ही होती है अन्यसे नहीं । फिर भी व्यवहारसे क्षपक-श्रेणि मांडनेके पूर्व जो संयम रहता है उससे भी उनकी सिद्धि कही जाती है । अत एव यहांपर किसी भी एक संयमके द्वारा आत्माको निर्वाणपदमें उपस्थित करलेना किंतु अशुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा रत्नत्रयात्मक और शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षा अभिन्नात्माके ही द्वारा संसारका नाश होना बताया है ।

५१८

[illegible] पहिले [illegible] [illegible] [illegible] चुके हैं। [illegible] [illegible] रूपक [illegible] किया है —

[illegible]

[illegible] रहकर [illegible] और [illegible] के नियमोंमें किसी भी एक [illegible] हुआ [illegible] करके [illegible] करता है, और एक साथ [illegible] मार्गमें [illegible] [illegible] प्रकार [illegible] करता [illegible] [illegible] गमन करता है [illegible] [illegible] [illegible] होता है। [illegible] अथवा [illegible] [illegible] है और [illegible] [illegible] है [illegible]

१—[illegible] की [illegible] पुस्तक [illegible] है।

५१८

तप दो प्रकारका है—एक बाह्य दूसरा अन्तरङ्ग। यह दोनो ही प्रकारका तप चारित्रमें अन्तर्भूत हो जाता है। क्योंकि अनशनादिक जो बाह्य तप है उनका सम्बन्ध भोजनप्रभृति बहिर्भूत पदार्थोंके ही त्यागादिक से है। इसी प्रकार चारित्रके विषयमें भी बाह्य पदार्थोंका त्याग करना ही पडता है। क्योंकि जो पुरुष शरीरके द्वारा भोगमें आनेवाले विषयों अथवा सुखोंका परित्याग करदेता है वही चारित्रका आराधन करसकता है, न कि शारीरिक सुखोंमें आसक्तचित्त रहनेवाला। इससे सिद्ध है कि बाह्य तप इस प्रकरणमें निर्दिष्ट चारित्रका ही परिकर है। इसी प्रकार अन्तरङ्ग तप भी चारित्रमें अन्तर्भूत है। क्योंकि जिस प्रकार चारित्र नवीन कर्मोंको आनेसे रोकता है और संचित कर्मोंको नष्ट करता है उसी प्रकार तप भी करता है। प्रायश्चित्तादिक अन्तरङ्ग तपके द्वारा भी संवर और निर्जरा दोनो ही कार्य होते है। जैसा कि ' तपसा निर्जरा च " इस सूत्रके द्वारा भी बताया है।

इसी अर्थको प्रकारान्तरसे स्पष्ट करते हैं:—

त्यक्तसुखोनशनादिभिरुत्सहते वृत्त इत्यघं क्षिपति।
प्रायश्चित्तादीन्यपि वृत्तेन्तर्भवति तप उभयम् ॥ १८३ ॥

अनशनादिकके द्वारा बाह्य सुखोंका परित्याग करदेनेवाला ही चारित्रके विषयमें सोत्साह प्रवृत्त हो सकता है और प्रायश्चित्तादिक भी चारित्रकी तरहसे ही पापकर्मोंका क्षय करते हैं। अत एव दोनो ही प्रकारके तपको चारित्रमें ही अन्तर्भूत समझना चाहिये।

इति चतुर्थोऽध्यायः॥

पंचम अध्याय।

सम्यक्चारित्राराधनाका व्याख्यान चतुर्थ अध्यायमें समाप्त हुआ। किन्तु उसके प्रकरणमें विघ्नाङ्गारादि इस सूत्र[1] के द्वारा जिस एषणा समितिका वर्णन किया था उसकी अङ्गभूत पिण्डशुद्धिका वर्णन अब इस अध्यायमें करना चाहते है। आगममें पिण्डशुद्धि आठ प्रकारकी बताई है। यथा :—

" उद्गमोत्पादनाहारसंयोग सप्रमाणकः।
अङ्गारधूमौ हेतुश्च पिण्डशुद्धिर्मताष्टधा॥ "

उद्गमशुद्धि, उत्पादशुद्धि, आहारशुद्धि, संयोगशुद्धि, प्रमाणशुद्धि, अङ्गारशुद्धि, धूमशुद्धि और हेतुशुद्धि। इन आठोंका वर्णन करनेके पूर्व संक्षेपसे पिण्डकी योग्यता और अयोग्यताका विधिमुख और निषेधमुखसे निर्देश करते है।

षट्चत्वारिंशता दोषैः पिण्डोधःकर्मणा मलैः।
द्विसप्तैश्चोज्झितोविघ्नं योज्यस्त्याज्यस्तथार्थतः॥ १॥

पिण्ड नाम आहारका है। जिस आहारको मुनिजन आगमोक्त विधिके अनुसार ग्रहण करसकें उसको योग्य और जिसको ग्रहण न करसकें उसको अयोग्य कहते है। आगमके अनुसार अन्तरायोंके न होनेपर छयालीस दोषों, चौदह मलो और अधःकर्मसे रहित ही पिण्ड साधुओंकेलिये ग्राह्य है। किन्तु इसके विरुद्ध अन्तरायोंके होनेपर अथवा दोष मल और अधःकर्मसे युक्त होनेपर वह अग्राह्य अथवा अयोग्य कहा जाता है।

उपर्युक्त-उद्गमादिक, विषयोंके नाम है। ये यदि ऐसे हों जिनसे कि पिण्ड ग्रहण करनेमें बाधा न हो

[1]—अध्याय ४ श्लोक १६७

तब तो इनको उद्गमशुद्धि आदि शब्दोंसे कहते है। और ये यदि आगमके अनुसार ठीक न हों तो इनको ही दोष शब्दसे कहते है। उद्गमादिशब्दोंका अर्थ आगे चलकर यथास्थान करेंगे। यहांपर केवल उनके भेद बताते है, सो भी दोषोंकी अपेक्षासे। क्यों कि पिण्डशुद्धिमें दोषोंका न रहना ही अभीष्ट है। इन भेदोंका स्वरूप भी आगे चलकर लिखेंगे।

उद्गमदोषके सोलह भेद है, और उत्पादना दोषके भी सोलह भेद है, किंतु आहारसम्बन्धी शङ्कितादिक दश दोष है और संयोजना प्रमाण अङ्गार तथा धूम इनका एक एक ही भेद है। इस तरह कुल मिलाकर दोषोंके छ्यालीस भेद है। हेतुदोषको ही अधःकर्म कहते है। इनके सिवाय पिण्डके ही विषयमें पूयादिक चौदह मल और भी होते है जिनका कि वर्णन आगे चलकर करेंगे। इसी प्रकार अन्तरायके भी बत्तीस भेदोंका व्याख्यान मलोंके बाद ही करेंगे। अब यहांपर क्रमप्राप्त उद्गम और उत्पादना दोषोंका स्वरूप तथा उनकी संख्या बताते हैः—

दातुः प्रयोगा यत्यर्थे भक्तादौ षोडशोद्गमाः।
औद्देशिकाद्या धात्र्याद्याः षोडशोत्पादना यतेः॥ २॥

दाताके द्वारा आहार औषध वसतिका और उपकरण प्रभृति देय वस्तुओंके देनेमें जो दोष होते है उनको उद्गम दोष कहते है। इनके औद्देशिकादिक सोलह भेद है। अपने लिये भोजनादि बनवाने आदिके लिये किये गये प्रयोगोंको उत्पादना दोष कहते है। इसके भी धात्री दूत आदि सोलह भेद है।

शेष दोषोंका भी उद्देश-स्वरूपकथन करते है :—

शङ्किताद्या दशान्नेन्ये चत्वारोङ्गारपूर्वकाः।
षट्चत्वारिंशदन्योधःकर्म सूनाङ्गिहिंसनम्॥ ३॥

अन्न—भोज्यपदार्थके सम्बन्धमें जो दोष होते हैं उनको आहारदोष कहते है। इसके शङ्कित पिहित आदि दश भेद है। इनके सिवाय भुक्तिक्रियासम्बन्धी चार दोष और भी हैं। यथा—अङ्गार धूम संयोजन और प्रमाण। इस प्रकार इन उपर्युक्त दोषोंके कुल छयालीस भेद हुए। इन सबसे भिन्न अधःकर्म नामका एक दोष और भी है जिसको कि हेतुदोष भी कहते हैं। इसको छयालीस दोषोंसे भिन्न बतानेका कारण यह है कि यह उन सब दोषोंसे बडा-महादोष है क्यों कि इसमें हिंसाका सम्बन्ध रहता है। चूल चक्की ओखली बुहारी और पानी भरना इन पांच क्रियाओंको पंचसूना कहते है। जिस कामके करनेमें इन पच सूनाओंके द्वारा प्राणियोंकी—षट्कायिक जीवोंकी हिंसा होती है उसको अथवा स्वय सूना और प्राणिहिंसाको ही अध कर्म कहते है। अतएव वसतिकादिके बनवाने या सुधारने आदिमें जो हिंसा होती है उसको अधःकर्म ही समझना चाहिये। इस शब्दका अनुगत अर्थ भी ऐसा ही होता है कि जो कर्म अधोगतिका निमित्त है उसको अधःकर्म कहते है। यह गृहस्थोचित निकृष्ट व्यापार माना गया है। साधुओंको न तो यह कर्म करना ही चाहिये और यदि कोई करता हो तो उसकी अनुमोदना भी न करना चाहिये। फलतः संयमियोंको तो यह दूर ही से छोड देना चाहिये। यदि कोई साधु वैयावृत्यको छोडकर अपने भोजनकेलिये इस गृहस्थोंके कामको करने लगे तो उसको श्रमण न कहकर गृहस्थ कहना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

छज्जीवणिकायाण विराहणोद्दावणेहि णिप्पण्ण।
आधाकम्म णेय सयपरकदमादसपण्ण॥

षट्कायिक जीवोंकी विराधना अथवा पीडासे उत्पन्न हुई आहारादि वस्तुको अधःकर्म कहते हैं। चाहे तो वह स्वयं बनाई हो अथवा दूसरेने बनाई हो।

उद्गम और उत्पादना ये दोनो शब्द अन्वर्थ है इसी बातको दिखाते हैं:

भक्ताद्युद्गच्छत्यपथ्यैर्यैर्यैरुत्पाद्यते च ते।
दातृयत्योः क्रियाभेदा उद्गमोत्पादनाः क्रमात॥ ४॥

उद्गम शब्दमें उत् उपसर्गका अर्थ उन्मार्ग और गमधातुका अर्थ गमन करना होता है। यहापर करण अर्थमें घ प्रत्यय किया गया है। अतएव जिन क्रियाओंके द्वारा भोज्य द्रव्य उन्मार्गकी तरफ चला जाय— आगमकी आज्ञारूप मार्गके विरुद्ध रत्नत्रयका घातक सिद्ध हो ऐसी दाताकी क्रियाओंको उद्गमदोष कहते हैं। इसी प्रकार उत्पादना शब्दका अर्थ उत्पन्न कराना होता है। यहांपर उत्पूर्वक ण्यंत पद् धातुसे करण अर्थमें युट् प्रत्यय हुआ है। अतएव जिन मार्गविरुद्ध क्रियाओंके द्वारा भोजन उत्पन्न कराया जाय ऐसी यति—पात्रकी क्रियाओंको उत्पादना दोष कहते हैं।

अब यहांपर दो श्लोकोंमें उद्गमके भेदोंका नाम गिनाते और उनमें दोषपनेका समर्थन करते हैं।

उद्दिष्टं साधिकं पूति मिश्रं प्राभृतकं बलिः।
न्यस्तं प्रादुष्कृतं क्रीतं प्रामित्यं परिवर्तितम् ॥ ५ ॥
निषिद्धाभिहृतोद्भिन्नाच्छेद्यारोहास्तथोद्गमः।
दोषा हिंसानादरान्यस्पर्शदैन्यादियोगतः ॥ ६ ॥

उद्दिष्ट 'औद्देशिक' साधिक पूति मिश्र प्राभृतक बलि न्यस्त प्रादुष्कृत (प्रादुष्कर) क्रीत प्रामित्य परिवर्तित निषिद्ध अभिहृत उद्भिन्न अच्छेद्य और आरोह। इस प्रकार उद्गमके सोलह भेद हैं। इनमें हिंसा अनादर अन्यस्पर्श और दीनता आदिका सम्बन्ध पाया जाता है इसलिये इनको दोष कहते हैं। किंतु इन बातोंका सम्बन्ध इनमें किस तरहसे पाया जाता है यह बात तब तक समझमें नहीं आ सकती जब तक कि इन प्रत्येकका स्वरूप समझ न लिया जाय। अतएव इनका यथाक्रमसे सामान्य और विशेष रूपसे स्वरूपनिर्देश करते हैं।

तदौद्देशिकमन्नं यद्देवतादीनलिङ्गिनः।
सर्वपाषण्डपार्श्वस्थसाधून् वोद्दिश्य साधितम् ॥ ७ ॥

जो अन्न यक्ष राक्षस नाग आदि देवताओंके उद्देशमे अथवा दुःखित दरिद्र व्यक्तियोंके उद्देशसे यद्वा जैन दर्शनसे बहिर्भूत आचरण करनेवाले या वेश रखने वालोंके उद्देशमें बनाया गया हो उसको औद्देशिक कहते है। इसी प्रकार जो सर्व साधारणके उद्देशमे अथवा पापण्डियों पार्श्वस्थों और साधुओंके उद्देशसे भोजन बनाया जाता है उसको भी औद्देशिक कहते हैं।

पापण्डियोंका स्वरूप पहले बता चुके हैं। पार्श्वस्थ पांच प्रकारके होते हैं, अवसन्न पार्श्वस्थ मृगचरित मकट और कुशील। यथा,

"वृत्तेऽलसोऽवसन्न पार्श्वस्थो मलिनपरद्दष्टेऽनिष्ट।
ससक्तो मृगचरित स्वकल्पिते मकटकुचरितस्तु कुशील. ॥

चारित्रमें प्रमादी रहनेवालेको अवसन्न, जिसका सम्यग्दर्शन मलिन हो जाय उसको पार्श्वस्थ, जो इष्टानिष्ट विषयोंमें आसक्त रहनेवाला है उसको मृगचरित, स्वकल्पित आचरण करनेवालेको मकट, और खोटे आचरण करनेवालेको कुशील कहते हैं।

पूर्वोक्त जिनलिङ्गके धारक २८ मूलगुणोंका पालन करनेवाले निर्ग्रन्थोंको साधु कहते हैं। अत एव निमित्तभेदसे औद्देशिक अन्नके चार भेद होजाते है। सर्व साधारणके उद्देशमे दिया हुआ, पापंडियोंके उद्देशसे दिया हुवा, पार्श्वस्थोंके उद्देशसे दिया हुआ, और साधुओंके उद्देशसे दिया हुआ। आगमके अनुसार इनके क्रमसे चार नाम है,— उद्देश, समुद्देश, आदेश, और समादेश।

उद्गम दोपके दूसरे भेद साधिकका स्वरूप दो प्रकारसे बताते है—

स्याद्दोषोऽध्यधिरोधो यत्स्वपाके यतिदत्तये।
प्रक्षेपस्तण्डुलादीनां रोधो वाऽऽपचनाद्यतेः ॥ ८ ॥

यदि दाता अपनेलिये पकते हुए भात दाल आदि धान्यमें अथवा उसकेलिये पकते हुए जल-अधेनमें मु-नियोंको दान देनेके अभिप्रायसे-' आज तो हम साधु महाराजको आहार देंगे " उस संकल्पसे चावल दाल आदि डाले तो उसकी इस क्रियाको साधिक दोष कहते हैं। अथवा भोजनके पकने-तयार होनेतक पूजा धर्म आदि विषयोंके प्र-श्नादिके छलसे साधुओंके रोक रखनेको भी साधिक दोष कहते हैं। इस दोषका दूसरा नाम अध्यधिरोध भी है।

दो प्रकारके पूतिदोषको बताते हैं।

पूति प्रासु यदप्रासुमिश्रं योज्यमिदंकृतम् ।
नेदं धा यावदार्येभ्यो नादायीति च कल्पितम् ॥ ९ ॥

जो द्रव्य स्वरूपसे प्रासुक है उसमें यदि अप्रासुक वस्तु भी मिला दी जाय तो उसको पूति दोषसे दूषित समझना चाहिये। इसको पूतिदोषका अप्रासुकमिश्रण नामका पहला भेद समझना चाहिये। इसी प्रकार किसी वस्तु-की अपेक्षासे ऐसी कल्पना करना कि " इस पात्रद्वारा अथवा इसमें बनाये हुए अमुक पदार्थका यद्वा इस भोजनका दान साधुओंको न होजाय तबतक इसका उपयोग किसीको भी न करना चाहिये " इसे पूतिदोष कहते है। यह पूतिदो-षका पूतिकर्मकल्पना नामका दूसरा भेद है। इसका उदाहरण इस प्रकार समझना कि-" हमारे यहापर यह नवीन चूल जो बनी है उसपर बने हुए भोजनका, अथवा यह नवीन पात्र जो आया है उसका साधुमहाराजके दानमें जब तक उपयोग न करलिया जायगा तबतक दूसरे किसीको भी इसका उपयोग न करना चाहिये, " दाताकी ऐसी कल्प-नाको पूतिकर्मकल्पना नामका दोष कहते है। इसके चकी उखली चूल दर्वी और पात्रकी अपेक्षासे पांच भेद होते है। यथा:--

मिश्रमप्रासुना प्रासु द्रव्य पूतिकमिष्यते ।
चुल्लिकोदूखल दर्वी पात्रगन्धौ च पञ्चधा ॥

इसी विषयमें और भी कहा है कि:—

अप्पासुग्ण मिस्सं पासुयदव्वं तु पूतिकम्मं तु ।
चुल्लीउग्खलीदव्वीभायणगंधित्ति पंचविहं ॥

इनके उदाहरणोंकी कल्पना स्वयं करलेनी चाहिये ।

मिश्र दोपका स्वरूप बताते हैं -

पाषण्डिभिर्गृहस्थैश्च सह दातुं प्रकल्पितम् ।
यतिभ्यः प्रासुकं सिद्धमप्यन्नं मिश्रमिष्यते ॥ १० ॥

प्रासुक-अचित्त भी बनाये हुए उस अन्नको आचार्योंने मिश्र दोपसे दूषित हो कहा है, यदि वह दाताने पाषण्डियों और गृहस्थोंके साथ साथ यतियोंको देनेके लिये तयार किया हो ।

कालकी हानि और वृद्धिकी अपेक्षासे प्राभृत दोपके दो भेद होते हैं; एक स्थूल दूसरा सूक्ष्म । इन दोनोंका स्वरूप बताते हैं -

यद्दिनादौ दिनांशे वा यत्र देयं स्थितं हि तत् ।
प्राग्दीयमानं पश्चाद्वा ततः प्राभृतकं मतम् ॥ ११ ॥

आगममें जो वस्तु जिस दिन जिस पक्ष या जिस वर्षमें देने योग्य बताई है अथवा दिनके जिस पूर्वाह्न या अपराह्नमें देने योग्य बताई है उससे पहले या पीछे यदि उस वस्तुको दिया जाय तो उसको आगममें प्राभृत दोपसे दूषित माना है । पहले पीछेको ही कालकी हानि और वृद्धि कहते हैं । इसकी अपेक्षासे ही प्राभृत दोपके दो भेद होजाते हैं-एक स्थूल दूसरा सूक्ष्म । स्थूल भी कालकी हानि वृद्धिकी अपेक्षासे होता है और सूक्ष्म भी । अन्तर इतना ही है कि दिन पक्ष मास आदिकमें हानि वृद्धिका होना स्थूल प्राभृत है और दिनके अंशोंमें पहले पीछे होना सूक्ष्म प्राभृत है । यथा :-

जिस वस्तुको आगममें शुक्ल पक्षकी अष्टमीको देने योग्य बताया है उसको उस दिन न देकर उससे पहले ही–शुक्ला पचमीको ही यदि दाता दे अथवा जो चैत्रके शुक्ल पक्षमें देने योग्य निर्धारित है उसको उससे पहले कृष्ण पक्षमें ही यदि दिया जाय, तथा इसी तरह और भी जो कालहानिकी अपेक्षासे होने वाले दोष है उन सबको स्थूल प्राभृत कहते है। इसी तरह शुक्ल पचमीके दिन देने योग्य वस्तुको उसके बाद शुक्ल अष्टमीके दिन देना अथवा चैत्र कृष्ण पक्षमें देने योग्यको चैत्र शुक्लमें देना तथा और भी जो इसी तरह का लवृद्धिकी अपेक्षासे होने वाले दोष है उन सबको भी स्थूल प्राभृत ही कहते है। मध्यान्हमें देने योग्यको पूर्वाण्हमें देना और अपराण्हमें देने योग्यको मध्यान्हमें देना, इत्यादि कालहानिकी अपेक्षासे होनेवाले दोषोंको सूक्ष्म प्राभृत कहते हैं। इसी प्रकार पूर्वाण्हमें देने योग्य वस्तुको जो मध्यान्हादिकमें देना यह सब भी कालवृद्धिकी अपेक्षासे होनेवाला सूक्ष्म प्राभृत कहा जाता है। कहा भी है कि:—

द्वेधा प्राभृतक स्थूल सूक्ष्म तदुभय द्विधा।
अवसर्पस्तथोत्सर्प कालहान्यतिरेकत ॥
परिवृत्त्या दिनादीना द्विविध बादर मतम्।
दिनस्याद्यन्तमध्याना द्वेधा सूक्ष्म विपर्ययात् ॥

प्राभृत दोषके दो भेद है—एक स्थूल दूसरा सूक्ष्म। इनमें भी प्रत्येकके कालहानि और कालवृद्धिकी अपेक्षा क्रमसे दो दो भेद होते है–एक अवसर्प दूसरा उत्सर्प। दिन पक्ष मासादिकमें हानिवृद्धि होनेसे स्थूल प्राभृतके दो भेद, और दिनके ही आदि मध्य अन्तमें हानि वृद्धि होनेसे सूक्ष्म प्राभृतके दो भेद होते हैं।

बलि और न्यस्तका लक्षण बताते हैं:—

यक्षादिबलिशेषोऽर्चासावद्यं वा यतौ बलिः।
न्यस्तं क्षिप्त्वा पाकपात्रात्पात्र्यादौ स्थापितं क्वचित् ॥ १२

यक्ष नाग माता कुलदेवी और पित्रादिकेलिए बनाये हुएमेंसे अवशिष्ट आहार यदि संयमियोंको दिया जाय तो उसको बलि दोषसे दूषित समझना चाहिये। यद्वा यतियोंके निमित्तसे सावद्य पूजनका आरम्भ करना भी बलिदोष माना जाता है। जिस वर्तनमें भोजन पकाया या बनाया गया हो उसमेंसे निकालकर कटोरी कटोरा आदि किसी दूसरे वर्तनमें रखकर यदि उसको किसी दूसरे स्थानमें—अपने ही घरमें अथवा परघरमें रखदिया जाय तो उसको न्यस्त कहते है। इसको इसलिये दूषित कहा है कि यदि रखनेवालेकी अपेक्षा कोई भिन्न मनुष्य उसको दे तो वह उसमें गडबड कर सकता है।

प्रादुष्कार और क्रीतका स्वरूप बताते हैं:—

पात्रादेः संक्रमः साधौ कटाद्याविष्क्रियाऽऽगते।
प्रादुष्कारः स्वान्यगोर्थविद्याद्यैः क्रीतमाहृतम् ॥ १३ ॥

प्रादुष्कारके दो भेद हैं-एक संक्रम दूसरा प्रकाश। साधुके घर आनेपर भोजनके भाजन आदिको का एक जगहसे दूसरी जगह लेजाना संक्रम दोष है। और किवाड मंडप आदिका दूर करना, भस्मादिकसे अथवा जलादिकसे वर्तनादिकोंका माजना यद्वा दीपकका जलाना आदि प्रकाश दोष है। जैसा कि कहा भी है कि:—

संक्रमश्च प्रकाशश्च प्रादुष्कारो द्विधा मतः।
एकोत्र भाजनादीनां कटादिविषयोऽपरः ॥

अपने अथवा पराये यद्वा दोनोंके यथासम्भव गौ अर्थ विद्यादिकोंके बदलेमें जो भोज्यद्रव्य लाया जाय उसको क्रीत कहते है। अर्थात् भिक्षार्थ साधुके घरमें प्रविष्ट होजानेपर उनकेलिये उक्त गौ आदिको देकर जो भोज्य सामग्री लाई जाय उसको क्रीत दोषसे दूषित समझना चाहिये।

यहांपर गौ शब्द उपलक्षण है अत एव इससे गाय बैल भैंस घोडा बकरी आदि सभी चेतन द्रव्य समझने चाहिये। पारिशेष्यात् अर्थ शब्दसे सोना चांदी रुपया पैसा आदि अचेतन पदार्थ समझना चाहिये। विद्याके प्रज्ञप्ति आदि अनेक भेद हैं। यहांपर आदिशब्दसे चेटक मत्र आदिको समझना चाहिये। ये चीजें अपनी हों या दूसरेकी अथवा दोनोंकी-साजेकी, किन्तु उनके द्वारा यदि भिक्षार्थ साधुके आनेपर कोई भोज्य सामग्री लाई जाय तो उसको क्रीत दोषसे दूषित समझना चाहिये। यथाः—

क्रीत तु द्विविध द्रव्य भाव' स्वकपर द्विधा।
सचित्तादिभवो द्रव्य भावो विद्यादिक तथा॥

प्रामित्य और परिवर्तितका स्वरूप बताते हैः—

उद्धारानीतमन्नादि प्रामित्यं वृद्ध्यवृद्धिमत्।
व्रीह्यन्नाद्येन शाल्यन्नाद्युपात्त परिवर्तितम्॥ १४॥

मुनियोंके दानकेलिये किसीसे भी उधार लाये हुए अन्न आदिको प्रामित्य कहते हैं। उधार लानेमें और उसके चुकानेमें दाताको अनेक क्लेश उठाने पडते हैं परिश्रम करना पडता और कदर्थित होना पडता है। अत एव माधुकरी वृत्ति धारण करनेवाले साधुओंके लिये यह दोष माना है। यह दो प्रकारका माना है एक वृद्धिमत् दूसरा अवृद्धिमत्। क्योंकि कोई भी चीज जो उधार लाई जाती है वह दो प्रकारकी हो सकती है एक व्याजू दूसरी विना व्याजू। यथाः—

भक्तादिकमृण यच्च तत्प्रामित्यमुदाहृतम्।
तत्पुनर्द्विविध प्रोक्त सवृद्धिकमथेतरत्॥

एक चीजके बदलेमें यदि दूसरी चीज लाई जाय जैसे कि साठीके बदलेमें शालीके चावल अथवा उ-

दके बदलेमें मूंग तो उसको परिवर्तित कहते है। ऐसा करनेमें भी दाताको संक्लेश होता है अत एव यह भी मुनियोंकेलिये दोष ही है। यथाः---

व्रीहिभक्तादिभि शालिभक्ताद्य स्वीकृत हि यत्।
सयताना प्रदानाय तत्परीवर्तमिष्यते ॥

निषिद्ध दोष और उसके भेदप्रभेदोंको बताते है:--

निषिद्धमीश्वरं भर्त्रा व्यक्ताव्यक्तोभयात्मना।
वारित दानमन्येन तन्मन्येन त्वनीश्वरम् ॥ १५ ॥

जो चीज किसीके मना करनेपर भी मुनियोंको आहारकेलिये दी जाय उसको निषिद्ध कहते है। इसके दो भेद है एक ईश्वर दूसरा अनीश्वर। वस्तुके स्वामीसे निषिद्ध वस्तुको ईश्वर और जो वस्तुतः स्वामी तो नहीं है किन्तु अपनेको स्वामी समझता है ऐसे पुरुषके द्वारा निषिद्ध हो उस वस्तुको अनीश्वर कहते है। स्वामीके तीन भेद हैं--व्यक्त अव्यक्त और उभय। जो अपने अधिकार अथवा रक्षणादि कार्यके करनेमें किसी दूसरे की अपेक्षा नही रखता ऐसे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र अधिकारीको व्यक्त और जो दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाला है उसको अव्यक्त कहते हैं। किन्तु जो व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकारका कहा जा सकता हो अथवा ऐसे दो संयुक्त व्यक्ति हों तो उनको उभय कहते है। इसी प्रकार अनीश्वर दोषके भी ये तीन भेद होते है। अत एव व्यक्तेश्वर निषिद्ध आदि निषिद्ध दोषके छह भेद हो जाते हैं। इस विषयका आचार टीकामें,

"अणिसिट्ट पुण दुविह ईसरमहणीसरं च दुवियप्प।
पढमेस्सरसारक्ख वत्तावत्त च सघाड ॥"

इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए बहुत विशेष वर्णन किया है। किन्तु बुद्धिमान् लोक उस सम्पूर्ण व्या

ख्यानकी अपनी बुद्धिसे यहांपर ही घटना कर सकते है अत एव प्रकृतमें किसी प्रकारके ग्रन्थविरोध आदिकी शका न करनी चाहिये ।

आविहृत दोषका व्याख्यान करते है:—

त्रीन् सप्त वा गृहान् पङ्क्त्या स्थितान्मुक्त्वान्यतोऽखिलात ।
देशादयोग्यमायातमन्नाद्यभिहृतं यतेः ॥ १० ॥

एक सरल पङ्क्तिमें स्थित तीन अथवा सात मकानोंको छोडकर बाकी सब जगहोंसे मुनियोंके भोजन केलिये आई हुई अयोग्य अन्नादिक भोज्य सामग्रीको अभिहृत कहते हैं । ऐसी सामग्रीके ग्रहण करनेमें ईर्यासमिति आदिका पालन नहीं हो सकता किंतु उसमें प्रचुरतया दोष आता है अत एव साधुओंकेलिये ऐसे भोजनके ग्रहण करनेमें अभिहृत दोष है ।

इस दोषके मूलमें दो भेद है—एक देशाभिहृत दूसरा सर्वाभिहृत । देशाभिहृतके दो भेद है—एक आदृत दूसरा अनादृत । सर्वाभिहृतके चार भेद है—स्वग्रामागत परग्रामागत स्वदेशागत परदेशागत । जिस ग्राम नगर या देशमें भोक्ता यति उपस्थित हो उसको स्वग्राम या स्वदेश और बाकीको परग्राम तथा परदेश समझना चाहिये । एक ही पङ्क्तिमें स्थित तीन अथवा सप्त मकानोंमेंसे जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि एक दाताका मकान और उसके दोनो तरफके तीन तीन मकान इस तरह एक ही सरल पंक्तिके सात मकानोंमेंसे आये हुएको आदृत और उनके सिवाय दूसरे मकानों या स्थानोंसे आये हुए औषधाहारादिको अनादृत कहते है । एक मुहल्लेमे दूसरे मुहल्लेमें लाये गये भोजनादिको स्वग्रामागत और बाकीको परग्रामागत कहते है । इसी तरह स्वदेशागत और परदेशागतका भी स्वरूप समझना चाहिये ।

उद्भिन्न और आच्छेद्य दोषके स्वरूपका निरूपण करते है:—

पिहितं लाञ्छितं वाज्यगुडाद्युद्घाट्य दीयते ।

यत्तदुद्भिन्नमाच्छेद्यं देयं राजादिभीषितैः ॥ १७ ॥

ऐसी कोई भी घी गुड खांड या छुआरा आदि वस्तु जो कि मट्टी या लाख आदिसे ढकी हुई हो अथवा किसी तरहकी नामकी मील मुहर की गई तो वह खोलकर साधुओंको भोजनके लिये दीजाय तो इसको उद्भिन्न दोषसे दूषित कहा है क्योंकि देखा जाता है कि चींटी आदि जीवोंका प्रवेश प्राय हो जाया करता है। इसी प्रकार यदि राजा या मन्त्री आदिके भयसे गृहस्थ लोग साधुओंको आहार दें तो उस दी हुई वस्तुको आच्छेद्य दोषसे दूषित समझना चाहिये। जैसा कि कहा भी है किः—

सयतश्रममालोक्य भीषयित्वा प्रदापितम् ।
राजचौरादिभिर्यत्तदाच्छेद्यमिति कीर्तितम् ॥

संयतोंके भिक्षाश्रमको देखकर यदि कोई राजा अथवा उसके समान प्रभुता रखनेवाला मंत्री आदि कोई भी व्यक्ति यद्वा चौर आदि गृहस्थोंको यह भय दिखाकर कि इन आये हुए संयतोंको यदि तुम लोग भिक्षा न कराओगे तो हम तुम्हारा सम्पूर्ण द्रव्य लूट लेंगे या ग्राममे निकाल देंगे; भोजन करवावे, तो उस दी हुई वस्तुको आच्छेद्य दोषसे दूषित समझना चाहिये।

मालारोहण दोषको बताते हैः—

निश्रेण्यादिभिरारुह्य मालमादाय दीयते।

यद् द्रव्यं संयतेभ्यस्तन्मालारोहणमिष्यते ॥ १८ ॥

नसेनी या जीना—दादरा आदिके द्वारा मकानके ऊपरके खन-मालेपर चढकर और वहांसे लाकर जो

द्रव्य संयमियोंको आहारकेलिये दिया जाय उसको मालारोहण कहते है। इस क्रियाके करनेसे दाताका अपाय दीखता है अत एव इसको दोष माना है।

इस प्रकार उद्गम दोषोंका प्रकरण समाप्त हुआ। अब उत्पादना दोषोंका व्याख्यान करनेकेलिये सब से पहले उनके नामका उल्लेख करते है। यहापर यह बात स्मरणमें रखनी चाहिये कि ये दोष भोक्ता संयमी के प्रयोगकी अपेक्षासे होते है; चाहे तो उसने उस देय वस्तुको तयार होनेमें स्वयं प्रयोग किया हो या कराया हो अथवा उसकेलिये उपदेश दिया हो।

उत्पादनास्तु धात्री दूतनिमित्ते वनीपकाजीवौ।
क्रोधाद्याः प्रागनुनुतिवैद्यकविद्याश्च मन्त्रचूर्णवशाः ॥ १९ ॥

उत्पादन दोषके सोलह भेद है। धात्री दूत निमित्त वनीपकवचन आजीव क्रोध मान माया लोभ पूर्व स्तुति पश्चात्स्तुति वैद्यक विद्या मन्त्र चूर्ण वश।

पांच प्रकारके धात्री दोषको बताते हैः—

मार्जनक्रीडनस्तन्यपानस्वापनमण्डनम्।
बाले प्रयोक्तुर्यत्प्रीतो दत्ते दोषः स धात्रिका ॥ २० ॥

धात्री शब्दका अर्थ धाय होता है। जो बालकका पोषण करे उसको धाय कहते है। उसके भिन्न भिन्न कार्यकी अपेक्षा पांच भेद है, मार्जन मंडन खेलन स्वापन और क्षीर। स्नानादिके द्वारा बालकके पोषण करने-वालीको मार्जन धाय, जो भूषणादिकके द्वारा करे उसको मण्डन धाय, जो नाना प्रकारसे क्रीडा करावे उसको खेलन धाय, जो माताकी तरह सुलावे उसको स्वापन धाय, और जो दूध पिलाकर पुष्ट करे उसको क्षीरधाय कहते

है। इनमेंसे एक या अनेक कार्योंका यदि भोक्ता संयमी बालकमें प्रयोग करे और अनुरक्त हुआ गृहस्थ उस प्रयोग द्वारा उत्पन्न कराये हुए भोजनको दे तथा उसको वह संयमी ग्रहण करे तो उसके वह धात्री नामका उत्पादन दोष समझना चाहिये। जैसा कि कोई संयमी गृहस्थके बालकको खिलानेका इस तरहसे स्वयं प्रयोग करे या करावे अथवा उसकेलिये उपदेश दे कि जिससे भोजनके उत्पन्न होनेमें सहायता पहुचे और अनुरक्त गृहस्थके द्वारा दिये हुए उस उत्पन्न भोजनको ग्रहण करे तो उस संयमीके खेलनधात्री नामका उत्पादन दोष लगेगा। जैसा कि कहा भी है कि:—

स्नानभूषापय:क्रीडामातृधात्रीप्रभेदत: ।
पञ्चधा धात्रिकाकार्यादुत्पादो धात्रिकामलम् ॥

इन कार्योंसे दोषका आना इसलिये बताया है कि इनसे स्वाध्यायका विनाश होता और जिनमार्गमें दूषण लगता है।

दूतदोष और निमित्तदोषको स्पष्ट करते हैं: —

दूतोऽशनादेरादानं संदेशनयनादिना ।
तोषिताद्दातुरष्टाङ्गनिमित्तेन निमित्तकम् ॥ २१ ॥

सम्बन्धी पुरुषादिकोंके वचन —वृत्तान्त—संदेशको स्थानान्तरमें पहुचाना दूतकर्म कहाजाता है। इस कर्म करके संतुष्ट किये गये दाताके द्वारा दिये हुए भोजनादिका ग्रहण करना दूतदोष है। जैसा कि कहा भी है कि: —

जलस्थलनभ:स्वान्यग्रामस्वपरदेशत: ।
सबन्धिवचसो नीतिर्दूतदोषो भवेदसौ ॥

अपने ग्राम या अपने देशसे जलस्थल या आकाशमार्गसे दूसरे ग्राम या दूसरे देशमें जाकर और वहां

पहुंचकर किसीके समाचारोंको उसके सम्बन्धीके पास पहुंचाकर भोजन ग्रहण करे तो वहां दूत दोष समझा जायगा। इस कर्मके करनेसे शासनमें दूषण लगता है अत एव जिनलिङ्गियोंकेलिये यह दोष माना है।

अष्टाङ्ग निमित्तके द्वारा संतुष्ट किये गये दाताके द्वारा दिये हुये भोजनके ग्रहण करनेको निमित्त दोष कहते हैं। अष्टाङ्ग निमित्तके नाम इस प्रकार हैः—

लाञ्छनाङ्गस्वरं छिन्नं भौमं चैव नभोगतम्।
लक्षणं स्वपनश्चेति निमित्तं त्वष्टधा भवेत्॥

मसा तिल लहसन आदिको लाञ्छन या व्यञ्जन कहते हैं। हाथ पैर सिर पेट अङ्गुली आदि शरीरके किसी भी भागको अङ्ग कहते हैं। स्वर शब्दका अर्थ शब्द स्पष्ट है। अस्त्र शस्त्रादिकके घावको अथवा वस्त्रादि में छेद वगैरहके होजानेको छिन्न कहते है। पृथ्वीके किसी विभागविशेषको भौम कहते हैं। सूर्य चन्द्रादिके ग्रहण उदय अस्त आदि होनेको अन्तरिक्ष कहते है। शरीरमें नन्द्यावर्त कमल चक्र हाथी आदिके आकारके पडजानेको लक्षण कहते है। और सोते हुए मनुष्यको हाथी विमान महिष आदि जो दीखा करते है उसको स्वप्न कहते हैं।

इन व्यंजनादिकोंको देखकर भविष्यमें होनेवाले शुभाशुभ फलका जो ज्ञान होता है उसको निमित्तज्ञान कहते हैं। इस ज्ञानके द्वारा तथाभूत फलको बताकर दाताको संतुष्ट करके उसके दिये हुए आहारौषधादिका ग्रहण करना निमित्तनामका उत्पादनदोष समझना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेमें रसास्वादन दीनता आदि दोष दीखते हैं।

वनीपक और आजीवदोषोंका लक्षण करते हैः—

दातुः पुण्यं श्वादिदानादस्त्येवेत्यनुवृत्तिवाक्।
वनीपकोक्तिराजीवो वृत्तिः शिल्पकुलादिना॥ २१॥

याचना करनेवालेको वनीपक कहते हैं। अत एव भोजन ग्रहण करनेके अभिप्रायसे दाताके अनुकूल

वचन बोलकर जहां आहारादि ग्रहण किया जाय वहां वनीपक वचन नामका उत्पादन दोष समझना चाहिये। जैसे कि दाताके यह पूछनेपर कि कुत्ता काक कोढी मांसासक्त द्विज दीक्षोपजीवी पार्श्वस्थ तापस श्रमण छात्र इत्यादिकोंको दान देनेमें पुण्य होता है या नहीं ? उत्तरमें आहारके अभिप्रायसे ऐसे अनुकूल वचन बोलना कि "इस में क्या सन्देह है, होता ही है, ऐसे ही वचनोंको वनीपकवचन नामका दोष कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि

साण-किविण-तिहिमाहण-पासत्थिय-सवण-काग-दाणादि ।
पुण्ण णवेति पुट्ठे पुण्ण ति य वणिवय वयण ॥

ऐसे वचनोंके बोलनेसे दीनता प्रकट होती है अत एव इसको दोष माना है।

अपने हस्तरेखादिके अथवा शिल्पशास्त्रादिके ज्ञानको यद्वा कुल जाति ऐश्वर्य तपोऽनुष्ठानादिको प्रकट करके भोजन ग्रहण करनेमें आजीव नामका दोष होता है। यथा —

आजीवस्तप ऐश्वर्यं शिल्प जातिस्तथा कुलम् ।
तैस्तूत्पादनमाजीव एष दोष' प्रकथ्यते ॥

ऐसा करनेमें वीर्य—सामर्थ्यका अनिगूहन और दीनता प्रकट होती है अत एव इसको दोष माना है।

क्रोध मान माया लोभ इन चार दोषोंका, पूर्व कालमें हस्तकल्पादिक नगरोंमें होजानेवाले इनके आख्यानोंको बताते हुए, स्वरूपनिर्देश करते है।

क्रोधादिबलादऽदतश्चत्वारस्तदभिधा मुनेर्दोषाः ।
पुरहस्तिकल्पवेन्नातटकासीरासीयनवत् स्युः ॥२३॥

क्रुद्ध होकर भोजनादिके ग्रहण करनेमें क्रोध दोष, अभिमानके वशीभूत होकर ग्रहण करनेमें मान दोष,

समाचारको धारण करके भोजनादि करनेमें माया दोष, और लुब्ध परिणामोंसे आहार औषधादिके ग्रहण करनेमें लोभ दोष होता है। जैसा कि पूर्व कालमें हस्तिकल्पादिक नगरोंमें हो भी चुका है। हस्तिकल्प नामके नगरमें क्रोधके बलसे भोजन करनेवाले मुनिको क्रोध नामका दोष, और वेन्नातट नामक नगरमें मानके बलसे भोजन करनेवालेके मान दोष, काशी नगरीमें मायाचारके बलसे भोजन करनेवालेके मायादोष, तथा लोभके बलसे रासीयन नामके नगरमें भोजन करनेवालेके लोभ नामका दोष घटित हो चुका है। उसी प्रकार सर्वत्र समझना चाहिये।

पूर्वस्तुति और पश्चात्स्तुति दोषोंको बताते हैः—

स्तुत्वा दानपतिं दानं स्मारयित्वा च गृह्णतः।
गृहीत्वा स्तुवतश्च स्त· प्राक्पश्चात्संस्तवौ क्रमात् ॥ २४ ॥

तुम बडे दानवीर हो, तुह्मारी कीर्ति सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त होरही है, इत्यादि अनेक प्रकारसे दाताकी प्रशंसा करके; अथवा " पहले तो तुम बडे दानशूर थे मुक्तहस्त होकर लोगोंको दान किया करते थे, पर अब तो कुछ न मालुम, क्यों भूलसे गये हो ", इत्यादि अनेक प्रकारसे उसको पहले दानका स्मरण दिलाकर भोजन करनेमें पूर्वस्तुति नामका दोष होता है। तथा भोजन करनेके अनन्तर उसी प्रकार स्तुति करना दानका स्मरण दिलाना उसको पश्चात् स्तुति नामका दोष कहते है। ऐसा करनेमें जिनलिङ्गके कर्तव्योंसे विरुद्ध कृपणता प्रकट होती है अत एव इसको दोष माना है।

चिकित्सा विद्या और मन्त्र इन तीन दोषोंको बताते है —

चिकित्सा रुक्प्रतीकाराद्विद्यामाहात्म्यदानतः।
विद्या मन्त्रश्च तद्दानमाहात्म्याभ्यां मलोऽश्नतः ॥ २५ ॥

ज्वरादिक व्याधि अथवा ग्रहादिकोंकी बाधा दूर करनेको चिकित्सा कहते हैं : इसके आठ अङ्ग है-रसायन विष क्षार बाल शरीर भूत शल्य और शलाका । यथाः—

रसायनविषक्षारा. कौमाराङ्गचिकित्सिते ।
चिकित्सा दोष एषोऽस्ति भूत शल्य शिराष्टधा ॥

अत एव इस चिकित्साविधिके द्वारा उक्त व्याधिबाधाका स्वयं प्रतीकार करके अथवा उसके निराकरण का उपदेश देकर जो साधु भोजन करता है उसके चिकित्सा नामका उत्पादन दोष लगता है। क्यों कि ऐसा करनेसे सावद्यादिक अनेक दोषोंकी उद्भूति होती है

आकाशगामिनी आदि अनेक प्रकारकी विद्याएं प्रसिद्ध है। उनका माहात्म्य दिखाकर अथवा उनका दान करके-सिद्ध कराकर, यद्वा मैं तुझको अमुक विद्या दे दूंगा ऐसा आश्वासन देकर भोजन करनेवाले साधुके विद्या नामका दोष लगता है। जैसा कि कहा भी है किः—

विज्जा साधिदसिद्धा तिस्से आसापदाणकरणेहिं ।
तिस्से माहप्पेण य विज्जादोसो दुउप्पादो ॥

इसी प्रकार मन्त्रका माहात्म्य दिखाकर यद्वा उसका दान करके-सिद्ध कराके अथवा सिद्ध करादेनेका आश्वासन देकर भोजन करनेवाले साधुके मन्त्र नामका दोष लगता है। ऐसा करनेमें लोकप्रतारण, रसनेन्द्रियकी गृद्धि आदि अनेक दोष प्रकट होते हैं अत एव इनको दोष माना है।

विद्या और मन्त्र इनके दोषोंका स्वरूप प्रकारान्तरसे बताते हैः—

विद्या साधितसिद्धा स्यान्मन्त्रः पठितसिद्धकः ।
ताभ्यां चाहूय तौ दोषौ स्तोऽश्नतो मुक्तिदेवताः ॥ २६ ॥

तुषचणतिलतण्डुलजलमुष्णजलं च स्ववर्णगन्धरसैः ।
अरहितमपरमपीदृशमपरिणतं तन्न मुनिभिरुपयोज्यम् ॥ ३२ ॥

भूसी चना तिल अथवा चावलके धोवनका जल यद्वा ऐसा जल जो कि गरम होकरके पुनः ठंडा होगया हो जिसके कि वर्ण गन्ध और रसका परिवर्तन नहीं हुआ है एवं और भी जो इसी तरहका जल हो जो कि हरीतकी चूर्णादिके द्वारा अच्छी तरह विध्वस्त नहीं हुआ हो–अपने वर्णादिको छोडकर वर्णान्तरको प्राप्त न हुआ हो उसको अपरिणत कहते है। अत एव संयमियोंको उसका ग्रहण न करना चाहिये। ग्रहण करनेपर अपरिणत नामका दोप लगता है। यथाः--

तिलादिजलमुष्णं च तोयमन्यच्च तादृशम् ।
कराद्यताडितं नैव ग्रहीतव्यं मुमुक्षुभिः ॥

साधारण दोपका स्वरूप बताते हैं –

यद्दातुं संभ्रमाद्वस्त्राद्याकृष्यान्नादि दीयते ।
असमीक्ष्य तदादानं दोषः साधारणोऽशने ॥ ३३ ॥

आकुलता भय अथवा आदरसे वस्त्रादिकोंका आकर्पण करके अच्छी तरह पर्यालोचन किये विना ही दाताके द्वारा दीगई आहार औपधादिक वस्तुके ग्रहण करनेमें साधारण दोप माना है। यथाः–

संभ्रमाहरणं कृत्वाऽऽदातुं पात्रादिवस्तुनः ।
असमीक्ष्यैव यद्देयं दोषः साधारणः स तु ॥

दायक दोपका स्वरूप बताते हैः–

ज्वरादिक व्याधि अथवा ग्रहादिकोंकी बाधा दूर करनेको चिकित्सा कहते हैं। इसके आठ अङ्ग है-रसायन विष क्षार बाल शरीर भूत शल्य और शलाका। यथाः—

रसायनविषक्षारा कौमाराङ्गचिकित्सिते।
चिकित्सा दोष ग्योऽस्ति भूत शल्य शिराष्टधा ॥

अत एव इस चिकित्माविधिके द्वारा उक्त व्याधिबाधाका स्वय प्रतीकार करके अथवा उसके निराकरण का उपदेश देकर जो साधु भोजन करता है उसके चिकित्सा नामका उत्पादन दोष लगता है। क्यों कि ऐसा करनेसे सावद्यादिक अनेक दोषोंकी उद्‌भूति होती है

आकाशगामिनी आदि अनेक प्रकारकी विद्याएं प्रसिद्ध है। उनका माहात्म्य दिखाकर अथवा उनका दान करके-सिद्ध कराकर, यद्वा मैं तुझको अमुक विद्या दे दूंगा ऐसा आश्वासन देकर भोजन करनेवाले साधुके विद्या नामका दोष लगता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

विज्जा माधिदसिद्धा तिस्से आसापदाणकरणेहिं।
तिस्से माहप्पेण य विज्जादोसो दुउप्पादो ॥

इसी प्रकार मन्त्रका माहात्म्य दिखाकर यद्वा उसका दान करके-सिद्ध कराके अथवा सिद्ध करादेनेका आश्वासन देकर भोजन करनेवाले साधुके मन्त्र नामका दोष लगता है। ऐसा करनेमें लोकप्रतारण, रसनेन्द्रियकी गृद्धि आदि अनेक दोष प्रकट होते है अत एव इनको दोष माना है।

विद्या और मन्त्र इनके दोषोंका स्वरूप प्रकारान्तरसे बताते है:—

विद्या साधितसिद्धा स्यान्मत्रः पठितसिद्धकः।
त भ्यां चाहूय तौ दोषौ स्तोऽश्नतो भुक्तिदेवताः ॥ २६ ॥

जप होम आदिके द्वारा आराधन करनेपर जो सिद्ध —दशीभूत हुई हो उसको विद्या कहते है। उसके द्वारा भुक्तिदेवता-भोजन प्रदान करनेवाले व्यन्तरादिदेवोंका आव्हान करके उनसे प्राप्त हुई आहारौषधादिक सामग्रीके ग्रहण करनेवाले साधुके विद्यानामका दोष होता है। इसी प्रकार जिसका पहले गुरुमुखसे अध्ययन किया हो किन्तु पीछे वह सिद्ध होगया हो—अपनी शक्तिके अनुसार कार्यका साधक बनगया हो उसको मन्त्र कहते हैं। इसके द्वारा उक्त भुक्तिदेवताका आमन्त्रण करके उसके द्वारा सम्पन्न हुई आहार्य सामग्रीका ग्रहण करनेवालेके मन्त्रनामका दोष लगता है। जैसा कि कहा भी है कि,

विद्यामन्त्रै. समाहूय यदानपतिदेवता' ।
साधितः स भवेद्दोषो विद्यामन्त्रसमाश्रयः ॥

चूर्ण और मूलकर्म दोषोंको बताते हैः—

दोषो भोजनजननं भूषाञ्जनचूर्णयोजनाच्चूर्णः ।
स्यान्मूलकर्म चावशवशीकृतिवियुक्तयोजनाभ्यां तत ॥ २७ ॥

वस्तुओंकी रजविशेषको चूर्ण कहते हैं। प्रकृतमें यह दो प्रकारका कहा जा सकता है, एक भूषाचूर्ण दूसरा अंजनचूर्ण। जिससे शरीर शोभायमान या अलकृत हो ऐसी द्रव्यरजको भूषाचूर्ण और जिससे नेत्रोंमें निर्मलता आदि उत्पन्न हो उसको अंजनचूर्ण कहते है। इस तरहके चूर्णोंका दाताकेलिये सम्पादन करके उसके यहां भोजन ग्रहण करनेवाले साधुके चूर्ण नामका दोष लगता है। क्योंकि यह क्रिया जीविकाके द्वारा जीवन करनेमें प्रवृत्त करती है अत एव इसको दोष माना है। जो अपने अधीन नहीं है उसको वशमें करनेका उपाय बताकर या वैसा होनेकी योजना करके, और परस्परमें वियुक्त हुए—विरही स्त्रीपुरुषोंका मेल कराकर अथवा उसका उपाय बताकर भोजन ग्रहण करनेवाले साधुके मूलकर्म नामका उत्पाद दोष लगता है। क्योंकि ऐसा करनेमें लज्जादिका आभोग—स्वीकार किया जाता है।

इस प्रकार उत्पादन दोषोंका प्रकरण समाप्त हुआ। अब क्रमप्राप्त दश प्रकारके अशन दोषोंके नाम गिनाते हैं—

शङ्कितपिहितम्रक्षितनिक्षिप्तच्छोटितापरिणताख्याः।
दश साधारणदायकलिप्तविमिश्रैः सहेत्यशनदोषाः ॥ २८ ॥

भोज्यसामग्रीसे सम्बन्ध रखनेवाले दोषोंको अशन कहते हैं। इसके दश भेद हैं:—शंकित पिहित म्रक्षित निक्षिप्त छोटित अपरिणत साधारण दायक लिप्त और विमिश्र।

इनका स्वरूप बतानेकी इच्छासे क्रमके अनुसार पहले शङ्कित और पिहित इन दोषोंका लक्षण करते हैं।

संदिग्धं किमिदं भोज्यमुक्तं नो वेति शंकितम्।
पिहितं देयमप्रासु गुरु प्रास्वपनीय वा ॥ २९ ॥

इस वस्तुको आगममें ग्रहण करनेके योग्य बताया है अथवा अयोग्य ऐसा जिस वस्तुके विषयमें सशय हो उसके ग्रहण करनेमें शङ्कित नामका दोष माना है। अथवा यह वस्तु कहीं अधःकर्मके द्वारा तो निष्पन्न नहीं हुई ऐसा जिसके विषयमें संदेह होजाय, फिर भी उसको यदि ग्रहण करलिया जाय तो भी शंकित नामका दोष होता है।

अप्रासुक वस्तुके द्वारा अथवा प्रासुक किन्तु गुरु—भारी पदार्थके द्वारा ढकी हुई भोज्यसामग्रीको उघाडकर दिये जानेपर ग्रहण करनेमें पिहित नामका दोष लगता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

पिहित यत्सचित्तेन गुर्वचित्तेन वापि यत्।
तत् त्यक्त्वैव च यद्देय बोद्धव्य विहित हि तत् ॥

म्रक्षित और निक्षिप्त दोषोंका लक्षण बताते हैं:—

म्रक्षितं स्निग्धहस्ताद्यैर्दत्तं निक्षिप्तमाहितम् ।
सच्चित्तक्ष्माग्निवार्बीजहरितेषु त्रसेषु च ॥ ३० ॥

घी तैल आदिके द्वारा स्निग्ध—सचिक्कण हुए हाथ अथवा चमचा करछली आदि पात्रोंके द्वारा दी गई भोज्यसामग्रीके ग्रहण करनेमें म्रक्षित नामका दोष लगता है। जो वस्तु सचित्त पृथिवी जल अग्नि बीज और हरितकाय इन पांचके ऊपर अथवा छठे त्रसकाय—द्वींद्रियसे लेकर पचेन्द्रियतकके ऊपर रक्खी हुई हो, उसके ग्रहण करनेमें निक्षिप्त नामका दोष लगता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

सच्चित्त पुढवि आऊ तेऊ हरिदं च बीज तसजीवा।
जं तेसिमुवरि ठविदं णिक्खित्तं होदि छब्भेयम् ॥

छोटित दोषका स्वरूप बताते हैं:—

भुज्यते बहुपातं यत्करक्षेप्यथवा करात् ।
गलद्भित्त्वा करौ त्यक्त्वाऽनिष्टं वा छोटितं च तत् ॥ ३१ ॥

प्रकारभेदसे छोटित दोष पांच तरहका है। क्योंकि बहुतसी भोज्यसामग्रीको गिराकर अथवा छोडकर थोडे आहारके ग्रहण करनेमें, और परोसनेवाले दाताके द्वारा हाथपर छोडी गई किन्तु तक्र आदिके द्वारा झरती हुई वस्तुके ग्रहण करनेमें, तथा जिससे भोज्य सामग्री टपक रही है ऐसे हाथसे भोजन करनेमें, एवं दोनो हाथोंको अलहदा अलहदा करके भोजन करनेमें, और अनिष्ट आहारको छोडकर इष्ट पदार्थके ग्रहण करनेमें छोटित दोष लगता है।

अपरिणत दोषको बताते हैं:

[illegible] ॥ २१ ॥

[illegible]

[illegible]

साधारण दोषका स्वरूप बताते हैं:—

[illegible] दीयते ।
असमीक्ष्य [illegible] दोषः साधारणोऽशने ॥ २२ ॥

आकुलता वश अथवा आदरसे वस्त्रादिकोंका आकर्षण करके अच्छी तरह पर्यालोचन किये विना ही दाताके द्वारा दीगई आहार औषधादिक वस्तुके ग्रहण करनेमें साधारण दोष माना है । यथाः—

सभ्रमाहरण कृत्वाऽऽदातु पात्रादिवस्तुन' ।
असमीक्ष्यैव यद्देय दोषः साधारण स तु ॥

दायक दोपका स्वरूप बताते हैं:—

मलिनीगर्भिणीलिङ्गिन्यादिनार्यो नरेण च।
शवादिनापि क्लीबेन दत्तं दायकदोषभाक् ॥ ३४ ॥

रजस्वला गर्भभारसे युक्त अथवा जिनलिङ्ग आदिके धारण करनेवाली आर्यिकाओं तथा दूसरी भी रक्त पटिका आदि अनेक प्रकारकी स्त्रियोंके द्वारा ही नहीं किन्तु शवको श्मशानमें छोडकर आये हुए मृतक सूतकसे युक्त यद्वा व्याधियुक्त तथा क्लीब-नपुंसक आदि पुरुषोंके द्वारा भी दिये हुए आहारको दायक दोषसे युक्त समझना चाहिये।

यहांपर स्त्री पुरुष वेदोंके साथ जो आदि शब्द दिया है उससे और भी आगममें बताये हुए भेदोंका ग्रहण करलेना चाहिये। यथा:—

सूती शोण्डी तथा रोगी शव. पण्ढ. पिशाचवान्।
पतितोच्चारनग्नाश्च रक्ता वेश्या च लिङ्गिनी॥
वान्ताऽभ्यक्ताङ्गिका चातिबाला वृद्धा च गर्भिणी।
अदयन्धा निषण्णा च नीचोच्चस्था च सान्तरा॥
फूत्कार ज्वालन चैव सारण छादन तथा।
विध्यापनाग्निकार्ये च कृत्वा निश्च्यावघट्टने॥
लेपन मार्जन त्यक्त्वा स्तनलग्न शिशु तथा।
दीयमानेपि दानेस्ति दोषो दायकगोचर.॥

सूती - जननहारी —जिसके सन्तान उत्पन्न हुई हो, जो मद्यपान करनेमें लम्पट हो, जो वातादिककी बाधासे पीडित अथवा भूतपिशाच आदिके द्वारा मूर्च्छित हो, जो रक्ता—मासिक धर्मसे युक्त हो, जो पंचश्रमणिका रक्तपटिका आर्यिका आदिका लिङ्ग धारण करनेवाली हो, जिसने वान्ति की हो, अथवा शरीरमें अभ्यङ्ग लगा रक्खा हो यद्वा पात्रके स्थानसे नीचे या ऊंचे प्रदेशपर खडी हो, जो भींत वगैरहके आडमें आगई हो, जो

अतिमात्र नामक भुक्तिदोपके चौथे भेदका स्वरूप बताते हैं:—

सव्यञ्जनाशनेन द्वौ पानेनैकमंशमुदरस्य ।
भृत्वाऽभृतस्तुरीयो मात्रा तदतिक्रमः प्रमाणमलः ॥ ३८ ॥

साधुओंको उदरके दो भाग—भूखके अ धे प्रमाणको व्यजन दाल शाक आदि और अशन—भात रोटी लड्डू आदिक द्वारा भरना—पूर्ण करना चाहिये । त । एक अश—एक चतुर्थांशको पानी आदि द्रव पदार्थोंसे पूर्ण करना चाहिये । किन्तु उदरका एक चतुर्थांश खाली ही रखना चाहिये, परन्तु जो साधु इस प्रमाणका अतिक्रमण करता है उसके अतिमात्र नामका भुक्तिदोप लगता है । जैसा कि कहा भी है कि:

अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशौ पानेनेकं प्रपूरयेत् ।
आश्रमं पवनादीनां चतुर्थमवशेषयेत् ॥

पेटका चतुर्थभाग वायु आदिका स्थान माना है । अत एव उसको रिक्त रखना ही उचित है । उसको भी भरलेनेपर आलस्य निद्रा आदि विकार होने लगते हैं, ज्वरादि व्याधियां भी उद्भूत हो सकती है; जिससे कि स्वाध्याय आदि आवश्यक कर्मोंकी क्षति ही होती है । इसी लिये अतिप्रमाण भोजनको दोप माना है ।

इस प्रकार पिण्डदोपके छ्यालीस भेदोंका निरूपण करके अब क्रमप्राप्त चौदह मलोंका निरूपण करते हैं:—

पूयास्रपलास्थ्याजिनं नखः कचमृतविकलत्रिके कन्दः ।
बीजं मूलफले कणकुण्डौ च मलाश्चतुर्दशान्नगताः ॥ ३९ ॥

जिनमे कि ससक्त—स्पृष्ट होनेपर अन्नादिक आहार्य सामग्री साधुओंको ग्रहण न करनी चाहिये उनको मल कहते हैं । उनके चौदह भेद हैं जिनके कि नाम इस प्रकार हैं— पींव— फोडे आदिमें होजानेवाला कच्चा,

रुधिर, तथा साधारण रुधिर—रक्त-खून, मांस, हड्डी, चर्म, नख, केश, मरा हुवा विकलत्रय—द्वीन्द्रिय त्रींद्रिय चतुरीन्द्रिय, कन्द सूरण आदि, जो उत्पन्न हो सकता हो ऐसा गेंहू आदि बीज, मूली अदरख आदि मूल, बेर आदि फल तथा कण—गेहू जौ आदिका बाह्य खण्ड, और कुण्ड—शाली आदिके अभ्यंतर सूक्ष्म अवयव अथवा बाहरसे पक्व भीतरसे अपक्वको कुण्ड कहते हैं।

आठ प्रकारकी पिण्डशुद्धिमें पाठ न रहनेके कारण इन मलोंका पृथक् निरूपण किया है।

इनमेंसे उत्तम मध्यम जघन्य भेदोंको गिनाते हैं:—

पूयादिदोषे त्यक्त्वापि तदन्नं विधिवच्चरेत् ।
प्रायश्चित्तं नखे किञ्चित् केशादौ त्वन्नमुत्सृजेत् ॥ ४० ॥

उक्त चौदह मलोंमेंसे आदिके पीव रक्त मांस हड्डी और चर्म इन पांच दोषोंको महादोष माना है। अत एव इनसे संसक्त आहारको केवल छोड ही न देना चाहिये किन्तु उसको छोडकर आगमोक्त विधिके अनुसार प्रायश्चित्त भी ग्रहण करना चाहिये। नखका दोष मध्यम दर्जेका है, अत एव नखयुक्त आहारको छोड तो देना ही चाहिये किन्तु कुछ प्रायश्चित्त भी ग्रहण करना चाहिये। केशादिकका दोष जघन्य दर्जेका है अत एव साधुओंको उनसे युक्त आहार केवल छोड देना चाहिये।

केशादिकसे अभिप्राय केश और मृत विकलत्रयका है। अत एव शेष कन्दादिकके विषयमें विधिका भेद है क्योंकि इस विषयमें ऐसा विधान है कि कन्दादिकको आहारसे अलहदा करदेना चाहिये। यदि वे अलहदा न हो सकते हों तो आहारको भी छोड देना चाहिये। इसी विधिविशेषको बताते हैं:—

१—कहीं २ बीजशब्दसे अंकुरित अवस्था ली है। २—कहीं कहीं कण शब्दका अर्थ चावलआदि किया है।

कन्दादिषट्कं त्यागार्हमित्यन्नाद्विभजन्मुनिः ।
न शक्यते विभक्तुं चेत् त्यज्यतां तर्हि भोजनम् ॥ ४१ ॥

कन्द बीज मूल फल कण और कुण्ड ये छह वस्तुएं ऐसी है जो कि आहारसे पृथक् की जा सकती है। अत एव साधुओंको आहारमें यदि ये वस्तुएं मिलगई हों तो उन्हे निकालकर दूर ही कर देना चाहिये। यदि कदाचित् उनका पृथक् करना अशक्य हो तो वह आहार ही छोडदेना चाहिये।

बत्तीस अन्तरायोंका निरूपण करते हैं--

प्रायोन्तराया: काकाद्या: सिद्धभक्तेरनन्तरम् ।
द्वात्रिंशद्व्याकृता: प्राच्यै: प्रामाण्या व्यवहारत: ॥ ४२ ॥

काक अमेध्य छर्दि रोधन रुधिर अश्रुपात इत्यादि अन्तरायके ३२ भेद हैं। जिनके निमित्तसे साधुजन भोजनका परित्याग करदेते हैं उनको अन्तराय कहते हैं। ये अन्तराय प्रायः करके सिद्धभक्तिका उच्चारण करनेके अनन्तर हुआ करते हैं। प्राय कहनेसे कोई कोई अन्तराय सिद्धभक्तिके पहले भी होते है यह सूचित होता है, जैसे कि अभोज्यगृहप्रवेश। इस नामका अन्तराय जिसका कि लक्षण आगे चलकर करेंगे, सिद्धभक्तिके पूर्व ही हो सकता है। इन अन्तरायोंका प्राचीन ऋषियोंने सूत्ररूपमें नहीं किन्तु टीकाग्रन्थोंमें व्याख्यान किया है। यद्यपि यहांपर अन्तरायोंके नाम ३२ ही गिनाये हैं किन्तु आम्नायके अनुसार इनके सिवाय और भी अन्तराय हो सकते हैं।

काकनामक अन्तरायका स्वरूप बताते है।

काकश्वादिविडुत्सर्गो भोक्तुमन्यत्र यात्यधः ।
यतौ स्थिते वा काकाख्यो भोजनत्यागकारणम् ॥ ४३ ॥

जहांपर सिद्धभक्तिका उच्चारण किया हो वहांसे किसी कारणवश यदि वह संयमी जिसने कि सिद्धभक्तिका उच्चारण, करलिया है भोजन करनेके लिये किसी अन्य स्थानपर जाय अथवा सिद्धभक्ति करके भोजन ग्रहण करनेके लिये वहीं अथवा अन्यत्र खडा हो जाय और ऊपरसे कोई काक या कुत्ता आदि जानवर मलोत्सर्ग करदे तो काक नामका अन्तराय समझना चाहिये, जो कि भोजन छोडदेनेका कारण है।

अमेध्य छर्दि और रोधन नामक तीन अन्तरायोंका स्वरूप बताते हैं:—

लेपोऽमेध्येन पादादेरमेध्यं छर्दिरात्मना।
छर्दनं रोधनं तु स्यान्मा भुङ्क्ष्वेति निषेधनम् ॥ ४४ ॥

भोजनके लिये स्थानान्तरको जाते हुए अथवा खडे हुए साधुके यदि किसी तरह चारण जङ्घा जानु आदि किसी भी शरीरके अवयवसे अमेध्य—विष्टा आदि अशुचि पदार्थका स्पर्श होजाय तो अमेध्य नामका अन्तराय होता है। यदि किसी कारणसे स्वय साधुको वमन होजाय तो छर्दिनामका अन्तराय माना है। आज भोजन मत करना, इस प्रकार रोकदेनपर रोधननामका अन्तराय होता है।

रुधिर अश्रुपात और जान्वधःपात इन तीन अन्तरायोंका स्वरूप दो श्लोकोंमें बताते हैं:—

रुधिरं स्वान्यदेहाभ्यां वहतश्चतुरंगुलम्।
उपलम्भोऽस्रपूयादेरश्रुपातः शुचात्मनः ॥ ४५ ॥
पातोश्रूणां मृतेन्यस्य क्व पि वाक्रन्दतः श्रुतिः।
स्याज्जान्वधःपरामर्शः स्पर्शो हस्तेन जान्वधः ॥ ४६ ॥

अपने या परके शरीरसे चार अङ्गुलतक या उससे अधिक रुधिर पीव आदिको वहता हुआ देखनेसे सा

धुको रुधिर नामका अन्तराय होता है। और शोकमे अपना अश्रुपात होजानेको अथवा अपने सम्बन्धीके मरजाने-पर जोरसे रोते हुए स्त्री अथवा पुरुषके आक्रन्दनके सुनाइ पडनेको भी अश्रुपात नामका अन्तराय कहते है। तथा सिद्धभक्तिके अनन्तर अपनी जानुके नीचेके भागका हाथमे स्पर्श होजानेको जान्वधःपरामर्श नामक अन्तराय कहते है।

जानूपरिव्यतिक्रम, नाभ्यधोनिर्गमन, प्रत्याख्यातसेवन, और जन्तुवध इन चार अन्तरायोंका स्वरूप दो श्लोकोंमें बताते है:--

जानुघ्न तिरश्चीनकाष्ठाद्युपरिलङ्घनम् ।
जानुव्यतिक्रमः कृत्वा निर्गमो नाभ्यधः शिरः ॥ ४७ ॥
नाभ्यधोनिर्गमः प्रत्याख्यातसेवोज्झिताशनम् ।
स्वस्याग्रेन्येन पञ्चाक्षघातो जन्तुवधो भवेत् ॥ ४८ ॥

घोंटूतक ऊंचे अथवा उससे अधिक ऊंचे किन्तु तिरछे लगे हुए काष्ठ-अर्गल या पाषाणादिको लांघकर जानेमें जानूपरिव्यतिक्रम नामका अन्तराय होता है। यदि अपने शिरको नाभिसे नीचे करके निकलना पडे तो नाभ्यधोनिर्गम नामका अन्तराय होता है। देवगुरुकी साक्षीसे छोडा हुआ पदार्थ यदि खानेमें आजाय तो प्रत्याख्यातसेवा नामका अन्तराय होता है। यदि अपने ही (संयमीके ही) सन्मुख कोई दूसरा-बिल्ली कुत्ता आदि मूसे आदि पञ्चेन्द्रिय जीवका घात करे तो जन्तुवध नामका अन्तराय होता है।

काकादिपिण्डहरण, पाणिपिण्डपतन, पाणिजन्तुवध, मांसादिदर्शन, उपसर्ग और पादान्तर पञ्चेन्द्रियागमन, इन छह अन्तरायोंका स्वरूप तीन श्लोकोंमें बताते है:-

काकादिपिण्डहरणं काकगृध्रादिना करात् ।
पिण्डस्य हरणं ग्रासमात्रपातोऽश्नतः करात् ॥ ४९ ॥

स्यात्पाणिपिण्डपतनं पाणिजन्तुवधः करे ।
स्वयमेत्य मृते जीवे मांसमद्यादिदर्शने ॥ ५० ॥
मांसादिदर्शनं देवाद्युपसर्गे तदाह्वयः ।
पादान्तरेण पंचाक्षगमे तन्नामकोऽश्नतः ॥ ५१ ॥

यदि भोजन करते हुए साधुके हाथपरमें काक गृद्ध आदि कोई भी जानवर भोज्य द्रव्यका हरण करले तो काकादिपिण्डहरण नामका अन्तराय होता है। यदि भोजन करते हुए साधुके हाथसे ग्रास गिरजाय तो पाणिपिण्डपतन नामका अन्तराय होता है। यदि भोजन करते हुए साधुके हाथपर कोई जीव आकर बिना किसीके प्रयोगके ही मरजाय तो पाणिजन्तुवध नामका अन्तराय होता है। भोजन करते हुए मांस मद्य आदि दीखजाय तो साधुको मांसादिदर्शन नामका अन्तराय होता है। इसी प्रकार—भोजन करते समय देव मनुष्य या तिर्यञ्च इनमेंसे किसीके भी द्वारा यदि उत्पात हो तो देवाद्युपसर्ग नामका अन्तराय होता है। और चलते समय यदि चरणोंके अन्तरालमें पञ्चेन्द्रिय जीव आजाय तो पादान्तरपंचेन्द्रियागमन नामका अन्तराय होता है।

भोजनसंपात और उच्चार नामक दो अन्तरायोंका स्वरूप बताते हैं:—

भूमौ भाजनसंपाते परिवेषिकहस्ततः ।
तदाख्यो विघ्न उच्चारो विष्टायाः स्वस्य निर्गमे ॥ ५२ ॥

संयमीके हस्तपुटपर जलादि सामग्रीका प्रक्षेपण करनेवालेके हाथसे कोई भी पात्र भूमिपर गिरजाय तो भोजनसंपात नामका अन्तराय होता है और यदि स्वयं संयमीके गुदद्वारसे मल-विष्टा निकल जाय तो उच्चार नामका अन्तराय होता है।

प्रस्रवण और अभोज्यगृहप्रवेश इन दो अन्तरायोंका स्वरूप बताते हैं:—

मूत्राख्यो मूत्रशुक्रादे श्चाण्डालादिनिकेतने ।
प्रवेशो भ्रमतो भिक्षोरभोज्यगृहवेशनम् ॥५३॥

यदि संयमीके मूत्र शुक्र अश्मरी आदि निकलजाय तो मूत्रनामका अन्तराय होता है । और भिक्षाकेलिये पर्यटन करते हुए यदि चाण्डाल आदि अस्पृश्य नीचोंके गृहमें प्रवेश होजाय तो उस संयमीके अभोज्यगृहप्रवेश नामका अंतराय माना है । पतन उपवेशन और संदेश इन तीन अन्तरायोंका स्वरूप बताते हैं:—

भूमौ मूर्छादिना पाते पतनाख्यो निपद्यया ।
उपवेशनसंज्ञोऽसौ संदंशः श्वादिदंशने ॥ ५४ ॥

यदि स्वयं संयमी मूर्छा भ्रम क्लम श्रम आदिके द्वारा भूमिपर गिरजाय तो पतन नामका अन्तराय होता है और किसी कारणसे भूमिपर बैठना उपवेशन नामका अन्तराय है । कुत्ता तथा बिल्ली आदिके द्वारा काटे जानेपर संदंश नामका अन्तराय होता है ।

भूमिस्पर्श निष्ठीवन उदरक्रिमिनिर्गमन और अदत्तग्रहण इन चार अन्तरायोंका स्वरूप दो श्लोकोंमें बताते हैं:—

भूस्पर्शः पाणिना भूमेः स्पर्शो निष्ठीवनाव्हयः ।
स्वेन क्षेपे कफादेः स्यादुदरक्रिमिनिर्गमः ॥ ५५ ॥
उभयद्वारतः कुक्षिक्रिमिनिर्गमने सति ।
स्वयमेव गृहेऽन्नादेरदत्तग्रहणाव्हयः ॥ ५ ॥

हाथसे भूमिका स्पर्श करनेपर भूमिस्पर्श नामका अन्तराय होता है और स्वय ही, न कि खांसी आदिके वशसे कफ थूक नाक आदिका निरसन करनेपर निष्ठीवन नामका अन्तराय होता है। तथा ऊर्ध्वमार्ग-मुखकी तरफसे अथवा अधोमार्ग-गुदद्वारसे उदरगत क्रिमिके निकलनेपर उसी नामका-उदरक्रिमिनिर्गमन अन्तराय होता है। और दाताके दिये विना ही भोजन पान ओषध आदि यदि ग्रहण करलिया जाय तो अदत्तग्रहण नामका अन्तराय होता है।

प्रहार ग्रामदाह पादग्रहण और करग्रहण इन चार अन्तरायोंका स्वरूप दो पद्योंमें बताते हैं:—

प्रहारोऽस्यादिना स्वस्य प्रहारे निकटस्य वा।
ग्रामदाहोऽग्निना दाहे ग्रामस्योद्धृत्य कस्यचित् ॥ ५७ ॥
पादेन ग्रहणे पादग्रहणं पाणिना पुनः।
हस्तग्रहणमादाने भुक्तिविघ्नोऽन्तिमो मुनेः ॥ ५८ ॥

अपना (संयमीका) अथवा निकटवर्ती किसी अन्य व्यक्तिका खड्ग बर्छी आदिके द्वारा प्रहार होनेपर प्रहार नामका अन्तराय होता है। जिसमें स्वयंका निवास हो रहा हो ऐसे ग्रामके अग्निसे जलनेपर अग्निदाह नामका अन्तराय होता है। किसी भी रत्न सुवर्ण आदि वस्तुको पैरसे उठाकर ग्रहण करनेमें पादग्रहण नामका अन्तराय होता है। यदि किसी वस्तुको भूमिपरसे हाथके द्वारा उठाकर ग्रहण किया जाय तो करग्रहण नामका अन्तराय माना है।

इस प्रकार बत्तीस अन्तरायोंका वर्णन किया, किन्तु दो पद्योंमें शेष अन्तरायोंका भी संग्रह करते हैं:—

तद्वच्चाण्डालादिस्पर्शः कलहः प्रियप्रधानमृती।
भीतिर्लोकजुगुप्सा सधर्मसंन्यासपतनं च ॥ ५९ ॥

सहसोपद्रवभवनं स्वभुक्तिभवने स्वमौनभङ्गश्च ।
संयमनिर्वेदावपि बहवोऽनशनस्य हेतवोन्येपि ॥ ६० ॥

अन्तराय शब्दका अर्थ ऊपर बताया आचुका है कि भोजन छोडदेनेके कारणोंको अन्तराय कहते हैं। इस अर्थपर विचार करनेसे अन्तरायके ३८ ही भेद हैं ऐसा निर्धारण—नियम नहीं किया जा सकता। उपर्युक्त काकप्रभृति अन्तरायोंकी तरह और भी बहुतसे भेद हो सकते हैं। यथा—चाण्डालादिका स्पर्श होजाना, कलह होना, अपने इष्ट अथवा मुख्य व्यक्तिका मरण होजाना, जिस किसीसे पापमय होना, लोगोंमें निन्दाका होना तथा साधर्मीका सन्यासमरण होजाना, यद्वा जिस गृहमें भोजन कर रहे हों उसमें अकस्मात् उपद्रवका हो उठना, जो कि भोजनके समय अवश्य ही पालनीय है ऐसे अपने मौनका अज्ञानसे अथवा प्रमादसे भङ्ग होजाना, इसी प्रकार संयम—प्राणिरक्षा और इन्द्रियोंका दमन करनेके लिये परिणामोंका निग्रह करना, तथा निर्वेद–संसार शरीर और भोगोंके विषयमें वैराग्यकी सिद्धि और वृद्धिके लिये जो प्रयत्न किया जाय वह भी अन्तराय कहा जा सकता है। अत एव यद्यपि अन्तरायके ३२ भेद गिनाये है किन्तु अर्थकी अपेक्षासे उसके अनेक भेद हो सकते है।

आहार ग्रहण करनेके कारणोंको बताते है: —

क्षुच्छमं संयमं स्वान्यवैयावृत्त्यमसुस्थितिम् ।
वाञ्छन्नावश्यकं ज्ञानध्यानादींश्चाहरेन्मुनिः ॥ ६१ ॥

क्षुधाबाधाका उपशमन, सयमकी सिद्धि और स्वपरकी वैयावृत्त्य–आपत्तियोंका प्रतीकार करनेके लिये तथा प्राणोंकी स्थिति बनाये रखनेके लिये एवं आवश्यकों और ध्यानाध्ययनादिको निर्विघ्न चलते रहनेके लिये मुनियोंको आहारग्रहण करना चाहिये. भावार्थ- साधुओंको आत्मकल्याणका सहायक समझकर ही आहार ग्रहण करना चाहिये न कि शरीरको सुदृढ सुंदर और सतेज बनाये रखनेकेलिये अथवा रसनेंद्रियादिकोंकी तृप्तिकेलिये। जैसा कि कहा भी है कि,

वेयणवज्जावच्चे किरियुट्ठाणे य मजमठ्ठाए ।
तवपाणधम्मचिंता कुज्जा एदेहिं आहारं ॥

जो मनुष्य बुभुक्षासे पीडित है उसके दया क्षमा आदिक कोई भी गुण स्थिर नहीं रह सकते ऐसा उपदेश देते हैं:—

बुभुक्षाग्लपिताक्षाणां प्राणिरक्षा कुतस्तनी ।
क्षमादयः क्षुधार्तानां शंक्याश्चापि तपस्विनाम् ॥ ६२ ॥

जिन मनुष्योंकी इंद्रियोंको क्षुधाबाधाने सर्वथा अशक्त बना डाला है उनके भीतर प्राणिरक्षा-दया कहांसे आसकती है. इसी प्रकार चिरकालसे तपस्या करनेवाले भी किन्तु बुभुक्षापीडित साधुके क्षमादिक गुणोंके स्थिर रहनेमें संदेह ही समझना चाहिये ।

योगियोंमें भी जो क्षुधासे अशक्त है उसके लिये वैयावृत्त्यका करना कठिन होजाता है । इसी प्रकार उनके प्राणोंका सुरक्षित रहना भी आहारपर ही अवलम्बित है । अत एव उनको आहारमें प्रवृत्ति करनेका उपदेश देते हैं:-

क्षुत्पीतवीर्येण परः स्ववदार्तो दुरुद्धरः ।
प्राणाश्चाहारशरणा योगकाष्ठाजुषामपि ॥ ६३ ॥

क्षुधाके द्वारा नष्ट होगई है शक्ति जिसकी ऐसा मनुष्य जब कि स्वयं ही दुःखी अथवा पीडित हो रहा है तब क्या उसके लिये दूसरे दुःखपीडित लोगोंका उद्धार करना अशक्य नहीं है-अवश्य है। इसी प्रकार जो आरब्धयोगी है अथवा जिन्होंने अभी योगका आरम्भ भी नहीं किया है उनकी तो बात ही क्या, जो घटमानयोगी है और जिन्होंने यम नियम आसन प्रणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि इस अष्टाङ्ग योगका अभ्यास किया है उनके भी प्राणोंको निःसन्देह आहार ही शरण है ।

भोजन छोडनेके निमित्तोंको दिखाते हैं:—

आतङ्के उपसर्गे ब्रह्मचर्यस्य गुप्तये ।
कायकार्श्यतपःप्राणिदयाद्यर्थं च नाहरेत् ॥ ६४ ॥

किसी भी आकस्मिक व्याधि—मारणान्तिक पीडाके उठ खडे होनेपर, देवादिकके द्वारा किये गये उत्पातादिकके उपस्थित होनेपर, अथवा ब्रह्मचर्यको निर्मल बनाये रखनेकेलिये यद्वा शरीरकी कृपता तपश्चरण और प्राणिरक्षा आदि धर्मोंकी सिद्धिके लिये भी साधुओंको भोजनका परित्याग करदेना चाहिये ।

साधुओंको स्वास्थ्यकी स्थिरताकेलिये सर्वेषणादिकोंके द्वारा भोजन करनेका उपदेश देते हैं:—

द्रव्यं क्षेत्रं बलं कालं भावं वीर्यं समीक्ष्य च ।
स्वास्थ्याय वर्ततां सर्वविद्धशुद्धाशनैः सुधीः ॥ ६५ ॥

विचारपूर्वक आचरण करनेवाले साधुओंको आरोग्य और आत्मस्वरूपमें अवस्थान रखनेके लिये द्रव्य क्षेत्र काल भाव बल और वीर्य इन छह बातोंका अच्छी तरह पर्यालोचन करके सर्वाशन विद्धाशन और शुद्धाशन के द्वारा आहारमें प्रवृत्ति करना चाहिये ।

आहारादिक सामग्रीको द्रव्य, और पृथ्वीके जाङ्गलादिक प्रदेशको क्षेत्र कहते है । यह क्षेत्र तीन प्रकारका माना है—जाङ्गल अनूप और साधारण, जिनका कि लक्षण इस प्रकार है—

देशोल्पवारिद्रुनगो जाङ्गलः स्वल्परोगदः ।
अनूपो विपरीतोऽस्मात्समः साधारणः स्मृतः ॥
जाङ्गलं वातभूयिष्ठमनूपं तु कफोल्बणम् ।
साधारणं सममलं त्रिधा भूदेशमादिशेत् ॥

पृथ्वीके जिस भागमें जल वृक्ष और पर्वत अल्प प्रमाणमें पाये जाते हैं उसको जाङ्गल कहते हैं। इसमें रोगोंकी उत्पत्ति प्रायः कम हुआ करती है। इससे ठीक विपरीत प्रदेशको अर्थात जिसमें जल वृक्ष और पर्वत अधिक प्रमाणमें पाये जांय उसको अनूप कहते हैं। और जहांपर ये जलादिक वस्तुए समरूपमें पाई जाती हैं कम या अधिक नही पाई जाती उस प्रदेशको साधारण कहते है। जाङ्गल देशमें वातकी और अनूपदेशमें कफकी प्रधानता रहा करती है, किन्तु साधारणप्रदेशमें वात पित्त और कफ तीनोंही समानरूपमें रहा करते है।

हेमन्त शिशिर वसन्त ग्रीष्म वर्षा और शरद् इन छह ऋतुओंको काल समझना चाहिये। इनके भेदसे भी चर्यामें भेद हुआ करता है। यथा--

शरद्वसन्तयो–रूक्ष शीत घर्मघनान्तयो ।
अन्नपान समासेन विपरीतमतोन्यदा ॥

शरद् और वसन्त ऋतुमें रूक्ष तथा ग्रीष्म और वर्षा ऋतुमें शीत अन्नपान ग्रहण करना चाहिये। और भिन्न समयमें इससे विपरीत भोजन पान करना चाहिये। यथाः--

शीते वर्षासु चाद्यास्त्रीन्वसन्तेऽन्त्यान् रसान्भजेत् ।
स्वादु निदाघ शरदि स्वादुतिक्तकपायकान् ॥
रसा स्वाद्वम्ललवणतिक्तोपणकपायका ।
षड्द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्व बलावहा ॥

पृथिवी जल अग्नि वायु और वनस्पति आदिके सम्बन्धमें रहनेवाले रस छह प्रकारके माने है–मधुर अम्ल लवण तिक्त उपण और कपाय। इनको उत्तरोत्तर कम कम बलवर्धक माना है। फलतः मधुर रस सबसे अधिक और कपाय सबसे कम बलवर्धक माना है। इनमेंसे आदिके तीन रसोंको शीत और वर्षामें तथा अन्तके तीन रसोंको वसन्तमें तथा ग्रीष्म ऋतुमें मधुर रस और शरद् ऋतुमें मधुर तिक्त और कपाय रसका सेवन करना चाहिये।

भावशब्दका अर्थ श्रद्धा उत्साह आदि तथा बलशब्दका अर्थ अन्नपानादिके निमित्तसे उत्पन्न हुई शा

रीरिक सामर्थ्य और वीर्यशब्दका अर्थ स्वाभाविक शक्ति होता है।

एषणा समितिके द्वारा शुद्ध भोजनको सर्वाशन, और गुड तैल तथा घी दूध दही आदिसे रहित किन्तु छाछ आदिसे युक्त निर्विकृत भोजनको विद्धाशन, तथा पककर जैसा तयार हुआ हो वैसेके वैसे ही-जिसमें किसी भी प्रकारसे—व्यञ्जनादिकके द्वारा अन्यथापन नहीं लाया गया है ऐसे भोजनको शुद्धाशन कहते हैं।

इस श्लोकमें च शब्दके द्वारा जो विशेष बात बताई है वह यह है कि सर्वाशनादिकसे विपरीत-असर्वाशन अविद्धाशन और अशुद्धाशन कदाचित् योग्य किंतु कदाचित् अयोग्य दोनों ही प्रकारका हो सकता है। अत एव उनका भले प्रकार पर्यालोचन करके ही ग्रहण करना चाहिये।

जो भोजन विधिपूर्वक किया जाता है उससे स्व और पर दोनोंका उपकार होता है, इस बातको प्रकट करते हैं:-

यत्प्रत्तं गृहिणात्मने कृतमपेतैकाक्षजीव त्रसै,—
र्निर्जीवैरपि वर्जितं तदशनाद्यात्मार्थसिद्ध्यै यतिः।
युञ्जन्नुद्धरति स्वमेव न परं किं तर्हि सम्यग्दृशं,
दातारं द्युशिवश्रिया च सचते भोगैश्च मिथ्यादृशम् ॥ ६६ ॥

जिस भक्तपान औषध आदिको गृहस्थने स्वयं अपने ही लिये बनाया हो और जो कि मृत अथवा जीवित द्वीन्द्रियादिक जीवोंसे तथा एकेन्द्रिय प्राणियोंसे सर्वथा रहित है ऐसे उस भक्त पानादिको नवधा भक्ति के द्वारा गृहस्थके द्वारा दिये जानेपर आत्मकल्याणको सिद्ध करनेके अभिप्रायसे विधिपूर्वक ग्रहण करनेवाला यति संयमी केवल अपना ही नहीं किन्तु उस दाताका भी उपकार किया करता है। क्योंकि यदि वह दाता सम्यग्दृष्टि हो तब तो उसको स्वर्ग मोक्षरूपी लक्ष्मीसे युक्त बनादेता है और यदि मिथ्यादृष्टि हो तो उसे अभीष्ट विषयोंकी प्राप्ति करादेता है।

ब्राह्मणादिकोंमेंसे जो गृहस्थ नित्य नैमित्त अनुष्ठान करनेवाले हैं वे दाता हो सकते हैं, किन्तु शिल्पी आदि नहीं हो सकते जैसा कि कहा भी है कि--

शिल्पिकारुकवाक्पण्यशफलीपतितादिषु ।
देहस्थितिं न कुर्वीत लिङ्गिलिङ्गोपजीविषु ॥
दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिता ।
मनोवाक्कायधर्माय मता सर्वेपि जन्तव ॥

जिस नवधा भक्तिसे दाता दान देता है उसको नवपुण्यशब्दसे कहा है। जिसके कि नाम इस प्रकार हैं—

पडिगहमुच्चट्ठाण पादोदयमच्चण च पणमं च ।
मणवयणकायसुद्धी एसणसुद्धीय णवविह पुण्ण ॥

प्रतिग्रह उच्चस्थान पादप्रक्षालन पूजन प्रणाम और मन वचन कायकी शुद्धि तथा भोजनसम्बन्धी शुद्धि इस प्रकार नौ कर्तव्योंको नवपुण्यशब्दसे कहा है।

द्रव्यशुद्धि और भावशुद्धिमें क्या अन्तर है सो बताते हैं:-

द्रव्यतः शुद्धमप्यन्नं भावाशुद्ध्या प्रदुष्यते ।
भावो ह्यशुद्धो बन्धाय शुद्धो मोक्षाय निश्चितः ॥ ६७ ॥

यदि अन्न--भोज्य सामग्री द्रव्यतः शुद्ध-प्रासुक भी हो किन्तु भावतः—'मेरे इसने यह बहुत अच्छा किया' इत्यादि परिणामोंकी दृष्टिसे अशुद्ध हैं तो उसको अशुद्ध-सर्वथा दूषित ही समझना चाहिये। क्योंकि बन्धमोक्षके कारण परिणाम ही माने हैं। आगममें अशुद्ध परिणामोंको कर्मबन्धका और विशुद्ध परिणामोंको मोक्षका कारण बताया है। अत एव जो अन्न द्रव्यसे शुद्ध रहते हुए भी भावसे भी शुद्ध है उसीको ग्रहण करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि—

प्रगता असवो यस्मादन्न तद् द्रव्यतो भवेत् ॥
प्रासुकं किं तु तत्स्वस्मै न शुद्ध विहित मतम् ॥

दूसरेके लिये बनाये हुए अन्नका ग्रहण करनेवाला भोक्ता यति दूषित नहीं होता इस बातको दृष्टान्त-द्वारा दृढ करते है—

योक्ताऽधःकर्मिको दुष्येन्नात्र भोक्ता विपर्ययात् ।
मत्स्या हि मत्स्यमदने जले माद्यन्ति न प्लवाः ॥ ६८ ॥

अन्नादिककी योजना करने बनाने तथा रखने उठाने संचय आदि करनेमें प्रवृत्ति दाताकी हुआ करती है अत एव अधःकर्मसम्बन्धी दूषण दाताको ही लगता है, न कि भोक्ताको, क्योंकि उसका अध कर्मसे बिलकुल भी सम्बन्ध नहीं रहता । ठीक ही है—यदि जल मत्स्योंके लिये मदका कारण बनजाय तो उससे मत्स्य ही मदको प्राप्त हो सकते है, न कि मण्डूक । जैसा कि कहा भी है कि—

मत्स्यार्थं प्रकृते योगे यथा माद्यन्ति मत्स्यका· ।
न मण्डूकास्तथा शुद्ध परार्थं प्रकृते यति ॥
अध·कर्मप्रवृत्त· सन् प्रासुद्रव्येपि बन्धक ।
अध कर्मण्यसौ शुद्धो यति शुद्ध गवेषयेत् ॥

अथवा—

आधाकम्मपरिणदो पासुगदव्वेपि बधगो भणिदो ।
सुद्ध गवेसमाणो आधाकम्मेवि सो सुद्धो ॥

प्रासुक द्रव्यको ग्रहण करते हुए भी यदि साधु अधःकर्मसे प्रवृत्त होता है तो वह कर्मोंका बन्ध ही करता है । अत एव शुद्ध आहारकी गवेषणा करनेवाले साधुको अधःकर्मके विषयमें भी विशुद्ध ही रहना चाहिये ।

इस प्रकार इस अध्यायमें पिण्डशुद्धिका वर्णन करके अन्तमें शुद्ध आहारके निमित्तसे प्राप्त हुई सामर्थ्यके द्वारा त्रिकालसम्बन्धी—भूत भविष्यत् और वर्तमान सिद्धिविषयक उत्साहको उद्योतित करनेवाले मुमुक्षुओंसे ग्रन्थकर्त्ता—आशाधर अपनी सिद्धिकी प्रार्थना करते हैं—

विदधति नवकोटीशुद्धभक्ताद्युपाजे,—
कृतनिजवपुषो ये सिद्धये सज्जमोजः ।
विदधतु मम भूता भाविनस्ते भवन्तो,—
प्यसमशमसमृद्धाः साधवः सिद्धिमद्धा ॥ ६९ ॥

कृत कारित अनुमोदनाको मन वचन और कायसे गुणा करनेपर नवभङ्ग होते हैं। इन्हीको नवकोटी कहते हैं। इन नवकोटियोंसे शुद्ध भोजन पानादिके द्वारा अपने शरीरको बलाधान पहुंचानेवाले और अद्वितीय उपशमरूप समृद्धिको धारण करनेवाले जो साधु अपने उत्साहको सिद्धिके प्राप्त करनेमें साक्षात् समर्थ बना रहे है अथवा बना चुके है या जो आगे चलकर बनावेंगे वे परम साधु मुझको भी शीघ्र ही निज आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करावें।

यहांपर ' कृतनिजवपुषः " की जह विकल्पमें " कृततनुसुहृद " ऐसा भी पाठ रक्खा है। क्योंकि सिद्धि प्राप्त करनेमें अनुकूल कारण बनकर आत्माकेलिये शरीर मित्रकी तरह उपकारक है।

ऊपर जो नवकोटीके भेद बताये है उसके सिवाय आर्ष आगममें प्रकारान्तरसे भी उनको गिनाया है। यथा:—

दातुर्विशुद्धता देयं पात्रं च प्रपुनाति सा ।
शुद्धिर्देयस्य दातारं पुनीते पात्रमप्यद. ॥
पात्रस्य शुद्धिर्दातारं देयं चैव पुनात्यत ।
नवकोटिविशुद्धं तद्दानं भूरिफलोदयम् ॥

दाता देय और पात्र इनकी शुद्धिका सम्बन्ध परस्परमें जोडनेसे नव भेद होजाते हैं। यथाः—दाताकी शुद्धिमे देय और पात्रकी शुद्धि होना तथा देयकी शुद्धिमे दाता और पात्रकी शुद्धिका होना, एवं पात्रकी शुद्धिसे दाता और देयकी शुद्धिका होना। 'जिस दानमें ये नव शुद्धि पाई जाती है वह अत्यंत उत्कृष्ट फल देता है, इसमें सन्देह नहीं है।

पिण्डशुद्धिविधानीय नामा

पञ्चम अध्याय

समाप्त ॥



अथ षष्ठाऽध्यायः ।

उस रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्गमें जिसका कि लक्षण पहले बताया जा चुका है महान् उद्योग करनेका जिन्होंने दृढ विचार करलिया है और जो कायिक वाचिक तथा मानसिक अथवा सहज शारीर और आगन्तुक इन तीन प्रकारके तापोंका उच्छेदन करना चाहते है उन साधुओंको समीचीन तपके आराधनके उपक्रमकी विधि बताते हैः—

द्दग्वज्रद्रोण्युपघ्नेऽद्भुतविभववृषद्वीपदीप्रे स्फुटानु,—
प्रेक्षातीर्थे सुगुप्तिव्रतसमितिवसुभ्राजि बोधाब्जराजि ।
मग्नोन्मग्नोर्मिरत्नत्रयमहिमभरव्याक्तिहृतेभियुक्ता,
मज्जन्त्विच्छानिरोधामृतवपुषि तपस्तोयधौ तापशान्त्यै ॥ १ ॥

मोक्षमार्गमें चलनेका निरंतर ही उद्योग करनेवाले साधुओंको मानसिक वाचनिक और कायिक अथवा सहज शारीर और आगन्तुक इन तीन प्रकारके संतापोंकी शान्तिके लिये या दुःखोंका उच्छेद करने के लिये इच्छानिरोधरूपी अमृत ही है शरीर जिसका ऐसे तपरूपी समुद्रमें निरंतर स्नान और अवगाहन करना चाहिये।

रत्नत्रयको आविर्भूत करनेके लिये जो इच्छाओंको निरोध किया जाता है उसका तप कहते है। इसमें अवगाहन करना उतना ही कठिन है जितना कि समुद्रमें। अत एव इसको समुद्रके समान बताया है। जिस प्रकार संसारमें अग्नि अथवा धूप आदिके संतापको दूर करनेवाला अपूर्व कारण अमृत माना गया है उसी प्रकार समस्त सांसारिक संतापोंका शमन करनेके लिये मोहनीयकर्मजनित इच्छाओंका निग्रह अद्वितीय साधन

माना गया है। अत एव इस इच्छानिरोधरूपी अमृतको जो तपरूपी समुद्रका शरीर कहा है सो ठीक ही है। क्यों कि इसीमें अवगाहन करनेसे समस्त संताप दूर हो सकते है।

इस तपःसमुद्रका आश्रय सम्यग्दर्शनरूपी वज्रमय नौका है।

जिस प्रकार समुद्रका आधार स्थल वज्रमय नावके आकारमें है उसी प्रकार तपस्याका भी आश्रय दृढ सम्यग्दर्शन है। जिस प्रकार समुद्रमें उद्भूत वैभवको धारण करनेवाले अन्तर्द्वीप रहा करते है उसी प्रकार तपश्चरणमें विस्मयनीय विभूतिको सम्पन्न करनेवाले उत्तम क्षमा आदि दश धर्म रहा करते है। धर्मोको अन्तर्द्वीपोंके समान बताना ठीक ही है; क्योंकि जिस प्रकार अन्तर्द्वीपोंकी देवगण नित्य सेवा किया करते हैं उसी प्रकार मुमुक्षुजन इन धर्मोंकी सेवा किया करते है। जिस प्रकार समुद्रमें प्रवेश करनेकेलिये किनारेपर घाट बने रहते है उसी प्रकार तपःसमुद्रमे प्रवेश करनेकेलिये अनित्य अशरण संसार एकत्व अन्यत्व अशुचित्व आदि बारह अनुप्रेक्षाओंको समझना चाहिये। जिस प्रकार समुद्रमें जगतको आल्हादित करदेनेवाले हीरा मोती आदि रत्न रहा करते हैं उसी प्रकार तपश्चरणमें समीचीन व्रत गुप्ति और समिति हुआ करती हैं॥ समुद्र यदि जगतको आल्हादित करनेवाले चन्द्रमाके द्वारा शोभायमान होता है तो तपश्चरण वैसे ही सम्यग्ज्ञानके द्वारा प्रदीप्त होता है। जिस प्रकार समुद्र में कोई कोई लहरी निमीलित और कोई कोई उन्मीलित रहा करती हैं उसी प्रकार तपश्चरणमें भावनाबलके द्वारा कोई कोई परीषह तिरोहित—अपना कार्य करनेमें असमर्थ और कोई कोई उद्भूत—कार्य करनेमें समर्थ रहा करती है। जिस प्रकार समुद्र अपने ऐरावत कौस्तुभ और पारिजात इन तीन रत्नोंके माहात्म्यका अतिशय प्रकट होनेसे अपने उत्कर्षकी सम्भावना किया करता है उसी प्रकार तपश्चरण भी अपनेको सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इस रत्नत्रयस्वरूप परिणत आत्माके घाति अघाति कर्मोंका क्षपण करनेमें समर्थ शक्त्यतिशयके द्वारा उत्कृष्ट प्रकट करता है।

भावार्थ—समुद्रसमान तपश्चरणमे अवगाहन करनसे ही सांसारिक तापत्रयकी शान्ति हो सकती है और रत्नत्रय तथा आत्मोपलब्धिकी प्राप्ति हो सकती है। अत एव साधुओंको मोक्षमार्गमें महोद्योग करनेके लिये इस तपःसमुद्रमें अवगाहन करना ही चाहिये।

दश धर्मोंका स्वरूप बताते हैं—

क्रूरक्रोधाद्युद्भवाङ्गप्रसङ्गेप्यादत्तेऽद्धा यन्निरीहः क्षमादीन् ।
शुद्धज्ञानानन्दसिद्ध्यै दशात्मा ख्यातः सम्यग्विश्वविद्भिः स धर्मः ॥२॥

दुःख अथवा दुर्निवार क्रोधादि कषायोंका उद्भव करदेनेवाले कारणोंका व्यक्तरूपमें अथवा सहसा प्रसंग आजानेपर भी ऐहिक विषयोंके लाभादिककी अपेक्षा न रखाकर जो अन्तःकलुषताके उपरमका धारण करना उस को धर्म कहते हैं। जिसको कि सर्वज्ञ देवने शुद्धज्ञान तथा शुद्धप्रमोदकी सिद्धीका साधन बताया है और जो कि उत्तम क्षमा उत्तम मार्दव उत्तम आर्जव उत्तम सत्य उत्तम शौच उत्तम सयम उत्तम तप उत्तम त्याग उत्तम आकिञ्चन्य उत्तम ब्रह्मचर्य इस तरह दश प्रकारका है।

कषाय आत्माको तेजका नाश करनेवाले और अत्यत दुर्जय है इस बातको प्रकाशित करते हुए उनकी जेयता दिखाकर यह बात भी बतात है कि उनका विजय करलेनेपर ही वास्तविक आत्मरूपकी उपलब्धि हो सकती है—

जीवन्तः कणशोपि तत्किमपि ये घ्नन्ति स्वनिघ्नं मह,—
स्ते सद्भिः कृतविश्वजीवविजया जेयाः कषायद्विषः ।
यन्निर्मूलनकर्मठेषु बलवत्कर्मारिसंघाश्रिता,—
मासंसारनिरूढबंधविधुरा नोत्क्राथयन्ते पुनः ॥ ३ ॥

अधिक प्रमाणकी तो बात ही क्या एक कण—अंशमात्र भी अस्तित्वमे बैठे हुए कषायरूपी शत्रु जिन्होंने कि समस्त संसारके जीवोंपर विजय प्राप्त कर रक्खा है, आत्माके उस स्वाधीन तेजका जो कि अनिर्वचनीय है

नाश करदेते है। किंतु जो इन कषाय शत्रुओंका निःशेष नाश करनेमें शूर है उनको अनादिकालसे परतन्त्रताके दुःखको पुनःपुन भुगानेवाले एवं बलवान् भी ये कर्मशत्रुओंके संघ उत्पीडित नही कर सकते, अत एव साधुओंको इन क्रोधादिक शत्रुओंके जीतनेका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये।

क्रोध कषायका फल अनर्थ ही है इस बातको दिखाकर उसके जीतनेका उपाय बताते है: —

कोपः कोप्यग्निरन्तर्बहिरपि बहुधा निर्दहन् देहभाजः,
कोपः कोप्यन्धकारः सह दृशमुभयीं धीमतामप्युपघ्नन् ।
कोपः कोपि ग्रहोऽस्तत्रपमुपजनयन् ,जन्मजन्माभ्यपायां,—
स्तत्कोपं लोप्तुमाप्तश्रुतिरसलहरी सेव्यतां क्षान्तिदेवी ॥ ४ ॥

क्रोध कषायको एक अपूर्व अग्निके समान समझना चाहिये जो कि संसारी प्राणियोंके बाह्य शरीर नेत्र आदिकोंको तथा अन्तस्तत्त्व-आध्यात्मिक भावोंका नाना प्रकारसे ऐसा भस्मसात् किया करता है कि जिसका कोई प्रतीकार नही हो सकता। यद्वा उसको एक अपूर्व अन्धकारके तुल्य समझना चाहिये जो कि मूर्खोंकी तो बात ही क्या, विद्वानोंकी भी अन्तरङ्ग और बाह्य दोनो ही प्रकारकी दृष्टियोंको अन्धा बना देता है। अथवा उसको एक अपूर्व ग्रहके समान भी कहा जा सकता है जो कि निर्लज्जताके साथ साथ नाना प्रकारके क्लेशोंको इस जन्म और जन्मान्तरोंमें भी उत्पन्न किया करता है। फलतः यह बात सिद्ध है कि क्रोधका फल अनर्थके सिवाय और कुछ भी नहीं है। अत एव मुमुक्षुओंको इस कोपका लोप करनेके लिये उस क्षमादेवताका आराधन करना चाहिये, जो कि आप्तोक्त आगमके अर्थज्ञानका उल्हास करनेमें कारण है।

उत्तमक्षमाके माहात्म्यकी प्रशंसा करते है--

यः क्षाम्यति क्षमोप्याशु प्रतिकर्तुं कृतागसः ।
कृत्वागसं तमिच्छन्ति क्षान्तिपीयूषसंजुषः ॥ ५ ॥

अपना अपराध करनेवालोंका शीघ्र ही प्रतीकार करनेमें समर्थ रहते हुए भी जो पुरुष अपने उन अपराधियोंके प्रति उत्तम क्षमा धारण करता है उसको क्षमारूपी अमृतका समीचीनतया सेवन करनेवाले साधुजन पापोंको नष्ट करदेनेवाला समझते हैं।

क्षमाभावनाकी विधि बताते है।—

प्राग्वास्मिन्वा विराध्यन्निममहमबुधः किल्बिषं यद्बबन्ध,
क्रूरं तत्पारतन्त्र्याद् ध्रुवमयमधुना मा शपन्कामभ्राघ्नन्।
निघ्नन्वा केन वार्यः प्रशमपरिणतस्याथवावश्यभोग्यं,
भोक्तुं मद्यैव योग्यं तदिति वितनुतां सर्वथार्यस्तितिक्षाम् ॥ ६ ॥

मुझ अल्पज्ञने पूर्वजन्ममें अथवा इसी जन्ममें जो इस जीवकी विराधना की थी उससे दुःखद एवं उदग्र पापकर्मका बन्ध किया जिसकी कि परतन्त्रताके कारण ही आज मुझको यह गाली दे रहा है अथवा चाबुकसे पीट रहा है यद्वा मेरे प्राणोंका अपहरण कर रहा है। भला जिसकी कि मैंने विराधना की वह यदि उस विराधनाजनित पाप कर्मके उदयमें मेरे साथ भी वैसा ही व्यवहार करे तो उसको वैसा करनेसे कौन रोक सकता है। क्योंकि संचित कर्मोंका फल अवश्य ही भोगना पडता है। जब कि वह अवश्य ही भोगना पडता है तब मुझको प्रशमरूप परिणत होकर आज ही उनका भोगलेना योग्य है। इस प्रकारसे साधुओंको अपनी क्षमाभावना विस्तृत करनी चाहिये।

भावार्थ—किसी विराधकके उपस्थित होनेपर साधुओंको ऐसा विचार करना चाहिये कि मेरे पूर्वसंचित पापकर्मके उदयसे ही यह मेरे प्रति ऐसा व्यवहार कर रहा है। अत एव इस पापफलको मध्यस्थ भावोंसे जहांतक हो, शीघ्र ही भोगलेना उचित है, जिससे कि इन कर्मोंकी निर्जरा हो जाय।

किसीके इस तरहसे गाली आदि दिये जानेपर भी कि जिसके सुनते ही क्रोध उत्पन्न हो जाय, जो साधु

अपने चित्तको सयत रखता है उसीको इष्ट आत्मोपलब्धि हो सकती है, इस बातको बताते हैं:—

दोषो मेस्तीति युक्तं शपति शपति वा तं विनाज्ञः परोक्षे,
दिष्ट्या साक्षान्न साक्षादथ शपति न मां ताडयेत्ताडयेद्वा ।
नासून् मुष्णाति तान्वा हरति सुगतिदं नैष धर्मं ममेति,
स्वान्तं यः कोपहेतौ सति विशदयति स्याद्धि तस्येष्टसिद्धिः ॥ ७ ॥

उत्तम क्षमाका साधक जो मुमुक्षु किसीके गाली आदि देने अथवा निन्दा आदि करनेपर इस तरहका विचार करता है कि मेरे पापकर्मके उदयके वशीभूत हुआ यह जीव जिन दोषोंके सबबसे मेरी निन्दा कर रहा है, सचमुचमें वे दोष मुझमें मौजूद हैं, अथवा मुझमें दोषोंके न रहनेपर भी जो मेरी यह बुराई करता है सो इसका यह लडकपन है, क्योंकि असद्भूत दोषोंका उद्भावन अज्ञ बालक ही कर सकते हैं, या किया करते है। अथवा मेरे परोक्षमें मेरी बुराई करके इसने मेरा बढप्पन ही रक्खा है। यदि कोई प्रत्यक्षमें ही निन्दा करता हो तो जो साधु ऐसा विचार करता है कि—" यह केवल मेरी निन्दा ही तो करता है मुझको मारता या पीटता तो नहीं है," यदि वह पीटता हो तो उसके विषयमें ऐसा विचार करता है कि " मुझको पीटता ही है न, मेरे प्राणोंका अपहरण तो नहीं करता, " यदि कोई वैसा भी करनेलगे तो जो उत्तम क्षमाका निधि अपने मनमें ऐसा विचार किया करता है कि " यह मेरे प्राणोंका अपहरण ही करता है न कि मेरे स्वर्गापवर्गरूप फल देनेवाले आत्मधर्मका; " उसी साधुके अभीष्ट अर्थकी सिद्धि हो सकती है।

भावार्थ—निन्दा आदि क्रोधके निमित्त मिलजानेपर भी जो साधु अपने हृदयको प्रशान्त रखता है–विकृत नही होने देता उसके व्रत शील आदि सब सुरक्षित रहते और इस लोकमें अथवा परलोकमें कहीं भी उसको

१–इसको अपनेमें दोषोंके सद्भावका चिन्तवन करना कहते है।

दुःख नहीं भोगना पडता। उसको सर्वत्र सम्मान सत्कार आदिका लाभ ही होता है।

क्रोधका फल अपकीर्ति तथा दारुण दुःख ही है, इसी बातको दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हुए उसका दूरहीसे परित्याग करनेका उपदेश देते हैं—

नाद्याप्यन्त्यमनोः स्वपित्यवरजामर्षार्जितं दुर्यशः,
प्रादोदोन्मरुभूतिमत्र कमठे वान्तं सकृत् क्रुद्विषम् ।
दग्ध्वा दुर्गतिमाप यादवपुरीं द्वीपायनस्तु क्रुधा,
तत्क्रोधं ह्यरिरित्यजत्वपि विराराधत्यरौ पार्श्ववत् ॥ ८ ॥

अन्तिमें मनु—भरतचक्रवर्तीका अपने छोटे भाई बाहुबलि कुमारके ऊपर किये गये क्रोधद्वारा संचित अपयश क्या आजतक इतना समय बीतजानेपर भी सो गया, नहीं, वह बराबर जागृत है और अपना काम कर रहा है। इसी प्रकार अपने बडे भाई कमठके ऊपर केवल एक ही बार छोडे हुए क्रोधरूपी विषने क्या मरुभूति—पार्श्वनाथ-स्वामीके पूर्वभवके जीवको बार बार और अतिशयरूपसे सतप्त नहीं किया ? अवश्य किया। तथा क्रोधानल यद्वा तपोलब्धिविशेषके द्वारा उत्पन्न हुए तैजस शरीरके द्वारा द्वारावती नगरीको भस्मसात् करके स्वय दुर्गतिको प्राप्त होनेवाले द्वीपायन तपस्वीका नाम किसने नहीं सुना है ? फलतः यह बात स्पष्ट है कि क्रोध कषाय मनुष्योंकेलिये शत्रुके समान अपकार करनेवाला है अत एव उक्त पार्श्वनाथ स्वामीके ही समान साधुओंको क्षमास्वियोंका धुरीण बनकर किसी शत्रुके द्वारा अपनी पुनः पुनः तथा अतिशयेन विराधना भी किये जानेपर शत्रुतुल्य क्रोधका क्षेपण अथवा शमन करना उचित है।

इस प्रकार उत्तम क्षमाधर्मका निरूपण करके क्रमप्राप्त मार्दवधर्मका लक्षण करनेकेलिये जिसका उदय

१— इसको अपनेमें दोषोंके अभावका चिन्तवन करना कहते हैं।

रहनेसे यह धर्म उद्भूत नहीं हो सकता उस मान कषायको धिकार देते है —

हृतिसिन्धुर्विधिशिल्पिकल्पितकुलाद्युत्कर्षहर्षोर्मिभिः,
किर्मीरः क्रियतां चिराय सुकृतां म्लानिस्तु पुंमानिनाम् ।
मानस्यात्मभुवापि कुत्रचिदपि स्वोत्कर्षसंभावनं,
तद्धयेयेपि विधेश्चरेयमिति धिग्मानं पुमुत्प्लाविनम् ॥ ९ ॥

जो दैवरूपी शिल्पीके द्वारा रचेगये वंशरूप तप ऐश्वर्य प्रभृतिके अतिरेकसे जनित प्रमोदरूपी लहरियोंके द्वारा पुण्यात्माओं भाग्यहीन व्यक्तियोंके हृदयरूपी समुद्रको जीवनभरकेलिये चित्रविचित्र बनादेता है । और जिसके कि निमित्तसे वास्तविक पुंस्त्वके न रहते हुए भी अपनेको पुरुष समझनेवालोंको किसी विषयमें इस प्रकारसे अपने लिये अधिकताकी उत्प्रेक्षा होने लगती है कि मैं इस विषयमें उत्कृष्ट हू । किंतु औरोंकी तो बात ही क्या खास अपने पुत्रके द्वारा भी कभी कभी उनको वह मान म्लान हो जाता है । इसी प्रकार जो पुरुषोंको अपने माहात्म्यसे भ्रष्ट करदिया करता है उस मानकषायको धिकार हो । अब मुझको चाहिये कि उस दैवके लिये भी स्मरणीय —जहांपर कि भाग्य भी अपना अनुष्ठान नहीं कर सकता उस विषयमें प्रवृत्ति करूं ।

अभिमानके निमित्तसे होनेवाली अनर्थपरम्पराओंको दिखाते है

गर्वप्रत्यग्नगकवलिते विश्वदीपे विवेक,—
त्वष्टर्युच्चैः स्फुरितदुरितं दोषसन्देहवृन्दैः ।

१ विपरीत लक्षणाके अनुसार ऐसा अर्थ किया गया है ।

सत्रोद्वृत्ते तमसि हतदृग् जन्तुरास्तेषु भूयो,
भूयोऽभ्याजत्स्वपि सजति ही स्वैरमुन्मार्ग एव ॥ १०॥

जिसके द्वारा कर्तव्याकर्तव्यका पृथक्करण किया जा सकता है ऐसा विवेकरूपी सूर्य जो कि समस्त संसार-को प्रकाशित करनेकेलिये प्रदीपके समान है, जब अहंकाररूपी अस्ताचलके द्वारा ग्रस्त हो जाता है और राग द्वेष प्रभृति राक्षसगणोंके साथ साथ अतिशयरूपमें बढरही और फैल रहीं है चोरी व्यभिचार आदि पापकर्मोंकी प्रवृत्तियां जिसमें, ऐसा मोहरूपी अन्धकार अच्छी तरहसे-उच्छृंखलताके साथ साथ निबिडरूपमें सर्वत्र व्याप्त होजाता है उस समयमें इस प्राणीकी दृष्टि नष्ट होजाती है, और कष्टकी बात है कि वह अभीष्ट मार्गको छोडकर गुरु आदि आप्त-जनोंके द्वारा पुनः पुनः रोकेजानेपर भी स्वच्छन्दतया उन्मार्ग-पुरुषार्थविरोधी मार्गमें ही आसक्त होता है।

अहंकारजनित पापकर्मके उदयसे होनेवाले अत्यंत उग्र अपमान दुःखका निरूपण करते हैं—

जगद्वैचित्र्येऽस्मिन्विलसति विधौ काममनिशं,
स्वतन्त्रो न क्वास्मीत्यभिनिविशतेऽहंकृतितमः।
कुधीर्येनादत्ते किमपि तदघं यद्रसवशा,—
च्चिरं भुङ्क्ते नीचैर्गतिजमपमानज्वरभरम् ॥ ११ ॥

" स्थावरजंगमस्वरूप संसारकी विचित्रता प्रसिद्ध है। इसमें निरंतर और यथेष्टरूपसे भाग्यके स्फुरायमान होनेपर ऐसा कौनसा विषय है कि जिसको मैं प्राप्त नहीं कर सकता। संसारके सभी विषयोंको प्राप्त करनेमें मैं स्वतन्त्र हूं। " ऐसा समझनेवाला यह जडबुद्धि जीव अहकाररूपी अंधकारको उच्छृंखल बनादेता है और उससे उस अनि-र्वचनीय पापकर्मका सचय करता है कि जिसका उदय होनेपर नीचगतिसम्बन्धी अपमानज्वरको चिरकालतक

उसे भोगना पडता है। क्योंकि जीवोंको उनका अपमान-महत्वकी हानि ज्वरसे भी अधिक तीव्र संताप करनेवाला और दुःख देनेवाला है। तथा यह निगोदादिक नीच पर्यायोंमें होनेवाला अपमान अभिमानके निमित्तसे ही होता है जैसा कि आगममे कहा है कि—

जातिरूपकुलैश्वर्यशीलज्ञानतपोबलै ।
कुर्वाणोहङ्कृतिं नीच गोत्र बध्नाति मानव. ॥

जाति आदि आठ विषयोंका मद करनेवाला नीचगोत्रका बंध करता है।

पूर्वोक्त प्रकारके दुःखद मानका मर्दन मार्दवधर्म ही कर सकता है। अत एव उसकी प्रशसा करते हैं—

भद्रं मार्दववज्राय येन निर्लूनपक्षतिः ।
पुनः करोति मानाद्रिर्नोत्थानाय मनोरथम् ॥ १२ ॥

उस मार्दवरूपी वज्रका कल्याण हो जिसके द्वारा अपने पक्ष शक्तिविशेषके समूल छिन्न होजानेपर यह मानरूपी पर्वत पुनः उठनेका प्रयत्न नहीं करसकता। भावार्थ -मानके दूर करनेको मार्दव कहते है। जाति रूप कुल ऐश्वर्य आदि अतिशयोंके रहते हुए भी उनका मद न होना, अथवा दूसरोंके द्वारा किये गये तिरस्कार आदि निमित्तोंके मिलनेपर भी अभिमानका जागृत न होना, यद्वा अपने सामने दूसरोंको तुच्छ समझनेके सकषाय भावका उद्भूत न होना आदि मार्दव कहाता है। इस मार्दवधर्मरूपी वज्रके द्वारा ही मानरूपी पर्वतका चूर्ण किया जा सकता है। अत एव इस अपूर्व धर्मका सदा कल्याण हो।

अहंकार कभी भी कर्तव्य नहीं हो सकता इस बातका उपदेश देनेकेलिये संसारकी दुरवस्थाको प्रकट करते हैं।

क्रियेत गर्वः संसारे न श्रूयेत नृपोपि चेत् ।
दैवाज्जातः कृमिर्गूथे भृत्यो नेक्ष्येत वा भवन् ॥ १३ ॥

दूसरे साधारण जीवोंकी तो बात ही क्या, एक राजातक अपने संचित पापकर्मके उदयसे मरकर विष्टाका कीडा हुआ, यह बात यदि आप्तसंप्रदायके द्वारा सुननेमें न आई होती, अथवा आजकल भी एक देशका नरेश क्षणभरके बाद किंकर होता हुआ देखनेमें न आता होता तब तो कदाचित संसारमें गर्व किया भी जा सकता था। किंतु यह बात नहीं है—उक्त सभी बातें सुनने और देखनेमें आती हैं। अत एव संसारके इस दुःस्वरूपका जाननेवाला कोई भी मनुष्य किसी भी वस्तुके निमित्तमें गर्व करना कर्तव्य किस तरह समझ सकता है।

समीचीन व्रतोंका अभ्यास करनेवाले साधुओंको आरम्भिक अवस्थामें अभिमानको जीतनेका उपाय करना चाहिये किंतु कर्मोंको नष्ट करनेकेलिये उसको उत्तेजित करना चाहिये। ऐसा उपदेश देते है—

प्राच्यानैदंयुगीनानथ परमगुणग्रामसामृद्ध्यसिद्धा,—
नद्धा ध्यायन्निरुन्ध्यान्प्रदिमपरिणतः शिर्मदं दुर्मदारिम् ।
छेत्तुं दौर्गत्यदुःखं प्रवरगुरुगिरा संगरे सद्व्रतास्त्रैः,
क्षेप्तुं कर्मारिचक्रं सुहृदमिव शितैर्दीपयेद्वाभिमानम् ॥ १४ ॥

जो आत्माका अपाय करे उसको शत्रु कहते है। मान-कषाय आत्माका अत्यंत अपाय ही करता है अत एव उसको भी प्रबल शत्रुके ही समान समझना चाहिये। और इसीलिये जो आत्महितको सिद्ध करना चाहते है उन साधुओंको मार्दव धर्मसे युक्त होकर तथा पूर्वकालके और इस युगके भी उन सम्पूर्ण साधुओंको जो कि अपने ज्ञान विनय दया सत्य प्रभृति परम गुणगणोंकी समृद्धिके द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त करचुके है तत्त्वतः ध्यान करते हुए उस दुष्ट मदरूपी शत्रुका निवारण करना ही उचित है। अथवा इस मान कषायको मित्रके समान स—

मझना चाहिये। जिस प्रकार विजयलाभकी इच्छा रखनेवाला कोई भी वीर योद्धा दारिद्र्यादिक दुःखोंको नष्ट करनेकेलिये अपने मंत्री या सेनापति आदि अधिकारीके कथनानुसार संग्राममें अपना प्रहार करनेकेलिये उद्यत हुई शत्रुसैन्यका तीक्ष्ण शस्त्रोंके द्वारा निरसन करनेकेलिये मित्रको उत्तेजित किया करता है उसी प्रकार मुमुक्षुओंको दुर्गतियोंका निराकरण करनेकेलिये सद्गुरुओंके उपदेशानुसार प्रतिज्ञाओंमें स्थिर होकर धर्मरूपी शत्रुसैन्यका उनकी सम्पूर्ण शक्तियोंका नाश करनेमें सर्वथा समर्थ निर्मल अहिंसादिक व्रतोंके द्वारा नाश करनेकी इच्छासे मित्रके समान अभिमानको उत्तेजित करना चाहिये। क्योंकि आद्य अवस्थामें मुमुक्षुओंकेलिये अभिमान भी विधेय हो सकता है। क्योंकि उसके निमित्तसे कर्मोंका क्षपण करनेकी प्रवृत्तिमें उत्तेजना लाई जा सकती है।

यद्यपि मानकषायकी शक्ति मार्दव धर्मके द्वारा अभिभूत हो जाती है फिर भी उसका सर्वथा नाश शुक्लध्यानकी प्रवृत्तिसे ही हो सकता है। अत एव वैसा करनेकेलिये उपदेश देते हैः—

मार्दवाशनिनिर्लूनपक्षो मायाक्षितिं गतः
योगाम्बुनैव भेद्योन्तर्वहता गर्वपर्वतः ॥ १५ ॥

मार्दवरूपी वज्रके द्वारा पक्षच्छेद होजानेपर मायारूपी पृथ्वीपर पडे हुए गर्वरूपी पर्वतका भेदन अन्तरङ्गमें वहते हुए योगरूपी जलके द्वारा ही हो सकता है। भावार्थ — जिस प्रकार इन्द्रके द्वारा छोडे हुए वज्रसे पक्षच्छेद होजानेपर पर्वतका पृथ्वीपर पतन तो होजाता है किंतु वास्तविक विदारण नहीं होता सो वह उसके ही भीतर वहनेवाले जलके ही द्वारा हो सकता है इसी प्रकार मार्दव भावनाके द्वारा शक्तिविशेषके नष्ट होजानेसे गर्वरूपी पर्वत संज्वलनमायारूपमें आकर प्राप्त तो होजाता है किंतु उसका वास्तविक निर्हरण आत्मस्वरूपमें संततिक्रमसे प्रवर्तमान पृथक्त्व वितर्कवीचार नामके शुक्ल ध्यानद्वारा ही हो सकता है। क्योंकि क्षपकश्रेणीमें शुक्ल ध्यानके द्वारा मान संज्वलनका उन्मूलन माया संज्वलनमें क्षेपण करके ही किया जाता है।

मानके निमित्तसे महापुरुषोंके भी अभिप्रायोंकी जो बडी भारी क्षति हुई है या हुआ करती है उस-

पर लक्ष्य दिलाते हुए इस बातका उपदेश देते है कि उसका नाश करनेके लिये मुमुक्षुओंको मार्दव भावोंका अवश्य ही पालन करना चाहियेः —

मानोऽवर्णमिवापमानमभितस्तेनेऽर्ककीर्तेस्तथा,
मायाभूतिमचीकरत्सगरजान् षष्टिं सहस्राणि तान् ।
तत्सौनन्दमिवादिराट् परमरं मानग्रहान्मोचयेत्,
तन्वन्मार्दवमाप्नुयात् स्वयमिमं चोच्छिद्य तद्वच्छिवम् ॥ १६ ॥

अहंकारके द्वारा आदिचक्रवर्ती भरतेश्वरके पुत्र अर्ककीर्तिका जो अपमान अपयश और तेजोवध हुआ वह आगममें प्रसिद्ध है। इसी प्रकार इस मानकषायने आर्षप्रसिद्ध सगरचक्रवर्तीके साठ हजार पुत्रोंकी मणि केतु नामक देवके द्वारा जो मायाभस्म करादी सो भी आगममें प्रसिद्ध ही है । अत एव साधुओंको चाहिये कि यदि कोई इस अहकाररूपी भूतके आवेशसे ग्रस्त हुआ हो तो वे उसको शीघ्र ही उससे छुडानेका इस तरहसे प्रयत्न करें कि जिस तरहसे भरतराजने बाहुबलिकुमारके विषयमें किया था। तथा स्वयं भी भरत-चक्रवर्तीकी ही तरह मार्दव धर्मको धारण करके और मानकषायरूपी ग्रहको निर्मूल करके अभ्युदय तथा मोक्षपदको प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि जो पुरुष मार्दवधर्मसे युक्त है उसका गुरुजन अनुग्रह करते और साधुगण भी मान करते है। तथा अन्तमें वह सम्यग्ज्ञानादिकका पात्र बनकर स्वर्गापवर्गरूपी फलको प्राप्त करलेता है।

क्रमप्राप्त आर्जव धर्मका वर्णन करनेकी इच्छासे सबसे पहले सर्वथा परिहरणीय मायाके विलासोंको ब ताते है —

क्रोधादीनसतोपि भासयति या सद्वत् सतोप्यर्थतो,—

[१]सद्वदोषधियं गुणेष्वपि गुणश्रद्धां च दोषेष्वपि ।
या सूते सुधियोपि विभ्रमयते संवृण्वती यात्यणू,—
न्यप्यभ्यूहपदानि सा विजयते माया जगद्व्यापिनी ॥ १७ ॥

समस्त संसारको व्याप्त करलेनेवाली मायाने सबपर विजय— सर्वोत्कृष्ट पदको प्राप्त कर रक्खा है । क्योंकि यह प्रयोजनके अनुसार जहां जब जैसा भाव प्रकट करना चाहिये वहां उस समय वैसा ही भाव प्रकट किया करती है । कभी तो अनुद्भूत भी क्रोध मान या लोभरूप कषायभावोंको उद्भूतकी तरह प्रकट किया करती है, और कभी–प्रयोजनके आश्रयसे उद्भूत भी इन कषायोंको अनुद्भूतकी तरह दिखाया करती है । जैसा कि कहा भी है कि—

[२]भेय मायामहागर्तान्मिथ्याघनतमोमयात् ।
यस्मिँलीना न लक्ष्यन्ते क्रोधादिविषमाहय ।

मिथ्यादर्शन या विपर्यासरूप निविड अन्धकारसे व्याप्त उस मायाचाररूपी महान गर्तसे अवश्य ही डरना चाहिये जिसमें कि पडे हुए क्रोधादि कषायरूपी विषयभुजङ्ग देखनेमें नहीं आ सकते ।

यह माया दृष्टिको शान्त बनाकर गुणोंमें दोषबुद्धि और दोषोंमें गुणोंकी श्रद्धा उत्पन्न कर दिया करती है । अधिक क्या कहें, ऐसे अत्यंत सूक्ष्म तर्कणाके स्थानोंको जो कि सहसा दृष्टिमें भी न आ सकें, ढककर साधारण मनुष्योंकी तो बात ही क्या, कुशलबुद्धियोंको भी भ्रममें डाल देती है । जैसा कि कहा भी है कि:—

बेहिः सर्वाकारप्रवणरमणीय व्यवहरन्,

१— यह श्लोक श्रीगुणभद्र स्वामीने कहा है ।
२— यह श्लोक मुद्राराक्षस नाटकमेंका है ।

पराभ्यूहस्थानान्यपि तनुतराणि स्थगयति ।
जन विद्वानेव सकलमतिमधाय कपटे,–
स्तटस्थ. स्वानर्थान् घटयति च मौन स भजते ॥

यह माया इसलोक और परलोक दोनों ही जगह दुःखका ही कारण है। इस बातको दिखाते हैः —

य: मोढुं कपटीत्यकीर्तिभुजगीमीष्टे श्रवोन्तश्चरीं,
सोपि प्रेत्य दुरत्ययात्ययमयीं मायोरगीमुज्झतु ।
नो चेत्स्त्रीत्वनपुंसकत्वविपरीणामप्रबन्धार्पित,
ताच्छील्यं बहु धातृकेलिकृतपुंभावोप्यभिव्यङ्क्ष्यति ॥ १८ ॥

" यह कपटी है " इस तरहकी अपकीर्तिरूप सर्पिणीके अपने कानके पास घूमनेको जो सहन नहीं कर सकता उसकी तो बात ही क्या, जो सहन कर सकता है उसको भी चाहिये कि वह परलोकमें निःसीम दुःखोंके देने वाली इस मायासर्पिणीको दूरसे ही छोड दे । क्योंकि यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो जिसके उदयसे पुंस्त्व पर्याय प्राप्त होती है उस कर्मके निमित्तसे पुल्लिङ्ग पर्यायसे युक्त रहते हुए भी अपने स्त्रीत्वरूप विविध परिणामोंकी संतातिके द्वारा मिश्रित हुए उन प्रभूत भावोंको—भावस्त्रीत्व या भावनपुंसकत्वको अवश्य ही प्रकट कर देगा ।

भावार्थ—मायाचारका त्याग न करनेपर संसारमें जो अपयश होता है सो तो होता ही है किन्तु उससे परलोकमें स्त्रीत्व या नपुसकत्व पर्यायकी जिससे प्राप्ति हो ऐसे कर्मका सचय भी होता है । अत एव वर्तमानमें भले ही वह पुरुषविधायक कर्मके उदयसे पुल्लिङ्ग दीखे किन्तु मरकर वह अवश्य ही स्त्री या नपुंसक होगा ।

मायाचारीका लोकमें बिलकुल भी विश्वास नहीं होता इस बातको प्रकाशित करते हैं —

योवाचा स्वमपि स्वान्तं वाचं वञ्चयतेऽनिशम् ।
चेष्टया च स विश्वास्यो मायावी कस्य धीमतः ॥ १९ ॥

जो मनुष्य निरंतर अपने हृदयको भी वचनोंसे और वचनोंको भी कायव्यवहारसे धोखा दिया करता है उस मायाचारीका भला ऐसा कौन विचारशील होगा जो कि विश्वास करे क्योंकि मायाचारी मनुष्य जो कुछ मनमें होता है उसको तो कहता नहीं और जैसा कुछ कहता है वैसा करता नहीं ।

इस कलिकालमें आर्जवधर्मके धारण करनेवालोंकी दुर्लभता बताते हैं—

चित्तमन्वेति वाग् येषां वाचमन्वेति च क्रिया ।
स्वपरानुग्रहपराः सन्तस्ते विरलाः कलौ ॥ २० ॥

आजकल इस पंचमकालमें ऐसे सत्पुरुष बहुत ही विरल हैं-दो चारकी संख्यामें मिलने भी कठिन हैं कि जो अपना और परका उपकार करनेमें ही तत्पर रहते हुए भी अमायिक हों-जिनका कि हृदयके अनुरूप वचन और वचनके अनुरूप कायव्यवहार हो ।

आर्जवधर्मके धारकोंका माहात्म्य प्रकट करते हैं—

आर्जवस्फूर्जदूर्जस्काः सन्तः केपि जयन्ति ते ।
ये निगीर्णत्रिलोकायाः कृन्तन्ति निकृतेर्मनः ॥ २१ ॥

आर्जवधर्मके द्वारा बढता हुआ है तेज अथवा उत्साह जिनका, और इसीलिये जो तीन लोकको अपने पेटमें रखलेनेवाली-जगत्त्रयीको अपने अधीन करनेवाली मायाके हृदयको विदीर्ण करडालते हैं वे लोकोत्तर सत्पुरुष

सदा जयवंते रहो, अथवा ऐसे ही साधुजन सर्वोत्कृष्ट पदको प्राप्त कर सकते है।

माया कषायका जीतना अत्यत कठिन कार्य है। फिर भी जिन्होंने आर्जवधर्मके द्वारा उसको जीतलिया है उनको मोक्षमार्गप्रवृत्तिमें किसी भी प्रकारका प्रतिबन्ध नही आ सकता। ऐसा उपदेश देते हैं—

दुस्तरार्जवनावा यैस्तीर्णा मायातरङ्गिणी।
इष्टस्थानगतौ तेषां कः शिखण्डी भविष्यति ॥ २२ ॥

जो आर्जवधर्मरूपी नौकाके द्वारा दुस्तर भी मायारूपी नदीको लांघ कर पार होगये हैं उनके अभीष्ट स्थानक जानेमें भला कौन अन्तराय हो सकता है? कोई नहीं। भावार्थ—मायाकषायके जीतने वालोंका मोक्षमार्ग निष्कण्टक समझना चाहिये।

मायाचारके निमित्तसे जो दुर्गतियोंमें क्लेश अथवा दुःसह गर्हा–निन्दा हुआ करती है उसको उदाहरणद्वारा बताते हैं:—

खलूक्त्वा हृत्कर्णक्रकचमखलानां यदतुलं,
किल क्लेशं विष्णोः कुसृतिरसृजत संसृतिसृतिः।
हतोऽश्वत्थामेति स्ववचनविसंवादितगुरु,—
स्तपःसूनुर्म्लानः सपदि श्रृणु सद्भ्योन्तराधित ॥ २३ ॥

हे साधुओ! सुनो, सज्जनोंके हृदय और कानोंको विदीर्ण करनेके लिये करोंतके समान मायावचनका सत्पुरुष कभी भी प्रयोग नहीं करते। ससारमार्गके बढानेवाली इस अनन्तानुबन्धिनी मायाने विष्णु—वासुदेवको जो असाधारण क्लेश दिया वह किसीसे छिपा नहीं है; क्योंकि वह लोक और शास्त्र सर्वत्र सुननेमें आता है।

इसी प्रकार " कुञ्जरो न नरः " ऐसे मायापूर्ण वचनोंसे युक्त " अश्वत्थामा मारागया " इन वचनोंके द्वारा अपने गुरु द्रोणाचार्यको धोखा देनेके कारण युधिष्ठिरको ऐसी ग्लानि हुई थी कि जिसके सबबसे उन्होंने अपनेको सत्पुरुषोंसे छिपालिया था —वे सज्जनोंको अपना मुख दिखाना नहीं चाहते थे । भावार्थ—इस मायाके प्रसादसे बडे बडे पुरुषोंको भी क्लेश ही हुआ है ऐसा समझकर हृदय तथा कर्णतकको विदीर्ण करदेनेवाली इस मायाका साधुओंको परित्याग ही करना चाहिये ।

इस प्रकार आर्जव धर्मका निरूपण करके शौच धर्मका व्याख्यान करना चाहते हैं । किंतु उसमें सबसे पहले निकटवर्ती अथवा यथाप्राप्त विषयोंमें गृद्धि उत्पन्न करनेवाले लोभकषायका अवश्य ही निराकरण करनेकेलिये मुमुक्षुओंको उपदेश देते हैं । क्योंकि यह लोभ सम्पूर्ण पापोंका मूल तथा समस्त गुणोंका विध्वंस करनेवाला है और इसका निराकरण होनेपर ही शौच धर्म प्रकट हो सकता है । —

लोभमूलानि पापानीत्येतद्यैर्न प्रमाण्यते ।
स्वयं लोभाद् गुणभ्रंशं पश्यन्तः श्यन्तु तेपि तम् ॥ २४ ॥

जो लोग " लोभमूलानि पापानि-समस्त पापोंका मूल लोभ कषाय ही है " इस जगत्प्रसिद्ध वाक्यको प्रमाण नहीं मानते उनको कमसे कम यह देखकर तो भी, कि इसके निमित्तसे ही दया मैत्री साधुता आदि समस्त गुणोंका विध्वंस होता है, लोभको कृश कर डालना चाहिये ।

भावार्थ—जो पुण्यपापका विश्वास करनेवाले आस्तिक हैं वे तो इसको पापका मूल समझकर छोडते ही हैं किंतु जो वैसा विश्वास नहीं करते उनको कमसे कम अपने इस अनुभवसे तो भी इस लोभको छोडना चाहिये कि वह समस्त गुणोंका नाशक है । जैसा कि व्यासने भी कहा है कि:——

भूमीष्ठोपि रथस्थांस्तान् पार्थ सर्वधनुर्धरान् ।
एकोपि पातयामास लोभ सर्वगुणानिव ॥

भूमिपर खडे हुए और अकेले ही अर्जुनने रथमें बैठे हुए सम्पूर्ण धनुर्धारियोंको इस तरहसे निपातित कर दिया जैसे कि अकेला ही लोभ सम्पूर्ण गुणोंको नष्ट करदिया करता है ।

एक औचित्य गुण करोड गुणोंकी बराबर है । किंतु वह भी अत्यंत लुब्ध मनुष्यको छोडने योग्य मालूम पडता है, ऐसा उपदेश देते हैं:—

गुणकोट्या तुलाकोटिं यदेकमपि टीकते ।
तदप्यौचित्यमेकान्तलुब्धस्य गरलायते ॥ २५ ॥

दान और प्रिय वचनोंके द्वारा दूसरोंको संतोष उत्पन्न करना इसको औचित्य कहते हैं । यदि करोड गुणोंको एक तरफ और औचित्यको दूसरी तरफ रखकर देखा जाय तो एक औचित्यका ही प्रमाण अधिक मिलेगा, किंतु जो नितान्त लोभसे आक्रान्त है उसे वह भी विषके समान जान पडता है । और जगह भी कहा है कि—

औचित्यमेकमेकत्र गुणानां राशिरेकतः ।
विषायते गुणग्राम औचित्यपरिवर्जितः ॥

फलतः औचित्यरहित लुब्ध मनुष्य शेष गुणोंको भी धारण नहीं कर सकता ।

आत्मजीवन परजीवन और आरोग्य तथा पांचो इन्द्रियके उपभोग, इन आठ विषयोंकी अपेक्षासे लोभके भी आठ भेद माने है । इनसे आकुलितचित्त रहनेवाला मनुष्य सदा और सम्पूर्ण अकृत्योंको कर डालता है । इस बातको बताते हैं —

उपभोगेन्द्रियारोग्यप्राणान् स्वस्य परस्य च ।
गृध्यन् मुग्धः प्रबन्धेन किमकृत्यं करोति न ॥ २६ ॥

अपने अथवा पर—स्त्री पुत्रादिकोंके उपभोगों इन्द्रियों आरोग्य और प्राणोंकी गृद्धि रखनेवाला मूढ मनुष्य गुरुवध पितृवध आदिकोंमेंसे ऐसा कौनसा अकृत्य है कि जिसको वह चाहे तभी नहीं कर सकता। अपि तु सभी दुष्कृत्योंको वह कर सकता है। अत एव मोहको छोडकर इस लोभका भी निरसन ही करना चाहिये।

लोभके वश होते ही मनुष्यके गुण नष्ट हो जाते है इस बातको बताते है:—

तावत्कीर्त्यै स्पृहयति नरस्तावदन्वेति मैत्रीं,
तावद् वृत्तं प्रथयति बिभर्त्याश्रितान् साधु तावत्।
तावज्जानात्युपकृतमघाच्छङ्कते तावदुच्चै,—
स्तावन्मानं वहति न वशं याति लोभस्य यावत्॥ २७॥

मनुष्य तभी तक कीर्तिकी स्पृहा और उसका संचय कर सकता तथा अखण्डरूपमे उसको कायम रख सकता, एवं मैत्रीका भी अविच्छिन्नतया पालन वह तभी तक कर सकता, और अपने चारित्रकी वृद्धि भी तभी तक कर सकता है, इसी प्रकार अपने आश्रित व्यक्तियोंका भले प्रकार पोषण भी वह तभी तक कर सकता, और किसीके किये हुए उपकारका स्मरण, या पापसे भय तभी तक कर सकता, एवं अपने बढे हुए मान-आत्मगौरव का धारण या रक्षण भी वह तभी तक कर सकता है; जब तक कि वह लोभके वश नहीं होता। किंतु उसके अधीन होते ही ये सम्पूर्ण गुण निःसन्देह नष्ट होजाते है।

जिस उपायसे लोभका विजय किया जा सकता है उसका आराधन करनेके लिये मुमुक्षुओंको उत्साहित करते है:—

प्राणेशमनु मायाम्बां मरिष्यन्तीं विलम्बयन्।
लोभो निशुम्भ्यते येन तद्भजेच्छौचदैवतम्॥ २८॥

जो व्यक्ति मनोगुप्तिका पालन नहीं कर सकता वह यदि परवस्तुओंमें अनिष्ट उपयोगका परित्याग करदे

तो उसको शौचधर्म माना जायगा। क्योंकि मनके सम्पूर्ण परिष्पन्दोंके निरोधको मनोगुप्ति और लोभकी उत्कृष्ट निवृत्तिको शौचधर्म कहते हैं। यह दोनोंमें अन्तर है। इस शौचधर्मको देवताके समान समझना चाहिये। क्योंकि यह अपने आश्रितोंका पक्षपात रखनेवाला है। अत एव इस शौचधर्मरूपी देवताका मुमुक्षुओंको अवश्य ही आराधन करना चाहिये। क्योंकि वह उस लोभ कषायका निग्रह करता है जो कि अपने प्राणेश-मोहके मरते ही स्वय भी मरनेके लिये तयार हुई मायारूपी अपनी माताको अवलम्बन देता-बचालेता है। जिस प्रकार पतिके मरते ही उसका अनुगमन करनेकी इच्छा रखनेवाली स्त्रीको उसका पुत्र बचालिया करता है, उसी प्रकार मोह पिताके नष्ट होते ही मायारूपी माताको नष्ट होनेसे बचाने वाला यह लोभ ही है। इस प्रकारसे मायाके पोषक लोभका निग्रह शौच धर्म ही करता है। अतएव प्रत्येक मुमुक्षुको इस शौचरूपी देवताका आराधन करना ही चाहिये।

जो लोग संतोषका अभ्यास करके तृष्णाको दूर करनेवाले है उनके आत्मध्यानमें होनेवाले उपयोगके उद्योगको प्रकाशित करते है-

अविद्यासंस्कारप्रगुणकरणग्रामशरण: ।
परद्रव्यं गृध्नु: कथमहमधोधश्चिमरगाम् ।
तदद्योद्यद्विद्यादृतिधृतिसुधास्वादहततृ,-
ड्वर: स्वध्यात्मोपर्युपरि विहराम्येष सततम् ॥ २९ ॥

अनादि कालसे लेकर अबतक मैं, यह कितने दुःखकी बात है कि शरीर और आत्मामें अभेद-प्रत्ययरूप अविद्याकी वासनासे विषयोंकी तरफ उन्मुख हुई इन्द्रियोंके वशमें पडकर और इसी लिये आत्मस्वरूपसे भिन्न शरीरादिकोंमें गृद्धियुक्त होकर नीचे नीचेकी तरफ ही जारहा हूं। अतएव शरीर और आत्मामें भेदज्ञानके होजानेपर अब मै उस अविद्याके विरुद्ध प्रकाशित होती हुई और बढती हुई विद्याके अन्तःसारस्वरूप संतोषमय सुधाका बार बार पान करनेके कारण तृष्णारूपी विषका परिहार होजानेसे आत्मामें ही निरन्तर प्रवर्तमान तथा निर्विकल्पतया निश्चल ध्यानके द्वारा निरंतर उन्नतोन्नत दशामें उपयुक्त होते जाना ही उचित समझता हूं।

शौचके माहात्माकी प्रशंसा करते हैं।

निर्लोभतां भगवतीमभिवन्दामहे मुहुः ।
यत्प्रमादात्सतां विश्वं शश्वद्भातीन्द्रजालवत् ॥ ३० ॥

जिसके कि प्रमादसे शुद्धोपयोगमें स्थिर रहनेवाले साधुओंको यह सम्पूर्ण चराचर जगत निरंतर इंद्रजालके समान अनुपभोग्य मालुम पडने लगता है उस निर्लोभता-प्रकर्षको प्राप्त हुई लोभनिवृत्तिरूपी भगवतीके सन्मुख खडे होकर मैं पुनः पुनः नमस्कार करता हू और उसकी स्तुति करता हूं।

दृष्टांत द्वारा लोभके माहात्म्यको प्रकट करते हैं।

तादृक्षे जमदग्निमिष्टिनमृषिं स्वस्यातिथेयाध्वरे,
हत्वा स्वीकृतकामधेनुरचिराद्यत्कार्तवीर्यः क्रुधा ।
जघ्ने सान्वयसाधनः परशुना रामेण तत्सूनुना,
तद्दुर्दण्डित इत्यपाति निरये लोभेन मन्ये हठात् ॥ ३१ ॥

अध्याय

६

समस्त लोगोंके चित्तको चमत्कृत करदेनेवाले और जहांपर कि अपना आतिथेय सत्कार किया जारहा था उसी जगह —जगदग्निके आश्रममें ही आतिथेय कार्यमें प्रवृत्त उस जगदग्नि ऋषिको ही मारकर उसकी कामधेनुको हस्तगत करलेने वाले कार्तवीर्यका जो उस जमदग्निके पुत्र परशुरामने क्रुद्ध होकर अपने परशुके द्वारा संतानसैन्यसहित वध किया उससे मुझको तो ऐसा जानपडता है मानो उसके लोभ कषायने ही यह समझकरके कि यह दुर्दण्डित है—विना अपराधके ही दूसरोंको दंड देनेवाला है उसे जबर्दस्ती नरकमें पटकदिया। भावार्थ—लोभके वश होकर मनुष्य निरपराधियोंके घात जैसा पाप भी करने लगता है जिससे कि उसको इसलोक और परलोक दोनों ही जगह दुःखमय ही फल प्राप्त होता है।

इस प्रकार उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, और शौच, इन चार धर्मोंका जो कि क्रमसे क्रोध मान माया और लोभकी निवृत्ति होनेसे उद्भूत होते हैं, वर्णन करचुकनेपर अन्तमें इन चारो कषायोंमेंसे प्रत्येककी अनन्तानुबंधिनी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, और संज्वलन, इस तरह चार चार अवस्थाएं होती हैं उनको दृष्टांतद्वारा स्पष्ट करते हुए क्रमसे उनके फलोंको भी दो पद्योंमें दिखाते हैं।

दृशदवनिरजोऽम्बराजिवदश्मस्तम्भास्थिकाष्ठवेत्रकवत् ।
वंशांघ्रिमेषशृङ्गोक्षमूत्रचामरवदनुपूर्वम् ॥ ३२ ॥

कृमिचक्रकायमलरजनिरागवदपि च पृथगवस्थाभिः ।
क्रुन्मानदम्भलोभा नारकतिर्यङ्नृसुरगतीः कुर्युः ॥ ३३ ॥

क्रोध मान माया और लोभ इनमेंसे प्रत्येककी सर्वोत्कृष्ट और उसकी अपेक्षा हीन हीनतर तथा हीनतम उदयरूप शक्तियोंकी अपेक्षासे चार चार अवस्थाएं होती हैं जिनको कि क्रमसे अनन्तानुबन्धी आदि कहते हैं। इन अवस्थाओंके द्वारा ही ये क्रोधादिक क्रमसे नारक, तिर्यक्, मानुष और देवगतिको उत्पन्न किया करते हैं। क्योंकि अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया और लोभके द्वारा नारकगतिका और अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादिकके द्वारा तिर्यग्गतिका तथा प्रत्याख्यानावरण क्रोधादिकके द्वारा मनुष्यगतिका एवं संज्वलन क्रोध मान माया और लोभके द्वारा देवगतिका बन्ध होता है।

क्रोधकी अनन्तानुबंधी आदि जो चार अवस्थाएं बताई हैं वे क्रमसे पाषाणरेखा, पृथ्वीरेखा, धूलिरेखा, और जलरेखाके समान हुवा करती है। जिस प्रकार पत्थरमें पडी हुई दरार सैकडों उपायोंके करनेपर भी फिर नहीं जुड सकती उसी प्रकार अनन्तानुबंधी क्रोधके द्वारा फटा हुआ मन भी कभी जुड नहीं सकता। जिस प्रकार पृथ्वीमें पडी हुई दरार अनेक उपाय करनेपर कठिनतासे जुड सकती है उसी तरह अप्रत्याख्यानावरण क्रोधके द्वारा विदीर्ण मन भी कठिनतासे ही मिलता है। जिस प्रकार धूलिके ऊपर कीगई रेखा सहज उपायके द्वारा ही मिट जाती है

उसी प्रकार प्रत्याख्यानावरण क्रोधके द्वारा विदीर्ण हुआ मन भी सरल उपायके द्वारा ही शान्त होजाता है। जिस प्रकार लकडी आदिके द्वारा जलमें कीगई रेखा तुरत मिटजाती है और फिर वह जल स्वयं जैसेका तैसा होजाता है उसी प्रकार संज्वलन क्रोधके द्वारा उत्पन्न हुआ मनोभाव भी महसा स्वय मिट जाता है।

मानके अनन्तानुबन्धी आदि अवस्थाओंकी अपेक्षा जो चार भेद बताये हैं वे क्रमसे पाषाणके स्तम्भ, हड्डी, लकडी, और बेतकी लताके समान होते है। जिस प्रकार पाषाणका स्तम्भ टूट सकता है पर नम्र नहीं हो सकता उसी प्रकार अनन्तानुबन्धी मानके उदयसे ग्रस्त जीव नष्ट हो मकता है पर किसीकेलिये नम्र नहीं हो सकता। जिस प्रकार हड्डीमें अत्यंत अल्प नम्रता आ सकती है उसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरणमानी भी कुछ नम्रताको धारण कर सकता है। जिस प्रकार हड्डीकी अपेक्षा लकडी अधिक नम्र हो सकती है उसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरणमानीकी अपेक्षा प्रत्याख्यानावरणमानी भी अधिक नम्र हो सकता है। तथा जिस प्रकार बेतकी लता सबसे अधिक नम्र होती है उसी प्रकार संज्वलनमानी भी अत्यत नम्र हुवा करता है।

इसी प्रकार मायाके बांसकी जडके समान, मेंढाके सींगके समान, तथा गोमूत्रके समान और चमरी गौके केशोंके समान इस तरह अनन्तानुबन्धी आदि चार भेद माने हैं। और लोभके क्रमिराग (हिरिमिजीका रग) चक्रमल (गाढीके पहियेका ओंगन) शरीरमल, और हल्दीके रगके समान इस तरह अनन्तानुबन्धी आदि चार भेद बताये हैं। इनका उपमानार्थ स्पष्ट ही है।

जो साधु उत्तम क्षमादिकोंके द्वारा क्रोधादिकोंको जीत लेता है उसके लिये जीवन्मुक्ति सुलभ समझनी चाहिये। क्योंकि वह शुक्लध्यानके द्वारा सहजमें ही उस अवस्थाको प्राप्त कर सकता है-ऐसा उपदेश देते है—

संख्यातादिभवान्तराब्ददलपक्षान्तर्मुहूर्ताशयान्,
दृग्देशव्रतवृत्तसाम्यमथनान् हास्यादिसैन्यानुगान्।
यः क्रोधादिरिपून् रुणाद्धि चतुरोप्युद्घक्षमाद्यायुधै,—

योगक्षेमयुतेन तेन सकलश्रीभूयमीषल्लभम् ॥ ३४ ॥

कषायोंके जिस प्रकार शक्तिभेदकी अपेक्षा चार भेद माने है उसी प्रकार उनका वासनाकाल और कार्य भी भिन्न भिन्न ही होता है। अनन्तानुबन्धीका संस्कार संख्यात असंख्यात और अनंत भवतक रह सकता है और उसके उदयसे सम्यग्दर्शनका घात होता है। इसी प्रकार अप्रत्याख्यानावरणका संस्कार छह महीनेतक रह सकता है और वह देशव्रतको रोकता है। उसके उदयसे एकदेश चारित्र भी नहीं हो सकता। प्रत्याख्यानावरणका संस्कार पंद्रह दिनतक रह सकता है और वह सकल चारित्रको नहीं होनेदेता। तथा संज्वलनका संस्कार अन्तर्मुहूर्त—कुछ कम दो घडीतक रह सकता है जो कि यथाख्यात चारित्रको रोकनेवाला है। इस प्रकार कषायोंका संस्कार कार्य भिन्न भिन्न ही है। इनके अनुगामी हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्री पुरुष और नपुंसक ये नव नोकषाय और भी हैं। इनको उक्त क्रोधादि कषायरूप शत्रुओंका सैन्य समझना चाहिये। अतएव जिस प्रकार कोई विजिगीषु व्यक्ति उत्कृष्ट मध्यम आदि प्रतापके रखनेवाले एवं उत्कृष्ट मध्यम आदि वैरभावके भी रखनेवाले चारो तरफके ससैन्य शत्रुओंको तीक्ष्ण शस्त्रोंके द्वारा जीतकर अपने योगक्षेम-अलब्धलाभ और लब्धपरिरक्षणके द्वारा सकल साम्राज्य-षट्खण्डभूमिके आधिपत्यको सहज ही में प्राप्त करलेता है उसी प्रकार जो मुमुक्षु भव्य उक्त चार प्रकारकी वासनाओंसे युक्त और सम्यग्दर्शनादिकका घात कर आत्माका अपाय करनेवाले तथा हास्यादिकी सेनासे युक्त अनन्तानुबंधी क्रोधादि चार प्रकारके शत्रुओंको निर्मल-ख्याति लाभ पूजा आदिकी अपेक्षासे रहित होनेके कारण प्रशस्त--उत्तमक्षमादि शस्त्रोंके द्वारा परास्त कर देता है वही साधु क्षपकश्रेणिगत समाधिके द्वारा--एकत्ववितर्कवीचार शुक्लध्यानमें स्थिर होकर सकल-सशरीर लक्ष्मी—अन्तरङ्ग केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्ट—स्वरूप और बाह्य समवसरणरूप विभूतिको अनायास ही प्राप्त करलेता है।

भावार्थ-जो व्यक्ति उत्तम क्षमादिकोंके द्वारा कषायोंका निरोध करदेता है वह विना किसी परिश्रमके ही शुक्लध्यानमें स्थिर होकर शीघ्र ही अर्हन्त अवस्थाको प्राप्त करलेता है।

क्रमप्राप्त सत्यधर्मके लक्षण और उपलक्षणको बताते हुए उसका फल भी बताते हैं:—

कूटस्थस्फुटविश्वरूपपरमब्रह्मोन्मुखाः सम्मताः,
सन्तस्तेषु च साधुसत्यमुदितं तत्तीर्णसूत्रार्णवैः।
आ शुश्रूषुतमःक्षयात्करुणया वाच्यं सदा धार्मिकै,—
र्घोराज्ञानविषार्दितस्य जगतस्तद्ध्येकमुज्जीवनम् ॥ ३५ ॥

चराचर जगतकी भूत भविष्यत वर्तमान अनन्त पर्यायस्वरूप और जो द्रव्यरूपतया नित्य तथा स्पष्ट संवेदनके द्वारा जाना जाता है ऐसे परमब्रह्म—आत्मज्योतिस्वरूपमें परिणत होनेके लिये जो उद्युक्त रहते हैं उनको सत्—सत्पुरुष कहते हैं और उस परब्रह्मकी तरफ उन्मुखता होनेमें जो उपकारक हो उसको सत्य कहते हैं। अत एव धार्मिक आचरण करनेवाले प्रवचनसमुद्रके पारदर्शियोंको श्रोताओंके दुःखका उच्छेदन करनेकी करुणापूर्ण इच्छासे सदा ऐसे ही वचन बोलने चाहिये जो कि उनको उक्त आत्मज्योतिकी तरफ उन्मुख करनेवाले हों और सो भी तबतक बोलने चाहिये जबतक कि उनके सुननेकी इच्छा रखने वालोंके उस विषयके अज्ञानका नाश न हो जाय। क्योंकि यह सत्य वचन घोर अज्ञानरूपी विषसे मूर्छित—अभिभूत हुए बहिरात्मा प्राणियोंके उज्जीवित—प्रबुद्ध करनेकेलिए अद्वितीय रसायनके समान है।

भावार्थ—सत् शब्दका अर्थ आत्मस्वरूप है। अत एव जिन क्रियाओंके निमित्तसे आत्मस्वरूपकी तरफ प्रवृत्ति हो उनको ही सत्य कहते है। इसी लिये साधु ऐसे वचन बोलता है कि जिनसे श्रोताओंकी प्रवृत्ति उस आत्मस्वरूपकी तरफ होजाय उसीको सत्यवक्ता और उसके वचनोंको सत्यवचन कहते हैं।

प्रकृत चारित्रके विषयमें सत्यशब्दका सम्बन्ध तीन जगह किया गया है,—सत्यमहाव्रतमें, भाषासमितिमें और सत्यधर्ममें; किंतु इन तीनो सत्योंके स्वरूपमें अन्तर क्या है सो बताते हैं—

असत्यविरतौ सत्यं सत्स्वसत्स्वपि यन्मतम् ।
वाक्समित्यां मितं तद्धि धर्मे सत्स्वेव बह्वपि ॥ ३६ ॥

सत्य शब्दका अर्थ ऊपर बताया जा चुका है कि सतके विषयमें जो उपकारक हो उसको सत्य कहते हैं किंतु यह लक्षण निरुक्तिकी अपेक्षासे किया गया है। अत एव केवल सत्के ही विषयमें नहीं, कदाचित असत्के विषयमें भी जो उपकारक हो उसको भी सत्पुरुषोंने सत्य माना है।

इस सत्यकी प्रवृत्ति व्रत समिति और धर्म इस तरह तीन जगह की जाती है। किंतु इनमें जो अन्तर है वह यही कि अनृतविरति महाव्रतमें तो सत् और असत् दोनों ही विषयोंमें थोडा भी और बहुत भी दोनो ही प्रकारसे बोला जाता है। तथा भाषासमितिमें सत् और असत् दोनो ही विषयोंमे किंतु थोडा ही बोला जाता है। एवं सत्य धर्ममें केवल सत् विषयमें ही किंतु थोडा और बहुत दोनों ही तरहसे बोला जाता है।

सत्यधर्मके अनन्तर क्रमके अनुसार संयम धर्मका वर्णन करना चाहते है। सयम दो प्रकारका माना है एक उपेक्षारूप दूसरा अपहृतरूप। आजकलके कितने ही समितियोंमें प्रवृत्ति रखनेवाले इन सयमोंमेंसे अपहृत संयमका पालन किया करते हैं-ऐसा उपदेश देते हैं—

प्राणेन्द्रियपरीहाररूपेपहृतसंयमे।
शक्यक्रियप्रियफले समिताः केपि जाग्रति ॥ ३७ ॥

त्रस और स्थावर जीवोंकी पीडाको परिहार करने और स्पर्शनादिक इन्द्रियोंकी अपने अपने विषयोंमें प्रवृत्ति न होने देनेको अपहृत संयम कहते है। अपहृतसंयमके फल अथवा कार्यको उपेक्षासयम कहते है। अपहृत संयमका अनुष्ठान शक्य और फल इष्ट है। अत एव इसके शक्यानुष्ठान और इष्ट प्रयोजनकी अपेक्षासे आजकल कितने ही समितियोंके पालन करनेवाले इस अपहृत संयमके विषयमें ही प्रमादरहित प्रवृत्ति किया करते है।

फलतः अपहृत संयम दो प्रकारका है-एक प्राणिसंयम दूसरा इन्द्रियसंयम। दोनोंमें भी प्रत्येकके उत्तम मध्यम जघन्य इस तरह तीन तीन भेद हैं। जो साधु इस संयमका पालन करता है उसको उसका अच्छी तरहसे अभ्यास करनेकेलिये प्रेरणा करते है—

सुधीः समरसाप्तये विमुखयन् स्वमर्थान्मन,—
स्तुदोथ दवयन्स्वयं तमपरेण वा प्राणितः ।
तथा स्वमपसारयन्नुत नुदन् सुपिच्छेन तान्,
स्वतस्तदुपमेन वापहृतसंयमं भावयेत ॥ ३८ ॥

रागद्वेषको उद्भूत कर चित्तको क्षुब्ध करदेनेवाले स्पर्शादिक विषयोंसे स्पर्शनादिक इन्द्रियोंको पराङ्मुख रखना इसको उत्तम इंद्रियसंयम कहते हैं। उन विषयोंको स्वय इस तरहसे दूर रखना कि जिससे इंद्रियां उनको ग्रहण न कर सकें, इसको मध्यम इन्द्रियसयम कहते है। और गुरु आदिकी आज्ञा प्रभृतिके द्वारा प्रेरित होकर उन विषयोंको इन्द्रियोंसे परे रखना इसको जघन्य इन्द्रियसयम कहते हैं।

स्वयं उपस्थित प्राणियोंमे अपनेको पृथक रखना इसको उत्तम प्राणिसयम कहते हैं। और पांच गुणोंसे[1] युक्त प्रतिलेखन---पीछीके द्वारा अपने शरीरादिकके ऊपरसे उन जीवोंको दूर कर देना इसको मध्यम प्राणिसयम कहते हैं। तथा वैसी पीछीके न होनेपर उसके समान दूसरे मृदु वस्त्रादिके द्वारा प्राणियोंके दूर करनेको जघन्य प्राणिसयम कहते है।

विवेकपूर्वक कार्य करनेवाले मुमुक्षुओंको उपेक्षासंयम की सिद्धि अथवा प्राप्तिके लिये इन छहों प्रकारके अपहृत सयमका भले प्रकार अभ्यास करना चाहिये।

जो मन अपने वशमें नहीं रहता वह बाह्य विषयोंकी तरफ दौडा करता है, इस बातको ध्यानमें रख-कर ग्रन्थकर्ता अपने अपने विषयोंसे प्राप्त होनेवाले प्रचण्ड दुःखोंको दिखानेवाली स्पर्शनादिक इन्द्रियोंमेंसे एक एकके द्वारा अपनी अपनी सामर्थ्यका प्रतिपादन कराकर जगतमें स्वतन्त्रतया घूमनेवाले मनका निरोध करनेके लिये उपदेश देते हैं:-

१— पीछीके आचार्योंने पाच गुण बताये हैं। —धूलिरहित, प्रस्वेदरहित, मृदु, सुकुमार, और लघु।

स्वामिन्पृच्छ वनद्विपान्नियमितान्नाथाश्रुपिल्लाझषीः,
पश्याधीश विदन्त्यमी रविकराः प्रायः प्रभोऽग्नेः सखा ।
किं दूरेऽधिपते क पक्कणभुवां दौःस्थित्यमित्येकशः,
प्रत्युप्तप्रभुशक्ति खैरिव जगद्भावन्निरुन्ध्यान्मनः ॥ ३९ ॥

कुलीन पुरुषोंको अपने मुंह अपनी तारीफ करना शोभा नहीं देता, वह उनके लिये लज्जाका ही कारण माना है, अतएव मैं अपने मुह अपनी तारीफ क्या करू, पर आपको मेरा पराक्रम जानना है तो "हे स्वामिन् मन! आप जरा उन जगली हाथियोंसे ही पूछिये जो कि इस समय स्तम्भोंसे बँधे हुऐ है!"

"हे नाथ! आप उस रोती हुई मछलीकी तरफ देखिये," उसीसे मेरा आपको पराक्रम मालुम पड़जायगा।

"हे अधीश! मेरे कामको तो प्रायः ये सूर्यकी किरणें ही जानती हैं।"

"हे प्रभो! यह अग्निका मित्र वायु क्या कुछ दूर है?" पास ही तो है; अतएव मेरे कार्यके विषयमें इसीसे पूछिये। क्योंकि सदा सर्वत्र रहनेवाला यही मेरे कृत्यका साक्षी हो सकता है।

"हे अधिपते! क्या आपने कहीं भी अहेरिया या भील आदिकोंकी आजीविका कष्टमय देखी है?" नहीं। फिर वे जो सर्वत्र सुखपूर्वक आजीविका करलेते हैं वह किसका प्रताप है?

इस प्रकार प्रत्येक स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र इन पांचो इन्द्रियोंने क्रमसे ऊपर लिखे मूजब जो मनके समक्ष अपनी सामर्थ्य प्रकट करनेके लिये व्यंग्यपूर्ण वचन कहे है उनसे यह बात अच्छी तरह मा

१—यह स्पर्शनेन्द्रियका कथन है। इसी प्रकार आगे क्रमसे रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्रका भी कथन है उसको भी घटित करलेना चाहिये।

लुम होती है कि मनने इन्द्रियोंके द्वारा संसारमें उस प्रभुशक्तिको सर्वत्र रोप रक्खा है कि जिसकी सामर्थ्य का कोई भी प्रतिविधान-प्रतीकार नहीं हो सकता । अत एव जगत्में अपनी प्रभुताको कायम करनेवाले और बडे वेगके साथ विश्वभरमें दौड लगानेवाले इस मनका मुमुक्षुओंको निरोध करना ही उचित है ।

इन्द्रियोंका स्वामी मन है । यदि वह वशमें न हो तो इन्द्रियोंको वह अपने विषयमें प्रवृत्त करता है । और यदि वशमें करलियाजाय तो इन्द्रियां भी स्वयं अपने विषयोंसे निवृत्त होजाती हैं । अत एव जितेन्द्रिय बननेके लिये—यदि इन्द्रियोंको अपने वशमें करना हो तो मनको जीतनेका प्रयत्न करना चाहिये । जैसा कि कहा भी है कि.—

इन्द्रियाणा प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मन प्रभु. ।
मन एव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रिय ॥

अत एव ग्रन्थकार इन्द्रियसंयमकी सिद्धिकेलिये मनको संयत करनेका मुमुक्षुओंको उपदेश देते हैः—

चिद्दृग्धीमुदुपेक्षितास्मि तदहो चित्तेह हृत्पङ्कजे,
स्फूर्जत्त्वं किमुपेक्षणीय इह मेऽभीक्ष्णं बहिर्वस्तुनि ।
इष्टद्विष्टधियं विधाय करणद्वारैरभिस्फारयन्,
मां कुर्याः सुखदुःखदुर्मतिमयं दुष्टैर्न दूष्येत किम् ॥ ४० ॥

१—उक्त पांचों इन्द्रियोंके कथनमें क्रमसे हस्तिनीस्पर्श दोष, जालके द्वारा डाली गई गोलीके रसास्वादनमें लम्पट अपने पति—मत्स्यके मरणका दु ख, गन्धके लोभी भ्रमरका कमलके कोशमें मरण, और रूपके देखनेमें उत्सुक पतङ्गकी मृत्यु, एव गीतध्वनिमें अनुरक्त मृगका वध व्यग्य है । जो बात स्पष्ट न कहकर अभिप्रायसे जाहिर की जाय उसको व्यग्य कहते है । स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र इन इन्द्रियोंने भी अपना कार्य स्पष्ट नहीं बताया है किन्तु जिनको उनके कार्यसे प्रचण्ड क्लेश उत्पन्न हुआ है उनका उल्लेख कर अभिप्रायसे वह जाहिर किया है ।

मैं, प्रमाणकी अपेक्षा स्वरूप और पररूपका संवेदयिता–स्वपरप्रकाशक, और शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा स्वरूपमात्रका अनुभविता स्वात्मोपलब्धिरूप, तथा अन्य विषयोंकी तरफ उन्मुख न हो कर परस्वरूपका भी ध्यान करनेवाला हूं। अत एव निश्चय नयकी अपेक्षामें मैं सम्पूर्ण अन्तरङ्ग और बाह्य विकल्पजालोंके विलीन होजानेसे आत्मामें विश्रान्ति लाभ कर अत्यंत आल्हादको प्राप्त हूं शुद्ध स्वात्माके अनुभवरूप अत्यंत सुखस्वभावमें परिणत हूं। और स्वरूप या पररूप किसीमें भी रागी द्वेषी न होकर उपेक्षास्वभाव--परम उदासीन ज्ञानमय हूं। अत एव हे मन! इस हृदयकमल–तत्वात् विषयोंके ग्रहणमें व्याकुल हुआ तू क्या इन बाह्य वस्तुओंके विषयमें जो कि सदा इन्द्रियगोचर और वस्तुतः उपेक्षणीय है–जिनमें कि रागद्वेषको न करके मध्यस्थभाव ही धारण करना चाहिये, मुझको इष्टानिष्टबुद्धि उत्पन्न कर इन इन्द्रियोंके द्वारा उनके विषयोपभोगकी तरफ उन्मुख बनाता हुआ मुझे सुख अथवा दुःखके मिथ्याज्ञानरूपमें परिणत कर सकता है? कभी नहीं। अथवा ऐसा भी हो सकता है; क्योंकि जो स्वयं दुष्ट–दोषयुक्त–विकृत हुआ करते हैं वे दूसरी शुद्ध–अविकृत वस्तुओं भी दोषयुक्त बनादिया करते हैं।

भावार्थ—हे मन! पापकर्मके निमित्तसे द्रव्यमनमें विलास करनेवाला तू जो सकल विकल्पोंसे शून्य भी चेतनको नाना विकल्पजालोंमें जटिल बना देता है सो तेरा यह कार्य अन्याय्य है। मैं इसकी निन्दा करता हूं।

उत्कृष्ट कुलीनताके अभिमानका स्मरण कराते हुए अन्तरात्माको उपालम्भगर्भित शिक्षा देते हैं:--

पुत्रो यद्यन्तरात्मन्नसि खलु परमब्रह्मणस्तत्किमक्षैः,
लौल्याद्यद्वल्लतान्ताद्रसमलिभिरसृग्रक्तपाभिर्व्रणाद्वा।
पायं पायं यथास्वं विषयमधमयैरेभिरुद्दीर्यमाणं,
भुञ्जानो न्यात्तरागारतिमुखमिमकं हंस्यमा स्वं सवित्रा ॥ ४१ ॥

हे अन्तरात्मन्! मनके दोष और आत्मस्वरूपके विचार करनेमें चतुर चिद्विवर्त! यदि तू परमब्रह्म–

परमात्माका पुत्र है तो भ्रमर अथवा मक्खियोंके द्वारा पुष्पोंसे पी पी कर उगले हुए रसके समान अथवा जोंकों के द्वारा घावमेंसे पी पी कर पुनः उद्वमन किये हुए खूनके समान पापप्रचुर इन्द्रियोंके द्वारा अपने अपने अनुरूप भोग भोगकर छोडे हुए इन पापबन्धके कारण, अत एव कुत्सित स्पर्शादिक विषयोंको, रागद्वेषको बढाते हुए भोगकर क्यों अपने पिता परमब्रह्मके साथ साथ अपना भी वध करता है।

भावार्थ—स्पर्शन रसन और घ्राण इन तीनों इंद्रियोंके विषय भोगकर भी फिर फिरसे भोगनेमें आते हैं। अत एव इनको वमन अथवा उगलनके समान समझना चाहिये। इसी लिये हे अन्तरात्मन्! तुझको परमात्माका पुत्र होकर-कुलीन होकर उसका सेवन करना उचित नहीं है। ऐसा करनेमे तेरा, तेरे पिता-परमात्मा दोनोंका ही घात होता है। यहांपर बहिरात्मपरिणतिको अन्तरात्माका घात और शुद्ध स्वरूपसे च्युत कराकर आत्माको रागद्वेषयुक्त बनाना परमात्माका घात समझना चाहिये।

इन्द्रियोंके द्वारा अनादि कालसे लगी हुई अविद्याकी वासनाके वशसे अनेक वार छिन्न हो गई हैं दुराशाएं जिसकी ऐसे चित्तकी विषयासक्तिको हटाते हुए उस योग्यताकी विधिका उपदेश देते हैं जिससे कि परम पदकी प्राप्ति हो सकती है ।: —

तत्राद्गोचरभुक्तये निजमुखप्रेक्षीण्यमूनीन्द्रिया,—
ण्यासेदु क्रियसेऽभिमानघन भोश्चेतः कयाऽविद्यया ।
पूर्या विश्वचरी कृतिन् किमिमकैरङ्कैस्तवाशा ततो,
विश्वैश्वर्यचणे सजत्सवितरि स्वे यौवराज्यं भज ॥ ४२ ॥

हे निबिड अभिमानके पुज मन ! क्या तुझको यह बात मालुम है कि अपने अपने उन प्रतिनियत इष्टानिष्ट विषयोंका अनुभव करनेमें स्वाधीन वृत्तिको धारण करनेवालीं इन इन्द्रियोंका उपस्थाता तुझको किस अविद्याने बनादिया है ? और हे कुशल ! हे गुणदोषोंके विचार तथा स्मरणादि करनेमें प्रधान ! सन्नद्ध एव

वर्तमान तथा प्रतिनियत रूपादि विषयोंको ही ग्रहण करनेवालीं इन रंक इन्द्रियोंसे क्या तेरी वह आशा जो कि सम्पूर्ण जगत्को कवलित करलेनेवाली है, पूर्ण हो सकती है ? नहीं, कभी नहीं। अत एव अपने अपने पिता परमब्रह्मके विश्वमात्रके ऐश्वर्यका भोक्ता समस्त वस्तुविस्तारका अधिपति रहते हुए तुझको यौवराज्य—शुद्ध निजात्माके अनुभवकी योग्यतारूप कुमारपदका ही सेवन करना चाहिये। एकत्ववितर्क अवीचारनामक शुक्लध्यानमें स्थिर होना चाहिये।

इन्द्रियोंके विषय, जिस समयमें उनको भोगा जाता है, उसी एक क्षणमें रमणीय मालुम होते हैं किन्तु अनन्तर समयमें ही उनका अत्यंत कटु अनुभव होने लगता है, इस बातको बताते हुए और साथ ही इस बातका भी ज्ञान कराते हुए कि वे आविर्भूत होकर अनन्तर समयमें ही तृष्णामें पुनः नवीनताको उद्भूत कर स्वयं तिरोभूत होजाते हैं। अत एव तृष्णासंतापको उत्पन्न करनेवाले और क्षणभंगुर हैं। फिर भी जो अज्ञानी लोक इन विषयोंके ही लिये अपने सम्मुख विपत्तियोंको बुलाते है उनकी कृतिपर अपशोच प्रकट करते हैं:—

सुधागर्वं खर्वन्त्याभिमुखहृषीकप्रणयिनः,
क्षणं ये तेप्यूर्ध्वं विषमपवदन्त्यङ्ग विषयाः।
त एवाविर्भूय प्रातिचितघनायाः खलु तिरो,—
भवन्त्यन्धास्तेभ्योप्यहह किमु कर्षन्ति विपदः ॥ ४२ ॥

अपने अपने विषयोंको ग्रहण करनेके लिये उत्सुक हुई इन्द्रियोंके साथ यथायोग्य - अपने अपने अनुरूप परिचय रखनेवाले जो विषय अमृतके भी गर्वका खण्डन करदेते हैं—फलतः जो सेवन करते समय अमृतसे भी अधिक रमणीय मालूम पडते हैं ऐसे अत्यत उत्तम गिने जानेवाले पुष्पमाला स्त्री चन्दन प्रभृति विषय भी अन्तमें सेवनक्षणके बाद ही मोह मूर्छा और संतापादिको उत्पन्न कर जहर ही उगलते हैं। इसके सिवाय ये आविर्भूत होकर —उपभोग्यताको धारण करके क्षणभरके बाद ही भोगोपभोगकी गृद्धिको बढाकर तिरोभूत—विलीन होजाते

है— उपभोगके योग्य नहीं रहते। इस प्रकार तत्त्वदृष्टिसे ये विषय आपातमात्र रमणीय किंतु परिपाककटु और तृष्णासंतापके जनक तथा क्षणभंगुर ही है। हाय फिर भी मालुम नहीं, ये अन्धे-तत्त्वस्वरूपसे अनभिज्ञ लोक इन विषयोंके लिये अपने सन्मुख विपत्तियोंको क्यों बुलाते है? जैसा कि कहा भी है कि:—

आरम्भे तापकान् प्राप्तावऽतृप्तिप्रतिपादकान्।
अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् काम कः सेवते सुधी. ॥

जो आरम्भमें संताप करनेवाले है और जो प्राप्त होकर भी अतृप्ति—असंतोषको जाहिर करनेवाले है तथा जिनका अन्तमें भी छोडना कठिन है ऐसे आदि मध्य और अन्त सर्वदा ही आत्माको संक्लिष्ट बनानेवाले इन विषयोंका, ऐसा कौन विवेकी होगा जो कि सेवन करना चाहे।

ये विषय इस लोक और परलोक दोनों ही जगह आत्माकी चैतन्यशक्तिको आच्छादित करने वाले हैं, इस बातको प्रकट करते है—

किमपीदं विषयमयं विषमतिविषमं पुमानयं येन।
प्रसभमभिभूयमानो भवे भवे नैव चेतयते ॥ ४४ ॥

यह विषयरूपी विष अपूर्व अथवा अलौकिक ही है जो कि अतिशय विषम—अत्यंत कष्टकर और ऐसा विलक्षण है कि जिससे सहसा मूर्छित हुआ यह जीव भवभवतक—अनन्त पर्यायोंमें भी सचेत नहीं हो सकता। भावार्थ—स्वसंवेदनका अनुभव करनेवाला भी जीव इन विषयोंके प्रसादसे ऐसे वैभाविक भावोंको प्राप्त हो जाता है कि जिससे वह फिर अनन्त भवतक भी ज्ञानचेतनाका लाभ नहीं कर सकता। अत एव जो साधु ज्ञानचेतनारूप अमृतका पान करनेकी इच्छा रखते है उनकेलिये इस विषयरूप विषसे विरत होना ही श्रेयस्कर है।

ऊपर अपहृतसंयमको उत्तम मध्यम और जघन्य इस तरह तीन प्रकारका बताया है। उसमेंसे उत्तम प्रकारसे इन्द्रिय परिहाररूप अपहृत संयमको भावनाका विषय बनानेके लिये उपदेश देकर मध्यम और ज

न्य रूपसे भी उसकी भावना करनेकेलिये उपदेश देनेका उपक्रम करते हैं:--

साम्यायाक्षजयं प्रतिश्रुतवतो मेऽमी तदर्थाः सुखं,
लिप्सोर्दुःखविभीलुकस्य सुचिराभ्यस्ता रतिद्वेषयोः।
व्युत्थानाय खलु स्युरित्यखिलशस्तानुत्सृजेद् दूरत,—
स्तद्विच्छेदननिर्दयानथ भजेत्साधून्परार्थोद्यतान् ॥ ४५ ॥

दुःखोंसे अतिशय डरनेवाले और सुखको प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले तथा उपेक्षासंयमको सिद्ध करनेकेलिये इन्द्रियाविजय स्वीकार करनेवाले—इन्द्रियोंको वश करनेमें प्रवृत्त हुए मेरे निकटवर्ती ये इन्द्रियोंके विषय क्षणमात्रमें राग या द्वेषको उत्पन्न कर सकते है। अत एव इन सम्पूर्ण विषयोंको दूर ही से छोडदेना उचित है। अथवा जो इस प्रकारसे विषयोंके छोडदेनेमें असमर्थ है उसको उन चिरकालके दीक्षित साधुओंकी सेवा करनी चाहिये जो कि इन विषयोंका विच्छेद करनेमें अत्यंत निर्दय और दूसरोंका प्रयोजन सिद्ध करनेके लिये सदा उद्यत रहा करते हैं।

भावार्थ—संयमके उत्तम मध्यम जघन्य तीनों भेदोंका स्वरूप पहले लिखा जा चुका है; जिसमेंसे उत्तम भेदका ऊपर अच्छी तरह वर्णन किया जा चुका है। जिसमें कि अन्तर्वृत्तिके द्वारा ही आत्माको विषयोंसे पृथक् रहना दिखाया गया है। किंतु यहांपर पहले वाक्यमें मध्यम संयमका और दूसरे वाक्यमें जघन्य संयमका उपदेश है क्योंकि पहले वाक्यमें बाह्य वृत्तिके द्वारा आत्मासे विषयोंके दूर करनेका उपदेश है और दूसरे वाक्यमें गुरुओंके निमित्तसे उनको पृथक् करनेका उपदेश है।

स्वयं ही विषयोंको दूर करनेरूप मध्यम अपहृतसंयमका पालन करनेकेलिये साधुओंको उद्यत करते हैं:—

मोहाज्जगत्युपेक्ष्येपि छेत्तुमिष्टेतराशयम्।
तथाभ्यस्तार्थमुज्झित्वा तदन्यार्थं पदं व्रजेत ॥ ४६ ॥

यह सम्पूर्ण चराचर जगत् वस्तुतः उपेक्षणीय ही है, इसमें न तो कोई वास्तवमें रागका ही विषय है और न द्वेषका ही फिर भी इसमें जो इष्टानिष्ट वासनाकी प्रवृत्ति होती है सो केवल मोह–अज्ञानका ही कार्य है । अत एव संयमके अभिलाषियोंको चाहिये कि वे उसको दूर करनेकेलिये उस पदको, जिसमें कि इष्टानिष्टतया पुनः पुनः विषयोंका सेवन किया जाता है; छोडकर उस पदका आश्रय लें जहांपर कि सम्पूर्ण विषय इष्टानिष्ट वासना-से सर्वथा अलिप्त है ।

मनको विक्षिप्त करदेनेवाले इन्द्रियविषयोंके दूर करनेमें कुशल गुरु आदिकोंका अभिनन्दन करते हैः–

चित्तविक्षेपिणोक्षार्थान् विक्षिपन् द्रव्यभावतः ।
विश्वाराट् सोयमित्यार्यैर्बहु मन्येत शिष्टराट् ॥ ४७ ॥

रागद्वेषादिको उद्भूत कर मनमें क्षोभ उत्पन्न करदेनेवाले द्रव्य और भावरूप–बाह्य और अन्तरङ्ग इन्द्रियोंके विषयोंका अच्छी तरह परित्याग करानेमें कुशल शिष्टराट्का उत्तम पुरुष 'यह जगन्नाथ है–सम्पूर्ण जगत्के अधीशकी तरह शोभायमान होनेवाला है' यह कहकर अत्यंत सम्मान करते है ।

भावार्थ—तत्त्वार्थोंका श्रवण या ग्रहण आदि करके जिन्होंने अनेक गुणोंका सम्पादन किया है ऐसे शिष्ट पुरुषोंमें जो उनके अधीशकी तरह शोभायमान होता है उसको शिष्टराट् कहते है । ऐसे पुरुषके प्रसादसे ही मनको क्षुब्ध बनानेवाले समस्त विषय दूर किये जा सकते हैं । अत एव आर्य पुरुषोंके द्वारा वह ससारके स्वा-मीके समान अतिशय सम्मानित होता है ।

इंद्रियसंयमकी तरह प्राणिपरिहाररूप अपहृत संयम भी उत्तम मध्यम और जघन्य इस तरह तीन प्रकार का बताया है । इनका विस्तृत रूपमे वर्णन करते है—

बाह्यं साधनमाश्रितो व्यसुवसत्यन्नादिमात्रं स्वसाद्,–
भूतज्ञानमुखस्तदभ्युपसृतान् जन्तून्यतिः पालयन्

स्वं व्यावर्त्य ततः सतां नमसितः स्यात् तानुपायेन तु,
स्वान्मार्जन् मृदुना प्रियः प्रतिलिखन्नप्यादृतस्तादृशा ॥ ४८ ॥

ज्ञान और चारित्रकी क्रियाओंको अपने अधीन रखनेवाला और उनके बाह्य साधन प्रासुक वसतिका तथा अन्न पुस्तकादि मात्रको ही ग्रहण करनेवाला जो संयमी उन प्रासुक भी वसतिका आदिमें दैवात् आकर पड जानेवाले जीवजन्तुओंके वियोग या उपघात आदिका विचार न करके स्वय अपनेको ही उनसे अलग रखकर उन जीवोंकी रक्षा करता है वही उत्तम प्राणिपरिहाररूप अपहृत संयमका पालक समझा जाता है। ऐसे संयमीकी साधुजन भी पूजा करते हैं। किंतु जो साधु इस तरह अपनेको ही उन जीवोंसे पृथक् न रखकर अपने शरीरादिके ऊपर आकर पडजानेवाले उन जीवोंका उक्त पांच गुणोंसे युक्त कोमल पीछी आदिके द्वारा मार्जन करके उनकी रक्षा करता है वह मध्यम प्राणिपरिहाररूप अपहृत संयमका पालन करनेवाला मानागया है और उसको सत्पुरुष बडी प्रेमकी दृष्टिसे देखते हैं। तथा जो यति उस तरहकी पीछी न मिलनेपर उसके समान किसी भी दूसरी कोमल वस्तुसे उन जीवोंका शोधन करता है वह जघन्य प्राणिपरिहाररूप अपहृत संयमका पालन करनेवाला मानागया है और वह भी सत्पुरुषोंकेलिये आदरणीय होता है।

अपहृत संयमको बढानेकेलिए आठ प्रकारकी शुद्धिका उपदेश देते हैं:—

भिक्षेर्याशयनासनाविनयव्युत्सर्गवाङ्मनस्तनुषु ।
तन्वन्नष्टसु शुद्धिं यतिरपहृतसंयमं प्रथयेत् ॥ ४९ ॥

भिक्षा ईर्या शयनासन विनय व्युत्सर्ग और मन वचन काय इन आठ विषयोंमें संयमियोंको निरवद्यता बढाते हुए अपहृत संयमको बढानेका प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि इन शुद्धियोंके निमित्तसे ही संयमकी वृद्धि हो सकती है।

भिक्षाशुद्धिका वर्णन पिण्डशुद्धिके प्रकरणमें करचुके हैं। फिर भी यहांपर इतना विशेष समझलेना चाहि-

ये कि मुनियोंकी भिक्षा गोचार अक्षम्रक्ष उदराग्निप्रशमन भ्रामरी और श्वभ्रपूरण इस तरह पांच प्रकारकी मानी है। गौके समान भक्षण करनेको गोचार कहते हैं। जिस प्रकार गौ अपने प्रयोक्ताके सौन्दर्य आदिकी तरफ निरीक्षण न करके और उचित स्वाद वगैरहकी भी अपेक्षा न करके जैसा कुछ प्राप्त होजाता है उसीको निर्विशेषरूपसे ग्रहण किया करती है, उसी प्रकार जो साधु दाताके गुणोंकी परीक्षामें न लगकर और न आहारके स्वाद अथवा उचित संयोजना आदिकी ही अपेक्षा करके यथाप्राप्त भोजनको ग्रहण करता है उसकी इस भिक्षाको गोचार कहते हैं। गाडीका पहिया जिस काष्ठपर ठहरा रहता है उसको किसी न किसी स्नेह–तैल आदिसे औंगना पडता है। क्योंकि उसके औंगे विना वाक्षेप भरी हुई गाडी अभीष्ट स्थानतक पहुंच नहीं सकती। उसी प्रकारसे आयुष्यादिको स्थिर रखनेकेलिये और रत्नत्रयरूप गुणोंके भारसे पूर्ण शरीररूपी गाडीको अभीष्ट स्थान तक पहुचानेकेलिये जो यथाविधि किसी भी निर्दोष आहारका ग्रहण करना उसको अक्षम्रक्षण कहते हैं। जिस प्रकार खजानेमें आग लगजानेपर किसी भी जलसे उसको बुझाया जाता है; उसमें यह जल पवित्र है और यह अपवित्र है ऐसा विचार नहीं किया जाता। इसी प्रकार उदराग्निके प्रज्वलित होनेपर उसको शान्त करनेकेलिये जो यह सरस है या यह विरस है ऐसा विचार न करके आहार ग्रहण किया जाय उसको उदराग्निप्रशमन कहते हैं। जिस प्रकार भ्रमर पुष्पको किसी भी प्रकारकी पीडा न देकर उससे आहार ग्रहण करता है उसी प्रकार जो मुनि दाताको किसी भी तरहसे बाधित न करके उससे आहार्य सामग्रीको ग्रहण करता है, उसकी भिक्षाको भ्रामरी कहते हैं। जिस प्रकार कचरा वगैरहका ख्याल न करके जिस किसी भी तरह गढेको भरदिया जाता है उसी प्रकार यह स्वादु है या यह अस्वादु है ऐसा विचार न करके यथाप्राप्त भोजनके द्वारा जो उदररूपी गड्ढेका भरदेना उसको श्वभ्रपूरण कहते हैं।

ईर्या व्युत्सर्ग और वचन इन तीन प्रकारकी शुद्धियोंका वर्णन समितियोंके प्रकरणमें आचुका है, और शयनासन तथा विनय शुद्धिका वर्णन आगे चलकर तपके प्रकरणमें करेंगे; अत एव यहांपर इनके दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है। रही मनःशुद्धि सो उसका स्वरूप इस प्रकार है कि कर्मोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली और रागादिके उद्रेकसे रहित तथा जिसमें मोक्षमार्गकी रुचिके द्वारा अतिशय निर्मलता प्राप्त हो चुकी है ऐसी

भावशुद्धिको मनःशुद्धि कहते हैं। सम्पूर्ण शुद्धियोंमें प्रधान इसी शुद्धिको माना है। क्योंकि चारित्रका प्रकाश इसीसे हो सकता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

सर्वासामेव शुद्धीनां भावशुद्धिः प्रशस्यते।
अन्यथालिङ्ग्यते पत्यमन्यथालिङ्ग्यते पतिः॥

सबमें प्रशस्त भावशुद्धि ही गिनी गई है। क्योंकि देखते हैं कि माता जो संतानका आलिङ्गन करती है उसमें और पतिका जो आलिङ्गन करती है उसमें एकसी क्रियाके रहते हुए भी परिणामोंका बड़ा भारी अन्तर है।

शरीरकी ऐसी चेष्टाको कायशुद्धि कहते हैं जो कि वस्त्र भूषण और संस्कारादिसे सर्वथा रहित हो तथा बालकके समान यथाजात रूपसे युक्त किंतु जिसमें किसी भी प्रकारसे अङ्गका विकार नहीं पाया जाता, तथा जिसके देखते ही लोगोंको ऐसा जान पडे मानों यह मूर्तिमान् प्रशम ही है। ऐसी कायशुद्धि ही अभयपदका कारण हो सकती है। क्योंकि इसके होनेपर अपनेको दूसरेसे और दूसरेको अपनेसे किसी भी तरह भय नहीं हो सकता।

यद्यपि इन आठ शुद्धियोंका वर्णन समिति आदिके प्रकरणमें आजाता है फिर भी उसका यहांपर पृथक् वर्णन जो किया है उसका अभिप्राय यही है कि बाल या अशक्त भी मुनिवर्ग अत्यंत दुष्कर भी संयमका पालन करनेमें सदा प्रयत्नशील बने रहें।

इस प्रकार अपहृत संयमका वर्णन करके क्रमप्राप्त उपेक्षा संयमका अथवा उसके धारण करनेवालेका स्वरूप बताते हैं:—

तेमी मत्सुहृदः पुराणपुरुषा मत्कर्मकल्मषोदयैः,
स्वैः स्वैः कर्मभिरीरितास्तनुमिमा मन्नेतृकां मद्धिया।

चञ्चस्यन्त इमं न मामिति तदाबाधे त्रिगुप्तः परा,—
क्लिष्टयोत्सृष्टवपुर्बुधः समतया तिष्ठत्युपेक्षायमी ॥ ५० ॥

देश कालके विधानको जाननेवाला और आत्मा तथा शरीरके भेदज्ञानसे युक्त उपेक्षासंयमका धारक यति मानसिक वाचिक और कायिक तीनों ही प्रकारके व्यापारोंका अच्छी तरह निरोध करके तथा शरीरमें सर्वथा ममत्वका परित्याग करके उपद्रव करनेवाले अथवा हिंसादिक जीवजतुओंके द्वारा अनेक प्रकारका दुःख दिया जानेपर भी उनको किसी भी तरहका क्लेश नहीं देता किंतु सदा समता परिणामोंको ही धारण किया करता है। किसी भी पदार्थको वह इष्ट या अनिष्ट समझकर उसमें राग या द्वेष नहीं करता। क्योंकि वह सोचता है कि ये व्याघ्रादिक जो मेरे इस शरीरका उग्रताके साथ और वारवार भक्षण करते हैं सो बिचारे समझते हैं कि यह शरीर ही मैं हूं। किंतु ऐसा नहीं है, मैं इस शरीरका केवल प्रयोक्ता हूं। जिस प्रकार कहार यदि बैंगीको ढोता है, तो उसको उसका प्रयोक्ता कहा जा सकता है। पर बैंगीको ही कहार नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार मैं भी इस शरीरका वाहक मात्र हूं। शरीर ही मैं नहीं कहा जा सकता। किंतु ये विचारे मेरे शरीरको ही मुझे समझकर भक्षण कर रहे हैं। सो इनका यह अज्ञान है। तथा इसमें इनका कोई अपराध भी नहीं है। क्योंकि मेरे ही पूर्वसंचित उपघातादि कर्मके उदयका साहाय्य पाकर फल दे सकनेवाले अपने पूर्वार्जित परघातादि कर्मोंके उदयसे प्रेरित होकर ये ऐसा कर रहे हैं। किंतु शुद्धद्रव्यदृष्टिसे यदि देखा जाय तो इनमें और मुझमें कोई अन्तर नहीं है। ये मेरे ही समान हैं। क्योंकि "सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया" शुद्ध स्वरूपकी अपेक्षासे सभी जीव शुद्ध हैं। अथवा ये मेरे उपकारी मित्र ही हैं। क्योंकि पिता आदि पर्यायोंको धारण कर इस अनादि संसारके भीतर कभी न कभी उन्होंने मेरा उपकार ही किया होगा। जैसा कि कहा भी है कि —

१–उपघात और परघात दोनों कर्म साथ ही उदयमें आकर फल दे सकते हैं। जो घात करनेवाला है उसके परघात प्रकृतिका और जिसका घात हो उसके उपघात प्रकृतिका उदय होता है।

सर्वे तातादिसवन्धा नासन् यस्याङ्गिनोङ्गिमि ।
सर्वैरनेकधा सार्द्धं नासावऽङ्गयपि विद्यते ॥

अतएव मुझसे सर्वथा भिन्न शरीरका यदि ये भक्षण करते है तो भले ही करो। मेरी इससे क्या हानि लाभ है। क्योंकि स्वसवेदनके द्वारा जिसका प्रत्यक्ष हो सकता है ऐसे टकोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वभाव आत्माका तो ये कुछ भक्षण कर ही नहीं रहे है। शरीरके निमित्तसे यह केवल व्यवहार है कि मेरा भक्षण कर रहे है। वास्तवमें तो जो आत्मस्वरूपकी तरफ लीन हो रहा है उसका बाह्य दुःखोंकी तरफ लक्ष्य भी नहीं जाता। और न उनसे उसको किसी प्रकारके दु.खका अनुभव ही होता है। जैसा कि कहा भी हैः—

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारवहि स्थिते ।
जायते परमानन्द कश्चिद्योगेन योगिन ॥
आनन्दो निर्दहत्युद्य कर्मेन्धनमनारतम् ।
नचासौ खिद्यते योगी बहिर्दु खेष्वचेतन ॥
आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृत ।
तपसा दुष्कृत घोर भुञ्जानोपि न खिद्यते ॥

संयमका वर्णन करके तपोरूप धर्मका व्याख्यान करते हैं। यह धर्म उपेक्षासयमकी सिद्धिका कारण है। अत एव जो साधु उसका पालन करते हैं उनको वैसा करनेकेलिये अधिक उत्साहित करते हैः—

उपेक्षासंयमं मोक्षलक्ष्मीश्लेषविचक्षणम् ।
लभन्ते यमिनो येन तच्चरन्तु परं तपः ॥ ५१ ॥

संयमियोंको स्वाध्याय और ध्यानस्वरूप उत्कृष्ट तपका अनुष्ठान अवश्य ही करना चाहिये। क्योंकि केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टयरूप मोक्षलक्ष्मीका आलिङ्गन करानेमें चतुर दूतके समान इस उपेक्षासंयमकी प्राप्ति इस तपके प्रसादसे ही हो सकती है।

इस प्रकार तपोधर्मका निरूपण करके क्रमप्राप्त त्यागधर्मका वर्णन करते हैं:—

शक्त्या दोषैकमूलत्वान्निवृत्तिरुपधेः सदा ।
त्यागो ज्ञानादिदानं वा सेव्यः सर्वगुणाग्रणीः ॥५२॥

सम्पूर्ण परिग्रह रागादिक दोषोंके उत्पन्न करनेमें प्रधान कारण हैं। अत एव साधुओंको शक्तिके अनुसार उनका त्याग ही करना चाहिये। इसीको दान कहते हैं। अथवा ज्ञानादिके देनेको भी दान कहते हैं। अत एव ज्ञानियोंको इसका भी निरंतर अभ्यास करना चाहिये। क्योंकि यह दान धर्म सम्पूर्ण गुणोंमें प्रधान माना गया है।

यहांपर यह प्रश्न हो सकता है कि दान और उत्सर्ग तथा शौच इन तीनोंमें क्या अन्तर है? क्योंकि तीनों जगहपर परिग्रहके छोडनेका ही उपदेश दिया जाता है।

उत्तर—त्याग और उत्सर्गमें अनियत काल और नियतकालका अन्तर है। क्योंकि अपनी शक्तिके अनुसार अनियत कालके लिये परिग्रहके छोडनेको त्याग और नियत कालकेलिये सम्पूर्ण परिग्रहोंके छोडनेको उत्सर्ग अथवा कायोत्सर्ग कहते हैं। इसी प्रकार शौच और दानमें असंनिहित और संनिहित विषयोंके छोडनेकी अपेक्षासे भेद है। असंनिहित विषयोंमें भी जो कर्मके उदयसे गृद्धि हुआ करती है शौचधर्ममें उसका भी परित्याग किया जाता है; किंतु दानधर्ममें संनिहित— निकटवर्ती ही विषय छोडे जाते हैं। यह परस्परमें भेद समझना चाहिये।

दूसरे सम्पूर्ण दानोंके माहात्म्यकी अपेक्षा ज्ञानदानका माहात्म्य अधिक है इस बातको प्रकट करते हैं:—

पुण्याब्जर्मं किलैति भिक्षुरभयाद्वा तत्त्वाद्भेषजा-
द्रोगान्तरसंभवादशनतश्चोत्कर्षतस्ताडनम्।

ज्ञानात्त्वाशुभवन्मुदो भवमुदां तृप्तोऽमृते मोदते,
तद्दातृंस्तिरयन् ग्रहानिव रविर्भातीतरान् ज्ञानदः ॥ ५३ ॥

अभयदानादिका फल जैसा कुछ आगममें बताया गया है वह प्रसिद्ध है। अभयदानके प्रसादसे साधुको सुख प्राप्त होता है-उसको किसीसे भी भय नहीं हो सकता। किंतु यह फल उसको ज्यादेसे ज्यादे उसी एक भवकेलिये प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार औषधके दानसे रोगकी निवृत्तिरूप फल भी तभीतककेलिये मिल सकता है जब तक कि और कोई दूसरा रोग उत्पन्न नहीं होजाता। तथा आहारदानसे भी साधुको ज्यादेसे ज्यादे उसी एक दिनकेलिये औदर्यशान्तिलाभ फल मिल सकता है, अधिक नहीं। किंतु तत्क्षण आनन्द उत्पन्न करनेवाले ज्ञानके प्रसादसे साधु संसारके सम्पूर्ण सुखोंमें तृप्तिलाभ कर- कृतकृत्य होकर अमृतपदमें जाकर विराजमान होजाता है और वहांपर नित्यसुखसे आल्हादित रहा करता है। अत एव जिस प्रकार सूर्य शेष सम्पूर्ण नक्षत्रोंको अपने प्रकाशके द्वारा तिरोहित कर सबके ऊपर प्रकाशित होता है उसी प्रकार ज्ञानका दान करनेवाला साधु भी अपने माहात्म्यसे अभय भेषज और भोजन तीनोंहि प्रकारके दान करनेवालोंको अधःकृत कर देता है।

भावार्थ—दान चार प्रकारका माना है, अभय, औषध, आहार, और ज्ञान। इनमेंसे आदिकी तीन वस्तुएं यदि साधुओंको दी जांय तो उनसे उनको उतना लाभ नहीं हो सकता जितना कि ज्ञानके प्रसादसे हो सकता है। क्योंकि आत्माका वास्तविक कल्याण ज्ञानहीसे हो सकता है। अतएव ज्ञानके दानका माहात्म्य भी इतर दानोंके माहात्म्यकी अपेक्षा उत्कृष्ट ही माना गया है।

क्रमप्राप्त आकिंचन्य धर्मका स्वरूप बतानेके अभिप्रायसे उसका पालन करनेवालोंको जो उत्कृष्ट तथा अद्भुत फल प्राप्त हुआ करता है उसको प्रकट करते हैं।

अकिञ्चनोऽहमित्यस्मिन् पथ्यक्षुण्णचरे चरन् ।
तददृष्टचरं ज्योतिः पश्यत्यानन्दनिर्भरम् ॥ ५४ ॥

मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले ये शरीरादिक भी मेरे नहीं है ऐसे आकिंचन्य धर्मरूप और अपूर्व-जिनका कि पहले कभी भी अनुभव नहीं किया है, आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके उपायमें विहार करनेवाला साधु उस आनन्द रससे पूर्ण एक टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकभावस्वभाव आत्मज्योतिका अनुभव करता है जो कि पहले कभी भी अनुभवमें नहीं आसकी है।

भावार्थ— आत्मासे सर्वथा असम्बद्ध परिग्रहोंकी तो बात ही क्या, सम्बद्ध शरीरादिक परिग्रहमें भी संस्कारादिको छोडकर " ये मेरे है " इस तरहके मूर्च्छारूप परिणामोंका त्याग करना इसको आकिंचन्य धर्म कहते हैं।

ब्रह्मचर्य धर्मका स्वरूप बताते हैः—

चरणं ब्रह्मणि गुरावस्वातन्त्र्येण यन्मुदा ।
चरणं ब्रह्मणि परे तत्स्वातन्त्र्येण वर्णिनः ॥ ५५ ॥

मैथुन कर्मसे सर्वथा निवृत्त वर्णीकी आत्मतत्त्वके उपदेष्टा गुरुओंकी प्रीतिपूर्वक अधीनता स्वीकार कर की गई प्रवृत्तिको अथवा ज्ञान और आत्माके विषयमें स्वतंत्रतया की गई प्रवृत्तिको ब्रह्मचर्य कहते हैं। भावार्थ— जो चतुर्थ व्रतको स्वीकार करनेवाला साधु व्यवहारसे अध्यात्मगुरुओंकी और परमार्थसे अपनी आत्माकी ही अधीनता स्वीकार करके प्रीतिपूर्वक व्यवहार करता है वही उत्कृष्ट और स्वच्छन्द ज्ञानका अनुभव करता है।

इस प्रकार दश धर्मोंका वर्णन करके अंतमें इन सभीके साथ उत्तम विशेषण लगानेकी आवश्यकता और गुप्ति आदिसे इनका पृथक् वर्णन करनेका कारण बताते हैंः—

गुप्त्यादिपालनार्थं तत एवापोद्धृतैः प्रतिक्रमवत् ।
दृष्टफलनिर्व्यपेक्षैः क्षान्त्यादिभिरुत्तमैर्यतिर्जयति ॥ ५६ ॥

पूर्वकृत दोषोंके निराकरणको प्रतिक्रमण कहते हैं। जिस प्रकार गुप्ति समिति और व्रतोंका पालन करनेकेलिये प्रतिक्रमणका पृथक् उल्लेख किया गया है उसी प्रकार उनका पालन और रक्षण आदि करनेके लिये क्षमादिकोंसे पृथक् वर्णन किया गया है। जो साधु ख्याति लाभ पूजा आदि ऐहिक-दृष्ट फलकी अपेक्षा न रखकर इन उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंके द्वारा सदा शुद्धोपयोगमें प्रयत्नशील बना रहता है वह सर्वोत्कृष्ट पदको प्राप्त करलेता है।

इस प्रकार दश धर्मोंका निरूपण करके, इस अध्यायकी आदिमें तपरूपी समुद्रके तीर्थरूपमें जिनका निर्देश किया है उन अनुप्रेक्षाओंका वर्णन क्रमप्राप्त है। जिन मुमुक्षुओंका चित्त निरंतर इन अनुप्रेक्षाओंके चिन्तवनमें लगा रहता है उनको मोक्षमार्गके अनेक विघ्नोंसे युक्त रहते हुए भी किसी भी प्रकारका प्रत्यवाय—अपराध नहीं लग सकता। अत एव उनका निरंतर चिन्तवन करते रहनेकेलिये साधुओंको प्रेरणा करते हैं।

बहुविघ्नेपि शिवाध्वनि यान्निमधियश्चरन्त्यमन्दमुदः ।
ताः प्रयतैः संचिन्त्या नित्यमनित्याद्यनुप्रेक्षाः ॥ ५७ ॥

जिन अनुप्रेक्षाओंसे अपनी मतिको निरत रखनेवाले साधु जन मोक्षमार्गमें अनेक विघ्नोंके उपस्थित होते हुए भी आनन्दके उद्रेकको प्राप्त होकर यथेच्छ विहार करते रहते हैं उन अनित्यादिक बारहो अनुप्रेक्षाओंका मुमुक्षुओंको प्रयत्नशील होकर शरीरादिकके विषयमें नित्य ही चिन्तवन करते रहना चाहिये।

आयु काय इन्द्रिय बल यौवन आदिमें क्षणभंगुरताका विचार करनेसे जो मोहका उपमर्दन होता है उसको दिखाते हैः—

चुलुकजलवदायुः सिन्धुवेलावदङ्गं,
करणबलममित्रप्रेमवद्यौवनं च ।

१—अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ, धर्मस्वाख्यातत्व।

मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले ये शरीरादिक भी मेरे नहीं है ऐसे आकिंचन्य धर्मरूप और अपूर्व-जिनका कि पहले कभी भी अनुभव नहीं किया है, आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके उपायमें विहार करनेवाला साधु उस आनन्द रससे पूर्ण एक टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकभावस्वभाव आत्मज्योतिका अनुभव करता है जो कि पहले कभी भी अनुभवमें नहीं आसकी है।

भावार्थ— आत्मामे सर्वथा असम्बद्ध परिग्रहोंकी तो बात ही क्या, सम्बद्ध शरीरादिक परिग्रहमें भी संस्कारादिको छोडकर "ये मेरे हैं" इस तरहके मूर्च्छारूप परिणामोंका त्याग करना इसको आकिंचन्य धर्म कहते हैं।

ब्रह्मचर्य धर्मका स्वरूप बताते हैं:—

चरणं ब्रह्माणि गुरावस्वातन्त्र्येण यन्मुदा।
चरणं ब्रह्माणि परे तत्स्वातन्त्र्येण वर्णिनः॥ ५५॥

मैथुन कर्मसे सर्वथा निवृत्त वर्णीकी आत्मतत्त्वके उपदेष्टा गुरुओंकी प्रीतिपूर्वक अधीनता स्वीकार कर की गई प्रवृत्तिको अथवा ज्ञान और आत्माके विषयमें स्वतंत्रतया की गई प्रवृत्तिको ब्रह्मचर्य कहते हैं। भावार्थ— जो चतुर्थ व्रतको स्वीकार करनेवाला साधु व्यवहारसे अध्यात्मगुरुओंकी और परमार्थसे अपनी आत्माकी ही अधीनता स्वीकार करके प्रीतिपूर्वक व्यवहार करता है वही उत्कृष्ट और स्वच्छन्द ज्ञानका अनुभव करता है।

इस प्रकार दश धर्मोंका वर्णन करके अंतमें इन सभीके साथ उत्तम विशेषण लगानेकी आवश्यकता और गुप्ति आदिसे इनका पृथक् वर्णन करनेका कारण बताते हैं:—

गुप्त्यादिपालनार्थं तत एवापोद्धृतैः प्रतिक्रमवत्।
दृष्टफलनिर्व्यपेक्षैः क्षान्त्यादिभिरुत्तमैर्यतिर्जयति॥ ५६॥

पूर्वकृत दोषोंके निराकरणको प्रतिक्रमण कहते हैं। जिस प्रकार गुप्ति समिति और व्रतोंका पालन करनेकेलिये प्रतिक्रमणका पृथक् उल्लेख किया गया है उसी प्रकार उनका पालन और रक्षण आदि करनेके लिये क्षमादिकोंसे पृथक् वर्णन किया गया है। जो साधु ख्याति लाभ पूजा आदि ऐहिक-दृष्ट फलकी अपेक्षा न रखकर इन उत्तम क्षमा आदि दश धर्मोंके द्वारा सदा शुद्धोपयोगमें प्रयत्नशील बना रहता है वह सर्वोत्कृष्ट पदको प्राप्त करलेता है।

इस प्रकार दश धर्मोंका निरूपण करके, इस अध्यायकी आदिमें तपरूपी समुद्रके तीर्थरूपमें जिनका निर्देश किया है उन अनुप्रेक्षाओंका वर्णन क्रमप्राप्त है। जिन मुमुक्षुओंका चित्त निरंतर इन अनुप्रेक्षाओंके चिन्तवनमें लगा रहता है उनको मोक्षमार्गके अनेक विघ्नोंसे युक्त रहते हुए भी किसी भी प्रकारका प्रत्यवाय—अपराध नहीं लग सकता। अत एव उनका निरंतर चिन्तवन करते रहनेकेलिये साधुओंको प्रेरणा करते हैं।

बहुविघ्नेपि शिवाध्वनि यान्निघ्नधियश्चरन्त्यमन्दमुदः।
ताः प्रयतैः संचिन्त्या नित्यमनित्याद्यनुप्रेक्षाः॥ ५७ ॥

जिन अनुप्रेक्षाओंसे अपनी मतिको निरत रखनेवाले साधु जन मोक्षमार्गमें अनेक विघ्नोंके उपस्थित होते हुए भी आनन्दके उद्रेकको प्राप्त होकर यथेच्छ विहार करते रहते हैं उन अनित्यादिक बारहो अनुप्रेक्षाओंका मुमुक्षुओंको प्रयत्नशील होकर शरीरादिकके विषयमें नित्य ही चिन्तवन करते रहना चाहिये।

आयु काय इन्द्रिय बल यौवन आदिमें क्षणभंगुरताका विचार करनेसे जो मोहका उपमर्दन होता है उसको दिखाते हैः—

चुलुकजलवदायुः सिन्धुवेलावदङ्गं,
करणबलममित्रप्रेमवद्यौवनं च।

१—अनित्य, अशरण, ससार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ, धर्मस्वाख्यातत्व।

स्फुटकुसुमवदेतत प्रक्षयैकव्रतस्थं,
कचिदपि विमृशन्तः किं नु मुह्यन्ति सन्तः ॥ ५८ ॥

क्या वे सत्पुरुष कभी भी आयु आदिके विषयमें मोहको प्राप्त हो सकते है ? कभी नहीं। जो कि आयु-आदिके स्वरूपका निरंतर इस प्रकारसे विचार करते रहते है कि यह आयु—भवको धारण करनेकेलिये कारण-भूत कर्मविशेष अंजलीके जलके समान क्षणभंगुर है। जिस प्रकार अंजलीमें भरा हुआ जल छिद्रोंमें होकर टपक टपक कर शीघ्र ही समाप्त होजाता है उसी प्रकार आयुःकर्म भी प्रतिक्षण उदयमें आ आकर सहसा समाप्त होजाता है। यह शरीर लवण समुद्रकी वेलाके समान अनित्य है। जिस प्रकार समुद्रके जलका उच्छ्वास सदा एकसा नहीं रहता, जहांतक उसे बढना चाहिये वहांतक बराबर बढता जाता है और फिर जहांतक उसे घटना चाहिये वहांतक बराबर घटता जाता है। इसी प्रकार यह शरीर भी अपने प्रमाणतक बराबर धातु उपधातुओंके द्वारा बढता जाता है और उसके बाद क्रमसे घटकर क्षीण हो जाता है। इन्द्रियोंका सामर्थ्य—विषयग्रहण करनेकी शक्ति शत्रुओंके प्रेमके समान है क्योंकि उचित उपचार होनेपर भी ये व्यभिचार ही प्रकट करती हैं। जिस प्रकार योग्य आसनादि देकर अनुकूलताकी तरफ उन्मुख किया हुआ भी शत्रु प्रेम विघटित होनेमें समयकी अपेक्षा नहीं रखता उसी प्रकार इन्द्रियां भी पथ्य आहार विहारके द्वारा सुपुष्ट की जानेपर भी अपनी सामर्थ्यके छोडनेमें बुद्धिके अपराधको ढूंढा करती है। यह यौवन खिले हुए फूलके समान शीघ्र ही विकारको प्राप्त होजानेवाला है। जिस प्रकार फूल खिलते ही कुछ क्षणकेलिये अपनी मनोहरता दिखाकर क्षणमात्रमें ही कुमला जाता है उसी प्रकार यह यौवन भी कुछ क्षणोंके लिये चमत्कार दिखाकर मुरझा जाता या विकारको प्राप्त होजाता है। इस प्रकार ये आयु शरीर इन्द्रिय और यौवन सभी क्षणभ-ङ्गुर है। इन्होंने सर्वथा नष्ट होनेका उत्कृष्ट व्रत ले रक्खा है। अत एव इनका निर्मूल प्रलय अवश्यम्भावी है।

भावार्थ—आयु आदि अन्तरङ्ग पदार्थोंकी क्षणभङ्गुरताका निरंतर चिन्तवन करनेवाला मुमुक्षु उनमें कभी भी मोहित नहीं हो सकता—उन विषयोंमें कभी भी उसके ममत्वबुद्धि उत्पन्न नहीं हो सकती, और न उनके

विषयमें उसको नित्यताका ही प्रत्यय हो सकता है ।

इस प्रकार आयु आदि अन्तरङ्ग पदार्थोंकी क्षणभंगुरताका विचार करके संपत्ति आदि बाह्य पदार्थोंकी भी अनित्यताको प्रकट करते हैं:—

छाया माध्यान्हिकी श्रीः पथि पथिकजनैः सङ्गमः सङ्गमः स्वैः
स्वार्थाः स्वप्नेक्षितार्थाः पितृसुतदयिता ज्ञातयस्तोयभङ्गाः ।
सन्ध्यारागोनुरागः प्रणयरसमृजां न्हादिनीदाम त्रैस्थं,
भावाः सैन्यादयोन्येप्यनुविदधति तान्येव तद्ब्रह्म दुग्धः ॥५९॥

लक्ष्मी स्थिर रहनेवाली नहीं है, वह मध्यान्हकालकी छायाके समान क्षणमात्रकेलिये अपना प्रकाश दिखाकर तिरोभूत होजानेवाली है । इसी प्रकार और भी दृष्टांत व दार्ष्टांत समझने चाहिये । जैसे बन्धु बान्धवोंके साथ संयोग भी ऐसा ही है जिस तरहसे कि मार्गमें पथिकोंके साथ कुछ क्षणके लिये संयोग हो जाया करता है । जिस प्रकार भिन्न भिन्न दिशाओंसे आकर पथिकजन विश्रामके लिये एक वृक्षकी छायामें कुछ क्षणके लिये एकत्रित हो जाते है किंतु थोडी ही देर बाद वे अपने अपने स्थानको चल जाते है-वियुक्त होजाते हैं । उसी प्रकार भिन्न भिन्न गतियोंसे आये हुए जीव अपने अपने कर्मके अनुसार आयुका उपभोग करनेके लिये एक ही कुल या जातिमें कुछ क्षणके लिये इकट्ठे हो जाते हैं और उसके बाद अपने अपने कर्मके अनुसार भिन्न भिन्न गतियोंमें चले जाते हैं । अतएव बन्धुबान्धवोंका संयोग मार्गमें होनेवाले पथिकसंयोगके समान क्षणभगुर है । इन्द्रियोंके विषय भी स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंके समान अकिंचित्कर ही है । क्योंकि जिस प्रकार स्वप्नमें देखे हुए पदार्थ उस समय देखने मात्रके ही हैं, निद्रा खुलते ही सब विलीन होजानेवाले हैं । उनमे कोई भी वास्तविक कार्य सिद्ध नहीं हो सकता । उसी प्रकार इन्द्रियोंके विषय भी उपभोगके समयमें ही मनोहर मालुम पड़नेवाले हैं । उसके बाद उनसे कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता । माता पिता लड़का लडकी और स्त्री आदि जितने कुटुम्बी जन हैं वे

सब भी जलकल्लोलके समान क्षणभंगुर ही हैं। जिस प्रकार जलकी कल्लोल अपना चमत्कार दिखाकर क्षणमात्रमें तिरोभूत हो जाती है उसी प्रकार कुटुम्बी जन भी कुछ कालतक ठहरकर विलीन हो जाते हैं। प्रेमरसको ही सदा प्रगट करनेवाले मित्र प्रभृतिका अनुराग भी सन्ध्याकालके रागके ही समान है। जिस प्रकार सन्ध्याके समय कुछ ही क्षणोंमें आकाशमें कई वर्णोंका विलक्षण २ परिणमन हो होकर सहसा विलीन हो जाता है, उसी प्रकार मित्रजनोंका प्रेम भी कुछ समयतक ही अपना रूप दिखाकर तिरोहित होजाता है। पूज्यता और आज्ञाप्रभृतिका ऐश्वर्य भी विजली के चमत्कारकी तरह क्षणमात्रमें ही नष्ट होजानेवाला है। अधिक कहांतक कहें सेना, हाथी, घोडे, रथ, पैदल, महल बगीचा आदि जितने भी बाह्य पदार्थ हैं वे सब इस क्षणभंगुरताका ही अनुसरण करते हैं। अतएव हमे इन सम्पूर्ण क्षणविनश्वर पदार्थोंका परित्याग करके आत्मा और शरीरके भेदज्ञानरूप ब्रह्मको स्वाभाविक आनन्दसे पूर्ण करना ही उचित है।

इस प्रकार अन्तरङ्ग और बाह्य-सम्बद्ध और असम्बद्ध दोनों ही प्रकारके पदार्थोंमें नश्वरताका विचार करते रहनेसे आसक्ति नहीं होती और उनके भोग कर छोड देनेपर-वियोगकालमें फिरसे उनको भोगनेके लिये दुष्परिणाम भी नहीं होते।

अशरणताका निरूपण करते हैः—

तत्तत्कर्मग्लपितवपुषां लब्धवाञ्छितार्थं,
मन्वानानां प्रसभमसुवत्प्रोद्यतं भक्तुमाशाम्।
यद्वद्वार्थं त्रिजगति नृणां नैव केनापि दैवं,
तद्वन्मृत्युर्ग्रसनरासिकस्तद् वृथा त्राणदैन्यम्॥ ६०॥

मसि कृषि आदि कर्मोंने जिनके शरीरको निःसत्व करडाला है और जो अभीष्ट पदार्थके विषयमें समझते हैं कि यह तो हमारे हाथमें ही है ऐसे मनुष्योंकी प्राणोंके समान आशाका-भविष्य पदार्थोंके प्राप्त करनेकी

आकांक्षाका बलात्कार उपमर्दन करदेनेके लिये उद्युक्त हुए दैव-पूर्वकृत अशुभ कर्मको दूर करनेके लिये क्या तीनों लोकमें भी कोई समर्थ है ? नहीं ! इस त्रिलोकीमें चेतन या अचेतन ऐसी कोई भी शक्ति नहीं है जो कि पूर्वसंचित कर्मका निवारण कर सके[1]। मनुष्य भविष्यके लिये अनेक प्रकारकी आशाएं बांधता है किंतु पूर्वकर्म उदयमें आकर हठात् उसमे विघ्न डाल देता है। जिस प्रकार कोई भी इन्द्रादिक या मन्त्रादिक कर्मकी शक्तिसे नहीं रोक सकते उसी प्रकार आयु भी अनिवार्य ही है। संसारी जीवमात्रके प्राणोंका संहार करनेमें उद्युक्त हुए मृत्युका भी कोई निवारण नहीं कर सकता। जब कि यह बात है-दैव और मृत्यु दोनोंका ही निराकरण नहीं हो सकता तब रक्षण या शरणके लिये किसीका भी अनुसरण करना या किसीके सामने दीनता प्रकाशित करना व्यर्थ ही है। क्योंकि न तो कोई मेरे भाग्यमें परिवर्तन कर सकता है और न मेरी मृत्युको ही रोक सकता है। ये दोनो कार्य अवश्यम्भावी है अतएव इनके लिये धैर्यका अवलम्बन लेना ही सत्पुरुषोंको उचित है।

चक्री अर्धचक्री इन्द्र या योगीन्द्र कोई भी क्यों न हो, कालका प्रतीकार नहीं कर सकता; इस बातका निरंतर चिन्तवन करते रहनेवाला मुमुक्षु किसी भी बाह्य वस्तुमें मोहित नहीं हो सकता। इस बातको प्रकट करते हैं:—

सम्राजां पश्यतामप्यभिनयति न किं स्वं यमश्चाण्डिमानं,
शक्राः सीदान्ति दीर्घे क न दयितवधूदीर्घनिद्रामनस्ये।
आ कालव्यालदंष्ट्रां प्रकटतरतपोविक्रमा योगिनोपि
व्याक्रोष्टुं न क्रमन्ते तदिह बहिरहो यत् किमप्यस्तु किं मे ॥ ६१ ॥

यह यमराज बलत्कार प्राणोंका हरण करलेनेवाली अपनी क्रूरताका अभिनय भला कहां कहांपर नहीं दिखाता है, सम्पूर्ण पृथ्वीका उपयोग करनेवाले चक्रवर्ती बैठे ही रहते है और उनके सामने यह क्रूर काल उनके

१—कर्माण्युदीर्यमाणानि स्वकीये समये सति। प्रतिषेद्धुं न शक्यन्ते नक्षत्राणीव केनचित् ॥

पुत्रादिकोंके प्राणोंका संहार कर ही डालता है; पर वे कुछ नहीं कर सकते, देखते ही रहजाते हैं। अपनी प्रियतमा वधुओंके मरणसे उत्पन्न हुए चिरकालीन—सागरोंतकके दुःखसे क्या ये इन्द्रादिक दुःखी नहीं होते ? होते ही है। क्योंकि देवाङ्गनाओंकी आयु पल्योपम और इन्द्रोंकी आयु सागरोपम हुआ करती है अत एव जिस प्रकार सागर—समुद्रमें अनेक लहरें उत्पन्न होकर विलीन होजाती है उसी प्रकार एक इन्द्रकी आयुमें अनेक देवियां उत्पन्न हो हो कर आयु पूर्ण करजाती है। उन सबके वियोगका दुःख इन्द्रोंको आयुःपर्यंत भोगना पडता है। इसीलिये तो कहते है कि यह यमराज भला किसको दुःखकर अभिनय नहीं दिखाता ?

कदाचित् कोई समझेगा कि चक्रवर्ती या इन्द्र यदि यमराजका मुकाविला नहीं कर सकते तो न सही; पर उत्कृष्ट तपस्यासे उत्पन्न हुए पराक्रमके धारक योगीश्वर उसका प्रतीकार अवश्य कर सकते होंगे। सो ऐसा भी नहीं है। हमें यह बडे दुःखके साथ कहना पडता है कि भुजग अथवा सिंहके समान कालकी भयकर डाढका प्रतिरोध अतिशयित और जगद्विख्यात तपोविक्रमकी शक्तिको धारण करनेवाले ऋषिगण भी नही कर सकते। उन्हे भी कालकवलित होना ही पडता है। अत एव हे तत्त्वज्ञानमें प्रवीण महर्षियो! तुम ऐसा विचार करो कि इन बाह्य पदार्थ शरीरादिकोंमे जरा मरण या व्याधि आदि कुछ भी होता रहो, इससे मेरा क्या नुकसान? कुछ नहीं। जैसा कि कहा भी है किः—

न मे मृत्यु कुतो भीतिर्न मे व्याधि कुतो व्यथा
नाह बालो न वृद्धोह न युवैतानि पुद्गले ॥
जीवोन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसग्रह ।
यदन्यदुच्यते किंचित् सोस्तु तस्यैव विस्तर ॥
मत्त कायादयो भिन्नास्तेभ्योऽहमपि तत्त्वतः ।
नाहमेषा किमप्यस्मि ममाप्येते न किंचन ॥

आधि व्याधि मृत्यु और भय तथा बाल वृद्ध और युवा आदि अवस्थाएं मेरी आत्मामें नहीं, पुद्गलमें होती हैं। जीव दूसरा पदार्थ है और पुद्गल दूसरा पदार्थ है। जिन जिन इन भिन्न वस्तुओंका निरूपण किया

जाता है वे सब पुद्गलकी ही अवस्थाए है । तत्त्वदृष्टिसे यदि देखा जाय तो शरीरादिक मुझसे और मै शरीरादिकसे सर्वथा भिन्न हूं । मै इनका कोई नही और ये मेरे कोई नहीं ।

इस प्रकारसे जो नित्य ही अशरणताका विचार करता रहता है उस विरक्तबुद्धिके किसी भी सांसारिक पदार्थमें ममत्वबुद्धि उत्पन्न नहीं होती किंतु आत्मप्रत्यय या स्वावलम्बनका भाव दृढ होता है और सर्वज्ञके मार्गमें प्रीति उत्पन्न होती है ।

संसारानुप्रेक्षाका वर्णन करते है: –

तच्चेद् दुःखं सुखं वा स्मरसि न बहुशो यन्निगोदाहमिन्द्र–
प्रादुर्भावान्तनीचोन्नतविविधपदेष्वा भवाद्भुक्तमात्मन् ।
तत्किं ते शाक्यवाक्यं हतक परिणतं येन नानन्तराति,—
क्रान्ते भुक्तं क्षणेपि स्फुरति तदिह वा क्वास्ति मोहः सगर्हः ॥ ६२ ॥

हे आत्मन् ! अनादि कालसे लेकर अबतक अनत बार तेने जो निगोदसे लेकर अहमिन्द्रतककी नीच और ऊंच नाना प्रकारकी पर्यायोंमें सुख या दुःख जो कुछ भोगा है उसका तुझे स्मरण क्यों नही होता ? जिस प्रकार नीच स्थानोंमें तू निगोदतक पहुंचा और वहां तेने दुःखोंका अनुभव किया उसी प्रकार ऊच स्थानोंमें भी अनेक बार तेने अहमिन्द्रतककी पर्यायोंको धारण किया और वहापर सांसारिक सुखोंका भी अनुभव किया । पर तुझे न तो उन नीच स्थानोंके भोगे हुए दुःखोंका ही स्मरण होता है और न उन ऊंच स्थानोंके सुखोंका ही । इसका क्या कारण है ? हे दुरात्मन् ! क्या निरन्वय क्षणिक वादरूप बौद्ध सिद्धान्तके वचन तेरें एकतानताको प्राप्त हो गये हैं ? क्या क्षणिक सिद्धान्तके अनुसार पूर्व पर्यायमें सर्वथा नष्ट होकर अब सर्वथा नया पदार्थ ही उत्पन्न

१—समभवमहमिन्द्रोऽनन्तशोऽनन्तवारान्, पुनरपि च निगोतोऽनंतशोऽन्तर्निवृत्त' ।
किमिह फलमभुक्त तदद्यापि भोक्ष्ये, सकलफलविपत्ते. कारण देव देया. ॥

हुआ है ? पूर्व पर्याय तो क्या, इसी पर्यायमें तू प्रतिक्षण नष्ट हो हो कर नवीन ही उत्पन्न हो रहा है ? अन्यथा अभी थोडे ही समय पहले जिन सुखों और दुःखोंको तेने भोगा था उनका भी तुझे स्मरण क्यों नहीं होता ? अथवा ठीक ही है, इस लोकमें प्राणिमात्रको निगलजानेवाले मोहको क्या किसी भी प्राणीके विषयमें ग्लानि होती है ? नही । यही कारण है कि तुझको उन दु खकर या सुखकर स्थानोंका स्मरण नहीं होता, अथवा होकर भी उनकी तरफसे तुझे उपेक्षा नही होती । क्योंकि मोहके प्रमादसे जीव ऐसा मूर्च्छित रहता हैं जिससे कि संसारके वास्तविक स्वरूपकी तरफ उसका लक्ष्य ही नहीं जाता ।

संसारकी दुरवस्थाका स्वय विचार करनेकेलिये उपदेश देते हैः—

अनादौ संसारे विविधविपदातङ्कनिचिते,
मुहुः प्राप्तस्तां तां गतिमगतिकः किं किमवहम् ।
अहो नाहं देहं कमथ न मिथो जन्यजनका,—
द्युपाधिं केनागां स्वयमपि हहा स्वं व्यजनयम् ॥ ६३ ॥

इष्टवियोग और अनिष्टसंयोगके द्वारा आकर प्राप्त होनेवाली नाना प्रकारकी विपत्तियों और उनसे होनेवाले क्लेशोंसे अत्यंत भरे हुए इस अनादि संसारमें उसके दुःखोंसे छूटनेका कोई भी उपाय न पाकर भला कौन कौनसी गतिको मैने अनेक वार नहीं पाया है ? नारक तिर्यक् और मनुष्य आदि सभी गतियोंमें तो मैने बार बार भ्रमण किया है । तथा कौनसा ऐसा शरीर है कि जिसको मैंने धारण नहीं किया; सिवाय उसके कि जो सम्यक्त्वके सहचारी पुण्यकर्मके उदयसे ही प्राप्त होता है । और तो काले गोरे छोटे मोटे ऊंचे नीचे आदि अनेक प्रकारके वर्ण और संस्थानके प्रायः सभी शरीरोंको मैने धारण किया है । इसी प्रकार ऐसा कौनसा जीव है कि जिसके साथ मैने पिता पुत्रादिके सम्बन्धकी उपाधि नहीं पाई है ? जिस जीवका कभी पुत्र हुआ हूं तो कभी उसीका पिता भी हुआ हू, कभी सेवक हुआ हू तो कभी स्वामी भी हुआ हू। और यदि कभी भोज्य हुआ हूं तो कभी उसीका

भोजक भी हुआ हूं। इस प्रकार प्रायः जीवमात्रके साथ मैं सभी वैभाविक भावोंको पाचुका हू। हाय अब मुझे उन दुःखमय अवस्थाओंका स्मरण होनेसे बडा कष्ट होता है। पर मैंने अपने आप ही तो अपनेको दुरवस्थाओंमें पटका था।

इस तरहसे विचार करनेवाला मनुष्य संसारके दुःखोंसे उद्विग्न होकर उसको छोडनेकी तरफ प्रवृत्ति करता है।

क्रमप्राप्त एकत्त्वानुप्रेक्षाकी विधि बताते हैंः—

किं प्राच्यः कश्चिदागादिह सह भवता येन साध्येत सध्र्यङ्,
प्रेत्येहत्योपि कोपि त्यज दुरभिमतिं संपदीवापदि स्वान्।
सध्रीचो जीव जीवन्ननुभवसि परं त्वोप कर्तुं सहैति,
श्रेयोंहश्चापकर्तुं भजसि तत इतरत्तत्फलं त्वेककरत्वम् ॥ ६४ ॥

हे आत्मन्! क्या पूर्वभवका पुत्र मित्र या बहिन भाई आदिमेंसे कोई भी इस भवमें तेरे साथ आया है? जिसको कि देख करके यह अनुमान किया जा सके कि इस भवका भी कोई परभवतक तेरे साथ जा सकेगा। जब कि ऐसा नहीं है—दृष्टांतकेलिये भी परभवसे साथमें आया हुआ कोई बन्धु बान्धव नहीं मिलता तो यह किस तरह माना जा सकता है कि इस भवके दृष्ट जनोंमेंसे भी कोई तेरे या किसीके भी साथ जा सकेगा? अत एव इनके विषयमें तुझको जो मिथ्याज्ञान बैठा हुआ है कि ये मेरे हैं सो उस दुरभिनिवेशको छोडदे। हे जीव! क्या तेने जीते हुए कभी इस बातका अनुभव किया है कि जिनको तू अपने समझता है वे तेरी सम्पत्तिकी तरह विपत्तिमें भी कभी सहायक हुए हैं? नहीं। क्योंकि जब तेरे जीते जी यह हाल है कि संपत्तिके रहते हुए तो ये सब तेरा साथ देते हैं पर विपत्तिको देखकर दूर ही भागजाते हैं; तब मरनेपर साथ देनेकी तो बात ही कहां। हे आत्मन्! यह निश्चय समझ कि इनमेंसे तेरे साथ जानेवाला कोई भी नहीं है। हां, पुण्य और पाप जिनका कि तेने ही संचय किया है उनमेंसे तेरा उपकार करनेकेलिये पुण्य और अपकार करनेकेलिये पाप

परभवतक तेरे साथ अवश्य जायगा। किंतु उनका सुख और दुःखरूप फल इस लोककी तरह परलोकमें भी तुझे अकेलेको ही भोगना पडेगा। उसको भी कोई बांट नहीं सकता। अत एव यह निश्चय मान कि संसारके भीतर नाना योनियोंमें पर्यटन और पुण्यपापके सुखदुःखरूप फलोंका अनुभव तुझे अकेलेको ही करना पडता है उसमें तेरा भागीदार कभी कहीं भी और कोई भी नहीं हो सकता।

वास्तवमें आत्माके साथ जानेवाला कोई भी नहीं है, इस बातको प्रकट करते हैं:—

यदि सुकृतममाहंकारसंस्कारमङ्गं,
पदमपि न सहैति प्रेत्य तत् किं परेर्थाः।
व्यवहृतितिमिरेणैवार्पितो वा चकास्ति,
स्वयमपि मम भेदस्तत्त्वतोस्म्येक एव ॥ ६५ ॥

जिसमें कि ममकार और अहंकारका संस्कार - दृढ प्रत्यय जन्मसे ही किया गया है ऐसा यह शरीर ही जब कि परलोकके लिये मेरे क्या किसीके भी एक डग भी साथ नहीं जाता है तब स्त्रीपुत्रादिक और धन धान्यादिक जो कि सर्वथा ही भिन्न दीख रहे हैं; किस तरह साथ जा सकते हैं। अत एव मेरा और इनका भेद निश्चित है। अथवा मेरा भेद ही स्वय अपने स्वरूपको दिखा रहा है कि मैं अन्धकारके समान यद्वा नेत्ररोगके समान व्यवहार नय—उपचारसे हूं न कि निश्चय नयसे। निश्चयनयसे तो मै एक ही हू—मुझमें ज्ञान सुख दुःख आदि पर्यायोंकी अपेक्षा भेद नहीं है। मै सदा एक चैतन्य रूपमें ही रहनेवाला हू।

इस प्रकार एकत्वका विचार करनेवाले मुमुक्षुके स्वजन या परजन किसीमें भी रागद्वेषकी उद्भूति नहीं होती, वह निःसङ्ग होकर मोक्षमें प्रवृत्त होता है।

अन्यत्व भावनाके अतिशयित फलको दिखाकर उसके विषयमें प्रलोभन उत्पन्न करते हुए उसका वर्णन करते हैं:—

नैरात्म्यं जगत इवार्य नैर्जगत्यं,
निश्चिन्वन्ननुभवसिद्धमात्मनोपि ।
मध्यस्थो यदि भवसि स्वयं विविक्तं,
स्वात्मानं तदनुभवन् भवादपैषि ॥ ६६ ॥

" अहं " या " मैं " ऐसी जिसमें प्रतीति होती है उसको आतमा कहते हैं । यह प्रतीति अन्तस्तत्त्वमें ही होती है, शेष सम्पूर्ण जगतमें नहीं होती । अतएव जगतका स्वरूप नैरात्म्य माना है । हे आर्य ! जिस प्रकार जगत्का स्वरूप नैरात्म्य है उसी प्रकार आत्माका स्वरूप नैर्जगत्य भी है । क्योंकि वह सम्पूर्ण पर वस्तुओंके ग्रहणसे रहित है । अतएव अपने नैर्जगत्यको अनुभवसिद्ध निश्चय करके-इस बातका दृढ प्रत्यय करके कि मेरी आत्मा इन सम्पूर्ण दृश्यमान पदार्थोंसे सर्वथा अलिप्त है, यदि तू मध्यस्थ होजाय-समस्त वस्तुओंमें रागद्वेषरहित हो कर आत्मस्वरूपमें स्थिर होजाय तो अवश्य ही तू अपनी आत्माकी शरीरादिकसे भिन्नताका अनुभव करते हुए उसको संसार और शरीर दोनोंसे ही मुक्त कर सकता है ।

भावार्थ—यदि तू अपनी आत्माको संसार और शरीरसे सर्वथा भिन्न समझकर निरंतर उसका विचार करता रहे तो अवश्य ही एक न एक दिन तेरा आत्मा उनसे रहित होजायगा ।

अन्यत्वकी भावनामें रत रहनेवालेके अपुनर्भवकी जो अभिलाषा होती है या रहना चाहिये उसको प्रकट करते हैं—

बाह्याध्यात्मिकपुद्गलात्मकवपुर्युग्मं भृशं मिश्रणा,—
द्धेम्नः किट्टककालिकाद्वयमिवाभादप्यदोऽनन्यवत् ।
मत्तो लक्षणतोन्यदेव हि ततश्चान्योहमर्थादत,—
स्तद्भेदानुभवात्सदा मुदमुपैम्यन्वेमि नो तत्पुनः ॥ ६७ ॥

यह शरीर जो देखनेमें आता है सो बाह्य और अन्तरङ्ग दो पौद्गलिक शरीरोंका जोडा है-इसमें रस रक्तादिक धातुमय औदारिक शरीर बाह्य और ज्ञानावरणादिकर्मस्वरूप कार्मण शरीर अन्तरङ्ग है जो कि दोनोंही पौद्गलिक हैं। जिस प्रकार सुवर्णके साथ बाह्य स्थूल मल किट्ट और अन्तरङ्ग सूक्ष्म मल कालिका दोनों ही अत्यंत जुडे रहते हैं उसी प्रकार मेरे साथ ये दोनों शरीर भी अत्यंत जुडे हुए हैं—मेरे साथ मिलकर सर्वथा एकमेकसे होगये हैं इसीलिये मैं और ये दोनों अभिन्न सरीखे जान पडते हैं। किंतु वास्तवमें ये मुझसे सर्वथा भिन्न है क्योंकि मेरा और इसका लक्षण या स्वरूप सर्वथा भिन्न २ है। मै अमूर्त और यह मूर्त, मैं ज्ञानदर्शनादि उपयोग–रूप चेतन और यह अज्ञानस्वरूप जड, मैं आनन्दमय और यह निरानन्द, इस प्रकार मुझमें और इसमें महान् अन्तर है। अतएव अत्यंत संयोगकी अपेक्षा यह मुझसे अभिन्न सरीखा मालुम होते हुए भी वास्तवमें भिन्न ही है। ये मुझसे भिन्न हैं मैं इनसे भिन्न हूं। इस प्रकार वास्तविक भेदका अनुभव हो जानेसे अब मैं सदा आत्मिक सुखमें ही मग्न रहूंगा, इस शरीरका अनुवर्तन न करूंगा।

इस प्रकार शरीरादिकसे भिन्नताका विचार करनेवाला साधु उन विषयोंमें निरीह होकर मोक्षके साधनमें सतत सोत्साह बना रहता है।

यहांपर यह प्रश्न हो सकता है कि एकत्वानुप्रेक्षा और अन्यत्वानुप्रेक्षामें क्या अन्तर है? किंतु दोनोंका अन्तर स्पष्ट है। एकत्व भावनामें तो "मै अकेला हू" इस तरह विधिरूपसे चिन्तवन किया जाता है और अन्यत्व भावनामें "मुझसे भिन्न है, मेरे नहीं है," इस तरह निषेधरूप चिन्तवन किया जाता है। अत एव दोनोंमें महान् अन्तर हैं।

शरीरकी अशुचिताका विचार कराते हुए आत्माको शरीरके विषयमें जो पक्षपात लगा हुआ है उसकी निन्दा करते हैः—

कोपि प्रकृत्यशुचिनीह शुचेः प्रकृत्या,
भूयान्वसेरकपदे तव पक्षपातः।

यद्बिभ्रसा रुचिरमर्पितमर्पितं द्राग्,
व्यत्यस्यतोपि मुहुरुद्विजसेऽङ्ग नांगात ॥ ६८ ॥

हे आत्मन्! चन्दन गंध आदि रमणीय और पवित्र भी वस्तुएं इस शरीरपर लगाई जांय तो भी और बार बार लगानेपर भी यह शरीर स्वभावसे ही उनको लगाते लगाते ही झटसे विगाड देता है-अपवित्र बना देता है। फिर भी देखते है कि स्वभावसे ही शुद्ध और रमणीय तू इससे उद्विग्न-विरक्त नहीं होता। अतएव मालुम होता है कि तेरा स्वभावसे ही अपवित्र और अमनोज्ञ इस शरीरमें जो कि उस स्थानके समान थोडे ही समयतक ठहरनेके लिये है जहांपर कि पथिक जन रातभरके लिये ही विश्राम किया करते है, अपूर्व और बडा भारी पक्षपात है। क्योंकि यदि तुझे इसमें पक्षपात न होता तो क्या तु पवित्र होकर और इसकी अपवित्रताका अनुभव करके भी इससे विरक्त न होता? अवश्य होता।

शरीरके ऊपर चामका आच्छादन मात्र लगा हुआ है इसीलिये गृद्धादिक मांसभक्षी पक्षी उसको चोंथ चोंथ कर नहीं खाते हैं, अन्यथा वे इसको छोडते भी नहीं। इससे सिद्ध है कि शरीरकी बराबर कोई भी पदार्थ अपवित्र नहीं है। फिर भी शुद्ध स्वरूपके देखनेमें कुशल या स्थिर आत्माका आधार मात्र होनेसे ही वह पवित्र भी हो सकता है। अत एव अशुचि भी शरीरमें समस्त संसारकी विशुद्धिकी कारणताका संपादन करनेके लिये आत्माको उत्साहित करते हैं—

निर्मायास्थगयिष्यदङ्गमनया वेधा न भोश्चेत त्वचा,
तत् क्रव्याद्भिरखण्डयिष्यत खरं दायादवत् खण्डशः।
तत्संशुद्धनिजात्मदर्शनविधावग्रेसरत्वं नयन्,
स्वस्थित्यैकपवित्रमेतदखिलत्रैलोक्यतीर्थं कुरु ॥ ६९ ॥,

हे आत्मन्! यह शरीर इतना अशुचि है कि यदि विधाता इसको बनाकर ऊपरसे इस दीखते हुए चमडेसे इसे आच्छादित न करदेता तो गृद्धादिक जितने मांसभक्षी पक्षी हैं वे सब इसको अच्छी तरहसे चोंथ डालते। जिस प्रकार भाई बन्धु आदि दायाद जन अविभाज्य–जिसका विभाग नहीं किया जा सकता ऐसी भी वस्तुके लिये आपसमें क्रोध और स्पर्धाके साथ लड लडकर खण्ड खण्ड करके उस वस्तुको ग्रहण करते है उसी प्रकार गृद्ध वगैरह पक्षी इस शरीरके लिये करते। इस प्रकार यद्यपि यह अशुचिपदार्थमय है फिर भी इसमें तू निवास करता है इसलिये यह पवित्र भी समझा जाता है। अतएव अत्यंत शुद्ध निज आत्मस्वरूपका अवलोकन करनेमें इस शरीरको अग्रेसर बनाकर सम्पूर्ण त्रिलोकीके लिये तीर्थस्वरूप विशुद्धिका कारण बना देना चाहिये।

भावार्थ—यद्यपि यह शरीर स्वभावसे अपवित्र ही है किंतु तेरे सम्बन्धसे पवित्र भी है। अतएव ज्यों ज्यों तू पवित्र होता जायगा त्यों त्यों यह भी अधिकाधिक शुद्ध होता जायगा। जिस समय तू अत्यंत निर्मल निजात्म स्वरूका अवलोकन करने लगेगा उस समय तेरा यह शरीर भी परमौदारिक होकर समस्त संसारके लिये तीर्थरूप होजायगा। किंतु तेरा पवित्र होना भी इस शरीरके ऊपर ही निर्भर है। क्योंकि जिस उत्कृष्ट ध्यानके बलसे तुझे निज शुद्धात्माका साक्षात्कार हो सकता है उसकी प्राप्ति उत्तम संहननवाले शरीरसे ही हो सकती है। अत एव तुझे उसको तीर्थरूप बनाना ही उचित है।

इस प्रकार निरंतर चिन्तवन करनेवाला साधु शरीरसे विरक्त होकर अशरीर अवस्था प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करने लगता है।

आस्रवके स्वरूपका विचार करनेके लिये उसके दोषोंका चिंतवन करते हैं: —

युक्ते चित्तप्रसत्त्या प्रविशति सुकृतं तद्भविन्यत्र योग,—
द्वारेणाहत्य बद्धः कनकनिगडवद्येन शर्माभिमाने।
मूर्छन् शोच्यः सतां स्यादतिचिरमयवेत्याच्चसंक्लेशभावे,
यत्वंहस्तेन लोहान्दुकवदवसिताच्छिन्नमर्मेव ताम्येत ॥ ७० ॥

जिस समय यह संसारी जीव प्रशस्त राग या अनुकम्पादिक परिणामोंसे युक्त होता है उस समय मन वचन कायके द्वारा होनेवाले आत्मप्रदेशपरिस्पन्दरूप योगके द्वारा पुण्य कर्मका संचय होता है। सम्यग्दर्शनादिक भावोंसे युक्त आत्माके प्रदेशोंमें रहनेवाले कर्मस्कन्धोंमें सातावेदनीय शुभ आयु शुभ नाम और शुभ गोत्ररूप पुण्यकर्मके योग्य पुद्गलद्रव्यका योगके द्वारा अनुप्रवेश होता है। पौद्गलिक कर्मोंका स्कन्ध और भी पुद्गलोंसे एक क्षेत्रावगाह करके आपसमें जकड जाता है। जिस प्रकार सुवर्णकी बेढियोंसे जकडा हुआ कोई राजपुरुष अपने महत्वका ख्याल करके सुखका अभिमान करता हो। किंतु तत्वदर्शी लोग उसपर खेद ही जाहिर करते हैं। उसी प्रकार पुण्यकर्मके उदयसे मै सुखी हूं इस तरहके अभिमानमें चिरकाल-पल्योंतक मूर्छित रहनेवालेपर सिद्धिके साधनमें उद्यत रहनेवाले सत्पुरुष खेद ही किया करते है। क्योंकि यह पुण्यकर्म भी जीवको बलात्कार परतन्त्र ही बनाता है।

जिस समय यह जीव राग द्वेष अथवा मोहरूप संक्लेश परिणामोंसे युक्त होता है उस समय मिथ्यात्वादिक भावोंसे युक्त आत्माके प्रदेशोंमें रहनेवाले कर्मस्कन्धोंमें उक्त योगके द्वारा पापकर्मके योग्य पुद्गलद्रव्योंका अनुप्रवेश होता है। विशिष्ट शक्तिको प्राप्त इस पापकर्मके निमित्तसे सर्वथा पराधीन हुआ यह संसारी जीव मर्मवेधी पीडाओंसे इस प्रकार खेद और दीनताको प्राप्त होता है जिस तरहसे कि लोहेकी शृंखलाओंसे बंधा हुआ कोई सापराध व्यक्ति मार्मान्तिक पीडाओंसे दुःखी हुआ करता है

भावार्थ— पुण्य और पाप दोनो ही कर्मोंका आस्रव वास्तवमें आत्माकी पराधीनताका ही कारण है और शोचनीय ही है।

जो मुमुक्षु आस्रव । निरोध करदेते हैं उन्हीको कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है अन्यथा नहीं। जो आस्रवका निरोध नहीं करते उनका इस दुरन्त संसारमें पतन ही होता है। ऐसा उपदेश करते हैः—

विश्वातङ्कविमुक्तमुक्तिनिलयद्रङ्गाग्रिमाप्त्युन्मुखः,
सद्रत्नोच्चयपूर्णमुद्भटविपद्ऊर्मिमे भवाम्भोनिधौ।

योगाच्छिद्रपिधानमादधदुरूद्योगः स्वपोतं नये,-

न्नो चेन्मङ्क्ष्यति तत्र निर्भरविशत्कर्माम्बुभारादसौ ॥७१॥

अनंत चतुष्टयरूप अवस्थाको मुक्ति कहते हैं। जो व्यक्ति इस अवस्थाको प्राप्त करके परमात्मा बनगये हैं उन्हे मुक्तिका धाम या आश्रम समझना चाहिये। यह मुक्तिधाम सम्पूर्ण नगरोंमें प्रधान तथा समस्त आतङ्को-आपत्तियों और विपत्तियोके द्वारा हृदयमें होनेवाले क्षोभोंसे सर्वथा रहित है। किंतु इस स्थानको प्राप्त करनेके लिये संसाररूपी समुद्रको पार करना पडता है। अतएव जो साधु उस स्थानको प्राप्त करनेके लिये अभिमुख हुए हों उन्हें महान् उद्योग करके-दश प्रकारके धर्म और आठ प्रकारकी शुद्धियोंमें विपुल उत्साहको धारण करके-अप्रमत्त संयत होकर प्रशस्त रत्नोंके समूहसे भरे हुए-सम्यग्दर्शनादिक गुणोंसे परिपूर्ण अपने आत्मारूपी जहाजको उसके छिद्रोंके समान योगोंको रोककर जिनका कोई प्रतिकार नहीं किया जा सकता ऐसी विपत्तियोंसे भयकर इस संसाररूपी समुद्रसे पार कर देना चाहिये। क्योंकि यदि योगरूपी छिद्रोंको रोका न जायगा तो उनके द्वारा झरझर भरते हुए कर्मरूपी जलके भारसे वह आत्मारूपी जहाज संसारसागरमें अवश्य ही डूब जायगा।

इस प्रकार विचार करनेवाले साधुके उत्तम क्षमादिक धर्मोंके विषयमें कल्याणकारिणी बुद्धि स्थिर होती है।

क्रमप्राप्त संवर भावनाका स्वरूप बतानेके लिये उसके गुणोंका विचार करते हैं:—

कर्मप्रयोक्तृपरतन्त्रतयात्मरङ्गे

प्रव्यक्तभूरिरसभावभरं नटन्तीम्।

चिच्छक्तिमग्रिमपुमर्थसमागमाय,

व्यासेधतः स्फुरति कोपि परो विवेकः ॥ ७२ ॥

जिस प्रकार लोकमें नृत्यकर्मके प्रयोक्ता नटाचार्यके अधीन होकर रङ्गभूमिमें नटी शृङ्गारादि नाना प्रकारके रसों और भावोंके अद्भुत चमत्कारको दर्शकोंके सम्मुख प्रकट करती हुई नृत्य किया करती है किंतु जो पुरुष

उत्तम पुरुषार्थको प्राप्त करनेकेलिये उसका परिहार करदेते हैं उन्हींको विवेकी—हिताहितका विचारशील समझा-जाता है उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मोंके उदयके वशमें पडकर आत्माकी रङ्गभूमिमें अनेक प्रकारके रसों और भावोंके लोकोत्तर चमत्कारको परीक्षकोंके सम्मुख प्रकट करते हुए नृत्य करनेवाली चेतनाशक्तिका उत्कृष्ट पुरुषार्थ मोक्ष अथवा धर्मको प्राप्त करनेकेलिये परिहार करदेते हैं उन्हींके अनिर्वचनीय और उत्कृष्ट विवेक—शुद्धोपयोग-में स्थिरता प्रकट हो सकती है।

भावार्थ—कर्मोदयके निमित्तसे होनेवाले किंतु नवीन कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारण आत्मप्रदेशपरिस्पन्दरूप योगका निरोध करदेनेवाले ही उस शुद्धोपयोगकी स्थिरताको प्राप्त कर सकते हैं जिससे कि मोक्षपुरुषार्थकी सिद्धि हो सकती है।

कर्मोंके रोकनेको अथवा उसके उपायोंको संवर कहते हैं। वह शुद्ध सम्यग्दर्शनादिके भेदसे अनेक प्रकारका है। जो साधु इन प्रकारोंके द्वारा आस्रवके मिथ्यात्वादिक भेदोंका निरोध कर देता है उसको जो अशुभ कर्मोंका संवरणरूप मुख्य फल और सम्पूर्ण सम्पत्तियोंके प्राप्त करनेकी योग्यतारूप आनुषङ्गिक फल प्राप्त होता है उसको बताते हैं—

मिथ्यात्वप्रमुखद्विपद्बलमवस्कन्दाय दृप्यद्बलं
रोद्धुं शुद्धसुदर्शनादिसुभटान् युञ्जन् यथास्वं सुधीः।
दुष्कर्मप्रकृतीर्न दुर्गतिपरीवर्तैकपाकाः परं,
निःशेषः प्रतिहन्ति हन्त कुरुते स्वं भोक्तुमुत्काः श्रियः ॥ ७१ ॥

जिस प्रकार प्रतिपक्षियोंके ऊपर विजय प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाला कोई भी विद्याविनीतमति नायक उन शत्रुओंके बलका निरोध करनेके लिये कि जिनके पराक्रमका अहमहमिकासे और गर्वके साथ बढना अपने महत्त्वको नष्ट करदेनेके लिये हो, यथायोग्य सुभटोंकी योजना करता है-जैसे शत्रुकी तरफ योद्धा हों वैसे ही

वीर योद्धाओंकी योजना ही अपने यहां भी करलेता है। क्योंकि ऐसा करनेपर वह दारिद्र्यादि दुःखोंका फल भुगानेवाले सम्पूर्ण अमात्यादिकोंका नाश कर देता है। इतना ही नहीं किंतु अपने ऊपर विजयलक्ष्मी अथवा अभ्युदय सपत्तियोंको उत्कण्ठित भी बना लेता है। इसी प्रकार जो विचारशील मुमुक्षु अपने शुद्धात्मस्वरूपका घात करनेके लिये बढ रहा है पराक्रम जिनका ऐसे मिथ्यात्वप्रभृति शत्रुओंके बलका निरोध करनेकेलिये यथायोग्य शुद्ध सम्यग्दर्शनादिक सुभटोंकी योजना करता है। वह न केवल नरकादिकोंमें परिभ्रमण करना ही है फल जिनका ऐसी सम्पूर्ण पापप्रकृतियोंको ही नष्ट करता है, किंतु हर्षके साथ कहना पडता है कि वह देवेंद्र-नरेन्द्रादिकोंकी विभूतियों अथवा मोक्षलक्ष्मीको भी अपना उपभोग करनेकेलिये अपने ऊपर उत्कण्ठित बनालेता है।

भावार्थ—जो साधु सम्यग्दर्शनके द्वारा मिथ्यात्वका, ज्ञानके द्वारा अज्ञानका, समितिके द्वारा अविरतिका, संयमके द्वारा इन्द्रियासंयमका, व्रतोंके द्वारा प्राणासंयमका, उत्साहके द्वारा प्रमादका और क्षमाके द्वारा क्रोधका तथा मार्दवके द्वारा मानका या आर्जवके द्वारा मायाका अथवा शौचके द्वारा लोभका तथा इसी प्रकार अन्य भी यथायोग्य उपायोंसे आस्रवके भेदोंका निरोध करदेता है; उसके सम्पूर्ण पापकर्मोंका नाश हो जाता है और अभ्युदयोंकी सिद्धि होती है।

ऐसा विचार करते रहनेवाला साधु निरतर सवर करनेमें प्रयत्नशील बना रहता है।

निर्जराके स्वरूपकी विचार करनेके लिये उसका फल प्रगट करते हैः—

यः स्वस्याविश्य देशान् गुणविगुणतया भ्रश्यतः कर्मशत्रून्,
कालेनोपेक्षमाणः क्षयमवयवशः प्रापयंस्तत्पुकामान् ।
धीरस्तैस्तैरुपायैः प्रसभमनुपजत्यात्मसंपद्यजस्रं,
तं बाहीकश्रियोङ्कं श्रितमपि रमयत्यान्तरश्रीः कटाक्षैः ॥ ७४ ॥

जो मुमुक्षु सम्यग्दर्शनादिक गुणोंकी विगुणता—मिथ्यादर्शनादिरूप परिणतिके द्वारा अपने प्रदेशों—कर्मोंके द्वारा मलीमस हुए चेतनाके अंशोंमें अनुप्रवेश करके यथासमय स्वयं भ्रष्ट होते हुए—उदयमें आकर और फल देकर आत्मासे सम्बन्ध छोडकर निर्जीर्ण होते हुए कर्मरूपी शत्रुओंकी उपेक्षा करदेता है, और जो कर्म अपना फल देनेके लिये उन्मुख है उनका उन उन अनशन अवमौदर्य वृत्तिपरिसंख्यान आदि प्रसिद्ध उपायोंके द्वारा खण्ड खण्ड करके प्रयोगपूर्वक क्षय कर देता है, तथा परीषह और उपसर्गोंके द्वारा क्षोभको प्राप्त न होकर आत्मसम्पत्तिमें ही निरतर आसक्त रहता है उसके तपोतिशयकी वृद्धिरूप बाह्य लक्ष्मीकी गोदमें बैठ रहनेपर भी उससे अन्तरङ्ग लक्ष्मी—अनन्तज्ञानादिविभूति कटाक्षोंके द्वारा रमण किया करती है।

भावार्थ—जो साधु यथासमय स्वयं पककर गलनेवाले कर्मोंकी संवरपूर्वक निर्जरा कर देता है तथा औपक्रमिक कर्मोंका अशतः क्षय करता है उस तपस्वीको शीघ्र ही अन्तरङ्ग लक्ष्मी प्राप्त हो जाती है।

निर्जरा दो प्रकारकी हुआ करती है—एक बन्धसहभाविनी, दूसरी संवरसहभाविनी। पहले प्रकारकी निर्जरा अनादिकालसे होती आरही है। उसके फलको कहते हुए दूसरे प्रकारकी निर्जराका फल जो आत्मध्यान ही है उसकेलिये प्रतिज्ञा करते है। :—

भोजं भोजमुपात्तमुज्झति मयि भ्रान्तेल्पशोनल्पशः,
स्वीकुर्वत्यपि कर्म नूतनमितः प्राक् को न कालो गतः।
संप्रत्येष मनोऽनिशं प्रणिदधेऽध्यात्मं न विन्दन्बहि,—
दुःखं येन निरास्रवः शमरसे मज्जन्भजे निर्जराम् ॥ ७५ ॥

अबतक मेरा जो काल व्यतीत हुआ है उसके प्रत्येक क्षणमें मैंने संचित कर्मोंके भोग भोगकर छोडे तो थोडे परंतु अनादि मिथ्यात्वके संस्कारके वशमें पडकर शरीर और आत्मामें एकत्वका निश्चय करके नवीन

कर्मोंका ग्रहण अधिक प्रमाणमें किया। अब तक मेरे बन्धसहभाविनी ही निर्जरा हुई है जिससे कि प्रत्येक क्षणमें कर्मोंकी जितनी निर्जरा हुई थी उसकी अपेक्षा कहीं अधिक कर्मोंका बन्ध होता रहा है। क्योंकि नरकादिकोंमें कर्मके वशसे होनेवाली अबुद्धिपूर्वक निर्जराका नाम ही अकुशलानुबंधिनी प्रसिद्ध है। इस प्रकार अनतककी निर्जराका फल बन्ध ही रहा है। अत एव अब मैं स्वस्वरूपका प्रत्यक्ष होजानेपर अपने मनको आत्मस्वरूपमें ही नियुक्त रक्खूंगा। जिससे कि परीषह और उपसर्गादिकोंके द्वारा होनेवाले दुःखोंकी तरफ बेखबर रहकर और पूर्वकृत अशुभ कर्मोंके आस्रवका निरोध करके तथा प्रशमसुखमें निमग्न रहकर कर्मोंके एकदेश क्षयरूप निर्जराको कर सकूं। इस संवरसहभाविनी निर्जराको ही कुशलानुबन्धिनी भी कहते हैं। यह परीषहोंका विजय करनेपर होती है। अत एव इसकेलिये आत्मस्वरूपकी तरफ ही मनको सदा प्रवृत्त रखना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेसे ही वास्तविक कर्मोंकी निर्जरा और प्रशमसुखकी प्राप्ति हो सकती है।

इस प्रकार निर्जराके गुण और दोषोंका विचार करनेवाला साधु कुशलानुबन्धिनी निर्जराकेलिये प्रवृत्त हुआ करता है।

लोकानुप्रेक्षा क्रमप्राप्त है। अत एव लोक और अलोकके स्वरूपका निरूपण करके उसका विचार करनेसे जो निजात्मस्वरूपके प्राप्त करनेकी योग्यता उत्पन्न होती है उसको बताते हैं:—

जीवाद्यर्थचितो दिवर्धमुरजाकारस्त्रिवातावृत:,
स्कन्धः खेतिमहाननादिनिधनो लोकः सदास्ते स्वयम्।
तन्मध्येत्र सुरान् यथायथमधः श्वाभ्रांस्तिरश्चोभित:,
कर्मोदर्चिरुपप्लुतानधियत: सिद्ध्यै मनो धावति ॥ ७६॥

जहांपर जीवादिक पदार्थ देखनेमें आवें उसको लोक कहते हैं। बहुतसे लोग समझते हैं कि यह लोक शूकरकी डाढ़पर या गौकी पूंछपर अथवा कछुएकी पीठपर या शेष नागके फणपर ठहरा हुआ है। कोई कोई सम-

झते हैं कि यह सदासे नहीं है-कभी न कभी किसी न किसीने इसको बनाया था और कभी नष्ट भी हो जायगा किंतु यह बात नहीं है, यह सदासे और स्वय आकाशमें ठहरा हुआ है। कभी किसीने इसको न तो धारण ही किया और न उत्पन्न ही किया है। यह जीव पुद्गल धर्म अधर्म और आकाश काल इन छह द्रव्योंसे व्याप्त है। अथवा इन छह द्रव्योंके समूहको ही लोक समझना चाहिये। आधे मृदगको खडा रखकर उसके मुखपर पूरा मृदंग खडा करनेसे जैसा आकार बने वैसा ही इस लोकका आकार है। अथवा इस लोकके तीन भेद हैं। अधोलक ऊर्ध्व लोक और मध्य लोक। वेत्रासनके आकार अधोलोक, मृदगके आकार ऊर्ध्व लोक, और झल्लरीके आकार मध्यलोक है। यह सम्पूर्ण लोक घनोदधि घनवात और तनुवात इन वातवलयोंसे इस प्रकार सर्वत्र वेष्टित है जैसे कि तीन त्वचाओंसे वृक्ष वेष्टित रहा करता है। सम्पूर्ण द्रव्योंका समुदायरूप यह लोक अत्यंत महान् है। इसमें ऊंचाई, मोटाई और चौडाई तीनों बातें पाई जाती हैं। इस घनरूप आकारसे लोकका कुल विस्तार तीनसौ तेतालीस राजूका होता है। इस प्रकार अत्यत विपुल यह लोक सृष्टि और संहारसे सर्वथा रहित है। जैसा कि कहा भी है कि:—

लोओ अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिव्वत्तो।
जीवाजीवेहि फुडो सव्वागासऽवयवो णिच्चो॥

इस लोकके अधो भागमें नरक है, जहांपर कर्मोंके उदयरूप अग्निसे संतप्त नारकी निवास करते हैं। ऊर्ध्व भागमें स्वर्ग हैं जहांपर कि वैमानिक देव रहते हैं। ये देव भी ज्ञानावरणादि पापकर्मोंकी उदयाग्निसे दग्ध ही रहा करते हैं। मध्यलोकमें असख्यात द्वीप समुद्रोंमेंसे ढाई द्वीप और दो समुद्रोंका मनुष्यक्षेत्र है जिसका प्रमाण ४५ लाख योजनका होता है। मनुष्य इसी क्षेत्रमें रहते हैं। कर्मोदयके संतापसे ये भी बचे हुए नहीं हैं। ये भी तापत्रयसे पीडित ही हैं। इनके सिवाय तिर्यंच जीव सर्वत्र भरे हुए हैं। वैमानिक देवोंके सिवाय शेष देवोंके स्थान भिन्न स्थानोंमें हैं। नागकुमारादिक नव प्रकारके भवनवासी देव इस पृथ्वीके खर भागमें रहा करते हैं, असुरकुमार और राक्षस पंक भागमें रहा करते हैं। तथा व्यंतरोंका निवास चित्रा और वज्रा पृथ्वीके संधिस्थानसे लेकर मेरुपर्यन्त और तिर्यक् भी सर्वत्र है। ज्योतिषी देवोंका स्थान इस भूमिसे सातसौ नब्बे योजन ऊपर जाकर आकाशमें है।

इस प्रकार जो साधु इस लोकके स्वरूपका और उसमें सर्वत्र यथायोग्य स्थानोंमें रहनेवाले किंतु कर्मोदयकी अग्निसे सदा संतप्त रहनेवाले देव नारकी मनुष्य और तिर्यंच जीवोंका ध्यान करता है उसका मन सिद्धिके लिये दौडने लगता है। वह इस लोकके बाहर सिद्धक्षेत्र-लोकके अग्रभागको अथवा निज-आत्मस्वरूप क्षेत्रको पानेका विचार करने लगता है। अतएव मुमुक्षु साधुओंको इस लोकके स्वरूपका विचार निरंतर करते रहना चाहिये।

जो साधु लोकके स्वरूपका भले प्रकार विचार करता रहता है उसके संवेगगुणकी सिद्धि होती है। जिससे कि मुक्ति प्राप्त करनेकी सामर्थ्य उसमें प्रकट होजाती है। इसी बातको बताते हैं:—

लोकस्थितिं मनसि भावयतो यथावद्,
दुःखार्तदर्शनविजृम्भितजन्मभीतेः।
सद्धर्मतत्फलविलोकनरञ्जितस्य,
साधोः समुल्लसति कापि शिवाय शक्तिः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार साधु जो उपर्युक्त लोकके स्वरूपका अपने मनमें बार बार और यथावत् विचार करता रहता है उसको दुःखोंसे पीडित रहनेवाले लोकोंका अवलोकन करनेके कारण संसारसे भय उत्पन्न होता है जिससे कि शुद्धात्माके अनुभवरूप श्रेष्ठ धर्म तथा उसके परमानन्दरूप फलमें उसको अनुराग होता है। इस संसारसे भीरुतारूप संवेग और धर्मके अनुरागसे ही उस साधुके मोक्षको प्राप्त करनेके लिये वह शक्ति प्रकट होजाती है जो कि अलौकिक तथा अनिर्वचनीय है।

जो इस प्रकार निरंतर विचार करता रहता है उसके तत्त्वज्ञानकी विशुद्धि हुआ करती है।

क्रमप्राप्त बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षाका वर्णन करते हैं:—

जातोऽत्रैकेन दीर्घं घनतमसि परं स्वानभिज्ञोऽभिजानन्,

जातु द्वाभ्यां कदाचित्त्रिभिरहमसकृज्जातुचित्खैश्चतुर्भिः ।
श्रोत्रान्तैः कर्हिचिच्च क्वचिदपि मनसानेहसीदृङ्नरत्वं,
प्राप्तो बोधिं कदापं तदलमिह यते रत्नवज्जन्मसिन्धौ ॥ ७८ ॥

मैने अत एव आत्मस्वरूपसे अनभिज्ञ रहकर पर पदार्थोंको ही अपना समझा। इसी लिये चिरकाल तक मैं मिथ्यात्वरूप निविड अन्धकारसे व्याप्त निगोतादि स्थानोंमें एकेंद्रिय होकर उत्पन्न हुआ और इसी तरह अनंतकाल मैंने वहांपर व्यतीत करदिया। कभी कभी स्पर्श और उस गुणसे प्रधानतया युक्त परद्रव्यको आत्मस्वरूप समझकर मैं लट वगैरह द्वीन्द्रिय जीवस्थानोंमें भी उत्पन्न हुआ। और चिरकालतक उन अन्धकारमय स्थानोंमें ही बना रहा। इसी प्रकार अनत वार पिपीलिकादि स्थानोंमें भी मैं उत्पन्न हुआ जहांपर कि स्पर्शन रसन और घ्राण ये तीन ही इन्द्रियां पाई जाती है। अनेक वार श्रोत्रेन्द्रियको छोडकर बाकी चार इन्द्रियोंसे युक्त भ्रमरादिक पर्यायोंमें भी मैं उत्पन्न हुआ। कदाचित् श्रोत्रेन्द्रियसे भी युक्त किंतु मनसे रहित गोरहरादि असंज्ञी पंचेंद्रिय पर्यायोंमें भी मैं उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार अनेक वार संज्ञी पंचेन्द्रिय भी हुआ, कदाचित मनुष्य भी हुआ। किंतु इन सभी पर्यायोंमें मैं आत्मस्वरूपसे पराङ्मुख ही रहा। मैंने पर पदार्थोंको कभी स्पर्शप्रधान कभी स्पर्शरसप्रधान कभी स्पर्शरसगन्धप्रधान तो कभी स्पर्शरसगंधवर्ण चारो गुणोंसे युक्त पुद्गलद्रव्यको ही अपना स्वरूप समझा। प्रायः विना इच्छाके किंतु कभी कभी — मनुष्यादि पर्यायोंमें इच्छासहित भी मैं उत्पन्न हुआ परंतु मिथ्यात्वके निविड अंधकारमें ही पडा रहा। क्या मैंने कभी भी इस उत्तम कुल प्रशस्त जाति आदिसे युक्त मनुष्य पर्यायको पाकर रत्नत्रयको भी पाया है? नहीं, कभी नहीं। क्योंकि जिस प्रकार समुद्रमें बहुमूल्य रत्नका मिलना अत्यत दुर्लभ है उसी प्रकार संसारमें इस रत्नत्रयका पाना भी अत्यंत दुर्लभ है। अत एव जन्ममरणरूप इस संसारसमुद्रमें इस दुर्लभ रत्नत्रयको ही पानेका मुझे यथेष्ट प्रयत्न करना चाहिये।

यदि पाया हुआ यह रत्नत्रय कदाचित् प्रमादसे क्षणके लिये भी छूट गया तो उसी क्षणमें ऐसे कर्मोंका बन्ध होगा कि जिनका उदय होते ही मुझे उनके वशमें पडकर दुःखों और क्लेशोंका ही अनुभव करना पडेगा।

फिर उस रत्नत्रयका मिलना और भी अधिक कष्टसाध्य हो जायगा। इसी बातको बताते हैः—

दुष्प्रापं प्राप्य रत्नत्रयमखिलजगत्सारमुत्सारयेयं,
नो चेत्प्रज्ञापराधं क्षणमपि तदरं विप्रलब्धोक्षधूर्तैः।
तत्किंचित्कर्म कुर्यां यदनुभवभवत्क्लेशसंक्लेशसंविद्,
बोधेर्विन्देय वार्तामपि न पुनरनुप्राणनास्याः कुतस्त्याः॥ ७९॥

सम्पूर्ण ससारमें सारभूत और दुर्लभ इस रत्नत्रयको पाकर यदि मैंने प्रज्ञापराधको नहीं छोडा और क्षणमात्रकेलिये भी उसको—प्रमादरूप आचरणको धारण किया तो अवश्य ही मैं इन इंद्रियरूपी धूर्तोंसे ठगा जाऊंगा और शीघ्र ही मेरें उस दारुण कर्मका रुचय होगा कि जिसके उदयसे होने वाले क्लेश और संक्लेश दोनोंका ही मुझे अनुभव करना पडे। इन भावोंका अनुभव करनेपर सम्यग्दर्शनादिका पुनरुज्जीवन तो कहां, उसकी बात भी मैं न पा सकूंगा। अत एव रत्नत्रयको पाकर मुझे प्रति समय ऐसी सावधानता रखनी चाहिये कि जिससे क्षणमात्रके लिये भी वह छूट न जाय।

भावार्थ— एक निगोद शरीरमें सिद्धराशिसे अनंतगुणे जीव रहा करते है। ऐसे ही स्थावर जीवोंसे यह सम्पूर्ण लोक खचाखच भरा हुआ है। इसमें त्रसता पंचेंद्रियत्व मनुष्यत्व देश कुल इन्द्रिय आरोग्य और सद्धर्मकी संपत्तिका प्राप्त करना उत्तरोत्तर कठिन है; तब उक्त सम्पूर्ण बातोंका मिलना तो और भी कठिन है। किंतु इन सब बातोंके मिलनेपर भी समाधि मरणका होना बहुत ही कठिन है। रत्नत्रयका फल भी समाधि मरण ही है। अत एव सम्यग्दर्शनादिकका प्राप्त होजाना भी समाधि मरणके होजानेपर ही सफल हो सकता है।

इस प्रकार रत्नत्रयकी दुर्लभताके विचार करते रहनेको ही बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा कहते है। जो साधु इस प्रकार निरतर विचार करता रहता है वह उसकी रक्षामें सावधान रहता है। वह दुर्लभ रत्नत्रयको पाकर एक क्षणके लिये भी ऐसा प्रमाद नहीं करना चाहता जिससे कि उसकी रचमात्र भी मलिनता हो सके।

क्रमप्राप्त धर्मस्वाख्यातत्व नामकी बारहवीं अनुप्रेक्षाका वर्णन करनेकेलिये केवलि भगवान्के द्वारा निरूपित और तीन लोकमें अद्वितीय मंगलरूप तथा सम्पूर्ण लोकमें उत्तम धर्मके प्रकट होनेकी आशा करते है —

लोकालोके रविरिव करैरुल्लसन् सत्क्षमाद्यैः,
खद्योतानामिव घनतमोद्योतिनां यः प्रभावम् ।
दोषोच्छेदप्रथितमहिमा हन्ति धर्मान्तराणां,
स व्याख्यातः परमविशदख्यातिभिः ख्यातु धर्मः ॥ ८० ॥

सम्पूर्ण पदार्थोंकी विशेषताओंको स्पष्टतया प्रकाशित करनेमें कुशल और उत्कृष्ट ज्ञानके धारण करनेवाले सर्वज्ञ भगवान्ने चौदह गुणस्थानोंमें गति आदिक चौदह मार्गणास्थानोंमें जो आत्मतत्वका विचार होता है उसको अथवा वस्तुओंके यथावत् स्वरूपको व्यवहार और निश्चय दोनो ही नयोंसे समीचीन धर्म बताया है । मै चाहता हूं कि सभी जीवोंके तथा मेरे भी यह धर्म उदभूत हो और सदा प्रकाशमान बना रहे। क्योंकि मिथ्यात्वरूपी निबिड अन्धकारमें नाम मात्रको प्रकाश करनेवाले खद्योतोंके समान वेदादिनिरूपित धर्मोंके माहात्म्यको नष्ट करनेवाला धर्म यही है। जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश होनेपर खद्योतोंका प्रकाश नष्ट होजाता है उसी प्रकार इस धर्मके प्रकट होते ही इतर धर्मोंका महत्व हृदयमेंसे नष्ट होजाता है। और जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणोंके द्वारा चकवा चकवीके आलापोंको उल्लसित किया करता है उसी प्रकार यह धर्म भी अपने उत्तमक्षमा मार्दव आर्जव आदि किरणोंके द्वारा भव्य जीवोंके अन्तरङ्गमें सम्यग्दर्शनको प्रकाशित किया करता है। जिस प्रकार सूर्यका महत्व रात्रिको नष्ट करदेनेमें प्रख्यात है उसी प्रकार इस धर्मका माहात्म्य भी रागद्वेषादिक दोषोंके निर्मूल करनेमें प्रसिद्ध है ।

अहिंसा ही एक ऐसा धर्म है कि जिसका फल अक्षय सुख है। अत एव इस धर्मको ही सबसे अधिक दुर्लभ, सम्पूर्ण शब्दब्रह्म–सिद्धात वचनोंका प्राण समझना चाहिये। इसी बातको प्रकट करते है.—

सुखमचलमहिंसालक्षणादेव धर्माद्,
भवति विधिरशेषोप्यस्य शेषोऽनुकल्पः ।
इह भवगहनेसावेव दूरं दुरापः,
प्रवचनवचनानां जीवितं चायमेव ॥ ८१ ॥

अन्तरङ्गमें रागद्वेषादिका उत्पन्न न होना इसको अहिंसा कहते है। अविनश्वर सुखकी प्राप्ति इस अहिंसाधर्मसे ही हो सकती है। इसके सिवाय सत्यवचन अचौर्य प्रवृत्ति और ब्रह्मचर्य आदि जिन जिन धर्मोंका आगममें विधान किया गया है वे सब इस अहिंसा धर्मके ही अनुयायी है। क्योंकि उनके द्वारा द्रव्य अथवा भावरूप अहिंसाका ही समर्थन किया जाता है। अत एव इस संसाररूपी वनमें यह अहिंसा धर्म ही अत्यंत दुर्लभ है। इसको सम्पूर्ण प्रवचन वचनोंका प्राण समझना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

अप्रादुर्भाव खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेप ॥

जो मुमुक्षु इस प्रकार निरंतर धर्मके वास्तविक स्वरूपका और फलका विचार करता रहता है उसके उस धर्ममें अनुराग होता और बढता रहता है।

इस प्रकार बारह भावनाओंका वर्णन करके अंतमें इस बातका उपदेश देते है कि जो साधु इन सम्पूर्ण अनुप्रेक्षाओंका अथवा इनमें जो कोई भी उसे इष्ट हों उन एक दोका भी ध्यान करता रहता है उसके इन्द्रियोंका और मनका प्रसार होना रुक जाता है तथा आत्मस्वरूपमें अपनी आत्माका स्वयं संवेदन होने लगता है। जिससे कि वह कृतकृत्य होकर जीवन्मुक्त अवस्थाको और अंतमें परममुक्तिको भी प्राप्त कर लेता है।—

इत्येतेषु द्विषेषु प्रवचनदृगनुप्रेक्षमाणोऽध्रुवादि,—

ष्वद्धा यत्किंचिदन्तःकरणकरणजिद्वेत्ति यः स्वं स्वयं स्वे।
उच्चैरुच्चैःपदाशाधरभवविधुराम्भोधिपारासिराज·
त्कार्तार्थ्यैः पूतकीर्तिः प्रतपति स परैः स्वैर्गुणैर्लोकमूर्ध्नि ॥ ८२ ॥

परमागम ही है नेत्र जिसके ऐसा जो मुमुक्षु अनित्य अशरण संसार एकत्व अन्यत्व अशुचित्व आस्रव संवर निर्जरा लोक बोधिदुर्लभ ओर धर्मस्वाख्यातत्व इन बारह अनुप्रेक्षाओंमेंसे जिनका कि स्वरूप ऊपर लिखा जा चुका है, यथारूचि एक अनेक अथवा सभीका तत्वतः ध्यान करता है वह मन ओर इंद्रिय दोनोंपर विजय प्राप्त करके आत्मामें ही आत्माका स्वय अनुभव करने लगता है। तथा जहांपर महर्द्धिक देव चक्रवर्ती इन्द्र अहमिंद्र और गणधर तथा तीर्थंकर नामके उन्नतोन्नत पदोंको प्राप्त करनेकी अभिलाषा लगी हुई है और इसी लिये जो निन्द्य समझा जाता है ऐसे संसारके दुःखसमुद्रसे पार पहुंच कर शोभमान कृतार्थ-कृतकृत्यताको प्राप्त कर लेता है। क्योंकि संसारके सम्पूर्ण पदोंसे संतोष होजानेको कृतकृत्यता कहते है। वह संसारके उस पार ही प्रकाशमान है। इस प्रकार वह मुमुक्षु पवित्र यश और वचनोंको धारण करके जीवन्मुक्त बनकर अन्तमें अपन-आत्मिक-सिद्ध अवस्थामें प्रकट होनेवाले सम्यग्दर्शनादिक उत्कृष्ट गुणोंके द्वारा तीनो लोकोंके ऊपर-लोकके अग्रमें प्रदीप्त होता है।

दु खोंका अनुभव किये विना यदि ज्ञानका अभ्यास किया जाय तो वह प्रायः दुःखोंके उपस्थित होते ही नष्ट भ्रष्ट-आत्मानुभवसे च्युत हो सकता है। अत एव मुनियोंको चाहिये कि वे आत्माका ध्यान या विचार अपनी शक्तिके अनुसार दुःखोंके साथ साथ ही किया करें। जैसा कि कहा भी है कि—

अदु खभावित ज्ञान क्षीयते दु खसन्निधो।
तस्माद्यथाबल दु खैरात्मान भावयेन्मुनि ॥

इसी बातको ध्यानमें रखकर अनुप्रेक्षाओंके अनतर परीषहोंका वर्णन करनेके लिये उनकी विशेष संख्या-को अन्तर्गर्भित करके उनका सामान्य लक्षण बताते हुए इस बातका निर्देश करते है कि इन क्षुत्पिपासा आदि

परिषहोंका विजय कैसा व्यक्ति कर सकता है:—

दुःखे भिक्षुरुपस्थिते शिवपथाद्भ्रश्यत्यदुःखश्रितात्,
तत्तन्मार्गपरिग्रहेण दुरितं रोद्धुं मुमुक्षुर्नवम् ।
भोक्तुं च प्रतनं क्षुदादिवपुषो द्वाविंषतिं वेदनाः,
स्वस्थो यत्सहते परीषहजयः साध्यः स धीरैः परम् ॥८३॥

यदि संयमी साधु विना दुःखोंका अनुभव किये ही मोक्षमार्गका सेवन करे तो वह उसमें दुःखोंके उपस्थित होते ही भ्रष्ट हो सकता है। अत एव साधुओंकेलिये परीपहोंको जीतनेका उपदेश है। जैसा कि कहा भी है कि:—

परिषोढव्या नित्य दर्शनचारित्ररक्षणे नियता ।
संयमतपोविशेषास्तदेकदेशाः परीषहाख्या स्युः ॥

अत एव जो मुमुक्षु समीचीन ध्यानरूपी मोक्षमार्गको स्वीकार करके उसके द्वारा नवीन दुष्कर्मोंका निरोध करनेकेलिये और पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा करनेकेलिये आत्मस्वरूपमें स्थिर होकर क्षुधा पिपासा आदि बाईस प्रकार की वेदनाओंको सहता है उसीको परीषहविजयी कहते हैं। धीर पुरुष ही परीषहविजयको सिद्ध कर सकते हैं। जो दुःखोंके उपस्थित होनेपर रंचमात्र भी कातरता प्रकट नहीं करते ऐसे धीर पुरुष ही परीषहविजयको सिद्ध कर सकते हैं।

भावार्थ—क्षुधादिक वेदनाओंके परीपह और आत्मस्थ होकर उनके सहनेको परीषहजय कहते हैं धीर व्यक्ति ही इस विजयको सिद्ध करनेका अधिकारी है। और इसका फल नवीन कुकर्मोंका संवर तथा प्राचीन कर्मोंकी निर्जरा होना है। अत एव मुमुक्षुओंको कातरता छोडकर परीषहोंपर विजय प्राप्त करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेपर ही संवर और निर्जराके सिद्ध होजानेसे मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है।

बालकोंको व्युत्पत्ति करानेकेलिये परीषहोंका सामान्य लक्षण फिरसे विस्तारपूर्वक बताते हैः—

शारीरमानसोत्कृष्टबाधहेतून् क्षुदादिकान् ।
प्राहुरन्तर्बहिर्द्रव्यपरिणामान् परीषहान् ॥८४॥

अन्तरङ्ग द्रव्यजीवके क्षुधा पिपासा आदि परिणामोंको और बाह्य द्रव्यपुद्गलके शीत उष्णता आदि जो शारीरिक अथवा मानसिक उत्कृष्ट बाधाओंके कारण हो ऐसे परिणामोंको आचार्य परीषह कहते है ।

जो आत्मकल्याणके अभिलाषी हैं उनको चाहे जितने विघ्नोंके आपडनेपर भी आरब्ध श्रेयोमार्गसे हटना न चाहिये । इस बातकी शिक्षा देते हैः—

स कोपि किल नेहाभून्नास्ति नो वा भविष्यति ।
यस्य कार्यमविघ्नं स्यान्न्यक्कार्यो हि विधेः पुमान् ॥ ८५ ॥

जिसका कोई भी कार्य विघ्नरहित हो ऐसा कोई भी पुरुष न तो आजतक हुआ, न वर्तमानमें है, और न आगे ही होगा; क्योंकि निश्चयसे दैव पुरुषका अभिभव किया ही करता है। शास्त्र और लोक दोनों ही जगँह यह बात प्रसिद्ध है कि " श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि " अत एव विचारशील साधुओंको श्रेय साधनका प्रारम्भ करके विघ्नोंके भयसे उसको कभी भी न छोडना चाहिये । जैसा कि अन्य लोगोंने भी कहा है ।

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचै
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्या ।
विघ्नै. पुन पुनरपि प्रतिहन्यमाना,
प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥

जो साधु दु ख और परिश्रमसे घबडा जाता है उसका यह लोक और परलोक दोनो ही भ्रष्ट हो जाते

है-कहीं भी उसका अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार भयका उद्भावन कर परीषह और उपसर्गों को जीतनेके लिये मुमुक्षुओंको उद्युक्त करते हैः——

विक्लवप्रकृतिर्यः स्यात् क्लेशादायासतोथवा।
सिद्धस्तस्यात्रिकध्वंसादेवामुत्रिकविप्लवः ॥ ८६ ॥

जो व्याधि आदिक बाधाओंसे अथवा परिश्रमसे घबडा जानेवाला है उसके अभीष्ट-पारलौकिक कल्याणका विनाश निश्चित है। क्योंकि उसकी तीनो बातें नष्ट हो जाती हैं। जिसका फल इसी लोकमें प्राप्त करना चाहता है उसका और जिसका फल परलोकमें प्राप्त करना चाहता है उसका तथा जो कार्य शुरू किया है उसका, इस तरह तीनों ही नष्ट हो जाते हैं।

जिस साधुका मन अत्यंत तीव्र उपसर्गों और परीषहोंके वार वार आपडनेपर भी विचलित नहीं होता उसीको अभीष्ट निःश्रेयस पदकी प्राप्ति हो सकती है, ऐसा उपदेश देते हैः-

क्रियासमभिहारेणाप्यापतद्भिः परीषहैः।
क्षोभ्यते नोपसर्गैर्वा योपवर्गं स गच्छति ॥ ८७ ॥

प्रचुर प्रमाणमें और वार वार भी आपडनेवाले परीषह तथा उपसर्गों-देव मनुष्य तिर्यंच अथवा अचेतन निमित्तसे होनेवाले पीडाविशेषोंके द्वारा जिसका हृदय क्षुब्ध-चलायमान नहीं होता ऐसा ही मुमुक्षु साक्षात् मोक्षको प्राप्त कर सकता है।

जिसने परीषहोंपर विजय प्राप्त करनेका अभ्यास पहलेसे ही करलिया है ऐसा धीर वीर व्यक्ति ही क्रमसे घाति कर्मोंका क्षय करके लोकके अन्तमें प्राधान्यको प्राप्त किया करता है—

सोढाशेषपरीषहोऽक्षतशिवोत्साहः सुदृग्वृत्तभाग्,

मोहांशक्षपणोल्वणो कृतबलो निस्सांपरायं स्फुरन् ।
शुक्लध्यानकुठारकृत्तबलवत्कर्मद्रुमूलोऽपरं,
ना प्रस्फोटितपक्षरेणुखगवद्यात्यूर्ध्वमस्त्वा रजः ॥८८॥

जो द्रव्यसे पुल्लिग है और जिसने सबसे पहले क्षुधादिक परीषहोंको सह बना लिया है । -जो इन परीषहोंके अथवा उपसर्गोंके द्वारा कभी भी अभिभूत नहीं होता और अप्रतिहत तथा प्रतिक्षण बढता हुआ है मोक्षके लिये उत्साह जिसका एवं क्षायिक सम्यक्त्व और सामायिक छेदोपस्थापन आदिमेंसे किसी भी चारित्रमें तन्मय होजाने वाला-क्षपकश्रेणीपर आरोहण करनेकेलिये उन्मुख हुआ है ऐसा सातिशय अप्रमत्त सम्यग्दृष्टि जीव ही क्रमसे मोहनीय कर्मके अंशों-चारित्रमोहनीयकी कुछ प्रकृतियोंके क्षीण होजानेसे उत्कट सामर्थ्यको धारण कर-अपूर्व करण आदि गुणस्थानोंको पाकर अकषायता—लोभके अभावको प्रकाशित करते हुए शुक्लध्यानरूपी कुठारके द्वारा ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय इन तीन बलवान् कर्मरूपी वृक्षोंको जडसे उखाडकर- जीवन्मुक्त हो कर आत्मरूपको आच्छादित करनेकेलिये धूलिके समान वेदनीय आयु नाम गोत्र इन अघाति कर्मोका निरसन करके ऊर्ध्वगति-लोकके अग्रस्थानको प्राप्त किया करता है। जिस प्रकार यदि किसी पक्षीके पखोंमें धूलि लगी हो तो वह उड नहीं सकता किंतु उसके दूर होते ही यथेच्छ उडकर ऊपरको जा सकता है । इसी प्रकार जीवन्मुक्तरूपी पक्षी अघातिकर्मरूपी धूलिको हटाकर ऊर्ध्वगमन किया करता है।

भावार्थ—ज्ञानावरणादि बलिष्ठ कर्मोको निर्मूल करनेके लिये छेदन करनेमें कारण शुक्लध्यान-रूपी कुठारको जो बताया है वह यद्यपि सामान्य निर्देश है किन्तु उससे एकत्ववितर्क अवीचार नामक दूसरा शुक्ल ध्यान समझना चाहिये । क्योंकि पृथक्त्ववितर्कवीचार नामका शुक्ल ध्यान तो आठवे आदि गुणस्थानोंमें ही होजाता है । इसी प्रकार अघातिकर्मोका निरसन व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामके शुक्लध्यानसे हुआ करता है। किंतु यह सब और इसके भी पहले क्षपक श्रेणीका आरोहण तक भी उसी व्यक्तिके हो सकता है जिसने कि परीषहों और उपसर्गोंको जीतनेका भले प्रकार अभ्यास करालिया है । अत एव मुमुक्षुओंको सबसे पहले इसीका

अभ्यास करना चाहिये। यही कारण है कि यहांपर मुमुक्षुका सबसे पहला विशेषण "सोढाशेषपरीषहः" दिया है। इस विशेषणको स्पष्ट करनेके लिये सबसे पहले क्षुधापरीषहपर जय प्राप्त करनेका विधान करते हैः—

षट्कर्मीपरमादृतेरनशनाद्यास्त्रकशिम्नोऽसन्,—
स्यालाभाच्चिरमप्यरं क्षुदनले भिक्षोर्दिधक्ष्यत्यसून्।
कारापञ्जरनारकेषु परवान् योऽभुक्षि तीव्राः क्षुधः,
का तस्यात्मवतोऽद्य मे क्षुदियमित्युज्जीव्यमोजो मुहुः ॥८९॥

छह आवश्यक क्रियाओंके करनेमें परम आदर भाव रखनेवाले और अनशनादिक बाह्य तपोंके करनेसे अत्यंत कृशताको प्राप्त हुए भिक्षु— भिक्षान्नवृत्ति करनेवाले संयमी साधुको चिरकाल तक–वर्षभरतक भोजनके न मिलनेसे यदि क्षुधा बाधारूप अग्नि शीघ्र ही प्राणोंको भी दग्ध करदेनेके लिये प्रवृत्त हो तो इस प्रकार विचार करके अपने उत्साहको बार बार उद्दीप्त करना चाहिये कि —

मनुष्य पर्यायमें जेलखानेमें, तिर्यंच पर्यायके धारण करनेपर पिंजरे आदिकमें, और नारक पर्यायके अन्दर नरकादिकोंमें पराधीन होकर जैसी जैसी मैने तीव्र क्षुधाबाधाएं सही है या मुझे सहनी पडी उनकी अपेक्षा आज, जब कि मै आत्माधीन—स्वतन्त्र हूं, मेरी यह क्षुधाबाधा तो चीज ही क्या है? कुछ भी नहीं।

भावार्थ — चिरकाल तक उपवास करनेसे जठराग्नि प्राणोंको भी दग्ध किया करती है। जैसा कि वैद्यक ग्रन्थोंमें भी लिखा है किः—

आहारं पचति शिखी दोषानाहारवर्जित पचति।
दोषक्षये च धातून् पचति च धातुक्षये प्राणान्॥

अत एव चिरकाल तक तपस्या और उपवासोंके करनेसे यदि ऐसी भी अवस्था आकर उपस्थित होजाय तो भी साधुओंको अपने आवश्यक कर्मों और तपोऽनुष्ठानोंसे विचलित न होना चाहिये, किंतु "पूर्व जन्मोंमें भोगी

हुई तीव्र आहारबाधाओंका विचार करके वर्तमान बाधाकी नगण्यताका विचार कर उक्त आवश्यकों और तपोऽनुष्ठानोंमें अपने उत्साहको और भी अधिक उद्दीप्त करना चाहिये ।

पिपासा परीषहमें तिरस्कार प्रकट करते हैः—

पत्रीवानियतासनोदवसितः स्नानाद्यपासी यथा,-
लब्धाशी क्षपणाध्वपित्तकृदवष्वाणज्वरोष्णादिजाम् ।
तृष्णां निष्कुषिताम्बरीषदहनां देहेन्द्रियोन्माथिनीं,
संतोषोद्धकरीरपूरितवरध्यानाम्बुपानाज्जयेत ॥ १० ॥,

पक्षियोंके समान साधुजन भी एक जगह स्थिर नहीं रहते—वे सदा भ्रमण ही करते रहते है ।.न उनका कोई घर ही नियत है । वनोंमें या पर्वतोंकी कन्दराओंमें अथवा यत्र तत्र बनी हुई वसतिकाओ आदिमें ही वे निवास किया करते है । पानीके न मिलनेपर स्नानादि करनेसे भी कदाचित् मनुष्योंको शान्तिलाभ हो सकता है । किंतु साधुजन स्नान अवगाहन परिषेचन शिरोलेपन आदि सभी उपचारोंका परित्याग करनेवाले है । वे केवल यथाप्राप्त भोजन ग्रहण करते हैं जिससे कि उल्टी तृष्णा—प्यास बढ ही सकती है । फिर भी आत्मसिद्धिकी साधनामें प्रवृत्त हुए साधुओंको उपवास मार्गगमन तथा कडुआ कसेला नमकीन आदि पित्तवर्धक आहार एवं ज्वरजनित संताप और उष्णता या मरुदेश प्रभृति कारणोंसे उत्पन्न हुई भाडकी अग्निको भी जीतने वाली और शरीर तथा इन्द्रियोंको कदर्थित करडालनेवाली पिपासाका संतोषरूपी मावमासके बने हुए प्रशस्त घटमें प्राप्त उत्कृष्ट धर्म्य और शुक्लध्यानरूपी जलका पान करके शमन करदना चाहिये ।

शीतपरीषहको जीतनेका उपाय बताते हैं:—

विष्वक्चारिमरुच्चतुष्पथमितो धृत्येकवासाः पत,—

त्यन्वङ्गं निशि काष्ठदाहिनि हिमे भावांस्तदुच्छेदिनः ।
अध्यायन्नधियन्नधोगतिहिमान्यतींदुरन्तास्तपो,—
वर्हिस्तप्तनिजात्मगर्भगृहसंचारी मुनिर्मोदते ॥ ९१ ॥

शीत ऋतुके दिनोंमें रात्रिके समय जब कि प्रत्येक प्राणीके ऊपर उस हिम–तुपारका पतन हुआ करता है जिससे कि बडे बडे वृक्ष और वनस्पति भी दग्ध हो जाया करते हैं, मुनिजन उस चौरायेपर जाकर निवास करते है जहांपर कि चारो ही तरफकी हवा चलती रहती है। उस समय वे साधुजन संतोषरूपी अद्वितीय वस्त्रको धारण करते हैं। किंतु जिनसे कि शीतकी वाधा दूर की जासकती है ऐसे पूर्वानुभूत पदार्थोंका स्मरण भी नही किया करते। हां, अधोगति—नरकोंकी तीव्र शीतजनित वेदनाओंका स्मरण अवश्य किया करते हैं। तथा तपस्यारूपी अग्निसे संतप्त हुए अपने आत्मस्वरूप गर्भगृह–तलघरमें विहार करते हुए आनन्दका अनुभव किया करते है।

भावार्थ— मुख्यतया चार कारणोंसे शीतपरीपहका निग्रह किया जासकता है—१ संतोपसे, २ पूर्वानुभूत रजाई अंगीठी गंधतैल और केशर आदिका स्मरण न करनेसे, ३ नरकादिकी शीतवेदनाओंके स्मरणसे, और ४ आत्मस्वरूपमें लीन रहनेसे।

उष्ण परीपहको सहनेका उपाय बताते है —

अनियतविहृतिर्वनं तदात्वज्वलदनलान्तामितः प्रवृद्धशोषः ।
तपतपनकरालिताध्वखिन्नः स्मृतनरकोष्णमहार्तिरुष्णसात्स्यात् ॥ ९२ ॥

साधुओंका विहार अनियत हुआ करता है; क्योंकि वे सदा एक स्थानमें अवस्थित नहीं रहा करते। अत एव ग्रीष्मकालमें सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंसे संतप्त मार्गमें गमन करनेके कारण खेदको प्राप्त हुए और इसी लिये

जिनका मुख भीतरसे बिलकुल सूखगया है ऐसे साधुजन यदि कदाचित् ऐसे वनमें जाकर प्राप्त हो जांय कि जिसके सभी प्रान्तभाग तत्काल लगी हुई अग्निसे जल रहे हों और फिर भी वे अपनी उष्ण बाधाका कुछ भी विचार न कर नरकादिकोंमें होनेवाली उष्णताकी महा वेदनाओंका स्मरण करें तो कहना चाहिये कि वे महा मुनि उष्ण परीषहके सहन करनेवाले हैं।

भावार्थ—ऊपरके श्लोकमे नरकोंकी शीतवेदनाका और इस श्लोकमें उष्णवेदनाका उल्लेख किया है। इसका कारण यह है कि आदिके चार नरकोंमें और पांचवे नरकके चार भागोंमसे तीन भागोंमें उष्णवेदना हुआ करती है। बाकी पांचवें नरकके चतुर्थभागमें और छट्ठे तथा सातवें नरकमें शीत वेदना हुआ करती है।

दंशमशक परीषहविजयका वर्णन करते है—

दंशादिदंशककृतां बाधामपजिवांसया।
निःक्षोभ सहतो दंशमशकोर्मीक्षमा मुनेः॥ ९३॥

डांस मच्छर मक्खी पिस्सू वर्र ततैया दीमक खटमल कीडा मकोडा चींटी बिच्छू आदि काटनेवाले जितने कीटक—क्षुद्र प्राणी है उनके काटनेसे उत्पन्न हुई पीडाको जो साधु अशुभ कर्मोदयका नाश करनेकी इच्छासे निश्चलचित्त होकर सहन करता है उसके दंशमशकपरीषहका विजय माना जाता है।

नाग्न्य परीषहके जीतनेवाले साधुओंका स्वरूप बताते हैः

निर्ग्रन्थनिर्भूषणविश्वपूज्यनाग्न्यव्रतो दोषयितुं प्रवृत्ते।
चित्तं निमित्ते प्रबलेपि यो न स्पृश्येत दोषैर्जितनाग्न्यरुक् सः॥ ९४॥

वामदृष्टि शापाकर्णन कामिनीनिरीक्षण आदि जिनका प्रतीकार नहीं किया जा सकता ऐसे प्रबल कारणोंके, मनको मलिन करनेके लिये विकारकी तरफ ले जाने के लिये प्रवृत्त होनेपर भी जिस साधुको वे दोष छू

नहीं पाते और जो वस्त्रादि परिग्रहोंसे रहित तथा कटक कुण्डलादि भूषणोंसे रिक्त एवं संसारके लिये पूज्य नग्न-स्वरूप रहनेकी प्रतिज्ञामें स्थिर रहता है उसीको नग्नपरीषहका विजेता समझना चाहिये।

अरति परीषहके जीतनेका उपाय बताते हैः—

लोकापवादभयसद्व्रतरक्षणाक्ष,—
रोधक्षुदादिभिरसह्यमुदीर्यमाणाम् ।
स्वात्मोन्मुखो धृतिविशेषहतेन्द्रियार्थ,—
तृष्णः शृणात्वरतिमाश्रितसंयमश्रीः ॥९५॥

इन्द्रियोंके विषयोंमें लगी हुई तृष्णाको विशिष्ट संतोषके द्वारा दूर करके और निज आत्मस्वरूपकी तरफ उन्मुख होकर संयम—संपत्तिके धारक-रतिका स्मरण दिलानेवाली देखी सुनी अथवा स्वयं अनुभवमें आई हुई कथाओंके श्रवणका परित्याग करनेवाले साधुओंको लोकापवादका भय सद्व्रतोंकी रक्षा तथा इन्द्रियनिरोध और क्षुधादि कारणोंके द्वारा दुःसह रूपसे उद्भूत हुई अरति-किसी भी एक शयन अथवा आसनादिकमें अवस्थित न रहने का परित्याग करना चाहिये।

यहांपर यदि कोई कहे कि चक्षुरादिक सभी इन्द्रियां अरतिकी कारण है अतएव अरतिका पृथक् ग्रहण करना अयुक्त है, तो वह ठीक नहीं है। क्योंकि कदाचित् क्षुधादिकी बाधा न होनेपर भी केवल कर्मोदयके निमित्त-से भी संयममें अरति हो जाया करती है।

स्त्रीपरीषहको सहनेका उपदेश देते हैः—

रागाद्युपप्लुतमतिं युवतीं विचित्रां,—
श्चित्तं विकर्तुमनुकूलविकूलभावान् ।

संतन्वतीं रहसि कूर्मवदिन्द्रियाणि,
संवृत्त्य लब्धपवदेत गुरूक्तियुक्त्या ॥ ९६ ॥

रागद्वेषके निमित्तसे अथवा यौवनका गर्व रूपका मद विभ्रम या उन्माद और मद्यपानके आवेशसे नष्ट होगई है बुद्धि जिसकी ऐसी युवती स्त्री यदि कदाचित् चित्तको विकृत बनानेकेलिये एकान्तमें नाना प्रकारके अनुकूल और प्रतिकूल भावोंको करनेका सतत प्रयत्न करे तो साधुओंको शीघ्र ही गुरुनिरूपित युक्ति-विधानके अनुसार अपनी इन्द्रियोंका कच्छपकी तरह संकोच कर उसका निराकरण करदेना चाहिये।

भावार्थ—जिस प्रकार किसी आघातके उपस्थित होते ही कच्छप अपने हाथ पैर ग्रीवा आदिको संकोच लेता है उसी प्रकार विकृतमति तरुणियोंके द्वारा एकान्तमें किये गये मनको मलिन करनेवाले विविध प्रकारके अनुकूल प्रतिकूल भावोंके आघातके उपस्थित होते ही साधुओंको अपनी इन्द्रियां संकुचित करलेनी चाहिये। ऐसा करनेपर ही स्त्रीपरीषहपर विजयलाभ हो सकता है। क्यों कि जो मुनि स्त्रियोंके दर्शन स्पर्शन आलाप अभिलाषादिमें उत्सुकता नहीं रखता तथा जो उनके नेत्र मुख भौंह आदिके विकारों एवं रूप गमन हंसी लीला जम्हाई पीनोन्नत स्तन जघन उरुमूल कांख और नाभि आदि स्थानोंके देखनेपर भी विकृतमना नहीं होता और जिसने वशगीतादिके सुनने आदि तौर्यत्रिकका परित्याग करदिया है वही साधु स्त्रीपरीषहका विजयी कहा जा सकता है।

चर्यापरीषहको सहनेका निरूपण करते हैं:—

बिभ्यद्भवाच्चिरमुपास्य गुरून्निरूढ,—
ब्रह्मव्रतश्रुतशमस्तदनुज्ञयैकः।
क्षोणीमटन् गुणरसादपि कण्टकादि,—
कष्टे सहन्त्यनधियन् शिबिकादिचर्याम् ॥ ९७ ॥,

संसारसे उद्विग्न और धर्माचार्यादि गुरुजनोंकी चिरकालतक सेवा करनेसे अत्यंत दृढताको प्राप्त होगया है ब्रह्मचर्य और शास्त्रज्ञान तथा कषायोंका उपशम जिसका ऐसा जो साधु दर्शनविशुद्धि आदि कारणोंमें अनुराग रख कर गुरुओंकी आज्ञाके अनुसार पृथ्वीपर एकाकी विहार करते हुए कांटा खोवरा कंकड पत्थर या और किसी नुकीली चीजके छिदजाने आदिका कष्ट होते हुए भी पूर्वानुभूत पालकी पीनस रथ वैली हाथी घोडा आदि याप्य यान या वाहन आदि किसी भी सवारीका स्मरण नहीं करता उसके चर्यापरीषहका विजय समझना चाहिये।

निषद्या परीषहके विजयका स्वरूप बताते है ?—

भीष्मश्मशानादिशिलातलादौ,
विद्यादिनाऽजन्यगदाद्युदीर्णम्।
शक्तोपि भङ्क्तुं स्थिरमङ्गिपीडां,
त्यक्तु निषद्यासहनः समास्ते ॥९८॥

भयंकर श्मशान प्रेतवन शून्यगृह या गिरिकंदरादिकमें शिलातल अथवा किसी स्थंडिल प्रदेशपर ध्यान करते समय विद्या मंत्र अथवा औषधि आदिके निमित्तसे उद्भूत हुए उपसर्ग या किसी भी तरहकी व्याधिको नष्ट करनेकेलिये स्वय समर्थ रहते हुए भी जो साधु स्थिर होकर समाधि— वीरासनादिक कायोत्सर्गसे चलायमान नहीं होता उसको ही निषद्यापरिषहका सहन करनेवाला समझना चाहिये।

शय्यापरीषहको जीतनेका उपदेश देते हैः -

शय्यापरीषहसहोऽस्मृतहंसतूल,—
प्रायोऽविषादमचलञ्चियमान्मुहूर्तम्।

आवश्यकादिविधिग्वेदनुदे गुहादौ,

त्र्यस्रोपलादिशबले शववच्छयीत ॥ ९९ ॥

स्वाध्याय प्रभृति आवश्यक कर्मोंके करनेसे उत्पन्न हुए खेदका निराकरण करनेकेलिये जो साधु विपादरहित होकर " यह स्थान व्याघ्रादि हिंस्र जंतुओंसे व्याप्त है, यहासे जल्दी निकल चलना ही अच्छा है, देखें-कब रात खतम होती है, " इस तरहकी भयपूर्ण आकुलतासे रहित होकर नियम— एकपार्श्वसे अथवा दण्डवत् लम्बे होकर सोनेकी प्रतिज्ञासे चलायमान न होता हुआ तिकोने कठीले आदि कंकड पत्थरोंसे व्याप्त पर्वतकी गुहा कंदरा आदिमें शवकी तरह निश्चेष्ट होकर शयन करता है और पूर्वानुभूत हसतूलशय्या अथवा आस्तरणादिका स्मरण नहीं करता उस साधुको शय्यापरीषहका विजयी समझना चाहिये ।

आक्रोश परीषह जीतनेवालेका स्वरूप बताते हैः—

मिथ्यादृशाश्चण्डदुरुक्तिकाण्डैः,

प्रविध्यतोऽरूंषि मृधं निरोद्धुम् ।

क्षमोऽपि यः क्षाम्यति पापपाकं,

ध्यायन् स्वमाक्रोशसहिष्णुरेषः ॥ १०० ॥

मिथ्यादृष्टियोंके मर्मवेधी अत्यंत अनिष्ट तथा प्रचण्ड दुर्वचनरूपी बाणोंका शीघ्र ही प्रतीकार करनेमें समर्थ रहते हुए भी जो साधु अपने पूर्वसंचित पाप कर्मके उदयका स्मरण करके उनपर क्षमा करदेता है उसीको आक्रोश परीषहका विजेता समझना चाहिये ।

वध परीषहके विजयका स्वरूप बताते हैः—

नृशंसेऽरं कश्चित्स्वैरं कुतश्चिन्मारयत्यपि ।
शुद्धात्मद्रव्यसंविच्चिवित्तः स्याद्वधमर्षणः ॥ १०१ ॥

यदि कभी कोई चोर प्रभृति नृशंस मनुष्य—क्रूर कर्म करनेवाला आदमी दृष्ट या अदृष्ट किसी भी कारण के वश शीघ्र ही स्वच्छन्द होकर मार डालनेके लिये तयार हो उस समयमें जो साधु अपने शुद्धात्म द्रव्यके अनुभवसे विश्वस्त होकर स्थिर रहता है उसीको वधपरीपहका विजयी समझना चाहिये ।

भावार्थ—जो साधु किसी भी क्रूर जीवके द्वारा अपना प्राणापहार होनेपर भी ऐसा विचार करता है कि यह जीव मेरे शरीरका घात करता है जो कि विनश्वर और दुःखद ही है; किंतु आत्मस्वरूप ज्ञानका घात नहीं करता जो कि उससे सर्वथा विपरीत अविनश्वर और सुखमय है । उसीको वधबाधाका अबाध विजेता समझना चाहिये ।

साधुओंको याचना परीपह जीतनेके लिये भी उन्साहित करते हैं:—

भृशं कृशः क्षुन्मुखसन्नवीर्यः,
शम्पेव दातॄन् प्रतिभासितात्मा ।
ग्रासं पुटीकृत्य कराव्ऽयाञ्चा,—
व्रतोपि गृह्णन् सह याचनार्तिम् ॥ १०२ ॥

हे साधो ! प्राण निकलजानेपर भी आहार वसतिका और औषध आदिके लिये मैं किसीसे याचना तो नहीं ही करूंगा किंतु दीन वचन मुखवैवर्ण्य और शरीरके इशारे आदिसे याचना करने का अन्तर्गत भाव भी प्रकट न करूंगा, इस प्रकार अयाचनाव्रतका धारण करनेवाला तू, दीखने लगी है हड्डी और नसें जिसकी ऐसा अत्यंत कृश होकर भी तथा क्षुधा मार्गगमन तपस्या और रोग आदिके द्वारा अपनी स्वाभाविक शक्तिके क्षीण

होजानेपर भी दानोद्यत गृहस्थोंको बिजलीके चमत्कारकी तरह क्षणमात्रके लिये ही एक वार अपना स्वरूप मात्र दिखाकर दाताके दिये हुए आहारको अपने हस्तपुट—दोनो हाथोंको ही पात्र बनाकर ग्रहण करते हुए याचना परिषहपर विजय प्राप्त कर सकता है।

अलाभ परिषहके विजयका स्वरूप दिखाते हैः—

निःसङ्गो बहुदेशचार्यऽनिलवन्मौनी विकायप्रती,—
कारोऽद्येदमिदं श्व इत्यविमृशन् ग्रामेस्तभिक्षः परे।
बह्वोकःस्वपि बह्वहं मम परं लाभादलाभस्तपः,
स्यादित्यात्तधृतिः पुरोः स्मरयति स्मार्तोनलाभं सहन् ॥ १०२ ॥

जो साधु वायुकी तरह निर्ग्रंथ है- किसी भी पदार्थसे ससक्ति नहीं रखता और अनेक देशोंमें भ्रमण करता रहता है, जो मौनव्रतको धारण करता किंतु अपने शरीरका कभी भी प्रतीकार नहीं करता है। जो कभी इस प्रकारका संकल्प भी नहीं करता कि आज इस घरमें विहार करेंगे और कल उस घरमें। जो एक ग्राममें भिक्षा न मिलनेपर उसी दिन दूसरे ग्राममें भिक्षाके लिये पर्यटन करनेकी उत्सुकता नहीं रखता, और अनेक गृहोंमे तथा अनेक दिन तक आहार मिलते रहनेकी अपेक्षा न मिलना ही मेरेलिये उत्कृष्ट तप है, ऐसा समझता है वह परम संतोषको धारण करनेवाला ऋषि ही अलाभ परीषहका जीतनेवाला समझा जाता है। ऐसा साधु अपने इस उत्कृष्ट धैर्यके द्वारा, उन ऋषियोंको जो कि पर, मागमरूप उद्धार शास्त्रके ज्ञाता तथा तदनुसार आचरण करने वाले है, भगवान् आदिनाथका स्मरण करादेता है।

भावार्थ—आहारके लाभसे अलाभको ही श्रेयःसाधन समझकर अपने उत्कृष्ट धैर्यसे विचालित न होना ही अलाभ परीषहका विजय समझा जाता है।

रोगपरीषहके विजयका स्वरूप बताते हैः—

तपोमहिम्ना सहसा चिकित्सितुं,

शक्तोपि रोगानतिदुस्सहानपि ।
दुरन्तपापान्तविधित्सया सुधीः,
स्वस्थोधिकुर्वीत सनत्कुमारवत् ॥ १०४ ॥

शरीर और आत्मामें भेदज्ञान रखनेवाला जो साधु एक साथ उपस्थित हुई अत्यंत दुस्सह कुष्टादिक अनेक व्याधियोंका विशिष्ट तपके बलसे प्राप्त हुई जल्लौषधि आदि अनेक ऋद्धियोंके द्वारा क्षणमात्रमें प्रतीकार करनेकेलिये समर्थ होते हुए भी प्रतीकार नहीं करता किंतु सनत्कुमार चक्रवर्तीकी तरह दुःखद पापकर्मोंका विनाश करनेकी इच्छासे निराकुल होकर उनकी बाधाका सहन करता है उसको रोगपरीषहका विजयी समझना चाहिये ।

तृणस्पर्श परीषहके सहनेका स्वरूपनिर्देश करते हैं:—

तृणादिषु स्पर्शखरेषु शय्यां भजान्निषद्यामथ खेदशान्त्यै ।
संक्लिश्यते यो न तदर्तिजातखर्जुस्तृणस्पर्शतितिक्षुरेषः ॥ १०५ ॥

सूखे तृण पत्ते या कंकरीली भूमि अथवा पत्थरकी शिला यद्वा ऐसी कण्टकित भूमिपर जो कि छूनेमें भी कर्कश मालुम होती है, व्याधि, मार्गमें विहार अथवा ठंडी गर्मी आदिके निमित्तसे उत्पन्न हुए श्रम—खेदको दूर करनेकेलिये शयनासन करनेवाला जो साधु उन शुष्क तृणादिककी पीडासे खुजली आदि विकारोंके उत्पन्न होने पर भी उनसे संक्लिष्ट—खिन्न नहीं होता उसको तृणस्पर्श परीषहका विजयी समझना चाहिये ।

मलपरीषहके विजयको दिखाते हैं:—

रोमास्पदस्वेदमलोत्थसिध्म,—
प्रायार्त्यवज्ञातवपुः कृपावान् ।

केशापनेतान्यमलाग्रहीता,
नैर्मल्यकामः क्षमते मलोर्मिम् ॥ १०६ ॥

रोमछिद्रोंमें रहनेवाले प्रस्वेदमलके निमित्तसे उत्पन्न हुए दाद खाज छाजन आदि अनेक चर्मरोगोंकी पीडासे शरीर युक्त रहते हुए भी जो साधु उसकी तरफ कभी लक्ष नहीं करता; प्रत्युत उसमें केवल दया-परिणामोंको सिद्ध करनेका ही भाव रखता है। क्योंकि उसने शरीराश्रित प्रतिष्ठित बादर निगोदिया जीवोंकी दयाका पालन करनेकेलिये ही उद्वर्तन करनेका और जलकायिक जीवोंकी रक्षा करनेकेलिये ही स्नानका परित्याग कर दिया है। इसी प्रकार जो साधु केशोंका लोच करनेमें और उसके बाद सत्कार न करनेमें जो पीडा होती है उसको सहन करता है और अन्य मलका ग्रहण नहीं करता उस कर्ममलरूप पङ्कके दूर करनेकी इच्छा रखनेवाले साधुको मलपरीषहका विजयी समझना चाहिये।

भावार्थ---कर्ममलको दूर करनेकी इच्छा और दयापरिणामोंके सिद्ध करनेकी अभिलाषासे ही मलजनित अनेक बाधाओं और व्याधियोंके होते हुए भी उनकी तरफ लक्ष्य न करनेको और निर्मम होकर केशोत्पाटनादिक करनेको मलपरीषहका विजय कहते हैं।

सत्कारपुरस्कार परीषहके विजयका स्वरूप बताते हैं: --

तुष्येन्न यः स्वस्य परैः प्रशंसया,
श्रेष्ठेषु चाग्रे करणेन कर्मसु।
आमन्त्रणेनाथ विमानितो न वा,
रुष्येत्स सत्कारपुरस्क्रियोर्मिजित् ॥ १०७ ॥

दूसरे लोग यदि अपनी प्रशंसा करें अथवा धार्मिक एवं माङ्गलिक कार्योंके समय अपनेको बुला कर अथवा अग्रस्थान देकर अपना सम्मान करें तो उससे जो साधु प्रसन्न नहीं होता और इसके विरुद्ध यदि कोई अपनी निन्दा करे अथवा श्रेष्ठ कार्योंके समय अपनेको न बुलाकर या अग्रस्थान न देकर अपना अपमान करे तो उससे रुष्ट नहीं होता उस साधुको सत्कारपुरस्कार परीषहका विजयी समझना चाहिये।

भावार्थ—चिरकालसे ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाला महातपस्वी स्वसमय और परसमयका ज्ञाता हितोपदेशका निरूपण करनेमें कुशल और अनेक वार परवादियोंपर विजय प्राप्त करनेवाला होकर भी जो साधु अपने मनमें ऐसा विचार नहीं लाता कि "देखो, कोई भी मुझे प्रमाण नहीं मानता या मेरी भक्ति अथवा मुझे ससंभ्रम उच्चासनका प्रदान नहीं करता। इससे तो मिथ्यादृष्टि ही अच्छे जो कि अपने मूर्ख भी साधर्मीका सर्वज्ञतुल्य सम्मान करके अपने धर्मकी प्रभावना किया करते है। व्यन्तरादिकोंके विषयमें भी जो सुना जाता है कि वे प्राचीन समयमें अत्यंत उग्र तपस्या करनेवालोकी प्रत्यग्र पूजा किया करते थे सो भी बात कुछ मिथ्यासरीखी ही मालुम होती है। अन्यथा आज वे साधर्मी होकर भी हम सरीखोंका अनादर क्यों करते है?" इस प्रकारके दुर्भावोसे जिसका मन अलिप्त रहता है और जो मानापमानमें तुल्यवृत्ति है वही सत्कारपुरस्कार परीषहका विजयी समझा जा सकता है।

प्रज्ञा परीषहके विजयका स्वरूप बताते है—

विद्याः समस्ता यदुपज्ञमस्ताः प्रवादिनो भूपसभेषु येन।
प्रज्ञोर्मिजित् सोस्तु मदेन विप्रो गरुत्मता यद्वदखाद्यमानः ॥१०८॥

जो सम्पूर्ण अङ्गपूर्व और प्रकीर्णक विद्याओंका प्रथमोपदेष्टा है जिसने अनेक वार अनेक राजसभाओंमें अनुमानादि विषयोंपर अनेक मिथ्या प्रवादियोंका निराकरण करके विजय प्राप्त किया है। फिर भी गरुडके द्वारा ब्राह्मणकी तरह ज्ञानका गर्व जिसका भक्षण नहीं कर सकता उसको प्रज्ञापरीषहका विजयी समझना चाहिये।

भावार्थ— मिथ्यापुराणोंमे एक कथा प्रसिद्ध है कि विष्णुने एक वार अनेक राक्षसोंको मारा । मारनेसे जो कुछ थोडेसे राक्षस शेष रहे थे उनकेलिये उन्होंने अपने गरुडको मारनेका आदेश किया । वस, फिर क्या था, गरुड उन राक्षसोंका भक्षण करने लगा । किंतु राक्षसोंके साथ साथ एक ब्राह्मण भी पेटमें चलागया जो कि उसे पचा नहीं । अन्तमें गरुडने उस ब्राह्मणका वमन कर दिया । इसी प्रकार जो साधु अनेक विद्याओंका अधीस होकर भी ज्ञानमदसे पचता नहीं है वही सत्कारपुरस्कार परीषहका विजयी हो सकता है ।

अज्ञान परिषहके विजयको वताते हैं:—

पूर्वेऽसिधन् येन किलाशु तन्मे,
चिरं तपोभ्यस्तवतोपि बोधः ।
नाद्यापि बोभोत्यपि तूच्यकेहं,
गौरित्यतोऽज्ञानरुजोऽपसर्पेत् ॥ १०९ ॥

जिस तपके माहात्म्यसे पूर्व कालमें अनेक तपस्वी शीघ्र ही सिद्धिको प्राप्त होगये सुने जाते हैं, उसी तपको चिरकालसे अभ्यास करते हुए भी आजतक मुझको कोई सातिशय अथवा प्रकृष्ट ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ । प्रत्युत मुझको लोक अज्ञानी—मदबुद्धि देखकर 'यह बैल है' इत्यादि कुत्सित शब्दोंके द्वारा ही बोला करते है । इस प्रकारका अज्ञानजनित दुःख जिसके हृदयमें कभी भी उद्भूत नहीं होता उसको अज्ञान परीषहका विजयी समझना चाहिये ।

भावार्थः-जो साधु "तू मूर्ख है, निरा पशु ही है, कुछ नहीं समझता," इस तरहके तिरस्कारके शब्दोंको सुनकर भी सहन करता और निरंतर अध्ययनमें रत रहता है; किंतु मन वचन कायकी अनिष्ट चेष्टाओंसे निवृत्त और महोपवासादिका अनुष्ठान करनेवाला होकर भी 'आज तक मेरे किसी तरहका ज्ञानातिशय उत्पन्न नहीं हुआ' ऐसे दुर्भावसे अभिभूत नहीं होता वही अज्ञानपरीषहका विजयी हो सकता है ।

अदर्शन परीषहके विजयको दिखाते है:—

महोपवासादिजुषां मृषोद्याः,
प्राक् प्रातिहार्यातिशया न हीक्षे ।
किंचित्तथाचार्यपि तद् वृथैषा,
निष्ठेत्यसन् सद्दृगदर्शनासट् ॥ ११० ॥

मैं महोपवासादिको करते हुए भी अपनेमें प्रातिहार्य या ज्ञानातिशयादिकोंका उत्पन्न होना नहीं देखता हूं। इससे मालुम होता है, पूर्वकालमें पक्ष मास आदिक महोपवासादिके करनेवाले साधुओंके प्रातिहार्य या ज्ञानातिशयादिकी उत्पत्ति होना जो बताया जाता है वह सब झूठी बात है। अन्यथा मुझमें भी वे अतिशय आज जागृत क्यों नहीं होते। अत एव इस तपस्याका अनुष्ठान करना भी व्यर्थ ही है। इस तरहके भाव जिसके हृदयमें उद्भूत नहीं हुआ करते उस दर्शनविशुद्धियुक्त साधुको ही अदर्शनपरिषहका विजयी समझना चाहिये।

इस प्रकार बाईस परीषहोंके विजयका स्वरूप और साधन बताया गया। ये सभी परीषह कर्मोदयके निमित्तसे प्राप्त हुआ करती है। ज्ञानावरणके उदयसे प्रज्ञा और अज्ञान, दर्शनमोहके उदयसे अदर्शन, अन्तरायके उदयसे अलाभ, मानके उदयसे नाग्न्य निशद्या आक्रोश याचना और सत्कारपुरस्कार, अरतिके उदयसे अरति, वेदके उदयसे स्त्री, और वेदनीयके उदयसे क्षुधा पिपासा शीत उष्ण दंशमशक चर्या शय्या वध रोग तृणस्पर्श तथा मल परीषह होती है।

इन बाईस परीषहोंमेंसे एक समयमें एक जीवके एकसे लेकर उन्नीस तक हो सकती है। क्योंकि चर्या शय्या और निशद्या इन तीन परस्पर विरोधी परीषहोंमेंसे एक कालमें कोईसी एक ही हो सकती है। इसी प्रकार शीत उष्णमेंसे भी एक कालमें एक ही हो सकती है। इस प्रकार तीनके कम होजानेसे बाकी उन्नीस तक हो सकती है।

यहांपर कोई प्रश्न कर सकता है कि प्रज्ञा और अज्ञान परीषहमें भी सहानवस्थान विरोध है इसलिये इनमेंसे भी एक कालमें एक ही परीषह हो सकेगी। और फिर वैसा होनेपर एक कालमें एक जीवके १९ परीषहतक होनेका नियम किस तरह स्थिर रह सकता है? इसका उत्तर सहज है। क्योंकि श्रुतज्ञानकी अपेक्षा प्रज्ञाका प्रकर्ष रहते हुए भी साथमें अवधिज्ञानादिके अभावकी अपेक्षा अज्ञान भी रह सकता है। अत एव इनमें सहानवस्थान विरोधकी कल्पना ठीक नहीं है।

मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्तसंयत पर्यन्त सात गुणस्थानोंमें सभी–बाईसों परीषह होती है। अपूर्वकरणमें अदर्शनके सिवाय शेष २१, अनिवृत्तिकरणके सवेद भागमें अरतिको छोडकर शेष २०, और अवेदभागमें स्त्री परीषहके विना १९, तथा इसी गुणस्थानमें मानकषायके उदयका अभाव होजानेसे नाग्न्य निषद्या आक्रोश याचना और सत्कारपुरस्कारको छोडकर शेष १४, अत एव अनिवृत्तिकरण सूक्ष्मसांपराय उपशांतकषाय और क्षीणकषाय इन चार गुणस्थानोंमें १४ परीषह होती है। इसके अंतमें प्रज्ञा अज्ञान और अलाभ परीषह नष्ट होजाती है इसीलिये सयोगी भगवान्के ११ परीषह ही मानी है। सयोगी भगवान्के वेदनीय कर्म सत्तामें रहता है। अत एव तन्निमित्तक ११ परीषह जो भी है वे उपचारसे मानी जाती है। जिन भगवान्के सम्पूर्ण घातिया कर्मरूपी इन्धन ध्यानाग्निके द्वारा दग्ध हो चुका है और अप्रतिहत अनंतचतुष्टय उद्भूत हो चुका है, साथ ही उनके अन्तराय कर्मका अभाव होजानेसे निरंतर सातावेदनीयरूप शुभ पुद्गलोंका ही संचय हुआ करता है। यही कारण है कि उनके सत्तामें बैठा हुआ भी वेदनीय कर्म अपना फल प्रकट नहीं कर सकता। क्योंकि वेदनीय कर्म घातिया कर्मोंकी तथा विशेषकर मोहनीय कर्मकी सहायतासे ही अपना फल प्रकट कर सकता है। अन्यथा नहीं। जिस प्रकार मंत्र या औषधि आदिके बलसे मारण शक्तिके नष्ट होजानेपर विषद्रव्य अपना कार्य—मारनेरूप नहीं कर सकता, और जिस प्रकार जडके कटजानेपर कोई भी वृक्ष फल फूल देनेमें समर्थ नहीं हो सकता, तथा जिस प्रकार उपेक्षा संयमके धारण करनेवाले नौवें और दशवें गुणस्थानवर्ती साधुओंके मैथुन परिग्रह संज्ञा कार्यरूप नहीं हो सकती। एवं जिस प्रकार सम्पूर्ण ज्ञानके धारक केवल भगवानके एकाग्रचिन्तानिरोधरूप लक्षणके न रहनेपर भी कर्मरजकी निर्जरा रूप फलकी अपेक्षासे ध्यानका उपचार किया जाता है। उसी प्रकार क्षुधा रोग वध आदि कार्यरूप

परीषहोंके न होनेपर भी वेदनीय कर्मका उदय जो बताया गया है उसके बारेमें [illegible] अपेक्षासे वेदनीय कर्मसम्बन्धी ग्यारह परीषह उपचारसे आगममें कही जाती हैं। यही कारण है कि मोक्षशास्त्रमें "एकादश जिने" ऐसा कहा है। फलतः इस विषयमें विधि और निषेध दोनोंकी उपपत्ति होती है। वेदनीय कर्मका [illegible] अपेक्षा [illegible] ग्यारह परीषह हैं, किन्तु [illegible] वेदनीय [illegible] फल दे सकता है। [illegible] वेदनीय [illegible] अपना फल नहीं दे सकता। फलतः [illegible] ग्यारह परीषह नहीं होती हैं।

[illegible] अपेक्षासे [illegible] और [illegible] होती हैं। [illegible] परीषह होती हैं। [illegible] परीषह होती हैं। [illegible] आदि, [illegible] परीषह हुआ करती हैं।

इस प्रकार [illegible] परीषहोंके [illegible] बताया। अब [illegible] उपसर्गोंके [illegible] उपदेश देना [illegible] उपसर्गोंको जीतनेका उपदेश देते हैं—

[illegible] गृहस्थ,—
अथात् [illegible] ।
[illegible] प्रेतादी,
[illegible] ॥१२४॥

किसी भी निमित्तसे उत्पन्न हुए या आकर प्राप्त हुए क्लेशोंको उपसर्ग कहते हैं। यह चार प्रकार

का होता है-अचेतनकृत मनुष्यकृत तिर्यञ्चकृत और देवकृत। क्रमसे इन उपसर्गोंको शिवभूतिनामक मुनि, युधिष्ठिर आदि पाण्डुपुत्र और सुकुमालस्वामी तथा विद्युच्चर प्रभृति अनेक उत्तम पुरुषोंने आत्मध्यानके द्वारा जीत करके ही संसारका संहार किया था। भावार्थ—विना उपसर्गोंका सहन किये परमपदकी प्राप्ति नहीं हो सकती। पूर्व कालमें भी जिन उत्तम पुरुषोंने संसारको नष्ट कर अजरामर पदको प्राप्त किया था उन्होंने भी इन उपसर्गोंको सहन करके ही किया था। उपसर्गोंका सहन आत्मध्यानके द्वारा ही हो सकता है अत एव जिस प्रकार आगमप्रसिद्ध शिवभूति मुनि और एणिकापुत्रादिकोंने आत्मस्वरूपमें स्थिर होकर अचेतनकृत उपसर्गोंका सहन किया, तथा पाण्डव गजकुमार गुरुदत्त प्रभृतिने मनुष्यकृत उपसर्गोंका और सुकुमाल सुकोशल सिद्धार्थ आदिने तिर्यक्कृत उपसर्गोंका, तथा विद्युच्चर श्रीदत्त सुवर्णभद्रादिकोंने देवकृत उपसर्गोंका सहन कर निर्भयपद प्राप्त किया, उसी प्रकार हे मुमुक्षुओ! यदि उस पदके प्राप्त करनेकी इच्छा है तो आपको भी चिदानंदमय आत्मस्वरूपमें लीन होकर अचेतनादिमेंसे किसीके भी द्वारा उत्पन्न किये गये यथायोग्य प्राप्त हुए उपसर्गोंका सहन करना चाहिये।

प्रकृत विषय—परीषहजय और उपसर्गसहनका उपसंहार कर मोक्षनगरीके पथिक साधुओंको बाह्य और अभ्यन्तर तपका आचरण करनेके लिये उद्यमी होनेको उपदेश देते हैं—

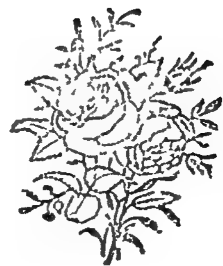
इति भवपथोन्माथस्थामप्रथिम्नि पृथूद्यमः,
शिवपुरपथे पौरस्त्यानुप्रयाणचणश्चरन्।
मुनिरनशनाद्यस्त्रैरुग्रैः क्षितेन्द्रियतस्कर,—
प्रसृतिरमृत विन्दत्वन्तस्तपःशिबिकां श्रितः ॥ ११२ ॥

इस प्रकार शिवनगरीके मार्ग-रत्नत्रयमें विहार करते हुए और पूर्वाचार्योंका अनुगमन कर प्रतीतिको प्राप्त हुए साधुओंको संसारके मार्ग-मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रका उच्छेदन करनेवाली शक्तिके प्रपंचमें महान् उत्साहको धारण करके तथा अनशन अवमौदर्य आदि बाह्य तपश्चरणरूपी तीक्ष्ण एवं दुःसह

शस्त्रोंके द्वारा इन्द्रियरूपी चोरोंके प्रसारका निराकरण कर और अन्तरङ्ग तपरूपी पालकीमें बैठकर मोक्षस्थान अथवा उसके अभावमें स्वर्गको प्राप्त करना चाहिये । भावार्थ—ऐसा करनेपर ही उनको स्वर्गमोक्षादिकी प्राप्ति हो सकती है ।

इस प्रकार रत्नत्रय मार्गमें महान् उद्योग करनेका जिसमें वर्णन किया गया है ऐसा छट्ठा अध्याय

समाप्त हुआ ।



अथ सप्तमोध्यायः

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन आराधनाओंका वर्णन करके क्रमानुसार सम्यक्तप आराधनाका वर्णन करनेकी इच्छासे ग्रन्थकार सबसे पहले इस बातकी शिक्षा देते हैं कि मुक्तिका प्रधान साधन वीतरागता है और रागद्वेषका अभाव तपके द्वारा ही हो सकता है; अत एव मुमुक्षुओंको वीतरागताकी सिद्धिकेलिये नित्य ही तपका संचय करना चाहिये —

ज्ञाततत्त्वोपि वैतृष्ण्यादृते नाप्नोति तत्पदम् ।
ततस्तत्सिद्धये धीरस्तपस्तप्येत नित्यशः ॥ १ ॥

जिसको हेयोपादेयरूप वस्तुस्वरूपका ज्ञान नहीं है उसकी तो बात ही क्या, जो उसका भले प्रकार निश्चय कर चुका है उसको भी अनन्तज्ञानादि चतुष्टयरूप परमपद क्षायिक यथाख्यात चारित्रस्वरूप वीतरागताके विना प्राप्त नहीं हो सकता। अत एव वीतरागता प्राप्त करनेकेलिये पूर्वोक्त परीषह और उपसर्गोंसे विचलित न होनेवाले धीर वीर साधुओंको उस तपका, जिसका कि लक्षण आगे चलकर करेंगे, नित्य ही संचय करना चाहिये। क्योंकि तपके द्वारा ही उसकी सिद्धि हो सकती है।

तपका निरुक्तिसिद्ध लक्षण बताते हैं:—

तपो मनोक्षकायाणां तपनात् सन्निरोधनात् ।
निरुच्यते दृगाद्याविर्भावायेच्छानिरोधनम् ॥ २ ॥

तप शब्दका अर्थ समीचीनतया निरोध करना होता है। अत एव आत्मामें सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान

और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयका आविर्भाव करनेके लिये इच्छाके रोकनेको—मन इन्द्रिय और शरीरके इष्टानिष्ट विषयोंमेंसे इष्टके ग्रहण करनेकी और अनिष्टके छोडनेकी जो अभिलाषा हुआ करती है उसके न होने देनेको ही तप कहते है।

इस प्रकार "इच्छाका समीचीनतया निरोध" यह तपका लक्षण उसकी धातुके अर्थके अनुसार ही है। फिर भी प्रकारान्तरसे उसका निरुक्तिसिद्ध ही लक्षण बताते है:—

यद्वा मार्गाविरोधेन कर्मोच्छेदाय तप्यते।
अर्जयत्यक्षमनसोस्तत्तपो नियमक्रिया॥ ३॥

उपर्युक्त रत्नत्रयमें किसी भी प्रकारका आघात न पहुंचाकर सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मोंका निर्मूल नाश करनेके लिये जो मुमुक्षु साधु इन्द्रिय और मनके विरुद्ध आचरण करता है—मन व इन्द्रियोंको अपने अपने विषयोंमें प्रवृत्त होनेसे रोकता है उसकी इस विरुद्ध प्रवृत्तिको ही तप कहते है। भावार्थ—प्रत्येक संसारी आत्मा मन व इन्द्रियोंके अधीन हो रहा है। किंतु मुमुक्षु साधु इसके विरुद्ध आचरण करता है। वह मन और इन्द्रियोंको आत्माके अधीन बनाता है। बस, उसके इस विरुद्धाचरणको ही तप कहते है।

इस प्रकार तपका निरुक्तिसिद्ध लक्षण बताया। फिर भी ग्रन्थान्तरोंमें जो उसका लक्षण बताया है उसका भी उल्लेख करते है और उसके भेद प्रभेदोंका वर्णन करते हुए उसका अनुष्ठान करनेका उपदेश देते है—

संसारायतनान्निवृत्तिरमृतोपाये प्रवृत्तिश्च या,
तद्वृत्त मतमौपचारिकमिहाद्योगोपयोगौ पुनः।
निर्मायं चरतस्तपस्तदुभयं बाह्यं तथाभ्यन्तरं,
षोढाऽत्राऽनशनादि बाह्यमितरत् षोढैव चेतुं चरेत्॥ ४॥

चारो गतियों अथवा उसके अनेक भेदोंमे जीवके इतस्तत पर्यटन करनेको ही संसार कहते हैं। यह पाच प्रकारका है— द्रव्य क्षेत्र काल भव भाव। इस परिभ्रमणका मूल कारण कर्मबन्ध है किंतु कर्मबन्धका भी मूल कारण मिथ्यात्रिक—मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र है। अत एव इस मिथ्यात्रिकसे निवृत्त होने- और इसके विरुद्ध मोक्षके उपाय रत्नत्रयमें प्रवृत्त होनेको ही उपचरित सम्यक् चारित्र कहते है। इस उपचरित सम्यक् चारित्रमें मायाचारको छोडकर उद्योग करने तथा सदा उपयुक्त—तल्लीन रहनेका ही नाम तप है। वह दो प्रकारका माना है-एक अन्तरङ्ग और दूसरा बाह्य। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान इनको अन्तरङ्ग तप कहते है। और अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन तथा कायक्लेश इनको बाह्य तप कहते हैं। इनमेंसे अन्तरङ्ग तपकी सिद्धि और वृद्धिका कारण बाह्य तप है। अत एव मुमुक्षुओंको अभ्यन्तर तपको स्थिर रखनेके लिये अथवा उसको बढाते रहनेके लिये बाह्य तपका आचरण करते ही रहना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि- "बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम्"।

बाह्य तप कारणरूप है अत एव उसका ही वर्णन सबसे पहले करना चाहते है; किंतु विशेष वर्णन करनेके पूर्व इस बातके लिये युक्ति उपस्थित करते है कि उसके उत्तर भेद अनशनादिक तप क्यों हैं?

देहाक्षतपनात्कर्मदहनादान्तरस्य च।
तपसो वृद्धिहेतुत्वात् स्यात्तपोऽनशनादिकम् ॥ ५ ॥

अनशन अवमोदर्य आदिक तप इसलिये है कि इनके होनेपर शरीर इन्द्रियां उद्रिक्त नहीं हो सकती किंतु कृश हो जाती है। दूसरे इनके निमित्तसे सपूर्ण अशुभ कर्म अग्निके द्वारा इन्धनकी तरह भस्मसात् हो जाते है। तीसरे अभ्यन्तर प्रायश्चित्त आदि तपोंके बढानेमें ये कारण है।

अनशनादिकको बाह्य तप माना है। जिसमेंसे उनका तप होना तो युक्तिपूर्वक सिद्ध किया। अब उनके बाह्यत्वके लिये भी युक्ति उपस्थित करते हैं —

बाह्यं वल्भाद्यपेक्षत्वात्परप्रत्यक्षभावतः ।
परदर्शनिपाषण्डिगेहिकार्यत्वतश्च तत् ॥ ६ ॥

अनशनादि तपोंको बाह्य कहनेमें तीन कारण हैं । एक तो यह कि इनके करनेमें बाह्य द्रव्यकी अपेक्षा रहती है । अनशनमें भोजनके छोडनेकी, अवमौदर्यमें अल्प भोजनकी, वृत्तिपरिसंख्यानमें बाहिर दृष्टिसे दीख सकने योग्य किसी भी वस्तुके आश्रयसे नियम करनेकी, इसी प्रकार रसपरित्यागादिकमें भी रसादिक बाह्य वस्तुओंकी आवश्यकता पडती है । दूसरा कारण यह भी है कि ये दूसरे लोगोंको दीखते है । स्वसंघके और परसंघके सभी लोगोंको यह तो साक्षात् ही मालूम हो जाता है कि इन्होंने आज भोजन किया है अथवा नहीं किया । तीसरा कारण यह भी है कि इन अनशनादि तपोंको केवल निर्ग्रंथ साधु ही नहीं किया करते, और लोग भी किया करते हैं । बौद्ध प्रभृति जैनेतर धर्मोंके अनुयायी और कापालिक प्रभृति पाषण्डी तथा इतर गृहस्थ लोग भी उपवासादिक किया करते है । अत एव साधारणतया बाह्य लोगोंका कार्य होनेसे भी इन तपोंको बाह्य कह सकते हैं ।

बाह्य तपका फल बताते हैं:—

कर्माङ्गतेजोरागाशाहानिध्यानादिसंयमाः ।
दुःखक्षमासुखासङ्गब्रह्मोद्योताश्च तत्फलम् ॥ ७ ॥

अनशनादि तपके करनेसे ज्ञानावरणादिक कर्म और शरीरका तेज क्षीण होता है । अथवा कर्मोंके कारणभूत हिंसादिककी और शुक्रकी हानि होती है । इसके सिवाय रागद्वेषादिक कषाय और विषयभोगोंकी आशाका अपकर्षण होता है । इस तरहसे बाह्य तपके द्वारा अनेक दोषोंकी हानि होती है । केवल हानि ही हानि होती है यह बात नहीं है किन्तु ध्यान स्वाध्याय आरोग्य मार्गप्रभावना और कषाय—मदमात्सर्यादिका मंथन तथा परप्रत्ययकरण दयादिक उपकार और तीर्थायतनोंकी स्थापना इत्यादि अनेक उत्तम फलोंकी और संयमकी सिद्धि भी होती है । जैसा कि कहा भी हे कि —

विदितार्थशक्तिचरित कायेन्द्रियपापशोषक परमम् ।
जातिजरामरणहर सुनाकमोक्षाश्रय सुतपः ॥

इस समीचीन बाह्य तपका प्रयोजन शक्ति और चरित सर्वत्र प्रसिद्ध है । क्योंकि यह शरीर इन्द्रिय और पापका शोष करने वाला तथा जन्म जरा और मरणका हरण करने वाला, एवंच मोक्षका आश्रय है ।

प्रकृतमें ध्यान शब्दसे धर्म्य और शुक्लरूप प्रशस्त ध्यानका तथा संयम शब्दसे पूर्वोक्त उसके उपेक्षा और अपहृतरूप दो भेदोंका ग्रहण करना चाहिये ।

इनके सिवाय अनशनादिके प्रभावसे तापत्रयका सहन सुखोंमें अनासक्ति और ब्रह्मोद्योत—ब्रह्मचर्यमें निर्मलताका उत्पन्न होना आदि और भी अनेक गुण उद्भूत हुआ करते हैं ।

बाह्य तप परम्परासे मनके जीतनेमें भी कारण है इस बातको स्पष्ट करते हैं:—

बाह्यैस्तपोभिः कायस्य कर्शनादक्षमर्दने ।
छिन्नवाहो भट इव विक्रामति कियन्मनः ॥ ८ ॥

इन्द्रियां मनरूपी सुभटके वाहनके समान हैं । और अनशनादिक बाह्य तपोंके द्वारा शरीरका कर्शन हो जानेसे उसका मर्दन हो जाता है । अतएव इन्द्रियोंका दलन हो जानेपर दुर्जय भी मन अपना पराक्रम किस तरह प्रकट कर सकता है ? कैसा भी वीर पुरुष क्यों न हो, प्रतियोद्धाके द्वारा अपने वाहन—घोडेके मारे जानेपर अवश्य ही निर्बल हो जायगा ।

अनशनादिका विशेष स्वरूप बतानेके पहले इस बातकी शिक्षा देते हैं कि तपस्वियोंको भोजन इस प्रकारसे करना चाहिये कि जिससे प्रमाद प्रकट न हो सके —

शरीरमाद्यं किल धर्मसाधनं,
तदस्य यस्येत् स्थितयेऽशनादिना ।

तथा यथाक्षाणि वशे स्युरुत्पथं,

न वानुधावन्त्यनुबद्धतृड्वशात् ॥ ९ ॥

शरीरके बिना तप तथा और भी ऐसे ही धर्मोंका साधन नहीं हो सकता। अत एव आगममें ऐसा कहा है कि रत्नत्रयरूप धर्मका आद्य साधन शरीर है। इसी लिये साधुओंको भी भोजन पान शयन आदिके द्वारा इसके स्थिर रखनेका प्रयत्न करना चाहिये। किंतु इस बातको सदा लक्ष्यमें रखना चाहिये कि भोजनादिकमें प्रवृत्ति ऐसी और उतनी ही हो कि जिससे इन्द्रियां अपने ही अधीन बनी रहें। ऐसा न होना चाहिये कि अनादि कालकी वासनाके वशवर्ती होकर वे उन्मार्गकी तरफ भी दौडने लगें।

भावार्थ—साधुओंको भोजनमें प्रवृत्ति ऐसे मध्यम मार्गका आश्रय लेकर करनी चाहिये कि जिससे इन्द्रियां अपने अधीन भी बनी रहें और उन्मार्गमें भी प्रवृत्त न हों।

अभिमत और स्वादु भोजनके दोष प्रकट करते हैं:—

इष्टमृष्टोत्कटरसैराहारैरुद्धटीकृताः।

यथेष्टमिन्द्रियभटा भ्रमयंति बहिर्मनः ॥ १० ॥

इन इन्द्रियरूपी सुभटोंको यदि अभीष्ट और स्वादु तथा उत्कट रससे पूर्ण—ताजी बने हुए भोजनोंके द्वारा उद्भट—दुर्दम बना दिया जाय तो ये अपनी इच्छानुसार—जो जो इन्हें इष्ट हों उन सभी बाह्य पदार्थोंमें मनको भ्रमाने लगते हैं। भावार्थ—इष्ट सरस और स्वादु भोजनके निमित्तसे इन्द्रिय और मन स्वाधीन नहीं रह सकते।

अनशनका लक्षण और उसके भेद बताते हैं:—

चतुर्थाद्यर्धवर्षान्त उपवासोऽथवाऽऽमृतेः।

सकृद्भुक्तिश्च मुक्त्यर्थं तपोऽनशनमिष्यते ॥ ११ ॥

कर्मोंका क्षय करनेके उद्देशसे भोजनके परित्यागको अनशन नामका तप कहते हैं। यह दो प्रकारका होता है—एक तो सकृद्भुक्ति-प्रोषध, दूसरा उपवास। दिनमें एकवार भोजन करनेको प्रोषध और सर्वथा भोजनके परिहारको उपवास कहते हैं। यह दो प्रकारका माना है—अवधृतकाल और अनवधृतकाल। अवधृतकालके चतुर्थसे लेकर षाण्मासिकतक अनेक भेद हैं। जो मरणपर्यन्तके लिये उपवास धारण किया जाता है उसको अनवधृतकाल कहते हैं।

भावार्थ—एक दिनकी दो भुक्ति समझी जाती हैं। इसीलिये प्रोषधोपवासका दूसरा नाम चतुर्थोपवास है क्योंकि धारण और पारणके दिनकी एक एक भुक्ति और उपवासके दिनकी दो भुक्ति इस तरह मिलाकर चार भुक्तिका उसमें परित्याग किया जाता है। इस तरहसे भोजनके चार समयोंमें चतुर्विध आहारके परित्यागका नाम आगममें रूढिसे चतुर्थ ऐसा प्रसिद्ध है। यदि धारण और पारणके मध्यमें दो उपवास किये जांय तो उसका नाम षष्ठ और तीन उपवास किये जांय तो अष्टम, चार उपवास किये जांय तो दशम तथा पांच उपवास किये जांय तो द्वादश होता है। इसी तरह अर्धवर्षान्त भेद समझने चाहिये। लगातार छह महीनेके उपवास करनेको षाण्मासिक अथवा अर्धवार्षिक उपवास कहते हैं। [illegible] चतुर्थसे लेकर षाण्मासिक तकके कालका प्रमाण निश्चित रहता है। अतएव ये सब अवधृतकाल नामक अनशनके भेद होते हैं। जिसमें कालका प्रमाण निश्चित नहीं रहता ऐसे आमरणान्त किये गये उपवासको अनवधृतकाल कहते हैं।

[illegible] किया जाय।

[illegible]

सिद्ध होता है। क्योंकि दण्डक या आचारादि शास्त्रोंमें सांवत्सरिक अनशनका भी उल्लेख किया गया है।

उपवासका निरुक्तिपूर्वक लक्षण बताते हैं: —

स्वार्थादुपेत्य शुद्धात्मन्यक्षाणां वसनाल्लयात् ।
उपवासोशनस्वाद्यखाद्यपेयाविवर्जनम् ॥ १२ ॥

उपपूर्वक वस धातुसे उपवास बनता है। उपसर्गका अर्थ उपेत्य, हटकर, तथा वस धातुका अर्थ निवास करना या लीन होना होता है। अत एव इन्द्रियोंके अपने अपने विषयोंसे हटकर शुद्ध आत्मस्वरूपमें लीन होनेको उपवास कहते हैं।

भावार्थ-यों तो उपवासमें सभी इन्द्रियोंके विषयोंका परित्याग होता है किन्तु रसनेन्द्रियके विषयके परित्यागकी मुख्यता रहती है। रसनाका विषय चार प्रकारका भोजन माना है-अशन स्वाद्य खाद्य और पेय। इन चारोंका विशेष लक्षण आगे चलकर करेंगे। अत एव यहां इतना ही समझना चाहिये कि इन चारों ही प्रकारके भोजनोंका परित्याग करके शेष सम्पूर्ण इन्द्रियोंके विषयसे विरत हो आत्मस्वरूपमें लीन होनेको उपवास कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

उपेत्याक्षाणि सर्वाणि निवृत्तानि स्वकार्यतः ।
वसन्ति यत्र स प्राज्ञैरुपवासोऽभिधीयते ॥

तथा इसी तरह किसी किसीने ऐसा भी कहा है कि—

---

१ 'अर्धवर्षान्त' ऐसा शब्द श्लोकमें है। यहापर अर्धशब्दको वर्षका विशेषण बनानेसे छह महीनेका उपवास अर्थ निकलता है। परंतु 'अर्ध और वर्ष' ऐसा समास करनेसे वर्ष शब्दका अर्थ एक वर्षका उपवास भी हो जाता है। इस दूसरे अर्थके समय भी अर्ध शब्दके साथ वर्ष शब्द जोडनेकी आवश्यकता है, वह वर्षशब्द यहापर लुप्त हुआ मानना चाहिये। एकशेष विधिसे एक वर्षशब्दका दो वार उपयोग होजाता है। ऐसा व्याकरणका आधार है।

उपावृत्तस्य दोषेभ्यो यस्तु वासो गुणै सह ।
उपवासः स विज्ञेयः सर्वभोगविवर्जितः ॥

अशनादिक चार प्रकारके भोजनका लक्षण बताते हैं—

ओदनाद्यशनं स्वाद्यं ताम्बूलादि जलादिकम् ।
पेयं खाद्यं त्वपूपाद्यं त्याज्यान्येतानि शक्तितः ॥ १३ ॥

भात दाल दलिया खिचडी आदि भोज्य सामग्रीको अशन, पान सुपारी इलायची लौंग तथा अनार संतरा ककडी खरबूजा आदि भक्ष्य पदार्थोंको स्वाद्य, जल दुग्ध शरबत आदि पीने योग्य द्रव पदार्थोंको पेय, और पूरी पूआ कचौडी लड्डू आदि चर्वण करने योग्य वस्तुओंको खाद्य कहते हैं।

भावार्थ—जिनके द्वारा क्षुधा शांत करनेकी प्रधान अपेक्षा रहा करती है उनको अशन, और जिनका मुख्यतया स्वाद लेना अपेक्षित रहा करता है उनको स्वाद्य, तथा जिनके द्वारा प्राणोंका तर्पण करनेकी इच्छा हो अथवा किया जाता हो उनको पेय, और जिनके भक्षण करनेमें चर्वण आदिके द्वारा विशेष प्रयत्न करना पडे उनको खाद्य कहते हैं मुमुक्षु साधुओंको उपवास करनेकी अभिलाषासे अपनी २ शक्तिके अनुसार उन चारो ही प्रकारके पदार्थोंका परित्याग करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि " शक्तितस्त्यागतपसी "।

उत्तम मध्यम और जघन्यके भेदसे तीनो ही प्रकारका उपवास प्रचुर दुष्कर्मोंका भी शीघ्र ही नाश कर सकता है, अतएव उसका विधिपूर्वक पालन करनेके लिये उपदेश देते हैं।

उपवासो वरो मध्यो जघन्यश्च त्रिधापि सः ।
कार्यो विरक्तैर्विधिवद्बह्वागःक्षिप्रपाचनः ॥ १४ ॥

उत्तम मध्यम अथवा जघन्य तीनोंमेंसे कोनसा भी उपवास प्रचुर पातकोंकी भी शीघ्र ही निर्जरा कर

सकता है। अत एव प्राणसंयम और इन्द्रियसंयमके पालन करनेवाले विरक्त पुरुषोंको शक्तिके अनुसार और विधिपूर्वक इसका पालन करना चाहिये।

उपवासके उत्तमादिक तीनो भेदोंका लक्षण बताते हैं:—

धारणे पारणे सैकभक्तो वर्यश्चतुर्विधः।
साम्बुर्मध्योनेकभक्तः सोधमास्त्रिविधावुभौ ॥ १५ ॥

जिसके धारण और पारणके दिन एक भुक्ति तथा उपवासके दिन चारो प्रकारके पदार्थोंका दोनो भुक्तिवेलाओंमें परित्याग किया जाय उसके उपवासको उत्तम भेद समझना चाहिये। जिसके धारण और पारणके दिन दोनो भुक्तिवेलाओंमें भी आहारका परित्याग किया जाय किंतु जलके सिवाय शेष आहार्य सामग्रीको ही छोडा जाय उसको मध्यम भेद समझना चाहिये किंतु जिसके धारण और पारणके दिन एक भुक्ति भी न की जाय और उपवासके दिन जल भी ग्रहण करलिया जाय उसको जघन्य भेद समझना चाहिये। इनमेंसे उत्तम भेदका अपर नाम चतुर्विध और शेष भेदोंका नाम त्रिविध है। क्योंकि उत्तम भेदमें चतुर्विध आहारका और मध्यम जघन्य भेदमें त्रिविध आहारका,ही परित्याग होता है। जैसा कि कहा भी है कि:-

चतुर्णां तत्र भुक्तीना त्यागे वर्यश्चतुर्विध ।
उपवास सपानीयस्त्रिविधो मध्यमो मत ॥

विना शक्तिके भोजनका परित्याग करनेमें जो दोष उत्पन्न होते हैं उनको प्रकट करते हैं:—

यदाहारमयो जीवस्तदाहारविराधितः।
नार्तरौद्रातुरो ज्ञाने रमते न च सयमे ॥ १६ ॥

यह प्राणी प्रधानतया द्रव्यप्राणोंसे ही जीवित रहता है। अतः इसको आहारमय, मानो भोजनके द्वारा

ही बना है ऐसा, कहना चाहिये । अत एव विना भोजनके यह प्रायः स्थिर नही रह सकता। यदि उससे बलात्कार भोजनका परित्याग करादिया जाय तो वह आर्त और रौद्र ध्यान करनेमें आतुर हो उठता है। और यह स्पष्ट ही है कि इस तरहके दुर्ध्यानोंसे पीडित व्यक्तिका मन न तो स्वाध्याय आदिके द्वारा ज्ञानका अभ्यास करनेमें और न संयमका आराधन करनेमें ही लग सकता है।

इसी बातको फिर भी प्रकारान्तरसे बताते हैं:—

प्रसिद्धमन्नं वै प्राणा नृणां तत्त्याजितो हठात् ।
नरो न रमते ज्ञाने दुर्ध्यानार्तो न संयमे ॥ १७ ॥

" अन्नं वै प्राणाः " यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है। अन्न नाम आहारका है, वह निश्चय ही मनुष्योंका जीवन है। क्योंकि उसके विना वह जीवित नही रह सकता। प्राणका लक्षण ही यह है कि जिसके रहनेपर जीवित रहे और जिसके वियोग होनेपर मरजाय। अन्नके विषयमें भी यह बात देखी जाती है। इसलिये उसको भी प्राण कहा जा सकता है। अत एव जिस व्यक्तिसे बलात्कार अन्न छुडवादिया जाता है वह अन्तरंगमें आर्त और रौद्रध्यानसे संक्लिष्ट हो उठता है। फिर वह इन दुर्ध्यानोंसे पीडित होकर ज्ञानाभ्यास या संयमके आराधनमें रत नहीं रह सकता।

साधुओंको उचित है कि यदि आयु बहुत अधिक बाकी हो तो उसके बहुतसे हिस्सेको विधिपूर्वक यथाशक्ति नित्यनैमित्तिक उपवास करके, किन्तु अन्तके शेष भागको अनशनद्वारा ही बितावे। इसी बातकी शिक्षा देते हैं.—

तन्नित्यनैमित्तिकभुक्तिमुक्तिविधीन्यथाशक्ति चरन्विलङ्घ्य ।
दीर्घं सुधीर्जीवितवर्त्म युक्तस्तच्छेपमत्येत्वशनोज्झयैव ॥ १८ ॥

आहारके प्रत्याख्यान करनेकी विधि दो प्रकारकी बताई है-एक नित्य, दूसरी नैमित्तिक। केशलोचा

आदिके समय भोजनके परित्यागको नित्य विधि और कनकावलि आदिमें वैसा करनेको नैमित्तिक विधि कहते है। जो विवेकी साधु है उन्हे उचित है कि वे अपनी शक्तिको न छिपाकर ऊपर लिखे अनुसार महान् फलकी साधक इन विधियोंका पालन करते हुए अपने जीवनके सुदीर्घ मार्गको तय करें किंतु उन्हे उसका शेष भाग चतुर्विध आहारका परित्याग करके भक्तप्रत्याख्यान इङ्गिनी प्रायोपगमन मरण आदिमेंसे किसीके द्वारा ही व्यतीत करना चाहिये।

अनशन तपमें विशिष्ट रुचि उत्पन्न कराते हैः—

प्राञ्चः केचिदिहाप्युपोष्य शरदं कैवल्यलक्ष्म्याऽरुचन् ,
षण्मासानशनान्तवश्यविधिना तां चक्रुरुत्कां परे ।
इत्यालम्बितमध्यवृत्त्यनशनं सेव्यं सदार्यैस्तनुं,
तप्तां शुद्धयाति येन हेम शिखिना मूपामिवात्माऽऽवसन् ॥ १९ ॥

जिस प्रकार मूषा–घरियामें पडा हुआ सुवर्ण विना अग्निके शुद्ध नहीं हो सकता। अग्निके द्वारा संतप्त होनेपर ही किट्ट कालिकादि दोषोंसे रहित हो सकता है। उसी प्रकार शरीरके भीतर पडा हुआ कर्ममलसे युक्त आत्मा विना तपके शुद्ध नहीं हो सकता। अनशनादि तपरूपी अग्निसे संतप्त होनेपर ही द्रव्यकर्म और भावकर्म से रहित हो सकता है। इसी लिये तो विदेह क्षेत्रोंकी तो बात ही क्या, इस भरत क्षेत्रमें भी कर्मभूमिके प्रारंभमें बाहुबलि प्रभृति कितने ही पूर्व पुरुषोंने एक एक वर्षतक उपोषित रहकर कैवल्यलक्ष्मी—अनन्तज्ञानादि चतुष्टयके द्वारा अपनेको उद्योतित किया। और कितने ही भगवान् आदीश्वर प्रभृति महापुरुषोंने चतुर्थसे लेकर षाण्मासिक तककी अनशनविधिरूपी वशीकरण मंत्रके द्वारा उस लक्ष्मीको अपने ऊपर उत्कण्ठित बनाया। अत एव वर्तमानमें भी सम्पूर्ण मुमुक्षुओंको इस अनशन तपका सदा पालन करना चाहिये। किंतु न सर्वथा उत्कृष्ट और न सर्वथा जघन्य, किंतु मध्यम दर्जेकी चर्याका आश्रय लेकर 'सदा उसका सेवन करना चाहिये।

आहारकी अभिलाषा चार कारणोंसे हुआ करती है। अत एव उसका निग्रह उन कारणोंके विरुद्ध

भावना करनेसे हो सकता है। इसीलिये साधुओंको वैसा करनेका उपदेश देते हैं:—

भुक्त्यालोकोपयोगाभ्यां रिक्तकोष्ठतया सतः।
वेद्यस्योदीरणाच्चान्नसञ्ज्ञामभ्युद्यतीं जयेत् ॥ २० ॥

आहारसंज्ञा चार कारणोंसे उद्भूत हुवा करती है- भुक्त्युपयोग, रिक्तकोष्ट, ओर असाता वेदनीय कर्मकी उदीरणा। जैसा कि कहा भी है कि:—

आहारदंसणेण य तस्सुवओगेण ओमकोठाए।
वेदस्सुदीरणाए आहारे जायदे सण्णा ॥

अर्थात् आहारकी तरफ दृष्टि डालनेसे, उसकी तरफ अपने मनका उपयोग लगानेसे, पेट खाली होनेपर और क्षुधा वेदनीयरूप असाता कर्मका उदय होनेपर आहारके विषयमें अभिलाषा उत्पन्न हुआ करती है। साधुओंको इसका निग्रह करना चाहिये।

भावार्थ, निग्रह करनेके उपायका उल्लेख नहीं किया है। क्योंकि वह आहारसंज्ञाके कारणोंका प्रदर्शन करनेसे स्वयं मालूम हो जाता है। यह नियम है कि जिन कारणोंसे जिस कार्यकी उत्पत्ति हुआ करती है उनके अभावमें अथवा उनके विरुद्ध कारण मिलनेपर वह कार्य नहीं हो सकता। इस सिद्धान्तके अनुसार यह बात भी स्वयं ही सिद्ध हो जाती है कि आहार दर्शनादिके विरुद्ध भावना करनेसे आहार संज्ञाका भी निग्रह हो सकता है। अतएव अनशन तपके अभिलाषी साधुओंको प्रतिपक्ष भावनाओंके द्वारा आहार संज्ञाका निग्रह करनेमें सदा प्रवृत्त रहना चाहिये।

अनशन तपकी भावना करनेमें साधुओंको प्रवृत्त करते हैं —

शुद्धस्वात्मरुचिस्तमीक्षितुमपाक्षिप्याक्षवर्गं भजन् ,

निष्ठासौष्ठवमङ्गानिर्ममतया दुष्कर्मनिर्मूलनम् ।
श्रित्वाऽब्दानशनं श्रुतार्पितमनास्तिष्ठन् धृतिन्यकृत,—
द्वन्द्वः कर्हि लभेय दोर्बलितुलामित्यस्त्वनाश्वांस्तपन् ॥ २१ ॥

अत्यंत निर्मल निज चित्स्वरूपमें श्रद्धा और रुचिको धारण करके उस शुद्धात्मस्वरूपका साक्षात् अवलोकन करनेकेलिये जो साधु स्पर्शनादिक इंद्रियोंको अपने अपने विषयोंसे हटाकर चारित्रसौंदर्यका सेवन करते हुए शरीरसम्बन्धी ममत्वका परित्याग कर सम्पूर्ण अशुभ कर्मोंकी निर्जरा करनेमें कुशल सांवत्सरिक उपवासको स्वीकार करके श्रुतज्ञानके आराधन—अभ्यासमें ही अपने मनको लगाता हुआ आत्मस्वरूपके धारण करनेरूप धैर्य अथवा प्रसक्तिके द्वारा समस्त परीषहोंको परास्त करदेता है और इस तरहकी भावना रखता है कि "वह दिन कब प्राप्त होगा कि मै बाहुबलिकी समकक्षताको धारण कर सकूंगा" वही अनशन तपका करनेवाला समझा जा सकता है।

इस प्रकार अनशन तपका व्याख्यान करके क्रमप्राप्त अवमौदर्य तपका लक्षण और फल बताते हैं:—

ग्रासोऽश्रावि सहस्रतन्दुलमितो द्वात्रिंशदेतेऽशनं,
पुंसो वैश्रसिकं स्त्रियो विचतुरास्तद्धानिरौचित्यतः ।
ग्रासं यावदथैकसिक्थमवमौदर्यं तपस्तच्चरे—
द्धर्मावश्यकयोगधातुसमतानिद्राजयाद्याप्तये ॥ २२ ॥

स्वाभाविक भोजन पुरुषका बत्तीस ग्रास और स्त्रीका अट्ठाईस ग्रासका होता है तथा एक ग्रासका प्रमाण एक हजार चांवलकी बराबर हुआ करता है। ऐसा आम्नायके अनुसार शिष्ट पुरुषोंसे सुनते हैं। इस प्रमाणमें यथा योग्य कम करके उसके ग्रहण करनेको अवमौदर्य कहते हैं। यह कमी एकोत्तर श्रेणीके द्वारा—एक दो तीन चार आदि ग्रासके क्रमसे एक ग्रासतक हो सकती है। अथवा भोजन ग्रहण करनेकी विधि पहले इस प्रकार बता चुके

हैं कि पेटके चार भागोंमेंसे दो भागोंमें अन्न तथा एक भागमें जल भरना चाहिये और एक भाग वायुके लिये खाली छोडदेना चाहिये। इस प्रमाणमें कमी करके-चौथाई आदि भागका त्याग करके भोजन ग्रहण करनेको अवमौदर्य तप कहते है। इस तपके प्रसादसे उत्तम क्षमादि दशलक्षण धर्मकी और षडावश्यक कर्तव्योंकी तथा आतापनादि यद्वा समीचीन ध्यानादिरूप योगोंकी प्राप्ति अथवा सिद्धि हुआ करती है। वात पित्त कफरूप दोषोंकी विषमता नष्ट होकर समता उत्पन्न हुआ करती है। निद्रापर विजय प्राप्त होता और इन्द्रियां बलाढ्य होकर द्वेषी नहीं बन सकतीं। इसी तरह इस तपके और भी अनेक फल हैं जो कि मुमुक्षु साधुकेलिये आवश्यक हैं। अत एव तपस्वियोंको इस तपका पालन तथा अनुष्ठान अवश्य ही करते रहना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:-

धर्मावश्यकयोगेषु ज्ञानादावुपकारकृत्।
दर्पहारीन्द्रियाणां च ज्ञेयमूनोदरं तपः ॥
द्वात्रिंशाः कवलाः पुंस आहारस्तृप्तये भवेत्।
अष्टाविंशतिरेवेष्टाः कवलाः किल योषितः ॥
तस्मादेकोत्तरश्रेण्या यावत्कवलमात्रकम्।
ऊनोदरं तपो ह्येतत्तद्भेदोपीदमिष्यते ॥

अधिक भोजन करनेसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंको प्रकट करते हैं:—

बह्वाशी चरति क्षमादिदशकं दृप्यन्ननावश्यका,—
न्यक्षूणान्यनुपालयत्यनुषजत्तन्द्रस्तमोऽभिद्रवन्।
ध्यानाद्यर्हति नो समानयति नाप्यातापनादीन्वपुः,—
शर्मासक्तमनास्तदर्थमनिशं तत्स्यान्मिताशी वशी ॥ २३ ॥

अवमौदर्यका फल ऊपर बता चुके है। उसके विरुद्ध जो व्यक्ति अधिक—उचित प्रमाणका अतिक्रमण

करके-भोजन करता है वह प्रमाद और कपायके वशवर्ती होजानेसे उत्तमक्षमादि दशधर्मरूप आचरण नहीं कर सकता, न निर्दोष अथवा सम्पूर्ण आवश्यकोंका ही पालन कर सकता है, और न मोहसे अभिभूत हो जानेके कारण ध्यान स्वाध्याय आदिमें ही प्रवृत्त हो सकता है। इसी प्रकार वह आतापन वर्षायोग तथा बाह्य शयन आदि योगोंको भी भले प्रकार पूर्ण नहीं कर सकता। क्योंकि उसका मन शरीरके विषयमें निर्मम होनेके बदले प्रीतियुक्त होजाता है—वह शरीरसुखमें ही आसक्त होने लगता है। अत एव मुमुक्षुओंको धर्मादिकी प्राप्तिकेलिये जितेन्द्रिय होकर—रसनेन्द्रियकी लोलुपता छोडकर नित्य परिमित ही भोजन करना चाहिये।

परिमित भोजन करनेसे इन्द्रियां दर्पको धारण नहीं करती, किंतु अपने अधीन होजाती है, इसी बातको प्रकट करते हैः—

नाक्षाणि प्रद्विषन्त्यन्नप्रतिक्षयभयान्न च ।
दर्पात्स्वैरं चरन्त्याज्ञामेवानूद्यान्ति भृत्यवत् ॥ २४ ॥

परिमित आहार करनेवाले व्यक्तिकी इन्द्रियां मानो इस भयसे कि कहीं उपवासके द्वारा हमारा नाश ही न होजाय, विरुद्ध नहीं हुआ करतीं, और न मदके वेगमें आकर स्वच्छन्द विषयोंमें विहार ही किया करती है। किन्तु एक नौकरके समान आज्ञाके साथ ही निर्दिष्ट कार्य करनेकेलिये उद्यत होजाया करती है।

परिमित भोजन करनेसे और भी जो विशिष्ट गुण उत्पन्न हुआ करते हैं उनको बताते हैः—

शमयत्युपवासोत्थवातपित्तप्रकोपजाः ।
रुजो मिताशी रोचिष्णु ब्रह्मवर्चसमश्नुते ॥ २५ ॥

उपवासके द्वारा वात पित्तके कुपित होजानेसे जो व्याधियां उत्पन्न हुआ करती है वे सब परिमित भोजनके द्वारा शान्त हो जाया करती है। क्योंकि वात पित्त दोनो ही उन्मार्गगामी है। अत एव अनशनके निमित्तसे धातुओंमें वैषम्य उत्पन्न होता है और परिमित भोजनसे उनमें साम्य आता है। इसके सिवाय इस अवमौदर्यके

प्रतापसे साधु प्रकाशस्वभाव परमात्मतेजको अथवा श्रुतज्ञानको भी प्राप्त हुआ करता है।

इस प्रकार अवमौदर्य तपका वर्णन करके क्रमानुसार वृत्तिपरिसंख्यान तपका लक्षण और उसका फल बताते हैं:—

भिक्षागोचरचित्रदातृचरणामत्रान्नसद्मादिगात्,
संकल्पाच्छ्रमणस्य वृत्तिपरिसंख्यानं तपोङ्गस्थितिः।
नैराश्याय तदाचरेन्निजरसासृग्मांससंशोषण,—
द्वारेणेन्द्रियसंयमाय च परं निर्वेदमासेदिवान् ॥ २६ ॥

भिक्षाके विषयमें दाता, गमन, पात्र, अन्न और गृह आदिके सम्बन्धसे अनेक प्रकारके संकल्प किये जा सकते है। उनमेंसे कोई भी विशिष्ट अभिप्राय रखकर आहार ग्रहण करनेको वृत्तिपरिसंख्यान नामका तप कहते है। क्योंकि साधुओंकी शरीरकेलिये संकल्पपूर्वक होनेवाली वृत्तिका ही नाम वृत्तिपरिसंख्यान है। यह संकल्प दाता आदिके सम्बन्धसे नीचे लिखे अनुसार अनेक प्रकारका हो सकता है। यथा—

दाताके सम्बन्धसे—चातुर्वर्ण्यमेंसे जिनके यहांका भोजन ग्रहण कर सकते है उनके विषयमें ऐसा विचार करना कि आज यदि ब्राह्मण पडगावेगा तब तो भोजन करेंगे, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार क्षत्रियादिके विषयमें। अथवा ऐसा सकल्प करना कि आज यदि वृद्ध पुरुष प्रतिग्रह करेगा तब तो भोजनकेलिये ठहरेंगे, अन्यथा नहीं। इसी तरह बाल युवा आदिके विषयमें समझना चाहिये। यद्वा ऐसा विचार करके भोजनके लिये निकलना कि आज यदि जूता पहरकर सामने आता हुआ व्यक्ति भोजनके लिये कहेगा तो ठहरेंगे, अन्यथा नहीं। अथवा बीच मार्गमें खडा होकर पडगावेगा तो ठहरेंगे, अन्यथा नहीं। यद्वा ऐसा विचार करलेना कि हाथीपर चढा हुआ व्यक्ति प्रतिग्रह करेगा तभी भोजन करेंगे, अन्यथा नहीं। इस सम्बन्धमें पुरुषकी तरह स्त्रियोंके विषयमें भी परिस-

१ कुडी आदि भाजन—वर्तन।

ख्यान किया जासकता है। इस प्रकार दाताके सम्बन्धसे अनेक प्रकारके संकल्प हो सकते है।

गमनके सम्बन्धसे—जिस गलीमें होकर जाना पडता है उसमें घुसते ही यदि भोजनका निमित्त मिलेगा तब तो ग्रहण करूगा, अन्यथा नही। इसी प्रकार गलीमें प्राञ्जल, गोमूत्रिकाके आकार, अथवा चतुरस्राकार, यद्वा भीतरसे लेकर बाहर निकलने तक, या शलभमालाके भ्रमणकी तरह अथवा गोचर्याके आकारमें भ्रमण करते हुए आज भोजनके लिये मुझे कोई पडगावेगा तो ठहरूगा, अन्यथा नहीं। इत्यादि गमनके निमित्तसे भी अनेक तरहका संकल्प हुआ करता है।

पात्रके सम्बन्धसे—भी विविध प्रकारका संकल्प किया जाता है। यथा—आज मुझे सुवर्णपात्रमें यदि कोई आहार देगा तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार चांदी कांसा तांबा पीतल मट्टी आदिके बने हुए अथवा उसके किसी अवान्तर भेदके विषयमें भी संकल्प किया जा सकता है।

अन्नके विषयमें—आज मुझे पिण्डभूत आहार, अथवा द्रवरूप पेय पदार्थ, यद्वा लपसी, या मसूर चना जब आदि अन्न मिलेगा तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार शाक कुलमापादिसे मिला हुआ भोजन मिलेगा तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नही। यद्वा चारो तरफ शाक और वीचमें भात रक्खा हुआ मिलेगा तो भोजन करूंगा अन्यथा नहीं। इसी तरह चारो तरफ व्यञ्जन और बीचमें या एक तरफ अन्न, या अनेक व्यञ्जनोंके बीचमें पुष्पावली की तरह रक्खा हुआ सिक्थक[1] अथवा निष्पाचादिसे मिला अन्न, यद्वा केवल शाक या व्यञ्जनादिक, हाथ जिसमें लिप्त होजाय या न हो सके ऐसी चीज, झोलदार या वगैर झोलका पदार्थ या और किसी पानक प्रभृति पदार्थके निमित्तसे भी ऐसा सकल्प किया जा सकता है कि यदि ऐसा भोजन मिलेगा तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं।

गृहके विषयमें—अमुक अमुक मकानोंमें या इतने ही मकानोंमें भोजनके लिये प्रवेश करूंगा, अधिकमें नहीं। इत्यादि। आदि शब्दसे गली बाजार भिक्षा और दातृक्रिया आदिका संकल्प भी समझलेना चाहिये।

१ जिसमें पानीका भाग कम हो ऐसे रधे हुए दाल खीचडी आदि आहारको और सत्तूको भी सिक्थक कहते है।

जैसे कि अमुक गली या बाजारमें प्रवेश करनेके बाद यदि भिक्षाका लाभ होगा तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं, ऐसा संकल्प करना। अथवा इसी प्रकार एक दो आदि संख्याकी अपेक्षा गली कूचोंमें आहारके लिये प्रवेश करनेका संकल्प करना। तथा पाटक निवसनविषयक संकल्पका स्वरूप भी कई प्रकारसे है—कोई कोई कहते हैं कि पाटक निवसनसे केवल मुहल्लाकी ही भूमिके स्पर्श करनेका संकल्प किया जाता है, उसके भीतर बने हुए घरोंकी भूमिके स्पर्श करनेका संकल्प नहीं किया जाता। कोई कहते हैं कि घरकी परिकरभूमि—आसपासकी जमीनका स्पर्श करके आहार ग्रहण करनेके संकल्पको निवसनसंकल्प कहते हैं। और कोई कोई मुहल्लाकी तथा घरके आसपासकी ऐसे दोनों ही भूमियोंमें प्रवेश करके आहार ग्रहण करनेके संकल्पको पाटक निवसनके संकल्पमें लेते हैं।

इसी प्रकार भिक्षाके विषयमें भी संकल्प किया जाता है। जैसे कि एक ही भिक्षा ग्रहण करूंगा या दो ही ग्रहण करूंगा, अधिक नहीं; इत्यादि। अथवा भिक्षाको अनियत रखकर, इतने ही ग्रास लूंगा, अधिक नहीं, या इतनी ही वस्तुओंको लूंगा, अधिकको नहीं। यद्वा इतने कालतक ही भिक्षा लूंगा, अथवा इसी कालमें भिक्षा लूंगा, बादमें नहीं, ऐसा भी संकल्प किया जाता है। इसी तरह दातृक्रियाका भी संकल्प किया जाता है। जैसे कि एक ही दाता भोजन देगा तो ग्रहण करूंगा, अथवा दो या तीन मिलकर आहार देंगे तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं। इत्यादि। जैसा कि कहा भी है कि—

गत्वा प्रत्यागतमृजुविधिश्च गोमूत्रिका तथा पेटा।
शम्बूकावर्तविधिः पतङ्गवीथी च गोचर्या॥
पाटकनिवसनभिक्षापरिमाणं दातृदेयपरिमाणम्।
पिण्डाशनपानाशनखाद्यस्वाद्यमवगृह्णाति स॥
संसृष्टफलकपरिखा पुष्पोपहृतं च शुद्धकोपहृतम्।
लेपकमलेपकं पानकं च निःसिक्थकं ससिक्थं च॥
पात्रस्य दायकादेरवग्रहो बहुविधः स्वसामर्थ्यात्।
इत्येवमनेकविधा विज्ञेया वृत्तिपरिसंख्या॥

भावार्थ—जो मुमुक्षु संसार शरीर और भोगोंसे वैराग्यको प्राप्त होचुका है उसको चाहिये कि नैराश्य और इन्द्रियसंयमको सिद्ध करनेके लिये इस उत्कृष्ट वृत्तिपरिसंख्यान तपका पालन करे। यह तप अपने शरीरके रस रक्त मांसके शोषण करनेसे ही होसकता है। अत एव शक्तिके अनुसार अनेक प्रकारके जो वृत्तिपरिसंख्यानके भेद गिनाये है उनका पालन करके विषयोंकी आशा और इन्द्रियोंके उद्रेकका निरोध सिद्ध करना चाहिये।

रसपरित्याग तपका लक्षण बताते है:—

त्यागः क्षीरदधीक्षुतैलहविषां षण्णां रसानां च यः,
कात्स्न्येंनावयवेन वा यदसनं सूपस्य शाकस्य च।
आचाम्लं विकटौदनं यददनं शुद्धौदनं सिक्थव,—
द्रूक्षं शीतलमप्यसौ रसपरित्यागस्तपोऽनेकधा ॥ २७ ॥

दूध दही ईक्षु तैल और हविष्—घृत, अथवा मधुर आम्ल लवण कटु कषाय और तिक्त इन रसोंके सर्वात्मना अथवा एकदेश रूपसे छोडनेको, यद्वा दाल आदि व्यंजन और शाक-हरितकाय वनस्पति आदिमेंसे किसी भी एक दोके अथवा सबके छोडदेनेको रसपरित्याग कहते है। केवल मांड ग्रहण करना, अथवा विकट-अतिपक्व यद्वा उष्ण जल मिला हुआ भोजन करना, केवल भात ही लेना, अथवा जिसमें द्रवरहित सूखा ग्रास तोडकर लिया जाता हो ऐसे रोटी आदिका ही भोजन करना, यद्वा स्नेहहीन रूक्ष पदार्थ ही ग्रहण करना, अथवा ठंडा—कुछ देर रक्खा हुआ भोजन लेना, ये सब रसपरित्यागके ही स्वरूप है। अत एव यह तप अनेक प्रकारका हो सकता है।

भावार्थ—रसपरित्याग शब्दका अर्थ स्पष्ट है। अत एव इसके विशेष लक्षण करनेकी आवश्यकता नहीं

१ असन—त्याग। २—इक्षु शब्दसे मतलब गुड खाड शक्कर राव आदिका है।

६७८

हैं। किंतु इतना बतादेना आवश्यक है कि रस अनेक तरहका हो सकता है और वह अनेक तरहसे छोडा जासकता है। अत एव यह तप भी अनेक प्रकारका हो सकता है। इसीलिये यहांपर उसके कई प्रकार बतादिये गये हैं। और बाकीके भेदोंका भी सग्रह करलेनेकेलिये अपिशब्दका उल्लेख करादिया है। अत एव इस तपके पालन करनेमें प्रवृत्त हुए साधुओंको श्रेष्ठ और इष्टरूप रस गन्धादिसे युक्त तथा रूप बल वीर्य गृद्धि एव दर्पके बढानेवाले, यद्वा जिनके बनाने आदिकेलिये महान् आरम्भमें प्रवृत्ति करनी पडे, ऐसे परमान्नपान फलभक्षण औपधादिक सभी आहारोंका परित्याग कर देना चाहिये।

जो ससारसे भीरु है, सर्वज्ञकी आज्ञामें दृढ भक्ति रखता है, तथा तप और समाधिका अभिलाषी है, किन्तु सल्लेखना प्रारम्भ करनेके पूर्व ही जिसने नवनीतादिक चारो महाविकृतियोंका जीवनभरकेलिये परित्याग कर दिया है, ऐसा शरीरसल्लेखनाकी इच्छा रखनेवाला व्यक्ति ही रसपरित्यागका विशेषरूपसे अभ्यास कर सकता है। इस बातको दो पद्योंमें बताते है॥:—

काङ्क्षाकृन्नवनीतमक्षमदसृण्मांसं प्रमङ्गप्रदं,
मद्यं क्षौद्रमसंयमार्थमुदितं यद्यच्च चत्वार्यपि।
संमूर्च्छालसवर्णजन्तुनिचितान्युच्चैर्मनोविक्रिया,—
हेतुत्वादपि यन्महाविकृतयस्त्याज्यान्यतो धार्मिकैः॥ २८॥

इत्याज्ञां दृढमार्हतीं दधदघाद्भीतोऽत्यजत् तानि य,—
श्चत्वार्येव तपःसमाधिरसिकः प्रागेव जीवावधि।
अभ्यस्येत्स विशेषतो रसपरित्यागं वपुः संलिखन्,
स्याद् दूषीविषवद्धि तन्वपि विकृत्यङ्गं न शान्त्यै श्रितम्॥ २९॥

जो साधु भगवान अर्हन्त देवकी आज्ञाको दृढताके साथ धारण करता है। अर्थात् " अवतक जो मै संसारमे पडा हूं वह सर्वज्ञदेवकी आज्ञाका उल्लघन करनेसे ही, और भविष्यत्में भी यदि उसका उल्लंघन करूगा तो इस दुरत ससारमे ही पडूंगा, अत एव संसारसे छूटनेकी इच्छा रखनेवाला मै अब कभी भी इस आज्ञाका उल्लंघन न करूंगा।" इस तरहकी दृढता रख कर जो मुमुक्षु जिनेंद्रदेवकी, चारो महा विकृतियोंके सर्वथा परित्याग करनेकी, आज्ञाको धारण करता है और इसीलिये जो तपमें एकाग्रता धारण करनेका प्रेमी है, अथवा तप और समाधि दोनों ही की आकाङ्क्षा रखता है, तथा पापरूप अथवा पापके कारणभूत संसारसे त्रस्त हो चुका है, उसे शरीरसल्लेखना का प्रारम्भ करनेके पूर्व ही चारो महाविकृतियोंका जीवनपर्यन्तके लिये परित्याग कर देना चाहिये।

नवनीत मांस मद्य और मधु इन चार पदार्थोंको आगममें महाविकृति कहा है। क्योंकि ये हृदयमें महान् विकार उत्पन्न करनेवाले हैं। इसके सिवाय इनमें, जिस वर्णके ये पदार्थ होते है, सर्वथा उसी वर्णके, अनन्तानन्त सम्मूर्छन जीव उत्पन्न हुआ करते हैं। नवनीतमें नवनीतके आकार और मांसमें मांसके आकारके अनन्तानन्त निगोदिया जीव हर अवस्थामें उत्पन्न हुआ करते और रहा करते है। इसी प्रकार मद्यादिकको भी हर समय ऐसे त्रसजीवोंसे व्याप्त ही समझना चाहिये। अत एव इन चारों ही पदार्थोंके सेवनमें द्रव्यहिंसा अवश्यम्भाविनी है। और इतना ही नही किन्तु प्रत्येकमें विशिष्ट दोप भी पाये जाते हैं। यथा--

नवनीत-यह गृद्धिको उत्पन्न किया करता है। मांस—इन्द्रियोंमें दर्प उत्पन्न करनेवाला है। मद्य—इसके एकवार सेवन करते ही पुनः पुनः सेवन करनेकी अभिलापा हुआ करती है, अथवा अगम्या—वेश्या या परस्त्री आदिके साथ रमण करनेमें विशेप रूपसे प्रवृत्ति होने लगती है। मधु--इसके निमित्तसे असयम उत्पन्न हुआ करता है। क्योंकि मधुके भक्षण करनेसे रसमें विशेप अनुराग हुआ करता है, इसलिये इन्द्रियासंयम, और उसमें उत्पन्न होनेवाले या रहनेवाले जीवोंका घात होता है इसलिये प्राणीसंयम भी हुआ करता है। इस प्रकार इन चारो ही महाविकृतियोंमें समस्त रूपसे या व्यस्तरूपसे महान् दोप पाये जाते है। अत एव अहिंसा धर्मका पालन करनेवाले भव्योंको इनका सर्वथा परिहार करना ही उचित है।

ऐसा समझकर और ऊपर लिखे अनुसार जो साधु चारो ही महाविकृतियोंका परित्याग करदेता है वही शरीरको कृश करते हुए इस परित्याग तपका विशेष रूपसे अभ्यास कर सकता है। इसलिये जो मुमुक्षु हैं उन्हें इनका त्याग करके इस तपमें विशेष अभ्यास करना ही चाहिये। क्योंकि इसका थोडासा भी पालन कल्याणके लिये ही होगा। वह दूषित विषकी तरह रंचमात्र भी विकार पैदा नहीं कर सकता।

क्रमप्राप्त विविक्तशय्यासन तपका लक्षण और फल बताते हैं:—

विजन्तुविहिताबलाद्यविषये मनोविक्रिया,—
निमित्तरहिते रतिं ददाति शून्यसद्मादिके।
स्मृतं शयनमासनाद्यथ विविक्तशय्यासनं,
तपोर्तिहतिवर्णिताश्रुतसमाधिसंसिद्धये ॥ ३० ॥

पहले पिण्डशुद्धिके प्रकरणमें जो उद्गमादिक दोष बताये हैं उनसे रहित, और जहांपर स्त्री पशु नपुंसक गृहस्थ तथा क्षुद्र जीवोंका संचार नहीं पाया जाता, जो–मनमें विकार उत्पन्न करनेवाले–जिनसे अनेक प्रकारका संकल्प विकल्प उत्पन्न हो सकता है–ऐसे शब्द–कोलाहलादिकसे रहित है, जहांपर मनकी विषयान्तरमें गमन करनेकी उत्सुकता निवृत्त हो जाया करती है, और जहांपर किसीका भी आहार विहार या संसर्ग नहीं पाया जाता ऐसे एकान्त स्थानमें अनेक प्रकारकी पीडाओंका परिहार करनेकेलिये अथवा ब्रह्मचर्यका पालन और शास्त्रोंका विचार तथा उत्तम ध्यानको भले प्रकार सिद्ध करनेके लिये शयन और आसन–उठने बैठने या खडे होने आदिको आचार्य विविक्त शय्यासन नामका तप कहते हैं।

इस तपका पालन करनेवाला साधु असाधु लोकोंके संसर्ग सभाषण आदिसे होनेवाले दोषों या संक्लेशादि भावोंसे युक्त नहीं हो सकता। अत एव विविक्तशय्यासनके इस महान् फलको प्रकट करते हैं:–

असभ्यजनसंवासदर्शनोत्थैर्न मथ्यते ।
मोहानुरागविद्वेषैर्विविक्तवसतिं श्रितः ॥ ३१ ॥

जो साधु एकान्त स्थानमें निवास करता है वह असभ्य लोगोंके सहवास अवलोकन समापण आदिके द्वारा उत्पन्न होनेवाले मोह—अज्ञान अथवा ममत्त्व यद्वा अनुराग विद्वेष प्रभृति दोषोंसे दूषित अथवा त्रस्त नहीं हो सकता। जैसा कि कहा भी है कि:—

कलहो रोल झञ्झा व्यामोह सकरो ममत्व च ।
ध्यानाध्ययनविघातो नास्ति विविक्ते मुनेर्वसत ॥

असाधु लोगोंके पासमें रहनेसे किसी भी प्रकारका झगडा टंटा, या कोलाहल नहीं हो सकता। न किसी प्रकारका परिणामोंमें संक्लेश ही हो सकता है। असयमी पुरुषोंके साथ मिश्रण होते रहनेसे संयमके पालनमें हानि पहुंचती है। और ध्यान तथा स्वाध्यायमें बाधा उपस्थित होती है।

बाह्य तपके छट्ठे भेद कायक्लेशका लक्षण बताकर उसका पालन करनेके लिये साधुओंको प्रेरित करते हैं—

ऊर्ध्वार्कायनैः शवादिशयनैर्वीरासनाद्यासनैः,
स्थानैरेकपदाग्रगामिभिरनिष्ठीवाग्रिमावग्रहैः ।
योगैश्चातपनादिभिः प्रशमिना संतापनं यत्तनोः,
कायक्लेशमिदं तपोऽर्त्युपनतौ सद्ध्यानसिद्ध्यै भजेत ॥ ३२ ॥

पीडा या दुःखोंके आकर उपस्थित होनेपर भी प्रशस्त ध्यानसे विचलित न होकर उलटा उनको भले प्रकार सिद्ध करनेके लिये जिन क्रियाओंके करनेसे शरीरको क्लेश पहुंच सकता है उन क्रियाओंके करनेको काय

क्लेश कहते हैं। यह तप भी मुमुक्षुओंके लिये आवश्यक है। अत एव प्रशान्त तपस्वियोंको इसका नित्य ही सेवन करना चाहिये।

यह शरीरके कदर्थनरूप तप अयन शयन आदि अनेक उपायोंके द्वारा सिद्ध हुआ करता है। प्रकृतमें यह उपाय छह प्रकार बताया है। यथा अयन, शयन, आसन, स्थान, अवग्रह. और योग। इनमें भी अयनके अनु-सूर्यादिक, शयनके शवशय्यादिक, आसनके नीरासनादिक स्थानके एकपदादिक, अवग्रहके अनिष्ठीवनादिक, और योगके आतपनादिक अनेक उत्तर भेद होते हैं। जैसा कि कहा भी है कि—

ठाणसयणासणेहिं विविहेहिमवग्गहेहिं बहुगेहिं।
अणुवीचीपरिताओ कायकिलेसो हवदि एसो॥

उत्तर भेदोंके नाम इस प्रकार हैं —

अनुसूर्यं प्रतिसूर्यं तिर्यक्सूर्यं तथोर्ध्वसूर्यं च।
तद्भ्रमकेणापि गत प्रत्यागमन पुनर्गत्वा॥
साधार सविचार ससन्निरोध तथा विसृष्टाङ्गम)
समपादमेकपाद गृद्ध्रस्थित्या यते' स्थानम्॥
समपर्यङ्कनिषद्योऽसमयुतगोदोहिकास्तथोत्कुटिका।
मकरमुखहस्तिहस्तौ गोशय्या चार्धपर्यङ्क॥
वीरासनदण्डाद्या यतोर्ध्वशय्या च लगडशय्या च।
उत्तानमवाक्शयन शवशय्या चैकपार्श्वशय्या च॥
अभ्रावकाशशय्या निष्ठीवनवर्जन न कण्डूया।
तृणफलकशिलेलास्वावसेवन केशलोच च॥
स्वापवियोगो रात्रावस्नानमदन्तघर्षण चैव।
कायक्लेशतपोद शीतोष्णातापनाप्रभृति॥

अयन—इसके अनुसूर्य आदि अनेक भेद हैं। सूर्यके सन्मुख गमन करनेको अनुसूर्य, सूर्यको पीठकी तरफ करके गमन करनेको प्रतिसूर्य, और वाम भागमें अथवा दक्षिण भागमें सूर्यको करके गमन करनेको तिर्यक्सूर्य, तथा शिरके ऊपर सूर्यको करके गमन करनेको ऊर्ध्वसूर्य कहते हैं। इसी प्रकार सूर्य जिधर जिधरको घूमता जाय उधर उधर ही घूमते जानेको सूर्यभ्रमगति और किसी ग्रामादिक या तीर्थादिक स्थानको जाकर वहांसे पुनः लौटनेको गमनागमन कहते हैं। इसी तरह अयनके अनेक भेद होते हैं।

स्थान—इसके भी साधारादिक अनेक भेद हैं। कायोत्सर्ग धारण करनेको स्थान कहते हैं। जिसमें स्तम्भादिकका आश्रय लेना पडे उसको साधार, जिसमें संक्रमण पाया जाय उसको सविचार, जो निश्चलरूपसे धारण किया जाय उसको ससन्निरोध, जिसमें सम्पूर्ण शरीर छोडदिया जाय—ढीला डाल दिया जाय उसको विसृष्टाङ्ग, जिसमें दोनः पैर समान रक्खे जांय उसको समपाद, एक पैरसे खडे होनेको एकपाद, और जिस तरह गृद्ध पक्षी उडते समय अपने दोनो पंख ऊपरको करलेता है उसी प्रकार दोनों भुजाओंको ऊपर करके जो कायोत्सर्ग धारण किया जाता है उसको प्रसारितबाहु कायोत्सर्ग कहते हैं। इस तरह स्थानके भी अनेक भेद हैं।

आसन—जिसमें पिंडलियां और स्फिक् बराबर मिलजांय इस तरहसे बैठनेको समपर्यङ्कासन कहते हैं। इससे उल्टा असमपर्यङ्कासन हुआ करता है। जिस तरह गौके दुहनेके समय बैठते हैं उसी तरहसे ध्यानादिके लिये बैठनेको गोदोहासन कहते हैं। ऊपरको संकुटित होकर बैठनेका नाम उत्कुटिकासन है। मकरके मुखकी तरह दोनो पैरोंको बनाकर बैठनेका नाम मकरमुखासन है। हाथीकी सूंडकी तरह एक पैरको अथवा एक हाथको फैलाकर बैठनेका नाम हस्तिहस्तासन है। जिस तरह गौ बैठती है उस तरहसे बैठनेको गोशय्यासन कहते हैं। अर्धपर्यङ्कासन शब्दका अर्थ स्पष्ट ही है। दोनो जंघाओंको दूरवर्ती रखकर बैठनेका नाम वीरासन है। जिसमें शरीर दण्डके समान आयत बनजाय इस तरहसे बैठनेको दण्डासन कहते हैं। इस प्रकार आसनके अनेक भेद हैं।

शयन—शरीरको संकुचित करके सोनेको लगडशय्या कहते हैं। ऊपरको मुख करके सोनेका नाम उत्तानशय्या, और नीचेको मुख करके सोनेका नाम अवाक्शय्या है। शवकी तरह पडकर सोनेको शवशय्या कहते

हैं। वाम या दाक्षिण किसी भी एक भागसे सोनेको एकपार्श्वशय्या कहते हैं। बाहिर निरावरण स्थानमें सोनेको अभ्रावकाशशय्या कहते हैं। इस प्रकार शयनके भी अनेक भेद होते हैं।

अवग्रह—अनेक प्रकारकी बाधाओंके जीतनेको अवग्रह कहते हैं। यह भी अनेक प्रकारका हो सकता है। यथा—थूकने या खकारनेकी बाधाको जीतना, छींक या जंभाईको रोकना, खुजली मालुम पडनेपर भी खुजाना नहीं, तृण कांटा या किसी तरहकी लकडी आदिके लगजानेपर खिन्न न होना, फोडा फुसी या फफोला आदिके होजानेपर भी दुःखी न होना, कंकड पत्थरोंके लगजानेपर या वैसी निम्नोन्नतादिक भूमिके स्पर्शसे भी खेद न मानना, यथासमय केशोंका उत्पाटन करना और उसकी पीडाकी तरफ लक्ष्य न देना, रात्रिमें भी नहीं सोना, कभी स्नान न करना, और न कभी दांतोंको मांजना। इत्यादि अवग्रहके अनेक भेद हैं। क्योंकि जिन क्रियाओं और अभिप्रायोंसे धर्मकृत्योंके साधन करनेमें सहायता मिल सकती है उन सभीको अवग्रह कह सकते हैं।

योग—इसके भी आतपनादिक अनेक भेद हैं। ग्रीष्म ऋतुमें पर्वतके शिखरपर सूर्यके सम्मुख खडे होना आतपन कहलाता है। इसी प्रकार वर्षा ऋतुमें वृक्षके नीचे और शीतकालमें चौरायेपर ध्यानादिके लिये बैठना; इत्यादि अनेक प्रकारसे योग हुआ करता है।

भावार्थ—यह बात पहले भी कही जा चुकी है कि दुःखोंको सहन करनेका अभ्यास न रहनेसे कदाचित् दुःखोंके उपस्थित होते ही ज्ञान ध्यान आदि सब कुछ छूट जाता है अत एव साधुओंको अपनी शक्तिके अनुसार दुःखोंके सहन करते रहनेका अभ्यास करना चाहिये। इसीलिये यहांपर अनेक उपायोंसे कायक्लेश करनेका उपदेश दिया है जिससे कि स्वाध्याय और ध्यानादिकके साधनमें तथा दूसरे भी सम्पूर्ण अवश्यपालनीय कर्तव्योंमें आपत्तियोंके आजानेपर बाधा न पड जाय।

इस प्रकार बाहिरङ्ग तपके छह भेदोंका वर्णन समाप्त हुआ। अब अन्तरङ्ग तपका व्याख्यान करते हैं। इस तपके प्रायश्चित्तादिक छह भेदोंका नाम पहले लिखा जा चुका है। यहांपर सबसे पहले यह बताते हैं कि तपके इन छह भेदोंको अन्तरङ्ग कहनेका कारण क्या है? :—

बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वात् स्वसंवेद्यत्वतः परैः ।
अनध्यासाच्चपः प्रायश्चित्ताद्यभ्यन्तरं भवेत् ॥ ३३ ॥

प्रायश्चित्त प्रभृति तपोंमें बाह्य द्रव्यकी अपेक्षा नहीं है, उसमें मुख्यतया अन्तःकरणके परिणामोंका ही सम्बन्ध रहता है। इसके सिवाय इनका स्वयं ही संवेदन होता है, प्रायः करके इनका स्वरूप बाह्येन्द्रियोंके द्वारा देखनेमें नहीं आसकता। तथा जिस प्रकार अनशनादिकोंको अनार्हत लोग धारण किया करते हैं उस प्रकार वे प्रायश्चित्तादिको धारण नहीं करते। अत एव प्रायश्चित्त विनय वैयावृत्त्य स्वाध्याय व्युत्सर्ग और ध्यान इन छह तपोंको अन्तरंग माना है।

प्रायश्चित्तका लक्षण और उसके अवान्तर भेदोंकी संख्या बताते हैं:—

यत्कृत्याकरणे वर्ज्याऽवर्जने च रजोर्जितम् ।
सोतिचारोत्र तच्छुद्धिः प्रायश्चित्तं दशात्म तत् ॥ ३४ ॥

जिनका अवश्य ही पालन करना चाहिये ऐसे षडावश्यक प्रभृति कृत्योंका पालन न करनेसे और जो वर्ज्य है—जिनका कभी भी पालन न करना चाहिये ऐसे हिंसादिक कर्मोंका त्याग न करनेसे अथवा उनका अनुष्ठान करनेसे जो पापका संचय होता है उसको अतिचार कहते हैं। इस अतिचार या पापकी शुद्धिका ही नाम प्रायश्चित्त है। इसके आलोचनादिक दश भेद हैं; जैसा कि आगे चलकर वर्णन करेंगे।

दो श्लोकोंमें प्रायश्चित्तके पालन करनेका प्रयोजन प्रकट करते हैं:-

प्रमाददोषविच्छेदममर्यादाविवर्जनम् ।
भावप्रसादं निःशल्यमनवस्थाव्यपोहनम् ॥ ३५ ॥

चतुर्द्धाराधनं दार्ढ्यं संयमस्यैवमादिकम् ।
सिसाधयिषताऽऽचर्यं प्रायश्चित्तं विपश्चिता ॥ ३६ ॥

जो साधु चारित्रके पालन करनेमें असावधानताके कारण लगे हुए दोषों–अतीचारोंका परिहार करना चाहता है, और मर्यादाके उल्लंघनको छोडना चाहता है— चाहता है कि मुझसे प्रतिज्ञात व्रतोंका उल्लंघन किसी भी प्रकार न हो जैसा कि कहा भी है कि:—

महातपस्तडागस्य सम्भृतस्य गुणाम्भसा ।
मर्यादापालिबन्धेऽल्पावप्युपेक्षिष्ट मा क्षतिम् ॥

यह महान् तप एक प्रकारका बडा भारी तलाव है जो कि गुणरूपी जलसे भरा हुआ है । मर्यादा–इसके किनारे—पार हैं । चाहें ये किनारे छोटेसे ही क्यों न हों, फिर भी उनको तोडनेका प्रयत्न न करना चाहिये ।

इसके सिवाय जो साधु परिणामोंसे कश्मलताको दूर कर अन्तरङ्ग भावोंमें प्रसत्ति उद्भूत करना चाहता है, तथा माया मिथ्या और निदान इन तीन शल्योंको—अन्तरंगके स्खलनरूप अतीचारोंको हटाना चाहता है, एवं अनवस्था—अपराधके भी ऊपर अपराध करते जानेका निराकरण करना चाहता है, सम्यग्दर्शनादिक चारो आराधनाओंको उद्योतित करना चाहता है, संयमके साधनमें दृढता उत्पन्न करना चाहता है, और इसी तरहके और भी अनेक सुप्रयोजनोंको सिद्ध करना चाहता है उस विवेकी साधुको प्रायश्चित्त तपका अनुष्ठान अवश्य ही करना चाहिये ।

प्रायश्चित्त शब्दका निरुक्तिसिद्ध अर्थ बताते है —

प्रायो लोकस्तस्य चित्तं मनस्तच्छुद्धिकृत्क्रिया ।
प्राये तपसि वा चित्तं निश्चयस्तन्निरुच्यते ॥ ३७ ॥

प्रायः शब्दका अर्थ लोक और चित्त शब्दका अर्थ मन होता है। अत एव उस क्रिया या अनुष्ठानको प्रायश्चित्त कहते है जिसके कि करनेसे अपने साधर्मी और सङ्घमें रहनेवाले लोगोंका मन अपनी तरफसे शुद्ध हो जाय। किसीसे अपराध बनजानेपर सहवर्तियोंके मनमें जो ग्लानि उत्पन्न हो जाती है वह जिस कर्मके करनेसे दूर हो जाय उसीको प्रायश्चित्त कहते हैं।

अथवा प्रायः शब्दका अर्थ तप और चित्त शब्दका अर्थ निश्चय होता है। अत एव अनशन अवमौदर्य आदि तपोंके विषयमें उनकी अनुष्ठेयताके श्रद्धान करनेको भी प्रायश्चित्त कहते हैं।

साधुओंका चित्त जिस कर्ममें लीन हो या रहना चाहिये उस कर्मको अथवा अपराधके संशोधनको भी प्रायश्चित्त कहते हैं।

इस प्रायश्चित्त नामक तपके दश भेद माने हैं। यथाः—आलोचन प्रतिक्रमण तदुभय [आलोचनप्रतिक्रमण] विवेक व्युत्सर्ग तप छेद मूलपरिहार और श्रद्धान। इनमेंसे क्रमके अनुसार पहले भेद आलोचनका स्वरूप और उसके भेद दिखाते हैः—

सालोचनाद्यस्तद्भेदः प्रश्रयाद्धर्मसूरये।
यद्दशाकम्पिताद्यूनं स्वप्रमादनिवेदनम् ॥ ३८ ॥

धर्माचार्यके सन्मुख विनय और भक्तिसे नम्र होकर अपने प्रमाद और तज्जानित दोषोंको छोडकर निवेदन करदेनेका नाम आलोचन प्रायश्चित्त है। जैसा कि कहा भी है किः—

मस्तकविन्यस्तकर. कृतिकर्म विधाय शुद्धचेतस्क ।
आलोचयति सुविहित. सर्वान् दोषास्त्यजन् रहसि ॥

आलोचन प्रायश्चित्तके विषयमें एक बात विशेष समझनेकी है। वह यह कि पुरुष यदि अपने दोषोंका आलोचन करे तो एकान्तमें भी कर सकता है, किंतु स्त्रियोंको ऐसा न करना चाहिये। उन्हे दो या तीनके आश्रयसे तथा प्रकाशमें ही आलोचन करना उचित है।

आलोचनके सम्बन्धमें देशकालके विधानका निर्णय करते हैं:—

प्राह्णेऽपराह्णे सद्देशे बालवत् साधुनाखिलम् ।
स्वागस्त्रिरार्जवाद्वाच्यं सूरेः शोध्यं च तेन तत् ॥ ३९ ॥

प्रमादसे अपराध करनेवाले साधुको अपना सम्पूर्ण पाप धर्माचार्यके सम्मुख माया या कपटको छोडकर बालककी तरह ज्योंका त्यों कहदेना चाहिये । तथा याद कर करके तीन वार कहना चाहिये । जैसा कि कहा भी है कि—

इयमुजुभावमुवगदो सवेदो सेसारि तु तिक्खंतो ।
लेस्साहि विसुज्झतो उवेदि सल्ल समुद्धरिदु ॥
जह बालो जप्पतो कज्जमकज्ज च उज्जुग भणदि ।
तह आलोचेदव्व मायामोस च मोत्तूण ॥

इस प्रकार जब साधु अपने दोषोंका निवेदन करचुके तब धर्माचार्यको प्रातःकालके समय अथवा सायंकालके समय प्रशस्त स्थानमें और उत्तम लग्नमे सुनिरूपित प्रायश्चित्त देकर उस साधुके अपराधका निराकरण करदेना चाहिये ।

अर्हद्गृह सिद्धक्षेत्र समुद्र कमलसरोवर क्षीरफलोंसे व्याप्त स्थान और तोरण उद्यान आदि स्थान आलोचन करने और प्रायश्चित्त देनेके लिये उत्तम और प्रशस्त मानगये हैं । आचार्यगण ऐसे स्थानोंपर ही साधुको शुद्ध करनेकेलिये आलोचना कराना चाहते हैं ।

स्थानकी तरह लग्नके विषयमें भी शुभ चन्द्रमा तिथि नक्षत्र घडी आदि देखलेना उचित है । जैसा कि कहा भी है कि:—

आलोचणादिआ पुण होदि पसत्थेवि सुद्धभावं सा ।
पुव्वह्ले अवरह्णे सोम्मतिहीरिक्खवेलाए ॥

जिस रत्नत्रयमार्गका साधु आराधन करता है उसका यदि एकदेशरूपसे विराधन होजाय तब तो आकम्पितादिक दश दोषोंसे रहित पदविभागकी नामकी आलोचना करनी चाहिये। और यदि दोष बडा हो या स्मरणमें न आसके अथवा व्रतभंग हो जाय तो औघी नामक आलोचना करना उचित है। इसी बातका दश दोषोंके नाम और लक्षण बताते हुए पांच पद्योंमें वर्णन करते हैः—

आकम्पितं गुरुच्छेदभयादावर्जनं गुरोः।
तपःशूरस्तवात्तत्र स्वाऽशक्त्याख्यानुमापितम् ॥ ४० ॥
यद् दृष्टं दूषणस्यान्यदृष्टस्यैव पृथा गुरोः।
बादरं बादरस्यैव सूक्ष्मं सूक्ष्मस्य केवलम् ॥ ४१ ॥
छन्नं कीदृक्चिकित्से दृग्दोषे पृष्ट्वेति तद्विधिः।
शब्दाकुलं गुरोः स्वागः शब्दनं शब्दसंकुले ॥ ४२ ॥
दोषो बहुजनं सूरिदत्तान्यक्षुण्णतत्कृतिः।
बालाच्छेदग्रहोऽव्यक्तं समात्तत्सेवितं त्वसौ ॥ ४३ ॥
दशेत्युज्झन् मलान्मूलाप्राप्तः पदविभागिकाम्।
प्रकृत्यालोचना मूलप्राप्तश्चौघीं तपश्चरेत ॥ ४४ ॥ (पञ्चकम्)

जिस रत्नत्रयमार्गका साधु आराधन करता है उसका प्रमादवश एक देशरूपसे विराधन होजानेपर मुमुक्षुको दश दोष छोडकर पदविभागिका नामक आलोचन करके प्रायश्चित्त तपका अनुष्ठान करना चाहिये विशेष आलोचनाको पदविभागिका कहते है। जिस समय दीक्षा ग्रहण की हो उसी समयसे जो जब जहां

और जिस तरहसे अपराध बनगया हो उसको उसी समय ओर उसी जगह तथा उसी तरह प्रकाशित करनेको विशेष आलोचन कहते है।

जिसने अपने व्रतादिकको सर्वात्मना भंग करादिया है उसको दश दोप रहित औघी आलोचना करना चाहिये। सामान्य आलोचनको ओघो कहते हैं।

आलोचन करते समय जिन दश दोपोंको छोडना चाहिये उनका लक्षण इस प्रकार है--

१-आचार्य महान् प्रायश्चित्त न देदें इस भय और शकासे उपकरण आदि देकर अथवा किसी अन्य उपायसे उनको थोडा प्रायश्चित्त देनेके लिये अपने अनुकूल करनेका नाम आकम्पित दोप है।

२--प्रार्थना करनेपर गुरु थोडासा ही प्रायश्चित्त देकर मुझपर अवश्य ही अनुग्रह करेंगे इस बातको अनुमानसे जाननेके वाद " उन वीरपुरुषोंको धन्य हे जो कि उत्कृष्ट तप किया करते हैं या कर सकते है " इस तरहसे तपःशूर पुरुषोंकी स्तुति करके तपके विपयमें अपनी अशक्ति जाहिर कर अपने अपराधके प्रकाशित करनेको अनुमापित दोप कहते हैं।

३-यदि अपने अपराधको किसीने देखलिया तब तो गुरुके समक्ष कह दिया, अन्यथा नहीं। इस तरह दूसरेके द्वारा देखे हुए ही दोपके प्रकाशित करनेको दृष्ट दोप कहते हैं।

४-गुरुके सामने छोटे छोटे अपराधोंको तो छिपा लेना और केवल बडे बडे ही अपराधोंको जाहिर करना इसको बादर दोप कहते हैं।

५-स्थूल दोपोंको छिपाकर केवल सूक्ष्म दोपोंको ही गुरुके सम्मुख निरूपण करना इसको सूक्ष्म दोप कहते है।

६-अपने दोपके उद्देशसे गुरुसे यह पूछना कि ऐसा अपराध बन जानेपर, क्या प्रायश्चित्त होना चाहिये? किन्तु अपने दोपको जाहिर न करना। और उत्तरमें गुरुसे प्रायश्चित्त मालुम होजानेपर उसका चुपकेसे अनुष्ठान करलेना इसको छन्न दोप कहते है।

७-पक्षादिक अतीचारोंकी शुद्धिके समय जहांपर बहुतसे लोगोंका शब्द हो रहा हो वहांपर उस कोलाहलमें ही गुरुके सामने अपने दोष कथन करनेको शब्दाकुल दोष कहते हैं ।

८—अपने गुरुके दिये हुए प्रायश्चित्तका दूसरे भी उस विषयके दक्ष व्यक्तियोंसे चर्चा कर पालन करनेको बहुजन दोष कहते हैं ।

९—अपनेसे ज्ञान वा संयममें जो हीन है उससे प्रायश्चित्त ग्रहण करनेको अव्यक्त दोष कहते हैं ।

१०—अपने समान-अपराधी-पार्श्वस्थसे प्रायश्चित्त ग्रहण करनेको तत्सेवित दोष कहते हैं ।

इस प्रकार आलोचनके दश दोष बताये हैं। इन दोषोंको छोड कर ही गुरुके सामने अपने दोषोंका आलोचन करना चाहिये । क्योंकि इस तरहके आलोचनके विना किया हुआ महान् भी तप संवरकी सहवर्तिनी निर्जराका कारण नहीं हो सकता । किंतु केवल आलोचन ही कार्यकारी है ऐसा भी न समझना चाहिये, क्योंकि आलोचन करनेपर भी अन्य विहित विधियोंका आचरण न करनेवाला साधु सर्वथा दोषोंसे रहित नहीं हो सकता । अत एव सर्वदा दोनों ही कामोंका करना आवश्यक है—आलोचन भी करना चाहिये और गुरुनिरूपित उचित आचरणका पालन भी करना चाहिये । इसी बातकी शिक्षा देते हैं:—

सामौषधवन्महदपि न तपोऽनालोचनं गुणाय भवेत् ।
मन्त्रवदालोचनमपि कृत्वा नो विजयते विधिमकुर्वन् ॥ ३५ ॥

जिस प्रकार विना विचार किये ही दी हुई सामदोषसे युक्त महान् भी औषध आरोग्यके करनेवाली नहीं हो सकती उसी प्रकार उपर्युक्त आलोचनके विना किया हुआ महान् भी तप आत्माके लिये गुणकारी नहीं हो सकता । क्योंकि अनालोचित तपसे संवर और निर्जरा दोनो नहीं हो सकते । इसी तरह मन्त्रके समान आलोचनको करके भी विहित आचरणका अनुष्ठान न करनेवाला भी तपस्वी दोषोंका विजेता नहीं बन सकता ।

कार्य आरंभ करनेके उपायका गुप्त रूपसे विचार करना इसको मन्त्र कहते हैं । शत्रुओंके द्वारा अपना वि

निपात तो न हो और अपने कार्यकी सिद्धि हो ही जाय इसकेलिये पांच बातोंका विचार करना पडता है—पुरुष द्रव्य संपत्ति देश और काल। इस प्रकार पञ्चाङ्ग मंत्रको करके भी यदि कोई राजा अपने विहिताचरणमें प्रवृत्त न हो तो वह शत्रुओंपर विजयी नही हो सकता। इसी प्रकार आलोचन करके भी विधिविहिताचरणका अनुष्ठान न करनेवाला तपस्वी दोषरहित नही हो सकता।

भावार्थ—आलोचन और विहित आचरण करनेपर ही साधु अभीष्ट सिद्ध कर सकता है, अन्यथा नहीं।

जिसका मन सद्गुरुओंके दिये हुए प्रायश्चित्तमें लीन रहता है वह साधु अवश्य ही महती दीप्तिको प्राप्त करता है; यह बात दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैं।

यथादोषं यथाम्नायं दत्तं सद्गुरुणा वहन्।
रहस्यमन्तर्भात्युच्चैः शुद्धादर्श इवाननम् ॥ ४६ ॥

जिसके भीतर मुखका प्रतिबिंब पडा हुआ है ऐसा निर्मल दर्पण जिस प्रकार अतिशय शोभाको प्राप्त होता है उसी प्रकार जो तपस्वी आम्नायके अनुसार और जैसा दोष हो उसके अनुरूप सद्गुरुओंके दिये हुए प्रायश्चितको हृदयमें धारण करता है वह अतिशय दीप्तिको प्राप्त होता है।

क्रमके अनुसार प्रायश्चित्तके दूसरे भेद–प्रतिक्रमणका स्वरूप बताते हैं—

मिथ्या मे दुष्कृतमिति प्रायोऽपायैर्निराकृतिः।
कृतस्य संवेगवता प्रतिक्रमणमागसः ॥ ४७ ॥

संसारसे भीरु और विषयभोगोंसे तथा शरीरादिकमें विरक्तचित्त साधुके द्वारा "मेरा सम्पूर्ण दुष्कृत्य मिथ्या हो जाय, मुझसे जो जो पाप बने है वे सब शान्त हो जांय" इस तरहके उपायोंसे अपने किये हुए अपराधोंके निराकरण किये जानेको प्रतिक्रमण कहते है।

भावार्थ—जिन वातोंसे धर्मकथादिकमें व्यवधान पड सकता है उन कारणोंके मिलनेपर यदि उन विषयोंमें उपयुक्त योगोंका विस्मरण हो जाय और उस समय गुरु निकटवर्ती न हों तो संवेग और निर्वेदसे युक्त साधु उन विषयोंका पुनः अनुष्ठान करता है और अपने किये हुए अल्प अपराधका 'मुझसे जो यह अपराध वन गया सो मिथ्या हो, अब फिर मैं ऐसा न करूंगा।' इस तरह कहकर निराकरण करता है। इस तरहके निराकरण करनेको ही प्रतिक्रमण कहते हैं।

किसी किसीका ऐसा भी कहना है कि इस निराकरण करनेमें अपने दोषोंका नाम लेकर उच्चारण भी करना चाहिये। जैसे कि मेरा अमुक दोष मिथ्या हो, मुझसे अमुम अपराध वनगया सो भी मिथ्या हो। इस तरहके अभिव्यक्त प्रतीकारको प्रतिक्रमण समझना चाहिये। किंतु इस तरहका प्रतिक्रमण करनेकी जिसको आचार्यने आज्ञा दी हो उसी शिष्यको करना चाहिये।

प्रायश्चित्तके तीसरे भेद तदुभयका लक्षण वताते हैः—

दुःस्वप्नादिकृतं दोषं निराकर्तुं क्रियेत यत्।
आलोचनप्रतिक्रान्तिद्वयं तदुभयं तु तत्॥ ४८॥

दुःस्वप्न अथवा सक्लेशादिक परिणामोंसे उत्पन्न हुए दोषका निराकरण करनेके लिये जो उपर्युक्त आलोचन और प्रतिक्रमण दोनोंका करना इसको तदुभय कहते हैं। इसमें इतनी विशेषता है कि आलोचन और प्रतिक्रमण कुछ विशिष्ट हुआ करता है। अत एव जैसी गुरु आज्ञा करें तदनुसार ही शिष्यको करना चाहिये। तथ आलोचन शिष्यको ही और आलोचन कराकर प्रतिक्रमण आचार्यको ही करना चाहिये।

विवेकका लक्षण वताते हैं —

संसक्तेन्नादिके दोषान्निवर्तयितुमप्रभोः।

यच्चाद्विभजनं साधोः स विवेकः सतां मतः ॥ ४९ ॥

आपसमें मिले हुए अथवा संमूर्छित अन्नादिकमें जो ऐसे दोष हों जिनका कि पृथकरण न हो सकता हो तो उस अवस्थामें उस अन्नपान या उपकरणादिके छोडदेनेको विवेक कहते हैं।

प्रकारान्तरसे इसीका लक्षण बताते हैः—

विस्मृत्य ग्रहणेऽप्रासोर्ग्राहणे वाऽपरस्य वा ।
प्रत्याख्यातस्य संस्मृत्य विवेको वा विसर्जनम् ॥ ५०॥

यदि कोई सचित्त वस्तु भूलसे ग्रहण करने करानेमें आजाय तो उसके छोडदेनेको विवेक कहते है। अथवा कोई वस्तु प्रासुक तो है पर छोडी हुई है एसी वस्तु भी ग्रहण होजानेपर भले प्रकार प्रतिग्रहपूर्वक याद करके उसके छोडदेनेको विवेक कहते है। जैसा कि कहा भी है कि—

" शक्तिको न छिपाकर और प्रयत्नपूर्वक छोडते हुए भी कदाचित् किसी कारणसे यदि अप्रासुक वस्तु ग्रहण करने या करानेमें आजाय, अथवा प्रासुक किंतु प्रत्याख्यात वस्तु भूलसे ग्रहण करनेमें आजाय तो याद करके उस वस्तुके छोडनेको विवेक कहते है। " इसके सिवाय किसी किसीने विवेकका अर्थ इस प्रकार बताया है- कि—" शुद्ध भी वस्तुमें अशुद्धताका संदेह अथवा विपर्यास हो जानेपर यद्वा अशुद्ध वस्तुमें शुद्धताका निश्चय होजानेपर, या छोडी हुई प्रासुक वस्तु, पात्र अथवा मुखमें प्राप्त हो जाय, यद्वा जिस वस्तुके ग्रहण करनेपर कषायादिक उत्पन्न होते हों, उन सम्पूर्ण वस्तुओंके परित्यागको विवेक कहते हैं।

क्रमप्राप्त व्युत्सर्ग प्रायश्चित्तका स्वरूप बताते हैः—

स व्युत्सर्गो मलोत्सर्गाद्यतीचारेवलम्ब्य सत् ।
ध्यानमन्तर्मुहूर्तादि कायोत्सर्गेण या स्थितिः ॥ ५१ ॥

मलोत्सर्ग दुःस्वप्न या दुश्चिन्तन प्रभृतिका अतीचार लगजानेपर अन्तर्मुहूर्त दिन पक्ष यद्वा महीना आदि कालका प्रमाण करके उतने समय तक देहसे ममत्व छोडकर प्रशस्त ध्यानको धारण करके खडे रहनेको व्युत्सर्ग कहते हैं।

किसी किसीने नियत समयतक मन वचन कायके परित्यागको व्युत्सर्ग बताया है।

तप प्रायश्चित्तका लक्षण बताते हैं :—

कृतापराधः श्रमणः सत्त्वादिगुणभूषणः ।
यत्करोत्युपवासादिविधिं तत्क्षालनं तपः ॥ ५२ ॥

जो तपस्वी सत्व धैर्य आदि अनेक गुणोंसे अलंकृत है फिर भी उससे किसी प्रकारका अपराध बनगया—विधिविहित आचरणका अतिक्रमण होगया उस अवस्थामें यदि वह अपने अपराधका प्रक्षालन करनेके लिये उपवास एकस्थान आचाम्ल निर्विकृति आदि बाह्य तपोंको करता है तो उसकी इस क्रियाको तप नामक प्रायश्चित्त कहते हैं।

ऊपर आलोचनादिक छह प्रकारके प्रायश्चित्तका स्वरूप बताया है। अब यह बताते हैं कि किस किस अपराधके विषयमें ये प्रायश्चित्त करने चाहिये।

भयत्वराशक्त्यबोधविस्मृतिव्यसनादिजे ।
महाव्रतातिचारेमुं षोढा शुद्धिविधिं चरेत् ॥ ५३ ॥

भयत्वरा—डरकर भाग जाना, अशक्ति—सामर्थ्यकी हीनता, अबोध—अज्ञान, विस्मृति-विस्मरण, व्यसन—यवनादिकोंका आतङ्क, इसी तरहके रोग अभिभव आदि और भी अनेक कारणोंसे महाव्रतोंमें अतीचार लगजानेपर तपस्वियोंके उपर्युक्त छह प्रकारकी शुद्धिविधि—प्रायश्चित्त करनी चाहिये।

भावार्थ—आगममें भिन्न भिन्न अपराधोंके लिये भिन्न भिन्न प्रकारका ही प्रायश्चित्त भी बताया है। अत एव तपस्वियोंको आलोचन प्रतिक्रमण तदुभय विवेक व्युत्सर्ग और तप इन छहमेंसे यथायोग्य—अपराधके अनुरूप प्रायश्चित्त लेकर अपराधकी शुद्धि करलेनी चाहिये। जैसे कि—

आचार्यसे पूछे विना आतापन आदिके करनेपर, दूसरेके परोक्षमें उसकी पुस्तक पींछी आदि उपकरणोंके लेलेनेपर, प्रमादसे आचार्य प्रभृतिकी आज्ञाका पालन न करनेपर, संघके स्वामीसे पूछे विना उसके प्रयोजनसे कहीं भी जाकर पुनः आजानेपर, दूसरे संघसे विना पूछे अपने संघमें आजानेपर, देशकालके नियमानुसार जिन विशेष व्रतोंका अवश्य ही पालन करना चाहिये उनको धर्मकथा आदिके व्यासङ्गसे भूलजानेपर किन्तु पुनः उनका पालन करलेनेपर, इसी तरहके और भी अपराध बनजानेपर केवल आलोचन प्रायश्चित्त करना चाहिये।

पांच इन्द्रिय और छट्ठा मन तथा इसी तरह वचन आदि क्रियाओंका भी दुरुपयोग होजानेपर, आचार्य आदिसे अपने हाथ पैर आदिका धक्का लगजानेपर, व्रत समिति और गुप्तियोंका पालन अत्यंत अल्प होनेपर, चुगली अथवा कलह आदिके करनेपर, वैयावृत्त्य और स्वाध्याय आदिमें प्रमाद करनेपर, गोचरीकेलिये जाते हुए जननेंद्रियमें विकार होजानेपर, इसी तरह और भी सङ्क्लेश करनेवाली क्रियाओंके होजानेपर प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त करना चाहिये। यह प्रायश्चित्त दिन और रात्रिके अन्तमें-सायंकाल और प्रातःकाल तथा भोजनकेलिये जाने आदिके समय किया जाता है। जैसा कि इसका व्यहार प्रसिद्ध भी है।

केशलोच नखोंका छेदन दुःस्वप्न और इन्द्रियोंका अतीचार तथा रात्रिभोजनमें पक्ष मास संवत्सर आदिका दोप लगजानेपर उभय प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिये।

मौन आदिके धारण किये विना ही आलोचन करनेपर, उदरमेंसे क्रिमिके निकलनेपर, हिम अथवा दंशमशक आदिके निमित्तसे यद्वा महावातादिके संघर्पसे अतीचार लगजानेपर, स्निग्ध भूमि हरित तृण यद्वा कर्दम आदिके ऊपरसे चलनेपर, घोंटुओंतक जलमें प्रवेश करजानेपर, अन्यनिमित्तक वस्तुको अपने उपयोगमें लेआनेपर नावके द्वारा नदीपार होनेपर, पुस्तक या प्रतिमा आदिके गिरादेनेपर पंच स्थावरोंका विघात होजानेपर, यद्वा वि-

ना देखे हुए स्थानमें शारीरिक मलके छोडदेनेपर, पक्षसे लेकर प्रतिक्रमण क्रिया पर्यन्त व्याख्यान प्रवृत्यन्तादिकोंमें केवल कायोत्सर्ग ही प्रायश्चित्त किया जाता है। थूकने या पेशाव आदिको करनेपर तो कायोत्सर्गका करना प्रसिद्ध ही है।

अनशनादि करनेके स्थानको आगमके अनुसार समझलेना चाहिये।

क्रमानुसार छेद प्रायश्चित्तका स्वरूप बताते हैं:—

चिरप्रव्राजितादृप्तशक्तशूरस्य सागसः।
दिनपक्षादिना दीक्षाहापनं छेदमादिशेत् ॥ ५४ ॥

जो साधु चिरकालसे दीक्षित होनेके सिवाय गर्वरहित तपस्याओंके करनेमें समर्थ और शूर है उससे किसी प्रकारका अपराध बनजानेपर उस अपराधकी शुद्धिकेलिये आचार्यद्वारा एक दिन दो दिन पक्ष मास वर्ष दो वर्ष आदि कालप्रमाणसे दीक्षाकालके कम करादिये जानेको छेद कहते हैं।

मूलका लक्षण बताते हैं:—

मूलं पार्श्वस्थसंसक्तस्वच्छन्देष्ववसन्नके।
कुशीले च पुनर्दीक्षादानं पर्यायवर्जनात् ॥ ५५ ॥

पहली सम्पूर्ण दीक्षाको खण्डित करके फिरसे नवीन दीक्षा देकर प्रायश्चित्तकी अपेक्षा पर्याय बदलनका मूल नामका प्रायश्चित्त कहते हैं। यह प्रायश्चित्त अत्यत अपराधीको ही दिया जाता है। और ऐसे अपराधी पाच प्रकारके हो सकते हैं—पार्श्वस्थ, ससक्त, स्वच्छन्द, अवसन्न, और कुशील।

जो श्रमणोंके पासमें वसतिका अथवा मठ बनाकर रहता है यद्वा उपकरणोंमे अपनी आजीविका करता

है उसको पार्श्वस्थ कहते हैं। जो वैद्यक मन्त्र अथवा ज्योतिषके द्वारा आजीविका करनेवाले हैं और राजा आदि-कोंकी सेवा किया करते हैं उनको संसक्त कहते हैं। जिसने स्वेच्छाचारी होकर गुरुकुलका परित्याग करदिया है और जो एकाकी ही उच्छृंखल विहार करता हुआ जिनवचनोंकी निन्दा करता फिरता है उसको स्वच्छन्द अथवा मृगचारी कहते हैं। जो जिनवचनोंसे अनभिज्ञ है और जिसने चारित्रका भार अपने ऊपरसे उतार दिया है तथा ज्ञान और आचरणमे भ्रष्ट होकर जो इन्द्रियोंके विषयोंमें अलस बना रहता है उसको अवसन्न कहते हैं। जिसकी आत्मा क्रोधादि कषायोंसे कलुषित रहती है और जो पंच महाव्रत अट्ठाईस मूलगुण तथा शीलके उत्तर भेदोंसे भी रहित है, जो सघका अनुवर्तन नहीं करता उसको कुशील कहते हैं।

परिहार प्रायश्चित्तका लक्षण और उसके भेद बताते हैं:—

विधिवद्दूरात्त्यजनं परिहारो निजगणानुपस्थानम्।
सपरगणोपस्थानं पाराञ्चिकमित्ययं त्रिविधः ॥ ५६ ॥

शास्त्रमें जैसा कि विधान है उसके अनुसार एक दिन दो दिन पक्ष महीना आदिके विभागसे अपराधीको दूर करदेनेका नाम परिहार प्रायश्चित्त है। यह तीन प्रकारका होता है:—निजगणानुपस्थान, सपरगणोपस्थान, और पाराञ्चिक।

अपने सघसे निकाल देनेको निजगणानुपस्थान कहते हैं। जो साधु नौ या दश पूर्व ज्ञानका और आदिके तीन उत्तम संहननोंका धारक है, परीषहोंको जीतनेवाला, दृढकर्मा, धीर, वीर और ससारसे भीरु है, किन्तु प्रमादसे वह अन्य मुनियोंके छात्रों या ऋषियोंको अथवा दूसरे पाखाडियोंकी चेतन अचेतन द्रव्यको यद्वा परस्त्रीको चुरानेमें प्रवृत्ति करता है, मुनियोंके ऊपर प्रहार करता है, या ऐसे ही किसी अन्य विरुद्ध आचरणमें प्रवृत्त होता है तो उसको निजगणानुपस्थान नामका प्रायश्चित्त दिया जाता है।

इस प्रायश्चित्तके अनुसार वह दोषी मुनियोंके आश्रमसे कमसे कम ३२ दण्डकी दूरीपर विहार करता

और रहता है, तथा उतने ही फलसे बाल—अपनेसे छोटे भी मुनियोंकी वन्दना करता है, किन्तु गुरु उसको प्रतिवन्दना न करके ही भले प्रकार उसका आलोचन करते है; शेष लोगोंमें वह मौनव्रतको धारण करता और अपनी पीछीको उल्टी रखता है। उसको जघन्यतया पांच पांच उपवास और उत्कृष्टतया छह महिनेका उपवास करना चाहिये। दोनोंकी उत्कृष्ट अवधि बारह वर्षकी मानी गई है।

यदि पूर्वोक्त दोषोंको ही साधु दर्पसे करे तो उसको परगणोपस्थान नामका प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसकी विधि इस प्रकारसे है कि, आचार्य उसके आलोचनको सुनकर बिना प्रायश्चित्त दिये ही दूसरे आचार्यके पास उसे भेज देते हैं। इसी तरह दूसरे आचार्य तीसरेके पास भेजदेते हैं और तीसरे चौथेके पास भेजते हैं। इस प्रकार सातवें आचार्यके पास तक उसको भेजा जाता है। इसके बाद वहांसे उसको उसी प्रकार वापिस लौटाया जाता है। लौटते लौटते जब वह पहले ही आचार्यके पास आजाता है तब वे पहले ही आचार्य उसको प्रायश्चित्त देते हैं और उससे उसका पालन कराते हैं।

जो तीर्थंकर गणधर आचार्य प्रवचन अथवा संघ आदिकी आसादना करता है, अथवा राजाके विरुद्ध आचरण करनेवाला है, राजाके अनभिमत मंत्री आदिको दीक्षा देनेवाला है, राजकुलकी वनिताओ अथवा राजाङ्गनाओं या कुलाङ्गनाओंका सेवन करता है, तथा इसी तरहके अन्य भी अपराध करके धर्मको दूषित करता है, उसको पाराञ्चिक प्रायश्चित्त दिया जाता है। इसकी विधि इस प्रकार है कि–चातुर्वर्ण्य मुनिसंघ इकट्ठा होकर उसको बुलाता है और कहता है कि "यह महापापी पातकी समयबाह्य और अवन्द्य है" इस तरहकी घोषणा करके अनुपस्थान प्रायश्चित्त देकर उसको देशसे निकाल देता है। और वह भी अपने धर्मसे रहित क्षेत्रमें रहकर आचार्यके दिये हुए प्रायश्चित्तका पालन करता है।

प्रायश्चित्तके दशवें भेद श्रद्धानका स्वरूप बताते हैं: —

गत्वा स्थितस्य मिथ्यात्वं यद्दीक्षाग्राहणं पुनः।
तच्छ्रद्धानमिति ख्यातमुपस्थापनमित्यपि ॥ ५७ ॥

जो साधु सम्यग्दर्शनको छोडकर मिथ्यात्वमें प्रवेश कर गया है-बौद्धादिक मिथ्यामतके अभिनिवेशको धारण कर रहने लगा है उससे आचार्यद्वारा पुनः दीक्षा ग्रहण कराये जानेको श्रद्धान प्रायश्चित्त कहते है । इसका दूसरा नाम उपस्थापन भी है। कोई कोई महाव्रतोंका मूलोच्छेद होजानेपर फिरसे दीक्षा दिलानेको उपस्थापन कहते है ।

इस प्रकार प्रायश्चित्तके दश भेदोंका वर्णन किया। अब यह बताते हैं कि इनका प्रयोग अपराधके अनुरूप ही होना चाहियेः —

सैषा दशतयी शुद्धिर्बलकालाद्यपेक्षया ।
यथादोषं प्रयोक्तव्या चिकित्सेव शिवार्थिभिः ॥ ५८ ॥

जिस प्रकार चतुर वैद्य रोगीके बल काल आदिको देखकर वात पित्त आदिक विकारके अनुसार योग्य चिकित्साका प्रयोग करता है उसी प्रकार कल्याणके अभिलाषी आचार्योंको भी, जैसा दोष हो उसके अनुसार और अपराधीके बलकालादि, सत्त्वसंहननादिको देखकर, उपर्युक्त दश प्रकारकी शुद्धिका प्रयोग करना चाहिये ।

इस प्रकार व्यवहार नयसे प्रायश्चित्तके दश भेदोंका व्याख्यान करके निश्चयनयके अनुसार भेदोंका प्रमाण बताते हैं:—

व्यवहारनयादित्थं प्रायश्चित्तं दशात्मकम् ।
निश्चयात्तदसंख्येयलोकमात्रभिदिष्यते ॥ ५९ ॥

व्यवहार नयसे प्रायश्चित्तके दश भेद है जैसा कि ऊपर वर्णन किया जाचुका है । किंतु निश्चयनयसे उसके असंख्यातलोकप्रमाण भेद होते हैं ।

इस प्रकार प्रायश्चित्तका वर्णन कर क्रमानुसार विनयतपका लक्षण कहते हैं:—

स्यात् कषायहृषीकाणां विनीतेर्विनयोथवा।
रत्नत्रये तद्वति च यथायोग्यमनुग्रहः॥ ६०॥

विहित कर्ममें प्रवृत्ति करनेसे तथा क्रोधादिक कषाय और स्पर्शनादिक इन्द्रियोंका सर्वथा निरोध करनेसे विनय प्रकट हुआ करता है। अथवा सम्यग्दर्शनादिकस्वरूप रत्नत्रय और उसके धारण करनेवाले पुरुषोंके यथोचित उपकार करनेको विनय कहते हैं।

विनयशब्दकी निरुक्ति दिखाते हुए उसके फलको प्रकट करते है और इस बातका उपदेश देते है कि विनयका पालन अवश्य ही करना चाहिये :—

यद्विनयत्यपनयति च कर्मासत्त निराहुरिह विनयम्।
शिक्षायाः फलमखिलक्षेमफलश्चेत्ययं कृत्यः॥ ६१॥

विनय शब्दके "दूर करना," और "विशेषरूपसे प्राप्त कराना" इस तरह दोनो ही अर्थ होते है। अत एव मोक्षके प्रकरणमें जो सम्पूर्ण अप्रशस्त कर्मोंको दूर करता है, अथवा जो स्वर्गादिक विशिष्ट अभ्युदयोंको प्राप्त कराता है उसको विनय कहते है। जिनवचनके ज्ञानको प्राप्त करनेका फल यही है— जिनागमकी शिक्षा विनयरूप साध्यको सिद्ध करनेकेलिये ही प्राप्त की जाती है। तथा सम्पूर्ण कल्याणोंकी प्राप्ति भी इस विनयके द्वारा ही हो सकती है। अत एव मुमुक्षुओंको इसका पालन अवश्य ही करना चाहिये।

समस्त विशिष्ट अभीष्ट गुणोंका एकमात्र साधन विनय ही है, इसी बातको प्रकट करते है —

सारं सुमानुषत्वेऽर्हद्रूपसंपदिहार्हती।
शिक्षास्यां विनयः सम्यगस्मिन् काम्याः सतां गुणाः॥ ६२॥

आर्यता कुलीनता आदि प्रशस्त गुणोंसे युक्त इस उत्तम मनुष्य पर्यायका सार-उपादेय भाग अर्हद्रूप-संपत्ति-आचेलक्यादिस्वरूप जिनलिङ्गका धारण करना ही है। और इस जिनलिङ्गके धारण करनेका भी सारभूत फल जिनागमकी शिक्षा प्राप्त करना है, तथा शिक्षाका भी सार यह विनय है। क्योंकि इसके होनेपर ही सत्पुरुषोंके लिये भी स्पृहणीय समाधिप्रभृति गुण स्फुरायमान होते हैं।

विनयरहित पुरुषकी शिक्षा भी निष्फल है; इस बातको बताते हैं—

शिक्षाहीनस्य नटवल्लिङ्गमात्मविडम्बनम्।
अविनीतस्य शिक्षापि खलमैत्रीव किंफला॥ ६३॥

जिस पुरुषने नृत्य करनेकी शिक्षा प्राप्त नहीं की है वह यदि नृत्य करनेमें प्रवृत्त हो तो उपहासका ही पात्र हो सकता है। इसी प्रकार जिसने जिनागमकी शिक्षा प्राप्त नहीं की है उसका जिनलिङ्ग धारण करना भी उपहासका ही विषय हो सकता है। इसी तरह उस मनुष्यकी शिक्षा भी जो कि विनयसे रहित है, निरर्थक अथवा दुर्जन पुरुषोंकी मित्रताके समान अनिष्ट फल उत्पन्न करनेवाली ही हो सकती है।

विनयके तत्त्वार्थ सूत्रमें चार भेद और आचारशास्त्रोंमें पांच भेद बताये है उन्हीका यहांपर उपदेश देते हैं:—

दर्शनज्ञानचारित्रगोचरश्चोपचारिकः।
चतुर्धा विनयोऽवाचि पञ्चमोपि तपोगतः॥ ६४॥

तत्त्वार्थका निरूपण करनेवाले आचार्योंने विनयके चार भेद बताये हैं-दर्शनविनय ज्ञानविनय चारित्र विनय और औपचारिक विनय। किन्तु आचारादि शास्त्रोंका विचार करनेवालोंने तपोविनय नामका पांचवां भेद भी बताया है। यथाः—

दसणणाणे विणओ चरित्त तव ओवचारिओ विणओ।
पचविहो खलु विणओ पचमगइणायगो भणिओ ॥

इनमेंसे क्रमके अनुसार पहले सम्यक्त्वविनयका स्वरूप बताते हैं:—

दर्शनविनयः शङ्काद्यसन्निधिः सोपगूहनादिविधिः।
भक्त्यर्चावर्णावर्णहृत्यनासादना जिनादिषु च ॥ ६५ ॥

सम्यग्दर्शनके शंका कांक्षा विचिकित्सा अन्यदृष्टिप्रशंसा और अनायतनसेवारूप मलोंके दूर करनेको, तथा उपगूहन स्थितीकरण वात्सल्य और प्रभावनारूप गुणोंसे उसके युक्त करनेको, एवं अर्हंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय आदिकी भक्ति अर्चा वर्णना आदि करनेको दर्शनविनय कहते हैं।

अरिहंतादिकोंके गुणोंमें अनुराग रखनेको भक्ति कहते है। द्रव्य अथवा भावसे उनकी पूजा करनेको अर्चा कहते हैं। विद्वानोंकी सभामें युक्तिबलसे उनके यशोविस्तार करनेको वर्ण अथवा वर्णना कहते है। माहात्म्य का समर्थन करके असद्भूत दोषोंके उद्भावनका नाश करना इसको अवर्णहृति कहते है। इसी तरह अवज्ञाके दूर करनेको अर्थात् उनमें आदरभाव प्रकट करनेको अनासादना कहते हैं।

भावार्थ—सम्यग्दर्शनके निर्मल और सगुण बनानेको तथा अरिहंत सिद्ध चैत्य सुदेव धर्म साधुवर्ग आचार्य उपाध्याय प्रवचन और दर्शन इनकी उपर्युक्त भक्ति पूजा आदि करनेको दर्शनविनय कहते है।

दर्शनविनय और दर्शनाचारमें क्या अन्तर है ? इसका उत्तर देते हैः—

दोषोच्छेदे गुणाधाने यत्नो हि विनयो दृशि।
दृगाचारस्तु तत्त्वार्थरुचौ यत्नो मलात्यये ॥ ६६ ॥

सम्यग्दर्शनमेंसे दोषोंके दूर करने और उसमें गुणोंके उत्पन्न करनेकेलिये जो प्रयत्न किया जाता है उसको दर्शनविनय, तथा शंकादिक मलोंके दूर होजानेपर तत्त्वार्थश्रद्धानमें प्रयत्न करनेको दर्शनाचार कहते हैं।

भावार्थ—सम्यक्त्वके निर्मल और सगुण बनानेको दर्शनविनय तथा उसकी वृद्धि करनेको दर्शनाचार कहते हैं।

आठ प्रकारके ज्ञानविनयको पालन करनेका उपदेश देते हैं:—

शुद्धव्यञ्जनवाच्यतद्द्वयतया गुर्वादिनामाख्यया,
योग्यावग्रहधारणेन समये तद्भाजि भक्त्यापि च ।
यत्काले विहिते कृताञ्जलिपुटस्याव्यग्रबुद्धेः शुचेः,
सच्छास्त्राध्ययनं स बोधविनयः साध्योऽष्टधापीष्टदः ॥ ६७ ॥

शब्द अर्थ और उभय—शब्दार्थ की शुद्धतापूर्वक, और गुरु, चिन्तापक तथा जिस विषयका अध्ययन करना है उसका नामोल्लेख करते हुए, एवं जिस सूत्रका अध्ययन करना है उसकेलिये आवश्यक तपोविशेषका अवलम्बन लेकर, अर्थात् जिस तपोविशेषके धारण करनेपर ही विवक्षित श्रुतज्ञान प्रकट हो सकता है उस तपोविशेषको धारण करके, तथा प्रवचन और उसके धारण तथा निरूपण करनेवाले श्रुतधरोंमें भक्ति रखकर, आगममें अध्ययन करनेका जो समय बताया है उसी विहित समयमें पिच्छी सहित दोनों हाथोंको जोडकर, मनमें किसी भी प्रकारकी व्यग्रता धारण न करके—अर्थात् चित्तको एकाग्र बनाकर, और मन वचन कायको शुद्ध रखकर युक्तिसिद्ध परमागमके न केवल अध्ययन करनेको ही किन्तु गुणन व्याख्यान और शास्त्रदृष्टया आचरणको भी ज्ञानविनय कहते हैं। अत एव इसके आठ भेद—अंग होते हैं। यह ज्ञानविनय अभ्युदयों और निःश्रेयसरूप फलको उत्पन्न कर सकता है अत एव मुमुक्षुओंको इसका साधन अवश्य ही करना चाहिये।

भावार्थ—साधुओंको अभीष्ट फल देनेवाले इस अष्टाङ्ग सम्यग्ज्ञानका अवश्य पालन करना चाहिये।

ज्ञानके आठ अंगोंके नाम इस प्रकार हैं:-- १ शब्दार्थ की शुद्धता, २ गुरु आदिका नामोल्लेख, ३ कारणरूप तपोविशेषका पालन, ४ परमागम और उसके धारकोंमें भक्ति, ५ विधिविहित समय, ६ आदरभाव, ७ चित्तकी एकाग्रता, ८ और मन वचन कायकी शुद्धि।

इन आठ अङ्गोंसे परिपूर्ण अध्ययनको ही ज्ञानविनय कहते हैं। ज्ञानविनय और ज्ञानाचारमें क्या अन्तर है, सो बताते हैं:--

यत्नो हि कालशुद्ध्यादौ स्याज्ज्ञानविनयोऽत्र तु ।
सति यत्नस्तदाचार: पाठे तत्साधनेषु च ॥ ६८ ॥

उपर्युक्त कालशुद्धि आदिके विषयमें प्रयत्न करनेको ज्ञानविनय और उन शुद्धिआदिकोंके होजानेपर श्रुतका अध्ययन करनेकेलिये प्रयत्न करनेको अथवा अध्ययन की साधनभूत पुस्तकादि सामग्रीकेलिये प्रयत्न करनेको ज्ञानाचार कहते हैं।

क्रमानुसार चारित्रविनयका स्वरूप बताते हैं:--

रुच्याऽरुच्यहृषीकगोचररतिद्वेषोज्झनेनोच्छलत,--
क्रोधादिच्छिदयाऽसकृत्समितिपूद्योगेन गुप्त्यास्थया ।
सामान्येतरभावनापरिचयेनापि व्रतान्युद्धरन्,
धन्य: साधयते चरित्रविनयं श्रेय:श्रिय: पारयम् ॥ ६९ ॥

इन्द्रियोंके मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयोंमें जो क्रमसे रागद्वेष उत्पन्न हुआ करते हैं उनको छोडकर, तथा उठतेहुए क्रोधादिक कषायोंका नाश करके, एवं समीचीन प्रवृत्तिकेलिये बार बार प्रयत्न करके, तथा मनवचन कायके निरोधरूप अथवा शुभमनवचनादिरूप गुप्तियोंमें आदरभाव रखकर, और सामान्य तथा विशेष भावनाओंको

भातेहुए—" संसारमें कोई भी प्राणी दुःखी नहो " इसतरहकी सामान्य, और "निगृह्णतो वाङ्मनसी" इत्यादि श्लोकके द्वारा पहले बताईहुई विशेष भावनाओंको भातेहुए जो साधु अपने अहिंसादिक व्रतोंको निर्मल बनाता है वही साधु धन्य है। क्योंकि ऐसा सुकृती साधु ही स्वर्ग और मोक्षरूप लक्ष्मीका साक्षात्कार करानेमें समर्थ चारित्रविनयका साधन कर सकता है।

भावार्थ—ऊपरलिखे मूजब चारित्रके धारण करनेको चारित्र विनय कहते हैं।

चारित्रविनय और चारित्राचारमें क्या अन्तर है, सो बताते है —

समित्यादिषु यत्नो हि चारित्रविनयो मतः ।
तदाचारस्तु यस्तेषु सत्सु यत्नो व्रताश्रयः ॥ ७० ॥

व्रतोंको निर्मल बनानेकेलिये समिति आदिमें प्रयत्न करनेको चारित्र विनय, और समित्यादिकोंके सिद्ध हो जानेपर व्रतोंकी वृद्धि आदिके लिये प्रयत्न करने को चारित्राचार कहते हैं।

अब क्रमानुसार विनयके चौथे भेद औपचारिकविनयका वर्णन करते हैं। किन्तु उसमें सबसे पहले प्रत्यक्षमें पूज्य पुरुषोंका जो कायके द्वारा औपचारिक विनय किया जाता है उसके सात भेदोंका वर्णन करते हैं:—

अभ्युत्थानोचितवितरणोच्चासनाद्युज्झनानु,—
व्रज्या पीठाद्युपनयविधिः कालभावाङ्गयोग्यः ।
कृयाचारः प्रणतिरिति चाङ्गेन सप्तप्रकारः,
कार्यः साक्षाद्गुरुषु विनयः सिद्धिकामैस्तुरीयः ॥ ७१ ॥

आराध्य गुरुजनोंके साक्षात् उपस्थित रहनेपर स्वात्मोपलब्धिकी इच्छा रखनेवाले साधुओंको अपने शरीरके द्वारा उनका अभ्युत्थानादिक सात प्रकारका औपचारिक विनय करना चाहिये। यथा —

१–गुरुजनोंको आता हुआ मालुम होते ही अपने आसनसे उठकर खडे होजाना चाहिये। २–उनके योग्य पुस्तकादि वस्तुओंका दान करना चाहिये। ३–उनके सामने उच्चासनपर बैठना आदि न चाहिये। ४–यदि उनके साथ चलनेका अवसर पडे तो उनके पीछे पीछे नम्रता और आदर के साथ गमन करना चाहिये। ५–सिंहासन या शयनीयादि स्थानों को तयार कर देना। ६–उनको प्रणाम–नमस्कारादि करना। ७–तथा उनके काल भाव और शरीरके योग्य कार्योंको करना। कालयोग्य कार्योंको करना जैसे कि गर्मीमें ठंडी और शर्दीमें उष्णता लानेवाली क्रिया करना, भाव योग्य जैसे–उन्हें कहीं भेजनेका अवसर हो तो उनके अभिप्राय और आज्ञानुसार वहां जाना आना आदि। शरीर योग्य–जैसे कि उनके शरीर और बलके अनुरूप उनका मर्दन करना।

यहांपर च शब्द समुच्चयार्थक है। अत एव इन सभी बातोंको गुरुओंके विषयमें करना उचित है। तथा यद्यपि यहांपर शारीरिक विनयके ये सात प्रकार ही बताये हैं, किंतु आदरकेलिये उनके संमुख जाना आदि और भी भेद होते हैं, सो उनका भी यहांपर इति शब्दसे समावेश करलेना चाहिये।

औपचारिक विनयके वाचिक भेदोंको बताते हैः—

हितं मितं परिमितं वचः सूत्रानुवीचि च।
ब्रुवन् पूज्यांश्चतुर्भेदं वाचिकं विनयं भजेत ॥ ७२ ॥

आराध्य गुरुजनोंकी वचनके द्वारा चार प्रकारसे विनय करना चाहिये। अर्थात् उनके सम्मुख या उनके लिये ऐसे वचन बोलने चाहिये जो चार विशेषणोंसे युक्त हों। यथा—हित—जोकि कल्याण के कारण धर्मका विधायक हो। मित—जिसमें अक्षरोंका प्रमाण तो कम हो किन्तु महान् अर्थ भरा हुआ हो। परिमित—जो कारण युक्त हो। और सूत्रानुवीचि—अर्थात् जो आगमके अर्थसे विरुद्ध न हो।

यहांपर च शब्दका जो ग्रहण किया है उससे नित्य नैमित्तिक पूजनादिके अवसरपर बोले हुए वचनोंका समावेश करलेना चाहिये। तथा उन वचनोंका भी जो कि वाणिज्यादिका विधान नहीं करते।

औपचारिक विनयके मानस भेदोंको गिनाते हैं:--

निरुन्धन्नशुभं भावं कुर्वन् प्रियहिते मतिम् ।
आचार्यादेरवाप्नोति मानसं विनयं द्विधा ॥ ७३ ॥

मानस विनय दो प्रकारका हो सकता है-१ अशुभ भावोंकी निवृत्ति २ और शुभभावोंमें प्रवृत्ति । अर्थात् आचार्य उपाध्याय स्थविर प्रवर्तक और गणधरादिकोंके विषयमें सम्यक्त्वकी विराधना करनेवाले प्राणिवधादिक अशुभभावोंका रोकना, और धर्मकेलिये उपकारक तथा सम्यक्त्व और ज्ञानादिके विषयमें शुभ विचार करना मानस विनय है ।

इस प्रकार प्रत्यक्ष गुरुजनोंके विषयमें पालन करने योग्य तीन प्रकारके विनयका प्रतिपादन करके परोक्ष गुरुओंके विषयमें भी तीन प्रकारके विनयका निरूपण करते हैं:--

वाङ्मनस्तनुभिः स्तोत्रस्मृत्यञ्जलिपुटादिकम् ।
परोक्षेष्वपि पूज्येषु विदध्याद्विनयं त्रिधा ॥ ७४ ॥

जो दीक्षागुरु श्रुतगुरु तपोधिक आदि गुरुजन परोक्ष है-इन्द्रियोंसे परे हैं उनका भी वचन मन और शरीरके द्वारा क्रमसे स्तुति स्मृति और अञ्जलिपुटादिक करके मुमुक्षुओंको विनय करना चाहिये । अतएव परोक्ष गुरुओंका भी विनय वचन मन और शरीर की अपेक्षा तीन प्रकारका होता है । अर्थात् वचनके द्वारा उनका गुणस्तवन जयघोष आशीर्वादादि बोलना, मनके द्वारा उनका स्मरण और उनके गुणोंका चिन्तवन आदि करना, तथा शरीरके द्वारा उनको हाथ जोडना नमस्कार करना इत्यादि सब परोक्ष विनय है ।

यहापर अपिशब्दसे जो तप गुण या अवस्था आदिकी अपेक्षा अपनेसे छोटे है उन मुनियों या श्रावकोंकी भी यथा योग्य विनय करना चाहिये इस बातको सूचित किया है ।

तपोविनयका स्वरूप बताते हैं:—

यथोक्तमावश्यकमावहन् सहन्,
परीषहानग्रगुणेषु चोत्सहन् ।
भजंस्तपे वृद्धतपास्यहेलयन्,
तपोलघूनेति तपोविनीतताम् ॥ ७५ ॥

व्याधि आदिके वश होजानेपरभी जिनका अवश्यही पालन करना चाहिये उन पूर्वोक्त षडावश्यकोंका जो साधु निरंतर पालन करता है, क्षुधापिपासाआदि बाईस परीषहोंका सहन करता और उत्तर गुणों—आतपनादिकों अथवा विशिष्ट संयमों या आगेके गुणस्थानोंमें सोत्साह प्रवृत्ति रखता है, एवं जिनको तप करतेहुए अपनेसे अधिक दिन हो गये हैं उन तपस्वियोंकी सेवा करता और स्वयं भी अनशनादिक तपोंका पालन करता है, तथा जो साधु अपनेसे तप करनेमें न्यून हैं उनकी अवहेलना-अवज्ञा नहीं करता, वही तपस्वी तपो विनयको प्राप्त हो सकता है ।

भावार्थ— पूर्वोक्त आवश्यकोंके पालन करने आदिको ही तपोविनय कहते हैं ।

विनय भावनाका फल बताते हैं:—

ज्ञानलाभार्थमाचारविशुद्ध्यर्थं शिवार्थिभिः ।
आराधनादिसंसिद्ध्यै कार्यं विनयभावनम् ॥ ७६ ॥

जो मुमुक्षु हैं उनको ज्ञानका लाभ करनेकेलिये तथा दर्शनाचार, ज्ञानाचार चारित्राचार तपआचार और वीर्याचार इन पांच आचारोंको शुद्ध-निर्मल बनानेकेलिये, एवं पूर्वोक्त सम्यक्त्वादि चार आराधना प्रभृति और भी अनेक गुणोंको भले प्रकार सिद्ध करनेकेलिये इस विनयतपमें बार बार प्रवृत्त होना चाहिये ।

आराधना शब्दके साथ आयेहुए आदिशब्दमे किन किन विषयोंको लेना चाहिये सो स्पष्ट करते हैं:—

द्वारं यः सुगतेर्गणेशगणयोर्यः कार्मणं यस्तपो,—
वृत्तज्ञानऋजुत्वमार्दवयशःसौचित्यरत्नार्णवः।
यः संक्लेशदवाम्बुदः श्रुतगुरूद्योतैकदीपश्च यः,
स क्षेप्यो विनयः परं जगदिनाज्ञापारवश्येन चेत् ॥ ७७ ॥

मुमुक्षुओंको विनयतपका परित्याग करना कदाचित्भी उचित नहीं है; बल्कि जो तीन लोकके अधीश भगवान् अर्हंतदवकी आज्ञामें रहकर अपनी आत्माका हित सिद्ध करना चाहते हैं उन साधुओंको इसका अवश्य ही पालन करना चाहिये। क्योंकि यह तप समस्त कर्मोंके क्षयका कारण होनेसे मोक्षका और प्रचुर पुण्यास्रवका कारण होनसे स्वर्गका द्वार है, तथा गण और संघके स्वामीको वश करनेके लिये वशीकरण मंत्रके समान है। तप चारित्र ज्ञान सरलता मार्दव यश और सौचित्य[1] आदि अनेक गुणरूप रत्नोंको उत्पन्न करनेकेलिये रत्नाकर—समुद्रके समान है। राग द्वेष प्रभृति संक्लेश परिणामरूपी दावानलको शांत करनकेलिये मेघके समान है, और आचार शास्त्रमें बताये हुए क्रमज्ञान तथा कल्पज्ञानको एवं सदाम्नायके उपदेष्टा गुरुओंको प्रकाशित करनेकेलिये अद्वितीय दीपकके समान है।

वैयावृत्त्य तपका निरुक्तिसिद्ध लक्षण बताते हुए मुमुक्षुओंको उसका पालन करनेकेलिये प्रेरित करते हैः—

क्लेशसंक्लेशनाशायाचार्यादिदशकस्य यः।
व्यावृत्तस्तस्य यत्कर्म तद्वैयावृत्त्यमाचरेत् ॥ ७८ ॥

आचार्य उपाध्याय तपस्वी शैक्ष ग्लान गण कुल संघ साधु और मनोज्ञ इन दश प्रकारके मुनियोंके

[1]—गुरु आदिकोंका अपने ऊपरसे वैमनस्य दूर होने और अनुग्रह प्राप्त होनेको सौचित्य कहते है।

क्लेश—शारीरिक पीड़ा और संक्लेश—आर्तरौद्र ध्यानरूप दुष्परिणामोंका नाश करनेकेलिये जो तपस्वी अथवा श्रावक व्यावृत्त—प्रवृत्त हुआ करता है उसके इस कर्म—मनोव्यापार व्यापारको ही वैयावृत्य कहते हैं। मुमुक्षुओंको इस अंतरंग तपका पालन अवश्य ही करना चाहिये।

आचार्य और उपाध्याय शब्दका अर्थ पहले बताया जा चुका है। किंतु शेष शब्दोंका अर्थ नहीं बताया वह इस प्रकार है:—

तपस्वी-महान् उपवासादिक तप करनेवाला, शैक्ष-प्रधानतया शिक्षामें ही रत रहनेवाला, ग्लान-रोगादिके निमित्तसे जिसका शरीर पीड़ित हो रहा हो, गण-स्थविर संतति, कुल—दीक्षा देनेवाले आचार्यकी शिष्यरूप शिष्यसंतान, संघ—चातुर्वर्ण्यरूप मुनिसमूह, साधु—जिसको दीक्षा लिये हुए चिरकाल होगया हो, मनोज्ञ—लोकसम्मत, अथवा जिसको लोक अधिक मान देते हों।

वैयावृत्यका फल बताते हैं:—

मुक्त्युद्युक्तगुणानुरक्तहृदयो यां कांचिदप्यापदं,
तेषां तत्पथघातिनीं स्ववदवस्यन्योऽङ्गवृत्त्याथवा।
योग्यद्रव्यनियोजनेन शमयत्युद्घोपदेशेन वा,
मिथ्यात्वादिविषं विकर्षति स खल्वार्हन्त्यमप्यर्हति ॥ ७९ ॥

जिस साधु अथवा श्रावकका मन मुक्तिको प्राप्त करनेकेलिये उद्युक्त हुए साधुओंके संयमविशेषरूप गुणपर आसक्त है और इसीलिये जो उनके उपर आई हुई मोक्षमार्गमें बाधा पहुंचानेवाली दैवी मानुषी तैरश्ची अथवा अचेतनकृत आपत्तियोंको अपने उपर आई हुई समझकर शारीरिक प्रयत्न करके हटा देता है, अथवा संयमसे अविरुद्ध औषध अन्न वसतिका आदिकी योजना करके, यद्वा प्रभावशाली महान् उपदेश देकर उनके मिथ्यात्व अज्ञान अविरति प्रमाद कषाय और योगरूप विषको निकाल दूर करता

है वह वैयावृत्यकर्ममें प्रवृत्त महात्मा इन्द्र अहमिन्द्र चक्रवर्तित्व आदि पदोंकी तो बात ही क्या सर्वोत्कृष्ट तीर्थंकर पदको भी निश्चयसे अपने आधिकृत करलेता है।

भावार्थ—वैयावृत्य करनेवाला मुमुक्षु उत्कृष्ट अभ्युदयों और अंतमें आर्हन्त्य पदको भी प्राप्त करलेता है।

साधर्मियोंपर आई विपत्तिकी उपेक्षा करनेवालोंके दोष प्रकट करते और इस बातका समर्थन करते हैं कि सम्पूर्ण तपस्याओंका हृदय वैयावृत्य ही है:—

सधर्मापदि यः शेते स शेते सर्वसंपदि।
वैयावृत्त्यं हि तपसो हृदयं ब्रुवते जिनाः ॥ ८० ॥

जो अपने समान रत्नत्रय धर्मका आराधन करनेवाले हैं उनके ऊपर आई हुई आपत्तिको देखकर भी जो सो जाता है—उस आपत्तिके दूर करनेकी चेष्टा नहीं करता वह समस्त संपत्तियोंके विषयमें भी सो जाता है—उसका कोई भी पुरुषार्थ सफल नहीं हो सकता। क्योंकि अर्हत देवने अन्तरङ्ग और बाह्य सम्पूर्ण तपस्याओंका हृदय वैयावृत्य ही बताया है।

और भी वैयावृत्यका फल बताते हैं:—

समाध्याधानसानाथ्ये तथा निर्विचिकित्सता।
सधर्मवत्सलत्वादि वैयावृत्येन साध्यते ॥ ८१ ॥

वैयावृत्यके द्वारा एकाग्रचिन्ताके निरोधरूप ध्यान और सनाथताकी प्राप्ति होती है, तथा ग्लानिका अभाव होता है, और साधर्मियोंमें गोवत्सके समान परस्पर प्रीति उत्पन्न होती है। इसके सिवाय धर्म और आम्नायकी रक्षा तथा प्रभावना आदि और भी अनेक गुण इस वैयावृत्यके द्वारा सिद्ध हुआ करते है।

इसप्रकार वैयावृत्यके प्रकरणको समाप्त करके क्रमानुसार मुमुक्षुओंकेलिये स्वाध्यायके विषयमें नित्य ही अभ्यास करनेका विधान करते हुए स्वाध्याय इस शब्दका निर्वचनसिद्ध अर्थ बताते हैं:—

नित्यं स्वाध्यायमभ्यस्येत्कर्मनिर्मूलनोद्यतः ।
स हि स्वस्मै हितोऽध्यायः सम्यग्वाध्ययनं श्रुतेः ॥ ८२ ॥

स्व-आत्माके लिये हितकर-उपकारी-संवर और निर्जराके कारणभूत श्रुतके अध्ययनको अथवा सु-समीचीन केवलज्ञानोत्पत्तिपर्यन्त श्रुतके अध्ययन-पाठको स्वाध्याय कहते हैं। अत एव ज्ञानावरणादिक कर्मों तथा मनोवाकायक्रियाओंको निर्मूल करनेकेलिये उद्युक्त हुए मुमुक्षुओंको इस स्वाध्यायका नित्य ही अभ्यास करना चाहिये।

सम्यक् शब्दका अर्थ बताते हुए स्वाध्यायके पहले भेद-वाचना का स्वरूप बताते हैं:—

शब्दार्थशुद्धता द्रुतविलम्बिताद्यूनता च सम्यक्त्वम् ।
शुद्धग्रन्थार्थोभयदानं पात्रेस्य वाचना भेदः ॥ ८३ ॥

शब्द और अर्थकी शुद्धता, तथा बिना विचारे ही जल्दीसे न बोलना, बे मौके विश्राम लेकर उच्चारण न करना किन्तु बोलने या लिखने आदिके समय योग्य स्थानपर ही विश्राम लेना, और किसी भी अक्षर मात्रा या पद आदिको छोड न देना, इत्यादि सब स्वाध्यायकी समीचीनता कहलाती है। इस तरहकी समीचीनता या शुद्धतासे युक्त अथवा निरवद्य-मोक्षमार्गकेलिये उपयोगी ग्रन्थ अर्थ अथवा दोनोंहीके विनयादि गुणोंसे युक्त पात्रकेलिये देनेको वाचना कहते हैं।

स्वाध्यायके दूसरे भेद प्रच्छनाका स्वरूप बताते हैं:—

प्रच्छनं संशयोच्छित्त्यै निश्चितदृढनाय वा ।
प्रश्नोऽधीतिप्रवृत्त्यर्थत्वादधीतिरसावपि ॥ ८४ ॥

ग्रन्थ अर्थ अथवा दोनोंके विषयमें "यह इसी तरहसे है या दूसरी तरहसे" ऐसा संशय होनेपर उसको दूर करनेकेलिये अथवा निश्चित मालुम होनेपर भी कि यह इसी तरहसे है या ऐसा नहीं है अपने निश्चयको द्रढ बनानेके लिये विशेष विद्वान्से उस विषयमें प्रश्न करना इसको प्रच्छना स्वाध्याय कहते हैं।

यहांपर यह शंका हो सकती है कि प्रश्न करना अध्ययन नहीं कहा जा सकता, अत एव इस स्वाध्यायके लक्षणमें अव्याप्ति दोष आता है। किंतु यह शका ठीक नहीं है, क्योंकि प्रश्न करना अध्ययनमें प्रवृत्ति होनेका निमित्त है, अत एव उसको भी स्वाध्याय कह सकते हैं।

मुख्य विषयमें ही किये गये प्रश्नको स्वाध्याय कह सकते हैं यह बताकर इस शंकाका प्रकारान्तरसे समाधान करते हैः—

किमेतदेवं पाठ्यं किमेषोर्थोस्योति संशये।
निश्चितं वा द्रढयितुं पृच्छन् पठति नो न वा ॥ ८५ ॥

हे भगवन्! यह अक्षर पद या वाक्य इसी तरहसे होना चाहिये या दूसरी तरहसे? यद्वा इसका उच्चारण किस प्रकार करना चाहिये? इत्यादि शब्दके विषयमें जो अपने सदेहको प्रकट करता है, तथा इस पद वाक्य या श्लोकका क्या अर्थ होना चाहिये? अभी जो अर्थ कहा गया वही होना चाहिये या और कुछ? इत्यादि अर्थके विषयमें जो प्रश्न करता है, अथवा मैंने जो यह समझा है सो ठीक है या नहीं? इत्यादि शब्द या अर्थके विषयमें प्रश्न करनेवाला साधु क्या अध्ययन नहीं करता? अवश्य करता है।

भावार्थ—शब्द या अर्थका निश्चय करनेकेलिये अथवा निश्चयको भी द्रढ करनेकेलिये जो प्रश्न किया जाता है वह भी स्वाध्याय में ही सम्मिलित है।

अनुप्रेक्षा नामक स्वाध्यायके तीसरे भेदका निरूपण करते हैं—

सानुप्रेक्षा यदभ्यासोऽधिगतार्थस्य चेतसा।
स्वाध्यायलक्ष्म पाठोन्तर्जल्पात्मात्रापि विद्यते ॥ ८६ ॥

ज्ञात अथवा निश्चित विषयके मनमें पुनः पुनः विचार करनेको अनुप्रेक्षा कहते हैं। इसको भी समीचीन अध्ययन करना ही कहना चाहिये। क्योंकि शब्दार्थका पाठ यहांपर भी होता है। अन्तर इतना ही है कि वाचनामें बहिर्जल्प होता है, किन्तु अनुप्रेक्षामें अन्तर्जल्प हुआ करता है।

स्वाध्यायके आम्नाय और धर्मोपदेश नामके चौथे पाचवें भेदका स्वरूप बताते हैं:—

आम्नायो घोषशुद्धं यद्वृत्तस्य परिवर्तनम्।
धर्मोपदेशः स्याद्धर्मकथा सस्तुतिमङ्गला ॥ ८७ ॥

पढे हुए ग्रन्थके शीघ्रता या विलंब आदि दोषोंसे रहित पुनः पुनः उच्चारण करनेको आम्नाय कहते हैं। स्तुति देववन्दना तथा मङ्गल-नमस्कार आशीः शान्ति आदि विषयोंके साथ धर्मके निरूपण करनेको धर्मोपदेश कहते हैं।

भावार्थः—भगवान्का स्तोत्र पाठ करना, उनको नमस्कारादि करना, या अन्य त्रेसठ शलाका पुरुषोंके चरित्रका निरूपण करना, अथवा किसी भी धार्मिक विषयका व्याख्यानादि करना, इत्यादि सब धर्मोपदेश है।

धर्मकथाके चार भेदोंका स्वरूप बताते हैं:—

आक्षेपणीं स्वमतसंग्रहणीं समेक्षी, विक्षेपणीं कुमतनिग्रहणीं यथार्हम्।
संवेजनीं प्रथयितुं सुकृतानुभावं, निर्वेदनीं वदतु धर्मकथां विरक्त्यै ॥ ८८ ॥

धर्मकथा चार प्रकारकी होती है—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेदनी। जिसके द्वारा अपने मतका संग्रह-अनेकान्त सिद्धान्तका यथायोग्य समर्थन हो उसको आक्षेपणी, और इसी प्रकार—यथायोग्य जिसके द्वारा क्षणिकैकान्त प्रभृति मिथ्यामतोंका निग्रह—खंडन हो उसको विक्षेपणी, तथा जिसके द्वारा पुण्यके फल स्वरूप संपत्तिको यथायोग्य प्रकाशित किया जाय उसको संवेजनी, एवं जिसको सुनकर संसार शरीर और भोगोंसे वैराग्य उत्पन्न होसके ऐसी निरूपणाको निर्वेदनी कहते हैं।

भावार्थ—धर्मोपदेश नामक स्वाध्याय तपके ये चार भेद हैं। इस तपका निरन्तर पालन करनेकी इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुओंको ये चार प्रकारकी ही कथाएं करनी चाहिये।

स्वाध्यायके फल बताते हैं:—

प्रज्ञोत्कर्षजुषः श्रुतस्थितिपुषश्चेतोक्षसंज्ञामुषः,
संदेहाच्छिदुराः कषायभिदुराः प्रोद्यत्तपोमेदुराः।
संवेगोल्लासिताः सदध्यवसिताः सर्वातिचारोज्झिताः,
स्वाध्यायात् परवाद्यऽशङ्कितधियः स्युः शासनोद्भासिनः॥ ८९॥

मुमुक्षुओंको स्वाध्यायके प्रसादसे अनेक प्रकारके फल प्राप्त होते है। यथाः—स्वाध्याय करनेवालोंकी तर्कवितर्करूप बुद्धि इसके निमित्तसे ही प्रीतिपूर्वक उत्कर्षको धारण किया करती है। एव वे परमागमकी स्थितिको भी इसके बलसे ही पुष्ट रख सकते है। तथा इन्द्रिय और अनिन्द्रिय–मन एवं आहार भय मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओंका प्रतिरोध–निग्रह, तथा संशयों–अनेक प्रकारकी शकाओंका निराकरण, एव क्रोधादिक कषायोंका नाश, इसके द्वारा ही कर सकते हैं। तपस्विगणभी इसमें प्रवृत्त होनेपर ही दिनपर दिन बढते हुए तपसे पुष्ट हो सकते हैं। संवेगके द्वारा उत्कृष्ट शोभाको प्राप्तहुए प्रशस्त परिणामोंकी सिद्धि भी इसीसे हो सकती है। अथवा उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूपसे युक्त वस्तुका निश्चय स्वाध्याय करनेसे ही हो सकता है। इसमें प्रवृत्त होनेसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान या सम्यक्चारित्र किसीमें भी अतीचार नहीं लग सकता। एव इसके बलसे ही विद्वान्लोग बौद्धादिक परवादियोंसे निःशंक रहते और जिनधर्मकी प्रभावना कर सकते है।

स्वाध्यायके स्तुतिरूप फलको बताते हैं:—

शुद्धज्ञानघनार्हदद्भुतगुणग्रामग्रहव्यग्रधी,—
स्तद्व्यक्त्युद्धरनूतनोक्तिमधुरस्तोत्रस्फुटोद्गारगीः।

मूर्तिं प्रश्रयनिर्मितामिव दधत्त्किंचिदुन्मुद्रय,—

त्यात्मस्थाम कृती यतोऽरिजयिनां प्राप्नोति रेखां धुरि ॥ ९० ॥,

स्तुतिरूप स्वाध्यायमें प्रवृत्त हुए मुमुक्षुकी बुद्धि—मनःप्रवृत्ति, अत्यंत निर्मल और परिपूर्ण ज्ञानके भंडार श्री अर्हंतदेवके अद्‍भुत–आश्चर्योत्पादक गुणोंके समूहमें अभिनिवेशके कारण व्यग्र रहा करती है, और इसीलिये उसकी वाणी–वचनप्रवृत्ति, भगवान्‌के उन गुणोंके प्रकट होने से उत्कट तथा नवीन नवीन उक्तियोंसे मधुर स्तोत्रोंके स्फुट उद्गारों से भरी हुई रहती है, एवं उसकी शरीर यष्टि ऐसी मालुम पडने लगती है मानों साक्षात् विनयकी ही बनी हुई हो। इस प्रकार उसके मन वचन और काय तीनों ही पूर्णज्ञानघन भगवान्‌के गुणोंमें लीन रहते हैं। अत एव वह कृती अपनी आत्मामें स्थित अनिर्वचनीय वीर्य—अनन्तशक्तिको प्रकट कर देता और अतमें मोहके विजेता साधुओंके अग्रपदको प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—स्तुतिरूप स्वाध्याय करनेवालेकी बुद्धि उक्ति और शारीरिक प्रवृत्ति भगवान्‌के निर्मल गुणोंकी तरफ ही लगी रहती है। अत एव अतमें वह उसी रूपको प्राप्त करलेता है।

पंचनमस्कार मंत्रको परममंगल और उसके जप करनेको उत्कृष्ट स्वाध्याय बताते हैं:—

मलमखिलमुपास्त्या गालयत्यङ्गिनां य,—

च्छिवफलमपि मङ्गं लाति यत्तत्परार्ध्यम्।

परमपुरुषमंत्रो मङ्गलं मङ्गलानां,

श्रुतपठनतपस्यानुत्तरा तज्जपः स्यात ॥ ९१ ॥

पैंतीस अक्षरके अपराजित मंत्रको ही परमपुरुष मंत्र कहते हैं। इसकी उपासना–आराधना–मन या वचनके द्वारा जप करनेसे संपूर्ण पाप गल जाते हैं। तथा इससे मोक्षरूप अभ्युदयकी भी प्राप्ति होती है। अत एव इसको

साधारण मंगल ही नहीं किन्तु मंगलोंका भी मंगल—परममंगल कहना चाहिये। क्योंकि सम्पूर्ण लौकिक कल्याणोंके सिद्ध होने में भी यह प्रधान कारण है। जैसा कि कहा भी है कि:—

एसो पचणमोयारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाण च सव्वेसिं पढमं होइ मंगलं ॥

और इसीलिये इसके वाचिक या मानसिक जपको उत्कृष्ट स्वाध्याय तप समझना चाहिये।

भावार्थ—मंगल शब्दके निरुक्तिकी अपेक्षा दो अर्थ होते हैं, एक तो यह कि जिसके निमित्तसे म—पाप गल जांय। दूसरा यह कि जिसके द्वारा मङ्ग—अभ्युदयकी सिद्धि हो। ये दोनों ही अर्थ पञ्च नमस्कार मंत्रमें पूर्णतया घटित होते हैं, अत एव उसको परममंगल कहना चाहिये। इसीलिये इसके जप करनेको उत्कृष्ट स्वाध्याय नामका अन्तरङ्ग तप समझना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

स्वाध्याय परमस्तावज्जप पचनमस्कृते।
पठन वा जिनेन्द्रोक्तशास्त्रस्यैकाग्रचेतसा ॥

अरिहंत भगवान्के ध्यानमें लगे हुए मुमुक्षुका आशीर्वचनरूप अथवा शान्त्यादिवचनरूप मंगल भी कल्याणका साधक हुआ करता है, इसी बातको प्रकट करते हैं—

अर्हद्ध्यानपरस्यार्हन् शं वो दिश्यात्सदास्तु वः।—
शान्तिरित्यादिरूपोपि स्वाध्यायः श्रेयसे मतः ॥ ९२ ॥

जो साधु प्रधानतया निरतर अर्हतके ध्यानमें ही लीन रहता है उसके "अर्हन् शं वो दिश्यात्," अर्थात् अर्हंत भगवान् तुम्हारा कल्याण करें, तथा "सदास्तु वः शान्ति" अर्थात् तुम्हें सदा शान्ति बनी रहे, इत्यादि वचनोंको भी स्वाध्याय ही कहना चाहिये। क्योंकि पूर्वाचार्योंने इसके द्वारा भी कल्याण—पुण्यकी और परम्परासे मोक्षकी सिद्धि मानी है। शान्तिका स्वरूप इस प्रकार कहा है:—

सुखतद्धेतुसम्प्राप्तिर्दुःखतद्धेतुवारणम्।
तद्धेतुहेतवश्चान्यदपीदृक् शान्तिरिष्यते ॥

अर्थात् सुख और उसके कारण तथा कारणोंके भी कारणोंकी प्राप्तिको यद्वा दुःख और उसके कारण तथा कारणोंके भी कारणों की निवृत्तिको शान्ति कहते हैं। जयवाद और आशीर्वचनोंका अर्थ स्पष्ट ही है। यथाः—

जयन्ति निर्जिताशेषसर्वथैकान्तनीतय ।
सत्यवाक्याधिपाः शश्वद्विद्यानन्दा जिनेश्वराः ॥

तथा— जयन्ति विधुताशेषबन्धना धर्मनायका ।
त्वं धर्मविजयी भूत्वा तत्प्रसादाज्जगाखिलम् ॥

तथा— जयत्वसौ श्रीवृषभो जिनेश्वर,
सुरावधूता सितचामरावली ।
बभौ यदङ्गे प्रतिबिम्बिताभितो,
रवेरिवान्तश्चलदिन्दुसंहति ॥

अथवा— नतामरशिरोरत्नप्रभाप्रोतनखत्विषे ।
नमो जिनाय दुर्वारमारवीरमदच्छिदे ॥

इसी प्रकार " स्वस्ति त्रिलोकगुरवे जिनपुंगवाय "–इत्यादि और भी वचनोंको समझना चाहिये।

क्रमप्राप्त व्युत्सर्ग नामक तपके दो भेदोंको और उसकी दोनों भावनाओंको बताते हैः—

बाह्यो भक्तादिरुपधिः क्रोधादिश्चान्तरस्तयोः ।
त्यागं व्युत्सर्गमास्वान्तं मितकालं च भावयेत् ॥ ९३ ॥

व्युत्सर्ग नाम त्यागका है। वह दो प्रकारका हो सकता है। एक बाह्य दूसरा अन्तरङ्ग। आहार वसतिका आदि ऐसे पदार्थोंका जिनका कि आत्मासे सम्बन्ध नहीं है त्याग करना बाह्य व्युत्सर्ग कहा जाता है। और जिनका कि आत्मासे सम्बन्ध हो रहा है ऐसे क्रोधादि कषायरूप अन्तरंग परिग्रहके त्यागको अन्तरङ्ग व्युत्सर्ग कहते हैं। इन दोनों ही प्रकार के व्युत्सर्गतपका यावज्जीवन अथवा कालका प्रमाण करके मुमुक्षुओंको पालन करनेका पुनः पुनः विचार करना चाहिये।

वर्तमान क्षेत्र और कालवर्ती साधुओंके प्रसादसे अपनी आत्मामें प्रशमकी प्राप्ति हो, ऐसी भावना प्रकट करते हैः--

भक्तत्यागविधेः सिसाधयिषया येऽर्हाद्यवस्थाः क्रमा,—
च्चत्वारिंशतमन्वहं निजबलादारोढुमुद्युञ्जते ।
चेष्टाजल्पनचिन्तनच्युताचिदानन्दामृतस्रोतसि,
स्नान्तः सन्तु शमाय तेऽद्य यमिनामत्राग्रगण्या मम ॥ ९९ ॥

जो संयमियोंमें अग्रगण्य साधुजन आज इस भरतक्षेत्र और पंचमकालमें रहकर भी भक्त प्रत्याख्यान मरणको सिद्ध करनेकी इच्छासे अर्ह लिङ्ग आदि चालीस पर्यायों--अवस्थाओंपर प्रतिदिन और अपनी शक्तिके अनुसार क्रमसे आरोहण करनेकेलिये सोत्साह प्रवृत्त रहा करते है, और चेष्टा वचन तथा विचारोंसे च्युत-मन वचन और कायके अगोचर चिदानन्द स्वरूप अमृतके स्रोतमें अवगाहन करके शुद्धिको प्राप्त हो चुके है, उनके प्रसादसे मुझे प्रशमकी प्राप्ति हो। क्योंकि ऐसे महातपस्वियोंके स्मरणसे अवश्य ही आत्मामें शान्तिका लाभ होता है।

जो साधु आत्माका सस्कार करते समय कान्दर्पी आदि पांच प्रकारकी सक्लिष्ट भावनाओंको छोडकर तप श्रुत सत्व एकत्व और धृति इन पाच भावनाओंका प्रयोग करता है वह सहजमें ही परीषहोंको जीत सकता है, ऐसा उपदेश देते हैः—

कान्दर्पीप्रमुखाः कुदेवगतिदाः पञ्चापि दुर्भावना,—
स्त्यक्त्वा दान्तमनारतपःश्रुतसदाभ्यासादबिभ्यद्भृशम् ।
भीष्मेभ्योऽपि समिद्धसाहसरसो भूयस्तरां भावय —
न्नेकत्वं न परीषहैर्धृतिसुधास्वादे रतस्तप्यते ॥ १०० ॥

व्युत्सर्ग शब्दका निरुक्तिसे क्या अर्थ होता है, सो बताते हैं:—

बाह्याभ्यन्तरदोषा ये त्रिविधा बन्धहेतवः ।
यस्तेषामुत्तमः सर्गः स व्युत्सर्गो निरुच्यते ॥ ९४ ॥

माता पिता स्त्री पुत्र भ्राता भगिनी भागिनेय आदिका संसर्ग बाह्यदोष है, और ममकार अहंकार आदि भाव अन्तरङ्ग दोष हैं। इनके भी उत्तर भेद अनेक हैं। ये अन्तरङ्ग और बाह्य दोष ही कर्मबन्धके कारण हैं। अत एव इन वि-विविध दोषोंके उत्—उत्तम—प्राणान्तिक और ख्याति लाभ पूजा आदि की अपेक्षासे रहित सर्ग—परित्यागको व्युत्सर्ग कहते हैं।

व्युत्सर्गके उत्कृष्ट स्वामीको बताते हैं:—

देहाद्विविक्तमात्मानं पश्यन् गुप्तित्रयीं श्रितः ।
स्वाङ्गेपि निस्पृहो योगी व्युत्सर्गं भजते परम् ॥ ९५ ॥

जो अपनी आत्माको शरीरसे सर्वथा भिन्न अनुभव करता रहता है और जो तीनों ही गुप्तियोंका सर्वथा पालन करनेवाला तथा बाह्य पदार्थोंमें ही नहीं अपने शरीरमें भी निस्पृह रहता है ऐसा योगी—समीचीन ध्यानमें स्थिर रहनेवाला यति ही उत्कृष्ट व्युत्सर्गका धारक हो सकता है।

अन्तरङ्ग परिग्रहके व्युत्सर्गका स्वरूप प्रकारान्तरसे बताते हैं:—

कायत्यागश्चान्तरङ्गोपाधिव्युत्सर्ग इष्यते ।
स द्वेधा नियतानेहा सार्वकालिक इत्यपि ॥ ९६ ॥

शरीरके परित्याग करनेको भी पूर्वाचार्योंने अन्तरङ्ग परिग्रहका व्युत्सर्ग ही माना है। इसके भी दो भेद है—एक नियतकाल दूसरा सार्वकालिक।

कान्दर्पी कैल्विषी आभियोगा दानवी और संमोहा इस तरह दुर्भावनाएं पांच प्रकारकी मानी हैं। जो साधु इनमें प्रवृत्त होता है वह देवगतिमें जाकर भी भाण्ड तैरिक काहार शौनिक कुर्कर आदि नीच अवस्थाओंको धारण करता है, अर्थात् मरकर कुदेव होता है। अत एव इन कुत्सित भावनाओंको छोडकर और अपने मनको वशमें करके जो निरंतर तपोभावना और श्रुतभावनामें लीन रहता है, तथा इस तप और श्रुतका सदा अभ्यास और इसीके बलपर साहसिकताके निरतर उद्दीप्त रहनेसे अत्यंत भयकर वेतालादिकोसे भी जो कभी भयको प्राप्त नहीं होता किन्तु पुनः पुनः एकत्वका विचार किया करता है वह साधु निरंतर सतोपामृतके पान करनेमें रत रहा करता है और इसीलिये वह कभी भी क्षुधा पिपासा आदि परीपहोंसे पीडित नहीं हो सकता।

भावार्थ—दुर्भावनाओंका परित्याग और मनका निर्दलन करके जो मुमुक्षु तप श्रुत सत्त्व और एकत्वका निरन्तर अभ्यास करता हुआ धैर्यको धारण करता है वही परीपहोंका विजेता हो सकता है।

मिथ्या और समीचीन भावनाओंका स्वरूप इसप्रकार है:—

कन्दर्प (रागके उद्रेकसे हसी दिल्लगीके साथ साथ अशिष्ट शब्द बोलना) कौत्कुच्य (शरीरसे दुश्चेष्टा करते हुए अश्लील दिल्लगी करना और भड वचन बोलना) विहेतन (प्रतारणा करना, या किसीको यातना देना आदि) यद्वा केवल परिहास करना अथवा चाटु कारके शब्द बोलना या दूसरोंको विस्मय उत्पन्न करना इत्यादि अनेक प्रकारकी क्रियाओंके निरतर करनेको कान्दर्पी भावना कहते हैं। केवली श्रुत धर्म आचार्य और साधुओंके अवर्णवाद—असद्भूत दोपोंके निरूपण करने तथा मायाचार रखनेको कैल्विपिकी भावना कहते हैं। आनन्दोत्पादक रस ऋद्धियोंके निमित्तसे मत्र अभियोग कौतुक या भूतक्रीडा आदि अनेक तरहके कर्म करनेमें निरत रहनेको अभियोग भावना कहते हैं। क्रोध रोप आदि कपायोंसे आविर्भूत रहना तथा लडाई झगडों आदिमें आसक्त रहना एवं करुणा या कोमलता अथवा सहानुभूति आदिक भावोंसे रहित परिणामोंका रखना दानवी भावना कही जाती है। सन्मार्गके प्रतिकूल और मिथ्यामार्गके समर्थन करनेमें अपनी बुद्धिकी पटुता प्रकट करना तथा प्राणियोंको मोह—मिथ्यात्व अथवा रागद्वेषादिकसे मोहित करना आदि संमोहा भावना कही जाती है।

ये पांच प्रकारकी दुर्भावनाएं है जिनके कि करनेसे तपस्वी परलोकमें कुदेव होता है। इसके विरुद्ध मोक्षमार्गकी साधक पांच समीचीन भावनाएं हैं जिनका कि निर्देश ऊपर किया जाचुका है। फिर भी उनका स्वरूप संक्षेपमें इस प्रकार है:—

इन्द्रियोंका स्वामी मन है। मनकी प्रेरणासे ही इन्द्रियां अपने विषयोंमें प्रवृत्त हुआ करती हैं। इसलिये यदि इन्द्रियोंको जीतना हो तो पहले मनको वशमें करना चाहिये। मनके वशमें होजानेपर इन्द्रियां स्वयं ही वशीभूत होजाती हैं। और वह वशीभूत मन समाधिका कारण बनता है। अत एव अनेकप्रकारसे मन और इन्द्रियोंके वशमें करते रहनेके प्रयत्नका ही नाम तपोभावना है। ज्ञान दर्शन चारित्र और तप इन चारो आराधनाओंकी सिद्धि आगमका अभ्यास करनेसे ही होसकती है और इसके निमित्तसे ही मुमुक्षु साधु असंक्लिष्ट होकर सुखका भोग कर सकता है। अत एव पुनः पुनः आगमके अभ्यास करनेको श्रुतभावना कहते हैं। दिनमें अथवा रातमें अत्यंत भयानकरूप रखकर देवोंके द्वारा डरायेजानेपर भी भयके वश न होना तथा उत्कृष्ट साहसका रखना इसको सत्त्व भावना कहते हैं। संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त रहकर मोक्षमार्गमें रत रहनेको एकत्व भावना कहते हैं। जिसको देखकर साधारण शक्तिवाले लोगोंको भय उत्पन्न होने लगे एव जिसका वेग मार्गको दुर्धर बनानेवाला है ऐसी परीषहोंकी सम्पूर्ण सेना समस्त उपसर्गोंके साथ साथ भी आकर यदि उपस्थित हो तो भी आरब्ध मोक्षमार्गमें निराकुल रहना तथा सम्पूर्ण मनोरथोंके सिद्ध करनेवाले धैर्यको न छोडना धृति भावना कही जाती है।

भक्तप्रत्याख्यानका लक्षण और सल्लेखनाके जघन्य तथा उत्कृष्ट कालका प्रमाण बताते हैं:—

यस्मिन् समाधये स्वान्यवैयावृत्त्यमपेक्ष्यते ।
तद्द्वादशाब्दानीषन्तर्मुहूर्तं चाशनोज्झनम् ॥ १०१ ॥

समाधिकी इच्छा रखनेवाले साधुओंको भक्तप्रत्याख्यान मरणमें रत्नत्रयको एकाग्र रखनेकेलिये स्ववैयावृत्त्य और परवैयावृत्त्य दोनों ही की अपेक्षा रहा करती है। तथा इस मरणका जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट बारह वर्षका है।

व्युत्सर्ग तपका फल बताते हैं:--

नैःसङ्ग्यं जीविताशान्तो निर्भयं दोषविच्छिदा ।
स्याद्व्युत्सर्गाच्छिवोपायभावनापरतादि च ॥ १०२ ॥

व्युत्सर्ग तपके प्रसादसे सम्पूर्ण परिग्रहका निग्रह होजानेसे निर्ग्रन्थताकी सिद्धि, और जीवनकी आशाका विनाश तथा भयका अभाव होता है, रागादिक दोषोंका उच्छेद और मोक्षमार्ग--रत्नत्रयके अभ्यास करनेमे तत्परता होती है। अधिक क्या सभी लौकिक और पारलौकिक अभ्युदयों तथा अन्तमें मोक्षकी भी इससे सिद्धि हुआ करती है।

अन्तिम अन्तरङ्ग तप-ध्यानका वर्णन करनेकी इच्छासे उसके मिथ्या और समीचीन भेदोंका वर्णन करते हुए इस बातका उपदेश देते हैं कि प्रशस्त ध्यानके विना सम्पूर्ण क्रियाओंका पालन करते रहने पर भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती:--

आर्तं रौद्रमिति द्वयं कुगतिदं त्यक्त्वा चतुर्धा पृथग्,
धर्म्यं शुक्लमिति द्वयं सुगतिदं ध्यानं जुषस्वानिशम् ।
नो चेत्क्लेशनृशंसकीर्णजनुरावर्ते भवाब्धौ भ्रमन्,
साधो सिद्धिवधूं विधास्यसि मुधोत्कण्ठामकुण्ठाश्चिरम् ॥ १०३ ॥

मनके किसी भी एक विषयमें लीन होनेको ध्यान कहते हैं। यह दो प्रकारका होता है, एक मिथ्या दूसरा समीचीन। मिथ्या भी दो प्रकारका होता है, एक आर्त दूसरा रौद्र। तथा समीचीन भी दो प्रकारका होता है, एक धर्म्य दूसरा शुक्ल। इनमें भी प्रत्येकके उत्तर भेद चार चार होते है। यथा आर्तध्यानके इष्टवियोग अनिष्टसंयोग पीडाचिन्तवन और निदान। रौद्रध्यानके हिंसानन्द मृषानन्द चौर्यानन्द और परिग्रहानन्द। एव

धर्मध्यानके आज्ञाविचय अपायविचय विपाकविचय और संस्थानविचय। तथा शुक्लध्यानके पृथक्त्ववितर्कवीचार एकत्ववितर्क सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति।

इष्टपदार्थ स्त्री पुत्र धन गृह आदिका वियोग होजानेपर दुःखके साथ उसकी प्राप्तिकेलिये पुनः पुनः विचार करना, अथवा संयोग रहनेपर भी संयोग ही बना रहे कभी वियोग न हो ऐसा उसके विषयमें वार वार विचार करते रहना इसको इष्टवियोग नामका आर्तध्यान कहते हैं। इसी प्रकार अनिष्ट पदार्थका संयोग हो जाने पर उसके वियोगके लिये अथवा वियोग रहनेपर उसका कभी भी संयोग न होनेके लिये पुनः २ विचार करनेको अनिष्टसंयोग नामका आर्तध्यान कहते हैं। तथा कभी आधि व्याधि प्राप्त न हो इस तरहका अथवा उनके प्राप्त होनेपर उनके दूर होनेके लिये चिन्ता करते रहनेको पीडाचिन्तवन, और भविष्यत्में भोगादिकोंकी अभिलाषा पूर्ण करनेकेलिये संकल्प करनेको निदान आर्तध्यान कहते हैं।

हिंसा झूठ चोरी और कुशील अथवा परिग्रहमें आनन्द मानना तथा उनकेलिये खुशीके साथ प्रवृत्ति करना इसको ही क्रमसे हिंसानंद मृषानंद चौर्यानंद और परिग्रहानंद कहते हैं।

अरिहंत देवकी आज्ञाका मुझसे भंग न हो यद्वा कोई भी उसका भंग न करे तथा सर्वत्र उसका प्रचार हो ऐसा विचार करनेको आज्ञाविचय, ये सम्पूर्ण संसारी प्राणी जो अनेक प्रकारके दुःखोंको भोग रहे हैं वे उनसे कब मुक्त हों ऐसा विचार करनेको अपाय विचय, और ये सभी संसारी जीव कर्मोदयके वशमें पडकर इस तरह संक्लिष्ट हो रहे हैं ऐसे कर्म फलके विषयमें वार वार विचार करनेको विपाकविचय, तथा लोकके आकारादिके विषयमें पुनः पुनः विचार करनेको संस्थान विचय नामका धर्मध्यान कहते हैं।

वितर्क शब्दका अर्थ श्रुत और वीचार शब्दका अर्थ व्यंजन तथा योगकी संक्रांति होता है। जिस ध्यानमें पृथक्त्व—योगोंकी भिन्नताके साथ साथ ये दोनों बातें रहें उसको पृथक्त्व वितर्कवीचार नामका शुक्लध्यान कहते हैं, और जिसमें एक ही योगके साथ वितर्क तो हो पर वीचार न हो उसको एकत्व वितर्क कहते है। जिसमें काययोगकी भी स्थूल परिणति छूट जाती है किन्तु मन्दस्पन्दता ही रहजाती है उसको सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, और जिसमें सम्पूर्ण ही क्रिया छूट जांय उसको व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामका शुक्लध्यान कहते हैं।

इस प्रकार ध्यानोंका स्वरूप संक्षेपसे यहांपर बताया है। इनमेंसे आदिके जो दोनों आर्त और रौद्र नामक मिथ्या ध्यान हैं वे तिर्यञ्च नारक कुदेव या कुमानुषत्व आदि खोटी पर्यायोंके कारण हैं। तथा अंतके जो धर्म्य और शुक्ल नामके सद्ध्यान है वे सुगतियों—सुदेवत्व सुमानुषत्व तथा अंतमें मोक्षको भी देनेवाले हैं। अत एव हे साधो! तू इन दुर्ध्यानोंको छोडकर निरंतर समीचीन ध्यानोंका ही प्रीतिपूर्वक सेवन कर। अन्यथा अनेक व्रत उपवासादि क्रियाकाण्डमें सदा उद्यत रहते हुए भी तू सिद्धवधूको चिरकालकेलिये अपने ऊपरसे उत्कण्ठाशून्य बनालेगा, और अत्यंत भयंकर तथा क्रूर मकर मच्छ आदि जलजंतुओंके समान विविधक्लेशोंसे पूर्ण तथा जन्ममरणरूप भंवरोंसे भरे हुए भव-समुद्रमें भ्रमण करता फिरेगा।

भावार्थ—मोक्षकी सिद्धि सद्ध्यानके प्रसादसे ही हो सकती है अत एव मुमुक्षु साधुओंको उसमें अवश्य ही प्रवृत्त होना चाहिये।

अंतमें तपके विषयमें उद्योतनादिक पांचो आराधनाओंका और उसके फलका वर्णन करते हैं:—

यस्त्यक्त्वा विषयाभिलाषमभितो हिंसामपास्यंस्तप,—
स्यागूर्णो विशदे तदेकपरतां बिभ्रच्चदेवोद्गतिम्।
नीत्वा तत्प्रणिधानजातपरमानन्दो विमुञ्चत्यसून्,
स स्नात्वाऽमरमर्त्यशर्मलहरीष्वीर्ते परां निर्वृतिम् ॥ १०४ ॥

इन्द्रियोंके विषयोंकी अभिलाषाको छोडकर और द्रव्य तथा भाव दोनों ही प्रकारकी हिंसाका भी सर्वथा परित्याग करके जो साधु पूर्वोक्त निर्मल तपश्चरणमें उद्यत रहकर उसीमें रत रहता हुआ उसके अन्त दर्जेकी समुन्नतिको प्राप्त होजाता है, तथा उस निर्मल तपश्चरणमें रहनेवाली अव्यवच्छिन्न परिणति—एकतानताके निमित्तसे उत्पन्न हुए प्रकृष्ट प्रमोदको प्राप्त होकर प्राणोंका परित्याग करता है वह साधु देव और मनुष्यगतिके सुखसमुद्रमें अवगाहन करके अन्तमें परममुक्तिको प्राप्त होता है।

भावार्थ—तपके विषयमें पांच आराधनाएं बताई हैं—उद्योतन उद्यवन निर्वहण साधन और निस्तरण। विषयाभिलाषाको छोडकर हिंसाका त्याग करना उद्योतन, निर्मल तपमें उद्यत रहना उद्यवन, उस तपमें ही लीन रहना निर्वहण, और उस तपस्यामें अंतिम दर्जेकी उन्नति करना साधन, तथा उस तपोजनित आनन्दमें मरणान्त निमग्न रहना निस्तरण कहा जाता है। इन पांच आराधनाओंमें रत रहनेवाला ही साधु देव और मनुष्यगतिके उत्कृष्ट अभ्युदयोंका भोगकर जीवन्मुक्ति और अंतमें परममुक्तिको प्राप्त होता है।



आठवां अध्याय ।

तपके विनयरूपसे षडावश्यकोंका पालन करनेकेलिये पहले संक्षेपमें कहा जा चुका है। अब उन्हींको खुलासा समझानेकेलिये निरूपण करते हैं:—

अयमहमनुभूतिरितिस्वविच्चिविषजत्तथेतिमतिरुचिते ।
स्वात्मनि निःशङ्कमवस्थातुमथावश्यकं चरेत् षोढा ॥ १ ॥

जो स्वसंवेदन प्रत्यक्षका विषय है, और जो "अहं"–"मैं" इस उल्लेखके द्वारा अनुभवमें आता है वह शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप आत्मा मैं ही हूं। इस अनुभवको ही स्वपरज्ञप्ति अथवा स्वसंवित्ति कहते हैं। जो इस आत्मसंवेदनके द्वारा जिसमें कि भिन्नताका अवभास नहीं हो सकता ऐसी एकतानताको प्राप्त हो गया है और जो रुचि अथवा श्रद्धाका विषय हो चुका है—अपने द्वारा अपनेमें ही जिसका निश्चय किया जा चुका है ऐसे निज आत्मस्वरूपमें निःशङ्क–निश्चित सुखका अनुभव करते हुए अथवा निःसंशय—निश्चल होकर उत्पाद व्यय और ध्रौव्यके समुदयरूप आत्मवृत्तिमें अवस्थित होनेकेलिये तपस्वियोंको छह प्रकारके आवश्यकोंका पालन करना चाहिये।

मुमुक्षुओंके छह आवश्यक कर्मोंके निर्माणका समर्थन करनेकेलिये चौदह पद्योंमें स्थलशुद्धिका विधान करते हैं। उसमें सबसे पहले आत्मा और शरीरके भेद ज्ञान तथा वैराग्यके द्वारा जिसकी शक्ति नष्ट करदी गई है ऐसा विषयोंका उपभोग कर्मबन्धका कारण नहीं हो सकता, इस बातको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं:—

मन्त्रेणेव विषं मृत्यै मध्वरत्या मदाय वा ।
न बन्धाय हतं ज्ञप्त्या न विरक्त्यार्थसेवनम् ॥ २ ॥

मन्त्रद्वारा जिसकी सामर्थ्य—मारणशक्ति नष्ट करदी गई है ऐसे विषका भक्षण करनेपर भी जिस प्रकार मरण नहीं होता उसी तरह आत्मा और शरीरका भेद ज्ञान रहने पर विषयोंका सेवन करनेमे कर्मोंका बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार विना प्रीतिके पिया हुआ भी मद्य जिस तरह मद—नशा या बेहोशीको करनेवाला नहीं होता उसीप्रकार भेद ज्ञान द्वारा उत्पन्न हुए वैराग्यके अन्तरङ्गमें रहनेपर वह विषयोपभोग कर्म बन्धका कारण नहीं हो सकता।

भावार्थ—यहांपर भेदज्ञान और वैराग्य इन दोनोंकेलिये क्रमसे दो उदाहरण दिये हैं। इन उदाहरणोंसे यह बात स्पष्ट है कि यदि अन्तरङ्गमें भेदज्ञान और वैराग्य हो तो इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन करते हुए भी कर्मोंका बन्ध नहीं हो सकता।

ज्ञानी जीवका विषयोपभोग स्वरूपकी अपेक्षासे यद्यपि सद्रूप है तो भी उसमे विशिष्ट फल उत्पन्न नहीं होता इसलिये उसे असद्रूप ही कहना चाहिये। इसी बातको दृष्टान्तद्वारा दृढ करते हैं:—

ज्ञो भुञ्जानोपि नो भुङ्क्ते विषयांस्तत्फलात्ययात्।
यथा परप्रकरणे नृत्यन्नपि न नृत्यति ॥ ३ ॥

जिस प्रकार नृत्यकार अन्य पुरुषके विवाहादिक उत्सवके समय केवल शारीरिक चेष्टामात्रसे ही नृत्य करता है न कि उपयोग लगाकर। उसका उपयोग तो उस समय उधरसे विमुख ही रहता है। क्योंकि उसका वहा पर कोई फल भी नहीं होता। अत एव उसको नृत्य करते हुए भी उपयोगकी अपेक्षा से नृत्य नहीं करता है ऐसा ही कहना चाहिये। इसी प्रकार जो मनुष्य ज्ञानी है—आत्मस्वरूपके ज्ञानमें उपयुक्त है वह चेष्टामात्रसे यद्यपि इन्द्रियोंके विषयोंको भोगता है फिर भी उसे अभोक्ता ही समझना चाहिये। क्योंकि वास्तवमें उसका विषयोंकी तरफ उपयोग नहीं रहता। "आज मैं धन्य हू जो इस तरहके उत्कृष्ट भोगोंको भोग रहा हूं" ऐसा आभिमानिक रस और बुद्धिपूर्वक राग उसके नहीं पाया जाता। इसलिये उसके कर्मोंका बन्ध भी नहीं होता।

भावार्थ—कर्मोंका संचय बुद्धिपूर्वक रागादिकके द्वारा हुआ करता है। ज्ञानीके विषयोंके सेवन करनेमें बुद्धिपूर्वक रागादि नहीं रहते। अत एव उसके कर्मोंका बन्ध भी नहीं होता। विषय सेवनका फल कर्मबन्ध है सो

जब ज्ञानीके नहीं होता तब उसको विषयोंका भोक्ता कहना ही व्यर्थ—निष्फल है। अत एव आत्मज्ञानी जीव भोक्ता रहनेपर भी अभोक्ता ही माना जाता है।

ज्ञानी और अज्ञानीके कर्मबन्धकी विशेषता बताते हैं —

नाबुद्धिपूर्वा रागाद्या जघन्यज्ञानिनोपि हि।
बन्धायालं तथा बुद्धिपूर्वा अज्ञानिनो यथा ॥ ४ ॥

जिसको मध्यम या उत्कृष्ट आत्मज्ञान है उसकी तो बात ही क्या जघन्य दर्जेके आत्मज्ञानवाले पुरुषके भी सम्पूर्ण रागादिक आत्मदृष्टिपूर्वक ही हुआ करते हैं अत एव वे कर्मबन्ध करानेमें भी समर्थ नहीं हुआ करते। किंतु अज्ञानीके इसके विपरीत सभी रागादिक आत्मदृष्टि रहित होते है अत एव उसके वे सभी भाव कर्म बन्धके ही कारण हुआ करते हैं।

अनादि कालसे आत्माके साथ जो प्रमाद या अज्ञानजनित आचारणका सम्बन्ध चला आ रहा है उसपर अपशोच प्रकट करते हैः—

मत्प्रच्युत्य परेहमित्यवगमादाजन्म रज्यन् द्विषन्,
प्राङ्मिथ्यात्वमुखैश्चतुर्भिरपि तत्कर्माष्टधा बन्धयन्।
मूर्तैर्मूर्तमहं तदुद्भवभवैर्भावैरसंचिन्मयै,—
र्योजं योजमिहाद्य यावदसदं ही मा न जात्वासदम् ॥ ५ ॥

चेतनाका चमत्कार मात्र है स्वभाव जिसका ऐसी अपनी आत्माको हाय मैंने कभी भी प्राप्त नहीं किया— निजस्वरूपकी तरफ मेरी अभी तक कभी दृष्टि ही नहीं गई, बल्कि उस आत्मस्वरूपसे विमुख होकर पर शरीरादिकमें ही मै आत्मबुद्धि धारण किये रहा, जड शरीरादिकोंको ही " ये मै हू " ऐसा मानता रहा। हा! इस अज्ञानके कारण ही मै अनादिकालसे इष्ट पदार्थोंमें राग और अनिष्ट विषयोंमें द्वेष करता रहा हू। और

इसीलिये मिथ्यात्वादिक—मिथ्यात्व असंयम कषाय और योग इन चार पूर्वसंचित पौद्गलिक भावोंसे उन प्रसिद्ध आठ प्रकारके मूर्त—रूप रस गंध स्पर्श युक्त ज्ञानावरणादि कर्मोंका बन्ध करता रहा, तथा उनके उदयसे उत्पन्न हुए अज्ञानमय मिथ्यादर्शन और रागादि विभावरूप परिणत हो हो कर आज तक इस संसारमें दुःख और क्लेशको ही भोगता रहा हूं।

भावार्थ—अनादि कालसे आजतक मेरा आत्मस्वरूपकी तरफ कभी भी वास्तवमें लक्ष्य नहीं गया। इसीलिये अब तक मैं कर्मचेतना और कर्मफल चेतनाका ही अनुभव कर केवल दुखोंको ही भोगता रहा।

दूसरी जगहपर बन्धके कारण मिथ्यात्वादि पांच बताये हैं किंतु यहांपर चार ही लिखे हैं इसलिये किसी प्रकारका विरोध न समझना चाहिये। क्योंकि प्रमादका अविरतिमें अन्तर्भाव हो जानेपर चार भी बन्धके कारण कहे जा सकते है।

आत्माका कर्तृत्व और भोक्तृत्व स्वरूप वास्तविक नहीं है, वह परपदार्थकी अपेक्षासे ही है, सो भी जब तक शरीर और आत्माका भेद ज्ञान नहीं होता है तब तक और केवल व्यवहार नयसे ही माना है। वास्तवमें तो आत्माका स्वरूप ज्ञातृत्व ही है। इसी बातको दिखाकर भेद ज्ञानके हो जानेपर शुद्ध निज आत्म-स्वरूपका अनुभव करनेकेलिये प्रयत्न करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं:—

स्वान्यावप्रतियन् स्वलक्षणकलानैव यतोऽरनेऽहमि—
त्यैक्याध्यासकृतेः परस्य पुरुषः कर्ता परार्थस्य च।
भोक्ता नित्यमहंतयानुभवनाज्ज्ञातैव चार्थात्तयो,—
स्तत्स्वान्यप्रविभागबोधबलतःशुद्धात्मसिद्ध्यै यते ॥ ६ ॥

जीव और अजीवका लक्षण तथा स्वरूप भिन्न भिन्न है। किंतु उनको न पहचान कर—आत्मा और शरीरमें जो स्वरूपकी विशेपता नियत—सिद्ध है उसको न समझकर अनात्मस्वरूप शरीरादिकमें जो ये ही मैं हूं इस तरहका

अभेदाध्यवसाय होता है उसीसे जीवको कर्मादिकोंका कर्त्ता और परार्थ—कर्मादिकोंके फलका भोक्ता माना है। अर्थात् भेद ज्ञान न होनेतक आत्मा शरीरादिकके विषयमें कर्त्ता और भोक्ता है किंतु व्यवहारसे ही है न कि निश्चयसे। वास्तवमें तो वह केवल कर्मादिक या उसके फलादिकका ज्ञाता ही है न कि कर्ता या भोक्ता। क्योंकि "अहं"—"मैं" इस उल्लेखके द्वारा उसके विषयमें नित्य ऐसा ही अनुभव होता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

मा कर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः,
कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादधः।
ऊर्ध्वं तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं,
पश्यन्तु च्युतकर्मभावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ॥

सांख्य जिस प्रकार आत्माको कर्ता मानते हैं उस प्रकार आर्हत नहीं मानते। आर्हत लोग जब तक भेद ज्ञान नहीं होता है तभी तक उसको कर्ता मानते हैं, बादमें नहीं। बादमें तो वे उसको स्वयं अनुभवमें आने योग्य प्रत्यक्षस्वरूप नियत अनंतज्ञानका भंडार और सम्पूर्ण कर्म तथा विभावोंसे रहित सर्वोत्कृष्ट अद्वितीय निश्चल—टंकोत्कीर्ण[1] ज्ञाता मानते हैं।

अत एव मुमुक्षुओंको निश्चय करना चाहिये कि अब मैं स्व और परके भेद ज्ञानका बल उद्भूत हो जानेपर निर्मल निज आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये ही प्रयत्न करूंगा।

आत्माके सम्यग्दर्शनस्वरूपका अनुभव करते हैं।

यदि टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावमात्मानम्।
रागादिभ्यः सम्यग्विविच्य पश्यामि सुदृगस्मि ॥ ७ ॥

भले प्रकार-संशय विपर्यय और अनध्यवसायको छोडकर यदि मैं रागादिकसे भिन्न अपने स्वरूपका अनुभव करता हूं तो वह एक कर्तृत्वादि भावोंसे रहित टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकभावस्वभाव सम्यग्दर्शनस्वरूप ही अनुभवमें आता है।

१—टांकीसे उकेरी हुई मूर्तिके समान जिसका आकार निश्चल और बिलकुल स्पष्ट हो उसको टंकोत्कीर्ण कहते हैं।

रागादिकसे निजस्वरूपकी भिन्नताका समर्थन करते हैं:—

ज्ञानं जानत्तया ज्ञानमेव रागो रजत्तया ।
राग एवास्ति नत्वन्यत्ताच्चिद्रागोस्म्यचित् कथम् ॥ ८ ॥

ज्ञानका स्वभाव जानना–स्व और परपदार्थोंको अवभासित करना है, अत एव अपने इस स्वभावके कारण ज्ञान ज्ञान ही रह सकता है, वह अन्यस्वरूप–रागादिरूप नहीं हो सकता। इसी प्रकार रागका स्वभाव इष्ट-विषयोंमें प्रीति उत्पन्न करना है। अत एव वह भी अपने इस स्वभावके कारण राग ही रह सकता है–ज्ञानरूप नहीं हो सकता। यही बात द्वेष या मोहादिके विषयमें भी समझनी चाहिये। अर्थात् ज्ञानादिक सभी भाव अपने अपने स्वभावके कारण भिन्न भिन्न रूप नहीं हो सकते, अपने अपने स्वभावमें ही रह सकते है, ज्ञान रागादिरूप नहीं हो सकता और रागादिक ज्ञानरूप नहीं हो सकते। ज्ञान ज्ञान ही रहेगा और रागादिक रागादिक ही रहेंगे। जब कि यह बात सिद्ध है तब चित्स्वरूप–ज्ञानस्वभाव मैं अचित्[२]–रागद्वेष मोहरूप किस तरह हो सकता हूं? कभी नहीं हो सकता।

इसी बातको संक्षेपमें और भी स्पष्ट करते हैं:—

नान्तरं वाङ्मनोप्यस्मि किं पुनर्बाह्यमङ्गगीः ।
तत् कोऽङ्गसङ्गजेष्वैक्यभ्रमो मेऽङ्गाऽङ्गजादिषु ॥ ९ ॥

शरीर और वाणी आदि तो प्रत्यक्ष ही मुझसे सर्वथा बाह्य—पृथक् दीखते है अत एव इनके विषयमें तो कहना ही क्या किन्तु अन्तरङ्ग—जो दृष्टिगोचर नहीं होते ऐसे अन्तर्जल्पविकल्पस्वरूप जो वचन या मन है त-

२—रागादिक यद्यपि स्वसंविदित हैं तो भी परस्वरूपका संवेदन नहीं कर सकते इसलिये उन्हे अचित ही कहना चाहिये।

त्स्वरूप भी मैं नहीं हूं। इसलिये हे अङ्ग! केवल शरीरके संसर्ग मात्रसे उत्पन्न हुए पुत्रादिकोंके विषयमें तो मुझे ऐक्य—अभेदका भ्रम हो ही किस तरह सकता है?

भावार्थ—द्रव्य और भावरूप वचन या मन तथा शरीर और उससे सम्बन्ध रखनेवाले माता पिता भ्राता भगिनी स्त्री पुत्र आदि सभी तत्त्वत मुझसे भिन्न हैं और मैं उनसे भिन्न हू।

आत्मा ही अष्टाङ्ग सम्यग्दर्शनस्वरूप है इस बातको स्पष्ट करते हैं:—

यत्कस्मादपि नो बिभेति न किमप्याशंसति क्वाप्युप,—
क्लेशं नाश्रयते न मुह्यति निजाः पुष्णाति शक्तीः सदा।
मार्गान्न च्यवतेऽञ्जसा शिवपथं स्वात्मानमालोकते,
माहात्म्यं स्वमभिव्यनक्ति च तदस्म्यष्टांगसद्दर्शनम् ॥ १० ॥

सम्यग्दर्शनके निःशङ्कितत्व निःकांक्षितत्व आदि आठ अंग माने है जिनका कि वर्णन पहले किया जा चुका है। इन आठो अङ्गोके होनेसे सम्यग्दर्शन पूर्ण माना जाता है। किंतु यह अष्टाङ्ग सम्यग्दर्शन मुझसे कोई भिन्न वस्तु नहीं है। बल्कि मै ही अष्टांङ्ग सम्यग्दर्शन हू। क्योंकि मैं निःशङ्क–निर्भय हू, मुझे किसीसे भी भय नहीं होता। इहलोकभय परलोकभय अरक्षकभय अगुप्तिभय मरणभय वेदनाभय और अकस्मात्भय। ये सात प्रकारकी जो भय बतलाई हैं वे आत्माको नहीं होतीं। जैसा कि कहा भी है कि:—

रूपैर्भयङ्करैर्वाक्यैर्हेतुदृष्टान्तसूचिभि।
जातु क्षायिकसम्यक्त्वो न क्षुभ्यति विनिश्चल ॥

इसी प्रकार आत्माको इस जन्ममें भोगोंकी और परभवमें इन्द्रादि पदोंकी आकांक्षा भी नहीं होती। न वह विष्टा आदि पदार्थों और क्षुधा पिपासा आदि भावोंमें ग्लानि ही करता है। किसी भी मिथ्या देव गुरु या शास्त्रमें वह मोहित–मुर्च्छित भी नहीं होता। बल्कि जिनसे कर्मोंका संवर या निर्जरा हो सकती है, अथवा समस्त

कर्मोंसे रहित मोक्षकी सिद्धि हो सकती है, यद्वा अभ्युदयोंकी प्राप्ति और दुर्गतियोंकी निवृत्ति हो सकती है उन अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंको वह सदा पुष्ट किया करता है। और रत्नत्ररूप मार्गसे कभी विचलित नहीं होता, किंतु वास्तविक मोक्षमार्ग निज चित्स्वरूपका अवलोकन किया करता, और सदा अपने माहात्म्य—अचिन्त्यशक्ति विशेषका सर्वत्र प्रकाश किया करता है। इस प्रकार निश्चयसे देखा जाय तो मैं ही अष्टाङ्गसम्यग्दर्शन हू।

आत्माकी ज्ञानके विषयमें रति आदि रूप जो परिणति होती है उसको दिखाते हैं—

सत्यान्यात्माशीरनुभाव्यानीयन्ति चैव यावदिदम्।
ज्ञानं तदिहास्मि रतः संतुष्टः संततं तृप्तः॥ ११॥

आत्मा—जीव, और आशीः—आगामी इष्ट पदार्थोंकी अभिलाषा, तथा अनुभाव्य—जो कि वर्तमानमें अनुभवमें आरहे हों, ये तीनों ही पदार्थ सत्य है। और उतने ही हैं जितने कि इस ज्ञानने जाने हैं, अर्थात् जितना यह स्वय संवेद्यमान ज्ञान है उतना ही आत्मा है और उतनी ही आशी है तथा अनुभवनीय पदार्थ भी उतना ही है। अत एव मैं इस ज्ञानमें ही निरंतर रत-आसक्त रहता तथा संतोषको धारण कर तृप्त—सुखी होता हू। अथवा इसको पाकर मैं संतुष्ट और सुखी होगया हूं।

भेदज्ञानके निमित्तसे ही कर्मोंका बन्धन टूटकर मोक्ष और अनंत सुखका लाभ हो सकता है। इसी बातको बताते हैं।:—

क्रोधाद्यास्रवविनिवृत्तिनान्तरीयकतदात्मभेदविदः।
सिध्यति बन्धनिरोधस्ततः शिवं शं ततोऽनन्तम्॥ १२॥

क्रोधादिक आस्रवोंकी विशेषरूपसे निवृत्ति—संवरके साथ साथ जो उन क्रोधादिक आस्रवों और आत्माके भेदका ज्ञान होता है उसीसे कर्मोंके बंधका निरोध हुआ करता है। बन्धका उच्छेद हो जानेपर मोक्षकी प्राप्ति और उससे पुनः अनन्तसुखकी सिद्धि हुआ करती है।

यहांपर क्रोधादिकमें आदि शब्द व्यवस्थावाची है। अत एव इससे जीवकी परतन्त्रताके निमित्तभूत राग द्वेष मोह और बादर सूक्ष्म योग तथा अघाति कर्मोंके तीव्र और मन्द उदयके कालविशेषका भी ग्रहण कर लेना चाहिये।

भावार्थ—इन सम्पूर्ण आस्रवोंका निरोध और उसके साथ साथ भेद ज्ञान होनेसे ही मोक्ष कल्याण और अनन्तसुखकी सिद्धि होती है। जैसा कि कहा भी है कि:—

भेदविज्ञानतः सिद्धा सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन॥

प्रकृत विषयका उपसंहार करते हुए इस बातका उपदेश देते हैं कि साधुओंको शुद्ध आत्मसंवेदनका लाभ होजानेपर अधःक्रियाओंके पालन करनेमें भी प्रवृत्त होना चाहिये:—

इतीदृग्भेदविज्ञानबलाच्छुद्धात्मसंविदम्।
साक्षात्कर्मोच्छिदं यावल्लभे तावद्भजे क्रियाम्॥ १३॥

जिसका कि स्वरूप ऊपर लिखा जा चुका है और जैसा कि आगममें बतलाया भी है उस भेद विज्ञानकी सामर्थ्यसे शुद्ध-सम्पूर्ण संकल्प विकल्पोंसे रहित आत्मसंवेदनको जो कि घाति और अघाति सभी कर्मोंको निर्मूल करनेकेलिये साक्षात्कारण है प्राप्त करूं तबतक मुझे सम्यग्ज्ञानपूर्वक सभी आवश्यक क्रियाओंका पालन करना चाहिये।

भावार्थ—आत्माका भिन्नत्वेन अनुभवन करनेरूप ज्ञान क्रियाका पालन मुमुक्षुका प्रधान कर्तव्य है, किन्तु जबतक वह मुख्यतया सिद्ध न हो तबतक उसकी साधनभूत अथवा अङ्गरूप अधस्तन क्रियाओंको भी पालना चाहिये।

यहांपर यह शंका हो सकती है कि जब मुमुक्षुका कर्तव्य निर्विकल्प आत्माका अनुभव करना है जिसमे

कि उसके अभीष्ट मोक्षकी सिद्धि हो सकती है तब उसके विरुद्ध कर्मबन्धकी कारण क्रियाओंका पालन करनेमें उसे प्रवृत्त क्यों होना चाहिये ? और क्या यह कथन आगमविरुद्ध नहीं है ? इसका उत्तर देते हैं:—

सम्यगावश्यकविधेः फलं पुण्यास्रवोऽपि हि ।
प्रशस्ताध्यवसायोंहश्छित् किलेति मतः सताम् ॥ १४ ॥

ऐसा आगममें बतलाया है कि जिन प्रशस्त परिणामोंसे पुण्यकर्मका आस्रव और पापकर्मोंका उच्छेद होता है वे समीचीन आवश्यक विधानोंके ही फल हैं । यही कारण है कि साधुजन इसके पालन करनेको स्वीकार करते हैं । जैसा कि कहा भी है कि: —

आवश्यकं न कर्तव्यं नैष्फल्यादित्यसांप्रतम् ।
प्रशस्ताध्यवसायस्य फलस्यात्रोपलब्धितः ॥
प्रशस्ताध्यवसायेन संचितं कर्म नाश्यते ।
काष्ठं काष्ठान्तकेनेव दीप्यमानेन निश्चितम् ॥

आवश्यकोंका पालन करना निष्फल है, यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि उन्हींके निमित्तसे शुभ परिणामोंकी सिद्धि हुआ करती है; और जिस प्रकार अग्निमें काष्ठ भस्म हो जाता है उसी प्रकार उन शुभ परिणामोंसे पूर्वसंचित कर्म नष्ट हो जाया करते हैं ।

यहांपर कोई फिर कह सकता है कि पुण्यबन्ध भी तो कर्मका बन्ध ही है; अत एव पापबन्धकी तरह पुण्यबन्ध करनेका भी अनुरोध मुमुक्षुके लिये क्यों होना चाहिये ? इसका भी उत्तर देते हैं:—

मुमुक्षोः समयाकर्तुः पुण्यादभ्युदयो वरम् ।
न पापाद्दुर्गतिः सद्यो बन्धोऽपि ह्यक्षयाश्रिये ॥ १५ ॥

रागद्वेषरूप परिणत न होनेवाले उदासीन ज्ञानको जो प्राप्त नहीं हो सकता उस मुमुक्षुके पापकर्मका संचय और उससे प्राप्त होनेवाली दुर्गतियोंकी अपेक्षा पुण्यकर्म और उसके द्वारा स्वर्गादि पदोंका प्राप्त होना अच्छा ही है। क्योंकि जिस बन्ध–पुण्यकर्मके संचयसे अक्षय लक्ष्मीकी प्राप्ति हो सकती है वह पुण्यबन्ध भी मुनियोंके लिये सह्य हो सकता है।

भावार्थ—जिस प्रकार निष्कपट भक्ति करनेवाला कोई सेवक अपने स्वामीके द्वारा पीडित होनेपर भी कालान्तरमें उससे यथेष्ट लक्ष्मी प्राप्त करनेकी इच्छासे उसकी भक्ति ही करता है, उसी प्रकार मुमुक्षुजन जबतक शुद्ध निजात्मस्वरूपका लाभ नहीं होता तबतक जिनेन्द्रदेवकी भक्तिमें निरत रहता और उनकी उपदिष्ट क्रियाओंका पालन किया करता है। जिससे कि उस पुण्यबन्धका संचय होता है जो कि मोक्षलक्ष्मीकी सिद्धिके साक्षात् कारण–ध्यानके साधनमें समर्थ उत्तम संहननादि निमित्तोंको प्राप्त करा सकता है।

इस प्रकार जिसकी कर्तव्यता भले प्रकार सिद्ध करके दिखादी गई है उस आवश्यकका निरुक्तिद्वारा अवतार करते हुए लक्षण बताते हैं:—

यद्व्याध्यादिवशेनापि क्रियतेऽक्षावशेन तत् ।
आवश्यकमवश्यस्य कर्माहोरात्रिकं मुनेः ॥ १६ ॥

जो इन्द्रियोंके वश्य— अधीन नहीं होता उसको अवश्य कहते हैं। ऐसे संयमीके आहोरात्रिक—दिन और रातमें करने योग्य कामोंका ही नाम आवश्यक है। अत एव व्याधि आदिसे ग्रस्त हो जानेपर भी इन्द्रियोंके वशमें न पडकर जो दिन और रातके काम मुनियोंको करने ही चाहिये उन्हीको आवश्यक कहते हैं।

ऐसे आवश्यककर्म कितने हैं उनके नाम बताते हैं:—

सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वंदना प्रतिक्रमणम् ।
प्रत्याख्यानं कायोत्सर्गश्चावश्यकस्य षड् भेदाः ॥ १७ ॥

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, और कायोत्सर्ग। इस तरह आवश्यक कर्म छह प्रकारके होते हैं।

निक्षेपरहित व्याख्यान वक्ता और श्रोता दोनोंहीको उन्मार्गमें लेजानेवाला हो सकता है। अत एव सामायिकादि छहों आवश्यकोंको नामादि छहों निक्षेपोंपर घटित करके पालन करनेका उपदेश देते हैं:—

नामस्थापनयोर्द्रव्यक्षेत्रयोः कालभावयोः।
पृथग्निक्षिप्य विधिवत्साध्याः सामायिकादयः॥ १८ ॥

आवश्यक निर्युक्तिमें बताये हुए विधानके अनुसार नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भाव इन छह निक्षेपोंपर सामायिकादिको घटित करके आचार्योंको उनका व्याख्यान करना चाहिये और साधुओंको उनका पालन करना चाहिये।

इस तरह करनेसे सामायिक के छह भेद होते है। नाम सामायिक स्थापना सामायिक द्रव्य सामायिक क्षेत्र सामायिक काल सामायिक और भावसामायिक। इसी प्रकार चतुर्विंशतिस्तवादिके भी विषयमें समझना चाहिये। प्रत्येक आवश्यकपर छहों निक्षेप लगते हैं, अत एव आवश्यकोंके कुल भेद छत्तीस होते हैं।

सामायिकका निरुक्तिपूर्वक लक्षण बताते हैं:—

रागाद्यबाधबोधः स्यात् समायोस्मिन्निरुच्यते।
भवं सामायिकं साम्यं नामादौ सत्यऽसत्यपि॥ १९ ॥

सम—रागद्वेषादिसे आक्रांत न होनेवाले अय—ज्ञानको समाय कहते हैं। इस तरहके ज्ञानमें अनुभवन रूप जो प्रवृत्ति होती है उसको ही सामायिक कहते हैं। सामायिकका ही दूसरा नाम साम्य भी है। प्रशस्त और अप्रशस्त नाम स्थापना आदिके विषयमें क्रमसे रागद्वेष न करना इसीको साम्य कहते है।

भावार्थ—शुभाशुभ विषयोंमें रागद्वेष न करके शुद्धचिन्मात्र के अनुभवन करनेको सामायिक या साम्य कहते है। यह नामादि निक्षेपोंकी अपेक्षासे छह प्रकारका हो सकता है। यथा—

नाम सामायिक—शुभाशुभ नामोंको सुनकर रागद्वेष न करना।

स्थापनासामायिक—जैसा चाहिये वैसे ही प्रमाण से और मनोहरता आदिगुणोंसे युक्त स्थापनामें राग और उससे विपरीत में द्वेष न करना।

द्रव्यसामायिक— जो सुवर्णादिरूप था या होनेवाला है उसमें राग और जो मृत्तिकादिरूप होगया या होजायगा उसमें द्वेष न कर समदर्शी रहना।

क्षेत्रसामायिक—सुगंध फलफूलोंसे पूर्ण वन उपवन और कटीली ककरीली आदि भूमिमें रागद्वेष न करना

कालसामायिक—वसन्त और ग्रीष्म प्रभृति ऋतुओंमें दिन या रात्रिमें तथा शुक्लपक्ष या कृष्णपक्षमें एव प्रातः काल और सायकाल आदि किसी भी मनोज्ञामनोज्ञ समयमें रागद्वेष न कर समता धारण करना।

भावसामायिक—जीवमात्रके विषयमें दुर्भावनाओंको छोड कर मैत्रीभाव धारण करना।

नामसामायिकादि शब्दोंका अर्थ जैसा कुछ ऊपर लिखागया है उसके सिवाय और भी नीचे लिखे मूजब हो सकता है, उस अर्थका भी यहा संग्रह करलेना। यह बात इस श्लोकमें दिये हुए अपिशब्दके द्वारा सूचित की गई है। यथाः जाति द्रव्य गुण क्रिया आदिकी अपेक्षा न करके " सामायिक " ऐसी किसीकी संज्ञा रखदेनेको अथवा " सामायिक " इस शब्द मात्रको भी नामसामायिक कहते हैं। जो व्यक्ति सामायिकरूप परिणत है उसके गुणोंका उसके सदृश या विसदृश आकार रखनेवाले किसी भिन्न पदार्थमें आरोप करना इसको स्थापना सामायिक कहते हैं। जो सामायिकरूप परिणत हो चुका हो या आगे चलकर तद्रूप परिणत होनेवाला हो उसको द्रव्यसामायिक कहते हैं। यह दो प्रकारका होता है—एक आगमद्रव्यसामायिक दूसरा नो आगमद्रव्यसामायिक। सामायिकके स्वरूपका निरूपण करनेवाले शास्त्रके ज्ञाता किंतु उस विषयमें अनुपयुक्त आत्माको आगम द्रव्यसामायिक कहते हैं।

नोआगमद्रव्यसामायिकके तीन भेद हैं-ज्ञायकशरीर भावी और तद्व्यतिरिक्त। सामायिकशास्त्रके जाननेवाले अनुपयुक्त आत्माके शरीरको ज्ञायकशरीर कहते हैं। इसके भी तीन भेद हैं-भूत भविष्यत् और वर्तमान। भूत भी तीन प्रकारका होता है-च्युत च्यावित और त्यक्त। जो पके हुए फलकी तरह आयुके पूर्ण होनेपर स्वयं छूटजाय उसको च्युत, और जो शस्त्रप्रहार विषभक्षण श्वासोच्छ्वासके निरोध आदि कारणोंसे छूटे उसको च्यावित, तथा समाधि द्वारा छोडे हुएको त्यक्त कहते हैं। त्यक्तके भी तीन भेद हैं-भक्त प्रत्याख्यान इङ्गिनीमरण प्रायोपगमन। भक्त प्रत्याख्यान भी तीन तरहका है-उत्कृष्ट मध्यम जघन्य। उत्कृष्ट बारह वर्षका, जघन्य अन्तर्मुहूर्तका, और जिसका इन दोनोंके मध्यका काल हो उसको मध्यम कहते हैं। जो आगे चलकर सामायिक शास्त्रका जाननेवाला होगा उसको भावीनो आगमद्रव्य सामायिक कहते हैं। तद्व्यतिरिक्तके दो भेद हैं—एक कर्म दूसरा नो कर्म। सामायिकरूप परिणत जीवके द्वारा संचित होनेवाले तीर्थंकर आदि शुभकर्मोंको कर्मतद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्य सामायिक कहते हैं। नो कर्म तद्व्यतिरिक्त तीन प्रकारका होता है—सचित्त अचित्त और मिश्र। उपाध्यायादिको सचित्त, पुस्तकादिको अचित्त, और उभयरूपको मिश्र कहते हैं। सामायिकरूप परिणत जीव जहांपर स्थित हो उस गिरनार चम्पापुर पावापुर कलाश आदि स्थानको क्षेत्र सामायिक, और जिस समयमें वह सामायिकस्वरूप परिणत हो उस प्रातः काल मध्यान्हकाल और सायकाल आदि समयको कालसामायिक कहते हैं। वर्तमानमें जो सामायिक पर्यायसे युक्त है उसको भावसामायिक कहते हैं। इसके भी दो भेद हैं— आगम भावसामायिक और नो आगम भावसामायिक। सामायिक शास्त्रके जाननेवाले उपयुक्त आत्माको आगमभावसामायिक कहते हैं। नो आगमभावके दो भेद हैं-उपयुक्त और तत्परिणत। जो सामायिक शास्त्रके विना ही सामायिकके अर्थका विचार कर रहा है—उधर उपयुक्त है उसको उपयुक्त नो आगमभावसामायिक, और जो रागद्वेषके अभावरूप परिणत है उसको तत्परिणत नोआगमभाव सामायिक कहते हैं।

यहांपर सामायिकके विषयमें ही नामादि निक्षेप घटित किये हैं किन्तु इसी प्रकार चतुर्विंशतिस्तवनादि आवश्यकोंके विषयमें भी घट सकते हैं सो स्वयं घटित करलेने चाहिये। तथा इस विषयमें एक बात और भी

ध्यानमें रखने योग्य है वह यह कि यहांपर सामायिकके विषयमें यद्यपि छह निक्षेप और उनके भेदोंको घटित किया है फिर भी वास्तवमें प्रयोजन आगमभाव सामायिक और नो आगमभाव सामायिकसे ही है।

दूसरी तरहसे निरुक्ति करके भावसामायिकका फिरसे लक्षण बताते हैं:—

समयो दृग्ज्ञानतपोयमनियमादौ प्रशस्तसमगमनम् ।
स्यात्समय एव सामायिकं पुनः स्वार्थिकेन ठणा ॥ २० ॥

समय शब्दमें सम्‌का अर्थ प्रशस्तता अथवा एकत्व होता है; और अयका अर्थ प्राप्ति या परिणति होता है। अतएव परीषह कषाय और इन्द्रियोंको जीतकर तथा संज्ञाओं दुर्लेश्याओं और दुर्ध्यानोंको छोडकर दर्शन ज्ञान तप यम नियम आदिके विषयमें प्रशस्तताकी प्राप्ति अथवा एकत्व रूपसे परिणमन होनेको समय कहते हैं। और समयकाही नाम सामायिक है। क्योंकि समय शब्दसेही स्वार्थमें ठण् प्रत्यय होकर सामायिक शब्द बनता है।

अब पद्रह श्लोकोंमें सामायिक करनेकी विधि बताते हैं। उसमें सबसे पहले नाम सामायिककी भावनाका स्वरूप निरूपण करते हैं:—

शुभेऽशुभे वा केनापि प्रयुक्ते नाम्नि मोहतः ।
स्वमवाग्लक्षणं पश्यन्न रतिं यामि नारतिम् ॥ २१ ॥

किसी भी शुभ या अशुभ नाममें अथवा यदि कोई मेरे विषयमें ऐसे शब्दोंका प्रयोग करे तो उनमें मुझे रति या अरति न करनी चाहिये। क्योंकि वह शुभाशुभ शब्द बोलनेवाला मोही—अज्ञानी है। वह नहीं जानता कि मै शब्दका विषय नहीं हूं। किंतु मैं देखरहाहूं कि वास्तवमें मैं अवाग्लक्षण हूं। मैं शब्दके द्वारा नहीं जाना जा सकता, और न शब्द मेरा स्वरूप या लक्षण ही है। जैसा कि कहा भी है कि:—

अरसमरूवमगंध अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाणमलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसठाणं ॥

अर्थात् जीवका स्वरूप रस रूप और गंधसे रहित अव्यक्त तथा चेतना गुणसे युक्त शब्द रहित अलिंग और किसी भी खास आकार-संस्थानसे रहित समझना चाहिये।

स्थापना सामायिककी भावनाका स्वरूप बताते हैं:—

यदिदं स्मर्यत्यर्चा न तदप्यस्मि किं पुनः।
इयं तदस्यां सुस्थेति धीरसुस्थेति वा न मे ॥ २२ ॥

जैसा चाहिये वैसेही प्रमाणसे युक्त यह सामने दीखती हुई मूर्ति मुझे जिस अर्हदादिरूपका स्मरण करा रही है क्या मैं तत्स्वरूप हूं? नहीं। तो क्या मैं इस मूर्तिस्वरूप हूं? नहीं-सर्वथा नहीं। यही कारण है कि मेरा ज्ञान-साम्यानुभव न तो इस मूर्तिमें भले प्रकार ठहरा हुआ ही है, अथवा न इससे विपरीत ही है।

द्रव्यसामायिकके अनुभवका स्वरूप बताते हैं:—

साम्यागमज्ञतद्देहौ तद्विपक्षौ च यादृशौ।
तादृशौ स्तां परद्रव्ये को मे स्वद्रव्यवद्ग्रहः ॥ २३ ॥

सामायिक शास्त्रका ज्ञाता अनुपयुक्त आत्मा और उसका शरीर-ज्ञायक शरीर ये दोनों, तथा इनसे विपक्ष-भाविनोआगमद्रव्य सामायिक और तद्व्यतिरिक्त-कर्म नो कर्म ये दोनो जैसे कुछ शुभ या अशुभ हैं, रहें, मुझे इनसे क्या? क्योंकि ये पर द्रव्य हैं। साम्यभावरूप परिणत मुझे इन में स्वद्रव्यकी तरह अभिनिवेश किस तरह हो सकता है? कभी नहीं हो सकता।

१—जीविय मरणे लाहालाहे संजोयविप्पओए य। बंधुअरि सुहदुक्खे विय समदा सामाइयं णाम ॥ इत्यादि
२—३—इनका स्वरूप पहले लिखाजाचुका है।

भावार्थ—यहांपर स्वद्रव्य का जो दृष्टान्त दिया है उसको अन्वयमुख और व्यतिरेकमुख दोनों ही तरह से घटित करना चाहिये। क्योंकि स्वद्रव्यमें भी अभिनिवेश आरब्धयोगीके ही हो सकता है नाकि निष्पन्नयोगीके। निष्पन्नयोगी तो सम्पूर्ण संकल्पविकल्पोंसे रहित अवस्था का अनुभव किया करता है। यथाः—

मुक्त इत्यपि न कार्यमञ्जसा कर्मजालकलितोऽहमित्यपि।
निर्विकल्पपदवीमुपाश्रयन् सयमी हि लभते परं पदम् ॥

अपि च,— यद्यदेव मनसि स्थित भवेत्तत्तदेव सहसा परित्यजेत्।
इत्युपाधिपरिहारपूर्णता सा यदा भवति तत्पद तदा ॥

तथा,— अन्तरङ्गबहिरङ्गयोगतः कार्यसिद्धिरखिलेति योगिना।
आशितव्यमनिशं प्रयत्नत· स्व परं सदृशमेव पश्यता ॥

इसलिये अन्वयदृष्टान्तके समय तो ऐसा अर्थ करना चाहिये कि स्वद्रव्यमें मुझे जैसा कुछ अभिनिवेश है वैसा परद्रव्यमें किस तरह हो सकता है? नहीं हो सकता। तथा व्यतिरेक दृष्टान्त के समय ऐसा अर्थ करना चाहिये कि मुझे स्वद्रव्यमें भी क्या अभिनिवेश है? कुछ भी नहीं! इसी प्रकार परद्रव्यमें भी क्या अभिनिवेश हो सकता है? कुछ भी नहीं।

क्षेत्र सामायिकमें किस प्रकारकी भावना होती है सो बताते हैं :—

राजधानीति न प्रीये नारण्यनीति चोद्विजे।
देशो हि रम्योऽरम्यो वा नात्मारामस्य कोपि मे ॥ २४ ॥

यह राजधानी है—इसमें राजा महाराजा आदि बड़े आदमी रहते है, इसलिये मनोज्ञस्थान है। ऐसा समझकर मुझे इसमें कुछ राग-प्रेम नहीं होता। और न यह एक महान् आरण्य—निर्जन वन है, इसलिये मुझे इसमें किसी प्रकार उद्वेग ही होता है। क्योंकि वास्तवमें मेरा रमणीय स्थान चित्स्वरूप ही है। अत एव मेरेलिये कोई भी बाह्य स्थान मनोज्ञ या अमनोज्ञ नहीं हो सकता।

भावार्थ—आत्माका रमण या गमन आत्माके सिवाय भिन्न स्थानमें नहीं हो सकता। ग्राम रमणीय और निवास करने योग्य स्थान है, तथा निर्जनवन अमनोज्ञ और निवास करनेके लिये अयोग्य स्थान है; इस तरहकी कल्पना जो आत्माका अवलोकन नहीं कर पाते उन्हीं के होती है। किन्तु जो आत्माका साक्षात् अनुभव करने वाले हैं उनके लिये तो रति और गतिका स्थान सम्पूर्ण बाह्य पदार्थों और संकल्प विकल्पोंसेरहित निश्चल निज आत्मस्वरूप ही है।

यहांपर यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि आत्मासे रति करना भी एक रागही है जो कि मोक्षका प्रतिबन्धक होनेसे मुमुक्षुओंको सहनीय नहीं होता। अतएव शुद्धनिश्चय नयकी अपेक्षासे आत्माराम शब्दका अर्थ आत्मासे निवृत्ति करना चाहिये।

कालसामायिकके अनुभवनका स्वरूप बताते हैं:—

नामूर्तत्वाद्धिमाद्यात्मा कालः किं तर्हि पुद्गलः।
तथोपचर्यते मूर्तस्तस्य स्पृश्यो न जात्वहम् ॥ २५ ॥

निश्चय काल द्रव्य अमूर्त है, उसमें रूप रस गंध स्पर्श नहीं है। लोक जिसका काल शब्दसे व्यवहार करते हैं वह पुद्गल द्रव्य है। अत एव हेमन्त शिशिर वसंत या शीत ग्रीष्म वर्षा आदि मूर्त पुद्गलके ही स्वरूप हैं मैं कदाचित् भी इस मूर्त पुद्गलस्वरूप कालका विषय नहीं हो सकता। क्योंकि मैं उससे सर्वथा विरुद्ध अमूर्तही नहीं किन्तु निश्चय नयसे एक चित्स्वरूप ही हूं।

इस प्रकार नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र और काल सामायिकका क्रमसे निरूपण करके भाव सामायिकका किस प्रकारसे अनुभवन करना चाहिये सो बताते हैं:—

सर्वे वैभाविका भावा मत्तोन्ये तेष्वतः कथम्।
चिच्चमत्कारमात्रात्मा प्रीत्यप्रीती तनोम्यहम् ॥ २६ ॥

इन्द्रियजनित सुख दुःखका निराकरण करते हैं:—

कृतं तृष्णानुषङ्गिण्या खसौख्यमृगतृष्णया।
खिद्ये न दुःखे दुर्वारकर्मारिक्षययक्ष्मणि॥ ३२ ॥

इन्द्रियजनित सुखोंको पाकर मैं राग नहीं करता, और दुःखोंके उपस्थित होनेपर मुझे किसी प्रकारका खेद भी नहीं होता। क्योंकि ये वैषयिक सुख मृगतृष्णा–मरीचिकाके समान तृष्णाके बढानेवाले हैं। और दुःख, जिनका वारण नहीं किया जा सकता ऐसे कर्मरूपी शत्रुओंका क्षय करनेके लिये राजयक्ष्मा व्याधिके समान है।

भावार्थ— जंगलोंमें एक प्रकारकी चटीली भूमि हुआ करती है उसको मरीचिका कहते है। मध्यान्हके समय सूर्यकी किरणोंसे उस भूमिमें जलका भ्रम हो जाता है। पिपासाकुलित मृगगण जल समझकर वहां आते हैं किंतु जल न पाकर दुःखी होते है। इससे उनकी तृष्णा—पिपासा और भी बढ जाती है। ऐन्द्रिय सुख भी मरीचिकाके ही समान हैं। लोग सुख की इच्छासे इन्द्रियोंके विषयोंका सेवन करते है। किंतु उनमें सुख न पाकर दुःखका ही अनुभव किया करते हैं। जिससे उनकी तृष्णा— विषयोंके सेवन करनेकी इच्छा और भी बढजाती है। अत एव इन सुखोंसे मैं तो निहाल होगया। अर्थात्–इन सुखों—सुखाभासोंको धिक्कार हो जिनमे कि दुःख ही अच्छे हैं। क्योंकि वे कर्मोंके लिये क्षयरोग के समान है। जिस प्रकार क्षयरोगके होजानेपर बलिष्ठ भी मनुष्य अवधि पाकर मर जाता है उसी प्रकार इन दुःखोंके निमित्तसे उदयमें आकर दुर्वार भी असाता वेदनीय प्रभृति कर्म निर्जीर्ण हो जाते है। जिससे कि आत्माका कुछ उपकार ही होता है। इसी लिये मैं दुःखोंसे खिन्न नहीं होता और सुखोंसे प्रसन्न नहीं होता, इनमें समताही धारण करता हू।

जो विचारशील हैं उनके लिये संसारके दुःसह दुःखोंका अनुभव रत्नत्रयकी प्रीतिका ही कारण हो जाता है, ऐसा उपदेश देते हैं:—

दवानलीयति न चेज्जन्मारामेत्र भीः सताम्।
तर्हि रत्नत्रयं प्राप्तुं त्रातुं चेतुं यतेत कः॥ ३३ ॥

औदायिक औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक ये चार प्रकारके तथा जीवन मरणादिक सभी वैभाविक भाव मुझसे भिन्न है, क्योंकि वे परनिमित्तक हैं, कर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाले हैं अत एव वे मेरे वास्तविक भाव नहीं हैं। शुद्ध निश्चय नयसे आत्माका वास्तविक स्वरूप पारणामिक भाव हैं। अत एव एक चेतनाके चमत्कार-अत्यंत अद्भुत स्वरूपको धारण करनेवाला मै इन वैभाविक भावोंमें रागद्वेष को किस तरह प्राप्त हो सकता हू, कभी नहीं हो सकता।

यहांसे नौ श्लोकोंमें भावसामायिकका ही विस्तारके साथ वर्णन करते हैः—

जीविते मरणे लाभेऽलाभे योगे विपर्यये।
वन्धावरौ सुखे दुःखे साम्यमेवाभ्युपैम्यहम् ॥ २७ ॥

जीवन मरण लाभ और हानि सयोग और वियोग तथा मित्र और शत्रु एव सुख और दुःख इन सब विषयोंमें मैं रागद्वेषको छोडकर समता भाव धारण करता हू। क्योंकि जो आत्मस्वरूपसे अपरिचित प्राणी हैं वेही जीवनकी आशा और मरणका भय किया करते हैं। उन्हे जीवन-वर्तमान आयुष्यका धारण इष्ट और मरण-आयुकर्मका पूर्ण हो जाना अनिष्ट मालुम होता है। किंतु चित्स्वरूपके अनुभवकी तरफ प्रवृत्त हुआ मैं इनमें राग-द्वेष किस तरह कर सकता हू। मुझे न तो जीवनमें राग है और न मरणमें द्वेष। इसी प्रकार न लाभमें प्रीति है न अलाभमें अप्रीति। न संयोग इष्ट है और न वियोग अनिष्ट। उपकारीमे प्रेम नहीं और अपकारीमे अमर्ष नहीं। किंबहुना सुखकी आशा और दुःखका भय भी छोडकर सभी इष्ट अनिष्ट विषयोंमें उन साम्य भाव धारण करता हूं।

जीवनकी आशा और मरणके भयके विषयमें वर्णन करते हैं।—

कायकारान्दुकायाह स्पृहयामि किमायुषे।
तद्दुःखक्षणविश्रामहेतोर्मृत्योर्बिभेमि किम् ॥ २८ ॥

आयु कर्म शरीररूपी जेलखानेमें जीवकी यथेष्ट गतिका प्रतिबंध करनेवाले और उसको निरंतर दुःखोंके

यह संसार एक प्रकारका उपवन है जिसमें कि मूढ पुरुषोंको प्रीति उत्पन्न करनेवाले विषय बहुलतासे पाये जाते हैं। किंतु सत्पुरुषोंकी बुद्धि इसमें दावानलका काम करती है। यदि वह ऐसा न करती होती तो फिर क्या कोई भी रत्नत्रयको प्राप्त करने और उसकी रक्षा तथा संचय करनेकेलिये प्रयत्न करता? नहीं, कोई भी नहीं करता।

भावार्थ—जिस प्रकार मनोहर भी उपवनमें रहनेवाले लोग दावाग्निके लगनेपर उसको प्रीतिका विषय न समझकर उस मार्गका ही अनुसरण करते हैं जिसपर कि चलनेसे शीघ्र ही उस वनसे मुक्ति हो सके। उसी प्रकार इस संसारमें रहनेवाले सत्पुरुष विवेकशक्तिके प्रकाशित होने पर इसको प्रीतिके अयोग्य समझकर मोक्षमार्गकी प्राप्ति रक्षा और वृद्धिकेलिये ही प्रयत्न किया करते हैं।

सम्पूर्ण सदाचारोंका शिरोमणि साम्यभाव है, अतएव इसीकी भावनामें आत्माको आसक्त रखनेका प्रयत्न करते हैं:—

सर्वसत्त्वेषु समता सर्वेष्वाचरणेषु यत्।
परमाचरणं प्रोक्तमतस्तामेव भावये ॥ ३४ ॥

पूर्वाचार्योंने कहा है कि सम्पूर्ण प्राणियों और सम्पूर्ण द्रव्योंमें रागद्वेषको छोडकर समभाव धारण करना समस्त आचरणोंमें उत्कृष्ट आचरण है। अतएव मैं और संकल्प विकल्पोंको छोडकर अपने हृदयमें इस साम्यभावको ही पुनः पुनः धारण करता हूं। इसीके अनुभवमें रत होता हूं।

इस पूर्वोक्त कथनसे यह निश्चय हो जानेपर कि भावसामायिकका अवश्य ही सेवन करना चाहिये, इस बातको प्रकट करते हैं कि इस सामायिक पर आरूढ आत्माका भाव कैसा होता है:—

मैत्री मे सर्वभूतेषु वैरं मम न केनचित्।
सर्वसावद्यविरतोस्मीऽति सामायिकं श्रयेत्॥ ३५ ॥

सम्पूर्ण प्राणियोंमें मेरा मैत्रीभाव है, मैं चाहता हूं कि संसारका कोई भी जीव किसी भी प्रकारसे दुःखी

न हो। मेरा किसी भी स्वपक्ष या परपक्षवालेके साथ किसी तरहका वैर-विरोध भी नहीं है। मैं सम्पूर्ण सावद्य-हिंसादिक पापोंसे युक्त मन वचन कायके व्यापारोंसे निवृत्त हूं।" इस तरहके भावोंको धारण करके मुमुक्षुओंको भाव सामायिक पर आरूढ होना चाहिये।

भावार्थ—भावसामायिकका स्वरूप पहले बताचुके हैं कि सम्पूर्ण जीवोंमें मैत्रीभाव धारण करना और अशुभ परिणामोंको छोडना भावसामायिक है। तो भी उसकी स्मृतिको दृढ बनानेकेलिये यहां फिरसे उसका उल्लेख कर दिया है।

विवेकी पुरुष भावसामायिकमें प्रवृत्त हो इसकेलिये उसका असाधारण माहात्म्य दिखाते हुए शिक्षा देते हैं:-

एकत्वेन चरन्निजात्मनि मनोवाक्कायकर्मच्युतेः
कैश्चिद्विक्रियते न जातु यतिवद्यद्वागपि श्रावकः।
येनार्हच्छ्रुतलिङ्गवानुपरिमग्रैवेयकं नीयतेऽ—
भव्योप्यद्भुतवैभवेत्र न सजेत् सामायिके कः सुधीः॥ ३६ ॥

इस सामायिकका माहात्म्य अद्भुत है। क्योंकि इसका सेवन करनेवाला यदि संयमी हो तब तो कहना ही क्या है। यदि श्रावक भी हो जो कि संयमका एकदेशरूपसे ही पालन किया करता है तो वह भी इसका सेवन करनेपर संयमीके ही समान बाह्य या अभ्यन्तर कैसे भी विकार उत्पन्न करनेवाले कारणोंके उपस्थित होनेपर कभी भी विकारको प्राप्त नहीं होता। वे कारण इसके हृदयपर रचमात्र भी अपना प्रभाव नहीं डाल सकते। क्योंकि सामायिक करनेवाला श्रावक मन वचन कायके व्यापारसे रहित होकर अपने नित्य चित्स्वरूपमें ही एक ज्ञायक भावके द्वारा प्रवृत्ति किया करता है। वह इच्छापूर्वक मन वचन कायके व्यापारमें प्रवृत्त नहीं होता। और आत्माका अनुभव करनेमें भी कर्तृत्व भोक्तृत्व भावको भी नहीं रखता। यद्यपि अन्तरङ्गमें उसके संयमका घात करनेवाले प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय रहा करता है तो भी उसके तज्जनित अविरतिरूप परिणाम बहुत ही

मन्द रहा करते है। उसका चित्त हिंसादिक किसी भी अवद्यकर्ममें आसक्त नहीं रहा करता। अतएव वह उपचारसे महाव्रती-मुनिके समान माना जाता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

सामायियह्मि दु कदे समणो इव सावओ हवदि जह्मा।
एदेण कारणेण दु बहुसो मामाइय कुज्जा॥

अर्थात्—सामायिकके करनेसे श्रावक मुनिके समान हुआ करता है। अतएव मुमुक्षुओंको बहुधा सामायिक ही करनी चाहिये।

इसके सिवाय अर्हन्त भगवान्के उपदिष्ट ग्यारह अङ्गका पाठी तथा निर्ग्रन्थ जिनलिङ्गका धारक अभव्य-द्रव्यलिङ्गी मुनिभी इस सामायिकके प्रसादसे ही उपरिम ग्रैवेयक तक-नव अनुदिशसे नीचेके विमानतक जाकर पहुंच सकता है। अतएव इस आश्चर्यकारी वैभवसे युक्त सामायिकमें भला ऐसा कौन सद्बुद्धि होगा जो कि आसक्त न हो? अर्थात् सभीको इसमें प्रवृत्त होना चाहिये।

इस प्रकार षडावश्यकोंमें सामायिकका वर्णन किया। अब नौ पद्योंमें चतुर्विंशतिस्तवका व्याख्यान करते है। जिसमें सबसे पहले उसका लक्षण बताते है:—

कीर्तनमर्हत्केवलिजिनलोकोद्द्योतधर्मतीर्थकृताम्।
भक्त्या वृषभादीनां यत्स चतुर्विंशतिस्तवः षोढा॥ ३७॥

अर्हत् केवली और जिन तथा लोकका उद्योत करनेवाले एवं धर्मतीर्थके प्रवर्तक श्री ऋषभादिक चौवीस भगवान्के गुणोंका भक्तिपूर्वक आख्यान-गुणगान या प्रशंसा करनेको चतुर्विंशतिस्तव कहते हैं। यह छह प्रकारका होता है, नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भाव।

जो ज्ञानावरणादि कर्मरूप अरि-शत्रुओंके तथा जन्म मरणरूप संसारके हन्ता-नाशकरनेवाले है। तथा जो पूजा वन्दना नमस्कार या सिद्धिगमनादिके लिये अर्ह-योग्य है उनको अर्हन्त कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि,

अरिहंति वंदणणमसणाणि अरिहंति पूयसक्कारं ।
अरिहंति सिद्धिगमणं अरिहंता तेण वुचति ॥

जो सम्पूर्ण द्रव्यों तथा उनकी समस्त पर्यायोंका हस्तामलकवत् साक्षात् अवलोकन करने वाले हैं उनको केवली कहते हैं । अनेक पर्यायोंके द्वारा गहन संसारके विषम व्यसनों—दुःखोंको प्राप्त करानेवाले कर्मोंको जिन्होंने जीत लिया है उनको जिन कहते है । जो अपने सर्वोत्कृष्ट ज्ञान भावके द्वारा सम्पूर्ण लोकको प्रकाशित करनेवाले—जाननेवाले हैं उनको लोकोद्योतक कहते हैं । जिन्होंने धर्म—वस्तुओंके यथार्थ स्वरूपका अथवा उत्तमक्षमादिकका तीर्थ—उपदेश किया है उनको धर्मतीर्थकृत् कहते हैं ।

लोक नौ प्रकारका माना है । यथाः—

णामं ठवणं दव्वं खेत्तं चिण्हं कसाय लोओ य ।
भवलोगभावलोग पज्जयलोगो य णादव्वो ॥

अर्थात्—नामलोक स्थापनालोक द्रव्यलोक क्षेत्रलोक चिन्हलोक कषायलोक भवलोक भावलोक और पर्यायलोक ।

संसारमें जितने पदार्थ हैं उनकी और उनकी पर्यायोंकी शुभाशुभ संज्ञाओंको नामलोक कहते हैं । सम्पूर्ण कृत्रिम और अकृत्रिम पदार्थोंको स्थापनालोक कहते हैं । तथा छह द्रव्योंके विस्तारको द्रव्यलोक कहते है । यह परिणामादिकी अपेक्षासे अनेक प्रकार होता है । यथा—

परिणामि जीवमुत्तं सपदेसं एय खेत्त किरिया य ।
णिचं कारण कत्ता सव्वगदिदरह्मि यपएसो ॥

अवस्था या आकारके बदलनेको परिणाम या पर्याय कहते हैं । यह दो प्रकारका होता है, व्यंजन पर्याय और अर्थ पर्याय । व्यंजन पर्यायकी अपेक्षासे जीव और पुद्गल दो द्रव्य परिणामी हैं, शेष चार द्रव्य अपरिणामी है । क्योंकि जीवका चारो गतियोंमें भ्रमण होता है और लकडी पत्थर मट्टी आदि पुद्गलोंका परिणमन प्रत्यक्ष

दीखता है। शेष चार द्रव्योंमें इस तरहका भ्रमण या परिणमन नहीं पाया जाता । अर्थपर्यायकी अपेक्षासे छहो द्रव्य परिणामी हैं। जीवत्वकी अपेक्षासे एक आत्मद्रव्य ही जीव है। क्योंकि उसका चेतना लक्षण उसीमें पाया जाता है। शेष पांच द्रव्य ज्ञाता दृष्टा नहीं है इसलिये उनको अजीव कहते है। जिसमें रूप रस गंध स्पर्श पाया जाता है उसको मूर्त कहते हैं। ऐसा द्रव्य एक पुद्गल ही है। शेष पांच द्रव्य अमूर्त हैं। इसी प्रकार जीवादिक पांच द्रव्य सप्रदेश हैं। क्योंकि उनमें अनेक प्रदेश पाये जाते है। काल द्रव्य अप्रदेशी है। क्योंकि वह परमाणुरूप ही रहता है, उसका प्रचयबन्ध नहीं होता। धर्म अधर्म और आकाश इनके प्रदेश कभी भी विघटित नहीं होते अत एव ये एक द्रव्य है। बाकीके संसारी जीव पुद्गल और कालद्रव्य अनेकरूप हैं। क्षेत्र शब्दसे एक आकाश द्रव्य ही लिया जाता है। क्योंकि वही सबका आधार है, उसीमें सब द्रव्य ठहरते है, औरोंमें नहीं। अत एव बाकीके पांच द्रव्योंको अक्षेत्र कहते हैं। जिसके निमित्तसे पदार्थ एक स्थानसे दूसरे स्थानतक पहुंचता है उसको क्रिया कहते हैं। यह जीव और पुद्गलमें ही पाई जाती है। इसलिये ये दो पदार्थ ही सक्रिय है, बाकीके अक्रिय हैं। धर्म अधर्म आकाश और कालद्रव्य नित्य हैं। क्योंकि उनकी व्यंजन पर्याय कभी भी विघटित नहीं होती। शेष जीव और पुद्गल द्रव्य अनित्य है। जीवके सिवाय पांच द्रव्य कारणरूप है। क्योंकि वे जीवके प्रति उपकार किया करते है। जीव द्रव्य कार्य करनेमें स्वतत्र है इसलिये वह अकारण है। जीव अपने शुभाशुभ कर्मोंके फलका भोक्ता है। अतएव वह कर्त्ता है, शेष द्रव्य अकर्त्ता हैं। आकाश द्रव्य सर्वगत है, बाकीके पांच द्रव्य असर्वगत है। इसी प्रकार द्रव्य लोकके विषयमें जीवादिकका अनेक धर्मोंकी अपेक्षासे व्याख्यान किया है।

अधोलोक तिर्यग्लोक और ऊर्ध्वलोकके आकाशका प्रमाण जितना बताया है उसको क्षेत्र लोक कहते हैं। जिनके द्वारा द्रव्य गुण या पर्यायकी सिद्धि होती है उसको चिन्हलोक कहते है। तथा उदयमें आये हुए क्रोधादिकको कषायलोक कहते हैं। और नारकादि गतियोंमें प्राप्त जीवोंको भवलोक, एवं तीव्र रागद्वेषादि परिणामोंको भाव लोक कहते है। पर्यायलोक चार प्रकारका है, द्रव्य गुणपर्याय, क्षेत्रपर्याय, भवानुभाव, और भावपरिणाम। जैसा कि कहा भी है कि:—

दव्वगुणखेत्तपज्जय भवाणुभावो य भावपरिणामो।
जाण चउव्विहमेव पज्जयलोग समासेण ॥

जीवके ज्ञानादिक पुद्गलके रूपादिक धर्मके गतिहेतुत्वादिक अधर्मके स्थितिहेतुत्वादिक और आकाशके अवगाहहेतुत्वादिक तथा कालके वर्तना आदि गुण प्रसिद्ध है। इन्हीको द्रव्य गुणपर्याय लोक कहते हैं। रत्न प्रभा आदि पृथिवियों और जम्बूद्वीपादिक द्वीपों तथा ऋजुविमानादि विमानोंको क्षेत्रपर्यायलोक कहते हैं। आयुके जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेदोंको भवानुभाव, और जिनसे कि कर्मोंका ग्रहण या परित्याग हुआ करता है उन असंख्यात लोक प्रमाण शुभाशुभ परिणामोंको भाव परिणाम लोक कहते हैं।

इस प्रकार लोकके नौ भेद हैं। अपने सम्पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञानके द्वारा जिन्होंने इस नौ भेद रूप लोकको प्रकाशित किया है उन वर्तमान चौवीस तीर्थंकरोंके, अथवा भूत भविष्यत् वर्तमान सभी अर्हन्तोंके गुणोंका भक्ति पूर्वक महत्त्ववर्णन करनेको चतुर्विंशतिस्तव कहते हैं।

इसके नामादिक छह भेदोंको व्यवहार और निश्चयकी अपेक्षासे दो भागोंमें विभक्त करके बताते हैं:—

स्युर्नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालाश्रयाः स्तवाः।
व्यवहारेण पञ्चार्थादेको भावस्तवोऽर्हताम् ॥ ३८ ॥

चतुर्विंशतिस्तवके छह भेद हैं—नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भाव। इनमेंसे आदिके पांच भेद व्यवहार नयकी अपेक्षासे और अन्तका एक भावस्तव निश्चय नयकी अपेक्षासे है।

इनका विशेष वर्णन करनेकेलिये क्रमानुसार पहले नामस्तवका स्वरूप बताते हैं:—

अष्टोत्तरसहस्रस्य नाम्नामन्वर्थमर्हताम्।
वीरान्तानां निरुक्तं यत्सोऽत्र नामस्तवो मतः ॥ ३९ ॥

वृषभादिक महावीर पर्यन्त चौवीस तीर्थंकरोंका अथवा सभी अर्हन्तोंका एक हजार आठ नामोंसे अर्थके अनुसार निर्वचन करना इसको नामस्तव कहते है।

भावार्थ—जिन भगवान्के अन्वर्थ नामोंसे उल्लेख करनेको नामस्तव कहते है। जैसा कि महापुराणके २५ वें पर्व में " श्रीमान् स्वयंभूर्वृषभः शंभवः शंभुरात्मभू । " से लेकर " धर्मपालो जगत्पालो धर्मसाम्राज्यनायकः । " तक के श्लोकोंमें एक हजार आठ नामोंसे किया गया है। इसी तरह और भी आगमके अनुसार अन्वर्थताका विचार करना चाहिये। जैसा कि—

ध्यानद्रुघणनिर्भिन्नघनघातिमहातरु ।
अनन्तभवसंतानजयादासीरनन्तजित् ॥
त्रैलोक्यनिर्जयावाप्तदुर्दर्पमतिदुर्जयम् ।
मृत्युराज विजित्यासीज्जिन मृत्युञ्जयो भवान् ॥ इत्यादि ।

इस नामस्तको व्यवहारनयकी अपेक्षासे जो कहा है उसका कारण यह है कि इसके द्वारा जिस परमात्माका वर्णन किया जाता है वह वस्तुतः वचनके अगोचर है। जैसा कि आगममें कहा भी है कि:—

गोचरोऽपि गिरामासां त्वमवाग्गोचरो मत ।
स्तोतुस्तथाप्यसंदिग्ध त्वत्तोभीष्टफल भवेत् ॥

तथा,—
सज्ञासज्ञद्वयावस्थाव्यतिरिक्तामलात्मने ।
नमस्ते वीतसज्ञाय नमः क्षायिकदृष्टये ॥

यह नामस्तव सामान्य और विशेष दोनों ही प्रकारसे किया जाता है। चोवीस तीर्थंकरोंका या भूत भविष्यत् सभी तीर्थंकरोंका समुदायरूपसे स्तवन करना इसको सामान्य नामस्तव कहते है। जैसे कि " थोस्सामि जिणवरिंदे " तथा " चउवीस तित्थयरे " इत्यादि। भिन्न भिन्न एक एक तीर्थंकरका नाम लेकर निर्वचन करना इसको विशेष नामस्तव कहते हैं। जैसे कि " ऋषभोऽजितनामाच " तथा "चन्द्रप्रभ चन्द्रमरीचिगौर" इत्यादि।

१— बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्त्वं शंकरोऽसि भुवनत्रयशंकरत्वात् ।
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानाद् व्यक्त त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोसि ॥
इत्यादि और भी स्वय समझलेने चाहिये

स्थापनास्तवका स्वरूप बताते हैं:—

कृत्रिमाकृत्रिमा वर्णप्रमाणायतनादिभिः ।
व्यावर्ण्यन्ते जिनेन्द्रार्चा यदसौ स्थापनास्तवः ॥ ४० ॥

कृत्रिम—किसी कर्ता करण आदिके द्वारा बनी हुई तथा अकृत्रिम जो बिना किसी कर्त्ता करणके स्वयं बनी हों ऐसी जिनप्रतिमाओंका वर्ण—रूप, प्रमाण—लंबाई चौडाई उंचाई, तथा आयतन—मंदिर आदिकी अपेक्षा वर्णन करनेको स्थापना स्तव कहते हैं।

द्रव्यस्तवका स्वरूप बताते हैं:—

वपुर्लक्ष्मगुणोच्छ्रायजनकादिमुखेन या ।
लोकोत्तमानां संकीर्तिश्चित्रो द्रव्यस्तवोस्ति सः ॥ ४१ ॥

तीर्थंकर भगवान्के शरीर चिन्ह गुण उत्सेध और माता पिता आदिके द्वारा अनेक प्रकारसे और आश्चर्यकारी महत्व वर्णन करनेको द्रव्यस्तव कहते हैं।

भगवानके शरीरकी सुंदरताका वर्णन:—

सनवव्यञ्जनशतैरष्टाग्रशतलक्षणैः ।
विचित्रं जगदानन्दि जयतादर्हतां वपुः ॥

तथा— जिनेन्द्रान्नौमि तान्येषां शारीराः परमाणवः ।
विद्युतामिव मुक्तानां स्वयं मुञ्चन्ति संहतिम् ॥

अर्थात नौ सौ व्यंजन और एकसौ आठ लक्षणोंके द्वारा अपूर्व सौन्दर्यको धारण करनेवाला भगवानका शरीर सदा जयवंता रहो। मैं उन अर्हतोंको नमस्कार करता हूं कि जिनके मुक्तिलाभ करते ही उनके शरीरके परमाणु आपसके सम्बन्धको छोडकर विजलीकी तरह स्वयं ही आकाशमें विलीन हो जाते हैं।

१—इनके लक्षण और नामादिक महापुराणके पर्व १५ में बताये है। वहांपर देखलेने चाहिये।

इसी प्रकार और भी समझलेना चाहिये। भगवानके बैल हाथी आदि जो चिन्ह बताये है उनके द्वारा वर्णन करनेको भी द्रव्यस्तव कहते है। यथा—

गौर्गजोश्च कपि कोक सरोज स्वस्तिकः शशी।
मकर श्रीयुतो वृक्षो गण्डो महिषशूकरौ॥
सेधा वज्र मृगश्छागः पाठीनः कलशस्तथा।
कच्छपश्चोत्पल शखो नागराजश्च केशरी॥
इत्येतान्युक्तदेशेषु लाञ्छनानि प्रयोजयेत्।

वृषभादि महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरोंके चिन्होंके नाम इस प्रकार हैं—बैल, हाथी, घोडा, बन्दर, कोक, कमल, स्वस्तिक, चन्द्रमा, मकर, श्रीवृक्ष, गेण्डा, भैसा, शूकर, सेंढी, वज्र, हिरण, बकरा, मत्स्य, कलश, कच्छप, श्वेत कमल, शख, सर्प, सिंह।

गुणशब्दके द्वारा रूपादिक तथा निःस्वेदत्वादिक दोनों ही लिये जाते हैं। अत एव इनके द्वारा भगवान् का वर्णन करना भी द्रव्यस्तव समझा जाता है। निःस्वेदत्वादिके द्वारा जैसे कि—

नि स्वेदत्वमनारत विमलता सस्थानमाद्य शुभ,
तद्वत्सहनन भृशं सुरभिता गौरूप्यमुच्चैः परम्।
सौलक्षण्यमनन्तवीर्यमुदितिः पथ्या प्रियाऽसृक् च यः,
शुभ्र चातिशया दशेह सहजा सन्त्वर्हदङ्गानुगा॥

अर्थात् भगवान्के शरीरमें स्वभावसे ही दश अतिशय रहा करते हैं। १ उनके शरीरमें कभी भी पसीना नहीं आता, २ रे किसी भी प्रकारका मल नहीं होता, ३ रे उनका आकार चारो तरफसे समान रहा करता है, अर्थात् सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार शरीरका और उसके आङ्गोपाङ्गोंका जितना प्रमाण रहना चाहिये, भगवान्के शरीर

१—यैः शातरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं, इत्यादि। इसी तरह चिन्ह और गुणादिकके विषयमें भी समझना चाहिये।

और आङ्गोपाङ्गोंका उतना ही प्रमाण रहा करता है। ४ थे उनके वज्रर्षभनाराच संहनन रहा करता है। उनके शरीरमें हड्डी कीली और वेष्टन तीनों ही वज्रके या तत्तुल्य रहा करते हैं। ५ वें अत्यंत सुगंध, और छट्ठे उत्कृष्ट सौन्दर्य, तथा सातवें उनके शरीरमें १००८ लक्षण और व्यंजन पाये जाते हैं। ८ वें उनका वीर्य अनन्त रहता है। तथा ९ वें उनके वचन लोगोंके लिये हितरूप और प्रिय हुआ करते हैं। १० वें उनके शरीरका रक्त दूधके समान श्वेतवर्ण हुआ करता है।

शरीरके वर्ण द्वारा जैसे कि:—

श्रीचन्द्रप्रभनाथपुष्पदशनौ कुन्दावदातच्छवी,
रक्ताम्भोजपलाशवर्णवपुषौ पद्मप्रभद्वादशौ।
कृष्णौ सुव्रतयादवौ च हरितौ पार्श्वः सुपार्श्वश्च वै,
शेषाः सन्तु सुवर्णवर्णवपुषो मे षोडशाऽघच्छिदे॥

चौवीस तीर्थंकरोंमेंसे आठवें चन्द्रप्रभ नाथ और नौवें पुष्पदन्त स्वामी कुन्दपुष्पके समान गौर वर्ण हैं और पद्मप्रभ भगवान् तथा वासुपूज्य भगवानका शरीर रक्तकमलके समान अथवा ढाकके फूलके समान लाल वर्णका है। सुव्रतनाथ और सुपार्श्वनाथ स्वामीका शरीर हरित वर्ण है। बाकीके सोलह तीर्थ करोंका शरीर सुवर्णके समान है।

भगवानकी उचाई आदिका वर्णन करना, जैसे कि:-

नाभेयस्य शतानि पञ्च धनुषा मानं परं कीर्तितं,
सद्भिस्तीर्थकराष्टकस्य निपुणं पञ्चाशदूनं हि तत्।
पञ्चाना च दशोनकं भुवि भवेत्पञ्चोनकं चाष्टके,
हस्ताः स्युर्नवसप्त चान्त्यजिनयोर्येषां प्रमा नौमि तान्॥

आदिनाथ स्वामीके शरीरकी उंचाई पांचसौ धनुष, अजितनाथकी ४५०धनुष, संभवनाथ स्वामीकी ४०० धनुष, अभिनदन स्वामीकी ३५० धनुष, सुमतिनाथकी ३०० धनुष, पद्मप्रभस्वामीकी २५० धनुष, सुपार्श्वनाथकी २०० धनुष, चन्द्रप्रभस्वामीकी १५० धनुष, पुष्पदंत स्वामीकी १०० धनुष, शीतलनाथकी ९० धनुष, श्रेयान्सनाथ

की ८० धनुष, वासुपूज्यस्वामीकी ७० धनुष, विमलनाथकी ६० धनुष, अनन्तनाथकी ५० धनुष, धर्मनाथकी ४५ धनुष, शान्तिनाथकी ४० धनुष, कुन्थुनाथकी ३५ धनुष, अरहनाथकी ३० धनुष, मल्लिनाथकी २५ धनुष, मुनिसुव्रतनाथकी २० धनुष, नमिनाथकी १५ धनुष, नेमिनाथकी १० धनुष, पार्श्वनाथकी ९ हाथ, और वर्धमान स्वामीकी काय ७ हाथ है। इसप्रकार कायप्रमाणके धारण करनेवाले जिन भगवान्‌को मैं नमस्कार करता हूं।

मातापिता आदिमेंसे माताओंके द्वारा भगवान्‌का स्तवन करना, जैसे कि:—

> वंश' क्षायिकदृक् समिद्धसुधिया योस्मिन्मनूनामभूद्,
> ये चेक्ष्वाकुकुरूग्रनाथहरियुग्वंशा पुरा वेधसा।
> आधानादिविधिप्रबन्धमहिता सृष्टास्तदुत्स्थार्यभू,—
> भर्तृस्वामिकजीविता सुकुलजा जैन्यो जयन्त्यम्बिका ॥

क्षायिक सम्यग्दर्शनके धारण करनेवाले और उत्कृष्ट समीचीन ज्ञानके धारक कुलकरोंके वंशमें अथवा जिन वंशोंकी पूर्व कालमें आदि ब्रह्मा—आदीश्वर भगवान्‌के द्वारा स्थापना हुई और उन्हींके द्वारा जिनमें गर्भाधानादि संस्कार क्रियाओंके द्वारा महनीयता प्राप्त हो चुकी है ऐसे इक्ष्वाकु कुरु उग्र नाथ हरि आदि वंशोंमेंसे किसीमें भी उत्पन्न होनेवाले तथा इस आर्यभूमिके भर्त्ता—महान् सम्राट् जिनके स्वामी हैं। अर्थात जो ऐसे उत्कृष्ट कुलीन राजाओंकी प्राणवल्लभाएं हैं और जो स्वयं भी ऐसे ही उत्तम कुलोंमें उत्पन्न हुई हैं ऐसी जिनेन्द्रदेवकी माताएं सदा जय-
वंती रहो।

उपर्युक्त श्लोकमें जनक शब्दके साथ आदि शब्द जो दिया है उससे माताके स्वप्न शरीरकी कान्ति दिव्य-
ध्वनि विभूति और दीक्षा वृक्षादिके द्वारा किये गये भगवान्‌के कीर्तनको भी द्रव्यस्तव कहते हैं। इनमेंसे स्वप्नोंके
द्वारा जैसे कि:—

> मात्रा तीर्थङ्कराणा परिचरणपरश्रीप्रभृत्योद्भवादि—
> श्रीसमेदाप्तदूता रजनिविरमणे स्वप्नमाजेक्षिता ये।
> श्रीगोक्षेभारिमाल्यक्षशशिरविझषकुम्भाब्जपण्डाब्धिपीठ—

घोयानाशीविषौकोवसुचयशिखिन' सन्तु ते मङ्गलं नः ॥

जिनकी परिचर्यामें लक्ष्मी आदि देवियां रहा करती हैं ऐसी तीर्थंकरोंकी माताओंके द्वारा रात्रिके अंतिम प्रहरमें देखे गये, और जो कि पुरश्चारी दूतके समान भगवान्‌के गर्भादिक निर्वाण पर्यन्त पांचो कल्याणोंको पहलेसे ही सूचित करने वाले है, ऐसे सोलह स्वप्न अर्थात् ऐरावतके समान श्वेत हाथी, उत्कृष्ट बैल, सिंह, लक्ष्मी, दोमालाएं चद्रमा, सूर्य, मीनयुगल, दो कलश, कमल वन, सरोवर, सिंहासन, देवविमान, नागमन्दिर, रत्नराशि, और निर्धूम अग्नि, तुमको सदा मंगल कारी हों।

इसी प्रकार कान्ति दिव्यध्वनि आदिके द्वारा भी समझना चाहिये। जैसे कि:—

कान्त्येव स्नपयति ये दश दिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये
धामोद्दाममहस्विना जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयो साक्षात्क्षरन्तोमृत
वन्द्यास्तेष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वरा' सूरय ॥
येभ्यर्चिता मुकुटकुण्डलहाररत्नै शक्रादिभि सुरगणै स्तुतपादपद्मा।
ते मे जिना प्रवरवंशजगत्प्रदीपास्तीर्थङ्करा. सततशान्तिकरा भवन्तु ॥

जो अपनी अद्भुत कांतिके द्वारा ऐसे मालुम पडते है मानो ये उसके द्वारा दशों दिशाओंका अभिषेक ही कर रहे है, और जो अपने तेजके द्वारा महान् तेजस्वियोंके भी तेजको दबा देते हैं, जो अपने अद्भुतरूप के द्वारा समस्त लोगोंके मनका हरण करनेवाले है, और जो अपनी दिव्य वाणीके द्वारा लोगोंके कानोंमें मानों साक्षात् सुखकर अमृत ही चुआ देते है, ऐसे १००८ लक्षणोंके धारक धर्म तीर्थके प्रवर्तक भगवान्‌की ही तुम सब लोगोंको वन्दना करनी चाहिये। मुकुट कुंडल हार और रत्नमय भूषणोंसे भूषित इन्द्र तथा देवगण जिनकी पूजा किया करते हैं, और जिनके चरण कमलोंकी स्तुति किया करते है, ऐसे सर्वोत्कृष्ट वशोंमें उत्पन्न होनेवाले और जो-जगत्‌के जीवोंका अज्ञानरूपी अंधकार दूर करनेकेलिये उत्कृष्ट दीपकके समान है, वे तीर्थंकर भगवान् हमारे लिये सदा शान्तिके कारण हों।

चतुर्विंशतिस्तवके जो पूर्वोक्त नामस्तवादिक भेद गिनाये हैं उनमें वास्तविक स्तव भावस्तव ही है। क्योंकि उसमें गुणोंके द्वारा साक्षात् केवलियोंका वर्णन किया जाता है। और वस्तुतः केवलियों और उनके गुणोंमें कोई अन्तर नहीं है। जैसा कि कहा भी है कि:—

त णिच्छएण जुजइ ण सरीरगुणेहिं हुति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणइ जो सो सच्च केवली थुणइ॥

अर्थात् केवलियोंके शारीरिक गुणोंका वर्णन करनेसे वस्तुतः केवलियोंका स्तवन नहीं समझा जाता, किंतु जो उनके गुणोंका वर्णन है वही सचा केवलियोंका स्तवन है।

ऊपर इस स्तवरूप आवश्यकके दो भेद बताये हैं, एक व्यवहार दूसरा निश्चय। इन दोनोंके फलमें क्या अतर है उसको बताते हुए नित्य ही उसमें प्रवृत्त रहनेकी प्रेरणा करते हैं:—

लोकोत्तराभ्युदयशर्मफलां सृजन्त्या,
पुण्यावलीं भगवतां व्यवहारनुत्या।
चित्तं प्रसाद्य सुधियः परमार्थनुत्या,
स्तुत्ये नयन्तु लयमुत्तमबोधिसिद्ध्यै॥ ४५॥

नामादिरूप पांच प्रकारके व्यवहार स्तवनसे उस पुण्यश्रेणीका संचय होता है जिसके कि उदयसे जीवोंको लोकोत्तर—अलौकिक अभ्युदयों—पूज्यता धन आज्ञा और ऐश्वर्य प्रभृतियों और अनेक प्रकारके सुखोंकी प्राप्ति हुआ करती है। तथा पारमार्थिक भावस्तवनसे उत्तम मोक्षमार्ग—रत्नत्रयकी सिद्धि हुआ करती है। अत एव जो विवेकी इस मोक्षमार्गको सिद्ध करना चाहते हैं उन्हें भगवानकी व्यवहारस्तुतिके द्वारा अपना चित्त निर्मल बनाकर उसे शुद्धचित्स्वरूपमें लीन बनाना चाहिये।

भावार्थ—मुमुक्षुओंको अभीष्टसिद्धि–निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्ति शुद्ध आत्माका ध्यान किये विना नहीं हो

तद्भावतराद्युद्धक्रियाद्दसस्य कीर्तनम् ॥ ४३ ॥

भगवान्‌के गर्भ जन्म तप ज्ञान और निर्वाण कल्याणकोंकी प्रशस्त क्रियाओंसे जो महत्ताको प्राप्त हो चुका है ऐसे समयका वर्णन करनेको कालस्तव कहते है। अर्थात् तीर्थंकरोंके पांचों कल्याणक सम्बन्धी समयोंके महत्वके वर्णन करनेका नाम कालस्तव है।

भावस्तवका स्वरूप बताते है—

वर्ण्यन्तेनन्यसामान्या यत्कैवल्यादयो गुणाः।
भावकैर्भावसर्वस्वदिशां भावस्तवोस्तु सः ॥ ४४ ॥

जीवाजीवादिक सात तत्त्व अथवा नौ पदार्थोंको भाव कहते हैं। इन भावोंके सर्वस्व-द्रव्य गुण पर्यायरूप संपत्तिका यथावत् वर्णन करनेवाले अर्हन्त भगवान्‌के असाधारण-जो अन्य किसी भी देवादिकमें नहीं पाये जाते ऐसे अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन प्रभृति गुणोंके भव्योंद्वारा किये गये वर्णनको भावस्तव कहते हैं। जैसे कि

विवर्तै स्वैर्द्रव्यं प्रतिसमयमुद्यद्व्ययदपि,
स्वरूपादुल्लोलैर्जलमिव मनागप्यविचलत्।
अनेहोमाहात्म्याहितनवनवीभावमखिलं,
प्रभिन्वाना' स्पष्ट युगपदिह न. पान्तु जिनपा' ॥

जिस प्रकार जलमें प्रतिक्षण कल्लोलें उठती रहतीं और विलीन भी होती रहती हैं तो भी वह स्वरूपतः निश्चल ही रहता है। इसी प्रकार द्रव्योंमें भी प्रति समय अनेक पर्यायें उत्पन्न होतीं और नष्ट भी होती रहती है फिर भी वे द्रव्य अपने स्वरूपकी अपेक्षा रंचमात्र भी चलायमान नहीं होते—सदा एकस्वरूप—नित्य ही रहते हैं। इस प्रकार कालके माहात्म्यसे जिसमें प्रतिक्षण उत्तरोत्तर नवीनता प्राप्त होती रहती है ऐसे सम्पूर्ण जगत्को युगपत् साक्षात् देखनेवाले जिनभगवान् हमारी रक्षा करो।

चतुर्विंशतिस्तवके जो पूर्वोक्त नामस्तवादिक भेद गिनाये है उनमें वास्तविक स्तव भावस्तव ही है। क्योंकि उसमें गुणोंके द्वारा साक्षात् केवलियोंका वर्णन किया जाता है। और वस्तुतः केवलियों और उनके गुणोंमें कोई अन्तर नहीं है। जैसा कि कहा भी है कि:—

त णिच्छएण जुजइ ण सरीरगुणेहिं हुति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणइ जो सो सच्च केवली थुणइ ॥

अर्थात् केवलियोंके शारीरिक गुणोंका वर्णन करनेसे वस्तुतः केवलियोंका स्तवन नहीं समझा जाता, किंतु जो उनके गुणोंका वर्णन है वही सच्चा केवलियोंका स्तवन है।

ऊपर इस स्तवरूप आवश्यकके दो भेद बताये हैं, एक व्यवहार दूसरा निश्चय। इन दोनोंके फलमें क्या अतर है उसको बताते हुए नित्य ही उसमें प्रवृत्त रहनेकी प्रेरणा करते हैं:—

लोकोत्तराभ्युदयशर्मफलां सृजन्त्या,
पुण्यावलीं भगवतां व्यवहारनुत्या।
चित्तं प्रसाद्य सुधियः परमार्थनुत्या,
स्तुत्ये नयन्तु लयमुत्तमबोधिसिद्ध्यै ॥ ४५ ॥

नामादिरूप पाच प्रकारके व्यवहार स्तवनसे उस पुण्यश्रेणीका संचय होता है जिसके कि उदयसे जीवोंको लोकोत्तर—अलौकिक अभ्युदयों—पूज्यता धन आज्ञा और ऐश्वर्य प्रभृतियों और अनेक प्रकारके सुखोंकी प्राप्ति हुआ करती है। तथा पारमार्थिक भावस्तवनसे उत्तम मोक्षमार्ग—रत्नत्रयकी सिद्धि हुआ करती है। अत एव जो विवेकी इस मोक्षमार्गको सिद्ध करना चाहते है उन्हें भगवानकी व्यवहारस्तुतिके द्वारा अपना चित्त निर्मल बनाकर उसे शुद्धचित्स्वरूपमे लीन बनाना चाहिये।

भावार्थ—मुमुक्षुओंको अभीष्टसिद्धि-निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्ति शुद्ध आत्माका ध्यान किये विना नहीं हो

सकती। और इस ध्यानकी निश्चलता निर्विकल्प मनसे ही हो सकती है। तथा मनमें निर्विकल्पता व्यवहारस्तुतिके द्वारा ही उत्पन्न हुआ करती है। अत एव जो मुमुक्षु अपना अभीष्ट सिद्ध करना चाहते हैं उन्हें पहले व्यवहार स्तुतिके द्वारा अपना मन शुद्ध चित्स्वरूपके ध्यानमें लीन होने योग्य बनालेना चाहिये। तभी वे शुद्धात्माके ध्यान में स्थिर होकर आत्मस्वरूप निश्चयरत्नत्रयको प्राप्त कर सकते हैं।

इस प्रकार चतुर्विंशतिस्तव रूप आवश्यकका वर्णन करके, अब क्रमानुसार ग्यारह पद्योंमें वन्दनाका व्याख्यान करते हैं। जिसमें सबसे पहले वन्दनाका लक्षण बताते हैं:—

वन्दना नतिनुत्याशीर्जयवादादिलक्षणा।
भावशुद्ध्या यस्य तस्य पूज्यस्य विनयक्रिया॥ ४६॥

अर्हत सिद्ध आचार्य आदिकोंमेंसे अथवा वृषभादि चौबीस तीर्थंकरोंमेंसे किसी भी पूज्य आत्माका विशुद्ध परिणामोंसे नमस्कार स्तुति आशीर्वाद जयवाद आदि स्वरूप विनय कर्म करनेको वन्दना कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

कर्मारण्यहुताशानां पञ्चानां परमेष्ठिनाम्।
प्रणतिर्वन्दनाऽवादि त्रिशुद्धा त्रिविधा बुधैः॥

अर्थात्—कर्मरूप अरण्यको भस्म करनेके लिये अग्निके समान पांचो परमेष्ठियोंको नमस्कार करनेका नाम वन्दना है। इसके मनवचन कायकी शुद्धिकी अपेक्षासे तीन भेद माने हैं।

ऊपरके श्लोकमें विनय कर्मका नाम वन्दना बताया है। उसमें यह नहीं मालुम होता कि विनय किसको कहते हैं। अत एव उसका स्वरूप बताते हैं:—

हिताहितासिलुप्त्यर्थं तदङ्गानां सदाञ्जसा।
यो माहात्म्योद्भवे यत्नः स मतो विनयः सताम्॥ ४७॥

हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार करनेकोलिये उसके कारणोंका जिनसे कि हितकी प्राप्ति और अहितका उच्छेद हो सकता है ऐसे अर्हत सिद्धादिक अथवा प्रवचनादिक माहात्म्यको प्रकट करनेके लिये सदा निष्कपट प्रयत्न करनेकाही नाम सत्पुरुषोंने विनय कहा है।

विनयके पांच भेदोंका नाम गिनाकर यह बताते हैं कि वन्दनारूप आवश्यकके प्रकरणमें विनयशब्दसे मोक्षहेतुक विनयका ही ग्रहण करना चाहिये। और इसीलिये जो निर्जरार्थी हैं उन्हें इस विनयके पांचवें भेद मोक्षार्थ विनयका अवश्य पालन करनेके लिये उपदेश देते हैं:—

लोकानुवृत्तिकामार्थभयनिःश्रेयसाश्रयः।
विनयः पञ्चधावश्यकार्योन्त्यो निर्जरार्थिभिः ॥ ४८ ॥

विनय पांच प्रकारका है, लोकानुवृत्तिहेतुक, कामहेतुक, अर्थहेतुक, भयहेतुक, और मोक्षहेतुक। किंतु जो निर्जरार्थी हैं उन्हें इन पांच भेदोंमेंसे अंतिम भेद मोक्षहेतुक विनयका अवश्य ही पालन करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

लोकानुवर्तनाहेतुस्तथा कामार्थहेतुक ।
विनयो भयहेतुश्च पञ्चमो मोक्षसाधन ॥
उत्थानमञ्जलि पूजाऽतिथेरासनढौकनम् ।
देवपूजा च लोकानुवृत्तिकृद्विनयो मत ॥
भाषाछन्दानुवृत्ति च प्रदान देशकालयोः ।
लोकानुवृत्तिरर्थाय विनयश्चाञ्जलिक्रिया ॥
कामतत्रे भये चेव ह्येव विनय इष्यते ।
विनय पञ्चमो यस्तु तस्यैषा स्यात् प्ररूपणा ॥

अर्थात् विनय पांच हेतुओंसे हुआ करता है, अत एव उसके पांच भेद हैं। एक तो वह कि जिसमें लोकोंका अनुवर्तन किया जाता है, दूसरा वह कि जो कामके प्रयोजनसे किया जाता है, तथा तीसरा वह कि जो अर्थ—धनकेलिये

हुआ करता है, और चौथा वह जो कि भयके निमित्तसे करना पडता है, एव पांचवां वह जो कि मोक्षको सिद्ध करनेके उद्देश्यसे किया जाता है। इसीलिये उनके ये पांच अन्वर्थ नाम है।— लोकानुवर्तनाहेतुक, कामहेतुक, अर्थहेतुक, भयहेतुक, और मोक्षहेतुक।

अतिथिके समक्ष खडे होना, हाथ जोडना और उनकी पूजा करना, तथा उनको ऊंचा आसन देना आदि, और देवपूजा करना आदि भी लोकानुवर्तनाहेतुक विनय माना गया है। धनके उद्देश्यसे भाषाका स्वतन्त्र अनुवर्तन करना, देश और कालका विनियोग करना, तथा लोकोंका अनुवर्तन करना और हाथ जोडना आदि अर्थहेतुक विनय है। इसी प्रकार काम और भयके विषयमें भी विनय कर्म हुआ करता है। पांचवां मोक्षविनय है जिसका कि इस प्रकरणमें निरूपण किया गया है। यह मोक्षविनय भी दर्शनविनय आदिके भेदसे पांच प्रकारका है, जैसा कि पहले लिखा जा चुका है।

नामादिनिक्षेपके भेदसे वन्दनाके छह भेदोंका उल्लेख करते हैं:—

नामोच्चारणमर्चाङ्गकल्याणावन्यनेहसाम्।
गुणस्य च स्तवाश्चैकगुरोर्नामादिवन्दना ॥ ४९ ॥

वन्दनाके नामादि निक्षेपोंकी अपेक्षासे छह भेद है। नाम वन्दना, स्थापनावन्दना, द्रव्यवन्दना, कालवन्दना, क्षेत्रवन्दना, और भाववन्दना। अर्हतादिकोंमेंसे किसी भी एक पूज्य पुरुषके नामका उच्चारण करनेको अथवा स्तुति आदि करनेको नामवंदना कहते है। जिनप्रतिमाकी स्तुति करनेको स्थापना वन्दना कहते है। भगवान् के शरीरका स्तवन करना इसको द्रव्यवन्दना कहते हैं। पंच कल्याणकोंमेंसे किसी भी कल्याणकके कालकी स्तुति करना इसको कालवन्दना कहते है। जहांपर भगवान्का कोई भी कल्याण हुआ हो उस स्थानकी स्तुति करनेको क्षेत्रवन्दना कहते हैं। और भगवान्के गुणोंका स्तवन करना इसको भाववन्दना कहते हैं।

अर्हतादिकोंके सिवाय और भी जो वन्द्य पुरुष हैं उनको बताते हुए इस बातका निर्देश करते है कि वन्दना करनेवाला साधु कैसा होना चाहिये, अथवा उसको किस तरह वन्दना करनी चाहिये।

सूरिप्रवर्त्युपाध्यायगणिस्थविररात्निकान् ।
यथार्हं वन्दतेऽमानः संविग्नोऽनलसो यतिः ॥ ५० ॥

दीक्षादेनेवाले अथवा अनुचित कार्यसे रोकनेवाले यद्वा किसीको संघमें सम्मिलित करने या पृथक् करने की व्यवस्था देनेवालोंको सूरी कहते हैं । जो आचार्यकी आज्ञाका संघके साधुओंसे पालन कराते हैं उनको प्रवर्ती या प्रवर्त्तक कहते हैं । जिनके पास मुनिजन श्रुतका अध्ययन किया करते हैं उनको उपाध्याय कहते है । और गणकी रक्षा करनेवाले तथा राजसभादिमें कुशल साधुओंको गणी कहते है । इसी प्रकार मर्यादा रखनेवालोंको स्थविर और रत्नत्रयके अधिकतया धारण करनेवालोंको रात्निक कहते हैं । इन सभीका संसारसे भीरु संयमी साधुओंको गर्वरहित होकर और आलस्य छोडकर यथा योग्य विनयकर्म करना चाहिये ।

वन्दनाका विषयविभाग करनेकेलिये किसके परोक्षमें किसकी वन्दना करनी चाहिये सो बताते हैं:—

गुरौ दूरे प्रवर्त्याद्या वन्द्या दूरेषु तेष्वपि ।
संयतः संयतैर्वन्द्यो विधिना दीक्षया गुरुः ॥ ५१ ॥

गुरु—आचार्य यदि देशान्तरको गमन आदि करके चले गये हों, प्रत्यक्ष उपस्थित न हों तो उनके परोक्षमें कर्मकाण्डमें बताई हुई विधिके अनुसार क्रमसे प्रवर्तकादिकी संयमियोंको वन्दना करनी चाहिये । और यदि प्रवर्तकादिक भी उस समय उपस्थित न हों तो जो साधु अपनेसे दीक्षामें बडा है उसकी मुनियोंको वन्दना करनी चाहिये ।

संयमी श्रावक और मुनियोंको जिनकी वन्दना न करनी चाहिये उनका उल्लेख करते हैं:—

श्रावकेणापि पितरौ गुरू राजाप्यसंयताः ।
कुलिङ्गिनः कुदेवाश्च न वन्द्याः सोपि संयतैः ॥ ५२ ॥

असंयमी—माता पिता, और दीक्षागुरु तथा शिक्षागुरु, एवं राजा और मंत्री आदि, तथा तापसादिक और पार्श्वस्थादिक, इसी प्रकार रुद्रादिक और शासन देवतादिक, तथा शास्त्रोपदेशके अधिकारी श्रावककी भी संयमियोंको वन्दना न करनी चाहिये। इतना ही नहीं बल्कि यथोक्त संयमका पूर्णतया पालन करनेवाले श्रावकोंको भी इन असंयमियोंकी वन्दना न करनी चाहिये।

संयमी साधुओंकी भी वन्दना करनेकी विधिका नियम बताते हैं कि कब और किस तरहसे उनकी वन्दना करनी चाहिये, और कब नहीं करनी चाहियेः—

वन्द्यो यतोप्यनुज्ञाप्य काले साध्वासितो न तु।
व्याक्षेपाहारनीहारप्रमादविमुखत्वयुक् ॥ ५३ ॥

संयमीको संयमीकी भी वन्दना योग्य समयमें—आगममें जो वन्दना करनेका समय बताया है उसी समयमें करनी चाहिये। इसके सिवाय जब कि वे अपने स्थानपर या आसनादिपर बैठे हों या बैठ चुके हों तब और उनकी मंजूरी लेकर ही वन्दना करनी चाहिये। अर्थात् वन्दना करनेके पहले "हे भगवन्! वन्देऽहं,—हे भगवन् मैं आपकी वन्दना करता हूं," इस तरहसे उनके समक्ष विज्ञप्ति करनी चाहिये। और जब वे इसके बदलेमें "वन्दस्व" "वन्दना करो" यह अनुज्ञा करें तब उनकी वन्दना करनी चाहिये। जैसे कि कहा भी है कि—

आसने ह्यासनस्थं च शान्तचित्तमुपस्थितम्।
अनुज्ञाप्यैव मेधावी कृतिकर्म निवर्तयेत्॥

सम्मुख उपस्थित संयमी जब कि भले प्रकार आसन पर बैठे हुए हो कर भी शांतचित्त हों तब उनकी मंजूरी लेकर ही विवेकी साधुओंको उनका विनय आदि करना चाहिये।

जिस समय वे वन्दनीय साधु किसी प्रकार व्याकुल हों अथवा भोजन कर रहे हों, यद्वा मल मूत्रादिका

उत्सर्ग कर रहे हों, तथा सावधान न हों, या अपनी तरफ उन्मुख न हों तो उनकी उस समय वन्दना न करनी चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

व्याक्षिप्त च पराचीन मा वन्दिष्ठा. प्रमादिनम्।
कुर्वन्त सन्तमाहारं नीहारं चापि सयतम्॥

ऊपर यह बात लिखी जा चुकी है कि आगममें जो वन्दना करनेका समय बताया है उसी समयमें वह करनी चाहिये। किंतु वह समय कौनसा है सो बताते हैं:—

वन्द्या दिनादौ गुर्वाद्या विधिवद्विहितक्रियैः।
मध्याह्ने स्तुतदेवैश्च सायं कृतप्रातिक्रमैः॥ ५४ ॥

गुरु—आचार्यादिकोंकी वन्दना साधुओंको दिनमें तीनवार करनी चाहिये, प्रातः काल, मध्याह्नकाल और सायंकाल। जिसमेंसे प्रातः काल तो वह प्राभातिक कर्मके अनन्तर, और मध्याह्नमें देव वन्दनाके अनन्तर तथा सायंकालमें प्रतिक्रमणके अनन्तर करनी चाहिये। इसके सिवाय नैमित्तिक क्रियाओंके पीछे भी उनकी वन्दना करनी चाहिये। तथा वन्दना करनेकी विधि क्रियाकाण्डमें जैसी कुछ बताई है तदनुसार ही वह करनी चाहिये।

आचार्य और शिष्यकी तथा दूसरे भी संयामियोंकी वन्दना और प्रतिवन्दनाका विषय विभाग करते हैं:—

सर्वत्रापि क्रियारम्भे वन्दनाप्रतिवन्दने।
गुरुशिष्यस्य साधूनां तथा मार्गादिदर्शने॥ ५५ ॥

सभी नित्य या नैमित्तिक क्रिया करते समय शिष्यको गुरुसे वन्दना करनी चाहिये। और गुरु—आचार्यको भी उसके बदलेमें शिष्यसे वन्दना करनी चाहिये। इसके सिवाय शेष मुनियोंको भी रास्ता आदिकमें दर्शन होजानेपर परस्परमें यथायोग्य वन्दना करनी चाहिये। तथा मार्गशब्दके साथ आदि शब्दजो दिया है उससे मलोत्सर्गके अनन्तर या कायोत्सर्गके अनन्तर भी दर्शन होजानेपर एक दूसरेको आपसमें वन्दना करनी चाहिये।

यहांतक षडावश्यकोंमेंसे सामायिक चतुर्विंशतिस्तव और वन्दना इन तीन आवश्यकोंका वर्णन किया। अब इनका व्यवहार के अनुसार प्रयोग किस तरह करना चाहिये उसकी विधि बताते हैं:—

सामायिकं णमो अरहंताणमिति प्रभृत्यथ स्तवनम्।
थोस्सामीत्यादि जयति भगवानित्यादिवन्दनां युंज्यात् ॥ ५६ ॥

संयमी साधुओंको तथा देश संयमी श्रावकोंको भी णमो अरहताणं आदि सामायिक दण्डकमें बताए हुए पाठके अनुसार सामायिक, और थोस्सामि इत्यादि पाठके अनुसार चतुर्विंशतिस्तव, तथा जयति भगवान् इत्यादि उल्लेखके अनुसार वन्दना करनी चाहिये।

इस श्लोकमें एक आदि शब्दका लुप्त निर्देश है। अत एव इस वन्दनाके प्रकरणमें अरहंत वन्दना सिद्ध वन्दना आदिका भी संग्रह समझलेना चाहिये।

क्रमानुसार प्रतिक्रमणके लक्षण और भेद बताते हैं:—

अहर्निशापक्षचतुर्मासाब्देर्योत्तमार्थभूः।
प्रतिक्रमास्त्रिधा ध्वंसो नामाद्यालम्बनागसः॥ ५७ ॥

नाम स्थापना और द्रव्य आदिक छह प्रकारके आश्रयसे उत्पन्न हुए अपराध अथवा संचित हुए पापके आत्मासे दूर करनेको प्रतिक्रमण कहते हैं। यह तीन प्रकारसे हुआ करता है, मन वचन और कायके द्वारा, अथवा कृत कारित और अनुमोदनाकी अपेक्षासे। यद्वा मन वचन और कायके द्वारा की गई निन्दा गर्हा और आलोचनाको भी तीन प्रकारका प्रतिक्रमण कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

विनिन्दनालोचनगर्हणैरहं, मनोवचःकायकषायनिर्मितम्।
निहन्मि पापं भवदुःखकारणं, भिषग्विषं मन्त्रगुणैरिवाखिलम् ॥

मैं संसारसम्बन्धी दुःखोंके कारण मन वचन तथा काय और कषाय के द्वारा संचित हुए पापको निन्दा आलोचना और गर्हा के द्वारा इस तरह नष्ट कर देता हू, जैसे कि मन्त्र के माहात्म्यसे वैद्य समस्त विषको निःशेष कर दिया करता है। यह निन्दादिरूप प्रतिक्रमणका लक्षण ही है। जैसा कि और भी कहा है किः—

प्रमादप्राप्तदोषेभ्य प्रत्यावृत्त्य गुणावृति. ।
स्यात्प्रतिक्रमणा यद्वा कृतदोषविशोधना ॥

प्रमादके निमित्तसे जो दोष या अपराध उत्पन्न हुआ करते हैं उनसे आत्माको बचाये रखना, अर्थात् वे दोष आत्मामें उत्पन्न न होने देना और गुणोंकी तरफ उसकी प्रवृत्ति रखना इसको प्रतिक्रमण कहते हैं। अथवा प्रमादादिके वश जो दोष लगगये हों उनके दूर करनेको भी प्रतिक्रमण कहते हैं।

प्रतिक्रमण करनेके समय–काल अथवा उसके विषय सात हैं। दिन रात्रि पक्ष चतुर्मास वर्ष ईर्या और उत्तमार्थ। दिन रात्रि पक्ष और वर्ष शब्दका अर्थ स्पष्ट है। चतुर्माससे मतलब श्रावण भाद्रपद आश्विन और कार्तिक इन चार महीनाओंका ही नहीं है; किंतु इसके आगे मगसिर पौष माघ और फल्गुनको तथा चैत्र वैशाख ज्येष्ठ और अषाढ, इन चार चार महीनोंको भी चातुर्मास कहते हैं। इसतरह प्रतिक्रमणके सम्बन्धमें एक वर्षमें तीन चातुर्मास हुआ करते हैं। ईर्यासे मतलब ईर्यापथ गमनका है। जो शरीरके परित्याग कराने में समर्थ है—अर्थात् जो समाधिमरणके समय किया जाता है ऐसे समस्त दोषोंकी आलोचना पूर्वक किये गये चार प्रकारके आहारके त्यागका नाम उत्तमार्थ है। इस प्रकार समय या विषयकी अपेक्षासे प्रति क्रमणके सात भेद है,–आह्निक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक, ऐर्यापथिक, और उत्तमार्थिक। जैसा कि कहा भी है किः—

ऐर्यापथिकरात्र्युत्थ प्रतिक्रमणमाह्निकम् ।
पाक्षिक च चतुर्मासवर्षोत्थ चोत्तमार्थिकम् ॥

प्रतिक्रमण आलोचना पूर्वक हुआ करता है। अत एव इस कथनसे प्रतिक्रमणकी तरह आलोचनाके भी सात भेद समझ लेना चाहिये। यथाः—

आलोचण दिवसिय राइय इरियावह च वोद्धव्व ।
पक्खय चादुम्मासिय सवच्छरमुत्तमट्ठं च ॥

इस प्रकार आचार शास्त्रके अनुसार प्रतिक्रमणके सात भेद हैं। किन्तु ग्रन्थान्तरोंमें इनके सिवाय और भी भेद बताये है। परन्तु उनका इन सात भेदोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। इसी बातको बताते हैं:—

सोन्त्ये गुरुत्वात् सर्वातीचारदीक्षाश्रयोऽपरे ।
निषिद्धिकेर्यालुञ्चाशदोषार्थश्च लघुत्वतः ॥ ५८ ॥

सम्पूर्ण अतीचार सम्बन्धी और दीक्षा सम्बन्धी प्रति क्रमण अन्तके उत्तमार्थ प्रतिक्रमणमें अन्तर्भूत हो जाते हैं। क्योंकि उनके भक्ति और उच्छ्वास दण्डकका पाठ बहुत ज्यादा है। जिस समय दीक्षा ली उस समयसे लेकर सन्यास ग्रहण करनेके समय तक जो जो दोष या अपराध हुए हों उनकी निन्दा गर्हा और आलोचना करने को सर्वातीचार प्रतिक्रमण कहते है। तथा व्रत ग्रहण करनेमें जो दोष लगेहों उनकी निन्दा आदि करनेको दीक्षा सम्बन्धी प्रतिक्रमण कहते है।

ये दोनों ही प्रतिक्रमण गुरु—बडे हैं इसलिये इनका उत्तमार्थमें समावेश हो जाता है। इस कथनसे अर्थात् गुरुत्वका उल्लेख करके ग्रन्थकारने यह बात व्यक्त करदी है कि बृहत् प्रतिक्रमणाएं भी सात प्रकारकी हुआ करती है। जिनके कि नाम इस प्रकार है,— व्रतारोपणी, पाक्षिकी, कार्तिकान्त चातुर्मासी फाल्गुनान्त चातुर्मासी, आषाढान्त सांवत्सरी, सार्वातीचारी, और उत्तमार्थी।

अतिचार सम्बन्धी प्रतिक्रमणा सार्वातीचारीमें और जिसमें तीन प्रकारके आहारका परित्याग किया जाता है वह उत्तमार्थीमें अन्तर्भूत होजाती है; अत एव इनका पृथक् नामोल्लेख नहीं किया है। बाकीकी पांच प्रतिक्रमणाएं वर्षके अंतमें कीजाती है। और यौगान्ती प्रतिक्रमणा सांवत्सरीमें अन्तर्भूत हो जाती है। जैसा कि कहा भी है कि:—

व्रतादाने च पक्षान्ते कार्तिके फाल्गुने शुचौ।
स्यात्प्रतिक्रमणा गुर्वी दोषे सन्यासने मृतौ ॥

अर्थात् बृहत्प्रतिक्रमणाएं सात समयोंमें हुआ करती हैं, व्रत ग्रहण करते समय, पक्षके अन्तमें, कार्तिकके अन्तमें, फाल्गुनके अन्तमें, आषाढके अन्तमें, किसी प्रकारका दोष लग जानेपर, और संन्यास मरणके समय।

इस प्रकार ये सात बृहत्प्रतिक्रमणाएं हैं। लघुप्रतिक्रमणाओंके आह्निक आदि सात भेद बताये हैं। इनके सिवाय आगममें निषिद्धिकेर्यादिक और भी प्रतिक्रमणाओंके जो भेद बताये हैं उनका आह्निकादिकमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। क्योंकि वे लघु हैं, उनके भी भक्ति उच्छ्वासदण्डकका पाठ अल्प है।

जहांपर मुनिजन उठा बैठा आदि करते हैं उस स्थान विशेष को निषिद्धिका कहते है, और उस स्थानमें चलने फिरने आदिका नाम निषिद्धिकेर्या है। दीक्षा ग्रहण करनेके अनन्तर दो महीना तीन महीना या चार महीनामें अपने हाथसे केशोंके उखाडनेको लोच कहते हैं। अशन नाम भोजन अर्थात् गोचरवृत्तिका है। दुःस्वप्न आदि अतीचारोंको दोष कहते हैं। इन चार निमित्तोंकी अपेक्षासे जो निन्दा गर्हा आदि की जाती हैं उन्हीको क्रमसे निषिद्धिकागमन प्रतिक्रमणा, लुञ्चप्रतिक्रमणा, गोचरिप्रतिक्रमणा, और अतीचार प्रतिक्रमणा कहते हैं। ये चारो ही प्रतिक्रमणाएं लघु हैं। इसलिये इनका ऐर्यापथिक आदि प्रतिक्रमणाओंमें अन्तर्भाव होजाता है। इनमेंसे पहली मार्गातीचार प्रतिक्रमणामें और पिछली रात्रिप्रतिक्रमणामें तथा बीचकी दोनों आह्निकप्रतिक्रमणामें अन्तर्भूत होती हैं। इस कथनसे अर्थात् श्लोकमें अन्तर्भावकेलिये लघुत्व हेतु देकर ग्रन्थकारने यहांपर लघुप्रतिक्रमणाएं भी सात होती हैं यह बताया है। जैसा कि कहा भी है कि:—

लुञ्चे रात्रौ दिने भुक्ते निषेधिकागमने पथि।
स्यात् प्रतिक्रमणा लघ्वी तथा दोषे तु सप्तमी ॥

लोच रात्रि दिन भोजन निषेधिकागमन मार्ग और दोष अर्थात् अतीचार इन सात विषयोंकी अपेक्षासे लघुप्रतिक्रमणाओंके भी सात भेद हैं।

इस प्रकरणके प्रारम्भमें प्रतिक्रमणका लक्षण बताते समय लिखा था कि नाम स्थापना आदि छह निमित्तोंसे होनेवाले अपराधके अथवा संचित हुए पापके दूर करने को प्रतिक्रमण कहते हैं। अत एव नामादिकी अपेक्षासे प्रतिक्रमणके भी छह भेद होते है। इन्हीं छह भेदोंका स्वरूप दो श्लोकोंमें बताते हैं:—

स्यान्नामादिप्रतिक्रान्तिः परिणामनिवर्तनम्।
दुर्नामस्थापनाभ्यां च सावद्यद्रव्यसेवनात् ॥ ५९ ॥

क्षेत्रकालाश्रिताद्रागाद्याश्रिताच्चातिचारतः।
परिणामनिवृत्तिः स्यात् क्षेत्रादीनां प्रतिक्रमः ॥ ६० ॥ युग्मम्।

पापसंचयके कारणभूत नामोंके उच्चारणादिमें होनेवाले अथवा उनका उच्चारणादि करनेके लिये जो परिणाम होते हैं उनकी निवृत्तिको नामप्रतिक्रमणा कहते हैं। सराग स्थापनाके निमित्तसे होनेवाले परिणामोंकी निवृत्तिको स्थापना प्रतिक्रमण कहते है। हिंसादि पापोंसे युक्त मोज्यादि वस्तुओंके विषयमें जो परिणाम होते है उनकी निवृत्तिको द्रव्यप्रतिक्रमणा कहते है। क्षेत्रके सम्बन्धमे लगनेवाले अतीचारोंकी तरफ परिणामों की प्रवृत्ति न होना अथवा उनकी तरफ यदि परिणाम प्रवृत्त होभीजाय तो निन्दा आदिके द्वारा उनकी निवृत्ति करनेको क्षेत्रप्रतिक्रमणा कहते है। इसी प्रकार कालके निमित्तसे लगनेवाले अतीचारोंकी प्रवृत्ति न होनेको अथवा होजानेपर उसके निवृत्त करनेको कालप्रतिक्रमणा कहते है। तथा रागद्वेष और मोह सम्बन्धी अतीचारोंसे आत्माके निवृत्त रखनेको भाव प्रतिक्रमणा कहते हैं।

प्रतिक्रमण यह क्रिया है, उसके कर्ता कर्म करण और अधिकरणरूप कारक कौन २ हैं सो बताते हैः—

स्यात् प्रतिक्रमकः साधुः प्रतिक्रम्यं तु दुष्कृतम्।
येन यत्र च तच्छेदस्तत्प्रतिक्रमणं मतम् ॥ ६१ ॥

पांच महाव्रतादिके श्रवण और धारण करनेमें तथा उनमें दोषोंके लग जानेपर उन दोषोंके दूर करनेमें सदा तत्पर रहनेवाला साधु इस प्रतिक्रमण क्रिया का कर्ता है। क्योंकि वही द्रव्यादि विषयक अतीचारोंसे आत्माको निवृत्त रखता है, तथा यदि अतीचार लग भी जांय तो उनकी वह शुद्धि भी करता है। जिनसे कि आत्माको बचाकर रक्खा जाता है, अथवा जो दूर करने—छोडने योग्य है ऐसे मिथ्यात्वादिक पापोंको और उनके निमित्तभूत द्रव्यादिकोंको प्रतिक्रम्य प्रतिक्रमण क्रियाका कर्म समझना चाहिये। "मिथ्या मे दुष्कृत भवतु—मेरे सम्पूर्ण पाप मिथ्या-निःशेष हो" इस तरहके शब्दोंसे प्रकट होनेवाले परिणाम अथवा ये शब्दसमूह ही इस क्रियाके करण है। क्योंकि इन्हींके द्वारा पापोंका उच्छेदन किया जाता है। व्रतोंकी शुद्धि पूर्वकता अथवा तद्रूप परिणत जीव इस क्रियाका अधिकरण समझना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

जीवो दु पडिक्कमओ दव्वे खेत्ते य काल भावे य।
पडिगच्छदि जेणुज्झहिं त तस्स भवे पडिकमण ॥
पडिकमिदव्व दव्व सच्चित्ताचित्तमिस्सिय तिविह।
खेत्त च गिहादीय कालो दिवसादिकालम्हि ॥
मिच्छत्ते पडिकमण तह चेव असजमे पडिकमण।
कसाएसु पडिकमण जोगेसु य अप्पसत्थेसु ॥

प्रतिक्रमणके विषयमें पांच बातें विचारणीय है।—कर्ता द्रव्य क्षेत्र काल और भाव। कर्त्ता जीव है, क्योंकि वह आत्माको अपराधोंसे निवृत्त रखने या करनेमें स्वतन्त्र है। जिनका प्रतिक्रमण किया जाता है वह कर्म रूप वस्तु ही द्रव्य है। वह तीन प्रकारकी मानी है, सचित्त अचित्त और मिश्र। गृह गुहा वसतिका वन उपवन मन्दिर आदि स्थान प्रतिक्रमणके क्षेत्र है। दिन रात्रि प्रातः काल मध्यान्ह आदि नित्य नैमितिक समय ही प्रतिक्रमणके काल है। भाव नाम परिणामका है। वह चार प्रकारका है, मिथ्यात्व असंयम कषाय और अप्रशस्त योग।

प्रतिक्रमण करनेकी विधि बताते हैं:—

निन्दागर्हालोचनाभियुक्तो युक्तेन चेतसा ।
पठेद्वा शृणुयाच्छुद्धयै कर्मघ्नान्नियमान्समान् ॥ ६२ ॥

अपनेसे जो दोप बनगया हो उसकी स्वयं अपने मनमेंही, हाय मुझसे यह बडा अनर्थ होगया, ऐसी भावना करने को निन्दा कहते हैं। यदि यह भावना गुरुके समक्ष कीजाय तो उसको गर्हा कहते हैं। तथा अपने दोपोंका गुरुसे निवेदन करदेनेको आलोचन कहते है। साधुओंको प्रतिक्रमणके समय ये तीनो ही पहले करने चाहिये। पीछे विपुल कर्मोंकी निर्जराकेलिये अथवा सम्पूर्ण अतीचारोंकी शुद्धिकेलिये कर्मोंका नाश करनेवाले समस्त नियमों–दण्डकोंका स्वयं पाठ करना चाहिये, अथवा आचार्यादिसे सुनना चाहिये।

भावार्थ—पहले तो साधुओंको भावप्रतिक्रमणमें प्रवृत्त होना चाहिये। किन्तु यह प्रवृत्ति स्वयं निन्दा गर्हा और आलोचना करनेसे ही हुआ करती है। जैसा कि कहा भी है किः—

आलोयण निंदणगरहणाहिं अब्भुट्ठिओ अकरणाए।
त भावपडिकमण सेस पुण दव्वदो भणिद ॥

अर्थात् प्रतिक्रमण दो प्रकारका है, एक द्रव्यरूप दूसरा भावरूप। आलोचना निन्दा और गर्हाकेद्वारा दोपोंके दूर करनेमें प्रवृत्त होनेको भाव प्रतिक्रमण, और शेप क्रियाओंके करनेको द्रव्यप्रतिक्रमण कहते हैं। इनमेंसे पहले भावप्रतिक्रमण करके पीछे द्रव्यरूप प्रतिक्रमण करना चाहिये। अर्थात् निन्दादिके अनन्तर व्यवहारसे अविरुद्ध प्रतिक्रमण सम्बन्धी दण्डकोंके पाठका स्वय उच्चारण करना चाहिये, अथवा आचार्यादिके मुखसे उसको सुनना चाहिये। क्योंकि उपयुक्त मनसे, अर्थ की तरफ ध्यान देकर यदि यह पाठ किया जाय या सुनाजाय तो वह सम्पूर्ण कर्मोंका नाश कर देता है। जैसा कि कहा भी है किः—

भावयुक्तोर्थतन्निष्ठ सदा सूत्र तु य पठेत्।
स महानिर्जरार्थाय कर्मणो वर्तते यति॥

अर्थात् मन लगाकर और अर्थकी तरफ भी ध्यान देते हुए प्रतिक्रमण सूत्रका पाठ करनेसे संयमियोंके कर्मोंकी महान् निर्जरा हुआ करती है।

इस सब कथनका तात्पर्य यह है कि आजकल दुःषम काल है। इसके प्रसादसे लोगोंकी बुद्धि या प्रवृत्ति वक्र और जडरूप होजाती है, चित्त चचल रहा करता है, जिससे कि प्रायः उनसे अपराध हुआही करते है। यहांतक कि व्रतादिकोंमें जो अतिचार वे अपने आप लगालिया करते हैं उनका भी उन्हे स्मरण नही रहता। अत एव ईर्या गमनागमनादिकमें कोई दोप लगे या न लगे सबको समस्त अतीचारोंकी शुद्धिके लिये सम्पूर्ण प्रतिक्रमण करने ही चाहिये। क्योंकि इन प्रतिक्रमणोंके कहते समय चाहें सबमें उपयोग न लगे, किन्तु जिस किसी भी प्रतिक्रमणमें चित्त स्थिर हो जायगा उसीसे समस्त दोप दूर हो जांयगे। क्योंकि ये सभी प्रतिक्रमण कर्मोंके नष्ट करनेमें समर्थ है। जैसा कि कहा भी है कि:—

स प्रतिक्रमणो धर्मो जिनयोरादिमान्त्ययोः।
अपराधे प्रतिक्रान्तिर्मध्यमाना जिनेशिनाम्॥
यदोपजायते दोष आत्मन्यन्यतरत्र वा।
तदैव स्यात्प्रतिक्रान्तिर्मध्यमाना जिनेशिनाम्॥
ईर्यागोचरदु स्वप्नप्रभृतौ वर्तता नवा।
पौरस्त्यपश्चिमा सर्वं प्रतिक्रामन्ति निश्चितम्॥
मध्यमा एकचित्ता यदमूढदृढबुद्धय।
आत्मनानुष्ठित तस्माद्गर्हमाणा सृजन्ति तम्॥
पौरस्त्यपश्चिमा यस्मात्समोहाश्चलचेतसः।
ततः सर्वं प्रतिक्रान्तिरन्धोऽश्वोत्र निदर्शनम्॥

अर्थात् सबसे पहले तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ स्वामीके समयमें और सबसे पिछले महावीर स्वामीके समयमें ही इस प्रतिक्रमण धर्मका सदा पालन किया जाता है। बाकीके मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरोंके वाडेमें इसका सदा पालन नहीं किया जाता, जब अपराध होता है तभी किया जाता है। पहले और पिछले तीर्थंकरके

समयके साधुओंको निश्चित रूपसे सम्पूर्ण प्रतिक्रमण करने ही चाहिये, चाहे ईर्या गोचर दुःस्वप्न आदिके विषयमें उन्हे दोष लगे या न लगे। बीचके बाईस तीर्थंकरोंके समयके साधुओंका चित्त चंचल नहीं हुआ करता और उनकी बुद्धि भी दृढ हुआ करती है, तथा उनमें मूढता भी विशेष नहीं पाई जाती। अत एव उनसे जब कोई अपराध बन जाता है तब वे उसकी गर्हा आदि करते हैं। किंतु आदि तीर्थंकर और अन्तिम तीर्थंकरके समयके साधु वैसे नहीं होते, उनमें मोह और चित्तकी चंचलता रहा करती है, अत एव वे सब प्रतिक्रमण करते हैं।

निम्न श्रेणीके मुमुक्षुओंको प्रतिक्रमण आदि करनेमें लाभ है और न करनेमें हानि है। किंतु जो उच्च पदपर पहुंच गये हैं उन मुमुक्षुओंको इस प्रतिक्रमण आदिके करनेमें हानि ही है। इसी बातका उपदेश देते हैं:—

प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहरणं धारणा निवृत्तिश्च।
निन्दा गर्हा शुद्धिश्चामृतकुम्भोऽन्यथापि विषकुम्भः ॥६३॥

यहांपर प्रतिक्रमण शब्दसे द्रव्य प्रतिक्रमणका ग्रहण किया है। अतएव दण्डकोंका पाठ करना ही प्रकृतमें उसका लक्षण समझना चाहिये। गुणोंमे प्रवृत्ति करनेको प्रतिसरण कहते हैं। दोषोंसे पराङ्मुख रहनेका नाम परिहरण है। चित्तके स्थिर रखनेका नाम धारणा है। दूसरी तरफ चित्तके चले जानेपर उधरसे पुन उसके लौटानेको निवृत्ति कहते हैं। निन्दा और गर्हा शब्दका अर्थ पहले बता चुके हैं। प्रायश्चित्त आदिके द्वारा अपने शोधन करनेको शुद्धि कहते है।

निम्नपदमें रहनेवाले मुमुक्षुओंकेलिये ये प्रतिक्रमणादि आठो ही कार्य अमृतघटके समान हैं। क्योंकि जिस प्रकार अमृतका पान करनेसे चित्तमें प्रसन्नता और आह्लाद हुआ करता है उसी प्रकार इन क्रियाओंके करनेसे भी परम प्रसन्नता और आह्लाद प्राप्त हुआ करता है। अत एव निम्नपदमें इनके करनेसे लाभ ही है। तथा न करनेसे हानि है। क्योंकि इनके न करनेपर मोह और संताप आदि उत्पन्न हुआ करते हैं जो कि पापबन्धके कारण हैं। इसलिये उस अवस्थामें इनका न करना विषके घटके समान ही समझना चाहिये।

यहांपर अपि शब्दका जो पाठ किया है उससे यह बात भी जाहिर करदी है कि ऊपरके पदमें पहुंचकर प्रतिक्रमण आदिका करना भी विषकुम्भके समान है। क्योंकि वहापर विशेषतया संवर और निर्जराके कारणोंमें ही प्रवृत्ति होती है, पुण्य बंधके कारणोंमें नहीं। किंतु इस प्रतिक्रमण आदिके द्वारा उस पुण्यकी प्राप्ति होती है जो कि वैभवको उत्पन्न कर क्रमसे मद और मतिमें मो. उत्पन्न करदिया करता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

पुण्णेण होइ विहओ विहवेण मओ मएण मइमोहो।
मइमोहेण य पाव त पुण्ण अह्म मा होउ॥

पुण्यके उदयसे वैभवकी प्राप्ति होती है। और वैभवसे मद तथा मतिमें मोह उत्पन्न हुआ करता है। मोहके निमित्तसे पापका संचय हुआ करता है। अत एव इस पापबन्धका कारण पुण्य ही हमको नहीं चाहिये।

यहापर यदि यह कोई शंका करे कि इस पद्यमें (आर्यामें) छन्दोभङ्ग है। क्योंकि प्रतिक्रमण इस शब्दमें क्र इस संयुक्ताक्षरके आगे रहनेसे ति यह दीर्घ होजाता है। सो ठीक नहीं है। क्योंकि यहापर उसका शिथिल उच्चारण करना अभीष्ट है, जैसा कि अनेक स्थलोंमें पाया भी जाता है। यथा:—

वित्तैर्येषा प्रतिपदमिय पूरिता भूतधात्री,
निर्जित्यैतद्भुवनवलय ये विभुत्व प्रपन्नाः।
तेप्येतस्मिन् गुरुवचह्रदे बुद्बुदस्तम्बलीला,
धृत्वा धृत्वा सपदि विलय भूभुज सप्रयाता॥

यहांपर "गुरु वचहृदे बुद्बुद" इस पदमें ह्र इस संयुक्ताक्षरके आगे पडे रहनेपर भी चको दीर्घ मानकर अथवा द्बु इस सयुक्ताक्षरके आगे रहते हुए भी बु को दीर्घ मानकर छन्दोभङ्ग नहीं होता। इसी तरह "भ्रमति भ्रमरकान्ता नष्टकान्ता वनान्ते" इसमें भ्रके पडे रहनेपर भी ति दीर्घ नहीं माना जाता। तथा "शत्रोरपत्यानि प्रियवदानि नोपेक्षितव्यानि बुधैः कदाचित्" यहापर प्रिके पडे रहनेपर भी नि यह दीर्घ नहीं माना गया है। "जिनवर प्रतिमाना भावतोऽहं नमामि" इसमें भी प्रके पडे रहते हुए भी रको दीर्घ मानकर छन्दोभङ्ग

नहीं माना है। इसी प्रकार और भी अनेक स्थानोंमें शिथिल उच्चारण मिलता है। तदनुसार यहांपर भी समझना चाहिये। अत एव छन्दोभङ्गकी शंका ठीक नहीं है।

सम्पूर्ण कर्मोंसे रहित होनेकी भावना करते हुए उनके फलोंसे भी रहित होनेकी भावना करनेमें मुमुक्षुओंको प्रेरित करते हैं ।:—

प्रतिक्रमणमालोचं प्रत्याख्यानं च कर्मणाम् ।
भूतसद्भाविनां कृत्वा तत्फलं व्युत्सृजेत सुधीः ॥ ६४ ॥

विवेकी साधुओंको भूत भविष्यत् और वर्तमान समस्त कर्मोंका प्रतिक्रमण आलोचन और प्रत्याख्यान करके उनके सम्पूर्ण फलोंका भी प्रत्याख्यान करना चाहिये।

भावार्थः—मुमुक्षुओंको भूत वर्तमान और भविष्यत् कर्मोंका क्रमसे प्रतिक्रमण आलोचन और प्रत्याख्यान करना चाहिये। तथा उसी प्रकार कर्मोंके फलोंका भी क्रमसे प्रतिक्रमण आदि करना चाहिये। जिन शुभ या अशुभ कर्मोंका पूर्व कालमें संचय हो चुका है उन कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होने वाले परिणामोंसे अपनी आत्माको जुदा रखना, संचित कर्मोंके उदयकेलिये निमित्त मिलनेपर उस निमित्तको उदयका निमित्त न बनने देना, यदि कर्मोंका उदय हो भी जाय तो उससे अपनी आत्माको पृथक् रखना, क्रोधादिरूप परिणत न होना, और कर्मोंके सग्रह तथा उदय आदिमें करणभूत पूर्व कर्मोंकी आत्मासे निवृत्ति करना, इसको भूत कर्मोंका प्रतिक्रमण कहते हैं। वर्तमानमें जिन शुभ या अशुभ कर्मोंका उदय हो रहा है उनसे अपनी आत्माको सर्वथा भिन्न समझना, इसको वर्तमान या सत्कर्मोंका आलोचन करना कहते हैं। जिनसे कि आगामी कर्मोंका बन्ध हो सकता है ऐसे अपने शुभ या अशुभ परिणाम न होने देना इसको भाविकर्मोंका प्रत्याख्यान कहते हैं। इस प्रकार भूत वर्तमान और भविष्यत् कर्मोंका प्रतिक्रमणादिक क्रमसे करके उनके फलोंका भी परित्याग करनेके लिये इस प्रकार विचार करना चाहिये। यथाः—

नहीं हूं, मैं अपने चिदात्माका ही अनुभविता हू।" इत्यादि सभी मूल कर्म और उनकी उत्तर प्रकृतियोंके विषयमें विचार करके उनके फलका विशेषरूपसे और नानाप्रकारसे प्रत्याख्यान करना चाहिये। जैसाकि कहा भी है किः —

विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव ।
संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मनात्मानम् ॥

मैं इस समय अपने अचल चैतन्यस्वरूप आत्माका स्वयही अनुभव कर रहा हूं। अतएव ये मेरे कर्मरूपी विषवृक्षोंके फल विना भुक्तिकेही झडजांय। और भी कहा है किः—

निःशेषकर्मफलसंन्यसनान्ममैवं,
सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तवृत्तेः ।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं,
कालावलीयमचलस्य वहत्वनन्ता ॥

मेरे सम्पूर्ण कर्मोंके फल छूट चुके हैं, अथवा मैंने उनको छोड दिया है। इसी लिये अब मैं अन्य सम्पूर्ण क्रियाओंमें विहारकरनेको भी छोडनेमें प्रवृत्त हुआ हू। अब मैं अन्य सब क्रियाओंमें संचार करनेसे विमुख होकर केवल चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वका पुनः पुनः अथवा प्रचुरतासे अनुभव करनेकी क्रियामें ही अचलतया लीन हो रहा हू। मेरी इस अचलताको अनतकाल धारण करे, अर्थात् इस आत्मानुभवन रूप क्रियामें अनंतकालतक अचल बना रहूं। इसी तरह और भी कहा है किः —

यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां, भुङ्क्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः ।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं, निष्कर्मशर्ममयमेति दशान्तरं सः ॥

जो भव्य अपने आप ही तृप्त रहकर अपने ही परिणामोंसे पूर्वकालमें संचित पापकर्म रूपी विषवृक्षोंके फलोंका अनुभवन नहीं करता है वह तत्काल भी रमणीय और परिपाकमें भी मधुर तथा कर्मोंसे रहित किंतु सुखमय अपूर्व अवस्थाको प्राप्त हुआ करता है।

भावार्थ—कर्मोंका फल—पुण्यकर्मके उदयसे प्राप्त होनेवाला सुख तत्काल ही रमणीय है, सेवन करते समय ही अच्छा मालुम होता है, किंतु उसका परिपाक कटु ही है। क्योंकि उसका सेवन करनेसे जो नवीन कर्मोंका बन्ध होता है उसके निमित्तसे परलोकमें तो दुःखकी प्राप्ति होती ही है, किंतु इस भवमें भी उससे दुःखोंकी ही प्राप्ति हुआ करती है। यद्वा उसके साथ अनेक दुःखोंका मिश्रण भी रहा ही करता है। अथवा वह स्वयं ही दुःख रूप है। इसके सिवाय वह कर्मोंके उदय से प्राप्त होता है इसलिये पराधीन भी है। अत एव इस सुखके निमित्तसे भव्योंको वास्तविक तृप्ति नहीं हो सकती। जो इसके सेवनकी अभिलाषा भी रखते हैं वे भी वस्तुतः सुखी नहीं हो सकते। जिस प्रकार कोई रोगी मनुष्य दाहसे व्यथित होनेपर पानीके पीनेकी इच्छा तो रक्खे किंतु वैद्यके कथनानुसार अपाय होनेके भयसे पीवे नहीं तो उसको वस्तुतः सुखी नहीं कह सकते। सुखी वही कहा जासकता है कि जिसको उसके पीनेकी इच्छा ही नहीं है। जो किसीकी प्रेरणा से नहीं किंतु स्वतः ही जलके विषयमें तृप्त है। उसी प्रकार जो भव्य अपने पूर्व संचित कर्मोंके विषमय फलोंका स्वतः तृप्त होनेसे नहीं भोगता वह वास्तविक—कर्मजनित सुखोंसे सर्वथा विपरीत आत्मस्वरूप—स्वाधीन जो सेवन करते समय भी मधुर मालुम पडती है और जिसका परिपाक भी मधुर है, एवं जिसके साथमें किसी दूसरे दुःख का रंचमात्र भी संसर्ग नहीं पाया जाता ऐसी अनंत सुखमय अवस्थाको प्राप्त हुआ करता है।

और भी कहा है किः—

> अत्यन्त भावयित्वा विरतिमविरत कर्मणस्तत्फलाच्च,
> प्रस्पष्ट नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः।
> पूर्णं कृत्वा स्वभाव स्वरसपरिगत ज्ञानसंचेतना स्वां,
> सानन्द नाटयन्तः प्रशमरसमिताः सर्वकाल पिबन्तु ॥ (२३३ पु० रु०)

कर्मोंसे और उनके फलोंसे आत्मा सर्वथा भिन्न है, इस बातका निरंतर और अच्छी तरहसे अनुभव करके जिन्होने सम्पूर्ण अज्ञान चेतनाका भले प्रकार नाश करदिया है, तथा उसका नाश करके अपने परिणामोंको जिन्होने आत्मानुभवके रसकी तरफ पूर्णतया लगा दिया है, और इसी लिये जो अपनी आत्मिक ज्ञानचेतनाके

" मनसे वचनसे या शरीरसे मैंने जिस किसी दुष्कर्मका संचय किया हो, अथवा किसीसे कराया हो, यद्वा किसीके करनेपर उसकी अनुमोदना की हो, तो वह सब मेरा दुष्कर्म मिथ्या हो जाय। " इस वाक्यमें एक भूतकालकी ही क्रिया लगाई है। किन्तु इसी प्रकारसे मनवचनकायके संयोगी असंयोगी भेद और उनंचास क्रियापदोंको क्रमसे जोडकर प्रतिक्रमण करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषय मनोवचःकायैः।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे ॥

भूत भविष्यत् और वर्तमान कालमें मन वचन और कायके द्वारा तथा कृत कारित और अनुमोदना करके जिन जिन कर्मोंका संग्रह हुआ हो या हो रहा है उन सबको छोडकर अब मैं कर्मरहित उत्कृष्ट अवस्थाका अनुभव कर रहा हूं। तथा और भी कहा है कि:—

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥

मोहके निमित्तसे मैंने जिन जिन कर्मोंको संचित किया उन सभीको छोडकर—उनका प्रतिक्रमण करके देखता हूं तो कर्म रहित चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मामें मैं अपने आत्मस्वरूपसे ही सदा लीन होकर रह रहा हूं।

पूर्व कालमें संचित कर्मोंके फलका प्रति क्रमण करनेके लिये किस प्रकारकी भावना होनी चाहिये सो ऊपर बताया है। इसी प्रकार वर्तमानमें उदयमें आते हुए कर्मोंका और उनके फलका आलोचन इस तरह करना चाहिये कि " मैं अपने मन वचन या शरीरके द्वारा न तो दुष्कर्म करता हूं, और न किसी से कराता हूं, और न कोई वैसा करता हो तो उसकी अनुमोदना करता हूं। " किंतु पहलेकी तरह यहांपर भी मन वचन कायके सयोगी असंयोगी भंग और उनंचास क्रिया पदोंको क्रमसे लगालेना चाहिये। इस प्रकार कर्म और उनके फलोंका आलोचन करके अपने आत्मस्वरूपमें लीन होना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत् कर्म सकलमालोच्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥

। अर्थात् ये सम्पूर्ण कर्म जो कि उदयमें आ रहे हैं वे सब मोहकी लीलासे ही प्रकट होने वाले हैं। अत
एव इन सबको आलोचना करके मै सदा कर्मरहित चैतन्यस्वरूप अपनी आत्मामें अपने आत्मस्वरूपसे ठहरा हुआ हूं।
इसी तरह भविष्यत्कर्मोंका और उनके फलोंका प्रत्याख्यान करनेकेलिये भी विचार करना चाहिये। यथाः—
" मै अपने मन वचन और कायके द्वारा कोई भी दुष्कर्म न करूंगा और न किसीसे कराऊंगा तथा कोई करता
होगा तो उसकी अनुमोदना भी न करूंगा। " यहांपर भी क्रमसे मन वचन कायके संयोगी असंयोगी भंग और
उनचास क्रियापद जोडलने चाहिये। और इस तरह प्रत्याख्यान करके आत्मरूपमें लीनता की प्रवृत्ति करनी चाहिये।
जैसा कि कहा भी है किः —

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्त निरस्तसमोह ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥

मैंने मोहकर्मका निरास करदिया है, इसी लिये अब आगे संचित होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंका भी प्रत्या
ख्यान करके कर्मरहित चैतन्य स्वरूप अपनी आत्मामें आत्मस्वरूपके द्वारा सदा लीन रहनेकेलिये प्रवृत्त होता हूं।
यहांपर भूत वर्तमान और भविष्यत् कर्मोंमेंसे एक एकका क्रमसे प्रतिक्रमण आलोचन और प्रत्याख्यान
किस तरह करना चाहिये सो बताया। किंतु समुदायरूपसे भी तीन काल सम्बन्धी समस्त कर्मोंका परित्याग करके
तथा मोह रहित होकर कर्मजनित विकारोंसे रहित आत्मामें लीन होनेका अभ्यास करना चाहिये। जैसा कि
कहा भी है किः—

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिक शुद्धनयावलम्बी ।
विलीनमोहो रहित विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे ॥

शुद्धनिश्चयनयका अवलम्बन लेकर सम्पूर्ण त्रिकालसम्बन्धी कर्मोंको पूर्वोक्त रीतिसे छोडकर और मोहर-
हित होकर मैं उन कर्मजनित विकारोंसे सर्वथा रहित चेतनामय आत्मस्वरूप में लीन हो रहा हूं।
" मै मतिज्ञानावरण कर्मके फलका भोक्ता नहीं हू, केवल अपने चैतन्यस्वरूपका ही अनुभव करनेवाला
हू। " इसीप्रकार " मैं श्रुतज्ञानावरण कर्मके फलका भोक्ता नहीं हू, अवधिज्ञानावरण कर्मके फलका भी मै भोक्ता

विलासोंका आनन्दपूर्वक दर्शन किया करते हैं वेही अंतमें शान्तरसका सर्वकाल पान किया करते हैं। इसी तरह और भी कहा है किः—

कर्मभ्य कर्मकार्येभ्य पृथग्भूत चिदात्मकम् ।
आत्मान भावयेन्नित्य नित्यानन्दपदप्रदम् ॥

यह चित्स्वरूप आत्मा कर्म और उसके फलोंसे सर्वथा भिन्न है। ऐसा नित्य ही अनुभवन करना चाहिये। क्योंकि उसीसे शास्वत आनन्दरूप पदकी प्राप्ति हुआ करती है। समयसारमें भी ऐसा ही कहा है किः—

कम्म ज पुव्वकय सुहासुहमणेयवित्थरविसेसम् ।
त दोस जो चेयइ सो खलु आलोयण चेया ॥
णिच पच्चक्खाणं कुव्वइ णिच च पडिक्कमइ जो य ।
णिच आलोचेइय सो हु चरित्त हवइ चेया ॥

पूर्वकृत कर्म शुभ और अशुभ इस तरह दो प्रकारका है। इसके और विशेष भेद अनेक हैं। जो भव्य इनके विषयमें ये दोष हैं ऐसा विचार करता है उसीको आलोचन करनेवाला समझना चाहिये। जो नित्य ही प्रत्याख्यान प्रतिक्रमण और आलोचन किया करता है उसको सम्यक्चारित्रका अनुभविता या स्वामी समझना चाहिये।

उपर्युक्त सम्पूर्ण अर्थका अभिप्राय नीचे लिखी हुई कारिकामें पाया जाता है। इस लिये इस कारिकाका नित्य ही पाठ करना चाहिये।

ज्ञानस्य सचेतनयैव नित्य प्रकाशते ज्ञानमतीवशुद्धम् ।
अज्ञानसचेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्ध ॥

हमेशा ज्ञानका अनुभवन करनेसे अत्यंत शुद्ध ज्ञान प्रकाशित हुआ करता है। और अज्ञानका अनुभव करनेसे कर्मोंका बन्ध होता है जिससे कि ज्ञान की शुद्धि होना रुक जाता है। इसी अभिप्रायका सग्रह निम्नलिखित कारिकाओंमें भी पाया जाता है, अत एव इनका भी नित्य विचार करना चाहिये। यथाः—

सर्वथात्त प्रतिक्रामन्नुद्यदालोचयन् सदा ।
प्रत्याख्यान् भाविसदसत्कर्मात्मा वृत्तमस्ति चित् ॥ १ ॥
नैष्फल्याय क्षिपे त्रेधा कृतकारितसमतम् ।
कर्म स्वाचितयेऽत्यन्तमिदोयद्रुन्ध उत्तरम् ॥ २ ॥
अहमेवाहमित्येवज्ञान तच्छुद्धये भजे
शरीराद्यहमित्येवाज्ञान तच्छेतु वर्जये ॥ ३ ॥

अर्थात्—जो पूर्वसंचित पुण्यापुण्यरूप कर्मोंका सर्वथा प्रतिक्रमण किया करता है, और उदयमें आते हुओंकी सदा आलोचना किया करता है, तथा आगामी होनेवाले कर्मोंका भी प्रत्याख्यान किया करता है, उस चित् स्वरूप आत्माको चारित्र समझना चाहिये । अत एव मैं मन वचन और कायके द्वारा कृत कारित और अनुमोदित कर्मोंको निष्फल बनानेके लिये छोडता हू । तथा जो उदयमें आरहे है उनके विषयमें मै ऐसा विचार करता हूं कि ये मेरी आत्मासे सर्वथा भिन्न हैं । इसी प्रकार उत्तर कालीन कर्मोंको भी मै रोकता हू—नवीन कर्मोंका संचय न हो अथवा सचित कर्मोंका भविष्यमें उदय न हो इसका प्रयत्न-प्रत्याख्यान करता हू । “ अहं- मै इस शब्दके द्वारा जिसका बोध होता है वही मैं-आत्मा हूं, ” ऐसा समझनेको ही सम्यग्ज्ञान कहते है । यही ज्ञान आत्माकी शुद्धिका कारण है । और इसके प्रतिकूल शरीरादिकको ऐसा समझना कि ये मैं हूं अज्ञान है । इस अज्ञानके निमित्तसे आत्माकी शुद्धि नष्ट होती है-अशुद्धि उत्पन्न होती है । अत एव आत्मशुद्धिकेलिये मैं इस अज्ञानको छोडता हूं और ज्ञानका सेवन करता हूं ।

भावार्थ—बन्धकी कारणभूत समस्त या व्यस्त—सम्पूर्ण या एक एक करण क्रियाओंमें प्रवृत्ति करके यह जीव योग और कषायके वश होकर जिन कर्मोंका संचय करता है वे संक्षेपमें दो प्रकारके हैं । एक पुण्य रूप दूसरे पापरूप । साता वेदनीय शुभ आयु (तिर्यगायु मनुष्यायु और देवायु) शुभ नाम [मनुष्यगति देवगति पंचेन्द्रिय जाति शरीर आङ्गोपाङ्ग निर्माण आदि] और शुभगोत्र इनको पुण्य कर्म कहते हैं । बाकी ज्ञानावरणादिक प्रकृतियोको पापकर्म कहते हैं । इन सभी कर्मोंका जो व्यक्ति उदयमें आनेसे पहले ही “ मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु ”

—मेरे ये कर्म मिथ्या हो जांय " इत्यादि उपायोंसे नित्य प्रतिक्रमण किया करता है—उनका निराकरण करदिया करता है उसको चारित्रवान्, और इस तरहसे प्रतिक्रमण करनेको चारित्र समझना चाहिये। क्योंकि इस तरह नित्य प्रतिक्रमण करनेवाला ऐसा अनुभव किया करता है कि चित्स्वरूप मैं, मैं शब्दके द्वारा ही जाना जाता हूं। और इस तरहकी अनुभव प्रवृत्तिका ही चारित्र कहते हैं। क्योंकि अखण्ड ज्ञानस्वभाव निज आत्मस्वरूपमें ही निरंतर रमण करनेका नाम वस्तुतः चारित्र है। अत एव संचित कर्मोंके प्रतिक्रमण-नित्य निराकरण करनेको चारित्र समझना चाहिये। इसीको ज्ञान चेतना भी कह सकते हैं। क्योंकि वह " मैं अब स्वयं ही ज्ञानानुभवरूप हो रहा हूं " इस तरहसे अपने ज्ञानमात्र स्वभावका ही अनुभव किया करता है।

इसी प्रकार वर्तमानमें उदयमें आनेवाले कर्मोंके आलोचन करनेवाले और भविष्यत् कर्मोंका निरोध करने वालेको भी चारित्रस्वरूप ही समझना चाहिये, क्योंकि वह भी अपनी आत्मासे कर्म फलों और कर्मोंका अत्यत भिन्न रूपसे अनुभव किया करता है। और समझता है कि मैं इन सम्पूर्ण परभावोंसे सर्वथा रहित चिन्मात्र हूं। इसका विशेष खुलासा ठक्कुर अमृतचंद्र आचार्यने अपनी बनाई हुई समयसारकी टीकामें किया है। अतएव विशेष जिज्ञासुओंको यह विषय वहांपर देखना चाहिये।

नामादिक छह निक्षेपोंकी अपेक्षासे प्रत्याख्यान छह भागोंमें विभक्त है। इसका पाच पद्योंमें व्याख्यान करने की इच्छासे सबसे पहले उसका लक्षण बताते हैंः—

निरोद्धुमागो यन्मार्गच्छिदो निर्मोक्षुरुज्झति।
नामादीन् षडपि त्रेधा तत्प्रत्याख्यानमामनेत् ॥ ६५ ॥

मुमुक्षु भव्य पाप कर्मोंका निवारण करनेके लिये रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गके विरोधी—नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भावरूप छहों अयोग्य विषयोंका जो परित्याग किया करता है उसीको प्रत्याख्यान कहते हैं। जैसा कि कहा भी है किः—

नामादीनामयोग्यानां षण्णां त्रेधा विवर्जनम् ।
प्रत्याख्यान समाख्यातमागाम्यागोनिषिद्धये ॥

अर्थात्—जिनसे पाप कर्मोंका संचय होता है ऐसे नामोंका मन वचन और कायके द्वारा न स्वय उच्चारण करना न दूसरोंसे कराना और न उसकी अनुमोदना करना इसको नामप्रत्याख्यान कहते है। अथवा "प्रत्याख्यान" इस नाममात्रको भी नामप्रत्याख्यान कहते हैं। द्रव्योंके ऐसे प्रतिरूप मन वचन कायसे न बनाना न बनवाना और न उनकी अनुमोदना करना जो कि पापबन्धके कारण हैं, और जिनसे कि मिथ्यात्वादिकी प्रवृत्ति हुआ करती है उसको स्थापनाप्रत्याख्यान कहते हैं। अथवा प्रत्याख्यानस्वरूप परिणत प्रतिबिम्बको स्थापना प्रत्याख्यान कहते हैं। किंतु यह सद्भावरूप ही हो सकता है। जिन द्रव्योंके सेवन करनेसे पापका बंध हो सकता है उनको सावद्य द्रव्य कहते हैं। ऐसे सावद्य द्रव्योंका तथा तपके लिये छोडे हुए निरवद्य द्रव्योंका भी सेवन या भोजन न करना न कराना और न उसकी अनुमोदना करना इसको द्रव्य प्रत्याख्यान कहते है। अथवा प्रत्याख्यान शास्त्रके जाननेवाले किन्तु अनुपयुक्त आत्माके शरीर भावी और कर्मनोकर्मरूप तद्व्यतिरिक्त भेदोंको भी द्रव्य प्रत्याख्यान कहते हैं। असंयमादिके कारणभूत क्षेत्रका त्याग करना, दूसरोंसे कराना, या करते हुओंका अनुमोदन करना, इसको क्षेत्रप्रत्याख्यान कहते हैं। अथवा जिस प्रदेशमें प्रत्याख्यान किया गया हो उसको भी क्षेत्रप्रत्याख्यान कहते हैं। इसी प्रकार असंयमादिके कारणभूत कालको छोडना छुडाना और छोडते हुएका अनुमोदन करना इसको कालप्रत्याख्यान कहते हैं। अथवा जिस समयमें प्रत्याख्यान किया जाय उसको भी कालप्रत्याख्यान कहते है। तथा मिथ्यात्वादि भावोंका मन वचन और कायके द्वारा परित्याग करना कराना और करते हुएका अनुमोदन करना इसको भाव प्रत्याख्यान कहते हैं। अथवा प्रत्याख्यानशास्त्रके जाननेवाले उपयुक्त आत्मा उसके ज्ञान या प्रदेशोंको भी भावप्रत्याख्यान कहते हैं।

इस श्लोकमें निरोद्धुमागः ऐसा वाक्य जो लिखा है सो सामान्य निर्देश समझना चाहिये। इसीलिये इसमें आचार टीका कारके किये हुए प्रत्याख्यानके लक्षणका भी संग्रह हो जाता है। आचार टीकामें प्रत्याख्यान

का लक्षण इस प्रकार बताया है कि भविष्यत् और वर्तमान काल विषयक अतीचारोंके दूरकरनेको प्रत्याख्यान कहते हैं। इसी बात-सग्रहको स्पष्ट करते हैं:—

तन्नाम स्थापनां तां तद्द्रव्यं तत्क्षेत्रमञ्जसा ।
त कालं तं च भावं न श्रयेन्न श्रेयसेस्ति यत ॥६६ ॥

जो निश्रेयसके साधनमें उपयोगी नहीं हैं—रत्नत्रयके विरोधी है उन अयोग्य नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र और काल तथा भावका मुमुक्षुओंको परमार्थतः—अन्तरङ्गसे सेवन न करना चाहिये। परमार्थसे कहनेका प्रयोजन यह है कि उपसर्ग आदिके निमित्तसे कदाचित् अयोग्य नामादिका उच्चारण या सेवन आदि होजानेपर भी प्रत्याख्यानमें हानि नहीं होती। क्योंकि उसका वहांपर सेवन भावपूर्वक नहीं होता।

जो मुमुक्षु योग्य नाम आदिका सेवन करता है वह परम्परासे अवश्य ही रत्नत्रयका आराधक है, इस बातको प्रकाशित करते हैं:—

यो योग्यनामाद्युपयोगपूतस्वान्तःपृथक् स्वान्तमुपैति मूर्तेः ।
सदाऽस्पृशन्नप्यपराधगन्धमाराधयत्येत्र स वर्त्म मुक्तेः ॥ ६७ ॥

जिनका सेवन करनेमें शुद्धोपयोग प्रकट हुआ करता है या हो सकता है उन योग्य नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल और भावका सेवन करनेसे जिनका अन्तरंग अत्यंत पवित्र हो चुका है, जो अपने आत्मस्वरूपको शरीरसे सर्वथा भिन्न समझते हैं, और जो स्वात्मोपलब्धिके विरोधी परद्रव्य ग्रहणका कभी रंचमात्र भी स्पर्श नहीं करते—अर्थात् जिनमें कभी प्रमादका लेशमात्र भी नहीं पाया जाता उन साधुओंको अवश्य ही मोक्षके मार्गका— रत्नत्रयका आराधन करनेवाला समझना चाहिये।

ऊपर नामादिके भेदसे प्रत्याख्यानके छह भेद बताये है। किंतु उनमें द्रव्य प्रत्याख्यान व्यवहारकेलिये उपयोगी है। अत एव उसका विशेष स्पष्टीकरण करते हुए प्रत्याख्येय विषयोंके विशेष भेद और प्रत्याख्यान करनेवालेका स्वरूप बताते है:—

सावद्येतरसाचित्ताचित्तमिश्रोपधींस्त्यजेत् ।
चतुर्धाहारमप्यादिमध्यान्तेष्वाज्ञयोत्सुकः ॥ ६८ ॥

अर्हतदेवकी आज्ञामें उपयोग लगाकर और जैसी कुछ गुरुओंकी आज्ञा हो उसके अनुसार उत्सुकता रखकर साधुओंको प्रत्याख्यान के आदि मध्य और अन्तमें सावद्य तथा निरवद्य दोनों ही प्रकारके सचित्त अचित्त और मिश्र परिग्रहोंको तथा चार प्रकारके आहारका भी प्रत्याख्यान करना चाहिये।

भावार्थ—जिनको छोडना चाहिये उनको प्रत्याख्येय कहते है। इस द्रव्यप्रत्याख्यान के प्रकरणमें प्रत्याख्येय विषय मूल में दो हैं। एक उपधि दूसरा आहार। उपधि नाम परिग्रहका है। वह दो प्रकारकी होती है, एक सावद्य दूसरी निरवद्य। जिसकी उत्पत्ति आदि हिंसादिकके निमित्तसे है उसको सावद्य कहते है। और जिसमें हिंसादिक न हों उनको निरवद्य कहते है। इनमें भी प्रत्येक परिग्रह तीन तीन प्रकारकी होती है, सचित्त अचित्त और मिश्र। जिसमें चेतन-जीवका सद्भाव रहे उसको सचित्त और जिसमें उसका सद्भाव न रहे उसको अचित्त, तथा जिसमें चित् और अचित् दोनों ही रूप पाये जांय उसको मिश्र कहते हैं। आहार के चार भेद है जो कि पहले बताये जा चुके है। यहांपर यद्यपि चार प्रकारके आहारका त्याग करनेके लिये कहा है तो भी अपिशब्दकी सामर्थ्यसे तीन प्रकारका भी आहार छोडना चाहिये, ऐसा भी अभिप्राय समझलेना चाहिये। ये ही द्रव्यप्रत्याख्यान के प्रत्याख्येय — त्याज्य विषय है। इन्हीं के छोडनेको प्रत्याख्यान कहते है। और जो अर्हत देवकी आज्ञा का यथावत् श्रद्धान करके और गुरुके आदेशानुसार इनका प्रत्याख्यानकी आदि मध्य और अंतमें त्याग करता है उसको प्रत्याख्याता कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

आज्ञाज्ञापनयोर्दक्ष आदिमध्यावसानत: ।
साकारमनाकारं च सुसतोषोनुपालयन् ॥
प्रत्याख्याता भवेदेष प्रत्याख्यानं तु वर्जनम् ।
उपयोगि तथाहार: प्रत्याख्येयं तदुच्यते ॥

इसके सिवाय मुमुक्षुओंको अपनी अपनी शक्तिके अनुसार अर्थात् शक्तिको न तो छिपाकरके और न उसका उल्लंघन ही करके अनेक प्रकारसे उपवासादि करके अवश्य ही प्रत्याख्यान करने का उपदेश देते हैं:—

अनागतादिदशाभिद् विनयादिचतुष्कयुक् ।
क्षपणं मोक्षुणा कार्यं यथाशक्ति यथागमम् ॥६९॥

अपने बल और वीर्यका तथा आगमका अतिक्रमण न करके मुमुक्षुओंको विनयादिक चार प्रकारका और अनागतादिक दश प्रकारका प्रत्याख्यान करना चाहिये। आगममें प्रत्याख्यानके जो अनागतादिक दश भेद गिनाये हैं वे इस प्रकार हैं:—

अनागतमतिक्रान्तं कोटीयुतमखण्डितम् ।
साकारं च निराकारं परिमाणं तथेतरत् ॥
नवमं वर्तनीयातं दशमं स्यात् सहेतुकम् ।
प्रत्याख्यानविकल्पोयमेवं सूत्रे निरुच्यते ॥

जिन उपवासादिकोंको चतुर्दशी आदि तिथियोंमें करना चाहिये उनको उन तिथियोंमें न करके उनके पहले ही त्रयोदशी आदि तिथियोंमें यदि किया जाय तो उनको अनागत कहते हैं। और उस दिन न करके यदि उसके अनन्तर अमावस्या पूर्णिमा या प्रतिपदा आदि तिथियोंमें किया जाय तो उनको अतिक्रान्त कहते हैं। कल स्वाध्यायका समय बीत जानेपर यदि शक्ति होगी तो उपवास करूंगा नहीं तो नहीं करूंगा, ऐसा संकल्प करके जो उपवास किया जाता है उसको कोटीयुत कहते हैं। जिस पाक्षिकादिक अवसर पर अवश्य ही उपवास करना

चाहिये उस समयपर किये गये उपवासको अखण्डित कहते हैं। सर्वतोमद्र कनकावली आदि जो उपवासोंके भेद बताये हैं उनको विधिपूर्वक और भेदसहित पालन किये जानेपर साकार उपवास कहते हैं। जो अपनी इच्छानुसार उपवास किया जाता है उसको निराकार कहते हैं। एक दिनका दो दिनका तथा सोलह प्रहरका चोवीस प्रहरका बत्तीस प्रहरका इत्यादि कालकी मर्यादा करके जो उपवास किया जाता है उसको परिमाण कहते हैं। जीवनपर्यन्तकेलिये जो चार या तीन आदि प्रकारके आहारादिका त्याग करना उसको अपरिमाण या अपरिशेष उपवास कहते हैं। वन नदी आदिमेंसे निकलकर जानेपर या कोई और भी ऐसे ही कारण मिलनेपर अर्थात् मार्ग तय करनेके निमित्तसे जो किया जाय उस उपवासको वर्तनीयात कहते हैं। जो किसी कारणविशेषसे–उपसर्ग आदि निमित्तोंकी अपेक्षासे किया जाय उसको सहेतुक कहते हैं। इस प्रकार उपवासके और उसके सम्बन्धसे प्रत्याख्यानके भी दश भेद हैं। इसी प्रकार विनय आदिकी अपेक्षासे, जिनकेकि निमित्तसे उसमें शुद्धि प्राप्त हुआ करती है, प्रत्याख्यानके चार भेद हैं। क्योंकि उसकी शुद्धिके कारण भी चार हैं– विनय अनुवाद अनुपालन और भाव। विनय शब्दका अर्थ पहले लिखा जा चुका है। उसके पांच भेदोंमेंसे यहांपर मोक्षमार्ग विषयक ही विनय ग्रहण करना चाहिये। मोक्षाश्रय विनयके भी पांच भेद हैं, दर्शनाश्रय ज्ञानाश्रय चारित्राश्रय तपआश्रय और उपचाराश्रय। इनमेंसे आदिके चार भेदोंको कृतिकर्म और पांचवें भेदको औपचारिक कहते हैं। इन विनयोंके निमित्तसे प्रत्याख्यान की शुद्धि हुआ करती है। अत एव प्रत्याख्यानकी विशुद्धिकी इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुओंको इनका यथाशक्ति और आगमके अनुकूल पालन करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

कृतिकर्मोपचारश्च विनयो मोक्षवर्त्मनि।
पञ्चधा विनयाच्छुद्धं प्रत्याख्यानमिदं भवेत्॥

जिस तरह गुरुने निरूपण किया है उसी तरह–उसमें स्वर पद मात्रा अक्षर आदिकी भी अशुद्धि न करके उनके वचनोंका यथावत् कथन करने को अनुवाद कहते हैं। इस प्रकार गुरुवाक्योंका अनुकथन करनेसे भी प्रत्याख्यानकी शुद्धि हुआ करती है। अतएव मुमुक्षुओंको इस आवश्यककी शुद्धिके लिये गुरुओंके कहे मूजब पाठ भी करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

गुरोर्वचोनुभाष्यं चेच्छुद्धं स्वरपदादिना ।
प्रत्याख्यानं तथाभूतमनुवादामलं भवेत् ॥

अर्थात् गुरुके वचनका अनुवाद करना हो तो स्वरपद आदिकी अपेक्षा शुद्ध ही करना चाहिये । ऐसा करनेसे जो प्रत्याख्यान हुआ करता है उसको अनुवादामल कहते हैं ।

गुरुकी आज्ञानुसार यथावत् आचरण करनेको, श्रम आतंक उपसर्ग दुर्भिक्ष आदिके निमित्तसे अथवा वन उपवन आदिमें रहकर भी आज्ञानुकूल आचरणका भंग न करनेको अनुपालन कहते हैं. ऐसा करनेसे भी प्रत्याख्यान की शुद्धि हुआ करती है । अतएव भव्योंको इसका भी पालन करना चाहिये । जैसा कि कहा भी है कि:—

श्रमातंकोपसर्गेषु दुर्भिक्षे काननेपि वा ।
प्रपालितं न यद्भग्नमनुपालनयाऽमलम् ।

इसी प्रकार प्रत्याख्यानकी चौथी शुद्धि भावोंकी अपेक्षासे बताई है । भाव नाम परिणामोंका है । जो प्रत्याख्यान रागद्वेषादिरूप अन्तरंग परिणामोंसे दूषित नहीं होता उसको भावशुद्ध कहते हैं । यथा —

रागद्वेषद्वयेनान्तर्येन्नैव दूषितम् ।
विज्ञेयं भावशुद्धं तत् प्रत्याख्यानं जिनागमे ॥

शरीर और इन्द्रियादिके निमित्तसे जो अशुभ कर्मका संचय हुआ करता है उसके दूर करनेको, अथवा वह जिन उपवासादि उपायोंसे दूर किया जाता है उनको भी प्रत्याख्यान कहते हैं । उपाय अनेक हैं अत एव इस प्रत्याख्यानके भी अनेक भेद हैं । किंतु इसका पालन करना आवश्यक है । इसलिये मुमुक्षुओंको अपनी २ शक्तिके अनुसार और आगमके अनुकूल इसका पालन अवश्य ही करना चाहिये ।

इस प्रकार षडावश्यकोंमेंसे प्रत्याख्यान नामके पांचवें भेदका व्याख्यान करके अब क्रमानुसार छट्टे भेद कायोत्सर्गका सात पद्योंमें वर्णन करना चाहते हैं । उसमें सबसे पहले कायोत्सर्गका स्वरूप क्या है ? उसका

पालन करनेवाला कैसा होना चाहिये ? वह क्यों किया जाता है ? और वह कितने प्रकारका है ? इन चार बातोंका निर्णय करनेके लिये क्रमसे उसका लक्षण, प्रयोक्ता—स्वामी, और हेतु-साधन तथा भेद-विधान इन चार बातोंका निर्देष करते हैं:—

मोक्षार्थी जितनिद्रक: सुकरण: सूत्रार्थविद्वीर्यवान्,
शुद्धात्मा बलवान् प्रलम्बितभुजायुग्मो यदास्तेऽचलम्
ऊर्ध्वज्ञुश्चतुरंगुलान्तरसमाग्रांघ्रिर्निषिद्धाभिधा,—
द्याचारात्ययशोधनादिह तनूत्सर्गः स षोढा मतः ॥ ७० ॥

दोनों पैरोंमें चार अंगुलका अन्तर रखकर एक सीधमें उनको इस तरहसे रखना कि जिसमें एक पैर दूसरेसे आगे पीछे न हो, और जंघाओंको भी ऊपरकी तरफ सीधा करके तथा दोनो बाहुओंको नीचे की तरफ लटकाकर निश्चल खडे रहनेको कायोत्सर्ग कहते हैं। अथवा काय शब्दसे शरीर सम्बन्धी ममत्व भी कहा जाता है। अत एव शरीरके विषयमें ममत्व न रखनेको भी कायोत्सर्ग कहते है। जैसा कि कहा भी है कि:—

ममत्वमेव कायस्थ तात्स्थ्यात् कायोऽभिधीयते ।
तस्योत्सर्गस्तनूत्सर्गो जिनबिम्बाकृतेर्यतेः ॥

अर्हन्त भगवानकी मूर्तिके समान निर्ग्रन्थ आकृति—मुद्रा धारण करनेवाला संयमी जो शरीरके ममत्वको छोडता है उसके इस कार्यको ही कायोत्सर्ग कहते हैं। क्योंकि काय शब्दसे आचार्योंने तद्विषयक ममत्व ही लिया है। इस कायोत्सर्गको धारण करनेका अधिकारी वह मुमुक्षु ही हो सकता है जो कि निद्राको जीतनेवाला हो, जिसकी क्रियाए और परिणाम प्रशस्त हों, जो आगमके अर्थको जाननेवाला हो, जिसमें वीर्यान्तराय कर्मके क्षयो-

१–वोसरिदबाहुजुयलो चतुरंगुलमतरेण समपादं ।
सव्वगचलणरहियो काओस्सग्गो विसुद्धो दु ॥

पशमसे उत्पन्न होनेवाली स्वाभाविक शक्ति और आहारादिके निमित्तसे संचित होनेवाली वैभाविक शक्ति मौजूद हो, और जिसकी आत्मा सम्यक्त्वादिके निमित्तसे शुद्ध हो चुकी है अर्थात् जो भव्य होनेके सिवाय चतुर्थादि गुणस्थानवर्ती है। एव जिसके परिणामोंमें विशुद्धि पाई जाती है। जैसा कि कहा भी है कि—

मोक्षार्थी जितनिद्रो हि सूत्रार्थज्ञः शुभक्रियः।
बलवीर्ययुत कायोत्सर्गी भावविशुद्धिभाक्॥

इस कायोत्सर्गका प्रयोजन अतिचारोंका शोधन करना है। जिन नाम आदिकोंका उच्चारण आदि करना आगममें निषिद्ध है उनका अनुष्ठानादि करनेसे उत्पन्न होनेवाले अतीचारोंको इस कायोत्सर्गके द्वारा दूर किया जाता है। वे निषिद्ध नामादिक छह हैं—नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव। रूखे कठोर असभ्य मर्मभेदी आदि शब्द निषिद्ध नाम कहे जाते हैं। इसी प्रकार स्थापना आदिके विषयमें भी समझना चाहिये। इनके सेवन करनेसे अथवा और भी किसी निमित्तसे जो दोष लगते है उनका संशोधन करना कायोत्सर्गका हेतु है। इसके सिवाय कायोत्सर्ग करनेसे तपकी वृद्धि और कर्मोंकी निर्जरा भी हुआ करती है। अत एव ये भी उसके हेतु है। जैसा कि कहा भी है कि:—

आगःशुद्धितपोवृद्धिकर्मनिर्जरणादयः।
कायोत्सर्गस्य विज्ञेया हेतवो व्रतवर्तिना॥

ऊपर निषिद्ध नामादिक छहभेदोंके नाम लिखे हैं। उनके अनुष्ठानसे लगे हुए दोष कायोत्सर्गके द्वारा दूर होते है, अतएव कायोत्सर्गके भी छह भेद हैं। सावद्य नामोंके उच्चारणादिसे लगे हुए दोषोंकी शुद्धिके लिये जो कायोत्सर्ग किया जाय उसको अथवा कायोत्सर्ग इस शब्दको ही नामकायोत्सर्ग कहते हैं। मिथ्यात्वकी वर्धक या जनक अथवा पापकी उत्पादक स्थापनाके निमित्तसे लगे हुए दोषोंका उच्छेद करनेके लिये जो किया जाय उसको अथवा कायोत्सर्गरूप परिणत प्रतिबिम्बको स्थापना कायोत्सर्ग कहते हैं। सावद्य द्रव्यका सेवन करनेसे लगे हुए अतीचारोंको दूर करनेके लिये जो कायोत्सर्ग किया जाय उसको, अथवा जिसमें कायोत्सर्गका वर्णन किया गया है ऐसे

शास्त्रके जाननेवाले अनुपयुक्त आत्माको, यद्वा उस आत्माके शरीर को या भाविपर्यायको, अथवा कर्मनोकर्मरूप तद्व्यतिरिक्तको द्रव्यकायोत्सर्ग कहते है। सावद्य क्षेत्रका सेवन करनेसे लगे हुए दोषोंको नष्ट करनेके लिये जो किया जाय उसको अथवा जहांपर कायोत्सर्ग किया गया हो उस स्थानको क्षेत्र कायोत्सर्ग कहते है। इसी प्रकार सावद्य समय के सेवनसे संचित हुए दोषोंका ध्वंस करनेके लिये जो किया जाय उसको अथवा जिस समयमें कायोत्सर्गका परिणमन हो उस समयको कालकायोत्सर्ग कहते हैं। मिथ्यात्वादि परिणाम रूप अतीचारोंका परिहार करनेके लिये किये गये कायोत्सर्गको अथवा जिसमें कायोत्सर्गका वर्णन किया गया है ऐसे शास्त्रके जाननेवाले उपयुक्त आत्माको या उस ज्ञानको अथवा उस जीवके प्रदेशोंको भाव कायोत्सर्ग कहते है।

कायोत्सर्गके कालका प्रमाण सामान्यतया तीन प्रकारका हो सकता है, जघन्य उत्कृष्ट और मध्यम। किन्तु इनका प्रमाण कितना कितना है और किस तरह नापा जा सकता है सो बताते है।—

कायोत्सर्गस्य मात्रान्तर्मुहूर्तोऽल्पा समोत्तमा।
शेषा गाथात्र्यंशचिन्तात्मोच्छ्वासैर्नैकधा मिता ॥ ७१ ॥

कायोत्सर्गका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट एक वर्ष, और मध्यम अनेक प्रकारका है। एक समय अधिक आवली प्रमाणकालसे लेकर एक समय कम मुहूर्त प्रमाणतकके कालको अन्तर्मुहूर्त कहते है। यह कायोत्सर्गका जघन्य काल है। इससे ऊपर-अधिक और एक वर्षसे कम दो तीन आदि मुहूर्त या प्रहर दिन पक्ष मास आदिक, कार्य काल द्रव्य क्षेत्र भाव आदिकी अपेक्षासे कायोत्सर्गके मध्यम कालके भेद अनेक है। जैसा कि कहा भी कि:—

अस्ति वर्षं समत्कृष्टो जघन्योन्तर्मुहूर्तग।
कायोत्सर्ग पुन शेषा अनेकस्थानगा मता॥

कायोत्सर्गके कालका यह प्रमाण उन उच्छ्वासों के द्वारा गिना जा सकता है जिनमें कि "णमो अरहंताण" इत्यादि गाथाके तीन अंशोंमेंसे प्रत्येक अंशका चिंतवन किया जाता है।

अर्थात् णमो अरहंताणं इत्यादि पंच नमस्कार मंत्र रूप गाथाके तीन अंश हैं। णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं इन दो नमस्कार पदोंका एक अंश, और णमो आइरियाणं णमो उवज्झायाणं इन दो नमस्कार पदोंका दूसरा एक अंश, इसी प्रकार णमो लोए सव्वसाहूण इस एक नमस्कारपदका तीसरा एक अंश। इनमेंसे एक एक अंशका चिन्तवन करनेमें जो प्राण वायु भीतर जाती और बाहर निकलती है उतनेमें एक उच्छ्वास हो जाता है। पूर्ण गाथा का एकवार चिन्तवन करनेमें तीन उच्छ्वास और नौवार चिन्तवन करनेमें सत्ताईस उच्छ्वास लगते हैं। अत एव इसी हिसाबसे सर्वत्र कायोत्सर्गके कालका प्रमाण मापा जा सकता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

सप्तविंशतिरुच्छ्वासा' संसारोन्मूलनक्षमे ।
सन्ति पञ्च नमस्कारे नवधा चिन्तिते सति ॥

भावार्थ—नौवार पंच नमस्कार मंत्रका चिन्तवन करनेमें सत्ताईस उच्छ्वास लगते हैं। यदि इस विधिसे इस मंत्रका चिन्तवन किया जाय तो यही मंत्र समस्त संसारके संहारमें समर्थ हो सकता है; इसीसे भवबनका उच्छेदन हो सकता है।

दैनिक रात्रिक या पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण वा कायोत्सर्गके समय कितने २ उच्छ्वास होने चाहिये सो बताते हैं:—

उच्छ्वासा: स्युस्तनूत्सर्गे नियमान्ते दिनादिषु ।
पञ्चस्वष्टशतार्धत्रिचतु:पञ्चशतप्रमा: ॥ ७२ ॥

दिन रात्रि पक्ष चतुर्मास और संवत्सर इन पांच अवसरोंपर वीरभक्ति करते समय जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसमें क्रमसे एकसौ आठ, चौअन, तीनसौ, चारसौ, और पांचसौ उच्छ्वास हुआ करते हैं। अर्थात् आह्निक कायोत्सर्गमें एकसौ आठ, रात्रि सम्बन्धी कायोत्सर्गमें चौअन, पाक्षिकमें तीनसौ, चातुर्मासिकमें चारसौ, और सांवत्सरिक कायोत्सर्गमें पांचसौ उच्छ्वास हुआ करते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

आह्निकेऽष्टशतं रात्रिभवेऽर्धं पाक्षिके तथा।
नियमान्तेऽस्ति सस्थेयमुच्छ्वासानां शतत्रयम् ॥
चतुःपञ्चशतान्याहुश्चतुर्मासाब्दसभवे।
इत्युच्छ्वासास्तनूत्सर्गे पञ्चस्थानेषु निश्चिताः ॥

मूत्र पुरीष आदिका उत्सर्ग करके जो प्रतिक्रमण किया जाता है उस समय अथवा अर्हत्शय्या अथवा साधुशय्याकी वन्दना करते समय यद्वा स्वाध्यायकी आदिमें जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसमें कितने २ उच्छ्वास हुआ करते हैं सो बताते हैं:—

मूत्रोच्चाराध्वभक्तार्हत्साधुशय्याभिवन्दने।
पञ्चाग्रा विंशतिस्तेस्युः स्वाध्यायादौ च सप्तयुक् ॥ ७३ ॥

मूत्रका या पुरीषका उत्सर्ग करके, एक ग्रामसे चलकर दूसरे ग्राममें पहुंचनेपर या भोजनके पीछे, अथवा अर्हच्छय्या या साधुशय्याकी वंदना करते समय जो कायोत्सर्ग किये जाते हैं उनमें पचीस पचीस उच्छ्वास हुआ करते है। इसी प्रकार स्वाध्यायकी आदिमें या अंतमें नित्यवंदनाके समय अथवा तत्काल मनमें विकार उत्पन्न होनेपर जो कायोत्सर्ग किया जाता है उनमें सत्ताईस सत्ताईस उच्छ्वास होने चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

ग्रामान्तरेऽन्नपानेर्हत्साधुशय्याभिवन्दने।
प्रस्रावे च तथोच्चारे उच्छ्वासा पञ्चविंशतिः ॥
स्वाध्यायोद्देशनिर्देशे प्रणिधानेथ वन्दने।
सप्तविंशतिरुच्छ्वा कार्योत्सर्गेभिसमता ॥

किसीभी ग्रथके प्रारम्भ करनेको उद्देश और उस प्रारब्ध ग्रंथ की समाप्तिको निर्देश कहते हैं। तथा मानसिक विकार वा तत्क्षण उत्पन्न हुए अशुभ परिणामोंको प्रणिधान कहते हैं। जिनेन्द्र भगवान्‌के निर्वाण

कल्याणक या समवसरण या केवलज्ञानकी उत्पत्ति अथवा दीक्षा कल्याणक वा जन्म कल्याणकके स्थानको अर्हच्छय्या और इसी प्रकार श्रमणोंके निषिद्धिका स्थानोंको साधुशय्या कहते हैं। इसके सिवाय सूत्रमें यह वचन जो कहा है कि:—

जन्तुघातानृतादत्तमैथुनेषु परिग्रहे ।
अष्टोत्तरशतोच्छ्वासा कायोत्सर्गाः प्रकीर्तिता ॥

अर्थात् —प्राणिपीडन अनृतवचन अदत्तग्रहण अब्रह्म या मूर्च्छारूप परिणामोंके हो जानेपर एक सौ आठ उच्छ्वास युक्त कायोत्सर्ग धारण करना चाहिये। सो यह कथन भी च शब्दसे सग्रहीत हो जाता है।

व्रतारोपणी आदि प्रतिक्रमणाओंके समय कायोत्सर्गके उच्छ्वासों की सख्या कितनी होनी चाहिये सो बताते हैं:—

या व्रतारोपणी सार्वातीचारिक्यातिचारिकी ।
औत्तमार्थी प्रतिक्रान्तिः सोच्छ्वासैराह्निकी समा ॥ ७४ ॥

व्रतारोपणी सर्वातीचारी आतिचारिकी और औत्तमार्थी प्रतिक्रमणाओंके उच्छ्वास आन्हिकी प्रतिक्रमणाके समान ही हुआ करते हैं। अर्थात् जिस प्रकार दैवसिक प्रतिक्रमणा करनेमें एक सौ आठ उच्छ्वासोंके द्वारा कायोत्सर्ग धारण किया जाता है उसी प्रकार व्रतारोपणी आदि प्रतिक्रमणाओंमें भी एकसौ आठ उच्छ्वासोंका ही कायोत्सर्ग हुआ करता है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग के उच्छ्वासोंकी संख्या बताकर अब यह बताते हैं कि दिनरातमें स्वाध्यायादिके विषयमें कुल कायोत्सर्ग कितने कितने हुआ करते हैं:—

स्वाध्याये द्वादशेष्टा षड्वन्दनेऽष्टौ प्रतिक्रमे ।
कायोत्सर्गा योगभक्तौ द्वौ चाहोरात्रगोचरा : ॥ ७५ ॥

स्वाध्यायके बारह, वन्दनाके छह, प्रतिक्रमणके आठ, और योगभक्तिके दो, इस तरह मिलाकर दिनरातमें अट्ठाईस कायोत्सर्ग हुआ करते हैं। इनका विशेष विभाग आगे चलकर लिखेंगे।

कर्मोंकी सातिशय निर्जरारूप फल प्राप्त करनेके लिये कायोत्सर्ग करते समय ध्यान और उपसर्ग तथा परीषहोंका सहन विशेषतया करना चाहिये, ऐसा उपदेश देते हैं:—

व्युत्सृज्य दोषान् निःशेषान् सद्ध्यानी स्यात्तनूत्सृतौ।
सहेताप्युपसर्गोर्मीन् कर्मैवं भिद्यतेतराम् ॥ ७६ ॥

कायोत्सर्गमें प्रवृत्त हुए मुमुक्षुओंको ईर्यापथादिक अतीचार अथवा कायोत्सर्ग सम्बन्धी समस्त दोष जिनका कि आगे चलकर वर्णन किया जायगा अच्छी तरहसे छोडकरके विशेषतया प्रशस्त ध्यानके करनेमें ही प्रवृत्त होना चाहिये। अर्थात् आलस्यको छोडकर धर्म्य यद्वा शुक्लध्यानका ही सेवन करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि.—

कायोत्सर्गस्थितो धीमान् मलमीर्यापथाश्रयम्।
नि शेष तत्समानीय धर्म्यं शुक्लं च चिन्तयेत्॥

अर्थात् कायोत्सर्ग करनेवाले विवेकी साधुओंको ईर्यापथ दोषोंको निःशेष करके धर्म्य वा शुक्ल ध्यानका चिन्तवन करना चाहिये। इतना ही नहीं बल्कि कायोत्सर्ग करनेमें यदि किसी भी तरहका उपसर्ग या परीषह आकर उपस्थित हो जाय तो उसको भी अच्छी तरह सहन करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेसे ही ज्ञानावरणादिक दुर्वार कर्मोंका प्रकर्षतया विश्लेषण—निर्जरण हो सकता है। अत एव निर्जराके अभिलाषियोंको कायोत्सर्ग करते समय परीषह और उपसर्गोंका भी अवश्य ही सहन करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

उपसर्गस्तनूत्सर्गं श्रितस्य यदि जायते।
देवमानवतिर्यग्भ्यस्तदा सह्यो मुमुक्षुणा॥

अर्थात् कायोत्सर्ग करनेमें देव मनुष्य या तिर्यंचोंके द्वारा किसी तरहका उपसर्ग आ उपस्थित हो तो वह मुमुक्षुओंको सहना चाहिये. क्योंकिः-

साधोस्त सहमानस्य निष्कम्पीभूतचेतसः ।
पतन्ति कर्मजालानि शिथिलीभूय सर्वत ॥
यथाङ्गानि विभिद्यन्ते कायोत्सर्गविधानतः ।
कर्माण्यपि तथा सद्य सचितानि तनूभृताम् ॥
यमिना कुर्वता भक्त्या तनूत्सर्गमदूषणम् ।
कर्म निर्जीर्यते सद्यो भवकोटिभ्रमार्जितम् ॥

जो साधु निष्कम्प होकर-चित्तमें जरा भी चलायमान न होकर इन उपसर्गों या परीषहोंका सहन करता है उसके सम्पूर्ण कर्मजाल शिथिल—जीर्ण होकर झड जाते है । जिस प्रकार कायोत्सर्ग करनेसे शरीरमें विश्लेषण होजाता है—शरीरके स्कन्ध ढीले पडकर निर्जीर्ण होजाते हैं उसी प्रकार प्राणियोंके संचित कर्म भी तत्काल निर्जीर्ण हो जाया करते है । अत एव जो संयमी इस कायोत्सर्गका भक्तिपूर्वक और अतीचार रहित पालन करता है उसके कोट्यों भवोंमें भ्रमण करनेसे भी संचित हुए कर्म क्षणमात्रमें ही निर्जीर्ण हो जाया करते है ।

जो योगी नित्य या नैमित्तिक क्रिया काण्डका अनुष्ठान करनेमें सदा दृढ प्रयत्न रहा करता है वह परम्परया अवश्य ही मोक्षका लाभ लिया करता है, ऐसा उपदेश देते हैः—

नित्येनेत्थमथेतरेण दुरितं निर्मूलयन् कर्मणा,
योऽभ्यासेन विपाचयत्यमलयन् ज्ञानं त्रिगुप्तिश्रितः ।
स प्रोद्‌बुद्धनिसर्गशुद्धपरमानन्दानुविद्धस्फुर,-
द्विश्वाकारसमग्रबोधशुभगं कैवल्यमास्तिघ्नुते ॥ ७७ ॥

जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है तदनुसार नित्य और नैमित्तिक क्रियाओंके द्वारा पापकर्मोंका निर्मूल निरसन करते हुए और मन वचन कायके व्यापारोंका भले प्रकार निग्रह करके-तीनों गुप्तियोंके आश्रयसे ज्ञानको निर्मल बनाते हुए जो अभ्यास-पुनः पुनः प्रवृत्तिके द्वारा अपने स्वपरावभासी ज्ञानको परिपक्व बनाता है वह उस कैवल्य-निर्वाणको प्राप्त करलेता है जो कि पुनः जन्ममरण के अभावसे अभिव्यक्त स्वाभाविक निर्मलतासे युक्त और परमोत्कृष्ट शांतिरूप प्रमोदसे अनुविद्ध-पृथक्तया अनुभवमें आनेवाले अर्थात् दूसरे सम्पूर्ण द्रव्योंमें मिला हुआ रहने पर भी अन्य द्रव्यरूप जिसका परिणमन अशक्य है, और इसी लिये जो अपने इस अशक्य विवेचनके द्वारा भिन्नरूपसे अनुभवमें आता है, एवं जिसमें समस्त लोक और अलोकका स्वरूप प्रकाशमान रहता और सम्पूर्ण द्रव्य तथा उनकी भूत भविष्यत् वर्तमान सब पर्यायें विषय हुआ करती हैं ऐसे परिपूर्ण ज्ञानके द्वारा अत्यंत रमणीय है।

भावार्थ—नित्य नैमित्तिक क्रियाओंके अनुष्ठानसे ही ज्ञान निर्मल और परिपक्व हुआ करता है जिससे कि कैवल्य की प्राप्ति हुआ करती है। अतएव योगियोंको नित्य नैमित्तिक कर्मकाण्डमें अवश्य ही प्रवृत्त होना चाहिये और उसका पुनः पुनः अभ्यास करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है किः—

नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्।
ज्ञानं च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन तु पाचयेत्॥

अर्थात् नित्य नैमित्तिक क्रियाओंके द्वारा पापका क्षय करते हुए ज्ञानको निर्मल बनाना चाहिये। तथा वार वार इस तरहकी प्रवृत्ति करके अपने इस ज्ञानको परिपक्व कर देना चाहिये। क्योंकि—

अभ्यासात् पक्वविज्ञानः कैवल्यं लभते नरः।

इस पुनः पुनः प्रवृत्तिके द्वारा ज्ञानके परिपक्व होजानेसे ही मनुष्य कैवल्यको प्राप्त करलेता है।

इस प्रकार आवश्यकोंका प्रकरण समाप्त हुआ।

अब नित्य नैमित्तिक कर्मकाण्डमेंसे पूर्वोक्त षडावश्यकोंके सिवाय जो कृतिकर्म बाकी रहजाता है उसका भी संग्रह करते हुए मुमुक्षुओंको उसका सेवन करनेकेलिये प्रेरित करते हैं:—

योग्यकालासनस्थानमुद्रावर्तशिरोनति ।
विनयेन यथाजातः कृतिकर्मामलं भजेत् ॥७८॥

संयमका ग्रहण करते समय जो निर्ग्रंथरूपसे पुनः उत्पन्न हुआ है और इसी लिये जो बाह्य तथा अभ्यंतर परिग्रहोंकी चिन्तासे सर्वथा रहित है ऐसे परम निःश्रेयसके अभिलाषी संयमीको योग्य—समाधिके लिये सहकारी निमित्त कारण—काल आसन स्थान मुद्रा आवर्त और शिरोनतिरूप कृतिकर्म—पापकर्मके उच्छेदन करनेवाले अनुष्ठानका बत्तीस दोषोंको टालकर और विनयपूर्वक सेवन करना चाहिये ।

पहले वन्दनाके प्रकरणमें उसकी विधि बताते समय दिनका आदि मध्य और अंत इस तरह वन्दनाके लिये तीन संधिकाल बता चुके है । किंतु वहांपर कालका परिमाण नहीं बताया है । अत एव यहांपर नित्य देववन्दनाके विषयमें तीनों कालोंका परिमाण बताते हैः—

तिस्रोऽह्नोन्त्या निशश्चाद्या नाड्यो व्यत्यासिताश्च ताः ।
मध्याह्नस्य च षट्कालास्त्रयोमी नित्यवन्दने ॥७९॥

तीन संधिकालोंकी अपेक्षासे वंदना भी तीन प्रकारकी होती है । पूर्वाह्नवन्दना अपराह्नवन्दना और मध्याह्नवन्दना । इन कालोंका परिमाण इस प्रकार है ।—दिनकी आदिकी तीन घडी और रात्रिकी अंतकी तीन-घडी इस तरह मिलाकर छह घडी काल पूर्वाह्न वन्दनाका है । तथा दिनकी अंतकी तीन घडी और रात्रिकी आदिकी तीन घडी इस तरह मिलाकर छह घडी काल अपराह्न वन्दनाका है. इसी प्रकार मध्यान्हसे तीन घडी पहलेका और तीन घडी पीछेका कुल मिलाकर छह घडी काल मध्याह्नवन्दनाका है । यह संध्या वन्दनाओंका उत्कृष्ट काल है, जैसा कि कहा भी है कि:—

मुहूर्तत्रितयं कालः सन्ध्यानां त्रितये बुधैः ।
कृतिकर्मविधेर्नित्यः परो नैमित्तिको मतः ॥

अर्थात् कृतिकर्मकी नित्यकी विधिके कालका उत्कृष्ट परिमाण तीनों संध्याओंमें तीन तीन मुहूर्त है ।

योग्य कालका स्वरूप बताकर अब क्रमानुसार योग्य आसनका स्वरूप बताते हैं:—

वन्दनासिद्धये यत्र येन चास्ते तदुद्यतः ।
तद्योग्यमासनं देशः पीठं पद्मासनाद्यपि ॥ ८० ॥

वन्दनाकी सिद्धिकेलिये उद्यत हुआ साधु जहांपर वन्दनाके लिये बैठता है अथवा जिसके द्वारा वन्दनामें प्रवृत्त होता है उस प्रदेश, पीठ [सिंहासन] या पद्मासनादिकको योग्य आसन कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

आस्यते स्थीयते यत्र येन वा वन्दनोद्यतैः ।
तदासनं विबोद्धव्यं देशपद्मासनादिकम् ॥

वन्दना कर्म करनेके लिये प्रवृत्त हुए साधु जहांपर या जिसके द्वारा वन्दनाके लिये बैठें उस देश या पद्मासनादिकका नाम आसन है ।

प्रदेश पीठ और पद्मासनादिकमेंसे वन्दनाके लिये प्रदेश कैसा होना चाहिये सो बताते हैं:—

विविक्तः प्रासुकस्त्यक्तः संक्लेशक्लेशकारणैः ।
पुण्यो रम्यः सतां सेव्यःश्रेयो देशः समाधिचित् ॥ ८१ ॥

मुमुक्षुओंको समाधिके साधक और वर्धक ऐसे प्रदेशमें वन्दना करनी चाहिये जो कि शुद्ध एकान्त तथा प्रासुक हो । अर्थात् जो अप्रशस्त लोक और संमूर्छनजीवोंसे सर्वथा रहित है, जहांपर संक्लेशके कारण रागद्वेषादिक या क्लेश-कष्टके कारण परीषह उपसर्ग नहीं पाये जाते, जो किसीके निर्वाण आदि कल्याणकके द्वारा पवित्र हो चुका है, और जो रमणीय तथा प्रशस्त ध्यानका वर्धक है ।

भावार्थ—समाधिके बाधक कारणों या दोषोंसे रहित और साधक कारणों या उपयुक्त गुणोंसे युक्त स्थानका ही साधुओंको वन्दनाकेलिये आश्रय लेना चाहिये। अत एव आगममें वर्ज्य और उपादेय इस तरह दो प्रकारके स्थान बताये है। जैमा कि कहा भी है कि:—

> संसक्तः प्रचुरच्छिद्रस्तृणपश्वादिदूषितः।
> विक्षोभको हृषीकाणां रूपगंधरसादिभिः ॥
> परीषहकरो दंशशीतवातातपादिभिः।
> असंबद्धजनालापः सावद्यारम्भगर्हितः ॥
> आर्द्रीभूतो मनोऽनिष्टः समाधाननिषूदकः।
> योऽशिष्टजनसंचारः प्रदेशं तं विवर्जयेत् ॥
> विविक्तः प्रासुकः सेव्यः समाधानविवर्धकः।
> देवर्जुदृष्टिसंपातवर्जितो देवदक्षिणः ॥
> जनसंचारनिर्मुक्तो ग्राह्यो देशो निराकुलः ॥
> नासन्नो नातिदूरस्थो सर्वोपद्रववर्जितः

जहांपर अनेक लोगोंका संसर्ग पाया जाता हो, जहां सर्प विच्छू मूषक आदिके छिद्र प्रचुरतासे पाये जांय, जो तृण कटक या पशु पक्षी आदिके द्वारा खराब हो गया हो, जिसके रूप रस या गधादिकके निमित्तसे इन्द्रियोंमें बिलकुल क्षोभ उत्पन्न होजाय, जहांपर दंशमशक या सर्दी गर्मी अथवा धूप वर्षा आदिके निमित्तसे परीषहें उपस्थित होती हों, जहांपर उन्मत्त आदि मनुष्योंका असंबद्ध प्रलाप हो रहा हो अथवा जहांपर पूर्वापर सम्बन्ध रहित बोलनेवाले लोगोंका कोलाहल पाया जाय, जो सावद्य आरम्भके निमित्तसे गर्हित-निंद्य है, जो ऊष्मा आदिके निमित्तसे गीला हो रहा हो, और जो मनके लिये अप्रिय—अरति उत्पन्न करनेवाला, एवं चित्तमेंसे निराकुल शांति या साताको नष्ट करदेनेवाला है और जहांपर अशिष्ट लोगोंका संचार—इतस्ततः भ्रमण या गमनागमन पाया जाता है ऐसा स्थान साधुओंके लिये वर्ज्य है। किंतु इसके विपरीत जो एकांत—जहां लोगोंका संसर्ग या गमनागमनादिक नहीं पाया जाता, जो सम्मूर्छन जीवोंसे रहित, सेवन करने योग्य, और चित्तमें अतिशय समाधान उत्पन्न करनेवाला

है, जहांपर देवकी सीधी दृष्टि नहीं पडती, अथवा जो देवस्थानसे दक्षिणभागकी तरफ है, और जहांपर मनुष्योंका सचार नहीं पाया जाता, जो आकुलताके कारणोंसे रहित, एवं न अत्यंत निकट और न अत्यत दूरवर्ती है, तथा जो सम्पूर्ण उपद्रवोंसे रहित है, ऐसा ही स्थान साधुओंको समाधिके लिये अंगीकार करना चाहिये।

क्रमानुसार कृतिकर्मके योग्य पीठका स्वरूप बताते हैं:—

विजन्त्वशब्दमच्छिद्रं सुखस्पर्शमकीलकम्।
स्थेयस्ताणाद्यधिष्ठेयं पीठं विनयवर्धनम् ॥ ८२ ॥

वन्दनाकी सिद्धिके लिये उद्यत हुए साधुओंको ऐसे आसनपर बैठना चाहिये जो कि तृण काष्ठ या पत्थर इनमेंसे किसीका बना हुआ हो, जिसमें घुण मत्कुण या अन्य ऐसे ही जीव नहीं पाये जाते, जिसमें किसी तरहका शब्द नहीं होता, और जो छिद्र रहित है, जिसका स्पर्श सुखकर है, और जो कील रहित, एवं निश्चल है, तथा उन्नतत्व उद्धतत्व आदि दोषोंसे रहित अर्थात विनयका बढानेवाला है।

वन्दनाके योग्य आसनका तीसरा भेद पद्मासनादिक बताया था। उन पद्मासनादिक-पद्मासन पर्यङ्कासन और वीरासनका ही स्वरूप बताते हैं:—

पद्मासनं श्रितौ पादौ जङ्घाभ्यामुत्तराधरे।
ते पर्यङ्कासनं न्यस्तावूर्वोर्वीरासनं क्रमौ ॥ ८३ ॥

जहांपर दोनों पैर जघाओंसे मिल जांय उसको पद्मासन कहते हैं। और दोनों जंघाओंको तराऊपर—एकके ऊपर दूसरीके रखनेसे जो आकार बनता है उसको पर्यङ्कासन कहते हैं। तथा दोनों जघाओंके ऊपर दोनों पैरोंके रखनेसे जो आकार बनता है उसको वीरासन कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

त्रिविध पद्मपर्यङ्कवीरासनस्वभावकम्।
आसन यत्नत कार्यं विदधानेन वन्दनाम् ॥

तत्र पद्मासनं पादौ जङ्घाभ्यां श्रयतो यते. ।
तयोरुपर्यधोभागे पर्यङ्कासनमिष्यते ॥
ऊर्वोरुपरि कुर्वाण· पादन्यास विधानत. ।
वीरासन यतिर्धत्ते दुष्कर दीनदेहिन· ॥

अर्थात् वन्दना करनेवालेको पद्मासन पर्यङ्कासन और वीरासन इन तीन प्रकारके आसनोंमेंसे कोई भी करना चाहिये। दोनों पैरोंके दोनों जंघाओंसे मिलजानेपर पद्मासन, दोनों जंघाओंको ऊपर नीचे रखनेसे पर्यङ्कासन, और दोनों पैरोंको दोनों जंघाओंके ऊपर रखनेसे वीरासन कहते हैं। यह वीरासन दुर्बल शरीर या हीन संहनन वालोंके लिये दुर्धर है। इसको उत्कृष्ट शक्तिवाले संयमी पुरुष ही धारण कर सकते हैं। इसके सिवाय कोई कोई इन तीनों आसनोंका स्वरूप इस प्रकार बताते हैं:—

जङ्घाया जङ्घया श्लिष्टे मध्यभागे प्रकीर्तितम् ।
पद्मासन सुखाधायि सुसाध सकलैर्जनै ॥
बुधैरुपर्यधोभागे जङ्घयोरुभयोरपि ।
समस्तयो· कृते ज्ञेय पर्यङ्कासनमासनम् ॥
ऊर्वोरुपरि निक्षेपे पादयोर्विहिते सति ।
वीरासन चिरं कर्तुं शक्य धीरैर्न कातरैः ॥

जंघाका दूसरी जंघाके मध्य भागसे मिल जानेपर पद्मासन हुआ करता है. इस आसनमें बहुत सुख होता है, और समस्त लोक इसको बडी सुगमतासे कर सकते हैं। दोनों जंघाओंको आपसमें मिलाकर ऊपरनीचे रखनेसे पर्यङ्कासन कहते हैं। दोनों पैरोंको दोनों जंघाओंके ऊपर रखनेसे वीरासन कहते हैं। इस आसनको जो कातर पुरुष हैं वे अधिक देरतक नहीं कर सकते धीर वीर ही कर सकते हैं।

किसी किसीने इन आसनोंका स्वरूप इस प्रकार बताया है कि:—

जङ्घाया मध्यभागे तु संश्लेषो यत्र जङ्घया ।
पद्मासनमिति प्रोक्त तदासनविचक्षणैः ॥

स्याज्जङ्घयोरधोभागे पादोपरि कृते सति ।
पर्यङ्को नाभिगोत्तानदक्षिणोत्तरपाणिक ॥
वामोंघ्रिर्दक्षिणोरूर्ध्वं वामोरुपरि दक्षिण' ।
क्रियते यत्र तद्धीरोचित्त वीरासन स्मृतम् ॥

जब एक जंघाका मध्यभाग दूसरी जंघामें मिल जाय तब उस आसनको पद्मासन कहते हैं । दोनों पैरोंके ऊपर जंघाओंके नीचेके भागको रखकर नाभिके नीचे ऊपरको हथेली करके ऊपरनीचे दोनों हाथोंको रखनेसे पर्यंकासन होता है । दक्षिण जंघाके ऊपर वामपैर और वाम जंघाके ऊपर दक्षिण पैर रखनेसे वीरासन बताया है जो कि धीर पुरुषोंके योग्य है ।

वन्दनाके योग्य आसनोंका स्वरूप बताकर स्थानविशेषका वर्णन करते हैं:—

स्थीयते येन तत्स्थानं वन्दनायां द्विधा मतम् ।
उद्भीभावो निषद्या च तत्प्रयोज्यं यथाबलम् ॥ ८४ ॥

वन्दनाके प्रकरणमें स्थान शब्दका अर्थ यह होता है कि वन्दना करनेवाला शरीरकी जिस आकृति या क्रियाके द्वारा एक ही जगहपर स्थित रहे या ठहरा रहे उसको स्थान कहते हैं । यह ठहरना दो प्रकारसे हो सकता है-एक खडे रहकर, दूसरा बैठकर । अतएव स्थानके दो भेद हैं, एक उद्भीभाव दूसरा निषद्या । वन्दना करनेवालोंको अपनी शक्तिके अनुसार इन दो प्रकारके स्थानोंमेंसे चाहे जौनसे स्थानका उपयोग करना चाहिये । जैसा कि कहा भी है कि:—

स्थीयते येन तत्स्थान द्विप्रकारमुदाहृतम् ।
वन्दना क्रियते यस्मादुद्भीभूयोपविश्य वा ॥

अर्थात्—जिसके द्वारा स्थित रहा जाय उसको स्थान कहते हैं । यह दो प्रकारका होता है ।क्योंकि वन्दना खडे होकर अथवा बैठ कर दोनो ही तरहसे की जाती है ।

स्थानके अनंतर मुद्राका नामोल्लेख किया था अतएव क्रमके अनुसार मुद्राओंका वर्णन होना चाहिये। मुद्रा अनेक प्रकारकी होती हैं किंतु कृतिकर्मके योग्य चार तरहकी ही मुद्रा मानी गई हैं। जिनमुद्रा योगमुद्रा वन्दनामुद्रा और मुक्ताशुक्तिमुद्रा। इनमेंसे पहले आदिकी दोनों मुद्राओंका स्वरूप बताते हैं:—

मुद्राश्चतस्रो व्युत्सर्गस्थितिर्जैनीह यौगिकी।
न्यस्तं पद्मासनाद्यङ्के पाण्योरुत्तानयोर्द्वयम् ॥ ८५ ॥

मुद्रा चार प्रकारकी हैं जिनमुद्रा योगमुद्रा वन्दनामुद्रा और मुक्ताशुक्तिमुद्रा। दोनों भुजाओंको लटकाकर और दोनों पैरोंमें चार अंगुलका अंतर रखकर कायोत्सर्गके द्वारा—शरीरको छोडकर खडे रहनेका नाम जिनमुद्रा है। इसका स्वरूप पहले लिखा जा चुका है। इसके सिवाय जिनमुद्राका आगममें भी यही लक्षण लिखा है। यथाः—

जिनमुद्रान्तरं कृत्वा पादयोश्चतुरङ्गुलम्।
ऊर्ध्वजानोरवस्थानं प्रलम्बितभुजद्वयम् ॥

पद्मासन पर्यंकासन और वीरासनका स्वरूप पहले लिखा जा चुका है। इन तीनोंमेंसे कौनसे भी आसनको मांडकर नाभिके नीचे ऊपरको हथेली करके दोनों हाथ ऊपर नीचे रखनेसे योगमुद्रा होती है। जैसा कि कहा भी है किः

जिनाः पद्मासनादीनामङ्कमध्ये निवेशनम्।
उत्तानकरयुग्मस्य योगमुद्रां बभाषिरे ॥

वन्दना मुद्रा और मुक्ताशुक्ति मुद्राका स्वरूप बताते हैं:—

स्थितस्याध्युदरं न्यस्य कूर्परौ मुकुलीकृतौ।
करौ स्याद्वन्दनामुद्रा मुक्ताशुक्तिर्युताङ्गुली ॥ ८६ ॥

१—इसी अध्यायके श्लोक ७० मोक्षार्थी जितनिद्रक आदिके प्रलंबितभुजायुग्म इत्यादि शब्दोंके द्वारा।

खडे होकर दोनों कोंहानियोंको पेटके ऊपर रखने और दोनों करों–हाथोंको मुकुलित कमलके आकारमें बनाने पर वन्दनामुद्रा होती है। जैसा कि कहा भी है कि:—

मुकुलीकृतमाधाय जठरोपरि कूर्परम्।
स्थितस्य वन्दनामुद्रा करद्वन्द्व निवेदिता ॥

अर्थात् दोनों हाथ जोड कर कोंहनीको पेटपर रखकर खडे रहनेवालेके वन्दना मुद्रा बताई है।

इसी प्रकार खडे रहकर और दोनों कोंहानियोंको पेटके ऊपर रखकर दोनों हाथोंकी अंगुलियोंको आकार विशेषके द्वारा आपसमें संलग्न करके मुकुलित बनानेसे मुक्ताशुक्तिमुद्रा होती है। जैसा कि कहा भी है कि:—

मुक्ताशुक्तिर्मता मुद्रा जठरोपरि कूर्परम्।
ऊर्ध्वजानोः करद्वन्द्व सलग्नाङ्गुलि सूरिभिः ॥

इन चार प्रकारकी मुद्राओंमेंसे कौनसी मुद्राका प्रयोग किस विषयमें करना चाहिये सो बताते हैं:—

स्वमुद्रा वन्दने मुक्ताशुक्तिः सामायिकस्तवे ।
योगमुद्रास्यया स्थित्या जिनमुद्रा तनूज्झने ॥ ८७ ॥

आवश्यकोंका पालन करनेवालोंको वन्दनाके समय वन्दनामुद्रा, और " णमो अरहंताण " इत्यादि सामायिकदण्डकके समय तथा " थोस्सामि " इत्यादि चतुर्विंशतिस्तवदण्डकके समय मुक्ताशुक्तिमुद्राका प्रयोग करना चाहिये. इसी प्रकार बैठकर कायोत्सर्ग करते समय योगमुद्रा और खडे होकर कायोत्सर्ग करते समय जिनमुद्रा धारण करनी चाहिये।

मुद्राके अनन्तर क्रमके अनुसार आवर्तोंके स्वरूपका निरूपण करते हैं:—

शुभयोगपरावर्तानावर्तान् द्वादशाहुराद्यन्ते ।

साम्यस्य हि स्तवस्य च मनोङ्गगीः संयतं परावर्त्यम् ॥ ८८ ॥

मन वचन और शरीरकी चेष्टाको अथवा उसके द्वारा होनेवाले आत्म प्रदेशोंके परिस्पन्दको योग कहते हैं हिंसादिक अशुभ प्रवृत्तियोंसे रहित योग प्रशस्त समझा जाता है. इसी प्रशस्त योगको एक अवस्थासे हटाकर दूसरी अवस्थामें लेजानेका नाम परावर्तन है। और इसका दूसरा नाम आवर्त भी है। इसके मन वचन और कायकी अपेक्षा तीन भेद, और यह सामायिक तथा स्तवकी आदिमें और अंतमें किया जाता है अतएव इसके बारह भेद होते है। जो मुमुक्षु साधु वन्दना करनेके लिये उद्यत हैं उन्हे यह बारहों प्रकारका आवर्त करना चाहिये। अर्थात् उन्हे अपने २ मन वचन और काय सामायिक तथा स्तवकी आदि एव अन्तमें पापव्यापारसे हटाकर अवस्थान्तरको प्राप्त कराने चाहिये।

भावार्थ—सामायिककी आदिमें समस्त क्रियाविज्ञापन विकल्पोंको छोडकर सामायिक दण्डकके उच्चारण करने में ही मनका उपयोग लगाना इसको संयतमनआवर्त कहते है। इसी प्रकार जिसमें भूमिका स्पर्श करना पडता है ऐसी अवनति क्रियारूप वन्दनामुद्रा करके पुनः खडे होकर मुक्ताशुक्ति मुद्राके द्वारा दोनों हाथोंका तीन वार घुमाना इसको संयत कायपरावर्तन कहते हैं। तथा " चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहं " इत्यादि पाठका उच्चारण कर चुकनेपर " णमो अरहंताण " इत्यादि पाठके उच्चारण करनेमें जो वचनको लगाना उसको सयत वाक्परावर्तन कहते हैं। इस प्रकार सामायिक दण्डक की आदिमें ये तीन आवर्त—शुभ योगोंके परावर्तन हुआ करते हैं इसी तरह अतके भी तीन आवर्त यथायोग्य समझलेने चाहिये। तथा इसी प्रकार स्तव दण्डकके भी आदिमें एवं अतमें तीन तीन आवर्त समझने चाहिये। इस तरह कुल मिलाकर एक कायोत्सर्गमें बारह आवर्त हुआ करते हैं।

यह बात भगवान् वसुनंदि सैद्धान्तदेवने आचारटीकाके अन्दर " दुओणदंजहाजादं " इत्यादि सूत्रका व्याख्यान करते समय कही है। तथा क्रियाकाण्डमें भी कहा है कि:—

द्वे नते साम्यनुत्यादौ भ्रमास्त्रिस्त्रियोगगाः।
त्रिःशिरोभ्रम प्रणामश्च साम्ये स्तवे मुखान्तयोः ॥

अर्थात्– सामायिकके आदिमें और अंतमें दो नति त्रियोगसम्बन्धी तीन २ आवर्त और प्रत्येक दिशामें तीन २ भ्रमणके पीछे एक एक प्रणाम हुआ करता है। भावार्थ प्रत्येक भ्रमणके करते समय चारों दिशाओंमें एक २ प्रणाम होता है। अतएव तीन भ्रमणके मिलाकर बारह प्रणाम हो जाते हैं।

ऊपर आवर्तका अर्थ योगत्रयका बदलना लिखा है, किंतु वृद्ध व्यवहारमें इसका अर्थ हाथोंका घुमाना होता है। अतएव प्राचीन व्यवहारके अनुरोधसे इस प्रकारके आवर्तका भी उपदेश देते हैं :—

त्रिः संपुटीकृतौ हस्तौ भ्रमयित्वा पठेत् पुनः।
साम्यं पठित्वा भ्रमयेत्तौ स्तवेऽप्येतदाचरेत् ॥ ८९ ॥

आवश्यकों का पालन करनेवाले तपस्वियों को सामायिक पाठका उच्चारण करनेके पहले दोनों हाथोंको मुकुलित बनाकर तीन वार घुमाना चाहिये। घुमाकर सामायिकके " णमो अरहंताणं " इत्यादि पाठका उच्चारण करना चाहिये। पाठ पूर्ण होनेपर फिर उसी तरह मुकुलित हाथोंको तीनवार घुमाना चाहिये। यही विधि स्तव दण्डकके विषयमें भी समझनी चाहिये।

भावार्थ — दोनों हाथोंका संपुट बनाकर तीन वार घुमाना और फिर चतुर्विंशति स्तवदण्डकका पाठ करना। पाठ के अनंतर फिर उसी तरह दोनों हाथोंके संपुटको तीन वार घुमाना चाहिये। व्युत्सर्ग तपका वर्णन करते समय चारित्र सारमें भी कहा है कि: —

इन आवश्यक क्रियाओंको करनेवाला साधु शक्तिको न छिपाकर न शक्तिसे अधिक किंतु शक्तिके अनुरूप खडे होकर अथवा खडे होनेकी शक्ति न हो तो पर्यंकासनसे मन वचन कायको शुद्ध करके दोनों हाथोंका संपुट बनाकर क्रिया विज्ञापनापूर्वक सामायिक दण्डकका उच्चारण करे। इस तरह तीन आवर्त और एक शिरोनति होती है। इसी तरह सामायिकदण्डकके अंतमें भी करना, तथा यथोक्त कालतक जिनभगवान्‌के गुणोंका स्मरण करते हुए कायव्युत्सर्गको करके दूसरे दण्डककी आदिमें तथा समाप्तिमें भी इसी प्रकार करना चाहिये। इस तरह कुल मि-लाकर एक कायोत्सर्गके बारह आवर्त और चार शिरोनति होजाती है।

वन्दना आदि नित्य कर्म करनेमें योग्य काल आसन स्थान मुद्रा आदिका आश्रय लेनेका पहले जो वर्णन कर चुके हैं उसके अनुसार आवर्तोंका स्वरूप बतानेके बाद शिरोनतिका वर्णन करना क्रम प्राप्त है अतएव उसका वर्णन करते हैं:—

प्रत्यावर्तत्रयं भक्त्या नन्नमत् क्रियते शिरः ।
यत्पाणिकुड्मलाङ्कं तत् क्रियायां स्याच्चतुःशिरः ॥ ९० ॥

प्रकृतमें शिर शब्दका अर्थ भक्तिपूर्वक मुकुलित हुए दोनों हाथोंसे संयुक्त मस्तकका तीन तीन आवर्तोंके अनतर नम्रीभूत होना समझना चाहिये। भावार्थ—यहांपर शिर शब्दसे शिरोनति अर्थ समझना चाहिये चैत्यभक्ति आदिके अथवा कायोत्सर्गके विषयमें चार २ शिरोनति की जाती है क्योंकि सामायिक दण्डक तथा स्तव दण्डकके आदि और अन्तमें तीन तीन आवर्तके अनन्तर एक एक शिरोनति करनेका आगम में विधान किया है

चैत्यभक्ति आदि करते समय आवर्त और शिरोनति दूसरी तरहसे भी हो सकती हैं। इसी बातको बताने के लिये सूत्र कहते हैं :—

प्रतिभ्रामरि वार्चादिस्तुतौ दिश्येकशश्चरेत् ।
त्रीनावर्तान् शिरश्चैकं तदाधिक्यं न दुष्यति ॥ ९१ ॥

चैत्यादि की भक्ति करते समय प्रत्येक प्रदक्षिणामें पूर्वादिक चारो दिशाओं की तरफ प्रत्येक दिशामें तीन आवर्त और एक शिरोनति करनी चाहिये। यहांपर यह बात भी ध्यानमें रखनी जरूरी है कि आवर्त और शिरोनतिका जो प्रमाण बताया गया है उससे यदि अधिक आवर्त तथा शिरोनति हो जांय तो वह कोई दोषका कारण नहीं है।

भावार्थ—चारो दिशाओं के मिलाकर चार शिरोनति और बारह आवर्त चैत्यभक्ति आदि करने वाले के प्रत्येक प्रदक्षिणामें हो जाते हैं। जैसा कि कहा भी है कि :—

चतुर्दिक्षु विहारस्य परावर्तास्त्रियोगगाः।
प्रतिभ्रामरि विज्ञेया आवर्ता द्वादशापि च।

अर्थात् — चैत्यभक्ति आदि करते समय चारो दिशाओंकी तरफ प्रदक्षिणा देते हुए त्रियोग सम्बन्धी परावर्तन हुआ करते हैं। प्रत्येक दिशामें तीन आवर्त हुआ करते हैं। अतएव प्रत्येक प्रदक्षिणामें बारह आवर्त हो जाते हैं।

आवर्त और शिरोनति उक्त प्रमाणसे अधिक भी हो जांय जैसाकि तीन प्रदक्षिणा देने आदिके समय संभव है तो उसमें कोई दोष न समझना चाहिये। क्योंकि इस विषयमें चारित्र सारमें भी कहा है कि:—

" एकस्मिन् प्रदाक्षिणीकरणे चैत्यादीनामभिमुखीभूतस्यावर्तत्रयैकावनमने कृते चतसृष्वपि दिक्षु द्वादशावर्ताश्चतस्रः शिरोवनतयो भवन्ति। आवर्तानां शिरःप्रणतीनामुक्तप्रमाणादाधिक्यमपि न दोषाय "

अर्थात — एक या पहली प्रदक्षिणा देनेमें प्रतिमा आदिके सम्मुख खडे होकर तीन आवर्त और एक शिरोनति की जाती है, इसलिये चारो दिशाओंमें मिलकर बारह आवर्त और चार शिरोनति हो जाती है। आवर्त और शिरोनति इस प्रमाणसे अधिक भी हो जांय तो उसमें कोई दोष नहीं है।

इसी अभिप्रायका समर्थन करते हैं:—

दीयते चैत्यनिर्वाणयोगिनन्दीश्वरेषु हि।
वन्द्यमानेष्वधीयानैस्तत्तद्भक्तिं प्रदक्षिणा ॥ ९२ ॥

जिस समय मुमुक्षु संयमी चैत्य वंदना या निर्वाण वंदना अथवा योगि वंदना यद्वा नंदीश्वर चैत्य वंदना किया करते है; उस समय तत्तद्भक्तिका पाठ बोलते हुए वे प्रदक्षिणा दिया करते हैं।

भावार्थः—चैत्यादि वंदना करते समय चैत्यभक्ति आदिका जो पाठ क्रिया काण्डमें प्रसिद्ध है उसको बोलते हुए प्रदक्षिणा दी जाती है, इससे जब कि एक ही प्रदक्षिणामें बारह आवर्त और चार शिरोनति हो जाती हैं तब

उससे अधिक प्रदक्षिणा होजानेपर आवर्त और शिरोनति का प्रमाण भी अधिक हो सकता है, ऐसा सिद्ध होता है।

ग्रंथकार अपने और दूसरे आचार्योंके मतमे शिरोनतिके विषयका निर्णय प्रकट करते हैं:—

द्वे साम्यस्य स्तुतेश्चादौ शरीरनमनान्नती ।
वन्दनाद्यन्तयोः कैश्चिन्निविश्य नमनान्मते ॥ ९३ ॥

सामायिक दण्डक और चतुर्विंशति स्तवकी आदिमें दो शिरोनति करनी चाहिये । यह नति शरीरके पांचो अंगोंको नमाकर जिससे कि भूमिका स्पर्श हो जाय इस तरहसे करनी चाहिये । श्रीस्वामी समन्तभद्र प्रभृति आचार्योंने दो नति मानी है । परन्तु उनको वन्दनाकी आदि और अंतमें बैठकर प्रणाम करके दो नति करना इष्ट है। जैसा कि श्री भगवान् प्रभाचन्द्र देवने रत्नकरण्डकी टीकामें "चतुरावर्तत्रितय–" इत्यादि सूत्रके "द्विनिषद्य" इस पदका व्याख्यान करते समय लिखा है कि "देववन्दनां कुर्वता हि प्रारम्भे समाप्तौ चोपविश्य प्रणामः कर्तव्यः।" अर्थात् देववन्दना करने वालेको आदि और अंतमें बैठकर प्रणाम करना चाहिये ।

प्रणामके भेद और उनका स्वरूप दो श्लोकोंद्वारा बताते हैं:—

योगैः प्रणामस्त्रेधार्हज्ज्ञानादेः कीर्तनात्त्रिभिः ।
कं करौ ककरं जानुकरं ककरजानु च ॥ ९४ ॥
नम्रमेकाद्वित्रिचतुःपञ्चाङ्गः कायिकः क्रमात् ।
प्रणामः पञ्चधावाचि यथास्थानं क्रियेत सः ॥ ९५ ॥

मन वचन और कायकी अपेक्षा प्रणाम तीन प्रकारका है । क्योंकि सर्वज्ञ वीतराग श्री अर्हत्परमेष्ठी अथवा सिद्ध भगवान्के ज्ञानादिक गुणोंका कीर्तन इन तीनों ही योगोंके द्वारा किया जाता है. इनमेंसे शारीरिक प्रणाम पांच प्रकारका है । कायिक प्रणाममें शरीरके अंगोंको नम्रीभूत किया जाता है, अतएव शरीरके पांच अंगोंकी अपेक्षा

कायिक प्रणाम भी पांच तरहका माना है। जिसमें शरीरका एक अंग नम्रीभूत हो उसको एकाङ्ग, और जिसमें दो अंग नम्रीभूत हों उसको द्व्यङ्ग, और जिसमें तीन चार पांच अंग नम्रीभूत कियेजांय उसको क्रमसे त्र्यंग चतुरंग पंचांग कायिक प्रणाम कहते हैं।

एकाङ्ग प्रणाममें केवल शिरको ही नमाया जाता है। द्व्यङ्गमें दोनों हाथ जोडकर नम्रीभूत किये जाते है। त्र्यंगमें दोनों हाथ और शिर नत हुआ करता है। चतुरङ्गमे दोनों हाथ और दोनों घुटने नत किये जाते है। और पचाङ्गमें मस्तक दोनों हाथ और दोनों घुटने नम्र करने चाहिये

कृतिकर्म करने वालोंको इन पाच प्रकारके प्रणामोंमेंसे जो प्रणाम जिस स्थानपर करना उचित है उसको उसी स्थानपर करना चाहिये। जैसे कि सामायिक दण्डक की आदिमें पचाङ्ग प्रणाम करना चाहिये। कहा भी है कि:—

मनसा वचसा तन्वा कुरुते कीर्तन मुनि ।
ज्ञानादीना जिनेन्द्रस्य प्रणामस्त्रिविधो मत ॥
एकाङ्गो नमने मूर्ध्नो द्व्यङ्ग स्यात् करयोरपि ।
त्र्यङ्ग करशिरोनामे प्रणाम कथितो जिने. ॥
करजानुविनामेऽसौ चतुरङ्गो मनीषिभि ।
करजानुशिरोनामे पञ्चाङ्ग परिकीर्तित ॥
प्रणाम कायिको ज्ञात्वा पञ्चधेति मुमुक्षुभिः ।
विधातव्यो यथास्थान जिनसिद्धादिवन्दने ॥

अर्थात्—मुनिजन जिनेन्द्रके ज्ञानादिका मन वचन और कायसे कीर्तन किया करते हैं। अतएव त्रियोग की अपेक्षा प्रणाम तीन प्रकारका है। जिसमें कायिक प्रणाम पांच तरहका है। शिरके नमानेपर एकाङ्ग, दोनों हाथों के नमानेपर द्व्यङ्ग, दोनों हाथ और शिरके नमानेपर त्र्यंग, दोनों हाथ और दोनों जानुओंके नमानेपर चतुरंग, और दोनों हाथ दोनों जानु तथा एक शिरके नमानेपर पंचाङ्ग प्रणाम कहा जाता है। इन पांच प्रकारके प्रणामोंमेंसे

स्तब्धमत्यासन्नभाव: प्रविष्टं परमेष्ठिनाम् ॥ ९८ ॥

१—बन्दनाके कर्ममें तत्परता न रखना, अर्थात् उसको प्रधान मानकर जैसी प्रवृत्ति होनी चाहिये वैसी न करना और उसमें आदर भाव रहित होना, इसको वन्दनाका पहला अनादृत नामका दोष समझना चाहिये।

२ ज्ञान पूजा कुल जाति आदि आठ विषयोंकी अपेक्षा लेकर जो अहंकार होता है उसको मद कहते हैं। इन आठो ही अथवा इनमेंसे अन्यतरके द्वारा अपनेमें उत्कर्षकी समावना करके इन मदोंके वशीभूत हो जाना इसको स्तब्ध नामका दूसरा दोष समझना चाहिये।

३— अर्हदादिक परमेष्ठियों के अत्यंत निकट वर्ती होकर उनकी वन्दना करना इसको वन्दनाका तीसरा प्रविष्ट नामका दोष समझना चाहिये।

हस्ताभ्यां जानुनो: स्वस्य संस्पर्श: परिपीडितम्।
दोलायितं चलन् कायो दोलावत् प्रत्ययोथवा ॥ ९९ ॥

४ —अपने दोनों हाथोंसे अपनी दोनों जंघाओंका चारो तरफ स्पर्श करना, अर्थात् वन्दना करते समय जंघाओंपर हाथ फेरते जाना या फेरना इसको वंदनाका परिपीडित नामका चौथा दोष कहते हैं।

५—जिस प्रकार झूलापर बैठे हुए आदमीका शरीर चलायमान हुआ करता है उसी प्रकार वन्दना करनेवाला यदि अपने शरीरका यातायात करे तो उसको दोलायित दोष समझना चाहिये। अर्थात् वंदना करते समय यदि शरीर आगेको झुके फिर पीछे को फिर आगेको फिर पीछेको इसी तरह चलायमान हो तो वंदनाका वह पांचवां दोलायित दोष है। अथवा स्तुत्य स्तुति और स्तुतिके फलके विषयमें चलायमान ज्ञानका होना —संशय करना उसको भी दोलायित दोष कहते हैं।

भालेंकुशवदङ्गुष्ठविन्यासोऽङ्कुशितं मतम्।
निषेदुष:कच्छपवद्रिङ्ग्वा कच्छपरिङ्गितम् ॥ १०० ॥

काय का व्यापार विशुद्ध पाया जाय। जहांपर तीनों ही योग कालुष्यरहित रहा करते हैं। और जो अपने चितिकर्म सम्बन्धी तथा व्युत्सर्ग सम्बन्धी बत्तीस २ दोषोंसे रहित हो। कहा भी है कि:—

दुओणद जहाजाद बारसावत्तमेव य।
चदुस्सिरं तिसुद्ध च किदियम्म पउज्जदे ॥
तिविह तियरगसुद्ध मयरहिय दुविहठाणपुणरुत्त।
विणएण कमविसुद्ध किदियम्म होइ कायव्व ॥
किदियम्म पि कुणतो ण होदि किदियम्मि णिज्जराभागी।
बत्तीसाणण्णदर साहुट्ठाण विराहंतो ॥

अर्थात—बारह आवर्त चार शिरोनति और मनवचनकायकी शुद्धिसे युक्त यथाजात नित्य नैमित्तिक क्रिया करनी चाहिये। तीन करणोंसे शुद्ध मदरहित दो प्रकारके स्थानोंसे (उर्द्ध्वीभाव और उपवेशन) युक्त और क्रमपूर्वक किये जानेसे विशुद्ध तीन प्रकारका कृतिकर्म करना चाहिये। कृतिकर्म करनेपर भी कृतिकर्मका फल प्राप्त नहीं हुआ करता। क्योंकि बत्तीस जो साधुस्थान बताये है उनमेंसे किसी एकका भी विराधन करनेवाला साधु निर्जराका भागी नहीं बन सकता। अर्थात् बत्तीस दोषोंको टालकर जो जिनवंदना आदि करता है वही कर्मोकी निर्जरा कर सकता है।

यहांपर जिन बंदनाके ३२ और कायोत्सर्गके ३२ दोष टालनेके लिये जो कहा है उसमें वन्दना सम्बन्धी ३२ दोषोंका स्वरूप चौदह श्लोकोंके द्वारा बताते हैं:—

अनादृतमतात्पर्यं वन्दनायां मदोद्धृतिः[१]।

१—आगे चलकर १११ वें गाथामें ऐसा कहेंगे कि " इनि दोषोज्झिता कार्या वन्दना निर्जरार्थिना। " अर्थात् निर्जरार्थियोंको इस प्रकार ३२ दोषोंसे रहित वन्दना करनी चाहिये। सो इस श्लोकका सम्बन्ध वहातक जोडलेना चाहिये। तथा १०४ के श्लोकमें मल शब्द आया है इसलिये मध्य दीपक न्यायसे अथवा अन्त्यदीपकन्यायसे इन अनादृतादिक भावोंको वन्दनाका दोष समझना।

स्तब्धमत्यासन्नभावः प्रविष्टं परमेष्ठिनाम् ॥ ९८ ॥

१—वन्दनाके कर्ममें तत्परता न रखना, अर्थात् उसको प्रधान मानकर जैसी प्रवृत्ति होनी चाहिये वैसी न करना और उसमें आदर भाव रहित होना, इसको वन्दनाका पहला अनादृत नामका दोष समझना चाहिये।

२ ज्ञान पूजा कुल जाति आदि आठ विषयोंकी अपेक्षा लेकर जो अहंकार होता है उसको मद कहते हैं। इन आठो ही अथवा इनमेंसे अन्यतरके द्वारा अपनेमें उत्कर्षकी संभावना करके इन मदोंके वशीभूत हो जाना इसको स्तब्ध नामका दूसरा दोष समझना चाहिये।

३— अर्हदादिक परमेष्ठियों के अत्यंत निकट वर्ती होकर उनकी वन्दना करना इसको वन्दनाका तीसरा प्रविष्ट नामका दोष समझना चाहिये।

हस्ताभ्यां जानुनोः स्वस्य संस्पर्शः परिपीडितम्।
दोलायितं चलन् कायो दोलावत् प्रत्ययोऽथवा ॥ ९९ ॥

४ — अपने दोनों हाथोंसे अपनी दोनों जंघाओंका चारो तरफ स्पर्श करना, अर्थात् वन्दना करते समय जंघाओंपर हाथ फेरते जाना या फेरना इसको वंदनाका परिपीडित नामका चौथा दोष कहते हैं।

५—जिस प्रकार झूलापर बैठे हुए आदमीका शरीर चलायमान हुआ करता है उसी प्रकार वन्दना करनेवाला यदि अपने शरीरका यातायात करे तो उसको दोलायित दोष समझना चाहिये। अर्थात् वंदना करते समय यदि शरीर आगेको झुके फिर पीछे को फिर आगेको फिर पीछेको इसी तरह चलायमान हो तो वंदनाका वह पांचवां दोलायित दोष है। अथवा स्तुत्य स्तुति और स्तुतिके फलके विषयमें चलायमान ज्ञानका होना —संशय करना उसको भी दोलायित दोष कहते हैं।

भालेंकुशवदङ्गुष्ठविन्यासोऽङ्कुशितं मतम्।
निषेदुषः कच्छपवद्रिङ्खा कच्छपरिङ्गितम् ॥ १०० ॥

६—अपने ललाटपर अपने हाथके अंगुष्ठको अंकुशकी तरह रखकर वन्दना करना अंकुशित नामका छठा दोप है।

७—बैठकर वदना करनेवाला यदि कच्छपके समान चेष्टा करे, अर्थात् बैठे २ ही कछुए की तरह धीरेमे रेंगनेकी क्रिया करे तो वह सातवा कच्छपरिङ्गित नामका दोप है।

मत्स्योद्वर्तं स्थितिर्मत्स्योद्वर्तवत् त्वेकपार्श्वतः।
मनोदुष्टं खेदकृतिर्गुर्वाद्युपरि चेतासि ॥ १०१ ॥

८—जिस प्रकार मछली एक भागको ऊपर करके उछला करती है उसी प्रकार वंदना करनेवाला यदि एक भागको–कटिमागको ऊपर को निकालकर वन्दना करनेके लिये स्थित हो तो उसको आठवां मत्स्योद्वर्त नामका दोप समझना चाहिये।

९—अपने मनमें गुरु–आचार्यादिके ऊपर आक्षेप करना–खिन्न होना मनोदुष्ट नामका दोप है।

वेदिबद्ध स्तनोत्पीडो दोर्भ्यांवा जानुबन्धनम्।
भयं क्रिया सप्तभयाद्बिभ्यत्ता बिभ्यतो गुरोः ॥ १०२ ॥

१०—अपनी छातीके स्तनभागोंका मर्दन करना दशवा वेदिकाबद्ध नामका दोप है। अथवा योगपट्टकी तरह दोनों भुजाओंके द्वारा अपने दोनों घुटनोंको बांध लेना यह भी वेदिका बद्ध नामका ही दोप है।

११– इस लोकभय परलोकभय अकस्मात् भय मरणभय इत्यादि सात प्रकारकी भयके वशीभूत होकर आवश्यक क्रिया करना इसको ग्यारहवां भयनामका दोप समझना।

१२– गुरु आचार्य आदि से डरते हुए आवश्यक कर्म करना बिभ्यत्ता [बिभ्यतः कर्म बिभ्यत्ता] नामका बारहवां दोप है।

भक्तो गणो मे भावीति वन्दारोर्बद्धिगौरवम्।

गौरवं स्वस्य महिमन्याहारादावथ स्पृहा ॥ १०३ ॥

१३– ऋषि मुनि यति और अनगार इसतरह चारो प्रकारके मुनियोंका संघ मेरा भक्त बनजायगा ऐसा भाव रखकर जो वन्दना करना इसको तेरहवां ऋद्धि गौरव नामका दोष समझना ।

१४– अपने माहात्म्यकी इच्छा करना, अथवा भोजन और उपकरण आदिकी स्पृहा रखकर वन्दना करना चौदहवां गौरव नामका दोष है ।

स्याद्वन्दने चोरिकया गुर्वादेः स्तेनितं मलः ।
प्रतिनीतं गुरोराज्ञाखण्डनं प्रातिकूल्यतः ॥ १०४ ॥

१५– आचार्य प्रवर्ती और उपाध्याय आदि गुरुजनोंसे छिपाकर वन्दना क्रिया करना स्तेनित नामका पंद्रहवां मल–दोष समझना चाहिये ।

१६– प्रतिकूल वृत्ति रखकर गुरुकी आज्ञाका खंडन करदेना सोलहवां प्रतिनीत नामका दोष है ।

प्रदुष्टं वन्दमानस्य द्विष्टेऽकृत्वा क्षमां त्रिधा ।
तर्जितं तर्जनान्येषां स्वेन स्वस्याथ सूरिभिः ॥ १०५ ॥

१७–कलह वगैरहके द्वारा किसीके साथ द्वेषका विषय यदि उपस्थित होगयाहो तो उस विषयमें मन वचन और कायके द्वारा जिसका अपराध किया है उसके मनमें क्षमाभाव उत्पन्न कराये विना, वा स्वयं उसके प्रति क्षमा धारण किये विना वन्दना करना प्रदुष्ट नामका सत्रहवां दोष है ।

१८–अंगूठाके पासकी अंगुली–तर्जनीको उठाकर और हिलाकर दूसरे शिष्यादिकोंको अपनेसे भय उत्पन्न करना तर्जित नामका दोष है । अथवा आचार्यादिकोंके द्वारा अपनी तर्जना होना यह भी तर्जित नामका ही अठारहवां दोष है ।

शब्दो जल्पक्रियान्येषामुपहासादि हेलितम् ।
त्रिवलितं कटिग्रीवाहृद्भङ्गो भ्रुकुटिर्नवा ॥ १०६ ॥

१९—वन्दना करते समय बीचमें बातचीत करते जाना शब्द नामका दोष है।

२०—वन्दना करते हुए दूसरे लोकोंका उद्घट्टन करना, उनको धक्का देना, विप्लव मचाना, दूसरोंकी हसी करना, इत्यादि वन्दनाका बीसवां हेलित नामका दोष है।

२१—वन्दना करते समय कटि ग्रीवा और हृदय इन अंगोंमें भंग-बलि पडजाना त्रिवलित नामका दोष है। अथवा ललाटके ऊपर त्रिवली—तीन सरवटोंका पडजाना यह त्रिवलित नामका ही इक्कीसवां दोष है।

करामर्शोथ जान्वन्तः क्षेपः शीर्षस्य कुञ्चितम् ।
दृष्टं पश्यन् दिशः स्तौति पश्यन्स्वान्येषु सुष्ठु वा ॥ १०७ ॥

२२—शिरका अपने हाथसे अमर्श करना, अथवा दोनो जघाओं-घुटुनोंके बीचमें शिर रखना कुंचित नाकका दोष है।

२३—जो दिशाओंकी तरफ देखता हुआ वन्दना करे उसके दृष्ट दोष समझना चाहिये। अथवा जब दूसरे गुरु आदिक या और कोई देख रहे हों उस समय सुतरा बडे उत्साहके साथ स्तुति वन्दना में प्रवृत्ति करना इसको भी दृष्ट दोष ही कहते है।

अदृष्टं गुरुदृङ्मार्गत्यागो वाऽप्रतिलेखनम् ।
विष्टिः संघस्येयमिति धीः संघकरमोचनम् ॥ १०८ ॥

२४—गुरुकी दृष्टि बचाकर वन्दना करना अदृष्ट नाम का दोष है। अथवा पीछीके द्वारा प्रतिलेखन न करके ही वन्दना करना चौवीसवां अदृष्ट नामका ही दोष है।

२५—ये संघकी बडी जबर्दस्ती है कि बलपूर्वक-हठसे क्रिया कराई जाती है, इस प्रकारकी बुद्धिका होना संघकरमोचन नामका दोष है।

उपध्याप्त्या क्रियालब्धमनालब्धं तदाशया।
हीनं न्यूनाधिकं चूला चिरेणोत्तरचूलिका ॥ १०९ ॥

२६—उपकरणादि परिग्रहका लाभ होनेपर आवश्यक क्रिया करना आलब्ध नामका दोष है।
२७—उपकरणादिकी आशासे क्रिया करना अनालब्ध नामका दोष है।
२८—मात्रा प्रमाण क्रिया न करके अधिक या कम करना इसको हीन नामका दोष समझना चाहिये।

२९—वन्दनाको तो थोडीसी देरमें ही पूर्ण कर देना और उसकी चूलिकारूप आलोचना आदि क्रियाओंको अधिक समय तक करना इसको उत्तर चूलिका दोष कहते हैं।

मूको मुखान्तर्वन्दारोर्हुङ्काराद्यथ कुर्वतः।
दुर्दरो ध्वनिनान्येषां स्वेन च्छादयतो ध्वनीन् ॥ ११० ॥

३०—यदि वन्दना करने वाला वन्दनाके पाठको मुखके भीतर ही बोले जिससे कि किसीको सुनाई ही न पडे इसको मूक दोष कहते हैं। अथवा वन्दना करते समय हुंकार आदि संज्ञाएं-इशारे करना भी मूक नामका दोष कहा है।

३१—वन्दना करते समय उसका पाठ इतने जोरसे बोलना कि जिससे अपनी ध्वनिसे दूसरे वन्दना करनेवालोंका शब्द दब जाय इसको दुर्दर नामका दोष कहा है।

द्वात्रिंशो वन्दने गीत्या दोषः सुललिताह्वयः।
इति दोषोज्झिता कार्या वन्दना निर्जरार्थिना ॥ १११ ॥

३२—वन्दना करते समय उसके पाठको गागाकर—पंचम—स्वरसे बोलना यह वन्दनाका बत्तीसवां सुललित नामका दोष है।

इस प्रकार वन्दना सम्बन्धी ३२ दोष है। कर्मोंकी निर्जरा करने के जो अभिलाषी है उनको यह वन्दना क्रिया इन बत्तीस दोषोंसे रहित करनी चाहिये।

भावार्थ—यहांपर वन्दनाके ३२ दोषोंका उल्लेख करके ग्रंथकार ने अंतमें पुनः उन दोषोंका स्मरण कराया है जिनको कि वन्दना करते समय अवश्यही टालना चाहिये। इन दोषोंके सदृश और भी दोष जैसे कि वन्दना करते समय शिरको नीचा ऊंचा करना, अथवा शिरको ऊपरको करके वंदना करना, यद्वा हाथोंको घुमाना फिराना तथा गुरु के सामने खडे होकर पाठका उच्चारण करना, इत्यादि संभव हैं। अतएव क्रिया काण्डादिमें कहे मूजब सभी दोष टालना उचित है। क्योंकि दोष रहित वन्दना ही निर्जराका कारण हो सकती है।

इस प्रकार वन्दना सम्बन्धी ३२ दोषोंका वर्णन करके क्रमानुसार कायोत्सर्गके दोषोंका स्वरूप ११ श्लोकोंमें बताते हैः—

कायोत्सर्गमलोस्त्येकमुत्क्षिप्याङ्घ्रिं वराश्ववत्।
तिष्ठतोऽश्वो मरुद्धूतलतावच्चलतो लता ॥ ११२ ॥

१—उत्तम घोडा जिस प्रकार एक पैरको जमीनसे अच्छी तरह न छुआ कर खडा हुआ करता है उसी प्रकार कायोत्सर्ग करते समय एक पैरको जमीनसे अच्छी तरह न लगाकर खडे रहना कायोत्सर्गका घोटक नामका पहला दोष है।

२—जिस प्रकार हवाके लगनेसे लता कांपा करती है उसी प्रकार कायोत्सर्ग करनेवालेका शरीर यदि कांपे—चलायमान हो तो उसको लता नामका दोष समझना चाहिये।

यहांपर पहले ही दोषका स्वरूप बताते समय मल शब्दका जो प्रयोग किया है उसका सम्बन्ध आदि दीपकन्यायसे आगे जिन दोषोंका वर्णन करते हैं उन सबके साथ लगा लेना चाहिये।

स्तम्भः स्तम्भाद्यवष्टम्य पट्टकः पट्टकादिकम् ।
आरुह्य मालो मालादि मूर्ध्नालम्ब्योपरि स्थितिः ॥ ११३ ॥

३—दीवाल-भीत या स्तम्भ वगैरहका आश्रय लेकर कायोत्सर्गकेलिये खडे होना स्तम्भ नामका दोष है।

४—पट्टा अथवा चटाई आदिके ऊपर खडे होकर कायोत्सर्ग करना पट्टक नामका दोष है।

५—शिरके ऊपरके प्रदेशमें शिरके द्वारा माला अथवा रस्सी आदिका अवलम्बन लेकर खडे होना—कायोत्सर्ग करना माल नामका दोष है।

शृङ्खलाबद्धवत् पादौ कृत्वा शृङ्खलितं स्थितिः ।
गुह्यं कराभ्यामावृत्त्य शवरीवच्छवर्यपि ॥ ११४ ॥

६—यदि अपने दोनों पैरोंको संकलसे जकडे हुए कैदीके पैरोंकी तरह बनाकर कायोत्सर्ग करे तो उसको शृङ्खलित नामका दोष समझना चाहिये।

७—भिल्लिनीकी तरह अपने गुह्यभागको-शरीरके गुह्य अंगको अपने दोनों हाथोंसे ढककर कायोत्सर्ग करे तो वह शवरी नामका दोष है।

लम्बितं नमनं मूर्ध्नस्तस्योच्चरितमुन्नमः ।
उन्नमय्य स्थितिर्वक्षः स्तनदावत्स्तनोन्नतिः ॥ ११५ ॥

८—शिरको नीचा करके कायोत्सर्ग करना लम्बित नामका दोष है।

९—शिरको ऊपरको उठाकर कायोत्सर्ग करना उच्चरित नामका दोष है।

१०—जिस प्रकार बच्चेको दूध पिलानेके लिये तयार हुई स्त्री स्तनभागको ऊपर उठाती है उसीप्रकार

वक्षःस्थलके स्तनभागोंको उठाकर कायोत्सर्ग करना स्तनोन्नति नामका दोष है

वायसो वायसस्येव तिर्यगीक्षा खलीनितम् ।
खलीनार्ताश्ववद्दन्तघृष्टयोर्ध्वाधश्चलच्छिरः ॥ ११६ ॥

११—कायोत्सर्ग करते समय तिरछी निगाहसे कौएकी तरह इधर उधर देखना वायस नामका दोष है।

१२—जिस प्रकार घोडा लगाम लगजानेपर दांतोंको घिसता—कट कट शब्द करता हुआ शिरको ऊपर नीचेको हिलाया करता है, उसी प्रकार दांतोंको घिसते हुए शिरको ऊपर नीचे करना खलीनित नामका दोष है।

ग्रीवां प्रसार्यावस्थानं युगार्तगववद्युगः ।
मुष्टिं कपित्थवद्बद्ध्वा कपित्थः शीर्षकम्पनम् ॥ ११७ ॥
शिरःप्रकम्पितं संज्ञा मुखनासाविकारतः ।
मूकवन्मूकिताख्यः स्यादङ्गुलीगणनाङ्गुली ॥ ११८ ॥

१३—जिसके कंधेपर जूआ रक्खा हुआ है ऐसा बैल जिस प्रकार अपनी गर्दनको लम्बी कर दिया करता है उसी प्रकार ग्रीवाको लम्बा करके कायोत्सर्ग करनेवाला यदि खडा हो तो युग नामका दोष है।

१४—कायोत्सर्गके लिये खडे होनेपर कैथकी तरह दोनो हाथोंकी मुट्ठी बांध लेना कपित्थ नामका दोष है।

१५—कायोत्सर्गके समय शिर हिलाना शीर्षकम्पन नामा दोष है।

१६—मुखनासिका आदिके विकार प्रकट करके गूंगे की तरह इशारा करना मूकित नामका दोष है।

१७—अंगुलियोंके द्वारा गिनना अंगुली नामका दोष है।

भ्रूक्षेपो भ्रूविकारः स्याद् घूर्णनं मदिरार्तवत् ।

उन्मत्त ऊर्ध्वं नयनं शिरोधेर्बहुधाप्यधः ॥ ११९ ॥

१८—कायोत्सर्ग करते समय भ्रुकुटियोंका विकार युक्त होजाना भ्रूक्षेप नामका दोष है।

१९—मदिरा पीकर उसके नशेसे पागल हुआ मनुष्य जिस प्रकार घूमा करता है उसी प्रकार कायोत्सर्ग करते समय घूमनेसे उन्मत्त नामका दोष कहा जाता है।

२०—अनेक तरहसे ग्रीवा-गर्दन को ऊपरकी तरफ उठाना ग्रीवोर्ध्वनयन नामका दोष है।

२१—अपनी ग्रीवाको अनेक तरहसे नीचे की तरफ झुकाना ग्रीवाधोनयन नामका दोष है।

निष्ठीवनं वपुःस्पर्शो न्यूनत्वं दिगवेक्षणम् ।
मायाप्रायास्थितिश्चित्रा वयोपेक्षाविवर्जनम् ॥ १२० ॥

२२—थूकना और श्लेष्मा आदिका निकालना निष्ठीवन नामका दोष है।

२३—शरीरका इधर उधर स्पर्श करना वपुःस्पर्श नामका दोष है।

२४—कायोत्सर्गको जितने प्रमाणमें करना चाहिये उतना न करके कुछ कम करना न्यूनता नामका दोष है।

२५—इधर उधर दिशाओंकी तरफ देखते हुए कायोत्सर्ग करना दिगवेक्षण नामका दोष है।

२६—वञ्चनायुक्त-प्रायःमायाचारसे पूर्ण विचित्र रूपसे कायोत्सर्गके लिये ऐसी तरहसे खडे होना कि जिसको देखकर लोगों को आश्चर्य हो मायाप्रायास्थितिनामका दोष है।

२७—आयुका ख्याल करके अर्थात् वृद्धावस्थाका विचार करके कायोत्सर्गका छोड देना वयोपेक्षाविवर्जन नामका दोष है।

व्याक्षेपासक्तचित्तत्वं कालापेक्षाव्यतिक्रमः ।
लोभाकुलत्वं मूढत्वं पापकर्मैकसर्गता ॥ १२१ ॥

२८—कोलाहलादिके कारण मनमें विक्षेपका पैदा होना-चित्तमें चंचलता या चलायमानता आजाना व्याक्षेपासक्तचित्तता नामका दोप है।

२९—समयका विचार करके कायोत्सर्ग के विविध अंशोंको छोड देना कालापेक्षाव्यतिक्रम नामका दोप है।

३०—गृद्धि या लोभके वशीभूत होकर चित्तमें विक्षेप पैदा होना लोभाकुलता नामका दोप है।

३१—कर्तव्य या अकर्तव्यके विषयमें विवेक न रखना मूढता नामका दोप है।

३२—कायोत्सर्ग करते समय हिंसादिक पापकर्मोंमें उत्साहका उत्कृष्ट हो जाना पापकर्मैकसर्गता नामका दोप है।

इस प्रकार कायोत्सर्गके ३२ दोपोंका स्वरूप बताकर अंतमें उपसंहार करते हुए शुद्ध-इन दोपोंसे रहित कायोत्सर्ग करनेका फल बताते हैं:—

योज्येति यत्नाद् द्वात्रिंशद्दोषमुक्ता तनूत्सृतिः।
सा हि मुक्त्यङ्गसद्ध्यानशुद्ध्यै शुद्धैव संमता ॥ १२२ ॥

मुमुक्षु साधुओंको अप्रमत्त होकर उपर्युक्त बत्तीस दोप-अतीचार छोडकरके ही कायोत्सर्ग करना चाहिये। क्योंकि यद्यपि निःश्रेयस पदके प्राप्त होनेका प्रधान कारण समीचीन ध्यान-धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान है। किंतु दोनों ही ध्यानोंमें शुद्धि-निर्मलता शुद्ध-निरतीचार कायोत्सर्गके करनेसेही प्राप्त होसकती है। ऐसा ही आचार्योंका अभिप्राय है। जैसा कि कहा भी है:—

सदोषा न फलं दत्ते निर्दोषायास्तनूत्सृते.।
किं कूटं कुरुते कार्यं स्वर्णं सत्यस्य जातुचित् ॥

अर्थात्—निर्दोप कायोत्सर्गका फल सदोप कायोत्सर्गसे नहीं मिल सकता। क्या सच्चे सुवर्णका काम कृत्रिम सुवर्ण दे सकता है? कभी नहीं दे सकता। इस प्रकार कायोत्सर्गका फल समीचीन ध्यानकी निर्मलता या

परम्परासे मोक्षकी प्राप्ति है, सो यह फल निर्दोष कायोत्सर्गसे ही मिल सकता है सदोषसे नहीं।

ध्यानके उत्थितोत्थितादिक चार भेद है। उनमें दोका फल इष्ट और दोका अनिष्ट है। इसी बातको बताते हैं:—

सा च द्वयीष्टा सद्ध्यानादुत्थितस्योत्थितोत्थिता।
उपविष्टोत्थिता चोपविष्टस्यान्यान्यथा द्वयी ॥ १२३ ॥

कायोत्सर्ग दो प्रकारका है, एक इष्ट दूसरा अनिष्ट। इष्ट कायोत्सर्गमें धर्म्य और शुक्ल ध्यान किया जाता है, इन समीचीन ध्यानोंके आश्रयसेही उसको इष्ट अथवा इष्ट फलका देनेवाला माना गया है। इष्ट कायोत्सर्ग दो प्रकारका है, एक उत्थितोत्थित दूसरा उपविष्टोत्थित। खडे होकर कायोत्सर्ग करने वाले-खडे आसनसे कायोत्सर्ग करते समय धर्म्य या शुक्लध्यान करने वालेके उत्थितोत्थित नामका कायोत्सर्ग कहा जाता है। क्योंकि वह मुमुक्षु अंतरंग और बहिरंग दोनों ही तरहसे खडा हुआ ही समझा जाता है। जो बैठकर कायोत्सर्ग करने वाले है उनके वह कायोत्सर्ग उपविष्टोत्थित नामका कहा जाता है। क्योंकि वह द्रव्यसे बैठा हुआ है, परन्तु अंतरंगसे-वस्तुतः खडा हुआ है। इन दोनोंही समीचीन कायोत्सर्गोंसे सद्ध्यानकी विशुद्धि और निःश्रेयस पदकी सिद्धि हुआ करती है. अतएव इनको ही अभीष्ट फलका देने वाला समझकर आचार्योंने इष्ट माना है।

इनके विरुद्ध दो प्रकारका कायोत्सर्ग अनिष्ट माना है, क्योंकि उनका फल अनिष्ट-संसारकी वृद्धि करने वाला है। इस अनिष्ट कायोत्सर्गके दो भेद इस प्रकार है।—एक तो उपविष्टोपविष्ट दूसरा उत्थितोपविष्ट। जो बैठकर आर्त अथवा रौद्र ध्यान करता है उसके कायोत्सर्गको उपविष्टोपविष्ट कहते है। क्योंकि वह द्रव्य और भाव दोनों ही तरफसे बैठा हुआ है। जो खडे होकर आर्त या रौद्र ध्यान करता है उसके कायोत्सर्गको उत्थितोपविष्ट कहते है। क्योंकि वह द्रव्यसे खडा हुआ है परन्तु भावोंसे बैठा हुआ है

इन इष्ट-अनिष्ट चार प्रकारके कायोत्सर्गोंका स्वरूप आगममें भी इसी प्रकार कहा है। यथाः—

त्यागो देहममत्वस्य तनूत्सृतिरुदाहृता ।
उपविष्टोपविष्टादिविभेदेन चतुर्विधा ॥
आर्तरौद्रद्वय यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते ।
उपविष्टोपविष्टाख्या कथ्यते सा तनूत्सृतिः ॥
धर्म्यशुक्लद्वय यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते ।
उपविष्टोत्थिता सन्तस्ता वदन्ति तनूत्सृतिम् ॥
आर्तरौद्रद्वय यस्यामुत्थितेन विधीयते ।
तामुत्थितोपविष्टाख्या निगदन्ति महाधिय ॥
धर्म्यशुक्लद्वय यस्यामुत्थितेन विधीयते ।
उत्थितोत्थितनामान ता भाषन्ते विपश्चित. ॥

अर्थात—शरीरसे ममत्वके छोडदेनेको कायोत्सर्ग कहते है। इसके उपविष्टोपविष्ट आदि चार भेद हैं। बैठकर आर्त रौद्रका चिन्तवन करना उपविष्टोपविष्ट कायोत्सर्ग समझना। बैठकर धर्म्य शुक्लका चिन्तवन करना उपविष्टोत्थित कायोत्सर्ग है। खडे होकर आर्त रौद्रका चिन्तवन करना उत्थितोपविष्ट कायोत्सर्ग है। और खडे होकर धर्म्य शुक्लका चिन्तवन करना उत्थितोत्थित नामका कायोत्सर्ग बताया है।

शरीरसे ममत्वका त्याग विना किये अनशन आदि व्रतोंके करनेपर भी कोई भी मुमुक्षु अपनी आत्माकी इष्ट सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। इसी बातको स्पष्ट करते हैं:—

जीवद्देहममत्वस्य जीवत्याशाप्यनाशुषः ।
जीवदाशस्य सद्ध्यानवैधुर्यात्तत्पदं कुतः ॥ १२४ ॥

जिस प्राणीके अंतरङ्गमें शरीरके प्रति ममत्वभाव जागृत है वह कैसा भी अनशनादि व्रत करे परन्तु उसके भोगोपभोगके विषयोंको प्राप्त करनेकी इच्छा भी अवश्य जीवित रहा करती है. और जिसके इस लोक सम्बन्धी

विषयोंकी आशा लगी हुई है वह धर्मध्यान शुक्लध्यान अथवा समाधिको किस तरह सिद्ध कर सकता है। और समीचीन ध्यानके सिद्ध हुए विना आत्मपद–मोक्षका लाभ किस तरह हो सकता है।

भावार्थ—समीचीन ध्यानके सिवाय कोई भी ऐसा आचरण नहीं है कि जिससे कर्मोंकी निःशेष निर्जरा हो-कर शुद्धात्मपद प्राप्त हो सके। और इस ध्यानकी सिद्धिके लिये आशाका त्याग और आशाका परित्याग करनेके लिये शरीरसे ममत्व छोडना अत्यंत आवश्यक है। अतएव इष्ट पदको प्राप्त करनेके लिये अनशनादिक व्रताचरण करनेवालोंको शरीरसे ममत्वका त्याग करना ही चाहिये।

कायोत्सर्गका काल जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट एक वर्षका बताया है। सो अतीचारों–मलदोषोंको दूर करनेके लिये और षडावश्यक क्रियाओंको सिद्ध करनेके लिये–उन क्रियाओंके पालन करनेमें दृढता-निष्ठा प्राप्त करनेके लिये उतने कालतक कायोत्सर्ग करना ही चाहिये। परन्तु यदि उतने कालप्रमाणसे अधिक समयतक भी अपनी शक्तिके अनुसार किया जाय तो वह दोषका कारण नहीं है। प्रत्युत उससे लाभ ही है। इसी बातको कहते हैं:—

हृत्वापि दोषं कृत्वापि कृत्यं तिष्ठेत तनूत्सृतौ।
कर्मनिर्जरणाद्यर्थं तपोवृद्ध्यै च शक्तितः॥ १२५॥

जितनी देर तक कायोत्सर्ग करके दोषोच्छेदन किया जा सकता है उतनी देरतक कायोत्सर्ग करनेके उपरांत, अथवा षडावश्यक क्रियाओंके करनेमें जितना कायोत्सर्ग करना चाहिये उतने कालतक कायोत्सर्ग करके संचित कर्मोंकी निर्जरा और नवीन कर्मोंका संवरण करनेके लिये अथवा तपको बढानेकेलिये शक्तिके अनुसार और भी खडे रहना चाहिये।

भावार्थ—नियत समय तक तो कायोत्सर्ग करना ही चाहिये। क्योंकि उससे दोषोंका परिहार और संवर निर्जराके कारणभूत कर्मकी सिद्धि होती है। परन्तु नियत कालके अनंतर शक्तिको बढानेके लिये अधिक भी खडा रहे–कायोत्सर्ग करे तो इस में कोई दोष नहीं है। बल्कि ऐसा करनेसे तपस्या और उसकी शक्ति बढती है, यह लाभ ही है।

मन वचन कायसे शुद्ध—पवित्र क्रिया कर्म करनेका अधिकारी कैसा होना चाहिये सो बताते हैं:—

यत्र स्वान्तमुपास्य रूपरसिकं पूतं च योगश्रमना,—
यप्रत्युक्तगुरुक्रमं वपुरनुज्येष्ठोद्घपाठं वच : ।
तत् कर्तुं कृतिकर्म सज्जतु जिनोपास्त्योत्सुकस्तात्त्विक:
कर्मज्ञानसमुच्चयव्यवसित: सर्वंसहो निस्पृह: ॥ १२६ ॥

जिस कृतिकर्मके करते समय भव्य जीवोंका मन सिद्ध परमेष्ठी प्रभृति आराध्य देवोंके स्वरूपकी उपासना करनेमें सातिशय अनुरागको प्राप्त हो जाता है, और अत्यंत विशुद्ध परिणामोंको धारण करके पवित्र बन जाता है। इसी प्रकार जिस कृतिकर्मके समय मुमुक्षुओंका शरीर अत्यंत पवित्र तथा योग्य आसनादिके करनेसे गुरु क्रमका उल्लघन न करनेमें सावधान रहा करता है । अर्थात् दीक्षाकी अपेक्षा जो बडे हैं उनके समक्ष क्रिया करनेकी परिपाटीको यहां गुरुक्रम समझना चाहिये । उचित आसनादिका प्रयोग करनेके कारण शरीरके द्वारा जहांपर गुरुक्रमका भंग नहीं किया गया है । एवं जिस कर्मके करनेमें वचन, बडोंके बताये क्रमके अनुसार प्रशस्त उच्चारण से युक्त और वर्ण पद आदिसे शुद्ध रहा करते हैं । फलतः जिस कृतिकर्मके करनेमें उसके करनेवालोंके मन शरीर और वचन तीनों ही शुद्ध—पवित्र बन जाते हैं, उस कर्मको करनवाला कैसा होना चाहिये ? इसी बातका उत्तर पांच विशेषणोंके द्वारा यहांपर देते हैं:—

१ अरिहंत भगवानकी उपासना द्वारा कृति कर्म करने में जिसकी उत्कण्ठा बढरही है ।

२ जो पारमार्थिक हो । वचना आदिका भाव न रखकर सचमुचमें क्रिया कर्म करके संवर और निर्जराको प्राप्त कर आत्मकल्याणका अभिलाषी हो ।

३—आगममें बताई हुई क्रियाओंके करने और निज स्वरूप के ज्ञानका संग्रह करनेमें जो उत्साहके साथ प्रवृत्ति करता हो

४—परीषह और उपसर्गोंके सहन करने-जीतनेमें समर्थ हो।

५—ऐहिक विषय भोगोपभोगकी अभिलाषा तथा शरीरादिककी ममतासे रहित हो।

भावार्थ—इन पांच गुणोंसे युक्त जीव ही त्रियोगशुद्ध कर्म करनेका अधिकारी हो सकता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

सव्याधेरिव कल्पत्वे विदृष्टेरिव लोचने।
जायते यस्य संतोषो जिनवक्त्रविलोकने॥
परीषहसहः शान्तो जिनसूत्रविशारदः।
सम्यग्दृष्टिरनाविष्टो गुरुभक्तः प्रियंवदः॥
आवश्यकमिदं धीरः सर्वकर्मनिषूदनम्।
सम्यक् कर्तुमसौ योग्यो नापरस्यास्ति योग्यता॥

जिस प्रकार बीमार आदमीको नीरोगता प्राप्त होजानेपर, और अंधे मनुष्यको नेत्रोंका लाभ होजानेपर हर्ष-संतोष प्राप्त हुआ करता है; उसी प्रकार जिन भगवानके मुख कमलको देखते ही जिसको प्रसन्नता हो आती है। जो परीषहोंके जीतनेमें समर्थ है, और जिसके क्रोधादिक कषायोंका उद्रेक नहीं पाया जाता, जो जिन भगवानके उपदिष्ट तत्त्वोंका स्वरूप समझनेमें कुशल है, जो सम्यग्दर्शनसे युक्त, आवेश रहित, गुरुजनोंका भक्त, और प्रियवचन बोलनेवाला है, वही धीर वीर सम्पूर्ण कर्मोंको नष्ट करनेवाले इस आवश्यक कर्मके करनेका अधिकारी हो सकता है। और किसीमें इसकी योग्यता नहीं रह सकती।

पहले "क्रमवत्" ये विशेषण जो दिया है उसका तात्पर्य मदज्ञानियोंको भी भले प्रकार हो जाय इसलिये उसका अभिप्राय स्पष्ट करते हैं:—

प्रेप्सुः सिद्धिपथं समाधिमुपाश्रित्यात्र पूज्यं क्रिया,—
मानम्यादिलयभ्रमत्रयशिरोनामं पठित्वा स्थितः।

साम्यं त्यक्ततनुर्जिनान् समदृशः स्मृत्वावनम्य स्तवं,
युक्त्वा साम्यवदुक्तभक्तिरुपविश्यालोचयेत् सर्वतः ॥ १२७ ॥

निज आत्मस्वरूपकी प्राप्तिकी उपायभूत समाधि–रत्नत्रयकी एकाग्रताको जो प्राप्त करना चाहते हैं उन संयमियों अथवा एक देश सयमियोंको बैठकर नमस्कार करके कर्तव्य कर्मका पूज्य गुरुओंसे आवेदन करना चाहिये। अर्थात् प्रणाम पूर्वक और अत्यंत विनयके साथ " चैत्यभक्ति कायोत्सर्गं करोमि " इत्यादि पाठ बोलकर क्रिया कर्मकी विज्ञापना करनी चाहिये। फिर खडे होकर आदि और अतमें तीन २ आवर्त और एक एक शिरोनतिके साथ २ सामायिक दण्डकका पाठ बोलकर कायोत्सर्गके लिये खडे होना चाहिये। अर्थात् शरीरसे ममता छोडकर कायोत्सर्ग करना चाहिये। इसके बाद समदृष्टी—जीवन मरण हानि लाभ यश अपयश और शत्रुमित्रमें समभाव रखनेवाले—रागद्वेष न करनेवाले जिन–पूर्ण रूपसे अथवा एकदेश रूपसे कर्म शत्रुओंको जीतने वाले अर्हदादि पांचो ही परमेष्ठीका चिन्तवन करके और नमस्कार करके सामायिककी ही तरह अर्थात् आदि और अंतमें तीन २ आवर्त और एक २ शिरोनतिके साथ " थोस्सामि " इत्यादि स्तव दण्डक बोलकर वन्दना कल्पका पाठ करके सभी अशोंकी आलोचना करनी चाहिये।

भलेप्रकार षडावश्यकोंका पालन करनेवाले के चिन्होंको बताते हैं:—

शृण्वन् हृष्यति तत्कथां घनरवं केकीव मूकैहता,
तद्वर्हेऽङ्गति तत्र यस्याति रसे वादीव नास्कन्दति।
क्रोधादीन् जिनवज्ञ वैद्यपतिवद् व्यत्येति कालक्रमं,
नित्यं जातु कुलीनवन्न कुरुते कर्ता षडावश्यकम् ॥ १२८ ॥

जिस प्रकार मयूर मेघके शब्दोंको सुनकर प्रसन्न हुआ करता है उसी प्रकार षडावश्यकोंका अच्छी तरह

पालन करनेवाला साधु उसकी कथा—षडावश्यक की प्रशंसा या निन्दा सुनकर हर्षको प्राप्त हुआ करता है। उनकी निन्दाके विषयमें गूगा और बहिरा बन जाया करता है। न तो स्वयं ही आवश्यकोंकी निन्दा करता है और न दूसरोंकी की हुई निन्दाको सुनता ही है। आवश्यकोंका पालन करनेमें इस प्रकार सदा अप्रमत्त प्रवृत्ति किया करता है जैसे कि कोई धातुवादी–रसायन सिद्ध करने वाला पारद आदि रसके सिद्ध करनेमें निरवर सावधान रहा करता है। जिस प्रकार क्षीण कषाय ऋषि कषायका सम्पर्क नहीं होने देता उसी प्रकार षडावश्यक पालन करने वाला भी क्रोधादिकका प्रवेश नहीं होने देता। तथा वैद्यराजकी तरह काल और क्रमका कभी व्यतिक्रम नहीं होने देता। जिस प्रकार वैद्यके लिये कहा गया है कि:—

> प्रावृट् शुक्लनभोतेषु शरद्‌र्जमहो स्मृतौ।
> तपस्यो मधुमासश्च वसन्त शोधन प्रति॥
> स्वस्थवृत्तमभिप्रेत्य व्याधौ व्याधिवशेन तु।
> कृत्वा शीतोष्णवृष्टीना प्रतीकार यथायथम्॥
> प्रयोजयेत् क्रिया प्राप्तां क्रियाकाल न हापयेत्।

अर्थात्—प्रावट्–वर्षा आदि जिस२ ऋतुमें जिस २ प्रकारकी चिकित्सा करना उचित है उस समयमें उसी प्रकार इलाज करना चाहिये। वैद्योंको चिकित्साका काल छोडना या भूलना उचित नहीं है। उसी प्रकार क्रमके लिये भी कहा गया है कि:—

> प्राक्पाचनं स्नेहविधिस्ततश्च स्वेदस्ततः स्याद्वमन विरेक।
> निरूहण स्नेहनवस्तिकर्म नस्य क्रमश्चेति भिषग्वराणाम्॥ इति।

अर्थात सबसे पहले पाचन उसके बाद क्रमसे स्नेहविधि स्वेद वमन विरेक निरूहणवास्तिकर्म स्नेहनवस्तिकर्म और नस्यका प्रयोग करना चाहिये। इसी तरह जो षडावश्यकोंका पालन करनेवाला है वह भी उनके काल और क्रमको चूकता नहीं है। जो आवश्यक जिस समय और जिस क्रमसे करना चाहिये उसको उसी समय और उसी क्रमसे किया करता है। तथा जिस तरह कोई महान् वंशमें उत्पन्न होनेवाला कुलीन पुरुष कभी

भी ऐसा कोई काम नहीं किया करता जो कि उसके कुलके विरुद्ध हो; उसी तरह षडावश्यक पालन करनेवाला साधु भी कभी ऐसा कोई निन्द्य आचरण नहीं किया करता जो कि लोक विरुद्ध कुलविरुद्ध और समयविरुद्ध अर्थात् शास्त्र या आगम अथवा गुरुपरम्पराके विरुद्ध हो।

यहांपर जातु—कदाचित् शब्द अन्त्यदीपक है, अतएव यद्यपि उसका प्रयोग अन्तिम वाक्यके साथ ही किया गया है तो भी उसका सम्बन्ध यथासम्भव सभी वाक्योंके साथ करलेना चाहिये।

इसी विषयमें और जगह भी ऐसा कहागया है कि: —

तत्कथाश्रवणानन्दो निन्दाश्रवणवर्जनम्।
अलुब्धत्वमनालस्य निन्द्यकर्मव्यपोहनम्॥
कालक्रमाऽव्युदासित्वमुपशान्तत्वमार्जवम्
विज्ञेयानीति चिह्नानि षडावश्यककारिण ॥

अर्थात्—षडावश्यकोंकी प्रशंसा सुनकर आनंदित होना, और उसकी निन्दाको न सुनना, तथा अलुब्धता, अनालस्य, और निन्द्य आचरणोंका परित्याग, काल तथा क्रमको छोडना नहीं, और उपशान्तता, तथा आर्जव भावोंको धारण करना, ये षडावश्यक पालन करनेवालेके चिन्ह समझने चाहिये।

पूर्वोक्त षडावश्यकोंका पूर्णतया अच्छी तरह पालन करनेवाले पुरुषको निःश्रेयस पदकी और अपूर्णतया पालन करनेवालेको स्वर्गादिक अभ्युदयोंकी प्राप्ति हुआ करती है। ऐसा कहकर षडावश्यकके पालन करनेका फल बताते हैं:—

सम्माहितमना मौनी विधायावश्यकानि ना।
संपूर्णानि शिवं याति सावशेषाणि वै दिवम्॥ १२९॥

प्रकृत विषयके सिवाय अन्य किसी भी विषयमें वार्तालाप न करनेवाला द्रव्य पुरुष एकाग्र चित्त होकर सामायिकादि छहों आवश्यकोंका पूर्णरूपसे यदि भलेप्रकार पालन करता है तो वह नियमसे मोक्षपदको प्राप्त किया करता है। और जो कुछ कमती पालन करता है वह नियम से स्वर्गति- कल्पवासियोंमें महर्द्धिक पदको प्राप्त

किया करता है। यह फल अशक्ति की अपेक्षासे ही बताया है। क्योंकि वृद्ध पुरुषोंका वचन है कि:—

ज सक्कइ त कीरइ ज च ण सक्केइ त च सद्दहण।
सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामरं ठाण।

जिस विषय के पालन करने की सामर्थ्य है उस विषय का पालन करना ही चाहिये। परन्तु जिसके पालन करने की शक्ति नहीं है उसका श्रद्धान रखना चाहिये। क्योंकि श्रद्धानी जीव ही अजर अमर पदको प्राप्त किया करते हैं।

यहांपर वै शब्दके द्वारा जो नियम बताया है उससे इस कथनका तात्पर्य समझना चाहिये कि:—

सर्वैरावश्यकैर्युक्त सिद्धो भवति निश्चितम्।
सावशेषैस्तु सयुक्तो नियमात्स्वर्गगो भवेत्॥

अर्थात्—सम्पूर्ण आवश्यकोंका पालन करने वाला नियमसे सिद्ध पदको और अपरिपूर्णका पालन करने वाला नियमसे स्वर्गतिको प्राप्त किया करता है।

उक्त षडावश्यक क्रियाओंकी तरह साधुओंको दूसरी सामान्य क्रियाओंका भी नित्य पालन करना चाहिये ऐसा उपदेश देते हैं:—

आवश्यकानि षट् पञ्च परमेष्ठिनमस्क्रियाः।
निसही चाऽसही साधोः क्रियाः कृत्यास्त्रयोदश॥ १३०॥

छह आवश्यक क्रियाएं, और अर्हदादिक पच परमेष्ठियोंको नमस्कार करनेकी पांच क्रियाएं, तथा एक निसही और एक असही, इस तरह कुल तेरह क्रियाएं है कि जिनका साधुओंको प्रतिदिन अवश्य पालन करना ही चाहिये।

अर्हदादि परमेष्ठियोंको भावोंसे पंचनमस्कार करनेवाला क्या फल प्राप्त करता है सो बताते हैं:—

योऽर्हत्सिद्धाचार्याध्यापकसाधून् नमस्करोत्यर्थात् ।
प्रयतमतिः खलु सोऽखिलदुःखविमोक्षं प्रयात्यचिरात ॥ १३१ ॥

जो जीव अर्हत परमेष्ठी–सकल परमात्मा और सिद्धपरमेष्ठी–विकलपरमात्माको तथा आचार्य उपाध्याय और ढाईद्वीपवर्ती सम्पूर्ण साधुओंको भावोंसे नमस्कार करता है, और उसके लिये ही प्रयत्न करनेका चित्तमें विचार किया करता है वह जीव संसारके चतुर्गति सम्बन्धी सम्पूर्ण दुःखोंसे थोडे ही कालमें नियमसे छूट जाया करता है।

भावार्थ—पंचपरमेष्ठियोंकी भावसे वंदना करनेवाला और उसके लिये प्रयत्नशील रहनेवाला मनुष्य अल्पकालमें ही शास्वतिक निर्दुःख पद–परम निःश्रेयसको प्राप्त कर सकता है।

निसही और असही इन दोनों क्रियाओं का प्रयोग कब क्यों और किसतरह करना चाहिये सो बताते हैं–

वसत्यादौ विशेत् तत्स्थं भूतादिं निसहीगिरा ।
आपृच्छ्य तस्मान्निर्गच्छेत्तं चापृच्छ्याऽसहीगिरा ॥ १३२ ॥

साधुओंको जब मठ चैत्यालय या वसतिका आदिमें प्रवेश करना हो तब उन मठादिकों में रहने वाले भूत यक्ष नाग आदिकोंसे " निसही " इस शब्दको बोलकर पूछकर प्रवेश करना चाहिये। इसीतरह जब वहांसे निकलना हो तब " असही " इस शब्दके द्वारा उनसे पूछकर निकलना चाहिये। जैसाकि कहा भी है कि:—

वसत्यादिस्थभूतादिमापृच्छ्य निसहीगिरा ।
वसत्यादौ विशेत्तस्मान्निर्गच्छेत् सोऽसहीगिरा ॥

अर्थात्—वसतिका आदिमें रहने वाले भूतादिकोंसे " निसही " इस शब्दके द्वारा पूछकर साधुओंको वसतिका आदिमें प्रवेश करना चाहिये। और असही इस शब्दके द्वारा पूछकर वहांसे बाहर निकलना चाहिये।

निसही और असही शब्दका निश्चयनयकी अपेक्षा अर्थ बताते हैं:—

आत्मन्यात्मासितो येन त्यक्ता वाऽऽशास्य भावत : ।
निसह्यसह्यौ स्तोन्यस्य तदुच्चारणमात्रकम् ॥ १३३ ॥

जिस साधुने अपनी आत्माको अपनी आत्मामें ही स्थापित कर रक्खा है अर्थात् रोक रक्खा है उसके निश्चय नयसे निसही समझना चाहिये। और जिसने इस लोक परलोक आदि सम्पूर्ण विषयोंकी आशा का परित्याग कर दिया है उसके निश्चय नयसे असही समझना चाहिये। किंतु इसके प्रतिकूल जो बहिरात्मा हैं अथवा आशावान् है उनके ये निसही और असही केवल शब्दोच्चारण मात्र ही समझना चाहिये।

भावार्थ—निसही और असही निश्चय नयसे जो अन्तरात्मा तथा परिग्रहरहित निर्ग्रंथ साधु है उन्हींके समझना चाहिये। और जो वैसे नहीं है उनके केवल निसही असही शब्दका उच्चारणमात्र ही कहा जा सकता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

स्वात्मन्यात्मासितो येन निषिद्धो वा कषायत' ।
निसही भावतस्तस्य शब्दोन्यस्य हि केवल ॥

अर्थात्-जिसने अपनी आत्माको अपनी आत्मामें ही स्थापित—उपयुक्त कर रक्खा है, अथवा कषाय परिणामोंसे रोक रक्खा है उसीके निश्चयसे निसही समझना चाहिये। जो ऐसा नहीं है उसके निसही शब्द उच्चारण मात्र ही रहा करता है।

इसी तरह:—

आशा यस्त्यक्तवान् साधुरसही तस्य भावतः ।
त्यक्ताशा येन नो तस्य शब्दोच्चारो हि केवल ॥

अर्थात्-जिस साधुने आशाको छोड दिया है भावतः असही उसीके कही जा सकती है। और जिसने आशाको छोडा नहीं है उसके केवल उसका उच्चारण ही कहना चाहिये।

और भी कहा है कि:—

निषिद्धचित्तो यस्तस्य भावतोस्ति निषिद्धिका।
अनिषिद्धस्य तु प्रायः शब्दतोस्ति निषिद्धिका ॥
आशया विप्रमुक्तस्य भावतोऽस्त्यासिका मता।
आशया त्ववियुक्तस्य शब्द एवास्ति केवलम् ॥

अर्थात्—जिसने अपने चित्तको विषयोंमे उपरत बना रक्खा है भावतः निषिद्धिका-निसही उसी के रहा करती है। और जिसका चित्त संयत नहीं है उसके निषिद्धिका शब्द मात्र ही रहती है। इसी तरह जो आशासे रहित है उसके भावसे और जो उससे युक्त है उसके शब्द मात्रही आसिका-असही रहा करती है।

अब अंतमें प्रकृत विषयका उपसंहार करते हुए नित्यनैमित्तिक क्रियाकर्मका पालन करनेके लिये साधुओं को प्रेरित करते हैं:—

इत्यावश्यकनिर्युक्तावुपयुक्तो यथाश्रुतम्।
प्रयुञ्जीत नियोगेन नित्यनैमित्तिकक्रियाः ॥ १३४ ॥

पूर्वमें आवश्यकोंके पालन करनेकी जो रीति नीति बताई गई है तदनुसार आवश्यकोंके सम्पूर्ण उपायोंमें दत्तचित्त होकर कृतिकर्मकी विधि बतानेवाले शास्त्रोंके अनुसार तथा गुरुपरम्परासे जो उपदेश चला आरहा है उसके अनुसार साधुओंको नित्य नैमित्तिक क्रियाओंका पालन अवश्य ही करना चाहिये।

मोक्ष कल्याणमें अपनी बुद्धिको लगाकर जिसने श्री जिनेन्द्र भगवान्के उपदिष्ट आगमरूपी क्षीर समुद्रका मंथन करके सुमना —विद्वानों [पक्षमें देवताओं] की तृप्तिके लिये इस धर्मरूपी अमृतको उद्धृत किया है वह महा पंडित श्री आशाधर जयवंता रहो तथा वह प्रसिद्ध भव्यात्मा हरदेव भी सदा आनंदको प्राप्त हो कि जिसके उपयोगके लिये इस टीकारूपी युक्तिकी सुखपूर्वक रचना हुई है।

इस प्रकार आवश्यकनिर्युक्ति नामका आठवां अध्याय समाप्त हुआ।

अथ नवमोऽध्यायः ।

साधुओंको नित्यकर्मकी विधिका पालन करने में उद्यमी बनानेके लिये चवालीस पद्योंमें वर्णन करते हैं:-

शुद्धस्वात्मोपलम्भाग्रसाधनाय समाधये ।
परिकर्म मुनिः कुर्यात् स्वाध्यायादिकमन्वहम् ॥ १ ॥

निज आत्मस्वरूपमें सब तरफसे चित्तका हटकर लगजाना इसको योग अथवा समाधि कहते हैं। इस योगकी सिद्धिके पहले उसकी योग्यता उत्पन्न करनेकेलिये जो क्रियाएं पाली जाती हैं उनको परिकर्म कहते हैं। इसके भेदोंको आगे चलकर लिखेंगे। साधुओंको परिकर्म के स्वाध्यादिक भेदोंका प्रतिदिन पालन करना चाहिये। क्योंकि इनका पालन करनेसे ही समाधिकी सिद्धि हो सकती है। और उस समाधिके द्वारा ही निज शुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति हो सकती है। क्योंकि निर्मल चित्स्वरूप का लाभ होनेमें प्रधान कारण चित्तकी एकाग्रतारूप ध्यान ही है। जैसा कि कहा भी है कि:—

यदात्रिक फल किंचित् फलमामुत्रिक च यत् ।
एतस्य द्वितयस्यापि ध्यानमेवाग्रकारणम् ॥

अर्थात् जीवोंको संसारमें जो आभ्युदयिक फल प्राप्त हुआ करते हैं, अथवा पारलौकिक निर्विकल्प आत्म सम्भूत सुखादिका लाभ हुआ करता है, उन दोनों ही लाभोंका प्रधान कारण ध्यान ही माना है।

परिकर्मके प्रथम भेद स्वाध्यायके प्रारम्भ करने और समाप्त करनेकी विधि बताते हैं:-

स्वाध्यायं लघुभक्त्यात्तं श्रुतसूर्योरहर्निशे ।
पूर्वेऽपरेपि चाराध्य श्रुतस्यैव क्षमापयेत् ॥ २ ॥

स्वाध्यायका प्रारम्भ दिन और रात्रिके पूर्वाह्न तथा अपराह्न के समय लघु श्रुतभक्ति और लघु आचार्य भक्तिका पाठ करके करना चाहिये। इस तरह विधिपूर्वक उसको नियत समयतक करके अतमें लघु श्रुतभक्तिका पाठ करके उसकी समाप्ति करनी चाहिये।

भावार्थ—स्वाध्यायके समय ४ माने है; जिनमें दो दिनके और दो रात्रिके है. उनके नाम इस प्रकार हैं गोसर्गिक आपराह्णिक प्रादोषिक वैरात्रिक। इन चारों ही समयों में साधुओंको आलस्य छोडकर स्वाध्याय करना उचित है। जैसा कि कहा भी है कि:—

एक प्रादोषिको रात्रौ द्वौ च गोसर्गिकस्तथा।
स्वाध्यायाः साधुभिः सर्वे कर्तव्याः सन्त्यतन्द्रितैः ॥

स्वाध्यायका प्रारम्भ करते समय "अर्हद्वक्त्रप्रसूतम्" इत्यादि लघु श्रुतभक्तिका पाठ—अञ्जलिकामात्र बोलकर और व्यवहारके अनुसार आचार्यादिकोंकी भी भक्ति करके नियत समयमें स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये। आगममें स्वाध्यायके विषयमें बारह कायोत्सर्ग बताये हैं जिनका कि पहले वर्णन करचुके हैं। वन्दना आदिके विषयमें छह आदि कायोत्सर्ग हुआ करते है जिनका कि उल्लेख आगे चलकर तत्तत्प्रकरणमें किया जायगा।

उपर्युक्त स्वाध्यायोंके प्रारम्भ और समाप्तिके कालकी इयत्ता—प्रमाण बताते हैः—

ग्राह्यः प्रगे द्विघटिकादूर्ध्वं स प्राक्ततश्च मध्याह्ने।
क्षम्योऽपराह्णपूर्वापररात्रेष्वपि दिगेषैव ॥ ३ ॥

प्रातःकालका स्वाध्याय सूर्योदयसे दो घडी दिन चढजानेपर शुरू करना चाहिये और मध्यान्हमें दो घडी काल बाकी रहे तभी समाप्त कर देना चाहिये। इसी तरह अपराह्ण स्वाध्यायका प्रारम्भ साधुओंको मध्यान्हसे दो घडी काल बीत जानेपर शुरू करना चाहिये और सूर्यास्तके समयमे दो घडी पहले ही समाप्त कर देना चाहिये। पूर्वरात्रिक और अपर रात्रिक स्वाध्यायके विषयमें भी यही क्रम समझना चाहिये। अर्थात् पूर्वरात्रिक स्वाध्यायका

प्रारम्भ साधुओंको सूर्यास्त से दो घडीके अनंतर करना चाहिये और मध्य रात्रिके दो घडी पहले समाप्त कर देना चाहिये. तथा अपररात्रिक स्वाध्यायका प्रारम्भ अर्धरात्रिके दो घडी पीछे करना चाहिये और प्रातः कालसे दो घडी पहले समाप्त करना चाहिये।

स्वाध्यायका लक्षण और उसके विधिपूर्वक पालन करने का फल बताते हैं:—

सूत्रं गणधराद्युक्तं श्रुतं तद्वाचनादयः।
स्वाध्यायः स कृतः काले मुक्त्यै द्रव्यादिशुद्धितः॥ ४॥

गणधर आदिके प्ररूपित शास्त्रोंको सूत्र कहते हैं। इन सूत्रोंके वाचना पृच्छना अनुपेक्षा आम्नाय और धर्मोपदेश को स्वाध्याय कहते हैं। यह स्वाध्याय योग्य समयमें और द्रव्यादिककी शुद्धिपूर्वक करनेसे कर्मोंका क्षय होता और मुक्तिकी प्राप्ति होती है।

भावार्थ—गणधर, प्रत्येक बुद्ध, श्रुतकेवली और अभिन्न दशपूर्वका ज्ञान रखनेवाले आचार्यों द्वारा उपदिष्ट ग्रंथोंको सूत्र कहते है। यथा —

सुत्त गणहरकहिद तहेव पत्तेयबुद्धकहिय च।
सुदकेवलिणा कहिद अभिण्णदसपुव्विकहिद च॥
त पढिदुमसज्झाए ण य कप्पदि विरदि इत्थिवग्गस्स।
एत्तो अण्णो गथो कप्पदि पढिदु असज्झाए॥
आराधणणिज्जुत्ती मरणविभत्ती असग्गहथुदीवो।
पच्चक्खाणावासय धम्मकहाओ य एरिसओ॥

अर्थात्—गणधर, प्रत्येकबुद्ध, श्रुतकेवली और दशपूर्वके पाठी आचार्यों द्वारा कथित ग्रंथोंको सूत्र कहते है। उसका पाठ स्वाध्यायके नियतकालमें ही करना चाहिये। अयोग्य कालमें उसका पाठ करना उचित नहीं है। अस्वाध्याय कालमें सूत्रसे भिन्न ग्रथोंका पाठ किया जा सकता है।

यह स्वाध्यायवाचना आदिके भेदसे पांच प्रकारका बताया है। स्वाध्याय करने वालेको अपने शरीरकी तथा परशरीरकी शुद्धिका विचार करना उचित है। इसी प्रकार स्वाध्याय करनेवालेको भूमिशुद्धिका भी विचार करके चारों दिशाओंमें रुधिर मांसादिक चारसौ हाथकी दूरीपर ही छोडदेना चाहिये। तथा आगममें स्वाध्यायके लिये जो अयोग्य समय बताये हैं उनमें स्वाध्याय करना उचित नहीं है। यथा.—

दिसिदाहउक्कपडण विज्जुवउक्काऽसणिंदधणुग च ।
दुग्गंधसझ दुद्दिण-चंदगहा-सूरराहुजुद्ध च ॥
कलहादिधूमकेदू धरणीकंप च अंभगज्ज च ।
इच्चेवमाइबहुगा सज्झाए वज्जिदा दोसा ॥

अर्थात्—अग्निदाह उल्कापात बिजली उल्का वज्र इन्द्रधनुष् दुर्गंध संध्या दुर्दिन चन्द्रग्रहण सूर्यग्रहण युद्ध धूम्रकेतु भूकम्प मेघगर्जन इत्यादि बहुतसे भियप्रधानकी मृत्यु आदि दूषित समय स्वाध्यायके लिये वर्जित कहे हैं।

विनय पूर्वक श्रुतका अध्ययन करनेमें क्या माहात्म्य है सो बताते हैं:—

श्रुतं विनयतोऽधीतं प्रमादादपि विस्मृतम् ।
प्रेत्योपतिष्ठतेऽनूनमावहत्यपि केवलम् ॥ ५ ॥

विनय पूर्वक जिस श्रुतका अध्ययन किया गया है वह यदि कारण वश प्रमादके निमित्तसे विस्मृत भी हो जाय तो भी वह कालान्तरमें या दूसरे जन्ममें ज्योंका त्यों—अविकलरूपमें आकर उपस्थित होजाता है. और पूर्ण केवलज्ञानतक को उत्पन्न कर देता है।

भावार्थ—विनयपूर्वक शास्त्र पढनेका यह फल है कि यदि वह कदाचित् प्रमादके द्वारा याद न भी रहे फिर भी वह जन्मान्तर तकमें सबका सब स्मरणमें आसकता है। बल्कि उसके निमित्तसे क्रमसे केवल—असहाय ज्ञानतककी उत्पत्ति हो सकती है। जैसा कि कहा भी है कि:—

विणएण सुदमधीद जदि वि पमादेण होइ विस्सरिद ।
तमुवट्ठादि परभवे केवलणाण च आवहदि ॥

अर्थात्–विनयके साथ पढ़ा हुआ श्रुत यदि प्रमादसे विस्मृत भी हो जाय तो भी वह परभवमें उपस्थित–स्मृत हो आता है और केवलज्ञानतकका लाभ कराता है।

जिस विशिष्ट ज्ञानसे तत्त्वज्ञान आदि मोक्षके साधन प्राप्त हुआ करते हैं वह जिनशासनमें ही मिल सकता है, अन्यत्र नहीं; ऐसा उपदेश करते हैं:—

तत्त्वबोधमनोरोधश्रेयोरागात्मशुद्धयः ।
मैत्रीद्योतश्च येन स्युस्तज्ज्ञानं जिनशासने ॥ ६ ॥

" सर्वं वस्तुजातमनेकान्तात्मकम् " अर्थात् सम्पूर्ण वस्तुमात्र अनन्तधर्मात्मक हैं, उस सिद्धान्तको जिनशासन कहते हैं। और इसके विरुद्ध सर्वथा एकान्त रूप वस्तुको माननेवाले सर्वथैकान्त वादी कहे जाते हैं। सो तत्त्वज्ञानादि पांच या छह विषय ऐसे हैं जो कि इस जिनशासन में ही मिल सकते हैं, अन्यत्र–सर्वथैकान्तवादियोंके मतमें नहीं।

१ तत्त्वबोध—तत्त्व तीन प्रकारके माने गये हैं, हेय, २ उपादेय, ३ और उपेक्षणीय। इनमेंसे यथायोग्य अर्थात् हेयका हेयरूप से, उपादेयका उपादेयरूपसे और उपेक्षणीयका उपेक्षणीयरूपसे बोध–प्रतिपत्ति होना उसको तत्त्वबोध कहते हैं। यथा:—

इतीद जीवतत्त्व य श्रद्धत्ते वेत्त्युपेक्षते ।
शेपतत्त्वं सम पञ्चि स हि निर्वाणभाग् भवेत् ॥

अर्थात् जो भव्य अजीवादिक छह तत्त्वोंके साथ २ इस जीवतत्त्वका श्रद्धान करता है, ज्ञान प्राप्त करता है, और उपेक्षणीयमें उपेक्षा किया करता है वही जीव निर्वाणका भागी हो सकता है. सारांश यह कि सात तत्त्वोंमें हेय

उपादेय और उपेक्षणीय तत्त्वोंका स्वरूप समझकर उनमें उसी प्रकारका श्रद्धानादि होना तत्त्वबोधका वास्तविक स्वरूप है। तत्त्वबोधसे मोक्ष का भागी जीव बन सकता है। परन्तु इस प्रकारका तत्त्वबोध—जिनशासन—सर्वज्ञ वीतराग भगवानके मतमें ही मिल सकता है, अन्य मतोंमें नहीं।

२—मनोरोध-चित्तको विषयोंकी तरफसे हटाना, उसको परपदार्थोंकी या विषयोंकी तरफ जाने न देना मनोरोध कहा जाता है। "यद्यदेव मनसि स्थितं भवेत् तत्तदेव सहसा परित्यजेत्" अर्थात् मनमें जब कोई पदार्थ आकर उपस्थित हो तो उसको उसी समय छोड देना चाहिये। आत्म कल्याण या मोक्षमार्गके विरुद्ध कैसा भी विचार यदि मनमें उत्पन्न हो तो उसको एक क्षण भी ठहरने नहीं देना चाहिये। यही मनके निग्रह करनेका उपाय है। इसको भी मनोरोध कहते हैं। सो यह मनोरोध भी सिवाय जिनशासनके अन्यत्र नहीं मिल सकता।

३—श्रेयोराग-यहांपर श्रेयस् शब्दसे चारित्र और राग शब्दसे उसमें लीन होनेका कारण अनुरागरूप श्रद्धान समझना चाहिये। अर्थात् मोक्षके साक्षात् कारण चारित्रमें लीन करदेनेवाला अनुरागरूप श्रद्धान भी अनेकान्त मतमें ही प्राप्त हो सकता है, दूसरे मतोंमें नहीं।

४—आत्मशुद्धि-जिस विषयका "मैं" इस तरहसे अनुपचरित-वास्तविक भान होता है उसको आत्मा कहते है। इस आत्मामें परपदार्थके संयोगसे रागादिरूप अशुद्धि हुआ करती है। उस अशुद्धिका दूर होना ही आत्मशुद्धि कहाजाता है। यह भी जिनमतमें ही मिल सकती है। वास्तविक वीतरागता और आत्मशुद्धि अन्यमतके अनुसार नहीं बन सकती।

५—मैत्रीद्योत-किसी भी जीवको कभी भी किसी भी तरह से दुःखकी उत्पत्ति न हो ऐसी अभिलाषाको मैत्री कहते हैं। इसका माहात्म्य विद्वानोंके हृदयमें उत्पन्न करना मैत्री द्योत समझना चाहिये। अर्थात् वस्तुतः मैत्री भावना की प्रभावना भी जिनमतमें ही बन सकती है, अन्यत्र नहीं।

इस प्रकार ये पांच विषय हैं। च शब्द समुच्चय वाची है। अर्थात् ये पांचो ही समुदित अथवा इनमेंका प्रत्येक भी विषय जिनमतके सिवाय अन्यमतोंमें नहीं बन सकते। जैसा कि कहा भी है कि:—

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥
जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मित्तिं पभावेज्ज तं णाणं जिणसासणे ॥

अर्थात्—जिससे तत्त्वका विबोध प्राप्त होता है, जिससे चित्तका निरोध होता है, और जिससे आत्मा विशुद्ध हुआ करता है, वह ज्ञान जिनशासनमें ही मिल सकता है। जिसमें रागमात्र दूर किये जा सकते हैं, और जिससे श्रेयोमार्गमें अनुरागकी उत्पत्ति होती है, तथा जिससे मैत्री भावनाकी प्रभावना हुआ करती है, वह ज्ञान जिनशासनमें ही मिल सकता है।

यहांपर सूत्रकारने जिन दो सूत्रोंके द्वारा दुर्लभ अर्थात् जिनमतके सिवाय अन्यत्र अलभ्य ज्ञानका माहात्म्य बताया है उनमें से पहले सूत्र के द्वारा सम्यक्त्वसहचारी और दुसरे सूत्र के द्वारा चारित्र सहचारी ज्ञानका वर्णन किया है, ऐसा समझना चाहिये।

इस प्रकार स्वाध्यायके माहात्म्यका वर्णन करके अब पश्चिम रात्रिके समय साधुओंको स्वाध्यायका पहले प्रतिष्ठापन-प्रारम्भ फिर निष्ठापन—समाप्ति, और उसके बाद प्रतिक्रमण तथा उसके बाद रात्रियोगका निष्ठापन ये क्रियाए क्रम से अवश्य करनी चाहिये, ऐसा उपदेश देते हैः—

क्रमं नियम्य क्षणयोगनिद्रया लातं निशीथे घटिकाद्वयाधिके।
स्वाध्यायमत्यस्य निशाद्विनाडिकाशेषे प्रतिक्रम्य च योगमुत्सृजेत् ॥ ७ ॥

शक्तिके अनुसार मनके विचारोंका शुद्ध चिद्रूपमें रोकना योग कहा जाता है। इस योगको निद्राके समान समझना चाहिये। क्योंकि निद्राका लक्षण लिखा है कि "इद्रियात्ममनोमरुतां सूक्ष्मावस्था स्वापः"। अर्थात् इन्द्रिय आत्मा मन और प्राण इनका सूक्ष्म अवस्था विशेषको निद्रा कहते हैं। योगमें भी इन चारोंकी सूक्ष्म अवस्था हुआ करती है। अत एव योगियोंको जो निद्रा आती है उसको योग निद्रा समझना चाहिये।

इसका काल अत्यल्प माना गया है। क्योंकि साधुओंकी निद्राका काल ज्यादेसे ज्यादे चार घडीका ही माना है। अर्ध रात्रिसे दो घडी पहले और दो घडी पीछेका जो काल है वही निद्राका काल है, जो कि स्वाध्यायके योग्य नहीं माना है। इस अल्पकालीन निद्राको ही क्षणयोग निद्रा समझना चाहिये। इस क्षणयोगनिद्राके द्वारा ही साधुजन अनवरत—दिनमें और रात्रिमें किये गये ध्यानाध्ययनतपश्चरण आदिके द्वारा उत्पन्न हुए शरीरखेदको दूर किया करते हैं।

योगियोंको इस निद्राके द्वारा शरीर ग्लानि दूर करके अर्धरात्रिके अनन्तर दो घडी काल बीतजानेपर तीसरी घडीके प्रारम्भमें स्वाध्यायका प्रतिष्ठापन-प्रारम्भ करना चाहिये; और उसका निष्ठापन रात्रिमें जब दोघडी काल बाकी रहे तब करदेना चाहिये। इसके अनन्तर प्रतिक्रमण अर्थात् अपनेसे जो अपराध बनगयाहो उसका विधिपूर्वक संशोधन करना चाहिये। और उसके बाद योगका निष्ठापन करना चाहिये। अर्थात् रात्रिमें जिस शु-द्धोपयोगको ग्रहण किया था उसका उत्सर्ग कर देना चाहिये।

इस विषयमें श्रीमान् गुणभद्र आचार्यने भी कहा है किः—

यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्म,
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं,
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः॥

तथा इसी बातको श्रीमान् पूज्य रामसेनजीने भी कहा है किः—

स्वध्यायाद् ध्यानमध्यास्ते ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत्।
ध्यानस्वाध्यायसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

यही बात स्वयं हमने भी सिद्धचक्र महाकाव्यमें कही है। यथाः—

परमसमयसाराभ्यासानन्दसर्प—
त्सहजमहसि साय स्वे स्वयं स्वं विदित्वा।

पुनरुदयदविद्यावैभवा प्राणचार-
स्फुरदरुणविजृम्भा योगिनो यं स्तुवन्ति ॥

परमागमका व्याख्यान करना पढना पढाना सुनना सुनाना उसका प्रचार करना ग्रंथरूप तयार करना कराना इत्यादि आगमकी तरफ उपयोग रखने वालेको जो फल प्राप्त हुआ करते है उनको दिखाते हुए उसके लोकोत्तर माहात्म्यका वर्णन करते हैः—

खेदसंज्वरसंमोहाविक्षेपाः केन चेतस : ।
क्षिप्येरन् मङ्क्षु जैनी चेन्नोपयुज्येत गीःसुधा ॥ ८ ॥

जिन भगवान्‌की उपदिष्ट वाणीको अमृतकी उपमा दी जाती है; क्योंकि दोनों हीसे जीवोंका खेद संताप आदि दूर हुआ करता है। परन्तु वस्तुतः जिनवाणी अमृतसे अत्यधिक है। यह वह लोकोत्तर सुधा है कि जिसके सेवन करनेसे मानसिक खेद अथवा मनमें किसी प्रकारका उत्पन्न हुआ संताप, यद्वा सहज ही जीवोंको लगा हुआ अज्ञान, प्रायः चित्तमें अनेक कारणोंसे उत्पन्न होनेवाली व्याकुलताए— नाना प्रकारके विक्षेप, सेवन करते ही दूर होजाया करते हैं। यदि ससारमें यह जैनी वाणी न होती तो वस्तुतः इन मानसिक दोपोंका निराकरण करनेमें कोई भी समर्थ नहीं था। जब कि मिथ्यादृष्टि भी योग्य सुभाषित की प्रशंसामें यही बात कहते है; यथाः—

क्रान्तमपोज्झति खेद तप्त निर्वाति बुध्यते मूढम् ।
स्थिरतामेति व्याकुलमुपयुक्तसुभाषित चेतः ॥

यदि उत्तम सुभाषितका उपयोग किया जाय तो उससे क्रान्त हृदयका खेद दूर होता है, सतप्त मन शान्त बनता है, और अज्ञानी हृदयमें ज्ञानका संचार होता है, तथा व्याकुलित चित्त स्थिरताको प्राप्त हुआ करता है। जब कि मिथ्यादृष्टि भी सुभाषितकी इतनी प्रशंसा करते है तब श्री सर्वज्ञ वीतराग निर्दोष अरिहंत भट्टारकके मुखारविंदसे प्रगट हुई वाणीके माहात्म्यका तो कौन वर्णन कर सकता है।

इस प्रकार स्वाध्यायके माहात्म्यका वर्णन किया। अब क्रमप्राप्त प्रतिक्रमणके माहात्म्यको बतानेका प्रारम्भ करते हैं:—

दुर्निवारप्रमादारिप्रयुक्ता दोषवाहिनी।
प्रतिक्रमणदिव्यास्त्रप्रयोगादाशु नश्यति ॥ ९ ॥

जिनका निवारण नहीं किया जा सकता ऐसे प्रमाद रूपी शत्रुओंके द्वारा प्रेरित अतिचारोंकी सेनाका नाश प्रतिक्रमणरूपी दिव्य अस्त्रोंके प्रयोग से बहुतही जल्दी होजाया करता है।

भावार्थ—उत्तम कार्योंके सम्पादन करनेमें उत्साहका न होना या उन विषयोंमें सावधान न रहना इसको प्रमाद कहते हैं। यह प्रमाद साधारण प्रयत्न के द्वारा दूर नहीं किया जासकता। इसके द्वारा आत्माका वास्तविक कल्याण या स्वार्थ नष्ट होता है, अतएव इसको शत्रुके समान समझना चाहिये। मुमुक्षुओंको संयमका पालन करनेमें अनेक प्रकारके दोषों—अतीचारोंकी सेना जो आघेरती है वह इस प्रमादशत्रुकी प्रेरणासे ही। किंतु इसका निवारण सहज नहीं है। अतएव जिस प्रकार किसी बलवान शत्रुका निवारण देवोपनीत हथियार चलाकर ही किया जाता है उसी प्रकार इस प्रचण्ड शत्रुका निवारण भी प्रतिक्रमणरूपी दिव्य आयुधके विधिपूर्वक प्रयोग करनेसे ही हो सकता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

जीवे प्रमादजनिताः प्रचुराः प्रदोषा,
यस्मात्प्रतिक्रमणतः प्रलयं प्रयान्ति।
तस्मात्तदर्थममलं मुनिबोधनार्थं,
वक्ष्ये विचित्रभवकर्मविशोधनार्थम् ॥

जीवके प्रमादसे उत्पन्न हुए प्रचुर और बडे २ भी दोष इस प्रतिक्रमणके प्रसादसे ही प्रलयको प्राप्त हो जाया करते हैं। अत एव उसका निर्दोष अर्थ मुनियोंको जाननेके लिये और विचित्र संसारमें संचित कर्मोंको दूर करनेके लिये मैं कहूंगा।

इस कथनसे सिद्ध है कि प्रमादजन्य महान् भी दोष प्रतिक्रमणके द्वारा दूर हो जाया करते हैं।

प्रमादकी महिमा कितनी बडी है सो उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैः—

त्र्यहाद्ऽवैयाकारणः किलैकाहादकार्मुकी ।
क्षणादयोगी भवति स्वभ्यासोपि प्रमादतः ॥ १० ॥

यह बात लोकमें प्रसिद्ध है कि मंद अभ्यास करनेवाले की तो बात ही क्या जिसने व्याकरणका खूब अच्छी तरहसे अभ्यास किया है ऐसा वैयाकरण भी तीन दिनके प्रमादसे अवैयाकरण बन जाता है । केवन तीन दिनके लिये अभ्यास छोड देनेसे अच्छी तरह अभ्यस्त भी व्याकरणका ज्ञान विस्मृत होजाता है । इसी तरह एक दिनके प्रमादसे धानुष्क अधानुष्क होजाता है। अर्थात् केवल एक दिन अभ्यास छोडदेनेसे ही अच्छी तरहसे अभ्यस्त भी धनुर्विद्याको भूलकर अनभ्यस्त सरीखा होजाता है । किंतु निरन्तर समाधिका अभ्यास करनेवाला योगी एक क्षणभर के लिये प्रमाद करनेपर अयोगी बनजाता है—समाधिसे च्युत होजाता है ।

प्रतिक्रमण और रात्रियोगका प्रतिष्ठापन तथा निष्ठापन—प्रारम्भ और समाप्ति किस प्रकार करनी चाहिये सो उसकी विधि बताते हैंः—

भक्त्या सिद्धप्रतिक्रान्तिवीरद्विद्वादशार्हताम् ।
प्रतिक्रामेन्मलं योगं योगिभक्त्या भजेत् त्यजेत ॥ ११ ॥

प्रतिक्रमणमें चार प्रकारकी भक्ति कीजाती है । अर्थात् सयममें लगे हुए मल—अतीचारोंको दूर करनेके लिये साधुओंको चार प्रकारकी वन्दना करनी चाहिये ।—सिद्धभक्ति प्रतिक्रमणभक्ति, वीरभक्ति, और चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्ति । तथा रात्रियोगका प्रारम्भ और समाप्ति योगि भक्तिके द्वारा ही की जाती है । " आज रात्रिको मैं इस वसतिकामें ही रहूगा " ऐसे नियम विशेष को ही रात्रियोग कहते है. सो इस नियमको धारण करनेके पूर्व और पूर्ण होनेके अनंतर साधुओंको योगि भक्ति करनी चाहिये । जैसा कि कहा भी है कि —

सिद्धनिषेधिकावीरजिनभक्तिः प्रतिक्रमे ।
योगिभक्तिः पुनः कार्या योगग्रहणमोक्षयोः ॥

अर्थात् प्रतिक्रमणमें सिद्धभक्ति प्रतिक्रमणभक्ति वीरभक्ति और जिन भक्ति करनी चाहिये । तथा योगके ग्रहण और मोक्ष दोनो ही अवसरोंपर योगिभक्ति ही करनी चाहिये ।

प्रातःकालीन देववन्दना करनेके लिये साधुओंको प्रोत्साहित करते हुए कहते हैः—

योगिध्यानैकगम्यः परमविशदद्दग्विश्वरूपः स तच्च,
स्वान्तस्थेम्नैव साध्यं तदमलमतयस्तत्पथध्यानबीजम् ।
चित्तस्थैर्यं विधातुं तदनवधिगुणग्रामगाढानुरागं,
तत्पूजाकर्म कर्मच्छिदुरमिति यथासूत्रमासूत्रयन्तु ॥ १२ ॥

जिसका ध्यान योगिजन किया करते है वह परमात्मा केवलज्ञानस्वरूप है । वह ज्ञान सर्वोत्कृष्ट पदको प्राप्त है—उससे अधिक ज्ञान कहींपर भी और किसी भी जीवके नहीं पाया जाता । तथा वह ज्ञान विशद—स्पष्ट अथवा अव्यवधान—अक्रमवर्ती है, अर्थात् युगपत् समस्त पदार्थोंको विषय करता है, और पर इन्द्रिय अथवा मनकी अपेक्षा नहीं रखता । इस ज्ञानके द्वारा जगत्के सम्पूर्ण पदार्थ-लोक तथा अलोक और त्रिकालवर्ती उनके समस्त आकार प्रतिभासित हुआ करते हैं । इस ज्ञानके धारक अरिहत भगवान्का स्वरूप परमागममें प्रसिद्ध है । यथाः—

“ केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासियण्णाणो ।
णवकेवललद्धुग्गमसुजणियपरमप्पववएसो ॥
असहायणाणदसणसहिओ इदिकेवली हु जोगेण ।
जुत्तोत्ति सजोगिजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो ॥ ”

जिन्होने केवलज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंसे अज्ञानभावको सर्वथा नष्ट कर दिया है, और नव केवललब्धियोंके प्रकट होनेसे जिन्होने परमातमा यह संज्ञा प्राप्त करली है, उनको अनादिनिधन आर्ष आगममें असहायज्ञान-दर्शनसे युक्त होनेके कारण केवली और योगसे युक्त रहनेके कारण सयोगी जिन कहा गया है।

इस प्रकारके परमात्माके स्वरूपका संवेदन केवल योगियोंको ध्यानके द्वारा ही हो सकता है। किंतु इस प्रकारके ध्यानकी प्राप्ति योगियोंको मनकी स्थिरतासे ही हुआ करती है। जिनका मन चचल है उनको इस ध्यानकी सिद्धि नहीं होती। जैसा कि कहा भी है कि:—

ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम्।
गुरूपदेश श्रद्धान सदाभ्यास॰ स्थिरं मनः॥

अर्थात् ध्यानकी सिद्धिके प्रधानतया चार कारण हैं। — गुरुओंका उपदेश, श्रद्धान, निरंतर अभ्यास, और मनकी स्थिरता।

और भी कहा है कि—

अविक्षिप्त मनस्तत्त्वं विक्षिप्तं भ्रान्तिरुच्यते।
धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्त नाश्रयेत्पुनः॥

अविक्षिप्त—अचपल—स्थिर मनको तत्त्व और उसके विरुद्ध विक्षिप्त—चंचल मनको भ्रान्ति माना है। अत एव मुमुक्षुओंको चंचल मनका आश्रय छोडकर स्थिर मनका ही आश्रय लेना चाहिये।

चित्तकी स्थिरता जिनेन्द्र भगवान्की पूजा-वन्दना करनेसे हुआ करती है। अत एव कालुष्य रहित निर्मल बुद्धिके धारक साधुओंको उचित है कि उस परमात्माकी प्राप्तिका उपायभूत धर्म्य ध्यान या शुक्लध्यानरूप उपयोगका भी बीज-कारण चित्तकी स्थिरता को ही समझकर उसको सिद्ध करनेके लिये परमागममें कहे मूजब परमात्मा-श्री जिनेन्द्र भगवान्की पूजा-विनयकर्म उसके अनन्तानन्त गुणोंके पिण्डमें गाढ अनुराग-भक्ति अथवा श्रद्धा रखते हुए अवश्य करें। क्योंकि यह पूजा ज्ञानावरणादि कर्मोंको अथवा कर्मोंके आनेके द्वाररूप मन वचन कायके व्यापार को नष्ट करने वाली है।

भावार्थ—यहांपरपूजा शब्दसे भाव पूजाका ही ग्रहण करना चाहिये। भावपूजाका लक्षण इस प्रकार बताया है कि—

व्यापकानां विशुद्धाना जैनानामनुरागत. ।
गुण.ना यदनुध्यानं भावपूजेयमुच्यते ॥

अर्थात्-अरिहंत भगवानके व्यापक और विशुद्ध गुणोंमें अनुराग भाव रखकर उनका चिन्तवन करना इसको भावपूजा कहते हैं। अत एव इस पूजाके करनेवालेके जिनेन्द्र भगवानके अनन्तानन्त ज्ञानादि गुणोंमें भक्ति या श्रद्धा दृढ हुआ करती है, और मनवचन कायकी क्रियाओंका सावद्य रुपसे निरोध होजानेके कारण संवर तथा ज्ञानावरणादि कर्मोंकी एकदेश निर्जरा भी हुआ करती है। तथा चित्तमें स्थिरता भी प्राप्त हुआ करती है जिससे कि योगियोंको उस उत्कृष्ट ध्यानकी सिद्धि हुआ करती है कि जिसके बलसे वे उस परमात्मका स्वयंसवेदन कर सकते हैं।

यहांपर उत्कृष्ट ध्यान शब्दसे एकत्व वितर्क अवीचार नामका शुक्लध्यान समझना चाहिये। क्योंकि परमात्माके उक्त स्वरूपका स्वसंवेदन उसीके द्वारा होता है।

योगियोंको चित्तकी स्थिरतासे सिद्ध होने वाले योगके आठ अंग बताये हैं।-यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि। इनमेंसे अपने विषय पर स्थिर हो जानेवाले ज्ञानकोही ध्यान कहते है। और जब वह ध्यान भी स्थिरीभूत हो जाता है तब उसीको समाधि कहते है। इस समाधि या उत्कृष्ट ध्यान अथवा प्रकृतमें एकत्ववितर्ककी सिद्धिका कारण मनकी स्थिरता और उसका भी कारण परमात्माकी पूजा-वन्दनाको जानकर योगियोंको आगमके अनुसार अवश्य ही प्रातःकालीन देववंदना करनेमें प्रवृत्त होना चाहिये।

त्रैकालिक देववन्दना किसप्रकार करनी चाहिये सो उसकी विधि बताते हैं:—

त्रिसन्ध्यं वन्दने युंज्याच्चैत्यपञ्चगुरुस्तुती ।
प्रियभक्तिं बृहद्भक्तिष्वन्ते दोषविशुद्धये ॥ १३ ॥

वन्दना करने वाले साधुओंको तीनों सन्ध्याओंके समयमें जिनेन्द्रभगवान्‌की वन्दना करनेमें चैत्यवन्दना और पंचगुरुवन्दना करनी चाहिये। और जब दोषोंकी विशुद्धि करनी हो—वन्दनासबन्धी अतीचारों या रागादि भावोंका उच्छेदन करना हो तब वृहद्भक्तियोंके अन्तमें समाधि भक्ति करनी चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि— " ऊनाधिक्यविशुद्धयर्थं सर्वत्र प्रियभक्तिकाः " अर्थात् न्यूनाधिकताके दोषकी निवृत्तिके लिये सर्वत्र समाधिभक्ति की जाती है।

आचार शास्त्रमें कहे मूजब ही अच्छी तरहसे क्रिया करनेवाले भी कितने ही ऐसे देखनेमें आते हैं कि जो केवल वृद्धोंकी परम्परासे चले आये व्यवहारके ही वशीभूत होकर जिन भगवानकी नित्य वन्दना भी सिद्ध भक्ति चैत्यभक्ति पञ्चगुरुभक्ति और शांतिभक्ति इन चार भक्तियोंके द्वारा ही किया करते हैं। किन्तु उनका यह व्यवहार हमारी समझसे केवल भक्तिरूपी चुडेलका दुर्विलास ही समझना चाहिये। क्योंकि ऐसा करनेमें आगमकी आज्ञाका अतिक्रमण होता है। आगममें पूजा और अभिषेक मङ्गलके अवसर पर ही इन चार भक्तियोंके करनेका विधान है। [नित्य]वन्दनाके समय केवल चैत्यभक्ति और पचगुरुभक्ति ही की जाती है। यथाः—

चैत्यपञ्चगुरुस्तुत्या नित्या सन्ध्यासु वन्दना।
सिद्धभक्त्यादिशान्त्यन्ता पूजाभिषवमङ्गले ॥

तीनों सन्ध्याओंके समय जो जिनदेवकी नित्य वन्दनाकी जाती है वह चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्तिपूर्वक [की] जाती है। और पूजाके समय अथवा अभिषेक वन्दनाके समय सिद्ध भक्ति चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांति [इन] चार भक्ति की जाती है। और भी कहा है कि:—

जिणदेववंदणाए चेदियभत्तीय पंचगुरुभत्ती।
[illegible] अहिसेयवंदणा सिद्धचेदिय पंचगुरुसंतिभत्तीहिं ॥

अर्थात् — जिनदेवकी वन्दनामें चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति करनी चाहिये। अभिषेक वन्दना सिद्धभक्ति चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांति भक्तिके द्वारा की जाती है।

अतएव यह बात सिद्ध है कि तीनों सन्ध्याओंके समय नित्यवन्दना चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति इन दो भक्तियोंके द्वारा ही हुआ करती है, न कि सिद्धभक्ति आदि चार भक्तियोंके द्वारा।

कृतिकर्मके छह भेदोंका व्याख्यान करते हैं:—

स्वाधीनता परीतिस्त्रयी निषद्या त्रिवारमावर्ताः।
द्वादश चत्वारि शिरांस्येवं कृतिकर्म षोढेष्टम् ॥ १४ ॥

कृतिकर्म छह प्रकारका है।—स्वाधीनता, परीति, निषद्या, त्रिवार, आवर्त, और शिरोनति। वन्दना करनेवालेकी स्वतन्त्रताका ही नाम स्वाधीनता है। इस विषयका विशेष उल्लेख आगे चलकर किया जायगा। परीति नाम प्रदक्षिणाका है। अर्थात् कृतिकर्म करते समय तीनवार प्रदक्षिणा देना इसको परीति कहते हैं। निषद्या नाम बैठनेका है। सो यह तीन भेदरूप है। क्योंकि कृतिकर्म करनेवाले को क्रिया विज्ञापनाके अनंतर चैत्यभक्तिके अनंतर और पचगुरुभक्तिके अनतर इस तरह तीनवार आलोचना करते समय पुनः पुनः बैठना पडता है। त्रिवार शब्दसे यहांपर वन्दना करते समय तीनवार किये जाने वाले कायोत्सर्गको लेना चाहिये। क्योंकि इस प्रकरणमें चैत्यभक्ति पचगुरुभक्ति और समाधिभक्ति के अवसर पर तीन कायोत्सर्ग किये जाते हैं। आवर्तका स्वरूप पहले लिखा जा चुका है। ये प्रत्येक दिशाके तीन तीन मिलाकर चारो दिशाके बारह हुआ करते हैं। इसी तरह चार शिरोनतिका स्वरूप भी पहले कह चुके हैं। इसतरह कृतिकर्मरूप वन्दनाके छह भेद अथवा अंग हैं। जैसा कि सिद्धांतमें भी कहा है कि—

आदाहीणं पदाहीणं तिक्खुत्त तिऊणद।
चदुस्सिरं बारसावत्त चेदि।

अर्थात्—स्वाधीनता परीति निषद्या त्रिवार चतुःशिरोनति और बारह आवर्त ये छह कृतिकर्मके भेद है।

जिन भगवानकी मूर्तिकी वन्दना करनेसे चार प्रकारके महान् फल प्राप्त हुआ करते है। यथा—१–नवीन २ महान् पुण्य कर्मप्रकृतियोंका आस्रव हुआ करता है। २ रे पूर्वके संचित पुण्य कर्मके उदयमें विशेषता प्राप्त हुआ

करती है। उनकी स्थिति और अनुभाग बढकर फलमें महत्ता प्राप्त होती है। ३ रे संचित पापकर्मकी फलदान शक्तिका अपकर्षण हो जाया करता है। वह घटकर अत्यंत अल्प रह जाती है। ४ थे नवीन पापकर्मका संवर हो जाता है। अर्थात् चैत्य वन्दना करनेवालेको नवीन पापका आस्रव नहीं होता। अतएव मुमुक्षुओंको तीनोंही सन्ध्यासमयोंमें यह जिन चैत्य वंदना हमेशा और अवश्य ही करनी चाहिये। इसी बातको यहांपर साधुओंको चैत्य वन्दनाकेलिये प्रेरित करते हुए स्पष्ट करते हैं:—

दृष्ट्वार्हत्प्रतिमां तदाकृतिमरं स्मृत्वा स्मरंस्तद्गुणान्,
रागोच्छेदपुरःसरानतिरसात् पुण्यं चिनोत्युच्चकैः।
तत्पाकं प्रथयत्यघं क्रशयते पाकाद्गुणढ्यास्रवत्,
तच्चैत्यान्यखिलानि कल्मषमुषां नित्यं त्रिशुद्ध्या स्तुयात् ॥ १५ ॥

मूर्तिके देखते ही जिसकी वह मूर्ति है उसकी आकृतिका तत्काल स्मरण हुआ करता है। अतएव जिन भगवान्की प्रतिमाका दर्शन करने वालोंको भी दर्शन करते ही उनकी आकृतिका स्मरण होता है। अरिहंत भगवान् के शरीरका आकार सम्पूर्ण मलदोषोंसे रहित स्फटिकके समान शुद्ध और समस्त धातु उपधातुओंसे रहित तेजःपुंजके सदृश हुआ करता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

शुद्धस्फटिकसंकाशं तेजोमूर्तिमयं वपुः।
जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम् ॥

अठारह दोषोंसे रहित जिनभगवान्का शरीर सातोंही धातुओंसे रहित हुआ करता है। वह निर्मल स्फटिकके समान प्रकाशित होता हुआ ऐसा जान पडता है मानो तेजकी साक्षात् मूर्ति ही है।

आकृतिका स्मरण होते ही उन अर्हद्भट्टारकके वीतरागता प्रभृति अनेक गुणोंका भी भक्तिके अत्यन्त उद्रेकसे स्मरण होता ही है क्योंकि बाह्य आकृतिके देखनेसे उस आकृतिवालेके गुणोंका भी बोध हो ही जाता है।

सराग और वीतराग व्यक्तिके आकारमें अन्तर अवश्य रहा करता है। इस अंतरको ही देखकर आकृतिवालेके गुणोंका स्मरण हुआ करता है। अतएव इस विषयमें कहा भी है कि:—

"वपुरेव तवाचष्टे भगवन् वीतरागताम्।
न हि कोटरसंस्थेऽग्नौ तरुर्भवति शाड्वलः॥

हे भगवन्! आपका शरीर ही आपकी वीतरागताको स्पष्ट कह रहा है। क्योंकि जिसके कोटरमें अग्नि जल रही हो वह वृक्ष हरा भरा कभी नहीं रह सकता। इसी प्रकार जिसके अन्तरङ्गमें क्रोधादि कषाय जाज्वल्यमान हों उसके शरीरका आकार प्रशान्त कभी नहीं रह सकता। अत एव आपके शरीरका आकार ही कह रहा है कि आप वीतराग हैं।

इस प्रकार जिन भगवान्की प्रतिमाका दर्शन करनेसे अरिहंत भगवान्की आकृतिकी स्मृति और उससे पुनः साक्षात् उनके वीतरागता सर्वज्ञता सर्वदर्शित्व आदि गुणोंका स्मरण हुआ करता है, जिससे कि भक्ति में लीन हुआ वन्दारु— चैत्यवन्दना करनेवाला साधु उसी समय महान् पुण्य कर्मका—सातावेदनीय शुभ आयु शुभ नाम और शुभ गोत्र कर्मका नवीन बन्ध किया करता है। तथा पूर्वके बंधे हुए पुण्य कर्मकी स्थिति और अनुभाग में अतिशय उत्पन्न किया करता है। जिससे कि वे उदय कालमें पहलेकी अपेक्षा अत्यधिक शुभ फल दिया करते है। और पूर्वके जो पापकर्म बन्धे हुए है उनकी स्थिति तथा अनुभागमें अपकर्षण किया करता है। जिससे कि वे पहले के समान तीव्र फल नहीं दे सकते, किंतु मन्द मन्दतर फल देकर ही निर्जीर्ण होजाया करते हैं। इसी प्रकार वह चैत्यवन्दना करनेवाला साधु नवीन पाप कर्मका संवर किया करता है।

अरिहंत भगवान् की प्रतिमाकी वन्दना करनेसे तत्काल ये चार फल प्राप्त हुआ करते है। अत एव जिन्होने चार घातिया कर्मोंको तथा अपने और भी पापकर्मों या मल दोषोंको नष्ट कर विशुद्धता प्राप्त करली है, तथा जो दूसरे वन्दना करनेवाले भव्यजीवोंका भी पापपङ्क दूर करनेवाले है उन श्री अरिहंत भट्टारककी कृत्रिम और अकृत्रिम सम्पूर्ण प्रतिमाओंका मुमुक्षुओंको तीनों ही सन्ध्या समयोंमें अपने मन वचन और शरीरको शुद्ध रखकर अवश्य ही स्तवन करना चाहिये।

कृतिकर्मके छह अंगोंमें पहला जो स्वाधीनता बताया था उसके अर्थका व्यतिरेक मुखसे समर्थन करते हैं—

नित्यं नारकवद्दीनः पराधीनस्तदेष न ।
क्रमते लौकिकेऽप्यर्थे किमङ्गास्मिन्नलौकिके ॥ १६ ॥

पराधीन जीव हमेशा ही दीन बना रहता है । दुःखमय अवस्थाका निरंतर अनुभव करते रहनेके कारण उसको नारकियोंके समान ही समझना चाहिये । इसी लिये लोकमें भी यह कहावत प्रसिद्ध है कि "कोनरकः ? परवशता" । अर्थात् किसीने पूछा कि नरक किसको समझना चाहिये तो उत्तर देनेवालेने कहा कि पराधीनताको। भावार्थ—परतन्त्रता जीवको नारकीके समान दीन बना देती है । इस दीनताके कारण ही वह लौकिक कार्य—अपने चलने फिरने उठने बैठते स्नान भोजन आदि कार्योंको भी अच्छी तरह स्वतन्त्रता और उत्साहके साथ सम्पादित नहीं कर सकता । जब लौकिक कार्योंको भी भलेप्रकार निर्विघ्न सिद्ध नहीं कर सकता, तब मित्र ! अलौकिक कार्योंके विषयमें तो कहना ही क्या । अर्थात् सर्वज्ञदेवके आराधन प्रभृति कृतिकर्मका वह अप्रतिहतरूपसे कभी पालन नहीं कर सकता । इसी लिये लोकमें भी यह उक्ति प्रसिद्ध है कि:—

परार्थानुष्ठाने श्लथयति नृप स्वार्थपरता,
परित्यक्तस्वार्थो नियतमयथार्थ क्षितिपतिः ।
परार्थश्चेत्स्वार्थादभिमततरो हन्त परवान्,
परायत्त प्रीते, कथमिव रस वेत्ति पुरुषः ॥

अर्थात् पराधीन रहनेवाला मनुष्य किसी भी तरह सुखका अनुभव नहीं कर सकता । भावार्थ—जिस प्रकार लौकिक कार्योंके लिये स्वाधीनताकी आवश्यकता है उसी प्रकार या उससे भी अधिक अलौकिक—लोकोत्तर चैत्यवदना प्रभृति कार्योंको करनेकेलिये भी स्वाधीनताकी आवश्यकता है ।

अब चौदह पद्योंमें देव वन्दना आदि क्रियाओंको किस क्रमसे करना चाहिये उसका उपदेश करते हैं । किंतु उसमें सबसे पहले व्युत्सर्ग पर्यंत की क्रियाओंका क्रम पांच श्लोकोंमें बताते हैं:—

श्रुतदृष्ट्यात्मनि स्तुत्यं पश्यन् गत्वा जिनालयम् ।
कृतद्रव्यादिशुद्धिस्तं प्रविश्य निसही गिरा ॥ १७ ॥
चैत्यालोकोद्यदानन्दगलद्बाष्पस्त्रिरानतः ।
परीत्य दर्शनस्तोत्रं वन्दनामुद्रया पठन् ॥ १८ ॥
कृत्वेर्यापथसंशुद्धिमालोच्यानम्रकांघ्रिदोः ।
नत्वाश्रित्य गुरोः कृत्यं पर्यङ्कस्थोऽग्रमङ्गलम् ॥ १९ ॥
उक्त्वात्तसाम्यो विज्ञाप्य क्रियामुत्थाय विग्रहम् ।
प्रह्वीकृत्य त्रिभ्रमैकशिरोविनतिपूर्वकम् ॥ २० ॥
मुक्ताशुक्त्यङ्कितकरः पठित्वा साम्यदण्डकम् ।
कृत्वावर्तत्रयशिरोनती भूयस्तनुं त्यजेत् ॥ २१ ॥

जिन भगवान्की वन्दना करनेकेलिये जिनालयको जाते समय मुमुक्षुओंको भावरूप श्री अरिहंत भगवान्का स्वरूप सम्पूर्ण आत्माओंमें अथवा अपने ही चित्स्वरूपमें परमागमके ज्ञानरूपी नेत्रोंके द्वारा देखते हुए गमन करना चाहिये। अर्थात् भावरूप अर्हदादिका चर्मचक्षुके द्वारा अवलोकन नहीं हो सकता; अतएव श्रुतज्ञानरूपी नेत्रोंके द्वारा उनका स्वरूप अपनेमें ही देखते हुए मन्दिरमें जाना चाहिये। और द्रव्य क्षेत्र काल भावकी शुद्धि करके " निसही निसही निसही " इस प्रकार उच्चारण करते हुए जिनमंदिरमें प्रवेश करना चाहिये। वहां पहुंचकर जिन भगवान्की प्रतिमाका दर्शन करते ही हृदयमें अत्यन्त आनद-प्रमोदके उत्पन्न होनेसे जिसकी आंखोंसे हर्षके अश्रु झड रहे हैं ऐसे उस वन्दना करनेवालेको तीन वार भगवान्को नमस्कार करना चाहिये। उसके वाद जिनालय-गर्भ गृह अथवा उस वेदीकी कि जिसमें श्री जिन चैत्य विराजमान हों तीन वार प्रदक्षिणा देनी

चाहिये। तदनन्तर दर्शन स्तोत्रका पाठ करते हुए—अर्थात् अद्याभवत्सफलता नयनद्वयस्य देव त्वदीय चरणाम्बुज वीक्षणेन " इत्यादि भगवान्के दर्शन विषयक स्तोत्रका अथवा सम्यक्त्वको उत्पन्न व पुष्ट करनेवाले " दृष्टं जिनेन्द्रभवनं भवतापहारि " इत्यादि सामान्यसे किसीभी स्तोत्रका उच्चारण करते हुए वन्दनामुद्राके द्वारा ईर्यापथ शुद्धि करनी चाहिये। अर्थात् मार्गमें चलनेसे जीवोंकी विराधना आदि दोष जो संभव हैं उनका पडिकमामि आदि दण्डकके द्वारा शोधन करना चाहिये। इसके बाद इच्छामि इत्यादि दण्डकका उच्चारण करके निन्दा गर्हारूप आलोचना करनी चाहिये। पुनः धर्माचार्यके समक्ष और यदि गुरु-धर्माचार्य उपस्थित न हों तो भगवान्के ही सामने पंचाङ्ग नमस्कार—एक शिर दो हाथ और दो घोंटू इन पांच अंगो को भले प्रकार नम्रीभूत करके कर्तव्य कर्मको स्वीकार करना चाहिये। अर्थात् देववन्दना या प्रतिक्रमण जो कुछ करना हो उसकी नमोस्तु भगवन् ! देव वन्दनां करिष्यामि—हे भगवन् नमस्कार हो अब मैं देववन्दना करूंगा, " यह कहकर अथवा " नमोस्तु भगवन् प्रतिक्रमण करिष्यामि—हे भगवन् नमस्कार हो अब मैं प्रतिक्रमण करूंगा " यह कहकर कर्तव्यकी प्रतिज्ञा करनी चाहिये। इसके बाद पर्यङ्कासनसे बैठकर जिनेद्र भगवान् के गुणोंको प्रकट करनेवाले " सिद्धं सम्पूर्ण भव्यार्थम् " इत्यादि स्तोत्रका पाठ करना चाहिये। पुनः " खम्मामि सव्वजीवाणं " इत्यादि सूत्रपाठ के द्वारा साम्यभाव-समायिकको प्राप्त होना चाहिये। पुनः वन्दना क्रियाका विज्ञापन करके खडे होकर शरीरको नम्रीभूत बनाकर दोनों हाथोंकी मुक्ताशुक्ति मुद्रा बनाकर उससे तीन आवर्त और एकशिरोनति करके " णमो अरहंताणं " इत्यादि सामायिक दण्डकका पाठ करना चाहिये। तथा पाठ पूर्ण होनेपर अन्तमें भी आदिकी तरह तीन आवर्त और एक शिरोनति करनी चाहिये। इस प्रकार सामायिक दण्डकका पाठ आवर्त और शिरोनतिके साथ २ पूर्ण होनेपर व्युत्सर्ग धारण करना चाहिये। शरीरमें ममत्वभावका सर्वथा परित्याग करना चाहिये।

भावार्थ—यहांपर देववन्दनासे लेकर व्युत्सर्ग पर्यन्त जो क्रियाएं जिस क्रमसे बताई हैं उनको उसी क्रमसे करना चाहिये। इनके द्रव्य और भावरूप भेदोंका स्वरूप पहले बता चुके है। तथा वन्दनामुद्रा मुक्ताशुक्तिमुद्रा पर्यंकासनका भी स्वरूप पहले लिख चुके है। तदनुसार ही उनको करना चाहिये।

१—अध्याय ८ श्लोक ८५—८६—८७

अब दो श्लोकों द्वारा व्युत्सर्गमें ध्यान करनेकी विधि बताते हैं:—

जिनेन्द्रमुद्रया गाथां ध्यायेत् प्रीतिविकस्वरे ।
हृत्पङ्कजे प्रवेश्यान्तर्निरुध्य मनसानिलम् ॥ २२ ॥
पृथग् द्विद्व्येकगाथांशचिन्तान्ते रेचयेच्छनैः ।
नवकृत्वः प्रयोक्तैवं दहत्यंहः सुधीर्महत् ॥ २३ ॥ युग्मम् ॥

व्युत्सर्गके समय साधुओंको अपनी प्राणवायु मनके साथ २ भीतर प्रविष्ट करके आनन्दसे विकसित हुए हृदय कमलमें रोककर जिनेन्द्र मुद्राके द्वारा "णमोअरिहंताण"—प्रभृति गाथाका ध्यान करना चाहिये। तथा गाथाके दो दो और एक अंशका क्रमसे पृथक् २ चिन्तवन करके अन्तमें उस प्राणवायुका धीरे २ रेचन करना चाहिये—प्राणवायुको बाहर निकालना चाहिये। इस प्रकार अपनी दृष्टिको अन्तरङ्गकी तरफ लगाकर नौ बार प्राणायामका प्रयोग करनेवाला संयमी चिरकालके संचित महान् पापकर्मोंको भी भस्म कर देता है।

भावार्थ—प्राणायामका महत्व अत्यन्त अधिक है। जैसा कि कहा भी है कि—

शनैः शनैर्मनोऽजस्रं वितन्द्रः सह वायुना ।
प्रवेश्य हृदयाम्भोजकर्णिकायां नियन्त्रयेत् ॥
विकल्पा न प्रसूयन्ते विषयाशा निवर्तते ।
अन्तः स्फुरति विज्ञानं तत्र चित्ते स्थिरीकृते ॥
स्थिरीभवन्ति चेतांसि प्राणायामावलम्बिनाम् ।
जगद्वृत्तं च निःशेषं प्रत्यक्षमिव जायते ॥
स्मरगरलमनोविजयं समस्तरोगक्षयं वपुःस्थैर्यम् ।
पवनप्रचारचतुरः करोति योगी न संदेहः ॥

साधुओंको अप्रमत्त होकर प्राणवायुके साथ २ धीरे २ अपने मनको अच्छी तरह भीतर प्रविष्ट करके हृदय कमलकी कर्णिकामें रोकना चाहिये। इस तरह प्राणायामके सिद्ध होनेसे चित्त स्थिर हो जाया करता है। जिससे कि अन्तरङ्गमें संकल्प विकल्पोंका उत्पन्न होना बन्द होजाता है, विषयोंकी आशा निवृत्त होजाती है, और अन्तरङ्गमें विज्ञानकी मात्रा बढने लगती है। प्राणायाम करनेवालोंके मन ऐसे स्थिर होजाते है कि उनको जगत्का सम्पूर्ण वृत्तान्त प्रत्यक्ष सरीखा दीखने लगता है। प्राणायामके द्वारा प्राणवायुका प्रचार करनेमें चतुर योगी कामदेव रूपी विष और मनपर विजय प्राप्त करलिया करता है। तथा इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि वह उसके द्वारा रोगोंका नाश कर सकता है, और शरीरको स्थिर बनालिया करता है।

तथा और भी कहा है कि:—

दोयक्खभुआ दिट्टी अंतमुही सिवसरूवसलीणा।
मणपवणक्खविहूणा सहजावत्था स णायव्वा॥
जत्थ गया सा दिट्टी तत्थ मण तत्थ संठिय पवणं।
मणपवणलए सुण्ण तहिं च ज फुरइ त ब्रह्म॥

अर्थात् प्राणायाम करनेवाले साधुओंकी दृष्टि जब बाह्य विषयोंकी तरफसे हटकर अन्तरङ्गकी तरफ उन्मुख होकर आत्मरूपमें अच्छी तरह लीन हो जाती है उस समय मन पवन और इन्द्रियोंकी गति बन्द होकर साहजिक अवस्था प्राप्त हुआ करती है। जहांपर दृष्टि जाकर स्थिर हो जाती है, वहींपर मन और वहींपर पवन भी स्थिर हो जाता है। इस प्रकार मन और पवनके स्थिर होजानेपर जब बाह्य जगत्में शून्यता प्राप्त होती है उस समयमें ब्रह्म प्रकट हुआ करता है।

प्राणवायुके संचार क्रमको ही प्राणायाम कहते है. इसके मूलमें तीन भेद हैं; कुम्भक रेचक पूरक। वायुके भीतर खींचनेको कुम्भक और वहां रोक रखनेको पूरक तथा बाहर निकालनेको रेचक कहते है। योगियोंको व्युत्सर्ग—कायोत्सर्गके समय ध्यान करते हुए ये तीनों ही क्रिया करनी चाहिये। इस ध्यानमें जिनमुद्राके द्वारा णमो अरहंताणं प्रभृति पंचनमस्कारमहामंत्ररूप गाथाका चिन्तवन करना चाहिये। तथा इस गाथाके क्रमसे दो दो और

एक अंशका विभाग करके उनका पृथक् २ चिन्तवन करना चाहिये। अर्थात् पहले भागमें णमो अरहंताणं णमो सिद्धाण इन दो पदोंका और दूसरे भागमें णमो आइरियाण णमो उवज्झायाणं इन दो पदोंका तथा तीसरे भागमें णमो लोए सव्वसाहूणं इस एक पदका ध्यान करना चाहिये। इसके अनंतर आनदसे प्रफुल्लित हृदय कमलमें मनके साथ रुकी हुई प्राण वायुका धीरे धीरे रेचन करना चाहिये। इस तरह कमसे कम नौबार प्रयोग करना चाहिये। कमसे कम इस नौबारकी क्रियासे ही सयमियोंके महान् पापका क्षय होजाता है।

जो इस प्राणायामके द्वारा ध्यान करनेमें असमर्थ हैं वे पासका कोई भी आदमी न सुन सके इस तरहसे उक्त पचनमस्कार मंत्रका वचन द्वारा भी जप कर सकते हैं, इसी बातको बताते हैं। किंतु इसके साथ ही यह भी दिखाते हैं कि इस वाचनिक जपके द्वारा तथा उक्त मानसिक जप-ध्यानके द्वारा जो पुण्यका संचय होता है उसमें कितना अंतर है।

वाचाप्युपांशु व्युत्सर्गे कार्यो जप्यः स वाचिकः।
पुण्यं शतगुणं चैत्तः सहस्रगुणमावहेत ॥ २४ ॥

उक्त व्युत्सर्ग— कायोत्सर्गके समय जो साधु पूर्वोक्त प्राणायामके करनेमें असमर्थ हैं वे सम्पूर्ण पापोंका क्षय करनेमें समर्थ पंचनमस्कार महामंत्रका वचन द्वारा जप कर सकते हैं। किंतु यह जप स्वय अपनी ही समझमें आवे उसको दूसरा कोई न सुनसके इस तरहसे करना चाहिये। परन्तु यह बात भी समझलेनी चाहिये कि इन दोनों ही जपोंके फलमें बहुत वडा अन्तर है। अर्थात् दण्डकोंका पाठोच्चारण करनेसे जितना पुण्यका संचय होता है उससे सौगुणा पुण्य इस वाचानिक जप करनेसे होता है। किन्तु उक्त मानसिक जप करनेसे हजारगुणा पुण्यका संचय हुआ करता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

वचसा वा मनसा वा कार्यो जप्य समाहितस्वान्ते.।
शतगुणमाद्ये पुण्य सहस्रगुणित द्वितीये तु ॥

अर्थात् साधुओंको एक चित्त होकर पंचनमस्कार मंत्रका जप वचन अथवा मन दोनोंमेंसे किसीके भी

द्वारा करना चाहिये। किंतु प्रथमपक्ष में—वचनके द्वारा जप करनेमें सौ गुणा पुण्य होता है तो द्वितीय पक्षमें—मन केद्वारा जप करनेमें हजारगुणा पुण्य हुआ करता है।

इस विषयमें मनुने भी कहा है किः—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशु स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥

अर्थात् विधियज्ञकी अपेक्षा जपयज्ञका फल दशगुणा अधिक है, उसमें भी वाचनिक जपका फल सौगुणा है तो मानासिक जपका फल हजार गुणा है।

मुमुक्षु भव्योंके श्रद्धानको उद्दीप्त करनेकेलिये पंचनमस्कार मंत्रका माहात्म्य बताते हैंः—

अपराजितमन्त्रो वै सर्वविघ्नविनाशनः।
मङ्गलेषु च सर्वेषु प्रथमं मंगलं मतः ॥ २५ ॥

यह पंचनमस्कार मंत्र सम्पूर्ण विघ्न—पाप अथवा अन्तरायोंका अच्छी तरह नाश करनेवाला है। इतना ही नहीं बल्कि जितने भी मंगल—पापके गलानेवाले उपाय हैं, अथवा पुण्यको देनेवाले साधन हैं उन सभीमें यह मुख्य—प्रधान है। अत एव शिष्ट पुरुषोंने इसको यह अपराजित मंत्र है ऐसा निश्चितरूपसे माना है। जैसा कि कहा भी है किः—

एसो पंचणमोकारो सव्वपावप्पणासणो।
मंगलाण च सव्वेसिं पढमं होइ मङ्गलं ॥

इस प्रकार पंच परमेष्ठियोंकी वन्दना करनेसे जो माहात्म्य प्राप्त होता है उसको बताकर एक एक परमेष्ठीका भी विनय करनेसे जो लोकोत्तर महिमा प्राप्त हुआ करती है उसको दिखाते हैं।

नेष्टं विहन्तुं शुभभावभग्नरसप्रकर्षः प्रभुरन्तरायः।

तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्यादिरिष्टार्थकृदर्हदादेः ॥ २६ ॥

अन्तराय कर्मके फलदेने की शक्ति शुभ परिणामोंके द्वारा नष्ट होजाया करती है। तब वह इच्छित वस्तुकी प्राप्तिमें विघ्न डालनेको समर्थ नहीं हो सकता। अत एव शुभ परिणामोंको सिद्ध करनेकेलिये अर्हदादिमेंसे इच्छानुसार किसीके भी गुणोंमें अनुराग रखकर प्रणाम स्तुति या बन्दना करना अभीष्ट प्रयोजनका साधक हो जाता है।

भावार्थः—अरिहंतादि पचपरमेष्ठियोंमेंसे किसीके भी गुणोंका स्मरण करनेसे और उनको नमस्कार आदि करनेसे परिणामोंमें जो विशुद्धि प्राप्त हुआ करती है उससे अन्तराय कर्मकी सामर्थ्य—फलदानशक्ति क्षीण होजाया करती है जिससे कि वह किसी भी इष्ट वस्तुकी प्राप्तिमें विघ्न नहीं डाल सकता. फलतः किसी भी परमेष्ठीकी वन्दना करनेसे सभी प्रयोजनोंकी सिद्धि हो सकती है।

इस प्रकार कायोत्सर्ग तककी क्रियाओंका क्रम आदि बताकर उसके अनतरके कार्यको भी दो श्लोकोंद्वारा बताते हैं:—

प्रोच्य प्राग्वत्ततः साम्यस्वामिनां स्तोत्रदण्डकम् ।
वन्दनामुद्रया स्तुत्वा चैत्यानि त्रिप्रदक्षिणम् ॥ २७ ॥
आलोच्य पूर्ववत्पञ्चगुरून् नुत्वा स्थितस्तथा ।
समाधिभक्त्याऽस्तमलः स्वस्य ध्यायेद्यथाबलम् ॥ २८ ॥

चैत्यभक्ति और कायोत्सर्ग-व्युत्सर्ग तथा उसमें बताये गये ध्यानको कर चुकनेपर पहलेकी तरह—शरीरको नम्रीभूत करने आदिकी जो विधि बताई है तदनुसार सयायिकके स्वामी श्री चौबीस तीर्थंकर भगवान्को भक्तिके भारसे पूर्ण होकर "थोस्सामि" प्रभृति स्तोत्र दण्डक बोलना चाहिये। पुनः तीन प्रदक्षिणा देते हुए वन्दनामुद्राके द्वारा जिनेन्द्र भगवान्की प्रतिमाकी स्तुति-वन्दना करनी चाहिये। उसके बाद एक शिर दो बाहु

और दो घोंटुओंको नम्रीभूत करने आदिकी जो विधि बताई है उसी प्रकार यहां भी " इच्छामि भत्ते चेइयभत्ति काउस्सग्गो कओ " इत्यादि पाठ बोलकर आलोचन करके खडे होना चाहिये। क्योंकि चैत्यभक्तिकी तरह यहांपर प्रदाक्षिणा नहीं दी जाती। अतएव खडे होकर पहलेकी तरह ही कर्तव्य क्रियाकी विज्ञापना करके अर्हदादिक पंचगुरुओंको वन्दना मुद्राके द्वारा नमस्कार करना चाहिये। यहांपर भी पंचाङ्ग नमस्कार पूर्वक " इच्छामि भत्ते पचगुरुभक्ति काउस्सग्गो कओ तस्स आलोचेउ, अट्ठमहापाडिहेर सजुत्ताण अरहंताण " इत्यादि पाठ बोलकर आलोचन करना चाहिये। इसके बाद वन्दना सम्बन्धी अतीचारोंको समाधिभक्तिके द्वारा निःक्षेप करके शक्तिके अनुसार अपना ध्यान करना चाहिये। अर्थात् अपने बलवीर्यादिका विचार कर आत्मध्यानमें तत्पर होना चाहिये।

आत्मध्यानको छोडकर अन्य किसी भी उपायसे मोक्षकी सिद्धि नहीं हो सकती, इस बातको प्रकट करते हैं

नात्मध्यानाद्विना किंचिन्मुमुक्षोः कर्महीष्टकृत ।
कित्वस्त्रपरिकर्मैव स्यात् कुण्ठस्याततायिनि ॥ २९ ॥

मुमुक्षुओंकी आत्मध्यानसे रहित कोई भी क्रिया इष्टप्रयोजन-मोक्षकी साधक नहीं हो सकती। जो मोक्षकी अभिलाषा रखकर अन्य कायक्लेश तपश्चरणादि क्रिया तो करते हैं परन्तु निजआत्मस्वरूपका ध्यान नहीं करते उनका वह क्रिया करना ठीक वैसा ही समझना चाहिये जैसे कि कोई पुरुष शस्त्र चलानेका अभ्यास तो करता है परन्तु क्रियामें मंद है। यदि कोई शत्रु हथियार लेकर मारनेको उद्यत हो तो उसका वह निवारण नहीं कर सकता। उसी प्रकार केवल बाह्य क्रिया करनेवाला साधु कर्मशत्रुओंका निवारण नहीं कर सकता।

भावार्थ—मोक्षकी सिद्धि आत्मध्यानसे ही हो सकती है। जैसा कि कहा भी है कि:—

मग्ना कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञान न जानन्ति यद्
मग्ना ज्ञाननयैषिणोपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः ।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सतत ज्ञान भजन्तः स्वय,
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वश यान्ति प्रमादस्य च ॥

उन पुरुषोंको संसारसमुद्रमें डुबा हुआ समझना चाहिये जो कि कर्म करने-बाह्य आचरणके पालन करने-का ही एकान्त पक्ष पकडकर बैठे है, क्योंकि वे ज्ञानके अनुभवसे शून्य है। इसी प्रकार वे मनुष्य भी संसारमें निमग्न ही समझने चाहिये जो कि ज्ञानको ही एकान्ततः आत्मोद्धारका उपाय मानते है। क्योंकि वे आचरण करनेमें अत्यंत स्वच्छन्द और मंदोद्यमी होजाते है। अतएव वे ही साधुजन संसारसमुद्रको तरकर विश्वके ऊपर विराजमान हो सकते हैं, जो कि स्वय ज्ञानका सेवन-आत्मध्यानका अभ्यास करते हुए बाह्य चारित्रका भी पालन करते है और कभी भी प्रमादके वशीभूत नहीं हुआ करते।

समाधि—ध्यानकी उत्कृष्ट अवस्थाका माहात्म्य इतना अधिक है कि उसका कोई वर्णन नहीं कर सकता, इसी बातको प्रकट करते है।

य: सूते मरमानन्दं भूर्भुव: स्वर्भुजामपि।
काम्यं समाधि: कस्तस्य क्षमो माहात्म्यवर्णने ॥ ३० ॥

अन्यकी तो बात ही क्या, अधोलोकके स्वामी धरणीन्द्रादिक और मध्य लोकके अधिपति चक्रवर्ती आदि तथा ऊर्ध्वलोकके पालन करनेवाले सौधर्मेंद्रादिकों को भी जो समाधि अभिलषित उत्कृष्ट प्रसन्नता रूप आनन्द—सुखको दिया करती है, उस समाधिके माहात्म्यका वर्णन करनेमे कौन समर्थ हो सकता है।

भावार्थ-समाधिके द्वारा कर्मोंको नष्ट कर जीव अविचल पद-मोक्षको प्राप्त किया करता है। किंतु जब तक वह प्राप्त नहीं होती तब तक उस समाधिके बलसे जीव संसारके भी सर्वोत्कृष्ट अभ्युदयोंको प्राप्त किया करता है, अत एव उसकी महिमा अपार है. उसका कोई वर्णन नहीं कर सकता। जैसाकि कहा भी है कि:—

अनाधिव्याधिसंबाधममन्दानन्दकारणम्।
न किंचिदन्यदस्तीह समाधे: सदृश सखे ॥

अर्थात् समाधिके निमित्तसे सभी आधि और व्याधि दूर रहती हैं। समाधिमें प्रवृत्त रहनेवाले साधुके मानसिक खेद–क्लेश उत्पन्न नहीं हुआ करता। इसी तरह उनको शारीरिक दुःख भी या तो उत्पन्न ही नहीं होते, यदि दैववशसे उत्पन्न भी हो जांय तो पीडाके कारण नहीं हुआ करते। तथा यह समाधि संसार सम्बन्धी और निःश्रेयस संबन्धी कभी मद न पडनेवाले महान् आनन्दको प्रकट करनेवाली है। अत एव हे मित्र! इस जीवके लिये संसारमें समाधिके समान कोई भी कल्याणका कारण नहीं हो सकता।

प्राभातिक देव वन्दनाके अनतर आचार्यादिकोंकी वन्दना करनेका उपदेश देते हैः—

लघ्व्या सिद्धगणिस्तुत्या गणी वन्द्यो गवासनात्।
सैद्धान्तोन्तःश्रुतस्तुत्या तथान्यस्तन्नुतिं त्रिना ॥ २१ ॥

साधुओंको आचार्यकी वन्दना गवासनसे बैठकर–जिस तरह गौ बैठते समय अपनी टांगोंका आकार बनाती है उस तरह बनाकर और लघु सिद्ध भक्ति तथा लघु आचार्य भक्ति बोलकर करनी चाहिये। यदि आचार्य सिद्धान्तवेत्ता हों तो उनकी वंदना लघुसिद्धभक्ति लघुश्रुतभक्ति और लघुआचार्यभक्तिको क्रमसे बोलकर करनी चाहिये। आचार्यके सिवाय दूसरे यतियोंकी वन्दना भी गवासनसे ही किन्तु वह केवल लघुसिद्ध भक्तिको बोलकर ही करनी चाहिये। किंतु यदि इतर साधु भी सिद्धान्तवेत्ता हों तो उनकी वंदना लघुसिद्ध भक्ति और उसकेबाद क्रमसे लघुश्रुत भक्ति भी बोलकर करनी चाहिये। जैसा कि कहा भी है किः—

सिद्धभक्त्या बृहत्साधुर्वन्यते लघुसाधुना।
लघ्व्या सिद्धश्रुतस्तुत्या सैद्धान्तः प्रणम्यते ॥
सिद्धाचार्यलघुस्तुत्या वन्द्यते साधुभिर्गणी।
सिद्धश्रुतगणिस्तुत्या लघ्व्या सिद्धान्तविद्गणी ॥

छोटे साधुओंको बडे साधुओंकी वन्दना लघुसिद्धि भक्ति पूर्वक, तथा सिद्धान्तवेत्ता साधुओंकी वंदना क्रमसे लघुसिद्ध भक्ति और लघुश्रुतभक्तिके द्वारा, और आचार्यकी वंदना लघुसिद्धभक्ति तथा लघु आचार्यभक्तिके द्वारा,

एवं सिद्धान्त वेत्ता आचार्यकी वंदना क्रमसे लघुसिद्धभक्ति श्रुतभक्ति और आचार्यभक्तिके द्वारा करनी चाहिये।

धर्माचार्यकी वन्दना-उपासना करनेसे जो माहात्म्य प्राप्त होता है उसकी प्रशंसा करते हैं:—

यत्पादच्छायमुच्छिद्य सद्यो जन्मपथक्लमम्।
वर्वर्ष्टि निर्वृतिसुधां सूरिः सेव्यो न केन सः॥ ३२॥

जिनके चरणोंकी छाया मुक्तिरूपी अमृतकी वृष्टि करके तत्काल जीवोंको संसार मार्गके संतापसे रहित बना देती है ऐसे आचार्यकी सेवा कौन नहीं करेगा?

भावार्थ—कृतकृत्यताके द्वारा प्राप्त होनेवाले अथवा कृतकृत्यतास्वरूप संतोषको निर्वृति कहते हैं। इस संतोषको अमृतके समान समझना चाहिये। क्योंकि इसके प्राप्त होते ही जीव जन्ममरणरूपी संसारके मार्गमें भ्रमण करनेसे प्राप्त हुए संताप और क्लेशसे छूट जाता तथा परम आल्हादको प्राप्त होता है। किंतु यह अवस्था आचार्योंके चरणका आश्रय लिये विना प्राप्त नहीं हो सकती। अत एव आचार्य चरणोंकी सेवा सर्वोत्कृष्ट फलको देनेवाली है ऐसा समझकर सभी मुमुक्षु साधुओंको उनकी उपासना करनी चाहिये।

अपनेसे बडे साधुओंकी वन्दना करनेसे जो फल प्राप्त होता है सो बताते हैं:—

येऽनन्यसामान्यगुणाः प्रीणन्ति जगदञ्जसा।
तान्महन्महतः साधूनिहामुत्र महीयते॥ ३३॥

जो साधु संसारके अन्य किसी भी जीवमें जो नहीं पाये जा सकते ऐसे महान् गुणोंके धारण करनेवाले और इन्द्रादिके द्वारा पूज्य हैं, तथा जगत्के जीवोंका परमार्थसे हित करनेवाले और अपने उपदेशादिके द्वारा भवआतापसे संतप्त प्राणियोंको तृप्त करनेवाले हैं; ऐसे दीक्षाकी अपेक्षा अपनेसे बडे साधुओंकी पूजा करनेपर ही मुमुक्षु साधु इस लोक तथा परलोकमें महनीयता—पूज्यताको प्राप्त हुआ करता है।

भावार्थ—अपनेसे बडे साधुओंकी विनय करनेसे पूज्यता प्राप्त हुआ करती है।

प्रातःकालकी चैत्यवंदना आदि क्रिया कितने समयतक करनी और उसके अनन्तर क्या करना सो बताते हैः—

प्रवृत्त्यैवं दिनादौ द्वे नाड्यौ यावद्यथाबलम्।
नाडीद्वयोनमध्याह्नं यावत्स्वाध्यायमावहेत् ॥ ३४ ॥

पूर्वोक्त रीतिसे चैत्यवंदना आदि क्रिया प्रातः काल-दिनकी आदिमें दोघडी तक करनी चाहिये। उसके बाद साधुओंको स्वाध्याय करना चाहिये। स्वाध्यायका समय मध्याह्नसे दो घडी पहले तकका है। सो इस समय के भीतर ही साधुओंको अपनी शक्तिके अनुसार स्वाध्याय करना चाहिये।

स्वाध्यायको समाप्त करनेपर मुनिकी दो अवस्थाएं हो सकती हैं। एक उपवास सहित और दूसरी उपवासरहित। इनमेंसे पहली अवस्थामें मध्याह्नमें दो घडी पहल और दो घडी पीछेका जो अस्वाध्यायका काल है उस समयमें मुनिको क्या करना चाहिये सो बताते हैः—

ततो देवगुरू स्तुत्वा ध्यानं वाराधनादि वा।
शास्त्रं जपं वाऽस्वाध्यायकालेऽभ्यसेदुपोषितः ॥ ३५ ॥

उपवास युक्त साधुको पूर्वाह्नकालका स्वाध्याय समाप्त होने पर अस्वाध्याय कालमें श्री अरहंत परमेष्ठी और गुरु—धर्माचार्यकी वन्दना करके ध्यान करना चाहिये। अथवा चार आराधना आदिका या किसी शास्त्रका अभ्यास करना चाहिये। यद्वा पंचनमस्कारादि मंत्रका जप करना चाहिये।

उपवास न करनेवाले साधुको इस मध्याह्नके अस्वाध्यायकालमें क्या करना चाहिये सो बताते हैंः—

प्राणयात्राचिकीर्षायां प्रत्याख्यानमुपोषितम्।

न वा निष्ठाप्य विधिवद्भुक्त्वा भूयः प्रतिष्ठयेत् ॥ ३६ ॥

यदि भोजन करनेकी इच्छा हो तो पूर्व दिन जो प्रत्याख्यान अथवा उपवास ग्रहण किया था उसकी विधिपूर्वक क्षमापणा करनी चाहिये । और उस निष्ठापनके अनंतर शास्त्रोक्त विधिके अनुसार भोजन करके अपनी शक्तिके अनुसार फिर भी प्रत्याख्यान अथवा उपवासकी प्रतिष्ठापना करनी चाहिये ।

प्रत्याख्यान या उपवासकी निष्ठापना-समाप्ति और आगेकेलिये प्रतिष्ठापन—प्रारम्भ करनेकी और प्रतिष्ठापन करनेके अनंतर आचार्य परमेष्ठीकी वंदना करनी चाहिये, अत एव उसके भी करनेकी विधि बताते हैः—

हेयं लघ्व्या सिद्धभक्त्याशनादौ, प्रत्याख्यानाद्याशु चादेयमन्ते ।
सूरौ तादृग्योगिभक्त्यग्रया तद्, ग्राह्यं वन्द्यः सूरिभक्त्या स लघ्व्या ॥३७॥

पहले दिन जो प्रत्याख्यान या उपवास ग्रहण किया था उसकी निष्ठापना साधुओंको भोजनके पहले लघु सिद्धभक्ति बोलकर करनी चाहिये । तथा भोजन क्रिया समाप्त होते ही तत्काल पुनः सिद्धभक्ति बोलकर नवीन प्रत्याख्यान या उपवासका प्रतिष्ठापन करना चाहिये। किंतु इस प्रकारसे स्वयं प्रत्याख्यानादिका प्रतिष्ठापन आचार्य परमेष्ठीके निकट न रहनेपर ही करना चाहिये । यदि आचार्य पासमें हों तो साधुओंको भोजनके अनंतर लघुआचार्य भक्ति बोलकर उनकी वंदना करनी चाहिये । पुनः लघु सिद्ध भक्ति और योगिभक्ति बोलकर प्रत्याख्यानादिका प्रतिष्ठापन करना चाहिये । जैसा कि कहा भी है किः—

सिद्धभक्त्योपवासश्च प्रत्याख्यानं च मुच्यते ।
लघ्व्यैव भोजनस्यादौ भोजनान्ते च गृह्यते ॥
सिद्धयोगिलघुभक्त्या प्रत्याख्यानादि गृह्यते ।
लघ्व्या तु सूरिभक्त्यैव सूरिर्वन्द्योथ साधुना ॥

अर्थात् भोजनकी आदिमें उपवास या प्रत्याख्यानका त्याग और भोजनके अन्तमें उसका ग्रहण लघु

आचार्य वन्दनाके बाद साधुओंको विधिपूर्वक देववन्दना करके प्रदोष-सन्ध्या समयके अनन्तर दो घडी काल व्यतीत होनेपर पूर्वरात्रिक स्वाध्यायका प्रारम्भ करना चाहिये. और अर्धरात्रिमें दो घडी समय जब बाकी रहे तब उस स्वाध्यायको समाप्त करना चाहिये ।

इस पूर्वरात्रिक स्वाध्यायके समाप्त होनेपर साधुओंको उचित है कि वे ऐसा अभ्यास और प्रयत्न करें कि जिससे वे निद्राके वशीभूत न हों । अत एव निद्राको जीतनेके उपाय कौनसे हैं सो बताते हैः—

ज्ञानाधाराधनानन्दसान्द्रः संसारभीरुकः ।
शोचमानोऽर्जितं चैनो जयेन्निद्रां जिताशनः ॥ ४२ ॥

निद्राको जीतनेके चार उपाय हैं । १-आहारको जीतना । उपवास या अनुपवास करके-३२ ग्रास मात्र अथवा उदरके तीन भागमात्र जो भोजनका प्रमाण बताया है उससे कम भोजन करके, अथवा ऐसा कोई भी आहार ग्रहण न करके कि जिससे शरीरमें आलस्य या तन्द्रा आजाय, निद्राको जीतना चाहिये । जिताशनः इस शब्दकी जगह जितासनः ऐसा दन्त्य सकारका भी पाठ माना है । अत एव इस शब्दका अर्थ आसनको जीतना ऐसा होता है । अर्थात् पर्यंकासन या वीरासन आदिसे चलायमान न होकर-आसनके निमित्तसे खेदित न होकर निद्राको जीतना चाहिये । दूसरा उपाय-आराधनाओंकी अविच्छिन्न प्रवृत्ति है । अर्थात् ज्ञान दर्शन चारित्र और तप इन चार विषयोंकी चारों आराधनाओंके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले प्रमोदको निरन्तर प्रवृत्तिके द्वारा अतिसघन बनाकर निद्राको जीतना चाहिये । तीसरा उपाय संवेग है । अर्थात् पंचपरिवर्तनरूप या दुःखोंके कारण अथवा सर्वथा दुःखमय संसारसे निरन्तर डरनेवाला निद्राको जीत सकता है । चौथा उपाय शोक है । जो पूर्वकालमें अपनेसे कोई पाप बन गया है उसका शोक करनेसे भी निद्रा जीती जा सकती है । जैसा कि कहा भी है किः—

ज्ञानाद्याराधने प्रीतिं भयं संसारदुःखतः ।
पापे पूर्वार्जिते शोकं निद्रां जेतुं सदा कुरु ॥

अर्थात्—हे आत्मन् ! तू निद्राको जीतनेकेलिये ज्ञानादिके आराधन करनेमें प्रीति और संसारके दुःखोंसे भय तथा पूर्वसंचित पापोंका शोक सदा किया कर.

जो स्वाध्यायके करनेमें असमर्थ है उनके लिये देव वन्दना करनेका विधान करते हैं:—

सप्रतिलेखनमुकुलितवत्सोत्सङ्गितकरः सपर्यङ्कः ।
कुर्यादेकाग्रमनाः स्वाध्यायं वन्दनां पुनरशक्त्या ॥ ४२ ॥

प्रतिलेखन—पीछीको हाथोंमें लेकर उसके साथ २ ही हाथोंको मुकुलित—अञ्जलिबद्ध करके और उन हाथोंको वक्षः स्थलके मध्यमें रखकर, पर्यङ्कासनसे बैठकर, और मनको एकाग्र बनाकर—अन्य किसी भी विषयकी तरफ अपने चित्तको न जाने देकर साधुओंको स्वाध्यायमें प्रवृत्त होना चाहिये। जैसा कि कहा भी है:-

पलियकणिसेज्जगदो पडिलेहिय अञ्जलीकदपणामो ।
सुत्तत्थजोगजुत्तो पढिदव्वो आदसत्तीए ॥

अर्थात्-पर्यंकासनको धारण करनेवाला और पीछीयुक्त अंजलिके द्वारा किया है प्रणाम जिसने ऐसे साधुको अपनी शक्तिके अनुसार सूत्रार्थके स्वाध्यायमें प्रवृत्त होना चाहिये । और भी कहा है कि:-

मनो वोधाधीन विनयविनियुक्त निजवपु,—
र्वचः पाठायत्त करणगणमाधाय नियतम् ।
दधान स्वाध्याय कृतपरिणतिर्जैनवचने,
करोत्यात्मा कर्मक्षयमिति समाध्यन्तरमिदम् ॥

अर्थात्—मनको ज्ञानके आधीन बनाकर और अपने शरीरको विनयसे युक्त करके तथा वचनको पाठ करनेमें लगाकर और इन्द्रियोंको अपने २ विषयोंसे निवृत्त करके जिन भगवान्के वचनोंकी तरफही अपना उपयोग लगाते हुए जो स्वाध्याय करता है वह आत्मा कर्मोंका क्षय कर देता है। अतएव इस स्वाध्यायको समाधि ही समझना चाहिये ।

सिद्ध भक्ति बोलकर ही करना चाहिये। अथवा साधुओंको लघु सिद्धभक्ति और लघु योगिभक्ति बोलकर प्रत्याख्यानादिका ग्रहण करना चाहिये और लघु आचार्य भक्ति बोलकर उनकी वंदना करनी चाहिये।

भोजनके अनंतर तत्काल ही प्रत्याख्यानादि ग्रहण करनेके लिये जो कहा है उसका अभिप्राय स्पष्ट करनेके लिये तत्काल ही प्रत्याख्यानादि ग्रहण न करनेमें दोष और थोडी देरके लिये भी उसके ग्रहण करनेमें महान् लाभ है; इस बातको बताते हैं:—

प्रत्याख्यानं विना दैवात् क्षीणायुः स्याद्विराधकः।
तदल्पकालमप्यल्पमप्यर्थपृथु चण्डवत् ॥ ३८ ॥

प्रत्याख्यानादिके ग्रहण किये विना यदि कदाचित्—पर्वबद्ध आयुकर्मके वशसे वर्तमान आयु क्षीण हो जाय तो वह साधु विराधक समझना चाहिये। अर्थात् कारण वश यदि उसकी अकस्मात् मृत्यु हो जाय तो वह साधु प्रत्याख्यानसे रहित होनेके कारण रत्नत्रयका आराधक नहीं हो सकता। किंतु इसके विपरीत प्रत्याख्यान सहित तत्काल मरण होनेपर थोडी देरकेलिये और थोडासा ही ग्रहण किया हुआ वह प्रत्याख्यान चण्ड नामक चाण्डालकी तरह महान् फलका देनेवाला होजाता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

चण्डोऽवन्तिषु मातङ्गः किल मांसनिवृत्तितः।
अप्यल्पकालभाविन्याः प्रपेदे यक्षमुख्यताम् ॥

अर्थात्—उज्जयनी नगरीमें एक चण्ड नामका मातङ्ग रहता था। एक दिन वह चामकी रस्सी वट रहा था, जब कि उसकी आयु पूर्ण होनेमें थोडासा ही समय बाकी रहा था। यह बात एक ऋषिराजको मालुम हुई तब उन्होंने उसको मांस त्यागका व्रत दिया। उस मातङ्गने "ये मेरी चामकी रस्सीका बटना जबतक पूर्ण नहीं होता तब तककेलिये मेरे मांसका त्याग है" ऐसा व्रत लिया। भविष्यतानुसार रस्सी बटना पूर्ण होनेके पहले ही उसका मरण हो गया। अत एव उस व्रतके प्रसादसे वह मरकर यक्षेन्द्र हुआ।

प्रत्याख्यानादि ग्रहण करनेके अनंतर गोचार प्रतिक्रमण—भोजनसम्बन्धी दोषोंका संशोधन करना चाहिये। अतएव उसकी विधि बताते हैं:—

प्रतिक्रम्याथ गोचारदोषं नाडीद्वयाधिके ।
मध्यान्हे प्राह्णवद्वृत्ते स्वाध्यायं विधिवद्भजेत ॥ ३९ ॥

प्रत्याख्यान अथवा स्वाध्यायको अपनेमें स्थापित करनेके बाद साधुओंको गोचार[1]सम्बन्धी दोषों—अतीचारोंका प्रतिक्रमण करना चाहिये । और उसके बाद पूर्वाह्णकी तरह अपराह्ण कालमें भी मध्यान्हसे दो घडी अधिक समय व्यतीत होनेपर विधिपूर्वक स्वाध्यायका प्रारम्भ करना चाहिये ।

अपराह्ण कालका स्वाध्याय समाप्त होनेपर दैवसिक प्रतिक्रमण—दिन भरमें जो कोई दोष अथवा अतीचार लग गया हो उसका संशोधन आदि करनेकी विधि बताते हैं:—

नाडीद्वयावशेषेह्नि तं निष्ठाप्य प्रतिक्रमम् ।
कृत्वाह्निकं गृहीत्वा च योगं वन्द्यो यतैर्गणी ॥ ४० ॥

जब दिनमें दो घडी काल बाकी रहे तब विधिपूर्वक आपराह्णिक स्वाध्यायकी निष्ठापना कर देनी चाहिये । और फिर आह्निक क्रिया करनेमें जो किसी प्रकारका दोष लगा हो उसका प्रतिक्रमण करना चाहिये । पुनः संयमियोंको रात्रि योग ग्रहण कर आचार्य परमेष्ठीकी वंदना करनी चाहिये ।

आचार्य वन्दनाके अनंतर देववन्दना आदि जो करना चाहिये उसका विधान करते हैं:—

स्तुत्वा देवमथारभ्य प्रदोषे सद्विनाडिके ।
मुञ्चेन्निशीथे स्वाध्यायं प्रागेव घटिकाद्वयात ॥ ४१ ॥

१—मुनियोंके आहारके गोचार भ्रामरी अक्षम्रक्षण और श्वभ्रपूरण ये भेद और इनका स्वरूप पहले बता चुके हैं ।

भावार्थ—जिस स्वाध्यायके करनेमें मन वचन काय और इन्द्रियोंको अन्य सब विषयोंसे रोककर अपने उपयोगको जिनवचनकी तरफ ही लगाया जाता है उस स्वाध्यायको उत्कृष्ट ध्यान समझना चाहिये। और उसके करने वाले ही साधुके समाधिका कार्य—कर्मक्षय हुआ करता है।

स्वाध्यायको करनेके लिये पर्यंकासनका जो निर्देश किया है वह उपलक्षण है। अत एव वीरासनादिकसे भी स्वाध्याय किया जा सकता है ऐसा समझना चाहिये। किंतु जो व्यक्ति इस विधिसे स्वाध्याय नहीं कर सकता और खडे होकर वंदना करनेमें असमर्थ हो तो वह केवल वदना कर सकता है. अर्थात् शक्तिके रहते हुए स्वाध्याय और उसके अभावमें उक्त विशेषणोंसे युक्त साधुको वन्दना ही करनी चाहिये। प्रतिक्रमणके द्वारा योगके ग्रहण और त्यागमें जो काल लगना चाहिये उसका प्रमाण व्यवहारसे अथवा जैसा कि पहले कहा जा चुका है तदनुसार समझ लेना चाहिये।

किसी अन्य धर्मकार्यादिमें लगजानेसे यदि उक्त योगप्रतिक्रमणादिक निर्दिष्ट समयपर न हो सकें और उनके करनेमें किसी प्रकारका व्यवधान आजाय तो वह अन्य समयमें भी किया जा सकता है। वैसा करनेमें कोई दोष नहीं है, ऐसा उपदेश करते हैं:—

योगप्रतिक्रमविधिः प्रागुक्तो व्यावहारिकः।
कालक्रमानियामोऽत्र न स्वाध्यायादिवद्यतः॥ ४१ ॥

रात्रियोग तथा प्रतिक्रमणका जो पहले विधान किया गया है वह व्यावहारिक है। क्योंकि इनके विषयमें कालके क्रमका-समयानुपूर्विताका या काल और क्रमका नियम नहीं है। जिस प्रकार स्वाध्यायादि (स्वाध्याय देव वन्दना और भक्त प्रत्याख्यान) के विषयमें काल और क्रम नियमित माने गये हैं उस प्रकार रात्रियोग और प्रतिक्रमणके विषयमें नहीं।

भावार्थ—जब स्वाध्यायादिकी तरह इनका कालक्रम नियत नहीं है तब यह बात स्वयं सिद्ध है कि

ये योग और प्रतिक्रमण निर्दिष्ट समयसे क्वचित् कदाचित् भिन्न समयमें भी किये जा सकते हैं। फिर भी किसी विशिष्ट धर्म कार्यमें रुकजानेपर ही साधुओंको ये भिन्न समयमें करने उचित हैं, सर्वदा वैसा करना योग्य नहीं है।

इस प्रकार नित्य क्रियाओंके करनेकी विधिका वर्णन किया। अब क्रमानुसार नैमित्तिक क्रियाओंके वर्णनका अवसर प्राप्त है। अब इन नैमित्तिक क्रियाओंमेंसे सबसे पहले चतुर्दशीको करने योग्य क्रियाकी विधि दो मतोंके अनुसार बताते हैं:—

त्रिसमयवन्दने भक्तिद्वयमध्ये श्रुतनुतिं चतुर्दश्याम्।
प्राहुस्तद्भक्तित्रयमुखान्तयोः केऽपि सिद्धशान्तिनुती ॥ ४५ ॥

क्रियाकाण्डके निरूपण करनेवाले प्राकृत चारित्रसारके मतानुसार जो वन्दना भक्ति आदि करनेका विधान करते हैं उन आचार्योंका कहना है कि प्रातःकाल मध्याह्न और सायंकाल इन तीनों समयोंमें नित्य देववंदना के अवसर पर जो दो भक्ति—चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति की जाती हैं उनके मध्यमें चतुर्दशीके दिन श्रुतभक्ति और करनी चाहिये। जैसा कि क्रियाकाण्डमें भी बताया गया है। यथा:—

जिणदेववन्दणाए चेदियभत्तीय पंचगुरुभत्ती।
चउदसिय तं मज्झे सुदभत्ती होइ कायव्वा ॥

जिनदेवकी नित्यवंदना करनेमें चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति की जाती है। किंतु चतुर्दशीको इन दोनों भक्तियोंके मध्यमें श्रुतभक्ति और करनी चाहिये। चारित्रसारमें भी कहा है कि "देवकी प्रतिदिनकी स्तवन क्रिया करने में चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति तथा चतुर्दशीके दिन इन दोनों भक्तियोंके मध्यमें श्रुतभक्ति हुआ करती है।

संस्कृत चारित्रसारके मतानुसार जो क्रियाकाण्डका निरूपण करने वाले हैं उन आचार्योंका कहना है कि चतुर्दशीके दिन उपर्युक्त तीनों भक्तियों—चैत्यभक्ति श्रुतभक्ति और पंचगुरुभक्तिके आदिमें और अंतमें क्रमसे सिद्धभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये। जैसा कि संस्कृत क्रियाकाण्डके पाठमें कहागया है कि:—

सिद्धे चैत्ये श्रुते भक्तिस्तथा पचगुरुस्तुतिः ।
शान्तिभक्तिस्तथा कार्या चतुर्दश्यामिति क्रिया ॥

अर्थात्-क्रमसे सिद्धभक्ति चैत्यभक्ति श्रुतभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति करके चतुर्दशीको क्रिया करनी चाहिये।

यदि कदाचित् किसी धर्मकार्यके वश चतुर्दशीकी उपर्युक्त क्रिया करनेमें विच्छेद उपस्थित हो जाय तो उसके बदलेमें क्या करना चाहिये सो बताते हैं:—

चतुर्दशीक्रिया धर्मव्यासङ्गादिवशान्न चेत् ।
कर्तुं पार्येत पक्षान्ते तर्हि कार्याष्टमीक्रिया ॥ ४६ ॥

क्षपण-नियापण-समाधि मरण सरीखा कोई ऐसा धर्म कार्य आकर उपस्थित हो जाय कि जिसमें लगे रहनेसे मुमुक्षु साधु उस दिनकी—चतुर्दशीकी क्रिया न कर सके तो ऐसे समयमें उसको दूसरे दिन-अमावस्या या पूर्णमासीको अष्टमी क्रिया करनी चाहिये। सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति और शांतिभक्तिके करनेसे अष्टमी क्रिया हुआ करती है, ऐसा आगेके सूत्रमें बतावेंगे। इसी विषयमें चारित्रसारमें कहा है कि:-

" चतुर्दशीदिने धर्मव्यासङ्गादिना क्रिया
कर्तुं न लभ्येत चेत् पाक्षिकेऽष्टम्यां क्रिया कर्तव्या। "

धर्मकार्यके कारण चतुर्दशीके दिनकी क्रिया करनेमें यदि व्यासङ्ग—व्यवधान आदि उपस्थित हो जाय तो पक्षान्तमें—अमावस्या अथवा पूर्णमासीको अष्टमीकी क्रिया करनी चाहिये। तथा क्रियाकाण्डमें भी ऐसा ही कहा है।

जदि पुण धम्मव्वासंगा ण कया होज्ज चउद्दसीकिरिया ।
तो पुण्णिमाइदिवसे कायव्वा पक्खिया किरिया ॥

अर्थात् धर्म व्यासङ्गसे यदि चतुर्दशीकी क्रिया न की जासकी हो तो पूर्णमासीको पाक्षिकी क्रिया करनी चाहिये।

अष्टमीकी और पक्षान्तकी क्रियाविधिको तथा सर्वत्र चारित्रभक्तिके अनन्तर होनेवाली आलोचनाविधिको बताते हैं:—

स्यात् सिद्धश्रुतचारित्रशान्तिभक्त्याष्टमीक्रिया।
पक्षान्ते साऽश्रुता वृत्तं स्तुत्वालोच्यं यथायथम् ॥ ४७ ॥

सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति इन चार भक्तियोंके द्वारा अष्टमीक्रिया की जाती है। पाक्षिकी क्रिया इनमेंसे श्रुतभक्तिके सिवाय बाकी तीन भक्तिके द्वारा हुआ करती है। तथा साधुओंको उचित है कि सभी जगह चारित्रभक्तिके अनन्तर यथायोग्य आलोचना किया करें। चारित्रसारमें भी अष्टमीको सिद्ध श्रुत चारित्र शान्तिभक्तिका करना और पाक्षिकी क्रिया करनेमें सिद्ध चारित्र शान्तिभक्तिका करना ही बताया है। किंतु संस्कृत क्रियाकाण्डमें यह जो पाठ दिया है कि: —

सिद्धश्रुतसुचारित्रचैत्यपञ्चगुरुस्तुति।
शान्तिभक्तिश्च षष्ठीय क्रिया स्यादष्टमीतिथौ ॥
सिद्धचारित्रचैत्येषु भक्तिः पञ्चगुरुष्वपि ॥
शान्तिभक्तिश्च पक्षान्ते जिने तीर्थे च जन्मनि ॥

अष्टमीको सिद्धश्रुत चारित्र चैत्य पंचगुरुकी भक्ति और छट्ठी शांतिभक्ति करनी चाहिये। तथा अमावस्या पूर्णिमा और तीर्थंकर भगवान्के जन्म कल्याणके समय सिद्ध चारित्र चैत्य पंचगुरु शान्तिभक्ति करनी चाहिये। सो इसमें नित्यदेववन्दनाके साथ २ अष्टमी चतुर्दशीका विधान बताया है। अत एव यह वृद्धसम्प्रदाय समझना चाहिये।

१—अष्टमीक्रियामें जो चार भक्ति होती है उनमेंसे पाक्षिकी क्रियामें श्रुतभक्ति नहीं होती।

सिद्धप्रतिमा, तीर्थंकर भगवान्का जन्मकल्याणक, और अपूर्व जिनप्रतिमाके विषयमें करने योग्य क्रियाका उपदेश देते हैं:—

सिद्धभक्त्यैकया सिद्धप्रतिमायां क्रिया मता ।
तीर्थकृज्जन्मनि जिनप्रतिमायां च पाक्षिकी ॥ ४८ ॥

सिद्ध प्रतिमाकी वन्दना करनेमें एक सिद्धभक्ति ही करनी चाहिये । और तीर्थंकर भगवान्के जन्मकल्याण के समय पाक्षिकी क्रिया–सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये । इसी प्रकार अपूर्व जिनप्रतिमाकी वन्दना करनेमें भी पाक्षिकी क्रिया ही करनी चाहिये ।

अष्टमी आदिकी क्रियाओंमें यदि अपूर्व चैत्यवन्दना और नित्यदेव वदनाका योग करना अभीष्ट हो, अथवा इनका संयोग आकर उपस्थित हो जाय तो चैत्यभक्ति और पचगुरुभक्तिका प्रयोग कब और किस स्थानपर करना सो बताते हैं:—

दर्शनपूजात्रिसमयवन्दनयोगोऽष्टमीक्रियादिषु चेत् ।
प्राक् तर्हि शान्तिभक्तेः प्रयोजयेच्चैत्यपंचगुरुभक्ती ॥ ४९ ॥

अष्टमी आदि क्रियाओंके समयमें ही यदि अपूर्व चैत्य वन्दना और त्रैकालिक नित्य वंदनाका संयोग आकर उपस्थित होजाय तो साधुओंको उचित है कि शान्तिभक्तिके पहले चैत्यभक्ति और पचगुरुभक्ति करें । जैसा कि चारित्रसारमें भी कहा है कि:—

" अष्टम्यादिक्रियासु दर्शनपूजात्रिकालदेववन्दनायोगे ।
शान्तिभक्तितः प्राक्चैत्यभक्तिं पञ्चगुरुभक्तिं च कुर्यात् ' इति ।

अर्थात्—अष्टमी आदिकी क्रियामें ही दर्शनपूजा-चैत्यवदना और प्रातः मध्याह्न और सायंकालकी वंदनाका सयोग हो तो शांतिभक्तिके पहले चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति करनी चाहिये ।

एक ही जगह अनेक अपूर्व जिनप्रतिमाओंका दर्शन होनेपर किस प्रकार क्रिया करना सो बताते हैं। तथा उनके फिर भी दर्शनके विषयमें उन प्रतिमाओंकी अपूर्वता कब समझना इसकेलिये कालका प्रमाण भी दिखाते है।

दृष्ट्वा सर्वाण्यपूर्वाणि चैत्यान्येकत्र कल्पयेत्।
क्रियां तेषां तु षष्ठेऽनुश्रूयते मास्यपूर्वता ॥ ५० ॥

यदि अनेक अपूर्व जिनप्रतिमा एक ही स्थानपर हों तो उन सभीका दर्शन करके उनमेंसे जिसकी तरफ रुचि अधिक प्रवृत्त हो उस एक ही प्रतिमाको लक्ष्य करके पहले कहे मुजब क्रिया करनी चाहिये। तथा उन प्रतिमाओंकी अपूर्वता व्यवहारी लोगोंकी परम्परासे छट्ठे महीनेमें समझनी चाहिये।

विशिष्ट क्रियाओंके करनेके लिये तिथिका निर्णय दिखाते है

त्रिमुहूर्तेऽपि यत्रार्क उदेत्यस्तमयत्यथ।
स तिथिः सकलो ज्ञेयः प्रायो धर्म्येषु कर्मसु ॥ ५१ ॥

जिस दिन तीन मुहूर्ततक—कमसे कम छह घडी कालतक सूर्यका उदय अथवा अस्त पाया जाय उपवास वन्दना आदि धर्मसम्बन्धी क्रियाओंके करनेमें प्रायःवही तिथि पूर्ण मानी है।

प्रायः कहनेका अभिप्राय यह है कि बहुधा व्यवहारी लोगोंका परम्परासे ऐसा ही व्यवहार देखनेमें आता है; किंतु वास्तवमें यह नियम नहीं समझना चाहिये। अतएव देश कालादिके वश—क्वचित् इसके प्रतिकूल भी व्यवहार हो सकता है।

प्रतिक्रमणके विषयमें क्रियाकरनेकी विधिविशेष पांच श्लोकों में बताते हैं:—

पाक्षिक्यादिप्रतिक्रान्तौ वन्देरन्विधिवद्गुरुम्।

सिद्धवृत्तस्तुती कुर्याद्गुर्वी चालोचनां गणी ॥ ५२ ॥
देवस्याग्रे परे सूरेः सिद्धयोगिस्तुती लघू ।
सवृत्तालोचने कृत्वा प्रायश्चित्तमुपेत्य च ॥ ५३ ॥
वन्दित्वाचार्यमाचार्यभक्त्या लघ्व्या ससूरयः ।
प्रतिक्रान्तिस्तुतिं कुर्युः प्रतिक्रामेत्ततो गणी ॥ ५४ ॥
अथ वीरस्तुतिं शान्तिचतुर्विंशतिकीर्तनाम् ।
सवृत्तालोचनां गुर्वीं सगुर्वालोचनां यताः ॥ ५५ ॥
मध्यां सूरिनुतिं तां च लघ्वीं कुर्युः परे पुनः ।
प्रतिक्रमा बृहन्मध्यसूरिभक्तिद्वयोज्झिताः ॥ ५६ ॥ पञ्चकम् ।

पाक्षिक आदि प्रतिक्रमणके समय अर्थात् अमावस्या और पूर्णमासीको किये जानेवाले तथा चातुर्मास और संवत्सरके अंतमें जो प्रतिक्रमण किया जाता है वह जब करना हो तब शिष्य और सधर्माओंको पहले गुरु—आचार्यकी पूर्वमें बताई हुई विधिके अनुसार वन्दना करनी चाहिये। अर्थात् आचार्यकी वन्दना लघुसिद्धभक्ति और लघु आचार्यभक्तिको बोलकर गवासनके द्वारा करनी चाहिये। और आचार्य यदि सिद्धान्तवेत्ता हों तो क्रमसे सिद्ध श्रुत आचार्यभक्तिके द्वारा उनकी वन्दना करनी चाहिये। इत्यादि व्यवहारके अनुरोधसे जो विधान पहले बता चुके हैं उसीमुजब पाक्षिक आदि चातुर्मासिक तथा वार्षिक प्रतिक्रमणके समय भी गुरुकी पहले वन्दना करनी चाहिये। यहां पर तीनों भक्तियोंके बोलते समय क्रमसे तत्तद्भक्तिके आदिमें तीन प्रकारके उच्चारण हुआ करते हैं। अर्थात् "नमोस्तु प्रतिष्ठापनसिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्" ऐसा सिद्धभक्तिके प्रारम्भमें और "नमोस्तु प्रतिष्ठापनश्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्" ऐसा श्रुतभक्ति करते समय तथा "नमोस्तु प्रतिष्ठापनाचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्" ऐसा आचार्यभक्तिकी आदिमें बोलना चाहिये।

इसके अनंतर अपने शिष्यों और सधर्माओंसे युक्त गुरु—आचार्यको अपने इष्ट देवको नमस्कार कर " समता सर्वभूतेषु " इत्यादि पाठ बोलकर वृहद्वाक्योंमेंसे " सिद्धानुद्धूतकर्म " त्यादिक सिद्धभक्ति और ' येनेन्द्रान् " इत्यादि अञ्चलिका सहित चारित्रभक्ति बोलनी चाहिये। तथा श्री अरहंत भगवान्के सम्मुख " इच्छामि भत्ते पक्खि यंमि आलोचेउं " इत्यादि " जिणगुण संपत्ति होउ मज्झं " यहांतककी वृहदालोचना करनी चाहिये। यहांपर भी दोनों भक्तियोंकी आदिमें दो प्रकारके उच्चारण हुआ करते है।" सर्वाती चारविशुद्ध्यर्थं भावपूजावंदनास्तवसमेतं सिद्धभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम् " ऐसा सिद्धभक्तिकी आदिमें उच्चारण करना चाहिये। और " सर्वाती चार विशुद्धयर्थं आलोचना चारित्रभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम्" ऐसा चारित्रभक्ति की आदिमें उच्चारण करना चाहिये।

अर्थात्—पंचपरमेष्ठियोंके णमो अरहंताणं प्रभृति पांच नमस्कार पदोंको बोलकर कायोत्सर्ग करके " थोस्सामि " प्रभृति पाठ बोलना चाहिये। पुनः " तव सिद्ध " इत्यादि पाठको अञ्चलिकाके साथ बोलकर पूर्वोक्त विधि करनी चाहिये। और उसके बाद अचलिकायुक्त " प्रावृट्काले सविद्युत् " इत्यादि योगिभक्तिका पाठ बोलकर तथा " इच्छामिभत्ते चरित्ताचारो तेरसविहो " इत्यादि पांचो दण्डकोंका उच्चारण करके और " वदसमिदिंदिय " से लेकर " छेदोवट्ठावणं होदु मज्झं " यहांतकके पाठ को तीन वार बोलकर अरहंत देवके सामने अपने दोषोंकी आलोचना करनी चाहिये। इसके बाद अपनेसे जैसा कुछ दोष बनगया हो उसके अनुसार स्वयं प्रायश्चित्त लेकर और " पंचमहाव्रतम् " आदि पाठको तीन वार बोलकर प्रायश्चित्तके योग्य शिष्योंको भी प्रायश्चित्त देकर देवके समक्ष गुरुभक्ति करनी चाहिये। यहांपर तीन प्रकारके उच्चारण किये जाते हैं। पहला " नमोस्तु सर्वातीचारविशुद्धयर्थं सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम् " दूसरा " नमोस्तु सर्वाती चार विशुद्धयर्थं आलोचनायोगिभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम् " और तीसरा " नमोस्तु निष्ठापनाचार्य भक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम्।" ये उच्चारण क्रमसे यथास्थान करने चाहिये। यह सब क्रिया केवल आचार्यको ही करनी चाहिये।

इसके अनंतर ग्रहण करलिया है प्रायश्चित्त जिन्होंने ऐसे आचार्य परमेष्ठीके आगे शिष्यों तथा सधर्माओंको लघुसिद्धभक्ति लघुयोगिभक्ति और चारित्रभक्ति तथा आलोचना करके जिससे जिसप्रकारका दोष बनगया

हो उसको उसी मूजब शुद्धि—प्रायश्चित्त आलोचनपूर्वक ग्रहण करके "श्रुतजलधि" इत्यादि लघु आचार्यभक्ति बोलकर विधिपूर्वक उनकी वन्दना करना चाहिये। पुनः आचार्य परमेष्ठीके साथ २ शिष्यों तथा सधर्माओंको मिलकर प्रतिक्रमणभक्ति करनी चाहिये। अर्थात् "सर्वातीचारविशुद्धयर्थं पाक्षिक प्रतिक्रमणक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकल कर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तवसमेतं प्रतिक्रमणभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम्" ऐसा पाठ बोलकर प्रतिक्रमण भक्ति करनी चाहिये, और उसके बाद "णमो अरहंताण" इत्यादि दण्डकका पाठ बोलकर कायोत्सर्ग धारण करना चाहिये।

उपर्युक्त परिकर्मके पूर्ण होनेपर पुनः केवल आचार्य परमेष्ठीको "थोस्सामि" प्रभृति दण्डक और गणधर वलयका उच्चारण करके प्रतिक्रमण दण्डकका पाठ करना चाहिये। तथा जबतक केवल आचार्य इस पाठका उच्चारण करें तब तक उन शिष्यों और सधर्माओंको कायोत्सर्गके द्वारा खडे २ वह प्रतिक्रमण दण्डकका पाठ सुनना चाहिये।

इसके अनंतर परिकर्ममें प्रवृत्त संयमी साधुओंको "थोस्सामि" प्रभृति दण्डकका पाठ बोलना चाहिये और आचार्यके साथ २ "वदसमिदिंदियरोधो" इत्यादि बोलकर वीरभक्ति करनी चाहिये. अर्थात् "सर्वाती चार विशुद्धयर्थं पाक्षिक प्रतिक्रमण क्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्म क्षयार्थं भावपूजा वन्दनास्तव समेतं निष्ठित करणवीरभक्ति कायोत्सर्गं करोम्यहम्" इस प्रकार उच्चारण करके पुनः "णमो अरहंताणं" इत्यादि दण्डक पाठ बोलना चाहिये। उसके बाद कायोत्सर्गमें प्रवृत्त होना चाहिये और पहले कायोत्सर्गके जितने उच्छ्वास बताये हैं उतने उसमें पूर्ण करना चाहिये। उसके बाद "थोस्सामि" इत्यादि दण्डकका पाठ करके "चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं" इत्यादि स्वयंभूका और "यः सर्वाणि चराचराणि" इत्यादि अंचलिकायुक्त वीरभक्ति तथा "वदसमिदिंदियरोधो" आदि पाठ बोलना चाहिये।

इसके बाद साधुओंको आचार्य के साथ २ शांतिभक्ति और चतुर्विंशति तीर्थंकरभक्ति करनी चाहिये। अर्थात् "सर्वातीचारविशुद्धयर्थं शांतिचतुर्विंशतितीर्थंकरभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्" ऐसा उच्चारण करके "णमो अरहंताणं" इत्यादि दण्डकका पाठ बोलकर कायोत्सर्ग धारण करना चाहिये। कायोत्सर्गके अनंतर "थोस्सामि" प्रभृति दण्डक बोलकर शांतिभक्ति और "रक्षाम्" इत्यादि चतुर्विंशतितीर्थंकर भक्ति तथा "चउवीसं तित्थयरे" आदि

अंचलिका सहित पाठको बोलकर " वदसमिदिंदियरोधो " आदि पाठ बोलना चाहिये। उसके बाद साधुओंको आचार्य के साथ २ ही " सर्वातीचारविशुद्धयर्थं चारित्रालोचना चार्य भक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम् " ऐसा पाठ बोलकर लघु चारित्रालोचनाके साथ २ वृद्दाचार्यभक्ति करनी चाहिये। अर्थात् " इच्छामि भंते चारित्ताचारो तेरसविहो परिहारविदो " इत्यादि दण्डकके द्वारा साध्य लघु चारित्रालोचनाके साथ " सिद्धगुणस्तुति " आदि वृद्दाचार्यभक्ति करनी चाहिये। तदनंतर आचार्यके साथ २ ही साधुओंको " वदसमिदिंदियरोधो " इत्यादि पाठका उचारण और " सर्वातीचारविशुद्धयर्थं वृहदालोचनाचार्य भक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम् " ऐसा उच्चारण करके वृहदालोचनाके साथ २ " देशकुलजाइसुद्धा " इत्यादि मध्य वृहदाचार्य भक्ति करनी चाहिये। अर्थात् यह वृहदाचार्यभक्ति " इच्छामि भंते पक्खियम्मि अलोचेउं पण्णारसण्णं दिवसाणं " इत्यादि वृहदालोचनाके साथ वृहदाचार्यभक्ति करनी चाहिये।

इसके अनंतर आचार्य परमेष्ठीके साथ ही साधुओंको " वदसमिदिंदियरोधो " इत्यादि पाठ करके और " सर्वातीचारविशुद्धयर्थं क्षुल्लकालोचना चार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम् " इस प्रकार उच्चारण करके पहलेके ही समान दण्डकादिक बोलकर लघु आचार्यभक्ति करनी चाहिये। अर्थात् " प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः " यहांसे लेकर " मोक्षमार्गोपदेशका " यहांतकका लघु आचार्यभक्तिका पाठ बोलना चाहिये। इस प्रकार सम्पूर्ण क्रिया करनेके बाद साधुओंको आचार्यके साथ २ ही न्यूनाधिकताके दोषकी शुद्धिकेलिये " सर्वातीचारविशुद्धयर्थं सिद्धचारित्रप्रतिक्रमणनिष्ठितकरणवीरशान्तिचतुर्विंशतितीर्थकरचारित्रालोचनाचार्यवृहदालोचनाचार्यक्षुल्लकालोचनाचार्यभक्तीः कृत्वा तद्धीनाधिकत्वादिदोषविशुद्धयर्थं समाधिभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम् " ऐसा उच्चारण करके और पहलेके ही समान दण्डकादि पाठ करके अंतमें " शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः " इत्यादि इष्टप्रार्थना करनी चाहिये। तथा सबके अंतमें साधुओंको सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति बोलकर गुरु—आचार्यकी वन्दना करनी चाहिये।

[८९] इस प्रकार प्रतिक्रमण करनेकी विधि यहांपर हमने संक्षेपमें बताई है। जिनको विशेष जानना या करना हो उन्हे किसी प्रौढ आचार्य के निकट विस्तारके साथ देखकर और सीखकर करनी चाहिये। इसी विषयमें आगममें कहा है किः—

सिद्धचारित्रभक्ति॰ स्याद्वृहदालोचना तत॰
देवस्य गणिनो वाग्रे सिद्धयोगिस्तुती लघू ॥
चारित्रालोचना कार्या प्रायश्चित्तं ततस्तथा ।
सूरिभक्त्या ततो लघ्व्या गणिन वन्दते यतिः ॥
स्यात्प्रतिक्रमणा भक्ति. प्रतिक्रामेत्ततो गणी ।
वीरस्तुतिर्जिनस्तुत्या सह शान्तिनुतिर्मता ॥
वृत्तालोचनया सार्द्धं गुर्वी सूरिनुतिस्तत॰ ।
गुर्वालोचनया सार्धं मध्याचार्यनुतिस्तथा ॥
लघ्वी सूरिनुतिश्चेति पाक्षिकादौ प्रतिक्रमे ।
ऊनाधिक्यविशुद्ध्यर्थं सर्वत्र प्रियभक्तिका ॥

अर्थात्-अरहंत देव अथवा आचार्यके सम्मुख सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति और वृहदालोचनाके बाद लघु सिद्धभक्ति और लघु योगिभक्ति की जाती है। पुनः चारित्रालोचनापूर्वक प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिये और उसके बाद साधुओंको लघु आचार्यभक्ति बोलकर आचार्यकी वन्दना करना चाहिये। तदनंतर प्रतिक्रमण भक्ति करनी चाहिये और आचार्यको प्रतिक्रमण कराना चाहिये। पुनः वीरभक्ति और चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्तिके साथ २ शांति भक्ति तथा उसके बाद चारित्रालोचनाके साथ २ वृहदाचार्य भक्ति और उसके बाद क्रमसे वृहदालोचनापूर्वक मध्य वृहदाचार्य भक्ति और अतमें लघुआचार्य भक्ति बोलकर साधुओंको आचार्यकी वन्दना करनी चाहिये। यह पाक्षि-कादि प्रतिक्रमणके समयकी क्रियाओंका संक्षेप है। इसके सिवाय न्यूनाधिकताके दोषकी शुद्धिके लिये सभी जगह समाधिभक्ति करनी चाहिये।

चारित्रसारमें भी ऐसा ही कहा है कि-" पाक्षिक चातुर्मासिक सांवत्सरिक प्रतिक्रमणे सिद्धचारित्रप्र-तिक्रमण निष्ठितकरणचतुर्विंशतितीर्थंकर भक्तिचारित्रालोचनागुरुभक्तयो वृहदालोचनागुरुभक्तिर्लघीयस्याचार्यभक्तिश्च करणीयाः। "

व्रतारोपण आदि विषयोंकी अपेक्षा प्रतिक्रमण चार प्रकारका माना है किंतु उसमें वृहदाचार्य भक्ति और मध्य आचार्यभक्ति यहां नहीं करनी चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

वृत्तालोचनया सार्धं गुर्वालोचनया क्रमात् ।
सूरिद्वयस्तुतिं मुक्त्वा शेषा प्रतिक्रमा क्रमात् ॥

अर्थात्—क्रमसे चारित्रालोचना और वृहदालोचनाके साथ २ दोनों आचार्य भक्तियोंके सिवाय बाकीके प्रतिक्रमण क्रमसे हुआ करते हैं।

इस प्रकार संक्षेपमें पाक्षिकादि प्रतिक्रमणकी विधि और उसका क्रम बताकर अब नैमित्तिक क्रियाओंके प्रकरणमें संयमी साधुओं और श्रावकोंके लिये श्रुतपंचमीके दिन क्या क्रिया करनी और किस तरह करनी उसकी विधि दो श्लोकों द्वारा बताते हैं:—

वृहत्या श्रुतपञ्चम्यां भक्त्या सिद्धश्रुतार्थया ।
श्रुतस्कन्धं प्रतिष्ठाप्य गृहीत्वा वाचनां वृहन् ॥ ५७ ॥
क्षम्यो गृहीत्वा स्वाध्यायः कृत्या शान्तिनुतिस्ततः ।
यमिनां गृहिणां सिद्धश्रुतशान्तिस्तवाः पुनः ॥ ५८ ॥ (युग्मम्)

संयमी साधुओंको वृहत् सिद्धभक्ति—" सिद्धानुद्धूतकर्म " इत्यादि और वृहत् श्रुतभक्ति—" स्तोष्ये संज्ञानानि " इत्यादिके द्वारा श्रुतस्कन्धका प्रतिष्ठापन करना चाहिये। और श्रुतावतारके उपदेश को ग्रहण कर वृहत् श्रुतभक्ति और वृहत् आचार्यभक्तिके द्वारा वृहत् स्वाध्यायका प्रतिष्ठापन करना चाहिये। तथा अंतमें वृहत् श्रुतभक्ति बोलकर उस स्वाध्यायकी निष्ठापना—समाप्ति करनी चाहिये। इस प्रकार श्रुतपंचमी—ज्येष्ठ शुक्ला ५ के दिन साधुओंको क्रमसे क्रिया करनी चाहिये। जैसा कि चारित्रसारमें भी कहा है कि:—

" श्रुतपंचम्यां सिद्धश्रुतभक्तिपूर्विकां वाचनां गृहीत्वा तदनु स्वाध्यायं गृह्णन्तः श्रुतभक्तिमाचार्य भक्तिं च कृत्वा गृहीतस्वाध्यायाः कृतश्रुतभक्तयः स्वाध्यायं निष्ठाप्य समाप्तौ शान्तिभक्तिं कुर्युः "।

अर्थात्—साधुओंको श्रुतपंचमीके दिन सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति पूर्वक श्रुतावतारके उपदेशको ग्रहण

करके स्वध्यायको ग्रहण करनेके लिये श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति करके उसका ग्रहण और श्रुतभक्ति बोलकर उसका निष्ठापन तथा समाप्तिमें शांतिभक्ति करनी चाहिये ।

जो स्वाध्यायको ग्रहण नहीं कर सकते उन गृहस्थ श्रावकोंको उस दिन—ज्येष्ठ शुक्ला ५ को केवल सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति और शांतिभक्ति करनी चाहिये ।

सिद्धान्त आदिकी वाचना सम्बन्धी क्रियाकी विशेष विधि बतानेकेलिये दो श्लोक कहते हैं, जिसमें साधुओंको सिद्धान्तके अर्थाधिकारोंपर कायोत्सर्ग करनेका उपदेश देते हैं:—

कल्प्यः क्रमोयं सिद्धान्ताचारवाचनयोरपि ।
एकैकार्थाधिकारान्ते व्युत्सर्गास्तन्मुखान्तयोः ॥ ५९ ॥
सिद्धश्रुतगणिस्तोत्रं व्युत्सर्गाश्चातिभक्तये ।
द्वितीयादिदिने षट् षट् प्रदेया वाचनावनौ ॥ ६० ॥ युग्मम् ।

[illegible] जो विधि बताई है वह केवल उसी दिन नहीं किंतु सिद्धान्तवाचना और [illegible] करनी चाहिये । अर्थात् सिद्धान्तवाचना और वृद्धव्यवहारके अनुसार आचारवाच- [illegible] श्रुतभक्ति और आचार्यभक्तिके द्वारा वृहत् स्वाध्यायको [illegible] आचार्योंके द्वारा उस स्वाध्यायको समाप्त कर अंतमें शांतिभक्ति [illegible] साधुओंको सिद्धान्तके प्रत्येक अर्थाधिकारके अंतमें कायोत्सर्ग [illegible] सिद्धान्तस्यार्थाधिकाराणां समाप्तौ एकैक [illegible] और एक एक कायोत्सर्ग करना चाहिये । [illegible] आचार्यभक्ति करनी चाहिये । वाच- [illegible] आदि दिनको सिद्धान्तके

[illegible]

करनेपर और उसके छोडनेपर यह अभिषेक वन्दना [illegible]

प्रति आविभक्ति मकट करनेकेलिये जहांपर वाचना की गई थी उस स्थानपर छह छह कायोत्सर्ग करना चाहिये।

भावार्थ—यहांपर वाचनाभूमिमें छह २ कायोत्सर्ग करनेके लिये जो कहा है उसका नियम नहीं समझना चाहिये। क्योंकि यह क्रिया सिद्धान्त और उसके अर्थाधिकारोंके प्रति उत्तम बहुमान दिखानेकेलिये ही कही गई है। अतएव यह क्रिया साधुओंको अपनी शक्तिके अनुसार ही करनी चाहिये। अर्थात् जितनी शक्तिहो उतने ही कायोत्सर्ग करने चाहिये।

संन्यास मरणकी क्रियाओंका प्रयोग कैसे करना उसकी विधि दो श्लोकोंके द्वारा बताते हैं:—

संन्यासस्य क्रियादौ सा शान्तिभक्त्या विना सह।
अन्तेऽन्यदा बृहद्भक्त्या स्वाध्यायस्थापनोज्झने ॥ ६१ ॥
योगेपि शेयं तत्राचस्वाध्यायैः प्रतिचारकैः।
स्वाध्यायाग्राहिणां प्राग्वत् तदाद्यन्तादिने क्रिया ॥ ६२ ॥

संन्यास मरणकी आदिमें श्रुतपंचमीके दिनकी जो क्रिया बताई है उसमेंसे शांतिभक्तिका छोडकर बाकी सब क्रिया करनी चाहिये। अर्थात् सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति बोलकर श्रुतस्कन्धके समान संन्यासका भी प्रतिष्ठापन करना चाहिये। तथा संन्यासके अंतमें भी वही क्रिया करनी चाहिये। किंतु इतनी विशेषता है कि यहांपर शांतिभक्तिको छोडना नहीं—उसको भी बोलना चाहिये। अर्थात् क्षपक—जो सन्यास मरण करनेवाला है उसका अन्त होनेपर शांतिभक्तिके साथ २ सिद्धभक्ति और श्रुतभक्ति बोलकर संन्यासका निष्ठापन करदेना चाहिये। तथा संन्यासके आदि और अंतके दिनको छोडकर मध्यके दिनोंमें बृहद्भक्तिपूर्वक स्वाध्यायका प्रतिष्ठापन और निष्ठापन करना चाहिये। अर्थात् बृहत्श्रुतभक्ति और बृहत्आचार्यभक्तिके द्वारा उसका प्रतिष्ठापन और बृहत्श्रुतभक्तिके द्वारा उसका निष्ठापन करना चाहिये। तथा रात्रियोग वर्षायोग आदिमें भी जिन्होने पहले ही दिन स्वाध्यायका प्रतिष्ठापन कर दिया है उन परिचारकोंको—संन्यास मरण करने वालेकी वैयावृत्त्य-सेवा शुश्रूषा करनेवालोंको उस संन्यासवसतीमें ही शयन

क्रिया करनी चाहिये। यह क्रिया साधुपरिचारकोंके लिये है। किंतु जो स्वाध्यायको ग्रहण न करने वाले गृहस्थ हैं उन्हें आदि और अंतके दिन श्रुतपंचमीके समान ही क्रिया करनी चाहिये। अर्थात् गृहस्थ परिचारकोंको संन्यास के पहले दिन और पिछले दिन सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति और शांतिभक्तिही करनी चाहिये। क्योंकि वे स्वाध्यायको ग्रहण नहीं कर सकते।

क्रमानुसार आष्टाह्निक पर्व कालकी नैमित्तिक क्रियाको बताते हैं:—

कुर्वन्तु सिद्धनन्दीश्वरगुरुशान्तिस्तवैः क्रियामष्टौ।
शुच्यूर्जतपस्यसिताष्टम्यादिदिनानि मध्याह्ने ॥ ६३ ॥

आषाढ कार्तिक और फाल्गुन महीनेकी शुक्ल पक्षकी अष्टमीसे लेकर आठ दिनतक—अर्थात् पूर्णमासी पर्यंत प्रतिदिन मध्याह्नके समय—पौर्वाह्णिक स्वाध्यायको समाप्त करके सिद्धभक्ति नन्दीश्वर चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांति भक्ति के द्वारा आष्टाह्निक क्रिया करनी चाहिये. इस श्लोकमें "कुर्वन्तु" ऐसी बहुवचन क्रियाका जो प्रयोग किया है उसका अभिप्राय यह है कि यह क्रिया सम्पूर्ण संघको-आचार्य आदि सबको मिलकर करनी चाहिये।

अभिषेकके समय की जानेवाली वन्दना क्रिया और मंगल गोचर क्रियाको बताते हैं:—

सा नन्दीश्वरपदकृतचैत्या त्वभिषेकवन्दनास्ति तथा।
मङ्गलगोचरमध्याह्नवन्दना योगयोज्झनयोः ॥ ६४ ॥

ऊपर जो नन्दीश्वरजिनचैत्यवन्दनाकी क्रिया बताई गई है वही क्रिया जिस दिन जिनभगवानका महा अभिषेक हो उस दिन करनी चाहिये। अत एव इस नंदीश्वर क्रियाको ही अभिषेक वन्दना कहते हैं। अन्तर इतना ही है कि यहांपर नन्दीश्वर चैत्यभक्ति न करके केवल चैत्यभक्ति ही की जाती है। इसी प्रकार वर्षायोगके ग्रहण करनेपर और उसके छोडनेपर यह अभिषेक वन्दना हो मंगलगोचरमध्यान्हवन्दना कही जाती है। अत एव

यहांपर भी नंदीश्वर क्रिया ही करनी चाहिये । और विशेष यह कि नन्दीश्वरभक्तिकी जगह केवल चैत्यभक्ति ही करनी चाहिये । जैसा कि कहा भी है कि—

अहिसेय वदणासिद्धचेदियपचगुरुसंतिभत्तीहिं ।
कीरइ मगलगोयर मज्झण्हियवदणा होइ ॥

अर्थात्—सिद्धभक्ति चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्तिके द्वारा अभिषेकवन्दना की जाती है । और इन्हींके द्वारा मंगलगोचरमध्यान्हवन्दना भी हुआ करती है ।

मंगलगोचर बृहत्प्रत्याख्यानकी विधि बताते हैः—

लात्वा बृहत्सिद्धयोगिस्तुत्या मङ्गलगोचरे ।
प्रत्याख्यानं बृहत्सूरिशान्तिभक्ती प्रयुञ्जताम् ॥ ६५ ॥

मंगलगोचर क्रिया करनेमें आचार्य आदिकोंको बृहत् सिद्धभक्ति और बृहत् योगिभक्ति करके भक्त प्रत्याख्यानको ग्रहण कर बृहत् आचार्यभक्ति और बृहत् शांतिभक्ति करनी चाहिये । यहांपर " प्रयुञ्जताम् " यह बहुवचन क्रियाका जो निर्देश किया है उससे इस बातका बोधन कराया है कि यह क्रिया आचार्य आदि सब संघको मिलकर करनी चाहिये ।

प्रकरणके अनुसार दो श्लोकोंमें वर्षायोगके ग्रहण और त्याग करने की विधिका उपदेश करते हैंः—

ततश्चतुर्दशीपूर्वरात्रे सिद्धमुनिस्तुती ।
चतुर्दिक्षु परीत्याल्पाश्चैत्यभक्तीर्गुरुस्तुतिम् ॥ ६६ ॥
शान्तिभक्तिं च कुर्वाणैर्वर्षायोगस्तु गृह्यताम् ।
ऊर्जकृष्णचतुर्दश्यां पश्चाद्रात्रौ च मुच्यताम् ॥ ६७ ॥ (युग्मम्),

ऊपर भक्त प्रत्याख्यानको ग्रहण करनेकी जो विधि बताई है तदनुसार उसके ग्रहण करनेके अनंतर आचार्य प्रभृति साधुओंको वर्षायोगका प्रतिष्ठापन करना चाहिये और चातुर्मासके अतमें उसका निष्ठापन करना चाहिये । इस प्रतिष्ठापन और निष्ठापनकी विधि इस प्रकार है—

चार लघु चैत्यभक्तियोंको बोलते हुए और पूर्वादिक चारो ही दिशाओंकी तरफ प्रदक्षिणा देते हुए आषाढ शुक्ला चतुर्दशीकी रात्रिको पहले ही प्रहरमें सिद्धभक्ति और योगिभक्ति का भी अच्छी तरह पाठ करते हुए और पचगुरुभक्ति तथा शांति भक्तिको भी बोलकर आचार्य और इतर सम्पूर्ण साधुओंको वर्षायोगका प्रतिष्ठापन करना

भावार्थ—पूर्व दिशाकी तरफ मुख करके वर्षायोगका प्रतिष्ठापन करनेकेलिये " यावन्ति जिनचैत्यानि " इत्यादि श्लोकका पाठ करना चाहिये । पुनः आदिनाथ भगवान् और दूसरे अजितनाथ भगवान् इन दोनोंका ही स्वयंभू स्तोत्र बोलकर अंचलिका सहित चैत्यभक्ति करनी चाहिये । यह पूर्व दिशाकी तरफकी चैत्य चैत्यालयकी वन्दना है । इसी प्रकार दक्षिण पश्चिम और उत्तरकी तरफकी वन्दना भी क्रमसे करनी चाहिये । अंतर इतना है कि जिस प्रकार पूर्वदिशाकी वंदनामें प्रथम द्वितीय तीर्थंकरका स्वयम्भूस्तोत्र बोला जाता है उसी प्रकार दक्षिण दिशाकी तरफ तीसरे चौथे संभवनाथ और अभिनन्दन नाथका तथा पश्चिमकी तरफ की वन्दना करते समय पांचवें छट्ठे सुमतिनाथ और पद्मप्रभु भगवान्का और उत्तर दिशाकी वन्दना करते समय सातवें आठवें सुपार्श्वनाथ और चन्द्रप्रभुका स्वयंभूस्तोत्र बोलना चाहिये । और बाकी क्रिया पूर्वदिशाके समान ही समझनी चाहिये ।

यहांपर चारो दिशाओंकी तरफ प्रदक्षिणा करनेकेलिये जो लिखा है उस विषयमें वृद्धसम्प्रदाय ऐसा है कि पूर्वदिशाकी तरफ मुख करके और उधरकी वन्दना करके वहीं बैठे बैठे केवल भावरूपसे ही प्रदक्षिणा करनी चाहिये ।

यह वर्षायोगके प्रतिष्ठापनकी विधि है । यही विधि निष्ठापन में भी करनी चाहिये । अर्थात् कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीकी रात्रिको अंतिम प्रहरमें पूर्वोक्त विधानके अनुसार ही आचार्य और साधुओंको वर्षायोगका निष्ठापन कर देना चाहिये ।

इस वर्षायोगकी विधिमें और भी जो विशेषता है उसको दो श्लोकोंमें बताते हैं:—

मासं वासोऽन्यदैकत्र योगक्षेत्रं शुचौ व्रजेत् ।
मार्गेऽतीते त्यजेच्चार्थवशादपि न लंघयेत् ॥ ६८ ॥
नभश्चतुर्थी तद्याने कृष्णां शुक्लोर्जपञ्चमीम् ।
यावन्न गच्छेत्तच्छेदे कथंचिच्छेदमाचरेत् ॥ ६९ ॥

वर्षायोगके सिवाय दूसरे समय—हेमन्त आदि ऋतुमें भी आचार्य आदि श्रमणसंघको किसी भी एक स्थान या नगर आदिमें एक महीने तकके लिये निवास करना चाहिये । तथा आषाढ में मुनिसंघको वर्षायोगस्थानके लिये जाना चाहिये । अर्थात् जहां चातुर्मास करना है वहां आषाढमें पहुंचजाना चाहिये । और मगसिर महीना पूर्ण होनेपर उस क्षेत्रको छोड देना चाहिये । परन्तु इतना और भी विशेष है कि उस योगस्थानपर जानेकेलिये श्रावण कृष्णा चतुर्थीका अतिक्रमण कभी नहीं करना चाहिये ।

भावार्थ—यदि कोई धर्मकार्यका ऐसा विशेष प्रसङ्ग उपस्थित हो जाय कि जिसमें रुक जानेसे योगक्षेत्रमें आषाढके भीतर पहुंचना न बन सके तो श्रावण कृष्णा चतुर्थीतक पहुंच जाना चाहिये । परन्तु इस तिथिका उल्लघन किसी प्रयोजनके वशीभूत होकर भी करना उचित नहीं है । इसी प्रकार साधुओंको कार्तिक शुक्ला पंचमीतक योगक्षेत्रके सिवाय अन्यत्र प्रयोजन रहते हुए भी विहार न करना चाहिये । अर्थात् यद्यपि वर्षायोगका निष्ठापन कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीको हो जाता है फिर भी साधुओंको कार्तिक शुक्ला पंचमीतक उसी स्थानपर रहना चाहिये । यदि कोई कार्यविशेष हो तो भी तबतक उस स्थानसे नहीं जाना चाहिये ।

यहांपर जो वर्षायोग धारण करने की विधि बताई है उसमें यदि किसी घोर उपसर्ग आदिके आ उपस्थित होनेसे विच्छेद पडजाय अर्थात् किसी कारणसे उसके समय आदिका यदि अतिक्रम हो जाय तो साधुसंघको उचित है कि उसके लिये प्रायश्चित्त धारण करें ।

वीर भगवान्‌की निर्वाण कालिक क्रिया करनेके विषयमें जो आगमका निर्णय है उसको बताते हैं:—

योगान्तेऽर्कोदये सिद्धनिर्वाणगुरुशान्तयः ।
प्रणुत्या वीरनिर्वाणे कृत्यातो नित्यवन्दना ॥ ७० ॥

कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीकी रात्रिके अंतिम प्रहरमें वर्षा योगका निष्ठापन कर चुकनेपर श्री वर्धमान तीर्थंकर भगवान्‌की निर्वाण क्रिया सूर्यका उदय होनेपर सिद्धभक्ति निर्वाणभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर वन्दना करके करनी चाहिये । इसके बाद साधुओं और श्रावकोंको नित्यवंदना करनी चाहिये ।

भावार्थ—वर्षायोगका निष्ठापन और उसके बाद सूर्योदयके होनेपर वीर निर्वाण क्रिया और तदनंतर नित्यवंदना । इस प्रकार क्रमसे क्रिया करनी चाहिये ।

पंचकल्याणकके समय करने योग्य क्रियाओंके विषयमें आगमका निर्णय प्रकट करते हैं:—

साद्यन्तसिद्धशान्तिस्तुति जिनगर्भजनुषोः स्तुयाद्वृत्तम् ।
निष्क्रमणे योग्यन्तं विदि श्रुताद्यपि शिवे शिवान्तमपि ॥ ७१ ॥

तीर्थंकर भगवानका गर्भावतार कल्याणक अथवा जन्मकल्याणक जब हो तब साधुओंको यद्वा श्रावकोंको क्रमसे सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति और शान्तिभक्ति बोलकर उस समयकी क्रिया करनी चाहिये । तथा निष्क्रमण-दीक्षाकल्याणककी क्रिया मुनियों व श्रावकोंको क्रमसे सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति योगिभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये. इसी प्रकार ज्ञान कल्याणकी क्रिया क्रमसे सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्र भक्ति योगिभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये । एव निर्वाण कल्याणक अथवा निर्वाण क्षेत्रकी वन्दना क्रिया क्रमसे सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति योगिभक्ति निर्वाणभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये ।

भावार्थ—पंचकल्याणक प्रतिष्ठा आदिमें तत्तत्कल्याणकके समय साधुओं और श्रावकोंको उस समयकी क्रिया ऊपर लिखे मूजब भक्ति पाठ बोलकर करनी चाहिये ।

ऋषि अथवा सिद्धान्त वेत्ता मुनि आदि यदि मरणको प्राप्त होजांय तो उनके शरीरकी अथवा निषेधिकाकी वन्दना क्रिया करनेमें क्या क्या विशेषता है उसका निर्णय दो आर्यापद्योंके द्वारा बताते हैं:—

वपुषि ऋषेः स्तौतु ऋषीन् निषेधिकायां च सिद्धशान्त्यन्तः
सिद्धान्तिनः श्रुतादीन् वृत्तादीनुत्तरव्रतिनः ॥ ७२ ॥
द्वियुजः श्रुतवृत्तादीन् गणिनोऽन्तगुरून् श्रुतादिकानपि तान् ।
समयविदोऽपि यमादींस्तनुक्लिशो द्व्यमुखानपि द्वियुजः ॥ ७३ ॥

ऋषि आदिकोंके शरीर अथवा निषेधिकाकी वन्दना भक्ति करनेमें प्रवृत्त हुए साधुओंको जिस विधिसे वन्दना करनी चाहिये वह इस प्रकार है ।—यदि किसी सामान्य साधुका मरण हो जाय तो उसके शरीरकी अथवा निषद्याभूमिकी वन्दना सिद्धभक्ति योगिभक्ति और शांतिभक्तिको क्रमसे बोलकर करनी चाहिये । और यदि कोई सामान्य साधु सिद्धान्त वेत्ता हो तो उनका मरण होनेपर उनके शरीरकी या निषद्याभूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति योगिभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये । यदि कोई उत्तर व्रतोंको धारण करनेवाला साधु मरणको प्राप्त हो जाय तो उसके शरीरकी अथवा निषद्याभूमिकी वन्दना सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति योगिभक्ति और शांतिभक्ति पढकर करनी चाहिये । यदि कोई साधु सिद्धान्त वेत्ता भी हो और उत्तर व्रतोंको धारण करनेवाला भी हो और उसका मरण हो जाय तो उसके शरीरकी तथा निषद्याभूमिकी वंदना क्रमसे सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति योगिभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये । इसी प्रकार जो ऋषि आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हैं उनका यदि मरण हो जाय तो उनके शरीरकी या निषद्याभूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति योगिभक्ति आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये । तथा यदि कोई आचार्य सिद्धान्तवेत्ता हो

और उनका मरण हो जाय तो उनके शरीरकी अथवा निषद्याभूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति योगिभक्ति आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये। किंतु जो ऋषि आचार्यपद पर भी प्रतिष्ठित हैं और काय क्लेश तपके धारण करनेवाले भी हैं यदि उनका मरण हो जाय तो उनके शरीरकी या निषद्याभूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति योगिभक्ति चारित्रभक्ति आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये। यदि कोई ऋषि आचार्य भी हैं और सिद्धान्तवेत्ता तथा कायक्लेश तपके धारण करने वाले भी हैं उनका यदि मरण हो जाय तो उनके शरीरकी अथवा निषद्याभूमिका वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति चारित्रभक्ति योगिभक्ति आचार्यभक्ति और शांतिभक्ति बोलकर करनी चाहिये। इस विषयमें कहा भी है कि:—

काये निषेधिकायां च मुनेः सिद्धर्षिशान्तिभिः।
उत्तरव्रतिनः सिद्धवृत्तर्षिशान्तिभिः क्रियाः॥
सैद्धान्तस्य मुनेः सिद्धश्रुतर्षिशान्तिभक्तिभिः।
उत्तरव्रतिनः सिद्धश्रुतवृत्तर्षिशान्तिभिः॥
सूरेर्नैषेधिकाकाये सिध्दर्षिसूरिशान्तिभिः
शरीरक्लेशिनः सिध्दवृत्तर्षिगणिशान्तिभिः॥
सैध्दान्ताचार्यस्य सिध्दश्रुतर्षिसूरिशान्तयः।
अस्य योगे सिध्दश्रुतवृत्तर्षिगणिशान्तयः॥

श्रीअरहंत भगवान्‌की स्थिरप्रतिमाकी प्रतिष्ठा और चल प्रतिमाकी प्रतिष्ठाके समयकी विधि और उस प्रतिष्ठाके समयमें ही चतुर्थ दिनको किये जानेवाले अभिषेकके क्रिया विशेषको बताते हैं।

स्यात्सिद्धशान्तिभक्तिः स्थिरचलजिनबिम्बयोः प्रतिष्ठायाम्।
अभिषेकवन्दना चलतुर्यस्नानेस्तु पाक्षिकी त्वपरे ॥ ७४ ॥

स्थिरप्रतिमाकी प्रतिष्ठा अथवा चल प्रतिमाकी प्रतिष्ठाके समय सिद्धभक्ति और शांतिभक्तिको बोलकर

वन्दना क्रिया करनी चाहिये। किंतु जिनभगवान्‌की चल प्रतिमाकी प्रतिष्ठाके चतुर्थ दिनके अभिषेकके समय अभिषेक वन्दना अर्थात् सिद्धभक्ति चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्तिको बोलकर वन्दना करनी चाहिये। और स्थिर प्रतिमाकी प्रतिष्ठाके चतुर्थ दिनके अभिषेकके समय पाक्षिकी क्रिया करनी चाहिये। अर्थात् सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति बृहदालोचना और शांतिभक्ति बोलकर वन्दना करनी चाहिये। परन्तु यह नियम केवल साधुओंके लिये समझना। जो स्वाध्यायको ग्रहण नहीं कर सकते उन गृहस्थोंकेलिये यह नियम नहीं है। उनको चाहिये कि आलोचनाको छोडकर बाकी भक्ति बोलकर ही क्रिया करें। इस विषयमें अन्यत्र भी कहा है कि:—

चलाचलप्रतिष्ठायां सिद्धशान्तिस्तुतिर्भवेत्।
वन्दना चाभिषेकस्य तुर्यस्नाने मता पुनः॥
सिद्धवृत्तनुतिं कुर्याद्बृहदालोचना तथा।
शान्तिभक्तिं जिनेन्द्रस्य प्रतिष्ठाया स्थिरस्य तु॥

अर्थात् चल और अचल प्रतिष्ठामें सिद्धभक्ति और शांतिभक्तिके द्वारा तथा चतुर्थ दिनके स्नानके समय अभिषेक वन्दनाके द्वारा और अरहंतकी स्थिर प्रतिमाकी प्रतिष्ठामें सिद्धभक्ति चारित्रभक्ति बृहदालोचना और शांतिभक्तिके द्वारा क्रिया करनी चाहिये।

नैमित्तिक क्रियाओंके वर्णनके प्रकरणमें यहांपर आचार्य पदका प्रतिष्ठापन करते समय जो क्रिया की जानी चाहिये उसकी विधि बताते हैं:—

सिद्धाचार्यस्तुती कृत्वा सुलग्ने गुर्वनुज्ञया।
लात्वाचार्यपदं शान्तिं स्तुयात्साधुः स्फुरद्गुणः॥ ७९॥

आचार्य पदके योग्य छत्तीस विशेष गुण हुआ करते हैं। ये गुण जिन साधुओंमें पाये जाते हैं वेही इस पदपर स्थापित किये जाते हैं। इन गुणोंकी संज्ञा और स्वरूप आगे चलकर लिखेंगे। यहांपर इस पदकी प्रतिष्ठापन

क्रियाकी विधि बताते हैं, सो इस प्रकार है कि—जिसके वक्ष्यमाण ३६ गुण सम्पूर्ण संघके हृदयमें विशेष चमत्कार उत्पन्न कर रहे हैं ऐसे साधुको अपने गुरुकी आज्ञा-अनुमतिसे शुभ मुहूर्तमें सिद्धभक्ति और आचार्यभक्तिको बोलकर आचार्यपद ग्रहण करना चाहिये। और उसके बाद शांतिभक्ति करनी चाहिये।

भावार्थ—जिसमें आचार्यपदको धारण करने योग्य गुणोंको देखते हैं आचार्य उस साधुको इस पदके ग्रहण करनेकी आज्ञा देते हैं और इसकेलिये शुभ मुहूर्त निश्चित करते हैं। और वह साधु उनकी आज्ञानुसार उस शुभ मुहूर्तमें उस पदको ग्रहण करता है।

प्रारम्भमें सम्पूर्ण संघके समक्ष वह साधु सिद्धभक्ति और आचार्य भक्ति करता है। अनंतर आचार्य परमेष्ठी उससे कहते हैं कि आजसे तुम रहस्य-प्रायश्चित्तशास्त्रका अध्ययन और दीक्षा देने आदिका जो आचार्यपदका कार्य है उसको कर सकते हो। अब तुमको ये कार्य करने चाहिये। इस प्रकार समस्त संघके समक्ष भाषण देकर उस साधुको पिच्छिका समर्पण करते हैं। और वह साधु उस पिच्छीको ग्रहण करता है। इसीको आचार्य पदका ग्रहण करना कहते है। इसके बाद उस साधुको शांतिभक्तिके द्वारा वंदना करनी चाहिये। जैसा कि चारित्रसारमें भी कहा है कि—" गुरूणामनुज्ञायां विज्ञानवैराग्य संपन्नो विनीतो धर्मशीलः स्थिरश्च भूत्वाचार्य पदव्या योग्यः साधुर्गुरुसमक्षे सिद्धाचार्यभक्तिं कृत्वाचार्यपदवीं गृहीत्वा शांतिभक्तिं कुर्यात्। " अर्थात् जो विशिष्ट ज्ञान और वैराग्यकी सम्पत्तिसे युक्त तथा विनयगुणको धारण करनेवाला धर्माचरणमें ही सदा निष्ठा रखनेवाला और प्रकृतिसे ही स्थिर है वह साधु आचार्य पदवीके योग्य समझना चाहिये। ऐसे साधुको गुरुकी आज्ञासे उनके ही समक्ष सिद्धभक्ति और आचार्यभक्ति बोलकर आचार्य पदको ग्रहण कर शांतिभक्ति करनी चाहिये।

आचार्यपदकी योग्यता सिद्ध करनेवाले छत्तीस गुण कौनसे हैं सो बताते हैं:—

अष्टावाचारवत्त्वाद्यास्तपांसि द्वादश स्थितेः।
कल्पा दशाऽऽवश्यकानि षट् षट्त्रिंशद्गुणा गणेः॥ ७६ ॥

जो अङ्गसहित प्रवचनका मौनपूर्वक अध्ययन करता है उसको गणी कहते हैं। आचार्य भी अङ्गसहित प्रवचनके अध्येता हुआ करते हैं, अतएव उनको भी गणी कहते है। यहांपर " गणेः " इसकी जगह " गुरोः " ऐसा भी पाठ माना है। अर्थात् आचार्य-गणी-गुरुके छत्तीस विशेष गुण हैं। यथा-आचारवत्त्व आधारवत्त्व आदि दि आठ गुण, और छह अन्तरङ्ग तथा छह बाहिरङ्ग मिलाकर बारह प्रकारका तप, तथा संयमके अन्दर निष्ठाके सौष्ठव-उत्तमताकी विशिष्टताको प्रक करनेवाले आचेलक्य आदि दश प्रकारके गुण-जिनको कि स्थितिकल्प कहते हैं, और सामायिकादि पूर्वोक्त छह प्रकारके आवश्यक।

भावार्थ—आचारवत्वादि आठ, बारह तप, स्थितिकल्प दश और छह आवश्यक; इस प्रकार कुल मिलकर आचार्यके छत्तीस गुण माने हैं।

आचारवत्त्व आदि आठ गुणोंको गिनाते हुए उनका स्वरूप बताते हैं:—

आचारी सूरिराधारी व्यवहारी प्रकारकः।
आयापायदिगुत्पीडोऽपरिस्रावी सुखावहः ॥ ७७ ॥

आचारवत्त्व, आधारवत्त्व, व्यवहारपटुता, आयापायदेशना, उत्पीलन, अपरिस्रवण, और सुखावहन, ये आठ गुण आचार्यमें होने चाहिये। इनका स्वरूप इस प्रकार है—

आचार पांच प्रकारका है-ज्ञानाचार दर्शनाचार चारित्राचार तपआचार और वीर्याचार। इन पांचो ही प्रकारके आचरणका स्वयं पालन करना दूसरोंसे कराना और उसका उपदेश देना इसको आचारवत्त्व कहते है। ये गुण जिनमें पाया जाय उनको आचारी कहते हैं। जैसा कि कहा भी है किः—

आचारं पञ्चविधं चरति च चारयति यो निरतिचारम्।
उपदिशति सदाचारं भवति स आचारवान् सूरिः ॥

जिस श्रुतज्ञानरूप संपत्तिकी कोई तुलना नहीं कर सकता उसको अथवा नौ पूर्व दश पूर्व या चौदह पूर्वतकके श्रुतज्ञानको, यद्वा कल्पव्यवहारके धारण करनेको आधारवत्त्व कहते हैं। यह गुण जिनमें पाया जाय ऐसे मतिज्ञानके समुद्र आचार्य को आधारी कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि: —

नवदशचतुर्दशाणा पूर्वाणा वेदिता मतिसमुद्रः।
कल्पव्यवहारधरः स भवत्याधारवान् नाम ॥

व्यवहार नाम प्रायश्चित्तका है. वह आगम आदिके भेदसे पांच प्रकारका है. इसकी कुशलताको ही व्यवहारपटुता कहते हैं। जो आचार्य इस विषयके ज्ञानको रखनेवाले हैं, जिन्होने अनेक वार प्रायश्चित्तको देते हुए देखा है, और जिन्होने स्वय भी अनेकवार उसका प्रयोग किया है,-स्वयं प्रायश्चित्त ग्रहण किया है, दूसरोंको दिया है, अथवा दिलवाया है उनको व्यवहारी अथवा व्यवहारपटु कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

पञ्चविध व्यवहारं यो मनुते वस्तुत सविस्तारम्।
कृतकारितोपलब्धप्रायश्चित्तःतृतीयस्तु ॥

व्यवहारके पांच भेद जो बताये हैं उनका खुलासा करते हैं:—

आगमश्च श्रुत चाज्ञा धारणा जीत एव च।
व्यवहारा भवन्त्येते निर्णयस्तत्र सूत्रतः॥

व्यवहार—प्रायश्चित्त पांच प्रकारका है,-आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत। इन विषयोंका निर्णय सूत्रके अनुसार हुआ करता है। ग्यारह अगशास्त्रोंमें जो प्रायश्चित्त बताया गया है अथवा उनके आधारसे जो प्रायश्चित्त दिया जाता है उसको आगम कहते हैं। इसी प्रकार चौदह पूर्वोंमें बताये हुए अथवा तदनुसार दिये

१— सूत्रका लक्षण पहले बता चुके हैं।

गये प्रायश्चित्तको श्रुत कहते हैं। समाधि मरणकेलिये उद्यत हुए ऐसे आचार्य कि जिनकी जंघाओंका बल नष्ट होगया है–जो चलने फिरनेकी सामर्थ्य नहीं रखते, और जो ऐसी जगह स्थित हैं कि जहांपर और कोई आचार्य उपस्थित नहीं हैं, वे आचार्य किसी दूसरे योग्य आचार्यके समीप अपने समान योग्य ज्येष्ठ शिष्यके द्वारा अपना संवाद भेजते हैं और उस शिष्यके ही मुखसे उन आचार्य परमेष्ठीके समक्ष अपने दोषोंका आलोचन करते हैं, तथा उन आचार्यके दिये हुए प्रायश्चित्तको ग्रहण करते हैं। इस तरहके प्रायश्चित्तको आज्ञा कहते हैं। यदि कोई ऐसे ही आचार्य जो समाधिमरणको उद्यत और जंघाबलसे रहित होनेके कारण चलनेको असमर्थ हैं किंतु उनके पास कोई शिष्य आदि नहीं है– असहाय हैं, ऐसी अवस्थामें वे अपने दोषोंका स्वयं आलोचन करके पहलेके अवधारित प्रायश्चित्तको धारण करते हैं, उसको धारणा कहते हैं। बहत्तर पुरुषोंकी अपेक्षा जो प्रायश्चित्त बताया जाता है उसको जीत कहते हैं। इन पांचो ही प्रकारके प्रायश्चित्तोंमें जो निष्णात हैं उन आचार्योंको व्यवहारपटु कहते हैं।

समाधिमरण करनेमें प्रवृत्त हुए साधक साधुओंकी परिचर्या–सेवा शुश्रूषा —वैयावृत्त्य करनेको परिचर्या कहते हैं। अर्थात् जो समाधिमरण कराने या उसकी वैयावृत्त्य करनेमें कुशल हैं उनको परिचारी अथवा प्रकारी कहते हैं। आलोचना करनेकेलिये उद्यत हुए क्षपक–समाधिमरण करनेवाले साधुके गुण और दोषोंके प्रकाशित करनेको आयापायदेशना कहते हैं। अर्थात् जो क्षपक किसी प्रकारका अतीचार आदि न लगाकर सरलभावोंसे अपने दोषोंका आलोचन करता है उसके गुणकी जो प्रशंसा करते अथवा उस गुणको प्रकटकरते हैं और जो क्षपक आलोचन करनेमें दोष लगाता अथवा वक्रभावोंसे आलोचन करता है उसके दोषोंको जो प्रकट करते हैं उनको आयापायदेष्टा अथवा गुणदोषप्रवक्ता कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

गुणदोषाणां प्रथकः क्षपकस्य विशेषमालुलोचयिषो. ।
अनृजोरालोचयतो दोषविशेष प्रकाशयति ॥

व्रतादिकोंमें लगे हुए ऐसे अतीचारोंका कि जो बाहर प्रकट नहीं हुए हैं–अभीतक अन्तरङ्गमें ही छिपे हुए हैं वमन करानेको–बाहर निकालनेको उत्पीलन कहते हैं। इस गुणके धारण करनेवाले गणधर–आचार्य उत्पीलक कहे जाते हैं। इस कार्यकेलिये आचार्यको बलवान् और सिंहके समान पराक्रमी तथा प्रतापी और वचन १०६

कुशल एवं प्रसिद्ध कीर्तिके धारण करनेवाला होना चाहिये। ऐसा होनेपर ही वे छिपे हुए दोषोंको बाहर निकाल-कर दूर कर सकते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

ओजस्वी तेजस्वी वाग्मी च प्रथितकीर्तिराचार्यः।
हरिरिव विक्रमसारो भवति समुत्पीळको नाम॥

यदि किसी शिष्यने अपना दोष एकान्तमें आकर कहा और वह ऐसा दोष है कि जिसको प्रकट करना उचित नहीं है तो उस गोप्य दोपको प्रकाशित न करना अपरिस्राव नामका गुण कहा है. इस गुणके कारण जो आचार्य उस आलोचित गोप्य दोपको पानीके घूंटकी तरह पीकर रह जाते हैं—प्रकाशित नहीं करते उनको अपरिस्रावी कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

आलोचिताः कलङ्का यस्या य पीततोयसंस्थायाः।
न परिस्रवन्ति कथमपि स भवत्यपरिस्रवः सूरिः॥

क्षुदादिके दुःखोंका उत्तम कथा आदिके द्वारा उपशमन करनेको सुखावह गुण कहते हैं। इस आठवें गुणके धारण करनेवाले आचार्यको भी सुखावह कहते हैं। इस गुणके कारण आचार्य क्षुधा आदिसे पीडित क्षपकके समक्ष ऐसी कथा करते हैं कि जो गम्भीर स्नेहयुक्त मिष्ट अत्यत मनोहर और कानोंको अतिशय सुख देनेवाली हो। और जिसके सुनते ही पूर्वकी उत्तम स्मृतिका उद्बोध हो जाय। जैसा कि कहा भी है कि:—

गम्भीरस्निग्धमधुरामतिहृद्या श्रव'सुखाम्।
निर्वापकः कथा कुर्यात् स्मृत्यानयनकारणम्॥

इस प्रकार आचार्यके आचारवत्व आदि आठ गुणोंका स्वरूप बताकर स्थितिकल्परूप दश गुणोंका स्वरूप दो श्लोकों द्वारा बताते हैं:—

आचेलक्यौद्देशिकशय्याधरराजकीयापिण्डोज्झाः।

कृतिकर्म व्रतारोपणयोग्यत्वं ज्येष्ठता प्रतिक्रमणम् ॥ ८० ॥
मासैकवासिता स्थितिकल्पो योगश्च वार्षिको दशमः ।
तन्निष्ठः पृथुकीर्तिः क्षपकं निर्यापको विशोधयति ॥ ८१ ॥

आचेलक्य, औद्देशिकपिण्डका त्याग, शय्याधरपिण्डकात्याग, राजकीयपिण्डका त्याग, कृतिकर्म, व्रतारोपणयोग्यता, ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, मासैकवासिता, और योग, इस प्रकार स्थितिकल्प गुण दश हैं । इनका स्वरूप क्रमसे इस प्रकार समझना चाहिये ।—

वस्त्रादिक सम्पूर्ण परिग्रहके अभावको अथवा नग्नताको आचेलक्य कहते हैं । इसके अनेक फल हैं । व्रत और संयमरूप आचरणमें इसके निमित्तसे विशुद्धि प्राप्त हुआ करती है । इन्द्रियोंका अपने २ विषयोंसे निग्रह होता अथवा उनपर विजय प्राप्त हुआ करता है । क्रोध मान माया आदि कषायों अथवा नोकषायोंका अभाव होता है । ध्यान धारणा समाधि और स्वाध्याय आदिकी इसके ही निमित्तसे निर्विघ्नरूपसे और भलेप्रकार सिद्धि हुआ करती है । अन्तरङ्ग और बहिरंग ग्रन्थि—मूर्छारूप परिणाम अथवा बाह्य उपाधियोंके संग्रहरूप ग्रंथि—बंधनका अभाव होता है । इससे राग और द्वेष वीतकर शरीरमें भी आदर भावका अभाव—उपेक्षा प्राप्त हुआ करती है । स्वतन्त्रताकी सिद्धि होकर आत्मा अपने ही अधीन बनता—पराधीनताका अभाव होता है । मनोगत विशुद्धि—निर्मलताकी आचेलक्यके द्वारा ही प्रकटता हुआ करती है । मन और कृतिमें निर्भयता तथा सभीजगह सुखपूर्वक और बिना किसी झंझटके निर्वाहकी सिद्धि इसीसे हो सकती है । नग्न रहनेवाला साधु ही वस्त्र अथवा लंगोटी आदिके धोने घरी करने और संभालकर रखने आदिक क्रिया कर्म करनेकी दिक्कतोंसे दूर रह सकता है । शरीरको अलकृत करने अथवा उसमें ममकारका भाव नग्नतासे ही कृश किया जा सकता है । तीर्थकरोंके आचरणका अनुसरण भी नग्नतासे ही हो सकता है । और आत्मामें ही छिपे हुए बल पराक्रमका प्रादुर्भाव अथवा सिद्ध वृद्धि भी इसीसे हो सकती है । इत्यादि अपरिमित गुण नग्नताके द्वारा सिद्ध होते है । अतएव स्थितिकल्पगुणोंमें यह आचेलक्य नामका एक विशिष्ट गुण बताया है । इसका विस्तृत समर्थन जिनको जानना हो उन्हे श्री विजय आचार्यकी रचित संस्कृत

मूलाराधनाके सुस्थित सूत्रकी टीका देखनी चाहिये । वहांपर इसका विशेष खुलासा किया गया है । अतएव ग्रन्थ विस्तारके भयसे यहांपर उसका विशेष वर्णन नहीं किया जाता । और इसीलिये श्री पद्मनान्दि आचार्यने भी सचेलताके दूषणोंको संक्षेपमें ही बताया है । यथाः—

म्लाने क्षालनतः कुतः कृतजलाद्यारम्भतः संयमो,—
नष्टे व्याकुलचित्तताथ महतामप्यन्यतः प्रार्थनम् ।
कौपीनेऽपि हृते परैश्च झगिति क्रोधः समुत्पद्यते,
तन्नित्यं शुचिरागहृच्छमवतां वस्त्रं ककुम्मण्डलम् ॥

साधुओंकेलिये कौपीनमात्र वस्त्रके भी धारण करनेमें कितना कष्ट और उत्कृष्टता या संयममें दोष उपस्थित होता है इसपर विचार करना चाहिये । कौपीनके मलिन होनेपर अवश्य ही उसको धोनेकेलिये प्रवृत्ति करनी पडेगी, और फिर उसकेलिये जल लाने आदिका आरम्भ भी करना ही होगा । ऐसी अवस्थामें उसका संयम किस प्रकार स्थिर रह सकता है ? नहीं रह सकता । यदि दूसरेको धोनेकेलिये दिया जाय तो भी हिंसा करानेके अपराधसे छुटकारा नहीं होता । कदाचित् कौपीन कहीं गिरजाय खोजाय हवामें उडजाय या फट जाय तो मनमें व्याकुलता आये बिना नहीं रह सकती । अथवा उसकेलिये दूसरेसे प्रार्थना भी करनी ही पडेगी । और ऐसी अवस्थामें याचनाके निमित्तसे उनकी महत्ता या गुरुतामें कुछ न कुछ लघुता भी आये विना नहीं रह सकती । यदि कदाचित् उसको कोई चुरा लेजाय अथवा छीनले तो तत्काल क्रोध भी आये विना नहीं रह सकता । अत एव परम शांतिकी इच्छा रखनेवाले मुमुक्षुओंको यही उचित है कि वे सम्पूर्ण दिशाओंके समूहको ही वस्त्रके स्थानपर धारण करें । यह वस्त्र नित्य है—नैसर्गिक होनेसे कभी भी नष्ट होनेवाला या चोरी जानेवाला नहीं, समस्त मलदोषोंसे रहित होनेके कारण अत्यंत पवित्र है, एवं रागद्वेषको दूर करनेवाला है, इसके निमित्तसे याचना आदिके द्वारा लघुता प्राप्त नहीं होती, और न याचनाके व्यर्थ जानेपर मान भंग आदिके द्वारा चित्तमें किसी प्रकारकी कश्मलता ही उत्पन्न होती है । अतः संयमियोंको यह निर्विकार वस्त्र ही धारण करना चाहिये । जैसा कि श्री सोमदेव आचार्यने भी कहा है किः—

नैष्किंचन्यमहिंसा च कुतः संयमिनां भवेत् ।
ते सङ्गाय यदीहन्ते वल्कलाजिनवाससाम् ॥
विकारे विदुषा दोषो नाविकारानुवर्तने ।
तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेषकल्मषः ॥

अर्थात्—विकृत अवस्थाके प्राप्त करनेमें विद्वान् दोष समझते हैं नकि निर्विकार स्वरूपके धारण करनेमें। अत एव ऐसा कौन विवेकी होगा जो कि नैसर्गिक नग्नताके विषयमें द्वेष के वश होकर कश्मलता धारण करेगा। संयमी मुमुक्षुओंका आकिंचन्य-अपरिग्रह और अहिंसाव्रत तथा संयम कभी सिद्ध नहीं हो सकता यदि वे वकल चर्म या किसी भी तरहके वस्त्रके परिग्रहको धारण करनेका प्रयत्न करें, या उसका भाव रक्खें।

जो मुनियोंके उद्देश्यसे तयार किया गया है ऐसे भोजनपान आदि द्रव्यके ग्रहण न करनेको औद्देशिक पिण्डका त्याग कहते है।

वसतिका बनवानेवाला और उसका संस्कार करनेवाला तथा वहांपर व्यवस्था आदि करनेवाला ये तीनों ही शय्याधर शब्दसे कहे जाते है। इनके पिण्ड अर्थात् भोजन उपकरण आदि द्रव्यके ग्रहण न करनेको शय्याधर पिण्डोज्झा कहते है। जहांपर शय्याधर पिण्डका ग्रहण हो वहां दाताको धर्मफलके लोभसे आहारादिक प्रच्छन्न रूपसे ही योजित करना चाहिये। अर्थात् मैं शय्याधर हूं मेरे यहा भोजन होना ही चाहिये ऐसा भाव न रखकर अथवा इस बातको प्रकट न करके ही आहार दानमें प्रवृत होना चाहिये। जहांपर ऐसा प्रकट करके आहारकी व्यवस्थाकी गई हो उस आहारको ग्रहण न करना चाहिये। अथवा जो आहारदान नहीं कर सकता ऐसा कोई दरिद्र व्यक्ति है यद्वा ऐसा कोई लोभी पुरुष है तो उसको चाहिये कि वह वसतिकाका दान न करे। "मैं वसतिकाका दान तो करूंगा और आहारदान न करूंगा तो लोक मेरी निन्दा करेंगे। कहेंगे कि देखो इसकी वसतिकामें साधुओंने आकर निवास किया परन्तु इस मंदभाग्यने उनको आहार भी न दिया" ऐसा भाव रखकर जो वसतिका और आहारका दान किया जाता है वह ग्रहण न करना चाहिये। क्योंकि ऐसा होनेसे अत्यंत उपकारिताके कारण

संयमियोंको स्नेहका भाव उत्पन्न हो सकता है। जिससे कि अनेक दोष और भी लग सकते हैं।

कितने ही ग्रन्थकारोंने शय्याधरपिण्डोज्झाकी जगह शय्यागृहपिण्डोज्झा ऐसा पाठ दिया है। उसका खुलासा इस प्रकार किया जाता है कि रास्तेमें कहींको जाते हुए रात्रिको जिस गृह—वसतिमें ठहरना या शयन आदि क्रिया करनी पडे वहांपर दूसरे दिन आहार न करना चाहिये। अथवा वसतिका संबन्धी द्रव्यके निमित्तसे जो भोजन आदि तयार हुआ हो उसको ग्रहण न करना यही शय्यागृहपिण्डोज्झाका अभिप्राय है।

चौथा स्थितिकल्प गुण राजकीयपिण्डोज्झा है। इसमें राजशब्दका अर्थ इक्ष्वाकु कुरु उग्रनाथ हरि आदि कुल, अथवा प्रकृति—प्रजाको पालन पोषण आदिके द्वारा अनुरंजित करनेवाला, यद्वा उसके समान् ऋद्धिके धारण करनेवाला होता है। ऐसे व्यक्तियोंके घरमें जाकर भोजन ग्रहण न करना इसको राजकीयपिण्डोज्झा कहते हैं इसका अभिप्राय यह है कि - ऐसे घरोंमें जो नानाप्रकारके भयकर कुत्ते आदि जानवर स्वच्छन्दरूपसे फिरते रहते है उनके द्वारा उन घरोंमें प्रवेश करनेपर संयमीका अपघात हो सकता है। मुनिके स्वरूपको देखकर वहांके घोडे गाय भेंस आदि पशु बिजुक सकते हैं। और बिजुक कर स्वयं त्रासको प्राप्त हो सकते अथवा दूसरोंको भी त्रास दे सकते हैं, यद्वा संयमीको भी उनसे त्रास हो सकता है। गर्वसे उद्धत हुए वहांके नौकर चाकरोंके द्वारा साधुका उपहास हो सकता है। अथवा महलोंमें रोककर रक्खी हुई और मैथुनसंज्ञा— रमण करनेकी इच्छासे पीडित रहनेवाली, यद्वा पुत्र आदि संततिकी अभिलाषा रखनेवाली स्त्रियां अपने साथ उपभोग करनेकेलिये उस संयमीको जबर्दस्ती अपने घरमें ले जा सकती हैं। सुवर्ण रत्न अथवा उनके बने हुए भूषण जो इधर उधर पडे हों उनको कोई स्वय चुराकर लेजाय और यह हल्ला करदे कि यहांपर मुनि आये थे और तो कोई आया नहीं, ऐसी अवस्थामे मुनिके ऊपर चोरीका आरोप उपस्थित हो सकता है। यहांपर ये साधु आते हैं सो कहीं ऐसा न हो कि महाराज इनपर विश्वास कर बैठें और इनकी बातोंमें आकर राज्यको नष्ट करदें, ऐसे विचारोंसे क्रोधादिके वशीभूत हुए दीवान मंत्री आदिके द्वारा संयमीका बध बंधादिक भी हो सकता है। इनके सिवाय ऐसे स्थानोंमें आहारकी विशुद्धि मिलना कठिन है, दूध आदि विकृतिका सेवन और लोभवश अमूल्य

रत्न आदिकी चोरी तथा परस्त्रियोंको देखकर रागभावका उद्रेक एवं वहांकी लोकोत्तर विभूतिको देखकर उसके- लिये निदान भावका हो जाना भी संभव है। इत्यादि अनेक कारण है कि जिनके निमित्तसे राजपिण्डको वर्ज्य बताया है। अत एव जहांपर ये दोष संभव न हों, अथवा दूसरी जगह आहारका लाभ असंभव हो, तो श्रुतमें विच्छेद न पडे इसकेलिये राजकीयपिण्डका भी ग्रहण किया जा सकता है। अर्थात् ऐसी अवस्थामें संयमी जन अपने तप संयम और ध्यान स्वाध्याय आदिके साधनको कायम रखनेकेलिये राजपिण्डको भी ग्रहण कर सकते हैं। क्योंकि उसको वर्ज्य जो माना है सो उपर्युक्त दोषोंकी संभावनासे ही माना है।

पांचवां स्थितिकल्प गुण कृतिकर्म है। पूर्वोक्त छह आवश्यकोंका पालन करना अथवा गुरुजनोंका विनयकर्म करना इसको कृतिकर्म कहते है। इसका स्वरूप पहले लिखा जा चुका है।

व्रतोंके आरोपण करनेकी योग्यताको छट्ठा स्थितिकल्प गुण समझना चाहिये। इसकेलिये जो आचेलक्यमें स्थित है, तथा औद्देशिक आदि पिण्डका त्याग करनेमें उद्यत रहता है, गुरुजनोंकी भक्ति करनेवाला तथा विनयशील है उसको व्रतारोपणके योग्य समझना चाहिये। जैसा कि कहा भी है किः—

आचेलक्के य ठिदो उद्देसादीय परिहरदि दोसे।
गुरुभत्तिम विणीदो होदि वदाण स अरिहो दु॥

जो उत्पत्तिकी अपेक्षा माता और पिता अर्थात् जाति और कुलके सम्बन्धमें महान् है, जो वैभव प्रताप और कीर्तिकी अपेक्षा गृहस्थोंसे भी महान रहे है, जो ज्ञान और चर्या आदिमें उपाध्याय तथा आर्यिका आदिसे भी महान् है, एव क्रियाकर्मके अनुष्ठान द्वारा भी जिनमें श्रेष्ठता पाई जाती है उन आचार्योंको स्थितिकल्पके सातवें ज्येष्ठता गुणसे युक्त समझना चाहिये। आठवां स्थितिकल्पगुण प्रतिक्रमण है। इसका स्वरूप पहले बताचुके हैं। जो इसके करने और करानेवाले हैं उनको इस आठवें गुणसे युक्त समझना चाहिये। नौवां स्थितिकल्प गुण मासैकवासिता है। अर्थात् जिनके तीस दिनरात्रितक एक ही स्थानमें या ग्राम आदिमें रहनेका व्रत हो उनको इस गुणसे युक्त

समझना चाहिये । साधुओंको एक ही स्थानमें अधिक दिनतक रहनेसे अनेक दोष लग सकते हैं, यथा—उद्गम आदि दोषोंका परिहार नहीं किया जा सकता, उसी स्थानसे प्रतिबन्ध होजाता है—वहांके निवासियोंसे या उस स्थानसे ही राग होजाता है । गौरवमें कमी आती अथवा लघुता प्राप्त होती है, आलस्य—प्रमादकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है, शरीर अथवा मनमें सुकुमारताका भाव जागृत होता है, भावनाका अभाव और ज्ञातभिक्षाका ग्रहण होता है, इत्यादि अनेक दोष एक स्थानपर निवास करनेसे जो प्राप्त हुआ करते हैं उनका खुलासा मूलाराधनाकी टीकामें किया गया है, वहांसे जानना चाहिये । जैसा कि कहा भी है कि:—

पडिबधो लहुयत्त ण जणुवयारो ण देसविण्णाणं ।
णाणादीण अवुद्धी दोसा अविहारपरिकम्हि ॥

किंतु मूलाराधनाकी टिप्पणीमें मासैकवासिताका अर्थ वर्षा योगको ग्रहण करनेके पूर्व तथा उसके समाप्त होनेपर उसी स्थानमें जहां चातुर्मास किया हो एक महीनेतक रहना किया है ।

दशवां स्थितिकल्प गुण योग—वर्षायोग है । वर्षा कालमें चार महीने तक एक ही जगह रहना इसको योग कहते हैं । उन दिनोंमें पृथ्वी स्थावर और जंगम जीवोंसे व्याप्त हो जाती है । अत एव उन दिनोंमें भ्रमण करनेसे संयममें अत्यधिक बाधा उपस्थित हो सकती है । जलवृष्टि तथा शीतलवायुके लगनेसे अपनी भी विराधना हो सकती है । बावडी आदिमें पतन हो जाना भी संभव है । एवं जल और कीचड आदिके द्वारा अथवा उनमें छिपे हुए लकडी ठूठ कांटे आदिके द्वारा भी बाधा होना संभव है । इत्यादि कारणोंसे चातुर्मासमें एकसौ बीस दिन तक एक जगह ही रहना, यह उत्सर्ग मार्ग बताया है । अपवाद मार्गकी अपेक्षासे कोई विशेष कारण उपस्थित होने पर अधिक अथवा कम दिन तक भी निवास किया जासकता है । अधिक प्रमाणमें आषाढ शुक्ला दशमीसे लेकर कार्तिक शुक्ला पूर्णमासीके ऊपर तीस दिनतक और भी निवास कर सकते हैं ऐसा समझना चाहिये । अत्यधिक जलवृष्टि, शास्त्र—उपदेशरूप श्रुतका विशिष्ट लाभ, शक्तिका अभाव, और किसीकी वैयावृत्य करने आदिका प्रसग आ उपस्थित होना, इन प्रयोजनोंके उद्देशसे एक स्थानमें अधिक दिनतक निवास किया जा सकता है । यह उत्कृष्ट कालका प्रमाण बताया है। हीन कालका प्रमाण चार दिनका है । अर्थात् महामारी, दुर्भिक्ष, ग्राम नगर प्रान्त आदिमें

राज्य क्रान्ति आदिके निमित्तसे भागदौड मचजानेपर, ये उस क्षेत्रको छोडनेके निमित्त उपस्थित होनेपर वहांसे अन्यत्र—दूसरे ग्राम या देशको चले जाना चाहिये। क्योंकि नहीं तो वहां रहनेपर रत्नत्रय धर्मकी विराधना हो सकती है। ऐसी अवस्थामें आषाढ शुक्ला पूणमासीको व्यतीत करके प्रतिपदा आदि तिथिको वहांसे जा सकते हैं। इस अपेक्षासे चार दिनका जघन्य काल बताया है। इस प्रकार स्थितिकल्पके दशवें भेदका स्वरूप समझना। किंतु मूलाराधनाकी टिप्पणीमें यह दशवां भेद पाद्य नामसे बताया है। उसका अभिप्राय ऐसा है कि दो दो महीनेसे निषिद्धिकाओंको देखना चाहिये। यथाः—

आचेलक्यौद्देशिकशय्यागृहराजपिण्डकृतिकर्म।
ज्येष्ठव्रतप्रतिक्रममास पाद्यः श्रमणकल्पः॥

इन उपर्युक्त स्थितिकल्प सम्बन्धी दश गुणोंमें जो निष्ठा धारण करनेवाले हैं, जिनकी इनमें भले प्रकार तत्परता सिद्ध हो चुकी है। एवं अनेक क्षपकों—समाधिमरण करनेवालोंका उद्धार करनेमें जिनकी विशाल कीर्ति सम्पूर्ण पृथ्वीपर फैलगई है, तथा संसारको छोडकर परलोक यात्रा करनेवाले कर्मोंका क्षपण करनेमें उद्युक्त साधुओंको जो समाधिमरणकेलिये प्रेरित करनेवाले हैं, ऐसे ही निर्यापक—आचार्य उन क्षपकोंको विशुद्धिलाभ करा सकते हैं। उसके मार्गमें लगाकर उसकी यथोक्त चर्याको बता सकते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

एतेषु दशसु नित्यं समाहितो नित्यवाद्यभीरुः।
क्षपकस्य विशुद्धिमसौ यथोक्तचर्यां समुद्दिशति॥

प्रतिमायोगको धारण कर खडे हुए मुनिकी क्रिया विधि बताते हैं:—

लघीयसोपि प्रतिमायोगिनो योगिनः क्रियाम्।
कुर्युः सर्वेपि सिद्धर्षिशान्तिभक्तिभिरादरात् ॥ ८२ ॥

सवेरेसे सायंकालतक दिनभर सूर्यकी तरफ मुखकरके कायोत्सर्ग मुद्रा धारण कर खडे रहनेको प्रतिमा-

योग कहते हैं। इसको धारण करनेवाले योगी यदि दीक्षाकी अपेक्षा उम्रमें छोटे हों तो भी सम्पूर्ण साधुओंको अत्यंत आदरभावसे उनका क्रियाकाण्ड सिद्धभक्ति योगिभक्ति और शांतिभक्तिको बोलकर पूर्ण करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि:—

प्रतिमायोगिनः साधोः सिद्धानागारशांतिभिः।
विधीयते क्रियाकाण्ड सर्वसंघैः सुभक्तितः॥

दीक्षा ग्रहण करने और केशलोंच करनेकी क्रियाकी विधि बताते हैं:—

सिद्धयोगिबृहद्भक्तिपूर्वकं लिङ्गमर्प्यताम्।
लुञ्चाख्यानाग्न्यपिच्छात्म क्षम्यतां सिद्धभक्तितः॥ ८३॥

केशलुञ्चन, नामकरण, सर्वथा नग्न दिगम्बर अवस्था, और पिच्छी इनके समूहको जिनलिङ्गका स्वरूप समझना चाहिये। आचार्यको यह लिंग बृहत् सिद्धभक्ति और बृहत् योगिभक्ति बोलकर मुमुक्षुमें अर्पण करना चाहिये। तथा यह लिङ्गार्पणका विधान सिद्धभक्तिके द्वारा समाप्त करना चाहिये।

दीक्षा दानके अनन्तर क्या कर्तव्य है सो दो पद्योंमें बताते हैं:—

व्रतसमितीन्द्रियरोधाः पञ्च पृथक् क्षितिशयो रदाघर्षः।
स्थितिसकृदशने लुञ्चावश्यकषट्के विचेलताऽस्नानम्॥ ८४॥
इत्यष्टाविंशतिं मूलगुणान् निक्षिप्य दीक्षिते।
सक्षेपेण सशीलादीन् गणी कुर्यात्प्रतिक्रमम्॥ ८५॥ (युग्मम्)

मुनियोंके मूलगुण अट्ठाईस हैं। यथा—अहिंसादिक पांच महाव्रत, ईर्यासमिति आदिक पांच समिति, और पांचो इन्द्रियोंका अपने २ विषयोंसे निरोध, ये पन्द्रह भेद हुए, इनका विशेष स्वरूप पहले लिखा जाचुका

है। इनके सिवाय एक भूमिशयन, १ दांतोंका घर्षण—दन्तधावन न करना, १ दिनमें एकवार भोजन करना १ खडे होकर भोजन करना, १ विधिपूर्वक केशोंका उत्पाटन करना, ६ पूर्वोक्त छह आवश्यकोंका पालन करना. १ सर्वथा वस्त्ररहित नग्न दिगम्बर अवस्था धारण करना, और १ तैल आदिका उद्वर्तन तथा जलमें अवगाहन आदि स्वरूप स्नान न करना। ये सब मिलाकर अट्ठाईस भेद होते हैं। इनके सिवाय चोरासी लाख उत्तर गुण और अठारह हजार शीलके भेद और भी हैं। दीक्षा लेनेवाले साधुमें आचार्यको संक्षेपसे इन उत्तर गुणों और शीलके भेदोंके साथ २ सम्पूर्ण उक्त मूलगुणोंका स्थापन करके व्रतारोपण सम्बन्धी प्रतिक्रमण करना चाहिये। जहांतक हो सके यह प्रतिक्रमण उसी दिन करना चाहिये; किंतु उसदिन उत्तम मुहूर्त आदि न बनता हो तो कुछ दिन बाद भी वह किया जा सकता है।

दीक्षाग्रहणके समयको छोडकर अन्य समयमें जो केशोंका लुंचन किया जाता है उसके कालका प्रमाण और उसकी क्रिया करनेकी विधि बताते हैं:—

लोचो द्वित्रिचतुर्मासैर्वरो मध्योऽधमः क्रमात् ।
लघुप्राग्भक्तिभिः कार्यः सोपवासप्रतिक्रमः ॥ ८६ ॥

केशोंका उत्पाटन तीन प्रकारका हुआ करता है,-उत्तम मध्यम और जघन्य। दो महीनेके अनंतर किया जाता है वह उत्कृष्ट, और जो तीन महीनेके अनंतर किया जाता है वह मध्यम, तथा जो चार महीना पीछे किया जाता है वह जघन्य समझना चाहिये। साधुओंको अपनी शक्तिके अनुसार इनमेंसे कौनसा भी लोच अवश्यही करना चाहिये। जिस दिन लोच करना हो उस दिन उपवास और उस क्रियासम्बन्धी प्रतिक्रमण भी करना चाहिये। तथा लोचका प्रतिष्ठापन लघु सिद्धभक्ति और लघु योगिभक्ति बोलकर, एवं निष्ठापन केवल सिद्धभक्तिके द्वारा करना चाहिये। जैसा कि कहा भी है कि—

लोचो द्वित्रिचतुर्मासैः सोपवासप्रतिक्रम' ॥
लघुसिद्धर्षिभक्त्यान्यः क्षम्यते सिद्धभक्तितः ॥

सामायिक चारित्रकी उत्कृष्टता और वास्तविकता दिखानेकेलिये यहां बताते हैं कि वस्तुतः चारित्र एक सामायिक ही है, महाव्रतादिके रूपमें जो चारित्रका वर्णन किया जाता है वह उसीका भेदरूपसे वर्णन है. सो इस प्रकारका वर्णन भी आदि तीर्थंकर और अंतिम तीर्थंकरने ही किया है, मध्यके अजितादि पार्श्वनाथ पर्यंत बाईस तीर्थंकरोंने नहीं। इसी बातको यहांपर स्पष्ट करते हैं, और साथ ही यह भी दिखाते है कि इस देशनाके भेदका कारण क्या है।:—

दुःशोधमृजुजडैरिति पुरुरिव वीरोऽदिशद्व्रतादिभिदा ।
दुष्पालं वक्रजडैरिति माम्यं नापरे सुपट्वाशिष्याः ॥ ८७ ॥

कर्मभूमिकी आदिमें मनुष्य परिणामोंके सरल किंतु मुग्ध—अज्ञानी हुआ करते है। अत एव वे सामायिक चारित्रको भले प्रकार समझ नहीं सकते और इसीलिये उसका अच्छी तरह पालन भी नहीं कर सकते। यही कारण है कि आदिनाथ भगवान्ने उनकेलिये समायिक चारित्रको ही व्रतादिके भेद रूपसे बताया। इसी प्रकार अंतिम तीर्थंकरके समयके मनुष्य वक्र और अज्ञानी हुआ करते हैं। वे या तो अपनी वक्रताके कारण अथवा अज्ञानताके कारण सामायिक चारित्रके पालन करनेमें असमर्थ रहा करते हैं। उनसे उसका पालन होना अति कठिन रहता है। अत एव अंतिम तीर्थंकरने भी उसी सामायिकको व्रतोंके भेदरूपसे उनको बताया। किंतु मध्यके बाईस तीर्थंकरोंके समयके मनुष्य योग्य और अच्छे समझू हुआ करते हैं। उनमें सरलता और जडता नहीं रहती। वे अपने विषयमें भले प्रकार व्युत्पन्न रहा करते हैं। अत एव उन बाईस तीर्थंकरोंने चारित्रको व्रतादिके भेदरूपसे न बताकर केवल सामायिकके ही रूपसे बताया।

जिसको जिनलिंगकी दीक्षा दीजाय उसमें किस किस प्रकारकी योग्यता होनी चाहिये सो बताते हैं:—

सुदेशकुलजात्यङ्गे ब्राह्मणे क्षत्रिये विशि ।
निष्कलङ्के क्षमे स्थाप्या जिनमुद्रार्चिता सताम् ॥ ८८ ॥

जिनेन्द्र भगवान्‌की मुद्रा देवेन्द्र नरेन्द्र धरणीन्द्र और मुनीन्द्रोंके द्वारा भी पूज्य है। अत एव धर्माचार्योंको जिस व्यक्तिमें इस मुद्राका आरोपण करना हो उसमें उन्हें इस प्रकारकी योग्यता अवश्य देखनी चाहिये कि—वह व्यक्ति प्रशस्त देशमें उत्पन्न हुआ हो, मांसाहारी म्लेच्छों या वैसे ही आचरणवाले भील आदिकोंके देशमें उत्पन्न न हुआ हो। जिस पितासे उसकी उत्पत्ति हुई है उसका वंशानुगत आचरण शुद्ध हो। एवं जिस कुक्षिमें उसने जन्म धारण किया है वह मातृपक्ष भी निर्दोष हो। तथा जिसका शरीर भी प्रशस्त हो,—उसमें ऐसे कोई दोष न हों जो कि आगममें जिनलिंगको धारण करनेमें बाधक बताये है। और चातुर्वर्ण्यमेंसे ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य इन तीन उत्तम वर्णोंमें ही जो उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार जिसको कोई कलङ्क नहीं लगा है, ब्राह्मण स्त्री बाल गौ आदिकी हत्या आदि अपराधोंसे जो मुक्त है। और जो उस मुद्राके धारण करनेमें समर्थ है, जो अति बाल अवस्था या सुकुमार शरीरको धारण करनेवाला नहीं है, अथवा अतिवृद्धताके कारण जिसका शरीर जीर्ण और इसीलिये जिनलिंगके चारित्रको पालन करनेके लिये जो असमर्थ नहीं होगया है। अत एव ऐसा कहा भी है कि :—

ब्राह्मणे क्षत्रिये वैश्ये सुदेशकुलजातिजे।
अर्हत' स्थाप्यते लिङ्ग न निन्द्यबालकादिषु ॥

अर्थात्—तीन उत्तम वर्णोंके और प्रशस्त देश कुल जातिमें उत्पन्न होनेवाले ही पुरुषमें जिनलिंगकी स्थापना करनी चाहिये। जो ब्रह्महत्या आदि के कारण निन्द्य है अथवा बाल्यावस्था या वृद्धावस्था आदिके धारण करनेवाले हैं उनमें उस लिंगको स्थापित न करना चाहिये। इसी प्रकारः—

पतितादेर्न सा देया जैनी मुद्रा बुधार्चिता।
रत्नमाला सता योग्या मण्डले न विधीयते

जो जाति आदिसे पतित हैं उनको यह विद्वानोंके और देवोंके द्वारा भी पूज्य जिनमुद्रा न देनी चाहिये। जो रत्नोंकी माला सत्पुरुषोंके धारण करने योग्य हुआ करती है वह कुत्तेके गलेमें नहीं पहराई जाती। तथाः—

न कोमलाय बालाय दीयते व्रतमार्चितम् ।
न हि योग्ये महोक्षस्य भारे वत्सो नियोज्यते ॥

जिनका शरीर कोमल है या जिनका चित्त अति मृदु और इन्द्रियां विषय सेवनकी तरफ प्रबल हैं ऐसे बालकोंको जिनदीक्षाका त्रिलोकपूज्य व्रत न देना चाहिये । जिस बोझेको बडा बैल ही ढो सकता है उसमें छोटे बच्छेको जोतना ठीक नहीं ।

यहांपर कोई शंका कर सकता है कि दीक्षाका देना कषायको उत्पन्न करने और उसको पुष्ट करनेका साधन है; क्योंकि उसमें शिष्योंका परिग्रह बढता है, और उसके सम्बन्धसे पुनः उनके पोषण रक्षण और व्यवस्था आदिकी चिन्ता भी हुआ ही करती है. अवस्थाके अनुसार उनका निग्रहानुग्रह भी करना ही पडता है । और क्षपण आदिके समय साधुओंको वैयावृत्य आदिके लिये प्रेरित भी करना पडता है । इत्यादि अनेक कारणोंसे मुमुक्षुओंका इस कार्यमें पडना उचित नहीं प्रतीत होता । परन्तु यह शंका ठीक नहीं है । क्योंकि जिनका चारित्र सराग है उन्हींकेलिये आगममें इसका विधान किया है । जैसा कि कहा भी है कि:—

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसण तेसिं ।
चरिया हि सरायाण जिणिंदपूजोवएसो य ॥

अर्थात्—सम्यग्दर्शनको दृढ करनेवाला और ज्ञानकी वृद्धि करनेवाला उपदेश देना, शिष्योंका ग्रहण करना, और उनका पोषण तथा रक्षण करना, एवं जिनेन्द्र भगवान्की पूजा आदिका उपदेश देना, यह सब सराग चारित्रके धारण करनेवाले मुनियोंका ही कार्य है । फिर इसके सिवाय ऐसा किये विना संघकी व्यवस्था और मोक्षमार्ग सुरक्षित नहीं रह सकते । अत एव यह कार्य भी किसी न किसीको करना ही पडता है ।

जब तक महाव्रतोंको धारण न किया जाय तब तक केवल जिनलिंग—केशोत्पाटन दिगम्बरता और संज्ञा तथा पिच्छीके ग्रहण करनेसे ही आत्मामें लगे हुए दोषोंकी विशुद्धि नहीं हो सकती । इस बातको दृष्टान्त देकर स्पष्ट करते हैं:—

महाव्रतादृते दोषो न जीवस्य विशोध्यते ।
लिङ्गेन तोयादृषेण वसनस्य तथा मलः ॥ ८९ ॥

जिस प्रकार वस्त्रको जबतक पानीसे न धोया जाय तब तक केवल उसमें क्षारमट्टीके लगानेसे ही उसका मल दूर नहीं हो सकता, उसी प्रकार जब तक महाव्रत धारण नहीं किये जाते तब तक केवल चिन्हमात्र जिन लिंगके धारण करनेसे आत्मामें लगे हुए राग द्वेषरूपी कषायोंका मल दूर नहीं हो सकता।

किंतु जिनमुद्राके विना केवल व्रतोंका धारण करना भी कार्यकारी नहीं हो सकता। अत एव दृष्टान्त द्वारा इस बातको भी दृढ करते है कि जिनलिंगसे युक्त ही व्रताचरण कषायोंका विशोधन कर सकता है:—

मृद्यन्त्रकेण तुष इव दलिते लिङ्गग्रहेण गार्हस्थ्ये ।
मुशलेन कणे कुण्डक इव नरि शोध्यो व्रतेन हि कषायः ॥ ९० ॥

मट्टीके बने हुए यन्त्रविशेषके द्वारा जब धान्यके उपरका छिलका उतारकर दूर कर दिया जाता है तभी उसके भीतरकी वारीक—पतली भुसी मूसलके द्वारा छरकर दूर की जासकती है, अन्यथा नहीं। इसी तरहसे जिनलिंग और व्रतोंके विषयमें समझना चाहिये। अर्थात् व्रतोंको प्रकट कर दिखाने वाला चिन्ह–जिनलिंग जब धारण कर लिया जाता है तभी उसके द्वारा गृहस्थाश्रमका भाव निर्दलित होता और तभी मूपलके समान उन व्रतोंके द्वारा अन्तर्मल—कषायका शोधन किया जा सकता है।

भावार्थ—चावलके समान मनुष्यको और भुसीके समान कषायको तथा ऊपरके छिलके के समान गृहस्थाश्रमको एव मट्टीके यंत्रके समान जिन लिंगको समझकर मूसलके समान व्रतोंके द्वारा उसका शोधन करना चाहिये।

भूमिशयन नामके मूलगुणकी विधि बताते हैं:—

अनुत्तानोऽनवाङ् स्वप्याद्भूदेशेऽसंस्तृते स्वयम् ।
स्वमात्रे संस्तृतेऽल्पं वा तृणादिशयनेपि वा ॥ ९१ ॥

भूमिशयन मूलगुणको सिद्ध करनेकेलिये साधुओंको तृण घास आदिके आच्छादनसे रहित केवल भूमि-प्रदेशमें ऊर्ध्वमुख अथवा अधोमुख न होकर दक्षिण अथवा वाम किसी भी एक पार्श्व भागसे दण्डके समान लम्बायमान होकर अथवा धनुषके आकारको धारण करके शयन करना चाहिये । अथवा अल्प आच्छादनसे युक्त भूमिपर भी शयन कर सकते हैं । किंतु यह आच्छादन जितनी भूमिमें उन्हें सोना है उतनीमें ही स्वयं करना चाहिये । अल्प आच्छादनसे प्रयोजन यह है कि जैसा गृहस्थ आदिकोंका विस्तर हुआ करता है वैसा न होना चाहिये । भूमिके स्थानपर तृण आदि की बनी हुई चटाई यद्वा काष्ठके बने हुए तख्त आदि अथवा पत्थरकी शिला आदिके ऊपर भी शयन कर सकते हैं । इस विषयमें भी अनाच्छादन और अल्प आच्छादनका सम्बन्ध लगा-लेना चाहिये । जैसा कि कहा भी है कि:—

पासुअभूमिपदेसे अप्पमसथारिदह्मि पच्छण्णे ।
दण्डधणुव्व सेज्ज खिदिसयण एयपासेण ॥

अर्थात्—प्रासुक और अल्पसंस्तरित अथवा असंस्तरित एवं एकान्त भूमि प्रदेशमें दण्ड अथवा धनुषकी तरह एक पार्श्वभागसे सोना इसको क्षिति शयन कहते हैं ।

ऊर्ध्वमुख सोनेसे अधिकतर स्वप्नदर्शन होता है और अधोमुख सोनेसे प्रायः वीर्यस्खलन हो जाता है । इत्यादि दोषोंके कारण पार्श्वभागसे ही सोना बताया है । सो भी किसी एक ही विवक्षित पसलीकी तरफसे सोना चाहिये, अर्थात् करवट वगैरह न लेना चाहिये । निद्राके कालका प्रमाण पहले बता चुके हैं ।

खडे होकर भोजन करनेरूप मूलगुणकी विधि और उसके कालका प्रमाण बताते हैं:—

तिस्रोऽपास्याद्यन्तनाडीर्मध्येऽन्ह्यद्यात् स्थितः सकृत् ।

मुहूर्तमेकं द्वौ त्रीन्वा स्वहस्तेनानपाश्रयः ॥ ९२ ॥

दिनकी आदिकी और अंतकी तीन तीन घडी छोडकर बाकी दिनके मध्यभागमें एक वार खडे होकर दीवाल या स्तम्भ आदिका सहारा न लेकर अपने हाथसे—अंजलिपुट बनाकर एक मुहूर्त दो मुहूर्त अथवा तीन मुहूर्ततक आहार करना चाहिये।

भावार्थ—दिनके उदयकालकी तीन घडी और अस्तसमयकी तीन आमरीकेलिये अयोग्य समय है। इस समयमें साधुओंको गोचरीकेलिये निकलना न चाहिये। और भोजन क्रियाका काल एकसे तीन मुहूर्त तकका है। इतने समयमें भोजन क्रिया समाप्त करनी चाहिये। तथा भोजन करते समय साधुओंको किसीका सहारा न लेकर और दोनों पैरोंको बराबरमें जोडकर खडे होना चाहिये और भूमिके तीन स्थानोंकी शुद्धि देखकर दिनमें एक वार अंजलिका भेद न करके भोजन करनेको स्थितिभोजन कहते हैं। जैसा कि कहा भी है कि:—

उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि ।
एकम्हि दुय तिए वा मुहुत्तकालेयभत्तं तु ॥
अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डादिविवज्जणेण समपायं ।
पडिसुद्धे भूमितिये असण ठिदिभोयणं णाम ॥

अर्थात्—उदय और अस्तका तीन तीन घडीका काल छोडकर बाकीके दिनके मध्यके समयमें एक दो या तीन मुहूर्ततक एक वार भोजन करना इसको एकभुक्ति कहते हैं। तथा अंजलिपुटके द्वारा, खडे होकर, और भींत वगैरहका आश्रय न लेकर, पैरोंको बराबर रखकर, भूमित्रयकी शुद्धि देखकर भोजन करना इसको स्थितिभोजन कहते हैं।

इस विषयकी विशेष व्याख्या आचार टीकामें की गई है। उसका उपयोगी समझकर कुछ आशय यहां भी दिया जाता है।

अभिप्राय यह है कि समपाद और अंजलिपुट ये एक मुहूर्तमे लेकर तीन मुहूर्ततकका जो भोजनका समय बताया है उस सबके विशेषण नहीं किंतु मुनिके भोजनके विशेषण हैं। अतएव तीन मुहूर्तके भीतर जब जब भी वे भोजन करें तब तब ही उनको समपाद और अजलिपुटके द्वारा ही भोजन करना चाहिये, ऐसा आशय समझना। यदि ऐसा न माना जायगा और उनको— समपाद और अंजलिपुटको समयका ही विशेषण माना जायगा तो हस्त प्रक्षालन करनेपर भी उस समय जो जानूपरिव्यतिक्रम नामका अन्तराय बताया है सो नहीं बन सकता। इसी प्रकार नाभेरधोनिर्गमन अन्तराय जो बताया है वह भी नहीं बन सकता। इससे मालुम होता है कि तीन मुहूर्तका जो समय बताया है उसमें एक जगह भोजन क्रियाका प्रारम्भ करके किसी कारणसे हाथोंको धोनेके बाद मौन पूर्वक दूसरी जगह भोजनकेलिये जा सकते हैं। यदि वह अन्तराय एक स्थानपर भोजन करते हुएके होता है ऐसा माना जायगा तो अन्तरायका जानूपरिव्यतिक्रम यह विशेषण देना निरर्थक ही हो जायगा। उसकी जगह ऐसा ही फिर विशेषण देना चाहिये कि यदि बराबरमें रक्खे हुए पैर रंचमात्र भी चलायमान हो जांयगे तो अंतराय हो जायगा। इसी प्रकार नाभेरधोनिर्गमन नामका अंतराय भी दूरहीसे कैसे संभव हो सकता है? नहीं बन सकता। अत एव अन्तरायको बचानेकेलिये उसका ग्रहण करना भी निरर्थक ही ठहरेगा। इसी प्रकार पैरसे कोई चीज ग्रहण करनेमें आजाय तो वह अंतराय माना है सो वह भी कैसे बनेगा। इत्यादि अंतरायोंके स्वरूपको बतानेवाले अनेक सूत्र निरर्थक ही ठहरेंगे। इसी तरह यदि भोजन क्रिया प्रारम्भ करनेके बाद अंजलिपुटका भेद होना न माना जायगा तो हाथसे किसी वस्तुका ग्रहण होना जो अंतराय माना है वह नहीं बन सकता। उसके स्थानपर ऐसा ही फिर कहना चाहिये कि कोई वस्तु ग्रहण करनेमें आवे या न आवे यदि अजलिपुटका भेद होजाय तो अंतराय समझना चाहिये। इसी प्रकार जान्वधःपरामर्श नामका अन्तराय भी नहीं बन सकता। और भी अनेक अन्तराय इसी तरह नहीं बन सकते, यदि समपाद और अजलिपुटको एक दो तीन मुहूर्तप्रमाण भोजनके कालका विशेषण माना जाय। अत एव यह स्पष्ट है कि ये दोनों ही भोजनके विशेषण हैं न कि कालके।

भावार्थ—यह बात पहले बता चुके हैं कि प्रायः करके अंतराय सिद्धभक्तिके अनंतर ही हुआ करते हैं।

ऐसी अवस्थामें यदि समपाद और अंजलिपुटको भोजनके कालका विशेषण माना जाय तो उपर्युक्त कोई भी अंतराय नहीं बन सकता। अत एव उन्हें भोजनका ही विशेषण मानना चाहिये। अर्थात् जब २ भी तीन मुहूर्त कालके भीतर भोजन क्रियाको मुनि प्रारम्भ करें तब २ ही उन्हे समपाद और अंजलिपुटके द्वारा भोजन करना चाहिये. इससे यह बात भी सिद्ध होती है कि किसी कारणके वश एक जगह भोजन क्रिया प्रारम्भ करके हस्त प्रक्षालनके अनंतर ही दूसरी जगह भी भोजनकोलिये जा सकते है।

समपादका अभिप्राय यह है कि दोनों पैरोंमें चार अंगुलका अंतर रखकर दोनोंको एक सीधमें रखना। और भूमित्रयकी शुद्धि देखनेकेलिये जो कहा है उसका तात्पर्य यह है कि जहांपर आहार देनेके समय दाता खडा होता है, और जहांपर आहार लेनेको पात्र खडे होते हैं, एवं दोनोंके मध्यमें उच्छिष्ट का जहां पतन होता है वे तीनों ही स्थान शुद्ध होने चाहिये।

खडे होकर भोजन करनेका प्रयोजन क्या है सो बताते हैं:—

यावत्करौ पुटीकृत्य भोक्तुमुद्भः क्षमेऽश्नयहम्।
तावन्नैवान्यथेत्यागूसंयमार्थं स्थिताशनम् ॥ ९३ ॥

जबतक मैं खडे होकर और अपने हाथोंको जोडकर या उनको ही पात्र बनाकर उन्हींके द्वारा भोजन करनेकी सामर्थ्य रखता हूं तभीतक भोजन करनेमें प्रवृत्ति करूंगा, अन्यथा नहीं। इस प्रतिज्ञाका निर्वाह और इन्द्रिय संयम तथा प्राणिसंयमका साधन करनेकेलिये मुनियोंको खडे होकर भोजन करनेका विधान किया है।

भावार्थ—खडे होकर भोजन करनेके, प्रतिज्ञाका बोधन और निर्वाह, तथा आहारकी शुद्धि और दोषोंकी निवृत्ति, एवं संयमकी सिद्धि, इस प्रकार अनेक प्रयोजन हैं। जैसा कि आचारटीमें भी बताया है, उसका आशय इस प्रकार है:—

जब तक मेरे हाथ और पैर परस्परमें सम्बद्ध होनेकी शक्ति रखते हैं तभी तक मुझे आहार ग्रहण करना

लुंचन करनेसे दुःखोंके सहन करनेका अभ्यास होता है । जिससे कि परीषह और उपसर्गोंके जीतनेकी कठिनता दूर होती है । और कायक्लेश आदि तपकी सिद्धि होकर शरीरमें पूर्ण निर्ममताका भाव जागृत व दृढ होता है । अतएव जिसप्रकार नग्नतामें ये और इनके सिवाय दूसरे भी अनेक गुण बताये हैं उसी प्रकार केशोत्पाटन नामक मूलगुणमें भी समझने चाहिये । अतएव ऐसा कहा भी है किः—

काकण्या अपि सग्रहो न विहितः क्षौरं यया कार्यते,
चित्तक्षेपकृदस्त्रमात्रमपि वा तत्सिद्धये नाश्रितम् ।
हिंसाहेतुरहो जटाद्यपि तथा यूकाभिरप्रार्थनैः,
वैराग्यादिविवर्धनाय यतिभिः केशेषु लोचः कृतः ॥

अर्थात्—निर्वाण पथिक साधुजन अपने पास एक कौडी भी नहीं रखते जिससे कि क्षौरकर्म कराया जा सकता है । स्वयं क्षौर कर्म करनेके लिये अपने पास अस्त्र भी नहीं रखते । क्योंकि उससे चित्तमें विक्षेप उत्पन्न होता है । जटा बढाना इसलिये ठीक नहीं कि वह जूं आदिके द्वारा हिंसाका ही साधन है । अत एव सर्वोत्तम उपाय यही है कि हाथोंसे उनका उत्पाटन कर दिया जाय जिससे कि उल्टी वैराग्य आदि गुणोंकी वृद्धि ही हुआ करती हैः—

अस्नान नामके मूलगुणका समर्थन करते हैंः—

न ब्रह्मचारिणामर्थो विशेषादात्मदर्शिनाम् ।
जलशुद्ध्याथवा यावद्दोषं सापि मतार्हतैः ॥ ९८ ॥

जो ब्रह्मचर्य व्रतके पालन करनेवाले हैं उनके अशुद्धिका कारण ही नहीं रहता । अत एव उसको दूर करनेकेलिये उन्हे जलशुद्धि—स्नान करनेकी भी क्या आवश्यकता है ? उससे उनका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । तथा खासकर जो आत्मदर्शी—योगी हैं—जो ज्ञान ध्यान स्वाध्याय और तपस्या तथा ब्रह्माचरणमें ही रत रहते हैं, और इसी लिये जिनका शरीर स्वयं पवित्र है उनके लिये तो यह स्नान किस प्रयोजनका ? हां, यह बात अवश्य है कि यदि कदाचित् अस्पृश्यका स्पर्श आदि दोष उपस्थित हो जाय तो उसकी शुद्धिकेलिये उसकी

योग्य है, अन्यथा नहीं, इस भाव या प्रतिज्ञाका बोधन करानेकेलिये मुनिजन खडे होकर और अपने हाथोंसे भोजन करते हैं, यह पहला प्रयोजन। इसीके साथ दूसरा प्रयोजन यह भी है कि " मैं बैठकर या पात्रके द्वारा अथवा अन्य व्यक्तिके हाथसे भोजन न करूंगा " इस प्रतिज्ञाका निर्वाह होता है। तीसरा प्रयोजन यह है कि भोजनकी शुद्धि पलती है। क्योंकि इसके लिये अपना हाथ सबसे अधिक शुद्ध हुआ करता है; और अपने हाथमें रक्खे हुए भोजनका दृष्टि पूर्वक बहुत अच्छी तरह शोधन किया जा सकता है। चौथा प्रयोजन दोषोंकी निवृत्ति है। अर्थात—अपने हाथसे भोजन करनेमें कदाचित् अन्तराय आजाय तो अधिक भोजन का त्याग नहीं करना पडता। अन्यथा बहुतसी भोज्य सामग्रीसे भरी हुई सबकी सब थाली छोडनी पडेगी। और ऐसा होनेपर अवद्य-दोष उपास्थित होंगे। पांचवां प्रयोजन संयमकी सिद्धि है। अर्थात् इन्द्रियोंकी लोलुपताका कर्षण होकर और सूक्ष्म जीवोंकी या अपने चेतना प्राणकी रक्षा होकर इन्द्रिय संयम और प्राण संयमका पालन होता है। इन कारणोंसे ही खडे होकर और अपने हाथोंसे ही भोजन करनेका विधान किया गया है। यही बात औरोंने भी कही है, यथाः—

यावन्मे स्थितिभोजनेस्ति दृढता पाण्योश्च संयोजने,
भुंजे तावदहं रहाम्यथ विधावेषा प्रतिज्ञा यते।
कायेप्यस्पृहचेतसोन्त्यविधिषु प्रोल्लासिनः सन्मते-
र्न ह्येतेन दिवि स्थितिर्न नरके संपद्यते तद्विना ॥

खडे होकर भोजन करनेकी विशेष विधि बताते हैं:—

प्रक्षाल्य करौ मौनेनान्यत्रार्थाद् व्रजेद्यदैवाद्यात।
चतुरंगुलान्तरसमक्रमः सहाञ्जलिपुटस्तदैव भवेत ॥ ९४ ॥

भोजनके स्थानपर यदि कीडी आदि तुच्छ जीव जंतु चलते फिरते अधिक नजर पडें, या ऐसा ही कोई दूसरा निमित्त उपस्थित हो जाय तो संयमियोंको हाथ धोकर वहांसे दूसरी जगहकेलिये आहारार्थ मौनपूर्वक चलेजाना चाहिये। इसके सिवाय जिस समय वे अनगार ऋषि भोजन करें उसी समय उनको अपने दोनों पैर

उन्हे आवश्यकता है। सो इसकेलिये जैनाचार्योंने भी ब्रह्मचारियों व योगियोंकेलिये जलशुद्धि मानी ही है। जैसा कि श्री सोमदेव सूरीने भी कहा है कि:—

ब्रह्मचर्योपपन्नानामध्यात्माचारचेतसाम् ।
मुनीनां स्नानमप्राप्तं दोषे त्वस्य विधिर्मतः ॥
सङ्गे कापालिकात्रेयीचण्डालशबरादिभिः ।
आप्लुत्य दण्डवत्सम्यग्जपेन्मन्त्रानुपोषितः ॥
एकान्तरं त्रिरात्रं वा कृत्वा स्नात्वा चतुर्थके ।
दिने शुध्यन्त्यसंदेहमृतौ व्रतगताः स्त्रियः ॥

अर्थात्—जो ब्रह्मचारी हैं, और जिनका आत्मा अपने ही में रमण करनेवाला है उन मुनियोंकेलिये स्नान अनावश्यक है। किंतु दोष उपस्थित होनेपर उसकी विधि भी मानी है। जैसे कि कापालिक आत्रेयी चण्डाल और भील आदिसे स्पर्श हो जानेपर अपने शरीरको अच्छीतरह भिगोकर दण्डस्नान करना चाहिये, और उपवासपूर्वक मंत्रका जप करना चाहिये। जो व्रतिक स्त्रियां हैं वे एकान्तरसे या तीनरात्रिके बाद निःसंदेह शुद्ध समझी जाती हैं। इसी प्रकार और भी कहा है कि:—

रागद्वेषमदोन्मत्ताः स्त्रीणां ये वशवर्तिनः ।
न ते कालेन शुद्ध्यन्ति स्नातास्तीर्थशतैरपि ॥

अर्थात्—जो रागद्वेष आदि कषायमदसे उन्मत्त रहनेवाले और स्त्रियोंके वशीभूत रहनेवाले-अब्रह्मके सेवन करने वाले हैं वे सैकडों तीर्थोंमें स्नान करके भी कभी शुद्ध नहीं हो सकते।

अंतमें इस अध्यायका उपसंहार करते हुए बताते हैं कि यहांपर जो नित्य और नैमित्तिक क्रियाओंका स्वरूप बताया है उनका यथावत् पालन करनेसे क्या फल प्राप्त होता है:—

नित्या नैमित्तिकीश्चेत्यवितथकृतिकर्माङ्गबाह्यश्रुतोक्ता,—

भक्त्या युङ्क्ते क्रिया यो यतिरथ परमः श्रावकोऽन्योथ शक्त्या।
स श्रेयःपक्तिमाग्रत्रिदशनरसुखः साधुयोगोज्झिताङ्गो,
भव्यः प्रक्षीणकर्मा व्रजति कतिपयैर्जन्मभिर्जन्मपारम् ॥ ९९ ॥

पूर्वोक्त रीतिसे इस अध्यायमें जिन नित्य और नैमित्तिक क्रियाओंका वर्णन किया गया है वे सब सत्यभूत कृतिकर्म नामके अङ्गबाह्य श्रुतमें अच्छी तरह बताई हैं। उसीके आधारसे यहांपर भी ये बताई गई हैं। अत एव सर्वथा प्रमाणभूत हैं। जो संयमी साधु अथवा उत्तम श्रावक-दशवीं ग्यारहवीं प्रतिमाका धारक देशसंयमी, यद्वा मध्यम—सातवीं आदि प्रतिमाका धारक, अथवा जघन्य—छट्ठी प्रतिमा तकके व्रतोंको धारण करनेवाला श्रावक भक्तिपूर्वक और शक्तिके अनुसार इन नित्य नैमित्तिक क्रियाओंका भले प्रकार पालन करता है वह भव्यात्मा आयुके अंतमें समाधिपूर्वक शरीरका अच्छी तरह त्याग करके संचित महान् पुण्य कर्मके उदयसे देवगति अथवा मनुष्यगतिके प्रधानभूत आभ्युदयिक सुखोंको भोगता है और परंपरासे ज्ञानावरणादि सम्पूर्ण कर्मोंको निरवशेषतया निर्जीर्ण करके कमसे कम दो तीन भवमें और ज्यादेसे ज्यादे सात आठ भवमें ही संसारका अंत कर शास्वतिक शिवसुखका अनुभव किया करता है। जैसा कि कहा भी है कि:—

आराहिऊण केई चउव्विहाराहणाए संसारं,
उव्वरियसेसपुण्णा सव्वत्थणिवासिणो हुंति ॥
जेसिं होज्ज जहण्णा चउव्विहाराहणा हु खवयाणं।
सत्तट्ठभवे गंतुं तेविय पावंति णिव्वाणं ॥

इस ग्रंथमें जिस मुनिधर्मका वर्णन किया गया है वह जिन भगवान्‌के प्ररूपित आगमसे उद्धृत करके ही किया है। अत एव वह सर्वात्मना प्रमाण है और श्रद्धेय है। मुमुक्षुओंको उसका निरंतर यथावत् पालन करना चाहिये। ऐसा करनेसे ही उन्हें संसारके सर्वोत्कृष्ट अभ्युदय तथा परम निःश्रेयस पदकी प्राप्ति हो सकती है। इसी बातको ग्रंथकर्ता ग्रंथके अंतमें अपना और ग्रंथका नाम प्रकट करते हुए बताते हैं:—

इदं सुरुचयो जिनप्रवचनाम्बुधेरुद्धृतं,
सदा य उपयुञ्जते श्रमणधर्मसारामृतम् ।
शिवास्पदमुपासितक्रमयमाः शिवाशाधरैः,
समाधिविधुतांहसः कतिपयैर्भवैर्यान्ति ते ॥ १०० ॥

ऊपर जिस अनगारधर्मका इस ग्रंथमें वर्णन किया गया है वह अपूर्व अमृतके समान है, जो कि श्री जिनेन्द्र भगवान्के प्ररूपित आगमरूपी समुद्रसे उद्धृत किया गया है । जो निर्मल सम्यक्त्वके धारण करनेवाले इस धर्मके अन्तस्तत्त्वका सुधाके समान सदा सेवन किया करते हैं, अतएव जिनके चरणयुगलकी इन्द्रादिक भी आराधना किया करते हैं, अथवा आत्मिक क्षेम—साक्षात् मोक्षकी आकांक्षा धारण करनेवाले मुनिगण और अन्य महान् पुरुष जिनके क्रम—आनुपूर्वी और यम—संयमकी उपासना किया करते हैं, जिन्होने समाधि—धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यानके द्वारा शुभ और अशुभ कर्मोंका अपनी आत्मासे पृथक्करण करादिया है, वे भव्यात्मा कुछ ही भवमें—कम से कम दो तीन या ज्यादेसे ज्यादे सात आठ भवमें शाश्वतिक शिवसुखका सम्पादन किया करते हैं ।

केवल शिवसुख—मोक्षकाही अभिप्राय रखकर जिसने भव्यों—मुनियों अथवा देवोंकी तृप्तिके लिये जिनभगवान्के आगमरूपी क्षीर समुद्रका मंथन करके इस धर्मामृतको उद्धृत किया है वे श्रीमान् आशाधर सदा जयवंते रहो । एवं वे भव्यात्मा हरदेव भी इस ग्रंथको वृद्धिंगत करते हुए सदा आनंदित रहैं कि जिनके उपयोगकेलिये उन्हीं श्रीमान् आशाधरने इस टीकारूपी शुक्तिकी सुखपूर्वक रचना की है ।

इस तरह श्री आशाधर विरचित धर्मामृत ग्रंथके अनगार धर्म नामक पूर्व भागकी भव्यकुमुदचंद्रिका नामकी स्वोपज्ञ टीकामें नित्य नैमित्तिक क्रियाओंका जिसमें वर्णन किया गया है ऐसा नौवां अध्याय पूर्ण हुआ ।

इस प्रकार धर्मामृत ग्रंथके अनगार धर्मामृत नामक पूर्वार्धकी टीका पूर्ण हुई ।

भद्रम् ।

ग्रंथकर्त्ताकी प्रशस्ति.

एक सपादलक्ष नामका देश था जो कि त्रिवर्गसम्पत्तिसे युक्त और लवणसमुद्रका भूषणरूप था। उसमें लक्ष्मीके क्रीडागृहके समान मंडलकर नामका एक महान् दुर्ग था। वहीं पर निर्मल व्याघ्रेरवाल जातिके श्री सल्लक्षण पिता और श्रीमती रत्नीबाई माताकी कुक्षिमें श्री जिनेन्द्र भगवान् के प्ररूपित सिद्धान्तमें श्रद्धा रखनेवाले आशाधरका जन्म हुआ था। उन्होने जिस प्रकार अपनेको सरस्वती—वाणीके गर्भसे उत्पन्न किया था उसी प्रकार सरस्वती नामकी अपनी स्त्रीसे छाहड नामके पुत्रको उत्पन्न किया था, जो कि अत्यंत गुणवान् था और जिसने मालवाके अधिपति श्री अर्जुन देवको अपने ऊपर अनुरंजित कर रक्खा था।

कवियों अथवा विद्वानोंके मित्र श्री उदयसेन मुनिने अत्यंत प्रीतिपूर्वक जिन आशाधरका यह कहकर अभिनंदन किया था कि—

> व्याघ्रेरवालवरवंशसरोजहंसः काव्यामृतौघरसपानसुतृप्तगात्रः ।
> सल्लक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षुराशाधरो विजयते कलिकालिदासः ॥

अर्थात्—जो व्याघ्रेरवाल नामके निर्दोष वंशरूपी सरोज—कमलको हंसके समान है, जिसका शरीर काव्यरूपी अमृतके समूहका रसपान करनेसे अत्यंत तृप्त हो चुका है, जो नीति अथवा न्यायशास्त्रके द्वारा सम्पूर्ण संसारको देखनेवाला है, अथवा जिसका न्यायशास्त्र संसारकेलिये चक्षुके समान है, एवं जो इस कलिकालमें कालिदासके समान है वह सल्लक्षणका पुत्र आशाधर सदा जयवंत रहो।

१—पं० आशाधर जी की सरस्वतीपुत्र ऐसी पदवी था।

इसी प्रकार उन आशाधरके विषयमें श्री मदनकीर्ति नामके यतिपति-आचार्यने भी ये प्रज्ञापुंज हैं ऐसा प्रशंसावाक्य कहा है।

वे ही आशाधर जब तुरुष्कराज साहबुद्दीनने सपादलक्ष देशपर अपना अधिकार किया तब उसके त्राससे अपने सदाचार एवं चारित्रमें क्षति पडती हुई देखकर मालवा देशमें आकर प्राप्त हुए, जहांपर कि विन्ध्यनरेशके बाहुबल, अन्तः सार तथा उत्साहके प्रसादसे त्रिवर्गका ओज-बल स्फुरायमाणहो रहा था। इस मालवाकी धारा नगरीमें अपने बडे परिवारको साथ लेकर आशाधरने निवास किया। यहीं पर वादिराज पंडित श्री धरसेनके शिष्य पंडित महावीरसे आर्हत प्रमाण शास्त्र और जैनेन्द्र व्याकरणका अध्ययन किया।

जिस आशाधरके विषयमें विन्ध्यनरेशके महासांधिविग्रहिक मंत्री और कवियोंके शिरोमणि विद्वान् विल्हणने इस प्रकार कहा है कि—

> आशाधरत्व मयि विद्धि सिद्धं निसर्गसौंदर्यमजर्यमार्य।
> सरस्वतीपुत्रतया यदेतदर्थे परं वाच्यमयप्रपञ्चः॥

अर्थात्—हे आर्य! सरस्वतीपुत्रत्वकी अपेक्षा मुझमें स्वाभाविक सौंदर्य[2]—सहोदरता-मातृभावसे युक्त तथा अजर्य[3]—मैत्रीभावरूप आशाधरत्व सिद्ध होगया समझो।

ये आशाधर जिनधर्मको उद्योतित करनेकेलिये जहांपर अर्जुनवर्मा राजाका राज्य था और श्रावकोंकी वस्ती बहुत अधिक थी उस नलकच्छपुरमें आकर रहे।

उन्होंने पंडित देवचन्द्र प्रभृति किन श्रोताओंको थोडे ही समय में व्याकरण समुद्रके पार नहीं कर दिया, एवं उनसे समीचीन न्यायशास्त्ररूपी उत्कृष्ट अस्त्रको पाकर वादीन्द्र विशालकीर्ति आदिकोंमेंसे ऐसे कौन हैं कि

१—विल्हणकी माताका नाम सरस्वती था और पं. आशाधरजी की सरस्वतीपुत्र उपाधि थी। २ दूसरे पक्षमें सौंदर्य अर्थ भी हो सकता है। ३ पक्षान्तरमें कभी नष्ट न होनेवाला ऐसा भी अर्थ हो सकता है।

जिन्होंने प्रति पक्षी वादियोंको आक्षिप्त—पराजित नहीं किया है। तथा जिनके जिनवचनरूपी दीपकके ग्रहण करानेपर भट्टारक देवभद्र विनयभद्र आदिकमेंसे ऐसे कौन हैं कि जो मोक्षमार्गमें अस्खलित रूपसे नहीं चलने लगे,—निरतिचार चारित्रका आचरण नहीं करने लगे। इसी प्रकार जिनके पास काव्यरूपी अमृतका पान करके बालसरस्वती महाकवि मदन आदिमेंसे ऐसे कौन हैं कि जिन्होंने सहृदय विद्वानोंके बीचमें प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं की है।

जिसके निरवद्य पद्योंसे मानों अमृतका पूर ही बहता है, जिससे स्याद्वाद विद्याका प्रसाद विशदरूपसे प्राप्त होता है, ऐसा प्रमेयरत्नाकर नामका इन्होंने एक तर्कग्रन्थ बनाया है। इसी प्रकार जिन आशाधरने केवल आत्म कल्याणके लिये सिद्धिका है अंक-चिन्ह[1] जिसका ऐसा भरतेश्वराभ्युदय नामका उत्तम काव्य बनाया और उसकी टीका भी बनाई जो कि त्रैविद्य-न्याय व्याकरण सिद्धान्तके जाननेवाले कवीन्द्रों को प्रमुदित करने वाला है। तथा जिनागमका सार भूत, स्वयंकी बनाई हुई ज्ञानदीपिका नामकी टीकासे रमणीय, धर्मामृत नामका शास्त्र बनाकर मुमुक्षु विद्वानोंके आनन्दसे परिपूर्ण हृदयमें विराजमान किया। नेमीश्वरके नामका अनुवर्तन करने वाला राजीमती विप्रलम्भ—अर्थात् नेमीश्वर राजीमती विप्रलम्भ नामका खण्डकाव्य बनाया और उसकी स्वयं टीका भी बनाई। पिताकी आज्ञानुसार अध्यात्मरहस्य नामका शास्त्र भी बनाया जो कि प्रसत्तिगुणसे युक्त रहनेके कारण झटिति अर्थका बोधन करता है और अर्थतः गम्भीर है—जिसका अर्थ समझनेमें दूसरे शास्त्रों की अपेक्षा पडती है, तथा जो आरब्धयोगियोंको अत्यंत प्रिय है। मूलचार भगवती आराधना इष्टोपदेश आराधनासार भूपालचतुर्विंशतिका आदि ग्रंथोंके ऊपर टीका बनाई हैं और अमरकोषके ऊपरभी क्रिया कलाप नामकी विशिष्ट टीका रची है। रुद्रट आचार्यके काव्यालंकार की टीका की और अरहंतों—अनन्त तीर्थकरों का स्तवन रूप सटीक सहस्रनाम बनाया। जिनभगवान्‌की प्रतिमाकी प्रतिष्ठाकी विधि बतानेवाला जिनयज्ञकल्प नामका प्रतिष्ठाशास्त्र बनाया और उसकी जिनयज्ञकल्पदीपिका नामकी टीका भी बनाई। इसी प्रकार त्रिषष्टिस्मृति नामका सटीक संक्षिप्तशास्त्र भी बनाया जिसमें कि त्रेसठ शलाका पुरुषोंका विषय बताया गया है। जिनभगवान्‌का

१—प्रत्येक सर्गके अंतमें सिद्धि यह शब्द आता है।

अभिषेक शास्त्र नित्यमहोद्योत नामका बनाया जो कि मोहरूपी अंधकारको दूर करनेकेलिये सूर्यके समान है, और जिसमें महाभिषेक पूजाकी विधि बताई गई है। तथा रत्नत्रयविधानकी पूजा और उसके माहात्म्यका जिसमें वर्णन किया गया है ऐसा रत्नत्रयविधान नामका शास्त्र जिसने बनाया है, और जिसने वाग्भट संहिताका अभिप्राय व्यक्त करनेकेलिये उसके ऊपर आयुर्वेदके विद्वानोंको अभीष्ट अष्टाङ्गहृदयोद्योत नामकी टीका बनाई है। वही मैं आशाधर हू कि जिसने अपने ही पहले बनाये हुए धर्मामृत ग्रंथमें निरूपित यति धर्मका अभिप्राय प्रकाशित करने वाली यह टीका बनाई है; जो कि मुनियोंको अतिशय प्रिय है। यदि इसके लिखते हुए कहीं अज्ञानिताके कारण स्खलन होगया हो तो धर्माचार्य तथा विद्वानोंको उसका संशोधन करके पठन करना चाहिये।

नलकच्छ नामके नगरमें उत्कृष्ट जैनधर्मका पालन करनेवाला श्रावकोंमें अग्रणी तथा देवपूजा आदि गुणोंके संग्रह करने और विवेकके धारण करने एवं करुणादानके करनेमें जो सदा तत्पर रहा करता, विनय सरलता भद्रता उदारता दया और परोपकारपरता आदि गुणोंसे युक्त तथा खंडेलवाल जातिरूपी सुवर्णमें माणिक्य-पद्मरागमणिके समान था ऐसा अतिशय सज्जन एक श्रेष्ठी रहता था, जिसका नाम तो पाप था परन्तु वस्तुतः वह पापसे सदा पराङ्मुख रहा करता था। उसके दो पुत्र थे एक बहुदेव दूसरा पद्मसिंह। पहला पिताके भारको धारण करनेमें समर्थ था, और दूसरेके शरीरको लक्ष्मीने आलिंगित कर रक्खा था। बहुदेवके तीन पुत्र थे— एक हरदेव जिसमें कि अनेक गुण स्फुरायमाण थे और दूसरा उदयी तथा तीसरा स्तम्भदेव। ये तीनों ही भाई त्रिवर्गका सेवन करनेवाले गृहस्थोंके द्वारा सम्मानित थे।

एकवार हरदेवने यह प्रार्थना की कि " साधु महीचन्द्रने मन्दज्ञानियोंको प्रबोधित करनेके लिये आपके धर्मामृत ग्रंथके सागारधर्म प्रकरणकी टीका आपसे ही करवाली है। परन्तु अभीतक उसके अनगार धर्म भागकी टीका नहीं बनी है। वह तीक्ष्ण बुद्धिके धारण करनेवाले विद्वानोंके लिये भी अत्यंत दुर्बोध है, विना टीकाके उसका अर्थ उनकी भी समझमें नहीं आ सकता। अत एव आप उसकी भी टीका बनानेका अनुग्रह करें। " इसके सिवाय धनचन्द्रने भी इसके लिये आग्रह किया। इसी परसे पं. आशाधरने यह टीका बनाई है जिसमें कि धर्मामृतोक्त यतिधर्मके विषयमें अच्छी तरह विचार किया गया है। विद्वानोंने इसका नाम भव्यकुमुदचन्द्रिका

रक्खा है; क्योंकि यह निकट भव्यजीव रूपी कमलोंको चांदनी के समान आल्हादित करनेवाली है । धर्मामृत ग्रंथके सागार अनगार इन दोनों ही मार्गोंकी टीका मुमुक्षु विद्वानोंके द्वारा चिन्तनामें प्रवृत्त होती हुई कल्पकाल पर्यन्त स्थिर रहे ।

जिस समयमें परमार वंशरूपी समुद्रको वृद्धिंगत करनेवाले चन्द्रमाके समान महाराज देवपालके औरस पुत्र श्रीमान् जैतुगि देव अपने खड्गके बलसे मालवाका भले प्रकार शासन कर रहे थे उसी समयमें नलकच्छ नामके नगरमें श्रीमन्नेमिनाथ भगवान्के चैत्यालयमें विक्रमसम्वत् १३०० कार्तिक सुदि पंचमी सोमवारको शुभ लग्नमें यह टीका पूर्ण की । अनुमानसे इस टीकाका प्रमाण अनुष्टुप् छन्दकी अपेक्षा १२२०० है । यथा–पहले अध्यायमें १६०० दूसरेमें १४२७ तीसरेमें ३१८ चौथे में २६१५ पांचवेंमें ६०९ छट्ठेमें १७५५ सातवेंमें १२-६ आठवेंमें १५४१ और नौवेंमें १०७५ ।

सुख और उसके कारणोंकी प्राप्ति रूप अथवा दुःख और उसके कारणोंके निवारणरूप यद्वा उनके भी कारण प्रतिकारणरूप शांति और कल्याण समस्त संसारकेलिये श्री शांतिनाथ भगवान् सदा विस्तृत करो । धर्मका सेवन करनेवाले भव्य प्राणियोंके साथ अभ्युदय और मोक्षरूप लक्ष्मी सदा आलिंगन करे । जगत्में नीतिका प्रयोग सदा बढता रहे । पृथ्वीका शासन करनेवाला राजा अग्रणी और बलवान् हो । कविजन समीचीन विद्याके रसको प्रकट करनेवाली ही कविता किया करें । संसारमें पापका नाम भी न रहे । अथवा क्या २ और कितनी प्रार्थना की जाय, अत एव अंतमें एक ही प्रार्थना है कि परमनिश्रेयसका साधनरूप जिनभगवान्का शासन सदा जयवंत रहो ।



इस प्रकार महापंडित आशाधररचित और भव्यात्मा हरदेव द्वारा अनुमोदित अनगार धर्मामृतकी टीका समाप्त हुई ।
शुभम् ।




अनगारधर्मामृत

॥ समाप्त ॥

